

॥ श्रीः ॥

श्रीलक्ष्मीहयवदनश्रीनारायणाभ्यां नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचितं

श्री भाष्यम्

3a/vr  
RAM/sud  
48566

श्रीसुदर्शनसूरिप्रणीतया श्रुतप्रकाशिकया

श्रीलक्ष्मीहयप्रीवदिग्यपादुकासेवक-

श्रीमदमिनवरङ्गनाथब्रह्मतन्त्रपरकालसंयमीन्द्रप्रणीत-

श्रीभाष्यसूक्तिगूढार्थसंग्रहेण च

सहितम्

चमसाधिकरणान्तो द्वितीयसम्पुटः

श्रीमद्दीश्वरराजधान्यां विद्योत्तमानश्रीब्रह्मतन्त्रपरकालास्थान्यां ३३ पदे मूर्धामिषिकैः

श्रीलक्ष्मीहयप्रीवदिग्यपादुकासेवकश्रीमदमिनवरङ्गनाथब्रह्मतन्त्रपरकालमहादेशिकैः

१८६९ शके बहुधान्यसंवत्सरे संस्थापितया

श्रीमद्वेदान्तदेशिकविहारसभया

मुद्रापित



SRI RAMANUJA'S  
SRI BHASHYAM

WITH

The Sruta Prakasika

of Sri Sudarsana Suri

AND

The Sri Bhashya Sukti Gudharthasangraha

of Srimad Abhinava Ranganatha Brahmatantra Parakalaswami

VOL. II



प्रथममुद्रणम्—१९७०

मूल्यम् : रु. २५-००

Price : Rs. 25-00

— प्राप्तिस्थानम् —

श्रीवेदान्तदेशिकविहारसभा, श्रीब्रह्मतन्त्रपरकालास्थानम्, मैसूरु

Sri Brahmatantra Parakala Mutt, Mysore

## विज्ञापना

अनन्तानन्तमहाविभूतेः अनवधिककल्याणगुणगणमहोदधेः भक्तजनासेचनकदिव्यमङ्गलविग्रहस्य परमपुण्यस्य विभूतीनां कल्याणगुणगणानां दिव्यमङ्गलविग्रहस्य चापलापरूपस्य निर्विशेषाद्वैतस्य प्रतिकोटिभूतं सविशेषाद्वैतं जगति प्रतिष्ठापितवत्सु भगवद्रामानुजमुनिषु नूनमास्तिकलोकः सर्व एव सर्वथाऽघमर्ण इति नामिमानमूलं वचः ।

शङ्करैः — न तु शङ्करैः — प्रतितिष्ठासितम् अद्वैतं कीदृग्विपत्कारीति खण्डनग्रन्थपरिशीलनपराणां निर्मत्सराणां करवदरायेत तत्त्वं, यः किल ग्रन्थः अद्वैतवादस्य माध्यमिकशून्यवादसोदरत्वं, कण्ठत एव प्रतिष्ठापयति । अत एव खलु तमिमं खण्डनकारं शङ्करमतावलम्बी विद्यारण्यः स्वीयशङ्करविजये शङ्कर-पराजितं वर्णयति (15-157) ।

परन्त्विदमत्र प्रमोदस्थानं, यद्वहवो विमग्निविचक्षणाः एतादृशं निर्विशेषवादं शङ्कराचार्यानभिमतं मन्यन्ते इति ।

भगवदपचारमात्रफलकस्य नास्तिक्यपरमभूमेः एतादृशवादस्य निरसनेन जगदेव श्रीरामानुजमुनिभिः रक्षितं मन्यमाना देशिकसत्तमा अपि

यतीश्वरसरस्वतीसुरमिताशयानां सतां

बहामि चरणाम्बुजं प्रणतिशालिना मौलिना ।

तदन्यमतदुर्मदज्वलितचेतसां वादिनां

शिरस्सु निहितं मया पदमदक्षिणं लक्ष्यताम् ॥

इत्युद्घोषयन्ति । सारतः कथने, अत्र पूर्वार्धे भगवद्विभूतिकल्याणगुणदिव्यमङ्गलविग्रहाभ्युपगन्तारः आस्तिकाः उच्चार्धे च तदनभ्युपगन्तारो नास्तिका एव च विवक्षिताः, न व्यक्तिनिष्ठा व्यक्तिनिन्दा वेति मन्तव्यम् । भगवत्कल्याणगुणाद्यनुभवरसपरिचयवतामेव तदपलापिजनेषु कियानाक्रोशो भवेदिति ऊहितुं वा शक्यम् ।

एतादृशस्य निर्विशेषाद्वैतवादस्य प्रतिकोटिभूतं सविशेषाद्वैतं प्रतिपादयदिदं श्रीभाव्यम् अनितर-साधारणज्ञानानुष्ठानवैराग्यशेषविभिः, भगवद्विभूतिविशेषैः, वस्तुनो रामानुजसिद्धान्तनिर्धारणसार्वभौमैः, श्रीमत्कविकथककण्ठीरवचरणनलिनविन्यस्तसंमस्तात्मभैरैः, यतिप्रवरभारतीरसभरेणैव वयो नीतवद्भिः, श्रीलक्ष्मी-हयग्रीवदिव्यपादुकासेवकश्रीमदमिनवरङ्गनाथब्रह्मतन्त्रपरकालमहादेशिकैः महाकृपालुभिः स्वीयगुदार्थमग्रहास्य-

टिप्पण्या जिज्ञासाधिकरणान्तं प्रथमसंपुटे मुद्रापयित्वा प्रकाशितमिति विदितचरमेव जगतः । द्वितीय-  
सम्पुटेऽस्मिन् चमसाधिकरणान्तो भागः प्रकाश्यते । ।

हन्त ! विधिविलसितम् ! यच्चमसाधिकरणान्त्यैव ग्रन्थरचनया सन्तुष्यन्निव तुषारकिरणमण्डलमण्डनो  
भगवां स्तुरङ्गवदनः व्यतरदमुष्मै स्वाराधकाय यतिवराय स्वकीयं परमं पदम् (१९६६ तमे कैस्ताब्दे) ।

इदानीम् एतेषां कृपापात्रभूताः श्रीपरकालमठीयश्रीलक्ष्मीहयवदनास्थान्यामभिषिक्ताः श्रीमत्परमहंसेत्यादि-  
विरुदाङ्किताः श्रीलक्ष्मीहयवदनदिव्यपादुकासेवाहेवाकाः श्रीमदभिनवश्रीनिवासब्रह्मतन्त्रपरकालमहादेशिकाः  
श्रीमत्सु संयमिवर्येषु स्वकीयं भावबन्धमभिसन्दधानाः तत्कृतग्रन्थान् साकल्येन प्रकाश्य तेषु कृतज्ञतां निजा-  
स्थानीधूर्वहनरूपां प्रकटयितुं कृतमहासङ्कल्पा वर्तन्ते ।

तमेतं सङ्कल्पं निर्वर्तयत्स भगवान्हयास्यः स्वयं सुप्रसन्नः संयमिवरकरकमलयुगलसमर्पितेन निजपद-  
सरोजयुगलीकाशमानेनानेन श्रीकोशेन स्वमुखोल्लासं प्राचीकशन्महामहिम्नि हयग्रीवजयन्त्याख्ये निजावतार-  
महोत्सवदिवसेऽस्मिन्निति नितरां प्रमोदद्वदनिमग्नो विज्ञान् विज्ञापयति ।

विदुषामनुचर श्रीमदाचार्यचरणानामन्तेवासी  
मैसूरु श्रीमन्महाराजसंस्कृतमहापाठशालाया निवृत्तव्याकरणप्रधानोपाध्याय  
विद्वन्मणिः सरगूरु श्रीनिवासवरदाचार्यः



## विषयानुक्रमणिका

### प्रथमाध्याये प्रथमपादे

|                        |     |
|------------------------|-----|
| जन्माद्यधिकरणम्        | 1   |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् | 31  |
| समन्वयाधिकरणम्         | 54  |
| ईक्षत्यधिकरणम्         | 139 |
| आनन्दमयाधिकरणम्        | 180 |
| अन्तरधिकरणम्           | 252 |
| आकाशाधिकरणम्           | 281 |
| प्राणाधिकरणम्          | 289 |
| ज्योतिरधिकरणम्         | 292 |
| इन्द्रप्राणाधिकरणम्    | 317 |

### द्वितीयपादे

|                          |     |
|--------------------------|-----|
| सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् | 338 |
| अत्तधिकरणम्              | 362 |
| अन्तराधिकरणम्            | 374 |
| अन्तर्याम्यधिकरणम्       | 391 |
| अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् | 403 |
| वैश्वानराधिकरणम्         | 418 |

### तृतीयपादे

|                                |     |
|--------------------------------|-----|
| द्युभ्वाद्यधिकरणम्             | 438 |
| भूमाधिकरणम्                    | 454 |
| अक्षराधिकरणम्                  | 470 |
| ईक्षतिकर्माधिकरणम्             | 480 |
| दहराधिकरणम्                    | 488 |
| प्रमिताधिकरणम्                 | 516 |
| देवताधिकरणम्                   | 522 |
| मध्वधिकरणम्                    | 545 |
| अपशूद्राधिकरणम्                | 552 |
| प्रमिताधिकरणशेषः               | 567 |
| अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् | 574 |

### चतुर्थपादे

|                  |     |
|------------------|-----|
| आनुमानिकाधिकरणम् | 585 |
| चमसाधिकरणम्      | 609 |



## एतत्संपुटस्थसूत्राणां सूची

|                       |     |                         |     |
|-----------------------|-----|-------------------------|-----|
| अक्षरमम्बरान्तः ।     | 470 | इतरपरामर्शात्स इति      | 498 |
| अत एव च नित्य         | 533 | ईक्षतिकर्मव्यपदे        | 480 |
| अत एव च स ब्रह्म      | 381 | ईक्षतेर्नाशब्दम्        | 139 |
| अत एव न देवता         | 426 | उत्तरत्रचैत्ररथेन       | 557 |
| अत एव प्राणः          | 289 | उत्तराच्चेदाविर्भूत     | 498 |
| अत्ता चराचर           | 362 | उपदेशभेदान्नेति चेत्    | 312 |
| अदृश्यत्वादिगुणको     | 404 | उभयेऽपि हि भेदेनैव      | 397 |
| अनवस्थितेरसंभ         | 385 | कम्पनात्                | 567 |
| अनुकृतेस्तस्य च       | 504 | कर्मकर्तृव्यपदेशा       | 351 |
| अनुपपत्तेस्तु न शरीरः | 350 | कामाच्च नानुमाना        | 241 |
| अनुस्मृतेर्बादरिः     | 430 | कल्पनोपदेशाच्च मध्वा    | 618 |
| अन्तर उपपत्तेः        | 374 | क्षत्रियत्वगतेश्च       | 556 |
| अन्तर्याम्यधिदैवा     | 391 | गतिशब्दाभ्यां तथाहि     | 495 |
| अन्तस्तद्धर्मोपदे     | 262 | गतिसामान्यात्           | 167 |
| अन्यभावव्यावृत्तेश्च  | 473 | गुहां प्रविष्टावात्मानौ | 653 |
| अन्यार्थश्च परामर्शः  | 502 | गौणश्चेन्नात्म          | 150 |
| अपि सूर्यते           | 504 | चमसवदविशे               | 609 |
| अभिव्यक्तेरित्याश्म   | 429 | छन्दोभिधानान्नेति       | 300 |
| अर्भकौकस्त्वात्तद्वप  | 353 | जन्माद्यस्य यतः         | 2   |
| अल्पश्रुतेरिति चेत्   | 503 | जीवमुख्यप्राण           | 330 |
| अस्मिन्नस्य च तद्योगं | 242 | ज्योतिर्दर्शनात्        | 569 |
| आकाशोर्थान्तरत्वादि   | 574 | ज्योनिरुपक्रमात्        | 612 |
| आकाशस्तलिङ्गात्       | 252 | ज्योतिश्चरणाभि          | 292 |
| आनन्दमयोभ्यासात्      | 181 | ज्योनिपि भावाच्च        | 546 |
| आमनन्ति चैनमस्मिन्    | 431 | ज्ञेयत्वावचनाच्च        | 595 |
| आनुमानिकमप्येकेषां    | 585 | तत्तु समन्वयान्         | 56  |

|                     |     |                         |     |
|---------------------|-----|-------------------------|-----|
| तदधीनत्वादर्थवत्    | 692 | मान्त्रवर्णिकमेव च      | 234 |
| तदभावनिर्धारणे च    | 558 | मुक्तोपसृप्यव्यप        | 442 |
| तदुपर्यपि बादरायणः  | 522 | रूपोपन्यासाच्च          | 415 |
| तद्वेतुव्यपदेशाच्च  | 233 | वदतीति चेन्न प्राज्ञो   | 595 |
| तन्निष्ठस्य मोक्षोप | 155 | विकारशब्दान्नेति        | 229 |
| त्रयाणामेव चैवमुप   | 596 | विरोधः कर्मणीति         | 529 |
| दहर उत्तरेभ्यः      | 488 | विवक्षितगुणोपप          | 347 |
| द्युम्वाधायतनं      | 438 | विशेषणभेदव्यप           | 408 |
| धर्मोपपत्तेश्च      | 463 | विशेषणाच्च              | 366 |
| घृतेश्च महिमो       | 497 | वैश्वानरस्साधारण        | 419 |
| न च स्मार्तमतद्व    | 397 | शब्द इति चेन्नातः       | 530 |
| न वक्तुरात्मोप      | 320 | शब्दविशेषात्            | 351 |
| नानुमतच्छब्दात्     | 443 | शब्दादिभ्योऽन्तः        | 424 |
| नेतरोऽनुपपत्तेः     | 235 | शब्दादेव प्रमितः        | 516 |
| पत्यादिशब्देभ्यः    | 578 | शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो | 327 |
| प्रकरणाच्च          | 363 | शास्त्रयोनित्वात्       | 33  |
| प्रकरणात्           | 445 | शुगस्य तदनादर           | 552 |
| प्रतिज्ञाविरोधात्   | 159 | श्रवणाध्ययनार्थ         | 558 |
| प्रसिद्धेश्च        | 497 | श्रुतत्वाच्च            | 167 |
| प्राणस्तथाऽनुगमात्  | 318 | श्रुतोपनिषत्कगत्य       | 383 |
| भावं तु बादरायणो    | 547 | संस्कारपरामर्शात्       | 558 |
| मूलादिषादव्यप       | 305 | समाननामरूपत्वच्चा       | 535 |
| भूमा सप्रसादादध्यु  | 444 | सम्पत्तेरिति जैमिनि     | 430 |
| भेदव्यपदेशाच्च      | 240 | संभोगप्राप्तिरिति       | 356 |
| भेदव्यपदेशाच्चान्यः | 275 | सर्वत्र प्रसिद्धोप      | 340 |
| भेदव्यपदेशात्       | 444 | सा च प्रशासनात्         | 472 |
| मध्वादिष्वसम्भवाद   | 545 | साक्षादप्यविरोधं        | 427 |
| महद्वच्च            | 601 | सुखविशिष्टाभिधा         | 37  |

|                             |     |                 |     |
|-----------------------------|-----|-----------------|-----|
| सुषुप्त्युक्तान्त्योर्भेदेन | 577 | स्मृतेश्च       | 352 |
| सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्     | 592 | स्मृतेश्च       | 559 |
| स्थानादिव्यपदे              | 376 | स्वाप्ययात्     | 161 |
| स्थित्यदनाभ्या च            | 445 | हृद्यपेक्षया तु | 517 |
| सूर्यमाणमनुमानं             | 422 | हेयत्वावचनाच्च  | 158 |



## अथ जन्माद्यधिकरणम्.२

### श्रीभाष्यम्

किं पुनस्तद्ब्रह्म ? यज्जिज्ञास्यमुच्यत इत्यत्राह—

### श्रुतप्रकाशिका

२.सूत्रम्—‘जन्माद्यस्य यतः’ । अथ शास्त्रकाण्डद्विकाध्यायपादपेठिकाऽधिकरणरूपसन्निधेदेन सप्तविधासु सङ्गतिषु सङ्गत्यन्तराणां स्पष्ट्यादधिकरणसङ्गतिमाह—किंपुनरिति । शास्त्रसङ्गतिर्हि वेदार्थविचाररूपतया स्पष्टतरा । वेदान्तार्थविचाररूपत्वात्काण्डसङ्गतिः, कारणविषयत्वादद्विकसङ्गतिः, कारणविषयवाक्यकर्तृरूपत्वाद्ध्यायसङ्गतिः अथो गन्धवच्छेदविभ्रान्तेः पादसङ्गतिः । शास्त्रारम्भार्थ-प्राप्त्येष्टिकासङ्गतिः, अतोऽवान्तरसङ्गतिः किंपुनरित्यादिभाष्येणोच्यते । जिज्ञास्य विचार्य \* सकलेनरपुरुषार्थतत्साधनपरित्यागपूर्वकं प्राप्यत्वेनोपायत्वेन च यज्जिज्ञास्यमुक्तमित्यर्थः । प्राप्यतया प्रापकतया च हि ब्रह्मापाततःप्रतिपन्नम् । \* अनेन जिज्ञास्यमिति पदेन प्रणवेदप्रधानाद्यौपचारिकार्वाचीनब्रह्मशब्दार्थव्यावृत्तिः, तच्च व्यापकस्य लक्षणस्य वक्तव्यतयाऽपि हि सिद्ध्यति ब्रह्मशब्दवाच्य स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहच्चयोगि— ‘बृहति बृंहयति’ ‘बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेति परिपठ्यते’ इति श्रुतिस्मृतिनिर्वचनात् ॥

तत्र ‘ब्राह्मणोयै सर्वा देवताः’ ‘नकिरिन्द्रत्वदुत्तरः’ ‘अग्निस्सर्वादेवताः’ ‘एक एव रुद्रः’ ‘सोमः पयसे जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः’ ‘आपो वा इदमसर्वम्’ इत्यादिभिर्ब्राह्मणाम्नादीनामपि समाभ्यधिकरहितत्वप्रतीतेरर्थतत्त्व व्याकुलम् अत स्तेषु तापत्रयातुरजिज्ञास्य तत् ब्रह्म किंलक्षणकमित्यर्थः । सर्वेषां समाभ्यधिकराहित्ये प्रतीतेऽपि तद्व्याहतमन्यतरवाक्यावगतचेत्यनादरणीयम् । तत्रप्रधानेषु सुधिप्रलयप्रकरणेषु यदेव निरतिशयबृहदुक्तं तदेव जिज्ञास्यमित्यभिप्रायेणाह—‘यतोवा इमानि’ इत्यादिश्रुतिरितीममर्थं हृदि निधाय सूत्रकारेण जन्मादिसूत्रं प्रणीतमित्यभिप्रायवतोक्तं किंपुनस्तद्ब्रह्म यज्जिज्ञास्यमुच्यतइति नहि किंपुनस्तद्ब्रह्मे युक्तम् ॥

### गूढार्थसंग्रहः.

### अथ जन्माद्यधिकरणम्.२

प्रथमसूत्रे अधिकारी निरूपितः । द्वितीयसूत्रे विषयनिरूपणपरम् । यद्यपि ‘ब्रह्मेतितावद्विषयः’ (ता-टी) इति प्रथमसूत्रे ब्रह्मशब्देन विषयो निर्दिष्टः । अथापि ब्रह्मशब्दार्थव्यक्तिविशेषनिर्णयमन्तरा विषयनिर्णयो न सम्भवति । ब्रह्मशब्दार्थनिरतिशयबृहत्त्वं वेदवाक्येषु बहुषु व्यक्त्येषु प्रतिपाद्यते । ‘अग्निस्सर्वादेवताः’ इत्यादिवेदवाक्यानि व्यासायैरुदाहृतानि । व्यक्तिविशेषनिर्णयमन्तरा विषयनिर्णयासम्भवेन तद्विर्णयार्थं द्वितीयसूत्रमित्यभिप्रेत्य अवतारयति— किंपुनस्तद्ब्रह्म इत्यादिना । किंपुनर्जिज्ञास्यमित्यनभिधाय किंपुनस्तद्ब्रह्मेत्युक्त्या विषयः प्रथमसूत्रे उद्दिष्टः विशयनिर्णयः अत्रेति बोधितम्, कः कीदृशः इत्यादिजिज्ञासाक्रमे कइति जिज्ञासा प्रथमसूत्रे शान्ता । कीदृशइति जिज्ञासानवृत्तिः द्वितीयसूत्रे । उद्देशो लक्षण परीक्षा, इति क्रमे उद्देशः, प्रथमसूत्रे लक्षणं द्वितीयसूत्रे कीदृश इति जिज्ञासा लक्षणेनैव शाभ्यति । किंपुनस्तद्ब्रह्म इति सूक्तौ किंशब्दस्य ब्रह्मशब्दार्थताऽनन्तेदकव्याप्यधर्मप्रकारकजिज्ञासाविषयः अर्थः । किंशब्दस्य स्वसमभिव्याहृतपदार्थताऽवच्छेदकव्याप्यधर्मप्रकारकजिज्ञासाविषयः शक्तेः गदाधरादिभिर्निर्णयात् । व्याप्यधर्मश्च लक्षणमेव । एवञ्च



## श्रीभाष्यम्

## सू.१—जन्माद्यस्य यतः १.१.२

## (जन्मादीति) सृष्टिस्थितिप्रलयम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

सूत्रमुपादत्ते—जन्माद्यस्य यतइति । प्रथम पद व्याचष्टे—जन्मादीति । सृष्टिस्थितिप्रलयमिति । अन्यत्पदद्वयं वाक्यार्थयोजनाया व्याख्यास्यते । प्रथमपदव्याख्यानस्य समासार्थनिर्णयार्थं वाक्यान्तरसापेक्षत्वेन वाक्यार्थयोजनायामन्तर्भावयितुमशक्यत्वात्तस्य पृथग्व्याख्यानम् । सृष्टिस्थितिप्रलयमित्यत्र सृष्टिशब्द उत्पत्तिपरः । ‘सृष्टिस्थित्यन्तकालेषु’ सृष्टिस्थित्यन्तरकरणीम्’ इत्यादिप्रयोगात् प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारवाचिशब्दानां व्यतिकरेण प्रयोगो ब्रह्मणएव निमित्तोपादानत्वाभिप्रायनिबन्धनः । सृष्टिस्थितिप्रलयमिति समाहारार्थे द्वन्द्वः । एकस्मिन्कार्येऽन्योन्यसापेक्षतया तुल्यनिष्पादकत्वेनान्वय इतरेतरयोगः—यथा दर्शपूर्णमासयोस्त्वर्गप्रति । अत्र समुदितविवक्षा अयमेव समुदायविवक्षाया समाहारः । तत्कृतमेकवचनत्वं नपुंसकत्वं च । अतोऽत्र सृष्टिस्थितिप्रलयमिति समाहारे द्वन्द्वःकृतः ॥

वाक्यार्थयोजनाया सृष्टिस्थितिप्रलयया इतीतरेतरयोगद्वन्द्वःकृतः उभयोरपि फलैक्यात् । जन्मादीतीत्यत्रेतिकरणेन तत्रैकवचने तात्पर्यं गम्यते । तत्र पदार्थयोजनाया सृष्टिस्थितिप्रलयमित्येकवचनान्तपदेन सौत्रपदस्यैकवचनमनुसृत तत्राप्येकवचनं सृष्टिस्थितिप्रलयानां समुदायो लक्षणं नत्वेकैकमिति ज्ञापनार्थम् । समुदायस्य लक्षणत्वं श्रुतिस्वारस्यादवसीयते—‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रन्त्यभिसंविशन्ति’ इत्यत्राहि न प्रतिवाक्यं तद्ब्रह्मेत्युक्तम् अन्यथैकतरलक्षणवैयर्थ्यं च स्यात् ॥

## गूढार्थसंग्रहः.

लक्षणमुखेन ब्रह्मपदार्थनिर्णयः द्वितीयसूत्रे इति विषयनिर्णयपरत्वमस्य सूत्रस्य सपन्नम् । एतेन शब्दसामान्यस्य सिद्धार्थे व्युत्पत्तिः प्रथमसूत्रे, ब्रह्मपदस्य व्यक्तिविशेषे व्युत्पत्तिः द्वितीये, इत्युभयोरैकपेटिकात्वं सिद्धयति । यथोक्तमाचार्यपादैः—‘द्वाभ्यामादौ प्रतीतिप्रजननमुचितं सिद्धरूपे परस्मिन्’ इति ॥

अत्र अवतरणवाक्ये ‘किंपुनस्तद्ब्रह्म’ इत्यनेन ‘अघीहि भगवो ब्रह्म’ इति वाक्यं, यत्तच्छब्दाभ्यां, ब्रह्मशब्देन, जिज्ञास्यमुच्यत इत्यनेन च ‘तस्मा एतन्प्रोवाच’ इति ‘यतो वा इमानि भूतानि’ इत्यादि ‘तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म’ इत्यन्तविषयवाक्यं च विवक्षितमर्थतरसंगृहीतं भवति ॥

जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयमिति । ‘यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते’ इति श्रुतौ जनिघातुप्रयोगेण सूत्रे ‘जन्मादौ’ युक्तम् । छान्दोग्ये—‘तदैक्षत बहुस्या प्रजायय’ इति ‘तत्तेजोऽसृजत’ इत्यादौ जनिघात्वर्थस्यैव सृजघातुनाऽभिधानेन तदभिप्रायेण सृष्टिस्थितिप्रलयमिति भाष्ये उक्तम् । एतेन सद्विद्यावाक्यैकार्थ्यमानन्दमयविद्यावाक्यस्य सूचितम् । तेन ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इत्यत्रोपक्रमे सद्विद्यावाक्यविचारः एतदभिप्रायेणेति बोधितम् । एवं छान्दोग्ये भूतप्रयकथनेऽपि अत्र तौत्तरीये भूतपञ्चकोक्त्या सद्विद्यायामपि भूतपञ्चकं विवक्षितमिति सूत्रकाराशयो व्यञ्जितः । एवं सूत्रकाराशयाङ्गीकार एव ‘न विषदधुनेः’ इत्यादिसूत्रसङ्गतिः । तत्राकाशस्योत्पत्तिनिरूपणेन ब्रह्मकार्यस्य साध

### गूढार्थसंग्रहः

विध्यते । एतन्मैत्र पूर्व 'सोऽकामयत, बहुस्या प्रजायेयेति, सतपोऽतयत, सतपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत, यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य, सच्चयच्चाभवत्' इत्यादिश्रूयते । अत्रापि वक्ष्यमाणसृजिघात्वर्थ एव जनिघात्वर्थ इति सर्वसमतम् । अत्र जनिघात्वर्थपठित एव सृजिघात्वर्थः, सृजेत्सकर्मकत्वात् । एवचानुप्रवेशसहपठितसृष्टिघटिका जनिरेव जन्मादीत्यत्र जन्मशब्देन निराक्षितेति सिद्ध्यति । अनुप्रवेश एव 'सच्चयच्चाभवत्' इत्याद्युक्ताभेदे मूलमिति श्रुतावेव व्यक्तम् । उपनिषद्द्वये ऋग्यजुर्मित्युक्तया जनेः भगवत्पर्यन्तत्वं स्फुटम् । सद्विद्याया नामरूपव्याकरणश्रुत्या तद्वद्दीकृतम् । एव मृत्तकार्यदृष्टान्तकथनेन परिणाम्युपादानत्वमपि ब्रह्मणः तत्र बोधितम् । अतश्च सद्विद्याया मृत्तकार्यदृष्टान्तकथनेन 'बहुस्याम्' इत्युभयत्रोक्तया अनुप्रवेशस्याभेदे हेतुताऽभिधानेन च परिणाम्युपादानत्वमेव ब्रह्मणः उभयत्र विवक्षितम् । एतत्तात्पर्येणैव प्रकृत्यधिकरणे परिणामादिति वक्ष्यत । तत्र च 'सच्चयच्चाभवत्' इति श्रुतिः परैरप्युदाहृता । (श)भाष्यादिव्याख्यातृभिः कार्यात्मना परिणामः विवक्षितः सच्च मिथ्यापरिणामेऽप्युपपद्यते । सिद्धान्ते 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यत्र प्रकृतिविशिष्टबोधकपदाभावेन उपपादनकारणत्वविश्वानैव सम्भवतीत्युक्तम् । भामत्या कल्पतरौ च वाक्यकारसिद्धान्तः अयमेवेत्युक्तम् ॥

तथापि 'परिणामात्' इत्यस्य मिथ्यापरिणामबोधकत्वे नैव किञ्चिन्मानम् । कल्पतरुदाहृतवाक्यकारवाक्यानि न परमतसाधकानीति पूर्वाधिकरण एव प्रतिपादितम् । शुक्तिरजतादिदृष्टान्तः भामत्यादिपूतः । एतदर्थस्य श्रुतौ विवक्षितत्वे कारणत्वपरश्रुतावयव दृष्टान्तः नाभिहितः । किंच परमते रजतप्रति शुक्तिर्न विवर्तोपादानम् । अपितु शुक्तयवच्छिन्नचित्तेव, अस्मिन्नर्थे न प्रमाणं न दार्शनिकसमतिश्च । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्र आत्मन्शब्दस्य व्यापकचेतनवाचित्वेन कारणत्वानुगुण्येन सूक्ष्मचिदचित्वापकब्रह्मण एवोपस्थित्या उपादानकारणताऽवच्छेदकरूप स्फुटम् । तस्मादित्यनेनास्य रूपस्य श्रुत्यन्तरप्रसिद्धत्वमपि व्यक्तम् । एवचाभेदमूलानुप्रवेशसहपठितसृजिघात्वर्थान्तर्भूजनिरेव उपनिषद्द्वयप्रमिता जन्मादीत्यत्र जन्मशब्देन विवक्षिता । एतेन कारणवाक्यानामेव परब्रह्मनिर्णायकत्वं अत्रैवाभेदनिर्णयात् । तैत्तिरीये पूर्वमुक्ताभेद एव छान्दोग्ये उपक्रमे मृत्तकार्यदृष्टान्तानुसारेण 'सन्मूला' इत्याद्युत्तर 'तत्त्वमसि' इत्यात्रापि निराक्षित इति अभेदवाक्यानां न प्राधान्यं किंतु कारणवाक्यानामेवेति सिद्ध्यथा परोक्तात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वं निरवकाशम् ॥

एतेन 'उपनिषदिति वेदइत्यपीदं समभिवदन्ति महावचो महान्तः ।' 'सर्वत्रैव महागिरामुपनिषच्छब्दो भवेद्वाचकः वेदश्चाधमतोऽन्यदस्य निकटं तेनात्र वेदादिगीः ॥' इति सध्वेपशरीरकोत्तिरपि सूत्रकाराशयप्रतिबुद्धैव । 'ब्रह्म विदामोति परम्' इति वाक्यस्य ब्रह्मपदार्थप्रशस्य जगत्कारणत्वेन निर्णयपरप्रतिवचनवाक्यापेक्षया परमतमहावाक्यानां उक्तार्थस्य सुतरामसंभवात् । अभेदवाक्यानां कारणवाक्योत्तरत्वेन उपक्रमे उपादानकारणतायाः प्रतिपादने तेनैवाभेदोऽपि साधितो भवतीत्युपक्रमोपनिषद्द्विविधतात्पर्यलिङ्गोपेतत्वेन महावाक्यानां प्राबल्यं न सम्भवतीति व्यासेनैव निर्धारितं भवति । एवमर्थविशेषबोधनायैव 'यतोवा' इति श्रुत्यनुसारेण सूत्रे जन्मशब्दप्रयोगेऽपि एतच्छ्रुतिपूर्ववाक्यश्रुत्यन्तरार्थपर्यालोचनेन जन्मशब्दार्थनिर्धारणाय सृष्टिस्थितिप्रच्छयमिति सृष्टिशब्दः प्रयुक्तः । श्रुतौ 'येन जातानि जीवन्ति' इति जीवघातुः प्रयुक्तः 'जीवन्ति प्राणान् धारयन्ती'ति परेषां (उ) भाष्यम् । एवम् 'इमानि ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तानि भूतानि जायन्ते' इत्यर्थः इति च । बहुत्र सर्वभूतशब्दः गी.भा.प्राणिपरः परैर्याख्यातः । श्रुतौ जीवघातुप्रयोगेण शरीरसबद्धजीवरूपार्थप्रताप्या अत्र जीवविश्वान् स्फुटा । छान्दोग्ये 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यत्र तैत्तिरीये 'तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य' इत्यत्र च अन्विष्युपसर्गेण सर्वव्यापकस्य प्रवेशः परिमितकार्याणां परिणामकाले तादृशपरिणामविशिष्ट

## श्रीभाष्यम्

## तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहि

## श्रुतप्रकाशिका

नच समुदितलक्षण व्याख्याभावात् । नहि जगदु पक्षौ निमित्तापादानभूत स्थित्यादिकारणत्वव्यवच्छेदय किमपि वक्ष्य-  
स्तीति चेत्—सत्यम् व्यवच्छेद्यम् नेष्यते । तथाऽपि श्रुत्यनुरोधा सूत्रकारेणैवमुक्तम् । श्रुतिश्च 'तद्विजिज्ञासस्व' इति विधि-  
सितोपासनोपयागिनिरतिशयबृहद्विपरितापहृत्पशङ्काव्यवच्छेदार्थं समुदायमाह—शङ्कितव्यवच्छेदेनापिहि सप्रयोजनत्व-  
स्यात् लक्ष्याकारविपरितापशङ्कानिराकरणेन त्रिना लक्ष्याकारनिश्चयायोगात् । नच जन्मादिष्वेकैककारणव लक्ष्याकारविपरि-  
तापशङ्कानिराकरणशमम् । तथाहि उ पत्तिकारण वेऽभिहितेऽपि स्थित्यादिकारणत्वनचेत् तदनुगुणज्ञानशक्तिरिहात्, स्थितिप्र-  
त्ययकारणभूतवक्षन्तरसद्भावाच्च जन्ममात्रकारणस्य निरतिशयबृहद्वत्त्वं न स्यात् । मुक्तेर्लघान्तर्भावाभ्युपगमप्रदतयोपास्यस्यैव  
प्राप्यत्वाच्च, मोक्षप्रदवप्राप्यवानुगुणैर्गुणैश्च बृहद्वत्त्वं न । अतो जन्मकारणवमात्रस्य समस्तवस्तुव्यवच्छेदक्षमवऽपि जन्मादि-  
समुदायकारणत्वस्यैव निरतिशयबृहद्वैपयिकत्वात् सृष्टिस्थितिप्रत्ययसमुदायकारणत्व लक्षणमिति शेषितम् ॥

समुदायस्य लक्षणविमोहाविवक्षित जन्मादीति बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानत्वेन जन्मनोन्तर्भूतत्वादित्यत्राह—तद्वृणोति ।

## गूढार्थसंग्रह

व्याप्तितापर्येण प्रयुक्त इति निश्चीयते । व्याप्तिश्च स्थित्यर्था । जन्मादीत्यत्र जन्मशब्द अनुप्रवृत्तकालिकजनेर्निवक्षितत्वेन  
व्याप्तिप्रतीत्या व्याप्तिफलभूतस्थितिरेव आदिशब्दार्थतया सूत्रे विवक्षित इत्यभिप्रेत्य सृष्टिस्थितिप्रत्ययमित्यत्र स्थितिशब्द ।  
अन्तर्यामिभूतसत्तानुवृत्तिलक्षणा स्थिति बहिर्भूतमातापित्रादिमुनेन इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षणा स्थितिश्चेति द्विविधा  
स्थिति अन्तर्बहिर्व्याप्तिफलभूताऽत्र विवक्षिता । एतत्स्थितिद्वयस्यैव एव जीवधात्वर्थप्राणधारणमिति प्रसिद्धम् । व्याप्त  
अनुप्रवृत्तार्थं च 'यद्भूतेषु वसत्यापि, सर्गानुग्राहकत्वन' इति (ब्र वि) उपनिषदि प्रसिद्धम् । श्रुतौ चात्र 'अन्तर्बहिश्चत-  
त्सर्वं व्याप्य नारायणास्थित' इति श्रुत्यन्तरानुसारात् व्याप्तिनिबन्धन श्रुतौ जन्मस्थित्यो क्रमेणोक्त्या प्रयन्तीत्यत्रैव  
प्रलयो विवक्षित इति परे नवीना अपि । 'अभिमतेशन्ति' इत्यत्र मुक्तिर्विवक्षितेति नवीना । वस्तुतस्तु 'ब्रह्मवि-  
दाप्नोतिपरम्' इति प्राप्यत्वेनाक्तब्रह्मण एवात्र कारणलक्षणस्य विवक्षितत्वन प्रयन्तीत्यत्र घातो आप्नोतिसमानार्थकत्वेन  
च प्रयन्तीत्यत्र प्राप्तिरेव विवक्षिता । प्राप्तिश्च मुक्तकर्तृकेति पूर्वमेव निर्णीतम् ॥

घाता प्राप्त्यर्थप्रसिद्धयभावेन उपसर्गप्रत्ययार्था तरप्रतीतिरावश्यकतया 'प्रयन्ति' इत्यत्र घातोरेव प्राप्यर्थप्रसि-  
द्ध्या तत्र प्राप्तिविवक्षण स्वरसम् । अत्र 'अभिमतेशन्ति' इत्यत्र लय इत्येव विवक्षितम् । प्रयन्तीत्यत्र लय अभिस-  
भव तीत्यत्र मुक्तिश्चेति विवक्षा न युक्ता । सृष्टिस्थित्यो करुणामूलकत्वेन सृष्टिवाक्यानां साफल्यमिति प्रागेव निरूपितम् ।  
करुणामूलकफलपर्यवसानं तु मुक्ताववेति करुणामूलकत्वान्तरफलप्रतिपादनानन्तर परमपदप्रतिपादनमेव युक्तम् । मुक्तेरात्य-  
न्तिकलयेनापि व्यवहारण आत्यतिकलये तदतिरेकलये एव यच्छब्दघटितवाक्य एव सङ्गृहीत इति 'अभिमतेशन्ति'  
इत्यत्र विवक्षितप्रत्यय एव सृष्टिस्थितिप्रत्ययामत्यत्र प्रत्ययशब्दात् । सृष्टिप्रत्ययस्य मुक्तिपर्यन्तत्वेन सृष्टिवाक्यानां प्राधान्य अभि-  
दवाक्यानां चाप्राधान्यं दृढीकृतं भवति । 'अभिमतेशन्ति' इत्यत्र मुक्तिप्रवृत्त्याऽङ्गीकारपक्षऽपि सिद्धान्त उक्तार्थप्रतिपत्ते-  
नानुपपत्तिः । 'जन्मादीति' नपुंसकलिङ्गानर्देशानुसारं सृष्टिस्थितिप्रत्ययम् इत्युक्तिः ॥

तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति । जन्मादीत्यत्रेतिशेधः । एतेन बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानतया जन्मन अप्रवृत्त

## श्रुतप्रसागिना

बहुव्रीहिर्दिशिः तद्वृणसविज्ञानाऽतद्वृणसविज्ञानमेति । तत्र प्रथमस्योदाहरणं—‘सर्वादीनि सर्वनामानि, लम्बकणं मानय’ इत्यादि । द्वितीयस्योदाहरणं चित्रगुमानय इति । तत्रान्धेन विशेषेण गुणशब्देन विशेषणं च विवक्षितम् । समिलेकीकारे \* विशेषणं विशेष्यं च एककार्यान्वितत्वेन सहशापयतीत्यर्थः । एवमपि बहुव्रीहनान्यपदार्थप्रधान-प्रसङ्गः—  
स्वपदमात्रविशिष्टसमुदायस्य \* त समुदायिनोऽन्यपदार्थतया विवक्षितोपपत्तः । समासस्यपदार्थस्यापि निशिष्टसमुदायान्तर्गतं ताकारेणान्यपदार्थं युज्यते । स्वपदमात्रस्य तेनाकारेण तदाचक्राभावात् ॥

अस्योप-व्याख्येयपदोपादानम् अचिन्त्येत्यादिना तद्व्याचष्टे । अस्योपपदस्य जगत इत्येतावन्भागे वक्तव्ये किमर्थो विस्तर इति चेत् सूत्रकारविषयितार्थकथनार्थः, तद्विस्था न श्रुतिविषयता । श्रुतिविषयता कथं शायमिति चेत् ; उच्यते—  
‘यतोया इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यत्र भूतशब्देन कार्यवर्गेऽभिहितेऽपि इमानीतिपदं कार्यवर्गस्य धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धाकारविशेषपरम् तत्र जगता आभासतापरत्वं ब्रह्मणा जिज्ञास्यताऽनुपयोगीति वैचित्र्यपरमिमानानीतिपदं इदंशकार्यनिष्पादनानुगुणगुणोक्तं प्रवेति शायमार्थम् । श्रुतिवाक्यस्येदंशब्देन निर्दिष्टास्तूत्रकारस्यापीयमेव विवक्षा । जगतः इमानीतिश्रुतौ बहुवचनेत्यपि सौत्रमेकवचनं \* कृत्वाभ्य भुवनस्यैककार्यताविशेषणैककृतृत्वज्ञापनार्थं भूतशब्दस्य देवादिचतुर्विधभूतमात्रपरव्यावर्तनेन भवनक्रियायोगिकृत्त्वकार्यसमदाया मकजगद्विषयं ज्ञापनार्थं च । अतएव हि भाष्ये जगत इत्युक्तम् । तत्र कार्यवर्गस्य चिदचिदा मकं तात् तत्र प्रमाणं सद्धचिदाचद्वैचित्र्योपचिन्त्येत्यादिपदद्वयनाह ॥

ननु गृहाधिकरणे गृहं समाधत्त्यत्र उद्देशगतविशेषणे विवक्षाऽभावादकवचने तात्पर्याभावरुत्तं तेन व्याख्येयप्रसिद्धं \* यत्रिदेशस्त्वप्यतया अनुवादरूपस्य इदंशब्दस्याऽऽविशेषणं तात्पर्याभावनं च व्याख्यातव्यम् । मेरुं गृहाधिकरणस्योद्देश्यविशेषणमात्रविषयता नानपिद्धा अपि अनुवादस्य मूलभूतप्रापकवाक्याक्तार्थविरुद्धविशेषणेहि तात्पर्याभाव उक्तः । उत्पत्तिवाक्यसिद्धस्य \* गृहबहुस्य विरुद्धलोकत्वम् अन्यथा ‘अष्टयर्षं ब्राह्मणमुपनयीत’ इत्याप्यप्रत्ययानादिविशेषणे तात्पर्याभावप्रसङ्गात् । अत्रतु प्रापकवाक्येषु जगद्वैचित्र्यमेव स्पष्टम् । \* यदा यत्र प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थावबोधायामन्यानुपपत्त्या आनर्थक्यं तत्रोद्देश्यविषयविषयता \* तत्रतत्राङ्गीकृता तस्मादेव व्याख्यातुं युक्तम् ॥

## गूढार्थसङ्ग्रह

एव न स्यादिति शङ्काया नावकाशः । उक्तं च ‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ (१.१.२६) इति सूत्रे महाभाष्ये सर्वशब्दः आदिः येषां नानीमानि’ इति बहुव्रीहिकथनानन्तरं ‘यत्रैव सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न प्राप्नोति । किंकारणम् ? अन्यपदार्थत्वाद्बहुव्रीहे । बहुव्रीहिरन्यपदार्थं वर्तेते । तेन यदन्यत्सर्वशब्दात्स्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति । तद्यथा चित्रगुरानीयतामिति युक्तं यस्य ता गात्रो भवन्ति स आनीयते नगाय, नैष दोषः भवति हि बहुव्रीहौ तद्वृणसविज्ञानमपि । तद्यथा ‘चित्रवाससमानय’ लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति इति तद्वृणानीयते तद्वृणाश्च प्रचरन्ति’ इत्युक्तम् ॥

अत्र प्रदीप —‘तस्य अन्यपदार्थस्य गुणा—उपलक्षणानि तेषामपि कार्ये सविज्ञानं तद्वृणसविज्ञानम् । तत्र चित्रगुरानीयतामिति स्वस्वामिभाष्यसम्बन्धः, पञ्चम्यर्थेति स्वविशेषोपलक्षितस्य स्वामिनः प्रमाणनयनं न भवाम् । ‘दण्डी विषाणीचानीयताम्’ इत्यत्र तु सयोगसमवायसम्बन्धेन सत्रधेन सत्रधेनि कार्ये विज्ञायमाने उपलक्षणस्याप्यन्तर्भावो भवति । इहाप्यादिशब्दस्याप्यववाचित्वादुद्भूतावयवभेदसमुदायः समासार्थः तस्य च समुदायस्य युगपच्छब्दं प्रयागाभावात्तदन्तर्भूताना-



### श्रीभाष्यम्

(अस्य) अचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालफलभोगब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञ-  
मिश्रस्य जगतः (यतः)

### श्रुतप्रकाशिका

तत्राचिदशैचित्र्यमाह—अचिन्त्येत्यादिना पदेन । जीवकर्तृकतया चिन्तयितुमशक्यत्वमचिन्त्यत्वम् । आकाश-  
वाय्वादिभेदेन विविधत्वम् प्रत्येक तत्तद्व्यष्टिबाहुल्येन विचित्रत्वम् ईदृशरचनस्येत्यर्थः । अत्र रचना सस्यानम् । अथ  
चिद्वैचित्र्यमाह—नियतेति । अस्मिन्देशे अस्मिन्काले इदमल्पमेव भोक्तव्यमिति नियमो ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानामविशे-  
षेण भवति । ब्रह्मणोहि स्वमानपरिमितवर्षशताधिक जीवितु अण्डान्तरे प्रवेष्टुमण्डाधिपत्यादधि फल भोक्तुं चाशक्यम् । एव  
चिदचिद्वैचित्र्यकथनेन क्षेत्रज्ञभाजस्य कर्तृत्वानुपपत्तिस्सूचिता ॥

तृतीय पदमुपादत्ते—यतइति । पूर्वस्य पदस्य श्रुतिविरक्षाऽनुसारेण व्यख्यानं कृतम् । अत्रतु तादृशपदश्रवणाभा-  
वेऽपि कथमनेकविशेषणोक्तिः । 'यतो' 'येन' 'यत्' इति प्रसिद्धान्निर्देशोहि प्रापकवाक्यसापेक्षः तत्र प्रापकवा-  
क्येषु जगत्कारणत्वनिश्चास्यत्वोपयोगियादृशविशेषणविशिष्टो योधार्मिविशेषउक्तः तादृग्विशेषणविशिष्टस्य एवान् श्रुताय-  
च्छब्देन विरक्षितइति सूत्रकाराभिप्रायइति कृत्वा तत्तादृशविशेषणविशिष्टतद्वर्तिविशेषणपरत्व सौत्रस्य यतशब्दस्योक्तम् । यतः  
इत्यत्र \* तामिहप्रत्ययस्य सार्वभौमिकत्वादिभक्तयन्तरशङ्का स्यात् तेन जगज्जन्मादयो यत्र भवन्तीति देशकालादिवदधि-  
करणत्वमेव ब्रह्मलक्षणमित्यपि शङ्कितुं शक्यम् । \* एव तसिलैप्येकद्विवहुवचनसाधारणता कारणवाक्येषु सद्ब्रह्माद्यनेकश-  
ब्दैरभिधानाच्च कारणानेकत्वशङ्का स्यादिति तदुभयव्युदासार्थं यस्मादित्युक्तम् ॥

### गूढार्थसङ्ग्रह

मेव पृथगप्रयोगत्वात्कार्यार्थया सज्ञया प्रवर्तितव्यमिति सर्वशब्दस्यापि सा सिद्ध्यति । यथा 'देवदत्तशालाया ब्राह्मणा  
आनीय-नाम्' इत्युक्ते देवदत्तोऽपि यदिब्राह्मणो भवति स्वशालास्यश्च तदा सोऽप्यानीयत एव' इति ॥

अत्र उद्योतः—'उपलक्षणानीति । प्रकारतया अन्वयिनीत्यर्थः । कार्ये सविज्ञानमिति । तस्य द्वेषा क्वचिद्विशि-  
ष्टस्य क्रियाया सन्निधानमात्रेण यथा क्रियायोगाभावेऽपि शुक्लवासस भोजयतीति । क्वचित्तु विशेषणस्यापि क्रियायोगेन  
यथा शुक्लवासस पश्येति । कार्यं यत्र तद्भावभावि तत्र तद्रूपत्वमित्यर्थःफलितः । एव तद्रूपसविज्ञाने तादृशविशेषणेतान्वय-  
अन्यत्र तदुपलक्षितस्यैवपि भेदः अयशब्दशक्तिस्वभावगम्योऽन्तर्भावः कार्यं च कार्यसन्निहितत्वं वा । एव च यत्र सयोग  
समवायान्तरसंबन्धेन सन्ध्यन्यपदार्थस्तत्र तद्रूपः । अन्यत्रातद्रूपइत्यु सर्म इतिगोलाय । ननु प्रकृते न सयोगो नापि  
समवाय इत्यत्राह—इहापीति । एवच समवायेन सन्धिर्भवेऽप्यपदार्थत्वेन तद्रूपत्वमेवोचितमित्यर्थः' इति ॥

'इमानिभूतानि' इत्यत्रेदंशब्दप्रयोगेण तदनुसारेण 'अस्य' इति ईदृश-द एव सूत्रे प्रयुक्तः । 'इदमस्तु स-  
न्निकृष्टम्' इति महाभाष्यानुसारेण बुद्ध्या सन्निकृष्टपरः ईदृश-दः तत्तत्प्रमाणसिद्धपर्यवसितः । 'भूतानि' इत्यत्र भूत  
शब्दः पञ्चमहाभूततात्पर्येण न प्रयुक्तः इमानीत्यस्य वैयर्थ्यात् । किंतु योगेन परिणामिकार्यसामान्यपर इत्यभिप्रेत्याह—  
अचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्येत्यादि । परैरपि श्रुतौ ब्रह्मादिस्तम्बस्यैवविवक्षा उगनिपद्भाष्ये उक्ता । सूत्रभाष्येऽपि  
रूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसमुच्चस्य मनसाऽप्याचिन्त्यरचनरूपस्य' इत्युक्तम् । एतन् जीवानामपि कार्यके-

## श्रीभाष्यम्

यस्मात्सर्वेश्वरादितिरित्यहेयप्रत्यनीकस्वरूपात्सत्यसङ्कल्पात् ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणात्

## श्रुतप्रकाशिका

उपायतयेत्येतयाऽपि जिज्ञास्येव कारणेनोपयुक्तानि तत्तत्प्रापकवाक्यसिद्धान्त्येतच्छ्रुतिविवाधितानि विशेषणानि दर्शयति । सर्वेत्यादिना । तिस्रो मूर्तयो अशाः ब्रह्माशीनि वादप्रकाशयन्तः । प्रधानपुरुषयोः कारणत्वं केषाचिन्मतम् ईदृशं न्यूनाधिकतत्त्वव्यवच्छेदार्थं 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'सकारणं करणाधिपाधिप' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण सर्वेश्वरादियुक्तम् । कारणवाक्यशेषभूतशोधकवाक्यसिद्धिं जिज्ञास्यवोपयोगिनं चिदचिद्व्यावर्तकाकारमाह—निरित्यलहेयप्रत्यनीकस्वरूपादिति । निरित्यशब्देनानिर्गतहेयाप्यङ्मात्रविकाराश्रिततद्देया, ज्ञेशकर्मविनाकाशयाश्च विवाधिताः । हेया हेयैवसि तदियुक्तर व्युदस्येन प्रत्यनीकशब्देन प्रत्यनीकश्रेष्ठगदुषादानं च नोपपद्यत इत्यत्राह—स्वरूपादिति । अद्वा रकहेयसर्वघो व्युदस्यः ननु सद्धारक इत्यर्थः । हेयप्रत्यनीकत्वे विशेषणाद्येऽपि हेयासम्भवात् तत्सम्बन्धविरोधि वात् स्वप्रतिबुद्धेत्यादकवायोगाच्चेत्यत्राह—सत्यसङ्कल्पादिति । स्वसङ्कल्पानुरूपं हेयसम्बन्धं सश्रितेषु तद्वियोगं च कर्तुं समर्थः । नच हेय सर्वेश्वरापेक्षया हेय तत्सङ्कल्पनिवृत्त्यर्थेन तन्नीत्यारसात् तदिति भावः । सत्यसङ्कल्पं च हेयप्रत्यनीकत्वोपपादकं, कारणजिज्ञास्य वोपयोगि च । हेयप्रत्यनीकान्त्यसङ्कल्पादिनि पदद्वयेन 'अपहतपाप्मा' इत्यादिवाक्यं स्मारितम् ॥

जिज्ञास्यवोपयोगिनां \* धर्मस्वरूपस्य कल्याणतामाह—ज्ञानेति । ज्ञान-दत्तं स्वानुकूलत्वम् । \* आदिशब्देन सत्यत्वमानन्त्य च विवाधितम् । \* हेयप्रत्यनीकत्वं पूर्वमुक्तम् ज्ञानानन्देति भावप्रधाननिर्देशः 'द्वेकयोर्द्विवचनैकवचने' इतिवत् ज्ञानं ज्ञानानन्दत्वसत्यं वाच्यं न प्रादेशिकानीत्यनन्तशब्दार्थः । \* आदिशब्दनानन्त्यस्य गृहीतं वेऽपि सर्वव्यापित्वस्य कालानन्त्यकथनं नित्यत्वस्य सार्वाधिक्यकथनं सर्ववस्तुसामानाधिकरण्याह्वस्य च नित्यत्ववृत्त्यप्रदेशश्रुति-त्वकथनं सप्रसिद्धम् । \* कल्याणत्वमन्वेष्टामनुभवितृणामप्यनुकूल्यं ज्ञानत्वादयः यस्य कल्याणगुणा यस्य तस्मादित्यर्थः यथा प्रमाऽऽश्रये दीपे प्रभाविना आश्रयाशस्यैव चतुरङ्गुल्यवस्त्वत्तोज्ज्वल्यगुणा, तथा ब्रह्मणोऽपि ज्ञानत्वानन्दत्वसद्वैक्यरूपानि स्वरूपस्य गुणा । धर्मिणो धर्मस्य च ज्ञानत्वे व्यक्तिभेदादविरोधः । धर्मधर्मिणोस्साधारणाकारो ज्ञानत्वानन्दत्वादयः यथा नरस्यैव सतो राज्ञो नराः परिकरा इत्युक्ते व्यक्तिभेदादविरोधः नरत्वचोभयसाधारणाकारः तद्वत् ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

तिनिवेशासिद्धः । श्रुतौ 'यत' इत्यत्र यच्छब्दस्य प्रापकश्रुत्यन्तरप्रमाणसिद्धार्थबोधकत्वेन सूत्रे 'यत' इत्यत्रापि स एवार्थो विवक्षित इत्यभिप्रेत्य 'यतः यस्मात्सर्वेश्वरात्' इत्यादिभाष्यम् ॥

'किं कारणं ब्रह्म देवात्मशक्तिम्' 'क्षरप्रधानममृताक्षरहरः क्षरात्मानावीशते देवएकः' 'प्रधानशेषशक्तिर्गुणेशससारमोक्षस्थितिप्रदहेतुः ।' 'सकारणं करणाधिपाधिप' 'यस्य देवे पराभक्तिः—प्रकाशन्ते महात्मनः' इत्यादि श्रुत्यभिप्रायेण यस्मात्सर्वेश्वरादिति । ईश्वरत्वमाविद्यकमिति भ्रमनिरासाय 'यदंशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय' 'निरवयवं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुत्यभिप्रायेणाह—निरित्यलहेयप्रत्यनीकस्वरूपादिति । 'अपहतपाप्मा' सत्यकामसत्यसङ्कल्पः' इति श्रुतिविरोधेन निर्गुणश्रुतिः प्रागुक्तदिशा (प्रथमाधिकरणोपपादितदिशा) गुणसामान्यं न निषेधति किंतु गुणविशेषमवेति ता पर्येण सत्यसङ्कल्पात् ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणगणादियुक्तम् । 'सर्वज्ञात्सर्वेश्वरादिति

## श्रीभाष्यम्

सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः परमकारुणिकात्परस्मात्पुंसः सृष्टिस्थितिप्रळयाः प्रवर्तन्ते तद्ब्रह्मेति सूत्रार्थः

## श्रुतप्रकाशिका

धर्मभूतज्ञानवत्तामाह—सर्वज्ञादिति । सर्वज्ञत्वं निमित्ततोपयोगि सर्वशक्तित्वमुपादानत्वोपयोगि, अनेन चिद-  
चिच्छरीकत्वमभिप्रेतं भवति अन्यथोपादानत्वायोगात् । किञ्च सर्वज्ञत्वमुपासकापेक्षितं तत्प्रतिबन्धतन्निरसनप्रकारज्ञानो-  
पयोगि, सर्वशक्तित्वं तद्विरोधिनिरसनोपयोगि । परमकारुणिकत्वं च जिज्ञास्यत्वकारणतोपयोगि प्रलयदशायामसत्कल्प  
चेतनजात निरीक्ष्य दययाहि सृष्टिः \* सश्रितसौलभ्यं च दययैव यथा ' माता पिता भ्रातानिवासदशरणं सुहृद्ब्रति-  
नारायणः ' इति ॥

ईदृशेश्वरउपायभूतः । उपेयमन्यदित्यत्राह—परस्मादिति । अत्र माताभितेत्यनुसन्धेयम् । देवताविशेषनिर्णयार्थ-  
माह—पुंसइति । कारणत्रय्येषु ' छागोवा मन्त्रवर्णात् ' इति न्यायात् सद्ब्रह्मात्मादिसामान्यशब्दानां पुरुषाच्चाशयणादिति  
विशेषपर्यसायित्वात् सर्वश्रुतीनां नारायण एव पर्यवसानभूमिरिति ' यतो वा इमानि ' इत्यादिश्रुतेर्हृदयमिति सूत्रका-  
रस्य भावइति भाष्यकाराभिप्रायः । पुंसइत्यनेन कारणभूतस्य वस्तुनस्त्रिपाद्विभूतिमत्त्वमपि सूचितं पुरुषसूक्ते ' त्रिपाद-  
स्यामृतं दिवि ' इति श्रवणात् । सूत्रार्थइति । अक्षरार्थस्तात्पर्यार्थश्चेत्यर्थः ॥

ननु यदीश्वरो लिलक्षयिषितः तर्हि तदसाधारणसर्वज्ञत्वादिप्रतिपादकसत्यज्ञानादिवाक्यानादरेण जन्मादिकारणत्व  
किमर्थं सूत्रितम् । उच्यते गुणैस्स्वरूपस्य लक्ष्यमाणत्वे तदपेक्षया बहिष्ठाया विभूतेरुपास्यानन्तर्भावः प्रतीयेत सर्गादिवि-

## गूढार्थसंग्रहः

परभाष्येऽप्युक्तम् । ' यस्य सर्वज्ञसर्वशक्तिः ' इत्यत्र सर्वज्ञत्व, ' पराऽस्य शक्तिर्विविधैः श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ' इत्यत्र श्रुतौ उभयत्र प्रतिपादितम् । सृष्टिवाक्यानां प्रयोजनाभावात् ' फलवत्सन्निधातुफलं तदङ्गम् ' इति न्यायेन अमेद-  
वाक्यशेषत्वेन आत्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वमिति भ्रमनिरासाय—परमकारुणिकादिति ॥ उत्तरत्र सूत्रे ' लोकवत्तु लीलकै-  
वत्यम् ' इत्यादौ स्वप्रयोजनपरप्रयोजनयोरभिधानेऽपि अन्तर्यामित्यस्य मुक्तिपर्यन्ततायाः ' हन्ताहम् ' इत्यादिश्रुतिभि-  
द्वत्वेन ' हादानीं गृहीतशताधिकया ' ' संपद्याविर्भावस्त्वेन शब्दात् ' ' अनादृष्टिश्शब्दात् ' इत्युपसहारेऽप्युक्तस्य फलस्य  
' जन्माद्यस्य यतः ' इति सूत्रेऽपि निवक्षितत्वेन उपक्रमोपसहारयोरेकरस्य वृत्तिकारमतएवेति बोधनाय परमकारुणि-  
कात् इत्युक्तम् । ' यत्प्रयन्यमिषविशन्ति ' इत्यत्र सृष्टेः मुक्तिपर्यन्तफलप्रतिपत्तिः स्फुटा । उक्तगुणाविशिष्टस्यापरब्रह्मत्वमे-  
वेति भ्रमनिरासाय परस्मात् इति । ' तत्त्वोपनिषद पुरुषम् ' इति श्रुत्या पुरुषस्योपनिषत्तात्पर्यत्रिषयत्वमित्यभिप्रेत्य ' पुंसः ' इत्युक्तम् । पुरुषश्च वासुदेवएवेति पूर्वाधिकरणे एवोक्तम् । ' स्वरेण सधयेद्योगम् ' इत्युपक्रम्य ' सर्वभूताधिवास च यद्भूतेषु वसत्यपि सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ' इति ब्रह्मविन्दूपनिषदुपसहारे उक्त्या नादार्थो वासुदेव एवात्र विवक्षितः । तेन अकारोकारमकारार्थानां ब्रह्मविष्णुब्रह्माणां सृष्ट्यादिषु एकेककर्तृत्वेन त्रितयकर्तृत्वं न सम्भवतीति त्रिष्णुर्नात्र विवक्षितइति शङ्काया नावकाशः । व्याप्तिसृष्ट्यादावव निर्मूर्तिना हेतुना न समष्टिसृष्टी, अतः समष्टिसृष्टिविषय-  
' दार्थो अपि ' इमानिभूतानि ' इत्यत्र अभिप्रेता इति व्याप्तिसमष्ट्यादिपदार्थकर्ता वासुदेवोऽत्र विवक्षितइति स एवाद्यस्यैव ब्रह्मशब्दार्थत्वेनाभिप्रेतः । तदेतदाह—तद्ब्रह्मेति सूत्रार्थइति । ब्रह्मजिज्ञासेति समासषट्कत्रयशब्दस्य पृथक्करणेनानुप-  
क्रममित्येतत्तद्ब्रह्मेत्युक्तम् । श्रुतावपि यतो वेत्युपक्रमेण तद्ब्रह्मपुराणहारणं च अपसूयार्थः श्रुत्यनुगुण इति भावः ॥

## श्रुतप्रकाशिका

पयभूतयातु विभूत्या स्वरूपे लक्ष्यमाणे तन्नियमनधारणाद्यपेक्षितत्वादेव गुणानन्तर्भागे न शक्यशङ्कः । अतो गुणानामिव  
 \* विभूतेश्च जिज्ञास्यान्तर्भावशापनार्थं जन्मादिलक्षणं विभूतेश्च जिज्ञास्यान्तर्भावः \* उपासार्त्रेविध्यत क्रतुन्यायाम्या  
 सेत्यानि ॥ नन्वेवमपि कृत्स्नविभूतेर्जिज्ञास्यान्तर्भागे न सिद्ध्यति त्रिषाद्विभूतेर्जन्माद्यस्पृष्टत्वात् । मैवम् । तस्याः जन्माद्य  
 स्पृष्टत्वेऽपि 'यत्प्रयन्ति' इति प्रलयवाक्यस्य यच्छब्दनिर्दिष्टे मुक्तप्राप्ये ब्रह्मण्यन्तर्भावसिद्धेः । तथाहि 'प्रयन्ति' इत्ये  
 तद्विशेषेणात्यन्तिकलयरूप मोक्षमपि प्रतिपादयतीति यच्छब्देन मुक्तप्राप्यतयाऽपि ब्रह्मनिर्दिष्टं भवति । प्राप्याकारवि-  
 शिष्टं च ब्रह्म प्रमाणान्तरसिद्धमिहानूयते । प्रमाणान्तराणि च विभूतिद्वयविशिष्टं ब्रह्म प्राप्य वदान्ति ; प्राप्याकारस्यो-  
 पास्य व तत्क्रतुन्यायसिद्धं तदंशं लक्षणान्भूतेन त्यागेनोपलक्षितायास्त्रिषाद्विभूतेरापि जिज्ञास्यान्तर्भावसिद्धिः सूत्रिता भवति ॥

ननु यत इति सूत्रपदस्यायाः पञ्चम्या उपादानार्थत्वात् ब्रह्मोपादानमिति निमित्तान्तरसद्भावात् 'उपादानं तु  
 भगवान्निमित्तं तु महेश्वरः' इत्युक्तयोमानीतपञ्चाशदशः प्रसज्यते ? नैवम्—यत इति पञ्चम्या हेतुमात्रविषयत्वात् \* हेत्व  
 र्थत्वं च जनिस्थितिलयसाधारणत्वादवगम्यते । ननु 'जनिकर्तुं प्रकृतिः' इत्युपादानसंज्ञाविधानवत् स्थितिकर्तुर्ल्यस्या-  
 नस्य चापादानसंज्ञाविधानं दृश्यते, तस्मादियं \* हेतौ पञ्चमी । ततश्च निमित्तोपादानयोरुभयोरपि हेतुत्वाविशेषात्, यत-  
 इति पदेनोभयविधकारणत्वमपि क्रीडीकृतं भवति । 'यतोवा इमानि' इत्यादिवाक्ये यत इति पदस्योभयविषयत्वात्  
 सौत्रपदस्याप्युभयविषयत्वोपपत्तेः ॥

ननु 'यतोवा इमानि' इति वाक्ये यतो येन यदिति यच्छब्दस्यावृत्तत्वाद्यत इति पदस्य जनिस्थितिलयसा-  
 धारण्यं नास्तीति तत्र यत इति पञ्चम्युपादानमात्रविषया, जायन्त इत्यनेनैवाभ्युपगमात् । पञ्चम्यर्थो हि 'जनिकर्तुं प्रकृतिः'  
 इत्येव प्रतीयते, किंतु हेतुमात्रविषयाया अपि सौत्रपदपञ्चम्यादश्रुतिवाक्यस्य पञ्चम्यभिहितोपादानरूपहेतुविशेषे पर्यवसानस्यात्  
 सूत्रस्य श्रुत्यैकार्थ्योपपत्तेः । अतः श्रुतिसूत्रयोरापि पञ्चम्या उपादानमात्रविषयत्वात् ब्रह्मोपादानं ननु निमित्तमिति । नैवम्  
 श्रुतौ यत इति पदस्य जनिस्थितिलयसाधारणत्वाभावेऽपि यच्छब्दस्यानुवादरूपत्वादनुवादस्य च प्रापकवाक्यसापेक्षतया  
 ताद्विरुद्धार्थरत्नासम्भवात् । प्रापकवाक्येषु च 'एकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहुस्याम्' 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपादा-  
 नभूतस्यैव ब्रह्मणो निमित्तान्तरं निषिद्ध्याहमेव जगद्रूपणं 'बहुस्याम्' इति सङ्कल्पमुक्त्वा यथासङ्कल्पं तत्कर्तृवृत्तेश्च  
 प्रतिपादानात्तदनुवादिनं लक्षणवाक्ये यत इति पदमुभयविषयम् । श्रुत्यनुविधायित्वाज्जनिस्थितिलयसाधारणत्वाच्च सौत्रं च  
 पदमुभयविषयमेवेति निमित्तान्तरवादो वेदविरुद्धत्वाद्नादरणीय एवेति ॥

एतर्हि प्रकृत्यधिकरणपौनरुक्त्य स्यादिति चेन्न तत्राहि निमित्तोपादानैक्यस्य श्रुतिप्रतिपाद्यं च समर्थ्यते अत्र नु नि-  
 मित्तोपादानैक्यसिद्धवत्कारेण तस्योभयविधकारणत्वस्य लक्षणत्वानुपपत्तिः परिहियत इति वैषम्यात् । \* नन्वाश्वर एव  
 ब्रह्मचेत् सत्यशानादिलक्षणत्वेन वक्तव्यं ननु जन्मादि ईश्वरस्य सर्वविधकारण वायोगात् । निमित्तकारणमुपादानचैकमेवेति  
 वेदान्तेषु मतम् । तस्मादीश्वरादतिरिक्तं ब्रह्माभ्युपगच्छतो भेदाभेदवादिनोऽनुकूलमिदं जन्मादिलक्षणकथनम् ॥

नैवम्—चिदचिद्विशिष्टतया सत्यसङ्कल्पतयाचेश्वरस्यैव बहुस्यामितीक्षणक्षमत्वेन सर्वविधकारणत्वोपपत्तेः । सन्मास्य  
 चिन्मास्य सत्यसङ्कल्पत्वायोगादीश्वरस्य च ब्रह्माशतयाऽप्यस्ततयाचाभिमतस्याशान्तराभ्यस्तान्तरसमानाधिकरणशब्दवा-  
 च्यत्वायोगाच्च । भेदाभेदपक्षे मृधावादिपक्षे च 'बहुस्याम्' इति सङ्कल्पपूर्वककारणत्वं न घटत इत्येतल्लक्षणं परेषामेवानु-  
 पपन्नम् । किंच बुभुक्षितस्य लक्षणं वाक्यम् बुभुक्षितचोपास्यम् ईश्वरवोपास्यं प्राप्यश्च । \* उपासनं च विशिष्टविषय  
 उपासार्त्रेविध्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । \* प्राप्तिश्च विशिष्टविषया यथोपासनभावितात्तस्याः । जन्मादिचोपास्यलक्षणं तद्वि



## श्रीभाष्यम्

‘भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्म ’ इत्यारभ्य ‘यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति’

## श्रुतप्रकाशिका

जिज्ञासस्वेति’ प्रतिपादनात् । सत्यज्ञानादितु विशेष्याशम्य लक्षणं नतु विशिष्टस्य अतो विशिष्टस्यैवोपास्यत्वाजिज्ञास्य ब्रह्मलक्षणं जन्माद्येव । यतइत्यस्यानुवादरूपत्वात् ‘विजिज्ञासस्वेति’ जिज्ञास्यत्ववचनाच्च, जिज्ञास्यत्वोपयोगिः शोधकवाक्यार्थश्च यच्छब्दे गर्भितः । तस्मात्प्रस्मादित्यादिविशेषणान्युक्तानि ॥

अथ जन्मादीनां लक्षणत्वे तत्र जन्मनोऽन्तर्भावः तत्रापि समुदितस्य लक्षणत्वे च किंते प्रमाणमित्याकाक्षाया सूत्रकारैर्निषेधयत्ननाभिप्रेता श्रुतिं दर्शयति । भृगुरिति । \* शास्त्रं प्रणाड्याविषयं ‘यतोवा इमानि’ इत्यादिमात्रे उदाहर्तव्यंऽपि अर्थमादरूपता पर्यालिङ्गज्ञापनार्थं, प्रकरणस्य ब्रह्मोपक्रमत्वेनान्यपरत्वज्ञापनार्थं च भृगुर्वा इत्याद्युदाहृतम् । अग्नीन्द्रादिवस्तुषु सत्रोक्तवृष्टतया आपातप्रतीतिषु सर्वेषां सत्रोक्तवृष्टत्वस्यानुपपन्नत्वेन तत्त्वस्य दुर्निश्चयतया निरतिशयवृहवाश्रयव्याक्तिविशेषजिज्ञासयाहि ‘अधीहि भगवो ब्रह्म’ इति प्रश्नः । तत्र व्यक्तिविशेषस्य लक्षणमुच्यते ‘यतोवा इमानि’ यतो, यन, यदिति यद्वृत्तयोगात्कारणत्वमनृच्यते तद्ब्रह्मति कारणस्य ब्रह्मत्वविधीयते तेन कारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणत्वसिद्धिर्भवति ‘तद्विजिज्ञासस्व’ इति न विचारस्योपासनस्य वा विधिः । विचारान्मकज्ञानरागप्राप्तत्वात्तद्विधेयम् । उपासनात्मकस्यतु ज्ञानस्य ‘ब्रह्मविदोऽप्येति’ इति प्राकराणिकवाक्यान्तरसिद्धत्वात्, उपक्रमे ‘अधीहि भगवो ब्रह्म’ इति प्रश्नस्य तत्परत्वेनोपायविषयत्वाभावाच्च नोपासनात्मकज्ञानमिह विधेयम् । अतो विजिज्ञासस्वेत्युपदिश्यमानार्थे अवधानार्थं सन्देहनिवृत्त्यर्थोक्तम् । या गन्धवती ता पृथिवी विद्धीतिवत् । अतः कारणवस्य ब्रह्मलक्षणवमेवास्य वाक्यस्य विधेयं यथा-यत्र सारसस्तदेवदत्तकेदारइत्युक्ते सारससम्बन्धस्य देवदत्तकेदारलक्षणत्वमुक्तस्यात् । तद्वत् \* देवदत्तकेदारो बुभुक्षितो \* धीस्थः सारससम्बन्धश्च दृष्टः । \* तस्य देवदत्तकेदारलक्षणत्वस्यज्ञातं अतस्तदेव वाक्यस्य विधेयम्, एवं निरतिशयवृहत्त्वं बहुध्वन्येवावगतम् । कारणं च प्रापकवाक्यावगतम् । \* तस्य निरतिशयवृहत्त्वस्तुलक्षणत्वमनन्यगतमिति तदत्र विधेयं, लक्षणस्य च सजातीयविजातीयव्यावर्तनस्वभावत्वादन्येषां निरतिशयवृहत्त्वशङ्काव्युदासः फलिः । अतो नारयणादिविशेषशब्दवाच्यवस्तुविशेषस्यैव निरतिशयवृहत्त्वसिद्धिः । अतएवहि परस्मात्पुंस इत्युक्तम् ॥

## गूढार्थसंग्रहः.

भृगुर्वै वारुणि इत्यादि । अत्र ‘यतो वा इमानि’ इत्यादिश्रुत्यर्थ एव सूत्रेऽभिहित इति तावन्मात्रोपादानेनैव प्रवृत्तसूत्रार्थनिष्कर्षस्तम्भवति, अथापि ‘ब्रह्मविदोऽप्येतिपरम्’ इत्युपक्रमे प्राप्यत्वेनोक्तस्य ब्रह्मण ‘यतोवा’ इत्यादीनां लक्षणमुपेन निर्णयः । तस्यैव प्रश्नप्रतिपत्तिरिति प्रश्नवाक्योपादानेन ‘सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति वाक्यतः ‘यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते’ इति वाक्यस्य प्राधान्यबोधनाय ‘भृगुर्वा’ इत्यादिकमुपात्तम् । अथ गृहस्थेन गृहस्थस्य ब्रह्मविद्यापदेशनं सन्त्यासिन एव ब्रह्मविद्यायामभिधारइति परममर्थः, न घटन इत्येतत् सूचितम् ॥

एव पुत्रेण पितुः ज्ञानसमादानेनोपकारवत् परमा मनो जीवातामुपतिनिरूपणेन राजकुमारनयेन सृष्टिसमकालिकान्यायानित्यस्य ज्ञानसमादानार्थायां ज्ञानमुपेनोपकारोऽप्येतेन सूचितः । तेन ‘य प्रयान्ति’ इत्यत्र विधासितप्राप्तेः पूर्णं ज्ञानाधिकाररूपायां राजकुमारनयां निरुरेव तादृशोपकारकवर्तिता सूचनान्न सृष्टिमुक्तिवाक्यैकरस्यभावे दृढीकृतं भवति ॥

## श्रीभाष्यम्

(तै.उ.भृगु) श्रूयते । तत्र संशयः किमस्माद्वाक्यात् ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यते नवेति किंप्राप्तम् । न शक्यमिति ।

## श्रुतप्रमाशिका

प्रापकवाक्येरेव कारणभूतपञ्चविशेषस्य निरतिशयवृत्तत्वं ज्ञायते इति किमेनेन लक्षणवाक्येनेति चेत् ? न, अग्न्यादीनामपि कर्मभागवाक्येस्त्वयौ कृष्टवाक्यमात्रं तेषु गृह्यत्वशङ्काव्युदासाय कारणवाक्यानामपि तद्वदन्यपरवाभावेन तत्त्वपरवशात्पनपरत्वादस्यवाक्यस्य । अथ श्रुतिरेव लक्षणं प्रतिपादयति चेत् किं सूत्रेणेति शङ्काया सूत्रतापर्यार्थं त्रिषु सशयदर्शयितुं श्रुतिगतहेतुनैव संशयोत्पत्तिं दर्शयति । तत्रेति । तत्र तादृश इत्यर्थः । \* पूर्वपक्षानुगुणेन विशेषणवृत्तेन सिद्धान्तानुगुणेनैकवचनान्तरब्रह्मशब्दैक्येन च विशिष्टस्य संशयहेतुत्वेनाभिप्रेत्य तत्रे युक्तम् ॥

संशयस्वरूपं दर्शयति । किमस्मादिति । ब्रह्ममीमांसा किमारम्भणीया उतानारम्भणीयेति प्रथमविचारः । तदर्थं वेदान्ता ब्रह्मणि प्रमाणं उत नेति द्वितीयविचारश्च चतुस्सूत्रीसाधारणः । सिद्धस्वरूपं ब्रह्म न शास्त्रप्रतिपादयतीत्याशङ्क्याह—तच्छास्त्रप्रमाणत्वं ब्रह्मणस्सम्भज्येव इति समन्वयाधिकरणोपक्रमे तस्याधिकरणस्य शास्त्रारम्भहेतुभूतप्रामाण्यसमर्थनार्थस्य माध्यमकारैरेव वक्ष्यमाणत्वात् । तथाचाहुः—

व्युत्पत्त्यभावः प्रतिपत्तिदौस्थ्यमन्येन सिद्धत्वमथाफलत्वम् ।

एतानि च सूत्रचतुष्टयेनानारम्भमूलानि निराकृतानि ॥

इति । अतस्तद्विचारयुगलमत्रार्थसिद्धमभिप्रेत्येतदधिकरणासाधारणं संशयशरीरं दर्शितं किमस्मादिति । यतोवा इमानीत्यादिवाक्यं ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपादयितुं शक्नोति उत नति संशयः तदर्थं संशय्यते, किं सृष्ट्यादीनां विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन च ब्रह्म लक्षणं व संभवति नेति तदर्थं विशेषणपक्षे किं विशेषणमदनं विशेष्यभेदोऽस्ति नेति, तदर्थं किं विशेषणस्य विशेषणत्वं \* स्वाश्रयसर्वधर्मव्यावर्तकतया उत विरोधिधर्मव्यावर्तकतया । उपलक्षणपक्षे किमाकारान्तरप्रतिपत्तिरस्ति उत नास्तीति सर्वधर्मव्यावर्तकतया विशेषणत्वं, आकारान्तरप्रतिपत्तिश्च नास्तीति पूर्वपक्षः । विरोधिधर्मव्यावर्तकतयैव विशेषणत्वमाकारान्तरप्रतिपत्तिश्च नास्तीति राद्धान्तः । सर्वधर्मव्यावर्तकतया विशेषणत्वे विशिष्टभेदप्रसङ्गं न ज्ञेयमादीनां विशेषणत्वायोगादाकारान्तरप्रतिपत्त्यभावेचोपलक्षणत्वायोगादुभयथाऽपि लक्षणवासम्भवादिदं वाक्यं ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपादयितुं शक्नोतीति लक्षणदौस्थ्यं ब्रह्मणि शास्त्रप्रामाण्याभावात्तद्विचारो नारम्भणीय इति पूर्वपक्षे फलितम् । विरोधिधर्मव्यावर्तकतयैव विशेषणत्वं विशेष्यभेदामावाज्जन्मादीनां विशेषणत्वोपपत्तेराकारान्तरप्रतिपत्तिसद्भावात्तदुपलक्षणत्वोपपत्तेश्चोभयथाऽपि लक्षणवासम्भवादिदं वाक्यं ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपादयितुं शक्नोतीति लक्षणसौष्ठवेन ब्रह्मणि शास्त्रप्रामाण्योपपत्तस्तद्विचारस्यारम्भणीयं व सिद्धान्ते फलितम् ॥

तत्र पूर्वपक्षमुपपादयितुं प्रतिजानीते । न शक्यमिति । जन्मादीनां ब्रह्मलक्षणत्वं किं विशेषणतया उतोपलक्षण-

## गूढार्थसंग्रहः

न शक्यमिति । आरम्भणाधिकरणं जन्माद्याधिकरणं (प.पा) विपरणोक्तरीत्या कार्यप्रपञ्चस्यासत्यत्वं पूर्वपक्षकथनावसरे कार्यकारणभावासम्भवेन परिणामवादोऽपि पूर्वपक्षे दूषितः । कार्यकारणभावो न संभवतीति माध्यमिकोक्तरीति गौडपादाचार्यादिभिरप्याहता । तथाहि तत्र कार्यकारणभाव एव न संभवतीति माध्यमिका वदन्ति । किंच जगतः प्रत्यक्षवि-

## श्रीभाष्यम्

न तावज्जन्मादयो विशेषणत्वेन ब्रह्म लक्षयन्ति अनेकविशेषणव्यावृत्तत्वेन ब्रह्मणोऽनेकत्व-

## श्रुतप्रकाशिका

तयेति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमं दूषयति । न तावदिति । कथं विशेषणत्वेन न लक्षयन्तीत्यत्राह—अनेकेति । अनेकत्व-

## गूढार्थसंग्रहः

पयस्यापि परमार्थत्वासम्भवात् । ‘ इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत्तत्त्वेन प्रदर्श्यते । जातास्तत्त्वविदो बालाः तत्त्वज्ञानेन किं फलम् ’ इति । (नागाजुनकारिका) कार्यकारणभावस्यापि पारमार्थिकत्वं नास्तीति कार्यकारणभावनुपेन कथं ब्रह्म व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तथोक्तम्—‘ न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुकं । न सन्नोत्पद्यते भावो नाप्यसन्सदसन्नच । उत्पादा जातु विद्यन्तेभावाः क्वचन केचन ॥ (ना.का) विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनम् । अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत् ॥ मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् । आयाति तत्कुत, कुत्र यातिचेति निरूपयताम् ’ ‘ ईश्वरो जगतो हेतुः वद कस्तावदीश्वर । कस्मात्सदानं कुरुते नहि सोऽन्यमपेक्षते ॥ अपेक्षोचे सामग्रीं हेतुर्न पुनरीश्वरः । नाकर्तुमीशस्सामग्रीं नकर्तुं तदभावात् करोत्ययमनीशश्चेत् परायत्तः प्रसज्यते । इच्छन्पीच्छायत्तश्चेत् कुर्वन् कुत ईशता ॥ ’ (नेधिचर्यावतारे ९.परिच्छेद.) ‘ यथा माया यथास्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा । तथोपत्तिस्तथानाशस्तथाभङ्गउदाहृतः ॥ ’ (ना.का) इति ॥

‘ स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा । तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ स्वतो वा परतो वाऽपि न किञ्चिदस्तु जायते । सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिदस्तु जायते ॥ उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् । नच भूतादभूतस्य समवोऽस्ति कथंचन ॥ नास्त्यसद्वेतुकमसत् सदसद्वेतुकं तथा । सच्च सद्देतुकं नास्ति सद्देतुकमसत्कुतः ॥ सवृत्त्या जायते विश्वं शाश्वतं नास्ति तेनैव । योऽस्ति कल्पितया वृत्त्या परमार्थेन नास्त्यसौ ॥ परतन्नाभिसवृत्त्या स्यान्नास्ति परमार्थतः । ’ इति गौडपादाचार्यैः माध्यमिकप्रक्रियामवलम्ब्यैव उत्पत्त्यादेस्सावृत्तत्वं निरूप्य ‘ मृच्छोहविष्कुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्याचोदिता पुरा । उपायसोऽवताराय नास्ति हेतुः कथंचन ॥ ’ ‘ नैतद्बुद्धेन भाषितम् ’ इति स्वयंप्रकाशचितः उपनिषत्तात्पर्यविषयत्वमुक्तम् ॥ सुरेश्वराचार्यैरपि ‘ नासतो जन्मना योगं सतस्सत्त्वान्नचेप्यते । कूटस्थेऽपि क्रिया नास्ति तस्मादज्ञानतो जनिः ॥ अस्तीशोऽप्यतिरिक्तश्चेत् सोऽपि केन प्रवर्तितः । जगन्निर्मितुयादेतत् स्वतश्चेत्सर्वदा न किम् ॥ जगदुत्पत्तिसहारा, तद्ब्रह्मात्मनि कल्पिता । वस्तुवृत्तिसमालोच्य कुतस्सृष्ट्यादिसम्भवः । उपत्तिस्थितिनाशास्त्युः जगतोऽतः प्रतिक्षणम् ॥ अविद्यामात्रहतुवात्रामीषा विद्यतेक्रमः । ’ इति गौडपादसिद्धान्तं प्रतिष्ठापितम् ॥

अत्र मतद्वयेऽपि प्रत्यक्षस्य न तार्त्विक प्रामाण्यम् । व्यवहारसत्यमेव विषयः । तच्च सवृत्तिसत्यापरनामकम् । परमार्थसत्यतु निर्विशेष अभिधानाभिधेयज्ञानशेयादिविगत इत्यादिकं समम् । उत्तरमते स्वप्रकाशचितोऽङ्गीकारेण तदवसा नएव प्रश्ननिषेधः । निराधिष्ठानकनिधेयासम्भवात् अधिष्ठानमपेक्षितम् । पूर्वमते निषेधप्रतियोगितुल्यसत्ताकमेवाधिष्ठानमिति विशेषोऽस्ति । अतश्च कार्यकारणभावस्यैवासम्भवे स्वेतरजगत्कारणत्वेनैकव्यक्तौ निरयग्रहमहत्त्वं तत्त्वतो न सिद्धयति ब्रह्मप्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्त्वतोऽप्येव तदाधितस्यापि न सिद्धिस्तथा । आरम्भणार्थिकरणे विवेचयिष्यमाणोऽर्थः, अत्राप्यभिप्रेतः, अतः स्फुटमनुचितं तत्र सूत्रेषु आशेषपरिहारस्तु—अत्र न स्फुटं इत्यभिप्रायेणेति बोध्यम् । कार्यकारणभावस्य तार्त्विकस्याङ्गीकारेऽपि विशेषणत्वोपलक्षणत्वप्रश्नद्वयेऽपि लक्षणं न समवतीत्यभिप्रेत्याह—न तावज्जन्मादय इत्यादिना । अविच्छेद-

## श्रीभाष्यम्

प्रसक्तेः, विशेषणत्वं हि व्यावर्तकत्वम् । ननु देवदत्तदयामोयुवालोहिताक्षस्समपरिमाण इत्यत्र विशेषणबहुत्वेऽप्येक एव देवदत्तः प्रतीयते । एवमत्राप्येकमेव ब्रह्म भवति? नैवम्; तत्र प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीतिरेकस्मिन्नेव विशेषणानामुपसंहारः । अन्यथा तत्रापि व्यावर्तकत्वेनानेकत्वमपरिहार्यम् । अत्रत्यनेनैव विशेषणेन लिलक्षयिषितत्वात् ब्रह्मणः प्रमाणान्तरेणैक्यमनवगतमिति व्यावर्तकभेदेन ब्रह्मबहुत्वमवर्जनीयम् । ब्रह्मशब्दैक्याद्वाप्यैक्यं प्रतीयत इति चेन्न अज्ञातगोव्यक्तेः जिज्ञासोः पुरुषस्य खण्डोमुण्डः पूर्णशृङ्गो गौरित्युक्ते गोपदैक्येऽपि खण्डत्वादिव्यावर्तकभेदेन गोव्यक्तियद्वत्त्वप्रतीतिः ब्रह्मव्यक्तयोऽपि बह्वयस्स्युः । अतएव

## श्रुतप्रकाशिका

प्रसक्तिः व्यावर्तकत्वं वा कथमित्यत्राह—विशेषणत्वं हीति । विशेष्यतेऽनेनेति निर्धनानुसारेण भेदक विशेषण भेदं विशेष्यमिति प्रसिद्धेः खण्डो मुण्डः पूर्णशृङ्गः नीलशृङ्गः पीतः अजोगजोमहिष इत्यादिषु तथा दर्शनाच्चिति भावः ॥

मिद्वान्तिच्छायया चोदयति । नन्विति । परिहरति । नैवमिति । उपसंहारः पर्यवसानम् । अन्यथा प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीत्यभावेऽतीत्यर्थः तत्रापि देवदत्तादावपि पञ्च वैषम्यमाह—अत्रत्यिति । प्रमाणान्तरेणैक्यमनवगतमिति वा अज्ञोऽयं भावः ‘एकमेवाद्वितीयम्’ इत्यादिभिरपि नैक्यनिश्चयः तत्राप्येकत्वादिविशेषणभेदेन बहुत्वापत्तेः, एकमित्यादि पदानामेकोवोहिरित्यादिवाचिर्वाहसम्भवाच्चेति ॥

ननु न केवलं प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीतिः शब्दी न विद्यते तस्या सत्यां धर्मिबहुत्व न स्यात् । अत्रनैक्यवचनान्तर्धर्मिवाचिपदैक्य विशेष्यैक्यज्ञानकमिति शङ्कते । ब्रह्मशब्देति । तद्ब्रह्म तद्ब्रह्मेति सुहुर्मुहुर्गतिर्वा तानि ब्रह्माणीति बहुवचनं वा नास्तीति भावः । परिहरति नेति । तत्कथमित्यत्राह—अज्ञातेति । एकवचनान्तर्धर्मिवाचिपदैक्यं विशेषणबहुत्वाधीनं विशेष्यबहुत्वं न बाधते खण्डोमुण्डो पूर्णशृङ्गो गौरित्यत्र बहुत्वप्रतीतिः । एकवचनान्तर्धर्मिवाचिपदैक्यं स्वतोविशेष्यैक्यप्रतिपादकं खण्डादिषु प्रत्यक्षमाधात् बहुत्वप्रतीतिरिति चेन्न अप्रत्यक्षेऽपि गोषु खण्डइत्यादिवाक्ये प्रयुक्ते बहुत्वप्रतीतिः तस्माद्विशेषणबहुत्वं चेद्विशेष्यभेदापादकमित्यभिप्रायेणोक्तम् । अज्ञातगोव्यक्तेरिति । अज्ञातगोव्यक्तेः प्रत्यक्षेणादृश्यमान गोव्यक्तेरित्यर्थः ; खण्डोमुण्डइत्यादिवाक्यप्रयोगासम्भवव्युदासाय जिज्ञासोरित्युक्तम् गोसामान्यज्ञानेऽत्यदृष्टगोव्यक्तिर्वा जिज्ञासासम्भवात्प्रयोगसम्भवः । सृष्टिस्थितिप्रलयाः किंप्रत्येकलक्षणानि । उत सम्भूयेति विकल्पमभिप्रेत्य प्रत्येकपक्षे दूषणमुक्तम् । सम्भूयेति पक्षे दूषणमाह—अतएवेति । अतएव विशेषणभेदस्य स्वतो विशेष्यभेदापादकत्वादित्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

विशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः । घटे न यदैकता तथा नितरा तद्विपरीतरूपयोः ॥ ’ (स.शा) इति इह भाव्यम् ॥

सूत्रे ‘जन्मादि’ इत्येकवचननिर्देशेऽपि श्रुतौ सृष्टिस्थितिलयानां पृथगुक्तिमनुसृत्य ‘जन्मस्थितिलयाः प्रवर्तन्ते तद्ब्रह्मेति’ इति सूत्रार्थ इति पूर्वं भाष्ये उक्तम् । तेन एकस्यैव ब्रह्मणः लक्षणत्रयमत्र विवाञ्छितमिति प्रतीत्या खण्डत्वमुण्डत्वादिवत् सृष्टिस्थितिलयानां भिन्नकालिकत्वेन परस्परं विरुद्धतया ब्रह्मबहुत्वप्रसङ्गेन जन्मादीनां कारणत्वस्य लक्षणत्वं न सम्भवतीति प्रागभिहितम् । जन्मादीत्येकवचननिर्देशेन समुदायकारणत्वं वा कारणत्वसमुदायो वा लक्षणमिति प्रतीत्या श्रुतावप्ययमेवार्थो विवाञ्छित इत्यभ्युपगन्तव्यम् । एवं च श्रुतिबलात् न व्यक्तेरभेदप्रसङ्ग इति शङ्कायामाह—अतएव



## श्रीभाष्यम्

लिलक्षयिषिते वस्तुन्येषां विशेषणानां सम्भूय लक्षणत्वमन्यनुपपन्नम् । नाप्युपलक्षण-  
त्वेन लक्षयन्ति

श्रुतप्रकाः ।

उपलक्षणपक्षं दूषयति नापीति ।—

## गूढार्थसंग्रह

लिलक्षयिषित इत्यादिना ॥ अनेकविशेषणसंबन्धस्य व्यक्तिभेदकत्वे तत्समुदायसम्बन्धस्य संबन्धसमुदायस्य वा व्यक्ति-  
भेदकत्वमपरिहार्यमिति अयमपि पक्षोऽनुपपन्न इति भावः । जगत्कारणं न विशेषणतया लक्षणं किंतु उपलक्षणतया इति  
(प.पा) रीतिरपि न घटत इत्याह—नाप्युपलक्षणत्वेन लक्षयन्तीति ॥

उक्तं च पञ्चपादिकाया—‘अस्य जगत इत्यादिना भाष्येण लक्ष्यस्य ब्रह्मण स्वरूपलक्षणं कथयितुमुपक्रमते द्विवि-  
धं लक्षणं, उपलक्षणं विशेष(ण)लक्षणं च । तत्रेदं लक्षणं प्रपञ्चधर्मत्वात् पृथग्भूतमेव कारणमुपलक्षयति न विशेषणत्वेन ।  
अतः पृथक्स्वरूपलक्षणकथनम् इति पूर्वोक्तेन न्यायेन पृथिव्यादीनां जन्मादिदर्शनात् तत्कारण एकत्वानानात्वयोरन्यतराव-  
गमे प्रमाणाभावात् बुद्धिमत्कारणपूर्वतामात्रे प्रतिपन्नं ‘यतो वा इमानि’ इतिकारणस्यैकवचननिर्देशात् तदर्थभात्रस्यैव  
विधिसितत्वात् अर्थात्सर्वज्ञ सर्वशक्तिं जगत्कारणमिति कारणविशेषो वाक्यादवगम्यते । पुनः ‘तद्विजिज्ञासस्व’ इत्यनूद्य  
‘तद्ब्रह्म’ इति तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगात् बृहत्पार्थक्येन सर्वतोऽनवच्छिन्नस्वभाव जगत्कारणं ब्रह्म पदार्थ इति गम्यते’ इति च

अत्र (प.पा) विवरणम्—‘लक्षणमनूद्य लक्ष्यस्वरूपं कथयितुमुत्तरं भाष्यमित्याह—अस्य जगत इति । ननु  
नतावदिदं विशेषणलक्षणं प्रपञ्चजन्मादिकारणत्वस्य प्रपञ्चोपाधिवाचिरूपाधिकब्रह्मस्वरूपलक्षणकथनमन्तरं सोपाधिकधर्म-  
प्रतिपत्त्ययोगात् नाप्युपलक्षणेमतत्, लक्ष्यस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वायोगात् अत्रच्छेदादिति तत्राह—द्विविधं लक्षणमित्यादि । उप-  
लक्षणत्वेऽपि नाद्वितीयस्वरूपलक्षणविशेषः यद्रजतमित्यभात् सा शुक्तिरिति यत् मिथ्याभूतेनापि प्रपञ्चकारणत्वेनोपलक्षणयो-  
गात् असाधारणसंबन्धो हि लक्षणनिमित्तं न लक्षणसत्पत्वम् । काकादीनामसम्बद्धानां गृहोपलक्षणत्वाददर्शनादिति’ इति ॥

ननु जगत्कारणे नानात्वस्यापि प्रतिपत्ते कथं तदनुवादेन ब्रह्मप्रतिपादनीयमिति चोदयति कथमिति । परिहरति  
पूर्वोक्तेनेत्यादिना । (‘प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धं प्रतिपाद्यतेति न्यायात्’ इति तत्रदीपनम्) अयमर्थः जगत्कारणमात्रानुवा-  
देऽपि तस्य नानात्वशङ्काया ‘यतः’ इत्येकत्वनिर्देशात् एकत्वमपि प्रतीयते । ननु अनुवादे प्रमितिरनुपपन्ना । न, जग-  
त्कारणे एकत्वपुरोवादाभावात् अनुवादसामर्थ्यादवैक्यं प्रतीयते । अन्यथानुवादवैयर्थ्यात् । ननु एकत्वे ब्रह्मलक्षणे च  
प्रतीयमागे वाक्यभेदः स्यात् । न, एकत्वस्य ब्रह्मप्रतिपत्तिगुणभूततयैकवाक्यत्वात् । अथवा एकत्वमपि लक्ष्यान्तर्गतमेव  
भवति न लक्ष्यान्तर्गतम् । तथाहि जगत्कारणमात्रानुवादनाकं ब्रह्म विधीयते इति तत् किमायातमिति ? तदाह अर्थात्स-  
र्वज्ञमिति । न सज्ञासंज्ञसंबन्धपरं वाक्यम् । किन्त्वर्थप्रतिपादनपरम् आधिक्यस्तु सज्ञासंज्ञसंबन्ध इत्याह—पुनस्तद्विजिज्ञास-  
स्येत्यादि । एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वतोऽनवच्छिन्नं च जगत्कारणं तच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयमित्यर्थः ॥

ननु निरुपाधिकब्रह्मस्वरूपकथनमन्तरेण सोपाधिकानां सर्वज्ञत्वादीनां कस्यचिद्धर्मतया प्रतिपत्तिर्न युक्ता । तत्र, ‘यत्  
मुनिर तदाकाशं प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इत्यादिषु स्वरूपलक्षणमेव किञ्चिद्वक्तव्यम् । ब्रह्मशब्दाभिधेयमेव स्वरूपलक्षणं  
मिचित् ; न ; बृहत्पार्थक्यमात्राभिधानात् महान्तरं इत्युक्ते महान्तस्य निरुपाधिर्धर्मो धर्मतया भासते तथेहापि वक्तव्यम् ।

## श्रीभाष्यम्

आकारान्तराप्रतिपत्तेः उपलक्षणानामेतेनाकारेण प्रतिपन्नस्य धेनचिदाकारान्तरेण प्रतिपत्तिहेतुत्वं हि दृष्टं यत्रायंसागसस्सदेवदत्तकेदारइत्यादिषु । ननु च 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ते.उ.आनन्दवर्ह्य) इति प्रतिपन्नाकारस्य जगज्जन्मादीन्युपलक्षणानि भवन्ति । न

## श्रुतप्रकाशिका

बुद्ध्यह—आकारान्तरेति । व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरिति भावः । व्यापकत्वमेवोपपादयति । उपलक्षणानामिति । उपलक्षणनोपलक्ष्यप्रतिपत्तानुपलक्षणमुपलक्ष्याकारः पूर्वप्रतिपन्नाकारश्चेत्याकारप्रथमवर्जनीय सप्रतिपन्नस्येतेषु तद्दर्शनात् । यथा सारससम्बन्धउपलक्षण देवदत्तसम्बन्धमुपलक्ष्यम् । केदारत्व पूर्वप्रतिपन्नाकारः, अतो तृतीयाकारप्रतिपत्त्यभावादुपलक्षणमनुपपन्नमित्यर्थः । शास्त्राग्रे च दृ इत्यत्र कथमाकारत्रयमिति चेत् उच्यते कालविशेषे देशविशेषसम्बन्धः उपलक्ष्याकारः शास्त्राग्रमुपलक्षण शास्त्रान्तरयोश्च कञ्जुप्रदशयति सन्ध सन्ध सन्धो वाक्यावगतः आदित्यादिव्यावर्तकचन्द्रशब्दोध्य चन्द्रसम्यक् तृतीयाकारः \* केदार वाचाकारः प्रत्यक्षप्रतीतः चन्द्रत्वतु पूर्वानुभूतवाङ्मयस्य बुद्धिचन्द्रइति बुभु सायामेव कश्चन्द्रइति बुभु साया शब्दवाच्यमुपलक्ष्य स्वारसिकेन वा \* शब्दोत्थापितबुभुसामूलेन वा प्रत्यक्षेणप्रतीतो वक्रादिः पूर्वप्रतिपन्नाकारः अनेन निर्विशेषमनुपादेतूपलक्षणत्वमपि नोपपन्नत इत्युक्तं भवति ॥

तृतीयाकारप्रतिपत्तिरस्तीति चोदयति । ननुचेति । दूषयति नेति । सत्यत्वादयः किंविशेषणतया लक्षणभूता उतोपलक्षणतया पूर्वसिन्धस्य दूषणमुक्तम् । अन्यत्रचाकारान्तरप्रतिपत्त्यपेक्षाया वाक्यान्तरेणचेदनवस्था धेनचेदा माश्रयइति ।

## गूढार्थसङ्ग्रह

सञ्छन्दाभिधेय लक्षणमिति चेत् । महासामान्यमात्राभिधानात् । सन्नित्युक्ते घटइत्यवान्तरसामान्यव्यक्तिः महासामान्यपर्यवसानत्वेनापेक्ष्यते तथेहाप्यवान्तरसामान्यव्यक्तिरुच्यते । विज्ञानमेव बृहत्सर्वज्ञत्वादिधर्मवत्तया निरुपाधिकब्रह्मस्वरूपलक्षणमिति चेत् तस्य सुखदुःखरागद्वेषादिमहासामान्यत्वात् तस्याप्यवान्तरसामान्यव्यक्तौ पर्यवसान वक्तव्यमिति, तदाह—तस्य च निर्णयवाक्यमानन्दादधेयेति । आनन्दएव हि ब्रह्म सर्वज्ञत्व कारणत्वादिधर्मवत्तया निरुपाधिकब्रह्मस्वरूप निर्णीयते । तथाहि—'यत्र नान्यत्पश्यती' त्वारम्य 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति सुखस्यैव बृहत्त्वधर्मवत्तामाह—विज्ञानतर्हि निरुपाधिकब्रह्मगुणइति चेत् किं विज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्य नीलात्पलादिवत् गुणगुणिभावात् किं वा द्रव्य घटः इतिवत् परापरसामान्यभावादिति, न तावद्गुणगुणिभावात् 'साक्षीचेताकेतलो निर्गुणश्च' इति श्रुते. 'एकधैवानुद्रष्टव्य नेहनानाऽस्ति किंनन' इति च गुणगुणिभावभेदप्रतिषेधात् । गुणस्य गुणिनोऽन्यत्वानन्यत्वाम्यामनिरूपणात् इति च ॥

तदुपपत्ति आकारान्तराप्रतिपत्तेरित्यादिना । देवदत्तकेदारइत्यादिष्विति । आदिपदेन काकवदेवदत्तगृहमित्यादेस्सङ्ग्रहः । काकवदेवदत्तगृहमित्यादौ उत्तुण वादेरेवात्र घर्मांतरमुपलक्ष्य नास्ति पूर्वप्रतिपन्नाकारोऽपि । पूर्वप्रतिपन्नाकार प्राप्तव्यतीति शङ्कते—ननुचेत्यादिना ॥

(श) भाष्यादौ 'यत्' इत्यस्य सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टार्थक वाभिधानेऽपि कैश्चित् सत्यज्ञानमनन्तमानन्दरूपवस्तु उच्यते इत्यर्थो वर्णितः । अयमर्थ ब्रह्मविद्याऽऽभरणरत्नप्रमयोर्व्यक्तः । तेन सूत्रस्य लक्षणद्वयपरत्व सिद्धयतीत्यपि तत्रोक्तम् । एव च पूर्वप्रतिपन्नाकारासिद्धइति भावः । सूत्रस्य लक्षणद्वयपरत्वमास्ता सत्यत्वादेरपि निर्धर्मके ब्रह्मणि असम्भवेनोपलक्षणत्वमेव वाच्यम्, सर्वज्ञ माऽऽद्युक्तार्थस्य (अ.सि) ज्ञानत्वात्तद्वया उपहितवृत्तिवत् पूर्वकालएव सत्त्वं मुक्तौ तदुपलक्षित निर्धर्मक-

## श्रीभाष्यम्

इतरेतरप्रतिपन्नाकारापेक्षत्वेन उभयोर्लक्षणवाक्ययोरन्योन्याश्रयणात् । अतो न लक्षणतो  
ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

अतो 'यतोवा इमानि' इत्यादिवाक्ये आकारान्तरप्रतिपत्तिर्वक्तव्या ततश्चान्योन्याश्रयइति भावः । अतइति । विशेषण  
त्वोपलक्षणत्वायोगादित्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

मिति मधुसूदनब्रह्मानन्दाभ्या व्यवस्थापनं सङ्गच्छते । एवचोभयोरुपलक्षणत्वे सत्यादिवाक्यं पूर्वप्रतिपन्नाकारपरं नैव  
भवेत्तुमर्हति । इतरेतराश्रयाद्यापत्तेरित्यभिप्रेत्याह-इतरेतरप्रतिपन्नेत्यादिना । इदमुपलक्षणं 'काकवद्देवदत्तगृहम्' इत्यादौ  
उपलक्ष्यस्योत्पत्त्यादेः शान्दबोधे भानस्य सर्वदार्शनिकसमतत्वेन निर्विशेषे उपलक्ष्यधर्मस्यापि बोधे भानासम्भवेन जग-  
त्कारणत्वस्योपलक्षणलक्षणत्वविवरणब्रह्मविद्याऽऽभरणोक्तं न सम्भवति । 'आनन्दाद्ध्येय' इति श्रुतौ आनन्दत्वप्रकारक-  
बोधस्यैव विवक्षितत्वेन निर्विशेषस्य प्रतीतिरेव न सम्भवति । ज्ञानत्वानन्दत्वादिविशिष्टस्य जगत्कारणत्वैकतया एकवच-  
नस्यापि नानुपपत्तिः । जगत्कारणे एकत्वकथनेन निमित्तोपादानयोर्भेदोऽपि निरस्तो भवति एकजगत्कारणानुवादेन तद्वहेत्यत्र  
ब्रह्मलक्षणविधिः पर्यवसन्नः 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यत्र न विधिः सन्ना विचारस्यापि रागप्राप्तत्वबोधनात् । अत्र विचारविधिवादि  
विवरणकारमते ब्रह्मलक्षणविधानं वाक्यभेदप्रसङ्गेन न सम्भवति । 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यत्र ब्रह्मत्वानन्दत्वप्रकारकबोधस्यैव  
विवाविक्षितत्वेन तत्रापि निर्विशेषस्य न प्रसक्तिः । १ 'तत्त्वोपनिषद पुरुषम्' इति पूर्वश्रुत्युक्तपुरुषस्यैव ब्रह्मपदार्थत्वेन  
पुरुषपदस्य बृहदारण्यकनिर्वचनत्रयलभ्यार्थानां त्रयाणां 'वैकुण्ठः पुरुषः' इत्यादिसहस्रनामभाष्ये (शं) अभ्युपगमेन तन्नि-  
र्वचनसिद्धपुरुषशब्दप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टस्यैव श्रुतौ विवक्षितत्वावश्यभावेन निर्धर्मकस्यानन्दरूपत्वोपनिषत्तात्पर्यविषयत्वयो-  
रसम्भवात् । 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यारभ्य 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति विवरणोदाहृतश्रुतौ विशिष्टस्यैव विव-  
क्षेयुत्तरत्र भूमाधिकरणे व्यक्तीभविष्यति । 'नेह नानाऽस्ति' इत्यादिकाः न परमतसाधिकाः इति पूर्वाधिकरण एव  
निरूपितम् ॥

'यद्रजतमभात् सा शुक्तिः' इत्यत्र मिथ्याभूतस्योपलक्षणत्वं न कस्यचित्सम्मतम् । रजतप्रकारकज्ञानविशेष्यत्व-  
मेव 'यद्रजतमभात्' इत्यत्र त्रिषुयः रजतप्रकारकज्ञानविशेष्यतु न मिथ्या । यद्रजतं सा शुक्तिरिति व्यवहारो नास्त्येव ।  
काकवद्देवदत्तगृहमित्यादौ पूर्वकाले देवदत्तसन्नधस्य सत्यतया मिथ्यात्वाभावेन तदुपलक्ष्योत्पत्त्याप्रकारबोधस्य न विरोधः  
इति मिथ्याभूतस्य क्वापि नोपलक्षणं वम् । रजतदृष्टान्तश्च श्रुतौ कारणवाक्ये क्वापि नोक्तः । 'यत्सुपिरं तदाकाशम्'  
इत्यस्य कारणत्वलक्षणविचारं नोपयोगः । 'कश्चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इत्यापि न धर्मप्रकारकबोधः कस्यापि दार्श-  
निकस्यासम्प्रतिपत्तेः । अतः परोक्तरीत्योपलक्षणत्वं न घटत इति भावः ॥

'यतो वा' इत्यादिश्रुतौ धर्मप्रकारकबोधस्यैव विवक्षितत्वेनोपलक्षणस्यापि प्रकारत्वेन जगत्कारणत्वस्योपलक्षणत्व  
विशेषणलक्षणत्वच सम्भवतीत्येव सूत्रकाराशय इत्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षे विशेषणलक्षणत्वस्य प्रथमनः दूषणेऽप्युपलक्षणलक्षणस्य अन्ते  
दूषणेन तस्यैव बुद्धिस्तथा प्रथमं जगज्जन्मादिकारणत्वस्योपलक्षणत्वमुपपाद्यान्तरं विशेषणत्वमप्युपपादयिष्यते ॥

### श्रीमाप्यम्

एवंप्राप्तेऽभिधीयते जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयेरुपलक्षणभूतैर्ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यते । नचोपलक्षणोपलक्ष्याकारव्यतिरिक्ताकारान्तराप्रतिपत्तेर्ब्रह्माप्रतिपत्तिः । उपलक्ष्यं शानवधिकातिशयवृहत् वृहणं च, वृहतेर्धातोस्तदर्थत्वात् । तदुपलक्षणभूताश्च जगज्जन्मस्थितिलया । यतो येन यदिति प्रसिद्धयन्निर्देशेन यथाप्रसिद्धि जन्मादिकारणमनूयते । प्रसिद्धिश्च 'सदेव

### श्रुतप्रकाशिका

सिद्धान्तमनारयति—एवंप्राप्तेऽभिधीयतइति । एवं सूत्रकाराभिप्रेते पूर्वपक्षे प्राप्ते तदभिप्रेतस्तत्परिहार उच्यते इत्यर्थः । \* शाप्यबहिर्भूतो शाप्यप्रती युषायः उपलक्षणं शाप्यान्तर्भूतो शाप्यप्रतीत्युपायो विशेषणम् । नचैकस्य शाप्यशापकत्वाविरोधः यदादेरिन्द्रियसंयोगप्रतिसमन्वित्वेन शानोत्पत्तिहेतुत्वस्य विषयत्वस्य च दर्शनात् । \* एवं शब्दतो धीस्यतया स्वनिशिष्टप्रतीतो हेतुभूत विशेषणमिति उभयथाऽपि लक्षणोपपत्तिं वक्ष्यन् 'एकानेकस्वरूपाय ॐ स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः' इतिवधरमोक्तमुपलक्षणपक्षं बुद्धिस्यनया प्रथममुपपादयितुं प्रतिजानीते । जगदिति ॥

ननुपलक्षणपक्षेऽनुपपत्तिरुक्तेत्याह—नचेति । \* आकारान्तर आकारविशेषः सचोपलक्षणोपलक्ष्याकारातिरिक्तइत्युपनक्तिः । पृथक्पृथीयाकार दर्शयितुमाकारद्वयं विवक्ष्यन् पूर्वमुपलक्ष्याकारमाह—उपलक्ष्यंहीति । अथर्वशिरोसि 'वृहतिवृहयति तस्मादुच्यते परब्रह्म' इति, श्रीमतिरैगणपपुराणे च 'वृहत्वाद्बृहणत्वाच्च ब्रह्मेति परिपठ्यते' इत्यादिनिर्वचनप्रसिद्धयोक्तो हिशब्दः । \* आकारत्रयपृथक्त्वद्योतनार्था. चशब्दास्तत्रतत्र श्याः ॥

कथं निरतिशयवृह वृहणत्वप्रतिपत्तिरित्यत्राह—वृहतोरिति । मनि-प्रत्ययान्तस्य रुदिसहस्रतस्य वृहतिधातोस्तदर्थत्वादित्यर्थः । \* यद्वा ब्रह्मशब्देन वृहत्ववृहणत्वावगतिः कथमित्यत्राह—वृहतोरिति । वृहत्वस्य स्वरूपतो गुणतश्च विवक्षितत्वात् वृहणत्वरूपवृहण्यमपि धात्वर्थान्तर्गतमिति भावः । उपलक्षणाकारमाह—तदुपलक्षणेति । ननु सारसस्य केदारेणेव जन्मादीनां ब्रह्मणासह सम्बन्धो वक्तव्यः । किंच ब्रह्मण उपादानत्वे ग्राह्यमतश्च निर्मित्तान्तराधिष्ठेयताप्रसङ्गेन सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणान्वयलक्षणवृहणत्वासिद्धिश्च स्यादित्येतच्छङ्काद्वयं परिहरस्तृतीयाकारोपस्थापकं वाक्यं चावतारयति—यतो येनेत्यादिना ॥

कुत्र कथं प्रसिद्धिरित्यत्राह—प्रसिद्धिश्चेति । तच्च कथमित्यपेक्षायां तत्प्रतिपादनं पदानामन्वयमुरेन दर्शयति ।

### गूढार्थसंग्रह

जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयेरिति । श्रुतौ भूतविशेष्यकबोधस्य स्फुटतया तद्वृत्तजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयाणां कारणत्वेन ब्रह्मणि सम्बन्धः 'यत' इति पञ्चम्या बोध्यते । तेन जगद्दर्माणामपि ब्रह्मसमन्वित्वेनैव सत्यभूतानामुपलक्षणत्वं सम्भवतीति भावः । एतेन मिथ्याभूतस्य नोपलक्षणत्वमिति सूचितम् । कार्यकारणभावस्यैव मिथ्यात्वेन अत्र सत्यस्य नोपलक्षणत्वं सम्भवतीति नशङ्कनीयम् । जगत्कारणस्यैव पुरुषशब्दार्थत्वेन तस्योपनिस्तार्थ्यविषयत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वात् । 'वृहति वृहयति' इति धातुनिर्वचनसिद्धब्रह्मशब्दार्थवृहणत्वस्य कारणत्वरूपत्वेन तस्यासत्यत्व 'एव पन्थाः' इत्यादिश्रुतिविरोधेनापि न सम्भवति इत्यभिप्रेत्याह—उपलक्ष्यंहीति ॥

प्रसिद्धयन्निर्देशेन यथाप्रसिद्धिजन्मादिकारणमनूयते इति । एतेन 'सत्यज्ञानम्' इति वाक्यप्रतिपाद्यं यच्छब्दार्थ इति केषांचिदुक्तिरनुपादेयेति सूचितम् । तत्र कारणत्वानुत्तया तदर्थस्यात्र विवक्षाया अनुचितत्वात् । अतएव



## श्रीभाष्यम्

सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा.६.२.१) इति 'तत्तेजो ऽसृजत' इत्येकस्यैव सच्छब्दवाच्यस्य निमित्तोपादानरूपकारणत्वेन तदपि सदेवेदमग्र एकमेवासीदित्युपादानतां प्रतिपाद्य अद्वितीयमित्यधिष्ठानन्तरं प्रतिपिध्य तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत इत्येकस्यैव प्रतिपादनात् । तस्माद्यन्मूला जगज्जन्मस्थितिलयाः तद्ब्रह्मेति, जन्मस्थितिलयास्स्वनिमित्तोपादानभूतं वस्तु ब्रह्मेति लक्षयन्ति । जगन्निमित्तोपादानताक्षित सर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्व विचित्रशक्तित्वाद्याकारवृहत्त्वेन प्रतिपन्नं ब्रह्मेति च जन्मादीनां तथा प्रतिपन्नस्य लक्षणत्वेन नाकारान्तराप्रतिपत्तिरूपानुपपत्तिः ।

## श्रुतप्रकाशिका

तदपीति । तत् निमित्तोपादानत्वरूपकारणत्वम् । उपादानत्वाधिष्ठानन्तरनिवारणयोरुपपादनकृत 'तदैक्षत बहुस्याम्' 'असृजत' इति । रामऋणादिरूपेण बहुभवनव्यावृत्त्यर्थं जगद्रूपेण बहुभवनमिति दर्शितम् 'तत्तेजोऽसृजत - इत्यनेन अत्र फलितं सबन्धमाह—तस्मादिति । यथा उपलक्षणेन सारसेनाधिकरणत्वेन सन्निधित्वं केदारस्य, यथा चन्द्रदेशस्य शाखायाश्च ऋजुमात्रसम्बन्धं तथा ब्रह्मण उपलक्षणभूतजन्मादिभिर्हेतुहेतुमद्भावास्सत्रं य इयुक्तमवति यथा प्रसिद्धयनुवादरूपतया वाक्यस्य निमित्तान्तरशङ्काचार्यापरिहृता भवति । एव तृतीयाकारस्याधोपक्रममुपलक्षणसत्रं धात्मक निमित्तोपादानरूपकारणत्वमुक्तम् ॥

अथ तदाक्षितं तृतीयाकारमाह—जगदिति । यतश्शब्दस्मारितकारणवाक्येषुहि सार्वज्ञ्याद्यवगम आतो जगन्निमित्तोपादानताक्षितेयुक्तम्, गुणानामपरिच्छिन्नतया तद्विशिष्टस्य ब्रह्मशब्दवाच्यतायोग्य वशापनार्थमाकारवृहत्त्वेन युक्तम् । 'यस्सर्वज्ञः' इत्यादिवाक्यावगतसार्वज्ञ्यादीनामुपलक्षणत्वाभावात्ता योन्याश्रयः । विशेषणवृहत्त्वतु न विशेष्यभेदापादकमिति वक्ष्यतइति न विरोधः । उपलक्षणपक्षानुपपत्तिपरिहारमुपसहरति इतिचेति । इति अतश्चेत्यर्थः । उपलक्ष्यंहीत्यादिभाष्यस्यैव वा योजना \* अनवधिकातिशयशब्दे तात्पर्यम् उपलक्ष्यमनवधिकातिशयवृहत्त्वं वृहणत्व च । निरवधिकवृहत्त्वं च स्वरूपतो गुणतोविभूतितश्चानवधिकवृहत्त्वं, वृह ववृहणत्वविशेष उपलक्ष्य इ युक्तं भवति । ततश्चोपलक्ष्याकारैकदेशभूतं ब्रह्मत्ववृहणवमात्रं पूर्वप्रतिपत्ताकारो भवतीति फलितम् लोके तथादर्शनात् । देवदत्तकेदारवक्ष्युपलक्ष्यम् न च देवदत्तसम्बन्धित्वमात्रं घटपगादिष्वतिप्रसङ्गात् । तदेकदेशभूतकेदारवमात्रेण पूर्वप्रतिपत्तिः । तस्मादुपलक्ष्यैकदेशभूतवृहत्ववृहणत्वाकारेण पूर्वप्रतिपत्तिः । अनवधिकातिशयवृहत्त्वं वृहणवमुपलक्ष्यमित्याभिप्रायेण क्षानवधिकातिशयवृहद्वृहणचेत्युक्तम् । वृहत्ववृहणत्वाविशेषोपलक्ष्यत्वात् वृह ववृहणवमात्रं पूर्वप्रतिपत्ताकारइत्यर्थसिद्धमिति हिशब्देन सूचितम् ॥

कथं तत् प्रतिपत्तिरित्यत्राह—वृहत्तेर्धातोरिति । वृह वमानं पूर्वप्रतिपत्ताकारइत्यध्याहृतेन वाक्येन तदर्थं वादिति पञ्चम्या अन्वयः । यद्वा नचेत्यादिपूर्ववाक्येनान्वयः । उपलक्षणाकारमाह—तदुपलक्षणेति । तृतीयाकारमन्यमपि विवक्षुस्तत्प्रतिपादकं वाक्यमन्तरायमुपलक्षणस्यापलक्ष्येण सबन्धवन्निमित्तान्तरशङ्का च व्युदस्यति यतो येनेत्यादिना । पूर्वव-

## गूढार्थसंग्रहः

(श) भाष्यादायमर्थो नास्ति । अद्वितीयमित्यादि । 'द्वितीयशब्दश्च सजातीयसहायः स्यात्' इति ( ) नामेतावत् एतदनन्तरं 'तदैक्षत' इत्युक्त्या द्वितीयसामान्याभावात्तात्र नियमितीति । आकारवृहत्त्वेनेति । अत्र पूर्वप्रतिपत्ताकारउक्तः ।

### श्रीभाष्यम्

जगज्जन्मादीनां विशेषणतया लक्षणत्वेऽपि न कश्चिदोपः । लक्षणभूतान्यपि विशेषणानि स्वपरोधिर्व्यावृत्तं यस्तु लक्षयन्ति । अघातस्वरूपं यस्तु न्येकस्मिन् लिलक्षयिषितेऽपि परस्परविरोधेनैकविशेषणलक्षणत्वं न भेदमापादयति । विशेषणानामेकाश्रयतया प्रतीतिरेकस्मिन्नेवोपसंहारात् । खण्डत्वादयस्तु विरोधादेव गोव्यक्तिभेदमापादयन्ति । अत्र तु कालभेदेन जन्मादीनां न विरोधः ।

### श्रुतप्रकाशिका

वेदार्थः । विप्रक्षिप्तमन्य तृतीयाकारमाह—जगदिति । \* इदानीं नशब्दस्तृतीयाकारान्तरसमुच्चये । यथा केदारत्वं सारसाधिकरणवदेव दत्तसन्धिबन्धोपयोगि तथा सर्वज्ञत्वादयाऽप्यनर्वाधकातिशयबृहत्त्वबृहन्त्वजन्मादिकारणत्वोपयोगिनः ॥

अथ विशेषणतया लक्षणत्वमुपपादयति । जगज्जन्मादीनामिति । कथं न दोषः अपवादकप्रमाणाभावे विशेषणभेदस्य विशेष्यभेदादहंत्व दोषत्वेन द्युक्तमित्यत्राह—लक्षणभूतान्यपीति । लक्षणभूतानि व्यावर्तकभूतानीत्यर्थः । \* यद्वा लक्षणभूतानां विशेषणानां सजातीयविजातीयव्यावर्तनस्वभावोऽपीत्यर्थः स्वाविरोधिर्व्यावृत्तं नियतमिन्नाश्रयविशेषणार्थया व्यावृत्तं नान्यविरुद्धविशेषणाश्रयाद्व्यावृत्तमित्यर्थः । अयमग्रन्थः पञ्चविषयः बहुव्यापवादकप्रमाणाभावे सति विशेषणत्वमेव विरोधित्वमित्यत्राह—अज्ञातेति । अयं तु सपञ्चविषयः । देवदत्तस्यामो युगेत्याद्युदाहरणमत्राभिप्रेतम् । अप्रत्यक्षविषयेष्वेकवचनात्तद्वर्तिनाचिपदेक्याद्विशेष्यैक्यं प्रतीयत इत्यर्थः ॥

अत्र विशेष्यैक्यव्यवस्थापकं किमित्यपेक्षायां सपक्षे विशेष्यैक्यमुपपादयति । विशेषणानामिति । शब्दस्वारस्याद्विशेषणानामेकाश्रयान्वयप्रतीतिरविरुद्धविशेषणानामेकाश्रयवृत्तित्वोपपत्तेरित्यर्थः । अविरुद्धविशेषणत्व विशेष्यैक्यव्यवस्थापकमित्युक्तं भवति । यद्वा अज्ञातस्वरूपइत्यपि ग्रन्थः पञ्चविषयः । पूर्वस्मिन्ग्रन्थे विशेषणानां विरुद्धविशेषणाश्रयात् स्वाश्रयभेदकत्वमुक्तम् । अप्रत्यक्षत्वे सति \* मित्रविशेषणत्वमेव भेदकत्वमित्यत्राह—अज्ञातेति । तत्राप्याविरुद्धविशेषणभेदो न विशेष्यभेदक इत्यर्थः । कुत इत्यत्राह—विशेषणानामिति । देवदत्तस्यामोयुगं लोहिताक्ष इत्यादावविरुद्धविशेषणानामेकाश्रयत्वदर्शनात् पक्षीकृतेऽप्येकस्मिन्नेव विशेषणानामन्योपपत्तेरित्यर्थः ॥

अविरुद्धविशेषणानां विशेष्यभेदानापादत्वमुक्तम्, विप्रक्षभूतखण्डादिषु बहुग्रानियामकमाह—खण्डत्वादयस्त्विति ततः पक्षस्य वैयर्थ्यमाह—अत्रिति । कालभेदेनेत्यस्यायमभिप्रायः । विशेष्यब्रह्मबहुत्वेऽपि जगज्जन्मादीनां योगपञ्चव्या-

### गूढार्थसङ्ग्रहः

द्विविधलक्षणे विशेषणतया लक्षणत्व न सम्भवतीति मिथ्याभूतस्य जगत्कारणत्वस्योपलक्षणतया निर्विशेषलक्षणत्व यत् परैरुक्तं तत्र निर्विशेषस्य इदं लक्षणं न सम्भवति । एव मिथ्याभूतस्यापि । किंतु साविशेषस्यैवोपलक्षणभूतं लक्षणमित्येतावता निरूपितम् । विशेषणतया लक्षणत्व न सम्भवतीति परोक्तं न घटत इत्यभिप्रेत्य विशेषणतया लक्षणत्व निरूपयति—जगज्जन्मादीनामिति ॥ ‘अविरुद्धविशेषण’ इति (स.शा.) श्लोकस्य यत्तात्पर्यं तद्विवरणे मधुसूदनसरस्वतीभिः प्रथमसं. (१७१.१७२) प्रदर्शितं तत्र घटत इति जिज्ञासाधिकरण एव (६३३—६३४.प्र.४) निरूपितम् ॥ अत्र तु कालभेदेनेति । विवरणे प्रत्यक्षेण मिथ्यात्वसिद्धिनिरूपणावसरे देशकालाद्युपाध्यन्तर्भावैर्न निषेधप्रतीतिरिति यदुक्तं तत् क्षणिकत्वनिरसनावसरे कुमारिलोत्तयनुसारेण न विचारसहमिति पूर्वमेव (प्र.स. ३६७—३६८) निरूपितम् । ‘निष्कलं नि

### श्रीभाष्यम्

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ (तै.उ.भृगुच) इत्यादिकारणवाक्येन प्रतिपन्नस्य जग-  
ज्जन्मादिकारणस्य ब्रह्मणस्सकलेतरव्यावृत्तं स्वरूपमभिधीयते । ‘सत्यंज्ञानमन्तं ब्रह्म’

### श्रुतप्रकाशिका

घातात् कालभेदेनाविरोधआश्रयणीयः विशेष्यैक्येऽपि तथैवाविरोध इति ॥ अत्रायमर्थोऽनुसंधेयः विशेषणबहुत्वं स्वत-  
एव विशेष्यभेदापादकं, एण्डो मुण्डइत्यादिषु दर्शनात् देवदत्तस्यामो युवेत्यादिषु प्रत्यक्षवाधादैक्यप्रतीतिः तस्मात्प्रत्यक्षा  
गोचरे ब्रह्मणि विशेषणबहुत्वावत्त विशेष्यबहुत्वमवर्जनीयम् । ननु एकवचनान्तधर्मिवाचिपदैक्यस्य स्वतो विशेष्यैक्यप-  
रत्वं देवदत्तस्यामोयुवेत्यादिषु दृष्टम् एण्डोमुण्ड इत्यादिषु प्रत्यक्षवाधाबहुत्वप्रतीतिः । अतः प्रत्यक्षागोचरे ब्रह्मणि एकव-  
चनान्तधर्मिवाचिपदैक्यादैक्य सिद्धमेव ॥

नैवम् विशेषणभेदावत्त विशेष्यबहुत्वमेकवचनान्तधर्मिवाचिपदैक्यं न बाधते । अपितु प्रत्यक्षमेव बाधते अदृश्य-  
मानगोच्यैः पुरुषस्य एण्डोमुण्ड इत्यादिवाक्यप्रयोगे सत्येकवचनान्तधर्मिवाचिपदैक्येऽपि बहुत्वप्रतीतिरिति पूर्वपक्ष-  
स्थितिः । तत्रोत्तरमुच्यते अज्ञातेत्यादिना । एकवचनान्तधर्मिवाचिपदैक्यं बहुत्वं बाधत एव, अदृश्यमानेऽपि देवदत्ते  
देवदत्तस्यामोयुवेत्यादिवाक्यप्रयोगेषु विशेषणबहुत्वेसत्यापि विशेष्यैक्यप्रतीतिः । एव प्रत्यक्षाप्रत्यक्षविभागविधुर बहुत्वप्रती-  
तिरैक्यप्रतीतिश्च भवतः अत्रतु बहुत्वैक्ययोः को निर्णायकइति चेत् । नियतमिन्नाश्रयदृष्टविशेषणबहुत्वं विशेष्यैक्यविरोधि  
अनियतमिन्नाश्रयदृष्टविशेषणबहुत्वं नैक्यविरोधीति । अथ सत्यज्ञानादीना लक्षणत्वोपपत्तिं पूर्वोक्तान्योन्याश्रयणपरिहारं-  
चाह-यतोवा इति । लक्षणवाक्येनानेन कारणत्वमेव लक्षणत्वेनोक्तमित्यस्य कारणवाक्यत्वम् । आदिशब्देन ‘सदेव’  
इत्यादीनि कारणत्वप्रापकवाक्यानि गृह्यन्ते ॥

ननु लक्षणभूतेनैव जन्मादिकारणत्वेन ब्रह्मणस्सजातीयविजातीयव्यावृत्तिरिति अन्यथा तस्य लक्षणत्वायोगात्  
तत्कथं सत्यादिवाक्येन सकलेतरव्यावृत्ताभिधानोक्तिः, उच्यते-व्यावृत्तिर्द्विविधा व्यक्त्यन्तरेष्वसमाप्तिधर्मयोगरूपा, तत्त-  
जातीयासाधारणधर्मान्वयरूपा च, तत्र विलक्षणधर्मयोगे व्यक्त्यन्तरेभ्योऽन्यत्वं सिद्ध्यति न त्वतजातीयत्वं तज्जातीयत्वव्य-

### गूढार्थसंग्रहः

‘क्रियम्’ इति श्रुत्या परब्रह्मणि सृष्ट्यादिक्रिया न सम्भवतीति सृष्ट्यादिक्रियायाः आविद्यकत्वेन मिथ्यात्वमिति यद्विवरणोक्तं  
तदपि न घटते । ‘निष्कलं निष्क्रियं क्षान्तं निरवयव निरञ्जनम्’ इति श्रुतौ अविद्यारूपावयवस्यापि निषेधेन सृष्ट्यादिक्रि-  
यायाः आविद्यकत्वकल्पनासम्भवात् । ‘निष्क्रियम्’ इति सामान्यनिषेधस्य सृष्ट्यादिक्रियाविशेषप्रतिपादकशास्त्रानु-  
सारेण परिस्पन्दरूपक्रियाविशेषपरतयैवोपपत्तेर्याव्यत्वात् । अतएव ‘स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ इति श्रुतिरुपपद्यते  
‘नेह नानाऽस्ति’ इत्यादेः परनवीनसंमतार्थः पूर्वमेव (प्र.स. ३३१, ३३२, ३३८-५) पर्यालोचितः । तेन सृष्ट्यादिक्रि-  
यायाः सार्वदिकत्वेन कालभेदेन विरोधपरिहारोक्तिर्न घटत इति नवीनोक्तदूषणस्य नावसरः । नव्यमतेऽपि व्यवहारोपप-  
त्यर्थमभिव्यक्तेरङ्गीकारेण अभिव्यक्तेस्तार्वदिकत्वाभावात् विरोधपरिहारस्सम्भवति । घट्या भेदप्रतीत्या अभेदोक्तिरापि  
निरवकाशा ॥

‘उपलक्ष्यं ह्यनवाधिकातिशयबृहत् बृहण च’ इत्यादौ पूर्वं पूर्वप्रतिपन्नाकारनिरूपणपरभाष्ये यत् आकारबृहत्त्वं पूर्व-  
प्रतिपन्नमुक्तं तत्समर्पकत्वमेव ‘सत्यज्ञानम्’ इत्यादेरिति पूर्वपक्षोक्तान्योन्याश्रयणपरिहारः योऽभिप्रेतः तमेव विवृणोति-  
यतोवा इमानि इत्यादिना । स्वरूपमभिधीयतइति । लक्ष्यस्वरूपमभिधीयत इत्यर्थः ॥

### श्रीभाष्यम्

(तै.आन.१) इति तत्र सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संख्यप्रश्नेतनश्च व्यावृत्तः नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेन तयोर्निरुपाधिकसत्तायोग

### श्रुतप्रकाशिका

अकथमा-यथाधीनतत्तातीयवशङ्काया अनपगमात् । तदनन्वयं तु तज्जातीयताव्यावृत्तिरित्यद्वयति । यथा घटस्य संस्थान विशेषणत्वेारममस्तवैलक्षण्यासिद्धेऽपि पृथिवीत्वव्यवस्थापकग-धवत्तयोगात् पृथिवीजातीयत्वं नापैति तदयोगादवादिषु तज्जातीयत्वागमः एवं जगत्कारण-परूपविलक्षणधर्मान्वयेसत्यपि ब्रह्मणोऽचिज्जातीयत्व-जीवजातीयत्ववशङ्काऽवतिष्ठति इति तज्जातीयताव्यावृत्तिस्तस्यादिवाक्येन प्रतिपाद्यत इति तस्य सकलेतरव्यावृत्तस्वरूपबोधकोत्तिर्युक्तेति ॥

कथं व्यावृत्तस्वरूपाभिधानमित्यत्राह—तत्रेति । केनापि परिणामविशेषणतत्तदवस्थस्य सत्ता सांपाधिकसत्ता अतो निरुपाधिकसत्ता निर्विकारत्वं सत्यपदव्यावर्त्यमाह—तेनेति । कथमित्यत्राह—नामान्तरेति । निरुपपट् सत्यपदमस्त्वो-

### गूढार्थसंग्रहः

एव च 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यस्य लक्ष्यव्यक्तिविशेषनिर्णयसमर्पकत्वमेव । अत्र पदत्रयेन अचेतनं बद्ध, मुक्त, नित्यं वैलक्षण्यनिरूपणेन जगत्कारण-परूपलक्ष्यताऽवच्छेदकनिष्कर्षः कथितो भवति । सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माहेति । अयमाशयः उत्तरत्र 'सच्चयच्चाभवत्' इत्युपक्रम्य 'सत्यचानृतं च सत्यमभवत्' इति वक्ष्यत । तत्र सच्छब्दः सत्यशब्दश्च एकार्थकः । तदानुगुण्येन त्यच्छब्दः अनृतशब्दश्चैकार्थकावेव । 'मूर्तामूर्तोहिराशीदौ सच्चत्यच्चादिनां द्वितौ मुख्यन्तरेण सगानात्' (५०) इति तै वार्तिके उक्तम् । 'श्रुत्यन्तरं च' 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणावैसत्यं तेषां मेव सत्यम्' (वृ) इति तत्र वार्तिके 'मूर्तामूर्ते हि सत्याह प्राणास्तस्यास्तस्यदात्मतः । क्षेत्रज्ञस्तदुपाधिगतास्तस्यैतत्त्वमिधीयते ॥' (२४४) इत्युक्तम् । अत्रानन्दगिरिविवरणम् 'सच्चत्यच्चाभवदिति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिं उक्तेर्ये चोतयति' इति । अत्र 'व्यावहारिकमेवान् सत्यस्यादधिकारतः । पारमार्थिकसत्यस्य वाक्यान्ते समुदीरणात् ॥' इति सत्यशब्दद्वयार्थभेदः तै.वार्तिके प्रदर्शितः । 'अथ नामधेयम्' इति इत्यत्र 'व्यपदेशाय नामैतत् न स्व नामास्य विद्यते । लक्ष्येराज्ञसा वक्ति परब्रह्म कथंचन ॥ शब्दप्रवृत्तिहेतूनां साक्षाद्ब्रह्मण्यसम्भवात्' इत्यत्रोत्तरसत्यशब्दस्य लाक्षणिकत्वोक्त्या अत्रापि उत्तरसत्यशब्दः लाक्षणिक इत्येव परेषां प्रक्रिया । 'तस्योदिति नाम' इतिवत् 'नेतिमेति' इति निषेधानन्तरं 'अथ नामधेयम्' इतिश्रुत्या परब्रह्मनामत्वस्य 'सत्यस्य सत्यम्' इत्यत्र प्रार्तपादनादुत्तरत्र सत्यशब्दः लाक्षणिकइत्युक्तिः पूर्वसत्यशब्दः व्यावहारिकसत्यपरः, उत्तरसत्यशब्दः पारमार्थिकसत्यपरइत्युक्तिश्च 'न सत्यद्वयकल्पना' इति कुमारिलेनैव निरस्ततया न घटत इति सत्यशब्दद्वयं न लाक्षणिकं न मिथ्यासत्यरूपविभित्तार्थकं च इति श्रुतितात्पर्यमवश्यमेव पितव्यम् । आन्दोग्ये—'तानि हवा एतानि त्रीण्यक्षराणि सत् ति यमिति तद्वत्सत्तदमृतम् अथ यत् ति तन्मर्त्यं अथ यच्च तेनोमौ यच्छति' (छा.८.प्र.३.५) इत्यत्र 'तस्यहवा एतस्य ब्रह्मणो नामसत्यम्' इति पूर्वश्रुत्युक्तसत्यनाम्नो निर्वचनं कृतम् । तद्वदेव 'सच्चत्यच्चाभवत्' इत्यत्र सच्छब्दस्याप्यर्थः । त्यच्छब्दस्य पूर्वस्थापपरिणामत्यागवदर्थकतया विकारि इत्येवार्थः । तत्र आन्दोग्ये ब्रह्मासाधारणतया सत्यनामनिर्वचनमिति सत् ति यमिति छेदः । अत्र सत्यशब्दद्वयप्रयोगेन अनृतशब्दसमभि व्याहारेण च सच्छब्दसमानार्थकं सत्यशब्दः । सच्च सच्छब्दश्च एकार्थकत्वेन सप्रतिपन्नः । अत्र सत्यशब्दद्वयप्रयोगेण अन्तिमसत्यशब्दस्य निरुपाधिकसत्तायोगीत्यर्थः । प्रथमसत्यशब्दः सांपाधिकसत्तायोगिपरः । बद्धजीवसत्तायाः कर्मनिब-



## श्रीभाष्यम्

रहितत्वात् । ज्ञानपदं नित्यासंकुचितज्ञानैकाकारमाह ।

## श्रुतप्रकाशिका

चात् स्वरूपतो धर्मतश्चैकरूपत्वं ज्ञापयतीत्यचित्तस्तसृष्टजीवव्यावृत्तिः । ज्ञानशब्दार्थमाह—ज्ञानपदमिति । इदानीमास्मिन्विषयइत्याद्युपपदरहितं ज्ञानपदमसंकुचितत्वं नित्यत्वं च ज्ञानस्य दर्शयति । नित्यामङ्कुचितज्ञानत्वमेवाकारो यस्य तन्नि-  
त्यासङ्कुचितज्ञानैकाकारम् तेन ब्रह्मणः कदाचित् क्वचिदपि प्रदेशे जडत्वव्यावृत्तिः । नित्यासङ्कुचितज्ञानत्वं अद्वारक धर्म-  
द्वारकं च परमात्मन आकारो भवति 'आत्मज्योतिस्सम्राडितिहोवाच' 'ब्रह्मणाविपश्चिता' 'विज्ञातारमरेकेन  
विजानीयात्' इत्यादिभिस्स्वरूपस्य धर्मस्य च ज्ञानत्वावगमात् । ज्ञानशब्दासङ्कोचेन सद्धारकाद्वारकज्ञानाकारत्वसिद्धिः

नन्वस्य ज्ञानशब्दस्य किं प्रवृत्तिनिमित्तम् ? विषयावगाहिज्ञानाख्यद्रव्यत्वचेत् अपर्यवसानात् ज्ञानधर्मकत्वमुक्तं  
स्यात्, नतु ज्ञानस्वरूपता स्वप्रकाशतारूप ज्ञानत्वं प्रवृत्तिनिमित्तचेत् ज्ञानस्वरूपत्वमुक्तं स्यात् । नतु ज्ञानधर्मकत्वम् ।  
ततश्च 'तद्गुणसारत्वात्' इति सूत्रविरोधश्च । नच गवादिशब्दानां परमात्मपरत्वे गोत्वसस्यानपिडजीवानामिव द्वार-  
द्वारिभावात् ज्ञानाख्यद्रव्यज्ञानत्वगुणयोर्द्वयोरपि प्रवृत्तिनिमित्तत्व घटते, नहि धर्मभूतज्ञानं स्वरूपभूतज्ञानगतज्ञानत्वगुणे  
समवैति येन द्वारद्वारिभावस्यात् । धर्मभूतज्ञाने स्वरूपेचानुगत ज्ञानत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तचेत् गोशब्देन एष्टमुण्डपिण्ड  
द्वययत् ज्ञानव्यक्तिद्वयमुक्त स्यादिति द्वारद्वारिभावेनानभिधानात् तयोर्ज्ञानयोर्न धर्मधर्मिभावप्रतीतिः ज्ञानत्वगुणविशेषित-

## गूढार्थसंग्रहः

न्यूनत्वेन सोपाधिकत्वात् । त्यच्छब्दार्थचेतनस्यापि परमात्मसङ्कल्पाधीनत्वेन सोपाधिकसत्तायोगि चात् । अनृतशब्दः न  
मिथ्याऽर्थकः, किंतु विकार्यर्थकः । अमृतमत्योभयनियामकत्वेनोदाहृतसत्यनामनिर्वचनानुसारात् । छान्दोग्यबृहदारण्य-  
कादिनिर्वचनसामान्यस्य एकरूपत्वेन छान्दोग्यनिर्वचनस्यारोपपर्यवसितत्वस्य परकल्पितस्य श्रुतितात्पर्याविषयत्वासंभवात् ।  
एवं च उत्तरान्तिमसत्यशब्दसमानार्थक एव 'सत्यज्ञानम्' इत्यत्र सत्यशब्दः इति ॥

ज्ञानपदमिति । आत्मसिद्धौ 'सत्यज्ञानम्' इत्यत्रापि ब्रह्मलक्षणनिर्देशे ज्ञानशब्दो न ज्ञानमात्रवचनः, अपितु  
तद्वद्वचनः तद्वचने 'लिति' इत्याद्युदात्तप्रसक्तेः । अन्तोदात्तश्चायं ज्ञानशब्दः मन्वर्थाभाप्रत्ययान्तत्वे तथा वंघटते नान्य  
येत्येतत् परमात्मनिरूपणे अतिनिपुणमुपपादयिष्यामः' इति ज्ञानशब्दार्थः इत्यमुक्तः । अत्र सत्यज्ञानमित्यादिकाश्च  
ज्ञानैकनिरूपणीयतया स्वप्रकाशतया च ज्ञानस्वरूपताम्' इति जिज्ञासाऽधिकरणसूत्रयनुसारेण ज्ञानपदं नित्यासंकुचितज्ञानै-  
काकारतामाह' इति सूक्तावपि ज्ञानवत्त्वमेव विवक्षितमित्यात्मसिद्धयनुसार्यर्थ एव भगवत्समतइति प्रतीयते । जिज्ञासा-  
धिकरणसूक्तौ आदिपदार्थत्वेन विवक्षिताया 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इति श्रुतौ ज्ञानस्वरूपत्वप्रकाशनेन 'स्वप्रकाशतया  
च ज्ञानस्वरूपताम्' इत्युक्तिस्सङ्गच्छते । व्यासार्थास्तु 'ज्ञानत्वमात्रस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वेसति शब्दशक्त्यसङ्कोचात् साक्षा-प्र-  
णाड्या च ज्ञानत्वविशिष्टताऽवगमेन ज्ञानधर्मकत्वज्ञानात्मकत्वासिद्धिं' वदन्तः 'सत्यज्ञानम्' इत्यत्रैवोभयं विवक्षित-  
मिति प्रतिपादयन्ति । 'ज्ञानत्वं शतृमात्रा स्वरचहुळतया स्वप्रकाशत्वतश्च' इति सारावल्यामात्मसिद्धयविरोधेन जिज्ञासा  
ऽधिकरणमाप्य निरूपयन्तः आचार्यपादाः जिज्ञासाऽधिकरणमाप्यस्य 'सत्यज्ञानम्' इत्यस्यैवार्थद्वयपरत्वेऽपि नविरोध-  
इत्यभिदधति । 'तेन कदाचित्सङ्कुचितज्ञानत्वेन मुक्ताध्यावृत्ताः' इति सूत्रयाऽपि अत्र भाष्ये ज्ञानवत्त्वविवक्षेयं स्फुटं प्रतीयते ।

## श्रुतप्रकाशिका

ज्ञानद्रव्यविशिष्टतया ज्ञान गुणविशिष्टतया च स्वरूपस्याभिधाने शब्दस्य युगपद्व्यापारभेदः प्रसज्येत्—अतो ज्ञानपदेन स्वरूपतो धर्मतश्च ज्ञानाकार उभा मनो न सिद्ध्यन्ते

उच्यते—ज्ञानशब्दस्य स्वप्रकाशत्वरूपं ज्ञानत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम् । नच 'तद्गुणसारत्वात्' इति सूत्रविशेषः धर्म भूतज्ञानद्रव्याभिधानेऽपि ज्ञानत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । स्वरूपस्य च ज्ञानत्वं 'प्रकाशयन्नावैयर्थ्यात्' इति सूत्रितं नच सद्धारकमद्धारकं च स्वरूपस्याभिधानेऽपि शब्दस्य युगपद्व्यापारभेदः साक्षाद्वा परपरयावेति विशेषणमनपेक्ष्य ज्ञानत्व मात्रस्य प्रवृत्तिनिमित्तं वेति शब्दशक्त्यसङ्कोचात् साक्षात्प्रणाख्या च ज्ञानत्वविशिष्टताऽप्यगमेन ज्ञानधर्मकत्वज्ञानस्वरूपत्व- विद्वेः । नच द्वास्त्वारिभावेनानभिधानात् मण्डमुण्डव्यक्तयोरिव धर्मधर्मिभावासिद्धिः । 'आत्मज्योतिस्संम्राट्' 'ब्रह्म णा विपश्चिता' 'अत्रायंपुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' 'एषहि द्रष्टा श्रोता रमयिता घ्राता मन्ता वोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यादिभिः परमात्मनो जीवस्य च ज्ञानधर्मकत्वस्य न स्वरूपत्वस्य च विद्वेः, ज्ञानशब्दस्यचा सङ्कोचेन ज्ञानात्मनोर्विशेषणाशे विशेष्याश च ज्ञानत्ववैशिष्ट्यशोधनसामर्थ्याच्च, यथा सपरिकरो राजा दृष्टः सपरिच्छद गृह क्रीन, सप्त सा गौ क्रीतेत्यादौ विशेषणाशस्य विशेष्याशस्य दृष्टत्वक्रीतत्वावय एकव्यापारेण शब्देन बोध्यते तद्वत् । नच विशेषणाशे विशेष्याशेवा दृष्टत्वक्रीतत्वावयवार्थः । विशेषणाशविशेष्याशयोरन्यतरेणविनाऽन्यतरस्य दृष्टत्वक्रीतत्वा- न्यप्रतीत्यनुपपत्त्यभावात् । नहि प्रवाहस्य घोषप्रति वासववद्विशेषणाशेनविना विशेष्याशस्य दृष्टत्वक्रीतत्वादिकमनुप- पन्नं, नच दर्शनक्रयाऽदियोग्यतालक्षणेनार्थसामर्थ्येन विशेषणाशस्य तदन्वयप्रतीतिः मण्डपक्षेत्रगोदाहनादीनां दर्शनक्रया- ऽदियोग्यानामपि तदन्वयाप्रतीतिः तदप्रतीतिश्च बुभुक्षायां सत्या सन्देहोदयात्सिद्धा ॥

नच समभिव्याहारमलाद्विशेषणाशस्य तदन्वयसिद्धिः, धार्मिको राजा दृष्ट इत्यत्र धर्मस्य दृष्टत्वाप्रतीतिः । नहि धर्मश्चक्षुरपि यः योग्यत्वेसति समभिव्याहारमलात्तदन्वयद्विरतिचेत् । तर्हि विशेषणाशेऽपि तदन्वयस्य शाब्दत्वमुक्तत्वात् नह्यकाङ्क्षासन्निधियोग्यतान्वयेन प्रतिपन्नत्वं शाब्दत्वं निवारयति । ननु सपरिकरो राजादृष्ट इत्यादिषु विशेषणाशस्य विशेष्याशस्य च शब्देनोपस्थापनात्तत्र विशेषणाशेऽपि विधित्तिताकारान्वय उपपन्नः अत्रतु तदभावादुभयत्र विधित्तिताका- रावयानुपपत्तिरिति ॥

नैरम् । ब्रह्मशब्देनैव विशिष्टवस्तुपस्थापनात् । तथाहि 'तद्विजिज्ञासस्य' इति मुमुक्षोर्जिज्ञास्यतयोक्तं ब्रह्म 'तदैक्षत' इत्यादीनि वाक्यानि सत्यसङ्कल्पत्वादिविशिष्ट कारणं वदन्ति त-ऽओषनप्रवृत्तसत्यादिवाक्यगतब्रह्मशब्दस्य सङ्कल्पत्वादिविशिष्टकारणविषयः । बृहण्यमपि ब्रह्मशब्दार्थः । तच्च स्वसङ्कल्पेनाचेतनस्य स्थूलपरिणामहेतुत्वं, चेतनानां 'सचानन्त्याय कल्पते' इत्युक्तज्ञानबृहत्पहेतुत्वं च, ततश्च सत्यसङ्कल्पत्वादिविशिष्टार्थोपस्थापकब्रह्मशब्दप्रतिपन्नविशिष्ट वस्तुविशेषकत्वात् ज्ञानपदमसङ्कुचितशक्तितया विशेष्याशे विशेषणाशे च स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतज्ञानत्वावयव प्रतिपादयति । सपरिकरो राजा दृष्टइत्यादिषु पदान्तरसमभि यादृतशब्देन विशिष्टोपस्थापनम् । अत्रतु स्वोपजीव्यवाक्यान्तरस्थनिर्वचन- सपेक्षब्रह्मशब्देनेति भिदा । विशिष्टवस्तु-युपस्थापितेसति विशेषणाशस्य विशेष्याशस्य विधित्तिताकारान्वयित्वं तुल्यम् । स्वोपजीव्यवाक्यान्तरसापन्नशब्देन विशिष्टवस्तु युपस्थापिते विधित्तिताकारस्थोभयान्वयित्वं च दृष्टम् । यथा सानुचरो राजा समागतः मया च राजा सङ्कृतइति, सप्तसा गौस्थिता साच दत्तेति, अतः परमात्मनो ज्ञानशब्देन ज्ञानधर्मकत्वज्ञानस्वरू पकत्वाभिधानं युक्तम् आनन्दादिशब्देभ्योऽप्येव एव न्यायः स्वतःप्रवर्तते प्रमाणान्तरविरोधेसतितु निवर्तते \* अतो यथो- चार्थ उपपन्नः ॥

### श्रीभाष्यम्

तेन कदाचिन् संकुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः । अनन्तपदं देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितं स्वरूपमाह । सगुणत्वात्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यम् । तेन पूर्वपदद्वयव्यावृत्तकोटिद्वयविलक्षणास्सातिशयस्वरूपस्वगुणा नित्या व्यावृत्ताः विशेषणानां व्यावर्तकत्वात् । ततः

### श्रुतप्रकाशिका

अतस्साक्षात्प्रणाड्या नित्यासङ्कुचितज्ञानैकाकारत्वं दर्शयता ज्ञानपदेन मुक्तव्यावृत्तिरिति सिद्धिमाह—तेनेति । अनन्तपदस्यार्थमाह—अनन्तेति । \* इहेद नान्यत्रेति परिच्छेत्तुमशक्यत्वं देशपरिच्छेदः । इदमिदानीं नान्यदेति परिच्छेदाद्योक्तत्वं कालापरिच्छेदः न तु देशकालाभावौ । एव वस्तुपरिच्छेदोऽपि न वस्तुन्तराभावः किन्त्वदमिदं न भवतीति परिच्छेदानर्हत्वमेव सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वं वस्तुपरिच्छेदइति यावत् । ब्रह्मव्यतिरिक्ते भावरूपाज्ञानतत्कार्यजतेऽङ्गीकृते सति वस्तुन्तराभावरूपो वस्तुपरिच्छेदः परस्यानुपपन्नः सत्यवस्तुन्तराभावस्य इति चेत् । तर्हि स्वनिष्ठवस्तुन्तराभावस्तद्व्यपगमोवरं प्रमाणान्तराविरोधात् । तस्य वस्तुन्तराभावो हि तत्तद्वर्तिमाहकप्रमाणविरुद्धः । गुणतोऽप्यानन्त्यमाह—सगुणत्वादिति । गुणानां देशकालापरिच्छेदौ विद्येते न तु तत्त्वलक्षणवस्तुपरिच्छेदाभावः । स तु स्वरूपस्यैव ॥

यद्वा प्रकारान्तरेण वस्तुपरिच्छेदाभावमाह—सगुणत्वादिति । इदमियदिति वस्तुस्वभावतः परिच्छेदाभावो वस्तुपरिच्छेदः । यथा तुल्यकालत्वे तुल्यपरिणामत्वेऽपि दशवर्णस्वर्णापेक्षया षड्वर्णस्वर्णं तदपेक्षया कलघौतादिचापकृष्टम् सोपकर्षो वस्तुपरिच्छेदः तत्तदपेक्षया गुणत्वोज्ज्वलत्वपवित्रादिभिर्दशवर्णस्वर्णादिकं प्रकृष्टम् । तस्य प्रकर्षस्य निरतिशयत्वं वस्तुपरिच्छेदः । ईदृशवस्तुपरिच्छेदः स्वरूपस्य गुणानां च युज्यते । तेषामपि हेयप्रत्यनीकत्वादस्वभावोत्कर्षस्य निरवधिकत्वात् समाभ्यधिकराहित्यानिदानभूतगुणैर्निरतिशयप्रकर्षो वस्तुपरिच्छेदइत्युक्तं भवति सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वं चास्मिन्नन्तर्गतं तादृशं सर्वशरीरकत्वं तच्च नियमनधारणशेषित्वकोट्येति । अनन्तपदव्यवच्छेदमाह—तेनेति । सातिशयस्वरूपस्वगुणाइति । स्वरूपमणुत्वात्सातिशयं ज्ञानव्यतिरिक्ता ऐश्वर्यादिगुणाश्च जगद्व्यापारानर्हासातिशयाः । ज्ञानं च नित्यं सर्वगतमपि तथात्वस्य परमात्मनि स्येच्छाधीनत्वात् सातिशयम् अपराधीनत्वरूपस्यातिशयस्य परस्मिन्विद्यमानत्वात् । स्वाभाविकत्वेऽपि गुणानां सातिशयत्वमिति ज्ञापनार्थः स्वशब्दः । एव व्यावृत्तिकथनस्य हेतुमाह—विशेषणानामिति ॥

अन्योन्याश्रयस्य परिहृतत्वं दर्शयति । ततइति । ततः एव व्यावृत्तिसिद्धेः, अवगतस्वरूपं अवगतसाधारणाकारं जन्मादिकारणत्वं साधारणाकारः तल्लक्षणकत्वेनावगतमित्यर्थः वस्तुविशेष्यस्वरूपं ब्रह्मेति वा पाठः । कारणतया लक्षितस्य ब्रह्मणः कारणत्वशङ्कितदोषव्यावर्तकत्वाच्छोधकवाक्यानां लक्षणवाक्यपूर्वकत्वमास्ति, न तु तस्य शोधकवाक्यपूर्वकत्वमिति नान्योन्याश्रयमित्यर्थः । सूत्रकारैस्तत्पञ्चानादीनां लक्षणत्वेनानुक्तिनिदानं चानेनैव दर्शितं भवति । विशेष्याशस्य लक्षणसत्यज्ञानादे न तु विशिष्टस्य विशिष्टस्यैवोपास्यत्वात् प्राप्यत्वाच्च जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणं जन्माद्येवेति सूत्रकाराभिप्रायः ॥

### गूढार्थसङ्ग्रहः

स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यमिति । यद्यपि इदमिदं न भवतीति वस्तुपरिच्छेदः तद्वाहित्यं सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वं सर्वशरीरकत्वरूपम् इत्यपि वक्ष्यते । अयमर्थः 'तन्वौपनिषदं पुरुषम्' इति बृहदारण्यकश्रुत्यनुगुणः । तथाऽपि (शं) विष्णुसहस्रनामभाष्योदाहृतं प्राक् (१७.क.पु) उदाहृतवचने वस्तुपरिच्छेदराहित्यमेव विवक्षितं न तु एतद्व्यतिरिक्तं वस्तुपरिच्छेदराहित्यमित्यभिप्रेत्येत्यमुक्तिः । अनन्तशब्दस्य पराशरोक्तविलक्षणमेव वस्तुपरिच्छेदराहित्यमित्यर्थः इति

### श्रीभाष्यम्

‘सत्यज्ञानमनन्तब्रह्म’ (तै.आ.१.अ) इत्यनेनवाक्येन जगज्जन्मादिनाऽवगतस्वरूपं ब्रह्म सक-  
लेतरवस्तुविसजातीयमिति लक्ष्यते इति नान्योन्याश्रयणम् । अतस्सकलजगज्जन्मादिका-

### श्रुतप्रकाशिका

जगत्कारण ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्ते कारणत्वशङ्कितदोषव्यावर्तकतया तच्छेषभूतदशोधकवाक्यार्थश्चास्मि सूत्रे सूत्रकारा-  
भिप्रेतः ; जिज्ञास्यत्वानुगुणस्य कारणत्वस्यैव लक्षणतया विवक्षितत्वात् । स्वरूपेण हेयाम्पदस्य जिज्ञास्यत्वानुपपत्त्या जिज्ञा-  
स्यतायादशोधकवाक्यार्थसापेक्षत्वात् । सत्यज्ञानादिवाक्यविषयकसूत्रान्तराभावात् ‘प्राज्ञयत्’ ‘प्रकाशयत्’ ‘प्रकाशा-  
दिवत्’ इति सूत्राणां सत्यादिवाक्य दृष्टान्ततयोपजीव्यार्थान्तरोपपादनपरत्वाच्च सत्यज्ञानादिवाक्यार्थश्रेहाभिप्रेतइत्यभि-  
प्रायेण भाष्यकारैर्निरिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपादित्यादिविशेषणमुक्तम् । अधिकरणार्थमुपसृहरति । अतइति । जन्मादीनां  
विशेषणनयोपलक्षणतया च लक्षणत्वोपपत्तेः । जिज्ञास्यत्वोपयोगिज्ञाधकवाक्यान्तरगताकारविशिष्टमेव कारणवस्तु ‘यतो वा

### गूढार्थसंग्रह

(श) सहस्रनामभाष्ये अर्थद्वयनिरूपणेन प्रतीयते । परिच्छेदत्रयशून्यत्वं शक्यार्थं गुणानन्त्य लक्ष्यार्थं (सि.सि.अ) इति  
परंप्रक्रियाऽभ्युपगमऽपि ‘तच्चौपनिषद पुरुषम्’ इत्यादिश्रुतिप्ररोधन निभेदव नानन्तपद विवक्षितं, किंतु सर्ववस्तुसा-  
मानाधिकरण्यार्हं वमंप्रेत्याशयेनोत्तरसूक्तिरिति बोध्यम् ॥

भगवद्गीतायामपि सप्तमोक्तार्थानुसारेणैव ‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके’ इत्यादौ ‘अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथिन पु-  
रुषोत्तम’ इत्यन्ते ब्रह्ममुत्तमैलक्षण्यं पुरुषोत्तमस्याभिहितम् । एतत्ता पर्येणैव पूर्वस्मिन्निधिकरणे ‘पुरुषोत्तमोऽभिधी-  
यते’ इत्युक्तम् । सकलेतरवस्तुविसजातीयमिति लक्ष्यते इति । अत्र विसजातीयशब्देन तत्तज्ज्ञानीयवैलक्षण्यबोध-  
कं च, ‘सत्यज्ञानम्’ इत्यस्य जगत्कारणत्वस्य ब्रह्मतरसामान्यवैलक्षण्यबोधकत्वमिति विभागस्तुचितो भवति । ‘सत्यज्ञान-  
इति पदद्वये उपाध्यनिर्देशेन निरुपाधिकार्यस्य विवक्षितत्वेन सोपाधिकसत्ताज्ञानविकासब्रह्मसत्तजातीय व्यवच्छेदः ।  
अनन्तपदेन परिच्छिन्नव्यवच्छेदः । नैव जगज्जन्मादिकारणत्वेन व्यवच्छेदसिद्धयति । एतेन सत्यज्ञानवाक्येन ब्रह्म-  
पदार्थः अचिज्जीवविलक्षणः इति सिद्धावचिज्जीवविलक्षणस्य जगज्जन्मादिकारणत्व लक्षण ‘यतोवा इमानि’ इति वाक्ये  
बुवाधिविधितम् । जगत्कारणत्वलक्षणलक्ष्यताऽवच्छेदकमचिज्जीवविलक्षणत्वमिति सिद्धम् । अत्र इत्थं सूत्रकाराभिप्रायानि-  
र्णयेसति ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इत्यादिना अयोगान्ययागव्यवच्छेदयोः प्रतिपादनं सङ्गच्छते । अत्र जगत्कारणत्वलक्षणस्य  
ब्रह्मेतरवैलक्षण्यानुमापक वेऽन्वयदृष्टान्तासम्भवेन केवलव्यतिरेकिणसिद्धान्तेऽनङ्गीकरणे चतुर्मुखादयोऽनीश्वरा जगत्कारण-  
त्वाभावात्’ इत्यनुमानेनेतरव्यावृत्तौ ता पर्यं वर्णयन्त्याचार्यवादाः । (न्या.प. अनुमानाध्यायः) ॥

अनन्तार्थास्तु — ब्रह्मपदार्थताऽवच्छेदकावच्छेदेन इतरवैलक्षण्यं सशयदशायाः प्राणादिपदता पर्याविषयताऽवच्छेद-  
कावच्छेदेन इतरवैलक्षण्यनिश्चयसम्भवेन तद्दृष्टान्तेन स्वरसत एव इतरव्यावृत्तिरत्र विवक्षितमिति वदति ॥

आचार्यवादानामयमाशयः — ब्रह्मपदप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयव्यक्तिविशेषनिर्णयसमन्तरमेव प्राणादिपदार्थनिर्णयसूत्रकारा-  
भिप्रेतः । ननु तत् पूर्व इति जगत्कारणत्वेन ब्रह्मतरसामान्यस्य सर्वावधिकात्कर्षाभावनिश्चयः तत्र जगत्कारण वस्येत्यनिश्चा-  
यकं नसम्भवतीति शङ्कावारकत्वेन ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इत्यादिसूत्राणां प्रवृत्तिस्सङ्गच्छते । नन्वयथा, व्यावृत्तेः प्रयोज-  
नत्वं साक्षाद्व्यावृत्तिलिङ्गत्वेनैव लक्षणस्य वाच्यमिति नानियमः । किंतु यथाक्याचनविधया व्यावृत्तिसिद्धिः साच उक्त-



## श्रीभाष्यम्

रणं निरवयं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं सर्वशक्तिं ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यत इति सिद्धम् ।  
येतु निर्विशेषं वस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति । तन्मते 'ब्रह्मजिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः'  
इत्यमङ्गतं स्यात् निरतिशयवृहत् वृहणं च ब्रह्मेति निर्वचनात् ; तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिका-  
रणमिति वचनाच्च

## श्रुतप्रकाशिका

इमानि' इत्यादिवाक्ये अर्थलब्धमित्यभिप्रायेणाह—निरवयमिति । सर्वशत्वादिगुणजात कारणत्वाक्षिप्तं यत इत्यत्रानु-  
चयन इत्यभिप्रायेण तदुक्तिः ॥

अस्य सूत्रद्वयस्य निर्विशेषवादिपक्षासङ्गतिमाह—येत्विति । आद्यसूत्रासङ्गतिमुपपादयति निरतिशयेति । अर्थव-  
शिरसि श्रीविष्णुपुराणेनोक्तनिर्वचनमभिप्रेतम् । न निर्विशेषं ब्रह्मेति निरुक्तमिति भावः । द्वितीयसूत्रासङ्गतिं विवृणोति ।  
तच्चेति । नहि जगतोऽध्यासो यत इति लिङ्गश्रयिपिनमिति भावः । एव सूत्रासङ्गतिकथनेन तद्विपक्षवाक्यसङ्गतिरपि फलिता

## गूढार्थसंग्रहः

दिशैव सम्भवतीति ॥ ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यत इति सिद्धमिति । 'द्विविधहि लक्षण निशेषणमुपलक्षण च'  
इत्युपक्रम्य विशेषणत्वासम्भवेन उपलक्षणलक्षणत्वं यत्परैरुक्तं तत्पर्यालोचनपूर्वकं 'द्वधाऽपि ब्रह्म लक्षणतः सविशेषं प्रति-  
पत्तुं शक्यत' इति निगमनवाक्यमेतत् ॥

प्रथमसूत्रे निर्विशेषं ब्रह्म जिज्ञास्यतया विप्रक्षितम् इति परोक्तार्थः न घटत इति ब्रह्मशब्दार्थनिरूपणेन सूचितम् ।  
सूत्रद्वयेऽपि परसमतार्थः सूत्रत्रयतः न विवक्षित इत्यभिप्रेत्य तन्मतमनूय पर्यालोचयति येतु इत्यादिना—जन्माद्यस्य यत  
इत्यसङ्गतमित्यन्तेन । असाङ्गत्यमेवापपादयति निरतिशय इत्यादिना—जगज्जन्मादिकारणमिति वचनाच्च इत्य-  
न्तेन । अयमाशयः । निर्विशेषे निरतिशयवृहत्त्वं, वृहणत्वं जगज्जन्मादिकारणत्वञ्च नास्तीति कथं निर्विशेषं सूत्रद्वयविव-  
क्षितं स्यात् । परमते त्रयाणां मिथ्यात्वमेव । उपहितस्य मिथ्यात्वेन उपहिते एते घर्माः निर्विशेषं च एतद्वमोपलक्षित-  
मिति परेषां सिद्धान्तः, अयच्च सिद्धान्तः श्रुतौ वा सूत्रे वा केनापि पदेन नैव बोधितः । माध्यमिकमतमिव कार्यकारणभावस्य  
सावृत्तत्वादपरमतं न युक्तमिति 'वृहति वृहयति' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुत्यादय एव स्थापयन्ति ।  
सूत्रे 'अस्य' इत्यस्य, श्रुतौ 'इमानि' इत्यस्य च प्रत्यक्ष पुरस्कृत्य तत्तत्प्रमाणोपलक्षकतया कार्यवर्गस्य बाधोऽपि न घटते ।  
एवं कार्यकारणभावस्य सावृत्तत्वमपीति सिद्धयति । अयमर्थः जिज्ञासाऽधिकरणमाध्य एव स्थापितः । जिज्ञासाऽधिकरणे  
'वृहत्त्वं च स्वरूपेण' इत्यादिवाक्ये वृहणत्वस्य स्फुटमभिधानेऽपि वृहत्वमात्रेणैव निर्विशेषविवक्षा न सम्भवतीत्युपपा-  
दनम् । अत्र तु कार्यकारणभावः ब्रह्मशब्दार्थान्तर्भूतः तदानुगुण्येनैव जगज्जन्मादिकारणत्वलक्षणमित्यभिप्रेत्य वृहणत्वस्य  
प्रवृत्तिनिमित्तस्य प्रदर्शनम् । श्रुतौ 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति प्राप्त्यभिधानेन सृष्टिमुक्तिवाक्यानां सामरस्यं बोधितम्  
तदपि ब्रह्मशब्दार्थवृहणत्वानुगुणम् । अचिस्वरूपजीवधर्मविकासहेतुत्वं वृहणत्वम् । प्रलये सङ्कुचितस्य जीवधर्मज्ञानस्य सृष्टौ  
करणकलेवरादिमूलकं किञ्चिद्विकासः । मुक्तौ पूर्णविकास इति सृष्टिमुक्तिवाक्यैकरस्य ब्रह्मशब्दार्थवृहणत्वेनापि स्थिरीकृतम् ।  
एतदभिप्रायेणैव जिज्ञासाधिकरणेऽनुक्तस्य वृहणत्वस्यात्राभिधानम् । एव ब्रह्मशब्दार्थ एव कार्यकारणभावस्य घटकतया  
कार्यकारणभावस्य मिथ्यात्ववादः न श्रुतिसूत्रतात्पर्यानुगुणः ॥

### श्रीभाष्यम्

एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणेषु च ईक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम् । तर्कश्च साध्यधर्मान्यभिचारिणाधनधर्मान्वितवस्तुविषयत्वात् निर्विशेषवस्तुनि प्रमाणम् ।

### श्रुतप्रकाशिका

उत्तरेषां सूत्राणां तत्तद्विषयवाक्यानामापि निर्विशेषप्रधाननुगुणत्वमाह—एवमिति । गणेष्विति । नैकेषु सूत्रे वाक्ये वा विरुद्धम् अपितु तत्तदधिकरणशरीरं तत्तद्विषयवाक्यजातं च विरुद्धमिति भावः । तर्काननुगुणं गमाह—तर्कश्चेति । तर्कशब्दोऽनुमानपरः । प्रमाणानुग्राहकतर्कस्येति वा । पराभिमतयोजनायामपि निर्विशेषस्य सिद्धिमाह—

### गूढार्थसंग्रहः

एव 'एष पन्था, एतत्कर्म, एतद्ब्रह्म एतत्सत्यम्' इति श्रुतेः सायणभाष्योक्तदिशाऽपि उपायत्वेनोक्तब्रह्मणः सत्यत्वं बोधयत् उपायत्वस्यापि सत्यत्वं बोधयत्येति कार्यकारणभावस्य सावृत्तत्वं प्रतिरुणद्धि । 'नस्त्वतो नापि परतः' इति युक्त्या दूरगमपि न घटते । स्वयैवोपादानकारणत्वं निमित्तकारणत्वचेति 'परिणामात्' 'आत्मकृतेः' इति सूत्रद्वयेनान्तरं स्थापयिष्यते । परिणामतद्वतोर्भेदेन परिणामादौ असत्कार्यवादाङ्गीकारेण भेदेऽपि सत्त्वधस्य पूर्वाधिकरणत्वोपपादनेन नकोऽपि दोषः । आरम्भणाधिकरणे आरम्भवाददूषणेनैव कार्यकारणभावदूषणान्यलप्रकानि भवन्ति ॥

सूत्राणीत्यादि । अयमर्थः तत्तदधिकरणेषु विशदीभविष्यति । प्रथमसूत्रे प्रधानार्थप्रतिज्ञायां संबन्धिना प्रमाणलक्षणयुक्त्यादीनां विचारोऽप्यर्थाप्रतिज्ञातोभवति । 'राजाऽसौ गच्छति' इत्यत्र परिवारगमनप्रतीतिवत् । 'यतो वा' इति श्रुत्यनुगमाच्च इति भाष्ये परैरुक्तम् । श्रुतौ द्वितीयसूत्रे च उपादानत्वमपि विवक्षितम् । 'परिणामात्' इति सूत्रमपि विवर्तोपादानपरमेव, परिणामतद्वतोस्संबन्धानुपपात्तिरूपतर्कात् । कार्यकारणभावोऽपि पूर्वोक्ततर्केण सावृत्तएव अयमर्थः । 'परिणामात्' इति सूत्रमामत्या 'यथा सर्वप्रत्युपादानं तद्ब्रह्मोपादानमिति युक्त्या स्थापयिष्यते । सक्षेपशरीरके 'वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः' 'अभेदिनो निर्विकृतेरनेकमृपास्वरूपान्तरदर्शकत्वम् । विवर्तशब्दार्थः' (२.६.८) 'आरोपट्टाष्टिरुदिता परिणामदृष्टि' इत्यादिसिद्धान्तः स्थापितः । अत्र ब्रह्मविद्याऽऽभरणम्—'जगतश्चोपादानं ब्रह्मेत्यगते जगदधिष्ठानं ब्रह्मेति पर्यवस्यति' इत्यादि 'उपादानचोपादेयविषयसत्ताकम्' इत्यादि च ॥

न्यायश्चामणावपि—'श्रुत्यादितादात्म्येनाध्यस्यमानेषु रजतादिषु श्रुत्याद्यवच्छिन्नस्यैव जीवतादात्म्येनाभ्यस्यमानेषु देहादिषु जीवावच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽधिष्ठानतयोपादानत्वोपपत्तेः' इत्युक्तम् । छान्दोग्ये मृत्तत्कार्यदृष्टान्तोऽपि संबन्धानुपपात्तिरूपतर्केण कारणव्यतिरिक्तं कार्यं वस्तु नास्तीत्यत्रैव पर्यवस्यति । एव च 'व्यवस्थितेऽस्मिन्परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः' इति (प्रथमस. १२६. पु.) सक्षेपशरीरकसिद्धान्त एव युक्त इति शङ्कायामाह—तर्कश्चेति ॥

साध्यधर्मान्यभिचारिणाधनधर्मान्वितवस्तुविषयत्वादिति । निर्विशेष उपादानत्वरूपधर्मोऽपि नास्ति ब्रह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्मोऽपि नास्ति । एव च सत्त्वापि वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ्याय वेदान्तवाक्यापिरोधिप्रमाणं भवन्ननिवार्यते । श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात् तथाहि 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति श्रुतिरिति (श.) भाष्योक्तार्थः सविशेष एव पर्यवस्यति ननु निर्विशेषे । निर्विशेषवस्तुनाऽप्रामाणिकत्वस्य पूर्वाधिकरणत्वमप्युपपत्तम् । श्रुत्यविरोधितर्कस्यैव परैरपि प्रमाणतयाऽभ्युपगमेन श्रुतेर्निर्विशेषसाधकत्वे बौद्धादितर्काणामेव

### श्रीभाष्यम्

जगज्जन्मादिभ्रमो यतस्तद्ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षापक्षेऽपि न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः । भ्रममूलम-  
ज्ञानं अज्ञानमाक्षिब्रह्मेत्यभ्युपगमात् । साक्षित्वंहि प्रकाशैकरसतयैवोच्यते प्रकाशत्वं तु

### श्रुतप्रकाशिका

जगज्जन्मादीति । स्वोत्प्रेक्षापक्षेपीति । अयमाभिप्रायः ' यथासौम्यैकेन मृत्पिण्डेन मयं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् ' ' तदात्मानर्गोऽयमकुरुत ' ' कटकमकुटकर्णिकादिभेदैः ' ' आत्मकृतेः ' ' परिणामात् ' इति श्रुतिस्मृतिसूत्रेषु परिणामवचनतदनुगुणदृष्टान्ततदुपपादनानि दृश्यन्ते न तु विवर्तानुगुणं किमपि दृश्यते । नहि यथा सौम्यैकेन शुक्ति-  
शकलेन सर्वे रजतजात विज्ञानस्यादिति श्रुतिः विवर्तादिति सूत्रं वा दृश्यते । तस्माज्जगज्जन्मादिभ्रमो यतः तद्ब्रह्मेत्यय-  
मर्थः स्वयमार्जितः न तु श्रुतिसिद्ध इति । परोत्प्रेक्षितपक्षे तन्निर्विशेषत्वासिद्धिमुपपादयति भ्रममूलमिति । ततः किमित्य-  
त्राह—साक्षित्वं हीति । ततोऽपि किमित्यत्राह—प्रकाशत्वं त्विति । प्रकाशत्व \* प्रकाशशब्दवाच्यं वम् । —

### गूढार्थसङ्ग्रहः

परैरुदाहृतत्वेन व्यावहारिकपारमार्थिकप्रमाणस्य वैदिकस्य कस्याप्यसम्मतस्य वेदस्यैकविधप्रामाण्यभङ्गकस्य बौद्धमात्रसंमत-  
स्याङ्गीकारेण तेषां सविशेषपरवेदवाक्यविरोधित्वेन प्रामाण्यासम्भवाच्च निर्विशेषवस्तुनि तेषामनुपयोग इति भावः । ' आरो-  
पदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टिः ' इति सक्षेपशरीरकाशुक्तिमभिप्रेत्याह—जगज्जन्मादिभ्रम इति । विवरणादौ सर्वत्र ' यद्र-  
जतमभात् साशुक्तिः ' इत्यत्रैव जगत्कारणत्वस्यापि मिथ्याभूतस्योपलक्षणत्वं संभवतीत्युक्तम् । तत्र रजततद्ज्ञानयोरभ्योरापि  
एकावस्थाज्ञानपरिणामत्वेन ताद्विवर्तोपादानत्वरूपमधिष्ठानत्वं श्रुत्यवच्छिन्नचित्त इति परासिद्धान्तः । अनिर्वचनीयरजस्य  
सर्वैरनङ्गीकारेऽपि रजतज्ञानरूपभ्रमस्त्वसंमतः न तु यद्रजतोपादानं तदेव भ्रमोपादानमिति । परमते भ्रमाधिष्ठान-  
रूपविवर्तोपादानत्वतात्पर्येण जगज्जन्मादिभ्रमो यतः इत्युक्तिः अद्वैतसिद्धावापि उपादानत्वस्य भ्रमाधिष्ठानत्वरूपत्वे  
मृतोक्तदोषा अपि परिहृताः ॥

सिद्धान्ते ' परिणामात् ' इति सूत्रे समानसत्ताकपोरणामस्यैव विवक्षितत्वेन तत्प्रतिकोटिरूपविषमसत्ताक-  
परिणामरूपविवर्तस्य विवक्षितत्वे आध्यासिकस्यैव उच्यते वाच्यतया सप्रकारकज्ञानसामान्यस्यापि भ्रमत्वस्य सिद्धान्तवि-  
न्दुटीकाया ब्रह्मानन्दोक्त्या च अत्र ' जगज्जन्मादिभ्रम इत्युक्तिस्सङ्गतैव । निर्विशेषसिद्धयभावमेवोपपादयति—भ्रममू-  
लमज्ञानमित्यादिना । अज्ञाने किंप्रमाणमिति विचारदशाया अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्रूपसाक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणमिति  
परोक्तययोगः अज्ञानसाक्षिब्रह्मेत्यभ्युपगमात् इत्यत्र विवक्षितः ॥

प्रकाशत्वं तु इत्यादि । ' अर्थप्रकाशोक्तिः ' इति विवरणोक्तार्थस्यैव व्यवहारघटितस्य ज्ञानवाद्युपपत्तावभिधानपूर्वक  
तस्य मुक्तिकोलेऽभावेऽपि तदुपलक्षितचित्ता निर्विशेषसिद्धेः मधुसूदनब्रह्मानन्दाभ्यां व्यवस्थापनेन परसमतचित्तावधिना सम्भवेन  
तुच्छत्वेन स्यादिति भावः । तुच्छत्वं न शशशृङ्गादिरूपत्वं, अपितु माध्यमिकोक्तशून्यत्वमेव । अयमर्थः पूर्वाधिकरणएव  
निरूपितः । एतेन शुक्तिदृष्टान्तस्य श्रुतिषु कारणवाक्येषु कुत्राप्यनभिधानेन श्रुतेर्मिथ्यारजतप्रत्युपादानत्वस्य कस्यापि दार्श-  
निकस्यासम्मतत्वेन चितः अप्रामाणिकत्वे श्रुत्यवच्छिन्नचित्तः कारणत्वस्याप्यसंभवेन विवर्तोपादानत्वपरिभाषाऽपि न घ-  
टत इति सूचितम् ॥

### श्रीभाष्यम्

जडाद्यावर्तकं स्वम्य परस्य च व्यवहारयोग्यतापादनस्वभावेन भवति । तथास्मति सविशेष-  
पत्वम् । तदभावे प्रकाशतैव न म्यात् तुच्छतैव स्यात् ॥

॥ इति जन्माद्यधिकरणम् ॥

### श्रुतप्रकाशिका

व्यवहारयोग्यतापादनस्वभावेनेति । व्यवहारयोग्यतापादनमेव स्वभावः तेन भवति । स्वपरव्यवहारयोग्यतापादनस्य  
स्वभावेन प्रकाशत्वमित्यर्थः । तथाऽभ्युपगमे सविशेषपरत्वमाह—तथेति । अनभ्युपगमे दूषणमाह—तदभावइति । इति  
परमे सूरद्वयासाक्ष्योपादनम् ॥

॥ इति जन्माद्यधिकरणम् ॥

### गूढार्थसङ्ग्रहः

एवं 'आनन्दाद्वैत' इतिवाक्यं निर्णयवाक्यमित्युक्तिरपि न पराभीष्टसाधिका । तत्र प्रकृत्यर्थज्ञानन्दवस्य पञ्च  
मर्थकारणत्वस्य च शुद्धे ब्रह्मण्यसम्भवेन तत्र निर्विशेषविवक्षाया असम्भवात् । विवर्तोपादानत्वं निर्विशेषवृत्ति इति  
परेषा सिद्धान्तः । जगत्कारणत्वस्येव आनन्दत्वज्ञानत्वादीनां ब्रह्मण्यभावे जगत्कारणत्वस्योपलक्षणलक्षणं च रत्नादिनन्दस्य  
स्वरूपलक्षणपरत्वमिति विभागोऽपि न घटते । 'स्वरूपलक्षणं लक्ष्यात्यन्ताभिन्नं, तदस्थलक्षणं स्वकालावच्छेदेन स्वाश्रयनिष्ठ  
मिति' अखण्डार्थत्वोपपत्तौ त्रिवेकमभिधाय, ज्ञानत्वाद्युपपत्तौ ननु ज्ञानत्वानन्दत्वयोः कादाचित्कत्वेज्जगत्कारणवदिवत्  
अस्वाभाविकत्वमिति चेत् . न ; इष्टत्वात् । एवमपि जगत्कारणत्वं तदस्थलक्षणं आनन्दत्वाद्युपलक्षितव्यक्तिर्लक्षणया बोध्या  
स्वरूपलक्षणमिति सिद्धान्तान्वयाघातान् । जगत्कारणत्वादेश्शुद्धेऽनङ्गीकारपक्षे ज्ञानत्वादेश्शुद्धनिष्ठवत् ततो वैलक्षण्यसम्भ-  
वाच्च ' (ल.च) इति ब्रह्मानन्दसरस्व युक्तिरनुपादेया । शुद्धे नकोऽपि धर्म इति सिद्धान्तस्य पूर्वमेव ब्रह्मानन्दनिर्णीतस्य  
निरूपणेन ज्ञानत्वादेश्शुद्धचिन्निष्ठवासम्भवात् । जगत्कारणत्वोपलक्षितव्यक्तेरपि स्वरूपलक्षणत्वसम्भवात् । एतेन 'यतो  
वा' इत्यादीनां 'तत्त्वमसि' इत्यत्र वाच्यार्थसमर्पकत्वं 'सत्यज्ञानमनन्तम्' इत्यखण्डपदार्थनिष्ठसामानाधिकरण्यवाक्यस्य  
लक्ष्यसमर्पकत्वमिति विभागोऽपि निर्मूलः । धर्मस्य प्रकारतया भानस्योभयत्राविशेषे धर्माप्रकारकबोधस्यानुभवविरुद्धत्वे  
एकस्य लक्ष्यसमर्पकत्वमन्यस्य वाच्यसमर्पकत्वमिति व्यवस्थाया एवासम्भवात् । स्वप्रकाशत्वमपि ज्ञानानन्दत्वसमानयो-  
गक्षेममेव । तेन स्वप्रकाशतया निर्विशेषसिद्धिप्रत्याशाऽपि निरवकाशा । द्वितीयमिथ्यात्वनिरूपणं ते स्वप्रकाशत्वस्य पर  
प्रकाशत्वाभारूपत्वमङ्गीकृत्य प्रमाकरमतइव अभावस्याधिकरणा मकत्वेन ब्रह्मरूपत्वोपपादनप्रयासोऽपि विफलः । धर्मस्य  
प्रकारतयाऽमाने परप्रकाशत्वभ्रमनिवर्तनासम्भवेन तेन स्वप्रकाशतया चासद्वैरेवासम्भवात् । एवरीत्या जगत्कारणव-  
स्यापि यथाकयाचनविधया अभावरूपत्वोपपादनसम्भवाच्च ॥

एतेन निर्विशेषे किंप्रमाणमित्याक्षेपस्य किं स्फूर्त्यर्थं आहोस्विदावरणभङ्गार्थं वेति विकल्प्य स्वप्रकाशतयैव स्फूर्ति  
सिद्धिः, आवरणभङ्गार्थमुपनिषदामेव प्रमाणत्वमिति मधुसूदनसरस्वयुक्तिरनुपादेया । परसंमतस्वप्रकाशानङ्गीकारेऽभ्युप-  
पत्तेः प्रागेव निरूपणात् । शब्दसामान्यस्य धर्मप्रकारकबोधजनकत्वमेव उपलक्षणस्यापि प्रकारत्वमेव युक्तं दार्शनिकसंमत-  
चेति पूर्वमेव साधनेन इत्यमुक्तेरसम्भवात् । अतः 'जन्माद्यस्य यत्' इति सूत्रयतः व्यासस्य प्राप्यब्रह्मलक्षणतात्पर्येण सृष्टि  
मुक्तिवाक्यसामरस्येन कारणवाक्यानामेव प्राधान्यं, राजकुमारनयः, अमेदवाक्यानां उपादानोपादेयभावेनैवाभेदोपपत्तौ



### गूढार्थसङ्ग्रहः

तात्पर्यमुपादानोपादेयभावान्तर्गतम् सर्वान्तर्यामिरूपत्वसर्वशरीरव इति 'तत्रौपनिषद् पुनश्च' इत्यत्र विवाक्षितम् 'सत्यज्ञानम्' इत्यादितु अविज्जीवविलक्षणप्राप्यब्रह्मस्वरूपपर बृहणत्वजगत्कारणत्वशङ्कितदोषनिराकरणपरचेत्येव युक्तमिति सिद्धा-  
न्तोऽभिमत इति सिद्धम् ॥ अत्र अध्यारोपादेः विवक्षा नास्तीति प्रागेव (३६७.प्र.स.पु) निरूपितम् ॥

'यतो वा इमानि भूतानि' इति श्रुतौ 'यतः', 'येन' इति निर्देशेन सृष्टिहेतुत्व स्थितिहेतुत्वच स्पष्टम् । 'यत्प्र-  
न्याभिसविशन्ति' इत्यत्र यच्छब्दावृत्त्यभावेन मोक्षस्य लयान्तर्भावेन सृष्टिफलतापर्येण च मुक्तप्राप्यत्वात् विवाक्षितम् ।  
लये हेतुत्वस्य साक्षादनभिधानेऽपि सृष्ट्यादिसहभावेन कारणे ल्योक्तिमात्रेण लये हेतुत्व सिद्धयात् । मुक्तप्राप्यत्वोक्त्या न  
मुक्तिहेतुत्व सिद्धयति । मुक्तप्राप्यत्वोक्तिः सृष्टेर्दयामूलकत्वेन सृष्टिवाक्यानां मुक्तिवाक्यानां च मुक्तिरूपैकफलत्रोधनमुत्पेन  
सामरस्यसम्पादनेन सृष्टिवाक्यानामात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वं नास्तीति बोधनाय । सृष्टिलये हेतुत्वकथनेन उपादानकारणत्व  
सिद्धया राजकुमारनयसम्प्रदायोऽपि सूचितः । स्थितिहेतुत्वमप्यन्तर्यामिभूतसत्ताऽनुवृत्तिलक्षणास्थितिहेतुत्वमुत्पेनोपादानता  
निमित्तकारणता चाभिप्रेति । जीवानामुपादेयत्वबोधनेन राजकुमारनयसम्प्रदायोऽपि सूचिता भवति । अतः नवीनसम-  
तसृष्ट्याप्रवृत्तहेतुत्व श्रुतिसूत्रयोरप्रतीत्या न विवाक्षितम् । पूर्वसूत्रे ब्रह्मशब्दार्थो विष्णुरिति निर्णायकं न किञ्चनपद वर्तते ।  
अतः तदनिर्णयदशायां जीवोपा विष्णुर्वेति सशयएव नोदिति । अतः उक्तदिशा ब्रह्मशब्दार्थनिर्णायकमेवेदसूत्रम् ॥

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्र मुक्तिसाधनवेदनविषयत्वेन ब्रह्म प्रस्तुतम् । तच्च वेदनमुपासनरूपमेवेति लघुसि-  
द्धान्तादौ निर्धारितम् । अत्र उपक्रमे सर्वगतस्य ब्रह्मणः प्राप्तिरुक्ता साच प्राप्तिः 'अस्माहोकात्प्रेत्य, एतमानन्दमयमा मान-  
मुपसकृम्य, इमान्येका-कामाप्नोति कामरूप्यनुसञ्चरन्, एतन्सामगायत्रास्ते' इत्युपसंहारे देशविशेषावच्छेदेनेति निर्धारिता ।  
'मान्त्रार्णिकमव च गीयते' इति सूत्रे गीयत इत्यनेन व्यासेनाप्ययमर्थः सूचितः । एव च देशविशेषावच्छेदेन प्राप्तेर्ग-  
तिमाध्यत्वेन गतिसाध्य फलमुपासनस्यैवति सपन्नम् । उपासनस्य गतिद्वारक फलमिति परेषामपि समतम् । तदनन्तर—  
'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादिना 'यतो वा इमानि' इत्यनेन च उपासनविषयस्य जगत्कारणत्वमप्यभिहितम् । पूर्वप्रस्तुतो  
पास्यब्रह्मण एव 'यतो वा इमानि' इति श्रुतौ जगत्कारणत्व लक्षणतया विवाक्षितम् । पूर्वसूत्रघटकब्रह्मजिज्ञासाशब्दः  
'तद्विजिज्ञासस्व' इति वाक्यघटकपदार्थतात्पर्येण प्रवृत्तइति परेषामपि समतम् । इत्युपोपास्यब्रह्मणः जगत्कारणत्वे लक्षणे  
कथिते भाष्ये उपलक्षणत्वविशेषणत्वव्यवहारः ब्रह्मविशेषणीभूतोपासनाविषयवतदभावनिबन्धनइत्याचार्यपादैः 'मोक्षार्थो-  
पास्यमेदेष्टुमयमपि समन्वेति विद्याविकल्पात्' (अ.सा.) इति निरणायि । विचारस्ये-ताविषयव पूर्वसूत्रे यदुक्तं तत् आनन्दरूप  
ब्रह्मविषयकत्वेन मुक्तिसाधनोपासनाप्रयोजकत्वेन चेति ज्ञेयम् । तत्र ज्ञानसामान्यवाचिघातुप्रयोग उपामनाता पर्येण ।  
अन्यथा कर्मविचारस्य कर्मणा हेयत्वेन हानमात्रएवोपयोगरस्यात् । कर्मणामुपादानार्थं जानतु तत्र न विवाक्षितमिति प्रती-  
येन मुक्तिसाधनोपासनप्रयोजकत्व विचारे यदा विवाक्षितम् तदोपासने कर्मणामङ्गतया उपयोगप्रतीतिरापि सभवति इत्युपा-  
स्यविचार्यब्रह्मण एव प्रथमसूत्रे विवाक्षिततया विचार्यत्वेन प्रतिज्ञात ब्रह्म उपास्यमव भवतीति उपास्यब्रह्मणएवास्मिन्सूत्रे  
लक्षणमुच्यतइ युपासनाभेदेन विशेषणवोपलक्षणत्वे विवाक्षिते । उपासनारूपविधेयान्वयवतदभावाभ्यां विशेषणवोपलक्ष-  
णत्वे सङ्गते इति व्यासाशय इत्याचार्यपादानामाशयः । वस्तुपरिच्छेदराहित्यस्य द्वेधाऽपादनन शब्दात् धर्मप्रवारकदो-  
षस्यैव सर्वत्र आवश्यकत्वेन सर्वश्रुतिसामञ्जस्ये कारणत्वस्य मिथ्यात्वकल्पनप्रयास (ब्र.वि.आ) विफलः । वायौरूपनास्ति  
इतिवत् अन्यत्र सत्त्वभ्रमनिरासायाध्यासः अतोऽपवादः 'तेन मिथ्यात्व तत्रैव प्रसज्य प्रतिषिध्य' इति (प.पा.वि) अर्थ  
इति निष्कर्षः (अ.प) नयुक्तः । कारणत्वोक्ते वैफल्यात् । ब्रह्मणि सत्त्वोक्त्याप्युपपत्ते ॥

॥ इति जन्माद्याधिकरणम् ॥

## श्रीभाष्यम्

### अथ शास्त्रयोनिव्याधिकरणम्

जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्युक्तम् । तदयुक्तम्

### श्रुतप्रकाशिका

### अथ शास्त्रयोनिव्याधिकरणम्

अथावान्तरसङ्गतिमाह—जगज्जन्मादीति । कथमयुक्तमित्यत्राह—

### गूढार्थसंग्रहः

### अथ शास्त्रयोनिव्याधिकरणम्

उत्तरसूत्रवतारयति—जगत्कारणं ब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्यादिना । अयमाशयः ‘ब्रह्मविदामोति परम्’ इति प्राप्यत्वेन प्रस्तुतब्रह्मणः ‘यतोवा’ इत्यादिश्रुत्या जगत्कारणवरूपलक्षणाभिधानेन कार्यभूतजीवाचेतनानां निरतिशयशृङ्खलवृंहणवयोरसम्भवेन ब्रह्मशब्दार्थः जगत्कारणभूतमेकमेव वस्तु तदेव प्राप्यम् । तेन प्रथमसूत्रे विचारविषयत्वेन ब्रह्मणः यत्फलत्वमुक्तं ततदप्युपपादितं भवति । एवंचाधिकरणद्वयेन ब्रह्मशब्दभिन्नानां ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पत्तिसम्भवोपपादनेन वेदान्तविचाररूपब्रह्मोपपादयस्य कर्मविचारानन्तरमारम्भणीयत्वसाधितम् । तेन अधिकारी विषयश्च सिद्धः । अनन्तराधिकरणद्वयेन सन्नधप्रयोजने निरूपयिष्येते । तत्र ब्रह्मणः वेदान्तानां च सन्नधः शास्त्रयोनिव्याधिकरणे स्थाप्यते । तत्र ‘तत्त्वोपनिषद् पुरुषम्’ (वृ) ‘वेदरत्नैकैरहमेव वेद्यः’ (क) ‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः बोध्यबोधकभावः उपनिषदा ब्रह्म तात्पर्यकत्वं च प्रतिपाद्यते । जन्माद्यधिकरणे अभेदप्रतीतिनिर्वाहकप्रवेशरूपपठितसृष्ट्यन्तर्गतजन्मादिकारणत्वस्य ‘यतोवा’ इति वाक्यतात्पर्यविषयत्वसाधितम् । ‘तत्त्वमसि’ इत्यतःपूर्वं ‘सन्मूलास्सोम्येमाः प्रजाः’ इत्यत्रोपक्रमोक्तकारणत्वमेव विवक्षितम् उपक्रमोक्तकारणत्वतु दृष्टान्तानुगुण्येन ‘बहुस्यां प्रजायेय’ इत्यादावभेदस्य प्रवेशस्य स्वपर्यन्तनामरूपव्याकरणयोश्च प्रतिपादनेन उपादानोपादेयभावः योऽयं सिद्धस्स एव ‘सन्मूला इत्यत्रापि विवक्षित इति सर्वशरीरकवनिर्घनसर्वोपादानत्वेनैव ‘तत्त्वमसि’ इत्यत्राप्यभेदो विवक्षित इति निश्चीयते । एवं ‘आत्मेवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः, स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औपत्’ इत्याद्यनन्तर ‘तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्या व्याक्रियत, स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः आत्मेत्येवोपासीत्’ इत्याद्युत्तयनन्तरमेव ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इति वाक्यसद्भावेन तत्राप्युपादानोपादेयभावनिर्बन्धन एव अभेद इति निश्चयस्सम्भवति । तेन ‘तत्त्वोपनिषद् पुरुषम्’ इत्यत्रापि ‘स वा अग्रं सर्वासु पूर्णं पुरिशयः’ ‘स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्’ इत्यादौ सर्वशरीरिणः सर्वजगदुपादानस्यैव पुरुषशब्दार्थत्वनिर्णयेनोपनिषत्तात्पर्यविषयत्वमिति सिद्धयति । तेन ‘यतोवा’ इत्यत्रापि जगदुपादानत्वस्य विवक्षितत्वेन अभेदवाक्यानां प्राधान्याभावेन जीवभिन्नस्य ब्रह्मणः प्राप्यत्वसम्भवेन प्रथमसूत्रे इच्छाविषयत्वेन फलभूतस्य प्राप्यस्य ब्रह्मणः द्वितीयसूत्रे लक्षणकथनेन कार्यभूतानां तदितरेषां ब्रह्मशब्दार्थोत्कर्षासम्भवेन ब्रह्मशब्दस्यैकैकैव शक्तिसम्भवेन ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पत्तिसम्भवेन विषयप्रसिद्धेः ब्रह्मविचारः आरम्भणीय इति सिद्धान्तः । अयं च सिद्धान्तो न घटत इति नैयायिकमतेन शङ्का नैयायिकाः परतः प्राप्ताः घटस्य पौरुषयत्वं ब्रह्मणः नोपादानं, किंतु निमित्तकारणत्वमारंभवाद एव न परिणामवादः ।

### गूढार्थसंग्रहः

अनुमानेन ब्रह्मसिद्धिः ब्रह्मज्ञान जीवात्मज्ञानसम्पादकं जीवज्ञानमेव मुक्तिहेतुः हेतुत्वमपि दृष्टद्वारा नादृष्टद्वारा सुखप्राप्तिः ब्रह्मप्राप्तिश्च न मोक्षः, दुःखोच्छेद एव मोक्षः अभेदवाक्यान्यौपचारिकार्थानि इत्यादीनर्थान् वदन्ति ॥

एवं च परिणामवादस्यासम्भवात् जगन्निमित्तोपादानयोर्भेदात् ब्रह्मणः परिणामिकारणत्वरूपोपादानत्वं न संभवति आरम्भवादस्यैव युक्तत्वात् ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वस्यानुमानेन सिद्ध्या ईश्वरस्यैवानुमानेन सिद्धौ निमित्तकारणव्युत्पत्त्या अनुमानिकमेव अनुमानसिद्धार्थबोधकत्वमेव 'यतोवा' इत्यादिश्रुतेः इत्येव युक्तम् । समानाधिकरणवाक्यान्यौपचारिकार्थानि नतूपादानोपादेयभावेन अभेदबोधकानि शुद्धशोणितयोः मूत्रादेरिव शरीरावयवत्वाभावेन पुत्रं प्रति पितृरुपादानत्वं नैव । तेन राजकुमारनयेन जीवस्य ब्रह्मप्राप्तिर्मुक्तिरित्यस्यापि नावकाश इत्यादिराश्लेषः ॥

'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्य आप्तप्रामाण्यात्' (२.१.६८) इति न्यायसूत्रम् । अत्र आप्तत्वं साक्षात्कृतधर्मता भूतदया यथा भूतार्थचिख्यापयिषा' इति भाष्यम् । वेदवाक्यानि प्रमाणवक्तृविशेषाभिहितत्वात् 'मन्त्रायुर्वेदवत्' इति वार्तिक अदुमानमुपन्यस्तम् । अत्र भाष्य वेदस्यापौरुषेयत्वेन नित्यत्वं निराकृतम् । अत्र तात्पर्यटीका—'तस्मात् दृष्टसहायमदृष्टमस्य वैचित्र्यस्य कारणं तच्च अपूर्वमिति च धर्माऽधर्माविति चाख्यायते । तच्च कस्यचित्प्रत्यक्षं मन्वादेरित्युपपादितम् । तनुभुवनादिलक्ष्यस्य कार्यस्य कर्ता तान्निर्माणसमर्थः समस्तवस्तुतत्त्वज्ञः क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टः परमकारुणिकस्तनुभुवनादेरेव कार्यादनुमीयत इति चतुर्थे उपपादयिष्यते । सोऽयमात्मीयहिताहितप्राप्तिपरिहारानविदुषः प्राणिनः पश्यन् प्रत्युतानेकविधदुःखदहनदह्यमानानवलोकयन् कथं न तप्येत तप्यमानो वा हिताहितपरिहारोपायतत्वं विद्वान्कथं नोपादिशेत् अन्यथोपादिशेद्वा । तस्मादनेन परमकारुणिकेन पृथिव्यादिसृष्ट्या प्रजाश्चतुर्विधास्ताभ्यो हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायउद्देष्टव्यः न ह्ययमनुपादिश्य स्थातुमर्हति । प्रजानां पितृकल्पस्य चास्योपदेशः देवर्षिमतनुष्यगोचरः चातुर्वर्ण्येन चातुराश्रम्येण चादराद्वाह्यः । धार्यश्च हिताहितप्राप्तिपरिहारानुष्ठानाय' इति ॥

चतुर्थे 'तत्कारितत्वादहेतुः' (४.१.२१) इति सूत्रम् । अत्र पूर्वपक्षसूत्रद्वये जगते ब्रह्मविवर्तत्वं ब्रह्मपरिणामत्वं निरपेक्षेश्वरत्वं च निराकृत्य अभिमतं पक्षं गृह्णाति 'तत्कारितत्वादहेतुः' इति । 'परमाणुपादानस्य जगतः पुरुषकर्मापेक्ष ईश्वरः निमित्तकारणम् । यच्च तेनापेक्षणीय पुरुषकर्म तदपीश्वरनिमित्तकमेव । न च यदपेक्ष्यते तस्य अनिमित्तमित्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः । तस्मादीश्वरकारितत्वान्पुरुषकारस्य तसहाय ईश्वरः निमित्तकारणं जगतः अस्य पक्षस्य निराकरणे पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरित्यहेतुः' इति, एव 'यथा विवादाध्यासिताः तरुमहीधरादयः उपादानाभिज्ञकर्तृकाः उत्पात्तिमवादेतनोपादानाद्वा' इत्यादि च तात्पर्यटीका ॥ अत्र भाष्ये 'आप्तकल्पश्चाय' । यथा पिताऽपत्यानां, तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्' इत्युक्तम् ॥

उक्तं च आत्मविवेकेऽपि उदयनेन 'निष्प्रपञ्च आत्मा ज्ञेयो मुमुक्षुभिरिति तात्पर्यं प्रपञ्चमिष्यात्पञ्चश्रुतीनाम् आत्मन एवैकस्य ज्ञानमपवर्गसाधनमित्यद्वैतश्रुतीनां दुरुद्देश्यमिति पौनःपुन्यश्रुतीनां बहिःसङ्कल्पत्यागो निर्मनस्कश्रुतीनां आत्मैर्घोषादेयइत्यानन्दश्रुतीनाम् गारुडवनुग्रहे तात्पर्यं प्रकृत्यादिश्रुतीनां तन्मूलानां च सङ्ख्यादिदर्शनानां चिन्तनेयम् अन्यथा श्रो. 'अस्मिन्नैतदि वेदज्ञः कपिलो नेतिका प्रमा । उभौ च यदि वेदज्ञौ ध्याख्याभेदस्तु किंकृतः ॥ प्रामाण्यं तु तस्य युत इति चेत्—न ; आतोक्तत्वात् । तदसिद्धमिति चेत् न विश्वस्य कर्तुरनुमानसिद्धत्वात् विवादाध्यासितकर्तृकह कार्यत्वात्' इति, 'नित्यतु मुप न सत्य योग्यानुपलभ्यसाधितत्वात् श्रुतिस्तत्र प्रमाणमिति चेत् न योग्यानुपलब्धसाधितं तदवयवकालात् अवकाशे या ग्याविश्रुतश्रुतेरापि तथाभावप्रसङ्गात् । नापि काव्यं सदातनत्वात् । नाह यद्यस्यास्ति सतकामयतो

श्रीभाष्यम्

तद्धि न वाक्यप्रतिपाद्यम् अनुमानेन सिद्धेरित्याशङ्क्याह

सू. ३—शास्त्रयोनित्वात् १.१.३

श्रुतप्रकाशिका

तद्वीति । सामान्येन शब्दप्रतिपाद्यत्वे सिद्धेहि शब्दविशेषरूपवेदान्तवेद्यत्वासिद्धिरिति भावः । तच्च कुतः, नहि प्रत्यक्षेण तदर्थयत इत्यत्राह—अनुमानेनेति । नन्वाश्वरानुमाननिरासार्थं नेदमधिकरणमारम्भणीयं साधकवाधकप्रमाणान्तरगोचरस्य शास्त्रेण प्रतिपादनायोगाद्धि तन्निरासः नचायमपेक्षितः अनुमानेन कर्तृमात्रेसिद्धेऽपि तदप्रतिपन्नस्य निमित्तोपादानैक्यस्य गगनादिसर्गस्य प्रतिपादनोपपत्तेः । अनुमानविरुद्धाश्च न शास्त्रं प्रतिपादयतीति तत्प्रतिपादनायानुमाननिरास इति चेन्न आगमविरोधस्यैवानुमानदूषणतयाऽनुमानेनागमप्रतिबन्धयोगादिति ॥

उच्यते—शास्त्रं हि साधकान्तरसिद्ध बाधकान्तरबाधितं च न प्रतिपादयति यथाऽऽहुः—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहसितम् । ताद्रूप्येण परिच्छित्तिस्तद्विपर्ययतोऽपि वा ॥

इति । तत्र निमित्तत्वोपादानत्वे च शास्त्रेण प्रतीयते तत्र निमित्तमात्रस्यानुमानसिद्धत्वात्तदुक्तिरनुवादस्यात्, अनुवादस्य प्रमाणान्तरसिद्धिसापेक्षत्वात्निमित्तानुवादोऽनुमानसापेक्ष एव भवति । अनुमानचामूर्तद्रव्येतरनिष्ठोपादानव्यतिरिक्तकर्तृकत्वव्याप्तिमूलमिति धर्मिग्राहकानुमानविरोधेन निमित्तोपादानैक्यं गगनाद्युत्पत्तिं च शास्त्रं न प्रतिपादयितुमलम् । एवं कारणवाक्यानामशेषे प्राप्तप्रत्ययत्वादशान्तरे बाधितविषयत्वाच्च निमित्तोपादानैक्यादिकं न सिद्धयेदिति तत्सिद्धये निमित्तमात्रानुमाननिरासार्थमिदमधिकरणमारम्भणीयमिति ॥

नन्वानुमानवादिभिरपीश्वरस्यागमगम्यत्वमङ्गीकृतम् आगमानुग्राहकतया चानुमानमुच्यत इति तन्निरासो युक्त इति चेत् परतःप्रामाण्यवादिभिर्नैव वक्तुं युक्तम् । अनुमानस्य शास्त्रानुग्राहकत्वे शास्त्रमेव प्राधान्येनेनेश्वरं प्रमाणं भवति । अनुग्राह्येति

गूढार्थसंग्रहः

भ्रान्तेरेव कण्ठचामीकरवादिति चेत् न स्वसवेद्ये तदभावात् ' इति, आत्मा तु किं स्वप्रकाशसुखस्वभावोऽन्यथावेति पृच्छामः भ्रदोऽसि चेत् उपनिषदपृच्छ मध्यमस्योऽसि चेदनुभवपृच्छ नैयायिकोऽसि चेत् नवैषाधिकसुखस्वभाव इति निश्चिनूयाः । तदतिरिक्ते तु सुखज्ञानव्यवहारबीजाभावात्तद्व्यवहारभावः, अनुग्रहाभिप्लव्हेन्द्रियप्रसादादिलक्षणकार्येहि तद्व्यवहारबीजम्' इति च

एव च ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वाभावेन नित्यसुग्नस्यैवाभावेन परिणामवादाद्यसम्भवेन च उपादानत्वादिनसम्भवति । 'जनिकर्तुःप्रकृतिः' इति सूत्रविवरणे मूलादेरिव शुश्रूषाणितयोरापि शरीरावयवत्वानिरसनपूर्वकं मातापित्रोः पुत्रप्रत्युपादानत्वासम्भवनं निमित्तत्वमेवेति व्युत्पत्तिवादे गदाधरेणोक्तम् । अत्रचोदाहृत-यायमा'यमेव मूलम् । एव च परतःप्रामाण्येन वेदस्यापौरुषेयत्वासम्भवात् 'अर्थेनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै.सू. १.१.५) इत्याद्युक्तदिशा व्यासजैमिनिसंमतस्वतःप्रामाण्यवेदापौरुषेयत्वयोरङ्गीकारे 'यतोवा' इति वाक्यस्य उक्तदिशा उपादानकारणरूपत्वासम्भवेन निमित्तकारणमात्रपरत्वेन अनुमानसिद्धार्थानुवादकत्वेन अपूर्वत्वभावेन कारणत्वतात्पर्यासम्भवेनानेन वाक्येन न ब्रह्मपदार्थनिर्णयश्च भवति इति शङ्कितुराशयः । तमिममाशयमभिप्रेत्याह—तद्धि न वाक्यप्रतिपाद्यम् अनुमानेन सिद्धेरिति ॥



## श्रीभाष्यम्

शास्त्रं यस्य योनिः कारणं प्रमाणं तच्छास्त्रयोनि । तस्यभावश्चास्त्रयोनित्वम् । तस्मात्  
ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणा

## श्रुतप्रकाशिका

प्रधानम् । \* ईश्वरप्रोक्ततया च तैर्वेदप्रामाण्यमङ्गीक्रियते अतः ईश्वरोपेक्षे तत्प्रणीतत्वाद्देदप्रामाण्यासिद्धिः । तसिद्धावीश्वर-  
सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयस्यात् ॥ ननु महाजनपरिग्रहाद्देदप्रामाण्यं वेदादीश्वरसिद्धिरिति नान्यो याश्रय इति चेत् न ; तत्परि-  
ग्रहस्य भ्रान्तिमूलव्युदासार्थं \* निर्दोषत्वज्ञानमूलत्वं वाच्यम् ; निर्दोषत्वज्ञानं च गुणयद्वक्तृत्वशानादित्यन्योन्याश्र-  
यस्यादेव । आतोक्तत्वमनुमानतसिद्धमिति नान्योन्याश्रय इति चेत् ततएवानुमानाद्देदवक्तृत्वेनेश्वरसिद्धे किं वेदेनेति  
शास्त्रवैयर्थ्यपरिहाराय तन्निरासः कार्यइत्यधिकरणारम्भो युक्तः ॥

## सू.३—शास्त्रयोनित्वात् १, १, ३

व्याख्यात्र-पराभिमतपठितपुरुषयोजनाव्यावृत्त्यर्थमाह—शास्त्रं यस्येति । यानि शब्दस्योपादानपरव्यावृत्त्यर्थं कार-  
णमात्रपरत्वमाह—कारणमिति । कथं सर्वकारणस्य ब्रह्मणश्चास्त्रं कारणमिति शङ्कायामुत्पत्तिकारणपरत्वव्यावृत्त्यर्थमाह—  
प्रमाणमिति । कारणवाचिनो योनिशब्दस्य कथं प्रमाणवाचित्वमित्यत्राह—ब्रह्मज्ञानेति । उपादक इव ज्ञापकेऽपि हतु-  
शब्दप्रयुज्यते तद्वद्वेत्त्वमिप्रायेण यानि शब्दप्रयोगसम्भवइति भावः । प्रमाणान्तरदेयवाद्ब्रह्म न शास्त्रवेद्यमिति पूर्वपक्षे  
सति शास्त्रवेद्यवादिति सिद्धान्तहेतोस्साध्याविशिष्टत्वं स्यादिति शङ्का परिहरन् पञ्चम्यन्तस्य हेतुवाचिपदस्य साध्यवाचिप-  
दान्वयं च दर्शयति । अत्यन्तेति । ब्रह्मणस्त्वरूपणेन्द्रियसंबन्धो नास्ति नच तल्लिङ्गस्य नापि लिङ्गलिङ्गस्यैवैत्यमिप्राये-  
णोक्तम् । अत्यन्तातीन्द्रियत्वेनेति । अतएवहि प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयतयेत्युक्तम् ॥

## गूढार्थसंग्रहः.

योनिः कारणं प्रमाणमिति । योनिशब्दस्य प्रसिद्ध्या उपादानकारणपरत्वं शब्देतरवाचिपदसमभिव्याहारात् स्वर-  
एव । शब्दवाचिपदसमभिव्याहारेण योनिशब्दः ज्ञापकहनुपरइत्याशयः । परैः योनिशब्दस्योपादकार्थकत्वेन ब्रह्मणो वेद-  
कारणपरत्वेन प्रथमं विवरणं कृत्वा 'अथवा यथोक्तं ऋग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणः यथावत् स्वरू-  
पाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणाजगदो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यमिप्रायः । शास्त्रमुदाहृत्य पूर्वसूत्र—'यतोवा इमा-  
नेभूतानि जायन्त इत्यादि' इति वर्णकान्तरे योनिशब्दस्य प्रमाणपरत्वमेवोक्तम् । अत्र शास्त्रशब्दोपादानेन 'अप्राप्ते तु  
शास्त्रमर्थयत्' ६.२.१८ इति जैमिनिस्वरूपसूत्रनमुनेन पूर्वपक्षशुक्तिः सूचितमवति । अत्र परैः शास्त्रशब्दस्य ऋग्वेदादि-  
कर्मर्थइति स्पष्टमुक्तम् । 'कर्ता शास्त्रार्थयत्त्वात्' इत्यादौ शास्त्रपदस्य विधिवाक्यपरत्वं सर्वसमतम् । 'यतोवा इमानि'  
इति वाक्यन्यापि विधायकत्वं पञ्चशादिकाऽदौ स्पष्टमुक्तम् । 'वेदाच्छास्त्रपरं नास्ति' इति प्रमाणानुसारेण 'वेदशास्त्रार्थ-  
तत्त्वज्ञानं—ब्रह्मभूयाय कन्वो' इति पूर्ववचनानुसारेण च 'वेदशास्त्रविरोधिना यस्तर्केणानुसन्धत्ते' इति (१२.१४६)  
मनुस्मृत्येऽपि वेदारूपशास्त्रमेव विवक्षितम् । अतश्च शास्त्रपदस्य वेदएवार्थः ॥ अत्यन्तातीन्द्रियत्वेनेत्यादि ।  
'अग्नेनुपगच्छे' इत्यादि (जै) सूत्रमत्र विवक्षितम् । अयमाशयः 'तत्त्वोपनिषदः पुरुषम्' 'विज्ञानमानन्दब्रह्म'  
(वृ) इत्यादि ध्रुव्या प्रागुक्तानिर्वचनानुसारेण जगत्कारणस्योपनिषत्तात्पर्यविषयमुक्तम् एतदनुगच्छेन 'यतोवा' इति

## श्रीभाष्यम्

विषयतया ब्रह्मणश्चात्रैकप्रमाणकत्वात् उक्तस्वरूपं ब्रह्म 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै.उ. आनन्द्य) इत्यादिवाक्यं बोधयत्येवेत्यर्थः ॥ ननु शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति प्रमाणान्तरवेद्यत्वाद्ब्रह्मणः । अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत् ।

## श्रुतप्रकाशिका

यदा व्यक्तिरूपेण दृष्टत्वं व्याप्त्यौपयिक दृष्टसजातीयत्वं च नास्तीति भावः । इन्द्रियप्रत्यक्षशब्दयोः करणतत्फलभूतज्ञानविषयता भिन्नार्थता । शास्त्रैकप्रमाणकत्वादिति । अन्वयइतिवदवधारणगर्भश्चास्त्रयोनिशब्द इति भावः । ततश्च प्रमाणान्तराविषयत्वं सिद्धयतीति प्रमाणान्तरागोचरत्वेन शब्देन प्रतिपादयितुं योग्यत्वात् ब्रह्म 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यविशेषो बोधयतीत्युक्तमस्ति । पूर्वस्मिन्सूत्रे यत्साध्यं तदेवास्मिन्सूत्रे मुख्यभेदेन साध्यतइत्येवकाराभिप्रायः ॥

अत्रापि 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यद्वारा शास्त्रविषयः सशयोऽप्यर्थसिद्धः साधारणविचारद्वयमनुसंधेयम् । यतो वा इमानीत्यादिवाक्यं किं ब्रह्मणि प्रमाण उत नेति सशयः । तदर्थं किं ब्रह्म मानान्तरगोचरः न वेति? तदर्थं किं सामान्योदृष्टमनुमानं जीवविलक्षणमवगमयति, नेति यदाऽवगमयति तदा मानान्तरगोचरत्वात् 'यतो वा इमानि' इति वाक्यं न ब्रह्म प्रतिपादयतीति वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्याभावात्तद्विचारानारम्भः पूर्वपक्षे फलितः । राद्धान्ते तु सामान्यतो दृष्टानुमानस्य जीवविलक्षणे प्रमाणत्वाभावेन ब्रह्मणो मानान्तरगोचरत्वात् 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यब्रह्मणि प्रमाणमिति सर्वत्रेदानीं वाक्यानां तत्र प्रामाण्याद्विचारस्यारम्भगीयत्वं फलितम् ॥

सूत्राश्रयोजनायां सप्रश्ने कर्तव्यममहान्तः । पूर्वपक्षी चोदयति । नन्विति । शास्त्रयोनित्वं शास्त्रप्रमाणकत्वम् । प्रमाणान्तरवेद्यत्वे कथं शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरित्यत्राह—अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवदिति । वृशब्दोऽवधारणे 'स्युरेव तु पुनर्वैचेत्यवधारणवाचिनः' इति हि नैषण्डुकाः । वैशम्पेया अनुभुसितग्राहित्वेनायत्नसाध्यत्वात् प्रत्यक्षस्य ज्ञाता प्रयोजनबोधकत्वं न दूषणं शास्त्रस्य बुभुसितग्राहित्वेन यत्नसाध्यत्वात् ज्ञाता प्रयोजनबोधकत्वं दूषणं, तथासति बह्व्यौष्यवायसदन्तसङ्ख्यावाक्येष्विव श्रवणादिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

श्रुतौ यच्छब्दस्य प्रमाणान्तरसिद्धार्थबोधकत्वेन तत्र प्रापकप्रमाणानि 'सदेव सोम्य' इत्यादिश्रुतयएवेत्यङ्गीकार्यम् । उपनिषदाक्यान्तरसिद्धकारणत्वानुपादेन ब्रह्मलक्षणविविधायकत्वे कारणत्वस्य न्यायसूत्रभाष्यादिषु प्रागुदाहृतेषु परिणामिकारणत्वादिदूषणपूर्वकं निमित्तकारणत्वमात्ररूपतायाः साधनेन श्रुतावप्यनुमानसिद्धनिमित्तकारणत्वमात्रबोधकत्वमेवेत्येवमाप्यङ्गीकार्यम् । तथासति वेदस्यापौरुषेयत्ववादिमते जगत्कारणत्वप्रतिपादकवाक्यानामनुवादत्वेन तेषामधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रमापकत्वं न स्यात् । पौरुषयतायादिसंमत ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वसाधकं यदनुमानं तदेवातवसाधकमिति आतप्रामाण्यादेदस्य प्रामाण्यामिति प्रमाणानां परतः प्रामाण्यं वेदस्य पौरुषेयत्वमिति शङ्कानिरासः वेदरूपशास्त्रस्य 'तत्त्वौपनिषदम्' इत्यादिश्रुत्युक्तदिशा जगत्कारणत्वप्रमाणत्वोपपादनेन अनुमानं जगत्कारणे प्रमाणं न भवतीति सूचनेन 'यतो वा' इत्यत्र श्रुत्यन्तरोक्तजगत्कारणत्ववादसम्भवेन पूर्वसूत्रार्थोऽपि सङ्गच्छतइति । एवञ्च जगत्कारणत्वस्य औपनिषदत्वेन तत्त्वैकनिष्ठत्वेन च तद्वतः ब्रह्मत्वानेर्णये ब्रह्मशब्दार्थोऽपि निर्णीतो भवतीति विषयासिद्धिः सुस्पष्टादिता भवति इति । अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवदिति ।

अशास्त्रात्तरसम्प्राप्तिः शास्त्रस्यात्र प्रकृत्यैकं तस्मादर्थेन सम्प्रेनागमे वा शास्त्रमर्थवत् ' ( तै. म. ६. ३. १. १ ) इति ।

### श्रीभाष्यम्

किं तर्हि तत्र प्रमाणम्? नतावत् प्रत्यक्षम् । तद्धि द्विविधमिन्द्रियसम्भवं योगसम्भवंचेति । इन्द्रियसम्भवं च बाह्यमान्तरसम्भवंचेति द्विधा । बाह्येन्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्य स्वविषयबोधजननानीति न सर्वार्थसाक्षात्कारतन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषविषयबोधजननानि । नाप्यान्तरं आन्तरसुखदुःखादिव्यतिरिक्तवह्निर्विषयेषु तस्य बाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि योगजन्यं भावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेऽपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्रत्वाच्च प्रामाण्यमिति कुतःप्रत्यक्षता ।

### श्रुतप्रकाशिका

आसिन्पूर्वपक्षे सिद्धान्त्येकदेशी मीमांसकश्चोदयति । किं तर्हीति । ईश्वरानुमाननिरासेन सिद्धान्तित्वं \* ईश्वरमात्रानभ्युपगमेन एकदेशित्वम् । किं तर्हि न किञ्चिदित्यर्थः कथमित्यत्राह—नतावदिति । सर्वत्रापि प्रत्यक्षस्यासामर्थ्यं दर्शयितुं सर्वद्वैविध्यमाह—तद्धीति । प्रथमस्यापि द्वैविध्यमाह—इन्द्रियसम्भवमिति । आन्तरशब्देन मनो विवाक्षितम् । प्रथमेऽनुपपत्तिमाह—बाह्येन्द्रियाणीति । \* देशसन्निकर्षे विशिष्टता विद्यमानशब्देन कालसन्निकर्षश्च सिद्धः । योग्यशब्देन स्वभावसन्निकर्ष उक्तः । अनेन घर्माघर्मादिव्यावृत्तिः, स्वशब्देन चक्षुरादिक प्रतिशब्दादिव्यावृत्तिः । यद्वा स्वविषयशब्देनातीन्द्रियस्य इन्द्रियान्तरविषयस्य च व्यवच्छेदः योग्यशब्देन तु तत्तदिन्द्रियप्रतिनियतरूपादिजातीयैः \*ऽप्यनुद्भवादियोग्यस्य व्यवच्छेदः ॥

द्वितीयं प्रतिवाक्ति नापीति । मनश्च न ताद्विषयबोधजनकमित्यर्थः । आन्तरसुखदुःखादीत्यन्तरशब्दः आन्तरद्वर्मपरः । तद्बाह्यत्वादेवहि मनसोऽप्यान्तरत्वम् । सुखदुःखादीत्यान्तरशब्दाविवरणम् आदिशब्देनेच्छाद्वेषादेशमनश्च परिग्रहः । व्यतिरिक्त्येत्नेन रूपादीनां \* बहिष्प्रमेवोपपादेतम् । योगजन्यस्यानुपपत्तिं दर्शयितुमाह—नापि योगेति । योगिप्रत्यक्षं किं पूर्वानुभूतानधिकविषय प्रमाण उतानुभूतानधिकविषयमिति त्रिकल्पमभिप्रेत्यानधिकविषयत्वे दूषणमाह—भावेनेति । अनधिकविषयतया स्मृतिमात्रत्वाच्चप्रमाणत्वमिति प्रमाणावान्तरविशेषत्व दूरोच्चारितमित्यर्थः । अनधिकवि

### गूढार्थसंग्रह

गृहनिर्माणादौलौकिकस्य कर्मणः प्रारब्धस्य समापनीयत्वावश्यताविचारदशाया गृहनिर्माणादेः प्रमाणान्तरेणैव प्राप्तिरित्युपपाद्य (शा) भाष्ये 'अप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत्' इति सूत्रसूत्रार्थः एव प्रदर्शितः । 'यद्यन्तरेण शास्त्रं न प्राप्येत ततश्चास्त्रमर्थवदिति प्रकल्प्येत' इति अत्राय सूत्रसूत्रार्थः अर्थत उपात्तः । 'अर्थेऽनुपलब्धे त प्रमाणं चादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इत्यत्र शास्त्रभाष्यम्—'तस्मात्तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात् न ह्येवमस्ति प्रत्ययान्तरमपक्षित्य पुरुषान्तरं वाऽयप्रत्ययो ह्यसौ' इति ॥ सेश्वरर्मासायामेतत्सूत्रविचरणावसर एव उपात्तज्ञतयोः स्वतः परतोवा प्रामाण्यमित्यत्र इतरपक्षान् बहुवर्णालेख्य प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परतः जैमिनिवादरायणसिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः । जैमिनिसूत्रसूत्रस्य अभिप्रेतं येन तत्समं वेदापौरुषेयत्वं स्वतः प्रामाण्यं चात्र विवक्षितम् । ऐकशास्त्रस्याभ्युपगमेन एतदर्थप्रयस्य व्याससमतत्वात् ॥

न्यायभाष्ये—'मन्त्राद्युर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमात्रप्रामाण्यात्' इत्यपौरुषेयत्वेन वेदानित्यत्वपक्षं दृष्टितस्य चापि वेदानित्यत्वपक्षेण सिद्धान्त्यभिप्रेतेन नैयायिकपक्षो न सम्भवतीत्याशङ्क्य तद्दूषणमुपेन नैयायिकपूर्वपक्षः स्थिरीकृत्यते तत्र किं तर्हि तत्र प्रमाणमिति सिद्धान्तिशङ्का ॥

### श्रीभाष्यम्

तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात् । तथासति तस्य भ्रमरूपता । नाप्यनुमान विरोधतो दृष्ट सामान्यतो दृष्टं वा । अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्यन्धावधारणविरहाच्च विशेषतो दृष्टम् । समस्तवस्तुसाक्षात्कारतन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषनियत सामान्यतो दृष्टमपि न लिङ्गमुपलभ्यते ॥ ननु च जगत कार्यत्वं तदुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकत्वव्याप्तम् अचेतनारब्धत्वं जगतश्चेतनाधीनत्वेन व्याप्त सर्वे हि घटादिकार्ये तदुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृक दृष्टम् । अचेतनारब्धमरोगं स्वशरीरमेकचेतनाधीनं च ।

### श्रुतप्रकाशिका

पयन्मुपपात्यति । तदतिरिक्तविषयत्वेकारणाभावादिति । कारणमिन्द्रियसम्बन्ध \* प्रमितिकारणाभावाच्चप्रामाण्यमित्यर्थः । \* अधिकविषयः दूषणमाह—तथासतीति । इन्द्रियसम्बन्धाभावऽप्यनुभूताधिकविषयः तस्य दोषमूलकत्वेन भ्रान्तितैत्त्यर्थः । द्विविधानुमानागोचरमाह—नार्पीत्यादिना । नियत व्याप्तम् ॥

सिद्धान्तिच्छायया चोदयन्त वादन पूर्वपक्षप्रदर्शनी चोदयति । ननुचेति । नैयायिकैर्दृष्टि-रुक्तं अनुमानकर्तृत्वात् पूर्वपक्षेकदेशे व सम्प्रदान भाक्ता प्रयत्नन निनियोगः । एककर्तृक प्रसिद्धयर्थमनुमानान्तरमाह—अचेतनेति । उपादानाद्यभिज्ञकर्तृकत्वे दृष्टान्तमाह—सर्वेति । एकचेतनाधीनं च दृष्टान्तमाह—अचेतनेति । रुग्णपरशराद्यवृत्त्यर्थः-

### गूढार्थसंग्रह

नाप्यनुमान विशेषतो दृष्ट सामान्यतो दृष्टवेत्यादि । 'त्रिविधमनुमान पूर्ववच्छेषव सामा यता दृष्ट च' इति (न्या सू १.१.५) इति यावत्सूत्रम् । अत्र न्यायभाष्यम्—'पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयो अयतगदर्शनेन अन्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमान यथा धूमनाग्निरिति सामान्यतो दृष्टनाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिना सन्नन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते' इति । एव शास्त्रभाष्येऽपि—'तत्तु द्विविध प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्ध सामान्यतो दृष्टसम्बन्धचेति । प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्ध यथा धूमाकृतिदर्शनादग्निप्रकृतिविज्ञानम् । सामान्यतो दृष्टसम्बन्ध यथा—देवदत्तस्य गति पूर्विका दश नारप्राप्तिमुपलभ्य गतिस्मरणम् इति' प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धमत्र विशेषतो दृष्टसम्बन्धमिति विन्ध्यवासी स्वीचकारति वार्तिके उक्तं यथा—'विशेषो दृष्टमन्त्र लिखित विन्ध्यवासिना' इति । न्यायपरिशुद्धावप्युक्तमाचार्यपादै—'अस्मदादिप्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापक विशेषतादृष्ट, नदयोग्यार्थ सामान्यतो दृष्टमिति परोक्तविभागस्यापि विषयस्तिष्ठो भवति' इति ॥

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया—'एतावदभिमतमाचार्यस्य त्रयाहि एतद् भावा भवति जगति प्रसिद्धचेत्-कर्तृका यथा । प्रासादादालगापुरनारणादयः प्रसिद्धविषयया यथा परमाण्वाकाशादयः । सद्विद्यचेतनकर्तृका यथा तनुतरुमहीधरादयः । तत्र प्रमेयवादादिप्रतिपत्तेर्वा साधकबाधकप्रमाणाभाव चेतनकर्तृकत्वे सशयः । नच प्रत्यक्षानुपलब्धमात्रमत्र बाधकं भविष्यमिति । स्वभावविप्रकर्षिणा सतामपि प्रत्यक्षानुपलब्धे परमाण्वादीनाम् । तथा च 'विवादाध्यासितास्तरुमहीधरादय उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमयात् अचेतनोपादानवादा यदुत्पत्तिमदचेतनोपादानकं वा तत्सर्वमुपादानाभिज्ञपूर्वकं यथा प्रासादादि, तथा च विवादाध्यासिता तनुतरुमहाधरादयः तस्मात्तथेति । नचैषामुत्पत्तिमत्वमसिद्धम् । सावयवत्वेन तसिद्ध' इति इमं भाष्यं शङ्कते—ननुच जगत कार्यत्वमित्यादिना ॥



## श्रीभाष्यम्

सावयवत्वेन जगतः कार्यत्वम् । उच्यते-किमिदमेकचेतनाधीनत्वं न तावत्तदायत्तोत्पत्तिस्थितित्वं दृष्टान्तोहि साध्यविकलस्यात् । न ह्यरोगं स्वशरीरमेकचेतनायत्तोत्पत्तिस्थिति तच्छरीरस्य भोक्तृणां भार्यादिसर्वचेतनानामदृष्टजन्यत्वात्तदुत्पत्तिस्थित्योः । किंच शरीरावयवविनस्यावयवसमवेततारुपास्थितिरवयवसंश्लेषविशेषव्यतिरेकेण न चेतनमपेक्षते प्राणनलक्षणात् स्थितिः पक्षत्वाभिमतं क्षितिजलधिमीधरादौ न सम्भवतीति पक्षमपक्षानुगतामेकरूपां स्थितिं नोपलभामहे । तदायत्तप्रवृत्तित्वं तदधीनत्वमिति चेत् अनेकचेतनसाध्येषु गुरुतररथशिलामहीरुहादिषु व्यभिचारः । चेतनमात्राधीनत्वे सिद्धसाध्यता ॥

किञ्च उभयवासिद्धानां जीवानामेव लाघवेन कर्तृत्वाभ्युपगमो युक्तः । नच जीवाना-

## श्रुतप्रकाशिका

वरोगत्वशब्दौ । कार्यत्वेसिद्धेष्टुपादानाद्यभिज्ञकर्तृत्वसिद्धिरित्यत्राह-सावयवत्वेनेति । अनेनाचेतनारब्धत्वहेतोश्चासिद्धिश्चाङ्गापरिहारोऽपि फलितः । एव पूर्वपक्षेकदेशिनोक्तमर्थं सिद्धान्त्येकदेशी दूषयति । उच्यतइत्यादिना । बुद्धिस्थित्वात्प्राप्त्यात्मननुमानं दूषयति । किमिदमिति । एकचेतनाधीनत्वंनाम किं तदायत्तोत्पत्तिस्थितित्वम् उत तदायत्तप्रवृत्तित्वमिति विकल्प्य प्रथमेऽपि तदायत्तोत्पत्तिस्थितित्वनाम किं तदिच्छाधीनोत्पत्तिस्थितित्वम् उत तददृष्टाधीनोत्पत्तिस्थितित्वमिति विकल्पोऽभिप्रेतः । तेषां विकल्पानां धेयार्थः किंशब्दः । तत्र तदिच्छाधीनोत्पत्तिस्थितित्वं न दृष्टमिति साध्यवैकल्यं दूषणं प्रसिद्धमिति बुद्ध्या द्वितीयशिरो दूषयति दृष्टान्तोहीति । साध्यविकलत्वं विवृणोति नहीति । कुतइत्यत्राह-तच्छरीरस्येति

यद्वा न तावदित्यादिग्रन्थः तदिच्छाधीनोत्पत्तिस्थितित्वतददृष्टाधीनोत्पत्तिस्थितित्वयोस्ताधारणः । तद्वेच्छाधीनत्वपक्षे साध्यवैकल्यं स्फुटमिति तददृष्टाधीनत्वपक्षे साध्यवैकल्यं विवृणोति । नहीति । उत्पत्तिस्थितीहि सहदूषिते । अथ स्थितिं विकल्प्य दूषयितुमाह-किंचेति । सावयवसमवेततारुपास्थिभ्युक्तिर्वैशेषिकादिमतानुसारेण नचेतनमपेक्षतइति । चेतनापेक्षाहि स्वरूपतो वास्यात् अदृष्टद्वारेण वा इच्छाद्वारेण वा तत्र स्वरूपमात्रमकिञ्चत्कर तत्सद्भावेऽपि विनाशदर्शनात् अदृष्टाधीनत्वे प्रागेवोत्तरं दत्तमितीच्छाधीनत्वपक्षोऽनेन दूषितः चेतनेच्छा नापेक्षतइत्यर्थः । आविनाशाकालादशेषित्वलक्षणा स्थितिरप्यनेन दत्तोत्तरेत्यभिप्रायेण तदनुक्तिः । अथोक्तप्रकारविकल्पदूषणानिरस्तमपि शिरोऽन्तरं दूषणान्तरसद्भावाद्गुणदाय दूषयति प्राणसेति । प्राणनलक्षणा पञ्चवृत्तिप्राणसहितत्वलक्षणा । नोपलभामहेइति । कालात्ययापदेशइत्यभिप्रायः ॥ तदायत्तप्रवृत्तित्वमेकचेतनाधीनत्वमितिपक्षं शङ्कते तदायत्तेति । अचेतनारब्धत्वहेतोरनैकान्त्यमाह-अनेकेति । अनेकचेतनसाध्येषु अनकचेतनप्रत्यक्षत्वार्थः । चेतनैकत्वाविवक्षायां सिद्धसाध्यतामाह-चेतनमात्रेति । एवमेकचेतनाधीनत्व निरस्तम् । कार्यं वहेतोर्लाघवतर्कमुत्तेन सिद्धसाध्यतामाह-किंचेति । उभयवासिद्धानामिति लाघवस्य हेतुवक्त. 'कलमकल्प्यविरोधेतु युक्त.कलमपरिमहः' इति ह्याहुः सभक्त्यागतौहि लाघवतर्कं गत्यन्तरासमवेत्तधिककल्पनं न दोषायेत्यत्राह-नचेति । कुतइत्यत्राह-

## गूढार्थसंग्रहः

नचैतावता मीमांसकानां क्षेत्रज्ञेन चेतनेन चेतनकर्तृत्वसिद्धेः पृथिव्यादीनां सिद्धसाधनम् । चेतन्येऽपि तेषामुपादानानाभिज्ञत्वात् तज्ज्ञत्वेवा स एवासाकमीश्वरः । ईदृशमस्तु सिद्धसाधनं कीदृशं ज्ञेयं विना न वाञ्छितसिद्धिमिच्छेत्' इत्यादिना न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकोक्तं पर्यालोचयति-नच जीवानामित्यादिना ॥



### श्रीभाष्यम्

मुपादानाद्यनभिमतया कर्तृत्वासम्भवः, सर्वेषामेव चेतनानां पृथिव्याद्युपादानयागाद्यु-  
पकरणसाक्षात्कारसामर्थ्यात् । यथेदानीं पृथिव्यादयो यागादयश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते । उप-  
करणभूतयागादिशक्तिरूपापूर्वादिशब्दवाच्यादृष्टसाक्षात्काराभावेऽपि चेतनानां न कर्तृ-  
त्वानुपपत्तिः तत्साक्षात्कारानपेक्षणात्कार्यारम्भस्य । शक्तिमत्साक्षात्कार एव हि कार्य-  
रम्भोपयोगी । शक्नेस्तु ज्ञानमात्रमेवोपयुज्यते न साक्षात्कारः नहि कुलालादयः कार्योप-  
करणभूतदण्डचक्रादिवत्तच्छक्तिमपि साक्षात्कृत्य घटमणिकादिकार्यमारभन्ते । इहतु चेत-  
नानामागमावगतयागादिशक्तिविशेषाणां कार्यारम्भो नानुपपन्नः । किञ्च यच्छक्यक्रियं  
शक्योपादानादि विज्ञानं च तदभिज्ञकर्तृकं दृष्टम् ॥ महीमहीधरमहार्णवादित्वशक्यक्रिय-  
मशक्योपादानादिविज्ञानंचेति न चेतनकर्तृकम् । अतो घटमणिकादिसजातीयशक्यक्रिय-

### श्रुतप्रकाशिका

सर्वेषामिति । पूर्वकाले चेतनानां साक्षात्कारसामर्थ्यं दृश्यमाननीत्योपपादयति । यथेति । इदानीमिति । एवं पूर्व-  
कालेऽपीतिभावः ॥

धर्माधर्मसाक्षात्काराभावात्कर्तृत्वासम्भवमाशङ्क्याह—उपकरणेति । यागादिशक्तिरूपेति । यागादिजन्यस्वाभा-  
तिशयरूपेत्यर्थः । कुतइत्यत्राह—अतस्साक्षात्कारेति । तर्हि घटादिनिर्माणे मृदादिसाक्षात्कारानियमः कथमित्यत्राह—  
शक्तिमदिति । शक्तिमच्छब्देन शक्तिसम्बन्धुच्यते । जन्यजनकभावस्य च सम्बन्धविशेषरूपत्वात् शक्तिरूपादृष्टजनकया  
गादिषु शक्तिमच्छब्दप्रयोगः शक्तेरप्यपेक्षितत्वसाभ्यास्तत्साक्षात्कारोऽनपेक्षितः, अन्यथाऽनवगतवस्तुशक्तयोऽपि पुरुषास्तैस्त-  
त्कार्यं कुर्युरित्यत्राह—शक्तेस्त्विति तु शब्दःशक्तिमत इव ज्ञातव्यत्वेऽपि विशेष्योत्तनार्थः शक्तिसाक्षात्कारानुपयोगमुपपाद-  
यति नहीति । शक्तिसाक्षात्कारानपेक्षत्वेऽपि शक्तिज्ञानमात्रमपेक्षितम् तच्च दण्डचक्रादिष्वन्यव्यतिरेकवशां सिद्धयति ।  
यागादौतु कथमित्यत्राह—इहत्विति । एव सिद्धसाधनत्वमुक्तम् ॥

अथ कार्यत्वहेतोरुपाधिद्वयेन सोपाधिकत्वमाह—किंचेति । साधनाव्यापकत्वमाह—महीमहीधरेति । साध्य  
समव्याप्तत्वमाह—अतइति । सोपाधिकत्वेति साध्येन हेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिरस्यादियुपाधेर्दूषणत्वम् । अदृष्टवज्जीवकर्तृ-

### गूढार्थसंग्रहः

चेतनानामित्यादि—कार्यारम्भो नानुपपन्न इत्यन्तम् । अनया विधया जीवमादाय सिद्धसाधनोपपादने  
अस्यैव ईश्वरत्वमितितु नैव शक्यं वक्तुम् । दुःखादिसङ्घयोग्यत्वेनानुभवसिद्धेश्वरवासम्भवात् 'आगमावगतया-  
गादिशक्तिविशेषाणां' इत्युक्तया आगमेनेतेषामीश्वरत्वं नेति सूचितं भवति ॥ 'स्यादेतत् नोपत्तिमात्रमुपादानाभिज्ञक-  
र्तृकत्वेन व्याप्तम् । अपितु यदस्मदादिशक्यज्ञानोपादानादि, नच तथा तनुभुवनाद्युपत्तिमदपि तस्माद्व्याप्तिविरहात् न  
तत्पूर्वकमिति तदयुक्तम् । उत्पत्तिमत्त्वनमुपादानाद्यभिज्ञकर्तृकत्वयोः प्रथममन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तौ सिद्धाया तदुपादा-  
नादिशक्यज्ञानत्वकल्पनायाः कार्यज्ञानविषये व्यवस्थापनात् व्याप्तिबलेन ज्ञानसामान्यसिद्धौ पक्षधर्मताबलेन तन्नित्यवसि-  
द्धिरित्युक्तम्' (न्या.वा.ता.टी) इत्युक्तार्थो न घटते । शक्यक्रियत्वशक्योपादानाभिज्ञत्वयोः साध्यव्यापकत्वसाधनाव्याप-  
कत्वाभ्यामुपाधित्वेन कार्यत्वहेतोः सोपाधित्वादित्याह—यच्छक्यक्रियमित्यादिना ॥

## श्रीभाष्यम्

शक्योपादानादिविशानवस्तुगतमेव कार्यत्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वसाधनेन प्रभवति ॥

किंच घटादिकार्यमनीश्वरेणाल्पज्ञानशक्तिना सशरीरेण परिग्रह्यताऽनातफामेन दृष्टमिति तथाविधमेव चेतनं कर्तारं साधयन्नयं कार्यत्वहेतुस्त्रिपाधयिपितपुरुषसार्थस्यैश्वर्यादिविपरीतसाधनादिरुद्धस्यात् । नचतायता सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः लिङ्गिनि प्रमाणान्तरगोचरे लिङ्गवलोपस्थापिता विपरीतविशेषास्तत्प्रमाणप्रतिहतगतयो निवर्तन्ते । इह तु सकलेतरप्रमाणाविषये लिङ्गिनि निखिलनिर्माणचतुरे अन्यव्यतिरेकाद्यगताविनाभावनियमा धर्मास्सर्वेष्वप्यविशेषेण प्रसज्यन्ते निवर्तकप्रमाणाभावात्तथैवावतिष्ठन्ते । अत आगमादृते कथमीश्वरस्सेत्स्यति ॥ अत्राहुः सावयवत्वादेव जगतः कार्यत्वं नप्रत्याख्यातुं

## श्रुतप्रकाशिका

कत्वव्यावृत्त्यर्थं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वसाधनइत्युक्तम् । अथ कार्यत्वहेतोर्विशेषाविरुद्धत्वमाह—किंचेति । अनीश्वरेण कर्मवश्येन परिग्रह्यता उपकरणमेत्यर्थः । सर्वानुमानोच्छेदमाशङ्क्याह—नचेति । कथमित्याह—लिङ्गिनीति । पक्षेऽपि तथास्यादित्याह—इहत्विति । तुशब्दाभिप्रेत वैषम्यमाह—निवर्तकेति । सिद्धान्त्येकदेशिमत्तमुपसहरति अतइति । सिद्धयतिचेन्नागमादृतेमानमित्यर्थः । अतः सिद्धसाधनत्वसोपाधिकत्वविरुद्धत्वेदूषितत्वादित्यर्थः ॥

अथ साक्षात्पूर्वपक्षिण प्रसीति । अत्राहुरिति । कार्यत्वहेतोस्वरूपासिद्धिमाशङ्क्य व्युदस्यति । सावयवत्वादेवेति । पूर्वं प्रस्तुतादेवेत्यर्थः, अनेन हेत्वन्तरसद्भावोऽपि सूचितः । एव कण्ठोक्तयाऽभिप्रायेण च सिद्धान् हेतुप्रयोगतो

## गूढार्थसमूहः

‘अतएव न विरुद्धता हेतोः एवाहि साभवेत् । यद्युपादानानभिज्ञकर्तृकाः पटादयो भवेयुः नचैतत्परेषामपि समतम् । स्यादेतत् अर्थाक्षितस्य विशेषस्य शरीरादिमत्वादेः प्रमाणविशेषादिरुद्धता । यथा तृणादिविकारकारि वादमिमद्विममित्यत्र बहिर्मत्वाक्षिततृणादिविकारोपयुक्तग्रहिगतोद्भूतोऽण्मप्यक्षिविरुद्धशीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भाद्धाधनो विरुद्धोहेतुः । तथाह्यस्य क्षित्याद्युपादानविषय ज्ञानमात्मनःसन्निकर्षादिकारणक नासति तस्मिन्भवतीति तदनेनाक्षितम् । तच्चात्र प्रमाणवाधितम् । तन्निवृत्तौ ज्ञानमस्य निवर्तेत । उष्णत्वोद्भूतिनिवृत्तावित्र दाहको बहिरवश्याय इति । अव्यापकनिवृत्तौ अव्याप्यनिवृत्तेरयोगात् । कारणचेदव्यापक कार्यस्य हन्तहतातर्हि व्याप्यव्यापकसकथा । भवेदेतद्यदि क्षित्याद्युपादानज्ञानमप्यस्य कार्य स्यात् नित्य तदभ्युपेयतइति नशरीरादिनिवृत्तावपि निवर्तितुमर्हति ’ इत्याद्युक्त न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाम् । अयमर्थो नघटतइत्यभिप्रेत्याह—किंच घटादिकार्यमित्यादिना ॥ अल्पज्ञानशक्तिना सशरीरेणेत्यनेन नित्यज्ञानवतोऽशरीरस्यानुमानेन जगत्कर्तृत्व नसभवतीति सूचितम् । हेतुना साध्यासिद्धिः व्याप्तिज्ञानबलादेव यथाहि व्याप्तिर्गृहीता तथैव हेतुसाध्य साधयति नित्यज्ञानवदशरीरकर्तृत्वव्याप्तेरग्रहेण पक्षधर्मतामाश्रयेन नतसिद्धिः । पक्षधर्मताश्रयेन सिद्धयनङ्गीकारे ‘अन्यथा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् ’ इति न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग उक्तः तमेवाशङ्क्य निरस्यति—नचैवावता इत्यादिना ॥

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया वाचस्पत्याशयमेव विशदीकृत्य तदुक्तमनुमानेन जगत्कर्तृ साधनप्रक्रिया स्थापयति—अत्राहुरित्यादिना—नैतद्वाक्यं ब्रह्मप्रतिपादयति इत्यन्तेन ॥

## श्रीभाष्यम्

शक्यते । भवन्ति च प्रयोगाः विवादाध्यासितं भूभूधरादि कार्यं सावयवत्वात् घटादियत्, तथा । विवादाध्यासितमवनिजलधिमहीधरादि कार्यं महत्त्वेसति क्रियावत्त्वात् घटयत्, तनुभुवनादिकार्यं महत्त्वेसति मूर्तत्वाद्वटवदिति । सावयवेषु द्रव्येष्विदमेव क्रियते नेतरदिति कार्यत्वस्य नियामकं सावयवत्वातिरेकि रूपान्तरं नोपलभामहे । कार्यत्वप्रतिनियतं शक्यक्रियत्वं शक्योपादानादिविज्ञानंचोपलभ्यतइतिचेत् न कार्यत्वेनानुमतेऽपि विषये ज्ञानशक्ती कार्यानुमेये इत्यन्यत्रापि सावयवत्वादिना कार्यत्वं ज्ञातमिति तेच प्रतिपन्ने एवेति न कश्चिद्विशेषः । तथाहि घटमणिकादिषु कृतेषु कार्यदर्शनानुमितकर्तृगततन्निर्माणशक्तिज्ञानः पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्रसन्निवेशं नरेन्द्रभवनमालोकयावयवसन्निवेशविशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चित्य तदानीमेव कर्तुस्तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्यमनुमिनोति । अतस्तनु-

## श्रुतप्रकाशिका

विशृणान् । भवन्तीति । विवादाध्यासितपदविवरणं भूभूधरादिपद आदिशब्दोपात्तव्यक्तिसम्राहकं विवादाध्यासितपदम् यदा प-रीकृतेष्वेव सप्रतिपन्नव्यवच्छेदाशयं विवादाध्यासितशब्दः । सन्निहि ग्रातपूरणनिष्पायाः पृथिव्यशाः सगरमुनादि-निष्पायास्तमुद्राशाः, अन्नानिष्पायाः पर्वतादयश्च, प्रलयेऽपि जलधेरवस्थानात्, सर्वाभावेऽपि सप्तदशरीरावस्थानाच्च, \* तयोरकार्य-वशङ्काद्योतनाय प्रतिज्ञावाक्यार्तनेन जलधितनुशब्दोपादानम् । द्वितीयतृतीयप्रयोगयोर्मध्य महत्त्वपदेन परमाणु-यावृत्तिः । क्रियापत्तमूर्त-वशब्दाभ्यां गगनादिव्यावृत्तिः । अवनिमहीधरशब्दमध्ये जलधिशब्दनिवेशस्तद्वत्तयोरपि कथ्यसद्भाषणार्थः । प्रसिद्धोद्यत्पातादौ भूभूधरकथः ॥

ननु तनुपक्षीकारो न युक्तः अस्मदादिशरीरे सिद्धसाधनादीश्वरशरीरेत्याश्रयासिद्धेः । नैवम् तनोर्विशेषतः पक्षीकारनिर्बन्धाभावात् । तदुपादानतु स्वपक्षसप्रतिपन्नस्येश्वरशरीरस्यापि कार्यताशपनार्थम् । \* यदा सावयवत्वादेवेत्यादेरयमाशयः न सावयवत्वादुत्पत्तिमत्त्वं प्रसाध्य तत्सकर्तृकत्वं साध्यते, अपितु सावयवत्वेनैव कृतिसाध्यत्वरूपकार्यत्वसाध्यते तृतिश्च न निराश्रयेति तदाश्रयः कर्ता सामान्यतस्सिद्धयतीति । नन्वेवमर्हि कार्यत्वात् सकर्तृकत्वे साध्ये हेतोस्साध्याविशिष्टता स्यात् । न कृतिसाध्यत्वहेतुः उपादानाद्यभिज्ञकर्तृकत्वं साध्यमिति वैपम्यात् । अतएव ह्युत्तरत्र क्रियतइत्युक्तं नोपयतइति । कार्यत्व निश्चित्य तदानीमेव कर्तुस्तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्यमनुमिनोतीत्यादि च, एव च कृतिसाध्यत्वलक्षणे साध्ये \* शरीरस्यापि विवादपरत्वात्क्षनोपपत्तिः ॥

अथ सोपाधिकत्वं सामान्येन प्रतिक्षिपति । सावयवेऽपि । सावयवत्वमुपलक्षणं महत्त्वेसति क्रियावत्त्वं महत्त्वेसति मूर्तत्वं च सावयवत्वसमानाश्रयं तत्समव्याप्तमिति तयोरनुपाधिपरिहारसिद्धिः । रूपान्तरमाकारान्तरं शङ्कते— कार्यत्वेति । परिहरति नेति । कार्यत्वेनानुमते सपक्षे अन्यत्र पक्षे सपक्षेऽपि घटादौ कार्यत्वानुमेये ज्ञानशक्ती तद्वत् सपक्षेऽपि कार्यत्वस्य प्रतिपत्त्यात् \* ज्ञानशक्ती अनुमीयेते इति नाशक्यक्रियत्वमशक्यज्ञानत्वचेत्यर्थः । तथैव दर्शयति— तथाहीति । किं तदकर्तुरपि शक्यक्रियत्व शक्योपादानादिज्ञानत्वमुपाधिः उत तत्कर्तुं शक्यक्रियत्व शक्योपादानादिज्ञानत्वम् । प्रथमेकत्वे सपक्षानुयायि वाभावाज्जोपाधिकत्वम् । द्वितीयेकत्वे पक्षेऽपि विद्यमानस्याज्जोपाधिकत्वम् सर्वसपक्षानुयायी-पक्षेष्वपि विद्यमानोद्यत्पाधिरित्यभिप्रायः । कर्तुं तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्यमित्यनेनाभिप्रेतोऽयं विस्मयः । ततः किमित्यत्राह—अत इति । अतः सावयवत्वादिहेतोर्निरुपाधिकत्वादित्यर्थः । एव सावयवत्वात् कृतिसाध्यत्वरूपे कार्यत्वे साध्ये शक्यक्रिय-

## धीभाष्यम्

भुवनादेः कार्यत्ये सिद्धे सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणादिनिपुणः कश्चित्पुरुषदिशेषस्त्रिदश  
त्येव ॥ किंच सर्वचेतनानां धर्माधर्मनिमित्तेऽपि सुखदुःखोपभोगे चेतनानधिष्ठितयोस्त-  
योश्चेतनयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः । सर्वकर्मानुगुणसर्वफलप्रदानचतुरः कश्चिदाश्चर्यः ।  
वर्धकिनाऽनधिष्ठितस्य वास्यादेरचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिक्लृप्तमिधानेऽपि गृपादिनि-  
र्माणनाशतत्वादर्शनात् । रीजाङ्कुरादेः पश्चान्तर्भावेण तैर्व्यभिचारापादानं श्रोत्रियदेताळा-  
नामनमिश्रतायिजृम्भितम् । ततएव सुखादिभिर्यव्यभिचारवचनमपि तथैव, नच लाघवेनो-  
भयवादिसंप्रतिपन्नक्षेत्रज्ञानामेव ईदृशाधिष्ठातृत्वकल्पनं युक्तम् । तेषां सूक्ष्मव्यवहितवि-  
प्ररूपदर्शनाशक्तिनिधयात्, दर्शनानुगवहि सर्वत्र कल्पना । नच क्षेत्रज्ञवदीश्वरस्याशक्ति-  
निश्चयोऽस्ति । अतः प्रमाणान्तरतो न तस्मिन्नुपपत्तिः समर्थवर्तुपूर्वकत्वनियतकार्यव-

## श्रुतप्रकाशिका

त्वादिक उपाधिः परिहृतः । अनेनोत्पत्तिमत्त्वा सकर्तृकत्वे साध्य उपत्तिमत्त्वहेतुरपि निरुपाधिको भवति । साध्यमत्त्वानु-  
त्पत्तिमत्त्वे साध्येनुराधेर्पूर्वाद् व्यभिचारश्च सिद्धः, नाहं पूर्वादिकत्वग्रामानोऽस्माददेशकव्यङ्ग्यः ॥

• सिद्धसाधनत्वनिरासार्थमनुमानान्तरप्रदर्शनार्थेनाह— किंचेति । धर्माधर्मनिमित्तेपीति सिद्धसाधनवशङ्कात्  
चनम् । अनधिष्ठितयोरनुपपत्तेरिति अन्यव्याप्तिस्थेरे व्यतिरेकव्याप्युक्तिः । दृष्टान्तमाह—वर्धकिनेति । वास्यादेयू-  
पायकरणत्वस्य चेतनव्यतिरिक्तसहकार्यन्तराभावप्रयुक्तवशङ्काव्यावृत्त्यर्थं देशकालाद्यनेकपरिक्लृप्तमिधानेऽपि युक्तम् धा ।  
धर्मा स्वसाक्षात्कारिचेतनानाधिष्ठातायेव कार्यकरौ अचेतनत्वात् वास्यादिचदित्नुमानशरीरम् । जीवैर्धर्माधर्मसाक्षात्कारतत्पू-  
र्वकतदधिष्ठानायोगाजीवविलक्षणसिद्धिः । अनधिष्ठितस्य कार्यकरत्वायोगात् जीवैरसाक्षात्कारतत्पूर्वकाधिष्ठानायोगश्च सिद्ध-  
साधनं च परिहृतम् । कर्तुरभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गरूपस्य निषेधे बाधकतर्कस्य पुरुषसुखादिप्रयोजकदृष्टेन कार्यापरुप-  
पत्तिरिति याऽन्यथासिद्धिस्साऽप्यनेनैव परिहृता भवति ॥

अचेतनस्याप्यनधिष्ठितस्य बीजादेरङ्कुरोत्पादकवददर्शनाद्व्यभिचारइति शङ्का परिहरति । बीजाङ्कुरेति । कार्यवह-  
तोरङ्कुरादौ व्यवहारपरिहारश्चाङ्कुरशब्दोपादानेन परितः । चेतनानभिसंहितपुत्काशु पादकैश्चेतनानधिष्ठितैस्वयमचेतनै-  
स्सुखादिभिरचेतनत्वहेतोर्व्यभिचारमाशङ्क्य परिहरति । ततएवेति । आदिशब्देन दुःखादिक चेतनानधिष्ठित सुखाद्यु-  
त्पादक मनःप्रभृति च निषेधितम् । एतेन स्वेच्छान्तराणोत्पद्यमानैस्सुखदुःखाविशेषस्तकार्यैश्च पुच्छकाङ्कभ्यांभिः कार्यत्व-  
हेतोः व्यभिचारश्च परिहृतो भवति ॥

लाघव-यायेन हेतोरन्यथासिद्धेऽसिद्धसाधनत्वमाशङ्क्य परिहरति । नचेति । कुतश्त्याकङ्क्षायामीदृशशब्दाभिप्रेत-  
हेतुं विवृणोति । तेषामिति । एकेन्द्रियकल्पनस्य लाघवेऽप्येकेन्द्रियस्य शब्दादिसकलविषयग्रहणाशक्तेर्ह्यनेकेन्द्रियकल्पनम्  
तस्माल्लाघवार्थमशक्तस्य कार्यकरत्वकल्पनमयुक्तमिति भावः । तदेवोपपादयति दर्शनेति । उपपन्नमेवहि कल्पनीयं नच  
जीवानां सूक्ष्मव्यवहितादिदर्शनशक्तिर्दृष्टेयर्थः । शक्तिमत्साक्षात्कारएवापक्षितः नतु शक्तिसाक्षात्कारइतीदमपि प्रयुक्तं  
सूक्ष्मव्यवहितेत्यादिना शक्तिभतामपि परमाणादीनां क्षेत्रज्ञेन साक्षात्कारासिद्धेः । ईश्वरं न तथाऽनुपपत्तिरित्याह नचेति  
अवान्तरानुमानेनेश्वरसिद्धिं निगमयति । अतइति ॥

व्याप्तिबलात्कार्यानुगुणज्ञानशक्तिमान्कर्ता सिद्धयतु तस्य कथं क्षेत्रज्ञवैलक्षण्यं शानहि देहेन्द्रियादिसापेक्षमिति श-  
ङ्काया पक्षधर्मतावलसिद्धमर्थमाह—समर्थेति । अस्वाभाविकत्वे कर्मानुगुणपरिमितज्ञानशक्तिमत्त्वं स्यादिति तस्मादा-



## श्रीभाष्यम्

हेतुना सिध्यन् स्वाभाविकसर्वाधर्मसाक्षात्कारनश्रियमनशक्तिसम्पन्न एव सिध्यति । यत्त्व  
नैश्वर्याद्यापादनेन धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वमुद्गीतम् तदनुमानवृत्तानभिमतत्वनियन्धनं  
सपक्षे सहदृष्टानां सर्वेषां कार्यस्याहेतुभूतानां च धर्माणां लिङ्गिन्यप्राप्तेः ॥

एतदुक्तं भवति केनचित् किञ्चित्क्रियमाणं स्वोत्पत्तये कर्तुंस्वनिर्माणसामर्थ्यं स्यो  
पादानोपकरणज्ञानं चापेक्षते, न त्वन्यासामर्थ्यमन्याज्ञानं च हेतुत्वाभावात् । स्वनिर्माण-  
सामर्थ्यस्योपादानोपकरणज्ञानाभ्यामेव स्वोत्पत्तावुपपत्त्यायां संबन्धितया दर्शनमात्रेणाकि-  
ञ्चित्करम्यार्थान्तरज्ञानादेर्हेतुत्वकल्पनायोगादिति ॥ किञ्च क्रियमाणवस्तुस्यतिरिक्तार्थाज्ञा-  
नादिकं किं सर्वविषयं क्रियोपयोगि उत कतिपयविषयम् । न तावत्सर्वविषयं नहि कुला-  
लादिः क्रियमाणव्यतिरिक्तं किमपि न जानाति । नापि कतिपयविषयं सर्वेषु कर्तृषु तत्तद-  
ज्ञानाशक्त्यनियमेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात् । अतः कार्यत्वस्यासाधकानामनीश्व-  
रन्वादीनां लिङ्गिन्यप्राप्तिरिति न विपरीतसाधनत्वम् ॥ कुलालादीनां दण्डचक्राद्यधिष्ठानं  
शरीरद्वारेणैव दृष्टमिति जगदुपादानोपकरणाधिष्ठानमीश्वरस्याशरीरस्यानुपपन्नमिति चेत्  
न सङ्कल्पमात्रेणैव परशरीरगतभूतवेतालगरालाद्यपगमविनाशदर्शनात् । कथमशरीरस्य  
परप्रवर्तनरूपस्सङ्कल्प इति चेत् न शरीरापेक्षस्सङ्कल्पः शरीरस्य सङ्कल्पहेतुत्वाभावात्  
मनएवहि सङ्कल्पहेतुः ।

## श्रुतप्रकाशिका

सार्थः स्वाभाविकसर्वाधर्मसाक्षात्कारशब्दः । अथ कार्यं बहतां विरुद्धत्वं व्युत्स्यति । यत्त्वित्यादिना । कथमित्यत्राह—सपक्ष-  
इति । किं सहदर्शनमात्राच्छरीरादिप्राप्तिः उत हेतुत्वात् ? नात्र अतिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः हेतुत्वासिद्धेरित्यभिप्रायः ।  
कार्यस्याहेतुभूतानामिति व्याख्यभावोऽप्यभिप्रेतः ॥

ननु सर्वसपक्षेषु सहदृष्टत्वात् कार्यहेतुत्वं च कल्प्यम् तथासति कथं कतिपयाप्राप्तिः कतिपयप्राप्तिश्चोच्यते इत्यत्राह  
एतदुक्तमिति । विशेषविरोधं परिहर्तुमपञ्चताऽनपेक्षिताशविवेकमाह—केनचिदिति । सपक्षे सहदृष्टत्वादज्ञानादेशे हेतुत्वं  
कल्प्यतामित्यत्राह—स्वनिर्माणेति । अकिञ्चित्करस्येति । अनन्यथासिद्धान्दयव्यतिरेकाभ्यामहि हेतुर्वनिश्चयः, तत्रज्ञान  
शक्तिनिर्वर्त्यात् किञ्चित्कारादधिकः कश्चित्तदन्यज्ञानासामर्थ्यनिर्वर्त्यः किञ्चित्कारो दृष्टश्चेत् स्यादनन्यथासिद्धिः । नचाधिकः  
किञ्चित्कारो दृष्टः । नच कल्प्यः अज्ञानासामर्थ्यहेतुव्यतिरेके कार्यनिवृत्त्यभावात् स्वविषयसामर्थ्योपादानादिज्ञानाभ्याविना  
यथा कार्यानुदयः तथाऽन्यासामर्थ्याज्ञानाभ्या विनाकार्यानुदया न दृष्टः । अतो न तस्य हेतुत्वं कल्प्यम् नहिस्मति भाव  
मात्रं हेतुत्वं किंतु सत्येव भावइति भावः ॥ अकिञ्चित्करत्वेनैव विकल्पमुखेनोपपादयति । किंचेति । सर्वेष्विति । नहि  
कुल्यादिनिर्माणानुगुणज्ञानासामर्थ्याभावे घटनिष्पात्तहेतुः तदनुगुणज्ञानसामर्थ्यतोऽपि घटादिनिष्पादकवदर्शनादित्यर्थः ।  
यत्तु सपक्षे सहदृष्टत्वेन लिङ्गिनि प्राप्तविपरीतविशेषाणा धर्मिग्राहकप्रमाणप्रतिहतानां निवृत्तिः न प्रितरेषामिति इदमपि  
कार्यत्वस्यासाधकानामित्यनेन प्रत्युक्त साध्यानुयोगित्वेनान्यथासिद्धाना सहदृष्टानामपि धर्माणां व्यतिरेकाभावेन व्याप्ति  
शून्यत्वादप्राप्तिः सहदृष्टत्वेऽपि कार्यानुपयोगिना प्राप्तिर्न स्यात् । शरीराहि कार्योपयोगीति दृश्यते कुलालादीनामिति ।  
परिहरीते नेति । कथमित्यत्राह—सङ्कल्पेति । सङ्कृतं कथमिति । परिहरीते नेति । कोहेतुरित्यत्राह—मनएवेति । तत्कि-



## श्रीभाष्यम्

तदभ्युपगतमीश्वरेऽपि; कार्यत्वेनैव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात् । मानसस्सङ्कल्पस्स-  
शरीरस्यैव सशरीरस्यैव ममनस्कत्वादिति चेत् । मनसो नित्यत्वेन देहापगमेऽपि मनस-  
स्मद्भावेनानैकान्त्यात् । अतो विचित्रावयवसन्निवेशप्रियेपतनुभुवनादिकार्यनिर्माणे पुण्य-  
पापपरवशः परिमितशक्तिज्ञानः श्रेयसो न प्रभवतीति निखिलभुवननिर्माणचतुरोऽचि-  
न्त्यापरिमितज्ञानशक्त्यैश्वर्योऽशरीरस्सङ्कल्पमात्रनाधनपरिनिष्पन्नानन्तविस्तारविचित्ररच-  
नप्रपञ्चः पुरुषविशेषैश्वरोऽनुमानेनैव सिध्यति ॥ अतः प्रमाणान्तर्गवसेयत्वाद्ब्रह्मणः नैत-  
द्रूपं ब्रह्म प्रतिपादयति ॥ किञ्च अत्यन्तभिन्नयोरेव मृद्द्रव्यकुलालयोर्निमित्तोपादानत्व-  
दर्शनेन आकाशादेर्निग्नयवद्रव्यस्य कार्यत्वानुपपत्त्या च नैकमेव ब्रह्म वृत्तस्य जगतो निमि-  
त्तमुपादानं च प्रतिपादयितुं शक्नोतीति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

मस्तीत्यत्राह—तदिति । कुतस्तत्राह—कार्यत्वेनेति । ईश्वरस्य मनस्सम्बन्धोत्तिन्यायैकदेशमेतेन । पुनश्चाहते मानस-  
इति । परिहरति नेति । \* अनैकान्त्यात् । व्याप्त्यभावात् \* अशरीरेऽपि मनस्सम्बन्धस्य विद्यमानत्वादनैकान्त्यम् ।  
मनसो नित्यत्वेऽपि चेतनस्य कार्यकरत्वे शरीरसम्बन्धसापेक्षत्वमस्ति मनसि नित्ये सत्यपि मुक्तामनः कार्यकरत्वाभावात् ;  
नहि मुक्तात्मनो बुद्धिसुषुप्त्यादिक मनो जनयतीति वाच्यमस्ति ॥

अत्र मीमांसकप्रति प्रतिबन्धा परिहार हृदि निधाय पक्षधर्मताम्र दर्शयन्तीश्वरसिद्धिं निगमयति । अतो विचि-  
त्रावयवेति । अशरीरसङ्कल्पमात्रसाधनपरिनिष्पन्नानन्तविस्तारविचित्ररचनप्रपञ्चइत्याभ्या पदाभ्या प्रतिबन्धा परिहारा-  
भिप्रायो ज्ञातः । \* विभुद्रव्यसयोगिनः परिस्पन्दवतो घटादेस्पर्शवत्प्रानियमेऽपि विभुद्रव्यसयोगिनः परिस्पन्दवतोऽपि  
मनसो न स्पर्शवत्प्रमङ्गीक्रियते \* अयं प्राभाकरप्रतिपरिहारः \* महिमगुणशालिनस्तैजसस्य रूपोपलम्भनियमे दृष्टेऽपि  
चक्षुषि रूपोपलम्भो नाङ्गीकृतः कार्यारम्भकस्य सावयवत्वव्याप्तिः परिमाणुषुभग्ना तस्मादनेकविरोधपरिहारायैकव्याप्तिभङ्गो-  
न्यायः । अतः मनसः कार्यकरत्वे शरीरसम्बन्धसापेक्षत्वं भोगसाधनमनसवप्रयुक्तमित्यङ्गीकार्यमिति भावः । एव साधका-  
न्तरसिद्धत्वाजगत्कारणवस्तुनि शास्त्रस्याप्रामाण्यं निगमयति । अतः प्रमाणेति ॥

निमित्तोपादानैक्यस्य गगनादिस्पृष्टानुमानविषयत्वेन शास्त्रस्याधिकविषयत्वात् ब्रह्मणि प्रामाण्यमाशङ्क्य तत्र  
साधकान्तराधितत्वाच्छास्त्राप्रामाण्यमुच्यते । किञ्चेति । निमित्तमात्रमनुपदत्तशास्त्रस्यानुमानसापेक्षत्वात्तद्विरुद्धनिमित्तो-  
पादानैक्यं न शास्त्रं प्रतिपादयति । पक्षीकृतेषु क्षित्यादिषु द्रव्येषु सावयवत्वस्यैव कार्यप्रयोजकतया निरवयवद्रव्यस्या  
कार्यत्वं पूर्वमेव प्रतिपन्नमिति पश्चाच्छास्त्रं निरवयवद्रव्योत्पत्तिं न प्रतिपादयति । \* श्रुतिलिङ्गादिभ्योऽपि पौर्वापर्येहि प्राबल्य-  
दौर्बल्यहेतुरिति भावः । पूर्वपक्षपरिसमाप्ताविति शब्दः ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

‘ यतो वा ’ इति श्रुतौ स्वैतरसर्वकारणं व कारणस्यैक्यमपि न विवाक्षितम् असम्भवादित्याह— किञ्चात्यन्तभिन्न-  
तेरित्यादिना । अत्र निमित्तकारणस्योपादानकारणं वादर्शनोक्त्या परिणामवादासम्भवेन आरम्भवादस्यैवाङ्गीकर्णीयतया  
रिणामिकारणत्वरूपोपादानकारणत्वमपि नास्याश्रुतौ विवाक्षितमित्यप्याभिप्रेतम् । ‘ तं काचित् वादहेतु ’ (न्या.सू.४.१.२१)

## श्रीभाष्यम्

एवं प्राप्ते घूमः । यथोक्तलक्षणं ब्रह्मजन्मादिवाक्यं बोधयत्येव । कुतः शास्त्रैकप्रमाणक-  
न्यायब्रह्मणः । यदुक्तं सावयवत्वादिना कार्यं सर्वं जगत् कार्यं च तदुचितवर्तित्वेन पूर्वकं  
दृष्टमिति निखिलजगन्निर्माणतदुपादानोपकरणवेदनचतुरः कश्चिदनुमेय इति, तदुक्तमतम्  
महीमहार्णवादीनां कार्यत्वेप्येकदैवैरेन निर्मिताइत्यत्र प्रमाणाभावात् । नचैकस्य घटस्यैव  
सर्वेषामेकं कार्यत्वं येनैकदैवैकः कर्ता स्यात् ।

## श्रुतप्रकाशिका

सिद्धान्तवक्तुमुपक्रमे—एवंप्राप्तइति । परमसाध्यं प्रतिजानीते यथोक्तेति । आकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमाह—कुतइति ।  
शास्त्रैकप्रमाणकत्वात् शास्त्रतरप्रमाणागोचरत्वादित्यर्थः । हेतुसिद्धिं परिहर्तुं पूर्वपक्षमनुभाषते । यदुक्तमिति । दूषयति—  
तदुक्तमिति । पक्षधर्मतापलात् क्षेत्रज्ञवैलक्षण्यं वदता किं त्रिपुलाकार्याणां कर्तृकालैक्यनियममन्तर्भाव्यं तदुच्यते उत त्रिपु-  
लाकारमात्रेण उपातीन्द्रियोपादानादिदर्शनवशात् अथवा शरीरानपेक्षसृष्टिवशादिति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमं दूषयति  
महीति । एकदैवैकेन निर्मितप्रमाणमुपपादयति नचैकस्येत्यादिना । एक कार्यत्व घटादिरेव युगपदेककर्तृकं प्रयोग्य-  
मानं \* गङ्गायोतकमेकमितिपद \* कार्यत्वस्यैकत्वनाम एकसामग्रीपूर्वकं च तत्सिद्धयर्थमकस्ते युक्तम् नह्येकाव्यतिरिक्तं  
सामग्रीसाध्या एककार्यावाच्छिन्नस्य सर्वस्य हेतुरेकसामग्री वात् । एकत्वेऽप्यनककर्तृकगोपुरादिव्यवच्छेदार्थमेकदैवैकं च  
न्ययोयं च घटशब्देन विवक्षितम् । एकघटस्यैक कार्यत्व यादृशं दृश्यते तादृशं परिमितैकावयविनिष्ठ कार्यत्वमेकदैवैक  
कर्तृकत्वसम्भावनाऽऽपादकं तच्च महीमहीघगदीनां न दृश्यत इत्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रह

इति सूत्रे प्रागुक्तानुमानेन ईश्वरसाधनानन्तरं ' इमं च न्यायमाश्रय उपोद्बल्यति । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि व्याघ्रा-  
वृथिभीरेधृते तिष्ठनः 'न्यावाग्रधीरो जनयन्देव एक' 'तदैक्षन् बहुस्या प्रजायेय' इत्यादि । स्मृतिश्च भवति 'अज्ञो जन्तुर-  
नीशोऽयमात्मनस्सुखदुःखयोः' । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वश्रमेव वा ॥ अकारणत्वेन चेश्वरज्ञाननित्यता दर्शयति श्रुतिः ।  
'अपागिपादो जवनो गृहीता' 'पश्यत्यक्षुस्सशृणोत्यकर्णः' 'सर्वं विश्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्'  
इत्यादिका । एतस्य वा शरीरस्य दर्शितं भवति 'इत न्यायवार्तिकतापयगीकायाम् अनुमानेनेश्वरसिद्धयुपपादनानन्तरं निग-  
मनवाक्यमिहानुसंधेयम् । (न्या. शा.) ता पर्यटं कोत्तरीत्येव भाष्यं पूर्वपक्षरचनेन परिणामिकारणवरूपोपादानवत् वेदापौ-  
रुषेयस्य स्वतः प्रामाण्यस्य चासम्भवं इत्येतन्नयं भगवतो विवक्षितमिति निश्चीयत । 'त प्रामाण्यमात्रप्रामाण्यं च' इति  
न्यायसूत्रविपरणे ईश्वरनिमित्तकारणत्वमात्रस्य आनुमानिकस्य विवक्षितं वे सूत्रकृतो गौतमस्यापि एतन्नयं विवक्षितमिति  
सूत्रं प्रतीयते । 'अर्थेऽनुलब्धे त प्रमाणं तदरायणस्य नपक्षं वात्' इत्यत्र चादरायणस्य स्वतः प्रामाण्यस्य विवक्षितं दन-  
वेदगौरुपत्वविरहादेतदुभयसिद्धौ 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रे प्रागुक्तदिशा विवक्षितोपादानकारणवत्स्य 'परिणामात्'  
इत्यत्र सूत्रं स्थापनपूर्वकं 'तदनन्यत्रम्' इत्यादौ त स्थापनन उपादानत्वस्य व्याससम्मतत्वनिर्णयेन अत्र सूत्रे अर्थत्र-  
यसम्भवोपि व्यासस्य विवक्षितः, एतदनुगोचनेनैव पूर्वपक्षसिद्धन्तौ रचनीयाविति बोध्यम् । एकदैवैकेन निर्मिता इत्यादि ।  
उपादानाभिपक्षकर्तृकं चानुमाने प्रसिद्धचननकर्तृकप्रासादादे (न्या. शा. ना. गी) दृष्टान्ततया उपादानेन तत्र कालभेदकर्तृभेद-  
दर्शनेन एकस्मिन्काले एककर्तृकं च न सिद्धयतीति भावः ॥

## श्रीभाष्यम्

पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्यनियमादर्शनात् । नच क्षेत्रज्ञानां विचित्रजगन्निर्माणाशक्त्या कार्यत्वबलेन तदतिरिक्तकल्पनायामनेककल्पनानुपपत्तेश्चैव कर्ता भवितुमर्हतीति क्षेत्रज्ञानामेवोपचितपुण्यविशेषाणां शक्तिवैचित्र्यदर्शनेन तेषामेवातिशयि तादृष्टसंभावनया च तत्तद्विलक्षणकार्यहेतुत्वसम्भवात् तदतिरिक्तात्वात्तादृष्टपुरुषकल्पना नुपपत्तेः ।

## श्रुतप्रकाशिका

स्यादिति समाहितप्रमाणमुच्यते—नेहोक्तस्याप्येककर्तृकवनियमः अन्यैरेवैक्यनिष्पादनरुग्भवात्, तत किमित्यपेक्षया बहुषु विपुलेषु च कार्येषु तद्विपर्ययमाह—पृथग्भूतेष्विति । पृथग्भूतेष्वित्यत्र विपुलत्वमपि गमितं घटस्यति पूर्वमुक्ते बहुषु विपुलेषु च कार्येषु \* कर्तृकालैक्यनियमादर्शनात् मह्यादयोपेक्षदैव एकन निर्मिता इत्यत्र प्रमाणाभावात् प्रमाणाभावात्तदयुक्तमित्यध्याहारेण ग्रन्थान्वयः नच कार्यवमेव कर्तृकालैक्ये प्रमाणविकल्पासह्यतात् किं कार्यवमात्रं ? उत विपुलकार्यं यम् ? उतासमाहितजीवकर्तृक पञ्चासाधारणकार्यत्वं ? प्रथमेऽनैकात्म्यं द्वितीये विरुद्धं च विपुलकार्येषु कालैरेक्यकर्तृकमुपदर्शनात् ॥

यद्वा अनैकात्म्येन तृतीयचासाधारणानैकात्म्यमिति भावः । कार्यवशेन कतरि कल्पनीयं विपुलतरसूक्ष्मतरपक्षधर्मात्प्रज्ञात् क्षेत्रज्ञवैलक्षण्यलाघवयायात् कर्तृकं च सिद्धयतीत्यत्राह—नचेति । त्रिचित्रशब्देनास्मदाद्यशक्यं वार्थमतिविपुलवमति सूक्ष्मं च विवक्षितम् । कुत इत्यत्र ह—क्षेत्रज्ञानामेवेति । क्षेत्रज्ञातिरिक्तकल्पयसतिहानवकल्पनादेककल्पनस्य न्याय्यं च क्षेत्रज्ञानामेव कर्तृवोक्त्या तदतिरिक्ता न कल्पयितव्य इत्यर्थः । उपचितपुण्यावशेषाणामिति सपक्षे शक्तिरैवोपपादनार्थमुक्तम् । अतिशयितादृष्टसम्भावनयेति पक्षविषयमुक्तम् । ‘सर्वेभ्यः कामेभ्यो ज्योतिष्टोमः’ इत्यादिभिः क्षित्यादिसृष्ट्वानुगुणातिशयितादृष्टसम्भावनया क्षेत्रज्ञानामेव योगेन सूक्ष्मव्यवहितादिदर्शनं पराभ्युपेतम् अस्मादादिषु दग्धेषु च ज्ञानशक्तिरैवचित्री दृश्यते, नच पक्षधर्मताबलमन्वयव्यतिरेकासद्धान् धर्मातिरिक्तमित्युमीष्टं तस्यावयव्यतिरेकविद्वधर्मप्रकर्षावकर्षमात्रहेतुत्वात् इतरथा ज्ञानचिकीर्ष्यागपि हानमसद्भावात् । तदतिरिक्तेति । धर्मिकल्पनातोवरधर्मकल्पनति न्यायादीश्वरकल्पनाददृष्टविशेषकत्वनमेव परमिति भावः । अन्वयनत्वाच्चेतनाधिपताय धर्माधर्मकार्यकरो वाग्यादिरदित्यनुपपन्न ईश्वरज्ञानप्रयोजनौ व्यभिचारणाभ्यन्तरानैकात्म्यात् ॥

## गूढार्थसंग्रहः

न्या तज्ज्ञानानन्तरं पक्षधर्मताबलात् एककर्तृकं च सिद्धयतीति शङ्कते—नचेत्यादि । समाधत्ते क्षेत्रज्ञानामित्यादिना—तदतिरिक्तात्वात्तादृष्टपुरुषकल्पनानुपपत्तोरित्यन्तम् । इतरशब्दः लघवश्चेत्येतदुभयपक्षधर्मताबलादित्यत्र विवक्षितं तत्र प्रकृतो लघवेनेश्वरसिद्धिर्न सम्भवति दृष्टजगतीयपुरुषेणैव कार्यनिर्माणसम्भवनं लघवस्याप्युपपत्तौ दृष्टजगतीयकल्पनमनुचितम् । लोके पुरुषेषु शक्तितारतम्येन मन्दशक्तिमं पुरुषासाध्यानेकवस्तुनिर्माणसामर्थ्ये अधिकं तमतां पुरुषाणां अनुभवसिद्धमिति एतदवलम्बनेनैव पुण्यविशेषेणैव तादृश्यशक्तिमं पुरुषादिदृष्टसम्भवेन तेनैव तन्मुनादिनिर्माणं भवईश्वरसिद्धिर्न सम्भवति । तं प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् इति सूत्रग्रन्थभाष्ये ‘एवमाप्तोपदश प्रमाणम् आप्तप्रमाणम् प्राप्तेनाप्तोपदेशेन आयुर्वेदेन अदृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः । प्रमाणमिति आप्तप्रामाण्यात् एतदस्मात्प्राप्तमिति भाव्यम् ।

## श्रीभाष्यम्

नच युगपत् सर्वोत्पत्तिस्सर्वोच्छित्तिश्च प्रमाणपदवीमधिरोहतः अदर्शनात्

श्रुतप्रकाशिका

गस्यादित्यत्राह—नचेति । \* इदानीं क्रमेणोत्पत्तिविनाशौ दृश्येते तदात्पत्तिविनाशयोगपक्षकल्पनमित्यत्राह—

गूढार्थसंग्रहः

अत्र न्यायवार्तिकम्—‘प्रमाण वेदवाक्यानि चकृविशेषाभिहितत्वात् मन्त्रायुर्वेदवाक्यवदिति’ इत्यनन्तरं ‘एककर्तृकत्वेनवा मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि पक्षीकृत्यालौकिकविषयप्रतिपादकत्वेन वैधर्म्यहेतुर्वक्तव्यः ।’ इति अनन्तरं वेदनित्यन्वपूर्वपक्षः तस्मात् घानं च भाष्यवार्तिकयोर्दृश्यते । अत्र तात्पर्यटीका—‘मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि सर्वशक्तृकाणि महाजनपरिग्रहेऽलौकिकार्थ-प्रतिपादकत्वात्’ इत्यादि । ‘मन्त्रायुर्वेदवाक्यानां च मत्वापि प्रवृत्तिसामर्थ्ये तासां तासामौपधीनां तत्संयोगभेदानाच्च तत्त-दक्षगवापोद्धारभेदस्य च नासर्वज्ञः सहस्रेणापि पुरुषायुर्वेदशक्तः कर्तुं प्रथममन्वयव्यतिरेकौ । नचानिदं प्रथमता तत्पारे हारः सर्गादौ तदसम्भवात् । सृष्टिमहाप्रलयौचानुमानागमाभ्यामुपपादयिष्येते इति सर्वं रमणीयम् । तदेव सर्वशक्तृकत्वे सति सिद्धमातोक्तत्वेन मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यमोदनाधीनपक्षेदिति लौकिकवाक्यवदिति’ इति ॥

अत्र तात्पर्यपरिशुद्धिः—सृष्टिमहाप्रलयौचेति । सृष्टिप्रलयसाधकानुमानानि आमतत्त्वविवेके न्यायकुसुमाञ्जलौ च कृतपरिश्रमाणामनायासप्रपञ्चनीयानि’ इति । आत्मतत्त्वविवेके च—‘तथा च श्रूयमाणा अपि वेदावयवाः उसादमुप यास्यन्ति, वेदत्वाद्वाक्यत्वाद्वा उत्सन्नशाप्तावदिति-न्यायः । स्यादेतत् भविष्यत्युच्छेदोऽनुमितः । स तु भूतोऽपीति कुत इति चत् अतएव यत् उत्सादानन्तरं पुनस्सर्गेण भाष्यम् अन्यथा ससारिणा कृतहानप्रसङ्गः । नहि विश्वनिर्माणमन्तरेण भोग शानयोऽसम्भवः ? नच तेनविना कर्मप्रवाहसरोधः । ततो यथा भविष्यन् विश्वसर्गः उच्छेदपूर्वकः तथा अयमपि इति ॥

स्यादेतत् परमेश्वरप्रवर्तितोऽप्यय वेदसंप्रदायस्सर्गान्तरवेदापेक्षएवेति सेश्वरमीमासापक्षः कपिलपक्षोवा स्यादितिचेत् किमर्थं पुनरियमपेक्षा पूर्ववेदे जगन्नाथस्य नतावद्वेदार्थोपलम्भाय नित्यसर्वज्ञत्वात्, नापि वचनार्थम् । स्वभावतः सर्व-कर्तृतया आदर्शानपेक्षणात् नापि विरोधपरिहारार्थम् प्रतिपाद्याना तदनुसन्धानविधुरत्वात् । अवैधुर्मे वा कर्तुः सार्वज्ञवि शनादेव समस्तविरोधाविधूननात् । तथाऽपि पूर्वसर्गान्तरादेव व्यवहारोऽपि परमेश्वरस्य गोचर इतिचेत् कस्स-देहः ? यदि वेतदेव वेदस्य प्रवाहानित्यत्वं, नकेवल तस्य किंतु घटादेरपीति न्यायएव दर्शनम् । अन्यथा मीमांसैवेति क सेश्वरमीमासेति तस्मादुक्तरूपः परिग्रहो नान्यथा सम्भवतीति प्रतिबन्धसिद्धिः । तथाचातोक्तत्वात्प्रामाण्यमिति’ इतिचोक्तम् ॥

न्यायकुसुमाञ्जलौच—‘विश्वसन्तानोऽय दृश्यसन्तानशून्यः समवायिभिरारब्धः सन्तानत्वात् आरण्यसन्तानवत्, वर्तमानब्रह्माण्डपरमाणवः पूर्वमुपादितसजातीयसन्तानान्तराः नित्यत्वेसति तदारम्भकत्वात् पदीपपरमाणुवादित्यादि । अत्र यवानामावापोद्वापादुत्पत्तिविनाशौ च स्याता सन्तानविच्छेदश्चेति कोविरोधइतिचेत् ; एवहि घटादिसन्तानविच्छेदोऽपि स्यात् विपर्ययस्तु दृश्यते । कर्त्रादिभोगविशेषसंपादनप्रयुक्तोऽसावितिचेत् न ह्यणुकेषु तदभावात् । तथाच तदवयवाना-मपगमाभावेऽनादित्वप्रसङ्गे ह्यणुकत्वव्यघातः । तस्माद्यकार्यं यन्निबन्धनस्थिति, तदपगमे तान्निवृत्तिः यद्यद्वेतुक तदुपगमे तस्योत्पत्तिः । नच कार्यस्य स्थितिनिबन्धन नित्यमेव नित्यास्थितिप्रसङ्गात् । नच नित्यएव हेतुरकादाचिकत्वप्रसङ्गात् तदतिनिरस्तरङ्गमेतत् ईदृश्या च वस्तुस्थितौ भोगोऽपि कर्मभिरेव वस्तुस्वभावानतिक्रमेण संपादनीयइति ह्यणुकवत् पिपी-लिकाण्डादेः ब्रह्मपर्यन्तस्यापि विश्वस्येयमेव गतिरिति प्रतिबन्धसिद्धिः’ इत्युक्तम् । अयमर्थो नघटत इत्याह—नच युगप-त्सर्वोत्पत्तिरित्यादिना ॥



## श्रीभाष्यम्

क्रमेणैवोत्पत्तिविनाशदर्शनाच्च । कार्यत्वेन सर्वोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमानयोर्दर्शनानुगु-  
ण्येन कल्पनायां विरोधाभावाच्च, अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्यानैकान्त्यम् ;  
पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम् साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य सर्वनिर्माणचतुरस्य एकस्याप्र-  
सिद्धेः । बुद्धिमत्कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनता ।

## श्रुतप्रकाशिका

कार्यत्वेनेति । अत्र \* कार्यत्व कृतिसाध्यत्व \* तृतीयाचेत्येवभावार्था विरोधाभावात् व्याप्तिविरोधाभावादित्यर्थः । एव  
परमतदूषणोपयुक्तार्थशिक्षा कृता । अथ पलित दूषण दर्शयति । अतइति । तदयुक्तमित्यारभ्योक्तार्थानां हेतुत्वपरोक्ष-  
शब्दः चलनादिषु तृणादेरिव क्रियाऽश्रयत्वमात्रलक्षणे \* कर्तृव्यावृत्त्यर्थो बुद्धिमच्छब्दः । किं बुद्धिमदेककर्तृकत्वं साध्यम् उत  
सकर्तृकत्वमात्रं ? प्रथमेऽपि किंसामान्यतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वमात्र साध्य उत सर्वज्ञसर्वशक्त्येककर्तृकत्वमिति विकल्पमभिप्रेत्य  
प्रथमे कल्पेऽनैककृत्यमनेककर्तृकरयगोपुरादिषु कार्यत्वस्य विद्यमानत्वादिति भावः । सर्वज्ञसर्वशक्तिकत्वपक्षे दूषणमाह-  
पक्षस्येति । नह्यमिमत्त्वमिव सर्वज्ञसर्वशक्तिकर्तृकत्वमन्यत्र दृष्टम् दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । कार्येषु घटादिष्वदर्शनात् ।  
अप्रसिद्धविशेषणत्वसाध्यैककृत्ये द्वेऽभ्युपपादयति सर्वेति । सर्वनिर्माणचतुरस्येत्युक्तत्वादित् दूषणद्वय सर्वज्ञसर्वशक्तिकर्तृ-  
कत्वपक्षस्येति ज्ञायते । पूर्वस्मिन्नेव पक्षेचेदमप्रसिद्धविशेषणत्व न घटते नह्येककर्तृकत्वमप्रसिद्धम् । सकर्तृकत्वमात्रपक्षे दूषण-  
माह-बुद्धिमदिति ॥ सिद्धसाधनत्व वेदान्तिना यत्तव्य क्षेत्रज्ञकर्तृकत्वानभ्युपगमादिति चेन्न क्षेत्रज्ञानामपि द्वारकर्तृकत्वा-  
भ्युपगमात् समष्टितत्वेन न द्वारकर्तृकत्वेत् नच तत्पक्षीकरण लौकिकप्रमाणाविषयत्वात् । आगमेन सिद्धानां तेषामपि पक्षी-  
कारइति चेत् तेन कर्ताऽपि सिद्धइति सिद्धसाध्यतेति ॥

अथ क्षेत्रज्ञस्य सर्गे शरीरसापेक्षत्वात्तस्य \* सर्वसंहारदशायां शरीराभावात्तदानीं शरीरानपक्षःकर्ता जीवविलम्ब-

## गूढार्थसंग्रहः

क्रमेणैवेत्यादि—विरोधाभावाच्च इत्यन्तम् । एतेन अनिदप्रथमतया परिहार उपपादितो भवति । सर्गादौ  
तदसम्भवात् (न्या.वा.ता.) इत्युक्ता साधकाभावात् । 'वाचाविरूपनित्यया' 'अजान् हवै' 'घाता यथापूर्वमकल्पयत्  
' नामरूपं च भूतानाम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः वेदवाक्यानुसन्धानपूर्वकं सृष्टेः प्रतिपादनेनेत्यमेव परमपुरुषव्यापारस्य  
निश्चयसम्भवात् । 'दर्शनानुगुण्येन' इत्युक्त्या व्यणुकव्यतिरिक्तपरमाणुव्यणुकयोरनुमानेन सिद्धयभावस्सूच्यते । तेन कर्त्रा  
दिभोगविशेषसंपादनप्रयुक्तोऽसावित्यर्थः प्रतिपादितो भवति । उदयनाद्युक्तप्रक्रिया सर्वाऽपि वेदान्तोदयनसम्प्रदायधुरंधरे-  
राचार्यपादैः—'सर्गादीनामसिद्धौ नहिनिगमगिरा भज्यते संप्रदायः तस्मिद्धौ नानुमानं प्रभवति यदिदं बाधशून्य विपक्षे ।  
शास्त्रेभ्यस्तत्प्रसिद्धौ सहपरिपठनाद्विश्वकर्ताऽपि सिद्धयेत् धर्मानुशासनार्थं तदनुमितिरतो नैव शक्या कदाचित् ॥' (त.मु.ना  
सर.१५) इति श्लोकविरणसर्गार्थसिद्धौ न्यायपरिशुद्धिशब्दाध्यायाद्वितीयाह्निके च सम्यक्पर्यालोचिता । तत्र कृतपरिभ्रमा-  
णामिय प्रक्रिया न घटत इत्यत्र नकोऽपि सन्देहः । अत्र युगपत् सर्गोच्छ्रित्तिनिषेधेन निरवयविनाशोऽपि निरस्तः पूर्व-  
पक्षसममतार्थस्यात्र निरसनेन परिणामवाददूषणमप्येव निरसनीयमिति सूचितम् तद्यारम्भणाधिकरणे सूत्रकृतैव स्याप्यते ।  
एतेन 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इत्यात्राचार्यशिष्यभूतव्यासजैमिनिसमतार्थस्य 'तत्प्रमाण्यमा-  
संप्राण्यात्' इति न्यायसूत्रादौ प्रतिपन्नभूतार्थसर्वोऽपि पर्यालोचितः । तेन स्वत.प्रामाण्यवेदापौरुषवाविनाभूत जगत्का-  
णस्योपनिषदत्व सम्यक्प्रतिष्ठापितं भवति । पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वमिति । साध्याप्रसिद्धिरित्यर्थः ॥



### श्रीभाष्यम्

सार्वभौमसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतं? उत क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्यासिद्धता । क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे अनेककर्तृकत्वसाधनाद्विरुद्धता । अत्राप्येककर्तृकत्वसाधने प्रत्यक्षानुमानविरोधश्चास्ति विरोधश्च कुम्भकारो जायते रथकारो जायत इत्यादिश्रवणात् ॥ अपि च सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनां च सत्त्वादिगुणकार्यरूपसुखाद्यन्वयदर्शनेन सत्त्वादिमूलत्वमवश्याध्यणीयम् । कार्यवैचित्र्यहेतुभूताः कारणगताविशेषास्सत्त्वादयः । तेषां कार्याणां तन्मूलत्वापादनं तद्युक्तपुरुषान्तःकरणविकारद्वारेण पुरुषस्य च तद्योगः कर्ममूल इति कार्यविशेषारम्भायैव ज्ञानशक्तिवत्कर्तुः कर्मसम्बन्धः

### श्रुतप्रकाशिका

मुत्तान्तरेण दूषयितुं हेतुं विकल्पयति सार्वभौमेति । अयमभिप्रायः कर्तृमात्रव्याप्येन कार्यत्वमात्रेण न कर्तृविशेषासिद्धिरिति प्रागेवोक्तम् । अतः पक्षविशेषाधीनेन कार्यत्वविशेषेण कर्तृविशेषस्याध्यः कुम्भादिकार्यविशेषेणहि कुलालादिकर्तृविशेषानुमानं नतु कार्यत्वमात्रेण, अतः पक्षाधीनः कार्यत्वविशेषो निरूप्यत इति । किं युगपदिति । पक्षप्रकर्षाधीनं हेतुवैशिष्ट्यं द्विधा संभवेत् परिदृश्यमानमह्यादिविपुलकार्याणां युगपदुत्पत्त्या वा क्रमभाविना त्रैकाल्यवर्तिना कार्याणामानन्त्येन वा, तत्र कीदृशेन पक्षप्रकर्षेण हेतुविशेषो विवक्षित इत्यर्थः । प्रथमं दूषयति युगपदिति । कृत्स्नप्रत्ययसिद्धेः भूभूधरादीनां \* युगपदुत्पत्तौ प्रमाणाभावात्तन्निवन्धनं कर्तृवैलक्षण्यसाधकहेतुवैलक्षण्यमसिद्धमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति क्रमेणेति । यद्यप्येकैकेन कुलालादिना जन्मसहस्रेणाप्यनन्तकार्यनिष्पादनसम्भवः । तथाऽपि तत्तज्जन्मसमानकालकुविन्दादिकृतानां कार्याणां तत्कर्तृकत्वाभावात् सर्वकार्याणामेककर्तृकत्वं नास्ति । अतस्त्रैकाल्यवर्तिसमस्तवस्तुनिष्ठत्वविशेषितं कार्यत्वं कर्तृभेदेनैव व्याप्तमिति कर्त्रेव्यसाधने \*विरुद्धमित्यर्थः । अत्राप्येककर्तृकत्वसाधनमिति । विशिष्टकार्यत्वव्यापकतयाऽभिमतस्य घटपट्टरथादिदृष्टस्य \* भिन्नकर्तृकत्वस्य प्रतिक्षेप इत्यर्थः । भिन्नकर्तृकतया प्रत्यक्षसिद्धेषु प्रत्यक्षविरोधः अन्यत्र द्वीपान्तरवर्ती घटः एतद्व्यतिरिक्तकुलालकर्तृकः एतद्व्यापारागोचरहेतुकत्वे सति घटत्वात् सप्रतिपन्नकुलालान्तरोपादितघटयत् द्वीपान्तरवर्तिघटहेतूनां दण्डादीनामेतद्व्यापारागोचरत्वमेतस्य तत्र गमनाभावनिर्णयात् अतएवभादिभिरनुमानैर्विरोधः शास्त्रविरोधमुपपादयति कुम्भकारइति । कुम्भकारो जायते रथकारो जायते इत्यर्थोपादानं नतु पाठक्रमः । नहि कुम्भरथयोरेककर्तृकत्वे कुम्भकाररथकारयोरुत्पत्तिः पृथग्वक्तव्या एकसंज्ञत्वेन पुनरुत्तिप्रसङ्गादिति भावः । प्रकारान्तरेण विरुद्धत्वमाह—अपिचेति । मुत्तादेस्सत्त्वादिगुणकार्यत्वं शास्त्रदृष्टमिति तच्छास्त्रप्रामाण्यवादिनाऽङ्गीकार्यमिति मत्त्वाऽनिष्ठापादयति नतु पराम्युपगमात् । मुत्तादिशब्देन सुखदुःखमोहा विवक्षिताः । सुखाद्यन्वयशरीरादीनां मुत्तादिहेतुत्वावस्थान्वयः । सत्त्वादिमूलत्व \* सत्त्वादिगुणकद्रव्योपादानत्वमित्यर्थः \* के सत्त्वादयः कथं च तेषां मुत्तादिहेतुत्वमित्यत्राह—कार्यवैचित्र्येति । कारणगताविशेषाः कारणशब्दो निमित्तोपादानसाधारणः । ततः किं कर्तृगुणव्यवस्थेत्यत्राह—तेषां कार्याणामिदं । पुरुषेण कार्याणां तन्मूलत्वापादनं सत्त्वादियुक्तस्वकीयान्तःकरणविकारद्वारेणेत्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—पुरुषस्यचेति ॥

कार्यानुपयोगिनोहि धर्मा नप्राप्नुवन्तीति पूर्वपक्षिणोक्तं सत्त्वादीनां च कार्यानुपयोगित्वात्तदधीनः कर्मसम्बन्धोऽवर्जनीय इति भाष्यानाह—ज्ञानशक्तिवदिति । सुखदुःखमोहादीनां सत्त्वरजस्तमोहेतुकत्वं शास्त्रसिद्धम् । मुत्तादिहेतुभूतशरी-

## श्रीभाष्यम्

कार्यहेतुत्वेनैवावश्याध्ययणीयः । ज्ञानशक्तिवैचित्र्यस्य कर्ममूलत्वात् । इच्छायाः कार्यारम्भ हेतुत्वेऽपि विषयविशेषविशेषितायास्तस्यास्सत्त्वादिमूलत्वेन कर्मसम्बन्धोऽवर्जनीयः । अतः क्षेत्रज्ञा एव कर्तारः न तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात्सिद्ध्यति ॥ भवन्ति च प्रयोगाः तनुभुवनादि, क्षेत्रज्ञकर्तृकं कार्यत्वाद्वदवत् । ईश्वरः कर्ता न भवति प्रयोजनशून्यात्वात् मुक्तात्मवत् । ईश्वरः कर्ता न भवति अशरीरत्वात्तद्वदेव । नच क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः तत्राप्यनादेस्सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावात् । विमतिविषयः कालो न लोकशून्यः कालत्वाद्वर्तमानकालवदिति । अपि च किमीश्वरस्सशरीरोऽशरीरो वा कार्यं करोति न तावदशरीरः अशरीरस्य कर्तृत्वानुपलब्धेः । मानसान्यपि कार्याणि सशरीरस्यैव भवन्ति मनसो नित्यत्वेऽप्यशरीरेषु मुक्तेषु तत्कार्यादर्शनात् । नापि सशरीरः विकल्पासहत्वात् । तच्छरीरं किं नित्यं ? उतानित्यम् । नतावधित्यं सावयवस्य तस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिद्धेः । नाप्यनित्यम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

राद्युपादानस्य निमित्तस्य च कर्तृसत्त्वादिगुणान्वयश्च शास्त्रसिद्धः—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः । कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥

इत्यादिभिर्दृश्यते । अतस्सत्त्वादिगुणक शरीराद्युपादानं द्रव्यं सत्त्वादिगुणान्वयविवृतान्तःकरणः पुरुषोऽधितिष्ठति गुणान्वयश्च कर्ममूल इति कर्मवश्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । हेत्वन्तरेणापि कर्मसम्बन्धमाह—ज्ञानेति । न ज्ञानशक्तिवैचित्र्याद्विचित्रसर्गः अपित्विच्छामानादिति चेत् तत्राह—इच्छाया इति । विषयविशेषविशेषिताया इच्छायास्तर्गस्थेमादिविषयत्वं तत्रापि विचित्रसर्गादिविषयत्वं च सत्त्वादिमूलत्वेन कर्मफलमित्यर्थः । एव कर्तृत्वक्षेत्रज्ञत्वयोः व्याप्तिदर्शनान्नतद्विलक्षणासिद्धिरित्याह—अत इति । प्रतितर्कानाह—भवन्ति चेति । तनुभुवनादीति । इदमत्यनुमानं प्रतितर्को वा \* अन्ये प्रतितर्का एव कार्यत्वे क्षेत्रज्ञकर्तृकत्वप्रसङ्गः, कर्तृत्वे सापेक्षत्वप्रसङ्गः कर्तृत्वे सशरीरत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । अशरीरत्वहेतोर्व्यभिचारः । इदं कथं परिहरति नचेति । अनादेः बीजाङ्गुलवत् प्रवाहानादेरित्यर्थः । अधिष्ठानं देहेन प्रथमसम्बन्धश्चेत् सूक्ष्मस्थूलशरीरप्रवाहानादितया परिहृतः यथा बालशरीरविशिष्टेन युवशरीरपरिग्रहः तद्वदेव अधिष्ठानं प्रेरणचेत् स्वपरनिर्वाहकयायात् परिहृतः शरीरव्यतिरिक्तप्रेरणस्य शरीरापेक्षाहि न शरीरस्येति । शरीरत्वप्रयुक्त शरीरान्तरनिरपेक्षप्रेरणत्वं \* तथा जगतः ईश्वरशरीरत्वे, सशरीरत्वात् \* कर्मवश्यत्वप्रसङ्गः । यथा देहः स्वज्ञानोत्पत्तौ करणं कर्म च भवति यथा च घटः स्वविषयज्ञानोत्पत्तौ स्वसत्तया हेतुः पश्चात्तद्विषयश्च भवति तथा स्वविषयप्रेरणेऽपि शरीरमिति न कर्मकर्तृविरोधः । \* नचाङ्गुलादौ शरीरस्योपायानुपलब्धिः पिशाचसिद्धादिशरीरवददृश्यत्वोपपत्तेः, देशान्तरस्थेन वा शरीरेण सङ्कल्पद्वारा विषादेरिव प्रेरणोपपत्तेश्च ॥

प्रतितर्कान्तरमाह—विमतीति । अत्र सूर्यपरिवृत्ति\*सत्याविशेषावच्छेदात् पूर्वत्वेन परत्वेन च कालस्य पक्षीकृतत्वात् नाश्रयासिद्धिरिति । अनुमानं मुग्यन्तरेण दूषयति अपिचेत्यादिना । दूषणं वक्तुं विकल्पयति किमिति । घीस्य चर्मशिरो दूषयति नतावदिति । अशरीरस्य मनसा कर्तृत्वं स्यादिति प्रागुक्तं दूषयति मानसानीति । कुत इत्यत्राह—मनस इति । अपिशब्देन स्वपक्षे नित्यत्वानभ्युपगमस्तूचितः । सशरीरत्वपक्षं दूषयति नापीति । विकल्पासह्यं विवरितुं विकल्पयति तदिति । प्रथमं दूषयति नतावदिति । जगतः भूभूधरादेः । द्वितीयं दूषयति नापीति । हेतुमाह—

## श्रीभाष्यम्

तद्व्यतिरिक्तस्य तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात् । स्वयमेव हेतुरिति चेत् न अशरीरस्य तदयो-  
गात् अन्येन शरीरेण सशरीरइति चेत् न अनवस्थानात् । सार्कं सव्यापारो निर्व्यापारो वा  
अशरीरत्वादेव न सव्यापारः, नापि निर्व्यापारः कार्यं करोति मुक्तात्मवत् । कार्यजगदि-  
च्छामात्रव्यापारकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्, दृष्टान्तस्य च साध्यही-  
नता । अतो दर्शनानुगुण्येनेश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः पर-  
ब्रह्माभूतस्त्वैश्वरः पुरुषोत्तम । शास्त्रं तु सकलेतरप्रमाणपरिदृष्टसमस्तवस्तुविसजातीयं  
सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिमिश्रानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं निखिलहेयप्रत्य-  
नीकस्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्तरावसितवस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषगन्धप्रसङ्गः । यत्तु  
निमित्तोपादानयोरैक्यमाकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वं, चानुपलब्धं अशयप्रतिपाद

## श्रुतप्रकाशः

तद्व्यतिरिक्तस्येति । तच्छरीरहेतोऽशरीरान्तरस्याभावादित्यर्थः । दूषणपरिहाराय परोक्तं शङ्कते—स्वयमेवेति । स्वयशब्द-  
ईश्वरपरः । परिहरति नेति । तदयोगात् हेतुत्वायोगात् पुनश्शङ्कते अन्येनेति । अनवस्थया दूषयति नेति । प्राणाणिकपर-  
परा नदोषइति चेच्छरीरत्वप्रयुक्तकर्मवश्यत्व स्यादिति भावः । कर्मवश्यत्वप्रसङ्गस्य प्रागुक्तं वात् इहाप्यनवस्थादूषणस्य ६३  
कर्मवश्यत्वप्रसङ्गपर्यन्तत्वमभिप्रेतमित्यवगम्यते ॥

मुपान्तरेण विकल्प्य दूषयति सकिमिति । अशरीरस्य निर्व्यापारत्वे निर्व्यापारस्य कार्याकरणेच दृष्टान्तोमुक्तात्मा  
\* व्यापारश्च प्रयत्नो विवक्षितः । इच्छाविशेषस्य हेतुत्वोहि गुणवश्यताप्रसङ्गः पूर्वमुक्तः । इच्छामात्रमेव व्यापारइत्याह—  
कार्यजगदिति । \* मात्रशब्देन सत्त्वादिगुणान्वयतन्मूलकर्मसम्प्र-धव्यावृत्तिः । ननु कर्मवश्यत्वादिकं न कर्तुं प्रसङ्गानी-  
यम् अव्यापारत्वात् । नहि त्वत्पक्षेण वाऽस्मत्पक्षेण वा व्याप्तिः ईश्वरे त्वयामयाऽपि तदनभ्युपगमात् ; नैवम् आगमादृते  
ऽपीश्वरसिद्धयतीति वदन्त प्रत्यागममसन्त कृत्वाऽसदादिभिरुच्यमानत्वात् यदीश्वरप्रतिपादकागमचलाऽदुक्तव्याप्तिभङ्ग-  
नेश्वरानुमान स्याप्यते तदानीमनुमानस्यागमानपेक्षप्राप्त्यासिद्धिरित्यप्राप्तप्राहित्वमागमस्य सिद्धयेत् ॥

यद्वा अलौकिकप्रमाणैकवेद्यत्वाभावे सति कर्तृत्वस्य कर्मवश्यं वादिव्याप्यं वात्, शास्त्रयोगिमुक्तेश्वरप्रत्यक्षाप्यलौकिक-  
शब्दोक्तानीति । अनुमानदूषणमुपसहरति अतइति । परस्य ब्रह्मण ईश्वरानतिरिक्तत्वज्ञापनार्थस्त्वैश्वरशब्दः ; अनेन  
'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' इति श्रुतिस्मारिता भवति । देवताविशेषनिर्णयार्थं 'महान्प्रभुर्वै पुरुषस्तत्त्वस्यैव  
प्रवर्तकः' इति श्रुतिस्मारणार्थं पुरुषोत्तमशब्दः । उक्तदोषास्तदानीमपि प्राप्नुयुरित्यत्राह—शास्त्रंत्विति । सर्वविसजाती-  
यत्वं दर्शयति सार्वज्ञ्येति । सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिमिश्रशब्दो ब्रह्मविशेषण, गुणविशेषण वा ताद्वितितिरूपवाद-येषां गुणा-  
नाम् एकैकमनवधिकातिशया गुणा अपरिमिता निरसङ्कयाता इत्यर्थः ॥

## इति शास्त्रयोनिर्वाधकरणम्

## गूढार्थसंग्रहः

यत्तु निमित्तोपादानयोरित्यादि—प्रतिपादयिष्यते इत्यन्तम् । एतेन निमित्तकारणस्यानुमानगम्यत्वेऽपि  
तदनुवादेनोपादानकारणत्वाविधायकत्वं वाक्यस्य सम्भवतीति पूर्वपक्षासाङ्गत्यं यन्नवीनोक्तं तस्य नावकाशः । एकस्योपा-

## श्रीमाप्यम्

नमित्युक्तम् । तदप्यविरुद्धमिति 'प्रकृतिश्च प्रतिष्ठादृष्टान्तानुपरोधात्' (शारी.१.४.२३ 'नवियदधुतेः' (२.३.१) इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते । अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन शास्त्रैकविपयत्वात् 'यतो वा इमानिभूतानि' (तै.भृगु.१.अनु) इतिवाक्यमुक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम् ॥

## इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

## गूढार्थसङ्ग्रहः

दाननिमित्तत्वासम्भवेन पूर्वपक्षिसमतत्वेन एवमर्थवर्णनस्यायुक्तत्वात् । इदमुपलक्षण परिणामवादो नसंभवति किंवा-  
रम्भवादएव युक्तइत्यस्यापि । अयमर्थः 'तदनन्यत्वम्' इत्यादौ पर्यालोचयिष्यते ॥

अतइत्यादि—ब्रह्मप्रतिपादयतीति सिद्धमित्यन्तम् । शास्त्र योनिःकारण प्रमाण यस्य (श्री.भा) इति प्राक् सूत्रार्थविवरणमाध्मे प्रमाणशब्दोपादानेन 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं जादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति सूत्रार्थप्रत्यभिज्ञाप-  
नेन शास्त्रप्रमाणकत्वं शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणः इतरप्रमाणविषयत्वएव संभवति । नवन्यथा ज्ञातार्थज्ञापकतयाऽनुवादरूप-  
त्वात् स्मारकत्वाविशेष एव प्रमाणान्तरविषयत्वे स्यात् । सूत्रार्थस्तु 'जन्माद्यस्ययतः' इत्यस्यानुवृत्त्या शास्त्रयोनित्वात्  
यतः जन्मादि तद्ब्रह्म इति । तद्ब्रह्मेत्यस्य प्रथमसूत्रस्यपदब्रह्मपदानुपपन्नैव वाच्यतया जिज्ञास्यब्रह्मणः तत्र प्रस्तुततया 'यतोवा  
इमानि भूतानि' इत्यादिवाक्यबोध्यमित्यर्थतः सिद्ध्यति । एव च औपनिषदपुरुषस्यैव प्रथमसूत्रे विचार्यब्रह्मतायाः प्रागु-  
पपादनेन 'यतोवा' इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्य 'अनौपनिषदम् अनुमानगम्यत्वात्' इति पूर्वपक्षे 'यतोवा' इत्यादि  
वाक्यप्रतिपाद्य औपनिषदमेव प्रमाणान्तराविषयत्वात् इति सूत्रकृद्विवाक्षितयुक्तिमुखेन एतावता सिद्धान्तं कृतः । अतश्च प्रागु-  
क्तसूत्रार्थस्तुत्यः । 'तद्धि न वाक्यप्रतिपाद्यमनुमानेन सिद्धेः' इति सूत्रावतरणे ब्रह्मपदार्थविशेष्यकमेवानुमानं पूर्व-  
पक्षिसमतमिति स्फुटम् । प्रथम सूत्रविवरणे निगमनं च वाक्यविशेष्यकानुमानमेव सिद्धान्ते प्रदर्शितं तत्र तुल्यवित्तिवेद्य-  
तया एकार्थसाधनेऽन्यार्थप्रतीतिस्फुल्लभैवेत्युभयोर्न विरोधः । अत्राधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तविषयासिद्धिर्न संभवति । 'यतो  
वा' इत्यादिवाक्यस्य 'तत्तौपनिषदं पुरुषम्' इति श्रुत्यनुसारेण श्रुत्यन्तरप्रसिद्धकारणत्वानुवादेन ब्रह्म (लक्षणत्व)विद्या-  
यकत्वं न संभवतीत्योक्षेपे कारणत्वस्यानुमानिकत्वं निरस्योपनिषत्तात्पर्यविषयत्वसाधनेन विषयसिद्धिः संपादिता । एतेन  
ब्रह्मपदार्थविषयासिद्ध्या शास्त्रमनारम्भणीयमिति शङ्कानिरसनस्य पूर्वाधिकरणोक्तस्य प्रतिष्ठापनमुखेन अनुबन्धचतुष्टयान्त-  
र्गतसम्बन्धोऽपि स्थापितः 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्यादिसूत्रएव 'अर्थेऽनुपलब्धे' इत्याद्यशसत्वेन कारण-  
त्वस्यानुमानिकत्वे उपनिषत्तात्पर्यविषयत्वासम्भवेन सन्नधासम्भवस्य एतदधिकरणे निरसनमुखेन शास्त्रस्यारम्भणीयत्वं  
प्रतिष्ठितमिति निर्णयस्तंभवति । एतेन नवीनोक्तशङ्काया अपि नावकाशः । पूर्वोपपादितरीत्या नवीनोक्तोक्षेपस्य कस्यापि नाव-  
सरः ॥ एतेन 'एतस्य वा अक्षरस्य' इत्यादीनां न्या.वा.ता.टीकाया न्यायसिद्धार्थानुवादकत्वोक्तिर्न संभवतीति सिद्धम् । परैः  
जगत्कारणस्य शास्त्रप्रतिपाद्यत्वं वदद्भिः 'एतस्य वा अक्षरस्य' इति वाक्यस्यानुमानसिद्धार्थबोधकत्वमुपनिषद्भाष्ये वार्तिके  
च निरूपितम् । अक्षराधिकरणे 'अक्षरमम्परान्तधृतेः' 'साच प्रज्ञासनात्' इति सूत्रद्वयोक्त सूर्यचन्द्रादिधारकत्वं नैवा  
नुमानेनागमन्तुं शक्यम् । 'जगत्स्थितिः यन्तुपूर्वा स्थितिवात् राजाधीनस्थितिवात्' इत्यनुमान (वृ.वा) नैव श्रुत्याभिप्रेतं  
साधयितुमलम् । सूर्यचन्द्रादिधारकत्वस्य दृष्टान्ते असम्भवात् । परमते अक्षरविद्या, निर्विशेषविद्या, निर्विशेषेचाय धर्मो



### गूढार्थसंग्रह

नास्त्येव दहरविद्यायामपि श्रुतिरुक्ता 'धृतेश्च महिम्नोऽस्य' इति सूत्रमपि । दहरविद्या सगुणविद्या अक्षगविद्या निर्गुणविद्या इति कथं घटतइति विवेचयन्तु विवेचकाः । जगत्कारणत्वमपि धृतिसमशीलमेव निर्विशेषं असम्भवात् । 'यतोवा' इत्यस्य वाच्यसमर्पकत्वमवान्तरतापर्यमेव तत्र, 'सत्यज्ञानम्' इत्यत्र तु लक्ष्यसमर्पके मुख्य तात्पर्यम् इत्यादिकल्पनमुपक्रमे प्राप्य तयोक्तब्रह्मणः उत्तरवाक्येषु निरूपणीयतया न श्रुतितात्पर्यानुगुणमिति पूर्वमेव निरूपितम् । अतः कारणवधारणप्रतिपादकवाक्ययोः नैव न्यायसिद्धान्तानुवादकत्वम् ॥

अतश्च 'यतोवा' इति श्रुतौ श्रुत्यन्तरोक्तकारणादनुवादेन ब्रह्मत्वविधानेन तत्रैव पूर्वश्रुतौ छान्दोग्येन हेतुवमुपादानरूपमिति प्रागुक्तदिशा निर्णयसम्भवेन राजकुमारनयस्सम्प्रदायसिद्धोऽपि सुस्थः । पितुः पुत्रप्रयुपादानं प्रेरयति गर्भोपनिषदि स्फुटम् । शरीरस्य सप्तधातुवनिरूपणावसरे 'सप्तधातुमिति कस्मात् ? ' पृष्टविधोरसो रसाच्छोणित शोणितान्मास मासान्मेदो मेदसोऽस्थीन्यास्थिम्यो मज्जा मज्जाया शुक्रम् । शुक्रशोणितसयोगादावर्तत गर्भो हृदि व्यवस्था नयति ।— ऋतुकाले प्रयोगादेकरात्रोपित कलिलं भवति सप्तरात्रोपितं बुद्बुदं भवति अर्धमासाभ्यन्तरेण पिण्डा भवति मासाभ्यन्तरेण कटिनो भवति मासद्वयेन शिरः कुरुते मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति पञ्चमे मास पृष्ठपक्षो भवति षष्ठे मासे नासाध्वाणि श्रोत्राणि भवन्ति सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति अष्टमे मासे सर्वसंपूर्णो भवति पितुरेतोतिरिक्ता पुरुषा भवति । मातुरेतोऽतिरिक्तास्त्रियो भवन्ति । उभयोर्बीजतुल्यत्वात्तुल्यसंको भवति' इत्युक्ते । अत्र 'यो याह्यत्रमत्ति योयोरेतास्सञ्जति तद्भूय एव भवति' इति पञ्चाग्निविद्यानुसारेण रेतसा संयोगस्य पूर्वकाल एव प्रतिपादनेन तदनन्तरवह्नवस्थानि संसर्गानन्तरं 'अष्टमे मासे जीवसंयुक्तो भवति' इत्यष्टममासे जीवसंयोगोक्तिः अवस्थाविशेषाभिप्रायेति बोध्यम् ॥

उक्तं च विज्ञानेश्वरेण मिताक्षराया याज्ञवल्क्यस्मृतौ (आ.का. ५२. श्लोके) सपिण्डशब्दार्थनिरूपणावसरे 'यत्र यत्र पिण्डशब्दः तत्रतत्र साक्षात्परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः' 'अवश्यं चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यवर्णनीयम् । 'आ माहि जज्ञ आत्मन' इत्यादिश्रुते । तथा 'प्रजामनुप्रजायसे' इति च, अथापि 'स एवायविरूढः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते' इत्यापस्तम्बवचनाच्च' इति । अनन्तरं गर्भोपनिषद्वाक्यमप्युदाहृतम् । 'अथाप्यस्य प्रजातिममृतमाम्नाय आह' 'प्रजामनुप्रजायसे तदुत्तेमर्त्यामृतम्' इति (आ.सू. २ प्र. ९. पत्र २४ सू. १. ७) अथापि 'स एवायविरूढः पृथक्प्रत्यक्षेणोपलभ्यते दृश्यते चापि सारूप्यं देहवमेवाभ्यत्' (२) इति पूर्णं सूत्रद्वयम् । अत्र उच्यते— 'अथापि अपिच । अस्य गृहस्थस्य प्रजातिं प्रजासन्तानं अमृतममरणमाम्नायो वेद आह, हर्म्यं मरणधर्मन् प्रजा जायमानामनु त्वं प्रजायसे, त्वमेव प्रजारूपेण जायसे तदेवने मरणधर्मिणोऽमृतममरणमिति । न त्वं म्रियसे यतस्त्वं प्रजारूपेण तिष्ठसीति' 'अपिच स एवाय पृथग्विरूढः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते स एव द्विधाभूत इव लक्ष्यते । दृश्यताह सारूप्यं द्वया दृष्टमात्रं तु भिन्नम् । देहत्वमिति स्वार्थिकस्त्व' इति ॥

मनुस्मृतौ च 'पतिर्भार्या सप्रविश्य गर्भो भूत्वह जायते । जायायास्तद्धि जायाव यदस्या जायते पुनः ॥' (९. ८) इति श्लोकविवरणे (म.प्र.) 'आ मात्रे पुत्रनामासि' इति श्रुतिः, 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा समातरम् । तस्या पुनर्नवा भूत्वा दशममासि जायते । तज्जाया जाय' भवति यदस्या जायते पुनः' इति बह्वृचब्राह्मणचेत्युभयमुदाहृतम् । अतश्च पितुरुपादानत्वं सुस्थम् । एव च राजकुमारनयेन पितुरुपादानत्वेन 'यतोवा' इत्यादितः अर्थनिर्णये जीवब्रह्माभेदे वा कथानामुपादानोपादयभावनिबन्धनाभेदा पर्यानिश्चयन कारणवाक्यानां प्राधान्यभेदे वाक्यानां चाप्राधान्य निश्चितमवति,

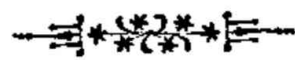


### गूढार्थसङ्ग्रहः

एतेन पूर्वपक्षिनिर्णीतार्थस्य कस्यापि नावसरः । एवंच जगत्कारणस्य उपनिषत्तात्पर्यविषयत्वेन जगत्कारणत्वेन निश्चितब्रह्म पदार्थस्योपनिषदः च संबन्धोऽपि स्थापितो भवति ॥

एतेन 'तन्वौपनिषदं पुरुषम्' इति श्रुत्यर्थस्यापितो भवति । कैवल्योपनिषद्यापि—'यथा चिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्' इत्युक्तमोक्तपुरुषस्यैव 'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः' इत्यत्र वेदवेद्यत्वमुक्तम् । एतत्तात्पर्येणैव गीताया—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'अतोऽस्मि—पुरुषोत्तमः' 'पुरुषस्स परःपार्थ भक्त्या लभ्यः' इत्युक्तम् । पुरुष-शब्दार्थ एव 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादौ ब्रह्मेति उपनिषत्सु विवक्षितमिति पूर्वमेव निरूपितम् ॥

### इति शास्त्रयोर्नित्वाधिकरणम्



### अथ समन्वयाधिकरणम्

एतावता 'एष पन्थाः एतद्ब्रह्म' इत्यत्र पूर्वकाण्डप्रतिपाद्यकर्मणः 'अथातो धर्मजिज्ञासा' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्रद्वयेन निरूपणं कृतम् । तत्र 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्रे धर्मस्य लक्षणं प्रमाणचेत्युभयं निरूपितम् । अत्रतु द्वितीयेन सूत्रेण लक्षणं तृतीयेन प्रमाणं च प्रदर्शितम् । पूर्वकाण्डे 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' इत्यादिना अर्थवाद-वाक्यानां विधेकवाक्यत्वेन प्रामाण्याभिधानेन सिद्धपरवाक्यानां प्रामाण्यस्यानिरूपणेन सिद्धार्थे व्युत्पत्तिसमर्थनेन सिद्ध-ब्रह्मपरवेदान्तविचारः कर्तव्य इति प्रथमसूत्रे स्थापितम् । अत्रतु लक्षणं प्रमाणं च नैकेन वक्तुं शक्यते । इति सिद्धब्रह्म-शब्दस्य लक्षणमुखेन व्युत्पत्तिप्रदर्शनं द्वितीयसूत्रे । तत्र धर्मे प्रमाणमुखेनैव लक्षणमिति लक्षणप्रमाणचैकसूत्र एवान्तर्भूतम् । सूत्रान्तरे प्रमाणान्तराप्राप्तमप्याभिहितम् । अत्रतु लक्षणे प्रमाणस्यानन्तर्भावात् द्वितीये लक्षणम् । तल्लक्षणाश्रयस्य ब्रह्मणः प्रमाणमुखेन स्थापितं तृतीये । प्रमाणान्तराप्राप्तत्वं जगत्कारणस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वे तस्यैव विचार्यत्वेन प्राधान्येन प्रतिशा-ततया तस्य जगत्कारणस्यानुमानिकत्वे प्राधान्येन प्रतिशातस्य ब्रह्मणः उपनिषदकगम्यत्वं न स भवतीति शङ्काया तन्निरु-पणार्थं तृतीयसूत्रम् । 'तन्वौपनिषदं पुरुषम्' इति श्रुतौ उपनिषत्तात्पर्यविषयत्वं सविशेषस्यैवेति पूर्वमेव निरूपितम् ॥

सूत्रत्रयेण अधिकारविषयसम्बन्धनिरूपणेन शास्त्रस्यारम्भणीयत्वं स्थापितम् । तत्र शब्दानां सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थ-नेन सिद्धपरवाक्यानामापि प्रामाण्यसाधनमुखेन ब्रह्मणः आनन्दरूपस्य फलत्वेनेच्छाविषयत्वस्य प्रथमसूत्रे विराक्षितत्वमात्रेण शास्त्रस्यारम्भणीयत्वं न सिद्धयति । प्राप्यब्रह्मणः तल्लक्षणकथनमुखेन ब्रह्मपदार्थवनिर्णयः अभिहितः प्राप्तिश्चोपासना-फलम् । एवञ्च विधिवाक्यानामेव फलपर्यवसायित्वमायात ननु सिद्धपरवाक्यानाम् । एवंच सिद्धपरवाक्यानां फलपर्यव-सायित्वाभावे व्युत्पत्तिसमर्थनमात्रेण न प्रामाण्यं साधयितुमशक्यम् । 'अथेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं चादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति जैमिनि-सिद्धान्तस्य व्याससम्मतत्वेन तस्यैवार्थस्य शास्त्रयोर्नित्वाधिकरणे प्रतिष्ठापनेन विधिवाक्यविचारस्यैव जैमिनि-ना कृतत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वयैव वाक्यस्य सफलत्वस्य वाच्यतया सिद्धरोपनिषद्वाक्यविचाररूपब्रह्मविचारस्यानारम्भ-ण्य-त्वमेव पर्यवसितम् । 'शास्त्रयोर्नित्वात्' इत्यत्र शास्त्रीति शास्त्रमिति व्युत्पत्त्या भगवच्छासनावबोधिशब्दोपलब्ध्याः शासनस्यैव विषयतायाः सिद्धान्तसिद्धतया ततोऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावात् प्रयोजनं न स्यादिति शङ्का पुनरभिपद्यते । तादृशकारणात् 'तच्छु समन्वयात्' इति सूत्रम् । तच्छब्देन 'तत्' इति प्रथमान्ते 'शास्त्रयोर्नित्वात्'

## श्रीभाष्यम्

## अथ समन्वयाधिकरणम्

यद्यपि प्रमाणान्तरागोचरं ब्रह्म तथाऽपि प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेन सिद्धरूपं ब्रह्म न  
श्रुतप्रकाशिका

## अथ समन्वयाधिकरणम्

\* यथा मृत्तिकाया घटानिष्पादनशक्त्येऽपि कुलालस्य च निर्माणशक्तौ सत्यामपि दण्डचक्रादिपरिकरापेक्षाऽस्त्येव  
तथा शब्दस्य परिनिष्पन्नब्रह्मप्रतिपादनशक्त्येऽपि ब्रह्मणोऽशब्देन प्रतिपत्तुं शक्यत्वेऽपि बुभुत्साख्यपरिकरापेक्षा प्रमित्यु-  
त्पादने विद्यते । यन्नसाध्यत्वात् बुभु सापेक्षिता । \* साक्षात्तत्त्वपुरुषार्थत्वप्रयुक्ता । तत्रावान्तरपेटिकारूपेण प्रथमेन सूत्र  
द्वयेन शब्दद्वारकमर्थद्वारकं च शक्तिमत्त्वं प्रतिपादितम् । अथ सूत्रद्वयान्तरमवान्तरपेटिका-न्तरं बुभुत्साहेतुनिरूपणपरम् । तत्र  
प्रथमेन तृतीयसूत्रेणाज्ञातत्वरूपो बुभुत्साहेतुरुक्तः । अथ प्रयोजनत्वरूपो बुभुत्साहेतुरुच्यते चतुर्थेन । अर्थे प्रतिपन्नेहि  
प्रयोजनाप्रयोजनत्वचिन्ता प्रतिपत्तिश्च लक्षणत इति जन्मादिसूत्रं द्वितीयमभूत् । जन्मादिक लक्षणचे-माना-न्तरात्तत्सिद्धि-  
रस्यादिति शङ्कायास्तद्गतत्वाच्छास्त्रयोनित्वादिति सूत्रं तृतीयमभूत् । अज्ञातत्वेऽप्यप्रयोजने बुभुत्सानुदयात् प्रयोजनरूपत्व  
मत्र निरूप्यत इति क्रमोऽयमेव ॥

तत्रागान्तरसङ्गतिमाह—यद्यपीति । अज्ञातत्वेनाम बुभुत्साहेतुर्यद्यप्यस्तीत्यर्थः । प्रयोजनं सुखं दुःखनिवृत्तिश्च  
शास्त्रस्य तत्पर्यवसायित्वं तदुपायप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रोधानद्वारा तच्च न सिद्धपरत्वेऽस्ति, तस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्वाभावात् ।

## गूढार्थसंग्रहः

इत्युक्तशास्त्रयोनित्वमेव विवक्षितम् । पूर्वोक्तहेत्वसिद्धिनिरसनपरत्वमस्य सूत्रस्येति सर्वसमतम् । एव च तच्छब्दस्य  
साध्यसमर्पकत्वमेव युक्तम्, तुशब्दः शङ्कानिवृत्तिपरः । ब्रह्मशास्त्रयोनि समन्वयात् इति सूत्रार्थः । तच्छब्दस्य ब्रह्म  
परत्वे वेदान्तत्रेयमित्याध्याहारः कार्यः 'शास्त्रयोनि' इत्यस्यानुषङ्गो वा । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रे ब्रह्मणः  
प्रवृत्तत्वेन 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादौ समासघटकस्यापि ब्रह्मशब्दस्यानुषङ्गेन तस्यैवोत्तरनाप्यनुषङ्गेनार्थवर्णनं सभ-  
वतीति तच्छब्दस्य ब्रह्मपरामर्शित्वं न युक्तम् ॥

अन्वयः ब्रह्मणः शास्त्रेण सन्धः । जगत्कारणब्रह्मणः पूर्वमुपस्थित्या कारणपरशास्त्रमेवात्र विवक्षितम् । कारणपर-  
वाक्यं च 'आनन्दद्वयेव एतद्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि । अत्रैव 'यतो वा' इत्यस्य परिसमाप्तेः शक्त्या  
तात्पर्यतश्च आनन्दत्वेनान्वयात् इति हेत्वर्थः । शास्त्रस्य ब्रह्मणश्च वेद्यवेदकभावएव सन्धः । आनन्दत्वेन शक्त्या वेद्यवम्  
वेद्यव ज्ञानविषयता तत्र सम्यक्तवमानन्दत्वावाच्छित्त्य शक्तिप्रयोज्यत्वं तात्पर्यप्रयोज्यत्वं च ॥

अयमाशयः 'अथातो धर्मजिज्ञासा' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्र साधनत्वेनैव धर्मस्योपस्थितिः ।  
म यश्च धर्मो जिज्ञास्यस्तत्र भूतं च ब्रह्मेह जिज्ञास्यम् । तत्र धर्मस्य विधेयतासम्भवेन प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारकमेव फलं सभ-  
वति अत्रतु जगत्कारणब्रह्मणः आनन्दरूपत्वेन ज्ञानविषयतादशायामेव फलत्वं सम्भवति । नतु विधिवाक्यपर्यालोचनान-  
न्तरकालिकप्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारकफलपर्यन्तापेक्षा । यद्यपि ब्रह्मणः वाक्यजन्यज्ञानेनैव फलसम्भवात् इदानीं वाक्यस्यानुष्ठा-  
नपरत्वाभावेऽपि सफलत्वं सम्भवत्येव । अयं च तात्कालिकानन्दः फलम् इदमेव स्थिरं फलं यथा भवति तथा कर्तव्यम् ।  
एतदर्थमेवोपासनवाक्यम् । अनन्तरकालिकानुष्ठानं जगत्कारणसिद्धब्रह्मणः आनन्दरूपत्वेन ज्ञानदशायाम् फलप्रतिपत्तिं नैव

## श्रीभाष्यम्

शास्त्रं प्रतिपादयतीत्याशङ्क्याह—

## सू.४—तत्तुसमन्वयात् १.१.४

प्रसक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थस्तुशब्दः । तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणस्सम्भवत्येव । कुतः समन्वयात् परमपुरुषार्थतयाऽन्वयस्समन्वयः । परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् ; एवमिव समन्वितोह्यौपनिषदः पदसमुदायः ।

श्रुतप्रकाशिका

## सू.४—तत्तुसमन्वयात् १,१,४

तस्मात्प्रयोजनपर्यवसायित्वाभावेन बुभुत्साख्यपरिकराभावात् सिद्धे शास्त्रे न प्रमितिं जनयतीत्यर्थः । एवंशङ्कायां सूत्रमुदाहरति तत्तुसमन्वयादिति । इहापि साधारणविचारद्वयमर्थसिद्धं ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वं सम्भवति नेति, द्वितीयविचारः तदर्थं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रयोजनशून्यानां वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मपरतयाऽन्वयस्सम्भवति नेति, तदर्थं किञ्चिदस्य प्रामाण्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिपरतया, उत पुरुषार्थपरतयेति ? शब्दस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिपरतयैव प्रामाण्ये ब्रह्मणस्सिद्धरूपस्य शास्त्रप्रमाणकत्वाभावात्तद्विचारानारम्भः शब्दस्य पुरुषार्थपरतयैव प्रामाण्ये पुरुषार्थभूतब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वात्तद्विचारस्यारम्भणीयत्वं फलितम् ॥

एवमर्थसिद्धौ विषयसंशयावधिप्रेत्य सूत्रं व्याचिख्यातुस्तत्र वाक्यार्थयोजनायामेव पदयोजनामन्तर्भावयिष्यन् पृथग् व्याख्येयं, तुशब्दं व्याचष्टे प्रसक्तेति । सर्वेषां सूत्राणां तत्तच्छङ्कायामवतरणेऽस्मिन् सूत्रे \* तुशब्दः प्रदर्शनार्थः तदिति व्याख्येयं पदम् । तद्व्याचष्टे शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मण इति । सम्भवत्येवेत्येतत् तुशब्दफलितम् हेतुपदस्याकङ्क्षा दर्शयति कुत इति । समन्वयशब्दस्योत्तरं विस्तरेण व्याख्यास्यमानत्वादिदानीं संक्षेपेण व्याचष्टे परमपुरुषार्थतयेति । कस्य केन कीदृशोऽन्वय इत्यपेक्षायामाह—परमेति । शास्त्रेण परमपुरुषार्थभूतस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयादित्यर्थः । शास्त्रस्य धीस्यत्वाच्छास्त्रेणेति कण्ठोक्तयमात्रः ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकमिति प्रतिज्ञातेऽस्ति पक्षनिष्ठतया हेतोर्वचनमुचितत्वात् समन्वयो ब्रह्म कर्तृकतया व्याख्यातः न तु शास्त्रकर्तृकतया ॥

कथं तयाविधान्वय इत्यपेक्षायामतदुपपादयति । एवमिति । इवशब्दएवार्थः, एवमेवेत्यर्थः, औपनिषदः पदस-

## गूढार्थसंग्रहः

विषयवितुमशक्यम् । प्राप्तिरूपफलानु उपासनसाधनेषु स्थानात् तत्र विधिवाक्यानामुपयोगेऽपि सिद्धपरगात्रयानां सपरं व शानेनैव संवाह्यते इति सिद्धपरवाक्यविचारस्यारम्भणीयत्वं सिद्धयति ॥ एतत्सर्वमभिप्रेत्याह—तुशब्दः इत्यादिना समन्वयात् इत्यन्तेन । अत्र 'आनन्दोदये' इति वाक्यस्य सत्त्वेऽपि तस्योपक्रमोक्तस्य व्यवहानाभावादिवत् आनन्दव्यपनिषादकत्वेऽपि व्यतिविशेषनिर्णयो न सम्भवतीत्यभिप्रेत्य 'यतोवा' इत्यत्र यच्छब्दनिर्देशेन प्रापकप्रमाणान्तराविधासत्त्वेन सामान्यविशेषमात्रेण कारणबोधकवाक्यादादानपूर्वकं कारणव्यतिनिर्णये तत्त्वानन्दव्यनिर्णये एव राजकुमारनेनेन पुत्रस्य विवृशनेन परसिद्धिर्वा जीवस्य कारणशानेन परसिद्धिस्तत्त्वसम्भवात्यभिप्रेतमर्थं साधयितुमुपक्रमं—एवमिवेत्यादिना ॥

## श्रीभाष्यम्

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ (तै.भृगु.१.अनु) ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत’ (छां ६.२.१) ‘ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्’ (चू.३.४.११) ‘आत्मावा इदमेकएवाग्र आसीत्’ ‘ब्रह्मवा इदमेकएवाग्र आसीत्’ (ऐतरेय.१.१.१) ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः’ (तै आन.१.अनु) ‘एकोहवै

## श्रुतप्रकाशिका

मुदायः परमपुरुषार्थभूते ब्रह्मणि प्रतिपादकत्वेन समन्वितएवहीत्यर्थः । पदसमुदायः वाक्यमित्यर्थः । अपैनिपदवाक्य-बहुत्वेऽपि तेषां वाक्यैकवाक्यभावेनैकार्थपरतयैकराशित्वव्यञ्जनायैकवचनम् । समन्वयइति वाक्यकर्तृकत्वेनोक्तिः, फलिता-र्याभिप्राया नतु सूत्रयोजनाभिप्राया ब्रह्मणि समन्वितानामित्युत्तरत्राप्येवमेव । प्रतिपात्तिक्रमानुरोधेन प्रथमं लक्षणवाक्य-मुपादत्ते यतोवाइति । अथ प्रापक कारणवाक्यमाह—सदेवेत्यादि । सच्छब्दस्य बृहद्बृहत्साधारणत्वाद्विशेषकवाक्य-मुपादत्ते ब्रह्मवाइति । यत्कारणं तद्ब्रह्मेति लक्षणवाक्येनोक्ते, सतः कारणत्वे च कथिते तस्य सतो ब्रह्म व सिद्ध्यतीति न बृहत्त्वनिश्चयो ‘ब्रह्मवाइति’ वाक्यार्थान् दितिचेत्, न; लक्षणवाक्यस्य कारणानुवादित्वेन प्रापकवाक्योपजीवित्वादुपजी-वेषु प्रापकवाक्येष्वेव \* विशेषनिर्धारणशापनार्थेहि ‘ब्रह्मवा’ इति वाक्यमुपात्तम् ॥

सब्रह्मशब्दयोरीक्षणान्वयालिङ्गादचिद्व्यावृत्तवस्तुपरत्वेऽपि तयोश्शब्दयोस्ताधारणतया शब्दसामर्थ्यादचिद्व्यावृत्ति-निश्चयस्तत्र नास्तीति शब्दशक्त्यैव विशेषशापनार्थं आत्मावा इति वाक्योपादानम् । \* ब्रह्मशब्दस्य साधारणत्वेनाम-बहुपर्येषु प्रयुज्यमानत्वं नतु प्रवृत्तिनिमित्तसाधारण्यं प्रवृत्तिनिमित्तभूतस्य निरतिशयबृहत्त्वस्य भगवद्व्यतिरिक्तगामित्व-सदेहसहत्वा \* नहिस्वारसिकात्मशब्दैकार्थ्यं प्रतिपन्नेसति निरतिशयबृहत्त्वस्याचिद्व्यावृत्तिसदेहः सद्विद्याया ‘स आत्मा’ इत्यमशब्दउपसहारस्य इत्युपक्रमस्थेनैवात्मशब्देन विशेषनिश्चयार्थं आत्मावा इति वाक्यमुपात्तम् । यतोवा इमानि इत्यादिप्रकरण एव ‘आनन्दाद्वयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यानन्दशब्देन कारणे निर्दिष्टेऽपि ‘यदेव आकाश आनन्दो नस्यात्’ इत्याकाशशब्दसामानाधिकरण्यादानन्दशब्देनाचिद्व्यावृत्तिनिश्चयः प्रतिबद्धइत्यभिप्रायेणा-चिद्व्यावृत्तेस्मृत्येन प्रतिपत्त्यर्थं आत्मावा इति वाक्योपादानम् । सर्वशाखाप्रत्यय-न्यायेन विनाऽपि प्रकरणादेव ब्रह्मशब्द आत्मपरइति शापनार्थं एतदधिकरणापेक्षितानन्दरूपताप्रतिपादकप्रकरणस्यतया तज्ज्ञापनार्थोपादत्ते । तस्माद्वा एतस्मा-दात्मनइति । ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इतिहि तत्र प्रकृतम् । ‘अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्’ इति च तत्र वक्ष्यते ॥

अथ ‘छागो वा मन्त्रवर्णात्’ इति न्यायात् सामान्यशब्दानां देवताविशेषे पर्यवसानं दर्शयति । एकोहवा इति । ‘सेयं देवतैक्षत’ योब्रह्माणं प्रिदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तंह देवम्’ सईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय’ ‘ईशानो भूतभव्यस्य’ ‘तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्’ इत्यादिषु श्रुतानां देवतादिशब्दानां पूर्वपूर्वपेक्षया विशेषशब्दानामपि \* साक्षा कारणवाक्यस्यत्वाभावात् । तेषु च रुढिमता मपि \* देवतादिशब्दानां व्यक्तिविशेषे रूढत्वाभावादीशादिशब्दानां च जगत ईशो नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनायेति सम-भिध्याहृतप्रकृत्यन्तपदनिर्देशादिभिरवयवार्थविषयाः स्फुटत्वेन \* निमग्नरूढितया साधारणत्वाच्च चरमविशेषशब्दप्रदर्शनेन तेषामपि तपर्यवसानमर्थसिद्धं स्यादित्यभिप्रायेण ‘सेयं देवता’ इत्यादिवाक्यान्यनादृत्य ‘एकोहवै नारायणः’ इत्या-दिवाक्यमुदाहृतम् ॥



## श्रुतप्रकाशिका

हिरण्यगर्भादयश्चब्दा आकाशप्राणादिशब्दवदयोग्यार्थाः, शिवादिशब्दाश्च ब्रह्मण्येषु प्रयोगात् साधारणा इति सदा दिशब्दवन्नविशेषोपस्थापनक्षमा इत्यभिप्रायः । \* 'वचनानित्यपूर्वत्वात्' 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति न्यायेन 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' 'उपरिहि देवेभ्यो धारयति' इति वाक्यवदिदं महोपनिषद्वाक्यमप्यप्राप्तार्थोपस्थापकत्वादा-काशप्राणादिवाक्यवदयोग्यार्थोपस्थापकत्वाभावाच्चानन्यापेक्षं स्वार्थं प्रतिपादयति 'नसन्नचाराच्छिव एव केवलः' इति वाक्यविरोधादिदं वाक्यमयोग्यार्थमिति चेन्न 'सदेव सोम्येदमग्र' इति वाक्यविरोधेन 'नसन्नचासत्' इत्यादिवाक्यस्यायोग्यार्थत्वसङ्गात् ॥

साधारणस्य सच्छब्दस्य शिवपर्यवसानाविरोधात् नात्रायोग्यार्थत्वमिति चेत् तर्हि शिवशब्दस्य च ब्रह्मण्येषु प्रयोगात् साधारणस्य नारायणपर्यवसानाविरोधात् नात्रायोग्यार्थत्व, ब्रह्मशिवादीनां हि कार्यत्वमिन्द्रादीनामिष ब्रह्मीभिश्च्युतिभिः प्रतिपाद्यते । यजुषे 'अजस्य नाभावध्येकमपितं यस्मिन्निदं विश्वं भुवनमधिश्चितं, विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवः' 'सप्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्' 'तस्माद्विराडजायत, विराजो अधिपुरुषः' महोपनिषदि 'तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत' सुबालोपनिषदि—'अद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवत् तत्सर्वत्सरमात्रमुषित्वा द्विधा करोदधस्ताद्भूमिमुपरिष्ठादाकाश मध्ये पुरुषो दिव्यस्सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्यारभ्य 'सोमे भूतानां मृत्युमसृजत् तस्य ब्रह्माऽविभेत् सो ब्रह्माणमेव विवेश' इति, अत्र परमपुरुषात्मनः पुरुषो ब्रह्मा समुत्पन्न इति श्रुतः पुरुषशब्दद्वयश्रवणात् मृत्युभयवत्त्वश्रवणाच्च, श्वेनाश्वतरे 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'महान्प्रभुर्वै पुरुषस्सत्त्वस्यैव प्रवर्तकः' 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इति च हिरण्यगर्भोपतिरवगम्यते । तथा महोपनिषदि 'त्रयक्षश्शूलपाणिः पुरुषोऽजायत' सुबालोपनिषदि 'ललाटात्क्रोधजो रुद्रोऽजायत' बृहदारण्यके 'ब्रह्मवा इदमेकमेवाग्र आसीत् \* तदेकं सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत् क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणि \* इन्द्रो वरुणस्सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः' इति । तथा शतपथे—'अभूद्वा इदं प्रतिष्ठा' इत्यारभ्य 'भूतानां च प्रजापतिः संवत्सरायादीक्षिपत् भूतानांपतिः गृहपतिरसीदुषाः पत्नी' इत्यादिकमुक्त्वा 'भूतानां पतिस्संवत्सरउपासि रेतोऽसिञ्चत् संवत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरोदीत् तं प्रजापतिरब्रवीत् कुमार किं रोदिपि यच्छ्रमात्तपसोधि जातोऽसीति सोऽब्रवीत् अनपहतपाप्मावा अहमस्मि अविहितनामा नाम मे धेहि पाप्मनोपहत्या इति तमब्रवीत् रुद्रोऽसीति तदस्य तन्नामाकरोत् अग्निस्तद्रूपमभवत्' इत्यारभ्य शर्वपशुपतिप्रभृतिनामकरणं पृथिवीसलिलादिमूर्तिप्रदानचोक्तम्, रुद्रवाक्यादेवानपहतपाप्मत्वं च तस्य श्रुतम् । तत्रैव शतरुद्रीयब्राह्मणे 'प्रजापतेर्विसृता देवता उदक्रामन् तमेकएव देवो नजहान्महामन्युरेव सोऽस्मिन्नन्तर्हितोऽतिष्ठत् सोऽरोदीत् तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दन् तान्यास्मिन्मन्यौ प्रातिष्ठन् स एष शतशीर्षा रुद्रस्समभवत्' इति ॥

अत्र प्रजापतेः क्रुद्धस्य क्रोधजाद्युसम्भवत्वं मन्युरूपस्य रुद्रस्याभिहितम् । क्रोधस्य चाशुहेतुव प्रसिद्धम्—

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नास्त्रविन्दवः । दीप्ताभ्यामिष दीपाभ्यां सार्चिपरस्त्रेहविन्दवः ॥

इति । तथा शैलालिब्राह्मणे—'प्रजापतिर्वै प्रजाकामस्तपोऽतप्यत्' इत्यारभ्य अग्निवाय्वादित्यचन्द्राणामुत्पत्तिं तेषां रेतस्कन्दनं चोक्त्वा 'सप्रजापतिर्हिरण्यमयं चमसमकरोदिपुमात्रमूर्ध्वमेव तिर्यञ्चं तस्मिन् रेतस्समसिञ्चत् तत उदतिष्ठत् सहस्राक्षरसहस्रपात् तत्सहस्रेण प्रतिहिताभिस्सप्रजापतिं पितरमभ्यायच्छत्तमब्रवीत् कथमभ्यायच्छसीति नाम मे कुर्वित्यब्रवीत् नवा इदमविहितेन नाम्ना अन्नमत्स्यामीति शर्वो वै त्वमित्यब्रवीत् भवणवेति यद्वयः' इत्या



### श्रुतप्रकाशिका

स्य भवशर्वादिनामकरणं सलिलादिमूर्तिप्रदानचोक्त्या 'स एषोऽष्टनामाष्टधा विहितो महादेवः' इति नामाष्टकमूर्त्य-  
ष्टकाच्च प्रजापतिना विहितमिति स्पष्टतरमुक्तम् । तल्लकारिणा कर्मांग्मे--'इदं कर्म करिष्यामि तन्मे समृध्यतां तन्म  
उपपन्नतां विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये ब्रह्मण पुत्राय ज्येष्ठाय श्रेष्ठायामोघाय कर्माधिपतये नमः' इति, तथा छन्दो  
गानान् कर्मांग्मे 'तस्मै विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये तुह्याय विश्वेदेवाय सहस्राक्षाय ब्रह्मण पुत्राय नमः' इति च मन्त्र  
द्वयेन मन्त्रस्य ब्रह्मपुत्रत्वमभिहितम् । पुनस्तु च 'यो ब्रह्मा ब्रह्मण उज्जहार प्राणेश्वर वृत्तिनासा पिनाकी' इति  
ब्रह्मण उद्धृतम् मन्त्रस्योक्तम् उज्जहार उद्धूतेत्यर्थः । अतो हिरण्यगर्भादीनां कार्यत्वापगमेन तद्वानिदं दानामयोग्यार्थ-  
त्वात् नारायण एव सदादिशब्दाः पर्यवस्यन्ति ॥

ननु 'हिरण्यगर्भस्समवर्ततामे' 'न सन्नचासन्निष्ठ एव केवलः' 'एको ह वै नारायण आसीत्' 'ब्रह्मा  
विष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे संप्रसूयन्ते' इति त्रयाणामपि देवानां कारणवकार्यवयोरपेक्षेण श्रवणादयोग्यत्वशङ्कायास्त्रिष्वपि  
तुल्यत्वाज्जन्मन ऐच्छिकत्वेनायोग्यपरिहारस्य त्रिष्वपि सुवचत्वात् । कारणैकत्वावधारणस्यानुरोधेन वाद्रूदेरपरित्यागस्य स्वतः-  
प्राप्तत्वाच्च, त्रयाणामप्यैक्याश्रये परमकारणत्वमभ्युपगन्तव्यम् । नैवम् त्रयाणामविशेषेण कार्यत्वश्रवणाभावादेव त्रिष्वप्ययो-  
ग्यत्वशङ्कायास्तुल्यत्वाभावात् तस्याहि प्रकरणस्योपक्रमे 'कश्च ध्येयः' इति ध्येयविधिपरत्वमवगतमिति कार्यत्वमनूयते  
अनुवादश्च प्रापकानुरोधेन स्यात् । लक्ष्मीपतिविषय उत्तरनारायणानुवाके भगवदुत्पत्तिरवताररूपा श्रूयत इत्यस्मिन्वाक्ये  
भगवदवतारानुवादः ब्रह्मशिवयोरेववतारश्रुत्यभावादिन्द्रवरुणादितुल्योत्पत्तिरनूद्यत इति नाविशेषण कार्यत्वश्रवणम् ॥

किञ्च उत्पत्तिश्चेत्कर्माधीनदेहसङ्गतिरित्युत्सर्गसिद्धम् । तच्च ब्रह्मशिवयोरनपेक्षितं नारायणत्ववतारश्रुत्याऽपेक्षित-  
'प्रजापतिर्देवानसृजत ते पाप्मना सन्दिता अजायन्त' इति प्रजापतिसृष्टदेवानां सामान्येन पाप्मसबन्धश्रुतः  
विशेषतो रुद्रस्यानपहतपाप्मत्व शतपथे स्ववाक्यादेव दर्शितम् । 'एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव  
एको नारायण' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम एषाहि सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः'  
'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु' 'स उत्तम पुरुष' इति पुण्डरीकाक्षस्याकर्मकृतविग्रहवत्त्वचोक्तम् । एव वैषम्येन  
स्फुटत्वेनोत्पत्तिसाम्यशङ्काया दूरविध्वस्ततया योग्यार्थनारायणादिशब्दानामिवायोग्यार्थब्रह्मशिवादिशब्दानां रूढिपरित्यागा-  
भावेऽनुसन्नः ॥

यादि रुद्रस्य परमकारणत्वं तदुत्पत्तेरवताररूपत्वं च आस्तिकतैर्मैवोद्भिदरुच्यते तर्हि भवतामिन्द्रे क प्रद्वेषः 'इन्द्रो  
मायाभि पुरुरूप ईयते' 'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे संप्रसूयन्ते' इति कारणवकार्यत्वेहि ब्रह्मशिवयोरपेक्षेन्द्रस्यापिश्रूयेते  
अत्र इन्द्रस्य परमकारणत्वं तदुत्पत्तेः परमकारणभूतेन्द्रावताररूपत्वं चाश्रित्येन्द्रशब्दस्य योग्यार्थव किमिति नाभ्युपगम्यते ।  
'प्रजापतिरिन्द्रमसृजत' इति तस्य सृज्यत्वश्रवणात्, त्वाष्ट्रवधरूपब्रह्महत्याभिभूतत्वश्रवणात् प्रायश्चित्तादिश्रवणाच्चेति  
चेत् इन्द्रस्य जन्मवृत्तापकर्षयोगः कृष्णस्य वसुदेवग्रहजन्म कालयवननिमित्तपलायनवल्लीला किं न स्यात् । इन्द्रस्य परम  
कारणत्वस्यैकत्वे स उत्तरनारायणप्रतिपाद्यव तस्मिन्सति जन्मवृत्तापकर्षसंयोगस्य लीलात्व तस्मिन्सतीन्द्रशब्दस्य परमका-  
रणत्वस्यैक्यमिति चक्रकाश्रयप्रसङ्गादेकस्मिन्नेव वाक्ये सोमवरुणयमादिवत् सृज्यत्वप्रतीतिश्च नैवमिति चेत् । तर्हि रुद्रस्य  
परमकारणत्वस्यैक्यमिति उत्तरनारायणप्रतिपाद्यान्तर्भाव तेन जन्मकर्मापकर्षस्य लीलात्व तेन शिवादिशब्दानां योग्यार्थत्व  
तेन परमकारणत्वस्यैक्यमिति चक्रकप्रसङ्गः । सोमवरुणादिवत्तास्मन्नेव वाक्ये सृज्यव सहाय्यवश्रवणाच्च, शिवादिशब्दा-  
नामयोग्यार्थत्व दुष्परिहरम् । भगवज्जन्मनोऽवताररूपत्वे तु न चक्रकप्रसङ्गः ॥

## श्रीभाष्यम्

‘नारायण आसीत्’ (महोपनि.१.अ.१.वा) ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै.आन.१.अनु) ‘आनन्दो ब्रह्म’ (भृगु.६) इत्येवमादिः ।

## श्रुतप्रकाशिका

‘तस्माद्विराडजायत’ इति कारणतयोक्तस्य परमपुरुषस्य महापुरुषशब्देनोत्तरनारायणे प्रत्यभिज्ञातस्य लक्ष्मीपतेः ‘अजायमानः’ इत्यादिवाक्येनावतारस्य प्रतिपादितत्वात् \* कार्यकारणविषयशिवादिशब्दानां भिन्नार्थत्वाच्चायौ-  
न्यार्थत्वमिति चेत् ; किं कार्यविषयशिवादिशब्दानां प्रसिद्धरूपपरत्व उत कारणविषयाणां प्रथमे प्रसिद्धरूपस्याकाशादिव स-  
ज्यत्वात्तद्व्यतिरिक्तविषयशिवादिशब्दानां योग्यार्थनारायणपदोपस्थापितविशेषपरत्वमवर्जनीयम् । कारणविषयशिवादि-  
शब्दाः प्रसिद्धरूपराः कार्यविषयास्तु तदतिरिक्तविषया इति चेत् कारणेन्द्रशब्दः प्रसिद्धेन्द्रपरः कार्यविषयेन्द्रशब्दस्तदतिरिक्त  
पर इति किं न स्यात् ? वृत्रघादिकर्तरीन्द्रशब्दव्युत्पत्तेरिति चेत् त्रयक्षदशूलपाण्यादिपर्यायेन शिवादिशब्दव्युत्पत्तेः ‘त्रयक्षः  
शूलपाणिः पुरुषोऽजायत’—

उमापतिः पशुपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणस्सुतः । उक्तवानिदमन्यत्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥

इति शूलपाण्यादिशब्दानां कार्यविषयतया प्रयोगाच्च कारणविषयशिवादिशब्दानां प्रसिद्धरूपपरत्वमयुक्तम् । कारणविष-  
याणां नारायणादिशब्दानां प्रसिद्धविष्णुपरत्वमुक्तम् । अवतीर्णस्य कारणस्य च धर्म्यैक्ये प्रमाणस्य दर्शितत्वादर्थभेदा-  
भावात् । अर्थभेदे सति कार्यकारणविषयनारायणादिपदेषु कस्य प्रसिद्धार्थता कस्य तदतिरिक्तविषयतेति विचारसंभवः ।  
कार्यकारणभूतरूपधर्म्यैक्ये विन्धर्म्यैक्य इव चक्रकापत्तिरवर्जनीयेत्युक्तम् । अतः कार्यकारणविषयशिवादिशब्दानामर्थभे-  
दाङ्गीकारेण कारणविषयशिवादिशब्दाः प्रसिद्धेतरार्थविषया इति नारायणमेवाभिदधति नारायणादिशब्दानां प्रसिद्धार्थस्य  
योग्यतयाऽर्थभेदाभावाद्धर्म्यैक्यस्य प्रमाणप्रतिपत्तत्वाभावाच्च । अतो महोपनिषदप्रतिपादिते नारायणएव सद्ब्रह्मादिशब्दाः  
पर्यवस्यन्तीति भावः ॥

अथ कारणतया निर्दिष्टस्य ब्रह्मणश्शक्तिरूपोपव्यावर्तकं शोधकवाक्यमाह—सत्यमिति । उक्तगुणविभूत्यादिवि-  
शिष्टस्य ब्रह्मणः पुरुषार्थत्वज्ञापनायाह—आनन्दो ब्रह्मेति । \* आनन्दत्वं ह्यनुकूलत्वं अनुकूलत्वं च स्वतद्दृष्टत्वम् । तद-  
पीष्टसाधनत्वं निवर्त्य प्रातिकूल्याभ्यां विनापीष्टत्वम् । तच्च विषयगतं तद्विषयज्ञानस्याप्यनुकूलत्वादानन्दत्वम् । \* भगवतो  
मुक्तानां निरतिशयभोग्यत्वेनानुकूलतया स्वरूपतो घर्मतश्चानन्दत्वम्, स्वविषयज्ञानस्य स्वरूपस्य च स्वात्मानप्रत्यनुकूलत्वा  
च्चानन्दत्वम् इत्येवमादिरौपनिषदः पदसमुदाय इति पूर्वेणान्वयः ॥

एवमन्वितेषु वाक्येषु प्रस्तुतपुरुषार्थत्वोपयोगित्वेन कोऽर्थः प्रतिपन्नः सच किमापातप्रतिपन्नः ? उत तात्पर्यभूमिः  
न प्रथमः तस्य तार्किकत्वनिश्चयायोगात् । न द्वितीयः प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावेन तदयोगादिति शङ्कायां \* प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वय  
प्रामाण्यव्यापकः अतस्तद्व्याप्य प्रामाण्यं तद्विरहे न सिद्ध्यतीति किमुच्यते ? किं वा प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयः प्रयोजनव्यापकः  
प्रयोजनं च प्रामाण्यव्यापकमिति प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहे तद्व्याप्यप्रयोजनभावात्तद्व्याप्यं प्रामाण्यं न सिद्ध्यतीति युच्यते इति

## गूढार्थसंग्रहः

एवमादिरिति । ‘आनन्दाद्वैव सत्त्वमानि भूतानि जायन्ते’ इति तदनन्तरश्रुतिः आदिपटार्यः ॥

## श्रीभाष्यम्

### नच व्युत्पत्तिनिर्दिष्टपरिनिष्पन्नवस्तुप्रतिपादनसमर्थानां

#### गूढार्थसङ्ग्रहः

प्रथमसूत्रे 'तन्त्रोपनिषदं पुरुषम्' 'विज्ञानमानन्दब्रह्म' 'येनाक्षरपुरुषं तत्परतो ब्रह्मविद्याम्' 'एतदे सत्यकामपरं चारं ब्रह्म' 'परपुरुषमभिध्यायीत' 'परात्पर पुरिशय पुरुषमीक्षते' इत्यादौ पुरुषपदार्थवासुदेवस्यैव ब्रह्मत्वप्रतिपादनेन वासुदेव एव जिज्ञास्यत्वेन प्रतिनिधिपादयिष्यत इति पूर्वमेव निरूपितम् । ब्रह्मविन्दूपनिषदि 'स्वरेण सधेययोगम्' इत्युपक्रमे योगसाधनत्वेनोक्तप्रणवघटकनादर्थः उपसंहार 'तदस्यैव वासुदेवः' इत्यत्र वासुदेव इति स्फुटं प्रतीयते । 'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' इत्यत्र नारायणादिशब्दानामेकार्थत्वं व्यक्तम् । 'सांख्य नः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्' इत्येनद्राधे व्यापनशीलस्य ब्रह्मण परमात्मनः वासुदेवाख्यस्य 'विष्णोः' इति शङ्कराचार्यः विवरणं कृतम् । अन्तर्यामिब्रह्मणभाष्ये 'ईश्वरो नारायणाख्यः' इत्यपि तैरेवोक्तम् । एतेन पुरुषशब्दार्थं स्वरूपशीलं सर्वान्तर्यामी नारायण इति शङ्कराचार्याणामपि समतमिति प्रतीयते ॥

तच्छिष्याः सुरेश्वराचार्याः—'कृष्णद्वैपायनो व्यासः वेदामा ध्वान्तहानिकृत् । प्राहेममेव बहुशः प्राणिनां हितं कांक्षया ॥ नारायणः परोऽव्यक्ता दण्डमव्यक्तसम्भवम् । अण्डस्यान्तरिक्षमे लोकाः सप्तद्वीपाश्च भेदिनी ॥ तस्मै नमोऽस्तु देवाय निर्गुणाय गुणात्मने । नारायणाय विश्वाय देवानां परमात्मने ॥ एतमेव समुद्दिश्य मन्त्रो नारायणस्तथा । वेदविद्भिर्महाप्राज्ञैः पुरुषैर्विनियुज्यते ॥' इति वार्तिके प्राहुः । अत्रानन्दगिरिविवरणम्—'न केवलं पुराणागमभ्यामेव सोऽधिगम्यते, किंतु श्रुत्यश्ररैरेवेत्याह—एतमेवेति । 'सहस्रशीर्षं देव विश्वाद्य विश्वशम्भुवम् विश्वं नारायणदेवमक्षरं परमं विभुम्' इत्यादिमन्त्रः वेदार्थविद्भिर्निर्यामिणमुद्दिश्य विनियुक्तः अतस्तवैदिकइत्यर्थः' इति 'आद्य पुरुषमीशानम्' 'मङ्गलं मङ्गलं विष्णु नास्ति नारायणसमं नभूतं न भविष्यति' 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' इत्यादिपञ्चोक्तक्रमवचनेषु प्रागुक्तार्थः स्फुटः । वेदार्थसंग्रहे 'समुद्रशायिवल्गुपतिवत्त्वादिलिङ्गैः' व्यक्तिविशेषानिर्णयउक्तः । एवं 'वेदविद्भिर्निर्यामिणमुद्दिष्टाः वेदास्साङ्गाः हरिं प्राहुर्जगज्जन्मादिकारणम् ॥' इत्यपि साधितम् । स्तोत्रभाष्यादावाचार्यपादैः अयमर्थः प्रतिष्ठापितः । विस्तरस्तु वेदान्तकौस्तुभादौ अस्मदीय हयशिरोरत्नभूषणतद्दीधित्योश्चावसेयः ॥ 'एवाविष्टं सुखरूपज्ञानस्य विशेषकत्वम् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्तुनरसातिशयमस्थिरञ्च, ब्रह्मणस्त्वनवधिकातिशयं स्थिरञ्च इति ; 'आनन्दो ब्रह्म' इत्युच्यते विषयायत्तत्वाज्ञानस्य सुखरूपतया ब्रह्मैवसुखम् । तादृदमाह—'रसो वै सः रसगुह्योऽयं लब्धवान् दीभवति' इति ; 'ब्रह्मैव सुखम्' इति ब्रह्म लब्ध्वा सुखीभवतीत्यर्थः । परमपुरुषः स्वनैव स्वयमनवधिकातिशयस्त्वरसन् परस्यपि सुखं भवति, सुखरूपत्वाविशेषात् ; ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयो भवति समुखीभवतीत्यर्थः । तदेव परस्य ब्रह्मणः अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरस्य निरवयवस्य अनन्तमहाविभूतेः अनवधिकातिशयसौशील्यवात्सल्यसौन्दर्यजलधेः सर्वशेषिवात् आत्मनः शेषत्वात्प्रतिसङ्घितया अनुसन्धीयमानमनवधिकातिशयप्रीतिविषयं सत् परंब्रह्मैवैतन्मात्मानं प्रापयति इति' इति अतः कर्मकृतमेव परमपुरुषव्यतिरिक्तविषयाणां सुखत्वम्, अतएव तेषामल्पत्वमस्थिरत्वं च । परमपुरुषस्यैव स्वत एव सुखत्वम् अतः तदेव स्थिरमनवधिकातिशयं च, 'कंब्रह्म एतद्ब्रह्म आनन्दो ब्रह्म' 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः इति वेदार्थसंग्रहोक्तार्थः अत्रोपात्त 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुतावनुसंधेयः । अयमेवार्थः 'समन्वयात्' इत्यत्र विवाक्षितइत्यभिप्रेत्य तमर्थं निरूपयति—नच व्युत्पत्तिसिद्धे इत्यादिना उत्तरप्रत्ययेन ॥

## श्रीभाष्यम्

पदसमुदायानामखिलजगदुत्पत्तिस्थितिविनाशहेतुभूताशेषदोष प्रत्यनीकापरिमितोदारगुण सागरानवधिकातियानन्दस्वरूपे ब्रह्मणि समन्वितानां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रयोजनविरहादन्यपरत्वं स्वविषयावबोधपर्यवसायित्वात्सर्वप्रमाणानाम् । नच प्रयोजनानुगुणा प्रमाणप्रवृत्तिः प्रयोजनं हि प्रमाणानुगुणम् । नच प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वं पुरुषार्थान्वयप्रतीतिः । तथा स्वरूपपरेष्वपि पुत्रस्ते जातो नायं सर्पइत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

विकल्पमभिप्रेत्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयस्य प्रामाण्यव्यापकत्वं नास्तीत्याह—नचेति । व्युत्पत्तिसिद्धेति प्रथमसूत्रार्थानुवादः । सिद्धवस्तुनोऽपुरुषार्थत्वाज्ज्ञातप्रतिपादयितुं शक्नोति प्रतिपन्नेऽपि न तत्र तात्पर्यं सिद्धे व्युत्पत्त्यभावादिति नवाच्यम् ; सिद्धे वस्तुनि व्युत्पत्त्युपपादनादिति भावः । प्रमाणान्तरगोचरत्वप्रयुक्ताऽन्यपरत्वशङ्काव्युदासायोदाहृतकारणवाक्यप्रतिपन्नमर्थमाह—अखिलेति । शोधकवाक्यप्रतिपन्न कारणवाक्यैश्च सिद्धमर्थमाह—अशेषेति । साङ्ख्याद्याभिमतप्रकृतिपुरुषपरत्वं दुर्वचमिति भावः ॥

पुरुषार्थपरत्वाभावादन्यपरत्वव्युदासायाह—आनन्दस्वरूपइति । अन्यपरत्व तात्पर्याभावः ब्रह्मणि प्रामाण्याभाव इत्यर्थः प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहे कथं प्रामाण्यमित्यत्राह—स्वविषयेति । प्रमाणानि हि स्वविषयावबोधे पर्यवस्यन्ति नतु प्रवृत्तिनिवृत्त्योरित्यर्थः । अथ प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयस्य प्रयोजनव्यापकत्वमभ्युपगम्य प्रयोजनस्य प्रामाण्यव्यापकत्वाभावमाह—नच प्रयोजनेति । तदुपपादयति प्रयोजनं हीति । हिशब्दो हेतौ । यद्वा प्रयोजनस्य प्रामाण्यव्यापकत्वाभावप्रसिद्धिर्हि शब्दाभिप्रेता, यथा तन्त्रटीकायां ‘नहि लोष्टं पश्यतस्तद्दर्शनं निष्प्रयोजनम्’ इति सुवर्णदर्शनता कल्प्येतेति तदा हेतुत्वमर्थसिद्धम् । प्रयोजनव्यापकत्वं प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयस्यास्तु तेन तन्निवृत्तौ प्रयोजनमेव निवर्तते नतु प्रामाण्यं प्रयोजनस्य प्रामाण्यव्यापकत्वाभावादित्यर्थः, नचेत्यत्र \* चशब्दो व्यापकद्वयनिषेधसमुच्चये । यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयस्य प्रामाण्यव्यापकत्वमयुक्तम् तथा प्रयोजनस्य च प्रामाण्यव्यापकत्वमयुक्तमित्यर्थः ॥

प्रत्यक्षादिषु प्रयोजनस्य प्रामाण्यव्यापकत्वाभावेऽपि शास्त्रे प्रयोजनस्य प्रामाण्यव्यापकत्वमस्तीति शङ्काया प्रयोजनव्याप्यत्वं शास्त्रप्रामाण्यस्यास्तु तथाऽपि प्रयोजनस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्याप्यत्वं नास्तीत्याह—नच प्रवृत्तीति । वाक्यस्येत्यव्याहारः । कुतइत्यत्राह—पुरुषार्थान्वयप्रतीतिरिति । इदं पञ्चविषय प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्वाभावेऽपि पुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयप्रतीतिरित्यर्थः । नचेत्यत्र चशब्दो व्याप्यत्वनिषेधद्वयसमुच्चये । यथा प्रामाण्यस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्याप्यत्वं नास्ति तथा प्रयोजनस्यापि प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्याप्यत्वं नास्तीत्यर्थः ॥ प्रामाण्यस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्याप्यत्वाभावस्वविषयावबोधेत्यादिना सिद्धः । सपञ्चत्वाभिमते लौकिकेऽपि सिद्धपरवाक्ये पुरुषार्थान्वयं दर्शयति—तथेति । यथा प्रवृत्तिपरत्वं निवृत्तिपरत्वं वा न प्रयोजनपर्यवसायित्वं किंतु पुरुषार्थपरत्वमेव तथा प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वं सिद्धवस्तुपरत्वं वा न प्रयोजनपर्यवसायित्वम् अपि तु साध्येन वा सिद्धेन वा पुरुषार्थेनाविवृत्यमेव वाक्यस्य प्रयोजनपर्यवसायित्वमि-युक्तं भवति पुरुषार्थान्वयप्रतीतिरित्युक्तत्वात् ॥



## श्रीभाष्यम्

अत्राह—नवेदान्तवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयन्ति प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्ययद्विरहिणश्शास्त्रस्या-  
नर्थक्यात् । यद्यपि प्रत्यक्षादीनि धस्तुयाथात्म्यावयोधे पर्यवस्यन्ति तथापि शास्त्रं प्रयोज-  
नपर्यवसाय्येव नहि लोकरुवेदयोः प्रयोजनरहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलब्ध-  
चरः । न किञ्चित् प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः श्रवणं वा सम्भवति । तच्च प्रयोजनं प्रवृ-  
त्तिनिवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारात्मकमुपलब्धं अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्, मन्दग्नि-  
र्नाम्बु पिबेत्, स्वर्गकामो यजेत, न कलञ्जं भक्षयेत्, इत्येवमादिषु । यत्पुनस्सिद्धवस्तुपरे  
प्यपि पुत्रस्ते जातः नायंसर्पो रज्जुरेपेत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूपपुरुषार्थान्वयो दृष्टव्युक्तम्  
तत्र किं पुत्रजन्माद्यर्थान्पुरुषार्थान्वाप्तिः ? उत तज्ज्ञानादिति विवेचनीयम् सतोऽप्यज्ञात-  
स्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तज्ज्ञानादिति चेत् तर्ह्यसत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थेऽसिद्धवर्तीत्यर्थपर-  
त्वाभावेन प्रयोनपर्यवसायिनोऽपि शास्त्रस्य नार्थसद्भावे प्रामाण्यम् । तस्मात्सर्वत्र प्रवृत्ति  
निवृत्तिपरत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजनपर्यवसानमिति

## श्रुतप्रकाशिका

एव सूत्राक्षरयोजनार्थं संक्षेपेणार्थ उक्तः—अथ तात्पर्यार्थं वक्तु पूर्वपक्ष विस्तरेणावतारयति अत्राहेति । एता-  
वयधिकरणार्थं उक्ते लब्धस्वदूषप्रसङ्गः पूर्वपक्ष्याहोत्यर्थः । ब्रह्मणश्शास्त्रप्रतिपाद्यत्वाभाव प्रतिजानीते । नवेदान्तेति ।  
सौतच्छब्देन शास्त्रयोनित्वस्य परामृष्टत्वात् पूर्वपक्षिणा तदभावोऽपि प्रतिज्ञात इति हि शायते । प्रतिज्ञा(त)मुपपादयति  
प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्ययविरहिणश्चेति । तदन्वयामावे प्रतिपादनमेव नपूर्येतेति भावः । तथा च वार्तिकम्—

यावत्सल्लु प्रमातृणां प्रवर्तननिवर्तने । शब्दा न कुर्वते तावन्ननिराकाङ्क्षबोधनम् ॥

इति । शास्त्रस्येति । शासनाद्धि शास्त्र, शासन च प्रवर्तननिवर्तनात्मकं तत्र वार्तिक—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रं तूपपद्यते ॥ इति ।

पूर्वोक्त प्रमाणानां स्वमिषयावबोधित्वमाशङ्क्य तत्प्रमाणविशेषे व्यवस्थापयन् शास्त्रस्य प्रयोजनपर्यवसानावश्यम्भव  
माह—यद्यपीति । तदुपपादयति नहीति । न केवलमनुपलब्धिरेव अनुपपत्तिरप्यस्तीत्याह—न किञ्चिदिति । किञ्चित्—  
स्वसन्धि परसन्धि वा अल्प प्रभूत वा, वाक्यप्रयोगादेर्यत्नसाध्यत्वात् यत्नस्य प्रयोजनेन विनाऽनुपपन्नत्वादित्यर्थः ;  
वाक्यानां प्रयोजनपर्यवसायित्वादेर्विह पुनरुक्तेः प्रयोजनाभावाद्दूषणञ्च निष्प्रयोजनवाक्यप्रयोगस्तच्छ्रवणयाऽनुपपन्नस्यात्  
ततः किं प्रस्तुतस्य प्रयोजनपर्यवसायिनां वाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वस्य सिद्धपरत्वेऽपि हि प्रयोजनपर्यवसायित्वमुपपद्यत  
इत्याह—तच्चेति । प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वेन लोकवेदयोः प्रयोग दर्शयति अर्थार्थीत्यादिना । प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेऽपि  
प्रयोजनपर वाक्य दृष्टमिति शङ्कायां सिद्धपरत्वेनोक्तं वाक्यं दूषयितुमनुवदति यत्पुनरिति । विकल्पयति तत्रेति । प्रथ-  
मकोट्यनुपपत्त्या द्वितीयशिरोऽभ्युपगम शङ्कते सतोपीति । दूषयति तर्हीति । तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

पूर्वपक्षितात्पर्यनिरूपणपूर्वकं सिद्धपरवाक्यानां प्रयोजनाभावे न प्रामाण्यमिति पूर्वपक्ष विशदयति—अत्राहेत्यादिना ।  
तथाऽपि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसाय्येति । 'समन्वयात्' इत्यत्र शक्यार्थस्यैव तात्पर्यावधारणस्य विवक्षितत्वेन



## श्रीभाष्यम्

कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासम्भवान्न वेदान्ताः परिनिष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति ॥ अत्र कश्चिदाह—वेदान्तवाक्यान्वयपि कार्यपरतयैव ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवन्ति । कथम् ? निध्रपञ्चमद्वितीयं ज्ञानैकरसम् ब्रह्मानाद्यविद्यया सप्रपञ्चतया प्रतीयमानं निध्रपञ्चं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपञ्चप्रविलयद्वारेण विधिविषयत्वमिति । कोऽसौ द्रष्टृदृश्यरूपप्रपञ्चप्रविलयद्वारेण साध्यज्ञानैकरसब्रह्मविषयो विधिः 'नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः नमतेर्मन्तारं मन्वीथाः' (वृ.५.४.२) इत्यादिः । द्रष्टृदृश्यरूपभेदशून्यं दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः ।

## श्रुतप्रकाशिका

जरन्मायावादिपक्षौ द्वौ विद्येते । तत्रैको निध्रपञ्चीकरणनियोगवादः अन्यो ध्याननियोगवादः । एतन्मतद्वयं ध्याननियोगवादिमुपेन शाङ्करवादिमतं च दूषितवन्तमधिकरणपूर्वपक्षिणप्रति सिद्धान्तं वक्ष्यन्निदानो निध्रपञ्चीकरणनियोगवादप्रस्तौति अत्र कश्चिदाहेति । तत्र प्रतिजानीते वेदान्तेति । कार्यपरस्य वाक्यस्य सिद्धवस्तुनि प्रमाणभावः कथमित्यभिप्रेयन्नाह—कथमिति । उत्तरमाह—निध्रपञ्चमिति । कुर्यादित्यत्रेति शब्दः प्रकारपरः निध्रपञ्चीकरणविधिना ब्रह्मणः कोऽन्वयइत्यपेक्षायामन्वयमाह—ब्रह्मण इति । विषयत्वेनान्वयइत्यर्थः । सिद्धस्वरूपस्य ब्रह्मणो विधिविषयवानुपपत्तिशङ्कापरिहारार्थं प्रपञ्चप्रविलयद्वारेण युक्तम् । अत्र सिद्धस्य साधनत्वमाकारभेदादविरुद्धमिति गर्भितम् । इह त्विति शब्दस्समाप्तौ । कथमित्यस्योत्तरत्वेन इत्थमिति वार्थः ॥

विधिं दर्शयितुमाकाङ्क्षामुत्थापयति । कोऽसाविति । कतिपयनाशेऽयं शक्तस्य विश्वप्रपञ्चनाशनविधिरशक्य इत्यभिप्रायः, विधिः विधिवाक्यम् । आविद्यकस्य प्रपञ्चस्य बुद्धिनिवृत्तिमात्ररूपो विलयश्शक्य इत्यभिप्रायेण वाक्यमुपादत्ते—नदृष्टेरिति । दृष्टिभ्यतिरिक्तत्वाविशेषात् ज्ञेयनिषेधोऽपि फलितः । आदिशब्दोपात्तश्रुत्यन्तरैः कण्ठोक्तश्च । आत्यन्तिकनिवृत्तेः असिद्धत्वाद्विधेयत्वं च युक्तमिति भावः । शून्यशब्देन आत्यन्तिकनिवृत्तिर्विवक्षिता । मात्रशब्देन द्रष्टृदृश्यकल्पकाविद्यानिवृत्तिः ततएव ह्यान्तिकत्वसिद्धिः, सिद्धस्य ब्रह्मणो विधेयत्व कथमिति शङ्काया प्रपञ्चप्रविलयद्वारेणेति पूर्वं विवक्षितमर्थं

## गूढार्थसङ्ग्रहः

‘उपक्रमोपसहाराभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये ॥’ इति अपूर्वत्वावाधितत्वरूपोपपत्त्योरिव फलस्यापि तात्पर्यनिर्णायकत्वेन फलाभावे तात्पर्यं न समभवतीति ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वेन तात्पर्यविषयत्वं दुरुपपादमित्याशयः । तमेतमर्थमाह—कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासम्भवादिति ॥

परैः ध्याननियोगवाद एकएवान्न उपन्यस्य दूषितः । उभयलिङ्गाधिकरणे ‘यदप्याहुः आकारवादिभ्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुपेन आकारप्रतिपत्त्यर्था एव, न पृथगर्था इति । तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते’ इत्यादिना निध्रपञ्चीकरणवाददूषयित्वा ‘वस्तुमात्रपर्यवसायीनिहि ब्रह्मवाक्यानि ननियोगोपदेशीनि’ इत्येतद्विस्तरणं प्रतिष्ठापितं ‘तत्तु समन्वयात्’ इत्यत्र इत्युक्तम् । अतः नियोगवाददूषणं ‘तत्तु समन्वयात्’ इत्यत्र विवक्षितमिति परेषामपि समनम् । एवं च ध्याननियोगवादस्येव निध्रपञ्चीकरणनियोगवादस्यापि अत्रैवोपन्यस्य दूषणं युक्तमित्यभिप्रेत्याह—अत्र कश्चिदाहेत्यादिना । परैः ‘युक्ताहस्य हरयः’ इत्याद्युक्तप्रपञ्चानां ‘तदेतद्ब्रह्मापूर्वम्’ इत्यादौ प्रविलयोक्त्या प्रविलयार्थत्वम् (वृ) ‘मनोमयः प्राणशरीरः’ (छा) इत्याद्युक्तानां ‘सकृत् कुर्यात् इत्याद्युक्तोपासनार्थत्वमेव नतु प्रविलयार्थत्वम् इति पार्थ

## श्रीभाष्यम्

स्वतस्सिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चतारूपेण कार्यत्वमविरुद्धमिति । तदयुक्तम् नियोगवाक्यार्थं वादिना हि नियोगो नियोज्यविशेषणं, विषयः करणम् इति कर्तव्यता प्रयोक्ता च वक्तव्याः तत्र हि नियोज्यविशेषणमनुपादेयम् । तच्च निमित्तं फलमिति द्विधा, अत्र किं नियोज्यविशेषणं तत्र किं निमित्तं फलंवेति विवेचनीयम् ? ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभवश्चेन्नियोज्यविशेषणं तर्हि नतन्निमित्तं जीवनादिवत्तस्यासिद्धत्वात् । निमित्तत्वे च तस्य नित्यत्वेनापवर्गोत्तरकालमपि जीवननिमित्ताग्निहोत्रादिवत् नित्यतद्विषयानुष्ठानप्रसङ्गः । नापि फलम्

श्रुतप्रकारि ।

विक्षरेणाह—स्वतस्सिद्धस्यापीति ॥

यदा पूर्वं भावार्थं यतिरित्यस्य त्रिष्विषयवानुपपत्तिः परिहृता इहतु स्वतस्सिद्धस्येत्यादिना प्रपञ्चविलयद्वारेण सिद्धरूपस्यापि त्रिष्विषयवानुपपत्तिः परिहृतेतिभिदा । \* भावार्थादयत्नत्वं स्वर्गादेरप्यास्तं नतत्र सिद्धत्वं साध्यहितत्—अधिकरणपूर्वपक्षी मीमांसक्या दूषयति तदयुक्तमिति । कथमित्यत्राह—नियोगेति । विशिष्यन् विषयइति व्युत्पत्त्या विषयोपागमादः । \* इति साध्यापूर्वप्रतिपत्तिवेलया वृत्त्यवच्छेदकत्वेन सविषय स एव कार्यनिष्पत्तौ करणं वक्तव्याः, नत्वयावस्तु शक्यमिति भावः । प्रथमनियोज्य विशेषणं दूषयितुमाह—तत्रेति । तत्र तेषु वक्तव्येषु नियोज्यविशेषणमनुपादेयम् उपादेयविधेयम् तद्व्यतिक्तमित्यर्थः । विकल्प्य दूषयितुं विशेषणद्वैविध्यमाह—तत्रेति । ततः किमित्यत्राह—अत्रेति अत्र निष्प्रपञ्चीकरणनियोगे नियोज्यविशेषणस्वरूपं शङ्कते ब्रह्मस्वरूपेति । निमित्तता दूषयति तर्हीति । कुत इत्यत्राह—जीवनादिवदिति । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र जीवनस्य सिद्धत्वाद्यथानिमित्तत्वं न तथेत्यर्थः । \* पुत्रजन्मादिवद्यदासिद्धयत् तदा निमित्तत्वं भविष्यतीत्यत्राह—निमित्तत्वेचेति । अपवर्गोत्तरकालमपि नानुष्ठानप्रसङ्गः यावन्निमित्तमनुष्ठाननियमाभावात् परिकरशून्येषु तात्रियमाभावो दृष्टः । तस्मात्करणकलेरविरहेण न तदानीमनुष्ठानमिति चेत् हन्त स्वदूषणमव स्वयमाभिष्करोमि । तथाहि सप्रपञ्चतयाऽनुभवस्य यथार्थानुभवरूपत्वाभावादपवर्गोत्तरमावयव याथार्थ्यानुभवः । तदानीं करणकलेवराभावेऽपि विषयानुष्ठानं शक्यं नवा अशक्यत्वे विधेयत्वमेव न स्यात् । अतः शक्यमिति वक्तव्यम् । अतो निमित्तस्य नित्यं चात्रैमित्तिकस्य नित्यं शक्यत्वाच्च नित्यं तदनुष्ठानप्रसङ्ग इति भावः ॥

फलाया विशेषणत्वं दूषणमाह—नार्पीति । नियागानुपपत्तिं वक्तुमाह—कश्चेति । शङ्कते ब्रह्मैवेति । दूषयति ।

## गूढार्थसंग्रहः

गर्ह्यमत्र वाक्यानां नत्वकवाक्यं वमित्यादिदूषणमुक्तम् । एवमविभागस्य श्रुतिता पर्याविषय वमालोच्य अन्यथा स्वयदूषयति तदयुक्तमित्यादिना ॥

नापि फलमिति । ननु द्वैतप्रपञ्चप्रविलया नियोगविषया भविष्यति अप्रविलापितहि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्वावबोधो न भवति । अत्र ब्रह्मतत्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्च प्रविलाप्य । यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठानत्वं उपदिश्यते एवमपर्यगकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः, यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुभुसमानं तत्प्रत्यनीकभूतं तमं प्रविलाप्यते एव ब्रह्मतत्त्वमवबुभुसमानेन तत्प्रत्यनीकभूतं प्रपञ्चं प्रविलापयितव्यं । ब्रह्मस्वभावोऽहं प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावः ब्रह्म तेन नाम रूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्वावबोधो भवतीति' इति पूर्वपक्षाशय परैरुक्तः । अत्र प्रपञ्चप्रविलयत्रिकल्पेन परैर्दूषणमु

## श्रीभाष्यम्

नैयोगिकफलत्वेन स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात् । कश्चात् नियोगविषयः ? ब्रह्मैवेति चेत् न तस्य नित्यत्वेनाभ(भा)व्यरूपत्वात् अभावार्थत्वाच्च निष्प्रपञ्च ब्रह्म साध्यमिति चेत्—साध्यत्वेऽपि फलत्वमेव, अभावार्थत्वान्नविधिविषयत्वम् । साध्यत्वं च कस्य ? किं ब्रह्मणः, उत प्रपञ्चनिवृत्तेः ? न तावद्ब्रह्मणः सिद्धत्वात् अनित्यत्वप्रसङ्गश्चेत् । अथ प्रपञ्चनिवृत्ते न तर्हि ब्रह्मणः साध्यत्वम् प्रपञ्चनिवृत्तिरेव विधिविषय इति चेत् न । तस्याः फलत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । प्रपञ्चनिवृत्तिरेव हि मोक्षः स च फलम् । अस्य च नियोगविषयत्वे नियोगात्प्रपञ्चनिवृत्तिः प्रपञ्चनिवृत्त्या नियोगवृत्तिरेतराश्रयत्वम् । अपि च किं निवर्तनीयः प्रपञ्चः मिथ्यारूपः सत्यो वा ? मिथ्यारूपत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वादेव नियोगेन न किञ्चित्प्रयोजनम्, नियोगस्तु निवर्तकज्ञानमुत्पाद्य तद्द्वारेण प्रपञ्चस्य निवर्तक इति चेत् तत्स्ववाक्यादेव जात-

## श्रुतप्रकाशिका

नति । हेतुमाह—तस्येति अ(भा)व्यरूपत्वात् असाध्यत्वात् अभावार्थत्वाच्च । \* भावार्थाः कर्मशब्दाः त्रिरूपत्वाभावादित्यर्थः । \* साध्यत्वं फलस्याप्यस्तीति तद्व्यावर्तक भावार्थत्वम् । ननु भयभावादिनि यावत् निष्प्रपञ्चाकारेण साध्यत्व शङ्कत निष्प्रपञ्चमिति । प्रतिवदति साध्यत्वेऽपीति । फलत्वमेवेति । विषयत्ववच्च फलव्यतिरिक्तं न स्यात् फलव्यतिरिक्तत्वाभावाद्विषय वमयुक्तमिति तात्पर्यम् ॥

\* हेतुन्तर कण्ठोक्त्या दर्शयन्विषयं च दूषयति अभावार्थत्वान्नविधिविषयत्वमिति । \* विशिष्टस्य विषय वा नुपपत्तिरुक्ता । अथ विशेष्याशस्य विशेषणाशस्य च विषयवानुपपत्तिं वक्ष्यन्विकल्पयति साध्यत्वचेति । यद्वा विशिष्टस्य साध्यत्वान्युपगमेन विषयत्व दूषितम् । अथ विशिष्टस्य साध्यत्वं दूषयितुं विकल्पयति साध्यत्वचेति । विशिष्टस्य साध्यत्वानुपपत्तिर्हि विशेषणस्य विशेष्यस्योभयस्य च साध्यवानुपपत्त्या स्यात् तत्रोभयस्यति विकल्पानुत्तिदिशोद्वेगन तुल्यदूषणत्वात् । प्रथमं दूषयति न तावदिति । कुत इत्यत्राह—सिद्धत्वादनित्यत्वप्रसङ्गश्चेति । सिद्धत्वात्साध्यत्वं साध्यत्वाङ्गीकारेण भावरूपत्वे सति साध्यत्वादनित्यत्वप्रसङ्गश्चेत्यर्थः । द्वितीयं शङ्को अथेति । दूषयति न तर्हीति । प्रपञ्चनिवृत्तेरसाध्यत्वे ब्रह्मणः साध्यत्वाभावाच्च विधिविषयत्वमित्यर्थः । प्रपञ्चनिवृत्तेर्विधिविषय वमाशङ्क्य दूषयति प्रपञ्चेत्यादिना । तस्याः फल वमुपपादयति प्रपञ्चनिवृत्तिरेव हीति । प्रपञ्चनिवृत्तिर्मोक्षोऽस्तु । ततः किं विषयवानुपपत्तेरित्यत्राह—न चेति । प्रपञ्चनिवृत्तेर्मोक्षरूपत्वाभ्युपगमस्य च फलत्वात् फलभूताया न विषय वमित्यर्थः । दूषणं न्तरमाह—अस्य चेति । अस्या इति वक्तव्येऽपि फलविवक्षया अस्येति वृत्तिः फलं च विषय वचेत्याकारद्वयान्युपगम प्रपञ्चनिवृत्ति फलत्वान्नियोगसाध्या । विषयत्वात् प्रपञ्चनिवृत्त्या नियोगसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः ॥

निष्प्रपञ्चीकरणपक्षे मुक्तान्तरेण दूषणमाह—अपि चेति । \* यद्वा नियोगविषयदूषणेनान्योन्याश्रयेण नियोगमश्रूयते भवति । मुक्तान्तरेणापि नियोग दूषयति अपि चेति । दूषयितुं विकल्पयति किमिति । प्रथमं दूषयति मिथ्येति साक्यं शङ्कत नियोगास्त्विति । दूषयति तदिति । स्वनाक्यात् प्रपञ्चमिथ्या । ब्रह्मनिर्विशेष वपरवाक्यादित्यर्थः । नियो-

## गूढार्थसंग्रह

सम् । तन्मतमयमर्थैव तदुक्तदूषणानाम् । अधिकदूषणानि । तन्नुभाष्यम् ।—नैयोगिकफलस्येत्यादिना ॥

## श्रीभाष्यम्

मिति नियोगेन न प्रयोजनम् वाक्यार्थज्ञानादेव ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य याधितत्वात् स्पर्शिकरस्य नियोगस्यासिद्धिश्च । प्रपञ्चस्य निवर्त्यत्वे प्रपञ्चनिवर्तको नियोगः किंब्रह्मस्वरूपमेव उत तद्व्यतिरिक्तः ? यदि ब्रह्मस्वरूपमेव निवर्तकस्यनित्यतया निवर्त्यप्रपञ्चसद्भावे एव न सम्भवति । नित्यत्वेन नियोगस्य विषयानुष्ठानसाध्यत्वं च न घटते । अथ ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तः तस्य कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठानमाध्यत्वेन प्रयोक्ता च नष्टइत्याशयाभावादसिद्धिः । प्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठानेनैव ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य निवृत्तत्वात् न नियोगनिष्पाद्यं मोक्षारण्यं फलम् ॥

किञ्च प्रपञ्चनिवृत्तेर्नियोगकरणस्य इतिकर्तव्यताऽभावात् । अनुपकृतस्य च करणत्वा योगाच्च करणत्वम् । कथमिति कर्तव्यताऽभाव इति चेत् इत्थम् ; अस्येतिकर्तव्यता भावरूपा, अभावरूपा वा ? भावरूपा च करणशरीरनिष्पत्तितदनुग्राहकार्यमेदमिच्छा उभयविधा च न सम्भवति, नहि मुद्राभिधातादिवत् कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य निवर्तकः कोऽपि दृश्यत इति दृष्टार्थो न सम्भवति । नापि निष्पन्नस्य करणस्य कार्योत्पत्तावनुग्रहस्सम्भवति अनुग्राहकांगसद्भावे कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणस्वरूपासिद्धेः । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वज्ञानं प्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणशरीरं निष्पादयतीति चेत् तेनैव प्रपञ्चनिवृत्तिरूपो मोक्षस्सिद्ध इति न करणादिनिष्पाद्यमवशिष्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । अभावरूपत्वेचाभा(त्वा)वादेव न करण

## श्रुतप्रकाशिका

गस्य निष्फलत्वदूषणोक्त्या नियोज्यविशेषण च दूषितं भवति नियोगसाध्यफलस्यैव फलतया नियोज्यविशेषणत्वादिति तदयोगाच्च, दूषणान्तरमाह—वाक्यार्थज्ञानादेवेत्यादिना ॥

पूर्वं विकल्पितशिशोद्वये द्वितीय शिशो दूषयितुमाह—प्रपञ्चस्येति । प्रपञ्चस्य सत्यत्वे नियोगनिवर्त्यत्वद्वयार्थः । किमित्यादिना विकल्प्य प्रथम दूषयति यदीत्यादिना । द्वितीय दूषयितुं तदभ्युपगम शङ्कते अथेति । दूषयति तस्येति तस्येत्यादिना नष्टइत्यन्तेन प्रयोक्तृदूषणं कृतमभवति । प्रपञ्चनिवृत्तीत्यादि प्रपञ्चसत्यत्वोऽपि फलाभावोक्तिमुखेन नियोगो दूषितः । करणमिति कर्तव्यता च दूषयति किञ्चेति । इतिकर्तव्यताया अभाव विवरीतुमाह—कथमिति । प्रतिवाक्ति—इत्थमिति । भावरूपात्पक्षे द्वौ पक्षौ माह—भावरूपाचेति । करणशरीरनिष्पत्तिरवघातवत् प्रोक्षणवच्च दृष्टादृष्टार्थतया विशेषेणाभिप्रेतम् । तत्र किमित्यत्राह—उभयविधेति । उभयविधा निष्पादिका अनुग्राहिका च निष्पादकपक्षे प्रथमदृष्टार्थे दूषणमाह—नहीति । कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणशरीरनिष्पादिकाभावरूप दृष्टार्थो न सम्भवतीत्यर्थः । अदृष्टार्थोऽस्ति चेत् प्रपञ्चस्य प्रसङ्गः । अप्रामाणिकत्वं चेति स्फुटमिति न कण्ठोक्तम् ॥

अथानुग्रह दूषयान् नापीति । तदसम्भवमुपपादयति अनुग्राहकेति । \* अनुग्राहकाहि करणानन्तरभावी कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणानन्तरमनुग्राहकास्तिश्रुतिर्नैव करणमेव न सिद्धं स्यात् । यदा करणासिद्धिः न तदानीमनुग्राहको विद्यत इत्यनुग्राहकासम्भारइत्यर्थः । इतिकर्तव्यतासद्भावात्मुखेन करणासिद्धि शङ्कते ब्रह्मण इति । दूषयति तेनैवेति । करणादिनिर्गता करणनिष्पाद्यो नियोगः नियोगनिष्पाद्य फलमित्यादिशब्दार्थः । करणचेत् स्वकार्यकरस्यात् तदभावात् करणत्वमप्युक्तमित्यर्थः । अथाभावरूपेतिकर्तव्यता दूषयति अभावरूपत्वइति । अभावादेव—अभावरूपेतिकर्तव्यताया अप्रामाणिक



## श्रीभाष्यम्

शरीरं निष्पादयति । नाप्यनुग्राहकः, अतो निष्प्रपञ्चब्रह्मविषयो विधिर्नसंभवति ॥

अन्योऽप्याह यद्यपि वेदान्तवाक्यानां नपरिनिष्पन्नब्रह्मस्वरूपपरतया प्रामाण्यम् । तथाऽपि ब्रह्मस्वरूपं सिद्धयत्येव । कुतः? ध्यानविधिसामर्थ्यात् । एवमेव हि समामनन्ति 'आत्मावा अरे द्रष्टव्यः निदिध्यासितव्यः' (बृ.४.४.५) 'य आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यः' (छा.८.७.१) 'आत्मेत्येवोपासीत, आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ.३.४.७: १५) इति । अत्र ध्यानविषयो हि नियोगस्त्वविषयभूतध्यानं ध्येयैकानिरूपणीयमिति ध्येयमाक्षिपति । सच ध्येयस्त्ववाक्यनिर्दिष्ट आत्मा सकिंरूपइत्यपेक्षायां तत्स्वरूपविशेषसमर्प-

## श्रुतप्रकाशिका

वादेवेत्यर्थः । निवृत्तिरूपशमादीनां नामावरूपेति कर्तव्यतात् तेषां ज्ञाननिष्पादकत्वेन प्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणनिष्पादकत्वायोगादिति भावः । अत्राभावादेवेत्येकारेण पूर्वमदृष्टार्थभावरूपेति कर्तव्यताया अप्रामाणित्वस्याभिप्रेतं न गम्यते । दूषणमुपसहरति अतइति । विधि. नियोगः निष्प्रपञ्चीकरणविषयो नियोगइत्यर्थः । अतः प्रवर्तकवाक्येनैव ब्रह्मस्वरूपसिद्धिरिति वक्तुं न शक्यमिति फालितम् ॥

अथ ध्याननियोगवादिषममुपक्षिपति अन्योऽप्याहेति । ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां स्वात्स्त्र्येण प्रामाण्याभावाद्गङ्गा कृत्याह—यद्यपीति । तर्हि कथं तासिद्धिरित्यत्राह—तथापीति । व्याघाताभिप्रायेणाह—कुतइति । हेतुमाह—ध्यानविधीति ध्यानविधिः कः तस्य सामर्थ्यं कथमित्यत्राह—एवमेवहीति । यथा वाक्यानां ध्यानपरत्वेऽपि परिनिष्पन्नं सिध्यति तथैवेत्यर्थः । ध्यानविधिवाक्यानाह—आत्मावाइति । निदिध्यासितव्य इत्युपासनमुक्तम् द्रष्टव्यइति तस्य दर्शनरूपं यम् विजिज्ञासितव्यइति सामान्यशब्दः आत्मेत्येक्योपासनमुक्तम् आत्मानमिति स्वस्य जगत्तादात्म्योपासनम् । सामर्थ्यदर्शयति अत्रेति । ध्येयमाक्षितमस्तु \* तद्वहेति कथं ज्ञायतइत्यत्राह—सधध्येयइति । आकाङ्क्षायां साधितमेव योग्यचेत्तत् परित्यक्तुं न युक्तम् । गामानयेत्यादिषु हि तथा दृष्टमिति भावः ॥

## गूढार्थसंग्रहः.

अतो निष्प्रपञ्चब्रह्मविषयो विधिर्नसंभवतीति । विधिरित्युपलक्षणं वेदसामान्यस्य । तेन ब्रह्मासिद्धौ नियोगा-काण्डे नियोगदूषयित्वा 'सर्वप्रत्ययवेद्येवा ब्रह्मस्वरूपं व्यवस्थिते । प्रपञ्चस्य प्रविलयशब्देन प्रतिपाद्यत ॥ प्रविलेने प्रपञ्चेन तद्रूपेण नगोचरः । मानान्तरस्येति मतमाग्रायैकनिबन्धनम् ॥' आग्रायैकनिबन्धनत्वं तु तस्योच्यते । प्रत्यक्षादीनामविद्या-सम्भितत्वात् प्रत्यस्तमितानिषिद्धभेदेन रूपेणाविषयीकरणाद्वेदप्रत्ययस्याग्रायैकगम्यत्वादिति । इति सिद्धिकाण्डे मण्डनमिश्रेण सिद्धान्तकरणमपि निरवकाशमिति बोध्यम् । जिज्ञासाऽधिकरणे श्रुतीनां प्रपञ्चप्रविलयार्थत्वासम्भदस्य स्थापितत्वात् । एतेन परैः (शं) 'युक्ताहस्य हरयः' इत्यादीनां प्रविलयार्थत्वोक्तिरपि निरवकाशा । 'तदेतद्ब्रह्म' इत्यादेरन्यार्थत्वस्य प्रथमाधिकरणएव साधितत्वात् ॥

समन्ययाधिकरणभाष्ये (शं) परैः 'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' इत्यादि ध्याननियोगवादिमतं यदुपन्यस्त तदेव निरूपयति—अन्योऽप्याहेत्यादिना । तत्रोपात्ताः श्रुतीरुदाहरति—आत्मावा अरे द्रष्टव्यइत्यादिना । गङ्गाध्यायः । विशिष्य तन्मते परिपृष्टोपन्यस्यति—अत्र ध्यानविषयो हि नियोग इत्यादिना—श्रवणादिविधानमनर्थकं स्यादित्यन्तेन ॥



## श्रीभाष्यम्

णद्वारेण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.आनन्द.१.अनु) 'मदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां-६.२.१) इत्येवमादीनां वाक्यानां ध्यानविधिशेषतया प्रामाण्यमिति विधिविषयभूतध्यान शरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपेऽपि तात्पर्यमस्त्येव । अतः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा.६.२.१) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि ध्येतरेतो' (छा.६.८.७) 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (कठ.वल्ली १.१) इत्यादिभिर्ब्रह्मस्वरूपमेकमेव सत्यम् तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्येत्यवगम्यते । प्रत्यक्षादिभिर्भेदावलम्बिता च कर्मशास्त्रेण भेदः प्रतीयते, भेदाभेदयोः परस्परविरोधेन सत्यनाशविद्या मूलत्वेनापि भेदप्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थ इति निश्चीयते तत्र ब्रह्मध्याननियोगेन तत्साक्षात्कारफलेन निरस्तसमस्ताविद्याकृतविधिभेदाद्वितीयज्ञानैक्यसब्रह्मभावरूपमोक्षः प्राप्यते । नच वाक्याढ्याकार्यज्ञानमात्रेण ब्रह्मभाजसिद्धिः अनुपलब्धे विविधभेददर्शना नुपपत्तेश्च । तथा च सति श्रवणादिप्रधानमनर्थकं स्यात् ॥ अथोच्येत रज्जुरेणा

## श्रुतप्रकाशिका

स्वरूपमात्रप्रतिपादकानां कारणशोधकवाक्यानामपि विध्यपेक्षितसमर्पकं वेनैव प्रामाण्यमित्याह—सर्विरूपइति । शोधितस्वरूपस्य ध्येयत्वात् सत्यादिवाक्य प्रथममुपात्तम् । तदनुगुणार्थतया रुदेति कारणवाक्य पश्चादुदाहृतम् ध्यान-शरीरानुप्रविष्टेति । 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' इति भावः अस्त्येति । स्ववाक्यप्रतिपन्नस्वर्गादि कल्पविषयस्य 'यस्मिन्नोष्णम्' इत्यादिवाक्यस्यैव विधिशेषतया प्रामाण्यमिति भावः । ध्येयब्रह्मस्वरूपाह ध्यानशरीरानु-प्रविष्ट प्रपञ्चमिध्यात्वस्य ध्यानशरीरानुप्रवेशात् कथं भेदनिषेधे तात्पर्यमित्याह—अतइति । अतः, विधिशेषभू स्य सिद्धार्थे तात्पर्यसद्भावात् । अद्वितीय ब्रह्म ध्येय भेदनिषेधश्रुतयश्च ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वपरा ब्रह्मणाऽद्वितीयत्वमेव भेदमि-ध्यात्वमिति ध्यानशरीरानुप्रविष्टे भेदनिषेधे तात्पर्यमस्तीत्यर्थः ॥

भेदग्राहिप्रमाणविरोधान्नाम्नमद्वितीय ब्रह्मप्रतिपादयति 'आदित्योयूप' इत्यादिवदिति शङ्का परिहर्तुं प्रत्यक्षादिभिर्विद्वद्विप्रतीतिमभ्युपगच्छति प्रत्यक्षादिभिरिति । शङ्का परिहरति भेदाभेदयोरिति । भेदप्रतीतेरन्यथासिद्धत्वादनन्यथा-सिद्धशास्त्रावगतमैक्य तात्त्विकमित्यर्थः । तर्हि विषय करण, प्रयोक्ता फलमित्यादिवक्तव्यम् । नियोगनिवर्त्यत्वे प्रपञ्चरत्य-त्वप्रसङ्गः । नित्यप्राप्तत्वाद्ब्रह्ममात्रेण न फलमित्यत्राह—तत्रेति । ध्याननियोगेनेति ध्यानस्य विषय वस्तुत्तम् । नियागा-मोक्षश्चेतजानामोक्षइति शङ्का व्युत्पद्यते तत्साक्षात्कारफलेनेति । नियागस्योपायत्व ज्ञानद्वारकमित्यर्थः । निरस्तेत्या-दिना । आविद्यानिवृत्तिः फलमि युक्तम् । तदयं फलतया नियोज्यप्रतिपादनम् उपासक प्रयोक्ता । जमादिरितिकर्तव्यतया-यस्माक सिद्धमिति भावः वाक्यार्थज्ञानमात्रा-मोक्षवादिन दूषयति नचेति । प्रत्यक्षविरोधमाह—अनुपलब्धेर्विविधभेद-दर्शनानुवृत्तेश्चेति । शास्त्रविरोधमाह—तथाचसतीति ॥

अथ साक्षान्मायावादिना स्वमत पश्चाद्विवक्षता प्रथम ध्याननियोगवादिपक्ष(स्य)प्रतिक्षेपमाशङ्क अथोच्येतेति । य-धस्य ज्ञानमात्रनिवर्त्यत्व सोपपत्तिकमाह—रज्जुरेपेति । निवर्त्यमिध्यात्व ह्युभयसम्मतम् । अतएव नियोगनैरपेक्ष्यम् ह

## गूढार्थसङ्ग्रह

'अत्रामिधीयत' इत्यादिना परभाष्योक्तदूषणा यनुरदति—अथोच्येत इत्यादिना—तत्परेणैव पदसमुदायेन सिध्यतीत्यन्तेन । 'तद्विषये लब्धादयश्श्रूयमाणा अध्यानयोज्यावि-यत्वा कुण्ठीभव-युपलादिषु प्रयुक्तधुरतैक्ष्ण्यादिवत्,

## श्रीभाष्यम्

न; सर्प इत्युपदेशेन सर्पभयनिवृत्तिदर्शनात् । रज्जुसर्पवत् बन्धस्य च मिथ्यारूपत्वेन ज्ञान-  
बाध्यतया तस्य वाक्यजन्यज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता न नियोगेन नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानि-  
त्यत्वं स्यात् स्वर्गादिवत् मोक्षस्य नित्यत्वं हि सर्ववादिसंप्रतिपन्नम् । किंच धर्माधर्मयो फल-  
हेतुत्वं स्वफलानुभवानुगुणशरीरोत्पादनद्वारेणेति ब्रह्मादिस्थावरान्तचतुर्विधशरीरसंबन्ध-  
रूपसंसारफलत्वमवर्जनीयम् । तस्मान्नधर्मसाध्यो मोक्षः । तथा च श्रुतिः—‘ न ह वै सशरी-  
रस्य सतः प्रियाप्रिययोग्यहतिरस्ति । अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृजत ’ (छा.८.१२.  
१) इति अशरीरत्वरूपे मोक्षे धर्माधर्मसाध्यप्रियाप्रियविरहश्रवणात् न धर्मसाध्यमशरी-  
रत्वमिति विज्ञायते । न च नियोगविशेषसाध्यफलविशेषवत् ध्याननियोगमाध्यमशरी-  
रत्वम् । अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वेनासाध्यत्वात् । यथाऽऽहुश्चतुर्थः—‘ अशरीरं शरीरेष्वनव-  
स्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति । ’ (कठ.२.२२.१४) ‘ अप्रा-  
णो ह्यमनाश्चुभ्रोऽसङ्गो ह्ययं पुरुषः ’ (मुण्डक.२.१.२) इत्याद्याः अतोऽशरीरत्वरूपो मोक्षो  
नित्यइति न धर्मसाध्यः तथा च श्रुतिः—‘ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मादृताकृतात् ।  
अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ’ (क.२.२२.१४) इति ॥ अपि च उत्पत्तिप्राप्तिवि-  
कृतिसंस्कृतिरूपेण चतुर्विधं हि साध्यत्वं मोक्षस्य न सम्भवति । न तावदुत्पाद्यः मोक्षस्य  
ब्रह्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात् नापि प्राप्यः आत्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणोनित्यप्राप्तत्वात् । नापि वि-  
कार्यः दध्यादिवदनित्यत्वप्रसङ्गादेव नापि संस्कार्यः संस्कारो हि दोषापनयनेन वा

## श्रुतप्रकाशिका

नेति । अन्यथाऽनिष्टमाह—नियोगेति । मोक्षानित्यत्वस्य तदनिष्टतामाह—मोक्षस्येति । नियोगो विपरीतफलप्रदश्चत्वाह—  
किंचेति । द्वारेणेत्यन्तेन प्रसङ्गनीयप्रसङ्गकयोर्व्याप्तिर्दर्शिता । अवर्जनीयमित्यन्तेन प्रसङ्गः । तत किमिति तत्राह—तस्मा-  
दिति । तस्मात् संसारफलत्वप्रसङ्गात् वाक्यस्य संसारफलत्वस्य निवृत्त्या व्याप्य धर्मसाध्यवच्च निवृत्तिरिति । \* मोक्ष-  
स्य शरीररूपत्वश्रुत्या च नियोगसाध्यवमाह—तथाचेति । अशरीरत्वरूपे मोक्षे धर्माधर्मफलरूपप्रियाप्रियसत्त्वविरहश्रव-  
णात् मोक्षस्य धर्मसाध्यवामात्रः फलितइत्याह—इत्यशरीरत्वरूपइति ।

एवं नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्य धर्माधर्मफलसम्बन्धराहित्यश्रवणानुपपत्तिरिति श्रुत्यर्थापत्तिरुक्ता भवति । यथानियो-  
गविशेषस्य पापनिवृत्तिः फलमुच्यते तद्वन्नियोगविशेषस्य बन्धनिवृत्तिफलं व सम्भवेत्यत्र ह—नचेति । नियोगविशेषफल-  
विशेषशब्दाभ्यां प्रायश्चित्तपापक्षपणं विवक्षिते ; कुतइत्यत्र ह—अशरीरत्वस्येति । अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वे श्रुतिमह—  
यथाऽहुरिति । अप्राणइति । अप्राणमनस्सम्बन्धाभावात् अशरीरत्वसिद्धिः अशरीरस्य हि प्राणमनस्सम्बन्धइति भावः अतः  
अशरीरत्वस्यासंस्वरूपत्वावगमादित्यर्थः । न कर्तुं कर्मफलसम्बन्धविरहादशरीरत्वस्य स्थानादिकं च न नियोगसाध्यं च भ-  
वति सद्धः अपितु कण्ठात्तथेत्याह—तथा च श्रुतिरिति । \* अन्यत्र धर्मात् धर्मादन्यत्र धर्मेण विना अनन धर्मसत्त्वधरा  
हित्यमुक्तम् । सम्बन्धस्य साध्यसाधनभाव इति भावः । अत्र कृताकृतशब्देन क्रियमाणमुच्यते भूतभविष्यशब्दाभ्यां भूतभ-  
विष्यती । मुक्तान्तरेण मोक्षस्य नियोगसाध्यं व दूषयति अपिचेति । साध्यत्वस्य वैविध्यवदस्तदसम्भवाद्—उत्पत्तिरिति  
माध्वशब्देन किं निवृत्ताविद्य स्वरूपं विवक्षितम् ? उताविद्यानिवृत्तिरिति विवक्ष्ये स्वरूपस्य विद्यादित्येव न हृदिधसाध्यं वा  
नुपपत्तिमाह—न तावदित्यादिना । निवृत्तेरपि वाच्येऽप्यविनाशिनं प्रध्वंसोभावरूपत्वादिनि वक्ष्यते । मस्मारोहीत्यादि ।

## श्रीभाष्यम्

गुणाधानेन वा साधयति न तावदोपापनयनेन नित्यशुद्धत्वाद्ब्रह्मणः नाप्यतिशयाधानेन अनाधेयातिशयस्वरूपत्वात् । नित्यनिर्विकारत्वेन स्वाश्रयायाः पराश्रयायाश्च क्रियायाः अविषयतया न निर्घर्षणेनादर्शादिवदपि संस्कार्यत्वम् ; नच देहस्यया सानादिक्रियया अत्मा संस्क्रियते किंत्वाविद्यागृहीतस्तत्सङ्गतोऽहंकर्ता तत्फलानुभवोऽपि तस्यैव । नचाहंकर्तृत्वात्मा तत्साक्षित्वात् तथा च मन्त्रवर्णः 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्रन्नन्यो अभिचाकशीति [मुण्डक.३.१.१] इति 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' [फट.३.४] 'एकोदेवस्सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे.६,११) 'सपर्यगाच्छुद्धमकायमव्रणम[स्त्रा]स्या)विरं शुद्धमपापविद्ध'मिति च अविद्यागृहीतादहङ्कर्तुरात्मस्वरूपमनाधेयातिशयं नित्यशुद्धं निर्विकारं निष्कृष्यते तस्मादात्मस्वरूपत्वेन नसाध्यो मोक्षः । यद्येवं किंवाक्यार्थज्ञानेन क्रियतइति चेत् मोक्षप्रतिव-

## श्रुतप्रकाशिका

अत्र नित्यशुद्धशब्देन परमार्थदोषानन्वयोऽभिप्रेतः । नित्यशुद्धस्य निर्विशेषस्य वस्तुनो दायापनयनगुणाधानरूपसंस्कार-विषयत्वं नित्यशुद्धत्वानाधेयातिशयत्वाभ्यां नास्तीत्युक्तम् ॥

अथ क्रियाविषयत्वाभावात् संस्कारविषयत्वाभावउच्यते । नित्येत्यादिना । \* निर्विकारत्वेन क्रियाविषयत्वाभावः कथम् ? इत्यत्र यत्र क्रियाविषयभूत तद्वि सन्धिकारं दृष्टम् । यदा दर्पणो हस्ततले निर्धूयते \* तदा दर्पणाश्रया क्रिया । यदा दर्पण पाणिनिर्धूयते तदा पाण्याश्रया क्रियेति स्वाश्रयपराश्रयक्रियया दर्पणोदाहरणम् क्रियाविषयत्वाभावेऽपि संस्कार्यत्वं दृष्टमित्यत्राह-नचेति । कस्संस्क्रियतइत्यत्राह-किंत्वाति । अविद्यागृहीतः अविद्याकल्पितः तेनातिशयाधानानुगुण-विकारित्वं सूचितम् । यद्वा अत्रिद्यागृहीतइति शुद्धशुद्धत्वादिभ्रमवत्तया शुद्धिसापेक्षत्वं दर्शितम् । अहङ्कर्तुरपि देहाद्वि लक्षणत्वात् ॥

कथं देहगतज्ञानादिभिस्तस्यातिशयइत्यत्राह-तत्सङ्गतइति । \* तत्सङ्गतः देहसङ्गतः, आत्मनः फलभोक्तृत्वात् सएव संस्कार्य इत्यत्राह-तत्फलेति । फलभोक्तृऽहमर्थश्च सएवाभेत्यत्राह-नचाहमिति । हेतुमाह-तदिति । यो यस्यसाक्षी संहि नतद्भवतीतिभावः । साक्षित्वे मानमाह-तथाचेति । तयोरन्य इत्यादेरयमर्थः अहङ्कार्यशक्त्या मनोरेकः फलभोक्तृः अन्योऽनश्रन्निति अहङ्कर्तृत्वं भोक्तेति स्पष्टं दर्शयति । आत्मेन्द्रियेति । आत्मा देहः देहादिसबन्धस्य भोक्तृत्वादात्मनोऽशरीरत्वाप्राणत्वामनस्कत्वादिश्रवणादनश्रन्नित्यभोक्तृत्वश्रवणाच्च, भोक्तृत्वविलक्षण आमेत्यभिप्रायः । यद्वा आ मशब्दस्सत्त्वि-दात्मपरः ततश्च तद्युक्तस्य भोक्तृत्वात्तस्य भोक्तृत्वं नास्तीत्यहङ्कारस्यैव भोक्तृत्वमित्यभिप्रायः । 'एकोदेव' इत्यत्र केवल-शब्देन \* फलान्वयराहित्यं त्रिवक्षितमिति \* तस्यानोपयोगः निर्गुणः अगुणवश्यत्वादभोक्तेत्यर्थः साक्षी अहङ्कारे व्याप्ति-यमाणे स्वयं साक्षिमाश्रयत्वाऽनस्यानाश्रयभोक्तेतिभावः । सपर्यगादिति । शुद्धः, अविद्यारहित वासनारहित वा शुद्धमपाप-विद्ध कर्मफलरहित कर्मरहित च पर्यगात् गत्यर्थशुद्धयर्थः \* अमन्यतेत्यर्थः ॥

उदाहृतश्रुतिप्रतिपन्नाकारोपेतमात्मस्वरूपं वदति अविद्येति । अहङ्कर्तुर्निष्कृष्यतइत्यन्वयः । मुक्तेरसाध्यत्वं निग-मयति तस्मादिति । ज्ञानप्रैयर्थ्यं शङ्कतं यद्येवमिति । परिहरति मोक्षेति । प्रातिबन्धानिवृत्तेरन्यसाध्यत्वं श्रुतिसिद्धमाह

## श्रीभाष्यम्

बन्धनिवृत्तिमात्रमिति ब्रूमः । तथा च श्रुतयः—‘ त्वंहि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परंपारं तारयसि ’ प्रश्न.६.८ ‘ श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृष्टेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगव-  
दशोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु ’ छा.७.१.३ ‘ तस्मै सृदितकपायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार ’ इत्याद्या । तस्मान्नित्यस्यैव मोक्षस्य प्रतिबन्धनिवृत्ति-  
र्वान्वयार्थज्ञानेन क्रियते । निवृत्तिस्तु साध्याऽपि प्रध्वंसाभावरूपा न विनश्यति । ‘ ब्रह्मवेदं ब्रह्मैव भवति ’ मुण्डक ३.२.१ ‘ तमेवं विदित्वा तिमृत्युमेति ’ श्वे.१८. इत्यादिवचनं मोक्षस्य वेदनानन्तरभावितां प्रतिपादयन्नियोगव्यवधानं प्रतिरुणद्धि । नच विदित्वा क्रियाकर्मत्वेन वा ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा कार्यानुप्रवेशः उभयविधकर्मत्वप्रतिषेधात् ‘ अन्यदेवतद्विदितादथो अविदितादपि ’ केन १.३.५. ‘ येनेदं नर्व विजानाति (तत्के)तं केन विजानीयात् ’ बृ.४.४.१४ ‘ तदेवं ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ’ (केन.१.३.५) इति च नचैतावता शास्त्रस्य निर्वि-  
षयत्वमविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । नहीदन्तया ब्रह्मविषयीकरोति शास्त्रम् अपितु अविषयं प्रत्यगात्मस्वरूपं प्रतिपादयदविद्याकल्पितज्ञानज्ञातृज्ञेयविभागं निवर्तयति ।  
तथा च शास्त्रम्—‘ नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः ’ (बृ.६.४.२) इत्येवमादि । नच ज्ञानादेव बन्धनिवृ-  
त्तिरिति श्रवणादिविद्वयानर्थक्यम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

तथाचेति । प्रतिबन्धनिवृत्तेस्साध्यत्व निगमयति तस्मादिति । प्रतिबन्धनिवृत्तस्साध्यत्वनानित्य व स्यादित्यत्राह—निवृ-  
त्तिस्त्विति । अयपरिहारे नियोगसाध्यत्वपक्षेऽपि तुल्यइति चेत् । नियोगसाध्यत्वे प्रपञ्चसत्य व स्यादित्यभिप्रेतामि युक्तं यात्  
नियोगसाध्यत्वपक्षे श्रुतस्वारस्यहानिमाह—ब्रह्मेति । श्रुतिस्वारस्यमेव विद्वन् न सहत इति भावः । कथं नियोगव्यव-  
धानप्रतिरोधः विधिशेषतया हि ब्रह्मणस्सिद्धिः तस्मिद्धयर्थे नियोगस्वीकार्यइति शङ्काया नियोगशेष व विधिकर्मत्वेन ध्यान  
कर्मत्वेनचोभयथाऽपि न सम्भवतीत्याह—नच विदीति । वेदनं ज्ञानं, उपासनं ज्ञानविशेषः । अत्र वेदनशब्दो निध्प्र-  
पञ्चीकरणज्ञानविशेषे विश्रम्भति विवक्षावशात् । अतो निध्प्रपञ्चीकरणनियोगवादस्यापि दूषणं फलितम् । निध्प्रपञ्चीकरण-  
त्वाभावे श्रुतिमाह—अन्यदिति । विदितात् ज्ञेयात् अविदितात् ज्ञातुरित्यर्थः । अन्यदेवेति विदिकर्मवनिषेधः तदेवेति  
ध्यानकर्मत्वनिषेधः विदिकर्मत्वाभावे शास्त्रोपेयत्वासिद्ध्या शास्त्रस्य निर्विषयवमाहृदय परिहरति नचेति । ‘ ब्रह्मवेदं ’  
‘ ब्रह्मचित् ’ इत्यादिभिर्ब्रह्मणो धेयत्वं प्रतीयत इत्यत्राह—नहीदन्तयेति । इदन्तया \* प्रमयतया अपित्विति । प्रत्य-  
गात्मस्वरूपं निर्विशेषमविषयतया प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ शास्त्रस्य भेदनिवृत्तिपरं व दर्शयति । तथाचेति । ज्ञानादेव बन्ध-  
निवृत्तिश्चेच्छास्त्रप्रत्यक्षविरोधस्यादित्याहृदय शास्त्रविरोध तावत्परिहरति नच ज्ञानादिति । श्रवणादिविद्वयानर्थक्य-

## गूढार्थसङ्ग्रहः

अहयानुपादेयस्तुविषयत्वात्—किमर्थानि तर्हि ‘ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यइत्येतद्व्य- ’ इत्यादीनि विधि-छायाणि यच-  
नानि । स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुक्तिकरणानीति ब्रूमः योहि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः इष्टमे भूयादनिष्ट माभूदिति, नच  
तत्रात्मन्तिकं पुरुषार्थं लभते तमात्मन्तिकपुरुषार्थं गच्छति स्वाभाविककार्यकरणप्रवृत्तिगोचरादिमुक्तीकृत्य प्रत्यगात्मनो  
क्षया प्रवर्तयन्ति ‘ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य- ’ इत्यादीनि । इति (ग) भाष्योक्तार्थमाह—नच ज्ञानादेवेत्यादिना ॥



## श्रीभाष्यम्

स्वभावप्रवृत्तसकलेतरविकल्पप्रमुखीकरणद्वारेण वाक्यार्थावगतिहेतुत्वात्तेषाम् । नच ज्ञानमात्रात् बन्धनिवृत्तिर्नदृष्टेति वाच्यम् । बन्धस्य मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्तरकालं स्थित्यनुपपत्तेः । अतएव न शरीरपातादूर्ध्वमेव बन्धनिवृत्तिरिति वक्तुं युक्तम् । नहि मिथ्यारूपसर्पभयनिवृत्तिः रज्जुयाथात्म्यज्ञानातिरेकेण सर्पविनाशमपेक्षते । यदि शरीरसम्बन्धपारमार्थिकः तदाह तद्विनाशापेक्षा सन्तु ब्रह्मव्यतिरिक्ततया न पारमार्थिकः । यस्य तु बन्धो न निवृत्तः तस्य ज्ञानमेव न जातमित्यवगम्यते ज्ञानकार्यादर्शनात् । तस्मात् शरीरस्थितिर्भवतुवा भावा वाक्यार्थज्ञानसमनन्तरं मुक्तएवासौ । अतो न ध्याननियोगसाध्यो मोक्ष इति न ध्यानविधिशेषतया ब्रह्मणस्सिद्धिः अपितु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.आन.१.अ) 'तत्त्वमसि' (छा.६.८.७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (मांडू.१.२) इति तत्परेणैव पदसमुदायेन

## श्रुतप्रकाशिका

मिति । श्रवणमननयोरपि विधेयत्व पूर्वपक्षिणोक्तमिति न विरोधः । उत इत्यत्राह—स्वभावेति । स्वभावप्रवृत्तशब्देनादिप्रवृत्तं व निश्चितम् ॥

अथ प्रत्यक्षविरोध परिहरति नच ज्ञानमात्रादिति । कथमित्यत्राह—बन्धस्येति । कथं स्थित्यनुपपत्तिं बन्धो ह्यनुवर्तत इति शङ्का यस्य तु बन्धइत्यादिना परिहरिष्यते । उक्तादेव हेतोश्शरीरपातानपेक्षत्वमाह—अतएवेति । दृष्टान्तेनापवादयति नहीति । दृष्टान्ते दर्शितमर्थं व्यतिरेकमुत्तेन दार्ष्टान्तिके विवृणोति यदीति । पारमार्थिकत्वविपर्ययमाह—सत्त्विति । विप्रतिपन्नमपारमार्थिकं ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वात् शुक्तिरूप्यवदिति भावः । ज्ञानोत्तरकालस्थितिरनुपपन्नाचेत् कथं बन्धस्यानुवृत्तिरित्यत्राह—यस्येति । यस्यैव निवृत्तं अनिवृत्त इति प्रतीतिः तस्य ज्ञानमेव न जातं तत्कार्यादर्शनादिति । कार्याभावस्य कारणाभावमात्रव्याप्यत्वाभावेऽपि सामग्र्यभावव्याप्यत्वात् भ्रमनिवृत्तिं प्रतितत्त्वज्ञानस्य सामग्री वात्तदभावेन ज्ञानाभावः कल्प्यत इति न प्रत्यक्षविरोध इत्यर्थः ॥

ज्ञानोत्तरानन्तरं बन्धनिवृत्तिं निगमयति तस्मादिति । शरीरस्थितिर्भवतुवा भावेति । बन्धपेक्षं पदप्रतिभासवच्छरीरप्रतिभासोऽनुवर्तत वा निवर्तत वेत्यर्थः । मुक्तएवासाविति । बन्धस्य छिन्नमूलतया दग्धपटपदकार्यकर इति भावः । बन्धनिवृत्तेर्नियोगनैरेष्यसाधकहेतुभिर्विधिशेषतया न ब्रह्मणस्सिद्धिरित्याह—अत इति । अतः वाक्यार्थज्ञानमात्रसाध्यत्वात् । तर्हि ब्रह्मणः कथं सिद्धिरित्यत्राह—अपित्विति । तत्परेणैवेति । भेदनिषेधपरैर्वैक्यैर्निर्विशेषतया सिद्धयतीत्यर्थः ।

## गूढार्थसंग्रह

अत्र पञ्चपादिका—'अतः श्रूयमाणा अपि विधेयः कवलप्रमाणवस्तुपरतन्त्रे ज्ञाने अकिञ्चिन्करत्वा कुण्ठीभवन्ति । अतोऽर्थादतएव आ मज्ञानस्तावकं वेन तदुन्मुखीकरणात् सामर्थ्यसिद्धवहिर्मुक्तानिरोधाच्च, विधिकार्यज्ञेयस्य विद्यमानत्वाद्विधयश्च लक्ष्यन्ते' 'द्रष्टव्यदभ्युपगम्य' इत्येषोऽर्थवादः । एतच्च सर्वं प्रथमसूत्रगैव सूत्रितं विवृतं च भाष्ये अपि च नैवायं विधौ कृत्य, किंतर्हि ? 'अहंकृत्यवृत्तश्च' इति अहंकृत्य । एतन् 'आ मत्येवोपासीत' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इत्येवमादीनि विधिच्छायाणि वाक्यानि व्याख्यातानि वेदितव्यानि । अतो हानोपादानशूया माऽवगमादव वृत्तकृत्यता प्रतीयते, ध्रुतिस्मृतिवादानां च तथाप्रसिद्धत्वात्' इति ॥



## श्रीभाष्यम्

सिद्धयतीति-तद्युक्तम् वाक्यार्थज्ञानमात्रात् बन्धनिवृत्त्यनुपपत्तेः । यद्यपि मिथ्यारूपो बन्धो ज्ञानबाध्यः तथाऽपि बन्धस्यापरोक्षत्वात् न परोक्षरूपेण वाक्यार्थज्ञानेन सबाध्यते । रज्ज्वादा-

## श्रुतप्रकाशिका

यदा सिद्धरूपार्थपरणवेत्यर्थः । सिद्धयतीति । ब्रह्मेत्यर्थलब्धम् । एतद्व्याननियोगवादी दूषयति तद्युक्तमित्यादिना । कुत इत्यत्राह—वाक्यार्थेति । प्रपञ्चमिथ्यात्ववादिना शान्नाद्वन्धनिवृत्त्यनुपपत्तिः कथमुच्यत इत्यत्राह—यद्यपीति । ज्ञान निवर्त्योपगमेऽपि वैषम्यमाह—तथापीति । परोक्षज्ञानस्यापरोक्षभ्रमाग्राहकत्वे दृष्टान्तमाह—रज्ज्वादाविति । आदि-

## गूढार्थसंग्रह

‘ ननु सम्यग्दर्शनस्य फलरूपत्वात् प्रमाणाधीन वाच्चाविधेयतेति युक्तम् । तस्यार्थवादता, श्रवणादयस्तु क्रियारूप वा-  
त्सम्यग्दर्शनस्य दृष्टादृष्टोपकारितया विधेयाएवेति, तदाह—एतच्च सर्वं प्रथमसूत्रेणैवेति । मनननिदिध्यासनोपवृत्तस्य श्रवणस्य सम्यग्दर्शनाय विधेयत्वमङ्गीकृत्य प्रथमसूत्रं प्रवृत्तमित्यर्थः । विधीनामपि सतां स्तावकत्वमुक्तम्, इदानीं शब्द स्यार्थान्तरमाह—अपिच नैयायमिति । ननु माभूयन् ज्ञानविधयः, उपासनविधिस्तु श्रूयतइति नेत्याह—एतेनाभ्येवोपासी-  
तेत्यादि । सर्वत्रैवकारविशेषणश्रवणात् अहमिति स्वभावप्राप्तप्रत्ययावृत्त्यनुवादेन विषयविशेष प्रतिपाद्यतइति । अतोहानो पादानशून्येत्युपसहरति ’ इति विवरणम् ॥

शङ्करभाष्ये—‘ ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं ससारित्वदर्शनात् न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमिदमुक्तम् । अत्रोच्यते नात्रगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं ससारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । नहि शरीराद्या माभि-  
मानिनो दुःखमयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःख मयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम् ’ इत्यारभ्य ‘ तस्मान्नात्रगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं ससारित्वं, यस्यतु यथापूर्वं ससारित्वं नासावत्रगतब्रह्मात्मभावइत्यनवद्यम् । य पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषेण ब्रह्मण न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति—न ; अत्रगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः । यदिह्यत्रगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदाविधि-  
शेषत्व, नतु तदस्ति । मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणप्रदवगत्यर्थत्वात् ’ इति (४. अधिकरणे) उक्तः ध्याननियोगवादि-  
दूषणपरिहारः न घटतइति ध्याननियोगवादिमुखेनैव निरूपयति—तद्युक्तमित्यादिना ॥

उदाहृत(श) भाष्ये अवगातिशब्दस्य साक्षाकारार्थकतायाः सर्वाद्वैतिसमतत्वेन ‘ श्रवणवदवगत्यर्थं ध्यानननिदि-  
ध्यासनयोः ’ इत्यत्र मनननिदिध्यासनयोरपि नविधिः इत्यर्थ एव विवक्षितः । पूर्वपक्षिणा तत्र विधेरेव शङ्कतं वात । श्रवणात्पराचीनत्वं मनननिदिध्यासनयोः शङ्कराचार्याणामपि समतम् । एवमवगममेव साक्षात्कारे अङ्गीभूत प्रधानकारण मनननिदिध्यासने फलपकार्यञ्चे वाक्यादेव शाब्दापरोक्षज्ञानं जायतइति विवरणकारसिद्धान्तः शङ्कराचार्याणामसमत इति स्फुटम् । ‘ क्रमिकैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः अपरोक्षज्ञानमेव शङ्कराचार्यसमतमिति लघुपूर्वपक्षे (५२. पु) उदाहृत (स. वे. सि. सा. स. ८१०—८१८) श्लोकैरेव सिद्धयति । विवरणएव वाक्याप्रथमनः परोक्षज्ञानं मनननिदिध्यासनानन्तरमपरो-  
क्षज्ञानमिति अन्यमतं प्रदर्शितम् । तदेव युक्तमित्यभिप्रेत्य विवरणानुसारेण ध्याननियोगवादिमनदूषणं न घटतइत्युपपाद-  
यति—वाक्यार्थज्ञानमात्रादित्यादिना ॥

बन्धस्यापरोक्षरूपत्वादित्यादि । अयमर्थः भाष्यार्थः । तस्मात्तन्निवृत्तिरिति शब्दज्ञानसन्ततिरुपगमना

## श्रीभाष्यम्

वपरोक्षसर्पप्रतीतां वर्तमानायां नायं सर्पो रज्जुरेपेत्याप्तोपदेशजनितपरोक्षसर्पविपरीतज्ञान-  
मात्रेण भयानिवृत्तिदर्शनात् । आप्तोपदेशस्य तु भयानिवृत्तिहेतुत्वं वस्तुयाथात्म्यापरोक्ष-  
निमित्तप्रवृत्तिहेतुत्वेन । तथाहि रज्जुसर्पदर्शनभयात् परावृत्तः पुरुषो नायं सर्पो रज्जुरेपे-  
त्याप्तोपदेशेन तद्वस्तुयाथात्म्यदर्शने प्रवृत्तस्तदेव प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा भयान्निवर्तते । नच  
शब्दएव प्रत्यक्षज्ञानं जनयतीति वक्तुं युक्तम् । तस्यानिन्द्रियत्वात् ज्ञानसामग्रीष्विन्द्रि-  
याण्येव ह्यपरोक्षसाधनानि । नचास्यानभिसंहितफलकर्मानुष्ठानमृदितकपायस्य

## श्रुतप्रकाशिका

शब्देन भूदलनादिरुह्यते । सर्पविपरीतज्ञान रज्जुज्ञान तेन भयानिवृत्तिश्चेदाप्तोपदेशानर्थक्य स्यादित्यत आह—आप्तोपदे-  
शस्येति । अनेन प्रथमसूत्रे प्रवलप्रमाणप्राधितत्वेन भयादिकार्यं तु निवर्तते इति भाष्यार्थो ज्ञायते आप्तोपदेशस्य भयादि-  
कार्यनिवृत्तिहेतुव वस्तुयाथात्म्यापरोक्षनिमित्तप्रवृत्तिद्वारकामतिर्हि तस्य भाष्यस्यार्थः । इममर्थं दृष्टान्तेदर्शयति तथाहीति

अस्त्वपरोक्षज्ञानमेव तादृशभ्रमविरोधि शब्दएवापरोक्षज्ञानं जनयतीत्याशङ्क्याह—नचेति । हेतुमाह—तस्येति ।  
व्याप्तिं दर्शयति ज्ञानेति । नचानिन्द्रियत्वेऽप्यालोकादेरपरोक्षज्ञानजनकत्व दृष्टमिति हेतोर्व्यभिचारः \* इन्द्रियप्रधानकसाम-  
ग्र्यननुप्रविष्टत्वस्य विवाक्षितत्वात् । एतच्च ज्ञानसामग्रीष्वित्यनेन सूचितम् ज्ञानसामग्रीषु सपरिकरास्विन्द्रियलिङ्गशब्दस-  
(भाव)दृशानुपपत्त्यनुलब्धत्वित्यर्थः । इन्द्रियाण्येवेति । आलोकादिसहकृतानीति शेषः । इन्द्रियमेव योगिनोऽव्यवहिता-  
दिकं ज्ञापयति । तथा विवाक्षितपुरुषविशेषस्य वाक्यमपरोक्षज्ञानं जनयतीत्याशङ्क्य परिहरति नचेति । अस्य पुरुषस्य हेतु-

## गूढार्थसंग्रहः

कर्मसहकारिण्याविद्यादयोच्छेदहेतुः । नचासावनुपादितब्रह्मानुभवा तदुच्छेदाय पर्याप्ताः ; साक्षात्काररूपोहि विपर्यासः साक्षा-  
त्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते, नतु परोक्षावभासेन, दिङ्मोहात्तच्चक्रचलदृक्षमरुमरीचि सलिलादिभिर्भ्रमेण परोक्षावभा-  
सिषु अपरोक्षावभासिभिरेव दिगादितत्त्वप्रत्ययैर्निवृत्तिदर्शनात् । नोपत्वात्तवचनलिङ्गादीनिश्चितदिगादित्वानां दिङ्मोहा-  
दयो निवर्तने । तस्मात् त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एवित्यर्थः । एतावताहि त्वंपदार्थस्य दुःखं किं वातिसा-  
क्षात्कारनिवृत्तिः नान्यथा ' इति ॥

नच शब्दएव प्रत्यक्षज्ञानं जनयतीत्यादि । उक्तं च वाचस्पतिना भामत्या—' नचैव साक्षात्कारो मीमासा  
सहितास्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य ; तस्यैव तत्पत्त्वानियमात् । अन्यथा कुटजव्रीजादपि बटाकु-  
रोत्पत्तिप्रसङ्गात् ' तस्मान्निर्विचिकि सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तकरणत्वपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिर्देशेन  
तत्त्वार्थतामनुभावयतीति युक्तमिति । तच्च एतमते मनस इन्द्रियत्वमेवेति भामत्या स्फुटम् । मनस इन्द्रियव भावप्र-  
काशे स्थापितम् । विवरणकारपक्षमादृश्य दूषयते नचेत्यादिना । मृदितकपायस्येति । ' तस्मै मृदितकपायाय तमस-  
पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ' इति श्रुतेरत्राभिप्रेता । तस्मात् ' तत्त्वमांस ' इत्यादः श्रुतमयन ज्ञानन जीवा-  
'मनःपरमात्ममाय गृहीत्वा तन्मूलयाचोपपत्त्या व्यग्रस्थाप्य तदुपासनाया भावनापराभिधानाया दीर्घकालनैरन्तर्यवत्यां ब्रह्म  
साक्षात्कारफलाया यशादीनामुपयोगः । यथाऽऽहु — ' सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितः दृढभूमिः ' इति । ब्रह्मचर्यतप-  
श्चदायशादयश्च सत्कारः, अतएव श्रुतिः ' तमव धीरोविज्ञाय प्रज्ञाकुर्वीत ब्राह्मणः ' इति विज्ञाय तर्कोपकरणेन शब्देन

## श्रीभाष्यम्

श्रवणमनननिदिध्यासनविमुखीकृतवाह्यविषयस्य पुरुषस्य वाक्यमेवापरोक्षज्ञानं जनयति निवृत्तप्रतिबन्धे तत्परेऽपि पुरुषे ज्ञानसामग्रीविशेषाणामिन्द्रियादीनां

## श्रुतप्रकाशिका

माह—निवृत्तेति । अनभिसंहितेत्यादिपदद्वयं हृदि निधाय विशेषणद्वयमाह—निवृत्तप्रतिबन्धे तत्परेऽपि । स्वविषय नियमातिक्रमादर्शनेनेत्यत्र \*विषयशब्दस्साध्यपरः स्वसाध्यज्ञानानतिक्रमदर्शनेनेत्यर्थः । शब्दसाध्यज्ञानं परोक्षमेव शब्दस्तु स्वसाध्यं परोक्षज्ञानं नातिक्रामतीति यावत् मनसः परोक्षापरोक्षज्ञानसाधारणहेतुः वात् । शब्दस्तु लिङ्गस्यैव परोक्षज्ञानमात्रहेतुत्वात्तदयोगिमनस्साध्यमितिभावः ॥

ननु शब्देनाप्यपरोक्षज्ञानं जायते 'दशमस्त्यमसीति' वाक्येन दशमोऽहमित्यपरोक्षज्ञानोत्पत्तिदर्शनादिति । तत्र, उपदेशानन्तरं शीघ्रमाविप्रत्यक्षसामग्रीजन्येन ज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य भेदाग्रहेण प्रत्यक्षत्वारोपात् तदाह्युपदेशात् पूर्वभाविनव कपरिसङ्ख्यानजनितसंस्कारवशेनाविच्छिन्नाह्यपेक्षाबुद्धिर्जायते । यथा घटोऽयमिति युक्ते घटं पश्यतोऽपरोक्षप्रतीतिरेन्द्रियजन्या ननु घटोऽयमिति वाक्यजन्या वाक्यत्वापरोक्ष्यनिमित्तचक्षुर्व्यापागहेतुः तथा दशमस्त्यमसीति वाक्यं दशमोऽहमिति बुद्धि-निमित्तस्य पूर्ववासितापेक्षणीयवस्तुप्रतिसन्धानस्य हेतुः नत्वपरोक्षावभासहेतुः, तत्तत्प्रतीतिसामग्रीव्यवहितस्य तत्तत्सामग्री वाभावात् । विमतं प्रत्यक्षज्ञानं न वाक्यजन्यं प्रत्यक्षज्ञानत्वात् अनुपदिष्टवाक्यस्य दशमोऽहमिति प्रत्ययवत् । विमतं वाक्यं न प्रत्यक्षज्ञानजनकं वाक्यत्वात् सप्रतिपन्नवदिति । एवं सामग्रीशैघ्र्येणान्यथासिद्ध्यापरिहारः वस्तुयाथात्म्यापरोक्ष्यनिमित्तप्रवृत्तिहेतुत्वेनेति भाष्येणाभिप्रेतः ॥

\* नच वाक्यजन्येऽपि ज्ञाने विशेष्यभूताहमर्थप्रत्यक्षतामात्रेण विशिष्टानुप्रविष्टविशेषणाहस्यापि प्रत्यक्षतत्त्वा-च्यम्, अहं समानाधिकरणशब्दोच्छ्रितप्रतीतिरपरोक्षत्वनियमश्च नास्ति सुखदुःखाद्यनुमितपुण्यपापस्य पुरुषस्य पुण्यवृद्ध-पपवृद्धमित्यादिप्रतीतिः पुण्यपापयोरापरोक्ष्यादर्शनात् । धर्मिप्रत्यक्षतामात्रेण धर्मप्रत्यक्षत्वे लैङ्गिके पर्वतोऽग्नौ गतिज्ञाने

## गूढार्थसंग्रहः.

प्रज्ञा भवता कुर्यानेत्यर्थः । अत्र च यज्ञादीनां श्रेयसिरेण्यकल्पनानिर्वहणद्वारेणोपयोग इति केचित् पुरुषसंस्कारद्वारेणे-त्यन्ये' इत्यत्र भामत्या कर्मणामुपयोग उक्तः ॥

अत्र कथायमर्दने कर्मणा हेतुत्वं 'कथायप्राप्तिं कर्माणि ज्ञानतु परमागतिः । कथायै कर्मभिः पक्ते ततोज्ञानं प्रवर्तते' इति (प. ११) उदाहृत्यचनसिद्धमित्यभिप्रेत्य अनभिसंहितफलकमनुष्ठानेयुक्तम् । पुरुषार्थाधिकरणं 'अविद्याया मृयु-तीर्त्ता' इत्यत्र शङ्करभाष्यानुसारेण उक्तार्थ एवाभिप्रेतइति प्रमाणमालायामानन्दबोधयतिभिः सिद्धान्तितमिति प्रथमाधि-करणे (९९. पु) निरूपितम् ॥ 'तत्रस्तु तदवयवनिर्भक्तं ध्यायमानः' इतिश्रुतेः प्राक् (८५—१.१) उदाहृतवि-युक्तं तदर्थमेवाह—श्रवणमननेत्यादिना । अत्र 'नचैष साक्षात्कारः' इत्यादि(७५)पुटोदाहृतभामतीव्याख्याभूतः कल्प-तरुः 'अप्रमत्तसाधेः । स्वतोऽपराधस्यापि ब्रह्मणः पारोक्ष्यं भ्रमगृहीतम् तथापरोक्षप्रमाकरणादेव तत्साक्षात्कारः अन्त-करणं च सोपाधिकं आत्मानं जनयत्यहवृत्तिमिति सिद्धमस्यात्मन्यपरोक्षधीहेतुत्वं । तत्तु शब्दजनितब्रह्मात्मैक्यधी-सन्ततिवासितं तददृश्यब्रह्मात्मता जीवे साक्षात्कारयति । अभामित्रं पूर्वाभुवसंस्कारासितं । तत्तेदन्तापलक्षितैक्यवि-

## श्रीभाष्यम्

## स्वविषयनियमातिक्रमादर्शनेन तदयोगान् ।

## श्रुतप्रकाशिका

ऽप्येव प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः । तदेतदपि स्वविषयनियमातिक्रमादर्शनेन तदयोगादित्यत्राभिप्रेतम् । एवं शब्दस्यापरोक्ष

## गूढार्थसंग्रहः

प्रत्यक्षमिहाहेतुः, शब्दस्तु नापरोक्षप्रमाहेतुः क्लृप्तः । प्रमेयापरोक्षयोग्यत्वेन प्रमायास्साक्षात्कारत्वे देहाभेदविषयानुमि-  
तेरपि तदापत्तिः । दशमस्वमसीत्यात्रापि तत्सचिवादक्षादेव साक्षात्कारः अन्धादेस्तु परोक्षधीरेव । अपिच, 'देदन्तवावयज-  
शानभावनाजापरोक्षधीः । मूलप्रमाणदाढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते ॥' नच प्रामाण्यपरतरुवापातः अपवादनिरासाय मू शब्दय-  
नुरोधात् 'दृश्यतेत्वयप्रया बुद्धया' इत्यादेः नयवृत्तिवचनादित्यमुररीकारः 'साक्षादपरोक्षात्' इत्येवमाकारैव धीदश-  
ब्दादुदेति नतु परोक्ष ब्रह्मेति, सातु करणस्वभावात् परोक्षाऽवतिष्ठेन न भ्रमइति सर्वमवदातम्' इति ॥

अत्र परिमलः—'तत्तु शब्दजनितेनेति ।' उक्तं च गीताविवरणे भाष्यकारैः 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं  
मन आ-मदर्शने करणमिति । नन्वपरोक्षब्रह्मविषयस्य शब्दस्यापरोक्षप्रमाहेतुत्वं न शक्यं प्रत्याख्यातुम् श्रवणजन्यापरोक्ष  
ज्ञानेसत्यापि पारोक्ष्यभ्रमानुवृत्तिस्वसम्भावनादिदोषप्रतिबद्धस्य भ्रमनिवर्तनकार्याक्षमतया भवेदित्याशङ्क्याह—इन्द्रि-  
रिति । अमिव्यक्तचैतन्याभिन्नत्वमर्थापरोक्षमिति तावन्नयुक्तम्', इत्यारभ्य 'तस्मात्स्वाविषयकज्ञानाज-यज्ञानत्व ज्ञानापरोक्ष्यमिति निर्व-  
क्तव्यम् । तच्चाक्षुषादिवृत्त्यामिव्यक्तचैतन्येषु नित्यामिव्यक्तसाक्षिचैतन्येषुचानुगतम् । अनुमितिशब्दज्ञानादिभ्यश्च तत्तद्वि-  
षयालिङ्गशब्दादिज्ञानजन्येभ्यो व्यावृत्तम्' इति । 'एवं च शब्दप्रमाणं स्वाविषयविषयकज्ञानजन्यं परोक्षप्रमामेव जन-  
यतीति नापरोक्षप्रमाहेतुरितिभावः । ननु दशमस्वमसीत्यादौ शब्दस्याप्यपरोक्षज्ञानजनकत्वं सिद्धमस्तीत्याशङ्क्याह—दश-  
मइति । एवमनुमितेरपि पूर्वताद्यंशे नापरोक्ष्य तत्रापरोक्ष्यभ्रमस्तु तदानीन्तनापरोक्षज्ञानभेदाग्रहादिति द्रष्टव्यम् । अन्धादे-  
रित्यभ्युपेत्याय परिहारः दशमोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानं अन्तःकरणे न संभवति । शरीरविषयंचेत् स्पर्शनेन्द्रियेणवा ज्ञाना-  
न्तरोपनयसाहितान्तःकरणेन वा संभवति । ननु भावनाजन्यसाक्षात्कारः कामिनीसाक्षात्कारवत् भ्रमस्यात् नचान्तःकरण-  
साहित्येन विशेषः तत्रापि तत्सत्त्वादित्यत आह—अपिचेति । ननु ब्रह्मसाक्षात्कारस्य मनःकरणकत्वाभ्युपगमे 'यन्मनसा न  
मनुने' इति श्रुतिविद्वद् इत्याह—'दृश्यते' इति प्रागुपन्यस्तन्यायोपबृहिताया 'दृश्यते' इति श्रुतावपि 'अग्रयया  
सूक्ष्मया' इति विशेषणात् 'यन्मनसा' इति श्रुतिरनवहितमनोविषया यथा 'तंवौपनिषदम्' इति श्रुतौ औपनिषद-  
मिति विशेषणात् 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्' इति विशिष्टशक्तिकविषयेतिभावः साक्षादपरोक्षादिति । यथा प्रत्यक्षस्पर्शाश्रय-  
स्यादिच्छिन्नजन्या वायोः प्रत्यक्षत्वानुमितिः स्वयंप्रत्यक्षस्वरहितेत्येतावदेव । नतु वायौ प्रत्यक्षत्वामावमवगाहते इति भ्रम वं  
प्रतिपत्त्ये एवमिहापि योजनीयम्' इति च ॥

स्वविषयनियमातिक्रमादर्शनेनेत्यादि । शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं यत्र क वा सर्वदार्शनिकसमर्तं यदित्यात्  
तदेत्यमुक्तिः घटेत । नच तथा क्वचिच्छब्दस्य अपरोक्षज्ञानजनकत्वं सप्रतिपन्नम् । मण्डनमिथः वाचस्पतिश्च ध्यानानन्ते  
रमानसापरोक्षज्ञानमेव अविद्यानिवृत्तिहेतुः न शब्दसाक्षात्कारइति सिद्धान्तयतः । एतन्मतद्वयऽपि श्रवणादौ नक्वापि  
विधिः ध्याननियोगवादिमतेतु विधिरिति विशेषः 'तस्मै मृदितकषायाय' इति श्रुतिरपि शब्दज्ञानस्यापरोक्षत्वं साध-  
यितुं नालम् । तत्पूर्वं 'स्मृतिलभे सर्वप्रार्थनां निप्रमोक्षः' इति श्रुतौ समाधेर्मुक्तिहेतुत्वं विवाक्षितमिति प्रथमाधिकरणे



### गूढार्थसंग्रहः

एव निरूपितम् । अतः समाधितात्पर्येणैव दर्शयतीत्युक्तिः । अतएव ‘मनसैवानुदृष्टव्यम्’ (वृ) इति श्रुतिरपि सङ्गच्छते । अत्र ‘तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मणः’ इत्युत्तरश्रुतिः प्रज्ञां कुर्वीतत्यत्र ध्यानं विवक्षितमिति मण्डनवाचस्पती व्यवस्थापयतः (वृ) वार्तिके अन्यथाकरणेऽपि (शं)भाष्ये प्रज्ञास्मृतिरित्येवार्थो वर्णित इति प्रथमाधिकरणेऽभिहितम् ॥

एवं च ‘मनसैवानुदृष्टव्यम्’ इत्यत्र ध्यानमनुदृष्टव्यमित्यर्थः । एतत्तात्पर्येणापि ‘ध्रुवास्मृतिः’ इति छान्दोग्य-श्रुतौ अनुगन्दाभावेऽप्यनुगन्दादप्यनेन ‘उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिः’ इति वाक्यकारोक्तिः । ध्यानानन्तरकालसमाधेः श्रु-तिषु मोक्षसाधनत्वं विवक्षितं शङ्कराचार्याणामपि एतत्सम्मतमिति जिज्ञासाधिकरणे निरूपितम् । अन्योऽसमाधिपरत्वेन ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ इत्यत्रापि (२.३.३९.सूत्रे) भाम-युक्तदिशा दर्शनेन समाधिरूपमेव विवक्षितम् । एतेन ‘ज्ञान-प्रसादनं विशुद्धसत्त्वं ततस्तुतं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः’ इति श्रुतिरपि समाधिपरैव । ‘तद्वास्य विजज्ञौ’ इत्यपि ध्यानस्य विपूर्वकधातुना ‘विज्ञानेने’त्यत्र ‘निदिध्यासितव्यः’ (वृ) इत्यत्रोक्तध्यानस्याभिधेनेन श्रुत्यन्तरोक्तदिशा समा-धिपर्यवसितध्यानपरैव ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः’ इत्यत्रापि विज्ञानं ध्यानमेव । तस्य मननानन्तरकालिकत्वात् प्रमे-यासम्भावनाविपरीतभावना निवृत्त्यनन्तरं श्रुतार्थनिश्चयपरम् इति नैतच्छ्रुतिरपि शाब्दज्ञानस्यापरोक्षत्वं साधयितुमर्हम् । शाब्दज्ञानस्य यत्र कदा अपरोक्षत्वस्याविप्रतिपक्षत्वे वेदान्तजन्यज्ञानेऽपि अपरोक्षत्वकल्पनं युक्तम् । वाक्यजन्यज्ञानस्य क्वापि सप्रतिपत्तिरहादपरोक्षत्वकल्पनं न सम्भवति । ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति ईश्वरप्रत्यक्षसाधारण्यमिति नैयायिकाः ‘ज्ञातकारजज्ञानस्मृतिविरहितागतिः । अपरोक्षेति निष्कर्षे नाप्याप्त्यादिप्रसञ्जनम् ॥’ इत्याचार्यपादैः न्यायपरिशुद्धौ निर्णीतम् । अपरोक्षार्थविषयकत्वेनापरोक्षत्वमित्याश्रुतिः नैव विचारसहेति जिज्ञासाधिकरणयुक्ताभिरेव निर्णीतप्रायम् । अद्वैतविद्याचार्यैरप्ययं पक्षः नाभ्युपगत इति सिद्धान्तलेशसङ्गहे व्यक्तम् । एतेन (अ.सि.ल.) चन्द्रिकयोः ‘तमसःपारं दर्शयतीत्यनुसारेण ‘तद्वास्य विजज्ञौ’ इत्यत्रापि अपरोक्षमेव विज्ञानम् । ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः’ इत्यत्र ‘वि’ इत्यनेन विशेषविषयत्वं ‘सु’ इत्यनेनापरोक्षत्वं च बोध्यते अर्थपद मुख्यतस्तात्पर्यविषयग्रहणपरं शब्दे ज्ञानकरणत्ववत्तत् ज्ञानेऽपरोक्षत्वमेकमेव कल्पनीयम्, मनसि करणत्वं तज्जन्यज्ञाने साक्षात्कारवच्च-भूय कल्पनीयमिति गौरवम् । बहुलतमे तमसि लोचनहीनस्य दशमस्यमसीति वाक्यात् अपरोक्षभ्रमनिवर्तकं अपरोक्षज्ञानं वलतम् । प्रमात्रभिन्नार्थविषयकत्वं प्रत्यक्षत्वमित्याश्रुतिः अभिनिवेशमूलैव । ‘तमसःपारं दर्शयति’ इति श्रुतौ ध्यानानन्तरकालीनदर्शनं समाधिरूपं विवक्षितमिति ‘विजज्ञौ’ इत्यत्रापि तस्यैव विवक्षासिद्धेः । प्रमाणासम्भावना प्रमेयासम्भावना विपरीतभावनानिवृत्तिः श्रवणमननानिदिध्यासनैरिति परैरेवाभ्युपगतम् । एवं च मननेन प्रमेयासम्भावनानिवृत्त्या निश्चयसंपादनेऽपि विपरीतभावनानि निश्चयतः निश्चयस्याकार्यकरत्वेन ध्यानेन विपरीतभावनानिवृत्तिनिश्चये समाधिरूपमेव सुशब्दे विवक्षितम् इति प्रागुक्तार्थ एव पर्यवसानम् । स्मृत्यनन्तरज्ञानस्यैवात्र विवक्षितत्वेन मनसः इन्द्रियवस्थापनेन योगाप्रत्यक्षे मनसःकरणत्वेन समाधौ चैव तत्करणकत्वेतिदम् । यत्रापरोक्षत्वव्यवहारः तत्र साक्षात्कारिव्यवहारकाविषयताविशेषेणैवोपपत्तिः । ध्यानानन्तरकालिकज्ञानेऽपि नैवोपपत्तिरिति नाधिकं किञ्च कल्पनीयम् । बहुलतमे तमसि अधस्य वाचप्रत्यक्षं वर्तते एवेति ततएव ‘दशमस्यमसि’ इत्यस्य निर्वाह इति शब्दस्य नापरोक्षधीजनकत्वं बोद्धुं नैतन्प्राप्तार्थविषयकत्वमपरोक्षत्वमिति जिज्ञासाऽधिकरण एव निरस्तप्रायम् । मनननिदिध्यासनयोः फलोपकार्यकत्वेन विधिरित्युक्त्या निदिध्यासनेन विपरीतभावनानिवृत्त्यनन्तरमेव श्रवणजन्यज्ञानमभ्युपगतं भवति । तत्र प्रथमं परोक्षज्ञानसमनन्तरमपरोक्षज्ञानमिति मतं दूषयित्वा प्रथमतः एवापरोक्षज्ञानमिति कथं ? प्रथमतएकं ज्ञानमनन्तरमन्यज्ञानं वा अपरोक्षज्ञानद्वयं वा ? अपरोक्षज्ञानद्वयाभ्युपगमे तन्मतोपेक्षया नाविशयः इत्यभिप्रे-

## श्रीभाष्यम्

नच ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायता इतरेतराश्रयत्वात् वाक्यार्थज्ञाने जाते तद्विषयध्यानं ध्याने निर्वृत्ते वाक्यार्थज्ञानमिति । नच ध्यानवाक्यार्थज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वम् । तथासति ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायता न स्यात् । नह्यन्यध्यानमन्यौन्मुख्यमुत्पादयति । ज्ञातार्थस्मृतिसन्ततिरूपस्य ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वमवर्जनीयम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

ज्ञानहेतुः दूषितम् । अथ ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायतामन्यो याश्रयणेन दूषयति नचेत्यादिना । अन्यो-याश्रयणपि हाराय ध्यानपूर्वभाविज्ञानमर्थान्तरविषय पाश्चात्यज्ञानमर्थान्तरविषयमिति भिन्नविषयताऽश्रयणमयुक्तमित्यह—नचध्यानेति । कुत इत्यत्राह—तथासतीति । कथमुपायत्वहानिरित्यत्राह—नह्यन्यध्यानमिति ॥

एकविषयत्वेऽपि निवर्तकस्य वाक्यार्थज्ञानस्य ध्यानपेक्षा स्यात् ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानपेक्षा कथमित्याह—ज्ञातार्थेति । ध्यानहेतुभूत ज्ञान हेतु-न्तरजन्य नतु ध्यान पश्चाद्भाविवाक्यज यज्ञानमूलमित्येव ध्यानवाक्यार्थज्ञानयारसाऽप्रीये

## गूढार्थसङ्ग्रह

त्याह—नच ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायतेति । ज्ञातार्थस्मृतिसन्ततिरूपस्यैव ध्यानस्य पञ्चपादिकायामुक्तेः । अत्र श्रवणनाम आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः शारीरकश्रवणं च निदिध्यासनं मनोपट्टहितवाक्यार्थविषये स्थिरीभावः' इति प्राक् (५२.पु) उदाहृत(प.पा) वाक्ये उक्तार्थस्य वाक्यार्थज्ञानमन्तराऽसम्भवात् । ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथाऽपि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथावा कर्तुं शक्यं पुरुषतन्त्रत्वात्' इति (श.)भाष्यम् (१.१.४) अत्रोक्तध्यानस्य 'निदिध्यासित्यः' इत्यत्र विवक्षा या उत ज्ञातार्थस्मृतिसन्ततिरूपस्य वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—नच ध्यानवाक्यार्थज्ञानयो रित्यादिना । वाक्यभेदेन विरोधपरिहारमाशङ्कते—ध्यानमित्यादिना । मण्डनवाचस्पतिभ्यां विध्यभावः एवाहृतः । तत्र मण्डनेन ब्रह्मसिद्धौ दृष्टार्थत्वेनोपयोगो नास्तीत्युक्तम्, विवरणकृतातु विधिपक्षः अभ्युपगम्यते । तथाऽपि भाष्योक्तपुरुषतन्त्रं वमायातम् ॥

एव च दृष्टाद्वारेणोपयागानङ्गीकारे विधिवैयर्थ्यमित्याह—ध्यानस्य ध्येयध्यानादात्यादिना । वाचस्पतिनाऽध्ययनाश्रयणार्थज्ञानार्थं वमभ्युपगम्य पूर्वोत्तरविचारद्वयस्यापि अध्ययनविधिमूलकत्वेनैवोपपत्तौ विधिरनपेक्षित इति तद्विचारणभाष्योक्तविध्यभावपक्ष एव इति स्थापयति । पञ्चपादाचार्यास्तु वृत्तिकारसम्मतमध्ययनविधेः अक्षरराशिग्रहणमात्रपर्यवसायित्वं भाष्यानुक्तं वृत्तिकारसम्मतरीत्यैव सिद्धान्तयन्ति । अक्षरराशिग्रहणमात्रपर्यवसायित्वेऽपि अध्ययनविधेः नियमविधित्वेनैवोपपत्तिरसम्भवतीति सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहतटीकयोर्व्यक्तम् । वैधत्वसिद्धयर्थं विधिमूलकमवश्याश्रयणीयमिति, सिद्धिविवरणे 'ननु वैधत्वसिद्धेः किंफलमिति चेत् शीघ्रकर्तव्यतादिज्ञाने प्रामाण्यस्य निश्चयादिना शीघ्रविचारे प्रवृत्त्यादिकमेव' इति लघुचन्द्रिकोक्तं नु नादत्तव्यम् । विवक्षितफलं उक्ते-च्छासत्वे त साधने शीघ्रप्रवृत्तेरसम्भवेन साधनज्ञानविषयविचारो विधिमन्तरेव रागत प्रवृत्तिरसम्भवत्येवेति सिद्धान्तेऽपि नानुपपत्तिः । श्रवणमनननिदिध्यासनानां दृष्टार्थत्वेन आवृत्तिरावृत्त्यधिकरणे (श.भा) परैस्सिद्धान्तिता । एव च श्रवणादिविधिमन्तरेव शीघ्रप्रवृत्त्यादिसम्भवेन दोषविग्रहे श्रवणस्य विधेयत्वं मनननिदिध्यासनयोः फलोपकार्यङ्गत्वमिति विवरणसिद्धान्तः निरवकाशः । शाब्दापरोक्षसम्भवादेव जीवन्मुक्तिरपि नश्यते चरमवृत्तेरेवाविद्यानिवर्तकत्वसम्भवात् अपिचालेशेन संस्कारेण जीवन्मुक्त्युपपादनं न सम्भवति । एव कल्प

## श्रीभाष्यम्

ध्येयब्रह्मविषयज्ञानस्य हेत्वन्तरासम्भवात् । नच ध्यानमूलं ज्ञानं वाक्यान्तरजन्यं निवर्तक-  
ज्ञानं 'तत्त्वमसि' (छा.६.८.७) इत्यादिवाक्यजन्यमिति युक्तम् । ध्यानमूलमिदं वाक्यान्तर-  
जन्यज्ञानं 'तत्त्वमसि' (६.८.७) इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानेनैकविषयं भिन्नविषयं वा एकविष-  
यत्वे तदेवेतरेतराश्रयत्वम् । भिन्नविषयत्वे ध्यानेन तदौन्मुख्यापादनासम्भवः ॥

किंच ध्यानस्य ध्येयध्यात्राद्यनेकप्रपञ्चापेक्षत्वान्निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मैकत्वविषयवाक्यार्थ-  
ज्ञानोत्पत्तौ दृष्टद्वारेण नोपयोगइति वाक्यार्थज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्तिं वदतः श्रवणमनन-  
निदिध्यासनविधीनामानर्थक्यमेव । यतोवाक्यादापरोक्षज्ञानासम्भवाद्वाक्यार्थज्ञाने नावि-  
द्यानिवर्तते ततएव जीवन्मुक्तिरपि दूरोत्सारिता । काचेयं जीवन्मुक्तिः सशरीरस्यैव मोक्ष-  
इतिचेत् माता मे बन्ध्येतिवदसङ्गतार्थवचः यतस्सशरीरत्वं बन्धः अशरीरत्वमेव मोक्षइति  
त्वयैव श्रुतिभिरुपपादितम् । अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्तमाने यस्यायं प्रतिभासो

## श्रुतप्रकाशिका

नान्योन्याश्रयणपरिहारमाशङ्क्य सामग्रीभेदो नसंभवतीत्याह—ध्येयेति । हे वन्तरासम्भवात् ब्रह्मणः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वा-  
दितिभावः । तत्परिहाराय वाक्यभेदमाशङ्क्य तथा वक्तुमयुक्तमित्याह—नचेति । विकल्प्य दूषयति ध्यानमूलमिति ।  
एकविषयत्वे तदेवेतरेतराश्रयत्वमिति । वाक्यान्तरेण ज्ञानोत्पत्तौ तस्य 'तत्त्वमसि' वाक्यजन्यज्ञानबुल्यविषयवाच-  
स्यापि ज्ञानस्य निदिध्यासनोपेक्षा स्यात् ध्यानस्य च वाक्यार्थज्ञानोपेक्षास्यादित्यन्योन्याश्रयणमित्यर्थः ॥

वाक्ययोर्भिन्नविषयत्वे दूषणमाह—भिन्नेति । ध्यानस्य च वाक्यार्थज्ञानविरोधित्वमेवेत्याह—किंचेति । ध्यात्रादी-  
त्यादिशब्देन समादिर्गृह्यते दृष्टद्वारेणेति । अदृष्टद्वारेणोपयोगस्त्वन्तर्भीरभिः परैर्निरसनीयद्वतवासनायास्तत्त्वप्रसङ्गभयात्  
परित्यक्तइति ध्याननियोगवादिनोऽभिप्रायः । वाक्यार्थज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्तिनिरासेन जीवन्मुक्तिनिराससिद्धयतीत्याह—  
यतइति । दूरोत्सारिता वाक्यादपरोक्षज्ञानसम्भवेऽपि व्याघातादिना जीवन्मुक्तिरुत्सारिता, वाक्यादापरोक्षज्ञानसम्भवादूरो-  
त्सारितेतिभावः । काचेयमिति । किंशब्दः क्षेत्रे विकल्पाभिप्रायेण प्रश्नपरो वा ? तत्स्वरूप शङ्कते—सशरीरस्येति ।  
व्याहतिमाह—मातेति । व्याहतिमुपपादयति यतइति । व्याहतिपरिहारार्थं तन्मतं शङ्कते अथेति । सशरीरत्वनिवृत्ति-

## गूढार्थसंग्रहः

नाया श्रुत्यादिप्रमाणविरहात् 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्रुतिः सविशेषध्यानानन्तरव्याप्तिरुपपादिना परमा-  
न्माऽभिप्रायेण प्रकृतिमण्डलान्ते मुक्तिपरेति पूर्वार्धपर्यालोचनया निर्णीयते । (अयमर्थः भावप्रकाशे व्यक्तः) चरमवृत्तेर्नि-  
वर्तकत्वे जीवन्मुक्तिर्नैव घटतइत्यभिप्रेत्याह—यतो वाक्यादेवेत्यादिना ॥

अशरीरत्वमेव मोक्षइति त्वयैव श्रुतिभिरुपपादितमिति । 'नह्यै सशरीरस्यप्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति  
श्रुतिस्तदुपन्यस्ता, अस्या श्रुतौ 'सशरीरस्येति' शरीरसाहित्य स्फुटं प्रतीयते । 'एष संप्रसादोऽस्मान्छरीरात्समुत्थाय' इति  
अनन्तरश्रुतिः तत्रापि शरीरादुत्थानानन्तरमेव मुक्तिःप्रतिपाद्यतइति सशरीरस्य मुक्तिः तच्छ्रुतिविरुद्धेतिभावः ॥

सशरीरत्वमाविद्यकं तेन शरीरात्समुत्थानमापि शरीरात्माभिमाननिवृत्तिरेव धर्माधर्मनिमित्तकत्वे शरीरसंघ-धस्याना-  
दित्वेनैव अन्योन्याश्रयपरिहारःकार्यः । 'अन्धपश्यैवैषा अनादित्वकल्पना' इति परभाष्योक्तार्थं मनसि निधाय—अथ  
सशरीरत्वेत्यादिना ॥

### श्रीभाष्यम्

मिथ्येति प्रत्ययः तस्य सशरीरत्वनिवृत्तिरिति । न । मिथ्येति प्रत्ययेन नशरीरत्वं निवृत्तं चेत् कथं सशरीरस्य मुक्तिः अजीवतोऽपि मुक्तिस्सशरीरत्वमिथ्याप्रतिभासनिवृत्तिरेवेति कोऽयं जीवन्मुक्तिरितिविशेषः । अथ सशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचन्द्रज्ञानवदनुवर्तते स जीवन्मुक्त इति चेत् न ; ब्रह्मव्यातिरिक्तसकलविषयत्वाद्वाधकज्ञानस्य । कारणभूताविद्याकर्मादिदोषस्सशरीरत्वप्रतिभासेन सह तेनैव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्न शक्यते वस्तुम् । द्विचन्द्रादौ तु तत्प्रतिभासहेतुभूतदोषस्य बाधकज्ञानभूतचन्द्रैकत्वज्ञानाविषयत्वेनाबाधितत्वात् द्विचन्द्रप्रतिभासानुवृत्तिर्युक्ता ॥

### श्रुतप्रकाशिका

रिति निर्देशेन सशरीरत्वस्य छिन्नमूलता जीवन्मुक्तिवादिनाऽभिप्रेता । दूषयति नेति । सशरीरस्य सत्यत्वानभ्युपगमात् तस्य प्रध्वंसरूपा स्वरूपनिवृत्तिरनाभिमतः, \* अतः प्रतिभासनिवृत्तिर्वा प्रतिभासतात्त्विकताभिमाननिवृत्तिर्वा विवक्षिता स्यादित्यभिप्रायेण प्रथमं कल्पमनूयाभिमतसिद्ध्या दूषयति —मिथ्येति । सशरीरत्वं सशरीरत्वप्रतिभासः अनन्तरग्रन्थे प्रतिभासनिर्देशात् कथं सशरीरस्य मुक्तिरिति । सशरीरस्य मुक्तिरुक्ता स्यादित्यर्थः । तदेवोपपादयति अजीवतोपीति । मिथ्याप्रतिभासशब्देन भ्रान्तिज्ञानं विवक्षितम्, जीवदशाजीवन्मुक्तयोर्विशेषाभावात् नरुशरीरस्य मुक्तिरुक्ता स्यादित्यर्थः । द्वितीयशिरश्शङ्कने अत्रेति । अत्र पूर्वं सशरीरत्वप्रतिभासे वर्तमानइत्यादिग्रन्थाभिप्रेतार्यो विवृतो भवति । दूषयति नेति । कथमित्यत्राह—ब्रह्मेति । अविद्याकर्मादीत्यादिशब्देन बाधना गृह्यते । तेनैव बाधितं बाधकज्ञानेन बाधित इत्यर्थः । द्विचन्द्रज्ञानादौ हि बाधिताऽनुवृत्तिर्दृष्टेत्यत्राह—द्विचन्द्रादाविति । नहि रज्ज्वाद्यात्म्यज्ञानेन शुक्लो रजतभ्रमो निवर्तत इति भावः । प्रथमसूत्रे बाधितानुवृत्तिर्निराकरणे दोषस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञानबाधकत्वाभावात् भ्रमानुवृत्तिरुक्ता । अत्र तु चन्द्रैकत्वज्ञानाविषयत्वेन दोषस्याबाधितत्वात् द्वि(चन्द्र)त्वज्ञानानुवृत्तिरुक्ता इति हिता । जरमायावादिनोऽपि नृ लमिथ्यात्वस्याभ्युपगतत्वादेव वैषम्यमुक्तम् ।

### गूढार्थसंग्रहः

कोऽयं जीवन्मुक्तिरितिविशेष इति । इदमुपलक्षणं 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् इति सूत्रकृताऽनादिवाभ्युपगमेनैव परिहार उक्तः । 'तत्र ये ह रमणीयचरणा अम्याशोहयस्त रमणीयायोनिम पथेरन्' (छा. ५. १०. ७) 'प्राणा विपस्वश्चरति स्वकर्मभिः' 'नैव स्त्री—यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन समुज्यते' (श्वे. ५. २) इति श्रुतौ सशरीरं च कर्ममूलकमिति स्फुटम् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परापरे' इति श्रुतिरप्यत्रानुकूला । एव च सशरीरं वाशरीरं च कर्मतदभावनिबन्धने, शरीरासमुत्थानमपि प्रारब्धकर्मणोऽपि क्षयानन्तरकालिकम् इति जीवन्मुक्तिः श्रुतिविरुद्धेति ॥

द्विचन्द्रज्ञानादौ तु इति । चन्द्रैकत्वज्ञानेन द्विचन्द्रज्ञानहेतुतिमिरादिकं नैव नश्यति अननु चरमवृत्ते प्रथमज्ञानस्य एकविषयत्वेनैकेन न नाशः अपितु चरमवृत्त्यैवेति अविद्यालेशसंस्कारविशेषे सशरीरत्वप्रतिभासः उपपादयितुं न शक्यते उभयोर्ज्ञानयोरैकविषयत्वात् । प्रारब्धकर्मणोऽपि ब्रह्मन्य वन अत्रत्य निवर्तनीय वात्स्य प्रतिबन्धक वक्ष्यमाणं न समवति । एतेन दोषे याव प्रतिबन्धकसत्त्व ज्ञानानिवर्त्यत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोग्यसममित्यद्वैतासिद्धश्रुतिरनुपादेया । द्विचन्द्रज्ञानहेतुभूतदोषस्य कदाऽपि एकचन्द्र इति ज्ञानेन निवृत्त्यभावात् प्रारब्धकर्मणोऽपि ब्रह्मान्यत्वेन अधिष्ठानज्ञानस्याभ्यस्तानि



## गुढार्थसङ्ग्रहः

वृत्तिप्रति कारणत्वेन भवता प्रतिबन्धकत्वकल्पनस्यैवासम्भवात् । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्रुतौ 'तस्मादेव चिरम्' इति श्रुत्यैकार्थ्यात् अन्तपदं भोगान्तपरं च शब्दोऽवधारणार्थकः । अन्ते तत्त्वभावादेव विश्वमायानिवृत्तिरित्यपेक्षा अन्ते निवृत्तिर्भवत्येव, न तु मायावस्थितीति । अत एव 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पातेतु' इति सूत्रे ज्ञानार्थान्तरसर्वकर्मासम्भवात् ज्ञानिनो देहपातिसुक्तिः तु शब्देनावधारिता । तस्मात् सौत्रेण तु शब्देन समानार्थकः श्रौतशब्दः पातशब्देन समानार्थकः अन्तशब्दः इति जीवन्मुक्त्युपपत्तौ लघुचन्द्रिकोक्तिरप्यनादरणीया । 'तदाधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पातेतु' इत्यादौ कर्मणामेवोपस्थित्या 'भोगेनान्विते क्षयधित्वाऽयं स पत्यते' इत्यत्र सपत्तिप्रतिबन्धकत्वेन कर्मतद्वासनयोरैव 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुतौ विवक्षानिर्णयेन परसमताविद्योपस्थापकशब्द एव नास्तीत्युभयोरैकार्थ्येन अन्तइत्यस्य भोगान्त इत्यर्थो न संभवति, 'विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यत्र विश्वशब्देः प्राक्सर्वमायानामनिवृत्तिः अपि तु अन्तएवेति स्वरसतोऽर्थः प्रतीयते । अत्र कर्मतद्भोगवाचिपदाभावेन अन्तइत्यस्य भोगान्त इत्यर्थकल्पनासम्भवेन मायाया अन्तएवावसान एव मायानिवृत्तिः, न तु ततः पूर्वं चरमशरीरवियोगकाले इत्येव श्रुत्यर्थः । छान्दोग्ये—'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुत्युक्तसम्पत्तेः 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इत्यत्र दहरप्रजापतिविद्याद्वयेऽपि वैश्वदेवमुत्तमम्, 'समुत्थाय' इत्यस्य तात्पर्यमेव 'अस्य सोम्य पुत्रस्य' इति सद्विद्याश्रुत्या उत्क्रान्त्युत्तरकालिकत्वप्रतीत्या दहरविद्याया गतेरपि प्रतिपादनेन उत्क्रान्तिगत्यनन्तरकालिकत्व सम्पत्तेः निश्चीयते । एवञ्च 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यत्र अथर्थाद्यनन्तर्ये वासनानिवृत्त्यानन्तर्ये पर्यवसितम् । अयमर्थः चतुर्थाध्यायपादक्रमेणैव व्यासेन निर्धारितः । अतः परसमताऽविद्यानिवृत्तिः जीवन्मुक्तिविदेहकैवल्यरूपमुक्तिद्वयमङ्गीकृत्य उत्क्रान्त्यादिक विहाय अत्रैव मुक्त्युपपत्तिश्च श्रुति सूत्रविरुद्धेति बोध्यम् ॥

सद्विद्या उपासनरूपैवेति 'युक्तं तद्गुणकोपासनात्' इति वाक्यकारसिद्धान्तइति प्रथमाधिकरणे (७८४.पु) एव निरूपितम् । यद्यपि 'साच्चित्त' इत्यादि तत्रत्यद्रमिडभाष्यं वेदार्थसंग्रहे सम्यग्व्याख्यातम् । 'अन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति प्रत्यगुणेति भगवानपि भाष्यकारः । आहस्म यत्तदिह निर्गुणवस्तुवादे सङ्गच्छते न तु पुनस्तत्तुणाभवादे ॥' (स. शा. ३. २२१) इत्यत्र 'गुणशब्दः स्वरूपपरः अन्यथा देवता पराग्रूपाः परदेवतातु प्रत्यगात्मरूपा अपरोक्षचिदेकरेत्त्यर्थः' इति मधुसूदनविवरणम् 'यद्यपि साच्चित्तः न निर्भुगदैवत गुणगण मनसाऽनुधावेत् तथाऽप्यन्तर्गुणामेव देवता भजते' इति द्रमिडभाष्ये न विवक्षितम् । अयमर्थः 'साच्चित्तः सद्विद्यानिष्ठः न निर्भुगदैवतं गुणगण मनसाऽनुधावेत्' अपरहृतशक्त्यादिकल्याणगुणगण देवताद्विभक्तं यद्यपि दहरविद्यानिष्ठइव साच्चित्तो न स्मरेत् तथाऽप्यन्तर्गुणामेव देवता भजते, देवता स्वरूपानुबन्धिवात् सकलकल्याणगुणगणस्य केनचित्परदेवतासाधारणेन निमित्तलज्जगत्कारणत्वादिना गुणेनोपास्यमानापि देवता वस्तुनस्वरूपानुबन्धिसर्वकल्याणगुणगणावेशिष्टैवोपास्यते अतः सगुणमेव ब्रह्म तत्रापि प्राप्यमिति सिद्धया सद्विद्या दहरविद्ययोर्विकल्पः' इति (वे.स) विवरणेनैव भगवता प्रकाशितः । अयमाशयः—'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' 'आस्मिन्कामास्तमाहिताः' 'यद्वा मानमनुविद्य प्रजन्त्येतांश्च सत्याकामान्' इति दहरविद्यायां घर्षिणः पृथग्गुणानां निर्देशो वर्तते । सद्विद्यायातु घर्षिवाचकपदादेव प्रवृत्तिनिमित्तभूता गुणाः विशेषणतयोपस्थाप्यन्ते । अयमर्थः 'अन्तर्गुणामेव देवता भजते' इत्यत्र देवतशब्द विहाय देवताशब्दप्रयोगेणैव द्रमिदाचार्येणैव सूचितः । 'सैव देवता' इति छान्दोग्यस्य देवताशब्दतात्पर्येणायशब्दः तत्रच 'सा' इत्यनेन 'उततमादेशमप्राशय' इत्यत्र आदेशशब्दार्थः परामृश्यते । 'इयम्' इत्यनेन 'सदेव सोम्येदमप्रभाती' इत्यनन्तर 'तदेतत् बहुस्या प्रजायेय' इति प्रतिकोतिभूतच-

### श्रीभाष्यम्

किंच 'तस्य तावदेव चिरम्' यावन्नविमोक्षये अथ सम्पत्त्ये' (छा.५.२४.३) इति सद्विद्या-  
निष्ठस्य शरीरपातमात्रमपेक्षने मोक्षइति वदन्तीत्यं श्रुतिः जीवन्मुक्तिं वारयति । संपा जीव-  
न्मुक्तिरापस्तम्पेनापि निरस्ता 'वेदानिमं लोकममुंच परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' (आ.ध.  
सू.२.प्र.९.पट.२१.ग्य.मू.१३) बुद्धे क्षेमप्रापणम्' (१४)

### श्रुतप्रकाशिका

जीव-मुक्तेः श्रुतिविरोधमाह—किंचेति । श्रुतिविरोधमह—सैपेति । वेदशब्देन त्रिवर्गसाधनकर्माण्युच्यन्ते । तत्फलमु-  
च्यते इमं लोकममुंचेति । बुद्धे वाक्यार्थज्ञाने जाते सति क्षेमप्रापणं मोक्षः । तच्छास्त्रविधिप्रतिषिद्धम् शास्त्रेति बहुवच-  
नस्यायमात्र वाक्यार्थज्ञानोत्तरभाष्युपासनविधिपरैः 'एवं वर्तयन्त्यावदायुषम्' आप्रयाणादनुवृत्तिपरिमोक्षस्य शरीरपात-  
मात्रसाधनत्वपरैः 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति नाडीविवेचनान्ध्रमणपरैरविवादिमार्गेण देशविशेषप्राप्तिपरैश्चानेकै-

### गूढार्थसंग्रहः

हुमयनेऽभितृपतिशिष्ट परामृश्यते । एतेन नामरूपव्याकरण स्वपर्यन्तमेव विवक्षितमिति निर्द्ध्यते, एव 'तत्त्वमसि'  
इत्यत्र नपुसकतच्छब्दानिर्देशेन 'तदैक्षत बहुस्या प्रजायेय' इत्यात्मनो बहुमवनमीक्षितु तच्छब्देन परामृश्यते इति बहु-  
मयनं नामरूपव्याकरणश्रुत्या यद्विशदीकृतं तदनुसार्यभेदएव 'तत्त्वमसि' इत्यत्र विवक्षितइत्यपि निर्णयिते । पूर्वं तच्छब्दैः  
यद्वर्ममिश्रिष्ट प्रतिपादित तत्तद्वर्मगुणवतएव तच्छब्देन परामर्शेन 'सेय देवतैक्षत' इत्यत्र गुणवती देवता या सैव  
तच्छब्दार्थ इति सद्विद्या सगुणविद्या । 'अथ सपरस्य' इत्यत्र फलविवक्षितमित्यर्थद्वय सगुणोपासनस्यैव 'अन्तर्गुणा-  
मेव देवता मजते' इत्यत्र विवक्षितमिति निर्मलसराणां विदुषा स्फुटम् ॥

'न सव्यवहारमात्रत्वात्' इति वाक्यकारथाक्य 'वाचाऽऽरम्भण विकारो नामधेयम्' इत्यत्र वाचाऽऽरम्भणपद-  
नमिष्यार्थकम् अपितु 'प्रवृत्त्यानर्थक्यतु सत्त्वाविशेषात्' इति एतत्पूर्वपक्षवाक्योक्त दूषणपरिहारपरम् वाचाऽऽरम्भणशब्देन  
असाधितव्यवहारार्थनामरूपता पर्येण प्रवृत्तम् । तेन 'परिणामस्तु स्याद्दध्यादिवत्' इति भास्करोदाहृतवाक्यप्रतिज्ञातार्थ-  
स्यापिनः । अतः 'आत्रेयवाक्यमपि सव्यवहारमात्रम्' 'अद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः' इति संक्षेपशारीरकतटनु-  
सारिकल्पनरूपेणितार्थस्य वाक्ये न कथंचिदप्यवकाशः । अयमर्थः 'वाचाऽऽरम्भण'मित्यत्र 'वाचा—वाक्पूर्वकव्यवहारेण'  
(२.१५) इत्यादिसूक्तौ अभिप्रेत । अत्रार्थद्वयमपि प्राक् (६१८.पु) निरूपितम् । 'आप्रयाणात्तत्रापिहि दृष्टम्' इतिसूत्र-  
'आवृत्ति' इतिसूत्रात्तत्रासामान्यपरम् । 'आवृत्तिरिति सूत्रे न वक्तव्यः । अग्राह्येनावृत्तज्ञानमेव विवक्षितमिति शङ्कर-  
माश्रोक्त्या 'आप्रयाणात्' इत्यत्रापि सद्विद्या विवक्षा नैव प्रत्याख्यानमर्हति । 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुतौ चर-  
मशरीरवियोगात्पूर्वं 'तत्त्वमसि' इत्याहुतज्ञानस्य विवक्षितत्वे अन्यविद्यानामपि अनावृत्तज्ञानरूपता नैव सिद्धयति ।  
'अहमस्मि' इति वाक्यस्येऽपि 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्युपासनमभ्यस्यत इति माक्ष-  
साधनज्ञानसामान्य क्वाप्यनावृत्तज्ञान न भवति, किंतु आवृत्तज्ञानमुपासना मकमेवेत्येत सर्वमभिप्रेत्याह—किंच तस्य ताव-  
देव चिरमित्यादिना ॥ अथशब्दस्य परमते निरर्थकत्व भगवन्निग्रहनिवृत्त्यनन्तरमेव रूपच्छेत्त्यादिक भा० प्रकाशेऽपि  
निरूपितम् । वेदानिममित्यादि । 'सत्यं नृते सुखदुःखे' इतिसूत्रात्रभागः । अत्र सन्न्यासो न विवक्षितइति प्रागेव (११९  
पु) निरूपितम् । बुद्धे क्षेमप्रापणमित्यादि । अत्र हरदत्तव्याख्या—'बुद्धे क्षेमप्रापणमित्येतच्च प्रत्यक्षविद्वद्व्यतिरिक्तम्—बुद्धचेत्  
क्षेमप्रापणमिहैव ननु एवमुपलभेन । आ मत्राद्यमात्रेण चेत्क्षेमप्राप्यत इहैव शरीरं तु गमनापलभेत शरीरं, न चैतदस्ति नहि शानिना

## श्रीभाष्यम्

तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्' (१५) 'बुद्धेचेत् क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत' (१६). 'एतेन परंव्याख्यातम्' (१७) इति । अनेन ज्ञानमात्रान्मोक्षश्च निरस्तः अतस्सकलभेदनिवृत्तिरूपा मुक्तिर्जीवतो न संभवति । तस्माद्ध्याननियोगेन ब्रह्मापरोक्षज्ञानफलेनैव बन्धनिवृत्तिः । नच नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वप्रसक्तिः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रस्यैव साध्यत्वात् ॥

किंच न नियोगेन साक्षाद्बन्धनिवृत्तिः क्रियते । किंतु निष्प्रपञ्चज्ञानेनैकरसब्रह्मापरोक्षज्ञानेन । नियोगस्तु तदाऽपरोक्षज्ञानं जनयति । कथं नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमिति चेत्—कथंवा भवतोऽनभिसंहितफालानां कर्मणां वेदनोत्पत्तिहेतुत्वम् ? मनोर्नैर्मल्यद्वारेणेति चेत् ममापि तथैव । ममतु निर्मले मनसि शास्त्रेण ज्ञानमुत्पाद्यते, तव तु नियोगेन मनसि निर्मले ज्ञानसामग्री वक्तव्येति चेत् ध्याननियोगनिर्मलं मनएव साधनमिति द्रुमः । केन

## श्रुतप्रकाशिका

दशास्त्रैर्विरोध इति । विप्रतिषिद्धमिति । विशेषेण प्रतिषिद्धं न तुल्यबलैः प्रतिरुद्धम् अपितु प्रबलैः पराहतम् । प्राबल्यं न भूयसा स्याद्वलीयस्त्वमिति न्यायादिति भावः । प्रत्यक्षविरोधमपि स्मृतिरेवाह—बुद्धेचेदिति । एतेन परं व्याख्यतम् एतेन शास्त्रप्रत्यक्षविरोधेन \* औद्बुलोमिमतानुसारेणोक्तमन्यदापि व्याख्यातं सर्वमप्यपास्तमित्यर्थः ॥

यद्वा यथेदानीं दुःखोपलब्धिः तथा प्रेत्यापीत्यर्थः । यद्वा यथा दुःखनिवृत्तिर्नोपलभ्यते तथा सुखनिवृत्तिरपि नेत्यर्थः । जीवन्मुक्तिनिरासार्थमुदाहृतेन वचनेन वाक्यार्थज्ञानमात्रान्मोक्षश्चार्थान्निरस्त इत्याह—अनेनेति । जीवन्मुक्तिनिरासमुपसंहरति अतइति । जीवन्मुक्तिनिरासेन स्वमतस्यैयं सिद्धिमाह—तस्मादिति । वाक्यार्थज्ञानमात्रान्मोक्षवादिन श्रोत्रपरिहारो ममापि तुल्यइत्याह—नच नियोगेति । नियोगनिवर्त्यत्वे प्रपञ्चसत्यं च स्यादित्याशङ्क्याह—किंचेति । ध्याननियोगपक्षानुपपात्तिपरिहारस्य विवक्षितवार्त्तिकं च शब्दप्रयोगः । नियोगस्य निवर्तकत्वं ज्ञानद्वारकामिति न निवर्त्यसत्यमित्यर्थः ; नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ किञ्चित्कारबुधु सया पृच्छति ध्यानेति । नगलु ज्ञानेदपः किञ्चित्कारो नियोगेन रुभवति अतस्सवक्तव्य इति भावः ॥

प्रतिबन्धा परिहरति कथंवेति । वेदनोत्पत्तिहेतुत्वमिति । इच्छाद्वारा वेदनोत्पत्तिहेतुत्वमभिप्रेतम् 'विचिदि पन्ति' इति द्युशहरिष्यते । परिहार शङ्कते—मनइति । तस्माद्यमाह—ममापीति । पुनराशङ्कते—ममत्विति । मनाहि साधारणकारण तस्मिन् सत्यप्यसाधारणकारणमपेक्षितं तन्ममास्ति न्वयातु वक्तव्यमिति चेदित्यर्थः । वैशेषिकाद्यभिमतमनसप्रत्यक्षइव, प्रकृष्टादृष्टमहकृतमनोमात्रकारणके 'तत्सर्वं धर्मवैर्येण यथावरसम्प्रपदयसि' इत्यादिसिद्धे योगिप्रत्यक्षइव च मनस्यासाधारणकारणमिति परिहरति ध्यानेति । मनोमात्रस्य साधारणकारणत्वेऽपि निर्मलतस्य मनोर्विशेषस्यासाधारणकारणत्वं युक्तमिति भावः । तज्ज्ञानप्रश्नं शङ्कते केनेति । शापकस्वारस्यलक्षणं स्वपक्षे वैद्यस्य दर्शयितुं पृच्छति

## गूढार्थसंग्रहः

मूर्धाभिषिक्तमन्योऽपि शुभादुत्तमैव तावत् धनमात्रं सोढुं प्रभवति इति । एतेन परं व्याख्यातम् । परलोकभयमपि दुःखमेतेनैव व्याख्यातम् । न सैरिचारिणा नियतं न इति । तस्मात्स्वकर्माभिः परिषक्तपापः धनमननानिदिध्यासनैः साक्षात्कृता मन्त्रैः प्रतिषिद्धेषु कदाप्यन्यनिधिरलक्षणायोगनिरतः मुख्यदर्शितः इति ॥

### श्रीभाष्यम्

अयमभ्यस्तइतिचेत् भवतोवा कर्मभिर्मनो निर्मलंभवति निर्मले मनसि श्रवणमनननिदि-  
ध्यासनैस्समलेतरविषयविमुखस्यैव शस्त्रं निवर्तकज्ञानमुत्पादयतीति केनावगम्यते । 'नि-  
दिदिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशनेन' (वृ.६.४.२०) 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-  
तव्यः' (६.५.६) 'ब्रह्म वेदब्रह्मैव भवति' (तै.आनन्द) इत्यादिभिश्चाख्यैरितिचेत् ममापि  
'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (वृ.६.५.६) 'ब्रह्मविदामोतिपरम्' (तै.आन.१ अनु)  
'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मु.३.१.८) 'मनसातु विशुद्धेन'

### श्रुतप्रकाशिका

भवतोवेति निदिध्यासनन विषयविमुखीकृतमनस्कस्य शास्त्रेण निवर्तकज्ञानोत्पत्तौ प्रमाणतया पराभिमतान् श्रु-  
तवाक्यानि शङ्के विनिदिपन्तीति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति वेदनशब्देन वाक्यार्थज्ञान विवाक्षितमिति पराम्प्रायः ।  
मनसो ज्ञानसाधनत्वे प्रमाण दर्शयति ममापीति । 'नचक्षुषा' इत्यादवाक्य मनसएव साधनत्वं स्वरसम् 'ब्रह्म  
वेद' इत्यत्र वेदशब्दस्य वाक्यार्थज्ञानपरत्वं न स्वरसत्प्रतीयते । नच श्रुत्यन्तरैकार्थ्येन तत्पर वावगम वाक्यार्थज्ञा-  
नस्योपायप्रकण्ठोत्तिमच्छ्रुत्यन्तराभावादित्यभिप्रेतम् । \* मिथ्याप्रतिबन्धनास्त्वे चोद्यपरिहारास्समाना. परोक्षज्ञानस्या  
परपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वं शास्त्रप्रत्यक्षविरोधौ श्रुतिस्वारण्यहानिश्च भवतापक्षेऽधिक दूषणमिति वैषम्यज्ञापनाय कथं तादिना  
प्रतिपन्दीमुत्तेन तत्तच्छङ्कापरिहार कृतः । इतिशब्दो नानन्तरवाक्यशेष अपितु प्रकरणशेषः ॥

### गूढार्थसङ्ग्रह

(विवरणे—'ननु ततस्तुत पश्यति निष्कल ध्यायमान' इति ध्यानमपरोक्षफल श्रूयते । सत्यम् । एकत्र चित्तस्य  
समयधानता तदैकाग्र्यनिमित्तं भवति । तदैकाग्रचेतसा सहकारिणा शब्दएवौपनिषदमिति ताद्वितप्रत्ययसामर्थ्यादपरोक्ष  
ज्ञानमुत्पादयति 'ध्यायमाना ज्ञानप्रसादेन पश्यति' इति वाक्यस्यान्वयात् चित्तैकाग्र्यस्य सूक्ष्मवस्तुदर्शननिमित्तं वात दृष्टे  
नैवोपकारासिद्धौ अदृष्टकल्पनायोगात्' इत्युक्तदिशा शब्दापरोक्षसिद्धिरिति शङ्कायामाह—नचक्षुषा गृह्यते नापिवाचेति।  
'नचक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वं, ततस्तुत पश्यति निष्कल ध्याय-  
मान' (मु.३.१.८) इति श्रुत्यानुपूरा । 'औपनिषदम्' इत्यत्र ताद्वितप्रत्यय नापरोक्षविषय बोधयति । अणुप्रत्ययस्य  
तादृशार्थेऽनुशासननिरहात् किंतु ज्ञानविषयत्वरूपसम्बन्धयुक्तम्, भामत्यामपीत्येवाम्युपगतम् । 'नापि वाचा' इत्यत्र  
ज्ञानसामान्ये वाच करणत्वं निषिध्यतइति प्रतीयते । अयमर्थः श्रुतिविरुद्धः, 'नचक्षुषा' इति चक्षुराद्रियस्य पूर्वप्र-  
स्तुततया तस्य प्रत्यक्षकरणतयैवोपस्थितिरिति 'गृह्यते' इतिसामा यशब्दस्यापि प्रत्यक्षमेवार्थः, 'ततस्तुतपश्यती' युत्तर श्रव-  
णाच्च । एवञ्च 'नापि वाचा' इत्यत्र शब्दस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वं निषिध्यत । एतेन 'औपनिषदम्' इति ताद्वितप्रत्ययेन  
ब्रह्मण शब्दापरोक्षविषयवसिद्धिरिति भ्रमो न्युत्तः । 'ध्यायमान तपश्यति' इत्यत्र दर्शन ध्यानहेतुकमेवेति प्रती-  
यते । अत्र दर्शन समाधिरूपमेव ध्यायानन्तरसमाधे प्रमाणतस्सिद्धं वात् । समाधिश्च शङ्कराचार्यैरप्यभ्युपगत इत्यादिकं  
प्रथमाधिकरण(६६.पु) एव निरूपितम् । 'विशुद्धसत्त्वं' इत्यनेनात्र मनसि सत्त्वशुद्धिरेव विवक्षिता । 'आहारशुद्धौ  
सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृति' इति छान्दाग्येऽपि मनसश्शुद्धिरेवाभिप्रेता । स्मृतौ करणभूतस्यैव मनसः ध्यानस-  
हकारणापरोक्षज्ञानजनकत्वम् इदमत्र योगिप्रत्यय, यागिप्रत्यय च सर्वदार्शनिकसम्मतम् । 'मनसातु विशुद्धेन' इत्यत्रापि  
अपरोक्षज्ञाने मनसः करणत्वेन विवक्षितमित्याशयनापादत्ते—मनसातु विशुद्धेनेति ॥



## श्रीभाष्यम्

‘हृदा मनीषा मनसाऽभिव्यक्तः’ (श्वे.४.१.७) इत्यादिभिर्दशास्त्रे ध्याननियोगेन मनोनिर्मलं भवति, निर्मलं च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानं जनयतीत्यवगम्यत इति निरवद्यम् । ‘नेदं यदिदमुपासते’ (केन.१.४) इत्युपास्यत्वं प्रतिषिद्धमिति चेत् नैवम् । नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिषिध्यते, अपितु ब्रह्मणो जगद्वैरूप्यं प्रतिपाद्यते । यदिदं जगदुपासते प्राणिनः, नेदं ब्रह्मतदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यत इति वाक्यार्थः ।

## श्रुतप्रकाशिका

उपास्यव्यतिरेकं शङ्कते नेदमिति परिहरति । नैवमिति । तस्य वाक्यस्यैव निर्वाहो न युक्त इत्यर्थः । उपास्यत्वनिषेधं प्रतीयत इत्यत्र ह—नात्रेति । कस्तर्ह्यर्थ इत्याह—अपित्विति । कथं वैरूप्यप्रतिपादनमित्यत्राह—यदिदमिति ‘यदिदमुपासते’ इत्यत्रेदमत्र निषेधस्य तात्पर्यमिति भावः ‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादिना विहितप्रतीकैः पासनोपास्यानिहि परिच्छिन्नानि । नेदं ब्रह्म, किन्त्वपरिच्छिन्नं तदेव परब्रह्मेत्यर्थः, अनेन ‘अन्यदेव तद्विदितान्’ इत्यादिक-

## गूढार्थसंग्रह

ब्रह्मभिन्दूपनिषदि शुद्धमनसएव मुक्तिहेतुज्ञानसाधनत्वमुक्तम्—यथा ‘मनाह द्विविधं प्रोक्तं शुद्धाशुद्धमिव च । अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । इच्छाया विषयाश्च मुक्तये निर्विषयः स्मृतम् ॥ अतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते । तस्माद्विविषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि । यदा यात्युन्मनीभावः तदा तत्परमं पदम् ॥ तावदेव निरोद्धव्यं यादद्भृदि गतं क्षयम् । एतज्ज्ञानं च ध्यानं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ स्वरेण सन्धये योगम्’ इत्यादिना । अत्र ‘निरस्तविषयासङ्गम्’ इत्युक्त्या निर्विषयत्वं ब्राह्मविषयस्यैवमेव । एतदुपगृहणयन्नानि भावप्रकाशे (३.स.२१२.पु) उदाहृतानि । मनसः करणकमपरोक्षज्ञानं ‘हृदामनीषा’ इत्यादिश्रुतौ विवक्षितमित्याशयेनाह—हृदामनपित्यादि ‘नन्दशो तिष्ठति रूपस्य नचक्षुषा पश्यति कश्चनैवम्’ इति पूर्वार्थम् । पूर्वार्थे दर्शनस्योक्त्या ‘हृदामनीषा मनसाऽभिव्यक्तो यतद्विदुर्मृतास्ते’ इत्यत्र वेदनं मानसापरोक्षज्ञानमेव विवक्षितम् ‘मनसा’ इत्यत्र मनश्शुद्धमेव विवक्षितम् । एतदुत्तरं ‘नैव वाचा न मनसा प्राप्नुवत्येव न चक्षुषा’ इति श्रुतौ अशुद्धमेव मनः विवक्षितम् । विवक्षितमेव नैव वाचैरिति विवक्ष्यते । उक्तं हरेः सृष्टुं शक्तं न चिकेतोऽथ लब्ध्या विद्यामेता योगविधिं च कृत्वा ब्रह्मप्राप्तौ विरजाऽभूदमुक्तः इत्यत्र योगविषयनुसारण्यं मोक्षस्य स्पष्टमुक्त्या मानसापरोक्ष ध्यानानन्तरकालिक योगगूत्रादिनिर्णीत मुक्तिहेतुरिति औपनिषद्वदन्त्या प्रतिपादनादिति भावः ॥

नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिषिध्यते इत्यादि अत्र कन्वयः—‘यत्र ब्रह्मणा सा वागभ्युद्यते प्रकश्यते’ इत्यविषयत्वमुपन्यस्याह—‘तदेवा मभूत् प्रमादुर्वादि कल्पनाऽप्येतेन कारणात्’ । ब्रह्म इदमिति यदिदं । हेदिष्य यदुपाधिर्विदिष्य देयनादिदमिमुपासते जनाः इदं यद्ब्रह्म न विदं इति’ इति । (१.१.४) एतदुत्तरार्थेन मन्थनस्यापि समतः ‘स्वयमिति’ इत्यत्र संसर्गावप्यवरोधः मन्थनमिति । यस्तुतो वृक्षगृहलघाघ, याच्यार्तमो उवाच नाया ध्यानरूपायाः शान्तिरुपायाः प्रमादुर्वादेन प्रमा य तदनन्तरं मानसापरोक्षज्ञानं नियोगमन्तर्यम् । विधिः ध्यानार्थः क्वपि नास्ति इत्यर्थे मन्थनवाच्यस्योपाधिरिति । ध्याननियोगवादिमो विधिः नियोगमिति विदुषः । अत्र ‘नतत्र चक्षुर्गच्छति न वागपश्यति नो मनः’ (केन.१.म.३) इति चक्षुर्गच्छनस्य ब्रह्मविषयकज्ञानगापनरं निर्विषयम् । अनन्तरं ‘यदा वाचाऽभ्युदितं’ (५)

## श्रीभाष्यम्

अन्यथा ‘तदेव ब्रह्मत्वं विद्धी’ति विरुध्यते, ध्यानविधिर्वैयर्थ्यं च स्यात् । अतो ब्रह्मसाक्षार  
फलेन ध्याननियोगेनैवापरमार्थभूतस्य ह्यस्त्वनस्य द्रष्टृदयादिप्रपञ्चरूपरन्धस्य निवृत्तिः ॥

## श्रुतप्रकाशिका

मपि जगद्वैरूप्यपरमिति व्याख्यातंभवति । यद्वाचाऽनभ्युदितं दत्तं शक्यं अपि उच्यते अ-यमेति स्वयं इयद्विगोचरतः  
ध्यानविधिर्वैयर्थ्यमिति वाक्यान्तरापरिरोधजनः । स्वयंभुपसंहरति अतइति ॥

## गूढार्थसंग्रहः

‘यन्मनसा नमनुते’ (६) ‘यश्चक्षुषा नपश्यति’ (७) इति मन्त्रत्रयेऽपि ‘नेदं यदिदमुपासते’ इति श्रूयते । ‘यद्वाचा-  
नभ्युदितम्’ इत्यत्र पूर्वं ‘अ-यदेव तद्विदितात्’ इति श्रूयंत अत्र विदिताविदितभेदः स्फुटः । ज्ञानविषयज्ञानाविषय-  
त्वयोर्निषेधे ब्रह्मण्येवाभावप्रसङ्गः । अतः तद्वारणाय ‘यद्वाचाऽनभ्युदितम्’ इत्यत्र अभी-युपसर्गः, अभी-युपसर्गेण स्वरू-  
पतः गुणतः विभूतितश्च कामन्येन बोधयितुमशक्यत्वं नत्र विवक्षितमिति स्फुटम् । अयमर्थः ‘यदिमन्यसे मुवेदेति’  
‘नाह मन्येमुवेद’ इति अनन्तरत्तण्डमन्त्रद्वये सुशब्देन दृढीकृतः । ‘यदिमन्यसे मुवेदेति दभ्रवेवाऽपि नूनम्’  
‘नवेत्य ब्रह्मणो रूपम्’ इत्यत्र दभ्रशब्दप्रयोगेण दभ्रवेदनस्य पूर्वं प्रस्तुततया तदुरत्तश्रुतौ ‘मुवेद’ इत्यत्र पूर्णवेदनमेव विव-  
क्षितमिति स्फुटम् । एतेन ‘तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते’ इत्यत्र दभ्ररूपजगदेव ‘इदम्’ इत्यत्र विवक्षितम् ।  
अत्र जगद्वैरूप्यमेव विवक्षितम् भूमविद्याया भूमशब्दप्रतिकोटितया अल्पशब्दप्रयोगेणापि इत्येवार्थः । तेन नामादिप्रा-  
णान्तप्रतीकोपासनेषु यदल्पवेदनेनाल्पोपासन मुर्त्तीतरफलक तद्विषयनामादिवैलक्ष्यमप्यत्र विवक्षितमिति भावः ॥

अन्यथा तदेव ब्रह्मत्वं विद्धीति विरुध्यते इति । विद्धि इत्यत्र विधिप्रत्ययः ‘नेदं यदिदमुपासते’ इति वा-  
क्यसहस्रटित्वेन वेदनमुपासनरूपमेवेति विधिस्सम्भवति । अतएव ‘भूतेषु भूतेषु विचि(चि)त्यर्घाराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता  
मयानि’ इत्यत्र लोकान्नारानुभाव्यमुक्तिफल वक्ष्यमाणं सङ्गच्छत । ‘आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्’ इत्यत्र  
विद्या उपासनरूपैव विवक्षिता । ‘तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि’ इत्यत्र ब्रह्मणः उपास्यत्वनिषेधएव विवक्षित इति साधयद्भिः  
सुरेश्वराचार्यैः ‘निदिध्यासनशब्देन सम्यग्ज्ञानं विवक्षितम् । उक्तानुपचने तस्य विज्ञानेनेति निर्णयात्’ इत्युक्त्या ‘तदेव  
ब्रह्म’ इत्यत्रापि वेदनमव विवक्षितं नतु ध्यान, अविद्यानिवृत्तयं तदपेक्षायाअभावादित्याशङ्क्याह— ध्यानविधिर्वैयर्थ्यं  
च स्यादिति । ‘निदिध्यासितव्य’ इत्यनन्तर ‘मैत्रेय्याऽमनोवा अरेदर्शनेन मत्या विज्ञानेन’ इति श्रुतौ विज्ञानशब्देन  
निदिध्यासनानुवादात् ध्यानमिन्न ज्ञानमेव विवक्षितमिति वार्तिकोक्तार्थः नश्रुतौविवक्षितः । ‘आ मा वा अरे द्रष्टव्यश्चो  
तथ्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः’ इत्यत्र ध्यातव्यशब्दविहाय ‘निदिध्यासितव्य’ शब्दप्रयोगः ‘ध्यंचिन्तायाम्’ इति  
घात्वर्थविशेषबोधनार्थः । ‘घातोरेकाचोहलादेः क्रियासममिहारे यङ्’ (पा.सू.३.१.२२) इति सूत्रविहितयङन्तात्तव्य-  
प्रत्यये निदिध्यासितव्यइति रूपम् ॥

अत्र महाभाष्यम्—‘सममिहारइति कौऽयशब्दः ? समभिपूर्वाद्धरतेः भावसाधनो घञ् सममिहरणं सममिहारः  
इति । तत्रया पुण्यामिहारः मालामिहारः उत्पलामिहारः पलामिहारः इति । विषमउप-यासः । बह्व्ये हीमारस्तुनर स्तत्र  
युक्तासममिहारः, इह पुनरेकाक्रिया यद्यप्येका सामान्यक्रिया अवयवक्रियास्तु बह्व्यः । अधिश्रयणोदकासेचन तण्डु-  
लावपनैघोऽपकर्षणक्रियाः ता.कश्चित्कर्त्तव्येन करोति कश्चिदकास्त्वेन य.कास्त्वेन करोति सउच्यते ‘पापच्यत’ इति

## श्रीभाष्यम्

यदपि कैश्चिदुक्तम् भेदाभेदयोर्विरोधो न विरुध्यत इति । तदयुक्तम् । नहि शीतोष्ण-  
तमः प्रकाशादिवद्भेदाभेदावेकस्मिन्वस्तुनि सङ्गच्छेने । अथोच्येत—सर्वेहि वस्तुजातं प्रती-  
तिव्यवस्थाप्यम् । सर्वं च भिन्नाभिन्नं प्रतीयते कारणात्मना जात्यात्मनाचामिन्नम् कार्या-  
त्मना व्यफत्यात्मना च भिन्नम् । छायाऽऽतपादिषु विरोधस्सहानवस्थानलक्षणो भिन्नाधा-  
रत्वरूपश्च । कार्यकारणयोजातिव्यफत्योश्च तदुभयमपि नोपलभ्यते । प्रत्युत एकमेव वस्तु  
द्विरूपं प्रतीयते यथा मृदयंगट खण्डोगौः मुण्डो गौरिति । नचैकरूपं किञ्चिदपि वस्तु

## श्रुतप्रकाशिका

अथायमेव ध्याननियोगवादी \*भास्करमत दूषयितुं तदभित भेदाभेदाविरोधमनुवदति । यदपीत्यादिना । प्रथम  
संक्षेपेण दूषयति तदयुक्तमिति । नियमेन भिन्नाधारत्वलक्षणस्सहानवस्थानलक्षणश्चेति \* विरोधो द्विधा । आदिशब्देन  
तृणदहनादारिव नाशयनाद्यकभावो विवाक्षितः तद्वद्भेदाभेदयोरपि विरोधाऽस्ताव्य ह—नहीति । अयं भेदाभेदमतं दिस्त-  
रेण प्रस्ताति अथोच्येतेति । वक्ष्यमाणौपयिकमर्थं शिक्षयति सर्वेहीति । शीतोष्णादिष्वपि विरोधः प्रतीत्यधीनइति भावः  
ततः किमित्यत्राह—सर्वेचेति । कथं भिन्नाभिन्नत्वमित्यत्राह—कारणात्मनेति । पूर्वोक्तद्विविधविरोधोपलभ्यत्वैरूप्यं द्रवतु-  
माह—छायेति । ततः किमित्यत्राह—कार्येति । अविरोधेनोपलब्धिमाह—प्रत्युतेति । उपलब्धमभिनेयेन दर्शयति यथेति ।  
अद्विरूपस्त्वनुपलब्धिमाह—नचेति ॥

## गूढार्थसंग्रह

पुनःपुनर्वा पचति पापच्यतइति' इति । अत्र उच्यते. 'पुनःपुनर्वा' इति भाष्यं समूहरूपाया क्रियाया कालभेदाद्वेदऽपि  
साजात्यात् शैव पुनःपुनरनुशीयतइति बुद्ध्या पौन पुन्यमिति ता पर्यम्' इति । एवञ्च 'विज्ञानन' इत्यत्र 'वि' इत्युपसर्गेण  
पौनःपुन्य बोध्यते । स्मृतेर्ज्ञानत्व सर्वदार्शनिकसमतामत्यादिकं प्रथमाधिकरण एव निरूपितम् । अतश्च 'ध्याचिन्तायाम्'  
इति धात्वर्थस्य शीघ्रोपस्थितिकस्य त्यागेनार्थवर्णनमनादरणीयम् । 'निर्वर्णनतु निध्यान दर्शनालोकनेक्षणे' इत्यमरकोशात्  
'नी'त्युपसर्गेण 'निदिध्यासितव्य' इत्यत्र दर्शनविवक्षेति नैव शङ्क्यम् । 'द्रष्टव्य' इत्यत्र दर्शनोक्त्या अत्र दर्शनविवक्षाया  
असम्भवात् । 'तमेवैकं जानयामानम्' इत्यनन्तरम् 'ओमित्येवात्मानं ध्यायथ स्वस्तिव पाराय तमस परस्तात्' इत्यत्र  
आविद्यानिवृत्तिव्यतिरिक्तफलस्य प्रतिपादनेन आविद्यानिवृत्तेः भावनापेक्षाविरहस्य सुरेश्वरोक्तस्य नावकाशः । तदनन्तरं  
दर्शनं समाधिरेव प्रतिपाद्यतइति पूर्वमेव निरूपितम् । अतः 'समाध्यमावाच्च' इति सूत्र(श)भाष्यं, भामत्युक्तदिशा योग  
सूत्रोक्तमेव ध्यानं दर्शनं च समाधिरित्येव युक्तम् ॥

अत्राधिकरणे निष्प्रपञ्चीकरणनियोगवाद उद्बुध्य भेदाभेदसिद्धान्त स्थापयित्वा विवर्तवादोऽपि भास्करेण दूषितः ।  
तेन च ध्याननियोगवादोऽपि निरस्तप्राय इत्यभिप्रेत्य ध्याननियोगवादिमुखेनैव भास्करसम्मतभेदाभेदपक्षं दूषयितुं तन्मत-  
मुपन्यस्यति—यदपि कैश्चिदुक्तमित्यादिना । प्रतीतिव्यवस्थाप्यमिति । (भास्करभाष्ये) 'प्रतीयते तदुभय विरोधः  
कोऽयमुच्यते । विरोधेचाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम् ॥' सत्तानेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्या मना सर्वमभिन्नम् । व्यक्त्या-  
'मनातु परस्परवैलक्षण्यमिति भिन्नम्' इत्याद्युक्तेः । कारणात्मनेत्यादि । 'कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना' इति  
[स्फुरभाष्योक्तेरिति भावः ॥

## श्रीभाष्यम्

लोके दृष्टचरम् । नच तृणादेर्ज्वलनादिवदभेदो भेदोपमर्दी दृश्यतइति न वस्तुविरोधः, मृत्सुवर्णगवाध्याद्यात्मनाऽवस्थितस्यैव घटमकुटलण्डवडयाद्यात्मनाचावस्थानात् । नचाभिन्नस्य भिन्नस्य च वस्तुनोऽभेदो भेदश्च एकएवाकारइतीश्वराज्ञा? प्रतीतत्वादैकरूप्यंचेत्-प्रतीत्वादेव भिन्नाभिन्नत्वमिति द्वैरूप्यमप्यभ्युपगम्यताम् । नहि विष्फारिताक्षःपुरुषो घटशराखण्डमुण्डादिषु वस्तुषूपलभ्यमानेषु इयंमृदयं घटः इदंगोत्वमियं व्यक्तिरिति विवेक्तुं शक्नोति, अपितु मृदयंघटः खण्डो गौरित्येव प्रत्येति । अनुवृत्तिबुद्धिबोध्यं कारणमाकृतिश्च व्यावृत्तिबुद्धिबोध्यं कार्यं व्यक्तिश्चेति विविनक्तीतिचेत्-नैवम् ; विविक्ताकारानुपलब्धेः । नहि सुसूक्ष्ममपि निरीक्षमाणैरिदमनुवर्तमानमिदं च व्यावर्तमानमिति पुरोऽवस्थिते वस्तुन्याकारभेद उपलभ्यते । यथा संप्रतिपन्नये कार्यं विशेषेचैकत्वबुद्धिरुपजायते तथैव स कारणे ससामान्येचैकत्वबुद्धिरविशिष्टोपजायते । एवमेव देशतःकालतश्चाकारतश्चात्यन्तविलक्षणेऽप्यपि वस्तुषु तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञा जायते । अतो ह्यात्मकमेव वस्तु प्रतीयत इति कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्चात्यन्तभेदोपपादनं प्रतीतिपराहतम् ॥

अथोच्येत मृदयंघट खण्डो गौरितिवद्देवोऽहं मनुष्योऽहमिति सामानाधिकरण्येनै-

## श्रुतप्रकाशिका

नाश्वनाशकत्वलक्षणस्तृतीयोऽपि विरोधो नास्तीत्याह—नच तृणादेरिति । वस्तुविरोधशब्देन नाश्वनाशकत्वलक्षणविरोधो विवाक्षितः । तादृशविरोधाभासमुपपादयति । मृत्सुवर्णेति । जातिगतोऽभेदः व्यक्तिगतश्च भेदइति कथमेकस्य भेदाभेदावितिशङ्काया जातिव्यक्तयोःपरस्परभेदाभेदमुपपादयति । नचाभिन्नस्येति । अभिन्नस्य जातेः भिन्नस्य व्यक्तेरित्यर्थः । जातेरभेदएवाकारः व्यक्तेर्भेदएवाकारइति किमीश्वराज्ञया स्वीक्रियते? नहि प्रमाणतर्कानादरेण हठाकाश्विदर्थस्वीकार्य इतिभासः । प्रतीतिबलादभ्युपगमिं शङ्कते प्रतीतत्वादिति । तथा स्वमतस्याभ्युपगन्तव्यतामाह—प्रतीतत्वादेवेति । बुद्ध्यादेवेत्येककाराभिप्रायः । द्वैरूप्यमपीति । अनिष्टमपीत्यपिशब्दस्याभिप्रायः । प्रतीतत्वमेवोपपादयति नहीति । इयं जातिः इयं व्यक्तिरिति विविक्तेर्ह अत्राभेदः अत्रच भेदइति वक्तुं युक्तं न तथा विविच्यतइत्यर्थः । तर्हि कथं प्रतीतिरित्यत्राह—अपित्येति । एकमेव वस्तु जात्यात्मना व्यक्त्यात्मना च भिन्नमभिन्नं च प्रतीयतइत्यर्थः । मृदयं घटइत्यनेन मन्वर्थावप्रत्ययनिरपेक्षसामानाधिकरण्यप्रत्ययो भेदाभेदसाधकयुक्तिरुक्ता भवति ॥

अनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां विवेकं शङ्कते—अनुवृत्तीति । परिहरति नैवमिति । विविक्ताकारानुपलब्धिं विवृणोति—नहिसुसूक्ष्ममपीति । विविक्ताकारोपलभ्येति ह्यस्मिन्नशे अनुवृत्तिबुद्धिबोध्यं च अस्मिन्नशे व्यावृत्तिबुद्धिबोध्यत्वमिति शतशक्यमित्यर्थः । आकारभेदः अशभेदः तर्हि कथमुपलभ्यमइत्यत्राह—यथा संप्रतिपन्नेति । विशेषः व्यक्तिः, यथा कार्यैकत्वव्यक्त्यैकत्वं च संप्रतिपन्नम् तथा कार्यकारणयोश्च जातिव्यक्तयोश्च एकत्वबुद्धिर्जायतइत्यर्थः । एकत्वबुद्धिरित्यनेनैकशब्दादनुविद्धप्रत्ययउक्तो भवति । सहोपलभ्यनियमः प्रथमपिण्डग्रहणेऽ(श)भेदेन(ना)ग्रहणं चार्थादुक्तं भवति न विवेकतुशङ्कातीत्युक्तेः । एव जातिव्यक्तयोरन्योन्यभेदाभेदउक्तः । अथ पिण्डानां परस्परभेदाभेदउच्यते । एवमेवेति । देशकालवैलक्षण्य स्पष्टम् । नीलत्वखण्डादिराकारवैलक्षण्यम् अत्यन्तभेदः अभेदासहो भेदइत्यर्थः ॥

अत्र चोगमाशङ्कते—अथोच्येतेत्यादिना ।—  
गूढार्थसंग्रहः.

विवरणोक्त दोषमाशङ्कते—अथोच्येतेत्यादिना ।—



## श्रीभाष्यम्

क्यप्रतीतेरात्मशरीरयोरपि भिन्नाभिन्नत्वं स्यात् । अतइदं भेदाभेदोपपादनं निजसदननिहि-  
तहुतवहज्वालायत इति । तदिदमनाकलितभेदाभेदसाधनसामानाधिकरण्यतदर्थयाथा-  
त्म्यावबोधविलसितम् । तथाहि अवाधित एव प्रत्ययः सर्वत्रार्थं व्यवस्थापयति । देवाद्या-  
त्माभिमानस्तु आत्मयाथात्म्यगोचरैः सर्वैः प्रमाणैर्वाध्यमानो रज्जुसर्पादिवुद्धिवन्नात्मशरी-  
रयोरभेदं साधयति खण्डोगौर्मुण्डोगौरिति सामानाधिकरण्यस्य न केनचित्कचिद्वाधो  
दृश्यते तस्मान्नातिप्रमङ्गः । अतएव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नः अपितु ब्रह्मांशत्वेन  
भिन्नाभिन्न तत्राभेदएव स्वाभाविकः भेदस्त्वौपाधिकः । कथमवगम्यत इति चेत्? 'तत्त्वमसि'  
(छा.६.८.७) 'नान्योऽतोऽस्ति ब्रह्मा' (वृ.५.७.२३) 'अयमात्मा ब्रह्म' (६.४.५) इत्यादिभि-  
श्श्रुतिभिः 'ब्रह्मेमे द्यावापृथिवी' इति प्रकृत्य 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मे मे कितवा उत ।  
स्त्रीपुंसौ ब्रह्मणो जातौ त्रियो ब्रह्मोतवा पुमान्' (श्वे.६.१३-१६) इत्याथर्वणिकानां संहितोप-  
निषदि ब्रह्मसूक्ते अमेदश्रवणाच्च, 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविदधाति  
कामान्' (कठ २.५.१३, श्वे.१.१३) 'ज्ञाज्ञो द्वावजावीशनीशौ' (१.९) 'क्रियागुणैरात्मगुणैश्च

## श्रुतप्रकाशिका

प्रामाणिकत्वात्तयोर्भिन्नाभिन्नत्वमनिष्टमिति भावः । परिहरति—तदिदमिति । अवाधितं सामानाधिकरण्यं भेदाभेदसाध-  
कम् । अवाधितश्च भेदाभेदस्त्वभिन्नजानतोक्तमित्यर्थः । तदुपपादयति—तथाहीति । परिहारौपयिकमर्थं शिक्षयति अवा-  
धितइति । ततः किमित्यत्राह—देवादीति । जातिव्यक्तयोरपि तथास्यादित्यत्राह—खण्डइति । एव लौकिकार्यानां भेदा-  
भेदउक्तः । तदुपजीव्य वैदिकेष्वप्यर्थेषु जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदमाह—अतएवेति । अतः भेदाभेदयोरविरुद्धत्वादित्यर्थः ।  
ब्रह्मांशत्वेनेत्यत्र 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इति सूत्रं स्मारितम् । अचिद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदः स्वाभाविकइति भास्करयादवयो-  
रुपयोरप्यभिमतम् । चिद्ब्रह्मणोस्तु भेदाभेदौ स्वाभाविकाविति यादवमतव्यावृत्त्यर्थमाह—तत्रेति । कथमिति । भेदाभेद-  
सद्भावे तत्राभेदस्यैव स्वाभाविकत्वे च किं प्रमाणमित्यर्थः । अमेदस्य स्वाभाविकत्वेन प्राधान्यात् प्रथममन्यथाचेति सूत्रं  
शयिष्यवाक्यमाह—तत्त्वमसीति । दाशकितवेत्याद्यशयिष्यमाह—ब्रह्मेमे इति । 'नानाव्यपदेशात्' इत्यस्य वि-  
यमाह—नित्योनित्यानामिति । क्रियागुणैरात्मगुणैश्चेति । क्रियागुणाः सारहेतुगुणाः, आत्मगुणाः मोक्षहेतुगुणाः, ते-  
स्त्वयोगहेतुरित्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

परिहरति—तदिदमनाकलितेत्यादिना । अतएव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नइत्यादि । 'तदनन्य चमि'त्यत्र भोक्तृ  
भोग्यशक्तयोरनन्यत्वं सृष्टिवाक्यानां परिणामपरत्वमप्रयुतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः परिणामः' इति । 'भुक्तेश्च शब्द-  
मूलत्वात्' इत्यत्र ईश्वरस्य द्वेशर्त्ता भवतः । भोग्या शक्तिरेका भोक्तृशक्तिश्चापरा । भोग्यशक्तिश्च सा आकाशादिरूपेणाचेतन  
परिणामावृत्तिः । भोक्तृशक्तिश्च सा चेतना जीवरूपेणावृत्तिरुक्ते । तत्र यथा सूर्यः स्वरश्मीन् विक्षिप्य उपसंहरति, एव प्रपञ्चे  
अनन्तभेदांशक्तिमुपसंक्षिप्य परमेश्वरः उपसंहरति' इति च भास्करमाध्योक्तमत्रानुसंधेयम् । भास्करमाध्योक्तदिशैव श्रुतिभिः  
भेदाभेदं साधयति—तत्त्वमसीत्यादिना । भामत्यां भास्करभाष्ये 'नच भावाभावायोरप्येवैवः सहायस्यानासम्भवात्'

## श्रीभाष्यम्

तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः' (५.१२) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिवन्ध-  
हेतुः' (६.१३-१६) 'सकारणं करणाधिपाधिपः' (६.९) 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-  
अन्योऽभिचाकशीति' (४.६) 'य आत्मनि तिष्ठन्' (वृ.५.७.२२) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्व-  
क्तो न याहं किंचन वेद' (६.३.२१) 'प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारुढ उत्सर्जन्याति' (१३) 'तमेवं  
विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे.३.८) इत्यादिभिर्मोक्षदशयां जीवस्य ब्रह्मस्वरूपा  
पत्तिव्यपदेशात् 'यत्रत्यस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्त्वेन कंपश्येत्' (वृ.४.४.१४) इति तादनीं  
भेदेनेश्वरदर्शननिषेधाद्याभेदस्याभाविक इत्यदगम्यते । ननु च 'सोऽश्रुते सर्वान्कामान्  
सहब्रह्मणा विपश्चिता' (तै.आन.१.अनु) इति महश्रुत्या तदानीमपि भेदः प्रतीयते । वक्ष्य-  
तिच 'जगद्ध्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' (शारी.४.४.१७) 'भोगमात्रसाम्यलि-  
ङ्गाच्च' (२१) इति नैतदेवम् । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (वृ.५.७.२३) इति श्रुतिशतैरात्म-  
भेदप्रतिषेधात् 'सोऽश्रुते सर्वान्कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता' (तै.आन.१ अ) इति सर्वै-  
कामैः सह ब्रह्माश्रुते सर्वगुणान्वितं ब्रह्माश्रुत इत्युक्तं भवति । अन्यथा ब्रह्मणासहेत्यप्राधान्यं  
ब्रह्मण प्रसज्येत । 'जगद्ध्यापारवर्जम्' (शारी.४.४.१७) इत्यत्र मुक्तस्य भेदेनावस्थानेस-  
त्यैश्वर्यस्य न्यूनताप्रसङ्गो वक्ष्यते । अन्यथा 'सम्पद्याविर्भावस्त्वेन शब्दात्' (४.४.१७)  
इत्यादिभिर्विरोधात् । तस्मादभेद एव स्वाभाविकः भेदस्तु जीवानां परस्मात् ब्रह्मणः पर-  
स्परं च बुद्धीन्द्रियदेहोपाधिकृतः । यद्यपि ब्रह्म निरवयवं सर्वगतं च तथाऽप्याकाश इव  
घटादिना बुद्ध्याद्युपाधिना ब्रह्मण्यपि भेदस्सम्भवत्येव । नच भिन्ने ब्रह्मणि बुद्ध्याद्युपाधि-  
संयोगः । बुद्ध्याद्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मणि भेद इतीतरेतराश्रयत्वम्

## श्रुतप्रकाशिका

अत्र भेदस्योपाधिकत्व कथमवगम्यतइत्यत्राह—तत्रेति । तत्स्वरूपापत्तिव्यपदेशो भेदनिषेधश्चाभेदस्यानौपाधिकत्व-  
शापकावित्यर्थः । मुक्तौ भेदनिषेधादेव भेदस्योपाधिकत्वमप्यर्थसिद्धम्, मुक्तौ भेददर्शयश्चोदयति ननुचेति । सहशब्दो  
भोक्तृसाहित्यपरइति चोदयितुरभिप्रायः । भोग्यसाहित्यबुद्ध्या परिहरति—नैतदिति । भेदप्रतीतिं परिहरिष्यन् मुक्तौ  
भेदस्य श्रुतिविरुद्धता दर्शयति—नान्यइति । भेदप्रतीतिं परिहरति सोऽश्रुतइति । 'सोऽश्रुत' इति वाक्येनोक्तं भवती  
त्यन्यार्थः, ब्रह्मणा सहगुणानश्रुते गुणाश्च ब्रह्मचानुभवतीति किं ब्रह्म पृथग्भूतोऽश्रुतः? उपापृथग्भूतइत्यपेक्षायां तद्वाक्या-  
न्तरावगम्यम् । अतो नात्र भेदप्रतीतिरितियावत्, एतदुपपादयति—अन्यथेति । अप्राधान्यं भोग्यन्तरापेक्षया दोषः, भोग्य-  
भूतस्वगुणपेक्षया न दोष इति भावः । परादाहृतसूत्रस्य स्वाभिमतमर्थमाह—जगदिति । ब्रह्मणा मुक्तस्यच भेदेसति जग-  
द्ध्यापारवर्जत्वप्रसङ्गाद्भेदइति सूत्रार्थइत्यर्थः, तदुपपादयति—अन्यथेति । अभेदस्य स्वाभाविकत्वं निगमयति तस्मादिति  
मुक्तौ भेदनिषेधादर्थसिद्धं भेदस्योपाधिकत्वमेवकारेणाभिप्रेतम् । उपाधि, कइत्यपेक्षायामाह—भेदस्त्विति । औपाधिकत्वं  
रूपवैयर्थ्यपरस्तुशब्दः शङ्काघोतको वा ॥

ब्रह्मणो विभु वनिरवयवत्वाभ्यां जीवगतउपाधिब्रह्मण्येवेति तदस्सुष्ठुप्रदेशाभावाज्जीवेश्वरभेदो न सम्भवतीत्यत्राह—  
यद्यपीति । अन्योन्याश्रयमाशङ्क्याह—नचेति । ईश्वराशे कर्मकृतबुद्ध्याद्युपाधिसन्ध्याभावात् उपाधिसंयोगस्य भेदपूर्वं

## श्रीभाष्यम्

उपाधेस्तत्संयोगस्यच कर्मकृतत्वात्, तत्प्रवाहस्यचानादित्वात्। एतदुक्तंभवति, पूर्वकर्मसम्बद्धाज्जीवात् स्वसम्बद्धएवोपधिरुत्पद्यते तद्युक्तात्कर्म एवेवीजाङ्कुरन्यायेन कर्मोपाधिसम्बन्धस्यानादित्वान्नदोष इति । अतो जीवानां परस्परं ब्रह्मणाचामेद एव स्वाभाविकः भेदस्त्वौपधिकः उपाधीनां पुनः परस्परं ब्रह्मणाचामेदवत् भेदोऽपि स्वाभाविकः उपाधीनामुपाध्यन्तराभावात्, तदभ्युपगमेऽनवस्थानाच्चातो जीवकर्मानुरूपं ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नस्वभावाएवोपाधयउत्पद्यन्त इति ॥

अत्रोच्यते-अद्वितीयसच्चिदानन्दब्रह्मध्यानविषयविधिपरं वेदान्तवाक्यजातमिति वेदान्तवाक्यैरभेदः प्रतीयते । भेदावलम्बिभिः कर्मशास्त्रैः प्रत्यक्षादिमिश्र भेदः प्रतीयते भेदाभेदयोः परस्परविरोधात् अनाद्यविद्यामूलतयाऽपि भेदप्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थइत्युक्तम् । तत्र यदुक्तं भेदाभेदयोरुभयोरपि प्रतीतिसिद्धत्वान्नविरोध इति । तदयुक्तम् । कस्माच्चित्कस्यचिद्विलक्षणत्वं हि तस्मात्तस्य भेदः तद्विपरीतत्वंचाभेदः । तयोस्तथाभावात्तथाभावरूपयोरेकत्र सम्भवमनुमत्तः कोब्रवीति । कारणात्मना जात्यात्मनाचामेदः कार्यात्मना व्यक्तात्मना च भेदः इत्याकारभेदादविरोध इतिचेत्—न; विकल्पासहत्वात् । आकारभेदादविरोधं वदतः किमेकस्मिन्नाकारे भेदः आकारान्तरेचाभेद इत्यभिप्रायः, उताकारद्वययोगिवस्तुगतावुभावपीति । पूर्वस्मिन्कल्पे व्यक्तिगतो भेदः जातिगतश्चाभेदइति नैकस्य द्यात्म-

## श्रुतप्रकाशिका

कत्वं प्रवाहानादितया परिहरति उपाधेरिति । कथमुपाधितःसंयोगकर्मणां प्रवाहानादित्वं तेन चान्योन्याश्रयपरिहारःकथमिति शङ्काया ताद्विवृणोति । एतदुक्तमिति । तद्युक्तात्कर्ममिति । कर्मवश्यत्वाहि जीवत्वम् उपाधिना जीवत्वं जीवभावा दुपाध्यन्तरमित्यनादिरित्यर्थः, फलितमर्थमाह—अतइति । अचिदशे वैषम्यमाह—उपाधीनांपुनारिति । पुनस्वर्थः वैषम्यहेतुद्वयमाह—उपाधीनामिति । भिन्नाभिन्नत्वपञ्चमुपसंहरति अतो जीवकर्ममिति ॥

अथ भेदाभेदपक्ष ध्याननियोगवादी दूषयति अत्रोच्यतइत्यादिना पूर्वं यदपि कैश्चिदुक्तमिति प्रक्रान्तस्य पञ्चस्योत्थापक सङ्गतिस्थलं दर्शयितुमाह—अद्वितीयेति । तत्सङ्गतिस्थलं दर्शयति तत्र यदुक्तमिति । भेदाभेदविषयप्रतीति दूषयिष्यन्पूर्वं तयोर्विरोधमुत्पादयितु तत्स्वरूपमाह—कस्माच्चिदिति । विलक्षणत्वमन्यत्वं इदमिदं न भवति इदमिदंभवतीति हि भेदाभेदविषयप्रतीतिः ततःकिमित्यत्राह—तयोरिति । भेदाभेदइति न कस्याचिद्वर्गस्य सज्ञा लोकप्रसिध्यदुगुणोऽर्थो भेदाभेदशब्दस्य स्वीकृतश्चेत् भावाभावयोर्विरोधोऽवर्जनीयइत्यर्थः, किंच अनेन क्वचिदपि विरोधा नास्तीति वक्तु न शक्य त्रिविधविरोधोपलब्धेः यदि भावाभावयोर्न विरोधः तर्हि भिन्नाभिन्नत्वं भवति नभवतीति स्वपरवत्सोरपि विरोधाभावस्यात् परोक्तं पिण्डद्वयभेदाभेदस्याकारभेदादविरोधमनुवदति । कारणात्मनेति । विकल्प्य दूषयति नेत्यादिना । एकस्मिन्नाकारइति । आकारशब्दः पदार्थपरः पूर्वस्मिन्कल्पइति । तत्र जातिव्यक्तयोः किं परस्परं भेदः उताभेदः !

## गूढार्थसंग्रहः

इत्यादिना दूषितम् । ततोऽधिकदोषान् वक्तुमारम्भे—तत्र यदुक्तमित्यादिना । भामत्या—‘तस्माद्भेदाभेदयोरन्यतरस्मिन् अवहेये अभेदोपादानैव भेदकन्यना’ इत्यारम्य ‘ नावमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वात्

## श्रीभाष्यम्

कता । जातिर्व्यक्तिरिति चैकमेव यन्वितिचेत् तर्थाकारमेदादविरोधः परित्यक्तस्यात् । एकस्मिन् विलक्षणत्वतद्विपर्ययै विरुद्धावित्युक्तम् । द्वितीयेतु कल्पे अन्योन्यविलक्षणमाकारद्वयमप्रतिपन्नं च तदाश्रयभूतं वस्त्विति तृतीयाभ्युपगमेपि त्रयाणामन्योन्यविलक्षण्यमेवोपपादितं स्यात् नपुनरभेदः । आकारद्वयनिरुद्धमाणाविरोधं तदाश्रयभूते वस्तुनि भिन्नाभिन्नत्वमितिचेत् स्वस्माद्विलक्षणं स्वाश्रयमाकारद्वयं स्वस्मिन्विरुद्धधर्मद्वयसमावेशनिर्वाहककथं भवेत्? अविलक्षणंतु कथंतराम्? आकारद्वयतद्वतोश्च ह्यात्मकत्वाभ्युपगमे निर्वाहकान्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात् । नच सम्प्रतिपन्नकथव्यक्तिप्रतीतिवत् ससामान्येऽपि वस्तुन्येकरूपा प्रतीतिरुपजायते? यतइदमित्यमिति सर्वत्र प्रकारप्रकारितयैव सर्वाप्रतीतिः ; तत्र प्रकारांशो

## श्रुतप्रकाशिका

उत भेदाभेदइति विकल्पत्रयमभिप्रेत्य प्रथमं शिरो दूषयति व्यक्तिगतइति । द्वितीयमनुवदति जातिरिति । दूषयति—तर्हीति । विरोधास्तिष्ठत्येवेत्यर्थः, तृतीयं दूषयति एकस्मिन्नेति । जातिर्व्यक्तिर्भवति नभवतीति भावामावविरोधः स्थित एवेत्यर्थः । कण्ठोक्तपूर्वविकल्पे द्वितीयं शिरो दूषयति द्वितीयेतु कल्पेइति । अत्र तृतीयस्य जातिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽप्रतिपन्नत्वं नामैकं दूषणमधिकं, तदिदमप्रतिपन्नचेत्यनेनाभिप्रेतम् । प्रतिपन्न-वाभ्युपगमेऽपि दूषणमाह—तृतीयाभ्युपगमेपीति । नपुनरिति । अन्यथा त्रित्वामावादित्यर्थः ॥

अथ तृतीये वस्तुन्याकारद्वय भेदाभेदयोर्निर्वाहत्वेनाविरोधित्वं शङ्कते—आकारद्वयेति । इदमाकारद्वयं किं स्वश्रयेण भिन्न उताभिन्न उत भिन्नाभिन्नमिति विकल्पत्रयमभिप्रेत्य प्रथमं शिरोदूषयति स्वस्मादिति । स्वशब्दत्रयमप्याश्रयपरं भेदाभेदयोरेकाश्रयत्वेनहि विरोधः अविरोधकाकारद्वयहि न भेदाभेदयोराश्रयभूतम् । अतो नतदविरोधनिर्वाहकम् । उ प्रिगतं पैङ्गल्यमौज्यल्यचाकारद्वय अग्नौ शीतोष्णत्वरूपविरुद्धधर्मद्वयसमावेशनिर्वाहक नभवतीत्यर्थः । द्वितीयशिरो दूषयति अविलक्षणमिति । पूर्वमाकारद्वये सम्प्रति तस्य विरुद्धधर्मद्वयनिर्वाहकत्वायोग उक्तः अत्रत्वाकारद्वयमेव नास्तीति नितरा विरुद्धधर्मसमावेशायोगइत्यभिप्रायेण कथंतरामित्युक्तम् । तृतीयं शिरो दूषयति आकारद्वयतद्वतोऽरिति । आकारद्वयस्तदाश्रयस्य च भिन्नाभिन्नत्वनिर्वाहकमाकारद्वयान्तरमपेक्षितम् । तस्यापि स्वाश्रयेण भिन्नाभिन्नत्वमस्तिचेत् तदविरोधनिर्वाहकाकारद्वयान्तरमपेक्षितमित्यनवस्था स्यादित्यर्थः ॥

अथ किं दृष्टेऽनुपपन्ननामेति शङ्काया भेदाभेदविषयप्रतीतिं दूषयति—नचेति । हेतुमाह—यतइति । तस्याप्रतीतौ प्रकारप्रकारिणौ विविच्य दर्शयति तत्रेति । अनेनेदमपि परिहृत मन्वर्थायप्रत्ययानिरपेक्षसामानाधिकरण्यम् । ६ हे ८ लम्भ नियमः एकशब्दानुविद्धप्रत्ययः प्रथमपिण्डग्रहणे जातिव्यक्तयोर्भेदप्रतीतिश्चेति हेतुचतुष्टयम् । अपृथक्सिद्धविशेषणत्व मन्वर्थायप्रत्ययानिरपेक्षसामानाधिकरण्यहेतुः अपृथक्सिद्धिश्च प्रकारप्रकारिणोस्सर्वधनियमादेवोपपन्ना अतःप्रकारप्रकारिभाव प्रतिपन्नभेदविरुद्धाभेदकल्पनाया नावकाशः । सर्वधनियमएव सहोपलम्भनियमहेतुश्च । एकाऽथ गौरिति प्रत्ययोऽप्येकोदण्डीतिवाद्देशेऽप्येक्यविषयः नतु विशेषणविशेष्यैक्यविषयः प्रथमपिण्डग्रहणेऽपि प्रकारप्रकारिभावान्नेदेनैव प्रतीतिः । किंच सहत्वमपि भेदसाधकं द्वयोरेवहि साहित्यम् । सहोपलम्भनियमश्च संप्रतिपन्ने भिन्नेऽभिन्ने च नदृष्ट इत्यसाधारणानैकान्तिकत्वान्नोभयसाधकः । भिन्नेष्वभिन्नेषुवाद्दृष्टस्य भेदाभेदसाधकत्वेऽभ्युपगम्यमाने नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं गन्धवत्त्व पृथिव्या नित्यत्वानित्यत्वसाधकं स्यात् । किंच साधननियमस्यानियमहेतुरिति रहस्यनियमो भेदनियमहेतुरेव । अत्र जाति-



## श्रीभाष्यम्

जातिः प्रकार्यंशो व्यक्तिरिति नैकाकारप्रतीतिः; अतएव जीवस्यापि ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं न सम्भवति । तस्मादभेदस्यानन्यथासिद्धशास्त्रमूलत्वाद्नाद्यविद्यामूल एव भेदप्रत्ययः । नन्वेवं ब्रह्मण एवाज्ञत्वं तन्मूलाश्च जन्मजरामरणादयो दोषाः प्रादुष्युः । ततश्च 'यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् (मु.२.२.७) 'एष आत्माऽपहतपप्मा' (छा.८.१.५) इत्यादीनि शास्त्राणि बाध्येरन्, नैवम् अज्ञानादिदोषाणामपरमार्थत्वात् । भवतस्तुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्नरमनभ्युपगच्छतो ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गस्तत्कृताश्च जीवत्याज्ञत्वादयो दोषाः परमार्थतएव भवेयुः । नहि ब्रह्मणि निरवयवे अच्छेद्ये सम्बध्यमाना उपाधयस्तच्छित्त्वा भित्त्वावा सम्बध्यन्ते, अपितु ब्रह्मस्वरूपे संयुज्य तस्मिन्नेव स्वकार्याणि कुर्वन्ति । यदि मन्वीत उपाध्युपहितं ब्रह्मजीवः सचाणुपरिमाणः । अणुत्वंचावच्छेदकस्य मनसोऽणुत्वात् । सचाच्छेद्योऽनादिः । एवमुपाध्युपहिते देशे सम्बध्यमाना दोषा अनुपहिते परे ब्रह्मणि न सम्बध्यन्त इति—अयंप्रष्टव्यः किमुपाधिना छिन्नो ब्रह्मखण्डोऽणुरूपो जीवः उताच्छिन्नएवाणुरूपोपाधिसंयुक्तो ब्रह्मप्रदेशच्छिद्ये, उतोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मस्वरूपम्, अथोपाधिसंयुक्तं चेतनान्तरं, अथोऽपाधिरेवेति । अच्छेद्यत्वाद्ब्रह्मणः प्रथमः कल्पो न कल्पते आदिमत्त्वं च जीवस्य स्यात् एकस्यसतो द्वैधीकरणं हि छेदनम् । द्वितीये तु कल्पे ब्रह्मण एव प्रदेशविशेषे उपाधिसंबन्धादौपाधिकास्सर्वे दोषास्तस्यैव स्युः । उपाधौ गच्छत्युपाधिना स्वसंयुक्तब्रह्मप्रदेशाकर्षणयोगादनुक्षणमुपाधिसंयुक्त ब्रह्मप्रदेशमेदात् क्षणेक्षणे बन्धमोक्षौ च स्याताम् आकर्षणेचाच्छिन्नत्वात् कृत्स्नस्य ब्रह्मणः

## श्रुतप्रकाशिका

रत्र व्यक्तिरिति प्रदेशभेदाग्रहण जातेः पिण्डे व्याप्यवृत्तित्वात् तच्च सहोपलम्भनियमान्तर्गतम् । देशतः कालतश्चोपलम्भनियमो हि सहोपलम्भनियमः । अतो देशतः कालतश्च सन्न्ययनियमकृतसहोपलम्भनियमः । किंच रुहेऽपलम्भनियमेऽसिद्धः इदं रजतमित्यत्र शुचित्वजातिव्यतिरेकेणाधिष्ठानभूतव्यक्तिप्रतीतिः, अतो नैवयसाधकत्वमिति ॥

लौकिकवस्तुनि भेदाभेदयोर्विरुद्धत्वमुपजीव्य वैदिकेऽपि तस्मैवमाह—अतएवेति । भेदाभेदयोर्विरोधेनैकस्य वस्तुनि तयोरनुपपन्नत्वादित्यर्थः । भेदाभेदनिरासमुपजीव्याभेदस्यैव तात्त्विकतामाह—तस्मादिति । दोषसम्बन्धमुखेन चोदयति नन्विति । अपरमार्थतया परिहरति नैवमिति । परोक्षदोषपरस्मैवेत्यह—भवतस्त्विति । तदुपपादयति—नहीति । अङ्गुल्यादेरिव छेदो न संभवतीत्यच्छेद्यत्व ब्रह्मणः तस्य हेतुर्निरवयवव भिन्ना अच्छिन्नवऽपि पाणिपादादिवत् प्रतिनियतप्रदेशभेदेनेत्यर्थः । प्रदेशभेदेन छेदनेन वा ब्रह्मणि सम्बन्धमुपाधयो न हन्ति निरवयवत्वादच्छेद्यवाद्येत्यर्थः । निरवयवत्वेऽप्यच्छेद्यत्वेऽपि गगनवदुपहितानुपहिताशभेदेन सदोषवनिर्दोषोपपत्तिं दृष्टे—यदिमन्वीतेति । उपाध्यवच्छेदाज्जाविमानः, जीवमावादुपाध्यवच्छेदः कर्मणा जीवभावः तस्मै कर्मेति चाऽन्योन्याश्रयपरिहारायानादिरित्युक्तम् ॥

दूषयितुमाह—अयंप्रष्टव्यइति । विकल्पयति किमिति । श्रुताणुशब्दस्य सूक्ष्मपरवाभिप्रायसमवाच्यतृतीयकल्पोदयः । चतुर्थपञ्चमौ कल्पावस्था विनागतिर्नास्तात्यभिप्रायेणकृतौ ननु पराभ्युपगत्या । ब्रह्मशब्दस्य जीवोऽभ्युपगच्छेत्तुर्थकल्पः । उपाधिब्रह्मणोर्भिन्नाभिन्नत्वाभ्युपगमावश्यमः । प्रथमं शिरोदूषयति अच्छेद्यत्वादिति । दूषणान्तरमाह—प्रादिमत्त्वमिति । तदुपपादयति एकस्य सत्तइति । द्वितीयं दूषयति द्वितीयेत्यिति । दूषणान्तरमाह—उपाधाविति आकर्षणेनविना तत्परिहारासमवाच्यतादृश्यह—आकर्षणेचेति । अनुपपत्त्या तदनभ्युपगममाशङ्क्य पूर्वोक्तदूषणेन

## श्रीभाष्यम्

आकर्षणं स्यात् । निरंशस्य व्यापिन आकर्षणं न सम्भवतीति चेत् तर्हि उपाधिरेव गच्छतीति पूर्वोक्त एव दोषस्स्यात् । अच्छिन्नब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधिसंसर्गं सर्वेषां च जीवानां ब्रह्मण एव प्रदेशत्वेनैकत्वेन प्रतिसन्धानं स्यात् । प्रदेशभेदादप्रतिसन्धानेचैकस्यापि स्वोपाधौ गच्छति प्रतिसन्धानं न स्यात् । तृतीयेतु कल्पे ब्रह्मस्वरूपस्यैवोपाधिसंबन्धेन जीवत्वापातात् तदातिरिक्तानुपहितब्रह्मासिद्धिस्स्यात् । सर्वेषु च देहेष्वेक एव जीवस्स्यात् तुरीयेतु कल्पे ब्रह्मणोऽन्यएव जीवइति जीवभेदस्यापाधिकत्वं परित्यक्तं स्यात् । चरमे चावर्वाकपक्ष एव परिगृहीतस्स्यात् । तस्मादभेदशास्त्रवलेन कृत्स्नस्य भेदस्याविद्यामूलत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम् । अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरतयैव शास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि ध्यानविशेषतया वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यमुपपन्नमिति ॥

तदप्युक्तम् ध्यानविधिशेषत्वेऽपि वेदान्तवाक्यानामर्थसत्यत्वे प्रामाण्यायोगात् । एतदुक्तं भवति ब्रह्मस्वरूपगोचराणि वाक्यानि किं ध्यानविधिनेकवाक्यतामापन्नानि ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्ते उत स्वतन्त्राण्येव । एकवाक्यत्वे ध्यानविधिपरत्वेन ब्रह्मस्वरूपेतात्पर्यं न सम्भवति । भिन्नवाक्यत्वे प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविरहादनवबोधकत्वमेव

## श्रुतप्रकाशिका

दूषयति । निरंशस्येति । दूषणान्तरमाह—अच्छिन्नेति । तत्परिहारमाशङ्क्याह—प्रदेशभेदादिति । तृतीय शिरोदूषयति तृतीयेत्विति । अनुपहितब्रह्मासिद्धिस्स्यादिति । निर्दोषमङ्गलगुणकत्वश्रुतीनामनुपहितब्रह्मविषयत्वहि पराभ्युपेतम् । जीवेश्वरभेदाभावप्रसङ्गो जीवानां परस्परभेदाभावप्रसङ्गश्चेत्यर्थः । चतुर्थपञ्चमौ दूषयति तुरीयेत्वित्यादिना । चरमइति \* अचिद्द्रव्यस्यैव चेतनत्ववचना \* तस्य चेतनब्रह्मनादान्भ्यानुपपत्तिश्चेत्यभिप्रायः । भेदाभेददूषणमुपसंहरन् स्वमतसिद्धमाह तस्मादिति । ध्यानविधिशेषतया ब्रह्मणस्सिद्धिमुपसंहरति अतइति ॥

ध्याननियोगवादिपक्ष मीमांसको दूषयति तदप्युक्तमिति । न केवल निष्प्रपञ्चीकरणविवादस्यानुपपन्नः इदमापि मतमनुपपन्नमित्यपिशब्दस्य भावः । कुतइत्यत्राह—ध्यानेति । ध्यानविधिशेषत्वे कथमर्थसत्यत्वे तात्पर्यायोगः विधिशेषत्वं हि न्या स्वातन्त्र्येण वा ब्रह्मणि प्रामाण्यं स्यादित्यत्राह—एतदुक्तमिति । दूषयितुं विकल्पयति ब्रह्मस्वरूपेति । प्रथमं शिरोदूषयति एकेति । एकवाक्यत्व महावाक्यैकत्वम् । द्वितीयदूषयति भिन्नेति । अनवबोधकत्वं \* दुःखसाध्यश्रवणादौ

## गूढार्थसंग्रहः

एकत्वग्रहस्य चान्यानपेक्षत्वात् । अभेदोपादानैवानिर्वचनीयभेदकल्पनेति साम्प्रतम् । तथा च श्रुतिः 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति 'तस्मात्कूटस्थनित्यतैव पारमार्थिकी न परिणामिनित्यता' इति सिद्धम् इति । यदुक्तं तदनुसारेणैव उपसंहरति—तस्मादभेदशास्त्रवलेनेत्यादिना । तदप्युक्तमिति । वेदान्तवाक्यानां विधिवाक्यशेषत्व नास्तीति मतवत् विधिशेषत्ववादिमतमप्युक्तमित्यर्थः । विधिशेषत्वेऽर्थसत्यत्वे प्रामाण्यं न सम्भवतीति ध्याननियोगवादिमतं दूषयता शङ्कराचार्यादीनामभिप्रेतं दोषं दर्शयति—वेदान्तवाक्यानामर्थसत्यत्वे प्रामाण्यायोगादिति । विधिवाक्यशेषत्वस्वातन्त्र्यविकल्पेन औपनिषदसर्वमतेषु दोषं निरूपयति—एतदुक्तं भवतीत्यादिना । स्वातन्त्र्येऽपि मूलप्रमाणदाढ्येण ध्येयार्थसत्यत्वस्य विवक्षा

## श्रीभाष्यम्

नचवाच्यं ध्यानं नाम स्मृतिसन्ततिरूपं, तच्च स्मर्तव्यैकनिरूपणीयमिति ध्यानविधेस्स्मर्तव्यविशेषाकांक्षायाम् 'इदं सर्वं यद्वयमात्मा' (बृ.६.५.७) 'ब्रह्म सर्वानुभूः' (५.५.१९) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.आन.अ.१) इत्यादीनि स्वरूपतद्विशेषादीनि समर्पयन्ति तेनैकवाक्यतामापन्नान्यर्थसद्भावे प्रमाणमिति ध्यानविधेस्स्मर्तव्यविशेषापेक्षत्वेऽपि 'नामब्रह्म' (छा.७.१.५) इत्यादि दृष्टिविधिवदसत्येनाप्यर्थविशेषेण ध्याननिवृत्त्युपपेक्षः ध्येयसत्यत्वानपेक्षणात् । अतो वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविधुरत्वाद् ध्यानविधिपक्षत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूपसमर्पणमात्रपर्यवसानात्, स्वातन्त्र्येऽपि वालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवत् ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थपर्यन्ततासिद्धेश्च परिनिष्पन्नवस्तुसत्यतागोचरत्वाभावात् ब्रह्मणदशास्त्रप्रमाणकत्वं न सम्भवतीति प्राप्तम् ॥ तत्र प्रतिपाद्यते (तत्तुसमन्वयादिति)

## श्रुतप्रकाशिका

प्रवृत्त्ययोगात् । एकवाक्यत्वपक्षे विधिशेषतया ब्रह्मणसिद्धिमाशङ्क्याह—नचवाच्यमिति । कुत इत्यत्राह—ध्यानविधेरिति । 'नामब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादिषु दृष्टिविधेषु विशेष्यसत्यत्वेऽपि विशेषणासत्यत्वेन विशिष्टासत्यवमवर्जनीयम् इह च तथैवेत्यर्थः । सार्थसंग्रह पूर्वपक्षमुपसंहरति अत इति । ननु \* प्रथमसूत्रे विधिशेषतया ब्रह्मणि प्रामाण्यसमर्थनमेतदधिकरणपूर्वपक्षे विधिशेषतया तात्सिद्धिप्रतिषेधश्च कथं घटते । इत्यत्र तत्र फलत्वेन सिद्धिरुक्ता फलतया सिद्धयतः पारमार्थ्याभावे स्वर्गादेरप्यसत्यत्वप्रसङ्गात् तत्पारमार्थ्यं सिद्धयतीति फलतया तात्सिद्धिरसमर्थनं साधीयः, अत्रतु ध्यानविधिकर्मत्वेन तात्सिद्धिर्युदस्ता नतु फलतया तात्सिद्धिरित्यविरोधः ॥

एवमुपन्यस्त पूर्वपक्षमभिप्रेत्य सूत्रकारेणैतत्सूत्रं प्रणीतमित्याह—तत्रेति । प्रतिपाद्यते सिद्धान्तः प्राप्नोति शायत इति

## गूढार्थसङ्ग्रहः

वेदान्तवाक्येषु सम्भवतीत्याशङ्कते—नचवाच्यमित्यादिना । ध्येयसत्यत्वानपेक्षणादिति । वेदान्तवाक्यविहितोपासनस्य क्वचिदसत्यार्थविषयकत्वाङ्गीकारे तन्नययेनान्यत्राप्यसत्यार्थविषयकत्वमेव स्यात् । 'सिंहोदेयदत्त' इत्यत्र आरोपानिराकरणपूर्वकं वेदे न कापि रूपकमिति व्यवस्थापयता भट्टपादानां वेदप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग एव तथाऽङ्गीकारे बीजमिति पूर्वमेवोपादानेन निर्विशेषवादिमते सगुणविद्याया अपि भ्रमत्वाङ्गीकारेण मण्डनेन ससर्गावगाहिवेदवाक्यजन्यबोधानङ्गीकारेऽपि शङ्कराचार्यादिभिः धर्मसर्गाविषयकबोधेवाद्रियत इति तस्य च कापि दार्शनिकासमतत्वेन तसाधनासम्भवात् । सर्वसमतबोधस्तु भ्रमात्मक एव । अतश्च मूलप्रमाणदार्ढ्येनापि प्रमात्व न सम्भवति मण्डनमते 'तत्त्वमसि' इत्यत्र ससर्गावगाहिबोधाङ्गीकारेण तद्विरोधेन मानसापरोक्ष न सम्भवतीति सुरेश्वराचार्यैः चार्तिके तन्मतं दूषितम् । अतः ध्यानविधिशेषत्वाङ्गीकारे निर्विशेषवादिमते ध्यानस्य प्रमात्मकत्वं न सम्भतीति भावः ॥

ब्रह्मणदशास्त्रप्रमाणकत्वं न सम्भवतीति । सर्वमतेषु न सम्भवतीत्यर्थः । नियोगवादिमतद्वये, मोक्षोपायविधिनां स्तीति शङ्कराचार्य, मण्डन, वाचस्पतिमतेषु शब्दापरोक्ष्यादिविवरणकारमते ध्यानविधिमङ्गीकृत्य वेदान्तानां नोपासनविधिशेषत्वं किंतु सिद्ध्यर्थ एव प्रामाण्यमिति सिद्धान्तमतेऽपि सिद्धपरवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारकप्रयोजनविशेषेण तात्पर्यनिर्णयकल्लेध्वन्तर्गतफलरूपल्लेङ्गस्याभावे तत्र बोधतात्पर्यकल्पनमेव न सम्भवतीति वेदान्तविचारारम्भ एव विफल इति भावः ॥ वेदान्तवाक्यानां विधिशेषत्वमनङ्गीकृत्य प्रयोजनपर्यवसायित्वं प्रागुपादितमेव सूत्रार्थवर्णनमुखेन विशदयितुमारभते—

### श्रीमाध्यम्

समन्वयः सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इत्यर्थः । परमपुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशया-  
नन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात्

### श्रुतप्रमादिका

वाऽर्थः । समन्वयशब्दः \* विस्तरणं व्याचष्ट समन्वयइत्यादिना । कस्य कनान्वय इत्यपेक्षायां पूर्यन्वाक्यार्थं योज-  
यौ । परमेति । परमपुरुषार्थं वांप्रपादकमनवधिकेति पदम् । पुरुषेणार्थ्यत्वाद् पुरुषार्थं वम्, आनन्दरूपतया पुरुषार्थं वं

### गूढार्थसंग्रहः

समन्वयइत्यादिना । अन्वयः सवन्धः सवन्धश्च ब्रह्मणः शास्त्रेण वेद्यत्वरूपः । अत्र तच्छब्दस्य शास्त्रयोनित्वसूत्रार्थ-  
परत्वेन तत्र 'यतो वा, आनन्दाद्वयेऽप्यु' इति श्रुतेर्विवक्षितत्वेन तत्र आनन्दस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तधर्मपुरस्कारेण  
ब्रह्मणः तत्र सवन्ध एव सव्यक्तवन्धः धर्मपरित्यागे न सम्पत्तयम् एवमङ्गीकार एव 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति  
प्रथमसूत्रे ब्रह्मणः सन्त्येच्छाविषयत्वं यत्प्रतिपन्नं तन्निर्वहतीति भावः ॥

अभिधेयतयाऽन्वयादिति । लक्षणया ब्रह्मणा वेद्यत्वसवन्धः न समीचीनः । शक्यार्थे तात्पर्यत्राघसत्त्वं एव  
लक्ष्यार्थसवन्धस्य सव्यक्तवम् शक्यार्थे न बाध इति प्रागेवोपपादितम् । अतः शक्यार्थस्य तात्पर्यविषयत्वेन वेद्यत्वसवन्धः  
सव्यक्तवन्धइति भावः । प्रथमसूत्रे शब्दसामान्यस्य सिद्धेऽप्युपपत्तिसमर्थनमुपेन औपनिषद्ब्रह्मणः प्राभाकरशङ्कानिरसनम्  
द्वितीयसूत्रे ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पत्तिसमर्थनम् । ब्रह्मशब्दार्थसिद्धयनन्तरं तस्य फलत्वनिर्धारणम् ननु तत्पूर्वम् । पुरुषशब्दार्थ-  
स्योपनिषत्तात्पर्यविषयत्वेन तत्र जगत्कारणत्वस्यान्तर्भूततया तस्य परिणामिकारणरूपत्वासम्भवेन निमित्तकारणत्वरूपत्वे  
तस्यानुमानिकत्वेन 'अथेऽनुपपन्ने तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै.सू.१.१.५) इति सिद्धान्तो न घटते, किंतु  
'तत्प्रामाण्यमात्रप्राप्यात्' (गौ.सू.२.१.६८) इति गौतमसिद्धान्त एव युक्त इत्याक्षेपस्य जन्माद्यधिकरणानन्तरं प्राप्तस्य  
निरसनमन्तरं ब्रह्मशब्दोपपत्तिसमर्थनं न सम्भवतीति ब्रह्मणः फलत्वनिरूपणात्पूर्वं शास्त्रयोनित्वाधिकरणं प्रवृत्तम् । अन-  
न्तरं फलं न समवतीति प्राभाकरशङ्कानिरसन एव कर्मविचारानन्तरं ब्रह्मविचारस्य कर्तव्यत्व सिद्धयति नत्वन्यथेत्य-  
भिप्रेत्य चतुर्थसूत्रे फलं निर्धारितम् । अतश्च चतुरधिकरणी शास्त्रारम्भसमर्थनार्थेति सिद्धान्तः सुस्थः । यथोक्तम्—  
'व्युत्पत्त्यमात्रं प्रतिपत्तिदौस्थ्यमन्येन सिद्धत्वं तथा फलवम् । एतानि वै सूत्रचतुष्टयेनानारममूलानि निराकृतानि ॥' इति ।  
अत्र व्युत्पत्त्यमात्रः शब्दसामान्यस्य विवक्षितः ब्रह्मशब्दार्थस्य प्रतिपत्तिदौस्थ्यं ब्रह्मशब्दव्युत्पत्त्यसम्भवमूलमभिप्रेतमिति  
प्रागुक्तार्थ एव एतत्पत्रे विवक्षितः । यथोक्तमाचार्यपादैः—

'द्वाम्यामादौ प्रतीतिप्रजननमुचितं सिद्धरूपे परस्मिन् द्वाम्यां वैषल्यशङ्का तदनुपरिहृता शास्त्रतज्ज्ञानबुद्धयो ।

औचित्यानेकमाध्यस्तरसगतिमती प्राप्तिनी वर्तनीय शास्त्रारम्भार्थमेकं त्रितयमिहपरं शास्त्रमित्याहुरेके ॥ अ.सा.२४  
यत्तत्सेनेश्वरार्थैरगणि वकुलभृत्किङ्करैरङ्गयकारि व्यासार्थैर्यासि च द्विश्रुतमिति विशदं विष्णुचित्तैर्विवरे ।

अथौष शेषकल्पादहमपि विदुषो वादिहसानुयाहात् अद्वा निर्धार्यतेऽतः चतुरधिकरणी ब्रह्मचिन्तोत्रमार्था ॥' २५इति

अत्रौचित्यं द्वाम्यामादाविति पूर्वार्थे व्युक्तम् । शास्त्रारम्भार्थमेकमिति नयप्रकाशिकायां मेघनादाचार्यैरुक्तम् । 'सर्वत्र  
प्रसिद्धोपदेशात्' इत्यत्र भाष्ये जिज्ञासाधिकरणार्थानुवादान्ते शास्त्रारम्भसिद्धये इत्युक्तम् । जिज्ञासाधिकरणान्ते भाष्ये  
ब्रह्मविचारारम्भो युक्त इति स्थितमिति च । इतराधिकरणार्थपरभाष्ये इत्यत्र बाधो नोक्तमिति मेघनादाचार्याणां सिद्धान्तः ।



## श्रीभाष्यम्

तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं सिद्धयत्येवेत्यर्थः । निरस्तनिखिलदोषनिरतिशयानन्दस्वरूपतया परमप्राप्यं ब्रह्म बोधयन्वेदान्तवाक्यगणः प्रवृत्तिनिवृत्तिपरताविरहान्न प्रयोजनपर्यवसायीति सुवाणो राजकुलवासिनः पुरुषस्य कौलेयककुलाननुप्र-

## श्रुतप्रकाशिका

तस्यानवधिकातिशयत्वात् परमपुरुषार्थत्वमिति भावः । स्वयमननुकूलस्य सुगसाधनस्यापि पुरुषार्थत्वमस्तीति तद्व्यावृत्तिश्चानवधिकेत्यादिपदेन सिद्धा । तच्छब्दं व्यानष्टे । शास्त्रप्रमाणकत्वमिति । पूर्वपक्षव्यावर्तकतुशब्दलब्धमर्थमाह—  
सिद्धयत्येवेति ॥

‘तत्त्वमसि’ इत्यादिस्वरूपोपदेशपरवाक्यार्थज्ञानमात्रेणाविद्यानिवृत्तिं तन्मुखेन वाक्यस्य प्रयोजनपर्यवसानं च वदतो मृषावादिनो ध्यानविद्वेषानर्थक्यं स्यात्, वाक्यार्थज्ञानोपयोगित्वस्य दूषितत्वात्, मीमांसकपक्षे ब्रह्मणोऽसिद्धिरित्युभयविषयोपासृष्टेनाकारेण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यमुपापेपादयिषुस्तत्र प्रथमं ब्रह्मणस्त्वतस्त्वेषां सर्वप्रकारभोग्यत्वेन पुरुषार्थत्वाधिक्यं प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्दुःसामक्यत्वेन पुरुषार्थत्ववैकल्यं चाभिप्रयन् प्रवृत्तिनिवृत्तिविरहवतः पुरुषार्थपर्यवसानाभावनिबन्धनामप्रामाण्यशङ्कां परिहरति । निरस्तेति । राजकुलवासी राजकुलप्रसूतः राजकुलान्तरङ्गो वा । कौलेयकाः श्वानः, श्वोपजीविनो म्लेच्छावा लक्ष्यन्ते । यद्यपि वाक्यगणस्याने राजकुलवासी पुरुषः प्रतीयते । तथाऽप्यर्थवशाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तुपुरुषस्याने तात्रेदेशः कल्पितः, स्वतो निरवधिकपुरुषार्थपरवाक्यस्य प्रयोजनशून्यत्ववेदनमनुपपन्नमित्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

आधिकरणचतुष्टयस्य अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनोपपादनपरत्व प्रागेवोपपादितम् । तर्नेन चतुर्णामधिकरणानां शास्त्रारम्भार्थत्वं सिद्धम् । समन्वयाधिकरणे च वेदान्तेऽपि उपासनविधिवाक्याधीनमोशार्थप्रवृत्तेः सिद्धान्तेऽङ्गीकारेण तथैव प्रवृत्तेरकामेनापि स्वीकार्यतया सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थनं निष्फलमेव जातमिति शङ्कानिरासमुखेन ब्रह्मविचारे प्राथमिकप्रवृत्तेः सफलत्व समन्वयाधिकरण एव निर्णीतमिति चतुरधिकरण्याः शास्त्रारम्भार्थत्वमकामेनापि स्वीकरणीयम् । इत्थमर्थमभिप्रेत्यैव ईक्षत्यधिकरणारम्भे ‘यतोवा इमानि’ इत्यादिजगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्य सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमस्तहेयप्रत्यनीककल्याणगुणैकतान् ब्रह्मजिह्वास्पर्शमित्युक्तम्’ इति भगवता उक्तम् । अत्राधिकरणचतुष्टयानन्तरं विचार्यत्वानुवादः भगवता कृतः । एतत्स्वारस्यतु अधिकरणचतुष्टयस्य शास्त्रारम्भार्थत्व एव ॥

एव वेदान्तसारे—‘पुरुषार्थतया अन्वयस्समन्वयः शास्त्राख्यप्रमाणस्य पुरुषार्थपर्यवसायित्वेऽपि स्वस्य परस्यचानुमवितुः अविशेषेण स्वरूपेण गुणैः विभूत्या च अनुभूयमानं अनवधिकातिशयानन्दरूपमिति पुरुषार्थत्वेनाभिधेयतयाऽन्वयात् ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वमुपपन्नतरमिति निरवद्य निखिलजगदेककारणं ब्रह्म वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्युक्तम् । तस्यैकस्यैकदेव कृत्स्नजगन्निमित्तत्वं तस्यैवोपादानतया जगदात्मकत्वं च नानुमानाधिगम्यमिति शास्त्रैकप्रमाणकत्वात्तस्यैव चानवधिकातिशयानन्दरूपतया परमपुरुषार्थत्वाद्देवान्ताः प्रतिपादयन्त्येवेति स्थिरीकृतम् । अतः परं पादशेषेण जगत्कारणतया प्रधानपुरुषप्रतिपादनानर्हतया सर्वज्ञ सत्यसङ्कल्प निरस्ताविद्यादिसमस्तदोषगन्धमपरिमितोदारगुणसागर ब्रह्मैव वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्युच्यते’ इति प्रोक्तम् । आधिकरणचतुष्टयस्य शास्त्रारम्भार्थत्वे एव एतत्सूक्तिस्वारस्यम् । भाष्यसूक्तिध्वन्ययमर्थः अभिप्रेतइति त्रिदुषा स्फुटम् । शास्त्रयोनित्वाधिकरणे भाष्ये परिणामिकारणत्वासम्भवानुपपत्तिमन्वादिह न्यायग्रन्थोक्त

### श्रीभाष्यम्

क्षेणेन प्रयोजनग्रन्थतां घृते । एतदुक्तं भवति अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टनतिरोहितपरापर-  
तत्त्वयाथात्म्य स्वस्वरूपावबोधानां देवासुरगन्धर्वसिद्धविद्याधरकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षस  
पिशाचमनुजपशुशकुनिसरीसृपेवृक्षगुल्मलतादूर्वादीनां स्त्रीपुंनपुंसकमेदमिन्नानां क्षेत्रज्ञानां  
व्यवस्थितधारकपोषकभोग्यविशेषाणां मुक्तानां स्वस्यचाविशेषेणानुभवसम्भवे स्वरूपरूप-  
गुणविभवचेष्टितैरनवधिकातिशयानन्दजनकं परं ब्रह्मास्तीति बोधयदेव वाक्यं प्रयोजनपर्य-  
वसायि प्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठतु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधे न प्रयोजनपर्यवसायि, एवंभूतं परं-  
ब्रह्म कथंप्राप्यत इत्यपेक्षायां 'ब्रह्मविदामोति' (तै.आ.१.अ) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत'

### श्रुतप्रकाशिका

ब्रह्मणः कथमनवधिकानन्दरूपतया पुरुषार्थत्वाधाय कथं च प्रवृत्तिनिवृत्त्योः पुरुषार्थत्ववैकल्य स्वरूपपरवाक्यस्य  
पुरुषार्थपर्यवसानं कुत्र दृष्टम् तथासति कथं ध्यानविधिसाफल्यमित्याकांक्षायामाह—एतदुक्तमिति । ब्रह्मणः पुरुषार्थ-  
ताधिक्यमाह—अनादीत्यादिना । कर्मभिरनुभवप्रतिबन्धात् क्षेत्रज्ञानां तस्य पुरुषार्थत्वज्ञानाभावात् । ननु तत्र तद्वैकल्या-  
दित्यभिप्रायेणोक्तमनादिकमेति, देवामुरादिपरिगणनं तेषां व्यवस्थितभोग्यत्वप्रदर्शनार्थम् । \* योग्यानुपलब्धिश्चाव्युदा-  
सायानुभवसम्भव इत्युक्तम् । तद्विषयज्ञानानुकूलत्वाद्वा तदनुकूलत्वेन विना न सम्भवति अतोऽनवधिकातिशयानन्दजन-  
नत्वोक्त्या ब्रह्मणोऽनवधिकातिशयानुकूलत्वं सिद्धयतीत्यानन्दत्वमुपपादेतं भवति, स्वरूपेत्यादिना सर्वप्रकारभोग्यत्वमुक्त-  
तेन पुरुषार्थत्वाधिक्यं सिद्धम् । प्रवृत्तीत्यादिना प्रवृत्तिनिवृत्त्योः पुरुषार्थत्ववैकल्यमुक्तम् । इष्टसुखत्वसाधनतयोपादे-  
यत्वात् । दुःखात्मकतया स्वतो भोग्यत्वाभावाच्च ॥

ध्यानादिविद्वद्धानर्थक्यं परिहरति । एवंभूतमिति । परोक्षज्ञानस्यापि सुखरूपत्वात् स्वरूपपराणि वाक्यानि—  
पुरुषार्थपर्यवसायीत्येव तदापरोक्ष्याकाक्षिणस्तत्साधनशपकत्वात् ध्यानविधायीनि वाक्यान्वपि न निष्फलानित्यर्थः । इम-

### गूढार्थसङ्ग्रहः

निमित्तकारणत्वानुमानदूषणेन तस्य शास्त्रतात्पर्यविषयत्व साधितम् । सारेण 'यतोवा' इति श्रुतौ उभयविश्वकारणत्व-  
स्याभिप्रेतत्वेन तस्य शास्त्रतात्पर्यविषयत्वोक्तिर्न घटत इत्युक्तमिति भाष्यसारयोर्विशेषः । ब्रह्माचार्यसमतत्वादपि अधिकरण-  
चतुष्टयस्य शास्त्रारम्भार्थत्वं युक्तमिति 'यत्तत्त्वेनेश्वरार्यैः' इति श्लोके सप्रदायोऽपि प्रदर्शितः ॥

प्रवृत्तिनिवृत्तिपरवाक्यानां तदितरसिद्धपरवाक्यानां च वैलक्षण्यमुपपादयति—एतदुक्तंभवतीत्यादिना । परंब्रह्मा  
स्तीति बोधयदेव वाक्यं प्रयोजनपर्यवसायीति । वाक्यात् बोधदशायामेव फलसामः, एव तदनुसन्धानदशासु ।  
प्रवृत्तिनिवृत्तिपरवाक्यानां स्वस्य बोधातिरिक्तमावि पुरुषार्थसम्बन्धेनैव सप्रयोजनत्वमिति महान् विशेष इति भावः । पर-  
मने मोक्षसाधनविध्यनङ्गीकारेण भूतब्रह्मज्ञानमात्रात् पुरुषार्थ इत्युक्तिर्घटते । वृत्तिकारमते विधिवाक्याधीनोपासनप्रवृ-  
त्त्यनन्तरमेव मुक्तिफलमिति सिद्धान्तेन विधिवाक्याधीनप्रवृत्तिस्वर्जनीयैवेति उक्तदिशा सफलत्वमकिंचित्करमिति शङ्कायां  
प्रथमचरमफलभेदेन वाक्यानां सिद्धसाध्यपराणां सफलत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति—एवंभूतंपरंब्रह्म कथं प्राप्यत इत्यपे-  
क्षायामित्यादिना । ज्ञानमात्रेण कृतकृत्यतेति परमतं न श्रुत्यनुगुणमिति मत्वा 'ब्रह्मविदामोति' इत्यादिश्रुत्युपादानम् ।  
अत्र विधिप्रत्ययो न श्रूयत इति शङ्काया 'आत्मानमेवलोकमुपासीत' इति श्रुतिरुपात्ता । 'आमेत्येवोपासीत' इति प्रथमवाक्य

### श्रीभाष्यम्

(१३४१५) इति वेदनादिशब्दैरुपासनं ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते । यथा स्ववेदमनि निधिरस्तीति वाक्येन निधिसद्भावात् ज्ञात्वा तत्तस्मिन् पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते यथा च कश्चिद्राजकुमारो गालग्रीडासक्तो नरेन्द्रभवनाग्निष्णान्तो मर्गाद्भ्रष्टो नष्ट इति राज्ञा शिक्षा तस्वयच्चाज्ञातपितृक केनचिद्द्विजवर्येण वर्धितोऽधिगतवेदशास्त्रपण्डितश्चर्षस्सर्वकल्या

### श्रुतप्रकाशिका

मये दृष्टान्तेन दर्शयति यथेति । एव पराक्षशानजनकस्यैव वाक्यस्य पुरुषार्थपर्यवसायिवेदोपि फलविशेषापेक्षया ध्यान प्रवृत्तियुक्ता यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्र जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादिषु दर्शपूर्णमासादीनामेकैकस्य स्वर्गसाधनवेदोपि फलविशेषापेक्षया कर्मान्तरारम्भकस्यैव कर्मण आवृत्तिश्चेत्पच्यते । यथा पुत्रज मश्रवणसञ्जातहर्षस्यापि पश्चात्तन्मुग्धापरोक्षसुखाशयाप्रवृत्तिरुपपद्यते । तथात्रापीत्यभिप्राय

अत्र निधिराजकुमारदृष्टान्तद्वयं चिदचिद्विभागादुक्तम् । उभयगत भोग्यं च ब्रह्मण्यस्तीति ज्ञापनाय 'तद्यथा-हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयु' इति हि श्रुतिः । निधिरस्तीति वाक्यस्य पुरुषार्थपरं दर्शयति तृप्तस्सन्निति । 'अविज्ञाता कुमारका' 'भगवतोऽहं पुत्रं प्रेप्यदिशप्यश्व' 'मातापिता भ्राता' 'भूतानां योऽन्ययः पिता' 'एकइन्द्रो जगतो बभूव' 'राजाधिराजस्सर्वेषाम्' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुसारेण सर्वविधभोग्यवप्रदर्शनाय राजकुमार इति भगवति राजत्वं चेतनेषु पुत्रवचोपवर्णितम् । अत्र कुशलत्वसमाधिर्द्रष्टव्यः । गालग्रीडासक्त इत्यनेन चेतनानां बाह्यविषयप्रावण्यं सूचितम् । नरेन्द्रभवनाग्निष्णान्त इत्यनेन भगवत्सकाशब्रह्मिष्ठव

### गूढार्थसंग्रहः

पारित्यज्य 'आमानमेव लोकमुपासीत' इति वाक्योपादानेन 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुतिः परोक्तदिशा उपासनफलस्यानित्यता नैव बोधयितुमीष्टः । आमान एव लोकशब्दार्थः फलत्वेन तस्य नित्यतया 'एवमवामुत्र पुण्यचित' इत्यत्र पुण्यशब्दः नापासनपरः तदतिरिक्तकर्मण्येव पुण्यशब्दप्राप्त्येति त्वर्थः सूचितः । अत्र उपनिषद्द्वयं परमते निर्गुणविधौ विवक्षिता । अत्रोपासनाविधौ स्फुटतया आवृत्त्यधिकरणोक्तदिशा 'यदाक्षयैष' इति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मविदित्यादावपि उपासनमव विवक्षितम् । अयमर्थः वेदार्थसंग्रहादौ स्फुटः ॥

स्ववेदमनि निधिरस्तीति । एतन् 'निधिमानपभूभाग' इति शालिकानाथोपात्तवाक्यस्यानुभवानुगुणं फलप्रदर्शितम् । द्रमिडाचार्यसिद्धातेन तं समतराजकुमारनयनविवरणेन वाक्यद्वयस्य सप्रयोजनं वमुपपादयति—कश्चिद्राजकुमार इत्यादिना । नरेन्द्रभवनाग्निष्णान्त इति । कश्चिकिल राजपुत्रः जातमात्र एव मातापितृभ्यामपविद्धः व्याघ्रसवर्धिनाऽसावमुष्य वश्यतामजानन् व्याघ्रजातिप्रत्ययः व्याघ्रजातिकर्माण्येवानुवर्तते, न राजाऽस्तीति राजजातीयकर्माण्यनुवर्तते' इति (वृ श ४ १) भाष्य उक्तम् । स्वयच्चाज्ञातपितृक इति । एतन् राजाऽस्माति ज्ञानशून्यता नात्र विवक्षितः अनन्तरमपि राजपुत्रवनैव ज्ञानसम्वादिति सूचितम् । यदा कश्चिपरमकारुणिकः राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यताजानन् अमुष्य पुत्रतां बोधयति नत्र व्याघ्रः अमुष्य राजपुत्रः कथञ्चिद्व्याघ्रहमनुप्रविष्ट इति स एव बोधितः त्यक्त्वा व्याघ्रजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपैतामहीमा मनः पदवीमनुवर्तते 'राजाऽहमस्मीति' इति शङ्कराचार्यैरुक्तमर्थमव परिष्कृत्य दर्शयति—केनचिद्द्विजवर्येण वर्धित इति । अत्र 'राजाचेति । राजस्थानीयो भगवान् पुत्रस्थानाय उपासक' इति व्यासार्थैरुक्तः

## श्रीभाष्यम्

णगुणाकरस्तिष्ठन् पिता ते सर्वलोकाधिपतिः गाम्भीर्यादार्य चात्सल्य, सौशील्य, शौर्य, वीर्य  
पराक्रमादिगुणसम्पन्नस्त्वामेव नष्टं पुत्रं दिदृक्षुः पुरवरे तिष्ठतीति केनचिदभियुक्तमेन  
प्रयुक्तं वान्यं शृणोति चेत् तदानीमेवाहंतायत जीवतः पुत्रो मत्पिता च सर्वसम्पत्समृद्ध  
इति निरतिशयहर्षसमन्वितो भवति । राजा च स्वपुत्रं जीवन्तमरोगमतिमनोहरदर्शनं  
विदितसकलवेद्यं श्रुत्वाऽवाप्तसमस्तपुरुषार्थो भवति पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते पश्चात्ता-  
पुभौ सङ्गच्छेते, चेति ।

## श्रुतप्रकाशिका

दर्शित परमव्योमालामश्च मार्गाद्भ्रष्ट इत्यनेन कर्मज्ञानाद्युपायानन्वयः स्थापितः, द्विजवर्येण चर्चित इत्यनेन भगव-  
ज्ज्ञाननिष्पत्तियोग्यतासिद्धिहेतुभूताध्ययनादिनिष्पादकानार्यसंबन्धोऽभिप्रेतः । पोटशवर्षः भोवतृत्वावस्थो भोग्यताऽवस्थ-  
श्चेतिभावः । सर्वकल्याणगुणाकरः ‘निर्वाणमयएवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः’ इत्याद्युक्तैर्भगवदाभिमतैर्गुणैः पूर्णता  
सूचिता । पिता ते इत्यादिना भगवद्रणगणासूचिता ॥

गाम्भीर्यादय उपासकप्रति सौलभ्योपयुक्ता गुणाः शौर्यादय परत्वान्तर्गताः गाम्भीर्यं \* सप्रदानलाघवदीयमानगौ-  
रवानपेक्षत्वम् औदार्यं दातृप्रतिग्रहीतृविभागबुद्धिविरेहेण प्राप्तकृतमिति प्रतिपत्तिमत्तम् । आत्माभीय दत्त्वाऽपि ‘ऋण-  
प्रवृद्धमिवमे’ इति स्थितिर्वा । चात्सल्य दोषेष्वपि गुणत्वबुद्धिः यथा मातुर्वत्से । सुशीलहि नाम महतो मन्दैस्सह नीर-  
ध्रेण सश्लेषस्वभावत्वं तद्वत्ता सौशील्यम् । शौर्यं शत्रुमध्ये स्वग्रहइव प्रवेशसामर्थ्यम् । ‘शूरंभीरु कविजडम्’ इति

## गूढार्थसङ्ग्रहः

पश्चात्तदुपादानेच प्रयतते इत्यत्र उपासनप्रयत्न एव विवक्षितः । पश्चात्तापुभौ सङ्गच्छेते इत्यत्र उपासनाफलमेव  
दार्ष्टान्तिके विवक्षितम् । दृष्टान्ते च राजसमीपगमनपूर्वं व्याघ्रहवासादेः प्रायश्चित्तप्रवृत्तिः प्रयत्न राजसमीपगमनानुगु-  
णवेषप्रयत्नः विवक्षितः । कौपीतकीब्राह्मणे चतुर्थे बालक्यजातशत्रुसवादे ‘तमेतमात्मानमेत आत्मानः अन्ववस्यन्ति—  
तद्यथा श्रेष्ठीसैर्भुङ्क्ते यथावा स्वाः श्रेष्ठिन भुञ्जन्ति एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्माभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मानएन भुञ्जन्ति । स  
यावद्दया इन्द्र एतमात्मानं नविजज्ञौ तानदेनमसुरा अभिग्रभूवुः । सयदा विजज्ञावथ हत्वा असुरान् विजित्य सर्वेषां  
भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति तथो वैव विद्वान्सर्वान्पाम्मनं अपहृत्य सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं  
पर्येति यएव वेद’ इत्यत्र सुषुप्तिप्रकरणे जीवपरमात्मस्वरूपनिपणावसरे उभयोर्जीवपरयोर्भोगः यउक्तं स ब्रह्मज्ञानानन्तरमेव  
विवक्षितः । सर्वपापापहतेः तत्रैव ब्रह्मज्ञानोत्तरकालिकत्वप्रतिपादनात् सुषुप्तौ तथा सर्वपापापहतिविरहात् सुषुप्तौ जीवा मनः  
परमात्मज्ञानविरहस्य सकलश्रुतिसिद्धिराद्यः । एवञ्च एतच्छ्रुतिवाक्यपर्यालोचने तादात्विकफलं यत् ब्रह्मज्ञानस्य यच्च परमं फलं  
तदुभयमत्र विवक्षितमिति राजपुत्रनयानुसारेण पुत्रस्य पितुश्च उभयोः फलद्वयवत् जीवपरयोः फलं श्रुतिता पर्यविषयतया  
एषितव्यम् । उभयोर्ज्ञानानन्तरं परस्परसंश्लेषाकाङ्क्षायां आनुभाषिकत्वात् अतश्चोपासकस्य परमफलं यत्तत् कौपीतकीब्रा-  
ह्मणएव पर्यङ्कविद्योक्तदिशा गतिद्वारा देशविशेषएतेत्यत्रापि विवक्षितम् । जीवब्रह्मणोर्भेदस्य एतद्वाक्यतस्तिद्धौ परमफलस्य  
गतिद्वारा देशविशेष एव सिद्धिः नैव प्रत्याख्यानमर्हति ॥

सूत्रकारश्च ‘जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेत्तद्व्याख्यातम्’ इत्यत्र कौपीतकीवाक्येऽपि ‘ब्रह्मते ब्रवाणि’ इत्याद्यनन्तरं  
‘योऽत्र बालके एतेषां पुरुषाणां कर्ता सवै वेदितव्यः’ इत्युपक्रमे ‘यएव विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधि-



## श्रीभाष्यम्

यत्पुनःपरिनिष्पन्नवस्तुगोचरस्य वाक्यस्य तज्ज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थपर्यवसानात् बालात-  
राद्युपच्छन्दनवाक्यवन्नार्थसद्भावे प्रामाण्यमिति, तदसत् । अर्थसद्भावाभावे निश्चिते ;

## श्रुतप्रकाशिका

मीरुत्वप्रातियोगिहि शौर्यं वीर्यं अश्रान्तिः पराक्रमः विक्रमणम् अत्रानुक्तमपि धैर्यमनुसंधेयम् । तच्च शत्रुभिर्(धर्मधर्म)पणे तृण  
वन्मन्यमानत्वम् । द्रिष्टुमिति 'स महात्मा सुदुर्लभः' इति भगवदभिप्रायस्सूचितः पुरवर इत्यनेन ब्रह्मपुराख्यशरीरा  
न्तस्थितिरभिप्रेता । त्रिपाद्विभूतिसम्बन्धो वा अभियुक्ततमशब्देन भगवज्ज्ञानप्रदो गुरुर्विवक्षितः । तस्येतरवैलक्षण्यं केनचि-  
दित्यभिप्रेतम् यदा अत्ययनादिकारयिता गुरुरेव ब्रह्मोपदेष्टा संभवति तदाऽयमभियुक्ततमशब्दः पूर्वनिर्दिष्टद्विजवर्यमेवा-  
भिधत्ते \* तदसम्भवे ब्रह्मोपदेष्टृपुरुषमात्राभिप्रायः । अत्र केनचिदित्यनेन पूर्वैव वा अन्येनैववेति तात्पर्यं ग्राह्यम् । शृणो-  
तिचेदित्यनेन भगवज्ज्ञानस्य दुर्लभत्वमभिप्रेतम् । निरतिशयहर्षसमन्वितो भवतीत्यनेन वाक्यस्य पुरुषार्थपरत्व दर्शि-  
तम् । राजाचेति राजस्थानीयो भगवान् पुत्रस्थानीयोऽप्युपासको विवक्षितः अनेन सर्वविधभोग्यत्वस्य भगवति पुष्कल-  
त्वात् गुणवत्पुत्रगतभोग्यत्वमपि तत्र विद्यतइति ज्ञापितम् । नहि भगवतो ज्ञान परोक्षरूपम् । अवाप्तसमस्तपुरुषार्थो  
भवतीत्यनेन च वाक्यस्य प्रयोजनपर्यवसायित्वं दर्शितम् । राजाचेत्यादिग्रन्थस्यापातप्रतिपक्षार्थोऽप्यविरुद्धः ॥

ध्यानविधेरवैयर्थ्यं दृष्टान्तद्वयेनापि सिद्धमिति ज्ञापयितुमुक्तं पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते इति पश्चात्तावुभौ  
सङ्गच्छेतेचेति च अत्र \* पूर्वमेव अर्थार्थी राजकुल गच्छेत् मन्दाभिर्नाम्नु पित्रेदिति वाक्योदाहरणादिह निघट्टिष्ठान्तो-  
पन्यासाच्चायमप्यर्थोऽर्थसिद्धः, किं क्रियोत्तीर्णकार्यपरतयैव वाक्यस्य प्रयोजनपर्यवसायित्वं उत क्रियाकार्यं वा तदुत्तीर्णं वा  
प्रवर्तकमर्थमभिदधत एव तत्पर्यवसायित्वमिति मतम् । नप्रथमः अर्थार्थी राजानं सेवेतेत्यादीनां सप्रयोजनत्वात् । न  
द्वितीयः निधिमन्त्रभागलक्षणरत्नपरीक्षणपरणां शास्त्राणां प्रयोजन(पर्यवसायि)शालि(त्वात्) । नच तत्रापि एतन्नधारणादि-  
विधिपरत्वं वाक्यानां कल्प्यम् तयोः रागप्राप्तत्वात् एतन्नादिप्रकारस्य लोकसिद्धत्वाच्च, अप्राप्तेहि शास्त्रमर्थवत्, \* दुष्ट-  
रत्नवर्जनमप्यनर्थजिहासाप्राप्तम् । वाक्यानि तु निधिमन्त्रगुणदोषज्ञापनमात्रपर्यवसायीनि । अतः प्रवर्तकार्थपरतयैव प्रयो-  
जनपर्यवसानमिति नियमो भग्न इति ॥

अथ पूर्वपक्षिणोक्तमनुभाषते-यत्पुनरिति । वेदान्तवाक्यानां नार्थसद्भावे प्रामाण्यमस्तीति प्रतिज्ञा । तदर्थमर्थ-  
सद्भावाभावेऽपि पुरुषार्थपर्यवसानादिति हेतुर्विवक्षितः । दूषयति तदसदिति । कुतइत्यत्राह—अर्थसद्भावाभावइति ।

## गूढार्थसंग्रहः

पत्यं पर्येति ' इत्युपसंहारे च वेदनमुपासनरूपमेवेति निर्धारयति । ' जीवमुख्यप्राणलिङ्गाभेतिचेन्नोपासात्रैविध्यात् ' इति  
सूत्रे ' अथवे 'त्यादिना श्रुतिकारसंमतयोजनेन (श.मा) उक्ता मुक्ता, नतु उपासनात्रैविध्यप्रसङ्गादिति इति ग्रन्थान्तसा-  
रामृते निरूपितम् । एवंचात्र ' उपासनात्रैविध्यप्रसङ्गात् ' इति योजनामेकां विलिख्य परैः जीवल्लिङ्गमप्युपक्रमोपसंहा-  
र्योर्ब्रह्मविषयत्वात् अभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् । (सं) ' इत्युक्तिरप्यनुपादेया, जीवब्रह्माभेदस्याज्ञानभिधानात् ' सर्वेशं  
भूतानाम् ' इत्यत्रोक्तफलस्य परसंमतविश्वासा असंभवाच्च ॥

' अन्यायेतु जैमिनिः प्रभस्याख्यानाम्यामपिचैवमेक ' इति सूत्रे ' अपिचैवमेकं शास्त्रिनः वाज्रसनेयिनः आस्मिन्नेव  
बालवयस्यज्ञानशुभवादे स्पष्ट रिक्तानमयशब्देन जीवमाश्रय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमात्मनन्ति ' यत्प्राविज्ञानमयः पुरुषः

## श्रीभाष्यम्

ज्ञातोऽप्यर्थः पुरुषार्थाय न भवति । बालातुरादीनामप्यर्थसद्भावभ्रान्त्या हर्षाद्युत्पत्तिः  
तेषामेव तस्मिन्नेव ज्ञाने विद्यमाने यद्यर्थाभावनिश्चयो जायेत ततस्तदानीमेव हर्षादयो निव-  
र्तन् औपनिषदेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मास्तित्वतात्पर्याभावनिश्चये ब्रह्मज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थप-  
र्यवसानं न स्यात् ।

## श्रुतप्रकाशिका

इदं वाक्य पञ्चविषयम् । पञ्चदृष्टान्तसाधारणं वा हेतुत्वं गमितम् । अर्थसद्भावभावनिश्चये सति पुरुषार्थपर्यवसानाभावादि-  
त्यर्थः । अर्थासद्भावेऽपि पुरुषार्थो दृश्यत इति शङ्काया तत्रार्थासद्भावनिश्चयाभावमुपाधिमाह—बालातुरादीनामिति ।  
तदेवोपपादयति तेषामिति । ततः किमित्यपेक्षया सपक्षे दर्शितमर्थं पक्षे स्फुटीकरोति । औपनिषदेष्वपीति ॥

बालातुराद्युपलब्धनवाक्येष्विवाप्यर्थसद्भावभ्रान्त्या पुरुषार्थपर्यवसानं स्यादिति चेत्—यःपिब कषायपिब शिरसाव-  
धिष्यते, पाशुषु लुठसि चेत्तव दन्ता उद्भिद्यन्ते इत्यादीनां प्रवृत्तिनिवृत्तिपरवाक्यानामिव 'स्वर्गकामो यजेत' 'नक्त-  
वृज्जं भक्षयेत्' इत्यादिवाक्यानामप्यर्थसद्भावभ्रान्त्या पुरुषार्थपर्यवसानं किं न स्यात् । अपौरुषेयत्वाद्देवाक्यस्य विप्र-  
लिप्तामूलवाक्यस्येव भ्रामकतया पुरुषार्थपर्यवसानमयुक्तम् । तथासति शास्त्रस्य निरूपकाधिगन्तव्यत्वात् स्वपुनःशिष्या-  
दीनामध्यापनादौ प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति चेत् अपौरुषेयत्वमध्यापनादिप्रवृत्तिवैयर्थ्यं च वेदान्तवाक्येष्वपि तुल्यम् । \* कर्म-  
विघाता देहातिरिक्तात्मज्ञानसापेक्षत्वात् वेदान्तवाक्यानां कर्मविधिशेषत्वेनाध्यापनादिप्रवृत्त्युपपत्तिरिति चेत् न असत्यपि  
देहभेदे तत्सद्भावभ्रान्तिहेतुवशङ्काया सत्या तन्मुखेन प्ररोचनानुपपत्त्या विधिशेषतयाऽध्यापनाद्यनुपपत्तेः । तर्कानुगृही-  
तानिर्दोषश्रुतिसिद्धदेहात्मभेदस्त्वात्त्विक इति चेत् तत् पुरुषार्थभूतस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यत्वेऽपि तुल्यम् । देहात्मभेदसाधक-  
हेत्वन्तरसवादान्नभ्रान्तिहेतुत्वनिश्चयइति चेत्, तर्हि तेनैव हेत्वन्तरेण देहात्मभेदसिद्ध इति तज्ज्ञापनाय वेदान्तवाक्याना-  
मनेपेक्षितत्वाद्विधिशेषतया तदध्यापनादिकं नोपपद्यते । एव निरूपकाधिकारस्य शास्त्रस्यार्थसद्भावभ्रान्त्या पुरुषार्थपर्यव-  
सानानुपपत्तौ प्रवर्तकवाक्यानां प्रतिबन्दीत्वमभिप्रेत्य औपनिषदेष्वपीत्यादिभाष्यं प्रवृत्तम् ॥

## गूढार्थसंग्रहः

कैव तदाभूत्कुत एतदागात्' इति प्रश्ने । प्रतिवचनेऽपि 'यएषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नेते' इति । आकाशशब्दश्च  
परमा मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाश' इत्यत्र इति (श)भाष्ये जीवब्रह्मभेदस्य स्पष्टमभिधानाच्च । व्युत्तरणश्रु यु-  
पनिषद्भाष्ये (श) एव द्रमिडाचार्यसमत राजकुमारनयः परैः प्रदर्शितः । अतश्च राजकुमारनयेन कौपीतकीवाजसेनयिकवा-  
क्यद्वयेऽपि जीवब्रह्मभेदस्य श्रुतितात्पर्यविषयतया परस्परसंश्लेषाकाश्या मुक्तावपि 'तावुभौ सङ्गच्छेते' इत्युक्तं फल  
नैव प्रत्याख्यानाहमिति भगवत आशयः । ब्रह्मास्तित्वतात्पर्याभावनिश्चयइति । 'अस्तिब्रह्मेति चेद्देद सन्तमेनन्ततो  
विदुः' इति श्रुतिरत्राभिप्रेता । 'अस्तिब्रह्म' इत्यत्र लकारस्य साधुत्वार्थकत्वं परोक्तं प्रागेव (२६८.पु) पर्यालोचितम् ।  
'असन्नेवसमवति' इत्यादिश्रुत्यर्थः प्रागेव (६७६.पु) अभिहितः । तत्र पुरुषार्थपर्यवसानाभावः स्फुटः । 'जन्माद्यस्य  
यतः' इति सूत्रे राजकुमारनयः विवक्षितः । 'अथातो ब्रह्माजिज्ञासा' इत्यत्र ब्रह्मशब्दस्य ननिर्विशेषपरत्वमिति एत-  
त्सूत्रद्वयेन सिद्धम् । एव कारणवाक्यानामेव उक्तदिशा तादात्मिकपार्यन्तिकपुषार्थपर्यवसायित्वेन प्राधान्य एतद्वाक्यसिद्धो-  
पादानोपादेयभावनिवन्धनाभेदपरत्वेन 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यादिवाक्यानामप्राधान्यमित्याद्यर्थीसिद्धयन्तीत्य-  
भिप्रेत्य तत्सूत्रविषयवाक्य 'यतोवा' इत्यादि समन्वयाधिकरणान्ते उपात्तम् ॥

## श्रीभाष्यम्

अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (भृगु वल्ली. ) इत्यादिवाक्यं निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनन्तकल्याणगुणावरमनवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मास्तीति बोधयतीति सिद्धम् ॥

## ॥ समाप्तं समन्वयाधिकरणम् ॥



## श्रुतप्रकाशिका

उक्तस्य हेतोर्विपर्यये पर्यवसान दर्शयन्नधिकरणार्थमुपसहरति अतइति । कारणवाक्यानामर्थमाह—निखिलेति । निखिलशब्द परैर्नित्यतयाऽभिमतानामाकाशादीनामपि कार्यत्वज्ञापनार्थः । एकशब्दो निमित्तोपादनैक्यद्योतक 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्ये शोधकवाक्यार्थश्च गर्भितइत्यभिप्रायणाह—निरस्तेति । अत्र निखिलशब्दने चिदचिद्वृत्ता क्लेशकर्मादयो जन्मादयश्च विवक्षिता । कदाचिदोपसन्नघातैर्व्यवर्तकेन गन्धशब्देन रुदा तत्प्रत्यनीकं वमुक्तं भवति । कारणत्वौपाधिकान्गुणानाह—सार्वज्ञ्येति । एतदधिकरणार्थमाह—अनवधिकेति । बोधयतीति । अध्यापनाद्युपपत्तये पुरुषार्थपर्यवसानस्यापेक्षितत्वात् । प्रेक्षावदधिकार्यस्य शास्त्रस्यार्थसद्भावाभावनिश्चये सति पुरुषार्थपर्यवसानानुपपत्तेः, स्तदुपपत्त्यर्थं प्रवर्तकवाक्यानामिवार्थसद्भावे प्रामाण्यमङ्गीकार्यमिति यथोक्तं लक्षणं ब्रह्म 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥

शास्त्रारभसिद्धयर्थेण चतुस्तूत्री मृषावादिना पक्षे न सङ्गच्छते तत्पक्षे विषयप्रयोजनानुपपत्त्या शास्त्रस्यानारम्भणीयत्वात् । तथाहि विषयः किंब्रह्म, उत भेदमिथ्यात्व, उत जीवब्रह्मणोरैक्यं ? न प्रथमं, ब्रह्मणो वेद्यत्वानभ्युपगमात् । वेद्यवेद्यदोरेवाननुभूतित्वप्रसङ्गस्योक्तत्वाच्च । व्यावहारिकं वेद्यत्वमस्तीति चेत् घटस्यापि वेद्यत्व व्यावहारिकमिति तद्वदेवाननुभूतित्वप्रसङ्गो दुर्वारः । वास्तववेद्यत्वाभावस्य ब्रह्मणि साध्यत्वे घटस्य व्यतिरेकदृष्टान्तत्व न घटते, घटस्य वास्तववेद्यत्वाभावविरहाभावात् अनुभूतिः परमार्थतो न वेद्या, अनुभूतित्वात् यत्परमार्थतो वेद्यं तन्नानुभूतिः । यथा घटइत्युक्ते व्यतिरेकदृष्टान्तस्ताव्याव्यावृत्तोहि स्यात् । नहि घट परमार्थतो वेद्यं वेद्यत्वेऽननुभूति वप्रसङ्गमनाहत्य ब्रह्मणो वेद्यत्वाङ्गीकारेऽपि ब्रह्मणश्शास्त्रविषयत्वमुक्तम् । प्रत्यक्षस्य सन्मात्रग्राहित्वमभ्युपगच्छतस्तवमते शास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात् अप्राप्तेहि शास्त्रमर्थवत् ॥

नद्वितीय । दृश्यत्वादिना लिङ्गेन भेदमिथ्या वमभिमन्यमानस्य तव शास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात् । तत्तद्वर्गिप्राहकप्रत्यक्षादिप्रमाणविरुद्धस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य यूपदित्यैक्यस्येव शास्त्रेण प्रतिपादनायोगात् शास्त्रस्य निर्विषयं व स्यात् अप्राप्तेहि

## गूढार्थसंग्रह

निखिलजगदेककारणमिति । अत्र वेदान्तसारे उक्तरीत्या कारणत्वस्यानुमानतास्तिद्धिर्न सम्भवतीत्यपि विवक्षितम् । अयमर्थः, त्रय्यन्तसारामृते उपपादित । जगदेककारणमित्यत्र निमित्तोपादानकारणत्वयोरभिप्रेतत्वेनोपादानोपादेयभावेन परस्परमतमहावाक्यानामुपपत्तिस्तु चिता । निरस्तनिखिलइत्यादिकं ब्रह्मशब्दार्थनिर्दोषत्वगुणभूयिष्ठवाक्यानि निरवग्रहमहं ववो घनाय । कारणत्वौपाधिकत्वेनोभयात्ति । अनवधिकातिशयानन्दम् इत्यत्र 'आनन्दादयेव खल्विमानि' इत्यादि 'यतो वा' इत्यादिवाक्यार्थनिर्णायकवाक्यमभिप्रेतं योक्तम् । अत्र 'तत्तु समन्वयात्' इति सूत्रार्थं सिद्धयतीति पूर्वमुपपादितम् ॥

## श्रुतप्रकाशिका

शास्त्रमर्थवत् साधकस्यैव बाधकस्याप्यगोचरं च ह्यप्राप्तं वम् ज्वालाभेदानुमानवैषम्यं च त्रिविधं प्रागेव प्रपञ्चितम् । प्रमाणान्तरविरोधश्च ता पर्यालिङ्गमिति तद्विरुद्धस्यै तात्पर्यासंभवश्च प्रागेवोक्तः । अतो भेदमिथ्या वस्य विषयवमयुक्तम् ॥

तृतीयश्च कस्योऽनुपपन्नं ब्रह्मणोऽपि वेद्यवप्रसङ्गात् । नहि घटपटयोरेकत्वमुच्यते शास्त्रेण अपितु जीवब्रह्मणोरेकत्वं तदानीं ब्रह्मशब्देन ब्रह्मण्यनवबोधिते कथं तस्य जीवस्यैक्यं वक्तुं शक्यते ? नहि जीव एक इत्युक्ते जीवब्रह्मणोरेक्यं सिद्ध्यति । घट एक इत्युक्ते घटपटैक्यवत् यद्येक्योपदशवाक्येषु 'अयमात्माब्रह्म' इत्यादिषु ब्रह्मणश्शब्दबोधश्च सोढव्यं तर्हि प्राधान्येन ब्रह्मण एव शास्त्रप्रतिपाद्यं च किमिति नाभ्युपगम्यते 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यारभ्य 'सद्विष्णो परमम्' इत्यादिश्रुत्यस्वारस्यमेव तदनभ्युपगमपत्तम् । किंच उपदिश्यमानमैक्यं किं स्वरूपानतिरिक्तं उतातिरिक्तम् ? अनतिरिक्तं च स्वरूपवेद्यं वपक्ष एव स्यात् । तथाचोपदशवैयर्थ्यादिदोषप्रसङ्गः । स्वरूपमात्रस्य प्रतिपन्नत्वात्, अतिरिक्तं च तर्हि परमार्थभूतं उतापरमार्थभूतम् । प्रथमे निर्विशेषवमङ्गः । द्वितीयं ज्वालैक्यदेहा मैक्यापारम्भार्थं ज्वालाभेददेहा मभेदपारमार्थ्यवजीवब्रह्मभेदपारमार्थ्यं स्यात् ॥

किंच जीवब्रह्मणोरेक्यं नाम किमन्तःकरणस्य सविदश्चैक्यं, उत सविदवाच्छिन्ना तः करणस्य सविदश्च, उता तत्करणवाच्छिन्नसविदः कवलसविदश्च, न प्रथमं जडाजड्यारैक्यानुपपत्तेः । नापि द्वितीयतृतीयौ, विशिष्टैक्यस्योपगम्यमानविशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा, तदन्तर्भूतस्यान्तःकरणस्यापि सविदैक्यप्रसङ्गात् । तयोश्च अजडत्वजडत्वाभ्यां सत्यं वानृतं वाभ्यांचैक्यमयुक्तमि युक्तम् । अन्तःकरणोपलक्षितशक्त्यैक्यं विषयइति चेत् तदुपलक्षितशक्तेः कैनेक्यमुपदिश्यते । किंस्वामनैव उत शक्त्यन्तरेण ? न प्रथमं, उपदेशवैयर्थ्यात् । नहि कस्यचिद्वस्तुन स्वस्मादभिन्नं वमुपदष्टव्यं स्वस्माद्वेदप्रसङ्गामात्रात् शक्त्यन्तरेण चेत् किं परमार्थतोऽभिन्नेन उताभिन्नेन ? न प्रथमं, अनभ्युपगमादनुपपन्नत्वाच्च । अभिन्नेन चेत् भेदप्रतीतिरस्ति वा न वा ? न चैक्योपदशवैयर्थ्यम् । अस्ति च वेदमिथ्यावापदशएवैक्योपदशस्यात् भेदमिथ्या वस्यानुमानसिद्धत्वाभिमानात् शास्त्रस्य निर्विषयं च स्यात् ॥

भेदपारमार्थ्ये ह्यस्य वानुपपत्तिरित्यादितर्कानुगृहीतं शास्त्रं भेदमिथ्या व प्रमाणमिति न शास्त्रस्य निर्विषयं वमिति चेत् न धर्मभेद्विषया न स्यादिति तर्कानुगृहीतं 'नहिंस्यात्' इति शास्त्रेण वैधर्म्यालम्भस्याधर्मप्रतिपादनानुपपत्तिवच्छास्त्रविद्वद्भेदस्य शास्त्रेण मिथ्यावप्रतिपादनानुपपत्तेः, सर्वा धर्मभेदभिन्नानां सयोगेच्छा दीनामिव शक्तीनामाप परस्परभेदस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात्तद्विरुद्धवादयोग्यस्य शक्तिभेदमिथ्या वस्य शास्त्रेण प्रतिपादानुपपत्तश्च । 'नाहं खल्वयमेव सप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमास्मि' इति 'यदा सुप्तं स्वप्नं न कञ्चन पश्यति' 'प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः । देवा इन्द्रियाणि लोका आलोकनानि सविदः' एवमादिशास्त्रसिद्धं प्रत्यक्षादिसिद्धं च कालतो विषयत आश्रयतश्च शक्तीनां परस्परभेदः ॥

अन्तःकरणवृत्तिभेदविषया सा श्रुतिरिति चेन्न स्वाप्नश्रुतेर्बुद्धिगात्रवसति सविदैक्यं सविदैक्यसति शक्तिभेदश्रुतेर्बुद्धिगात्रवमित्यन्यो याश्रयणप्रसङ्गात् शत्रुशयावच्छिन्नतया प्रतीयमानस्य ज्ञानस्या तत्करणक्रिया व त्रितयोत्तीर्णज्ञानस्य शशविषाणायमानं वाच्यं तद्वेदमिथ्यावप्रतिपादनं शशविषाणभेदमिथ्या वप्रतिपादनतुल्यमिति न शास्त्रस्य सविषयवसिद्धिः सप्रतिपन्नज्ञानानामेव मिथो भेदस्य मिथ्या व शास्त्रविरोधात् प्रत्यक्षविरोधाच्च । पश्वालम्भनाधर्मं ववत् यूपादित्यैक्यवच्च न शास्त्रं प्रतिपादयितुं शक्नोति । अतः शास्त्रस्य विषयाभावादनारम्भणीयं नम् । तथा प्रयोजनं च न घट्यत, तथाह—प्रयोजनं द्विविधं शास्त्रस्य उपायभूतमवा तरप्रयोजनं तत्साध्य परमप्रयोजनं च । तत्र बन्धनिवर्तकशक्त्यासिद्धिरवान्तर मोक्षस्तु



### श्रुतप्रकाशिका

परमं प्रयोजनम् । तत्रेदानीमुपजायमानं वाक्यजन्यज्ञानमनिवर्तकमित्यविगीत वासिष्ठपराशरकृष्णद्वैपायनादीनामनुपन्न ज्ञानमन्येषामुपस्थितइत्यत्यन्तासम्भावितम् । तेषामुपपन्नचेद्रेदप्रतिभासां नस्यात् निवर्तिष्यत इति चेत् ततएव तदभि ज्ञानामन्येषामपि निवर्तिष्यत इति न शास्त्रभारम्भणीय स्यात् । प्रपञ्चस्य सत्यत्वादेव ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावादनिवर्तकज्ञान नावांतरफलमिति न तदर्थं शास्त्रभारम्भणीयम् । परमप्रयोजनं च सिद्धयति ज्ञातृज्ञेयभेदस्य सत्यस्य निवृत्तेरसम्भावितत्वात् ।

किंच शास्त्रश्रवणाधिकारो ज्ञप्तिमात्रस्य वा शत्रुर्वा । न प्रथमः ज्ञप्तिमात्रस्य श्रोतृत्वायोगात् । न द्वितीयः शत्रुस्त्व नाशस्यापुरुषार्थत्वेन श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । यस्य भग्निसुख दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थः सत्त्वहमर्थः अह निर्दुःखः सुखीस्यामिति हि प्रतीतिः । तस्य पुरुषार्थवतो नाशः कथं पुरुषार्थः पुरुषार्थांतर वा कथमर्थयितुस्तस्यार्मावे पुरुषार्थो भवेत् ।

अथोच्येत—भवपक्षे बद्धस्य वा मुक्तस्य वा शास्त्राधिकारः । प्रथमे स्वनाशस्यापुरुषार्थत्वादप्रवृत्तिः उपाधिवि- शिष्टस्य बद्धस्य तद्रूपनाशो हि स्वनाशः । द्वितीये तु मुक्तस्य शास्त्रानपेक्षत्वादनधिकारः औपाधिकाकारविनाशो नापुरु- षार्थः दुःखविनिर्मुक्तस्वाभाविकरूपावस्थानादिति चेत् । तर्हि शत्रुत्वस्यौपाधिकत्वात्तन्निवृत्तौ स्वरूप तिष्ठतीति नापुरुषार्थ इति । संविदि वास्तवज्ञातृत्वानभ्युपगमात् तदारोपेत्वन्यत्र तत्सिद्धेरवश्यम्भावात्, अन्यस्य च शत्रुर्ज्ञप्तिधर्मत्वाभावात् । यदि ज्ञप्तिः स्वरूप ज्ञाता तद्धर्मः तदानीमपि प्रतिबन्दी स्यात् । अह सुखी दुःखीति सुखदुःखवदहं जानामीति ज्ञानस्याह- मर्थधर्मतया प्रतीतेरहमर्थस्य धर्मितया प्रतीतिश्चाविगीतत्वात्, सुखदुःखनिवृत्त्योराश्रयस्य तस्य नाशोऽपुरुषार्थ एव । धर्मिणि नष्टे कस्य दुःखनिवृत्तिः पुमर्थस्यात् । अचेतनप्रकृतिवद्भावमौपाधिकदुःखावहमिति मलिनोऽहमिति प्रत्ययवतः पुरु- षस्य मालिन्यनिवृत्तिवत्तन्निवृत्तिर्नापुमर्थः, अत्यन्ताभिमतस्य धर्मिस्वरूपस्य स्थितत्वादनित्यव्यवधानिवृत्तेरिष्टत्वाच्च ॥

ननु लौकिकप्रतीत्या निरूपकप्रतीत्या वाऽहमर्थस्य स्वरूपत्व ! प्रथमे स्थूलोऽहं कुशोऽहमिति लोकदृष्ट्या प्रतिपन्न- त्वात् स्थूलत्वादिविशिष्टदेहनिवृत्तिरप्यपुमर्थस्यात् । द्वितीये स्थौल्यादेवदध्यस्तोऽहमर्थो ज्ञाताऽपि न स्वरूपमिति न तन्नाशोऽपुरुषार्थः, नैवम् । ममहस्तो मम पादइति लोकदृष्ट्याऽप्यहमर्थस्य देहव्यतिरेकप्रतीतिः अहमर्थस्यैवात्मत्वे श्रुति- स्मृतिसूत्राणां प्रागेव दर्शिततया निरूपकप्रतीतावप्यहमर्थस्यैव स्वरूपताप्रतीतिश्चाहमर्थनिवृत्तेर्देहनिवृत्तितुल्यत्वाभावेनापुरु- षार्थत्वस्य दुर्निवारत्वात् अतो विषयप्रयोजनाभावाच्छास्त्रस्यानारम्भणीयत्वं मूढावादिना पक्षे स्थितम् ॥

पश्चाद्भाविनो नित्यानित्यविवेकादेः पूर्ववृत्तत्वायोगादयशब्दार्थः परोक्षोऽनुपपन्न इति पूर्वमेवोक्तम् । शास्त्रान्तर- जन्यस्य नित्यानित्यविवेकस्य वेदान्तविरुद्धत्वात्तद्वेव मोक्षोपायोपदेशेन निराकाशत्वाच्च ब्रह्मविचारहेतुत्वाभावाच्चित्यानित्य- विषयापातप्रतीतिस्तु उभयभागसाधारणत्वादेकान्ततो ब्रह्मविचारहेतुत्वाभावात् इतिहासपुराणयोस्सशयविपर्ययप्रस्ततया तज्- न्यानित्यानित्यादिप्रतीतिस्त्रिवर्गजिहासाजनकत्वाभावेन ब्रह्मविचारप्रति हेतुत्वाभावाच्चातदशब्दार्थोऽनुपपन्नः । यन्नित्यं तदु- पादेयं यदनित्यं तद्वैयमिति विवेको नित्यानित्यविवेकइत्युपेक्षणमप्युक्तम् । वेदान्तेषु नित्यपुरुषार्थत्वप्रतिपादनावगमात् दारभ्यः तदारम्भात्तेषु नित्यपुरुषार्थप्रतिपादनावगम इत्यन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्, शास्त्रान्तरेष्वपि नित्यपुरुषार्थसम्भावनया ब्रह्मविचारप्रत्येकान्ततो हेतुत्वाभावात् शास्त्रान्तरेषु तदभावस्य वेदान्तेषु तद्भावाविश्वस्य च तर्कपादाधीनत्वेन पूर्ववद- न्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । वेदान्ततदितरशास्त्रेषु नित्यपुरुषार्थसद्भावावधारणार्थवचनादवगम्य वे ब्रह्मोपासनस्यापि गुरुवच- नादवगम्यत्वेन शारीरकमीमांसनैरपेक्षेण तदनारम्भणीयत्वप्रसङ्गाच्च ॥

## श्रुतप्रकाशिका

जीवब्रह्मणोरैक्यस्य शास्त्रविषयत्वाङ्गीकारे ब्रह्मजिज्ञासापदं च न सङ्गच्छते । ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वाद्वा शब्दादवगम्यते । न जीवब्रह्मणोरैक्यस्य यथा धर्मजिज्ञासापदं धर्ममात्रस्य जिज्ञास्यता वाक्ति नतु धर्माधर्मयोरैक्यस्य जिज्ञास्यत्वम् । तद्वदेवाहि ब्रह्मजिज्ञासापदम् । निर्विशेषस्य वस्तुनो लक्षणोक्तिश्च न घटते विशेषणतया लक्षणत्वे सविशेषत्वप्रसङ्गात् उपलक्षणतया लक्षणत्वे पूर्वप्रतिपन्नाकारातिरिक्तस्योपलक्षणशाय्यस्य आकारान्तरस्याभावेनोपलक्षणवैयर्थ्यात् । तदभ्युपगमे सविशेषत्वप्रसङ्गाच्च, स्वरूपमेवोपलक्षणशाय्यमिति चेत् तत्स्वरूपं प्राक्प्रतिपन्नम् नवा प्रतिपन्नचेदुपलक्षणवैयर्थ्यम् अप्रतिपन्नत्वे स्वप्रकाशता नस्यात् उपलक्षयितुमशक्यता च । केदारत्वाकारेणानुगतस्य देवदत्तसम्पन्निधतया सारसेन शाय्यत्वं ह्युपलक्ष्यत्वम् । प्रागनवगता प्रपञ्चव्यावृत्तिरूपलक्ष्याकार इति चेत् प्रपञ्चव्यावृत्तेः स्वरूपातिरिक्तत्वे सविशेषत्वप्रसङ्गात् । अनतिरिक्तत्वे तत्स्वरूपं प्रागेव मातमिभ्युपलक्षणवैयर्थ्यम् ॥

किंच कथं कारणत्वे लक्षणे सति प्रपञ्चव्यावृत्तिः कारणत्वनाम कार्यजगदध्यासाऽधिष्ठनत्वम् । अतोऽध्यस्तादनृतात् प्रपञ्चादधिष्ठानस्य ब्रह्मणस्तत्तया व्यावृत्तिरिति चेत् न घटादधिष्ठानस्य मृदइव ब्रह्मणोऽप्यनृतत्वेन व्यावृत्तिप्रसङ्गात् घटादिकारणस्यापि मृदादेः कारणान्तरेऽध्यस्तत्वादसत्यत्वं कालत्रयवर्तिकृत्तकार्याधिष्ठानस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राध्यस्तत्वाभावात्तासत्यत्वमिति चेत् । न 'इदमप्रआसीत्' इतीदंशब्दवाच्यं कार्यमात्रप्रत्यधिष्ठानत्वश्रवणेन ब्रह्मणोऽपि कारणाभ्याप्यस्तत्वाविरोधात् बीजाङ्कुरन्यायेन प्रवाहानादित्वोपपत्तेश्च कृत्तकार्यकारणस्य ब्रह्मणः कारणान्तरप्रतिषेधेनाकार्यत्वात्सत्यत्वमिति प्रपञ्चव्यावृत्तिरिति चेत् तर्ह्यकार्यत्वमात्रेण जगद्व्यावृत्तिसिद्धेः कारणत्वोक्तिवैयर्थ्यादकार्यत्वश्रुतिरेव लक्षणवाक्येनोदाहर्तव्या स्यात् नतु 'यतो या इमानि' इत्यादिश्रुतिः । अकार्यत्वश्रुतिरेव विवाक्षितेति चेत् तर्हि 'सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः' इत्यकार्यत्वश्रुतेः करणाधिपाधिपशब्दवाच्येश्वरविषयत्वाल्लक्ष्यवस्तुनो निर्विशेषत्व न सिध्येत् ॥

किंच जगत्कारणस्वरूपलक्षणविशेषो लक्ष्यस्य निर्विशेषत्वविरोधी सार्वज्ञ्यादिगुणाक्षेपकत्वात्तस्य आक्षिप्तमपि सार्वज्ञ्यादिकं वस्तुमात्रोपलक्षणमिति चेत् ; न सार्वज्ञ्येन वस्तुन्युपलक्षिते सति सर्वशक्तित्वाद्युपलक्षणान्तरवैयर्थ्यात् । नहि शास्त्रे चन्द्र उपलक्षिते प्रासादाग्रेण प्रयोजनम् । सार्वज्ञ्येन निर्विशेषवस्तुपलक्षणं व्याहतं च स्वेन सविशेषस्याश्रयस्य निर्विशेषत्वशापनायोगात् सर्वशक्तित्वादिविशेषान्तरराहित्यशापनासामर्थ्याच्च, अतो लक्षणसूत्रं निर्विशेषत्वविरोधम् ॥

तृतीय सूत्रमपि न घटते निर्विशेषवस्तुनि तात्पर्यविषये सति कारणत्वाक्षिप्तसार्वज्ञ्यादिसमर्थनं कोपयुज्यते । प्रसङ्गादपि न तत्समर्थनं न्याय्यं निर्विशेषत्वविरोधात् । किंच ऋग्वेदादिशास्त्रं स्वविषयादधिकविषयज्ञानवदुपादानकं वाक्यत्वादित्यनुमानमप्यसङ्गतम् । तथाहि—किमधिकविषयज्ञानवदुपादानकत्वं साध्यम् उत तद्वस्तुत्वम् उत तदुच्चारितत्वम् । प्रथमे दृष्टान्तस्साध्यविकलः आकाशगुणस्य शब्दस्य कालिदासाद्युपादानत्वाभावात् । नद्वितीयः वेदस्य पौरुषेयत्वप्रसङ्गात् । न तृतीयः अनैकान्तिकत्वात् । नहि वैदिकमन्यद्वा वाक्यमुच्चारयता वालादीनां तद्विषयादधिकविषयज्ञानमस्ति । शास्त्रप्रमाणकत्वं सूत्रार्थ इति च व्याख्याब्रह्मणोऽनुभाव्यत्वमनभ्युपगच्छता न घटते ॥

चतुर्थे च सूत्रे ब्रह्मणः प्राधान्येन शास्त्रयोनिःसूत्रनिर्दिष्टत्वाभावात्तच्छब्दस्य ब्रह्मपरत्वं न स्वारसिकम् । वेदान्तवाक्यानां भ्रमनिवर्तकवाक्यार्थज्ञानजनकतया प्रयोजनपर्यवसायित्वं वाक्यार्थज्ञानमात्रेण बन्धनिवृत्तेः शास्त्रप्रत्यक्षविरोधविषयत्वादनुपपन्नम् । तदन्यथासिद्धप्रतिविधानं च पूर्वमेव कृतम् । किंच कस्य भ्रमनिवृत्तिः किञ्चेत् उत चेतनस्य न तावच्छतेः तस्या अचेतनत्वेन भ्रमाश्रयत्वाभावात् । चेतनोहि भ्रान्त्याश्रयः । जडत्वं भ्रमानाश्रयत्वे प्रयोजकमिति चेत्—

## गूढार्थसंग्रहः

एतेन परसम्मतसूत्रचतुष्टयार्थः श्रुतिसूत्राननुगुण इति सूचितम् । परैः 'अथातो ब्रह्माजिज्ञासा' इति प्रथमसूत्रे जीवब्रह्माभेदो न सम्भवति । कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना अनुभवसिद्धजीवस्य अहमर्थस्य ब्रह्माभेदासम्भवात् इति शङ्का कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरध्यास एव 'स्थूलोऽहम्' इत्यादिवत् कर्तृत्वभोक्तृत्वादेराध्यासिकत्वे शुद्धचित्ति 'अन्तःकरणतादात्म्याध्यासस्य प्राथमिकस्य सिद्धौ जीवाचिनः ब्रह्माभेदसम्भवत्येवेति 'अहंब्रह्मास्मि' इत्युपसंहार एव तात्पर्यमिति सिद्धान्तः । अथशब्दः ब्रह्माविचारे पुष्कलकारणानन्तर्यपर इति साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरमित्यथशब्दार्थः । अतश्शब्दस्य साधनसम्पत्तेरेवेत्यर्थः साधनचतुष्टयस्य हेतुत्वम्याथशब्देन लभेऽपि 'अक्षय्यहम्' इत्यादिना नित्यानित्यविवेको न सम्भवतीति शङ्कानिरासकत्वेन 'यत्कृतक तदनित्य' मिति व्यासयुगपोद्बलित 'तद्यथेह' इत्यादिश्रुतिसिद्धनित्यानित्यवस्तुविवेकादिसम्भवप्रदर्शनेन साधनसम्पत्तेः हेतुत्वद्वितीकरणार्थः, अतश्शब्द इति पञ्चपादिकाविवरणप्रक्रिया न्यायपरिच्छामणानुश्रिता । भ्रामत्यातु—अत्रच ब्रह्मपदेन तत्प्रमाण वेद उपस्थापितः सच योग्यत्वात् 'तद्यथेह कर्मचित्' इत्यादिः । अत इति सर्वनाम्ना परामृश्य हेतुपञ्चम्या निर्दिश्यते । तेनायमर्थः, अतः स्वर्गादीना क्षयिष्णुत्वप्रतिपादकात् ब्रह्मज्ञानस्य च परमपुरुषार्थताप्रतिपादका दागमात् यथोक्तसाधनसप्तत् ततश्च जिज्ञासेति सिद्धमिति ॥

अत्र कूटस्थभिन्नमनित्यमिति न सिद्धयतीति प्रागुक्तम् । तत्र यत्कृतक तदनित्यमिति व्यासयुगपोद्बलितश्रुत्या एतदर्थसिद्धिः कथम् ? अविद्यानिवृत्तेः चरमवृत्तिरूपतायाः तस्या एव मोक्षरूपतायाश्च ब्रह्मासिद्धिवार्तिकयोः मण्डनसुरेश्वराभ्यां प्रतिपादनेन मुक्तेरनित्यत्वस्यैवैतत्पक्षे प्रसङ्गिकाहि सा व्याप्तिरिति कथं परपक्षं साधयति ? 'तद्यथेह' इत्यादिश्रुतिः दहर विद्यान्तर्गता सा उपासनफलस्य गतिसाध्यस्यानित्यत्वं न प्रतिपादयितुमलम् । उपक्रमे 'ब्रह्माविदामोतिपरम्' इत्यत्रोक्तब्रह्मप्राप्तिः 'सोऽश्रुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपाश्चिता' इति मन्त्रवर्णे विशदीकृता । 'अस्माहोकात्मेत्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्ग्य इमान्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन् एतत्सामगायन्नास्ते' इत्युपसहारे प्रकटीकृता इति 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' इति सूत्रे व्यासो निर्धारयति । नाहं स्थूल इति बाधकविरहेण कर्तृत्वभोक्तृत्वादेराध्यासिकत्वोक्तिर्न घटते । विष्णुपुराणे जडभरतोपाख्याने 'नाहमीवा' इत्युपक्रम्य 'आत्मन्येष नदोपाय शब्दोऽहमिति योद्विज' इत्यादिना अहमित्यस्याध्यासिकत्वं निरस्तमिति अहमर्थस्यानाध्यासिकत्वे जीवब्रह्माभेदोऽपि न घटते । यदापुनः प्रयोगसामर्थ्यमनपेक्ष्य शब्दादवयवसामर्थ्यादेवार्थोऽनुगम्यते, तदा प्रमाणान्तरोपपदप्रकरणानां सङ्कोचहेतूनामभावात् यथासामर्थ्यं मुख्यएवार्थं प्रतिपत्तव्य इति भावः इति 'अहंब्रह्मैव' इति विशेषे उपसंहार इति च (पं.पा.वि.) उक्तेः अनुसारेण ब्रह्मपदस्य प्रकरणोपपदसङ्कोचादिराहित्येन निर्विशेषपरत्व (न्या.र.) यदुक्तं तदपि न घटते । 'अभयवै ब्रह्म' इति (वृ.श.) माण्योक्तनिरवग्रहमहत्त्वस्य ब्रह्मशब्दार्थस्य (पं.पा.) विवरणे दोषशून्यत्वगुणभूयिष्ठत्वाभ्यामुपपादनकरणेन ब्रह्मशब्दार्थासङ्कोचनिर्दोषवर्गुणभूयिष्ठत्वाङ्गीकार एव घटते नान्यथेति अकामेनाप्यङ्गीकर्तव्यम् । 'एवमसौ बृहहत्यर्थान्वयात् ब्रह्मशब्दाभिधानीयतो लभते । इतरथा तद्रूपविकल्पस्य न निरङ्कुश प्रसूचम् इति न ब्रह्मशब्दाभिधेय' इति पञ्चपादिका । 'ननु जीवेभ्यो भेदेऽपि बृहत्त्यर्थलामः देशकालव्यापित्वादिति—तदाह—तद्रूपविकल्पस्येति' इति विवरणम् । अत्र जीवब्रह्मभेदे देशकालपरिच्छेदशून्यत्वसम्भवेऽपि वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वं न सम्भवति अतोऽहंब्रह्मास्मीति विशेषोपसंहार एव वाच्य इति भावः प्रतीयते । अयमर्थः कथं घटते—यथा देशकालपरिच्छेदशून्यत्वं देशकालाभावः न साधयति तथा वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमपि न आत्मभिन्नवत्त्वभावः साधयितुमलम् । देशकालपरिच्छेदशून्यत्वं सर्वदेशसर्वकालसम्बन्धित्वं देशकालव्यापिवरूपममुपगच्छद्भिः वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वं सर्ववस्तुव्यापकरूपमेवाङ्गीक्रियत इति अवश्यमेवोक्तव्यम् । एवमङ्गीकार एव अविज्जीववस्तुद्वयपरिच्छेदशून्यत्वमेकरूप

### गूढार्थसङ्ग्रहः

संभवति । परमते अचितो मिथ्यात्वं जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वमिति वैलक्षण्येन नैकरूपमित्यस्वारस्यम् । 'तन्वौपनिषदंपुरुषम्' इति श्रुतिरिरोपश्च । अतः गुणानन्त्यनस्तुपरिच्छेदशून्यत्वयोः पृथक्त्वपक्षेऽपि न परसंप्रतनिर्दिशेयसिद्धिः । एतेऽर्थाः शत्रैव प्राक् (जिज्ञासाधिकरणे) भावप्रकाशे त्रय्यन्तसारामृते च सम्यङ्निरूपिताः । एवं 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यनयोः न परसंमताल्लण्डार्थबोधकत्वमित्यापि ॥ एतेन 'जन्माद्यस्य यत्' इत्यत्र न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किंतु श्रुत्यादयः अनुभववादयश्च यथा संभवमिह प्रमाणं अनुभववासान्त्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य' इति(शं)भाष्योक्तिः निरवकाशा । अनुभवस्य साक्षात्काररूपत्वेन विवरणमते श्रुतावेव विश्रान्त्या भाष्यती-  
मते शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वेनैतदर्थस्यास्मिन्नधिकरणेऽयोगाच्च । कारणत्वस्य परमते माध्यमिकमतवत् सावृत्तत्वस्य गौटपाद-  
कारिकायां स्पष्टतया श्रुतिसूत्रयोः परमतानुगुणत्वासम्भवात् ॥

किंपुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणैह लिख्यविधितम् । 'भृगुर्वै वारुणिः-तद्ब्रह्मेति' । तस्यच निर्णयवाक्यं 'आनन्दाद्वे-  
वेति' इति(शं)भाष्यम् । अत्र पञ्चगादिका- 'येषां वेदान्तवाक्यानां येन सन्निवेशक्रमेण ब्रह्मप्रतिपादने समन्वयः स्वाध्यायपाठे  
स्थितः, तद्वर्त्तनार्थं सूत्रद्वयमिति । तथैवोदाहरणमाह- 'भृगुर्वै वारुणिः' इति । अथशब्दोपात्तन्यायेन प्रथमसूत्रस्योदाहरणम् ।  
(तद्विजिज्ञासस्व) 'यतोवा' इति जन्मादिसूत्रस्य । कथम् ? पूर्वोक्तन्यायेन पृथिव्यादीनां जन्मादिदर्शनात् तत्कारणैकत्वना-  
त्वान्यतरावगमे प्रमाणाभावात् बुद्धिमत्कारणपूर्वतामात्रे प्रतिपन्ने 'यतोवा इमानि' इति कारणस्यैकवचननिर्देशात् तदर्थ-  
मात्रस्यैव विधिसितत्वात् अर्थात्सर्वशं सर्वशक्तिजगत्कारणमिति कारणविशेषो वाक्यादवगम्यते । 'पुनस्तद्विजिज्ञासस्व'  
इत्यनूय 'तद्ब्रह्म' इति तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगात् बृहत्पर्यायत्वेन सर्वतोऽनवच्छिन्नस्वभाव जगत्कारण ब्रह्मपदार्थ इतिगम्यते  
इति । अत्र विवरणम्- 'येषां वेदान्तवाक्यानामित्यादेः परिहारस्यायमर्थः । सत्यज्ञानानन्दप्रत्यगा माद्वितीयब्रह्मपदार्थेऽप्र-  
सिद्धेऽपि बृहत्पर्यायस्य प्रसिद्धत्वात्तदनुवादेन सन्निहितपदार्थसंसर्गसामर्थ्यात् विशिष्ट प्रतिपत्तुंशक्यत इति ब्रह्मप्रतिपादन  
परं सत्यादिवाक्यम् अर्थात् तदेव लक्षणमिति न सत्यज्ञानानन्दब्रह्मस्वरूपलक्षणस्य सिद्धानुवादप्रसङ्ग इति । ननु स्वाध्या  
पाठक्रमेण नार्थप्रतिपत्तिः, किंतु वैपरीत्येन 'प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धम्' इति न्यायात् तथा च कारणस्य प्रसिद्धत्वात्  
'यस्मादाकाशस्तम्भूतः स आत्मा सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म' इति वाक्यप्रवृत्तिः । तथा 'यस्मादेतत् ब्रह्म नामरूपमन्न चजा-  
यते ससर्वज्ञस्तर्वविदिति । तथा यस्मात्प्राणादिजायते सदिव्योह्यमूर्तः पुरुष इत्यादि' तथा योभूतयोनिः 'तद्वद्ब्रह्ममग्राह्यम्'  
इत्यादि, यस्मात्तेजोब्रह्मानि जायन्ते तत्सद्वितीयमणिमा 'तत्त्वमसि' इत्यादिकारणमात्रानुवादेन ताद्विशेषःप्रतिपाद्यत इति  
सत्यम् । अधिकारिज्ञानकर्तव्यताब्रह्मात्मप्रतिपादनानां क्रममभिप्रेत्येदमुक्तम् तदाह-तथैवोदाहरणमिति इति । ननु एकत्वे  
ब्रह्मलक्षणे प्रतीयमाणे वाक्यभेदस्यात्, न एकत्वस्य ब्रह्मप्रतिपत्तिगुणभूततयैकवाक्यत्वात् । अथवा एकत्वमपि लक्ष्यान्त  
र्गतमेव भवति न लक्षणान्तर्गतम् । तथाहि जगत्कारणानुवादेन एकब्रह्म विधीयत इति । ततः किमायातमिति । तदाह-  
अर्थात्सर्वशमिति न संज्ञासंज्ञिसंघपर वाक्यम् किन्त्वर्थप्रतिपादनपरम् । आर्थिकस्तु संज्ञासंज्ञिसंघ इत्याह-पुनस्तद्वि-  
जिज्ञासस्वेत्यादि । एकं सर्वशं सर्वशक्ति सर्वतोऽनवच्छिन्नं च जगत्कारणं तच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयमित्यर्थः । इति च ॥

ननु 'निरुपाधिके'त्यादिविवरणग्रन्थः प्रागेव (१४.पु) उदाहृतः, पर्यालोचितश्च । अत्र सूत्रद्वयतात्पर्यं 'तद्विजि  
ज्ञासस्वे'त्यत्र विचारणविधिरिति विवरणोक्तया प्रथमसूत्रं तद्विषयक द्वितीयसूत्रं 'यतोवे'ति वाक्यविषयकमिति विभागः  
परेषां विवक्षितमिति प्रतीयते । अत्र ब्रह्मलक्षणत्वविभागे विचारविधेष्वाङ्गीकारे वाक्यभेदः न परिहर्तुं शक्यत इति जगत्का  
रणमनूय ब्रह्मत्वविधिरिति सिद्धान्त एव युक्तः । एकत्वंतु कारणगत एकस्यैव निमित्तत्वोपादानवाभ्यां सिद्धान्तेऽप्युप-



### गूढार्थसंग्रहः

पद्यते । निमित्तत्वोपादनत्रयोरुभयोः श्रुतिमन्तरा कथं ब्रह्मणि प्रतिपत्तिर्भवः 'तत्त्वोपनिषद् पुरुषम्' इत्यत्रत्यपुरुषशब्दस्य 'सयःपूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्' इति बृहदारण्यकएव निर्वचनेन तस्योपनिषत्तात्पर्यविषयत्वस्य स्फुटत्वात् । 'यस्मादाकाशश्चभूतः स आ मा' इति वाक्यप्रवृत्त्यङ्गीकारमात्रेण परममताद्वितीयब्रह्मणः कथं सिद्धिः । सत्यादिवाक्यघटकपदप्रवृत्तिनिमित्तधर्माणां निर्विशेषेऽनङ्गीकारात् उपलक्षणपरव्यनियामकाभावात् सर्वेषां पदानामभावप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमङ्गीकृत्य अभावस्याधिकरणरूपत्वेन धर्मभिन्नत्वाङ्गीकारेऽपि अभावत्वप्रकारकबोधानङ्गीकारे तद्वाक्यस्य भ्रमसंशयनिवर्तकत्वेन तत्प्रकारकबोधएवाङ्गीकार्य इति आद्वितीयब्रह्मणः नैव सिद्धिः ॥

किंच 'ब्रह्मविदामेति' इत्युपक्रमे प्राप्यत्वेनोक्तब्रह्मणः उत्तरत्र निरूपणमिति सर्वैरप्यङ्गीकार्यतया तस्य परमतेऽयौ गइत्यादिक जन्माद्यऽधिकरण एव निरूपितम् । एतेन मुण्डकश्रुत्यर्थोऽपि विवरणोक्तः न घटते । 'अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते' 'परात्पर पुरुषमुपैति' इत्युपक्रमोपसहारयोः प्राप्यब्रह्मण एव तत्र विवक्षितत्वेन 'अद्वैतम्' इत्यादेर्निर्विशेषासाधकत्वस्य त्रय्यन्तसारामृतत्वोपपादनेन तत्र परमतविमर्शस्या असम्भवात् । 'ऐतदात्म्यमिदमसर्वम्' इति पूर्ववाक्यसहभावेन 'तत्त्वमसि' इति नवकृत्वः अभ्यस्तम् । तस्य च विशेषोपसहाररूपता त्रय्यन्तसारामृतत्वोक्ता । महावाक्यानां न प्राधान्यमिति च तत्रैवोक्तम् । 'सम आत्मेति विद्यात्' (कौ) 'एषम आत्माऽन्तर्हृदये (छा. ३) सत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (२४) एषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (२२) (बृ) इत्यादीनामेकार्थकत्वं श्रुतिसूत्रतात्पर्यानुसारेण जिज्ञासाधिकरणत्वोपपादितम् । शङ्कराचार्या अपि 'उभयव्यपदेशात्त्वाहि कुण्डलवत्' 'आत्मेतितृपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इति सूत्रयोः उपदेशसाहस्रया च 'सत आत्माऽन्तर्यामृतः' 'एषत अन्तर्याम्यमृतः' 'अन्तःप्रविष्टश्चास्ता जनानाम्' इत्यादिवाक्यानां तत्त्वमस्यादिवाक्यसमानार्थकत्वं व्यक्तं प्रदर्शयन्ति । एव च 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्' इत्यत्र आत्मत्वग्राहकमेव शास्त्रं विवक्षितम् । आत्मत्व च न स्वरूपेण किंतु शरीरात्मभावेनैव युदाहृतश्रुतिसूत्रानुसारेण भगवता वेदार्थसंग्रहे सम्यङ्निरूपितम् । एव च 'तत्त्वमसि' इत्यादौ पारतन्त्र्यप्रतिपत्तिः सिद्धयति । तेन प्राप्य ब्रह्मणः जगत्कारणत्वलक्षणकथनेन राजकुमारनयसिद्धेः कुमारस्य राजप्राप्तिः पारतन्त्र्येण यथा तथा ब्रह्मप्राप्तिरपि पारतन्त्र्येणेत्यर्थः श्रुतिसूत्रतात्पर्यविषयः सिद्धयति इति सूत्रद्वयतात्पर्यं निर्मत्सरणा स्फुटं भवति । 'तत्त्वोपनिषद् पुरुषम्' इति श्रुतौ 'सवा अय सर्वास्तु पूर्णपुरिः' इति (बृ) तत्रैव निर्वचनानुसारेण सर्वान्तर्यामित्वरूप सर्वशरीरित्वस्योपनिषत्तात्पर्यविषयत्व सिद्धम् ॥

एतेन (प.पा) विवरणे ब्रह्मणः परिणामिकारणत्वदूषणावसरे 'श्रुतिश्च 'निष्कल निष्क्रिय शान्तम्' इति क्रियाऽवयवशून्यत्वमाह । नियन्तृत्वादिक्रियाऽपि श्रूयतइति चेत्—तर्हि परस्परविरोधे सति मायया तत्त्वातत्त्वव्यवस्था कल्पनीया । 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति प्रवृत्तेः मायानिबन्धनत्वश्रवणात् । चेतनस्य सुषुप्तेः पुरुषार्थत्वावगमात् । ब्रह्मणः स्वतः प्रवृत्तिप्रयोजनाभावाच्च । विपरीतस्वरूपापरित्यागेन विपरीतकार्यापत्तेश्च विवर्तएवेति सिद्धम्' इत्युक्तिर्निर्वकाशा । जन्माद्यधिकरण एव 'मायेति ब्रह्माऽभिधीयत' इति विवरणत्वोक्तेः । मायाशब्दस्य यथा न मिथ्यार्थकत्वं तथा प्रागेव (जि. ६९८. पु) निरूपितम् । सुषुप्ते 'सति सपद्य न विदुः' इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मज्ञानाभावेन पुरुषार्थविरहः स्फुटः । ब्रह्मणः प्रवृत्तिप्रयोजनद्वयादिक 'औपनिषद्परमपुरुष' इत्यादिभाष्यविवरणे स्फुटमुपपादितम् । अतः नियन्तृतया परिणामस्य श्रुतितात्पर्यविषयत्व एव 'तत्त्वोपनिषद् पुरुषम्' इति श्रुतिस्सङ्गच्छते ; न तु एक य तत्त्वादप्रच्युतस्य पूर्वविपरीतासत्यानेकरूपावमासविवर्तानङ्गीकारे 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यनन्तर 'अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूः' इत्यत्र मायाशब्दस्य सत्यार्थकत्वाङ्गीकार एव सर्वानुभवोक्तिस्सङ्गच्छत इत्यपि पूर्वमेव (जि. २४०. पु) निरूपितम् । एव कुतः पुनस्तत्त्वमिध्यासा-

### गूढार्थसंग्रहः

धारण्यां सृष्टौ मिथ्यात्वे पक्षपातः । 'नासदासीत्' इत्यादिना विवरणे ध्रुव्यादिप्रमाणोपदर्शनमपि न घटत इति जिज्ञासा-  
ऽधिकरण एव निरूपितम् । अतः नियन्तृत्वरिणामेन परिणामिकारणत्वमेव सृष्टिसृष्टयोर्विवक्षितम् । 'परिणामात्' इति  
सूत्रे परिणामिकारणत्वस्यैव सूत्रकृता स्फुटं वक्ष्यमाणत्वात् । प्राप्यब्रह्मणः लक्षणकथनेन सृष्टिभ्रुतेः प्राप्तिरूपचरमफलपर्य-  
न्तताया अपि सूचनात् । 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्रारम्भणशब्देन परिणामिकारणत्वमेव सूचितम् । परमते  
आरम्भणशब्दप्रयोगः न घटत इति त्रय्यन्तसारामृतादौ सम्यग्दर्शितम् । अतः नियन्तृतया परिणाम्युपादानत्वं यदौ-  
पनिषदं तद्विशिष्टस्य निरवग्रहमहात्वरूपब्रह्मत्वं सूत्रद्वयेन निरूपितं भवतीत्येव युक्तम् ॥

अन्तर्यामिब्राह्मणे—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति परमात्मभिन्नजीवनिषेधपरम् इति परासिद्धान्तः । नियन्तुर्नियन्त्रान्तरं  
निषिध्यत इति वृत्तिकारसिद्धान्तः । अयमेव युक्त इति जिज्ञासाधिकरणे निरूपितम् । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यस्य  
नियन्तुर्नियन्त्रान्तरनिषेधपरत्वेन अन्तर्यामिब्राह्मणस्य जीवभिन्नपरमात्मपरत्वं वृत्तिकारणमतमिति सिद्धम् । एवं च सृष्टि-  
समकालिकनियन्तृत्वस्य अचिज्जीवयोरविशेषेण अन्तर्यामित्वप्रतिपादनपरान्तर्यामिब्राह्मणे विवक्षितत्वेन 'सत आत्माऽन्त-  
र्याम्यमृतः' 'एष आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यत्र आत्मत्वमन्तर्यामित्वेनैव विवक्षितमिति वृत्तिकारसिद्धान्ते निष्पन्ने—  
'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यत्राप्यन्तर्यामित्वेनैव सामानाधिकरण्यं विवक्षितमिति त्रय्यन्तसारामृतेऽप्युपपादितो-  
ऽयं सर्वोऽपि वृत्तिकारसम्मतो युक्त इति सिद्धम् । एतेन वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वं सर्ववस्तुव्यापकत्वं सर्वशरीरित्वरूपमेवेत्यपि  
वृत्तिकारसिद्धान्त इति निर्णायते ॥

विवरणे—'ननु मिथ्यासृष्टिविषयत्वे वाक्यस्याप्रामाण्यं स्यात् । नतत्, प्रमाणव्यपारानाभिज्ञो देवानां प्रियः प्रमाणहि  
प्रमेयामावं न सहते, नाप्रमेयामावम् । नच सृष्टिभ्रुतिः परमार्थसत्यतां प्रमिमीते । तदभिधानाभावात् नहि स्वप्रविषया  
सृष्टिभ्रुतिस्तत्सत्यता प्रतिपादयति इत्युपक्रम्य किन्तर्हि सृष्टिभ्रुतेः प्रयोजनम् ? प्रत्यक्षादिसिद्धप्रपञ्चस्य ब्रह्मण्येवोत्पत्तिवि-  
नाशवत्तया अन्यत्राभावमुपवर्ण्य तत्रापि प्रतिषिध्य मिथ्यात्वापादनेन प्रमाणान्तराविरुद्धतया अद्वितीब्रह्मस्वरूपासिद्धिः प्रयो-  
जनम् । तेनैकवाक्यत्वात् अन्यथाशेषिविरोधात्' इत्याद्युक्तम् ॥

अयमर्थः न घटते । सिंहो देवदत्त इत्यत्रारोपाङ्गीकारे वेदाप्रामाण्यम् । बौद्धसंमतसत्यद्वयकल्पना वेदप्रामाण्यवा-  
दिभिर्नाङ्गीकर्तव्या । स्वप्नोपमोगतुल्यता वैदिककर्मफलोपभोगस्य विरुद्धा इत्याद्यर्थानां भट्टपादैस्साधनात् । सूत्रकारश्च—  
'वैषम्याच्च न स्वप्नादिवत्' इति योगाचारमतं दूषयन् परमतमपि दुष्टमिति सूचयति । सबन्धाक्षेपपरिहारे अविद्यादूष-  
णावसरे 'निरस्तश्चायं पक्षः निरालम्बनवादेन' इति पार्थसारथिः एकात्माऽभ्युपगमपक्षः निरालम्बनवादेन निरस्त इति स्पष्ट-  
माह—'प्रतियोगिनि दृष्टे च ज्ञानप्रदक्षाने मृषाभवेत् ॥ ८८ ॥ स्वप्नादिबुद्धिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः । नचान्यप्र-  
तियोग्यस्ति ज्ञानप्रदक्षानस्य शोभनम् ॥ ८९ ॥ यद्दर्शनेन मिथ्यात्वं स्तम्भादिप्रत्ययो व्रजेत् । स्वप्नादिप्रतियोगित्वं सर्वलो-  
कप्रसिद्धितः ॥ ९० ॥ तदीयधर्मवैषम्याद्वाचकप्रत्ययो यथा ।' (स्तो.वा.नि.वा) इत्यत्र वैषम्यपदं प्रयुज्जानां भट्टपादाः  
'वैषम्याच्च न स्वप्नादिवत्' इति सूत्रमप्यभिप्रयन्तीति प्रतीयते । अधिकसत्ताकत्वेनापेक्षिकसत्ताकत्वेन अन्यूनसत्ताकत्वेन  
वा वैषम्यपरिहारः माविद्याधोदारे मधुसूदनोक्तः न घटते । 'न सत्यद्वयकल्पना' इति भट्टपादोक्त्या बौद्धमात्रसंमतायाः  
सत्यद्वयकल्पनायाः अप्रामाणिकत्वात् । गुह्यचन्द्रिकोक्तरीत्या सत्यद्वयकल्पनेऽपि भट्टपादोक्त्यविरोधः जिज्ञासाऽधिकरणएव  
पर्यालोचितः । इष्टिसृष्टिपक्षे आत्माऽन्यसामान्यस्यापि प्रातीतिकत्वेन वैषम्यकल्पनायास्सर्वथाऽसम्भवात् । एतेन अव-  
स्थाऽज्ञान(तुल्य)पक्षेन मूलाज्ञानकार्यत्वाभ्यां वैषम्यं प्रातीतिकव्यावहारिकवैषम्य एव पर्यवस्यतीति भट्टपादोक्त्यैव निश्चितम् ॥

## श्रुतप्रकाशिका

त्वया जडत्वेनाभिमतं ज्ञातरि भ्रमानाश्रयत्वाभावेन साध्यसमव्याप्त्यसिद्धेः ; चेतनस्य भ्रमनिवृत्तिरपि भवत्यक्षे न पुरुषार्थस्यात् । ज्ञातुरपि निवर्त्यकोटिनिविष्टत्वात्तदप्रति स्वनाशस्यापुरुषार्थत्वाच्च ॥

राशश्चानुनिवृत्तिरिव ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञातृनिवृत्तिः पुरुषार्थ इति चेत् । न ज्ञातुरेवात्मत्वात् ज्ञातृधर्मतयाऽवगतस्य ज्ञानस्येच्छाद्वेषादेरिवात्मत्वाभावा, दात्मत्वाभ्युपगमेऽपि तस्य पुरुषार्थार्थयितृत्वाभावेन पुरुषार्थप्रतिसंबन्धित्वानुपपत्त्या ज्ञानप्रति ज्ञातृनिवृत्तेः पुरुषार्थत्वायोगात् पुरुषेणार्थनीयस्य हि पुरुषार्थत्वं ज्ञानस्यात्मत्वपुरुषार्थप्रतिसंबन्धित्वाभ्युपगमेऽपि तदपेक्ष्य ज्ञातृनिवृत्तेः पुरुषार्थत्वमयुक्तम् । ज्ञानप्रति ज्ञातृदुःखतद्वेतुध्वन्यतमत्वाभावात् । सुखदुःखमोक्षारप्रति सुखतद्वेतुना दुःखतद्वेतुनिवृत्तेरपि हि पुरुषार्थत्वम् । नहि ज्ञाता ज्ञतेर्दुःखरूप, नच दुःखजनयिता ज्ञानस्य दुःखानुभवितृत्वायोगात् प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वेन प्रयोजनपर्यवसानं त्वयैवापास्तं ध्याननियोगवादप्रतिक्षेपे । अतोऽनुपपन्नं शास्त्रस्य त्वदुक्तं प्रयोजनपर्यवसायित्वम् ॥

यादवप्रकाशीयास्तु—दुःखत्रयाभिघातज्ञानानन्तरं तदुपशमोपाये पुरुषप्रवृत्तेरेव हेतोर्ब्रह्मैव जिज्ञास्य न तु प्रधानादीनीति प्रथमसूत्रार्थं वर्णयन्ति । अस्तुब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं नैतावता प्रधानादीनामजिज्ञास्यत्वं तेष्वन्यतमस्यैव ब्रह्मशब्दार्थत्वात् । शास्त्रेण हि ब्रह्मानूद्य तज्ज्ञानं विधीयते एकेन वाक्येनैकस्यार्थस्य विधानानुवादायोगात् अनुवादः प्रमाणान्तरेणापेक्षः प्रमाणान्तरेण वादिभिस्समावितास्तत्त्वप्रकारविशेषास्सर्वे परिकल्पिता इति तत्त्वान्तरा प्रेक्षा न शक्या । अतस्तेष्वन्यतमस्यैव ज्ञातव्यत्वाविधानाय शास्त्रेणानुवादः क्रियत इति शङ्कापरिहारार्थं जन्मादिसूत्रम् । सम्मानवपुषोऽनेकशक्तिशालिन एकस्माद्वितीयात् ब्रह्मणः कृत्स्नस्य चिदचित्पञ्चस्य जन्मस्थितित्यस्य प्रतिपाद्यम्, अत ईदृशं तत्त्वं वाद्यन्तरैरपरिकल्पितमिति न तत्परिकल्पितार्थेष्वन्यतमस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वमिति सूत्रार्थमाहुः । एवमहिं प्रमाणान्तरासिद्धत्वाच्छास्त्रेणानुवादासम्भवं इति शङ्काया शान्त्रयोनिव्यादित्युच्यते । वेदान्तेष्वपि केनापि वाक्येन प्रतिपादितस्य वाक्यान्तरेणानुवादोपपन्नः प्रमाणान्तरानाव्रातचरवस्तुप्रतिपादनक्षमत्वं शब्दमहिमेति सूत्रतात्पर्यं वदन्ति । तथाऽपि सिद्धेभ्युत्पत्त्यभावात् प्रवृत्तिनिवृत्तिविरहे वाक्यस्य प्रयोजनाभावाच्च ब्रह्मणश्शान्त्रप्रतिपाद्यत्वायोगशङ्कापरिहारपरं समन्वयसूत्रं व्याचक्षते ॥

तत्र तावत्प्रथमसूत्रे दुःखत्रयाभिघातज्ञानस्य पूर्ववृत्तत्वं प्रागेव प्रतिक्षिप्तम्, प्रत्यक्षादिना तज्ज्ञाने विवक्षिते तत्परिहारस्यायुर्वेदादिष्विदृशत्वात् स्वर्गादेरपि तापत्रयात्तर्माविज्ञानस्यच साङ्ख्यादिशास्त्रान्तराधीनत्वे मोक्षोपायस्यापि तत्रैव सुलभतया वेदान्तनैरपेक्ष्याद्वेदेन तज्ज्ञानस्य कर्मविचारसपेक्षतया तत्पूर्ववृत्तत्वापाताच्चेति, प्रधानादीनामजिज्ञास्यतापरवच्च पूर्वमेव निरस्तम् । श्रुत्यविरुद्धां साङ्ख्यादिशास्त्रस्य भवद्भिरङ्गीकृतत्वादिरुद्धां चाप्रामाण्यस्य विरोधाधिकरणन्यायसिद्धत्वात्प्रमेयदौस्थ्यस्य तर्कपादे दर्शयिष्यमाणत्वात् वेदान्तवाक्यानां अतत्परत्वस्य ईक्षत्यधिकरणादिषु वक्ष्यमाणत्वाच्च सूत्रस्य कृतकरत्वप्रसङ्गादिति ॥

जन्मादिसूत्रस्य वाद्यन्तरापरिकल्पितप्रकारेणौपनिषदतत्त्ववैलक्षण्यात् ब्रह्मशब्दस्य तत्परिकल्पितप्रधानाद्यन्यतमविषयत्वनिरासपरत्वचायुक्तम्, विशेषणभेदायत्तविशेष्यबहुत्वपरिहाराभावस्यद्वितीयवस्तुनस्समस्तजगत्कारणत्वप्रतिपादनानुपपत्तेः । चिदचित्पञ्चस्याद्वितीयकारणतया हि वाद्यन्तरवत्सतत्त्वैर्ब्रह्मण्य औपनिषदतत्त्ववैलक्षण्यं भवद्भिरुक्तम्, वेदान्तवेद्यतत्त्वस्य त्वदुक्तप्रकारेण प्रधानादिवैलक्षण्यचेक्षत्यधिकरणादिन्यायनैरपेक्ष्य न सिद्ध्यति । इह वक्ष्यमाणन्यातिरिक्तन्यायान्तरानुक्ते, वक्ष्यमाणानुपपत्तीनां वक्ष्यमाणन्यायैर्विना परिहारायोगाच्च, वक्ष्यमाणोपजीवने च ततएव तत्त्ववैलक्षण्यं प्रधानादेरजिज्ञास्यं च सिद्ध्यतीति कृतकरत्वं स्यात् । वाक्यान्तरेण प्रतिपादितस्य वाक्यान्तरेणानुवादसम्भवरत्वं च—

### गूढार्थसंग्रहः

एतेन 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इति सूत्रे वैधर्म्यादिति हेतुः मीमांसकादिसम्मतः सूत्रकृतो विवक्षितः । 'चक्षुर्देन स्वप्नज्ञानानामपि याथार्थ्यं विवक्षितमिति दृष्टान्तासम्भवः' हेतुर्विवक्षितः । इममर्थमभिप्रेत्यैव भगवता भाष्ये चकारार्थानुक्तावपि वेदान्तदीपे 'चकारात्तान्यपि यथार्थानीत्यभिप्रायः' इत्युक्तम् । स्वप्नार्थानां सत्यत्वं जिज्ञासाऽधिकरणे भगवतैव साधितम् । सन्ध्याधिकरणे स्वप्नार्थानां सत्यत्वं सूत्रकारसम्मतमिति निर्धारयिष्यते । परमते स्वप्नज्ञानार्थयोरुभयोः अप्रत्याऽज्ञानपरिणामत्वेन ज्ञानस्यात्राधः अर्थस्य बाधश्च न घटत इति प्रागेव निरूपितम् । सृष्टिश्रुतेः सप्रयोजनतया तात्पर्यवत्त्वस्य पूर्वमेवोपपादनात् । सृष्टिश्रुतेः मुक्तिवाक्यैकरस्येन प्राधान्येन तदन्तःसारेण नियन्तृत्वनिबन्धनोपादानोपादेयभावप्रतिपन्नपारतन्त्र्यप्रतिपत्तिफलत्वेन 'नत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यानां शेषिविरोधाभावेन स्वतः प्रामाण्यस्य वैदिकैस्सर्वे रण्यङ्गीकृतत्वेन स्वरसितः परमार्थसत्यविषयकत्वे सिद्धे अप्रैदिकबौद्धसमतन्त्र्याहारिकसत्यविषय गाम्युपगमे सृष्टिस्थितेः दीर्घभ्रमसपादनार्थत्वमेव स्यात् परसमत श्रुत्यादीनां बाधकत्वं न संभवतीति जिज्ञासाऽधिकरण एव निरूपितम् । अयमर्थः सर्वोऽपि प्रागेवोपपादितः । अतः जन्माद्यधिकरणसूत्रस्य यथोक्त एवार्थः । ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वमेवात्र विवक्षितमिति पूर्वमेव निरूपितम् । नियन्तृत्वेन तस्यैव निमित्तत्वं च, निमित्तत्वेन परिणामित्वाङ्गीकारे जडदुःखसावयवपरिच्छिन्नकार्यापत्तेर्ब्रह्मणो नाप्रकाशः । तत्कार्यान्तर्यामिवस्यैव ब्रह्मण्यङ्गीकारात् । 'अज आत्मा महान्ध्रुवः' 'न जायते' इत्यादिश्रुतिविरोधोऽपि न संभवति सूक्ष्मावस्थचेतनाचेतनान्तर्यामित्वं कारणताऽवच्छेदकम् । स्थूलावस्थचेतनाचेतनान्तर्यामित्वं—कार्यावच्छेदकम् । 'सोऽकामयत बहुस्याम्' 'सच्चत्यच्चाभवत्' इति श्रुत्या 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदकमेव' 'बहु स्या प्रजायेय' इत्यादिश्रुतिभिः परिणामिकारणत्वम् उक्तान्तर्यामित्वव्यतिरिक्तरूपेण जन्मनोऽभावेन 'अज आत्मा' इत्यादिश्रुतेरविरोधश्च । मृत्पावस्थापरित्यागेन घटशरावाद्यवस्थावत् मृदन्तर्यामित्वापरित्यागेन घटशरावाद्यन्तर्यामित्वम् । परिणामिकारणतावादे उपादानोपादेययोरभेदस्य सर्वसमतत्वात् । एतेन 'कश्चाय परिणामः' ? इति परिणामदूषणमपि निरवकाशम् । निरक्षस्य सयोगो न संभवतीति बौद्धोक्तक्षेपस्य परमाणुद्व्यणुकयोरनङ्गीकारेण त्रसरेणोरेव प्रत्यक्षसिद्धस्याभ्युपगमेन त्रसरेणुद्वयसयोगस्य प्रत्यक्षसिद्धतया त्रसरेणोः नैयायिकमतव्यतिरिक्तमते निरक्षत्वेन प्रत्यक्षसिद्धतया प्रत्याख्यानासंभवादिति भावप्रकाशे (१.सपु) निरूपितम् ॥

'वृक्षप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोत्रा' इत्याक्षपस्य परिहाररूपे 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इति सूत्रे श्रुतिबलादेव निरवयवपरिणामः अभ्युपगतः सूत्रकृता । नचात्र परसमतविवर्तबोधकः कश्चिद्वर्तते येन विवर्तोल्लेखणं युक्तं स्यात् । एतेन पूर्वरूपापरित्यागेन परिणामाङ्गीकारे 'एवमर्हि विवर्तं प्रतिपादयति शुक्तिकारजतमायाव्याघ्रादिषु विवर्तस्य तल्लक्षणत्वात्' इत्युक्तिर्निरवकाशा । स्वमतसिद्धार्थमङ्गीकृत्य विषयकल्पनाया अन्याय्यत्वात् शुक्तिकारजतस्थले विवर्तोपादानत्वस्य परव्यतिरिक्तस्य कस्यापि वैदिकदार्शनिकस्यासंमतत्वात् । परसमतविवर्तोपादानत्वतु प्रातीतिकवस्तुनङ्गीकर्तृवैदिकदार्शनिकेषु कश्चिदपि नाभ्युपैति । एतेन 'किञ्च नहि व्यवहाराभावमात्रेण वस्तुव्यतिरेकः' वृक्षादिषु पृथिवीति व्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्वसत्त्वात्' इति (अ.सि) मधुसूदनोक्तमप्यनुपादेयम् । पृथिवीशब्दस्य भूमावेव प्रसिद्धतया वृक्षस्य भूमित्वेन व्यवहाराभावात् तथा व्यवहाराभावः पञ्चभूतान्यतमपरत्वेन पृथिवीशब्दस्य पृथिवीविकारवृक्षे पृथिवीति व्यवहारः युक्त एव, वृक्षस्य बीजविकारत्व नतु भूविकारत्वम् बीजे पञ्चभूतान्यतमपृथिवीत्यवर्तते एव ॥

एतेन आत्मनि कार्यजनिहेतुवस्यैवोपादानलक्षणत्वात् तस्यच परिणाम्यपरिणाम्युभयसाधारणत्वात्' इत्यद्वैतसिद्धिः स्वतादात्म्यप्रति कार्यहेतुस्य विवक्षणादिति लघुचन्द्रिका । स्वाभिन्नकार्यजनकत्वमुपादानवम् अस्ति च प्रपञ्चस्य सद्



## गूढार्थसंग्रहः

येन ब्रह्मणा विवर्तमानेन जडेनाशनेन परिणामिनाच्चाभेदः 'सन्घटः जडो घट' इति सामानाधिकरण्येनानुभवात् । 'नच 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति सूत्रे अनन्यत्वव्यतिरेकेणाभावः, 'नयत्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किंतु भेदव्योषे घामः' इति भाष्यमामनीनिबन्धनाभ्यां प्रपञ्चस्य ब्रह्माभेदनिषेधादभेदाभ्युपगमे अपसिद्धान्त इति वाच्यम् ; तयोर्ब्रह्मरूप धर्मिसमानसत्ताकाभेदनिषेधे तात्पर्येण शुक्तिरजतयोरिव प्रातीतिकभेदाभ्युपगमेऽपि विरोधाभावादिति 'सिद्धान्तलेशसंग्रहे इति केषाचित्पक्षोक्तिः निरवकाशा । प्रातीतिकतादात्म्यस्यैव ब्रह्मणश्श्रुतिसूत्रादितः असिद्धेः । 'जडो घट' इतिप्रतीत्या घटे जडत्व यथा तथा 'सन्घट' इतिप्रतीत्या घटे सत्त्वमेव सिद्धयति । अस्तिघटः सन्घट इत्यनयोर्विशेषाभावात् । अस्ति घट इत्यत्र कर्तरि लकारः सन्घट इत्यत्र लट् एव शतृप्रत्ययः । 'अस्तिब्रह्म' इत्यत्रापि ब्रह्मण्यसत्तात्वर्थकर्तृत्वमेव विवक्षितमिति प्रागेव निरूपितम् । अस्तिघट इत्यत्र सद्रूपे ब्रह्मणि घटो भासते नास्ति घटइत्यत्र सद्रूपे ब्रह्मणि घटस्य निषेध इत्यादि विवरणप्रक्रिया व्याकरणविरुद्धा सर्वलोकाविरुद्धाचेत्यापि जिज्ञासाऽधिकरणे निरूपितम् । एतेन 'सोऽकामयतबहु-स्यां प्रजायेय' इत्यादौ सृज्याभेदस्य प्रतिपादनात् उपादानत्वम् इत्यद्वैतसिद्धिः विवर्तोपादानता न साधयितुमलम् । 'परिणामात्' इतिसूत्रे शङ्करभाष्ये एतच्छ्रुत्युदाहरणेन ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वस्यैव ततस्सिद्धेः विवर्तोपादानत्वसाधका-भावात् प्रवेशनिबन्धनबहुभवनस्यैव तत्र प्रतिपादनेन नियन्तृत्वनिबन्धनबहुभवनस्यैव तत्र विवक्षितत्वात् ॥

'अतो यदवष्टम्भो विश्वो विवर्तते प्रपञ्चः तदेव मूलकारण ब्रह्मेति सूत्रार्थः' इति पञ्चपादिका—अत्र विवरणम् 'त्रैविध्यमत्र सम्भवति रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवन्मायाविशिष्ट ब्रह्मकारणमिति वा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इतिश्रुते मायाशक्तिमत्कारणमिति वा जगदुपादानमायाऽऽश्रयतया ब्रह्मकारणमिति वेति । तत्र विशिष्टपक्षे तथैव ब्रह्मत्वेनोपलक्षितस्य ज्ञानानन्दादिस्वरूपलक्षणेन मायानिष्कर्षालक्षणद्वयेन विशुद्धब्रह्मासिद्धिः । उत्तरपक्षयोस्तु मायायाः ब्रह्मपरतन्त्रत्वात्तत्कार्यमपि ब्रह्मपरतन्त्रं भवति । यथाऽश्रुतन्त्रतन्त्रारब्धोऽपि पटोऽश्रुतन्त्रः प्रतीयते । ततश्चेत्प्रद्यमानकार्यस्य यदाभयोपाधिज्ञानानन्दलक्षणं च तत् ब्रह्मेति शुद्धब्रह्मलाम इति, तदाह—यदवष्टम्भ इति' इति । संयुक्तसूत्रद्वयं रज्ज्वा यथोपादानं तथा मायाविशिष्ट ब्रह्मकारणमित्येकः पक्षः । पक्षान्तरमाह—देवात्मेति । स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोलक्षणैरित्यर्थः । पूर्वत्र मायाब्रह्मणोः समप्राधान्यम् । अत्रतु ब्रह्मणः प्राधान्यं मायायाश्चोपसर्जनत्वमित्यर्थः । सकलजगदाकारेण विवर्तमानमायाऽधिष्ठातृत्व ब्रह्मलक्षणमिति पक्षान्तरमाह—जगदुपादानेति । एव मतभेदमभिधायति—व्याप्तिं निरस्यति तत्रेति । भवतु परतन्त्रत्वम् ततः किमिति ? अत आह—ततश्चेति । आश्रयोपाधीति । आश्रयस्याज्ञानस्य सत्तोहेतुरित्यर्थः' इति तत्त्वदीपनम् ॥

अत्र संयुक्तसूत्रद्वयं रज्ज्वाः परिणाम्युपादानमेव । तत्र सूत्रद्वयसंयोगः नैयायिकैरसमवायिकारणवेन यः परिकल्पितः स एव रज्ज्वावस्था इति परिणाम्युपादानत्व सर्वार्थसिद्धौ स्थापितमाचार्यपादैः । सूत्रद्वयदृष्टान्तेन मायाब्रह्मणोऽसमप्राधान्येन मायाविशिष्टब्रह्मणः विवर्तोपादानत्व कथं सिद्धयति । परिणामिविवर्तोपादानयोः दृष्टान्ते समप्राधान्याभावात् ।—'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यत्र सत्त्वरजस्तमोगुणाश्रयशक्तिमतः कारणत्वेऽपि शक्तिमत्त्वं 'क्षरप्रधानममृताक्षर हरः क्षरात्मानावीशते देवएकः' इति तत्रैवोत्तरत्र ईशेशितव्यभावेन सच्चिदानन्दरूपमिति स्फुटम् । एव 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिन्मायायाः सन्निरुद्धः' 'मायातु प्रकृतिं विद्या-मायिनतु महेश्वरम्' (श्रि) इति चतुर्थे प्रकृतेः मायाशब्दार्थत्वेन मायाशब्दस्य नामित्यर्थकत्वम् मायास्वामीत्वीश्वरः अन्यः ईश्वरेण स्वाभाविकभेदवान् जीवः इत्यर्थनिष्कर्षणेन परमतविवर्तोपादानत्वस्य न प्रसङ्गः । तृतीयपक्षे जगदाकारेण विवर्तमानमायाऽधिष्ठातृत्वं केन प्रमाणेन सिद्धम् । अत्र प्रथमपक्षे ब्रह्म वेनोपलक्षितस्य ज्ञानानन्दादिस्वरूपलक्षणेन मायानिष्कर्षालक्षणद्वयेन विशुद्धब्रह्मासिद्धिः' इति (प.पा) विवरण-

### श्रुतप्रकाशिका

शास्त्रयोन्याधिकरणस्यायुक्तं कृतकरत्वादेव 'अग्निहोत्रं जुहोति' इतिवाक्यान्तरेण विहितस्य होमस्य 'दध्ना जुहोति' इति वाक्यान्तरेणानुवादः पूर्वकाण्डे प्रसिद्धः (अग्निहोत्रा)आग्नेयादिपदकं तदुत्पत्तिवाक्यविहितम् । 'यएवंविद्वान्पौर्ण मासीं यजते' 'यएवंविद्वानमावास्यां यजते' इति वाक्याभ्यामनूयत इति च तत्रतत्र प्रसिद्धम् । अतो वाक्यभेदेन विधानानुवादसंभवो नात्र व्युपाद्यः ॥

समन्वयसूत्रस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेऽपि शास्त्रस्य प्रयोजनवत्ताप्रतिपादनपरत्प्रामिष्टम्, सिद्धेप्रतिपादनपर-  
त्नन्वयमुक्तं प्रथमसूत्रेणैव सिद्धार्थव्युत्पत्तेस्समर्थितत्वात् तत्रच तत्समर्थनाभावेन त्वदुक्तार्थपरत्वे तत्सूत्रवैयर्थ्यस्योपपादित-  
त्वाच्च । सिद्धवस्तुमात्रे शब्दशक्तिसमर्थनाभावेसति सिद्धवस्तुवैलम्ब्यतद्विधानानुवादतत्प्रयोजनादिनिरूपणस्यानपेक्षितत्वेन  
जन्मादिसूत्रनयोऽयानस्य तत्पूर्वकताऽवश्यम्भावात् ; वक्ष्यमाणोपजीवनेनोत्थाने प्रतिपत्तिप्रमसामञ्जस्याभावादाद्यसूत्रस्यान-  
पेक्षितविधानपरत्वायोगाच्च, अतो भाष्यकारोक्तार्थपरत्वमेव चतुस्सूत्रया उपपन्नम् ॥

### ॥ समाप्तं समन्वयाधिकरणम् ॥



### गूढार्थसंग्रहः

पर्यालोचनया ईश्वरस्यैव जगत्कारणत्व विवरणकारसम्मतमिति प्रतीयते । एतत्तात्पर्येणैव ईश्वरगतमपि कारणत्व तदनुगतम्  
लण्डचैतन्य शास्त्राचन्द्रमसमिव तटस्थतया उपलक्षयितुं शक्नोतीति तस्य श्रेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तिरिति विवरणानुसारिमत निरू-  
पितम् (सि.ले.स) अप्ययदीक्षितैः । श्रेयब्रह्म ध्येयब्रह्मद्वैविध्यं श्रुत्यादिप्रमाणतः नैवसिद्धयतीति भावप्रकाशे (३.४) निरू-  
पितम् । सूत्रकारश्च प्रतर्दनाविद्याया निर्गुणविद्यात्वेन परसम्मततायामुपासनात्रैविध्यं श्रुतितात्पर्यविषय इति साधयतीति प्रागत्रैव  
प्रत्यन्तसारामृते च निरूपितम् । अतश्च ईश्वरगतमेव जगत्कारणत्व ताद्वि ब्रह्मणस्सविशेषस्यैव लक्षणं ननु पररीत्या ब्रह्म-  
त्वोपलक्षितस्य विवर्तोपादानत्वतु न युक्तितः कापि साधित परैः नापि श्रुतितइति जिज्ञासाऽधिकरणे निरूपितम् । अतश्च  
ब्रह्मशब्दस्य परसमतनिर्विशेषपरत्वासम्भवात् 'जन्माद्यस्ययत' इतिसूत्रे विवर्तोपादानन्यस्यापि अप्रामाणिकतया तद्विवक्षाया  
असम्भवेन जन्माद्यधिकरणान्ते तस्मात्सर्वेषु वेदान्तवाक्येषु पाठव्यत्यासेन जगत्कारणमात्रानुवादेन तस्य ब्रह्मत्व प्रति-  
पादयतीति विवरणोक्तिर्निर्वकाशा । प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्ध विधीयतइति न्यायोऽपि न घटते । अतः जगत्कारणस्यैव  
प्राधान्यं मुक्तप्राप्यत्वात् कारणवाक्यानां प्राप्तप्रतिपादकवाक्यानामैकरस्यात् राजकुमारणनयसूचनात् परसमतमहावाक्यानां  
चाप्राधान्यमिति जन्माद्यधिकरणे व्यासतात्पर्य एव युक्तः ॥

'शास्त्रयोनिव्यात्' इतिसूत्रं द्वेधा वर्णित परैः तत्र वेदादिस्मृत्युत्पत्त्य ब्रह्मणो न सम्भवति वेदस्य नित्यत्वात् (प.पा.  
वि) इति शङ्का । 'अस्य महतो निश्चितमेतद्यद्वेदः' (वृ) इतिश्रुत्या वेदस्मृत्युत्पत्तिप्रतिपादनात् वेदस्य नित्यत्वं सृज्यत्वा  
विरोध्येव वाच्यम् ; एतेन जन्माद्यधिकरणोक्तं सर्वज्ञत्व दृढीकृतमवति । शास्त्रस्य योनिव्यादुत्पादकत्वादित्यर्थः । अथवा  
योनिशब्दः शापकहेतुपरः शास्त्रप्रमाणकत्वादित्यर्थः । पूर्वाधिकरणोक्तजगत्कारणत्वस्यानुमानगम्यत्वनिरसनपूर्वकं शास्त्रप्र-  
माणकत्वसाधनेन सर्वज्ञत्वाददृढीकरणम् । जन्माद्यस्य यत इत्यत्र न स्फुटं शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तम् । अत्र 'तत्त्वौपनि  
षद् पुरुषम्' इति श्रुतितात्पर्यं निर्धारितं भवति इति ॥

## गूढार्थसङ्ग्रह

अत्र प्रथमवर्णके विवरणोक्तदिशा वेदनित्यत्वं यदि पूर्वपक्षधीजस्यात् तदा विय पादएव एतदर्थो वक्तव्यस्यात् । जन्माद्यस्य यत् इत्यत्र परब्रह्मातिरिक्तसामान्यस्याप्यस्येत्यत्र विवक्षितत्वेन ब्रह्मान्यसामान्यस्यापि कार्यत्वस्य पूर्वाधिकरणे ऽभिप्रेतत्वेन सर्वज्ञस्य ततएव सिद्धस्य ततोऽसिद्धयभावेन तृतीयसूत्रे दृढीकरणार्थं प्रयत्नोऽपि विफलः । किञ्च सर्वज्ञत्वं 'द्रष्टुं शानशक्तिं न कारणतया, किंतु दीपप्रभावत्वं सयुक्तद्योतनेवेति 'परमिहपुनस्तथाप्येते सर्वविद्यम्' इति तृतीयसूत्रारम्भे (१.१.३.अ) 'ननु सोपाधिकधर्मत्वात् न स्वरूपलक्षणत्वमिदं युक्तम् । न । अनेन सर्वज्ञशब्देन सर्वावभासधर्मविज्ञप्तिमात्रादित्यादिप्रकाशवत् अविषयोपाधिकं विज्ञानमेव ब्रह्मस्वरूपलक्षणं विवक्षितमित्यविरोधः' इति जन्माद्यधिकरणेन विवरणोक्तरीत्याङ्गीकारे 'यस्सर्वज्ञ' इति श्रुतौ सर्वज्ञशब्देन तादृशार्थालाभं कर्तव्यं कप्रत्ययस्य विधानं नतु भावे इत्यस्य पूर्वमेव निरूपणात् । 'निष्कल निष्क्रियम्' इत्यतः पूर्वं 'ज्ञ कालकाले गुणी सर्वविद्य' इति निर्गुणश्रुतेः पूर्वं परत्र च श्रूयते । तत्र च शाघात्वर्थक्रियाकर्तृत्वं गुणि व च प्रतिपादितम् । 'निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवय निरञ्जनम् । अमृतस्य परसेतु दग्धेन्धनमिवानलम्' इति श्रुतिक्रमः । अत्रामृतसेतु व क्रियामन्तरा न घटते । धारकत्वरूपस्योपायवरूपस्य वा सेतु वस्य क्रियाविरहेऽसंभवात् । 'दग्धेन्धनमिवानलम्' इत्यत्र 'सर्वान्पाप्मन औषत्' (वृ) इति पुरुषशब्दार्थस्य 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति पूर्वश्रुतौ शरणशब्दविवक्षितस्य सर्वपापदाहकत्वस्यापि क्रियाऽनङ्गीकारेऽसंभव एव । एतच्छ्रुतेः पूर्वं परत्र च बहुधाऽभ्यस्तस्य देवशब्दस्य सृष्ट्यादिक्रीडाकर्तृत्वार्थस्य क्रियाविरहे सर्वथाऽसंभव एव । सृष्ट्यादिक्रीडाकर्तृत्वाङ्गीकारे नियन्तृत्वमकामेनापि स्वीकार्यम् । 'निष्कल निष्क्रियम्' इति श्रुत्यानुपूर्वोपर्यालोचनायामवयवपरिणामरूपक्रियाविरह एव तत्र विवक्षित इति प्रतीयते । तेन कूटस्थत्वं स्वरूपसङ्कोचविकासराहित्यरूपम् इत्यपि सिद्धयति । क्रियासामान्यविरह उ सर्गापवादनयविरोधानात्र विवक्षितः । नापि धर्मसामान्यविरह उक्तन्यायाविरोधादेव । एव च ज्ञानक्रियाकर्तृत्वाङ्गीकारे 'निष्कल निष्क्रियम्' इति श्रुतिविरोधोऽपि न संभवति । 'निरवयम्' इत्यनेन क्रियादेराविद्यकत्वपरसमत निरस्तम् । अतः ब्रह्मणः परिणामिकारणवपक्ष एव सर्वज्ञत्वाद्युपपद्यते नतु विवर्तवादपक्षः ॥

कौमुदीकारास्तु—स्वरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञत्वं, नतु मायावृत्त्या । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतिविरोधात् । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुत्या सृष्टं प्राक् वृत्तिज्ञानानामपि प्रलयस्य वाच्यतया ब्रह्मणस्तदा सर्वज्ञत्वाभावापत्त्या 'तदैक्षत' इति श्रुत्युत्प्रेक्षणायोगः' इति विवरणकारमतमेव साधयन्ति । विवरणे उक्तस्य सर्वज्ञप्राज्ञादिशब्दार्थासाङ्गत्यस्यैतन्मतेऽप्यपरिहार एव । मायावृत्तिव्यतिरिक्तस्यैव प्रलयः व्याकृतविरहवत् सर्वज्ञश्रुतिविरोधादङ्गीक्रियत इति (सि ले स) अच्युतकृष्णानन्दतीर्थोक्तिरप्यनुपादेया । 'तद्वद तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इति श्रुतिव मायावृत्ति साधकश्रुत्यभावात् 'कामस्सङ्गकल्प' इत्यादिश्रुतिवत् शाघात्वर्थस्य मायावृत्तिवसाधकश्रुत्यभावाच्च । सर्वज्ञवादिश्रुतिविरोधानिर्विशेषस्य जगत्कारणत्वं न संभवति किंतु सविशेषस्यैवेत्याक्षेपे एतत्समाधानायोगात् । ब्रह्मणः स्वरूपचैतन्येन स्वसं सृष्टसर्वावभासकत्वात्सर्वज्ञत्वाङ्गीकारेऽपि दृश्यान्निष्ठरूपेण ब्रह्मकार्यत्वात् 'यस्सर्वज्ञ' इत्यादिज्ञानजनिकर्तृत्वश्रुतरूपि न विरोध इति (सि ले स) आचार्यवाचस्पतिमिश्रसिद्धान्तोऽप्यनुपादेयः । तथासति सर्वज्ञत्वस्य स्वरूपलक्षणवासम्भवेन जगत्कारणत्वसर्वज्ञवादीनां सविशेष एव वृत्तिकारात्तरीत्योपपत्तिसंभवात् निर्विशेषवादस्यैव श्रुतिता पर्याविषयवप्रसङ्गात् 'सदेव—अग्रआसीत्' 'बहुम्या' 'तत्त्वमसि' 'आत्मा वा—अग्रआसीत्' 'तद्वेद—अव्याकृतमासीत्' 'ब्रह्म—अग्रआसीत्' । तदा मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यत्र असंघातात् कर्तरि लकारस्य परमतेऽयोगेन महावाक्यानां निर्विशेषपरवमव परसमत न घटते । अत्र असंघातात् कर्तरि लकारप्रयोगेण 'प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा' इत्यस्य न पञ्चणादिकाक्षेपशारी

## गूढार्थसङ्ग्रहः

रकोक्तार्थो युक्तः । अयमर्थः जिज्ञासाऽधिकरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोगेनहि पदत्वम्' इत्यादिभाष्यविवरणे (२६६.पु) निरूपितः एतेन सर्वशक्तिरूपमपि सविशेषवाद एव घटतइति सिद्धम् ॥

विपत्तोपादानत्वस्य अनुमानगम्यत्वाभावेन आक्षेपासम्भवात् उपादानत्वस्य शास्त्रप्रमाणक वट्टदीकरणार्थं 'शास्त्र-योनित्वात्' इति सूत्रमिति परोक्षिरपि निरवकाशः । नैयायिकैः निमित्तकारणत्वमात्रस्य शास्त्रगम्य वाङ्गीकारात् कारणानुवादेनाद्वितीयब्रह्मासिद्धिरेव विवक्षितेति (प.पा) विवरणकारसिद्धान्ते अनुमानगम्यत्वाभावेन शास्त्रयोनित्वादित्यस्य द्वितीयवर्णके वैयर्थ्यमेव । अतः प्रागुक्तदिशा 'तत्त्वौपनिषद पुरुषम्' इत्यत्र जगत्कारणत्वस्य उपनिषत्तात्पर्यविषय वा मिथानेन अनुमानगम्यत्वे 'तत्प्रमाण बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' 'अप्राप्त तुशास्त्रमर्थमात्र' इत्युक्तदिशा शास्त्रतात्पर्यविषयत्वासम्भवेन तत्सम्भवोपपादनपर शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रमित्येव युक्तम् । तत्र परिणामवादानुपपत्तिभ्रम्युपेत्य निमित्त कारणमात्रे पूर्वपक्षः सच भाष्ये स्वरसिद्धः उपपादितः । वेदान्तसारेण 'येन जातानि' इत्यत्रैकवचनेन कारणगतैकत्व प्रतिपादनात् अभिन्नानिमित्तोपादानत्वं जन्माद्यधिकरण एव विवक्षितम् । तस्यतु मानान्तरागम्यत्वेन शास्त्रतात्पर्यविषयत्व सम्भवतीति भगवतैवोक्तम् । कारणत्वं 'तत्त्वौपनिषद पुरुषम्' इति श्रुत्या उपनिषत्तात्पर्यविषयइति पक्षद्वयेऽपि समानं जगत्कारणत्वं मिथ्याभूतमुपलक्षणलक्षणमेव तत्र न शास्त्रतात्पर्यं तदनुवादेनाद्वितीयब्रह्मप्रतिपादनएव शास्त्रतात्पर्यमिति परमतं न घटत इति पूर्वमेवोक्तम् ॥

एतेन तच्च समन्वयात् इति सूत्रार्थः परसमतः निरवकाशः । तुशब्दः पूर्वक्षव्यावृत्त्यर्थः । तद्वद्वा सर्वश सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारण वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते । कथं समन्वयात् सर्वेषुहि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण तस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमन्तरमग्राह्यम् अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूः' (वृ) 'ब्रह्मैवेदममृत पुरस्तात्' (मुण्ड) इत्यादीनि । नच तद्वतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमाने अर्थांतरकल्पना युक्ता श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । नच तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरताऽवसीयते । 'तत्केन कथयेत्' इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः 'इत्युक्त (श) अत्र वेदचतुष्टयवाक्यानुदाहृतानि ॥

अत्र पञ्चपादिका—समन्वयात् इति । तत्र तात्पर्येण वेदान्तवाक्यानां समन्वयादित्यर्थः, सम्यगवयः समन्वयः । अथ केयं सम्यक्ता अन्वयस्य पदानां परस्परानवाच्छिन्नार्थानामनन्याकाङ्क्षाणां अव्यतिरिक्तैकरसप्रादिकार्थमात्रान्वयः । 'सोऽयम्' इत्यादिवाक्यस्थपदानामिव प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोरिव चन्द्रपदाभिधेयार्थकत्वेन । तथा च व्याक्तिविशेषः कश्चित् चन्द्रप्रतिपादिकाभिधेयः केनचित्पृष्ठे, आसिन्ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रो नामेति तस्य प्रतिवचनं प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति तदेवप्रतिवचनं भवति यदि यथा चन्द्रपदेनोक्तं तथा आम्भ्यामपि पदाभ्यामुच्येत । एवंचसति नीलोत्पलरुदयुतसिद्धपरस्परानवाच्छिन्नविशेष्यविषयमावेनाप्यन्वयो दुर्लभः, कुतः पृथक्सिद्धः क्रियाकारकलक्षणसम्बन्धः ? इति । अत्र विवरणम्—'तात्पर्यं नाम तदर्थप्रामितिशेषता शब्दधर्मः । कथम् ? विवक्षातात्पर्यमिति चेत्—अर्थप्रामितिं विवक्षित्वा तादर्थ्येन प्रयुज्यमानत्वं शब्दधर्म एव । तत्रापि तात्पर्यं न विवक्षामात्र तत्र तात्पर्यं यस्मिन्नर्थे वाक्यस्योपक्रमोपसहाररूपैकरूप्य यस्यचार्थस्य पुनः पुनरभ्यासः यस्मिन्नर्थे फलविशेषसङ्कीर्तनम् अपूर्वार्थप्रमेयता च, यत्रचार्थवादोपादानमुपपत्तिभिरुपपादनचेत्यादीनि लिङ्गानि भवन्ति तस्य वाक्यस्य तस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति गम्यते ॥

तथाहि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'एतदान्यमिदं सर्वं तस्य स आत्मा तत्त्वमसि' इति



## गूढार्थसंग्रहः

नवकृतोऽभ्यस्यते । प्रमाणान्तरेणचानधिगतमद्वितीय ब्रह्मात्मन्व प्रतिपाद्यते । 'आचार्यवा-पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरंया-वन्नाविमोक्षे' इति च निरतिशयपुरुषार्थावातिर्ब्रह्म विज्ञानफलमवगम्यते । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' 'येनाश्रुतं श्रुतम्' इत्यादिब्रह्मण्यर्थवादोपादीयते । मूढोहततपरशुप्रहणादिदृष्टान्तैः स्वपितिनामनिर्वचनेन च सृष्टिस्थितिसहा-रेश्च ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपाद्यते इति' तथा तेत्तरीयके—'सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'सयश्चाय पुरुषे—यश्चासावादित्ये—स एकः' इत्युपक्रमोपसंहारयोः प्रत्यगाद्वितीय ब्रह्मावगम्यते तथा 'सच्चत्यचाभवत्' 'यदिदं किंच' 'तदात्मान स्वयमब्रुवत' 'यतोवाचो निवर्तन्ते' इति च प्रत्यगाद्वितीय ब्रह्माभ्यस्यते । प्रमाणान्तरेणचानधिगत च प्रतिपाद्यते । 'ससर्वान्कामान्समभ्रुते' इत्यादिच फल ब्रह्मविज्ञानेऽवगम्यते । सृष्टिश्रुतयश्चाद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थवादभूता दृश्यन्ते । एव सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मात्मैक्य प्रमितौ तापर्यलिङ्गानि द्रष्टव्यानि । एव तात्पर्येण समन्वयात् ब्रह्मैव वेदान्तप्रमेयमिति जगत्कारणसामान्यानुवादेन तत्र ज्ञानानन्दशब्दानन्दविशेष गमयतः एकसत्यानन्तशब्दाभेदमिष्यात्वद्वैताभावाभिधानद्वारेण तत्र लक्षणया वर्तन्ते 'सर्व-ज्ञस्सर्वशक्तिः' इत्यादिशब्दाश्चानिर्वचनीयप्रपञ्चोपाधितया तत्र वर्तन्ते । 'अयमात्मा तत्त्वमसि' इत्यादिशब्दाश्च मुख्य लक्षणाभ्या ब्रह्मण्येव वर्तन्तइति' इति ॥

अत्र 'यत्त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्—तत्केन कपश्येत्' इतिश्रुतिः न परसमतार्थं साधयतीति जिज्ञासाऽधिकरणे—(६८७-पु) विशेषतः त्रय्यन्तसारामृते च निरूपितम् । 'अस्तिब्रह्मेतिचेद्वेद सन्तमेनन्ततो विदुः' इतिश्रुतिः ब्रह्मणः असद्यात्वर्थकर्तृत्व जानत एव सत्त्वप्रतिपादयति । 'तत्त्वमसि' इत्यत्र असद्यात्वर्थकर्तृत्व विवाक्षितः । एवं 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यत्रापि तथैव । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इतिश्रुतेः 'आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत्' इति श्रुत्यानुगुण्येनै-वार्यो निर्णयः । तेन 'अग्रे एकमेवासीत्' इत्येव योजना तत्र विवाक्षितेति सिद्ध्यति । 'आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविषः (ब.३.) इत्युपक्रमे व्याकृतपदार्थविरह एव विवाक्षितइति 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाम्या व्याक्रियत' इत्यु-त्तरश्रुत्या सिद्ध्यति । एव च 'एकमेवासीत्' इत्यत्र नामरूपविभागशून्यमासीदित्येवार्थः । 'अद्वितीयम्' इत्यत्र पर-समतार्थो न विवाक्षितइति जिज्ञासाऽधिकरण (६२०-पु) एव निरूपितम् । जगत्कारणत्वप्रतिपादकश्रुत्युत्तरमेव 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' इति वाक्यसद्भावेन उपादानोपादेयभावनिबन्धनमेव सामानाधिकरण्यमिति सिद्ध्यतीति पूर्वमेव जन्मा-धिकरणे निरूपितम् । 'परिणामात्' इति सूत्रे (श.भा) 'सच्चत्यचाभवत्' इति श्रुतेरुपादानेन परिणामनिबन्धनमेव सामानाधिकरण्य सूत्रवृद्धमिममिति अकामेनापि परैस्स्वीकार्यम् । 'अयमा मा ब्रह्मसर्वानुभूः' (बृ) इत्यत्र 'सवा अय-मात्मा सर्वेषा भूतानामधिपतिस्सर्वेषा भूताना राजा' इति पूर्वश्रुत्युक्तजगत्कारणभूतएव अयमात्मा विवाक्षित इति तत्र जीवब्रह्माभेदशङ्काया अपि नावकाशः । 'सर्वानुभूः' इत्यस्य वृत्तिकारसम्मतार्थ एव युक्त इति 'औपनिषदपरमपुरुष' ग्रन्थनिवरणे जिज्ञासाऽधिकरणे निरूपितम् ॥

'यस्सर्वशस्सर्ववित्' (मु.१.१.९) इति प्रागुक्तार्थः 'यस्सर्वशःसर्वविद्यस्यैव महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरेह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥' (मु.२.२.७) इत्यत्र विशदीकृतः । अत्र सर्वविषयकज्ञानकर्तृत्व निर्विशेषे न घटत इति निर्विशेषविवक्षा न घटत इति पूर्वमेवोक्तम् । अत्र महिमशब्देन प्रपञ्चस्य विभूतित्वबोधनेन तद्वाचासम्भवस्तिद्धः । 'येना क्षरंपुरुष वेद' (मु.१.२.१३) दिव्योह्यमूर्तःपुरुषः अक्षरात्परतःपरः' (२.१.२) इति श्रुत्युत्तर 'पुरुषएवेद विश्वम्' इत्युक्तम् । तेन पुरुषशब्दार्थनिर्वचनानुसारेण 'ब्रह्मैवेदममृतं ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्' (२.१.१) इत्यत्रापि बृहदार-ण्योक्तपुरुषपदनिर्वचनानुसारेण परसंमतसामानाधिकरण्य न विवाक्षितमपितु वृत्तिकारसम्मतमेव । 'अथ परायया तद

## गूढार्थसंग्रहः

क्षरमविगम्यते ' ' नामरूपादिमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ' इत्युक्तमोपसंहारयोः प्राप्ताभिधानेन ' ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ' इत्यत्र भूषातुः प्रातपर्यन्त एव निधीयत इति प्रागेवाभिहितम् ॥

एतेन समन्वयात् इत्यत्र परागमतार्थो न विवक्षित इत्यपि सिद्धयति । ' तात्पर्येण अन्वयः समन्वयः ' इत्यत्र कस्यापि न विवादः । उपक्रमादिपदार्थघतात्पर्यलिङ्गैस्समन्वयोऽपि सर्वसंमतः । तावता निर्विशेषस्य श्रुतिषु तात्पर्यनिर्णयो न घट्यते । सोऽयमित्यत्रापि परसंमतः न निर्धर्मकनिष्प्रकारकबोध इति जिज्ञासाधिकरण एव निर्धारितम् । तात्पर्यलिङ्गानि बोधदयस्य सर्वसमतः एकतरबोधनिर्णायकानि नतु बोधस्यैवाप्रामाणिकत्वं इत्यपि पूर्वं निरूपितम् । ' सदेव सोम्येदम-  
प्रभाषीत् ' ' ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ' इत्युक्तमोपसंहारां परागमतौ न विवक्षितौ । किंतु ' येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतमतम् ' ' यथा सोम्यैकेन मृषिण्डेन सर्वं मृष्यं विशातं स्यात् ' इति परमोपक्रमे दृष्टान्ते परिणामनिबन्धनस्यैव सामानाधिकर-  
ण्यस्य विवक्षितत्वेन दार्ष्टान्तिके नामरूपविभागवतः नामरूपविभागशून्यावस्थायाः प्रलयकाले निरूपणेन ' सदेव ' इत्यादि वाक्यं परिणामनिबन्धनसामानाधिकरण्यपरमेव । ' बहुस्याम् ' इत्युक्तार्थस्य ' अनेन जीवनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ' इत्यत्र विशदीकरणेन ' ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ' इति नवकृत्वः अभ्यस्तवाक्ये सृष्टिकालिकानुप्रवेशनिबन्ध-  
नमेवामत्वं विवक्षितमिति ' अन्तःप्रविष्टश्चास्ता जनानागँसर्वात्मा ' इति श्रुत्यन्तरेणापि निर्णयेन ' तत्त्वमसि ' इत्यत्र तदिति नपुंसकनिष्कर्षनिर्देशेन ' तदैक्षत बहुस्याम् ' इति श्रुत्यनुसारेण परिणामनिबन्धनमेव सामानाधिकरण्यं विवक्षित-  
मिति निर्णयेन उपक्रमोपसंहारयोः परिणामवाद एवासाङ्गत्यम् । नतु विवर्तवादे । अयमर्थः अत्रैव पूर्वं ग्रन्थान्तसाराश्रुते च सम्यङ्निर्धारितः ॥

एतेन पञ्चपादिकोक्तसम्यक्तापरिष्करणं ' सोऽयमित्यादिदृष्टान्ताभिधानं च न खेप साधयितुमलम् ; जिज्ञासाऽधि-  
करण एव एतत्पर्यालोचनकरणात् । सङ्क्षेपशरीरके—' तद्बुद्धिमात्रफलत्वे च तत्परत्वं वेदान्तवादिसमये नतु शेषभावः ।  
शेषत्वमश्रकलापगतासिमात्रं प्रत्येव नाध्ययनमर्थधियोऽपि शेषः ॥ १—४६६ ॥ तच्छेषभावमनपेक्ष्य च तत्फलस्यादा-  
धानवन्नहि तदङ्गमिह कृत्नाम् । अमयङ्गमेवहि तदिष्टमथापि तस्य सर्वकतुध्वधिकृतिः फलमभ्युपेतम् ॥ ४६७ ॥ सप्रयो-  
जनकबुद्धिकारण वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः । सप्रयोजनकबुद्धिशेषधीहेतुमन्यपरमाश्रयन्ति च ॥ ४७९ ॥ ' इति, अद्वै-  
तपरिभाषाया—' तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् ' इत्येव युक्तं, नतु शेषत्वम् । इत्युक्तम् । यथातथावा भवतु तात्पर्यलिङ्गः  
निर्विशेषासिद्धिः प्रागेवोक्ता । अपूर्वतातु सत्यादिवाक्यात्तत्त्वदाघ प्रतिपन्नार्थापेक्षयाऽतिरिक्तार्थस्य महावाक्यजन्यबोधाविषयत्वेन  
नास्त्येव । भेदभ्रमनिवर्तकत्वेन ' सिद्धतु निवर्तकत्वात् ' इति न्यायेनापूर्वबोधोपपादनमपि न घट्यते । भ्रममूलज्ञानविशेषस्य  
ब्रह्मानन्दोक्तस्य निर्विशेषसिद्ध्यनन्तरमेव सिद्धिः नतु ततः पूर्वम् । स्वप्रकाशत्वस्यापि निर्विशेषेऽनङ्गीकारेण स्वप्रकाशतया-  
ऽपि न निर्विशेषासिद्धिः ॥

' सिद्धतु निवर्तकत्वात् ' इत्यस्यार्थः जिज्ञासाऽधिकारण एव (३४२-३४३.पु) निर्णीतः । ' ब्रह्मविदामोतिपरम् ' इत्या-  
श्रुतं फल परमते सर्वथा न सम्भवति । जगत्कारणत्वस्य परिणाम्युपादानत्वस्य श्रुतितात्पर्यविषयस्याङ्गीकारे एव तत्सम्भवती-  
त्यादिक प्रागेवात्रान्यत्रच निर्धारितम् । एतेन ' द्विविधचेष्टप्रेप्सति किञ्चित्प्राप्य यथा मामादि । किञ्चित्प्राप्तमपि यथा—  
भ्रान्त्या हस्तगमनेन विस्मृतमुवर्णादि ' इति (प.पा) ' करमुष्टिनिविष्टमुत्तम कनकं प्रसरणादलब्धवत् । प्रतिभाति तदासवा-  
क्यतः प्रतिपत्त्या लभते यथा जनः ॥ ' (स.शा.१.३०४) इति सर्वज्ञानमुनिः । ' द्विविधहीप्सित पुरुषस्य किञ्चित्प्राप्यं  
प्राप्तादि । किञ्चित्पुनः प्राप्तमपि भ्रमवशादप्राप्तमित्यवगतम् । यथा स्वप्नीवाधनदं प्रैवेयकम् ' इत्यादौ च (भामती) प्राप्ता-

### गूढार्थसंग्रहः

प्राप्तिरेव ब्रह्मप्राप्तिः इति समाधानमपि उक्त्वान्तिगतिनिरूपणानन्तर ‘अथ सप्तस्ये’ इति सद्विद्योक्तसप्तस्येः ‘अस्माच्छरीरा-  
त्समुत्थाय परज्योतिरुपसपद्य’ इति दहरविद्योक्तसप्तस्ये पर्यवसितायाः ‘सप्त्याविर्भावः’ इतिसूत्रे निर्धारणेन न घटते ।  
प्राप्तप्राप्तिदृष्टान्ते तदनन्तरकालिकसुखानुभवस्यैव फलत्वं ननु प्राप्तेः । परमतेऽनुभविष्युरभावेन तथाफल दृष्टान्तोक्तदिशा  
नैव निरूपयितुं शक्यमिति परमो ब्रह्मप्राप्त्युपपादनासम्भवः अपरिहार्यः । ‘एतदात्म्यमिदं सर्वम्’ इत्यादेर्नवकृत्वो  
ऽभ्यासः सिद्धान्त एव सङ्गच्छते ॥

‘आचार्यवान्पुरुषो वेद’ ‘अथ सप्तस्ये’ इत्युक्तकल्माषि सिद्धान्त एव सङ्गच्छत इति प्रागेव निरूपितम् ।  
‘येनाश्रुतश्रुतम्’ ‘अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य’ इत्यर्थवादः मृल्लोहादिदृष्टान्तश्च ‘परिणामात्’ इति सूत्रयिष्ठः  
व्यासस्याशयानुसारेण परिणाम्युपादानत्वमेव सङ्गच्छत इत्यपि पूर्वं निरूपितम् । स्वपितिनाम निर्वचन ‘सुषुप्त्यु क्रान्त्यो-  
भेदेन’ ‘तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च’ इति सूत्रयोः जीवब्रह्मणो भेदाङ्गीकारे एव सङ्गच्छत इति व्यासैव  
निर्धारितम् । सृष्टिस्थित्यादयः सृज्याभावेन सङ्गच्छन्ते । स्वामिकार्यानां परमते बाधस्यासम्भवः । सिद्धान्ते तु अल्पकाल-  
वर्तित्वेन तत्सम्भवश्चोपपादितः । एतेन स्वामिकार्यानां सत्यत्वेन स्वप्नसृष्टिश्रुतिरप्युपपद्यते । एवञ्च पञ्चविधतापर्यलिङ्गानि  
सविशेषपरिणाम्युपादानस्य ब्रह्मण्यङ्गीकारपक्ष एव वृत्तिकारमते उपपद्यन्ते, ननु निर्विशेषयादिमत इति तत्तु समन्व-  
यात् इतिसूत्र वृत्तिकारमत एव सङ्गतम् ॥

एतेन इहतु कार्यकारणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वसति द्रव्याभिधायिपदयोस्सामानाधिकरण्य ‘सोऽय’मिति वत् इत्यत्र अभ्या-  
सभाष्ये च विवरणम् । ‘एव च सति नीलोत्पलवत् अयुतसिद्धपरस्परव्यतिरिक्तविशेषणविशेष्यभावेनाप्यवयो दुर्लभ इति’  
तत्तु समन्वयात् इति विशेषणविशेष्यत्वमपि गौणमपि सामानाधिकरण्य त्रिहाय एकस्मिन्निरशे ‘तत्त्वमसि’ इति समन्वयो  
मुख्यप्रतिपादितः’ इत्यादिपञ्चपादिकाचेत्युभय निरवकाशम् । एवञ्च सति नीलोत्पलमिति (प.पा) विवरणे ‘एकमेवा  
द्वितीयम्’ (छा) ‘एकधैवानुद्रष्टव्यम्’ (उ) ‘नेहनानाऽस्ति किञ्चन’ (तृ.कट) ‘उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भय  
भवति’ (ते) इत्यादिप्रतिषेधादित्यर्थः । इत्युक्तदूषणस्य एतच्छ्रुतीनां पूर्वमेव १३२.अ परसमतार्थयोगस्य निरूपणेनानुपा-  
देयत्वात् । विशेषणविशेष्यमात्र सामानाधिकरण्यमकमेव सर्वत्र वेदान्तेष्वपि । ननु ततोऽतिरिक्त परसमत सामानाधिकर-  
ण्यमिति जिज्ञासाधिकरणे सम्भङ्गनिर्धारणात् । जन्मन्मस्य यतः इति सूत्रयितुर्व्यासस्य उपादानोपादेयभावनिबन्धनमेव  
सामानाधिकरण्य विवक्षितमिति पूर्वमेवावेदनाच्च । अतः जन्माद्यधिकरणोक्तार्थ एव तत्तु समन्वयात् इत्यत्र सप्तस्यो-  
पपादनेन निर्धारित इत्येव युक्तम् ॥

ननु जन्मादिसूत्रोदाहरणेभ्येव प्रामाण्य दर्शनीयम् । किमुदाहरणान्तरेण, वाटम् । अस्यन्नाभिप्रायो भाष्यकारस्य  
तत्र ब्रह्मणो लक्षण वक्तव्यमिति तदस्यैव ब्रह्मणो निरूपकाणि वाक्यानुदाहृतानि । इहतु ‘तत्त्वमसि’ इति जीवस्य ब्रह्मा-  
त्मताऽऽगतिपर्यन्तानि वेदान्तवाक्यानि न तस्यमेव जगत्कारण प्रतिपाद्य पर्यवस्यन्तीत्यतः तथाभूतान्येव वाक्यानुदाहृतानि  
‘सद्व सोम्येदमग्रआसीत्’ इत्येवमादीनि इति (प.पा) उक्तम् । अयमर्थः कथं घटते । अतो जन्माद्यस्य यतः शास्त्रप्रमाण  
कमित्येतावदिदं सत् अस्मिन्दिग्धमनुमानशङ्कानिर्वृत्ते पृथक्करणम्’ इति शास्त्रयोगि वाधिकरणे (प.पा) उक्तया शास्त्रपद-  
जगत्कारणशास्त्रपदमिति अयस्य परेणामपि समतरेन अत्र शास्त्रयोगिपदानुपज्ञाभ्युपगमेऽपि जीवब्रह्माभेदबोधपरशास्त्रप-  
दस्य शास्त्रपदस्य नैव निर्णेतुं शक्यम् । प्रथमसूत्रद्वयन वेदान्तेषु पाठ्यत्वात् जगत्कारणानुवादेन अद्वितीयप्रत्यगभिन्न  
ब्रह्मादीनि विवरणोक्ता नैव घट्यते इति पूर्वमेवापपादितम् । तथाऽङ्गीकारे अनुमानाशङ्कानिर्वृत्तिरप्यनपेक्षितेव । ‘तन्मो

### गूढार्थसंग्रहः

निपद पुरुषम्' (वृ) इति श्रुतिः परेषां न घटते । यस्यामुपनिपदि इयं श्रुतिः पठिता तस्या निर्वचनत्रयासिद्धार्थत्रयस्य अयमपुरुषः' 'वैकुण्ठः पुरुषः' इति नामभाष्ये (श) परसमतस्य निर्दिशेषवादिमतेऽयोग एवेति असङ्गदोवेदितम् । 'येन जानाति' इत्यत्र कारणगतमेकत्व कारणद्वयव्यावर्तकम् नत्वात्मान्यसामान्यव्यावर्तकम् । तथा व्युत्पत्तिविरहात् ॥

अनन्तत्वघटकपस्तुपरिच्छेदराहित्यं ब्रह्मशब्दार्थे परेषां विवक्षितम् । वस्तुव्यापिवरूपमेव वृत्तिकारसमनम् तेनायुतसिद्धिरीशेषणविशेष्यभावे सामानाधिकरण्यमेकमेव मुख्य वेदान्तेषु विवक्षितमिति सिद्ध्या उक्तसामानाधिकरण्यस्य गौणत्व-सङ्का न समवति । अन्यत्रिसामानाधिकरण्यस्यैव वैदिकदार्शनिकासमतत्वात् । वर्णकद्वये प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारकफलाभावात् सिद्धे व्युत्पत्त्यसम्भवाच्छाल्प्रमाणकत्व ब्रह्मणो न संभवति । कार्यार्थ एव व्युत्पत्त्या सिद्धे व्युत्पत्त्यभावेन च उत्तार्थो न समवतीति शङ्का । अप्राप्तस्य प्राप्तावेव प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारक फलम् । नतु प्राप्तस्य विस्मृतस्य शनेन प्राप्तौ, अतः जीवाभिन्नब्रह्मणः प्राप्तिरूपप्रयोजनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारविरहेऽपि सम्भवात् सप्रयोजनत्वमिति सिद्धान्तः । प्रथमसूत्रे ब्रह्मपदस्य अद्वितीयप्रत्यगभिन्नब्रह्मपरत्वेन सप्रयोजनत्वम् । अत्रतु तात्पर्यलिङ्गाधीनता पर्यनिर्णयेन वेदान्तानां अद्वितीयब्रह्मपरत्वेन सफलत्वमिति परेषां प्रक्रिया ॥

अत्र सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थनमन्तरा प्रथमसूत्रे कथं सफलत्वसम्भवः व्युत्पत्तिनिरूपणं यत्तु प्रथमतः कार्यम् । अन्यथा शब्दतः बोधस्यैवासम्भवात् । अनन्तर स्वस्वाभिमतफलस्य तात्पर्यलिङ्गाधीनतात्पर्येण सप्रयोजनत्वसिद्धिः काम भवतु । वस्तुपरिच्छेदराहित्यस्य वृत्तिकारसमतस्य पूर्वमेव निर्णयेन ब्रह्मपदस्य अद्वितीयप्रत्यगभिन्नब्रह्मपरत्वासम्भवात् पूर्वपक्षः सिद्धान्तश्च न घटत इति पूर्वमेवोक्तम् । अत्रापि तात्पर्यलिङ्गानां सविशेषपरत्वोपपादनेन जीवाभिन्नब्रह्मणः फलत्व न साधयितुमलम् । (प.पा) दूषितस्य 'अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यादिश्रुतिविवक्षितस्य जीवब्रह्मणोर्भेदमङ्गीकृत्य ब्रह्मणश्च-प्रदेशान्तरवर्तित्व सर्वगतत्वं चाभ्युपगम्य निधीयमानादुपासनाद्यागादिव स्वर्गो मोक्षः फलिष्यतीति (विवरणे) उक्तस्य पर्यालोचनमत्रैवोत्तरत्र भविष्यति । अतः परोक्तसूत्रचतुष्टयार्थः न श्रुतिसूत्रतात्पर्यानुगुण इति सिद्धम् ॥

नवीनास्तु—'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' श्रुत्युक्तं ब्रह्मजिज्ञासामित्युक्तम् । तच्छ्रुत्युक्तं ब्रह्मान विषयः । किं विष्णुस्त जीव इति सन्देहः । उभयत्रापि ब्रह्मपदप्रयोग एव सन्देहग्रीजम् । यद्यपि पूर्वाधिकरणे विष्णावेव ब्रह्मशब्दो मुख्यइत्युक्तम् तथाऽपि स्वकृतव्याख्यानस्थापनाय भाष्यकारैरेवोक्तत्वाद्भवति सन्देहः । जीवएवेदब्रह्मेति पूर्वपक्षः 'बृहज्जातीय' इति ब्रह्मशब्दस्य जीवे रूढत्वात् । यद्यपि ब्रह्मशब्दो विष्णौ प्रवर्तते तथाऽपि तस्य तत्र योगेनैव प्रवृत्तेः रूढियोगयोश्च रूढेरेव प्रवृत्तत्वात् जीववाचित्वमेव' इति (त.प्र) 'ब्रह्मणो लक्षणमाह—ओं जन्माद्यस्य यत ओम्' सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाज्ञानबन्धमोक्षा 'यत उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः । बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यस्मात्सहरिरेकराद्' इति स्कान्दे (आ.मा) इति । बाधकविना मुख्यार्थत्यागायोगात् । तस्य च स्वप्रकाशेनासन्दिग्धत्वादजिज्ञास्यतेति । अथ सिद्धान्तयत्सूत्रमवतारयति—ब्रह्मण इति । निर्वाचरूढिबलाजीवएवेद ब्रह्मेति प्राप्ते तन्निराकर्तुं जीवग्रहणे बाधकं श्रुत्युक्तं जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणमाह—सूत्रकारइत्यर्थः' इति (त.प्र) च वदन्ति ॥

प्रथमाधिकरण एव 'नतावत् ब्रह्मविषय असन्दिग्धत्वात् । प्रमाणामावेन जीवव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावात् जीवस्य च स्वप्रकाशत्वात्' इति (त.प्र) पूर्वपक्षस्य 'भवेदेतदसन्दिग्धत्वं जिज्ञास्यस्य, यदितत् स्वप्रकाशजीवाभिन्नस्यात् नचैतदास्ति । जिज्ञास्ये ब्रह्मपदश्रवणात् 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' ब्रह्मशब्दश्च पूर्णगुणता वक्ति । अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति 'बृहत्तोऽस्मिन्गुणा' इति श्रुतेः । तथा च कथं तस्य जीवभेदः ? जीवस्याल्पगुणत्वेनानुभवात् इति सिद्धान्तस्य



## गूढार्थसंग्रहः

च प्रतिपादनेन पुनः तथा पूर्वपक्षे बीजमेव नास्ति । जीवब्रह्माभेदवादिमते शुद्धचित्तएव स्वप्रकाशतया जीवस्य स्वप्रकाशत्वविरहेण पूर्वपक्षानुत्थितिश्च । योगात् रुद्धैर्गलीयस्व द्वितीयाधिकरणे पूर्वपक्षहेतुतया यदुक्त तत्प्रथमसूत्रेऽपि समर्थापरैः (प.पा) 'बृहज्जाति' इत्यादिना जीवे रुद्धिमाशङ्क्य निरुक्तिसिद्धार्थस्य ग्राह्यत्वं प्रथमसूत्र एव सिद्धान्तितम् । तन्नवीनमतेऽपि सम्भवति । प्रथमसूत्रे ब्रह्मशब्दस्य विष्णौ विद्वद्भूटिरुक्तैवेति पूर्वपक्षानुत्थितिश्च । 'यद्यपि ब्रह्मशब्दो विष्णौ विद्वद्भूटियुक्तः तथाऽपि अभ्युपगम्येयमुक्तिरिति ज्ञातव्यम्' इति (त.प्र) द्वितीयाधिकरणस्याभ्युपेत्य वादत्वमेवोक्तम् सिद्धे व्युत्पत्तेः अभावशङ्काया तत्समर्थनपरत्वं प्रथमसूत्रस्य यत्सुधायामुक्तं तदेव युक्तमिति ब्रह्मशब्दस्य पत्तिसमर्थनार्थं द्वितीयसूत्रस्येत्येवाभ्युपगन्तुमुचितम् । प्रथमसूत्रस्य सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थनपरत्वे अथातश्च शब्दयोरपि वृत्तिकारसमर्थार्थ एव युक्तः । 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' इत्यादिना सिद्धपरवाक्यभिन्नवाक्यानामेव प्रामाण्यस्य प्रतिपादनेन कर्मविचारानन्तं सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थनस्य कर्तव्यतायाः आवश्यकत्वात् । 'अत' इत्यस्य 'अथ' शब्दार्थघटकतया विवक्षितमोक्षफलत्वस्य अकारस्य विष्णुवाचकतया विष्णोः विष्णुप्रसादादित्यर्थकत्वस्य च पूर्वपक्षनिरासकत्वेन एतत्पक्षे उपयोगाभावात् । विष्णुप्रसादमन्तरा जिज्ञासायाः पूर्वपक्षसम्भवे सतीत्य वक्तव्यम् । 'ईश्वरानुग्रहादेव पुसामद्वैतवासना' इति परैरप्युक्त्या तथा शङ्काया असंभवात् । 'अत' इत्यस्य अन्यसूत्रेषु बहुषु एतच्छब्दप्रकृतिकतसिलन्तत्वस्य नवीनानामपि संमतत्वेन तत्रैव प्रसिद्धया प्रसिद्धार्थपरित्यागायोगाच्च । सुमुद्धानन्तर ब्रह्मजिज्ञासाकर्तव्येत्युक्तौ मोक्षस्य फलत्वं ज्ञातुं शक्यत एवेति 'अत' इत्यस्य मोक्षाख्यफलसद्भावात् इत्यर्थोक्तिरपि निरवकाशा ॥

'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इत्यत्र ब्रह्मशब्दस्य श्रौतनिर्वचनेन योगेन विद्वद्भूत्या वा जीवभिन्नब्रह्मपरत्वं न संभवति लोकेऽप्रसिद्धत्वात् प्रसिद्धार्थस्यैव ग्राह्यत्वात् । जीवस्यादृष्टद्वारा सृष्ट्यादिकमुपपद्यते इति शङ्काया 'यन्नदुःखेन' इति श्रुत्या स्वर्गशब्दस्यार्थनिर्णयवत् ब्रह्मशब्दस्यापि 'यतो वा' इत्यादिश्रुत्या अर्थनिर्णयइति सिद्धान्तइति सुधायोजना ।—चन्द्रिकायातु—मोक्षदत्त्वादिष्णुर्जिज्ञास्य इत्युक्तम् । तर्हि गन्धकत्वादाजिज्ञास्येऽपि स्यादित्यादिशङ्कायामप्रसन्नस्य गन्धकत्वं प्रसादहेतोः जिज्ञासायाः कर्तव्यतनुकूलमेव । ननु प्रतिकूलमित्यादि समाधानं द्वितीयसूत्रे विवक्षितमिति अनुव्याख्यानं संमतं योजनान्तरमुक्तम् । तत्र सुधोक्तयोजनाया जन्मादिकारणत्वेन ब्रह्मशब्दस्य विद्वद्भूतिः क्रोगो वा कथं साधितः तत्तात्पर्यग्राहकशब्दाभावात् । 'यन्नदुःखेन' इति श्रुतिः स्वर्गशब्दास्यार्थं तादृष्येण निर्धारयति । 'यतो वा' इति श्रुतिस्तु न ब्रह्मशब्दार्थनिर्णायिका । प्रथमसूत्रे ब्रह्मशब्दस्य विद्वद्भूतिबोधकं श्रौतार्थबोधकं वा न किञ्चित्पश्यामः अतः प्रथमसूत्रे तादृशार्थनिर्णय इति कथम् ॥

सिद्धान्ते तु ब्रह्मशब्दार्थव्यक्तिविशेषानिर्णयः न प्रथमसूत्रे, द्वितीयसूत्रे च 'यतो वा—जायन्ते येन जातानि'—इत्यादौ एकवचनानिर्देशेन ब्रह्मशब्दार्थस्य एकत्वं निश्चितं भवतीति ब्रह्मशब्दस्य सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थनं सङ्गतं भवति । चन्द्रिकोक्तयोजना च कथं घटते ? प्रथमसूत्रे विष्णुप्रसादाजिज्ञासा इत्येवोक्तम् ननु विष्णुप्रसादान्मोक्षइति । सुधावांमोक्षप्रयोजनत्वाजिज्ञासाकर्तव्येत्यतश्च शब्देनोदितेऽपि पुनराशङ्का भवत्येव तत्र 'प्रमाणस्यानुक्तत्वात्' इत्येवानुव्याख्यानसंमतः पूर्वपक्ष उक्तः (३.३.१) ननु चन्द्रिकोक्तरीत्या । 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुत्युक्तब्रह्मेव जन्मादिसूत्रे विषयः' इति (त.प्र) उक्त्या 'यतो वा' इति श्रुतेरेव तत्र विवक्षायाः अन्यश्रुतेरविवक्षायाश्च सिद्धया स्कान्दोक्तनियतिशानादस्या मुताव-प्रतिपादनेन जन्मादीत्यादिपदे नियत्यादीना व्यासाभिप्रेतत्वं कथं सिद्धयति ? अन्यथा चेतनस्य सुखदुःखादेः अचेतनस्य वृद्ध्यादेः आदिपदार्थव्यावृत्तिः कथम् ? विचारानुधायकनानावाक्यपरामर्शेन सूत्र स्कान्दोक्ताष्टकर्तृत्वमेव विवक्षितं

### गूढार्थमंग्रहः

मेति चन्द्रिकोक्तिर्न घट्यते । स्कान्दे एतन्सूत्रार्थत्वेन अष्टकर्तृवस्थानुक्तेः । प्रकाशे यद्यप्यन्वेष्टादिवाक्येषु अपहतपाप्मत्वस्य प्रमवादिघर्षाः श्रुताः तथाऽपि ब्रह्मपदोक्तगुणग्रहणेन गृहीतेः तदुपपादकत्वमथानामित्युक्तिरिति ध्येयम् । इत्युक्तिरप्यनुपादेया । नियत्यादिहेतुत्वस्यापि ब्रह्मगुणान्तर्भावस्यैव सभवेनाष्टसङ्ख्यायाः अयोगात् । अतः नानाविधविचारवाक्यानि तस्यैव एकमेव 'तद्विज्ञासस्व' इति वाक्यमादृतव्यम् । तदादेर च 'यतो वा' इति वाक्यप्रतिपाद्यसृष्ट्यादिहेतुत्वमेव विवाक्षितमिति युक्तम् । त्रिनयोक्तिः परिणाम्युपादानत्वबोधनार्था सृष्टिल्याभ्यामेव परिणाम्युपादानत्व नतु स्थित्या सभरतीति न भ्रमिनव्यम् । अन्तर्यामिन्कृतसत्ताऽनुवृत्तिलक्षणस्थित्या उपादानत्वस्य निष्कर्षणात् । 'आत्मकृतेः, परिणामात्' इति सूत्रयोः ब्रह्मणः अन्तर्यामित्वपरिणामः वक्ष्यत इति स्थित्याऽप्युपादानत्वस्य सूत्रकृतो विवाक्षितत्वनिर्णयात् । अतएव 'सर्वत्वद्वि' इति श्रुतिवाक्यमुपपन्नम् । अत्र नवीनैः 'तद्गुणसारत्वात्' इति सूत्रमाध्ये यथा सर्वगुणात्मकत्वात् सर्वात्मकस्य ब्रह्मण उच्यते 'सर्वत्वद्विदम्' इति छान्दोग्यमाध्ये 'इदं ब्रह्मातिसामीप्यात् सर्वं पूर्णगुणत्वतः । तच्च ब्रह्म जगत्साक्षात् योऽसौ त्रिष्णुर्जलानिति ॥' इति चोक्तम् । तथाऽपि तद्गुणसदृशगुणवत्त्वेन अभेदनिर्देशे गौणत्वमेवाङ्गीकृतं स्यात् 'सर्वत्वद्वि' इति श्रुतामेव 'तज्जलान्' इत्यस्य सर्वाभेदहेतुत्वसमये अहेतुभूतार्थान्तरकल्पनस्य श्रुतितात्पर्याविषयत्वाच्च । अतिसामीप्येन 'सर्वत्वद्वि' इत्यत्र मुख्यवृत्तेरसिद्धेश्च । प्रलम्बकाले प्राणनस्य 'आनी'दित्युक्तिमात्रेण प्रागुदाहृतमैवायगीथादिश्रुत्यनुसारेण अन्तर्यामिन्यैवानन विराक्षितम् अन्तर्यामिकृतसत्ताऽनुवृत्तिलक्षणस्थितिः तेन सिद्धयति एतेन दयामूलकत्वमपि सूचितं भवति । तेन 'यतो वा' इत्युपक्रमोक्तसृष्ट्यादेः 'यत्प्रयान्ति' इत्युक्तमुक्त्यैकरस्यम् ॥

'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' 'विवाक्षितगुणोपपत्तेश्च' 'अर्भकौकस्त्वात्' इति सूत्रत्रयेण सूत्रकृता उक्तार्थ निष्कर्षः कृतः । अत्र 'सर्वत्वद्विदम्' 'एषम आत्माऽन्तर्हृदये (३) एतमितः प्रेत्याभिसंविताऽसि' इत्याद्यर्थनिर्णयः उक्तसूत्रैः क्रियते । अत्र सर्वमित्यनभिधाय सर्वत्रेयुक्तिः सामानाधिकरण्ये श्रुत्याद्युक्तेहेतुप्रदर्शनार्था । सर्वत्रेयुक्तौ जगति विद्यमानमित्यर्थः स्वनएव लभ्यते । 'यद्भूतेषु वसत्यपि सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वामुदेवः' इति (ब्र. वि.) उपनिषदापि सर्वानुग्राह्ये भूतेषु वासउक्तः । 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणास्थितः' इति श्रुत्यनुसारेण वासोऽन्तर्यामिब्राह्मणोक्तव्याप्तिपर्यवसिनः । 'एषम आत्माऽन्तर्हृदये' इत्यत्र आत्मन्शब्दः आप्नोतीति व्युत्पत्त्या 'अन्तःप्रविष्टश्चास्ताजनानाम्' इति श्रुत्यनुसारेणादन्तःप्रविश्य नियन्तृपरः । 'सर्वत्वद्विदम्' इत्यत्र उक्तब्रह्मैवात्मा अत्र सर्वशब्दसामानाधिकरण्यं ब्रह्मशब्दस्य सर्वशब्दवाच्ये जगत्यामतया स्थितिनिबन्धनम् । सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ॥' (वि. पु. २१. ८५) 'सर्वं समाप्नोति ततोऽसि सर्वः' (सर्वात्मकोऽसि) सर्वस्यात्माऽसि सर्वेश सर्वभूतस्थितो यतः ॥' (वि. पु. १. १२. ७२) इति चोपगृह्णाच्च । एतेन अन्तर्यामित्वकृतसत्ताऽनुवृत्तिलक्षणस्थितिः 'तज्जलान्' इत्यत्र अनघात्वर्थेति सूचितम् एतच्च दयामूलकम् । 'अर्भकौकस्त्वात्' इति सूत्रे अल्पशब्द विहाय अर्भकशब्दप्रयोगेण अर्भकस्य यदोक्तः तदेवोक्तः यस्य सः अर्भकौका इत्यपि विग्रहः विवाक्षितः । एतेन सृष्टिवाक्यानां राजकुमारनयबोधनार्थत्वेन कुमारेषु दययाऽन्तर्यामित्वेन स्थितिरित्यापि व्यञ्जितम् । 'एषम आत्माऽन्तर्हृदये' इति त्रिवारमम्यासः आत्मत्वतात्पर्यलिङ्गम् । 'सर्वत्वद्विदम्' तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्युपक्रमः 'एतमितः प्रेत्याभिसंविताऽसि' इत्युपसहारे फलवाक्यम् । एतन्निर्णयपर्यालोचनायां सृष्ट्यादिवाक्यानां उपादानोपादेयभावपरत्वेन राजकुमारनयः तेन पुत्रस्येव जीवस्य परमा मपारतन्व्यप्रतिपात्तिः नायमुपादानोपादेयभावः, स्वरूपपरिणामनिबन्धनः किन्त्वन्तर्यामित्वनिबन्धन इति 'एषम आत्मा' इत्यम्यस्तान्तर्यामिवाक्येन बोधितम् । स्वरूपपरिणामनिबन्धनोपादानोपादेयभावः नात्र विवाक्षितः, किंतु सर्वान्तर्यामि वनिबन्धनएवेति तात्पर्यं 'सर्वत्र

### गूढार्थसङ्ग्रहः

इति पद सूत्रे प्रयुज्जानेन व्यासेन सूचितम् । ' एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि ' इति वाक्येन सृष्टिवाक्यानामुत्तरीय दयामूलकत्वेन ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वम् उपासनस्यापि पुत्रस्य दायघनवदविशेषेण तरतमभावानापन्न फलम् एतच्च दयाऽदिगु णानुसन्धानवत एवेति निष्कम्पप्रवृत्तेः फलमिति ' इति यस्यस्यादद्धानविचिकित्सा ' इत्यत्र विवक्षितम् । एव च समानाधिकरणस्य सृष्ट्यादित्रयहेतुकत्वोक्तिपूर्वकं सृष्टेः सुत्तिफलपर्यवसायित्वप्रतिपादनेन ' यतोवा ' इति श्रुतावपि त्रयाणां सुपन्यासेन उपादानोपादेयभावप्रतीत्या सृष्ट्यादिवाक्यानां नात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वं प्राप्तिफलकत्वं च निर्णीयतइति सृष्टि-वाक्यानां प्राधान्यं समानाधिकरणवाक्यानामप्राधान्यं च निश्चितं भवति ॥

' शास्त्रयोनित्वात् ' इत्यत्र शास्त्रपद, जन्माद्यधिकरणे ईशस्यैव कारणतायाः निश्चयेनानुमानेनेशसिद्धिं वेदपौरुषेयत्व च वदता नैयायिकानां निरासार्थमिति पूर्वमेवोक्तम् । शास्त्रपदेन ' अप्राप्तेतु शास्त्रमर्थगतम् ' इति जैमिनिसूत्रोक्तं नयस्सूचितम् । एव महावाक्यानामेव प्राधान्येन शास्त्रत्व तत्रैव षड्विधतात्पर्यलिङ्गसद्भावात् इत्यर्थस्य श्रुताविवक्षितत्वं शास्त्रपदेन सूचितम् । शास्त्रपदेन ' यतोवा इमानि भूतानि ' इति श्रुतिप्रतिपन्नजगत्कारणत्वबोधनद्वारा अपूर्वता-बोधनमुत्प्रेष्य फलपर्यवसायितयाच इतरतात्पर्यलिङ्गानामपि सत्त्वसूचनेन कारणवाक्यस्य प्रधानशास्त्रत्व व्यञ्जितं भवति । एतेन सिद्धपरवाक्यानां व्युत्पत्तिसमर्थनमुत्प्रेष्य शास्त्रत्व प्रामाण्यं च साधितं भवति । एव साधनानन्तर ' प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । ' पुसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ' (श्लो. वा. श. प. ४) इत्युक्तदिशा आक्षेपे प्रवृत्तिनिवृत्तिविरहेऽपि सिद्धपरवाक्यानां सफलत्वेन प्रामाण्यं समन्वयाधिकरणे निरूप्यते ॥

नवीनास्तु ' शास्त्रयोनित्वात् ' इत्यत्र पाशुपताद्यागमावष्टम्भेनानुमानेन रुद्रादेर्जगत्कारणत्वेन जगत्कारणत्वलक्षणस्यातिव्याप्तिशङ्काया ' नावेदविन्मनुते तबृहन्तम् ' ' तत्त्वौपनिषद पुरुषम् ' इति शास्त्रप्रमाणकत्वं विष्णोरेव । पाशुपताद्यागमस्यायथार्थत्वं पञ्चरात्रस्यैव यथार्थत्वमित्यागमेन न रुद्रस्य जगत्कारणत्वमिति सिद्धान्तः । ' तत्तु समन्वयात् ' इत्यत्र रुद्रादिर्जगत्कारणत्वेन ' वेदादिवेद्य ' इत्युक्तत्वात् रुद्रे जगत्कारणत्वमतिव्याप्तमिति आक्षेपे तत्तु ब्रह्म विष्णुरेव जगत्कारणम् समन्वयात् उपपत्त्यादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गैः विष्णुरेव जगत्कारणमिति निश्चयात् । उक्तं च बृहत्सहिताया- ' उपक्रमोपसंहारावभ्यासोपूर्वता फलम् । अर्धवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये ॥ ' इति उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गैः सम्यङ्निरूप्यमाणे तदेव शास्त्रगम्यम् । इति (आ. भा.),

अत्र तत्त्वप्रकाशिका- ' कानि तान्युपपत्त्यादिलिङ्गानि कुत्र च लिङ्गानि इत्यत आह ' उक्तचेति । एकप्रकारासक-दुक्तिरभ्यासः प्रमाणा-तरासिद्धताऽपूर्वता । फलवत्त्वं फलम् । स्तुतिर्निन्दापरवृत्तिः पुराकल्पोऽर्थवादः युक्तिरुपपत्तिः उपक्रमादीनामुपपत्तिर्वेऽपि ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथगुक्तिः उपक्रमादीनामुपपत्त्यादित्वेन भाष्य तेषामुत्तरोत्तरप्रावल्याभिप्रायम् । ' उपक्रमादिलिङ्गानां बलीयोद्युत्तरोत्तरम् ' इत्युक्तेः । उपसंहारस्य व्याख्यानरूपत्वेन ताद्विरोच्युपक्रमाप्रामाण्यापत्तेः तस्य ततोऽपि प्रावत्यम् । एकत्रोक्तादपि ऋगुलोक्तेः प्रावल्यादभ्यासस्योपक्रमोपसंहाराभ्यां प्रावत्यम् । एकत्र-बहुवारोक्तादपि मुख्यस्य प्रावल्यादपूर्वतायाः उपक्रमोपसंहाराभ्यासेभ्यः प्रावत्यम् । फलस्योद्दिश्यत्वात् उपक्रमादिभ्यः प्रावत्यम् कर-करणाकरणयोरिष्टानिकथनादिरूपार्थवादस्य फलमात्राधिक्यादुपक्रमादिभ्यः प्रावत्यम् । उपपत्तेस्सर्वमूलत्वेन सर्वतः प्रावत्यमिति एतत्सर्वं वाक्यतात्पर्यार्थनिर्णये लिङ्गं भवति । विरोधे तु दुर्बलबाधकतया प्रबल निर्णायकम् साम्ये निरवकाशेन सावकाशं बाध्यते । स्वभावदुर्बलेनापि निरवकाशेन स्वभावतः प्रबलस्यापि सावकाशस्य बाधो भवति । एवमेकेनानेकेषां च बाधः । ननु सावकाशत्वनिरवकाशत्वाम्यमेव निर्णयः न स्वभावप्रावत्यदौर्बल्यं नामास्ति । दुर्बलप्रबलयोः सावकाशत्वनिरव-

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तसारः

जन्माद्यस्य यतः (१.१.२)



अस्य विचित्रचिदचिन्मिश्रस्य व्यवस्थितसुरदुःखोपभोगस्य जगतः, जन्मस्थितिलयाः यतः तद्ब्रह्मेति प्रतिपादयति  
श्रुतिरित्यर्थः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—तद्ब्रह्म' इति । सूत्रे 'यत' इति हेतौ पञ्चमी, जनिस्थितिलयानां  
साधारणत्वात् । जनिहेतुत्वं च निमित्तोपादानरूपं विवक्षितम् 'यत' इति हि श्रुतिः । इहोभयविषया कथमिति चेत् 'यतो  
वा इमानि' इति प्रसिद्धवन्निर्देशात् प्रसिद्धश्च उभयविषयत्वात् । 'सदेव सोभ्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदै-  
वत बहुस्या प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा.६.२.१) इत्यत्र 'सदेव इदम् अग्रे एकमेव आसीत्' इत्युपादानतां—  
प्रतिपाद्य 'अद्वितीयम्' इति अधिष्ठान्तरनिवारणात् सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्चेति विज्ञायते । यथा 'तदै-  
वत बहुस्या प्रजायेय' (छा.६.२.३) इत्यात्मन एव विचित्रस्थिररूपरूपेण बहुमवन सङ्कल्प्य तथैव सृष्टिवचनाच्च ।  
अनश्नुतावपि 'यत' इति हेतौ पञ्चमी । अत्रैव ब्रह्मणो जगन्निमित्तत्वमुपादानत्वञ्च प्रतिपादितम् । अर्थविरोधात् 'अस्मा-  
न्मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे.४.९) इत्यादिविशेषश्रुत्या चाक्षिप्य 'प्रकृतिश्च प्रतिष्ठादृष्टान्तानुपरोधात्' (शारी.१.४.  
२३) 'अमिष्योपदेशाच्च' (२४) 'साक्षाच्चोभयाम्नात्' (२५) 'आत्मकृतेः' (२६) इत्यादिभिस्त्वैः परिहरिष्यते ।  
ननु च सर्वं सर्वशक्ति सत्यसङ्कल्पं निरवयतया निरस्तसमस्तापुरुषार्थगन्ध ब्रह्मैवात्मानं विचित्रचिदचिन्मिश्रं जगद्रूप-  
मिद सर्वमसृजतेति कथमुपपद्यते ? तदेतत् सूत्रकारस्त्वयमेव परिचोद्य परिहरिष्यति । 'अपीतौ तद्वन्प्रसङ्गादसमञ्जसम्'  
(शारी.२.१.८) 'इतरव्यपदेशाद्विदाकरणादिदोषप्रसक्तिः' (२.१.२१) इति चोद्यम् ; परिहारस्तु 'नतु दृष्टान्तभावात्'  
(२.१.९) 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' (२.१.२२) इति च । 'क्षरन्वविद्या ह्यमृतन्तु विद्या विद्या विद्ये ईशते यस्तु  
सोऽन्यः' (श्वे.५.१) 'स कारणं करणाधिपाधिपः नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः' (श्वे.६.९) 'क्षर प्रधानममृताक्षरं  
हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः' (१.१.०) अचिद्वर्गे स्वात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति भोक्ता हरइत्युच्यते । 'द्वाविमौ  
पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरउच्यते ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो  
लोकत्रयमाविश्य त्रिमूर्त्यव्यय ईश्वरः । यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥ अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषो-  
त्तमः ।' (गी.१५., १६., १७., १८) इत्यादिश्रुतिस्मृतिगणैः प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणो भेदेन निर्देशात् परमपुरुषार्थमागिनः  
प्रत्यगात्मनोऽधिकमर्थान्तरभूतं ब्रह्म । तच्च प्रत्यगात्मशरीरतया तदात्मभूतम् । प्रत्यगात्मनस्तच्छरीरत्वं ब्रह्मणस्तदात्मत्वं  
च 'य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्' (माध्यन्दिनपाठः) 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एकेना-  
रायणः' (मुचालोप.७.ख) इत्यादिश्रुतिशतसमाधिगतम् । सशरीरस्यात्मनः कार्यावस्थाप्राप्तावपि गुणदोषव्यवस्थितदृष्टा-  
न्तभावात् ब्रह्मणि न दोषप्रसक्तिः इति नासामञ्जस्य वेदान्तवाक्यस्येति 'नतु दृष्टान्तभावात्' (शारी.२.१.९) इत्युक्तम्  
दृष्टान्तश्च देवमनुष्यादिशब्दवाच्यस्य सशरीरस्यात्मनः 'मनुष्यो बालो युवा स्थविरः' इति नानाऽवस्था प्राप्तावपि बालत्व  
युवत्वस्थविरत्वादयः शरीरगता दोषाः नात्मानं स्पृशन्ति, आत्मगताश्च ज्ञानसुखादयः न शरीरमिति । अतः कार्यावस्था  
कारणावस्थं च ब्रह्म प्रत्यगात्मशरीरतया तदात्मभूतमिति प्रत्यगात्मवाचिना शब्देन ब्रह्माभिधाने तच्छब्दसामानाधिकरूप्ये



च हेतु वक्तु निरसनीय मतद्वयम् प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्रयः ' (शारी.१.४.२०) ' उत्क्रमिष्यत एवभागादित्यौडुलोमि. ' (२१) इत्युपन्यस्य ' अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ' (२२) इति हेतुस्तः । ' तत्सृष्ट्वा तदवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् ' (तै.आ.६.२.३) इत्यादिना प्रत्यगात्मन आत्मनयाऽवस्थानात् ब्रह्मणस्तच्छब्देनाभिधानम् तत्सामानाधिकरण्येन व्यपदेशश्चे युक्तम् । तथा ' वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् ' (शारी.२.१.३४) ' न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ' (३५) इति देवमर्ष्यादिविषयसृष्टेर्जीवकर्मनिमित्तत्वम्, जीवानां तत्तत्कर्मप्रवाहाणां ज्ञानादित्वं प्रतिपाद्य, तदनादित्वं च ' नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ' (श्वे.६.१३) ' ज्ञातौ द्वौ ' (श्वे.१.९) इत्यादिश्रुतिपूषलभ्यत इत्युक्तत्वा तदनादित्वेऽपि प्रलयकाले चिदचिद्वस्तुनोर्भोक्तुमोग्ययोर्नामरूपविभागाभावात्, ' आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत् ' (ऐतरेय.१.१.१) इत्यादावेकत्वावधारणमुपपद्यत इति सूत्रकारेण स्वयमेवोक्तम् । तथा च — ' नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ' (शारी.२.३.१८) इति प्रत्यगात्मनो नित्यत्वादनुपपत्तिमुक्तत्वा ' ज्ञात एव ' (१९) इति तस्य ज्ञातृत्वमेव स्वरूपमित्युक्तम् । ' उक्तान्तिगत्यागतीनाम् ' (शारी.२.३.२०) इत्यादिनाऽणुत्वञ्चोक्तम् । ' तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राप्तम् ' (शारी.२.३.२९) ' यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ' (३०) इति ज्ञातुरेवात्मनो ज्ञानशब्देन व्यपदेशो ज्ञानगुणसारत्वात् ज्ञानैकनिरूपणीयत्वाच्चेत्युक्तम् । ' नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ' (शारी.२.३.३२) इति ज्ञानमात्रस्वरूपात्मवादे हेतुन्तरायत्तज्ञानवादे सर्वगतात्मवादे च दोष उक्तः । ' कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ' (शारी.२.३.३३) ' उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ' (३४) ' व्यपदेशाच्च क्रियाया नचेन्निर्देशविपर्ययः ' (३५) ' उपलब्धिवदनियमः ' (१६) ' शक्तिविपर्ययात् ' (३७) ' समाध्यभावाच्च ' ३८ ' यथा च तत्क्षोभयथा ' (६९) इत्यात्मन एव शुभाशुभेषु कर्मसु कर्तृत्वम्, प्रकृतेश्च कर्तृत्वे तस्यास्साधारणत्वेन सर्वेषां फलानुभवप्रसङ्गादिति च प्रतिपादितम् । ' परात्तु तच्छ्रुतेः ' (शारी.२.३.४०) ' कृतप्रयत्नाक्षेपस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ' (४१) इत्यात्मन एव कर्तृत्वं परमपुरुषानुमतिरसहकृतमित्युक्तम् । ' अशौ नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशक्तिवादित्वमधीयत एके ' (४२) ' मन्त्रगणात् ' (४३) ' अपिस्मर्यते ' ४४ ' प्रकाशादिवत्तु नैवपरः ' (४५) ' स्मरन्ति च ' (४६) इति 'अनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ' (मुण्डक.३.१.२) ' क्षरन्त्वविद्या ह्यमृतन्तु विद्या विद्या विद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ' (श्वे.५.१), ' प्राप्तेना मना सपरिपक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम् ' (बृ.६.३.२१) ' तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ' (मु.३.१.१) ' ज्ञातौ द्वावजावीशनीशौ ' (श्वे.९.९) ' पृथगात्मानं प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्तत्तेनामृतत्वमेति ' (श्वे.१.६) ' यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साध्यमुपैति ' (मु.३.१.३) ' सकारण करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप. ' (श्वे.६.९) ' यस्सर्वज्ञस्सर्वविद् ' (मु.१.१.९) ' पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे.६.८) ' निष्कलं निष्क्रियं शान्तनिरवय निरञ्जनम् ' (६.१९) ' नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूना योविदधाति कामान् ' (श्वे.६.१३) [नित्यानां चेतनानां यः एकः नित्यश्चेतनस्तस्य कामान्निदधातीत्यर्थः] ' पतिं विश्वस्यात्मे श्वरम् ' (तै.नारायणे.६.११.३) इत्यादिषु प्रत्यगात्मनः परमात्मनश्च कर्मवश्यत्वेन शोचितृत्वेनासर्वज्ञत्वेन उपासनायत्तमुक्तिं चेतनिरवयत्वेन सर्वज्ञत्वेन सत्यसङ्कल्पत्वेन सर्वेश्वरत्वेन समस्तकल्याणगुणाकरत्वादिनाच स्वरूपस्य स्वभावस्य नाना व्यपदेशात् तयोरेव 'तत्त्वमसि' (छा.६.८.७) ' अयमा मा ब्रह्म ' (बृ.६.४.५) ' योऽसौ सोऽहं योऽहं सोऽसौ ' (ऐतरेयिणइति शाङ्करीये.३३.३६) ' अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसायन्योऽहमस्मीति न स वेद ' (बृ.३.४.१०) ' अकृन्ताह्य — आत्मेत्येवो

पासीत' (बृ.३.४.७) 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवाः' (अथर्वसंहितोप) इति च सर्वजीवात्मव्यापित्वेनाभेदस्यपदेशाच्च, उभयव्यपदेशाविरोधेन परमात्मांशो जीनाभेत्यभ्युपगन्तव्यम् । न केवलं न्यायसिद्धमिदं, श्रुतिस्मृतिभ्यां चांशत्वमुक्तं जीवात्मनः 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (यजुसाम्य.१२.१३.पुरुषसू.३) 'ममेवाशो जीवलोकं जीवभूतस्सनातनः' (गी.१५.७) इति । अशत्व नाम एकस्वरूपेकदेशत्वम् । तथा सत्पुमयोरेकवस्तुत्वेनाविरोधो न स्यादित्याशङ्क्य 'प्रकाशादिवस्तु नैवपरः' (शारी.२.३.४५) इति परिहरति । अन्यविशेषणतैकत्वभावप्रकाशजातिगुणशरीरविशिष्टानमिन्द्रियविशेषणत्वमनः प्रति प्रकाशजातिगुणशरीराणां यथा अशत्वम् ; एव परमात्मानं प्रत्यगात्मशरीरकं प्रति प्रत्यगात्मनोऽशत्वम् । एवम् अशत्वे यत्त्वभाषोऽशभूतो जीवः नैवमशी परमात्मा सर्वत्र विशेषणविशेष्ययोस्त्वरूपत्वभावभेदात् । एव च 'कर्ता शास्त्रार्थनन्त्यात्' (शारी.२.३.३३) 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (२.३.४०) इत्यनन्तरोक्तं च न निरूप्यते । एव प्रकाशशरीरवजीवात्मनामशत्व पराशरादस्सरान्ति च 'एकदेशस्थितस्याग्नेः ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा परस्य ब्रह्मणश्चक्षुःस्थितेदमखिलं जगत् ॥' (वि.पु.१.२२.५६) 'यत्किञ्चित् सृज्यते येन सत्त्वजातं वैद्विज' । तस्य सृज्यस्य सभूतो तत्सर्वं हरेस्तनुः ॥' (१.२२.३८) 'ते सर्वे सर्वभूतस्य विष्णोरशसमुद्भवाः' इति । अन्यथा पारमार्थिकापारमार्थिकोपाधिसमाश्रयेण प्रत्यगात्मनोऽशत्वे ब्रह्मण एव वेदान्तनिवर्त्याख्ये दोषा भवेयुरिति 'आमासा एव च' (शारी.२.३.४९) इत्यादिसूत्रैरुक्तम् । अतस्सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरतया तदात्मभूतमेव ब्रह्म, कदाचिदविभक्तनामरूपचिदचिद्वस्तुशरीर तत्कारणावस्थम् कदाचिच्च विभक्तनामरूपचिदचिद्वस्तुशरीर तत्कार्यावस्थं ब्रह्म सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरतया तद्विशिष्टत्वेऽपि ब्रह्मणः परिणामित्वापुरुषार्थाश्रयत्वे शरीरभूतचेतनाचेतनवस्तुगते । आत्मभूत ब्रह्मसर्वदा 'निरस्तनितिलदोषगन्धानवधिकातिशयारुद्धयेयशानानन्दात्परिमितोदारगुणसागरमवतिष्ठत इति ब्रह्मैव जगन्निमित्तमुपादानचेति 'यतोवा इमानि' (तै.मृ.१.१) इत्यादिवाक्यं प्रतिपादयत्येवेति 'जन्माद्यस्य यतः तत् ब्रह्म' इति सुप्रसिद्धम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' (छा.६.२.१) 'तदैक्षत बहुस्या प्रजायेय' (६.२.३) इति । अस्यचायमर्थः—'यस्यात्मा शरीरम्' (माध्यन्दिनपाठे) 'यस्याक्षरं शरीरम् यस्य पृथिवी शरीरं यस्यान्यत्तं शरीरम् । एव सर्वभूतान्तरात्मा अग्रहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' (सुबालोप-७.५) इत्यादिश्रुतेः ब्रह्मणः सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरकत्वात् सदेवेदमिदानीं स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरकत्वेन विभक्तनामरूपम् अग्रे प्रलयकाले सूक्ष्मदशापन्नाचिदचिद्वस्तुशरीरतया नामरूपविभागानर्हमेकमेवासीत् । स्वयमेव ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति निमित्तान्तरानपेक्षमद्वितीयचातिष्ठत् । 'तदैक्षत बहुस्या प्रजायेय' (छा.६.२.३) इति तन्नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकतया एकमेवास्थितं नामरूपविभागार्हस्थूलदशापत्या बहुप्रकारं स्यामिति ऐक्षत । 'स्या, प्रजायेय' इति व्याप्तिसमाष्टिव्यपदेशः । चिदचितो, परस्य च प्रलयकालेऽपि व्यवहारानर्हसूक्ष्मभेदः सर्ववेदान्तिभिरभ्युपगतः, अविद्यावृत्तभेदस्य उपाधिवृत्तभेदस्य च अनादित्वाभ्युपगमात् । इयास्तु विशेषः ब्रह्मैवाकम् उपाधिसर्वद्वचेति सर्वश्रुतिस्मृतिन्यायविरोधोऽन्येषाम्, तदभावाविरोधश्चास्माकम्—इति ॥

इति वेदान्तसारे जन्माद्यधिकरणम्

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तदीपः

### जन्माद्यस्य यतः (१.१.२)

तैत्तिरीयके—‘ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । यन जातानि जीवन्ति । य प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म ’ (तै.भृ.१) इत्येतद्वाक्य विषयः । किमेतज्जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञात ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणतया लक्षणतः प्रतिपादयितुं शक्नोति नवेति सशयः । न शक्नोतीति पूर्वपक्षः । कुतः ? जगज्जन्मादीनामुपलक्षणतया विशेषणतया वा ब्रह्मलक्षणत्वासम्भवात् उपलक्षणत्वेऽप्युपलक्ष्यस्याकारान्तरयोगोऽपेक्षितः ? न चेह तदस्ति । अतः उपलक्षणत्वं न सम्भवति । विशेषणवेऽप्यनेकविशेषणविशिष्टतया अपूर्वस्यैकस्य प्रतिपादकत्वं न सम्भवति । विशेषणानां व्यावर्तकत्वे विशेषणबहुवे ब्रह्मबहुत्वं प्रसक्तेः । राद्धान्तस्तु—एकस्मिन्नविबुद्धानां विशेषणानामनेकत्वेऽपि इयामत्वं युवत्वादिविशिष्टदेवदत्तवज्जगज्जन्मादिविशिष्टब्रह्मैकमेव विशेष्यं भवति । उपलक्षणत्वे जन्मादिभिरुपलक्ष्यस्य ब्रह्मशब्दावगतबृहत्त्वाद्याकाराश्च सन्तीति जगज्जन्मादिकारण ब्रह्मेति लक्षणतः प्रतिपादयितुं शक्नोति इति । सूत्रार्थः । अत्र विविधविचित्रभोक्तृभोग्यपूर्णस्य जगतः यतः जन्मादि तद्ब्रह्मेति प्रतिपादयितुं शक्येतद्वाक्यम् इति ॥

इति वेदान्तदीपे जन्माद्यधिकरणम्

अथ वेदान्तसारः

### शास्त्रयोनित्वात् (१.१.३)

एव चिदचिद्वस्तुशरीरतया तद्विशिष्टस्य ब्रह्मण एव जगदुपादानत्वं निमित्तत्वं च नानुमानगम्यमिति शास्त्रैकप्रमाणकत्वात्तस्य ‘ यतो वा इमानि ’ इत्यादिवाक्यम्, निमित्तजगदेककारण ब्रह्मैव बोधयत्येवेति सिद्धम् ॥

इति वेदान्तसारे शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

अथ वेदान्तदीपः

### शास्त्रयोनित्वात् [१.१,३]

‘ यतो वा इमानि ’ इत्यादिवाक्यमेव विषयः । तर्हि जगत्कारणे ब्रह्मणि प्रमाणम् ? उत नेति सशयः । नेत प्रमाणमिति पूर्वपक्षः । अनुमानासिद्धब्रह्मविषयत्वात् । प्रमाणान्तरविषये हि शास्त्रं प्रमाणम् । जगतस्साधयवत्त्वेन कार्यत्वात्, कार्यस्य स्वोपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाद्यभिन्नकर्तृकत्वात्, जगन्निर्माणकार्यचतुरः कर्मपरवशपरिमितशक्त्यादि क्षेत्रज्ञविलक्षणसर्वशक्तसर्वशक्तसर्वेश्वरोऽनुमानसिद्ध इति तास्मिन् ‘ यतो वा इमानि भूतानि ’ (तै.भृ.१.अनु) इत्यादिवाक्यं न प्रमाणमिति ॥

राद्धान्तस्तु—जगतः कार्यत्वेऽपि एकदैवैकैव कृत्स्न जगन्निर्मितमित्यत्र प्रमाणाभावात् धेनूनामेव विलक्षणपु-  
यानां ज्ञानशक्तिवैचित्र्यसम्भावनायां कदाचित् कस्यचिजगदेकदेशनिर्माणसामर्थ्यसम्भवात् तदतिरिक्तपुरुषानुमानं न स  
भवतीति शास्त्रिकप्रमाणकत्वात् ब्रह्मणस्तत्प्रतिपादकत्वेन तस्मिन् 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै.भृ.१.७) इत्यादिवाक्यं  
प्रमाणमिति । शास्त्रं योनिः यस्य कारणं प्रमाणं तद्ब्रह्म शास्त्रयोनिः, प्रमाणान्तराविषयत्वेन शास्त्रिकप्रमाणकत्वाद्वह्मणः ।  
तस्मिन् 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति सूत्रार्थः ॥

इति वेदान्तदीपे शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

अथ वेदान्तसारः

सू.४—तत्समन्वयात् १.१.४

पुरुषार्थतयाऽन्वयः समन्वयः शास्त्राख्यप्रमाणस्य पुरुषार्थपर्यवसायित्वेऽपि ब्रह्म स्वस्य परस्य चानुभावितुः आवि-  
शेषेण स्वरूपेण गुणैः विभूत्या च अनुभूयमानं अनवधिकातिशयानन्दरूपमिति पुरुषार्थत्वेनाभिधेयतयाऽन्वयात् ब्रह्मण-  
श्शास्त्रप्रमाणकत्वमुपपन्नतरमिति निरवयव निमित्तजगदेककारणं ब्रह्म वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्युक्तम् । तस्यैकस्यैकदैव कृत्स्न  
जगन्निमित्तत्वं तस्यैवोपादानतया जगदात्मकत्वञ्च नानुमानादिगम्यमिति शास्त्रिकप्रमाणकत्वात्, तस्यचानवधिकातिशया-  
नन्दरूपतया परमपुरुषार्थत्वाद्देवान्ताः प्रतिपादयन्त्येवेति स्थिरीकृतम् । अतःपरं पादशेषेण जगत्कारणतया प्रधानपुरुषप्र-  
तिपादनानर्हतया सर्वज्ञ सत्यसङ्कल्प निरस्ताविद्यादिसमस्तदोषगन्धम् अपरिमितोदारगुणसागरं ब्रह्मैव प्रतिपादयन्तीत्युच्यते

इति वेदान्तसारे समन्वयाधिकरणम्

अथ वेदान्तदीपः

सू.४—तत्समन्वयात् १.१.४

ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वं सम्भवति नेति विचार्यते । न सम्भवतीति पूर्वपक्षः । कुतः ? प्रवृत्तिनिवृत्त्यवयवविरहिणो  
ब्रह्मणः स्वरूपेणापुरुषार्थत्वात् पुरुषार्थावबोधकत्वेनच शास्त्रस्य प्रामाण्यान्मोक्षसाधनब्रह्मध्यानविधिपरत्वे असत्यापि ब्रह्मणि  
तद्विधानविधानसम्भवात् न ब्रह्मसद्भावे तात्पर्यमिति ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वं न सम्भवति—इति । राद्धान्तस्तु—अतिशयि-  
तगुणपितृपुत्रादिजीवनज्ञानवत् अनवधिकातिशयानन्दरूपब्रह्मज्ञानस्य निरतिशयपुरुषार्थत्वात्तस्य शास्त्रप्रमाणकत्वं सम्-  
भवति 'आनन्दो ब्रह्म, यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्' 'यतो वाचो नियतंते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो  
विद्वान्' इत्यादिमिन्नवधिकातिशयानन्दस्वरूपं ब्रह्मेतिहि प्रतिपाद्यते । अतो ब्रह्म स्वेन परेण वाऽप्यनुभूयमानं निरति-  
शयानन्दस्वरूपमेवेति तत्प्रतिपादनपरस्यैव साक्षात्पुरुषार्थान्वयः । प्रवृत्तिनिवृत्तिपरस्यतु तत्साध्यफलसम्बन्धात्पुरुषार्था-  
न्वयः—इति ॥

सूत्रार्थः—तुल्यः प्रसक्तशङ्कानिवृत्त्यर्थः । तत् पूर्वसूत्रोदितं ब्रह्मणश्शास्त्रयोनित्वं सिद्धयति । समन्वयात्—  
सम्यक् पुरुषार्थतयाऽन्वयः समन्वयः वेदितुर्निरतिशयानन्दस्वरूपत्वेन परमपुरुषार्थरूपे परे ब्रह्मणि वेदकतया शास्त्रस्या-  
न्वयाद्ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वं सिद्धयत्येव—इति ॥

इति वेदान्तदीपे समन्वयाधिकरणम्



श्रीलक्ष्मीहयवदनलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः

अ धि क र ण सारवळी



जन्माद्यंश्चेद्विशेष्यं भवति बहुलताऽथोपलक्ष्यं ब्रवीषि  
ज्ञाताज्ञातादिदौःस्थ्यं व्यतिपजति न चालक्षिते स्यात्परीक्षा ।  
उद्दिष्टग्रहचिन्ता तत इह कथमित्यत्र हेतुत्वलक्ष्यं  
पुंसूक्तादिप्रसिद्धो गुणनिधिरघजिद्वह्मशब्दार्थ उक्तः ॥ १ ॥  
नानाचेल्लक्षणानि स्वरन्नभिदुरता ग्रहणि स्याद्विशेष्ये  
खण्डो मुण्डश्च गौरित्यभिलपनसमा धर्मिशब्दैकताऽत्र ।  
तेष्वेकं चेद्यथाऽन्यत्समुदितमफलं स्याद्यवच्छेद्यहानेः  
खण्डत्वादिक्रमाच्चेत्यसद्विहितं खण्डतादेर्विशेषात् ॥ २ ॥  
तत्तत्स्वप्रत्यनीकव्युदसननियतं भेदकं नान्यवाधि  
व्याघातः कालभेदान्नभवति जननस्थापनध्वंसनानाम् ।  
प्रत्येकं लक्षणत्वं सुवचमिह बहदाहृतिर्धौमहिम्ने  
सम्भूयाप्याहुरेके फलमपि च तदा शङ्कितार्थव्युदासः ॥ ३ ॥  
ज्ञातं चेन्नोपलक्ष्यन्न च यदि नतरां लक्ष्मयोगाप्रतीतेः  
ज्ञाताज्ञातांशभेदस्त्वह दुरभिलपो लक्षणेनैव वेद्ये ।  
ग्रहत्वं व्रशब्दान्वितिरपि विदितेऽन्यत्र नोचेन्नशङ्का  
मैवं नानागमोद्यद्विशयशमनतः श्रीमतिग्रहतोक्तेः ॥ ४ ॥  
यावल्लक्ष्यावबोधं यदवगतिरतो लक्षणात्तद्विशेष्यम्  
यस्यावोधेऽपि पश्चाद्यदवगतिरिदं स्यात्कुतो नोपलक्ष्यम् ।  
तस्माद्देधाऽपि भाष्येऽनुमतिरनुचितेत्याशयाऽहस्य चोद्यं  
मोक्षार्थोपास्यभेदेहुभयमपि समन्वेति विद्याविकल्पात् ॥ ५ ॥  
चन्द्रे शालेय शान्ते महसि तटगतं लक्षणं कारणत्वं  
सत्यज्ञानादिवाक्यैरपमृदितगुणन्तद्विभार्तीति डिम्भाः ।  
एकत्रार्थो विशेष्ये प्रतिपदनियतावर्ज्यतत्तन्निमित्त-  
द्वारावृत्तिं पदानामिह विदुररणाद्युक्तिवन्न्यायवृत्ताः ॥ ६ ॥

इति जन्मानाधिकरणम्

## अथ शास्त्रयोनित्राधिकरणम्



वीतानीतप्रयोगप्रमत्तिगतिमती कार्यता विश्वमतत्  
 सर्वज्ञेन प्रकलुप्त गमयति विफलस्त्वय्य शास्त्रैर्विचार ।  
 इत्युन्नीतौ लघुत्वाऽनुमितिबलात् कर्मजैश्वर्ययुक्तौ  
 विश्वामित्रादिनीत्या स्फुरति विभुमिहामूत्रयच्छास्त्रवेद्यम् ॥ ७ ॥  
 क्षित्याद्य कार्यतायै कष्टमकुट्टना कर्तृपूर्वं स कर्ता  
 सिद्धयेदत्राप्यदृष्टप्रभ्रतिजनयदप् सर्वशक्तिश्च मैवम् ।  
 श्रोत्राद्यैस्मोग्मादिग्रहणरुचिरियन्तादृशयातयभावात्  
 सर्वं हेतु नपश्येत गदृदिह न चाकर्तृता तावताऽस्य ॥ ८ ॥  
 कार्यत्वात् न्याद्विवादास्पदमिदमनिल सर्ववित्कर्तृपूर्वं  
 यज्ञैश्च तद्धि नैव पुरुषवन्ति नानन्यथासिद्धयभावात् ।  
 हेतावेतादृशामन्यविदुरमिदुर व्याप्तिसिद्ध्यादिदौस्थ्य  
 तद्भङ्गे लक्षणानामगणि गमनिका तत्प्रमुक्तास्त्वाप ॥ ९ ॥  
 यद्यप्यात्मान्तरादेरनुमितिरनघा लिङ्गभेदैस्तथाऽपि  
 प्रत्यक्षयासिद्धौली नपल्लु शिथिलिता कुणचित्पक्षभेदे ।  
 आम्नाये त्वद्गतोक्तिर्न भवति वितया तादृशातोक्तनीत्या  
 बाधाभावादिसाम्याद्विहतिमति भवेत्लोकवत् गौणतादि ॥ १० ॥  
 नन्वाम्नायप्रधाना कचिदनुक्तयन्त्यस्मादेवशक्य  
 कार्यं कर्ताऽनुमेय पर इति तदभिप्रेतु जन्मादिवाक्यम् ।  
 तस्मादीशानुमानत्यजनमनुनित वैदिकस्येति चेन्न  
 क्वाप्यौचित्योपदशाद्यत इति च सदाद्युक्तिसिद्धापुरादात् ॥ ११ ॥

## इति शास्त्रयोनित्राधिकरणम्



## अथ समन्ययाधिकरणम्

कर्तये ह्यर्थे उपानि शमयितृफल सिद्धरूप तु न म्यात्  
 प्रीत्या साफल्यफलतौ वितथमपि वच्य विन्न दृष्ट तदर्थम् ।  
 विद्यार्थत्वेऽन्यदपेक्षिपयवदन्त तत् परीक्ष्यन्नभावी  
 त्याक्षपऽनन्यशेषे निरवधिकसुरो शास्त्रतात्पर्यमाह ॥ १२ ॥  
 तात्पर्यं ब्रह्मतत्वेऽप्यविहतविधिनाऽप्येकवाक्यत्वपक्षे  
 भेदेऽपि स्यादनिर्देन भवति बलिगुदन्तगह्वयोक्तिसाम्यम् ।

म्यादाभार्यं गृह्यान्वक्षममिति न गृहेत्युद्देशे प्रीत्ययोगा-  
 दालोपच्छब्दनादिष्वपि विषयतथाभाषपुस्तपेय द्युः ॥ १३ ॥  
 यन्म्रीत्यर्थं यन्मन्त्रिणिनेनमनृगमित्यर्थमात्रयापयम्  
 सत्योक्तयानन्दरुष्टेन विदितिगिदाभ्यस्तनदशास्ततो वा ।  
 तेनानन्यार्थमिन्द्रोक्त्यनुमतिप्रयत्नाद्गहनस्मनेन  
 प्रत्यन्ताभ्यस्यानित्यद्वयपरमपरमप्रतिष्ठाःप्रमाणम् ॥ १४ ॥  
 प्रक्षेपे निष्प्रपञ्चीकरणविधिपदं ध्यानविषयमन्ये  
 निधेमांशतयापयोपचरितमित्रे मिद्वयतीति मुयन्ति ।  
 तेषामेषां मगधम्यननविदितिभ्यामुल्लानेकजल्पाः  
 कल्पोऽयं यागकल्पः कृगमतिपरितर्पितमर्दरमर्दि ॥ १५ ॥  
 भन्यागोऽथधेपादन्तुतिगुणमुपतः स्थापितः प्रागिदानीं  
 म्यातन्धयेन प्रमाणी प्रियत इति ततः काण्डयोस्स्याद्विरोधः ।  
 न म्यान्तामान्यतो हि प्रथममभिदधे मानतास्थापनार्थं  
 केपांश्चिन्स्वार्थतोना स्यन इह सुभगे योधमात्रात्पुमर्थे ॥ १६ ॥  
 त्रेधा सपेयं येन नियतधिभजने द्योदनाद्यंशमेद-  
 भन्यारोऽप्यर्थपादा मुनिमिरमिदिता प्रादणंशम्य दोषाः ।  
 अत्रातच्छेपतोक्तौ स्मृतिहानिरिति चेद्विदि दत्तोत्तरं तत्  
 सामान्योक्तिर्हि सेयं तत उपरि यथा मन्त्रविष्यन्यतोक्तिः ॥ १७ ॥  
 आह्वतैरद्विधार्थैरधिगुणमफलदशाकुनज्योतिषाद्यैः  
 पारत्रिक्या प्रवृत्त्याऽप्यतिनिपुणधियामागमाभ्याससिद्धौ ।  
 शब्दे तस्माच्च योचे सतिपरविषये दोषयाधप्यपेते  
 मानं तत्र न्यतोऽस्मी न कथमितरथा नैगमाध्यापलापः ॥ १८ ॥  
 शास्त्रारम्भोपपत्त्यं चतुरधिकरणीपेटिकेयं प्रवृत्ता  
 लक्ष्यम्योक्तं विशेषद्वयमिह घटते यक्ष्यमाणोपजीवि ।  
 मद्गह्यामुक्तिचेयः पर रति हि यदेत्कारणत्याधिकारे  
 वक्ष्यत्यस्य द्विलिङ्गाद्यधिरुतिषु पुनस्तादृशानन्दतादीन् ॥ १९ ॥  
 आत्मन्येवं परस्मिन्नवृत्त इति मिते विभवेतुत्वलक्ष्ये  
 शास्त्रैकस्थापनीये निरुपधि परमप्रेमयोग्ये प्रसक्ते ।  
 ईदृक्तवं स्याद्यथाहं प्रवृत्तिपुण्ययोर्नानुमानाद्ययोग्यौ  
 दुःखास्पृष्टौ च तावित्यथ परकथनं दोधवीति क्रमेण ॥ २० ॥

॥ समाप्तं समन्वयाधिकरणम् ॥



## गूढार्थसंग्रहः

काशत्वनियमात् । अन्यथा वाक्याप्रामाण्यापत्तेः । मैवं स्वभावप्रवलेन दुर्बलवाचने तत्प्रामाण्यायार्थान्तरकल्पनम् । सावकाशत्वं पुनः स्वयमर्थान्तरवाचित्वमिति भेदात् अत्र मुन्यादिपदं च ग्राह्यम्' इति (वदन्ति) ॥

अत्र पूर्वाधिकरणद्वये विष्णुशब्द एव नास्ति । नवीनरीत्या ब्रह्मशब्दस्य गुणपूर्णवाचकत्वेऽपि गुणपूर्णत्वेनैव वस्तुनस्तिादिः । जन्मादिकारणत्वेन गुणपूर्णवस्तुनिश्चय इत्येतावदेव तत्र सिद्धयतीति स्फुटं प्रतीयते । उत्तराधिकरणद्वये रुद्र-पूर्वपक्षसूचकपदमेव नास्ति । 'वेदयोनित्वात्' इत्युक्तौ वेदव्यतिरिक्तयोनित्वं नास्तीत्यर्थस्य सिद्ध्या तदा इयं शङ्का समाविता स्यात् तदाऽप्येकेनैवाधिकरणेनालम् । नापि तथा निर्देशस्त्वत्र, अधिकरणद्वयस्य रुद्रव्यावृत्तिः प्रयोजनमित्यपि न घटते । एकेनैव गनार्थान्वसम्भवात् । नवीनमते स्मृतिपादएवायमर्थो यक्तव्यः नत्वत्र तत्रापीत्यमेव शङ्का संभवत्येव । माध्ये पञ्चरात्रप्रमाणमत्राप्युपन्यस्तम् । अतः प्रागुक्तदिशा शास्त्रशब्देन जैमिनिसूत्रप्रत्यभिज्ञावलेन पूर्वपक्षस्य सूचनं युक्तम् । प्रमाणान्तर(अनुमानं)सिद्धत्वं नैयायिकैरुच्यते तच्चानुमान वेदस्य पौरुषेयत्वसाधकम् । इदमेव चेश्वरसाधकमिति प्रागेवोपन्यस्तम् शास्त्रपदेन उक्तदिशा समन्वयाधिकरणे यः पूर्वपक्षः सूचितः सः 'तत्तु समन्वयात्' इत्यत्र निरस्यते मीमांसकशङ्कानिरासकत्वं शास्त्रशब्दस्य संभवति । भगवच्छासनरूपावेदयर्थबोधकत्वेन वेदस्यापि शास्त्रत्वं स्वशासनावबोधिशालं प्रदर्श्य' इति भगवता रत्नानुपपत्त्यधिकरणे वक्ष्यते । 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्' इत्यत्र अनन्तरसूत्रे उपासात्रैविध्यस्य वक्ष्यमाणतया प्रतर्दनविद्यायां 'तमामाशुरमृतमित्युपास्य' इत्यत्रोपासनतात्पर्यं स्फुटीमिति तत्रापि परमात्मशासनबोधकत्वेन शास्तीति शास्त्रमिति व्युत्पत्तिसिद्धार्थो, विवक्षितः । 'वामदेववत्' इति दृष्टान्ताविवक्षितमुपास्यतावपि 'तदात्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मि' इत्यतः प्राक् 'आत्मेत्येवोपासीत' इति वाक्यस्यानन्तरम् 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इति वाक्यस्य च सत्त्वेन उपासनवाक्यप्रतिपत्तिस्तुलभा । एतेन 'तदात्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मि' तस्यत्र 'स एष इह प्रविष्ट आनताप्रेम्यः' इति तत्पूर्वोक्तस्यान्तःप्रविश्य नियन्तुः आत्मशब्देन विवक्षा 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यत्र सिद्धेति तेन 'तद्वैतत्पश्यन् ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे' इत्यत्रान्तर्यामिब्रह्म पश्यन् स्वान्तर्यामिणः मन्वाद्यन्तर्यामित्व साक्षात्कृतवानित्यर्थः । 'योयो देवाना प्रत्यबुध्यत, स एव तत्समभवत्' इति तत्पूर्ववाक्ये प्रतिबोधामावेऽपि सर्वभवनस्य सिद्धत्वात् साक्षात्कारनिवन्धनमेव सर्वभवन सर्वान्तर्यामित्वेन साक्षात्कृतवानित्यर्थः । अयं च साक्षात्कारः ध्यानरूपोपासनानन्तरकालिकसमाधिरूपः । अतः शास्त्रशब्दस्य 'शास्त्रदृष्ट्या' इत्यत्र परमात्मशासनपरत्वाङ्गीकारे नानुपपत्तिः ।— 'कर्ता शास्त्रार्थवच्चात्' इति सूत्रेऽपि 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यनन्तरसूत्रेण मीमांसकमतवैलक्षण्यं सूचितम् । अयं च द्रमिदाचार्यसिद्धान्त इत्युत्तरत्र स्फुटीभविष्यति । तेनापि पूर्वमीमांसकमतपर्यालोचनं कृतं भवति । ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वेन फलत्वं नसंभवतीति प्राभाकरोक्तिः पूर्वमेवोदाहृता । प्रथमसूत्रे ब्रह्माजिज्ञासा इत्यत्र ब्रह्मणः फलत्व सिद्धत्वं च प्रतिपन्नम् । सिद्धे व्युत्पत्तिसमर्थनं प्रथमसूत्रे फलत्वसमर्थनं च चतुर्थसूत्रे इत्येव विवेकः । अधिकरणसङ्गतिक्रमः प्रागेव प्रदर्शितः अतो वृत्तिकारसिद्धान्त एव युक्तः । उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गेषु प्राबल्यदौर्बल्यप्रक्रियामापि पूर्वमीमांसका न सहन्ते, नवीनोक्तोपक्रमादिप्राबल्याविचारस्तु श्रीनिवासाचार्यकृते तत्त्वमार्ताण्डे द्रष्टव्यः । चन्द्रिकातर्कताण्डवग्रन्थयोः तत्त्वार्थान-प्रकाशे च उपक्रमादिविचारः अन्यत्र पर्यालोचयिष्यते ॥

नन्वेवमपि सृष्टिवाक्यानां ब्रह्मप्राप्तिफलवाक्यैकरस्येन सृष्टेरात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वविरहेण उपादानोपादेयभावस्य एतद्वाक्येनिर्णयेन तेनैव महावाक्येषु सामानाधिकरण्यस्थोपपत्त्या सृष्टिवाक्यानां प्राधान्यं न महावाक्यानामित्युक्तिरयुक्ता । (सं.भा.१.१.४) पञ्चपादिका भामत्यादौचायमर्थः विस्तरेण निरूपितः । तत्र कार्यार्थे व्युत्पत्तिं सविशेषजीवाभिन्नब्रह्म-



## गूढार्थसंग्रहः

रिणामवादेचाभ्युपगच्छात् । वृत्तिकारानुयायिनामपेक्षया मनमुपन्यस्य दूषणावसरे ' कर्ममन्त्रादिवापन्योर्वैलक्षण्यात् ' इत्युक्त्यय धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्धवार्ति तसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुयायिनामेव विद्यासमाधिविशेषात् उत्तरेण पथागमनम् केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथागमनम्, तत्रापि सुखतारतम्य तत्साधनतारतम्यं च ' यात्र सम्पातमुपि वा ' इत्यस्माद्गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिबन्धनशरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनितं संसाररूपं भुतिश्च्युतिन्यायप्रसिद्धम् । तथा च श्रुतिः ' नहवै शरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्तीति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति । अशरीरं चाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत ' इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधात् चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं अशरीरत्वस्य मोक्षार्थस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते । ' अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणमोक्षार्थमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किञ्चित्परिणामिनीत्यम्, यस्मिन्विद्यमानेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्नविहन्येत यथा पृथिव्यादिबगन्नित्यन्ववादिनां यथा च साङ्ख्यानं गुणाः इदं तु पारमार्थिककूटस्थनित्य नित्यतुल्य निरवयव परज्योतिःस्वभावम् ' ' अतस्तद्ब्रह्म यस्येय जिज्ञासा प्रस्तुता तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च साध्यध्वेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत अनित्यएव स्यात् । ' ' नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते । अपिच ' ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ' इत्याद्याश्रुतयः ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्ष दर्शयन्त्यः मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणाय ' तद्वैतत्वस्यन् ' इत्युदाहार्यम् । ' त्वहिनःपिता ' इत्याद्याश्रुतयः मोक्षप्रतिषेधनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फल दर्शयन्ति । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या इति चेदत्रोच्यते ॥

' अयत्तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम् । ' (याज्ञ.श्रु. ) इति, ' धिक्शस्येश्वरज्ञानादिशुद्धिः परमा मता ' इति च याज्ञवल्क्येनोक्तम् । आत्मदर्शनं च योगेन समाधिरूपमेव समाधिश्च परैरप्यङ्गीकृतः (स.वे.सि.सा.सं) । एव च परममतात्मज्ञानस्य धर्मभित्तत्वं कथम् ! अशरीरत्वं मोक्षो वा आत्मस्वरूपं मोक्षो वा अविद्यानिवृत्तिः चरमवृत्तिर्वा मोक्षः ! । अत्र एकोऽपि पक्षः न घटते । शरीरहेतुव कर्मणा ' प्राणाधिपस्त्वञ्चरति स्वकर्मभिः ' ' तद्य इह रमणीयचरणाः ' इत्यादिश्रुतिभिरेव सिद्धयतीत्यत्रान्यत्र च बहुत्र निरूपितम् । बीजाङ्कुरन्यायेन कर्मणामनादित्वं ' न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ' इति सूत्रकारैरेव वक्ष्यते । ' एवमस्मिन्शरीरे प्राणो युक्तः, अस्माच्छरीरात्समुत्थाय ' इति वाक्यद्वयपर्यालोचनायो शरीरजीवयोगः तद्विरहश्च जीवस्य भुतौ स्पष्टं प्रतीयते । एवञ्चोत्तरवाक्यानुसारेण ' नहवै सशरीरस्य ' इत्यत्रापि सशरीरत्वं कर्ममूलकशरीरयोगित्वम् । अशरीरत्वं कर्मक्षयमूलकशरीरवियोगित्वं इत्येव श्रुतिता पर्ये निर्मसराणां स्फुटम् । शरीरविच्छेदानन्तरं परज्योतिरुपसम्पत्तेः पश्चात् ' स तत्र पर्येति जघन् श्रीडन् रममाण ' इत्यादिश्रौतलिङ्गेन ' स एकधा भवति त्रिधा भवति ' इत्यादिश्रुत्या च मुक्तौ स्वेच्छामूलकशरीरसङ्घोऽप्यङ्गीकरणीयः इति ' अशरीरं चाव सन्तम् '—इत्यत्र सुखदुःखहेतुकर्मक्षयेण कर्ममूलकशरीरक्षय एव विवक्षितः । ' स उत्तमं पुरुष ' इत्यत्र उत्तमस्य सर्वपापदाहकत्वोक्तेः ' य आत्माऽऽह नपात्मा सोऽन्वेष्टव्यः ' इति प्रजापतिवियोगप्रक्रमे चोदनालक्षणधर्मस्योक्त्या ' एष सप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय ' इत्यत्र प्रागुक्तचोदनालक्षणविद्यानिष्ठस्य शरीरात्समुत्थानं उक्ताशरीरत्वमेवेति प्रतीत्या अशरीरत्वरूपमोक्षस्य चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं प्रतिषिध्यत इति कथं घटते । ' शरीरात्समुत्थाय ' इत्यस्य शरीरविवेकज्ञानपरत्वोक्तिः आमिनिवेशमूलैव । सद्विद्यायामेवोक्कान्तिनिरूपणात् उपासनाफलस्य तत्तमभावापन्नत्वं नैवापादयितुं शक्यमिति प्रागत्रान्यत्रोक्तम् । कूटस्थनित्य परिणामिनित्यमिति विभागः योगमाध्य एव प्रसिद्धः । तद्भाष्यकाराश्च पारमार्थिकनित्यविभागं नाङ्गीकुर्वन्ति । गीतायाउभयत्र (६, १५) अक्षरस्यैव कूटस्थत्वोक्त्या पठे कूटस्थत्वं मुख्यं, पञ्चदशे कूटस्थत्वतु नमुख्यम् स्वमतविरोधात्

## गूढार्थसमूहः

इत्यभिप्रेत्य (३) माध्ये अर्थभेदोक्तिः कथं गीतातात्पर्यानुगुणा भवति । कूटस्थविलक्षणत्वस्य जीवभिन्नपरमा मनि पञ्चदशे प्रतिपादनेन कूटस्थव निर्धर्मक्यमिति परसम्मतार्थः गीतातात्पर्यविरुद्धः । 'द्रष्टृदृश्ययोस्सयोगो हेयहेतुः' (यो.सू.२.१७) 'स्वन्वामिश्रतयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुसयोगः' (२.२३) इत्यत्र सयोगः स्पष्टमुक्तः । पञ्चशिखेनापि धर्मिणामनादिसयोगात् धर्ममात्राणामप्यनादिसयोगः तसयोगहेतुपिवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः' (७.८) इत्यत्र सयोगः अङ्गीकृतः ॥

अत्र 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (१.४) इति सूत्रतत्त्ववैशारद्या—'नपुरुषसमुक्तं चित्तम् अपितु तत्सन्निहितं सन्नि-  
विश्वं पुरुषस्य न देशतः कालतो वा तसयोगात् । किंतु योग्यतालक्षणं अस्ति च पुरुषस्य भोक्तृशक्तिः चित्तस्य भोग्य-  
शक्तिः भोगश्च यद्यपि शब्दाद्याकारा वृत्तिः चित्तस्य धर्मः । तथाऽपि चित्तचैत्ययोरभेदसमारोपात् वृत्तिसारूप्यात्पुरुष-  
स्ययुक्तमित्युक्तम् । अयमर्थः सूत्रस्वरूपविरुद्धः । विज्ञानभिधुस्तु धार्तिके 'सामान्यगुणातिरिक्तधर्मोत्पत्तेरेव व्यवहारश-  
ब्दानुरोधेन परिणामशब्दार्थत्वावधारणात् । घटादिसयोगाद्यैराकाशस्य द्वादिभिश्च पुरुषस्य परिणामव्यवहाराभावात्  
पद्मत्रयस्य तोयनं पद्मत्रयस्यापरिणामासयोगादिश्रवणाच्च ।' इत्यादिना दृष्टदृश्यसयोगमङ्गीचकार । एतेन कूटस्थव ननि-  
र्धर्मक्यमिति युक्तं भवति । स्वरूपसङ्कोचविकासा मकपरिणाम एव नित्यत्वविरोधी, सच्च आत्मनि नाङ्गीक्रियत । धर्मध-  
र्मिणोर्भेदेन धर्मस्यागमापायित्वेऽपि धर्मिणोनाशमावात् । बौद्धोक्तसन्नधानुपपत्तिस्तु न्यायवार्तिकता पर्यटोकायामेव वाच-  
स्पतिर्नैव परिहृतेति जिज्ञासाऽधिकरण एव ( ) उक्तम् । तेन वाचस्पतिना अत्र भामत्या परिणामिनित्यस्यापार-  
मार्थिकयोक्तिर्निर्वकाया । कस्य पारमार्थिकनित्यत्व परेषां समनमिति प्रियेचनीयम् । सत्यज्ञानानन्तस्य ब्रह्मण इतिचेत्—  
तत्र सत्यज्ञानानन्तज्ञानन्दत्वब्रह्मवादीना निर्विशेषे कल्पितत्वेन तादृशिष्टस्य मिथ्यात्वेन तस्य पारमार्थिकनित्यत्वं न  
सम्भवति । सत्यवादीनामभावरूपत्वेऽपि यथा नोपपत्तिः तथा प्रागेव निरूपितम् । पारमार्थिकनित्यत्वं कालत्रयान्नाध्यत्वरूप  
तदपि शुद्धमिति धर्मानङ्गीकारान्नघटे । ज्ञानत्वोपलक्षितस्य अविद्योपलक्षितस्य च नविशेषः ज्ञानवस्याविद्यासत्तादशा-  
यामेव सद्भावात् । अज्ञानासामान्याविरोद्ध्युपाहिता मनः स्वरूपस्य परमपुरुषार्थस्य अस्थिरत्वं ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिरभ्युपगतम्  
एतेन अविद्योपलक्षितात्मनः अविद्योपलक्षितस्य ज्ञानत्वोपलक्षितस्यचाविशेषेण ज्ञानकूटस्थनित्यमिति वत् अविद्यावत् कूट-  
स्थनित्यमिति व्यवहाराभावे बीजाभावश्च । एतेन आत्मनः मा उ व वृत्तेर्मोक्षश्च न सम्भवतीति सिद्धम् ॥

उपदेशसाहस्रधा—'धात्वर्थविक्रियाया उपलब्ध्युपचारात् नित्योपलब्धिमात्र एवाहि उपलब्ध्या ननु तार्किकसमय इवाभ्या-  
उपलब्धिः अन्य उपलब्ध्या च' इति । अवगतिः कूटस्था स्वयं सिद्धा मज्जोति स्वरूपति च कथं तर्ह्यवगते फलत्वं ? तत्त्वो-  
पचारात् । कूटस्था नित्यापि सती प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्ते लक्ष्यते तादर्थ्यात् प्रत्यक्षादिप्रत्ययस्य अनित्यत्वे अनित्येव भवति ।  
तेन प्रमाणानां फलमित्युपचर्यते इति । नीलगीतादिप्रत्ययभेदाः ताभेवावगतिं व्यभिचरन्त असत्यरूपा भवितुमर्हन्ति ।  
तस्याश्चावगतेरन्यः अवगन्ता नास्ति नस्त्वेन रूपेण स्वयमुपादातु हातुया शक्यते इति । अवगतिर्हि प्रमा इतिच प्रमाया  
कूटस्थनित्यत्वोपपादनप्राप्त्या 'अथाविकृतिरवासौ प्रमातेति नमुच्यते' इति निर्गुणामवादे बौद्धदिङ्नागोक्तदूषणं नाति-  
वर्तते 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र परसमतार्थो नघटत इति प्रागेव निरूपितम् । 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यत्र  
सगुणज्ञानमेव विराक्षितम् । 'अभयवै जाकप्राप्तोऽसि' इत्यत्र प्राप्तिरेवोक्ता, ननु जीवब्रह्माभेदः । 'तस्मात् सर्वमभ-  
वत्' इत्यत्र सर्वभावज्ञानमेव विराक्षितम्, ननु सर्वभावः तस्य नित्यसिद्धत्वात् । सर्वभावप्रकारश्च प्रागेवोक्तः । 'तत्र  
को मोहः' इति श्रुतौ एकं व प्रत्यन्तसारामृते सम्बन्धनिरूपितम् ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

‘ त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि ’ (प्र.६.८) ‘ श्रुतस्येवमे भगवद्दशेभ्यः तरति शोक-  
मात्मविदिति सोऽहं भगवश्शोचामि तमा भगवान् शोकस्य परं पारं तारयतु ’ (छा.७.१.१) तस्यै मृदितपायाय तमसः  
पारंदर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ’ (छा.७.१६.२) इत्यत्र ‘तारयति’ ‘तारयतु’ ‘तरति’ इति तृष्ठातुरेव प्रयुक्तः । तरति  
अतिक्रामति । ‘तारयतु आत्मज्ञानोद्भवेन अविद्यामहोदधेर्विद्याद्वयेन परमपुनरावृत्तिलक्षण मोक्षार्थं महोदधेरिव पारतार-  
यसि ’ इति (श) भाष्ये विवरणकरणेन प्रकृतिमण्डलतारणमेव विवक्षितम् । तेन गतिद्वारकफलमेवात्राभिप्रेतमिति प्रती-  
यते । अतएव ‘ ओमित्येवात्मानं ध्यायथ स्वस्तिवःपाराय तमसःपरस्तात् ’ इति मुण्डकश्रुतिरसङ्गच्छते । अर्चिणादि-  
गतिद्वारकफलं धर्मफलमेवेति याज्ञवल्क्येन निर्धारितम् । बृहदारण्यकभाष्यावतरणे देवयानमार्गेण गतिद्वारकफलस्य वेदपूर्-  
वभागार्थत्वप्रतिपादनं याज्ञवल्क्यस्मृतिविद्वद्भिरिति ग्रन्थान्तसारामृते निरूपितम् । तेनापि अत्र देवयानमार्गेण गतिसा-  
ध्यफलं आत्मज्ञानफलं न भवतीत्युक्तिर्निरवकाशा ॥

‘ न कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यत्वात् ’ इत्यत्र पञ्चपादिका—‘ अथापि ‘अथ यदतःपरो दिवो ज्योतिः’, इति  
प्रश्नातिरिक्तब्रह्मपुनरागमे देवताविग्रहवत्त्वन्यायसम्भवात् मोक्षकामस्य ब्रह्मोपासनं विधीयते । तथा च श्रुतिः ‘विद्यया  
तदारोहन्ति’ इति । नच साध्यत्वेऽप्यन्तवत्त्वम् ; शब्दगम्यत्वाद्नाशतेः ‘नच पुनरावर्तते’ इति । नक्षेपतर्कगम्यः  
येन तर्केणास्य तत्त्वं व्यवस्थाप्येत, शब्दगम्यस्तु शब्दादेव तत्त्वव्यवस्थेति मन्यानस्योत्तरमाह भगवान् माध्यकारः ’ इति  
विवरणम् । अत्र ‘इदानीं जीवब्रह्मणोर्भेदमङ्गीकृत्य ब्रह्मणश्च प्रदेशान्तरवर्तित्वं सर्वगतत्वचाभ्युपगम्य ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इत्यारो-  
पितरूपेण विधीयमानादुपासनात् यागादिव स्वर्गो मोक्षः फलिष्यतीति येमन्यन्ते तन्निराशयोत्तरं माध्यमित्याह—अयार्थेति’  
इति । ‘नचाप्यन्वेनापि कार्यपेशा स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् । स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणोऽनाप्यत्वात् सर्वं गतत्वेन  
नित्यात्मस्वरूपत्वात्सर्वेण । ब्रह्मण आकाशस्येव ’ इत्यादि (श) भाष्यस्य पञ्चपादिका—‘अथानित्यत्वपरिहाराय स्थितस्यै-  
वाप्यत्वमुच्यते तदपि न आत्मस्वरूपस्य क्रियापूर्वकाप्यत्वानुपपत्तेः । व्यतिरेकेऽपि सर्वगतत्वेन नित्यप्राप्तत्वादाकाशेनेव  
नक्रियाऽपेशा प्राप्तिः । अथ विकारवर्तिनोऽपि ‘अथ यदतःपरो दिवो ज्योतिर्दोष्यते’ इति श्रूयमाणस्य प्राप्तये क्रियाऽ-  
पेक्षेति, न ; विकारदेशेऽपि ब्रह्मणो विकारसंस्पर्शाभावादविशेषात् । अथ विकारवर्त्येव ब्रह्म न विकारदेशेऽस्ति, तेन  
तत्प्राप्तये क्रियाऽपेक्षेति सातर्हि तत्प्राप्तिरात्मनस्तादात्म्यापत्तिः ? उत स्वेनैव रूपेण तत्रावस्थानम् ? यदि पूर्वकल्पः तदा  
स्वरूपनाशः । अथ द्वितीयः, सयोगस्य विप्रयोगावसानत्वात् पुनरावृत्तिः । नचापुनरावृत्तिश्च्युतिर्वर्तमानापदेशिनी तथा  
भावे प्रमान्तरमपेक्षमाणा स्वयं प्रमाणीभवति ’ इति ॥

अत्र विवरणम्—‘तर्हि तृतीयं फलं क्रियासाध्यमिध्यतामिति शङ्कते अथानित्यत्वपरिहारायेति । तत्रेदं वक्तव्यम्  
किं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतं व्यतिरिक्तं वा ? व्यतिरेकेऽपि सर्वगतं वा प्रदेशान्तरवर्ति वा ब्रह्मेति । तादात्म्ये दूषणमाह—तदपि  
नेति । व्यतिरेके सर्वगतत्वेऽस्योगव्यतिरिक्तप्राप्तयमावाऽस्योगो नित्यसिद्ध इत्याह—व्यतिरेकेऽपीति । प्रदेशवर्तित्वं शङ्कते  
अथ विकारवर्तिन इति । तत्र वक्तव्यम् किं विकारसंस्पर्शपरिहाराय प्रदेशवर्तित्वमुच्यते किं वा शास्त्रसामर्थ्यादिति ।  
शास्त्रं पुनस्सर्वगतत्वमेव दर्शयति । नच सर्वगतत्वेऽपि विकारसंस्पर्श इत्याह न विकारदेशेऽपीति । अथ सर्वगतत्वस्योपचा-  
रितत्वात्प्रदेशविशेषवर्त्येव ब्रह्मेति शङ्कते अथ विकारवर्त्येवेति । न । मध्यमपरिमाणस्य वस्तुनः पृथिव्यादिवत्सावयवत्वात्  
दूषणविभागज्ञानाय विकल्पयति सा तर्हि तत्प्राप्तिरिति । प्रथमे कल्पे दूषणमाह तदा स्वरूपनाश इति । कथं तच्च ताव-  
ज्जीवस्य ब्रह्मभावः ? ब्रह्मैव वा जीवो वा न सम्भवति असाध्यत्वात् । नापि जीवब्रह्मभ्यामारभ्यमाणं द्रव्यान्तरम् । विना-

## गूढार्थसंग्रहः

शिवप्रसङ्गात्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽवयवत्वायोगात् । नापि जीवब्रह्मणोऽस्मादात्म्यं नाम कश्चिदवयवः । भिन्नद्रव्ययोस्सयोगा-  
तिरिक्तसंघामात्रात् । नापि जीवेऽणुपरिमाणेऽवस्थिते ; ब्रह्मस्वरूपापत्तिविरोधात् । अनवस्थिते च परिमाणे द्रव्यस्वरूप-  
नाशश्चेति । द्वितीयेऽपि कल्पे दूषणमाह सयोगस्येति । ननु शास्त्रसामर्थ्यादपुनरावृत्तौ कथं तर्केण पुनरावृत्तिरसंभवेति ।  
तत्राह नच पुनरावृत्तिश्च्युतिरिति । यथाश्रुतार्थेऽप्राप्तप्रतिषेधात् । नावर्तिष्यत इति कल्पनायाः कृतकत्वानुमानविरोधात्  
तस्यैव च स्वरूपेणावस्थाने 'स स्वराड्भवतीति श्रुतेरनेकेश्वरप्रसङ्गात् । तस्मान्न देशान्तरवर्तिब्रह्मप्राप्तिरिति ॥

ननु 'तयोर्धर्मायनमृतत्वमेति' इति श्रूयते । तर्हि प्रतीकाल्पनानामपि मूर्द्धन्यनाड्यैरामानवपुरुषाद्गच्छताममृ-  
तत्वं स्यात् अविशेषश्रवणात् । ननु 'स एनान्ब्रह्मगमयती'ति अर्चिरादिना गच्छता ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते । न । कार्यब्रह्मवि-  
षयत्वात् । ननु ब्रह्मशब्दार्थस्य मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गम्यते । न । यदि तावद्वृद्धव्यवहारे प्रयोगान्मुख्यताऽभिधीयते । तर्हि  
कार्यब्रह्मण्यपि रूढ एवावयवशब्दो भवति । अथावयववार्थानुगमेनार्थमुख्यताऽभिधीयते । नैवम् । एकस्य शब्दस्य युगप-  
द्बिद्वययोगवृत्तिद्वयोपादानायोगात्प्रयोगमुख्यत्वे कार्यब्रह्मैव गम्यते । किंच 'स एनान् ब्रह्मलोकान् गमयती'ति ब्रह्मलोकशब्दा-  
द्बहुवचनान्तेषु 'परापरवतो वसन्ती'त्यधिकरणाधिकर्तव्यताश्रवणात् । 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समा' इति कालपरिच्छेदश्रव-  
णात् 'तृतीयस्यामितो दिवि' इति संख्याद्युपशब्दयोः श्रवणात् तथैरमदीयस्य सरसः अश्वत्थस्य सोमसवनस्यापराजिता-  
याश्च पुरो हिरण्यस्य च वैश्वनो हिरण्यस्य चार्णवस्य पर्यङ्कादेश्च भोग्यवस्तुभेदस्य श्रवणात् 'प्रजापतेस्समा वैश्व प्रपद्ये'  
इति प्रजापतिसमावैश्वनो श्रवणाच्च कार्यब्रह्मैवाचिरादिना गम्यत इति प्रतीयते । नच ब्रह्मैव लोक इति समासः ब्रह्मलो-  
कशब्दस्य सत्यलोके रूढत्वात् । यौगिकत्वेऽपि तत्र प्रथमतरबुद्धिहेतुत्वाद्ब्रह्मणि लोकशब्दविरोधात् । न चैतेषां कार्यब्रह्म-  
लिङ्गानामपबाधया ब्रह्मशब्दस्यैकस्य प्रयोगमुख्यत्वातिरिक्तमर्थमुख्यत्वमप्युपादातुं युक्तम् । प्रजापतिशब्दस्य कार्यब्रह्मणि  
रूढत्वाल्लोकशब्दस्य च भोगभूमिविशेषणवाचित्वात् ॥

किंच पञ्चाग्निविदामपि परब्रह्मप्राप्तिरस्मिन्पक्षे स्यात् । नच 'स एनान्ब्रह्मगमयती'त्येतच्छब्दः पञ्चाग्निविदतिरिक्तान्  
परामृशतीति युक्तम् । पञ्चाग्निविदामेव प्राधान्येन प्रकृतत्वात्तेषामनिर्दिष्टफलत्वं प्रसङ्गात् । किंच गायत्रीशाण्डिल्यषोडशकले  
पकोसलवैश्वानरभूमदहरपर्यङ्कविद्यानामेकरूपैव ब्रह्मप्राप्तिः फलम् आहोस्विदुपचयापचयरूपमिति वक्तव्यम् । एकरूपफलत्वे  
गुणोपचयापचयादुपासनोपचयापचयौ व्यर्थौ स्याताम् । नह्यग्निहोत्राद्यनुष्ठानोपचयात् फलोपचयो न जायते । अथ फलोपच-  
यापचयावपीध्येयाताम् । तर्हि न विकारास्पर्शब्रह्मप्राप्तिः तत्र तदभावात् । किंच वैश्वानरोपासनाफलं त्रैलोक्यापत्तिरिष्यते  
वा नवेति वक्तव्यम् । इष्यते चेद्विकाराससृष्टे ब्रह्मणि कथं त्रैलोक्यामताफलप्राप्तिः । नचेदिष्यते 'त यथायथोपासत' इति  
श्रुतिविरोधस्स्यात् । किंच पित्रादिसङ्कल्पैर्विकाराससृष्टे ब्रह्मण्युपभोगस्यान वेति वक्तव्यम् । नचेत्पित्रादिसङ्कल्पश्रुति-  
विरोधः । स्याच्चेद्विकारावर्ति ब्रह्म पित्रादियुक्तं स्यात् । किंच विकारावर्ति ब्रह्मप्राप्तोऽपि ब्रह्मैवेति 'मनसैतान् कामां पश्यन्  
रमते' 'तेन पितृलोकं सपन्नो महीयत' इति ब्रह्मण्येव साधनैर्मोक्षो दर्शितः स्यात् । ततश्चाप्तकामताविरोधः स्वार्थप्रयुक्ता-  
च सृष्टिः स्यात् ॥

किंच विकारावर्तिब्रह्मप्राप्तस्य लिङ्गशरीरमस्ति वा नवेति वक्तव्यम् । अस्तिचेत्कलाप्रत्यक्षश्रुतिर्वाध्येत नचेत्लिङ्गशरीर-  
'मनसैतान्कामान्' इति श्रुतिर्वाध्येत । किंच तत्र लिङ्गशरीरविलये निमित्तं वक्तव्यम् । विद्यैरचेदुक्तान्तिकाले स्यात् तदार-  
म्भककर्मक्षयात् अमानवकरस्पर्शश्चेत् विद्युत्स्थाने स्यात् । नचापरिष्ठाकलाविलयननिमित्तं श्रूयते । किंच औपाधिकजी-  
वरक्षे न जीवस्य विकारावर्तिब्रह्मगमनं संभवति । निरवयवावच्छेदस्य घटाकाशस्यैवोद्घृत्य नयनायोगात् उद्गरणे च



## गूढार्थसंग्रहः

ब्रह्मशब्दोऽयं प्रदेशस्यात् उपरिष्ठाच्च ब्रह्मोपचयं प्राप्नुयात् । तस्मादुपाधिगमेनादात्मनि गमनविभ्रमः । ननुपाधेरपि गमनं सम्भवति तदुपादानस्य ब्रह्मणश्चलनशून्यत्वात् । नहि मृदि निश्चलायां घटस्य गमनमस्तीति । एवं तर्हि स्वप्नगमनं न्यायाविज्ञमिमो गमनादिप्रतिभासः । ननु न विद्यादिसङ्कल्पैर्ब्रह्मणि भोगोऽभिधीयते किंतु यायास्तत्र भोगः तस्य नित्यं नन्दप्राप्तावन्तर्भावादैश्वर्यभेदः कथ्यत इति न एकस्य ब्रह्मशब्दस्य यौगिकार्थमङ्गभयाद्ब्रह्मिणां फलश्रुतीनामुपचारकल्पनां गान्ठाभ्यान्त्यपदवैकल्यप्रसङ्गाच्च । तस्मात्प्रदेशान्तरवर्तिब्रह्मप्राप्तये क्रियाविधानमित्यनुपपन्नम् ॥

अत्र पञ्चपादिकाया-ब्रह्मसिद्धौ मण्डनोक्तरीत्यैव पूर्वपक्षः । एतच्च भावप्रकाशे ३.संपु.१०६.पु.पर्यालोचितम् । 'आनन्दोऽप्येव तत्त्वितमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतौ 'ब्रह्मविदामोति परम्' इत्युपक्रमे याप्राप्तिरभिहिता सा 'अस्मान्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य' इत्युपसंहारे विशदं कृता । अयमर्थः 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' इति सूत्रे 'गीयत' इत्यनेन सूत्रकृता सूत्रयिष्यते । एतेन 'यो वेदं निर्विदुः गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह' इत्यस्य परसंमतार्थोऽपि सूत्रकृतसम्मत इति सिद्धम् । आनन्दानन्दमयशब्दयोरर्थभेदः परमत इव न विवक्षित इति 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति' इत्यभ्यस्तवाक्येनैव सिद्धयति । अयमर्थः आनन्दमयाधिकरणे प्रथमसूत्रद्वयेन सूत्रकृता बोधितः । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये, अथ संपत्ये' इत्यत्रोक्तसंपत्तिः 'अस्मान्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य' इति श्रुतौ सद्विद्योक्तोक्तान्तेः गतेश्चोत्तरमेवेति 'संपद्या विर्भावस्त्वेन शब्दात्' इति सूत्रेणैव निर्धारितम् । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति श्रुतौ लोकविशेषवृत्तित्वं ज्योतिषः प्रतिपाद्यते शरीरात्समुत्थानेन प्रकृतिमण्डलात् बहिः स्थानविशेष एव ज्योतिषः उपसंपत्तिः 'अस्मान्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य' इत्यत्र विवक्षिता । 'मुक्तोऽसृष्यत्यपदेशाच्च' इति सूत्रमप्येतत्तत्पर्यकम् । 'ओमित्येवात्मानं ध्यायथ स्वस्तिवः पाराय तमसः परस्तात्' इत्यत्र देशविशेषस्य प्रतीत्या 'नामरूपादिभ्यः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यत्र प्राप्तिः तद्देशविशेषएवेति श्रुत्यभिप्रायः प्रतीयते ॥

उपासनस्य ज्ञानत्वम् उपासनसाध्यत्वं च मुक्तेः प्रागेवोपपादितम् । स्वस्वरूपाभिव्यक्तेः अपहृतपाप्मत्वादीनां पारमार्थिकजीवरूपत्वादिवृत्तिकारमते ब्रह्मप्राप्तेऽप्येकतया एतत्पक्ष एव 'विज्ञानान्तरं आनन्दान्तरं वाऽभिव्यज्यत' इति (श) उपनिषद्भाष्ये उक्तार्थस्याङ्गीकारेण विद्यमानरूपस्यैवाभिव्यक्तिः नापूर्वाकारस्येति साध्यत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गस्यापि नावसरः । परमते चरमवृत्तेरविद्यानिवृत्तिरूपत्वेन मुक्तिरूपत्वाङ्गीकारात् मुक्तेरस्थिरत्वमवर्जनयामित्यादिक जिज्ञासाऽधिकरण एव निरूपितम् । 'अनावृत्तिश्शब्दात्' इति सूत्रकृता श्रुत्यैवापुनरावृत्त्या नित्यत्वं साधितम् । अत्र 'शब्द' शब्दः श्रुतिपरः । धूमादिमार्गे 'आकाशाच्चन्द्रसम्' 'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वान् पुनर्निवर्तन्ते' (छा.५.१०.५) इति पुनरावृत्तिश्श्रुता । 'चन्द्रमसो विद्यन्त तः पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति' (छा.१५.६) इत्यनन्तरं 'इमं मानवमावर्तन्ते' इति श्रूयते । धूमादिमार्गे चन्द्रप्राप्तयनन्तरं यः पुनरावृत्तिकालः स अर्चिरादिमार्गे चन्द्रप्राप्तयनन्तरं ब्रह्मप्राप्तिकालश्चैकः । एव च चन्द्रप्राप्तयनन्तरं प्रसक्ता पुनरावृत्तिः अर्चिरादिमार्गे निष्ठानां ब्रह्मप्राप्तिकथनेन प्रतिषिद्धा इति नाप्राप्तप्रतिषेधः । सूचितश्रायमर्थः 'तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते' इति गीतायाम् । इममर्थमभिप्रेत्यैव एतत्सूत्रं (श) भाष्ये 'न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते' इति परैरुक्तम् । एतेन विवरणोक्ताप्राप्तप्रतिषेधस्य नावसरः । यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तिविरोधः परमतेऽप्यपरिहार्यः । 'तद्यथेह कर्मचितः' इति श्रुतिः उपासनासाध्यस्य नानित्यत्वं प्रतिपादयितुमलम् । 'इमं मानवमावर्तन्ते नावर्तन्ते, तेषामिह न पुनरावृत्तिः' इति श्रुतिमवलम्ब्य

### गूढार्थसङ्ग्रहः

(४) उपनिषद्भाष्ये दूषणमपि न घटते । इत्यादिकमत्रैव पूर्वं भावप्रकाशे ३.सपु. त्रय्यन्तसारामृते च निरूपितम् ॥  
 'अप्रतीकालम्बनान्नयति' इति सूत्रकृता प्रतीकालम्बनानां मूर्धन्यनाड्या गमनं नैव वर्तत इति सूचितम् । 'स एनान् ब्रह्मगमयति' इत्यत्र ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वेन परब्रह्मैवायं । 'प्रजापतेस्सभा वेदमप्रपद्ये' इत्यत्र प्रजापतिशब्दः यौगिकः असङ्कोचेन परमात्मपरः । पञ्चाग्निविदां परब्रह्मप्राप्तिर्वर्तत एव तत्कृत्युन्यायेन पञ्चाग्निविद्याऽपि परब्रह्मविषयिण्येव लिङ्गशरीरसंयन्धवियोगः गतिमध्यएव तदात्वएव वासनाक्षयः । 'इत्यादिक 'विद्याः पञ्चाग्नि' (त.मु.जीवसरः) इति श्लोकविवरणं भावप्रकाशे निरूपितम् । 'कार्यं वादरिः' इत्यादौ वादरिजैमिनिवादरायण नाशा क्रमेण प्रयोगस्यले एकमेवादधिकरणं तत्र वादरायणसिद्धान्त एव सिद्धान्तः न वादरिसिद्धान्तः । 'स एनान् ब्रह्मगमयति' इत्यत्र 'तद्यद्दत्तं विदुः येचेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' इत्याद्युक्ताधिकारिण एव विवक्षितत्वेन कार्यमुपासीनान्नयति' इत्यादिश्रमेणैव सूत्रार्थो विवक्षित इत्यादिकमपि तत्रैव निरूपितम् । अतश्च ब्रह्मविदः देवयानगतिसाध्यफलस्यैव श्रुतिसूत्रविवक्षितं वेनोत्तदिशा सविशेषमेव परब्रह्म, सविशेषविद्यैव परविद्या सविशेषस्य जगत्कारणस्यानन्दरूपस्य देशविशेषावच्छेदेन प्राप्तिरेव । ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य राजकुमारनयेन फलमिति श्रुतिसूत्रतात्पर्यविपर्याभूतार्थः वृत्तिकारसम्मत एव युक्त इति दिक् ॥

### समाप्तं समन्वयाधिकरणम्

### अथ ईक्षत्यधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

### सू-ईक्षतेर्नाशब्दम् [१.१.५]

### गूढार्थसङ्ग्रहः

आद्याधिकरणचतुष्टयेन अधिकारिविषयसबन्धप्रयोजननिर्धारणेन वेदान्तवाक्यविचाररूपशरीरमीमांसाशास्त्रस्या रम्भणीयत्वमुक्तम् । अथ वेदान्तवाक्यविचारः क्रियते । अत्र पुरुषसूक्तं छान्दोग्यं मुण्डकोपनिषदं सु ऋग्वेदस्य प्राथम्यमुक्तम् यजुषः कर्मविधायकत्वेन अङ्गिनिरूपणरूपता ऋक्सामयोस्तु शस्त्रस्तोत्रप्रतिपादकता । तत्र अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम् । प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रमिति विवेकः । पूर्वमीमांसायां कर्मणा प्राधान्येऽपि अत्र तेषां ब्रह्मविद्याऽङ्गत्वं ब्रह्मणश्च प्राधान्यम् । पूर्वत्र शब्दातिरिक्तदेवताऽनङ्गीकारेऽपि अत्रार्थवादवाक्यानां प्रामाण्यमङ्गीकृत्य देवताविग्रहाद्यङ्गीकारेण देवतागुणाभिधानरूपत्वमेव स्तोत्रशस्त्रयोः । तत्र 'एक एव देव' इति ऋग्वेदमाध्योपोद्घातादौ व्यक्तम् । अत्रापि ब्रह्मणः सर्वदेवतान्तर्यामित्वेन तन्निष्ठगुणाभिधान एव तयोः पर्यवसानम् । तत्र ब्रह्मपेक्षया स्तोत्रस्य सामवेदोक्तस्य गानविशेषसद्भावादुत्कर्षः । अतएव 'वेदानां सामवेदोऽस्मीति गीता संगच्छते । अत्र तात्पर्यचन्द्रिकायाम्—(गी.१०.२२) आचार्यपादोक्तश्रुतिद्वयमूलकोत्कर्षोऽप्यनुसंधेयः । 'ब्रह्मविदाम्प्रोति' 'सोऽश्रुते' 'आनन्दश्चेव' 'आनन्दं प्रयान्ति' इत्युक्तप्राप्ते. 'अस्माहोकात्रेत्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य इमान्लोकान्कामाक्षी कामरूपयन्-

श्रीभाष्यम्

यतो वा इमानीत्यादिजगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं सर्वशक्तिसमस्तद्देय

श्रुतप्रकाशिका

ईक्षतेर्नाशब्दम् (१.१.५)

\* प्रथमे सूत्र उद्देशःकृतः । द्वितीये लक्षणमुक्तम् । तृतीयचतुर्थार्थयोः लक्ष्यस्य ब्रह्मणः परीक्ष्यत्वसिद्धयर्थं लक्षण-  
स्वभावात् सिद्धरूपलक्ष्यस्वभावाद्योग्यते श्रुतत्वाप्रयोजनत्वशङ्के परिहृते । अथ लक्ष्य वस्तु किं चिदचिद्विलक्षणम् उतकिं  
लक्षणमिति परीक्ष्यते । यद्वा पूर्वे कारणत्वमनूय तस्य लक्षणत्वमुक्तम् । लक्षणलक्ष्यस्वभावनिबन्धन शङ्कादयं च परिहृ-  
तम् । अथ लक्षणभूतकारणत्वप्रापकवाक्यानि निरूप्यन्ते, यद्वा चतुरस्र्या वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यरूपपरीक्ष्यता  
परिकरस्यापनं कृतम् । अथ प्रमेयविशेषपरीक्षा क्रियत इति पेटिकासङ्गतिः ॥

ननु ईक्षत्यधिकरणमनारम्भणीय समन्वयाधिकरणे पुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यवनिश्चयेन हेयास्पदस्य प्र-  
धानस्य प्रसङ्गाभावादिति । नैवम् । पुरुषार्थभूतस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्व न सम्भवति अपुरुषार्थभूतस्य प्रधानादेः प्रति-  
पादनादिति समन्वयाधिकरणोक्तार्थस्याक्षेपेणोक्त्यानादिति । इयमवान्तरसङ्गतिः । इत्येतदभिप्रायेण पेटिकाभेदतः सङ्गत्यवा-  
न्तरसङ्गतीराह—यतो वा इमानीत्यादि । उद्दिष्टस्य ब्रह्मणो लक्षणमुक्त लक्षितस्य परीक्षणं वर्तिष्यत इत्यभिप्रायेण लक्षण  
वाक्यमुपात्तम् । कारणत्वानुवादेन तस्य लक्षणत्वविधानात् । कारणस्य चिदचिद्वैलक्षण्यनिर्णयस्य कारणत्वप्रापकवाक्यनिरू-  
पणसापेक्षादास्मिन्नधिकरणे कारणवाक्यानि निरूप्यन्ते इति च ज्ञापनार्थं लक्षणवाक्योपादानम् । आदिशब्देन कारणत्व-

गूढार्थसंग्रहः.

सञ्चरन् एतत्सामगायन्नास्ते' इति श्रुतौ निवरणतात्पर्येण 'मानवार्णिकमेव च गीयते' मति सूत्रकृता वक्ष्यते । एव वदता  
सूत्रकृता सामवेदप्राशस्त्य सूचितम् । एव कारणवाक्यानां गतिसाध्यमुक्तिवाक्यैकरस्यमपि । एतदेवाभिप्रेत्य सामवेदछान्दो-  
ग्यवाक्यविचारः शास्त्रोपक्रमोपसंहारयोः क्रियते । तत्र 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यत्र सद्विद्यावाक्यविचारे मूलतु प्राधान्य-  
मेव । तच्च प्रसिद्धार्थकानुवादरूपताबोधकशब्दाधीनत्वम् । उपसंहारे 'सत्त्वमेव वर्तयन्त्यावदायुषम्' इत्यादौ गृह्यस्य  
ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्त्यभिधानेन तस्य परविद्यायामधिकारः तदङ्गता पूर्वकाण्डोक्तकर्मणा सम्भवतीति बोधनम् । पित्रा गृह-  
स्थेन पुत्रप्रत्युपदेशेन सन्न्यासिन एवाधिकार इत्यर्थं श्रुतिविरुद्धइत्यस्यावेदनम् । अत्र कार्यकारणभावोपक्रमेण अम्या-  
सेनोपक्रमे तस्यैवाग्नेदोपपादकत्वाभिधानेन 'तत्त्वमसि' इति नवकृत्वः अम्यस्तवाक्येषु उपादानोपादेयभावेनैवाभेदः  
विवाक्षित इति बोधनेन कारणवाक्यानामेव प्राधान्यं ननु परसमतमहावाक्यानामिति निर्णयादिकचोद्धम् ॥

सू—ईक्षतेर्नाशब्दम् .१.१.५.

यतो वा इत्यादि । आदिपदेन 'सदेव' इत्यादिवाक्यपरिग्रहः । यच्छब्दस्य 'सदेव' इत्याद्युक्तकारणबोधकत्वेन  
औपनिषदत्व कारणस्य तृतीये उपपादितम् । 'औपनिषत्कस्तुशब्दस्यार्थेन संबन्धः—अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायण

## श्रीभाष्यम्

प्रत्यनीककल्याणगुणैकतानं ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम् । इदानीं जगत्कारणवादिवाक्यानामानुमानिकप्रधानादिप्रतिपादनानर्हतोच्यते ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिना । इदमाश्रयते छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि । तत्र सन्देहः किं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं परोक्तमानुमानिकं प्रधानम् ? उक्तोक्तलक्षणं ब्रह्म-इति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

प्रापकवाक्यानि गृह्यन्ते । अतएव ह्यनुवादपुरोवादसाधारण्येन जगत्कारणवादीयुक्तम् । समन्वयाधिकरणार्थक्षेपहेतुकावान्तरसङ्गयुपयोगीनि सर्वज्ञत्वादिविशेषणानि । जिज्ञास्यमित्युक्तमिति । प्रामाणिकतया परीक्ष्यमि युक्तमित्यर्थः । तदनन्तरं परीक्षाहि सङ्गतेत्यभिप्रायेणाह-इदानीमिति ॥

अनेन चतुस्सूत्रानन्तर्यं ब्रह्मणः पुरुषार्थताप्रतिपादनपरसमन्वयाधिकरणानन्तर्यमप्युक्तम् । आनुमानिकप्रधानादीत्यनन्तरोक्तसमन्वयक्षेपेणोक्तानादवान्तरसङ्गतिरिति सूच्यते प्रधानादीत्यादिशब्देन \* क्षेत्रज्ञमात्रं चिद्विशेषः, अचिद्विशेषाश्च गृह्यन्ते । ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिनेति । पादशेषेणाध्यायशेषेणेति वार्थः । विषयमुदाहरति इदमिति । प्रतिज्ञादधान्तोपेतं सङ्कल्पप्रतिपादकं सामान्यशब्दवत्कारणवाक्यं विषयः, तत्र सद्ब्रह्मावाक्यमेवास्याधिकरणस्य साक्षाद्विषयः \* सद्ब्रह्माद्वारेणेशकारणवाक्यानां विषयत्वं नतु साक्षादेव, विषयवाक्योपादानसमये वाक्यान्तराणामनुपादानात् । टीपसारयोश्च तेषामनुपात्तत्वात् । प्रतिज्ञाविरोधस्वाप्यययोरत्रत्ययोरेव सूत्रितत्वात् \* तदनुग्राहकत्वेनोपनिषदन्तरगतिसामान्यस्य अस्यामुपनिषदि विद्यान्तरेषु श्रुतत्वस्यापि सूत्रितत्वात् बुद्ध्ययतरणक्रमेण प्रथममुपादानत्वोचिताचेतनत्वशङ्कायाः प्रतिक्षेप्यत्वात् \* सद्ब्रह्मात्मादिपदचिह्नितेषु वाक्येषु सामान्यशब्दचिह्नितवाक्यस्य प्रथमनिरूपणीयत्वाच्च । सामान्यद्वाराहि विशेषे बुद्धिमधिराहति, सामान्यपरिग्रहे प्रतिक्षेपे च विशेषविषयसशयोऽप्रकाशवान् \* विशेषेण प्रतिपन्नेहि सामान्याकाङ्क्षा न स्वरसंवाहिनी । सन्दिग्धेहि न्यायप्रवृत्तिः \* अतस्सशयसद्भावनमाह-तत्रेति ॥

कारणस्येदंशब्दवाच्यकार्यसालक्षण्यावश्यंभावेक्षितृत्वाम्ना सशयः । सशयशरीरं दर्शयति । किमिति । सच्छब्दवाच्यमिति धर्मिवाचिपदस्य साधारणतया संशयसह व दर्शितम् । जगत्कारणमिति उपादानत्वात् कार्यसालक्ष्यं दुस्त्यजम् निमित्तत्वात्मुख्येक्षितृत्वचेति सशयहेतुस्थिरीकरणम् । परोक्तमिति । \* विप्रतिपत्तिरापि सशयहेतोरनुग्राहिकेति भावः,

## गूढार्थसंग्रहः

स्यानपेक्षत्वात्' इत्यत्र शब्दस्य प्रमाणान्तराप्रामाण्यबोधकं न जैमिनिन्याससम्मतम् । तत्र 'सामान्यतरतु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् तस्मादपिचासिद्ध पराश्रमासागमासिद्धम्' सा. का. ६ इति साङ्ख्येन ईश्वरकृष्णेन तत्त्वसृष्टिक्रमएवागमवाक्यतात्पर्यं नतु कारणे इत्युक्तम् । एतत्तात्पर्यसूचनार्थेव 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यत्र आनुमानशब्दं विहाय अशब्दशब्दप्रयोग इत्यभिप्रेत्याह-आनुमानिकेत्यादि ॥

तत्तेजोऽसृजतेत्यादि । आदिपदेन 'तत्तेज ऐक्षत तदपोऽसृजत, ता आप ऐक्षन्त ता अन्नमसृजन्त' इत्यादि वाक्यस्य सङ्ग्रहः । एतद्वाक्योपादानेन जगत्कारणे तत्त्वसृष्टिक्रमे च आगमतात्पर्येण शास्त्रतात्पर्यं वर्तत इति सूचितम् । एतेन साङ्ख्यमतरीत्या तत्त्वसृष्टिक्रमेऽपि न शास्त्रतात्पर्यं, किंतु 'अध्वारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते । सिध्द्याणां बोधसिद्धयर्थं कृतशै.कलित.क्रमः' इति (ब्र.वि.) परोक्तिर्निरवकाशेत्यप्यावेदितम् ॥



## श्रीभाष्यम्

किं प्राप्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव' (छा.६.२.१) इतीदंशब्दवाच्यस्य चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरजस्तमोमयस्य वियदादिनानारूपविकारावस्थस्य वस्तुनः कारणावस्थां वदति ।

## श्रुतप्रकाशिका

पूर्वपक्षबीजस्मारणपरसौत्रपदद्योतनार्थमानुमानिकमिति पदम् । उत्तलक्षण सर्वज्ञत्वादिलक्षणम् आनुमानिकोत्तलक्षणपदाम्ना संशयहेतुद्वयसूचनम् । किं जगत्कारणवादिवेदान्तवाक्यानि प्रधानादिप्रतिपादनपराणि उत तद्विलक्षणब्रह्मपराणीति \*पाद शेषसाधारणो विचारः । अत्र तु तदर्थं सद्विद्यावाक्यानि किं प्रधानप्रतिपादनपराणि उतोत्तलक्षणब्रह्मपराणीति विचारः । तदर्थं किमनेक्षण गौणम् उत मुख्यमिति, तदर्थं किमनुमानाकारता, गौणक्षणसाहचर्ये च विद्यते, नेति । तदर्थं प्रतिशदृष्टान्तौ किं हेतोरक्षेपकौ नेति तेजःप्रभृति शब्दाः किं तेजःप्रभृतिमात्रवाचिनः ? उत परमात्मपरा इति च तदर्थमात्मशब्दस्तेजःप्रभृतिशब्दानां \* अब्रह्मपरत्वस्याविरोधी उत विरोधीति तदर्थमात्मशब्दस्वारस्यभङ्गहेतवोऽनुरोद्धव्याः उत तदनुग्राहकहेतव इति विचारः, तत्स्वारस्यभङ्गहेतवोऽनुरोद्धव्या इति पूर्वपक्षः ॥

तदनुग्राहका एवानुरोद्धव्या इति सिद्धान्तः । यदा स्वारस्यभङ्गहेतोरनुरोद्धव्यत्वेनात्मशब्दस्य तेजःप्रभृति शब्दानामब्रह्मपरत्वाविरोधितया तेजःप्रभृतिशब्दास्तेजःप्रभृतिवाचिनः, प्रतिशदृष्टान्तौ च यदा हेत्वाक्षेपकौ तदा हेत्वाक्षेपो गौणक्षणसाहचर्ये चास्तीति प्रथमश्रुतेक्षणस्य गौणत्वेन सद्विद्यावाक्यानां प्रधानपरत्वात्तदेकार्थतया सर्वाणि कारणवाक्यानि प्रधानपराणीति पूर्वपक्षे फलफलिभावः । यदा आत्मशब्दस्वारस्योत्तमभङ्गहेतोरनुरोद्धव्यत्वेन आत्मशब्दस्य तेजःप्रभृतिशब्दानां अब्रह्मपरत्वविरोधित्वेन तेजःप्रभृतिशब्दाः परमात्मपराः प्रतिशदृष्टान्तौ च यदा न हेत्वाक्षेपकौ तदाऽनुमानाकारत्वगौणक्षणसाहचर्ययोरसिद्धया प्राथमिकेक्षणस्यागौणत्वात् सद्विद्यावाक्यानि परब्रह्मपराणि अतस्तदैकार्यासर्वाणि कारणवाक्यानि परब्रह्मपराणीति सिद्धान्ते फलफलिभावः ॥

तत्र पूर्वपक्ष वक्तुं \*मन्यतराशिरसो युक्तिमत्त्वेन निर्धारणाकाङ्क्षा दर्शयति । किंप्राप्तमिति । प्राप्तं युक्तं युक्तिमित्यर्थः । पूर्वपक्षी स्वपक्षं युक्तिमत्त्वेन प्रतिजानीते । प्रधानमितीति । संशयक्रोडीकृते शिरोद्वये प्रधानमिति शिरो युक्तिमित्यर्थः । युक्तिविशेषाकाङ्क्षा दर्शयति कुत इति । तदुपपादयति सदेवेति । कारणस्य प्रधानत्वसिद्धौपयिकानि तद्विलक्षणपुरुषविशेषत्वविरोधीनि च विशेषणान्याह—इदंशब्देत्यादिना । इदंशब्दवाच्यस्येति । परागर्थेहीदशब्दस्वारस्य ननु प्रत्यग्रूपे चेतन इति भावः जगत्तद्विद्यावाक्यतया चेतनस्यापीदशब्दवाच्यान्तर्भावव्युदासायाह—चेतनभोग्यभूतस्येति । चिदशस्य कार्यत्वकारणत्वायोगात् न तस्य कार्यान्तर्भाव इति भोक्तृतयाऽवस्थानमेव, तस्य भोग्यत्वेन कार्यत्वमिति भावः । चेतनस्य शैत्यैकत्वभावजगद्रूपत्वमयुक्तमिति चाभिप्रायः । कार्यस्य भोग्यत्वोपयिक कारणस्य प्रधानत्वापादकं च विशेषणमाह—सत्त्वरजस्तमोमयस्येति । सत्त्वादिकार्यं \*सुखदुःखमोहान्वयहेतुत्वदर्शनाज्जगतस्त्वादिसंभवम् । निर्गुणः कथं गुणमयस्य कारणमिति चाभिप्रायः । भोग्यत्वोपपादनमाह—वियदादीति ॥

यदा इदशब्दवाच्यद्वयस्य कारणत्वे कार्यत्वकारणत्वयोः कोभेद इत्यत्राह—वियदादीति । एकत्वावस्य कारण बहुत्वावस्य कार्यमिति भिदेत्यर्थः । एकरूपस्य पुरुषस्य नानारूपकार्यभावोऽनुपपन्नमेति भावः ; कारणस्य कार्यसालक्षण्यावस्यंभावेहि चेतनस्य इदशब्दवाच्यप्रति कारणानुपपत्तिः । कारणावस्था कार्योपादानभूतद्रव्यान्तरनिष्ठेति कथं सालक्षण्या

### श्रीभाष्यम्

कारणभूतद्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता । अतो यद्द्रव्यं यत्स्वभावं च कार्यावस्थं तत्स्वभावं तदेव द्रव्यं कारणावस्थम् । सत्त्वादिमयं च कार्यमिति गुणसाम्यावस्थ प्रधानमेव हि कारणम् । तदेवोपसंहृतसकलविशेषं सन्मात्रमिति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा.६.२.१) इत्यभिधीयते । तत एव च कार्यकारणयोरनन्यत्वम् । तथा सत्येवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिः । अन्यथा 'यथासोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिमृत्पिण्डतत्कार्यदृष्टान्तदर्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यं चेति जगत्कारणवादिवाक्येन महर्षिणा कपि-

### श्रुतप्रकाशिका

वश्यमावदति शङ्काया कार्यकारणयोरेकद्रव्यत्वमाह—कारणभूतद्रव्यस्येति । ततः किमित्यपेक्षायां कार्यकारणसालक्ष्यनि-  
यमं पालितमाह—अत इति । ततोऽपि किमित्याशङ्काया कार्यस्य प्रधानसालक्ष्यमाह—सत्त्वादिमयंचेति । प्रधानस्य कार्यसारूप्यमाह—गुणसाम्यावस्थमिति । कार्यं गुणवैषम्यदर्शनात् कारणमपि तथाविधं स्यादिति शङ्काऽपाकरणार्थं गुण-  
साम्यावस्थमित्युक्तम् ननु गुणमयमिति । विषमावस्थस्य सर्वस्य कार्यत्वदर्शनात्, कारणस्यापि तथात्वे कारणान्तरापेक्षया-  
ऽनवस्थाप्रसङ्गाच्च प्रधानस्य गुणसाम्यावस्थत्वसिद्धिरिति भावः अनेकगुणसाम्यावस्थस्य प्रधानस्य कारणत्वे एकत्वावधार-  
णमनुपपन्नं एकस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वेतूपपन्नमित्यत्राह—तदेवोपसंहृतेति । एकमेवेति नामरूपविभागव्युदासः अद्विती-  
यमिति गुणवैषम्यव्युदास इत्यभिप्रायेण उपसंहृतसकलविशेषमित्युक्तम् । सन्मात्रमिति । सदेवेति कादाचित्कासत्त्वव्युदास  
इति भावः । सन्मात्रमितीत्यत्रेति शब्दोद्देशेति ॥

प्रधानकारणत्वमेव युक्त्यन्तरेणोपपादयितुमाह—तत एवेति । इदं शब्दवाच्यं प्रति कारणस्य त्रिगुणान्वयस्य प्रधा-  
नस्य सच्छब्दवाच्यत्वादेव हि कार्यकारणयोरनन्यत्वसिद्धिः । न हि विजातीययोरनन्यत्वमिति भावः । अनन्यत्व माभूदित्य-  
त्राह—तथासतीति । अनन्यत्वेति हेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः ताच्चिदचिद्विलक्षणकारणत्वपक्षे न स भवतीति भावः ।  
एवं प्रतिज्ञासिद्धिरुपयुक्तिरुक्ता भवति, यदा \* इदमग्रे सदिति सामानाधिकरण्यात् 'तद्वैक आहुः' इत्यसत्कार्यवाद  
प्रतिक्षेपाच्चानन्यत्वसिद्धिः पूर्वग्रन्थेऽभिप्रेता । हेत्वन्तराह—तथासतीति । तथासति प्रधानकारणत्वे सतीत्यर्थः, कार्य-  
कारणयोरनन्यत्वे प्रतिज्ञावाक्यतात्पर्यात्तत्रैकशब्दोऽपि गुणसमुदायैक्याद्युक्त इति भावः ॥

युक्त्यन्तरमाह—अन्यथेति । अचेतनमृत्पिण्डलोहमण्यादिदृष्टान्तश्चेतनकारणस्य दार्ष्टान्तिकत्वे न सङ्गच्छत इत्यभि-  
प्रायः, यदा सरूपमृत्पिण्डघटादिकार्यकारणदृष्टान्तो न विरूपकार्यकारणयोर्दार्ष्टान्तिकत्वे घटत इति भावः । कपिलस्मृत्यैकार्थ्यं

### गूढार्थसंग्रहः

वैरूप्यंचेति । दृष्टान्ते स्वरूपपरिणामाभिधानेन दार्ष्टान्तिके कारणे स्वरूपपरिणामाङ्गीकार एव श्रुतिस्सङ्गता भवति  
अन्तर्यामित्वपरिणामाङ्गीकारस्तु श्रुतिविरुद्ध इति भावः ॥

परेः अशब्दमिति हेतुबोधकमेव पदम् । अशब्दत्वे ईक्षतेरिति हेतुः इत्युक्तम् । अत्र प्रधानम् इति पक्षवाचकप-  
दाध्याहारः । पूर्वसूत्रे 'तत्' इत्यस्य जन्माद्यस्य यत् इति सूत्रोक्तजगत्कारणनिर्विशेषपरत्वेन जगत्कारणतापरत्वमपि वर्तत  
इति 'तत्' इत्यनेन जगत्कारणमित्यर्थो लभ्यत इति साध्यवाचकपदस्य नाध्याहार इति ब्रह्मविद्याऽऽभरणे उक्तम् ।—  
चम्मादिसूत्रे निर्विशेषाविवक्षेव न घटत इति प्रागेव निरूपितम् । तत्र निर्विशेषपरत्वेन तच्छब्दस्यात्र जगत्कारणपरत्वमपि न

### श्रीभाष्यम्

कुतः ? ईक्षतेः-सच्छब्दवाच्यसम्बन्धिव्यापारविशेषाभिधायिन ईक्षतेर्धातोश्चवणात् ।  
'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा.६.२.३) इति ईक्षणक्रियायोगश्चाचेतने प्रधाने न संभवति ।

### श्रुतप्रकाशिका

प्यसद्भावाच्च, बाधितत्वप्रतिपन्नत्वासम्भवः । अन्यपरत्वतु पूर्वपक्षयुक्तिभिरेव निरस्तम् । अतो हेतुर्न संभवतीत्यभिप्राये-  
हेत्वाकाक्षा दर्शयति कुत इति । हेतोरसिद्धिमन्यथासिद्धि च व्युदासितु व्याचष्टे । सच्छब्दवाच्येति । सच्छब्दवाच्यस-  
बन्धीति \* व्यधिकरणासिद्धिव्युदासः । प्रकृत सदेवहि 'तदैक्षत' इति तच्छब्देन परामृश्यत इति भावः । व्यापारवि-  
शेषशब्देनाभिधायिशब्देन चान्यथासिद्धिव्युदासः । नहि चेतनाचेतनसाधारण कार्यो-मुख्यमात्रमीक्षतिषा वभिधेय अपितु  
चेतनरूपकर्त्रसाधारणो व्यापारविशेषः । नच मुख्ये संभवति उपचारो युक्त इति भावः \* 'इक्षितपौ घातुनिर्देशे-  
वक्तव्यौ' इति प्रक्रियया ईक्षतिशब्देन घातूपादानं नाथोपादानं, \* तथासतीक्षितेरितिहि वक्तव्य स्यात् । अनेन  
\* चशब्दस्य विवक्षितार्थे स्वारस्य सूचितमित्यभिप्रायेणाह—धातोरिति । श्रवणादित्यशानासिद्धिपरिहारः । श्रूयमाणादी-  
क्षतेरिति \* सूत्रविवक्षितम् ; तत्फलिततु षष्ठ्या निष्कृष्य व्याख्यातम् । ईक्षतिशब्देनेक्षण लक्षितमिति वेदान्तदीपे व्या-  
ख्यातमर्थस्वारस्याय । अत्रतु शब्दस्वारस्येन व्याख्यातम् ॥

ननु 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इति वाक्यद्वयगतमीक्षणमचित्सबन्धितया प्रतीयते । 'सेयं देव-  
तैक्षत' इत्यत्रापीक्षणमचिद्रतमुचित देवताशब्दस्य 'हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवताः' इत्यासन्नवाक्यस्य देवताशब्दविरु-  
पार्थत्वायोगात् प्रथमेक्षण च सेयमिति सच्छब्दपरामृष्टसत्सबन्धित्वादचिद्रतमेवेत्याकाङ्क्षायामाह—तदैक्षतेति । चरमवाक्या  
नुरोधेनोपक्रमस्वारस्यभङ्गो न युक्त इतीदं तावदीक्षण मुख्यमिति भावः । घात्वर्थानां क्रियात्वादचेतनस्य च क्रियायोगस-  
म्भवान्नात्रानुपपत्तिरित्यत्राह—ईक्षणक्रियेति । अयं क्रियाविशेषो न संभवतीत्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—अत इति । अतः

### गूढार्थसंग्रहः

ईक्षतेरिति घातुनिर्देशे बीजं सूचयन्नर्थमाह—सच्छब्दवाच्येत्यादिना । 'तदैक्षत' इत्यादौ तच्छब्दस्य 'सदेव  
इत्यत्रोक्तसच्छब्दार्थ एवार्थः । तत्रोक्तैकत्वप्रतिकोटिरुपत्वाद्बहुभवनस्य । 'वाच्ये'त्यनेन 'सदेवे'त्यत्र वाच्यार्थः यः सवि-  
शेषपदार्थः स एव 'तदैक्षत' इत्यत्र तच्छब्दे विवक्षित इति बोधनाय । तेन निर्विशेषस्य नात्र प्रतीतिसंभवः एक अद्विती-  
यशब्दयोः यथा न निर्विशेषतापर्यग्राहकता तथा पूर्वमवोपपादितम् (६२०—६३७.पु) ॥

'इतिकर्तव्यताविधेः यजतेःपूर्ववत्' (जै.सू.७.४.१) इत्यत्र यजतेरिति यागविवक्षावत् अत्रापीक्षितघात्वर्थो  
विवक्षितः । 'रोगाख्याया ण्वुल्बहुलम्' (पा.सू.३.३.१०८) इति सूत्रे 'इक्षितपौ घातुनिर्देशे' इति वार्तिकस्यार्थविव-  
क्षायामपि प्रवृत्तिः । घात्वर्थनिर्देशोऽप्येतौ बाहुलकात् । अतएव ईक्षतेर्नाशब्दम् 'आहौ प्रभूतादिभ्यः' 'गच्छतीपरदा-  
दिभ्यः' (पा.सू.७.३.७.सूत्रवार्तिकम्) इति प्रयोगास्सङ्गच्छन्ते' इत्यत्र उच्यते नागेशेनामिहिता । अतः भाष्यदीपयोः ईक्ष-  
तिघातुतदर्थयोरत्राविवक्षितत्वप्रतिपादनं नानुपपन्नम् । 'तदैक्षत बहुस्याम्' 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादौ 'ऐक्षत' इति तिङन्त-  
धातुः प्रयुक्तः तिङन्तधातुतात्पर्येणैव ईक्षणादित्यनभिधाय ईक्षतेरित्युक्तम् । ईक्षणादित्युचौ कृदन्तस्यले सिद्धावस्थापन्नघा-  
त्वर्थस्यैव प्रतीतिरस्यात् ननु साध्यावस्थापन्नस्य । शानादिशब्दवत् नात्र सिद्धधर्मबोधकता अपितु साध्यावस्थापन्नबोधक-  
त्वमेव विवक्षितम् । साध्यत्व च मशूपोक्तदिशा निष्पाद्यत्वमेवेत्यभिप्रेत्य व्यापारविशेषेत्युक्तम् । सच्छब्दवाच्यकर्तृकः

### श्रीभाष्यम्

अत ईदृशेक्षणक्षमश्चेतनविशेषस्सर्वज्ञस्सर्वशक्तिः पुरुषोत्तमस्सच्छन्दाभिधेयः । तथा च सर्वेष्वेव सृष्टिप्रकरणेष्वीक्षापूर्विकेव सृष्टिः प्रतीयते । 'स ईक्षत लोकांस्तु सृजा इति' (पे.१.१.२) 'सहमानलोकानसृजत' 'स ईक्षाञ्जके सम्राणमसृजत' (प्र.६.३.४) इत्यादिषु । ननु च

### श्रुतप्रकाशिका

अचेतनस्याशम्भावित्वेनेक्षणस्य त्वत्पक्षविरुद्धत्वादित्यर्थः । ईदृशेक्षणक्षमइति । अनेनाचिद्व्यावृत्तिरुक्ता ईदृशशब्देन चेतनविशेषशब्देन चेक्षणस्वभावफलित्वाच्चेतनमात्रादपि व्यावृत्तिरुक्ता यच्चेतनमात्रेऽपि न सम्भवति तत्कथमचेतने संभवतीति भावः । 'तदैक्षत' इति सिद्धं गुणमाह-सर्वज्ञइति । 'बहुस्याम्' इति फलितमर्थमाह-सर्वशक्तिरिति । चिदचिद्व्यावर्तकलिङ्गमलसिद्धं सति सामान्यश्रुतेः पर्यवसानस्यल दर्शयति । पुरुषोत्तमइति । 'सेयं देवता' इति देवताशब्दोऽपीक्षणविशेषसामर्थ्याच्छागपशुन्यायेन चानुगृहीतः प्रकरणान्तरोक्तदेवताविशेषविषयइति भावः । सद्विद्यावाक्यस्योक्तार्थपरत्वमनेकश्रुत्यन्तरस्वारस्येनोपपादयति । तथाचेति । नात्र विषयवाक्यतया श्रुत्यन्तरोपादानम् । सर्वेष्वेव सर्वेष्वपि अनेन प्राचुर्यमभिप्रेतम् । ईक्षणस्य गौणत्याश्रयणे अनेकश्रुतिस्वारस्यमङ्गप्रसङ्ग इति भावः । प्रतीयतइति । प्रतीतिस्त्वावदविगीतेति भावः ॥

स्वपक्षसाधकमुक्त्वा पूर्वपक्षयुक्तिं परिहर्तुं चोद्यमुपक्षिपति । ननुचेति । कार्यकारणयोस्सालक्ष्ण्यं तावदङ्गीकार्यं मृत्तकार्यादिषु दर्शनात् । तच्चसालक्ष्ण्यं ब्रह्मणस्त्रिगुणात्मकत्वादियोगेन वा जगतस्तद्विधुरत्वेन वा निर्वाह्यम् । आद्ये शब्दान्तरेण

### गूढार्थसंग्रहः

व्यापारः ज्ञानतद्विशेषवाचिपदसमामिव्याहारे वैयाकरणमतवत् नैयायिकमतेऽपि कर्तृत्वमाश्रयत्वरूपमेव । अभिधायिनइत्यनेन ईक्षतिधातुवाच्यायाश्रयत्व प्रधानस्य न सम्भवतीति सूचितम् ॥

अत्र ईक्षतेरिति सामान्यनिर्देशेन 'सेयदेवतैक्षत' इत्यादि ईक्षणसामान्यस्यापि सङ्ग्रहः । 'नामरूपे व्याकरवाणि इत्यत्र 'विकारो नाधेयम्' इति पूर्वप्रयुक्तविकारशब्दस्याने रूपशब्दः प्रयुक्तः । विकारः स्वरूपसङ्कोचविकासोपपत्तिरिति नामः । रूपशब्दस्तु तदतिरिक्तपरिणामस्यापि सम्राहकः । तेन दाष्टान्तिके अन्तर्यामिन्परिणामेन ब्रह्मणः उपादानत्वसंभवस्तु चितः अयमर्थः प्रागेव निरूपितः । ईदृशेक्षणक्षमः चेतनविशेषस्सर्वज्ञइत्यादि । सर्वज्ञत्व सिद्धान्तएव सङ्गच्छते ननु परमत इति पूर्वमेवोपपादितम् । एव त्रय्यन्तसारामृतेऽपि । एवमीक्षणकर्तृत्वमपि निर्विशेषे न घटते । यद्यपि 'तदैक्षत' इत्येवमपि ब्रह्मण्युपपद्यते । स्रष्टव्यालोचनरूपतया वृत्तिप्रतिबिम्बितचित्प्रकाशरूपेक्षणे ब्रह्मणः तदवच्छेदकमायावृत्तिकर्तृत्वस्योपचारसंभवाच्च । यद्यप्येव धात्वर्थाश्रयत्व तत्कर्तृत्वचेत्युभयमप्यौपचारिकमेव । तथाऽपि प्रधानपक्षे निरपेक्षप्रकृत्यर्थस्यामुख्यत्वं स्यात् । ततोवरं सापेक्षप्रत्ययार्थस्य अमुख्यत्वप्रकल्पनमिति ' इति न्यायरक्षामणोक्तम् । तथाऽपि कामादीनामन्तःकरणधर्मस्य साख्याना परेशा च समम् । प्रमातृत्व च चितः वृत्तिप्रतिबिम्बदशायामौपचारिकमित्यापि । एवंस्थिते मायावृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन चिति औपचारिकः प्रयोगस्तादृश्यमते परमतेचौपचारिकः मायावृत्त्याश्रयत्वेन ईक्षितृत्वं साङ्ख्यमते संभवत्येव । अन्यत्र वृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेनौपचारिकत्वेऽपि अत्र इत्थमुपपत्तिरसम्भवत्येवेति निरपेक्षप्रकृत्यर्थस्य मायावृत्तिरूपस्यौपचारिकत्व कथम् ? सर्वेषु सृष्टिप्रकरणेषु निर्विशेषावेवक्षावाचकस्य ईक्षितृवादेस्सत्त्वे निर्विशेषमत्र विवक्षितमिःश्रुतिरपि न घटते । एतत्तात्पर्येणैव ईक्षतिधातुघटितानेकश्रुत्युपादान माधे । ननुचेति । स्वरूपपरिणामाभिप्रायेण



## श्रीभाष्यम्

लेनोक्तं प्रधानमेव प्रतिपाद्यते । प्रतिशादृष्टान्तरूपेणानुमानवेपमेवचेदं वाक्यमिति सच्छब्दवाच्यमानुमानिकमेव—इत्येवंप्राप्तेऽभिधीयते ' ईक्षतेर्नाशब्दम् ' इति । यस्मिन्शब्द एव प्रमाणं नभवति, तदशब्दम् आनुमानिकं प्रधानमित्यर्थः ।

## श्रुतप्रकाशिका

हेतुवैनाभिप्रयत्नाह—जगत्कारणेति । उक्तन्यायेन श्रुत्यविरोधात् स्मृतिनिरासो नयुक्त इति भावः, महर्षिणेतिपदेन ' ऋषिप्रसूतं कपिलं महान्तम् ' इति श्रुतिस्सारिता । हेत्वन्तरमाह—प्रतिज्ञेति । प्रतिशादृष्टान्तयोर्हेत्वाक्षेपकत्वाभिप्रायेणोक्तमनुमानवेपमेवेति ॥

ननु नकारणविषया प्रतिज्ञा अपिवेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया अतोऽनुमानवेपत्वेऽपि न प्रधानकारणत्वसिद्धिरिति न वाच्यम् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायास्सर्वस्यैकस्य चानन्यत्वेन निर्वाह्यत्वादनन्यत्वस्य कार्यकारणभावनिबन्धनत्वाच्च । प्रधानकारणत्वप्रतिज्ञान फलितत्वात् अत्राय प्रयोगोऽभिमतो वेदितव्यः जगत् स्वानन्योपादानकं कार्यत्वादघटवत् । यद्वा इदजगत् स्वकारणैकज्ञानेन ज्ञातं भवितुमर्हति कार्यत्वात् एकमृत्पिण्डाद्यारब्धघटादिवदिति पूर्वपक्षनिगमयति इतीति । इतिहेतौ सुप्तदुःसमोहोन्नेयसत्त्वरजस्तमोमयस्येदशब्दवाच्यस्य कारणत्वमेकः पूर्वपक्षहेतुः । कार्यकारणानन्यत्वफलभूतमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं तदुक्तम्भकम् । अनुमानाकारप्रतीतिश्चान्यो हेतुः ॥

अस्मिन्पूर्वपक्षे सिद्धान्तस्थापनाय सूत्रस्यावतीर्णत्वं दर्शयति । इत्येवंप्राप्तइति । उच्यमानाः विषयसंशयपूर्वपक्षा अस्याधिकरणस्येति स्थापनाय पूर्वं सूत्रोपादानम् । अस्य सिद्धान्तसूत्रत्वस्थापनार्थमक्षरव्याख्यानार्थं चेदानीं तदुपादानमिति वैषम्यम् । शब्दवेद्यतयाऽभिमतस्य कथमशब्दत्वमिति शङ्कयामाह—यस्मिन्निति । अब्वक्षो वायुभज्ञ इतिवदवधारणगर्भितमिति भावः । शब्दैकप्रमाणकत्वं नचेत्तत्र किमन्यत् प्रमाणमित्यत्राह—आनुमानिकमिति । तर्हि प्रमाणान्तरप्राप्तशास्त्रं न प्रतिपादयतीति चेन्न । सामान्यतो दृष्टानुमानेन कारणमात्रे प्रतिपन्नेऽपि तद्विशेषाणामप्रतिपन्नतया तद्विशिष्टेन रूपेण शास्त्रप्रतिपाद्यत्वात् । अप्राप्तेहि शास्त्रमर्थवत् इति मीमांसकानां मतं ननु साङ्ख्यानमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । \* तस्यानुपपन्नता च शपयितुमशब्दशब्दप्रयोगः आनुमानिकत्वमिन्द्रियाणां परमाणूनामप्यविशिष्टमिति तद्व्युदासार्थं सौत्रमेकवचनमित्यभिप्रायेणाह—प्रधानमिति । प्रधानं हेतुसदनेकेषां कारणं परमाणवस्त्वनेके सन्तएकैकस्य कार्यस्य कारण इन्द्रियाणितु बहूनि ज्ञानकारणानि नान्यर्थकारणानीति तद्व्यवच्छेदसिद्धिः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

स्वरसम् । एतत्तात्पर्येणैव न्यायरक्षामणौ, वेदान्तसूत्रमुक्तावस्था च पक्षसाध्यवाचकयोरुभयोरप्यध्याहार उक्तः । अध्याहारभावेऽप्युपपत्तिसम्भवे अध्याहारकत्वनमनुचितम् । ' अशब्द ' शब्देन पूर्वपक्षसूचनेन तस्य पक्षसमर्पकत्वमेवोचितम् । यतः जगज्जन्मादि तत् इत्यस्यानुवृत्तेः उत्तरत्राङ्गीकारेण जगत्कारणमित्यर्थो लभ्यते इत्यभिप्रेत्य ' अशब्द ' शब्द विवृणोति यस्मिंशब्द एवेति । अत्र एवकारः अशब्दार्थस्फुटीकरणाय प्रयुक्तः । ननु तदर्थस्याप्यत्र घटकत्वेन, अतएव वेदान्तदीपि शब्दः प्रमाणं यस्य नभवति तदशब्दमित्येव विवृतम् । प्रमाणमित्यापि यच्छब्दोत्तरविभक्त्यर्थप्रकटीकरणार्थम् । ' अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ' इत्युक्तदिशा ' अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ' इति साख्यसम्मतप्रधानपक्षत्वमशब्दशब्दस्य । शास्त्रयोनित्वात् इत्युक्ते शास्त्रशब्दः अर्थविशेषबोधनायेति प्रागुक्तम् । अत्र च शब्दशब्द एवा

## श्रीभाष्यम्

न तज्जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं ;

### श्रुतप्रकाशिका

नेति पदस्य प्रधानस्वरूपप्रतिषेधार्थत्वशङ्कां व्युदस्यन् वाक्यार्थं योजयति । नतदिति । धर्मिनिषेधपरत्वेऽपि—  
शास्त्रस्य वाक्यनिरूपणपरत्वादेतुपदेन धातुस्वरूपोपादानाच्च, प्रतिपाद्यताविधेयं निषेध्यत्वं विवक्षितमिति भावः । वाक्यप्र-  
तिपाद्यत्वाभावः प्रमाणान्तरप्रतिषन्नत्ववाधितत्वाभ्यां वाक्यस्यान्यपरत्वाद्वा स्यात् योग्यानुपलम्भाद्यभावादप्रतिषन्नाकारवैशि-

### गूढार्थसङ्ग्रहः

रमित्यशब्दशब्दमिति पक्षनिर्देशः । तत्र नैयायिकेन ब्रह्मणः अङ्गीकारेण वेदपौरुषेयत्वानुमानमेव ब्रह्मणो जगत्कारणत्वा-  
नुमानमपि भवतीति 'जन्मादिसूत्रस्य अनुमानसिद्धजगत्कारणानुवादेन ब्रह्मत्वविधायकत्वेन ब्रह्मलक्षणपरस्य 'यतो वा'  
इत्यादिवाक्यार्थस्य प्रतिपादकत्वशङ्कानिरसनार्थजगत्कारणस्य औपनिषदपुरुषरूपतासमर्थन 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यत्र । तेन  
कारणवाक्यानां प्राधान्यं न परसम्मतमहावाक्यानाम् इत्यर्थो बोधितो भवति । अत्र नैयायिकविवक्षाया असंभवः उपादानो-  
पादेयभावस्य तन्मतेऽनङ्गीकारात् । जगत्कारणस्य शास्त्रयोनित्वसिद्धान्तान्तरं नैयायिकमतशङ्काया एवासंभवात् । ईक्ष-  
तेरिति हेतुना तन्मतनिरसनालाभाच्च । साख्यैः (भा.प्र.१.सपु.१००—१०१.पु) जगत्कारणस्यानुमानिकत्वं तत्त्वसृष्टि-  
क्रमोद्देशगमार्थत्वं वेदापौरुषेयत्वं च अभ्युपगम्यते । 'सदेव' इत्यादौ अनुवादतोऽऽदिबोधकपदाभावेन प्राधान्यात् अस्य  
स्वरूपपरिणाम्युपादानभूतप्रधानकारणपरत्वे 'यतो वा' इत्यादेरपि तत्परतया अचिद्विलक्षणब्रह्मणि कारणत्वस्यासंभवेन  
समन्वयो न संभवतीति शङ्कानिरासकत्वेन 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति शास्त्रोपक्रमे विचारो युक्तः । पादार्थभेदेनान्ययोगव्यव-  
च्छेदपादे प्रधानकारणत्वाभ्युपगमेनात्र तन्निरसनासम्भवं इति शङ्काया (च) नावसरः ॥

यद्यपि 'नाशब्दम्' इति सभक्तिव्याहारेण अशब्दशब्दार्थस्य नञर्थेऽन्वयः प्रतीयते । तत् जगत्कारणमशब्दमि-  
न्नम् इति तदर्थोऽपि । तथाऽप्येवमङ्गीकारे नञ. सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधकतया विशेषधर्मावच्छिन्नप्र-  
तियोगिताकरोचस्य विवक्षितस्यासंभवेन अशब्दशब्दार्थस्यैव पक्षत्वं प्रतीयते । एवमिति ईक्षतेरित्यस्य वैयधिकरण्यस्यात्  
अतः वाक्यपक्षकानुमानमेनात्र विवक्षितमिति भाष्ये 'इदानीं जगत्कारणवादिवाक्यानामानुमानिकप्रधानप्रतिपादनानर्हतोच्यते'  
इत्युपक्रमे 'अत्र सृष्टिवाक्यानि न प्रधानप्रतिपादनयोग्यानीत्युच्यते' इत्युपसहारे च एत सूत्रे उक्तम् । 'ईक्षतेर्धातोश्च  
वणात्' इति वाक्येन ईक्षतेरिति शब्देन सूत्रकृतः इत्यमाशयस्सूचितः । दीपे तु 'ईक्षतेरितीक्षणधात्वर्थः, ईक्षणम् । 'सदेव  
सोभ्येदम्' इति जगत्कारणतया प्रतिपादितान्वयिनः ईक्षणव्यापाराच्चाचेतनमशब्दं तत् अपितु सर्वज्ञ सत्यसङ्कल्प ब्रह्मैव  
जगत्कारणमिति निश्चीयते' इत्युक्त्या तत् जगत्कारणं अशब्दमिन्नमीक्षणवत्वादित्यनुमानं सूत्रकाराभिमतमिति बोधितम् ।  
पक्षेचात्र अशब्दशब्दे शब्दशून्य शब्दावाच्य शब्दतात्पर्याविषय इति बह्वर्थप्रतीतावापि 'शास्त्रयोनित्वात्' 'तत्तुसम-  
न्वयात्' इति सूत्रद्वये तात्पर्याविषयार्थप्रतीत्या अशब्दशब्देऽपि शब्दतात्पर्याविषयरूपार्थ एव ग्राह्य इति निर्णयेन ।  
सद्विद्यावाक्यस्य प्राधान्येऽपि 'नाशब्दम्' इत्यत्र नञः विशेषधर्मावच्छिन्नाभावबोधपरत्वमादरणीयम् । 'सदीक्षतेः'  
इत्यनुक्तौ मूलतु श.भाष्ये श्रीभाष्येच सद्विद्यावाक्यव्यतिरिक्तेक्षतिघातुघटितवाक्यानामुपादानेन सर्वत्र सच्छब्दाभाव प्रधान  
व्यावृत्तिबोधकेश्चिदशब्दसत्त्वं 'उत तमादेशमप्राश्यः येनाश्रुतं श्रुतम्' इत्यादिपूर्ववाक्य एव दृष्टान्तानुसारेण साङ्ख्य  
सम्मतपरिणाम्युपादानपूर्वपक्षयुक्तित्वेन तत्सूचनाभावश्चेत्यादिकं बोध्यम् ॥

### श्रीभाष्यम्

कुतः ? ईक्षतेः-सच्छब्दवाच्यसम्यन्धिव्यापारविशेषाभिधायिन ईक्षतेर्धातोश्श्रवणात् ।  
'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा.६.२.३) इति ईक्षणक्रियायोगश्चाचेतने प्रधाने न संभवति ।

### श्रुतप्रकाशिका

पृथक्सद्भावाच्च, बाधितत्वप्रतिपन्नत्वासम्भवः । अन्यपरत्वंतु पूर्वपक्षयुक्तिभिरेव निरस्तम् । अतो हेतुर्न संभवतीत्यभिप्रायेण हेत्वाकाक्षा दर्शयति कुतश्चिदिति । हेतोरसिद्धिमन्यथासिद्धिं च व्युदासितुं व्याचष्टे । सच्छब्दवाच्येति । सच्छब्दवाच्यसं बन्धीति \* व्यधिकरणासिद्धिव्युदासः । प्रकृतं सदेवहि 'तदैक्षत' इति तच्छब्देन परामृश्यत इति भावः । व्यापारवि-  
शेषशब्देनाभिधायिशब्देन चान्यथासिद्धिव्युदासः । नहि चेतनाचेतनसाधारणं कार्योन्मुख्यमात्रमीक्षतिघा वभिधेयं अपि तु चेतनरूपकर्तृसाधारणो व्यापारविशेषः । नच मुख्ये संभवति उपचारो युक्त इति भावः \* 'इक्षितपौ धातुनिर्देशे—  
वक्तव्यौ' इति प्रक्रियया ईक्षतिशब्देन घातूपादानं नाथोपादानं, \* तथासतीक्षितेरिति हि वक्तव्यं स्यात् । अनेन  
\* चशब्दस्य विवक्षितार्थे स्वारस्यं सूचितमित्यभिप्रायेणाह—धातोरिति । श्रवणादित्यशानासिद्धिपरिहारः । श्रूयमाणादी-  
क्षतेरिति \* सूत्रविवक्षितम् ; तत्फलिततु पठ्या निष्कृष्य व्याख्यातम् । ईक्षतिशब्देनेक्षणे लक्षितमिति वेदान्तदीपे व्या-  
ख्यातमर्थस्वारस्याय । अत्रतु शब्दस्वारस्येन व्याख्यातम् ॥

ननु 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इति वाक्यद्वयगतमीक्षणमचिःसंबन्धितया प्रतीयते । 'सेयं देव-  
तैक्षत' इत्यत्रापीक्षणमचिद्रतमुचितं देवताशब्दस्य 'हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवताः' इत्यासन्नवाक्यस्य देवताशब्दविरू-  
पार्थत्वायोगात् प्रथमेक्षणं च सेयमिति सच्छब्दपरामृष्टसत्संबन्धित्वादचिद्रतमेवेत्याकाङ्क्षायामाह—तदैक्षतेति । चरमवाक्या-  
नुरोधेनोपक्रमस्वारस्यभङ्गो न युक्त इतीदं तावदीक्षणं मुख्यमिति भावः । घात्वर्थानां क्रियात्वादचेतनस्य च क्रियायोगस-  
म्भवान्नात्रानुपपत्तिरित्यत्राह—ईक्षणक्रियेति । अयं क्रियाविशेषो न संभवतीत्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—अत इति । अतः

### गूढार्थसंग्रहः

ईक्षतेरिति घातुनिर्देशे बीजं सूचयन्नर्थमाह—सच्छब्दवाच्येत्यादिना । 'तदैक्षत' इत्यादौ तच्छब्दस्य 'सदेव  
इत्यत्रोक्तसच्छब्दार्थ एवार्थः । तत्रोक्तैकत्वप्रतिकोटिरूपत्वाद्बहुभवनस्य । 'वाच्ये'त्यनेन 'सदेवे'त्यत्र वाच्यार्थः यः सर्व-  
शेषपदार्थः स एव 'तदैक्षत' इत्यत्र तच्छब्दे विवक्षित इति बोधनाय । तेन निर्विशेषस्य नात्र प्रतीतिसंभवः एक अद्विती-  
यशब्दयोः यथा न निर्विशेषतात्पर्यग्राहकता तथा पूर्वमेवोपपादितम् (६२०—६३७.पु) ॥

'इति कर्तव्यताविधेः यजतेःपूर्ववत्त्वम्' (जै.सू.७.४.१) इत्यत्र यजतेरिति यागाविवक्षावत् अत्रापीक्षितघात्वर्थो  
विवक्षितः । 'रोगाख्याया ण्वुल्बहुलम्' (पा.सू.३.३.१०८) इति सूत्रे 'इक्षितपौ घातुनिर्देशे' इति वार्तिकस्यार्थविव-  
क्षायामपि प्रवृत्तिः । घात्वर्थनिर्देशोऽप्येतौ बाहुलकात् । अतएव ईक्षतेर्नाशब्दम् 'आहौ प्रभूतादिभ्यः' 'गच्छतौ परदारा-  
दिभ्यः' (पा.सू.७.३.७.सूत्रवार्तिकम् ।) इति प्रयोगास्सङ्गच्छन्ते इत्यत्र उच्यते नागेशेनाभिहिता । अतः भाष्यदीपयोः ईक्ष-  
तिघातुतदर्थयोरत्राविवक्षितत्वप्रतिपादनं नानुपपन्नम् । 'तदैक्षत बहुस्याम्' 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादौ 'ऐक्षत' इति तिङन्त-  
धातुः प्रयुक्तः तिङन्तधातुतात्पर्येणैव ईक्षणादित्यनभिधाय ईक्षतेरित्युक्तम् । ईक्षणादित्युचौ कृदन्तस्थले सिद्धावस्थापन्नघा-  
त्वर्थस्यैव प्रतीतिरस्यात् न तु साध्यावस्थापन्नस्य । शानादिशब्दवत् नात्र सिद्धघर्भिर्बोधकता अपि तु साध्यावस्थापन्नबोधक-  
त्वमेव विवक्षितम् । साध्यत्वं च मञ्जूषोक्तदिशा निष्पाद्यत्वमेवेत्यभिप्रेत्य व्यापारविशेषेत्युक्तम् । सच्छब्दवाच्यकर्तृकः

### श्रीभाष्यम्

अत ईदृशेक्षणक्षमश्चेतनविशेषस्सर्वज्ञस्सर्वशक्तिः पुरुषोत्तमस्सच्छन्दाभिधेयः । तथा च सर्वेष्वेव सृष्टिप्रकरणेष्वीक्षापूर्विकैव सृष्टिः प्रतीयते । 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (पे.१.१२) 'सहमानलोकानसृजत' 'स ईक्षाञ्जके सप्राणमसृजत' (प्र.६.३.४) इत्यादिषु । ननु च

### श्रुतप्रकाशिका

अचेतनस्याश्रमावितत्वेनेक्षणस्य त्वत्वशविद्वत्त्वादित्यर्थः । ईदृशेक्षणक्षम इति । अनेनाचिद्व्यावृत्तिरुक्ता ईदृशशब्देन चेतनविशेषशब्देन चेक्षणस्वभावफलिताः चेतनमात्रादापि व्यावृत्तिरुक्ता यच्चेतनमात्रेऽपि न संभवति तत्कथमचेतने संभवतीति भावः । 'तदैक्षत' इति सिद्धं गुणमाह—सर्वज्ञ इति । 'बहुस्याम्' इति फलितमर्थमाह—सर्वशक्तिरिति । चिदचिद्व्यावर्तकलिङ्गबलसिद्धं सति सामान्यश्रुतेः पर्यवसानस्थलं दर्शयति । पुरुषोत्तम इति । 'सेयं देवता' इति देवताशब्दोऽपीक्षणविशेषसामर्थ्याच्छागपशुन्यायेन चानुगृहीतः प्रकरणान्तरोक्तदेवताविशेषविषय इति भावः । सद्विद्यावाक्यस्योक्तार्थपरत्वमनेकश्रुत्यन्तरस्वारस्येनोपपादयति । तथा चेति । नात्र विषयवाक्यतया श्रुत्यन्तरोपादानम् । सर्वेष्वेव सर्वेष्वपि अनेन प्राचुर्यमभिप्रेतम् । ईक्षणस्य गौणत्वाश्रयणे अनेकश्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्ग इति भावः । प्रतीयत इति । प्रतीति-सावदविगीतेति भावः ॥

स्वपक्षसाधकमुक्त्वा पूर्वपक्षयुक्तिं परिहर्तुं चोद्यमुपक्षिपति । ननु चेति । कार्यकारणयोस्सालक्ष्ण्यं तावदङ्गीकार्यं मृत्तकार्यादिषु दर्शनात् । तच्च सालक्ष्ण्यं ब्रह्मणस्त्रिगुणात्मकत्वादियोगेन वा जगतस्तद्विधुरत्वेन वा निर्वाह्यम् । आद्ये शब्दान्तरेण

### गूढार्थसंग्रहः

व्यापारः ज्ञानतद्विशेषवाचिपदसमभिव्याहारे वैयाकरणमतवत् नैयायिकमतेऽपि कर्तृत्वमाश्रयत्वरूपमेव । अभिधायिन इत्यनेन ईक्षतिधातुवाच्यार्थश्रयत्व प्रधानस्य न संभवतीति सूचितम् ॥

अत्र ईक्षतेरिति सामान्यनिर्देशेन 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादि ईक्षणसामान्यस्यापि सङ्ग्रहः । 'नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यत्र 'विकारो नाधेयम्' इति पूर्वप्रयुक्तविकारशब्दस्यानेन रूपशब्दः प्रयुक्तः । विकारः स्वरूपसङ्कोचविकासात्मकः परिणामः । रूपशब्दस्तु तदतिरिक्तपरिणामस्यापि संग्राहकः । तेन दाष्टान्तिके अन्तर्यामिन्त्वरिणामेन ब्रह्मणः उपादानत्वसंभवस्सूचितः अयमर्थः प्रागेव निरूपितः । ईदृशेक्षणक्षमः चेतनविशेषस्सर्वज्ञ इत्यादि । सर्वज्ञत्व सिद्धान्त एव सङ्गच्छते ननु परमत इति पूर्वमेवोपपादितम् । एवं त्रय्यन्तसारामृतेऽपि । एवमीक्षणकर्तृत्वमपि निर्विशेषे न घटते । यद्यपि 'तदैक्षत' इत्येतदपि ब्रह्मण्युपपद्यते । सृष्टव्यालोचनरूपतया वृत्तिप्रतिबिम्बितचित्प्रकाशरूपेक्षणे ब्रह्मणः तदवच्छेदकमायावृत्तिकर्तृत्वस्योपचारसंभवाच्च । यद्यप्येवं धात्वर्थश्रयत्व तत्कर्तृत्वचेत्युभयमप्यौपचारिकमेव । तथाऽपि प्रधानपक्षे निरपेक्षप्रवृत्त्यर्थस्यामुख्यत्वं स्यात् । ततोऽवरं सापेक्षप्रत्ययार्थस्य अमुख्यत्वप्रकल्पनमिति । इति न्यायरक्षामणायुक्तम् । तथाऽपि कामादीनामन्तःकरणधर्मत्व साख्यानां परेषां च समम् । प्रमातृत्व च चितः वृत्तिप्रतिबिम्बदशायामौपचारिकमित्यापि । एवं स्थिते मायावृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन चिन्ति औपचारिकः प्रयोगस्साङ्ख्यमते परमतेऽप्यौपचारिकः मायावृत्त्याश्रयत्वेन ईक्षितृत्वं साङ्ख्यमते संभवत्येव । अन्यत्र वृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेनौपचारिकत्वेऽपि अत्र इत्थमुपपत्तिस्तस्य संभवत्येवेति निरपेक्षप्रवृत्त्यर्थस्य मायावृत्तिरूपस्यौपचारिकत्वं कथम् ? सर्वेषु सृष्टिप्रकरणेषु निर्विशेषविवक्षावाधकस्य ईक्षितृत्वादेस्सत्त्वे निर्विशेषमत्र विवक्षितमित्युक्तिरपि न घटते । एतत्तात्पर्येणैव ईक्षतिधातुघटितानेकश्रुत्युपादानं भाष्ये । ननु चेति । स्वरूपपरिणामाभिप्रायेण



## श्रीभाष्यम्

कार्यानुगुणेनैव कारणेन भवितव्यम् । सत्यम् ; सर्वकार्यानुगुण एव सर्वज्ञस्सर्वशक्तिस्स-  
त्यसङ्कल्पः पुरुषोत्तमस्सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकः । यथाऽऽह—‘ परास्य शक्तिर्विविधैव  
श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ’ (श्वे.६.८) ‘ यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप. ’  
(मु.१.१.९) ‘ यस्याव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युश्शरीरम् एष सर्वभूतान्त-  
रात्मा ’ (सु.७.ख.च.१) इति । तदेतत् ‘ न विलक्षणत्वात् ’ (शारी.२.अ.१.पा.४.सु) इत्यादिषु  
प्रतिपादयिष्यते । अत्र सृष्टिवाक्यानि न प्रधानप्रतिपादनयोग्यानीत्युच्यते । वस्तुविरो-

## श्रुतप्रकाशिका

प्रधानाङ्गीकारः, द्वितीये सुप्तदुःसमोहान्वयाद्युपलम्भाविरोध इति भावः । परिहरति सत्यमिति । अर्थाङ्गीकारे सत्यशब्द-  
कार्यानुगुण्यमङ्गीकृतम् न तु प्रधानत्वमिति । सर्वेति । प्रधानस्यैव हि सर्वकार्यानुगुणत्व कार्यानुप्रविष्टाचिदपेक्षया तस्य  
कारणत्वौपयिकाकारविहरादिति भावः ॥ कार्यानुगुणनिमित्तोपादानभावासिद्धयर्थं सर्वज्ञसर्वशक्तिपदद्वयम् । तदुभयफलित  
माह—सत्यसङ्कल्पइति । सर्वशक्तित्वासङ्कोचाद्भवस्य सङ्कल्पप्रतिबन्धसम्भावनेति भावः । विकारादीनां सद्धारकत्वसि  
द्धयर्थं सूक्ष्मेत्यादिपदम् उक्ताकारविहे कारणत्वायोगात् । तद्वत्त्वे श्रुतिवाक्यानि दर्शयति पराऽस्येति । चिदचितोऽशरी-  
रत्वं कथम् ? शरीरत्वे च तद्वत्तः कर्मवश्यत्वादितोषस्त्यादित्यत्राह—तदेतदिति ॥

‘ न विलक्षणत्वात् ’ इत्यादिसूत्रैरेषा सूत्राणां पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह—अत्र सृष्टीति । वस्तुविरोधः अर्थसाम-  
र्थ्यविरोधः । अत्र वाक्यतर्केणार्थनिष्कर्षः तत्रत्वाभिमानिकव्याप्तया भाननिबन्धनबाह्यतर्काविमर्शतादिरासमुत्प्रेनार्थनिष्कर्षइति  
भिदेत्यर्थः, एव सत्त्वादिगुणमयस्येदशब्दवाच्यस्य कारणत्व तदुत्तम्भकमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानच परिहृतमवति

## गूढार्थसंग्रह

शङ्का—सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकइति । सूक्ष्मेति कारणावस्थाऽभिप्रायकम् । यादृशावस्थायां साख्यैः प्रधान कारणमि-  
त्युच्यते तदा प्रधानान्तर्यामित्वास्था ब्रह्मणि वर्तते । यस्यामवस्थायां महदादेः कार्यत्व नदा तदवस्थाऽन्तर्यामित्व ब्रह्मणि ।  
एवं जीवस्य ज्ञानविकासावस्थायां कार्यत्वे सङ्कुचितज्ञानावस्थर्जीवान्तर्यामिणः ब्रह्मणः विकसितज्ञानर्जीवान्तर्यामित्वेन  
परिणामेनोपादानत्वमिति सर्वकार्यानुगुण्य ब्रह्मणि सभवत्येव । ‘ सन्मूलासोऽग्रेमास्सर्वाः प्रजाः ’ ‘ ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ’  
इत्यत्र जीवस्यापि विवक्षायाः स्फुटतया ‘ सदेव सोऽग्रेदमग्र आसीत् ’ ‘ तदैक्षत बहुस्याम् ’ इत्यत्रापि जीवविवक्षा निश्ची-  
यते । एव च प्रधानस्य जीवकार्यानुगुण्य न कथञ्चिदप्युत्प्रेक्षितुं शक्यमिति भावः ॥

नवीनास्तु ‘ तत् ब्रह्म अशब्द न शब्दावाच्य न ईक्षतेः ‘ परात्पर पुरिशय पुरुषमीक्षते ’ इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्येक्षण  
कर्मत्वात् इति सूत्रार्थः ‘ यतो वाचो निर्वर्तन्त ’ इत्यादिश्रुतिभिः परब्रह्म जवाच्यमिति निर्विशेषवादिमतनिरासोऽत्राभि-  
प्रेतः इति वदन्ति ॥

अत्र ‘ सकलजगज्जन्मादिकारणत्वेन ब्रह्मैव शास्त्रस्य मुख्यार्थ इत्यभिहितम् । उपक्रमादिभिर्निर्णीतस्य मुख्यार्थत्वात्  
तच्च वाच्यत्व एव समवतीति । तन्मुख्यतश्शास्त्रयोनित्व विषयः । ब्रह्मणो युक्तमयुक्तवेति सन्देहः वादिविप्रतिपत्तिस्सन्दे-  
हधीजम् ’ इति तत्त्वप्रकाशिकायामुक्तम् । जन्माद्यस्य यतः इति सूत्रोत्तजगत्कारण एव ‘ तदि’त्यनेन परामर्शः । ‘ यतो  
वा इमानि भूतानि ’ इत्यादिवाक्य वाच्यसमर्पकम् । ‘ सत्य ज्ञानमनन्तम् ’ इतितु लक्ष्यसमर्पकम् । ‘ तत्त्वमसि ’ इत्यत्र

## श्रीभाष्यम्

धस्तु तत्रैव परिहरिष्यते । यत्तुक्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तयोगादनुमानरूपमेवेदं वाक्यम्-इति । तद-  
सत् ; हेत्वनुपादानात् । 'येनाश्रुतं श्रुतम्' (छां. ६-१.३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिपि-  
पादयिषिते सर्वात्मना तदसम्भवं गन्वानस्य तत्सम्भवमात्रप्रदर्शनाय हि दृष्टान्तोपादानम्

## श्रुतप्रकाशिका

अथ परोक्त हेत्वन्तरमनुवदति । यत्तुक्तमिति । तस्यानुपपन्नत्वमाह—तदसदिति । कथमित्यत्राह—हेत्वनुपा-  
दानादिति । वक्तुरनुमानविवक्षाऽस्ति चेत्तत्र प्रधानावयवो हेतुरवश्योपादेयः \* तदभावान्न तद्विवक्षेति भावः । प्रतिज्ञादृष्टा-  
न्ताभ्यां हेत्वाशेषोऽप्युक्त इत्याह—येनाश्रुतमिति । अनन्यथासिद्ध्याशेषक सर्वप्रमाणसाधारणत्वात्प्रतिज्ञाऽन्यथासिद्धेति  
सिद्धकृत्वा दृष्टान्तस्य हेत्वाशेषकत्वायोग उच्यते । न केवलं व्याप्तिप्रदर्शनायैव दृष्टान्तोपन्यासः अपित्वसम्भवव्यावृत्तिप्र-  
दर्शनायापि संभवतीत्यन्यथासिद्धत्वात् स नाशेषक इत्यर्थः । सर्वात्मना तदसम्भवमिति । एकविज्ञानेन \* सर्वविज्ञानं

## गूढार्थसंग्रहः

तदादिशब्दानां लक्ष्यार्थविषयक एव मुख्यार्थबोध इति परेषां सिद्धान्तः । एवस्थिते जगत्कारणस्यावाच्यत्वं यदि परसमतं  
स्यात् तदानीमित्य शङ्का सभावितस्यात् न च तथा परैरुच्यते इति कथमित्य शङ्का घटते । शक्यार्थस्यैव मुख्यत्वं न तु  
लक्ष्यार्थस्येत्यर्थः समन्वयपद एव विवक्षितः । विवरणकारमते परब्रह्मणः वेदान्तवाक्यजन्यवृत्तिविषयत्वाङ्गीकारेण 'तत्त्व-  
मसि' इति वाक्यजन्यसाक्षात्कारविषयत्वं संभवत्येवेति 'पुरुषमीक्षते' इत्युत्प्रेक्षणकर्मत्वस्य समयेन ईक्षतेरिति हेतुना  
अवाच्यत्वनिराकरणं कथम् ? 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति । बृहन्तोह्यसिन्गुणा' इति श्रुतेः (त.प्र) इति प्रथमसूत्रएवो-  
दाहरणेन तत्र शक्यार्थ एव गुणवतो ब्रह्मपदशक्यत्वस्योक्त्या तेनावाच्यत्वानिरासः सम्भवति । 'एव बृहति बृहयति—  
तस्मादुच्यते परब्रह्म' 'नेतिनेति' इत्यनन्तर 'अथ नामधेय सत्यस्य सत्यम्' इति श्रुत्याऽप्यवाच्यत्वनिरसनं संभवति  
'तत्त्वौपनिषद पुरुषम्' इति श्रुतिः उपनिषज्जन्यसाक्षात्कारविषयत्वे प्रमाणमिति विवरणएवोक्तम् । एतच्छ्रुत्यर्थमनभि-  
धाय 'ईक्षतेः' इति वदतः सूत्रकृतः नवीनसमतार्थोऽनभिप्रेतः । एतेन सुधाऽनुसारेण चन्द्रिकाया—'समन्वयात्'  
इत्यत्र 'सशब्दार्थस्य वाच्यत्वस्य कार्त्तर्यस्य च इहाक्षिप्य समाधानादनन्तरसङ्गतिः' इत्युक्तिर्निरवकाशा ॥

यद्यपि चन्द्रिकाया—'सर्वे वदा.' इत्यादिश्रुत्यादिकमुदाहृत्य 'तथाऽप्यवाच्यत्वेऽपि श्रुतेरसत्त्वात् वाच्य वश्रुतिर्वि-  
शिष्टविषया न तु शुद्धविषयेति शङ्कोदयाच्च न श्रुत्यादिमात्रेण वाच्यत्वनिश्चय इति सूत्रे प्रसिद्धश्रुत्यनुग्राहकन्यायएवोक्तः ।  
अनएव वाच्यत्वस्य श्रुतत्वादित्यर्थस्येति सूत्रएव विवक्षितत्वात् 'श्रुतत्वाच्च' इति सूत्र तत्परतया भाष्ये नव्याख्यातम्  
इत्युक्तम् । अत्र प्रकाशः—'न्यायएवेति । तथा च न्यायानुगृहीतया प्रचलया वाच्यत्वश्रुत्या अवाच्यत्वश्रुतेर्वाच्यइति भावः  
तथा च ईक्षतेः इत्यस्येति रूपन्यानुगृहीतया श्रुत्या वाच्यत्वादिभ्युक्तं भवति' इति । श्रुतिं साक्षादाभिधाय तदनुग्राह-  
कत्वेन 'च' शब्देन न्यायो वक्तव्यः । अत्र चशब्दाभावेऽपि वाच्यत्वबोधकपदामावेऽपि एवमर्थस्य सूत्रकृतमभिप्रेतार्थकं  
वाच्यत्वश्रुतिः विशिष्टविषया न तु शुद्धविषयेति चन्द्रिकायामेव शङ्कितुराशयाभिधानेन विशिष्टे शक्तिः शुद्धे लक्षणा । शुद्धे  
कल्पितसम्बन्धमादाय लक्षणाऽप्युपपद्यते । लक्षणाया अभावोऽपि सुतोत्थापकवाक्यवत् साक्षात्कारउपपद्यते । शक्यसम्ब-  
न्धविनाऽपि प्रतिबन्धकक्षये अन्तःकरणशुद्ध्या तत्त्वसाक्षात्कारः । शक्यसमन्वयो न लक्षणा अपितु अर्थोपस्थितिरेव लक्षणा  
इत्यपि कैश्चिदुच्यते । सा रीतिर्वा आश्रीयते इति परैः बहुप्रकारकथनेन तन्निरसनमुक्तिरस्मिन्सूत्रे उत्तरसत्त्वादौ च नका-

## श्रीभाष्यम्

ईक्षत्यादिश्रवणादेव ह्यनुमानगन्धाभावोऽचगतः ॥

अथस्यात्—नचेतनगतं मुख्यमीक्षणमिहोच्यते, अपितु प्रधानगतं गौणमीक्षणम्, ‘तत्तेज ऐक्षत—ता आप ऐक्षन्त’ (छा.६.२.३,४) इति गौणेक्षणसाहचर्यात् । भवति चाचेतने-  
ष्वपि चेतनधर्मोपचारः । यथा ‘वृष्टिप्रतीक्षादशालयः’ ‘वर्षेण वीजं प्रतिसञ्जहर्ष’ (रामा-  
यणे सुन्दर.२९.सर्ग.६) इति । अतो गौणमीक्षणमितीमामाशङ्कामनुभाष्य परिहरति

## ६.सू—गौणश्चेन्नात्मशब्दात् (१.१.५)

## श्रुतप्रकाशिका

धर्म्यैक्यादेकाकारान्वयाद्वा वस्त्वन्तरव्यतिरेकाद्वा संभवति, घटपटादिषु त्रेधाऽपि तद्वत्संभवति, घटपटादिषु धर्म्यैक्यस्यान्व-  
येनान्यस्माद्व्यतिरेकेण वा समानाकारयोगस्य चाभावादिभावः । अस्तु दृष्टान्तस्यानुमानाङ्गत्वे संभवप्रदर्शनार्थत्वे च सा-  
धारण्यं तथा सत्यस्तन्मतेऽपि संभवः पाक्षिकस्यादित्यत्राह—ईक्षत्यादीति । आदिशब्देन वक्ष्यमाणहेतयो विवक्षिताः  
प्रतिज्ञादृष्टान्तयोस्साधारण्येनानुमानत्वं शङ्कितं ईक्षणाद्यसाधारणहेतुसद्भावाच्छङ्काऽपि निरस्तेत्यभिप्रायेणोक्तमनुमानगन्धा-  
भाव इति ॥

उत्तरसूत्रमवतारयितुमीक्षणस्य गौणत्वं शङ्कते—अथ स्यादिति । चेतनगतं चेतनत्वानुगुणम् । इहेति । प्रकरण-  
मालोचनीयमिति भावः । प्रधानगतं \* अचेतनत्वानुगुणमित्यर्थः । प्रथमेक्षणस्य तेजःप्रभृतिकार्याचिद्रतत्वायोगात् प्रधा-  
नशब्दः । हेतुमाह—तत्तेजइति । प्रायदर्शनाय वाक्यद्वयमुपात्तं अग्रथप्रायन्यायोऽपि बाधकाभावे जीवतीति भावः ।  
‘स्यं देवता’ इति देवताशब्दोऽपि अनेनैव न्यायेन ‘इमास्तिस्त्रो देवता’ इतिवत् अचिद्रिषयत्वोचित्यान्नगौणत्व  
बाधकइति भावः ; गौणप्रयोगं दर्शयति भवतिचेति । ईक्षणतुल्ययोगक्षेमहर्षादिधर्मान्तररुद्धहाय चेतनधर्मशब्दः । लोके  
शास्त्रे च प्रयोगद्वयं दर्शितम् । गौणत्वं निगमयन्नुक्तशङ्कापरिहाराय सूत्रस्यावतीर्णत्वमाह—अतइति । शङ्काया उत्सृज्वा-  
भावात् अनुमाध्येत्युक्तम्

## ६.गौणश्चेन्नात्मशब्दात् (१.१.५)

## गूढार्थसंग्रहः

ऽपि वर्तते । एवस्थिते न्यायेन स्वाभिप्रेतार्थस्य साधनं सूत्रकृदभिप्रेतमित्युक्तिः न विदुषा हृदयकृमा । अशब्दशब्दस्य  
शब्दावाच्यमित्यर्थोऽपि नैव निर्णेतुं शक्यः । ‘शब्दस्पर्शविहीनं तत् रुपादिभिरसंयुतम् । त्रिगुणं तज्जगद्योनि’ इत्युक्त-  
दिशा शब्दशून्यम् ‘शास्त्रयोनित्वात्’ इत्यादिसूत्रानुसारेण शब्दतात्पर्याविषयइत्यर्थसमवात् । लक्षणया शब्दगम्यस्य  
शब्दतात्पर्यविषयत्वं परैरभ्युपगम्यत एव । ईक्षतेरित्यत्र कर्मतासम्बन्धेनेक्षणं विवक्षितमित्यत्रापि ननियामकं । ईक्षणकर्तु-  
रेव ततो ज्ञातिःपुण्यत्वेन । अतः प्रागुक्तदिशा जगत्कारणविचारपरत्वमेव ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इति सूत्रस्य युक्तम् ॥

तत्तेज ऐक्षत इत्यादि । अत्र ‘ऐक्षत’ इति गौणनिर्देशइति सिद्धान्तिभिरङ्गीकरणीयम् । ‘तदैक्षत बहुस्याप्रजा-  
येय’ इतिश्रुतिः । अत्र बहुपदेन तेजोऽवयवानि विवक्षितानीति श्रुतिप्रमपर्यालोचनयैव सिद्धयति । एवं च ‘तदैक्षत’  
इत्यत्र तच्छब्दार्थस्य तेजआद्यभिन्नत्वनिश्चयेन ईक्षतिधातुगौणत्वाङ्गीकरणीयइति शङ्कितुराशयः ॥

## श्रीभाष्यम्

यदुक्तं—गौणैक्षणसाहचर्यात्सतोऽपीक्षणव्यपदेशस्सर्गनियतपूर्वावस्थाभिप्रायो गाण इति, तन्न ; ‘ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा ’ (छा.६.८.७) इति सच्छब्दप्रतिपादितस्य आत्मशब्देन व्यपदेशात् । एतदुक्तं भवति ‘ ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्—स आत्मा ’ (छा.६.८.७) इति चेतनाचेतनप्रपञ्चोद्देशेन सत आत्मत्वोपदेशोऽयं नाचेतने प्रधाने सङ्गच्छते इति । अतस्तेजोयन्त्रानामपि परमात्मैवात्मेति

## श्रुतप्रकाशिका

केन गुणयोगेन गौणत्वमिति शङ्कां परिहरन् सूत्रं योजयति यदुक्तमिति । पुल्लिङ्गगौणशब्दाविशेष्यः प्रकृत ईक्षतिरित्यभिप्रायेणोक्तमीक्षणव्यपदेश इति । गौण ईक्षतिर्नेत्युक्ते विशेष्यप्रतिषेधशङ्काव्युदासाय यत्तच्छब्दाभ्यां विशेषणनिषेधपरत्वेन व्याख्यातम् । यद्वौणत्वमुक्तं तन्नेत्यर्थः । सर्गेति । गौणोऽर्थस्सर्गप्रागवस्था तत्र नियतपूर्वत्वलक्षण कार्यान्तरूप्यं गुणयोगइत्यर्थः । आत्मशब्दादिति सूत्रेण पदेनाविशेषेण ‘ ऐतदात्म्यम् ’ ‘ स आत्मा ’ इति वाक्यद्वयगतात्मशब्दो विवक्षित इत्यभिप्रायेण वाक्यद्वयमुपात्तम् । सच्छब्दप्रतिपादितस्येति । ऐतदात्म्यामित्यत्र एतच्छब्दस्य आत्मेत्यत्र स इति पदस्य च प्रकृतपरामर्शित्वादिति भावः । आत्मशब्दोऽपि मृदात्मको घटः घटस्य मृदात्मेतिवत् स्वरूपानतिरिक्तार्थस्यादित्यत्राह—एतदुक्तमिति । चेतनाचेतनप्रपञ्चोद्देशेनेति । ‘ इदंसर्वम् ’ इति सर्वशब्दासङ्कोचस्य स्वतःप्राप्तत्वात् ‘ सन्मूलारसर्वाः प्रजाः ’ इति पूर्ववाक्यैकार्थ्यात् ‘ इदंसर्वमसृजत ’ ‘ सच्चत्यश्चाभवत् ’ ‘ विज्ञानं चाविज्ञानं च ’ इति श्रुत्यन्तरैकार्थ्याच्च, सर्वशब्दः चिदचिदात्मकजगद्गोचरइति भावः । नाचेतनइति । नहि चेतनस्याचेतनस्वरूपैक्यं संभवतीत्यर्थः ॥

एवं गौणैक्षणसाहचर्यमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् । अथ तदेव नास्तीत्याह—अतइति । अतः चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्यात्मत्वादित्यर्थः । किमर्थमीक्षणोपदेशरहितस्यान्नस्योपादानम्, उच्यते—ईक्षणोपदेशविरहनिबन्धनाब्रह्मात्मकत्वशङ्कानिराकरणार्थम् । अन्यथा सर्वस्य कार्यस्य ब्रह्मात्मकत्वानवगमादिदं सति सामानाधिकरण्यायोग्यत्वेनैकविज्ञानेन सर्ववि-

## गूढार्थसंग्रहः

ईक्षणव्यपदेशइति । ईक्षणबोधकः ईक्षतिधातुरित्यर्थः । दीपसारयोः ‘ ईक्षतिःगौण’ इत्येवोक्तेः । घात्वर्थपरिशीलने नैव मुख्यत्व गौणत्वविभागनिर्णयो भवतीत्यभिप्रेत्य ईक्षणव्यपदेश इत्युक्तम् । परैः ‘ आत्मशब्दात् ’ इत्यत्र आत्मशब्दः स्वरूपवचनः धर्मपरः स्वरूपत्वप्रतिपादकशब्दात् इत्येकोऽर्थः । ‘ सेय देवतैक्षत अनेन जीवेनात्मना ’ इत्यत्र ‘ तत्त्वमसि ’ इत्यत्र च जीवस्य सत्स्वरूपत्व प्रतिपादितम् । ‘ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा ’ इत्यत्र आत्मनः चेतनत्वं प्रतिपादितमिति ‘ आत्मशब्दात् ’ इत्यस्य चेतनत्वप्रतिपादकशब्दात् इत्यन्योऽप्यर्थ इत्यभिहितम् । तत्र ‘ तदैक्षत बहुस्या प्रजापेय ’ इत्यत्रेक्षतेः गौणत्वशङ्काया निरासः तद्वाक्यार्थानुरोधेनैव ‘ आत्मशब्दात् ’ इत्यत्र विवक्षितइति व्यासाद्यः स्फुटं प्रतीयते । ‘ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा ’ इत्युपसहारे सर्वशब्दः ‘ बहुस्याम् ’ इत्यत्र बहुशब्दकैकार्थकः । तत्र सर्वस्य एतदात्मकत्वमुक्तम् । ‘ ऐतदात्म्यम् ’ इत्यत्र ‘ एषः आत्मा यस्य तत् एतदात्म एतदात्मैवैतदात्म्यं स्वार्थे ध्यम् विवक्षित ’ इत्यर्थः जिज्ञासाऽधिकरण एव निरूपितः । अत्र ब्रह्मविद्याऽऽभरणपर्यालोचनं तत्रैव कृतम् ।—‘ ऐतदात्म्यम् ’ इत्येतद्वत्कात्मशब्दः ‘ सआत्मा ’ इत्यत्रात्मशब्दकैकार्थकः । ‘ तदैक्षत ’ इत्यत्र नपुसकलिङ्गतच्छब्द-



## श्रीभाष्यम्

## तेज प्रभृतयोऽपि शब्दाः

## श्रुतप्रकाशिका

ज्ञानप्रतिज्ञान न घटेत् । अतस्तदुपादानेन प्रतिज्ञासिद्धयौषधिकमनुप्रवेशश्रुतिसिद्धमन्त्रस्य ब्रह्मात्मकत्वमिहानुषङ्गिक दर्शितम् । नहि किञ्चिदप्यतदा मकमिति अपिशब्दाभिप्रायः \* अतदात्मकत्वेन त्वदभिमतानामपीति वा । यदाश्रयतया प्रथममीक्षण मुख्य स एवेत्येवकाराभिप्रायः । तेजःप्रभृतयोऽपीति । सच्छब्दवदित्यपिशब्दस्य भावः । लोके तेजःप्रभृतिमात्र

## गूढार्थसंग्रहः

निर्दिष्टार्थः 'तत्त्वमसि' इत्यत्र नपुसकतच्छब्देनोक्तः । 'बहुस्याम्' इत्यत्र तेजआदिवत् जीवोऽपि विवक्षितः । 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डज जीवजमुद्भिज्जचेति' इत्यत्र इतराविशेषेण जीवजमित्युक्तेः । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यत्र सर्वशब्दे तेजोजीवादि सर्वं विवक्षितम् । तत्पूर्वं 'समूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजाः' (छा. ६. ८. ४) इति द्विवारमभ्यस्तवाक्ये 'एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सति संपद्य नविदुः' (६. ९. २) 'एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सत आगत्य नविदुः' (६. १०. २) इत्येव प्रजाशब्दस्य जीवपरत्वात् । एवञ्च 'तत्त्वमसि' इत्यत्रोपक्रमो पक्षहारानुरोधेन श्वेतकेतुरपि सर्वशब्दान्तःपात्येव । तेन श्वेतकेतोः परमात्मा मकत्वेनैवाभेदव्यपदेश इति उपसहारे निर्णयते । तेन 'बहुस्याम्' इत्युपक्रमेऽपि तदात्मकत्वेनैव बहुभेदः । 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यत्रापि उपसहारे जीवस्य परमात्मात्मकत्वाभिधानेन तदनुसारेणात्मशब्दार्थो निर्णयः । 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यत्र तेजशब्दे परमात्मविवक्षायास्सर्वरापि सिद्धान्तिभिरोपितव्यत्वात् । तत्र परैः 'तेजोरूपसंस्थित सदैक्षतेत्यर्थः' (श. उ. भा.) 'तेजःपदेन तदधिष्ठानं सहायते' (रत्नप्रभा) 'तेजआद्यवच्छिन्नं ब्रह्मैव प्रतिपाद्यमिति' (ब्रह्मविद्याऽऽभरणे) इति चोक्तम् । 'तेषां खल्वेषां भूतानाम्' इति प्राक् (जि. अ. ९. २४. पु) उदाहृत (श. उ. भा., आ. गी. टी.) वाक्यानुसारेण शरीरसंबद्धजीवानां ब्रह्मकार्यत्वस्य विवक्षिततया 'अनेन जीवेन' इत्यत्र 'अनेन' इत्यनेन तेजआदिवत् ब्रह्मकार्यत्वस्य जीवेऽपि प्रतीत्या जीवस्यापि तेजआदितुल्यत्वमेव ॥

एवं च तेजोवत् जीवस्य ब्रह्मकार्यतायाः परेषामपि समनतया तेजआदिशब्दानां जीवशब्दस्यैकरीत्येव ब्रह्मवेषकवौचित्ये तत्परित्यज्य भिन्नरूपेण आत्मशब्दतात्पर्यकल्पनं परेषामनादरणीयम् । परमतेऽपि 'जीवेनात्मना' इति शब्दद्वयस्य लक्ष्यार्थपरत्वएवाभेदसङ्गतिः । परसमतल्लक्ष्यार्थपरत्वे गमकं नास्ति । 'तेषां खल्वेषां भूतानाम्' इति पूर्ववाक्ये जीवशब्दप्रयोगः 'अनेन जीवेन' इत्यत्र जीवशब्दतात्पर्यनिर्णयार्थ इति 'अनेन' इत्यनेन सूचितम् । तदपि न घटेत् । 'विकारो नामधेयम्' इत्यत्र प्रयुक्तविकारशब्द परित्यज्य रूपशब्दोपादानं परमते विफलम् । 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्रा मन्त्रशब्दः उभयोरेकसूत्रेणाभेदनिर्णायकः । 'यतो वा इमानि भूतानि' इति श्रुतावपि ब्रह्मादिजीवानां परब्रह्मकार्यत्वं परेषु निषङ्गाप्य एव व्यक्तमुक्तम् । एव च अस्यापि श्रुतौ अचिजीवयोः एकरीत्याऽभेदस्यैव विवक्षितत्वेन 'तत्त्वमसि' इत्यत्रापि आचिददेवाभेदव्यपदेशः । श्वेतकेतोरपि सर्वान्तःपाति वात् । 'ऐतदात्म्यम्' इत्येतद्वाक्यसहभावेनैव 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्य नववृत्तोऽभ्यासात् 'आत्मशब्दात्' इत्यस्य एवमाशयनिर्णयो युक्तः । जीवमनु परमात्मप्रवेशस्याभिधानेन 'सद्य देवाः' इत्यत्र तच्छब्दस्य 'तमादेशम्' इत्यनेन देशशब्दाद्येप्रशास्तिरूपत्वेन 'अन्तःप्रविष्टश्चास्मा जनाः नागौः सर्वा मा' इति श्रुत्यन्तरानुसारेण च 'सिंहेन भूत्वा गृहमे मयाऽत्ताः' इत्यादिवत् जीवेन इति जीवशरीरकेत्यर्थकम् । आ मन्त्रशब्दार्थः पूर्वमेव निरूपितः ॥ तेजःप्रभृतयोऽपि शब्दादिति । 'यद्यपि सशामूर्तिरित्यधिकरणे तेजः

### गूढार्थसङ्ग्रहः

आदिसृष्टिः त्रिवृत्करणमित्यादिक च अण्डोत्पत्तेः प्राकालिकम् । तदात्वे जीवस्य शरीरसम्बन्धो नास्ति । नामरूपव्याकरणमपि त्रिवृत्करणानन्तरकालिकमित्येव प्रतीयते । अयमर्थः सशामूर्तिवत्सद्यधिकरणभाष्ये स्फुटं वक्ष्यते । तथाऽपि अन्तर्यामि-  
ब्राह्मणाद्युक्तार्थ एव नामरूपव्याकरणश्रुतौ विवक्षितः । त्रिवृत्तत्वेजोऽवन्नानां नामरूपव्याकरणश्रुतौ विवक्षा संभवति ।  
‘तेषां सव्येषां भूतानाम्’ त्यत्र त्रिवृत्तानां विवक्षा स्फुट्या इत्यत्रिवृत्तानां त्रिवृत्तानां च भूतानामेकतया अन्तर्यामिब्राह्म-  
णागमिसंघानेन च इत्यमुक्तिः । किंच सरे समानप्रकरणस्यायाः ‘सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय’ इत्यादितैत्तरीयश्रुतेरुदा-  
हरणेन तत्र सृष्टवस्तुसामान्येऽनुप्रवेशस्याभेदप्रयोजकस्य स्फुटतया तेजआदिशब्दानामपि परमा मपरत्वं सिद्धयतीति ध्येयम्

नवीनास्तु ‘नच गौण आत्मा दृश्यो वाच्यश्च । न निर्गुण इति युक्तम् ; आत्मशब्दात् ‘योगुणैस्सर्वता हीनः यश्च  
दोषविवर्जितः । हेयोपादेयरहितः स आत्मेत्यभिधीयते ॥’ ‘नच मुख्ये संभवति अमुख्यं युज्यते’ इति भाष्ये ‘यत ईक्षति  
श्रुतौ जीवाख्यो गौण आत्मा दृश्य उच्यते’ इत्यादि तत्त्वप्रकाशिकाया, द्वितीयसूत्रे ‘आत्मन्येवात्मानं पश्येत्’ इत्यादौ  
‘आत्मा न गौणः आत्मशब्दात्’ इति आत्मशब्दसामानाधिकरण्याय ‘गौणश्चेत्’ इति पुल्लिङ्गानिर्देशः । ईक्षतेरिति न  
धातुनिर्देशः किंतु तदर्थस्येति वदतः गौणश्चेति पुल्लिङ्गं क्लृप्तम् ईक्षणस्य पुल्लिङ्गनिर्देशात् । ईक्षतेरित्यस्य शब्दमात्रासाध-  
कतया ज्ञानकर्मत्वस्यैव विवक्षणीयत्वात् । तस्य ‘आत्मन्येव’ इति वाक्येष्वपि सत्त्वेन तथामपि भाष्ये ‘ईक्षति’सूत्रे उदा-  
हृतत्वात्, (चन्द्रिकाया) इत्यादिक्रमेण द्वितीयसूत्रार्थं वदन्ति । अत्र ‘बृहन्तोऽस्मिन्गुणाः’ इति श्रुत्या गुणपूर्णे ब्रह्मैव  
ब्रह्मशब्दमुख्यार्थः नतु जीवादिरिति नवीनैः पूर्वमुक्तम् । नच मुख्ये संभवत्यमुख्यं युज्यते’ इति भाष्यवाक्येन गौण-  
शब्दः अमुख्यपर इति प्रतीयते । गौणशब्दस्य निर्गुणशब्दप्रतिकोटितया लोके न प्रसिद्धिः । ‘योगुणैस्सर्वतो हीनः’  
इति वचने गुणदोषसामान्यशून्यत्वमेव प्रतिपाद्यते । नतु सत्त्वादिगुणशून्यत्वम् तच्च परमते प्रसिद्धम् । पूर्वं विशि-  
ष्टस्य वाच्यत्वं शुद्धस्य लक्ष्यत्वमिति शङ्कितुं स्तात्पर्यस्य नवीनैरुक्त्या ईशस्य गुणवत्त्वं वाच्यत्वं चेति परसिद्धात्तेन जीवस्य  
गुणवत्त्वं न शङ्कितुमर्हम् । गौणशब्दस्य गुणिवाचकत्वमपि लोके न प्रसिद्धम् । ‘गुणी’ इत्यनिर्देशेन गौण इत्यत्र गुण-  
वत्त्वं भविष्यति । तदर्थस्य विवक्षितत्वे ‘श्रुतत्वाच्च’ इति सूत्रे ‘एको देवः—साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च’ (श्वे.  
६) इति श्रुतेः भाष्ये उदाहरिष्यमाणतया तस्याः पूर्वं परत्र च गुणिशब्दस्य सत्त्वेन सूत्रे तन्निर्देश एव कर्तव्यस्यात् निर्गु-  
णशब्दे गुणसामान्यशून्यबोधके ‘आत्म’ शब्दमात्रेण सत्त्वादिगुणशून्य इत्यर्थः कथं सिद्धयति ? आत्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभू-  
तानां गुणानां नवीनैरापि त्यागायोगेन गुणवान्नवान्यः अपितु निर्गुण इत्यर्थः कथं घटते ? अतः गौणमुख्यशब्दयोः सर्व-  
दर्शनेषु कोटिप्रतिकोटिभावाङ्गीकारेण ‘ईक्षतिः’ न गौणः किंतु मुख्यइत्येवार्थो युक्तः । ‘ईक्षतेः’ इति निर्देशे बीज  
मागेव प्रदर्शितम् । ईक्षतिघटितवाक्योत्तर उपक्रमोपसहारयोरात्मशब्दो वर्तते इति न नवीनमतवदुपनिषदन्तरगवेषणकृत-  
मस्त्वारस्यमपि वर्तते ॥

अत्र ‘सच्छब्दाभिहिते ईक्षिते’ ‘एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा’ इति श्रूयमाणात् चेतनवाचिनः—  
आत्मशब्दात्’ इति दीपमुक्तिः । अयमाशयः ‘तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय’ इत्यत्र ब्रह्मभेदकर्मकेश्चकर्ता यउक्तः स एव  
‘एतदात्म्यमिदं सर्वम्’ इत्यत्र सर्वस्यात्मत्वेनाभिहितः । आत्मशब्दश्चान्तर्यामिब्राह्मणे ‘सत आत्माऽन्तर्यामी’ ‘एष  
त आत्माऽन्तर्यामी’ ‘अन्तःप्रविष्टश्चास्मा जनानां सर्व आत्मा’ इत्यत्र चेतनाचेतनोभयान्तःप्रवेशपूर्वकनियमनकर्तारि प्र-  
सिद्धः । प्रधानस्य एतदात्मत्वं न संभवतीति ॥

‘स्तब्धोऽऽयुतमादेशमप्राक्ष्यः’ इत्युपक्रमे प्रष्टव्यत्वेनोपदेशयोग्यत्वमभिधाय श्वेतकेतुप्रति स्वयमुपदिशता पित्रा

## श्रीभाष्यम्

परमात्मनएव वाचकाः । तथा हि 'हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्र-  
विश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा.६.३.२) इति परमात्मानुप्रवेशादेव तेजःप्रभृतीनां  
वस्तुत्वं तत्तन्नामभाक्त्वञ्चेति 'तत्तेज ऐक्षत' 'ताआप ऐक्षन्त' (छा.६.२.३—४) इत्यपि  
मुख्य एवेक्षणव्यपदेशः । अतस्साहचर्यादपि 'तदैक्षत', इत्यत्र गौणत्वाशङ्का दूरोत्सा-  
रितेति सूत्राभिप्रायः ॥

इतश्च नप्रधानं सच्छब्दप्रतिपाद्यम्

## श्रुतप्रकाशिका

परत्वे व्युत्पन्ना अपीति वा । परमात्मनएवेति । विशेष्यतया प्राधान्येन प्रतिपाद्यः परमात्मैव तेजःप्रभृतयस्तु द्वारमात्रमिति  
भावः । परमात्मवाचित्वमुपपादयति तथाहीति । वस्तुत्वं तद्रूपवत्त्वं तेजसो वस्तुत्वं तेजस्त्व अपा वस्तुत्वमप्यव पृथिव्या  
वस्तुत्वं पृथिवीत्वं देवमनुष्यादीनां वस्तुत्वं देवत्वमनुष्यत्वादिकं तत्तदवस्थाभाक्त्वमित्यर्थः । नामभाक्त्वं नामवाच्यत्वम् ॥

ननु कथं परस्य नामव्याकर्तृत्वश्रवणात्तन्नामवाच्यत्वसिद्धिः ? उच्यते 'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते' इति समान  
वाक्ये व्याकृतत्वश्रवणात् । नाम्ना विशेषितत्वाहि नामरूपव्याकृतत्वम् । नामविशेषितत्वं च नामवाच्यत्वरूपमिति प्रसि-  
द्धम् ननु तदुत्पादकत्वमात्रं, नह्याकाशस्य वा मातापित्रादेर्वा देवदत्तादिनामविशेषितत्वप्रसिद्धिः । अतो नामव्याकृतत्व  
नामवाच्यत्वम् । अतस्तदैकार्प्यादिहापि नामवाच्यत्वं विवक्षितम् । 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' इति चायमर्थ उच्यते,  
एवं तेजःप्रभृतिशब्दानां परमात्मवाचित्वोपपादनफलमाह—इतितत्तेज ऐक्षतेति । इतिशब्दो हेतुपरः । मुख्यत्वफलमाह—  
अतइति । अणिशब्दो गौणत्वशङ्काहेतुसमुच्चयपरः । इदंशब्दवाच्यजगत्कारणत्वादिना गौणत्वशङ्का परिहृता गौणेषणसा-  
हचर्याच्च गौणत्वशङ्का निरस्त्यर्थः । यद्वा त्वन्मतसाधकादपि त्वन्मतं निरस्तमिति भावः । दूरोत्सारितेति । गौसाह-  
चर्येसत्यपि सर्वशब्दतत्प्रतिसन्नधिवाचकात्मशब्दस्वारस्येन 'तदैक्षत' इत्यत्र गौणत्वाशङ्कोत्सारिता गौणसाहचर्यासिद्ध्या  
दूरोत्सारित्यर्थः । गौणेषणसाहचर्येसत्यपि आत्मशब्दात् प्रथमेषणमगौणं, आत्मशब्दादेव गौणेषणसाहचर्यमसिद्धं चेत्यर्थः  
इयं कथमेकेन वाक्येनोच्यत इत्यत्राह—इतिसूत्राभिप्रायइति । प्रतिशब्दान्तयोर्हेत्वनाक्षेपकत्वं मुख्यामुख्यार्थानुग्राह-  
केषु मुख्यानुग्राहकस्यानुरोद्धव्यत्वं चास्मिन्नधिकरणे व्युत्पाद्यमिति सूत्रद्वये स्पष्टम् ॥

अवान्तरसाध्यविषयत्वशङ्का व्युत्पन्नसूत्रसूत्रमवतारयति—इत्येति । \* कारणत्वौपायिकेषणधर्मनिरूपणेन परमा-  
त्मत्वं सतस्समर्पितम् अथ 'कारणं तु ध्येयः' इति कारणवत्त्वसाधारणमोक्षप्रदत्वधर्मेण परमात्मत्वं साध्यतइतिसङ्गतिः

## गूढार्थसंज्ञहः

'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्युपसहारे आचार्योपदेशेनैव ज्ञेयत्वं प्रतिपादितम् । सच प्रज्ञासिता बहुमवनमीक्षिता च  
आत्मा पूर्वप्रस्तुतः सर्वा-तर्यामी 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यत्र वेद्यत्वेन विवक्षितः । 'आचार्यादिव विदिता विद्या  
साधिष्ठ प्रापत्' इति (छा.४.९.३) 'आचार्यस्तुने गतिवत्ता' (४.१४.१) इत्यत्र आचार्यस्य प्राक् यन्महत्त्वमुक्तं तदत्राप्य-  
नुसन्धेयम् । 'आमस्य प्रभु कारयितारं नापश्यत् गुणोपैरुह्यमानः' इति (जि.अ.७.७.२.५) उदाहृतस्तुत्युत्तदिशा—  
अन्तर्यामिब्राह्मणे 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यत्र नियन्तुर्नियन्त्रन्तर निविध्यत इति श्रुतिकारसमतार्थे परित्यज्य एकाम  
पक्षेऽप्य संमत इति वदतां एतत्क्षणार्थपरिशीलने शुद्धचित्तः ज्ञेयत्वमपि न घटते । एतमुपक्रमे स्वरूपपरिणामस्यैव दृष्टान्तं

श्रीभाष्यम्

सू-७ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (१.१.५)

श्रुतप्रकाशिका

सू=७ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (१.१.५)

तस्य तावत्' इति श्रुतौ तस्येति पदस्य व्याख्यानं सूत्रे तन्निष्ठस्येति पदमिति दर्शयंस्तच्छब्दनिष्ठाशब्दयोरर्थे विवृ-

गूढार्थसंग्रहः

विपादनेन दार्ष्टान्तिकस्यापि स्वरूपपरिणामवतः ज्ञानमेवोपसहारे विवक्षितमित्यपि न सम्भवतीत्याह—तन्निष्ठस्य मोक्षोपदे-  
षादिति । उपक्रमे दृष्टान्तोक्तार्थस्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्र दार्ष्टान्तिके निरूपणमिति प्रागेव निरूपितम्  
अत्र 'यथा सोम्यैकेन सर्वं मृण्मयं विशातं स्यात्' इत्यादिवाक्ये सर्वकार्याभेदः कारणे प्रदर्शितः । 'तदैक्षत बहुस्याप्र-  
वायेय' इत्यादावपि दार्ष्टान्तिके सर्वकार्याभेदः तदीक्षणमुत्तेन निरूप्यत इति स्फुटम् । एवस्थिते 'तमादेशम्' 'सदेव'  
'तदैक्षत' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'स आत्मा' इत्यत्र आदिष्टा बहुभवनेक्षणकर्ता आत्मा यः तस्य ज्ञानमेव 'आचार्य-  
वान्पुरुषो वेद' इत्यत्र विवक्षितम् । एवं च पूर्वसूत्रोक्तदिशा बहुभवनेक्षणकर्तृ आत्मत्वस्य प्रधाने यदाऽसम्भवः तदा  
'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यत्र तस्य ज्ञेयत्वेऽपि तात्पर्यं न सम्भवति । अयं च श्रुतिक्रमः—'यथा सोम्य पुरुष गन्धा-  
रेभ्योऽभिनद्वाशमानीय त ततोऽतिजने विस्तृजेत् स यथा तत्र प्राङ्बोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रभायीताभिनद्वाक्ष-  
आनीतोऽभिनद्वाक्षो विस्तृष्टः ॥ १ ॥ तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतादिश गन्धाराएता दिश व्रजेति स ग्रामा-  
द्राम पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसद्येत एवमेवाहान् आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथसंपत्स्ये  
इति' (छा. ६. १४. १, २) इति ॥

अत्र सूत्रे तन्निष्ठस्य इति 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुतौ तच्छब्दतात्पर्येण प्रयुक्तम् । अत्र सूत्रे 'तन्निष्ठस्य'  
इत्यनभिधाय तन्निष्ठस्य इत्युक्तिः उक्तदिशा 'उत तमादेशमप्राश्यः' इत्यत्र स्वरूपपरिणामिकारणबोधनमुत्तेन पूर्वपक्ष-  
सूचनार्थं 'तमादेशमप्राश्यः' 'तदैक्षत बहुस्याम्' 'सदेव देवतैक्षत' इत्यत्र तच्छब्दानामेकार्थकत्वबोधनमुत्तेन सिद्धान्तसू-  
चनार्थं च । 'तमादेशम्' इत्युपक्रमोक्ते दार्ष्टान्तिके 'तदैक्षत बहुस्याम्' 'सदेव देवतैक्षत' इति वाक्यद्वयेनैव कार्य-  
कारणयोरभेदनिर्धारणेन स्वरूपपरिणामिकारणं नात्र विवक्षितम् । 'तत्त्वमसि' इत्यत्र उपक्रमोक्तबह्वभेदवदेवाभेदो विवक्षितः  
उपक्रमोपसहारयोः सर्वत्रावस्थाभेदेऽपि धर्मैक्येनैवाभेदव्यपदेशः एकरूप इति सिद्धान्तस्यैव युक्तत्वात् । परमते दृष्टान्ते  
कारणव्यतिरेकेण कार्यं नास्ति । 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यत्र बाधार्थां सामानाधिकरण्यं 'तत्त्वमसि' इत्यत्राण्डार्थं  
सामानाधिकरण्यमित्यनेकप्रकाररूपेण श्रुतितात्पर्यान्नुगुणमित्येतेन बोधितम् । श्रुतौ पूर्वतच्छब्दसामान्यविवक्षितार्थज्ञानितात्प-  
र्यं तस्येति । सूत्रे तच्छब्दः बहुभवनेक्षित्वात्मशब्दार्थं परामृशति । तस्यैव पूर्वसूत्रप्रस्तुतत्वात् । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद'  
इत्यत्र वेदनवतः मोक्षोक्तया तन्निष्ठस्य इत्यत्र ईक्षितपुरुष आत्मज्ञानवानेव विवक्षितः । तच्छब्देत्यनभिधाय तन्निष्ठस्ये-  
त्युक्तिः 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यत्र वेदनं उपासनरूपमेवेति व्यञ्जनाय 'यावन्नविमोक्ष्ये' इत्यनेन प्रारब्धकर्ममोक्ष-  
तात्पर्येण ज्ञानसत्ताप्रतीत्या वेदनमुपासनरूपमेव विवक्षितमिति सूत्रकाराशयः । अयमर्थः 'भोगेनचित्तरे क्षपयित्वाऽथ



## श्रीभाष्यम्

मुमुक्षोश्चेतकेतोः 'तत्त्वमसि' (छां.६.८.७) इति सदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य तन्नि-

## श्रुतप्रकाशिका

ष्वन्सूत्रार्यमाह—मुमुक्षोरिति । अर्वाचीनफलकदृष्टिविधिसंभवात् चेतने कृत्स्नजगदुपादानतयोः कृष्टप्रधानदृष्टिविधिरियमिति शङ्का मुमुक्षोरितिपदेन व्युदक्ता । तत्त्वमसीति सदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्येति । सदात्मकत्वोपदेशवाक्यगतस्तच्छब्दः प्रकृतसद्विषय इति ज्ञानपरस्सूत्रे तच्छब्द इत्यभिप्रायेण सदात्मकत्वेत्युक्तम् । अनुसन्धानशब्देन निश्चाशब्दार्थ उक्तः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

संपत्स्यते' इति सूत्रेऽपि स्फुटीकरिष्यते ॥

तत्सूत्रे वेदान्तदीपे—'यावन्नविमोक्ष्य' इत्यत्र संपत्तिप्रतिबन्धकपुण्यपापकर्मसामान्यक्षयः विवाक्षित इति स्फुटम् । अत्र श्रुतौ ज्ञानवतः बन्धविमोचनान्तर देशादेशान्तरगमनस्य दृष्टान्ते प्रतिपादनेनानन्तरपुण्ड्रे 'वाङ्मनसि संपद्यते' इत्याद्युक्त्या अत्रापि देशादेशान्तरगमनं विवाक्षितमिति तात्पर्येण 'अथ' शब्दः । आनन्तर्ये च व्यवधानसहमिति उक्तान्तिगतिपादाभ्यां सूत्रकारः स्थापयिष्यति । संपत्तिप्रतिबन्धकसामान्यक्षयस्य गतिमन्तरा असम्भवात् इत्यादिकं चतुर्थध्याये व्यक्तीभविष्यति । 'पुरुष सोम्योत हस्तग्रहोत्तमानयन्यपहार्षोऽस्तेयमकार्षीत्परशुमसै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति ततएवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुतप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥ अथ यदि तस्याः अकर्ता भवति ततएव सत्यमात्मानं कुरुते ससत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स नदह्यतेऽथ मुच्यते । स यथा तत्र नदह्येतैतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छां.१६.१,२,३) इत्यादिवाक्यं जीवान्तर्यामिस्तेयानृताभिसन्धिविषयम् । बहुभवनमीक्षितुः जीवस्याप्यन्तर्यामिणः 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यत्र विवाक्षितत्वेन 'तत्त्वमसि-श्वेतकेतो' इत्यत्रापि श्वेतकेतोः 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यत्रोक्तसर्वान्तर्याम्यात्मकत्वमेव विवाक्षितमिति निर्णयते । 'हन्ता-हमिमाः' इत्यत्र सृष्टेर्दयामूलकत्वं विवाक्षितमिति मैत्रायणीयश्रुत्युक्तार्थस्य अत्रापि विवाक्षितत्वेन उभयोरैक्यज्ञानवान्त्वोरः अनृताभिसन्धिः' इति निश्चयसम्भवात् । एतेनात्र परसम्मतार्थः (शं.भा) न घटत इति सिद्धम् । राजकुमारनयोपि सिद्धान्त एवानुकूल इति प्रागेव निरूपितम् ॥

नवीनैरपि 'उक्तं च विष्णुनस्त्वनिर्णये 'घातयन्तिहि राजानो राजाऽहमिति वदन्तम्, ददाति च सर्वमभिप्रेतगुणोत्कर्षे वदतः' इत्याद्युक्तम् । 'तत्त्वमसि' इत्यत्राप्यन्तर्यामिणः विवाक्षितत्वस्य प्रागेव बहुषु स्थलेषु निर्णयेन 'द्वासुपर्णा' इति ऋग्वेदश्रुत्यनन्तरं 'तन्नोन्नशयः पितरं नवेद' इत्यत्र पितुः ज्ञानाभावे पितृप्राप्त्यभावबोधनेन 'तत्त्वमसि' इत्यत्रापि पितृप्राप्तिहेतुभूतस्य पितृर्ज्ञानस्य विवाक्षितत्वेन 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यत्रोन्नशानस्यैवाभिप्रेतत्वेन 'अथ संपद्य' इत्यत्र उक्तान्तिगतिद्वारा तत्सम्पत्तेरेव प्रतिपादनेन जगत्कारणस्यैवान्तर्यामितया तस्यैव प्राप्यत्वेन 'आनन्दोऽदयेव ह्यहम्' 'आनन्दं प्रयन्ति' इति श्रुत्युक्तानन्दप्राप्तिरपि तन्निष्ठस्य इति पदेन सूचिता कारणस्य फलत्वं एव तत्र नितरांस्यतिः नत्वन्यथा । अन्यस्य फलत्वे तदपेक्षया प्रवृत्त्या कारणे नितरां स्थित्ययोगात् अयमर्थः ब्रह्मा सम्पत्तिलक्ष्णो मोक्ष-इत्यत्र रियाक्षितः ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वस्य पूर्वमुपपादनात् । एतेन उपादानकारणस्य ब्रह्मणः फलतयोपादेयत्वमेतन्मते प्रतिपादितं भवति । प्रधानस्यात्र प्रतिपाद्यत्वे प्रधाननिष्ठस्याय मोक्षोपदेशो न समग्रतीति भावः । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह-मुमुक्षोश्चेतकेतोः इत्यादि ॥

### श्रीभाष्यम्

ष्टम्य 'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा.६.१४.०) इति शरीरपातमा-  
त्रान्तरायो ब्रह्मसंपत्तिलक्षणो मोक्ष इत्युपदिशति ।

### श्रुतप्रकाशिका

इहोपदेशस्यानुसन्धानार्थत्वं कथमवगतम् । उच्यते-उपक्रमे 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमृतं मतमविज्ञातं विशतम  
इति भवगमननसमनन्तरमाविविज्ञानशब्द उपासनपरः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यनेनैकार्थ्यात् ।  
उपसंहारे च 'तद्वास्य विजिज्ञौ' इति तत्तुल्यार्थः • विजिज्ञाविति पदमावर्तितम् । मध्येऽपि 'आचार्यवान्पुरुषो वेद'  
इत्याचार्यवत्ताफलत्वेन प्रतिपादितार्थविशेषवेदनवचनमाचार्योपदिष्टार्थस्यानुसंधेयत्वे लिङ्गम् । एवमेभिः कारणैरसदात्म-  
कशरीरदेशस्योपासनार्थत्वावगमः । शरीरपातमात्रान्तरायइति । अन्तरायशब्देन विलम्बो लक्ष्यते । शरीरपातावधि-  
त्वं इत्यर्थः । 'यावन्नविमोक्ष्य' इत्युक्ते कथं शरीरान्मोक्षसिद्धिः, उच्यते । मोक्ष इत्युक्ते कस्मान्मोक्ष इति बन्धकं  
किञ्चिदाकाङ्क्षितम् तच्च किमित्यपेक्षायामस्यामेव विद्यायां 'अथ यदाऽस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यादिना देहदुःक-  
मग्रावणात् अन्यत्र च, 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य' 'धूत्वा शरीरम्' 'अशरीरं वाव सन्तं  
न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति श्रवणात् 'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्मनैति' इत्यादिश्रवणाच्च, • शरीरमित्यवगम्यते ब्रह्म  
सम्पत्तिलक्षणइति । 'अथ मम्यत्स्य' इति संपत्तेः 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' मति वाक्यान्तरप्रतिपक्षं  
ब्रह्मैव कर्मेति भावः ॥

### गूढार्थसंग्रहः

भेदकृतोः 'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये' इत्यत्र वक्ष्यमाणमोक्षेच्छाभावे उपदेश एव न संभवतीति मोक्षे-  
च्छया 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्युक्तमोक्षसाधने प्रवृत्तिरवश्यमङ्गीकरणीया । श्रुतौ चास्यां प्रारब्धकर्मक्षयो विवक्षि-  
तः सर्वसंमतम् । तेन कर्मक्षय एव मोक्षः ननु परसंमतविद्याक्षयः । परमते आत्माऽन्यत्वेन तस्य कर्मणः अपरोक्ष-  
ज्ञानानन्तरमविद्यानाशे प्रारब्धकर्मणः स्थितिरेव न संभवति । अविद्यानिवृत्तेः चरमवृत्तिरूपत्वे मोक्षेच्छया तत्साधने  
प्रवृत्तिर्न संभवतीत्यादिकं प्रायुक्तं सर्वमभिप्रेत्य मुमुक्षोरित्याद्युक्तम् ॥

अत्र भाष्य, दीप, सारेषु सदात्मकत्वानुसन्धानशब्द एव प्रयुक्तः । ननु 'तदात्मकत्वानुसन्धानवतः' इति ।  
सूत्रे तच्छब्दप्रयोगपर्यालोचने तदात्मकत्वानुसन्धानमिति वक्तव्यं भवति । तत्र चार्थविशेषः प्रागेवाभिहितः । 'तदैक्षत'  
इत्यनपूर्वे 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति वाक्यसत्त्वेन तस्यैव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यत्र दृष्टान्ते 'इदं घटशरा-  
वादिकं पूर्वाङ्गे मृत्तिकैवासीत्' इति अभेदप्रतीतितुल्यप्रतीतिः विवक्षितत्वेन तदनन्तरवाक्यानामेतदर्थोपपादकत्वेन दाष्टी-  
निके अभेदोपपादकवाक्येषु प्राथम्यतात्पर्येण 'सदात्मकत्वानुसन्धान' इत्युक्तम् । एवं 'तत्त्वमसि' इत्यत्र 'तत् तस्मात्  
सर्वस्य एतदात्मकत्वात् त्वं असि सत्ताऽऽश्रयः' इति श्रुतावर्थान्तराभिप्रायेणापि सदात्मकत्वानुसन्धान इत्युक्तम् ॥

'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुपमयं कैवल्यमाप्नोति' (सा.भा.६८) इत्यत्र  
ईश्वरकृपेण 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुत्यर्थोऽपि स्वमतेन दर्शित इति प्रतीयते । उत्तरार्धे 'अथ संपत्स्य' इति  
भाष्यार्थ उक्तः । 'अथ संपत्स्य' इत्यस्यार्थः 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य' इत्यत्र निर्णीतः । अत्रापि  
वाक्ये 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यत्र वेदनकर्म यत् तदेव संपत्तिकर्मेति विवक्षितम् । इत्थमर्थमभिप्रेत्यैव ब्रह्मसम्पत्तिल-  
क्षणो मोक्षइति इति भाष्ये उक्तम् । मुक्तौ प्रधानसम्पत्तेरसम्भवेन प्रधानस्यानुपादेयत्वं पूर्वसूत्रे विवक्षितम् । अथमुक्ति

## श्रीभाष्यम्

यदि च प्रधानमचेतनं कारणमुपदिश्येत ; तदा तदात्मकत्वानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वो-  
पदेशो नोपपद्यते । ' यथाऋतुरस्मिन्लोके पुरुषो भवति तथेतःप्रेत्य भवति ' (छा.३.१४.१)  
इति तन्निष्ठस्याचेतनसंपत्तिरेवस्यात् नच मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रमेवंवि-  
धतापत्रयामिहतिहेतुभूतामचित्सम्पत्तिमुपदिशति । प्रधानकारणवादिनोऽपि हि प्रधान-  
निष्ठस्य मोक्षं नाभ्युपगच्छन्ति ॥ इतश्च न प्रधानम्

## सू-८ हेयत्वावचनाच्च (१.१.५)

## श्रुतप्रकाशिका

मोक्षइति । सौत्रस्य मोक्षशब्दस्य शरीरपातपूर्विका ब्रह्मसंपत्तिरेवार्थः नतु शरीरपातमात्रमित्यभिप्रायः । ततः किं  
प्रधानवैलक्षण्यस्येत्यपेक्षाया मुमुक्षोरिति पदेनाभिमतं विवृणोति । यदिचेति । कथमनुपपत्तिः तीर्थक्षेत्रसेवादिवदचिदुपादा-  
नस्य मोक्षोपयोगित्वं शास्त्रबलात् किंस्यादिति शङ्कायामाह—यथाऋतुरिति । उपासनानुरूपफलभाक्त्वं श्रुत्यर्थः । ततश्च  
हेयोपासनाद्वेयप्रहाणानुपपत्तिः, अचेतनसम्पत्तिः अचित्प्राप्तिः ससारित्वं । कर्तृताऽचित्संबन्धोहि संसारः \* संपत्तिशब्दस्य  
प्राप्त्यर्थत्वं तापत्रयामिहतिहेतुभूतामचित्संपत्तिमित्यनन्तरभाष्येण व्यक्तम् । अचेतनसंपत्तिरस्तु ततः किमित्यत्राह—नचेति  
अत्र ' शास्त्रं हि वत्सलतरं मातापितृसहस्रत ' इति पुराणवचनं सारितम् । मातापितृसहस्रेभ्य इति । मातापित-  
रावेकास्मिन्जन्मन्यैहिकपोषणमात्रपरौ शास्त्रन्वनेकेषु जन्मसु ऐहिकामुष्मिकसर्वविघलक्षणपरमिति भावः । तापत्रयेति ।  
शास्त्रस्य प्रयोजनपर्यवसानं नस्यादित्यभिप्रायः । एवं श्रुतिसिद्ध्यन्यायविरोधप्रयोजनपर्यवसानाभावाभ्यां मोक्षोपयोगित्वं  
निरस्तम् । अस्मिन्नर्थे परमतसंवादं दर्शयति प्रधानकारणेति । प्रधाननिष्ठस्येति । ' व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात् ' इति  
वदताऽपि साङ्ख्येन प्रधानस्य व्याघेरिव परिज्ञानमात्रे विवक्षितं नतुपासनमिति भावः ॥

ननु ' तत्त्वमसि ' इति सदात्मकत्वानुसन्धानोपदेशः किंतु 'स्थूलोऽह'मित्यादिदेहात्मभ्रमानुवादः । अतस्त्वच्छ-  
ब्दवाच्यचेतनस्य मुमुक्षुणा ज्ञातव्यत्वं हानार्थमिति शङ्काया अनन्तरसूत्रसङ्गतिमभिप्रयत्नाह—इतश्चेति ।—

## सू-८ हेयत्वावचनाच्च [१.१.५]

## गूढार्थसंग्रहः

काले प्रधानस्य विनिवृत्तेः ईश्वरकृष्णेनाभिधानेन हेयत्वमुक्तप्रायम् । ' द्रष्टृदृश्ययोस्संयोगो हेयहेतुः ' (यो.सू.२.१७) ' द्रष्टा  
दाक्षिमात्रशुद्धोऽपि प्रत्ययानुपस्थः (१७) तदर्थंप्रव दृश्यस्त्वात्मा (२०) स्वत्वामिदं योः स्वरूपोपलब्धिहेतुस्संयोगः ' (२३  
' तस्य हेतुरविद्या ' (२४) ' तदमावासंयोगाभावो हानम् तद्दृशेः कैवल्यम् ' (२५) ' ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमा-  
प्तिर्गुणानाम् ' (४.३२) ' पुरुषार्थेशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूपप्रतिष्ठापनमिति शक्तिरिति (४.१४) इति  
योग(साङ्ख्यप्रवचन) सूत्रेषु प्रकृतेः हेयत्वं मुक्तिकाले तदसम्बन्धश्च स्फुटः । सद्विद्यायानुपादानस्य ब्रह्मणः उपादेयत्वस्य  
कथेनादेयत्वाकनाच्च प्रधानमिदं ब्रह्मैव सद्विद्यायां विवक्षितं न प्रधानमित्याशयेनाह—इतश्च न प्रधानमित्यादि । अत्र  
सारे ' हेयत्वादध्येयत्वमुच्येत ' इति सूक्तौ अस्मिन्सूत्रे प्रधानस्याध्येयत्वापादनमपि विवक्षितमित्युक्तम् । ' चक्षुः ' ,  
पूर्वसूत्रोक्तहेतुसमुच्चायकः ॥

## श्रीभाष्यम्

यदि प्रधानमेव कारणं सच्छब्दामिहितं भवेत् तदा मुमुक्षोश्चेतकेतोस्तदात्मकत्वं मोक्षविरोधित्वादेयत्वेनैवोपदेयं स्यात् । नच तत्क्रियते, प्रत्युतोपादेयत्वेनैव 'तत्त्वमसि' (छा.६.८.७) 'तस्य तावदेव चिरम्' (७.१४.२) इत्युपदिश्यते ॥

इतश्च न प्रधानम्

## सू.९—प्रतिज्ञाविरोधात् [१.१.५]

प्रधानकारणत्वे प्रतिज्ञाविरोधश्च भवति । चाप्योपक्रमेणैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं

श्रुतप्रकाशिका

न परंप्रत्यानुकूल्याभावमात्रं किंतु प्रातिकूल्यं चास्तीत्याह—प्रत्युतेति । स्थूलोऽहमित्याद्यनुसन्धानस्येव न सदात्मकत्वानुसन्धानस्य हेयत्वं प्रतिपाद्यते अपितुपादेयत्वमेवोच्यते तच्च प्रधानपरत्वेऽनुपपन्नम् । 'अनादिमायया सुप्तः' मायया सन्निरुद्धः 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इत्यादिषु प्रधानप्रस्तावेषु तस्य हेयत्वेनैव प्रतिपादनादित्यर्थः । \* एवं 'तदैक्षत' इत्यादिवाक्यप्रभृतितदुपरितनवाक्यावगतहेतव उक्ताः तेषां समाप्तौ च शब्दः प्रयुक्तः । \* उपादेयतोत्तयनुपोदयतानुत्तयोस्त्वद्वयप्रतिपादितयोरन्वयव्यतिरेकात्मना परस्परसङ्गतयोरेकीकारार्थं इह चशब्दः अनएवहि प्रत्युतेत्यादिना पूर्वसूत्रार्थनिगमनं कृतम् ॥

अथोपक्रमविरोधेऽप्युत्तरवाक्यगतहेतूनां दौर्बल्यात् प्रधानमेव प्रतिपाद्यमिति शङ्का परिहरति—

## सू.९ प्रतिज्ञाविरोधात् [१.१.५]

गूढार्थसंग्रहः

हेयत्वेनैवोपदेयमिति । प्रकृतेः हेयत्व साख्यसम्मतमिति प्रागुपपादनेन तदात्मकत्वमपि हेयमेवेति भावः । जगत्कारणतायाः परमतेऽपि हेयत्वेन कारणत्वेन सच्छब्दाद्युक्तब्रह्मणोऽपि हेयत्वेन उपादेयत्वं न संभवतीति इदमपि सूत्रं परमते प्रतिकूलमेव ॥

प्रतिज्ञाविरोधात् । पूर्वपक्षिणः दृष्टान्तः स्वरूपपरिणामप्रतिपादनेन प्रधानकारणत्वानुकूलः । प्रतिज्ञाऽनन्तरं दृष्टान्तविचारः, प्रतिज्ञायाः प्रधानकारणत्वविरुद्धत्वे ब्रह्मकारणत्वानुकूल्ये दृष्टान्तोऽप्यवस्थामेदेऽपि धर्मैक्येनान्तर्धामित्वपरिणामेन अनुकूलो भवति । एवमत्र प्रतिज्ञादृष्टान्तयोः ब्रह्मकारणत्वानुकूल्यमभिप्रेतम् । अत्र प्रतिज्ञाविरोधमात्रमुक्तम् । प्रकृत्यधिकरणे प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधः वक्ष्यते । तत्र नैयायिकमतेन विशेषतः पूर्वपक्षे तन्निरसनेनैतत्सूत्रार्थविशदीकरणम् । परिणामात् इत्यादौ परिणामिकारणत्वस्यापनच । अत्र परैः हेयत्वावचनाच्च इतिचशब्देन प्रतिज्ञाविरोधस्समुच्चयित इत्युक्तम् । प्रतिज्ञाविचारस्य पूर्वप्रस्तुततया अस्य चशब्दार्थत्व कथम् ? उपादेयत्वहेयत्वमावयोः क्रमेणोक्तौ ब्रह्मणः उपादेयत्वोपदेशस्य चशब्देन समुच्चयो युक्तः । उपक्रमे प्रतिज्ञाया योऽर्थ उक्तः स एव 'तत्त्वमसि' इत्यत्र वक्तव्यः । परमते प्रतिज्ञायामभेदः 'तत्त्वमसि' इत्यत्राभेदश्च नैकरूप इत्युपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्याविरहेण प्रतिज्ञाविरोधो दुर्धरः । सिद्धान्ते तु



## श्रीभाष्यम्

प्रतिज्ञातम् । तच्च कार्यकारणयोरनन्यत्वेन कारणभूतसद्विज्ञानात्तत्कार्यभूतचेतनाचेतनप्र-  
पञ्चस्य ज्ञाततयैवोपपादनीयम् । तत्तु प्रधानकारणत्वे चेतनवर्गस्य प्रधानकार्यत्वाभावात्  
प्रधानविज्ञानेन चेतनवर्गविज्ञानासिद्धेर्विरोध्यते ॥

## श्रुतप्रकाशिका

कस्मिन्नर्थे विरोध इत्यपेक्षा पूरयन्त्याचष्टे । प्रधानकारणत्वइति । त्वन्मतानुगुणत्वेन यदुक्तं तदेव त्वन्मतप्रतिकूलमिति  
सूत्रकारद्वयमिति भावः । कथमित्यत्राह — वाक्योपक्रमेहीति । प्रतिज्ञावाक्ये सर्वशब्दाभावेऽपि 'कस्मिन्नु भगवो  
विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वविज्ञातम्' इति समान  
प्रकरणवाक्यैकार्थ्यात्, 'सर्वा.प्रजा.' इति वक्ष्यमाणस्वारस्याच्च सर्वविज्ञान प्रतिज्ञातमित्युक्तम् । नच सर्वे मृण्मयमिति  
वत् कार्यभूतसर्वाचिद्विज्ञानमेव सर्वविज्ञानमितिवाच्यम् ; 'सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजाः' इति सर्वशब्दसमानाधि-  
करणप्रजाशब्दस्वारस्यावगतानां सन्मूलतया ज्ञातव्यसर्वकार्यान्तर्भावादिति भावः । ततः किमित्यत्राह—कार्यकारणयोरन-  
न्यत्वेनेति । नहि चिदचितोरनन्यत्वमिति भावः ॥

नन्वन्यत्वेप्येकविज्ञानात् सर्वविज्ञानं घटते, पृथिव्यादीनां कार्यतया चिदशस्याकार्यतया च ज्ञानसम्भवादित्यत्राह  
तत्कार्यभूतचेतनाचेतनप्रपञ्चस्येति । मृत्पिण्डतत्कार्यादिदृष्टान्तबलात् 'सन्मूलास्सर्वा.प्रजाः' इति वाक्ये प्रजाशब्द-  
स्वारस्याच्च चेतनस्यापि कार्यतयैव ज्ञातत्वं वक्तव्यमिति भावः । ज्ञाततयैवोपपादनीयमिति । देवदत्तज्ञानेन ग्रामविज्ञान-  
वज्जात्र सर्वविज्ञानमौपचारिक औपचारिकत्वे सर्वविज्ञानस्य लोकदृष्टेन कथनु भगवदिति प्रश्रयोगात् अनन्यभूतमृत्तत्कार्या-  
दिदृष्टान्तमुखेन मुख्यतयैव सर्वविज्ञानोपपादनदर्शनाच्चेति भावः । उक्तविपर्ययेण प्रतिज्ञाविरोध दर्शयति—तत्त्विति ॥

## गूढार्थसंग्रहः

प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरूप्य जिज्ञासाऽधिकरणादेव सम्यङ्निरूपितम् । चेतनवर्गस्येति । अत्राचिजीवयोरुभयोः ब्रह्मकार्य-  
तया प्रतिरन्नयोः एकरूपेणाभेदानुक्तेः परमनेऽपि प्रतिज्ञाविरोधोऽभिप्रेतः ॥

प्रथमसूत्रे—ब्रह्मभेदादेरीक्षतृत्वेन प्रधानव्यावृत्तिः । द्वितीयसूत्रेण अन्तःप्रविश्य नियन्तृबोधकामशब्देन  
नामरूपव्याकरणस्येक्षितृत्वमपि ब्रह्मभेदेक्षितृत्वस्य स्थापकं दृढीकृतम् । अनन्तरं दार्ष्टान्तिकं प्रशासितरि सर्वाभेदः यः  
'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यत्र प्रकृतकाले दृष्टान्तानुसारेण ('इदं घटशरावादिकं पूर्वाह्नि मृत्तिके-  
वासीत्' इत्याक.रकेन) तस्य नामरूपनिबन्धनबहुत्वप्रतिकोटिभूतैकत्वप्रतिपादनमुखेन निर्धारणेन प्रधाने अचिजीवोभ-  
याभेदासम्भवेन प्रधानव्यावृत्तिः प्रदर्शिता । सिद्धान्ते प्रतिज्ञाऽऽनुकूल्यप्रदर्शनेन 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्रम्यः' इति  
सूत्रे स्वरूपपरिणामपरप्रतिज्ञेति वक्ष्यमाणाश्रम्यमतमेव व्याससम्मतमिति भ्रमस्यात्, तन्निरसनार्थं स्वाप्ययात् इति सूत्रम्  
यथा 'सुदीप्तात्पावकात् विष्फुलिङ्गास्सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽधराद्विधास्सौम्यमावाः प्रजायन्ते तत्रैवापि  
त्यन्ति' (सु.द्वितीयमुष्णके १.मन्त्रः) इति श्रुतिः सृष्टिप्रलयप्रतिपादनपरा । अत्र भाषाः जीवाः इत्युपनिषद्भाष्ये परैरपि  
व्याख्यातम् । अत्र 'सरूपाः' इत्यनेन कार्यकारणयोर्नैक्यमापेक्षितं एकरूपवत्त्वमित्युक्तम् । 'सुदीप्तात्पावकात्' इति का-  
रणे प्रकाशाधिक्य कार्यप्रकाशशून्यत्व च दृष्टान्ते उक्तम् । 'यथा तथे'त्यनेन दार्ष्टान्तिकेऽपि प्रमास्यानापन्नधर्मभूतज्ञान-  
विकासाऽधिक्यं ब्रह्मणि विकासशून्यत्वं जीवे विवक्षितमिति प्रतीयते । प्रवेशप्रशासनयोः अन्तर्यामिन्बोधकत्वेनान्तर्या-

श्रीभाष्यम्

इतश्च न प्रधानम्

सू.१०—स्वाप्ययात् (१.१.५)

तदेव सच्छब्दवाच्यं प्रकृत्याऽह—'स्वप्नान्तर्मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषस्वपितिनाम

श्रुतप्रकाशिका

एकविज्ञाने सर्वविज्ञानप्रतिज्ञान कार्यकारणभावनियन्धन सुषुप्तौ परमात्मनि चेतनस्य प्रलयश्च तन्नियन्धन इति कार्यकारणभावनियन्धनवसाभ्यात् सङ्गत सुषुप्तौ लय हेतुत्वेनाहेत्यभिप्रायनाह—इतश्चेति ।—

सू.१०—स्वाप्ययात् (१.१.५)

गूढार्थसङ्ग्रहः

मित्रस्य जीवज्ञानविकासार्थत्वेन दयामूलकत्वं 'हन्ताहमिमा' इतिश्रुतौ 'हन्त'त्यत्र विवक्षितम् । एतच्च 'ओपनिषदपरम-  
पुरुष' इति श्रीसूक्तिविपरणावसरे जिज्ञासाऽधिकरणे (२३२.पु) निरूपितम् । 'यथा सुदीप्ताऽपावकात्' (मु) इति श्रुत्युक्त-  
प्रकारः 'यथाऽग्र. क्षुद्रा विष्कुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेतस्मादात्मनः' इति वाजसनेयिकश्रुतावपि प्रतिपादित । तत्र पूर्वं  
सुषुप्तिनिरूपणावसरे इन्द्रियव्यापारापरमेण जीवानां ज्ञानसङ्कोचः प्रतिपादितः । प्रबोधकाल जीवानां ज्ञानविकासः सर्वानु-  
भवसिद्धः । एव कौपीतकीब्राह्मणेऽपि 'सद्यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतो विष्कुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेतस्मादात्मनः  
प्राणा यथाऽयतनं विप्रतिष्ठन्ते' (कौ.उ.४.१९) इत्यत्रायमर्थः स्फुटः । 'अन्यार्थेतु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपिचैव  
मेक' इति सूत्रे श्रुतिद्वयं विवक्षितम् । अत्र 'अपिचैवमेक' इत्यत्र जीवब्रह्मभेदएव विवक्षित इति परैरप्युक्तम् । 'तदभावो  
नादीषु तच्छ्रुतेरात्मनिच' इत्यत्र जीवस्य सुषुप्तिस्थानत्वं परमात्मन एव वक्ष्यत एतच्छ्रुतं परैरप्ययमेव व्याख्यातम् एतच्छ्रु-  
तिसूत्रार्थः ग्रन्थान्तसारामृते विस्तरेण निरूपितः । एव च जीवब्रह्मभेदएव सुषुप्तौ विवक्षितः । एव प्रलयेऽपि—  
सुषुप्तौ 'तीर्णोहि तदा सर्वान्शोकान् हृदयस्य भवति' (वृ) इति शोकसामान्यविरहस्य सुषुप्तौ प्रतिपादनेन पुनःपितृसंश्लेषद-  
शाया पितृशानेऽपि स्वभावात् दुःखविरहवदन्तर्यामिणः पितृसुषुप्तौ जीवानां संश्लेषेण दुःखविरहबोधनेन दया स्वल्पा  
प्रतिपत्ता घर्मभूतज्ञानस्यातिसङ्कोचेन विकासाभावेन मुक्तादेरलाभ पर्यालोच्य सुषुप्तयनन्तरप्रबोधवत् ज्ञानविकासार्थं परमा-  
त्मनः सृष्टिरित्यर्थस्योपनिषत्तात्पर्याविषयत्वं सिध्यति । छान्दोग्येऽपि 'सदेव साम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रमे प्रलयसृष्टि-  
व्यामिषाय अष्टमपण्डे 'यत्रैतत्पुरुषस्वपिति नाम' इत्यादिना सुषुप्तिं प्रक्रम्य 'सन्मूलासोम्येमा प्रजासदायतनास्तथा-  
तिशः' इति द्विरभ्यस्तवाक्ये सृष्टिरपि कथिता । एवच सुषुप्तिप्रलययोरैकरूपता प्रतिपत्ता । 'सुषुप्तयुक्तान्तोर्भेदन' इति  
सूत्रे स्फुटं जीवब्रह्मभेदं सूत्रकारोऽभिधास्यति । एवचात्मशब्दार्थान्तर्यामिणोऽप्ययस्यैव 'स्वाप्ययात्' इत्यत्र कथनं  
आश्चर्य्यमतं न श्रुत्यनुगुणमिति 'स्वाप्ययात्' इति सूत्रेणापि निर्धारितं भवति । अतश्च नामरूपव्याकरणश्रुत्या अन्तर्या-  
मिणवर्णितामनिबन्धनमेवोपादानत्वमित्यर्थः 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इत्यत्रामन्शब्दो योविवाक्षत तदनिरोधेन अन्तर्या-  
मिष्यप्यय एव स्वाप्ययात् इत्यत्र विवक्षितः ॥

तदेत सर्वमभिप्रेत्याह—इतश्च न प्रधानमिति । प्रलयसुषुप्तयोरैकरूपताश्रुत्याभिप्रेत्याह—तदेव सच्छब्दवाच्यमिति

## श्रीभाष्यम्

सतासोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते रवंह्यपीतो भवति' (छा.६.९.?) इति सुपुतं जीवं सता सम्पन्नं स्वमपीतः स्वस्मिन्प्रलीन इति व्यपदिशति । प्रलयश्च स्वकारणे लयः । नचाचेतनं प्रधानं चेतनस्य जीवस्य कारणं भवितुमर्हति 'स्वमपीतो भवति' आत्मानमेव जीवोऽपीतो भवतीत्यर्थः । चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयत इति नामरूपव्याकरणश्रुत्युक्तम् । तज्जीवशब्दाभिधेयं ब्रह्म सुपुतिकालेऽपि प्रलयकाल इव नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् केवलसच्छब्दाभिधेयमिति 'सता

## श्रुतप्रकाशिका

सच्छब्दस्य जीवोपस्थापकस्वशब्दसमानविषयत्वनिबन्धनाः मर्थान्तरवशङ्का व्युदस्यति । तदेव सच्छब्दवाच्यमिति । जगत्कारणवस्तुविषयएवात्रापि सच्छब्द इत्यभिप्रायः । यत्र यदत्यर्थः । ननु सता सपत्तिः प्रकृतिससर्गोऽस्तु स्वाप्ययोऽपि जीवस्य स्वरूपेऽप्यन्यमिति स्वसच्छब्दयोर्भिन्नार्थस्यादिति नैतद्वाक्य प्रधानकारणताविरोधीति । तदेतत्परिहरन्त्या चष्टे सुपुतमिति । स्वमपीत इतीदं विवृणोति । स्वस्मिन्प्रलीन इति । स्वमिति द्वितीया सतेति तृतीया च फलतस्तति सपद्येति सप्तम्यनुगुणार्थः । व्यपदेशभेदस्तु घातुस्वभावमदादित्यभिप्रायः । अपीतेः प्राप्तिरूपत्वात् द्वितीयानिर्देशः ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति 'यत्प्रयन्त्याभिसंविशन्ति' इति हि श्रुत्यन्तर साहित्यसद्भावात् तृतीयानिर्देशः । सम्पन्न इति कर्मणि निश्चयात् तदानीं सम्पत्तेः प्राप्तिरूपत्वात् सतः कर्तृत्वविवक्षयाऽत्र तृतीया 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इतिवत् अप्ययस्य स्थानसापेक्षत्वात् सप्तमीनिर्देशः । व्युत्पत्तिवशेन प्रलयवाचिना शब्दानां स्थानापेक्षया लुप्तत्वात् सप्तम्यनुरोधेन व्याख्यातम् । एव सम्पत्त्यप्ययशब्दयोः प्रलयपरतयैकार्थ्यमुक्तम् । स्वसच्छब्दयोश्च प्रलयस्थानपरतया ऐकार्थ्यमुक्तम् ॥

अयमभिप्रायः 'सतासोम्य तदा सम्पन्नः' 'सति सम्पद्य' इति ज्ञानिगमनवाक्यमध्यगतस्य स्याप्यवयवकथनस्थानपेक्षितार्थान्तरपरत्वेऽवयववैधट्य स्फुटम् । 'अथैतदापियन्त्यन्ततः' 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' 'तदा सपद्यते ब्रह्म' इत्यादिप्रयोगप्राचुर्यादप्ययसम्पत्तिशब्दस्वारस्योपस्थापितस्य प्रलयस्य स्थानप्रतिपादकत्वात् स्वसच्छब्दयोरेकार्थपर्यवसायस्य सूचितम् । 'जीवेनात्मना' 'तत्त्वमसि' इति जीवात्मशब्दयोः च तच्छब्दयोरिव च स्वसच्छब्दयोरपि जीवरूपेण स्वेन रूपेण चावस्थितकारणवस्तुविषयतयैकार्थपरत्वं प्रकरणवशादप्युचितम् । \* जीवादर्थान्तरे सति तस्य स्थानापत्तिशङ्कापरिहारार्थं स्वशब्दाभिधेयस्य तस्य स पर्यन्तताप्रतिपादनस्यापेक्षितत्वाच्च तयोरेकार्थत्वं युक्तमिति । अस्तु प्रलयस्थानोपस्थापकयोः स्वसच्छब्दयोरेकार्थ्यं तत्तु स्वशब्दस्य स्वीयपरत्वेन स्वसच्छब्दयोरुभयोरपि प्रधानपरत्वेऽप्युपपद्यत इत्यत्राह—प्रलयश्चेति । कार्यतारूपविसृष्टावस्थाग्रहाणेन कारणान्तर्भावो हि लयः । तत किमित्यत्राह—नचेति । अचे

## गूढार्थसंग्रह

अपिपूर्वकः इण्घातु प्रलयपर इति प्राह—स्वस्मिन्नित्यादि । 'स्वमपीत' इत्यत्र स्वशब्दे जीवब्रह्माभेदो विवक्षित इति भ्रम निरस्यति प्रलयश्चेति । 'सदव' इत्यत्र नामरूपवद्बुधप्रतिकोऽभूतैकत्वमुखेन यथा प्रलयः स्वकारणे तद्वत् सुपुतावापि स्वोपादानकारणे लय इत्यर्थः । गदाघटनागेशाभ्यां स्वशब्दस्य पूर्ववाक्यसमभिव्याहृतपदोपस्थाप्ये शक्त्यङ्गीकरणे सच्छब्दार्थस्यैव आमपदार्थं वन पूर्ववाक्ये उपस्थापितएवात्र आमन्त्रशब्दार्थः इत्यभिप्रेत्याह—आत्मानमेवेति । अथापि जीवब्रह्माभेदभ्रमो न निवृत्त इति शङ्कायामाह—चिद्वस्तुशरीरकमित्यादि ॥

### श्रीभाष्यम्

सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा.६.८.१) इत्युच्यते । तथा समानप्रकरणे नामरूपपरिष्वङ्गाभावेन प्राज्ञेनैव परिष्वङ्गात् । 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं पिञ्च न वेद नान्तरम्' (वृ.६.३.२१) इत्युच्यते आमोक्षाज्जीवस्य नामरूपपरिष्वङ्गादेव हि स्वव्यतिरिक्तविषयज्ञानोदयः । सुषुप्तिकाले हि नामरूपे विहाय सता सम्परिष्वक्तः पुनरपि जागरदशायां नामरूपे परिष्वज्य तत्तन्नामरूपो भवतीति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमभिधीयते 'यदा सुतस्वप्नं न कञ्चन पश्यति अथहास्मिन्प्राण एवैकधा भवति एवमेतस्मादात्मनःप्राणा यथायथं विप्रतिष्ठन्ते' (कौपीतकी.४.१९) तथा 'तदह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा चराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति' (छा.६.९.३) इति च । तथा सुषुप्तं जीवं 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' (वृ.६.३.२१) इति च वदति ।

### श्रुतप्रकाशिका

तनम् अचिन्त्वादित्यर्थः । स्थूलावस्यस्य जीवस्य सूक्ष्मावस्य स्वकारणीभूते सत्तायोगिनि स्वात्मनि लयोपपत्तेस्तच्छब्दस्य तत्परत्वं संभवतीति शङ्का व्युदसितुमाह—तथा सुषुप्तमिति । सृज्यदेहेन्द्रियानपेक्षेक्षणादिगुणकपरमकारणविषयत्वात् तांसादिध्रुवन्तरानुगुण्याच्च नात्र सच्छब्दोऽतिसङ्कुचितज्ञानसूक्ष्मावस्यजीवमात्रविषय इत्यभिप्रायः ॥

ननु नित्यस्य जीवस्य लयोऽनुपपन्नः कार्यकारणयोरनन्यत्वात् जीवविलक्षणस्य परस्य तत्कारणत्वायोगात्, तास्मिन् जीवस्य लयश्चानुपपन्नः । नैवम् । सर्वदा जीवविशिष्टस्य परमात्मनोऽवस्थाविशेषरूपकार्यकारणभावोपपत्तेः । तथाहि—'स्वमपीत' इत्यत्र स्वशब्दस्तावन्नजीवमात्रपरः 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' इति स्वशब्दस्य सच्छब्दसमानविषयत्वात्, सच्छब्दस्यचास्मिन्प्रकरणे परमात्मविषयत्वात्, \* नापि निष्कृष्टब्रह्मपरः नित्यनिर्विकारस्य तत्सोपादात्वायोगेनाप्ययस्यानन्वायोगात् । कार्यस्य हि प्रलय उपादान एव । अतो जीवरूपेणावस्थितपरममात्मनः

### गूढार्थसङ्ग्रहः

प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त इति । अत्र बाह्यान्तरविषयज्ञानविरहस्य संपरिष्वङ्गस्य च प्रतिपादनं नामरूपपरिष्वङ्गाभावः परमात्मना नीर-प्रसंश्लेषश्च जीवस्य प्रतिपादितः । अत्र संपरिष्वङ्गप्रतिपादनेन जीवब्रह्माभेदव्यावृत्तिसिद्ध्या अत्र स्वशब्दमात्रेण न जीवब्रह्माभेदसिद्धिरिति भावः । यदासुप्त इत्यादि । एतदादि कौपीतकिवाक्यानामर्थनिर्णयेन जीवब्रह्माभेदः तत्र सर्वा मना न श्रुतिता पर्यविषय इति त्रय्यन्तसाराभूते निरूपितम् ॥

तदह व्याघ्रो वा इत्यादि । सुषुप्तेः पूर्वमेव व्याघ्रादिनामरूपज्ञानं ननु सुषुप्तौ । सुषुप्तेः पूर्वकाले योऽयं नामरूपपरिष्वङ्गः सुषुप्तयनन्तरप्रबोधे स एव परिष्वङ्ग इति सुषुप्तिपूर्वकालिकाहमर्थस्य सुषुप्तयुत्तरकालिकाहमर्थस्य च ऐक्यप्रत्यभिज्ञया सुषुप्तावप्यहमर्थान्मसिद्धिः 'स एवतु कर्मानुस्मृति' सूत्रे अनया श्रुत्या निर्णयते । अत्र सुषुप्तौ व्याघ्रादिनामरूपज्ञानाभावः एतच्छ्रुत्याऽपि सिद्धयतीति एतच्छ्रुत्युपादानम् । प्रबोधकाले देवादिनामरूपज्ञानं नदशायामेव स्वव्यतिरिक्तविषयज्ञानम् । प्रबोधे धर्मभूतज्ञानविकासेन देवादिनामरूपसम्बन्धेन तज्ज्ञानं वर्तते । सुषुप्तौ इन्द्रियव्यापारोपरमेण धर्मभूतज्ञानसङ्कोचेन धर्मभूतज्ञानस्य देवादिरूपसम्बन्धाभावेन आत्मव्यतिरिक्तविषयज्ञानविरहः । एतेन सुषुप्तावपि तद्वद्व्या नामरूपविभागभावेन प्रलयेऽपि नामरूपाविभागाभावात् उभयोरैकरूप्यम् ॥



## श्रुतप्रकाशिका

रय उक्तव्यम् । तत्रापि न श्रुतौ रजतस्यैव लय तस्यैव जीवस्य स्वरूपनिवृत्तिप्रसङ्गात् । नापि महाकाशे घटाकाशस्यैव लय देहाद्युपाधेरस्थितत्वात् । नापि स्थितितले घटस्यैव लय घटवस्यैव जीववस्य प्रहाण जीवानित्यवश्रुतिविरोधात्-उपाधेरस्थितत्वेन जीवप्रहाणायागादामोक्षावस्थायितयाऽभिमतस्य जीवभावस्य स्वापमात्रेण निवृत्तौ मोक्षोपायवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अकृताभ्यागमादिप्रसङ्गात् । प्रत्यभिज्ञाप्ररोधात् 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिप्वक्तो नवाह्य किञ्चन वेदनान्तरम्' इति तदानीमज वसर्वज्ञ वाग्या भेदव्यपदेशाच्च जीववे स्थितएव स्वाप्ययस्य सर्वैरभ्युपगन्तव्यत्वात् । अता भेदादव स शब्दा जात्रावशिष्टपरमा मपर । अतएव ह्युक्त सार 'आत्मानमेव जीवोऽपीतो भवति' इत्यर्थः । जीवस्वरूपादिपरएव नामरूपव्याकरणश्रुतारात । तस्य सपत्तिर्नाम बहिर्मुखज्ञानप्रसरविरहितजीवरूपेणावस्थानम् । निगमानामप्रहिर्मखश्च न प्रसर

ननु कथं दहविशिष्टस्य सतो जावस्य स्थितं दहं विशेष्याशल्यं, नैवम् विशेष्याशे रागद्वेषाद्यन्वयवत् तत्रैव प्रत्यक्षरूपावस्थानव्यापपत्तः । ननु स्वापज्ञानन देहधारणाभावात्, \* स्वरूपेण धारणस्य महाप्रत्ययऽपि तुल्यत्वादहस्य जावप्रत्ययप्रकृतिद्विदेहलक्षणं च न घटते । न \* जावस्य दहापरित्यागात् देहस्य तसङ्कल्पनं \* धारणयाग्यं च चापृथक्सिद्धिदेहलक्षणोपपत्तेः । अता मनुष्यादिनामरूपाभिमानरागलाभाद्यनुगुणबहिर्मुखज्ञानप्रसरवजागरितावस्थनीवविशिष्टं परमात्मदेवमनुष्यादिनामरूपरागद्वेषलोभमाहाद्यौपाधिकबाह्याभ्यंतराकाराभिमानकाऽप्यविरहितजीवशरीरकरसज्जामयत्भूत इति श्रुत्यर्थः अप्ययस्य प्राप्तिरूपत्वात् सार आत्मा मिति द्वितीयानिर्देशः । अप्ययस्य स्थानसोपेक्षत्वात् स्वस्मिन्प्रलीनइत्युक्तमाध्यः । एकस्य परमात्मनस्थानस्थानिभावव्यपदेशश्चाशभेदाभिप्रायः घटादेर्यस्थानस्य घटानुपयुक्तस्यापि पृथिव्यशस्यैव कारणजाताय वात् कारणं व ब्रह्माणितु जीवविशेषविशिष्टतदितरागस्य स्थानस्थानिभावो घट्यैक्यात् कारणवत्, कारणावस्थावयिनि घटिष्यन्तर्भावस्सर्वत्र समानः औपाधिकाकाराभिमानानुगुणज्ञानविकासवज्जीवविशिष्टता कार्यावस्था अतदभिमानजीवविशिष्टता कारणावस्था तत्र लयस्थानभूतस्य परमात्मनः कारणावस्थापक्षया लीयमानाशस्य विसदृशावस्थाहि नामरूपाद्यौपाधिकाकाराभिमानानुगुणज्ञानप्रसरवज्जीवविशिष्टता तस्मादौपाधिकाकाराभिमानजीवविशिष्टतारूपकारणावस्थेयै स्वात्मन्यवस्थान स्वाप्यय इत्युपपन्नम् । अतएव जीवस्य नित्यत्वाविरोधश्च । ज्ञानसङ्कोचविकासविशेषव्यतिरिक्तं जीववप्रहाणाभागात् आमोक्षाज्जावभावस्य स्थिरवहिः परैरभ्युपगमः । अतस्तदविरोधेन स्वाप्ययो वर्णनीयः । तदानीं 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिप्वक्तो नवाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्' इति भेदप्रतिपादनाप्ररोधश्चैरसति भवति । एवविध एव प्रलया महाप्रलयोपीत्यभ्युपगमनयम्, जीवगुणवानादिवर्कर्मवासनाविशेषसिद्धयुपगमनं वैभ्यनेर्घृण्यादेः परिहर्तव्यत्वात् ॥

नच 'न मिज्ञातुर्मिज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति ज्ञाननित्यवश्रुतिविरोधः तस्य सङ्काचमात्रवत्सुष्ठुत्वाभावात् नच प्रसरापलभ्यारभावात् ज्ञानद्वयस्य तुल्यत्वं शङ्कनीयम् । नह्यनुल्लिखितरजप्रमाया प्रसरापलभ्यारभावात् सिद्धम् ।

यथा नक्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणे । दोषप्रहाणान्नज्ञानमात्मन क्रियते तथा ॥

इतिहि स्मृतिः । आत्यन्तिकप्रलयऽपि यथातत्प्रकार उपपद्यत तदानीं नामरूपाद्यौपाधिकाकाराभिमानरूपविरहितप्रत्ययज्ञानेन कारणावस्थेय परमात्मन्यवस्थानात् । औपाधिकाकाराभिमानाहंवरूपकार्यावस्थाविरहितजीवविशिष्टवहिः स एव जावस्यावस्थानं विवृतिविरहितजीवविशिष्टमिति यावत् । तमहाप्रत्ययमुक्तौ च समानम् ॥

ननु 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिप्वक्तो नवाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्' इति सुषुप्तौ प्राज्ञराशे वरूपैरभ्युपगमनाभावेनैव वागतेत्यवगातोभ्यस्त्यभ्युपगमात् । अतदभिमतप्रलयप्रकारोऽनुपपन्नइति । नैवम् । कारणरूपावस्थेय

## श्रीभाष्यम्

तस्मात् सच्छब्दवाच्यः परं ब्रह्म सर्वज्ञः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव । तदाह वृत्तिकारः—  
'सना सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेतदध्यवसीयते 'प्राप्तेनात्मना  
सम्परिप्लवक्तु' इति चाहेति ॥ —इतश्च न प्रधानम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

विमदशाभ्याया विवक्षितत्वात् । नामस्याशेषाधिकाराभिमानविरहितजीवविशिष्टता कारणावस्था तदपेक्षया विमद-  
शाभ्यानां तादृगभिमानवजीवविशिष्टता । त-प्रहाणस्य चात्र विद्यमानत्वात् सुषुप्तौ लय उपपन्नः मोक्षेनेति तद्व्यवहारिकारेण  
नेष्य नान्यन्निकप्रत्ययविराधि ईशितव्यताया अभ्यास्यभावात् । कादन्ति-कथमोक्षमस्या, ईशितव्यतादित नित्यम्  
'स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय' 'यस्यात्माशरीरं यथात्मानमन्तरो यमयति'  
इत्यादिश्रुतः । अतो नेशितव्यत्वादिकमवस्येति वैधर्म्यरूपस्यापि तस्याप्रहाण नदोषः अतो घञोक्त एव स्वाप्ययः ॥

सौम्यं हेतु परमसाध्यं सङ्गमयति तस्मादिति । अप्ययस्यानस्य परमकारणत्वमाह—परं ब्रह्मेति । जीवव्यावृत्त्यर्थं  
सर्वज्ञशब्दः । 'प्राप्तेनात्मना' इति हि श्रुतिः 'तदैक्षत' इत्येतत्संवादिनी । अप्ययेऽपि जीवनि यन्तृत्वज्ञापनार्थमीश्वरो  
त्तीर्णं तत्त्वव्युदासार्थं च परमेश्वरशब्दः । सुषुप्तपुरुषवैलक्षण्यपरो देवताविशेषपरश्च पुरुषोत्तमशब्दः । \* व्याख्यानान्तर  
व्यावृत्त्यर्थमाह—तदाहेति । सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामिति । 'सतिसंपद्य न विदुस्सति संपत्स्यामहे' इति संतआ-  
गम्य न विदुस्सत आगच्छामहे इत्युक्ताभ्यां संपत्तिनिर्गमाभ्यामित्यर्थः । \* यद्वा परमात्मनि संपत्त्या अन्यत्रासम्पत्त्या-  
चेत्यर्थः । स्वाप्ययशब्देनासम्पत्तिरप्यभिप्रेतति \* वृत्तिकारस्य भावः । एतत् परब्रह्मकारणत्वमित्यर्थः ॥

\* पूर्वसूत्रे 'प्राप्तेनात्मना' इत्यादेस्सुषुप्तिविषयस्य श्रुत्यन्तरस्य प्रकृतार्थोपपादकतया बुद्धिस्तथात् कारणस्य  
परमात्मत्वमपि कारणविषयैश्श्रुत्यन्तरैरुपपाद्यते—

## गूढार्थसंग्रहः

तदाह वृत्तिकार इत्यादि । 'सना सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रुतौ 'तदैक्षत'नेन संपत्तिः न सार्वादितीति  
बोधितम् । नवमदशमपण्डयोः 'सति संपद्यनविदुः' 'सत आगत्यनविदुः' इति वाक्यद्वयेन संपत्तेः जीवगमनपूर्व-  
कं च जीवनिर्गमनान्तरमसम्पत्तिश्चेत्युभय प्रतिपन्नम् । 'गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च' (१.३.५.१५) इति सूत्रे  
'यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादको गतिशब्दो भवतः' इमास्सर्वाः प्रजा अहर्हर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न  
यिन्दन्ति' इति । तत्र प्रकृतं दहर ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना  
दहरस्य ब्रह्मना गमयति । तथाह दहरजीवानां सुषुप्तवस्थायां ब्रह्मविषय गमनदृष्टं श्रुत्यन्तरे 'सना सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'  
इत्येवमादौ' इति (श) भाष्ये उक्तम् । अत्र छान्दोग्यश्रुत्योरनयोरकार्यत्वं सूत्रकृतसम्मतमिति स्पष्टं वक्तव्यम् । परमते  
दहरविद्या सगुणविद्या, सद्विद्या निर्गुणविद्या अयमर्थस्सूत्रकृतः नैव समतः । 'सुषुप्तयुक्तान्लोभेदेन' इति सूत्रे ब्रह्मणि  
जीवभेदस्य स्पष्टमभिधानात् । तत्र विवक्षितमेव श्रुतिमुदाहरति—प्राप्तेनात्मना सम्परिप्लवक्तु इति चाहेति । 'प्राप्तेना  
त्मना संपरिप्लवक्तुः' इति श्रुतिः अस्मिन्सूत्रे परैरप्युदाहृता । एवस्थिते सूत्रकारसिद्धान्ते 'स्वमपीतो भवति' इति श्रुतौ  
'स्वाप्ययात्' इति सूत्रे च जाग्रद्ब्रह्मभेदः विवक्षित इति कथं वक्तुं शक्यते । 'सुषुप्तयुक्तान्लोभेदेन' इति सूत्रं तद्विषयवाक्य  
विरोधात् । 'तत्त्वमसि' इति नवमः अभ्यासमात्रेण न परसमनः जीवब्रह्मभेदसिद्धिः । छान्दोग्य एव पूर्वं 'सर्वेष्वस्त्विदं ब्रह्म

## श्रीभाष्यम्

### सू ११=गतिसामान्यात् (१.१.५)

#### गूढार्थमप्रदः

तज्जलानिति शान्त उपासीत ' इति श्रुतौ अग्निदिविशेषणैव जीवस्य ब्रह्माभेदस्य स्फुटमभिधानात् । उपादानोपादेयभावनि-  
बन्धनएवोभयत्राभेदः सोऽप्या मत्वेनैव । ' यस्मिन्मर्त्याणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कश्चोक्तः एकत्वमनु-  
पश्यतः ' इत्यत्र ईशावास्योपनिषदि एकत्व, ' यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति सर्वभूतेषु चा मानम् ' ' ईशाऽऽवा-  
स्यमिदं सर्वम् ' ' तदन्तरस्य सर्वस्य ' इत्याद्युक्तरीत्या अन्तःप्रविश्य नियन्तृत्वनिबन्धनमिति प्रतिपादितमिति प्रागेवोक्तम् ।  
अयमर्थः त्रय्यन्तसारामृते निरूपितः । इममर्थमभिप्रेत्यैवाहसा व्रत्तिकारः—सर्वैरुल्लिखति सर्वात्मा ब्रह्मेश इति ॥

एतेन सर्वत्राभेदवाक्येषु ईशाभेदएव जीवस्य विशिष्टः नतु परसमतनिर्दिशेयचिदभेदः इति सूचितम् । शाण्डि-  
ल्यविद्यायामिव ' एषम आत्माऽन्तर्हृदय ' इति त्रिवारमभ्यस्तवाक्ये जीवभेदेनैव ब्रह्मण्यात्मन्य प्रतिपादितम् । ' शब्दादि-  
शेषात् ' इति सूत्रे भेदः परैरप्यभिहितः, एवं ' स्मृतेश्च ' इति सूत्रे ' ईश्वरस्सर्वभूतानाम् ' इति तद्विषयगुणितश्लोके च जीव-  
ब्रह्मभेदो विवक्षित इति परैरप्युक्तम् । एतेन ' सत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ' ' एषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ' इति द्वाविं-  
शतिवारं चतुर्विंशतिवारमभ्यस्तयोः काण्व माध्यन्दिन अन्तर्यामिब्राह्मणवाक्ययोः जीवब्रह्मभेद एव विवक्षित इति निर्म-  
लसैरवश्यमभ्युपेयम् । एवं ' उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ' इति सूत्रेऽपि । अतएव ' गुहा प्रविष्टायाः मानौहि रदृश-  
नात् ' इत्यत्र ' आत्मानौ ' इति द्विवचनेन हृदयगुहासंक्रन्धः जीवपरयोः प्रतिपादितः । एतद्विषयवाक्ये ' श्रुतपित्रन्तौ '  
इति कर्मफलभोक्तृत्वं ' द्वासुपर्णा ' इति श्रुत्यनुसारेण परमात्मनि प्रयोजककर्तृत्वेनोपपादनीयम् । ' द्वासुपर्णा ' इति श्रुतिः  
मुण्डकश्वेताश्वतरोपनिषदोरिव ऋक्संहितायामपि पठिता । तत्र एतच्छ्रुत्युत्तर परमात्मनः पितृत्वं जीवस्य पुत्रत्व जीवस्य  
पितृज्ञानाभावे पितृप्राप्तिशून्यत्वमपि प्रतिपादितमित्ययमर्थः जिज्ञासाऽधिकरणे (७६५.पु) निरूपितः । एतच्छ्रुतितात्पर्ये च  
' अर्मकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च ' इति सूत्रे सूत्रकारस्सूचयति । ' अल्पोकस्त्वात् ' इत्यनभिधाय ' अर्मकौकस्त्वात् ' इत्युक्त्या  
अर्मकस्य ओकः तदेव ओकः यस्य तत् अर्मकौकः ब्रह्म ' ओकस्सज्ञे ' त्यमरकोशेन (नानार्थवर्ग) ओकश्शब्दस्य गूढार्थ-  
कत्वम् । एतेन परजीवयोः पितृपुत्रभावः बोधितः । ' विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ' इति तत्पूर्वसूत्रे दयारूपगुणस्यापि विव-  
क्षितत्वेन परस्य हृदयस्थितेः दयामूलकत्वादिसिद्धयतीत्यपि जिज्ञासाऽधिकरणे निरूपितम् । एव च ' एषम आत्माऽन्त-  
र्हृदय ' इत्यादिश्रुतिविरोधेन ' सर्वैरुल्लिखत ब्रह्म ' इत्यत्रोक्ताभेदनियामकव्यातिरिक्तनियामककल्पनासम्भवेन च ' तत्त्वमसि '  
' अनेन जीवेनात्मना ' इत्यत्र परसमतजीवब्रह्माभेदः नैव विवक्षितः । सुषुप्तावन्तःकरणलयादिरसभवस्य पूर्वमेवोपपादनेन  
' सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' इत्यादौ अनौपाधिकगमनस्य प्रतिपादनेन च स्वाप्ययात् इत्यत्र जीवब्रह्माभेदो नैव  
विशक्षित इति सिद्धयति ' सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेतदध्यवसीयते ' इति वृत्तिवाक्ये जीवकर्तृकसपर्यसम्पत्तिसन्नधिजीव-  
मित्र सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मनिश्चीयत इत्यर्थः ॥

इयद्विस्मृतेः सद्विद्यावाक्यगतहेतुभिः प्रधानवैलक्षण्यं जगत्कारणस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितम् । ' गौणश्चेन्नात्मशब्दात् '  
इत्यत्रात्मशब्देन चेतनवाचिना ईक्षणाश्रयस्य प्रधानवैलक्षण्यं निरूपितम् । सद्विद्यायामात्मशब्द निर्दिश्य तदर्थस्य कार-  
णत्वप्रतिपादनं नास्ति । आत्मशब्दानिर्देशेन तदर्थस्य कारणत्वप्रतिपादकोपनिषदन्तरवाक्यैरपि जगत्कारणस्य प्रधानवैल-  
क्षण्यं प्रतिपादयति—गतिसामान्यादिति ॥

## श्रीभाष्यम्

‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् सर्वक्षत लोकांस्तु सृजा’ इति ‘स इमान् लोकांस्तु सृजत (पेत.१.१) ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी’ (तै.आनन्दवह्नि.१) ‘तस्यह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद्यद्वेदः’ (सुवा.२) इत्यादिमृष्टिवाक्यानां या गतिः प्रवृत्तिः, तत्सामान्यान् तत्समानार्थत्वादस्य ; तेषु च सर्वेश्वरः कारणमवगम्यते । तस्मादत्रापि सर्वेश्वर एव कारणमिति निश्चीयते ॥ इतश्च न प्रधानम्-

## सू १२-श्रुतत्वाच्च (१.१.५)

## श्रुतप्रकाशिका

## सू ११-गतिसामान्यात् (१.१.५)

पूर्वे गौणश्चेन्नात्मशब्दात् इत्युक्तत्वादात्मशब्दवती. श्रुतीरुदाहरति आत्मावा इत्यादिना । तस्यहवा एतस्य इत्यत्रात्माशब्दश्च श्रूयते ‘आत्मावा अरे द्रष्टव्यः’ ‘आत्मनि खल्वरे दृष्टे’ ‘योऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेद’ इति च । गतिशब्द व्याचष्टे-प्रवृत्तिरिति । बोधनव्यापारपरः प्रवृत्तिशब्दः ‘भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानाम्’ इत्यत्र प्रवृत्तिशब्दवत् । समानत्वमर्थद्वारकमित्याह—तत्समानेति । ततः किमित्यत्राह—तेषुचेति । ततोऽपि किमित्यत्राह—तस्मादिति न केवलमुपनिषदन्तरेषु अत्रैव सर्वेश्वरकारणत्व स्फुटमित्याह—

## सू १२-श्रुतत्वाच्च [१.१.५]

## गूढार्थसंग्रहः

सर्वक्षतलोकांस्तु इत्यादि । प्रथमसूत्रे ईक्षणानन्तरमेव सृष्टि प्रतिपादिता इत्यशोपपादनाय एतद्वाक्योपादानम् । अत्रतु आत्मशब्देन निर्दिश्य तस्य कारणत्वप्रतिपादकत्वेन एतद्वाक्योपादानम् । अतएव पूर्वे ‘आत्मा वा इदम्’ इति वाक्यस्यानुपादानम् । तस्य हवा एतस्य महतो भूतस्येत्यादि । एतत्पूर्वे ‘आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः’ इति वाक्यसत्त्वेन (वृ.६,५६) आत्मशब्दार्थस्यैवात्र कारणत्व विवक्षितम् । कारणत्वान्वयर्थक आत्मशब्दघटितोपनिषद्वाक्यप्रवृत्तिसामान्यात् इति सूत्रार्थः । सद्विद्याया च कारणत्वान्वयर्थक आत्मशब्दो नास्ति । गतिसामान्यात् इत्यत्र सामान्यशब्दप्रयोगेण उपनिषदन्तरवाक्यानि विवक्षितानीति सूचितम् । एतन् एतदुपनिषद्विषयकत्वं श्रुतत्वाच्च इति सूत्रस्यापि व्यञ्जितमवति श्रुतत्वाच्च इति सूत्रे दीपसारयोः ‘आ मतः प्राण’ (छां.७. ) इत्यादिछान्दोग्योपनिषद्वाक्योपादानेन आत्मशब्दनिर्देशपूर्वकं तदर्थस्य कारणत्वस्य श्रुतत्वेमेतत्सूत्रे विवक्षितम् । षष्ठे सद्विद्याया कारणत्वान्वयर्थक आत्मशब्दाभावेऽपि छान्दोग्य एव सप्तमे भूमविद्यायां कारणत्वान्वयर्थक आत्मशब्दस्य श्रुतत्वाच्चेति दीपसारपत्रेऽर्थः, माध्यमक्षेत्रे पूर्वसूत्रे एव ‘आ मतः प्राण’ इत्यादिकारणत्वान्वयर्थक आत्मशब्दघटितवाक्यस्य पूर्वसूत्रेणैव विवक्षितम् । श्रुतत्वाच्च इत्यत्रात्मशब्दव्यतिरिक्त-प्रधानव्यावर्तकधर्माणां श्रुतत्वं विवक्षितम् । तच्च धर्मा, अस्यामुपनिषदि प्रतिपादिता, एवमुपनिषदन्तरेऽपि ॥



### भीमाप्यम्

श्रुतमेव ह्यस्यामुपनिषदि अस्य सच्छब्दवाच्यस्य आत्मत्वेन नामरूपयोर्व्यापकत्वं सर्वशक्त्यं, सर्वशक्तित्वं, सर्वाधारत्वं, अपहृतपाप्मत्वादिकं, सत्यकामत्वं, सत्यसङ्कल्पत्वं च ‘अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणाणि’ (छां.६.३.२) ‘सन्मूलास्तोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः’ (छां.६.८.६) ‘पेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वत्वं स आत्मा’ (७) ‘यथास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्ममाहितम् । तस्मिन्नामास्समाहिताः’ (छां.८.१.३,५) ‘एष आत्माऽपहृतपाप्मा विजरो निमृत्युर्विंशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः’ (८.१.५) इति ॥ तथाच श्रुत्यन्तराणि ‘न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोकेनचे’ शिता नैव च तस्य लिङ्गम् । सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः’

### श्रुतप्रकाशिका

आत्मत्वेन नामरूपव्याकर्तृत्वं दर्शयति अनेन जीवेनेति । सर्वशक्त्यं सर्वशक्तित्वे ‘तदैक्षत बहुस्याम्’ इत्यादिव्याक्येन पूर्वमेव दर्शिते सन्मूला इति सूचिते च । आधारत्वं दर्शयति सदायतनाइति यथास्येति च । धारकत्वं चात्मत्वेनेति दर्शयति पेतदात्म्यमिति । नह्यत्र कारणतया कर्त्तृधारत्वमात्रं विवक्षितमिति भावः । यज्ञेत्यादिकं सत्यकामत्वप्रतिपादनोपयुक्तं च । अपहृतपाप्मत्वादिगुणान् दर्शयति एष आत्मेति । उक्तगुणवैशद्यार्थे, अनुक्तगुणदर्शनार्थं तद्वत् ईश्वरत्वदेवता विशेषत्वस्फुटीकरणार्थं च पूर्वसूत्राभिप्रेतान्यनुदाहृतानि । श्रुत्यन्तराण्युदाहरति तथाचेति । • नवेतः सूत्रवाक्यविषयत्वेन अस्य सूत्रस्य छान्दोग्योपनिषन्मात्रविषयत्वं दीपसारयोरापि द्युक्तं ‘श्रुतमेव ह्यस्यामेवोपनिषदि’ इति । नात्र क्रमविषया लिङ्गं शरीरं ‘नाशब्दम्’ इत्युपक्रमसूत्रानुरोधेन प्रधानस्याप्रतिपाद्यत्वं निगमयति—

### गूढार्थसंग्रहः

अत्र सूत्रद्वयस्य विषयभेदे उक्तरीत्या सिद्धेऽपि गतिसामान्यात् इत्यत्रोपनिषदन्तरस्य विवक्षायाः स्फुटत्वेन श्रुतत्वाच्च इति सूत्रे एतदुपनिषदि श्रुतत्वस्य विवक्षायाः प्रतीतावपि उपनिषदन्तरे पूर्वोक्तार्थातिरिक्तार्थान्तरस्य श्रुतत्व विवक्षितमिति (ब्र.वि.आ., न्यायरश्चामणिः) परोक्तिरभिनिवेशमूलैव ॥ चशब्देन उक्तानामर्थानामुपनिषदन्तरेऽपि श्रुतत्व विवक्षितमित्यभिप्रेत्याह—तथा च श्रुत्यन्तराणीति ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति इत्यादि । ‘तमीश्वराणां परममहेश्वरम्’ इति पूर्वश्रुतिः । तत्र सर्वेषामीश्वरत्व सर्वेषां तत्त्वं च प्रतिपादितम् । अस्यापि ईशिता कश्चि स्यादिति शङ्कायाः निरासः पूर्वार्धे, उत्तरार्धे च कारणत्वमभिधाय अस्य कारणान्तरं नास्तीत्युक्त्या एकस्यैव सर्वकारणत्व सिद्धम् । एतेन उपनिषदुपक्रमे ‘क्षरप्रधानममृताक्षर हरः क्षराभ्यानावीर्येति देव एकः’ इत्यत्र प्रधानविशेषेण जीवस्यापि नियामकत्वं देवस्य यदुक्तं तत्प्रतिष्ठापितं भवति । एतेन ‘नान्योऽतोऽस्ति ब्रह्मा’ इति श्रुतौ ‘नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निविध्यते’ इति वृत्तिकारमते ‘प्रसक्त्यभावात्’ इत्यन्तर्याम्याधिकरणे (श) प्राप्योक्तिर्निरवकाशा । अत्र सामान्यनिषेधो न विवक्षित इत्यादिकं अप्रैव पूर्वं भावप्रकाशेन निरूपितम् । ‘यईशेऽस्य तग्नो नित्यमेव नान्यो हतुर्विद्यत ईशनाय’ इत्युत्तरश्रुत्यादिकं परसमतार्थप्रतिकूलमिति बहुत्र प्रतिपादितम् । श्रुताश्रयतो निषेदि ईशादिशब्दयौगिकार्थस्योपक्रमप्रभृत्यभ्यासेन तत्र ता पर्यानिश्चयेन ‘स्वामी श्रीश्वर.पतिरीशिता’ इत्यादिकोशोत्तायेन ‘प्रोक्षणीष्वर्थसयोगात्’ (जै.सू.१.४.१.११) इतिनयेन सर्वप्रयोगोपपत्तौ पृथग्युक्तिकल्पनं केषांचिदभिनिवेशमूलकमेव

### श्रीभाष्यम्

'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' (तै.आ.पुरुष.३.१२.१३)  
'अन्तःप्रविष्टदशास्ता जनानागँसर्वात्मा' (तै.आ.३.२१.२१) 'विश्वात्मानं परायणम् ।'

### गूढार्थसंग्रहः

अतएव गीतादावीश्वरशब्दानां 'ईशानशीलो नारायणः' इति गीता (शं) भाष्ये, विवरण अन्तर्यामिब्राह्मणभाष्ये (शं) नारायण इत्युक्तिः, सुरेश्वरवार्तिके—'कृष्णद्वैपायनो व्यासः चेदात्मा ध्वान्तहानिकृत् । प्राहेममेव बहुशः प्राणिना हित-  
काङ्क्षया ॥ नारायणः परोक्ष्यक्ता दण्डमव्यक्तसम्भवम् । अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपाच मेदिनी ॥' (वृ.वा.५.७.३९,  
४०) इत्याद्युक्तिः, 'आलोक्ष्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणस्सदा ॥' इति  
महाभारतान्ते मगधता श्रीवेदव्यासेनोपसंहारः, 'हरिकेशसदा ध्येयः भवद्भिस्त्वसत्त्वस्थितैः । ओमित्येव सदा विप्राः  
पठन् ध्यात केशवम् ॥' (१.८९.८) इति हरिवंशे केन्यासयात्रायां हरिकेशो ध्यातव्य इत्युक्तं श्रीमहेश्वरेणापि । एतत्सर्व-  
मभिप्रेत्य 'एषमे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।' इत्याधिक्यमुक्तम्' (श.वि.स.भा) इत्युक्तिश्च सङ्गच्छते ॥

हरिवंशे—'अहं सर्वगोदेव त्वमेवाह जनार्दन । आवयोरन्तर नास्ति ॥ यश्चत्वा द्वेष्टि देवेश समाद्वेष्टि न स शयः'  
(१.८८) इति पूर्वाध्याये रुद्रोक्त्या हरिहराद्वैत न सिध्यति । 'पठन् ध्यात केशवम्' इत्यत्र प्रयुक्तकेशवशब्दस्य 'क' इति  
ब्रह्मणोनाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवा तवाङ्गे सभूतौ तस्मात्केशवनामवान्' इत्यत्र कृष्णस्य ब्रह्मरुद्रजनकत्वस्य 'अह-  
त्वम्' इत्यतःपूर्वं 'आदिस्त्वं सर्वभूतानां मध्यमन्तस्तथा भवान् । त्वत्तत्समभवद्विश्वं त्वयिसर्वं प्रलीयते ॥' ३.८८.५५  
इत्यत्र कृष्णस्यैव सर्वोपत्तिलयहेतुत्वस्य प्रतिपादनेन तद्विरोधात् । अन्यथा 'ममैव त्व तवैवाहं ये मदीयास्तवैवते ॥ यस्त्वां  
द्वेष्टि समाद्वेष्टि यस्त्वामनु समामनु ॥ अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाह तथैव च ॥ नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ।'  
इत्यरण्यपर्वणि १२.४६ अर्जुनप्रति कृष्णोक्त्या रुद्रार्जुनयोरविशेषापत्तिः । परमते अद्वैताङ्गीकारेऽपि रुद्रेऽधिकाभिव्यक्तिः  
अर्जुनेषु न्यूना इत्येवोच्यते । सिद्धान्तेषु 'याते धामानि परमाणि' इत्यादिश्रुत्युक्तदिशा रुद्रस्य गौणप्रादुर्भावत्व शक्त्याऽऽ-  
ऽधिक्यम् अर्जुनस्य तु ततोऽन्यूनता इति जीवब्रह्माभेदेऽपि सर्वमुपपद्यते । विस्तरस्तु हयशिरोरत्नभूषणदीधितौ द्रष्टव्यः ॥

सर्ववेदपठितस्य पुरुषसूक्तस्य नारायणपरत्वं नारायणाख्याने व्यास एव निर्धारयति । तत्रत्या श्रुतिमुदाहरति—  
सर्वाणि रूपाणीति । इयं च श्रुतिः 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' (१.४.६) इति सूत्रं (श)भाष्ये परैरप्युदाहृता । अत्र  
'अभिवदन्' इत्यस्य स्वाभिमुख्येन वदन् इत्यर्थेन स्वपर्यन्तता नामरूपयोस्तिद्वयमिति ॥

'स्वर्गधर्मानुशाकेन तथा पुरुषविद्यया । पौरुषेण च सूक्तेन सामभीराजनादिभिः ॥' (श्रीभाग.११.२७.३०)  
इति पुरुषसूक्तसहभावेन वासुदेवार्चने विनियुक्ता श्रुतिमुदाहरति—अन्तःप्रविष्टदशास्ता जनानामिति । इयं च श्रुतिः  
उपदेशसहस्रया परैरप्युदाहृता । अत्र सर्वात्मत्वप्रयोजकत्वं अन्तःप्रविष्टदशास्तं शासनमभिहितम् सद्विद्याया आदेशशब्दार्थस्य  
शासितुरेव प्रवेशहेतुकनामरूपव्याकरणमुक्तम् । 'अन्तःप्रविष्टदशास्ता जनानागँसर्वा मा' इत्यत्र प्रविष्टदशास्तं शासितुं वेन सर्वं  
स्यात्मत्वप्रतिपादनेन 'जीवेनात्मना' इत्यत्रापि जीवस्यात्मत्वमित्येवाङ्गीकरणीयमिति भावः । अत्रैव 'सर्वे वेदायत्रैकं  
भवन्ति' इति श्रूयते । 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तस्मृतिर्शनमपोहन च । वेदैश्च सर्वैर्हमेव वेद्यः' इति गीता  
एतदुपगृहणरूपा । प्रवेशस्य शासनार्थत्वस्य भौतत्वेन परेषामन्यार्थः निरवकाशः । विश्वात्मानमिति । विश्वस्यात्मत्व  
पूर्वश्रुत्युक्तदिशैव विवक्षितम् ॥

### भीमाप्यम्

‘पार्ति विश्वस्यात्मेभ्यस्त्वम्’ ‘यद्य किञ्चिज्जगत्स्य निन्दयते धूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिः तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्त्वितः’ (श्री. नागण. १. १. अनु.) ‘एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः’ (शुभा. १. ७) इत्यादीनि । तस्माज्जगत्कारणयादिपापकं न प्रधानादिप्रतिपादनयोग्यम् । अतस्त्वयैतस्म्ययं शक्तिस्त्वयैभ्यरेभ्यरो निरस्तनिहितोऽपगम्भोऽनदधिका तिशयासंगयेवकस्याणगुणगणौघमहाणयः पुरुषोत्तमो नारायणस्य निमित्तजगदेककारणं

### भुतप्रसादि ।

तस्मादिति । तेन पार्तिं ब्रह्मणः प्रविशत्यत्र निगमयति । अत इति । सर्वं वादयमागंदिदकारणं वादयेति गुणाः शेष कवाक्योक्ता गुणा निरस्तानिस्तिलेय दिनांताः । अनपधिकेयादिना पुरुषार्थं न च दर्शितम् । ओषध-दोऽहंतेत गुणानामन्यत्रावयंयथाविशं दर्शयति । महार्णवशब्दो गुणैर्योऽपि तदाभ्यस्य महं च दर्शयति ; पुरुषोत्तमनारायण शब्दो पुरुषस्य नारायणानुवाक्यिद्विरिद्वयवयवसायि च कारणशेषकवाक्यानां दर्शयन्ती निदन्तिद्वलक्षणं च तत्तरीरकत्वं च दर्शयतः निरस्तजगदेककारणमिति । निमित्तशब्देन गगनादिकमपि कर्त्तव्यतम् । एकशब्देन निमित्तोपादा नयेऽभिप्रेतो ॥

### गूढार्थमप्रहः

‘पतिप्रीनाम्’ इति शेषाभावाद्भुतेः नारायणस्येत्यभिप्रेत्योपादत्ते—पार्ति विश्वस्येति ॥ ‘ननेदिता’ इत्युच्यते एष ‘आम्बेश्वरम्’ इत्यत्र विवक्षितः । ‘नतल्लेशे कश्चन’ इति पूर्वागत्राप्युक्तः । आम्बेश्वरो यस्य आम्बेश्वरः इति विग्रहः । यद्यकिञ्चिज्जगदित्यादि । इयं च भुतेः परेशहस्तनामभाष्ये उदाहृता । तथा च भाष्यम्—‘नर आत्मा ततो जाता-याकाशादीनि नारायणं कार्याणि तानि कार्याणि अयं कारणमना व्याप्नोति ; तान्ययनमस्येति नारायणः ‘यद्य किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते धूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिः तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्त्वितः’ इति स-प्रवर्णात् । नरात्मातानि तत्त्वानि नारायणीनि ततो विदुः । तान्येषचायन तस्य तेन नारायणस्मृतः’ इति महानारते । नराणां जीवानामयन-त्वात् प्रच्छेदे इति वा, ‘यत्प्रव-त्यमिषविशन्ति’ इति भुतेः । ‘नारायणायन यस्मात्तस्मान्नारायणस्मृतः’ इति प्रक्षेपार्थात्, ‘आरो नारा इति प्राक्ताः आपाये नरसूतवः । ता यदस्यायन पूर्वं तस्मिन्नारायण-स्मृतः’ इति मनुवचनाद्वा नारायणः । ‘नारायणाय नम इत्ययमेव सत्यः ससारघोरविषयनिर्हरणायमन्त्रः । शृण्वन्तु भव्यमतयो यतयोऽस्तरागाः उर्ध्वं स्तरामुपदिशाम्यहमूर्ध्वबाहुः’ ॥ इति नारसिंहपुराण ‘नयतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा समातनः’ इति व्यासकचनम् इति ॥

‘अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः’ इति सूत्रे ‘आयाम’शब्दस्य व्याप्तिवचनतायाः परेषामपि समतत्तया तत्रा नया भुत्या नारायणस्य सर्वस्मापरन्व व्याससम्मतमिति भाष्ये वक्ष्यते । ‘कथितः’ इति नाम (श) भाष्ये वेदादिभि रयमेव परत्वेन कथितः ‘सर्वे वेदा य पदमाननन्ति’ ‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः’ ‘वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ आदौ मध्ये तथाचान्तेच पिण्डुसर्वत्र गीयते ॥’ इति श्रुतिस्मृत्यादिवचनेभ्यः इति । ‘सोऽध्वनः पारमामोति तद्विष्णोः परमपदम्’ इति कठरहस्यभाष्ये ‘विष्णोः व्यापनशीलस्य वासुदेवस्य पद स्थानम्’ इति चोक्त्या ‘अ-हृष्टमान-पुरुषः’ ‘ईशानो भूतमव्ययः’ इत्यत्र ईशानशब्दश्रुत्या शिवस्य परन्व व्याससम्मतमिति (ब्र. वि. आ., न्याय-क्षामणिः) उक्तिः कथं घटते उदाहृतवाक्यविरोधात् । परैः सुबालोपनिषदः अनुदाहृत वेऽपि अन्तर्यामिन् दणैककण्ठ्येन तदुपनिषद्वाक्यमपि प्र माण भवितुमर्हतीत्यभिप्रेत्य तदुपनिषद्वाक्यमुपादत्ते—एष सर्वभूतान्तरात्मा इति ॥

## श्रीभाष्यम्

जिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थितम् ॥

अत एव निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोऽपि सूत्रकारेण आभिप्रेत्युक्तिभिः निरस्तो वेदितव्यः पारमार्थिकमुख्येक्षणदिगुणयोगि जिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थापनात् । निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

एषां सूत्राणां \* ब्रह्माज्ञानवादिनोऽननुगुणं व पूर्वमुक्तं विस्तरेणाह—अतएवेति । सूत्रकारेणेति । न्यायनिबन्धनकृतेत्यभिप्रायः । आभिरुच्यर्थप्रत्यायकत्वं विवक्षितम् । न्यायानुगृहीताभिर्विशदार्थाभिप्रेत्युक्तिभिरिति भावः । किंच \* प्रामाणिकस्याप्रामाणिकस्याभिमानतापसिद्धान्तना, सिद्धान्तस्य भ्रान्तिमूलत्वादप्रामाणिकता च लोके दृष्टेति तदुभयव्यवच्छेदार्थं सूत्रकारश्रुत्योर्निर्देशः । निरस्तो वेदितव्य इति । निरासः फलित इत्यर्थः । अतएवेत्युक्तं विवृणोति । पारमार्थिकेति । ईश्वरन्यायपारमार्थिकं च साङ्ख्यब्रह्ममतप्रधानमेव ब्रह्मस्यात् श्रुतितात्परमार्थ्येहि रजतमेव परमार्थस्यादिति साङ्ख्य निरासोऽनुपपन्नस्यादिति पारमार्थिकशब्दमभिप्रायः । स-च्छब्दोक्तस्वरूपस्य सशयस्य वाच्यदतिरिक्तं व्यावर्तकेन मा-यामिति गुणशब्दस्य भावः । अतस्सदादिशब्दानां साङ्ख्यब्रह्ममतप्रधानपरव्यवच्छेदसिद्धयर्थमीक्षणादिगुणतत्पारमार्थिकविवक्षाप्रसङ्गस्यैर्निर्विशेषनिरासः फलित इत्यर्थः ॥

‘तदैक्षत’ इत्यादिवाक्यानि साक्षित्वमात्रपराणि नतु गुणविशेषपराणि साक्षित्वमात्रेणापि सूत्रकाराभिमतं प्रधानव्यावृत्तिरसिद्धयतीत्यत्राह—निर्विशेषेति । स-च्छब्दोपस्थापितविमतिपदस्वरूपातिरेकेण साक्षित्वमप्यपारमार्थिकं त्वन्मत

## गूढार्थसङ्ग्रह

‘कूस्थनित्यपरिणामिनित्यम्’ इति विभागे कूस्थं च परिणामसामान्यशून्यत्वं धर्मसामान्यशून्यत्वं एव पर्यवस्यति । सद्विद्यायां परिणाम्युपादानत्वस्यैव दृष्टान्तानुसारेण प्रतीत्या परिणाम्युपादानत्वं प्रधानस्यैव सम्भवति नत्वा मन इति साङ्ख्यमतनिरासः ‘तदैक्षत’ इतीक्षितृवश्रवणन एतरेयोपनिषदि अम-शब्दार्थस्यैव ईक्षितृवस्य स्फुटमुक्त्या आत्मन ईक्षितुरेव ब्रह्मेदोऽपपादनेन च तस्यैव परिणामिकारणत्वं सद्विद्यायां विवक्षितम् । एतत्ता पर्यकं ‘गौणश्चेन्नात्मशब्दात्’ इति सूत्रम् । कूस्थं च दृष्टान्ते योऽयं विकारः तद्विज्ञानरूपता पर्येण नामरूपव्याकरवाणि’ इति स्वपर्यन्तनामरूपव्याकर्तृवमविपादनेन दृष्टान्ते यादृशः स्वरूपसङ्कोचविकासा मक परिणाम स एव नित्यविरोधी, नतु तदतिरिक्ता तयोमि वपरिणाम इति सगुण एवा मा परिणाम्युपादानमिति ‘गतिसामान्यात्’ ‘श्रुतत्वाच्च’ इति सूत्रविवाक्षितश्रुतिभिर्निर्धारितमवति आत्मनः निर्धर्मकं च कूस्थत्वमित्यभिप्रेत्य जगत्कारणं न तात्त्विकम् ईक्षितृवमपि न तात्त्विकम्, किंतु विवर्तोपादानवमेवात्र विवक्षितमिति वदता मतमपि सूत्रकारानभिप्रेतमिति दर्शयति—अतएवेत्यादिना । जिज्ञास्यब्रह्मेति । ‘ताद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म’ इत्यत्र विचारविधिरिति विवरणं उक्त्या जगत्कारणब्रह्मण एव ‘ब्रह्मजिज्ञासा’ इत्यत्र विचारविषयं सूत्रकृदभिमतमिति परैरप्यङ्गीकरणीयम् । जगत्कारणवस्थापनावसरे ईक्षितृवं यदुक्तं तस्यापारमार्थिकत्वे कारणवस्थापि माध्यमिकवत् तन्मते सावृतं वन ‘ताद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म’ इति श्रुतिः कथं घटते ? अहमथस्य नात्मं च सुषुप्तौ नाशात् किंतु सुषुप्तौ सत्त्वात्तत्साभिण एवामत्वमिति परैरभ्युपगमेऽपि साक्षिणो नाशाङ्गीकारेण नेष्टसिद्धिरित्याशयेनाह—साक्षित्वमप्यपारमार्थिकमिति । प्राक् (५४७-५४८-५४९.पु) आविद्यावृत्तिप्रतिषिद्धिताचित्साक्षि वे अविद्यावृत्तेर्नाश



## श्रीभाष्यम्

वेदान्तधेयं ब्रह्म जिज्ञास्यतया प्रतिष्ठातम् । तच्च चेतनमिति ' ईक्षतेर्नाशब्दम् ' इत्यादि-  
मिस्सूत्रैः प्रतिपाद्यते । चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगः । अतर्ईक्षणगुणविरहिणः प्रधान-  
तुल्यत्वमेव । किंच निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मत्वादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरूपपादम् । प्रकाशो

## श्रुतप्रकाशिका

इत्यर्थः । शब्दत्वाभावे साक्षित्वमपि न सिद्धयतीति प्रागेवोक्तमिदं त्वविशब्दाभिप्रायः अपारमार्थिकत्वं किंस्यादित्यत्राह-  
वेदान्तेति । न ह्यारोपिताकारस्त्वावेदकप्रमाणविषयः । न चार्वाचीनं ब्रह्मजिज्ञास्यतया प्रतिष्ठितमिति भावः । ततः किं  
त्यत्राह—तच्चेति । ततोऽपि किं न ह्यस्याभिरचेतनमुच्यते इत्यत्राह—चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगइति । ईक्षितुं व  
नचिद्रूपतामात्रमित्यभिप्रायः । निर्विशेषनिरासस्य फलितत्वं निगमयति । अतइति । न ह्यत्र चिद्रूपतामात्रेण प्रधानव्यावृत्ति-  
रश्रुता अपि त्वीक्षणगुणयोगेन तदनभ्युपगच्छतो व्यावर्तकाभावे व्यावृत्तिरेव न स्यादित्यर्थः । पारमार्थिकत्वादिना एता-  
दधिकरणविरोधोक्तः । वेदान्तेत्यादिना पूर्वाधिकरणैर्विरोधोक्तः ॥

यदा स्वरूपमेव साक्षित्वं न धर्मः । अतो नापारमार्थिकमित्यत्राह—वेदान्तेति । स्वरूपमेव चेतत्पूर्वसूत्रैस्त्व-  
मिति प्रतिपाद्याधिक्याभावात् ' ईक्षतेः ' इत्यादिसूत्रवैयर्थ्यमित्यभिप्रायः स्वरूपविशेषोऽप्रतिपन्न इति चेत्—किं स्वरूप-  
विशेषः, उत स्वरूपस्य विशेषः ? प्रथमे प्रागुक्तदोषः द्वितीये सविशेषत्वं पूर्वसूत्रे ब्रह्म कारणत्वना सिद्धं ननु चेतन-  
त्वेन अतः ' ईक्षतेः ' इत्यादिसूत्राणामारम्भणीयत्वमिति शङ्कायां चेतनरूपेण प्रतिपाद्यत्वमभ्युपगच्छन्नाह—तच्चेति । चेत-  
नतया प्रधानव्यावृत्तिश्चैतन्यगुणविरहे न सिद्धयतीति वक्तुं चेतनत्वं शोध्यति चेतनत्वं नामेति । • गुणशब्दो धर्मपरः  
ततः किमित्यत्राह—अतइति । व्यावर्तकाभावाद्यावृत्त्यसिद्धिरित्यर्थः ॥

चेतनशब्दस्य स्वरूपमात्रपरत्वे अधिकरणारम्भवैयर्थ्यमर्थसिद्धम् । न प्रधानतुल्यत्वं प्रकाशत्वाभ्युपगमात् य-  
थात्मधर्मभूतज्ञानस्य ज्ञानान्तरायोगेऽप्यचिद्व्यावृत्तिस्त्वन्यते तद्वदित्यत्राह—किंचेति । कथं दुरूपपादवमित्यत्राह—प्रकाश-  
हीति । व्यवहारयोग्यता व्यवहारप्रतिसन्नचिता तदुभयरूपत्वाभावात् स्वव्यवहारहेतुत्वं परव्यवहारहेतुत्वाभावादित्यर्थः ।

## गूढार्थसंज्ञहः

दशाया तज्ज्ञानेनापि चोपाहिताचितस्साक्षित्वेऽपि अविद्यानाशदशायां नाशः । शुद्धचिति साक्षित्वं नारत्येवेति परमतस्य सम्भ-  
ङ्गनिरूपणेन साक्षित्वस्यापारमार्थिकत्वं तैरेवाभ्युपगतमिति भावः । निर्गुणात्मवादिसाध्यसम्मतप्रधाननिरासकश्रुतिभिः  
निर्विशेषमपि निरस्तं भवतीत्याशयेनाह—अतर्ईक्षणगुणविरहिण इत्यादि । ' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' इति श्रुतिप्र-  
तिपन्नस्य ब्रह्मणः ' आनन्दादध्वेव खलु ' इति जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्यते । तत्र ' अर्थप्रकाशो ज्ञप्तिस्सवेदनम् ' इतीविवक्षणे  
उक्तम् । एतच्च ' केवलैव सविदात्मानुभव इति चेत् साच साश्रयेत्युपपादयिष्यते । अहमर्थवियोगेतु ज्ञप्तिरेव न सिद्धयति । छेतुः  
छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् ॥ ' इत्यादिना जिज्ञासाऽधिकरणे पर्यालोचितम् । ' अर्थप्रकाश ' इति विवरणपक्षोऽपि  
न घटतइत्याह—तस्य प्रकाशत्वमपि दुरूपपादमिति । ज्ञानत्वाद्युपपत्तौ अर्थप्रकाशत्वमेव ज्ञानत्वं मुक्तावर्थाभावेऽपि  
तत्समुद्धार्यप्रकाशस्य कदाचिदर्थसम्बन्धेनाप्यनपायात् (अ.सि) इत्युक्तम् ॥

अत्र लघुचन्द्रिका—' अर्थप्रकाशत्वमिति । अर्थव्यवहारजनकताऽवच्छेदकत्वव अर्थच्छाजनकताऽवच्छेदकत्वव  
मिति यावत् । उक्तावच्छेदकं च ज्ञानत्वजातिरिति । यद्यप्युक्तजातिः विशिष्टचिद्विज्ञा शब्दादुवाच्यताऽवच्छेदिका तथाऽपि

### श्रीभाष्यम्

हि नाम स्यस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन्वस्तुविशेषः । निर्दिष्टेपस्य यस्तुनस्त-  
दुभयरूपत्वाभावात् घटादिवदचित्त्वमेव । तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेत् ।  
तत्र, तत्क्षमत्वं हि तत्सामर्थ्यमेव सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्दिष्टेपवादः परित्यक्तस्स्यात् । अथ  
श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यत इति चेत् हन्त तर्हि ततप्य सधैरता, सर्वश-  
क्तित्वं, सर्वेश्वरेश्वरत्वं, सर्वकल्याणगुणाकरत्वं, सन्नद्धेयप्रत्यनीकनेत्यादयस्सर्वेऽभ्युप-  
गन्तव्याः । शक्तिमत्त्वं च कार्यविशेषानुगुणत्वं तच्च कार्यविशेषैरनिरूपणीयम् । कार्यवि-  
शेषस्य निष्प्रमाणकत्वे तत्रैकनिरूपणीयं शक्तिमत्त्वमपि निष्प्रमाणं स्यात् । किंच निर्दि-  
ष्टेपवस्तुवादिनो वस्तुत्वमपि निष्प्रमाणम् । प्रत्यक्षानुमानागमस्यानुभवाः सविशेषगो-  
चरा इति पूर्वमेवोक्तम् । तस्माद्विचित्रचेतनाचेतनात्मकजगद्रूपेण 'वस्तुम्याम्' (छां.६.२.३)  
इतीक्षणक्षमः पुरुषोत्तम एव जिज्ञास्य इति सिद्धम् ॥

### ईक्षत्यधिकरणं समाप्तम्



### श्रुतप्रकाशिका

अथ तदुभयधमत्वं शङ्कते तदुभयेति । तच्चमत्त्वमभ्युपगम्य दूषणमाह-तन्नेति । परस्यागतिं न दर्शयितुमाह-अथेति ।  
परिहरति हन्त तर्हीति । तच्चमत्त्वमेव नास्तीत्याह-शक्तिमत्त्वं चेति । कार्यविशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे स्वपरव्यवहारयो-  
ग्यतागदनाभावे निरूपकभावे निरूप्याभाव इत्यर्थः । वस्तु व सम्भवत्यपि प्रधानतुल्य वस्तुत्वं ॥

अथ वस्तुत्वमेव न सिद्धयतीत्याह-किंचेति । वस्तु व तुच्छव्यावृत्त वम् । कुतश्च नाह-प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षान्त-  
र्भूतस्यापि स्वानुभवस्य पृथक्प्रमाणं न परमताभ्युपगमनोक्तम् । सविशेषगोचराः वस्तुत्वरूपविशेषभूतार्थगोचरा इत्यर्थः ।  
वस्तुत्वं चिदचि साधारणम् तच्च तुच्छव्यावृत्तत्वम् तन्न सिद्धयतीत्यर्थः । परपक्षदूषणानन्तरं स्वपक्षं निगमयति 'तस्मादिति' ॥

### गूढार्थसंग्रह

ताद्विशेषाभिप्रायाः श नपदलक्ष्यव्यक्तेः मुक्तौ सत्त्वेन ज्ञानस्वरूपमविनाशीत्याद्याशयेनाह-मुक्ताविति । इति च । एवमङ्गी-  
कारे अविद्यावतोपीत्यमविनाशि न सम्भवत्येवेति श्रुतिं पु ज्ञानानन्दा मन एव नित्यत्वेन व्यवहारः । अविद्यावत्तु नित्य-  
त्वेन न व्यवहारः इत्यत्र गमकं नैव वर्तनइति परैरभ्युपगन्तव्यम् । व्यवहाराभावेऽपि व्यवहारजननयोग्यतासत्त्वेन व्यवहा-  
रजनकताऽवच्छेदकत्वमिति ब्रह्मानन्दपरिष्कारः । जनकताऽवच्छेदकस्याप्यभावे तद्वर्तिनाऽप्यस्य न । सर्वदार्शनिकसम्मतः  
अतः तद्वर्तः मुक्तावपि परैरपि तव्यः । तथासति स्वसिद्धा तहानिरित्याह-सामर्थ्यगुणयोगेहीति । सर्वदार्शनिकसम-  
तमर्थमाह-शक्तिमत्त्वचेत्यादिना ॥

कार्यविशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे इति । ईक्षणादे प्रकाशस्य च कार्यविशेषभूतयो, जगद्व्यवहारयोर्मिथ्यात्वे तज्जन-  
कताऽवच्छेदकधर्मोऽपि न घटते । कदाचित् कस्मिंश्चित् असत्त्वेऽपि जनकताऽवच्छेदकधर्मवत्त्वेन स्वरूपयोग्यत्वं सर्वसम-  
तम् । तदभावे ज्ञानानन्दा मनः परसमनप्रक्रिया कस्यापि दार्शनिकस्यासम्भवात् । मुक्तौ निष्प्रमाणकत्वाङ्गीकार इति तदर्थः,

## श्रुतप्रकाशिका

परैस्त्वेवं सूत्रयोजना कृता प्रधानं न प्रतिपाद्यं अशब्दोऽहं तत् शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यं हितत् । अशक्यत्वं च ईक्षतिभ्रवणादिति । नैपोचिता प्रतिशवाक्ये चर्मुपस्थापकशब्दस्याभ्याहार्यत्वात् अशब्दोऽहं तदि-युक्तेऽपि हे-वन्तरसाका कृत्वाच, 'नानुमानमतच्छब्दात्' 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' इत्यादिसूत्रेषु आनुमानिकादिशब्दवदशब्दस्याप्यवयवार्थमुत्तेन चर्मुपस्थापनशमतयाऽभ्याहारनिरपेक्ष-यादवयवशक्तयेवानुमानाकारावगमरूपपूर्वपक्षशीजस्य सूत्रेणैव द्योतमा

## गूढार्थसंग्रहः

'दृष्टश्च सुते चेतनस्य निष्प्रपञ्चतापुरुषार्थः । अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थं सर्वजगदुपादानत्वप्रतिपादनसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य अद्वितीयपुरुषार्थसिद्धयर्थमनूय निषेधो युज्यते । जाग्रत्स्वप्नकालौ अहंममाध्यासपुरस्सरप्रमानृत्वाटिव्यवहारवन्तौ तस्यैव सुषुप्तिकालादन्यकालत्वात् व्यवहारप्रितय वा दर्शिताभ्यासोपादानमन्तरेणानुपपन्न अभ्यासाभावे व्यवहाराददर्शनात् । सुषुप्ते' इति विवरणे उक्तया व्यवहाराभावकाल एव अद्वितीयपुरुषार्थः सुषुप्तौ इत्यङ्गीकारेण परैः जगत्कारणस्यानन्दरूपत्वमुपपादनीयम् । करणत्वमानन्दत्वचोभयमपि निर्विशेषे कल्पितमेव । एवं च ईक्षितृवेन प्रधानविलक्षणत्वं जगत्कारणस्य समर्थयता व्यासेन प्रधानोपादानतावादिसाङ्ख्यवत् कूटस्थनित्यात्माऽभ्युपगन्तुनिर्विशेषात्मादिमतमप्यप्रामाणिकमिति निर्धारितम् । सुषुप्तावविद्यायाः अन्तःकरणस्य च परमतेऽङ्गीकारेण तदात्वेऽद्वितीयपुरुषार्थस्य कथं सिद्धिः ? एवमङ्गीकर्तुं मते आविद्यादिविरहदशायां पुरुषार्थनिरूपणमेव न संभवतीति सुप्तौ पुरुषार्थसंभावनाया एव नावकाशः । 'यनाक्षरपुरुषवेद सत्यम्' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्युक्तः पुरुष एव असंकुचितार्थपुरुषशब्दवाच्यः छान्दोग्ये 'आचार्यवान्पुरुषो वेद अयं स पत्स्ये' इति श्रुत्यर्थस्य 'परं ज्योतिरुपसपद्य-स उत्तमः पुरुषः' इत्यत्र निर्धारणेन उत्तमपुरुष एव प्राप्य तथा पुरुषार्थरूप इति तस्यैव जिज्ञास्यता ॥

अत्र पुरुषोत्तमशब्दोपादानेन अयमर्थस्तूचितः । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति गीताया पञ्चदशे अचिज्जीवविलक्षणस्यैवोत्तमपुरुषत्व प्रतिपादितम् । तस्यैव ब्रह्मत्वेन जगत्कारणलक्षणलक्ष्यत्वं युक्तम् । एव सप्तमे गीताया- 'भूमिरापोऽनलो वायु-मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' 'मे परा जीव-भूताम्' 'मत्तः परतरं नान्यत्' इत्यादिदपेक्षया जीवस्योत्कर्षः उभयस्वामित्वं परमात्मनः, तत् उत्कृष्टस्तुनिषेधेन अचिज्जीवस्वामिन एव निरवधिकोत्कर्ष इत्यादिकस्फुट प्रतिपादितम् । एतेनापि ब्रह्मशब्दार्थनिरवग्रहमहत्त्वमचिज्जीवविलक्षणस्यैव प्रतिपादितं भवति । अयमर्थः 'ब्रह्मशब्देन-पुरुषोत्तमोऽभिधीयते' इति प्रथमसूत्रविवरणभाष्ये विवक्षितः । तेन अचिज्जीववैलक्षण्य ब्रह्मलक्षण लक्ष्यताऽवच्छेदक सिद्धम् । अस्यैव प्राप्यत्वं 'पुरुषस्स परः पार्थ भक्त्या लभ्य' इत्यादौ गतिद्वारकं प्रतिपादितम् । तेन 'परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसपद्य' इति श्रुत्यर्थोऽपि निर्धारितः । एतेनाचिज्जीवविलक्षणस्यैव प्राप्यत्वं सिद्धम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति प्राप्यत्वेन ब्रह्मप्रस्तुत्य तद्विशदीकरणं 'सत्यज्ञानम्' इत्यादौ एतत्सर्वमभिप्रेत्य 'सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म' इति श्रुतिरपि अचिज्जीवविलक्षणस्वरूपपरेति प्राक् निरूपितम् । तत्राचिज्जीववैलक्षण्यरूपलक्ष्यताऽवच्छेदकैकदेशः ईक्षत्यधिकरणेन साधितो भवतीति भावः ॥

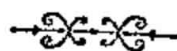
## ईक्षत्याधिकरणं समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

नन्वसिद्धेश्च भाष्यकाराभिमतं योजना साधीयसी । 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इत्यनात्मशब्दस्य स्वरूपपरत्वमाश्रित्य—  
जीव निर्दिश्य सच्छब्दवाच्यस्वरूपत्वेन व्यपदेशादगौणमीक्षणमित्यप्युक्तम् । तस्यामोषेक्षणत्वायोगात् सूत्रास्वारस्याच्च  
नहि गौणश्चेन्नजीवशब्दादियुक्तम् । \* स्वरूपपरत्वा मशब्दस्सापक्षः जीववाचिपदसमभिव्याहारेणविना तस्याचिद्व्यावर्तनासा-  
मर्थ्यात् चेतनपरत्वा मशब्दः 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इति चिदचिदा मकसमस्तप्रपञ्चप्रत्यात्मत्वं दर्शयन्नचिद्व्यावर्तने  
ऽतीव निराकाशः । अतस्साकाशहेतुनिर्देशादपि निराकाशहेतुनिर्देशोचरमिति तस्यापि सूत्रस्य यथोक्तत्वार्थः । चिदचि-  
दात्मकसमस्तजगदन्तरात्मवाचिन आ मशब्दस्य ममा मा भद्रसेन इति वन्मुख्यार्थानुपपत्त्यभावेन गौण वशङ्कानुदयात् तदा  
मशब्दो नगौण इति प्रतिज्ञावाक्यान्तरनिरपेक्षत्वाच्च । तृतीय सूत्रमपि परमसाध्यहेतुवाचीति युक्तम् । सर्ववेदान्तानामै-  
ककण्ठ्य दर्शयता गतिसामान्यसूत्रेणैव श्वेताश्वतरवाक्यस्यापि क्रोडीकृतत्वात्तत्वेताश्वतरवाक्यस्य 'श्रुतत्वात्' इति सूत्र-  
विषय वाश्रयणमयुक्तम् ॥

यत्तूक्तं यादवप्रकाशयैः—'सता सपन्न' इति सत्प्राप्तिमात्रमुक्तं नत्वैक्य सच्छब्दस्य प्रधानपरत्वेऽपि सतिसपत्ति  
र्धते । स्वाप्ययश्च सर्वेषा जीवानां पृथक्पृथक्स्वास्मिन्नप्ययो भवत्विति शङ्कापरिहाराय सुषुप्तौ सर्वजीवानां गन्तव्यस्य  
वस्तुन एकत्वं तत्रसति तेषामैक्यापात्तिश्च गतिसामान्यसूत्रणोच्यते, विषयश्च \* 'यथा सोम्य मधुमधुकृतोनिस्तिष्ठन्ति  
नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां सङ्गमयन्ति ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य  
रसोऽस्मि अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति एवमेव खलु सोम्येमारसर्वाः प्रजास्सति सम्पद्य नविदुरिति' वाक्य  
मिति—तदप्युक्तम् ; तथाहि दृष्टान्तानुगृहीतमेकतामवगमयत् 'सति सम्पद्य' इत्यादिवाक्य किं कारणत्वमुपजीव्यसतः  
प्रधानत्वव्युदासक उत कारण वमनुपजीव्य ? प्रथमे गतिसामान्यसूत्रवैयर्थ्यं स्यात्, स्वाप्ययस्य कारणत्वापात्तिरूपतया  
स्वाप्ययसूत्रेण प्रधान व्युदाससिद्धेः । दृष्टान्तवैषम्यं च ; बहूना रसानामेकस्मिन्कारणे लयस्य निदर्शितत्वाभावात् । रस  
वतामवयवानां मधु वरूपेण समानरसत्वापत्तिरेवाहि तत्र दृश्यते । द्वितीये च जीवानां कीदृशमेकत्वं सतः प्रधानत्वव्युदा-  
सकम् । नतावज्जीव वप्रहाणेन सतैकत्वं, जीवत्वप्रहाणस्य भवताऽनभ्युपगमात् जीवनित्यत्वश्रुतिविरोधात् 'प्राज्ञेनात्मना  
सम्परिप्यक्तो नबाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' इत्यशस्य जीवस्य तदा प्राज्ञाऽधिष्ठितत्वश्रवणविरोधात्, पुनरपि व्यव-  
शिनकर्मफलभोगायनुपपत्तेश्च । नच सद्रूपेणैकत्वं तज्जाग्रदशायामप्यस्तीति तदानीमिव जीवानां स्वापे स्वस्वरूपावस्थानप्रधा-  
नससर्गयोरविरोधादभिमतसिद्धेः । नच देवत्व, मनुष्यत्व, रागद्वेषादिबाह्याभ्यन्तरविकल्पाभिमानविरहणैकं च तस्यापि स्वस्व-  
रूपावस्थानप्रधानससर्गयोरविरोधित्वेन संपत्त्यप्ययाधिकरणस्य स्वस्वरूपप्रधानव्यतिरेकासिद्धेः । अतरसूत्रवैयर्थ्यशङ्कापरि-  
हारासिद्धयोरन्यतरावश्यमाभावात् परोक्तार्थपरत्वं सूत्रस्यायुक्तम् । यच्च 'श्रुतत्वात्' इति सूत्रस्य प्रतिज्ञावाक्यप्रभृति—  
'सयएपोऽणिमैतदात्म्यम्' इत्यादिवाक्यजात विषयतयोपात्त तदप्युक्त 'प्रतिज्ञाविरोधात्' 'नात्मशब्दात्'  
इत्यादिभिस्सौत्रपरस्य पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । अतस्सूत्राणां यथाक्त एवार्थः ॥

ईक्षत्यधिकरणं समाप्तम्





श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तसारः

तत्र तावत्प्रधानं वेदान्तप्रतिपादनार्हमित्याह—

### सू.५—ईक्षतेर्नाशब्दम् (१.१.५)

अशब्दम्—आनुमानिक प्रधानम् । तत् वेदान्तवेद्य न ; कुतः ? ईक्षतेः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा.६.२.१) इति प्रस्तुतजगत्कारणव्यापारवाचिनः ईक्षतेर्घातोऽश्ववणात् 'तर्दक्षत बहुस्याम्' (छा.६.२.३) इति

### सू.६—गौणश्चेन्नात्मशब्दात् [१.१.५]

'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादिष्वचेतनेऽपि वस्तुनि ईक्षतिःश्रूयते तत्र गौणइति चेन्नैतदुपपद्यते, प्रस्तुते सच्छब्दवाच्ये श्रूयमाणश्चेतनवाचिनः आत्मशब्दात् । 'सआत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा.६.८.७) इति ह्युत्तरत्र श्रूयते । तेजःप्रभृतिष्वपि नगौणमीक्षणम् । तेजःप्रभृतिशब्दैरपि तत्तच्छरीरक ब्रह्मैवाभिधीयते 'अनेन जीवनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (६.३.२) इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशादेव सर्वस्य वस्तुनो नामरूपभाक्त्वात् । 'तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सत्यमयमभवत् । निरुक्तचानिरुक्तं च । निलयनचानिलयनं च । विज्ञानश्चाविज्ञानं च सत्यमयमभवत्' इति चेतनमनेतनं च पृथङ्निर्दिश्य तदुभयमनुप्रविश्य सत्यच्छब्दवाच्योऽभवत्—इति समानप्रकरणे स्पष्टमभिहितम् ॥

### सू.७—तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (१.१.५)

निष्ठः ईक्षते प्रधानादर्थान्तरभूत सच्छब्दाभिहित जगत्कारणम् । सच्छब्दाभिहिततत्त्वनिष्ठस्य मोक्षोपदेशात् 'तस्य तावदेव चिर यावन्नाविमोक्ष्ये अथ सप्तत्ये' (छा.६.१४.२) इतिहि तन्निष्ठस्य मोक्षोपदिश्यते । प्रधानकारणवादिनामपिहि प्रधाननिष्ठस्य मोक्षो नाभिमतः ॥

### सू.८—हेयत्वावचनाच्च [१.१.५]

यदि प्रधानमात्रं विवक्षितम् ; तदा तस्य हेयत्वात् अध्येयत्वमुच्येत । नतदुच्यते । मोक्षसाधनतया ध्येयत्वमेवात्रोच्यते ; 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादिना ॥ इतश्च न प्रधानम्—

### सू.९—प्रतिज्ञाविरोधात् [१.१.५]

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधात् । सच्छब्दवाच्यतत्त्वज्ञानेन तत् कार्यतया चेतनाच्चेतनसर्ववस्तुज्ञानम् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिना प्रतिज्ञातम् । तद्धि प्रधानकारणवादे विरुध्यते, चेतनस्य प्रधानकार्यत्वाभावात् । प्रधानादर्थान्तरभूतब्रह्मकारणवादे चिदचिद्वस्तु शरीरं ब्रह्मैव नामरूपविभागाऽविभागाभ्यां कार्यं कारणचेति ब्रह्मज्ञानेन कृत्कस्य शाततोपपद्यते ॥ इतश्च न प्रधानम्—

## सू.१०—स्वाप्ययात् (१.१.५)

‘स्वप्नान्तमे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषस्वापिति नाम सता सोम्य तदा रूपज्ञो भवति । स्वमपीतो भवति । तस्मादेन स्वपिनीत्याचक्षते । स्वमपीतो भवति’ (छा.६.८.१) इति जीवस्य चेतनस्य सुषुप्तस्य सता सपन्नस्य स्वाप्यय-  
वचनात् प्रधानादर्थान्तरभूत सञ्चन्दवाच्यमिति विज्ञायते । स्वमपीतो भवति आत्मानमेव जीवोऽपीतोभवतीत्यर्थः ।  
चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयत इति नामरूपव्याकरणश्रुत्युक्तम् । तच्चीवशब्देनाभिधेय परब्रह्मैव  
सुषुप्तिकालेऽपि प्रलयकालश्च नामरूपपरिध्वङ्गमावात् केवलसञ्चन्दभिधेयमिति ‘सता सोम्य तदा रूपज्ञो भवति स्वम-  
पीतोभवति’ (छा.६.८.१) इत्युच्यते । तथा समानप्रकरणे नामरूपपरिध्वङ्गमावात् प्राप्तेनैव परिध्वङ्गात् ‘प्राप्तेनात्मना  
सपरिध्वक्तो नवाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्’ (वृ.६.३.२१) इत्युच्यते । आमोक्षाजीवस्य नामरूपपरिध्वङ्गादेर्वाह स्वय-  
तिरिक्ताविषयज्ञानोदयः । सुषुप्तिकालेहि नामरूपे विहाय सता सपरिध्वक्तः पुनरपि जागरदशायां नामरूपे परिध्वज्य तत्त-  
न्नामरूपो भवतीति श्रुत्यन्तेर स्पष्टमभिधीयते । यथा ‘मुतः स्वप्न न कञ्चन पश्यति’ (वृ.६.३.१९) ‘अथाऽस्मिन्प्राण-  
एवैकधा भवति एतस्माद्वा आत्मनःप्राणा यथायथ विप्रतिष्ठन्ते’ (कौषी.४.१९) तथा ‘तद्दृष्ट व्याप्नोवा सिंहावा वृको  
वा पराहोवा—यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति’ इति ॥

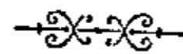
## सू ११=गतिसामान्यात् (१.१.५)

सकल्योपनिषद्गतिसामान्यादस्यामप्युपनिषदि न प्रधान कारणमिति ज्ञायते । ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्  
नान्यकिञ्चन मित्, स ईक्षत लोकास्तु सृजा इति सहमान्लोकानसृजत’ (ऐत.१.१.१) ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मनं  
आकाशसम्भूतः’ (तै.आन.१) ‘सकारण करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः’ इत्यादियकल्योपनिषत्सु  
सर्वेश्वरएवाहि जगत्कारणमिति प्रतिपाद्यते ॥

## सू १२—श्रुतत्वाच्च (१.१.५)

श्रुतमेव तस्यामुपनिषदि—‘आत्मतःप्राणः—आत्मत आकाशः’ (छा७.२६.१) इत्यादौ आत्मनएव सर्वोत्पत्तिः ;  
अतः प्रधानादचेतनादर्थान्तरभूतस्सर्वशः पुरुषोत्तम एव जगत्कारण ब्रह्मेति स्थितम् ॥

इति वेदान्तसारः



श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तदीपः

## सू.५—ईक्षतेर्नाशब्दम् (१.१.५)

‘येनाधुत श्रुत भवति’ (छा.६.१.३) इत्यादिजगत्कारणवादिवेदान्तवेद्य विषय । तर्हि साङ्ख्योक्त प्रधानम्  
उत्तमानवधिकातिशयानन्द ब्रह्मेति सशयः । प्रधानमिति पूर्वपक्षः । कुत ? प्रतिपादयन्तान्वयनानुमानाकारवाक्यवेद्यत्वात्  
२३

‘येनाश्रुतं श्रुतं भवति’ (छा.६.१.३) इत्यादिना एकविंशनेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाय ‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन’ (छा.६.१.४) इति दृष्टान्तेन श्रुतापात्ते । एवमानुमानिकमेवैतद्व्याख्यायितुमिति निश्चीयते । ‘सदेव सोम्येदम्’ (छा.६.२.१) इति सच्छब्दः प्रधानविषयः । ‘तदैक्षत बहुस्याम्’ (छा.६.२.३) इति च गौणमीक्षणं भवितुमर्हति, ‘तत्तेज ऐक्षत’ (छा.६.२.३) इत्यादिगौणेक्षणसाहचर्यात् । रादान्तस्मृ-‘तदैक्षत बहुस्याम्’ (छा.६.२.३) इति बहुभयनसङ्कल्परूपेक्षणान्वयात्, ‘सदेव सोम्य’ (छा.६.२.१) इति कारणान्विसच्छब्दप्रियया नाचेतन प्रधानम् ; अपितु सार्पश्य सत्यसङ्कल्पवादिषुक्त परब्रह्मैवेति निश्चीयते । नचानुमानाकारमेतद्व्याख्यम् । हेत्यनुगदानात् । अन्यज्ञानेनान्यज्ञानासम्भवपरिजिहीर्षया तु दृष्टान्तोपादानम् नच मुख्येक्षणसम्भवे गौणपरिग्रहसम्भवः । तेजःप्रभृतिष्वपि न गौणमीक्षणम्, तेजआदिशब्दानां तेजःप्रभृतिशरीरकस्यान्तर्यामिणो वाचकत्वादिति परमेव ब्रह्म जगत्कारणवादिवेदान्तवेद्यम्—इति ॥

सुवार्थ—ईक्षतेः इति ईक्षतिधात्वर्थः ईक्षणम् । शब्दः प्रमाण यस्य न भवति तत् अशब्द परांक्तमानुमानिक प्रधानम् । ‘सदेव सोम्येदम्’ (छा.६.२.१) इति जगत्कारणतया प्रतिपादितान्वयिनः ईक्षणव्यापारान्नाचेतनमशब्द तत् अपितु सर्वत्र सत्यसङ्कल्प ब्रह्मैव जगत्कारणमिति निश्चीयो ॥

### सू ६—गौणश्चेन्नात्मशब्दात् [१.१.५]

‘तत्तेज ऐक्षत’ (छा.६.२.३) इत्यचेतनगौणेक्षणसाहचर्यात् ‘तदैक्षत’ (छा.६.२.३) इत्यत्र ईक्षतिगौण इति चेन्न, आत्मशब्दात् सच्छब्दाभिहिते ईक्षितरि ‘एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्य सआत्मा’ (छा.६.८.७) इति श्रूयमाणाचेतनवाचिनः आत्मशब्दादयमीक्षतिमुख्यएवेति प्रतीयते । ‘एतदात्म्यमिदं सर्वम्’ छा.६.८.७ इति तेजःप्रभृतानामपि तदा मकत्वावगमात् तेजःप्रभृतीक्षणमपि मुख्यमेवेत्यभिप्रायः ॥

### सू ७—तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् [१.१.५]

इतश्च सच्छब्दाभिहितं न प्रधानम् । अपितु परमेव ब्रह्म । ‘तत्त्वमसि’ (छा.६.८.७) इति सदात्मकतया प्रत्यगात्माऽनुसन्धाननिष्ठस्य ‘तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये’ (छा.६.१४.२) इति मोक्षोपदेशात् कारण परमेव ब्रह्म ॥

### सू ८—हेयत्वावचनाच्च [१.१.५]

यदि प्रधानमिह कारणतया विवक्षितम् तदा तस्य मोक्षविरोधित्वाद्वैयर्थ्यमुच्यते । नचोच्यते । अतश्च न प्रधानम्

### सू ९—प्रतिज्ञाविरोधात् [१.१.५]

प्रधानवादे प्रतिज्ञा च विरुध्यते । ‘येनाश्रुतं श्रुतम्’ (छा.६.१.३) इति वक्ष्यमाणकारणविज्ञानेन चेतनाचेतनमिश्रकृत्प्रपञ्चज्ञानोहं प्रतिज्ञातम् । चेतनाश प्रतिप्रधानस्याकारणत्वात् तज्ज्ञानेन चेतनाशो न ज्ञायत इति न प्रधानकारणम् ॥

स्वाप्ययात् १.१.५।

‘स्वमयीतो मयति—मता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति’ इति जीवस्य कृतस्य स्वाप्ययधुतेः । स्वकारणं ह्यप्ययः स्वाप्ययः । जीव प्रतिप्रधानस्याकारणत्वात्स्वाप्ययधुतिरिच्छ्यते । अतश्च न प्रधानम् । अपितु ब्रह्मैव ॥

### गतिसामान्यात् १.१.५

इतरोपनिषद्गतिसामान्यादस्यां चोपनिषदि न प्रधान कारणं विवक्षितम् । इतरेषु चापनिषत्सु—‘यस्त्वर्थस्तत्सर्वं विन् तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमक्षयं जायते’ (मु.१.१.९) ‘पराऽस्य शक्तिर्विविधैव ध्रुयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ (श्रि.६.८) ‘सकारण करणाधिपाधिपः’ (६.९) ‘आत्मनि गन्धर गिदिते सर्वमिदं विशातं भवति’ (वृ.६.५.६) ‘तस्य ह्यया एतस्य महतो भूतस्य निश्चितमेतद्यद्वेदः’ (वृ.६.५.११) ‘पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्चमव्ययं, तस्माद्विराडजायत’ (पुरुषसू.२) ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्—स इमान् लोकानसृजत’ (ऐत.१.१.१) ‘तस्माद्वा एतस्मादा मन आकाशस्तम्भूतः’ (ते.आन.१) ‘एकोह्ये नारायण आसीत्—स एकाकी नरमेत’ (महोपनिषदि.१.१) इति सर्वशःपुरुषोत्तम एव कारणतया प्रतिपाद्यते । अस्याश्च तद्वतिसामान्यादत्रापि स एव कारणतया प्रतिपादनमर्हतीति च न प्रधानम् ॥

### श्रुतत्वाच्च १.१.५

श्रुतमेव ह्यस्यामुपनिषदि—‘आत्मत एवेद सर्वम्’ (छा.७.२६.१) इति । अतश्च ‘सदेव सोम्य’ (६.२.१) इत्यादिजगत्कारणवादिवेदान्तोपेक्ष न प्रधानम् ; सर्वश सत्यसङ्कल्प परमेव ब्रह्मेति स्थितम् ॥

वेदान्तदीपे ईक्षत्यधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणमारावळी

गौणेशासाहचर्यान् तु बहुभवनप्रेक्षणं नैव मुख्यं  
दृष्टान्ताद्यैरिहाभात्यनुमितिरेचितस्तादृशाज्जन्म युक्तम् ।  
सच्छब्दस्तेन मूलप्रकृतिमविकृतिं व्याहरेदित्ययुक्तं  
श्रुत्याऽन्येषां निरोधत्वादभिमततिरस्कारलिङ्गादिभिश्च ॥ १ ॥  
ज्ञाते ह्येकत्र सर्वं विदिनमिति भवत्यैक्यसिद्धये प्रतिज्ञा  
मृत्तत्कार्यादयश्च त्रय इह कथितास्तस्य दृष्टान्तभेदाः ।  
तेनाव्यक्तानुमानं कथितमिति वृथोत्कण्ठितं हेत्वनुयते-  
स्सारूप्यादेश्च हेतोःपरि परिहृतेरत्र संभावनोपपत्तेः ॥ २ ॥  
आदेशात्मस्वशब्दैरनितरशरणैस्त्वन्तदैक्योपदेशा-  
ज्जीयेन स्वेन साहंकरणमनहमोच्छिद्वणस्य प्रवेशात् ।  
एकज्ञानेन सर्वं विदितमिति गिरा सर्वतादात्म्यवाचा  
शाखाविद्यान्तरादेरपि बहुभविता विश्वविद्विश्वमूर्तिः ॥ ३ ॥

ईक्षत्यधिकरणं समाप्तम्



## श्रीभाष्यम्

### अथ आनन्दमयाधिकरणम्

एवं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणश्चेतनभोग्यभूतजडरूपसत्त्वरजस्तमोमयप्रधानाद्यावृत्तिरुक्ता  
इदानीं कर्मवदयात् त्रिगुणात्मकप्रकृतिसंसर्गनिमित्तनानाविधानन्तदुःखसागरनिमज्जनेना-  
शुद्धाच्छुद्धाच्च प्रत्यगात्मनोऽन्यन्निलहेयप्रत्यनीकनिरतिशयानन्दं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते—

### अथ आनन्दमयाधिकरणम्

#### श्रुतप्रकाशिका

अथोत्तराधिकरणस्य पूर्वाधिकरणेन सङ्गतिमाह—एवं जिज्ञासितस्येति । जगत्कारणस्य निरूपणीयत्वे चतुरस्र्या-  
सिद्धे प्रत्यक्षसिद्धयया प्रसिद्धयतिशयादचेतने प्रथममवतरन्ती बुद्धिरीक्षणादिभिस्ततो व्यावर्त्य चेतनवरत्नमिन्दुरीकृता

### अथ आनन्दमयाधिकरणम्

#### गूढार्थसङ्ग्रहः

ईक्षत्यधिकरणे आत्मशब्देन अचिद्वैलक्षण्यं साधितम् । अथ आत्मशब्दस्य जीवपरत्वसम्भवेन जीववैलक्षण्यं न  
समवर्तीति शङ्कानिरासकत्वेनानन्दमयाधिकरणं प्रवृत्तम् । जीववैलक्षण्यरूपलक्ष्यताऽवच्छेदकैकदेशः आनन्दमयाधिकरणे  
साध्यते । ‘गौणश्चेन्नात्मशब्दात्’ इत्यादिभिः आत्मशब्दाद्यर्थनिर्धारणेन तस्यैव जगत्कारणतया प्रधानवैलक्षण्यमीक्ष-  
त्यधिकरणे निरूपितम् । ‘तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्’ इत्यत्र च तस्य जीवभेदोऽपि सिद्धयतीति तस्यैव जगत्कारणत्वम-  
भिप्रेतम् । जगत्कारणत्वं ‘यतोवा’ इति श्रुतौ जन्माद्यधिकरणे विराडितम् । तद्वाक्यैकवाक्यतया प्रतीतवाक्यार्थनिर्णय-  
नन्तरमेव जगत्कारणनिर्णयः । तत्रनोपक्रमे ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्तम्भूतः’ इति वाक्ये आत्मशब्दश्च श्रुतः ।  
आत्मशब्दश्च श्रुतिषु जीवपरतयाऽपि प्रयुक्तः । जीवेनेक्षणं मुख्यं संभवंति इतरवाक्येषु शरीरशब्दनिर्देशेन ‘सया  
एव पुरुषोन्नरसमयः’ इत्यादिना शरीरप्रागमनसामेव सवन्धस्य प्रतिपादनं न च शरीरसंबन्धी जीवात्मैव विराडितः ।  
‘अन्योनार आत्माऽनन्दमयः’ इत्यत्रापि स एव विराडितः तस्यैव परिशुद्धस्यानन्दरूपत्वेन ‘आनन्दाद्वेष्यं सान्वयमानि  
भूतानि जायन्ते’ इत्यादिकमप्युपपद्यते । जीवस्य कार्यत्वं शरीरसंबन्धिमेवैव, परिशुद्धस्तु न कार्यं वम् । तस्यैव ब्रह्म य-  
मिति जीववैलक्षण्यं ब्रह्मणो न समवर्तीति अचिज्जीवात्मनस्य ब्रह्मलक्षणलक्ष्यताऽवच्छेदकत्वं न पश्यते । ‘सत्ता ज्ञानमन-  
नाम्’ इति श्रुतेः प्राग्माध्योक्तार्थोऽपि न समवर्तीति शङ्कायां लक्षणवाक्यैकवाक्यं जीववैलक्षण्यं ब्रह्मण एव प्राप्यन्तं तस्यैव  
कारणं च विराडितमिति अनिजीववैलक्षण्यं ब्रह्मलक्षणलक्ष्यताऽवच्छेदकं समवर्त्येति सिद्धान्तयति—आनन्दमयोऽभ्या-  
सादिति ॥ चेतनभोग्यभूतेति । एतेन प्रधानस्य पुरुषार्थत्वेन लोकानुभयरिषयश्च तेन च समन्ययाधिकरणे प्रतिपादित  
समन्ययः प्रधानस्य समवर्तीति त्रिवर्गप्रवणबहुबन्बुद्धयनुसारं प्रथमतः अचिद्वैलक्षण्योपपादनमिति सूचितम् ॥

कर्मवदयादित्यादि—अशुद्धात् इत्यन्तेन जीवस्य कार्यत्वं शरीरसंबन्धमात्रं हेतुं न च संभितम् । ‘शुद्धात्’  
इत्यादिमिदानीं कर्मनेन परिशुद्धस्य न कार्यत्वं किंतु तस्यैव ब्रह्मण्य पुरुषार्थत्वं च परमात्मानमुत्तरात्मनिः दार्शनिकैरप्युक्तं  
अपरादि पूर्वशो मुक्त इति सूचितम् । निरिच्छदेयप्रत्यनीकेति । ‘गतो वाचो निर्वर्तना’ इति श्रुतिविषयिणानन्दमय-

श्रीभाष्यम्

### सू १३ आनन्दमयोऽभ्यासा [१.१.६]

तैत्तिरीया अधीयते- 'सचा एष पुरुषोत्तरसमयः' (तै.आन.१) इति प्रकृत्य 'तस्मा-  
द्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (५.२) इति । तत्र सन्देहः किमय  
मानन्दमयो बन्धमोक्षभागिनः प्रत्यगात्मनो जीवशब्दामिलपनीयादन्यः परमात्मा ; उन  
स एव इति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' (तै.आ.  
५.अनु) इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात् ; शारीरोहि शरीरसम्बन्धी जीवात्मा ॥

श्रुतप्रकाशिका

इदानीमचेतनापेक्षया प्रसिद्धिमान्येऽपि परमात्माऽपेक्षया प्रसिद्धतरेऽहंप्रत्ययासिद्धे \* प्रत्यगात्मन्यवतरन्ती बुद्धिव्योवर्त्यते  
इत्यर्थः ॥

### सू १३ आनन्दमयोऽभ्यासात् [१.१.६]

\* कारणविषयस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति वाक्यस्योत्तरत्र चोद्यपरिहारगुरे नोद हरिः यद्भाष्येन वात प्रथ  
मात्मशब्दव्याख्यानोपक्रमभूत 'सचा एष पुरुष' इत्यादिकमुपात्तम् । अनएवहि प्रबन्धान्तरे 'तस्माद्वा' इत्यादिक  
मुदाहृतम् । तत्रेति । शारीरत्वानन्दप्राचुर्याभ्या सशय इत्यभिप्रायः । सद्विद्याया 'जीवेनात्मना' इति सामानाधिकरण्य-  
मत्र पूर्वपक्षोत्थानबीजमिति सूत्रनार्थं जीवशब्दामिलपनीयादिति पदम् । किं कारणवादिनस्सर्वे वदान्ताः परिशुद्धप्रत्यगा-  
त्मस्वरूपपराः ? उत तद्विलक्षणपरा इति प्रथमविचारः तदर्थमानन्दमयः किं परिशुद्धावस्थ-प्रत्यगात्मा उत परमा मेति ?  
तदर्थमिह प्रतिपन्नशरीरसम्बन्धः किं जीवात्मासाधारणः उत न, तदर्थं मयट् किं स्वार्थिकत्वविकारार्थकत्वयोरन्यतरवान् ?  
उत प्राचुर्यार्थः । तदर्थं किं विकाराद्यर्थानुगुणहेतवोऽनुरोद्धव्याः ? उत प्राचुर्यार्थानुगुणहेतवः विज्ञानमयशब्दः किं विज्ञा-  
नमात्रपरः ? उत जीवपरः तदर्थं तत्र मयट् किं स्वार्थिकः ? उतन । तदर्थं 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति विज्ञानशब्दः  
किं ज्ञानमात्रे वर्तते ? उत ज्ञानगुणके प्रत्यगात्मनीति । पूर्वे कल्या पूर्वपक्षाः इतरतु राद्धान्ताः । यदा विकारार्थत्वाद्-  
नुगुणहेतोरनुरोद्धव्यत्वेन मयट् स्वार्थिकं विकारार्थं वा भवति । तदा निरतिशयप्राचुर्याप्रतिपत्तेरानन्दमात्रस्य जीवसं-  
भवात् स्वतो जीवानुगुणतया प्रतिपन्नस्य शरीरसम्बन्धस्य जीवासाधारणत्वे विरोधाभावादानन्दमयो जीवः यदाच श्लोकस्य  
विज्ञानशब्दो विज्ञानमात्रपरः तदा विज्ञानमयशब्दस्यापि स्वार्थिकमयङ्कत्वेन विज्ञानमात्रपरत्वाद्विज्ञानशब्दस्य बुद्धिपर

गूढार्थसङ्ग्रहः

शब्दार्थः । दीपसारयोः 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति वाक्योपादानेन पूर्वोक्तपूर्वपक्षबीजं सूचितम् । भाष्ये तु 'सचा  
एषपुरुषोत्तरसमयः' इति वाक्योपादानेन जीवा मन एव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्र कारणतयोक्तस्य शरीर-  
सम्बन्धप्रतिपादनेन पूर्वपक्षबीजं सूचितम् । आत्मशब्दार्थपरिसमाप्तिदशाया आनन्दमये शारीरत्वमुपपादितम् । तेनानन्द-  
मयो जीवः इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणादित्यनेन बोधितम् । अत्र 'सचा एष पुरुषोऽन्तरसमयः' इत्युपक्रमोक्तशरीर-  
सम्बन्धस्य आनन्दमये परिसमाप्तया उपक्रमोपसंहारयोरैकस्थेन शरीरसम्बन्धीजीवात्मन विवक्षितइति पूर्वपक्षयुक्तिरसूचिता ॥

## श्रीभाष्यम्

ननु च जगत्कारणतया प्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सुखप्रतिपत्त्यर्थमन्नमयादीननुक्रम्य तदेव जगत्कारणमानन्दमय इत्युपदिशति ; जगत्कारणं च 'तदैक्षत' (छां.६.२.३) इतीक्षणश्रवणात्सर्वज्ञस्सर्वेश्वरइत्युक्तम् ॥ सत्यमुक्तम् ; स तु जीवान्नातिरिच्यते-

## श्रुतप्रकाशिका

त्वसम्भवात् तदन्तर आनन्दमयः प्रत्यगात्मेति पूर्वपक्षे फलफलभावः ॥

साद्धान्ते तु यदा प्राचुर्यार्थानुगुणहेतोरनुरोद्धव्यत्वेनानन्दमय इत्यत्र मयद् प्राचुर्यार्थः । तदानीमानन्दमयप्राचुर्यस्य निरवधिकनयाऽवगतस्य श्रुतविरुद्धाश्रुतोपाधिसम्पन्नायोगेन स्वतो निरातिशयस्य जीवात्मन्यसम्भवात् ताद्विरोधेन शरीरसव्यवस्य जीवासाधारणकर्ममूलत्वाभावाच्च नानन्दमयः प्रत्यगात्मा । यदाच श्लोकस्यविज्ञानशब्दो विज्ञानगुणके प्रत्यगात्मनि वर्तत तदा विज्ञानमयशब्दस्यापि प्राचुर्यार्थमयङ्मननया प्रत्यगात्मवाचित्वाच्च तदन्तरानन्दमयः परमात्मेति फलफलभावः ॥

पूर्वपक्षोत्थानमाक्षिपति ननुचेति । सुखप्रतिपत्त्यर्थमन्नमयादीननुक्रम्येति । अनेन जगत्कारणप्रकरणस्याविच्छिन्नचित्तोतिता तदेव जगत्कारणमिति । वक्ष्यमाणपर्यालोचनया विभूतिप्रकर्षाधीनातिशयिताऽनन्दस्याश्रयित्वोपपादकं सकलजगत्कारणत्वमिति भावः । ततः किमित्यत्राह-जगत्कारणचेति । ज्ञानशक्त्युपयोगज्ञापनाय जगत्कारणमिति पुनरुपादानम् । परिहरति-सत्यमिति । \* चेतनत्वादावभ्युपगमः जीवादतिरेके विवादः सामानाधिकरण्यानिर्देशोरतु । ततः

## गूढार्थसंक्षेपः

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्रोपक्रमे उक्तब्रह्मणएव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति श्रुतावीभेप्रेतत्वेन सद्भिद्यायामात्मशब्दमात्रसत्त्वेऽपि अत्र ब्रह्मशब्दस्यापि सद्भावेन तस्यैव मुख्यमचिर्जीवबहुभवेनेक्षणं ननु जीवस्येति पूर्वाधिकरण एव सिद्धान्तितत्वेन अत्र जीवपूर्वपक्ष एव न घटत इति शङ्कते-ननुचेत्यादिना । स तु जीवान्नातिरिच्यते इति । ईक्षत्यधिकरणे प्रधानवैलक्षण्यप्रतिपादनेऽपि 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यत्र आत्मनि जीवाभेदस्याभिधानेन जीवस्यब्रह्माभेदतात्पर्येण 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्र ब्रह्मणो विषयेति भावः । पूर्वपक्षसमर्थनार्थं सिद्धान्तयुक्तिमाशङ्कते-ननुचेत्यादिना । यस्सर्वज्ञस्सर्वेश्वर इत्युक्तमिति । एतदुभय परेणामपि समतम् । सर्वज्ञत्वं निर्विशेषवादे न स्वरसमिति प्रागेवोपपादितम् । 'सुषुप्तस्थानएकीभूतः प्रश्नानघनएवानन्दमयो ह्यानन्दमुक्तेतोमुखः प्राशस्तृतीयपादः एषसर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष यानिः सर्वस्य प्रभववाप्ययोहि भूतानाम्' (माण्डूक्य.५.६) इति श्रुतिरश्रुतिरभिप्रेता । अत्र सर्वेश्वरत्वसर्वज्ञत्वे प्राप्ते प्रतिपादिते । 'प्राशनात्मना सपरिष्वक्तः' इति वृहदारण्यकश्रुतौ जीवब्रह्मभेदो विवक्षित इति 'सुषुप्तसुक्तात्मोभेदेन' इति सूत्रे परेऽप्यभ्युपगमश्छान्तिः । एतद्भाष्यो(र)स्य प्रश्नशब्दाः नस्वरस इति त्रय्यन्तसारामृते उपपादितम् । एतेन सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वे ब्रह्मणि जीवभेदपक्ष एव अन्तर्यामिणि सङ्गोऽति श्रुतिरनुसिद्धान्तो निष्पन्नः एतच्छ्रुतेः जीवपरत्वासम्भवेनानन्दमयशब्दार्थः जीव इति नसिद्धान्तमित्यु शक्यत इत्यनेन बोधितम् ॥

सत्यमुक्तं स तु जीवान्नातिरिच्यतइति । माण्डूक्योपनिषदि सर्वज्ञसर्वेश्वरादिपदसत्त्वेऽपि 'सद्य एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ह्यन्यन्तर्ज्योतिः' इत्यत्र जीवब्रह्मभेदकथनपूर्वकं 'एषसर्वेश्वरः' इत्यादिनिर्देशेन जीवेऽपि सर्वेश्वरादिशब्दा न विरुद्धचन्ते । तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्युपक्रमोत्तात्मनःशब्दार्थविवरणपरे 'अन्योन्तर आ म

### श्रीभाष्यम्

‘ अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य ’ (छां.६.३.२) ‘ तत्त्वमसि श्वेतकेतो ’ (६.८.७) इति फारणतया निर्दिष्टस्य जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशात् । सामानाधिकरण्यं हेतुत्वप्रतिपादनपरम् ; यथा ‘ सोऽयं देवदत्तः ’ इत्यादौ । ईक्षापूर्विका च सृष्टिश्चेतनस्य जीवस्योपपद्यत एव । अतः ‘ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ’ (तै.आ.१) इति जीवस्याचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतयोपदिश्यते । अचिद्वियुक्तस्वरूपस्य लक्षणमिदमुच्यते । ‘ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ’ (तै.आन.१) इति, तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः । ‘ न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं चाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ’ (छां.८.१२.?) इति । अतो जीवस्याविद्यादियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतया प्रकान्तमानन्दमय इत्युपदिश्यते । तथाहि शाखाचन्द्रन्यायेनात्मस्वरूपं

### श्रुतप्रकाशिका

किं जीवादवैलक्षण्यस्येत्यत्राह—सामानाधिकरण्यमिति । ईक्षतिश्रवणाजीवविलक्षण वमुक्तमित्यत्राह—ईक्षेति । उपपद्यतएवेत्येवकारः \* अस्वारस्यसूचकः \* साक्षित्वमनेक्षितृत्वमिति भावः । \* ‘ भेदव्यपदेशाच्च ’ इति भेदव्यपदेश सिद्धान्ते हेतु वदता सूत्रकारणैक्यव्यपदेशस्य पूर्वपक्षहेतुत्व विवक्षितमित्यवगम्यते । एवमुक्त्या नोपपत्तेरसौत्रहेतुवशाच्चैक्यव्यपदेशः पूर्वपक्षहेतुवयोपन्यस्तः । एवं पूर्वाधिकरणेन \* जीवव्यतिरेकासिद्धेरधिकरणान्तरमारम्भणीयमिति भावः ॥

ननु ‘ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ’ इत्यत्र ब्रह्म प्राप्य श्रूयते, अनन्तर लक्षण कथ्यते तत्र सत्यवमानन्त्यचान्तर्भूतम् । जीवस्य नित्यप्राप्तत्वात् प्राप्यत्वमनुपपन्न, शातत्वाल्लक्षणं च न वाच्य, सत्यत्वानन्तत्वरूपलक्षणविशेषश्च \* नैकरूपज्ञानस्य परिच्छिन्नस्य नोपपद्यते । अतः परमात्मैव प्रतिपाद्यत इति शङ्का परिहरणपूर्वपक्षमाह—अतो ब्रह्मविदिति । अतः शरीरत्वश्रवणात् सामानाधिकरण्यबलेनैक्यस्य प्रतिपन्नत्वाच्चाचिद्वियुक्तस्वरूपप्राप्यतापरत्वं कल्प्यमित्यर्थः । लक्षणकथनं तत्प्रतिपत्त्यर्थं तादृशेषोक्तिश्चाचिद्वियुक्त स्वरूपे सम्भवतीत्याह—अचिद्वियुक्तेति । न केवलं शरीरत्वसामानाकरण्यबलादचिद्वियुक्तस्वरूपस्य प्राप्यत्व, किंतु कण्ठोक्तचेत्याह—तद्रूपेति । हिशब्दः श्रुतिप्रसिद्धिद्योतकः ॥

यद्वा स्वरूपस्यैवोपाधिकाकारनिवृत्तिमात्रपरमोक्षशब्दस्वारस्यसूचकः श्रुतिमेव दर्शयति न ह वा इति । इति श्रवणादिति शेषः । \* प्राप्यत्वानुगुणपुरुषार्थता दर्शयन्निगमयति । अत इति । ननु नात्राचिद्वियुक्तजीवस्वरूपमुपदिश्यते ‘ सवा एष पुरुषोन्नरसमयः ’ इति शरीरसम्बन्धश्रवणादपरिच्छिन्नानन्दत्वश्रवणाच्चेत्यत्राह—तथाहीति । शरीरमुपलक्षणमात्रं

### गूढार्थसंग्रहः

‘ अनन्दमयः ’ इति वाक्येऽपि आत्मनः शब्दः ब्रह्माभिन्नजीवपर इति ‘ अनेन जीवेनात्मना ’ इति श्रुत्यन्तरेण द्रष्टव्यमिति—अनेन जीवेनेति । ‘ स आत्मा ’ इत्यनन्तर ‘ तत्त्वमसि श्वेतकेतो ’ इति श्रुतौ उपक्रमानुसारेण जीवपरमात्मनोरभेद एव विवक्षित इत्यभिप्रेत्याह—तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । ‘ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ’ इत्युपक्रमे ब्रह्मशब्दोऽपि जीवे न विरुध्यत इत्यत्राह—ब्रह्मविदाप्नोतिपरमिति । तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः इत्यत्र एवकारेण जीवभिन्नब्रह्मप्राप्तिर्व्यवच्छिद्यते अयमर्थश्च श्रुत्येव सिद्धयतीति श्रुतिमेवोदाहरति—न ह वै सशरीरस्य सत इति । ‘ अस्मान्छरीरासमुत्थाय परज्योतिरुपसपद्यतेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः ’ इति श्रुतौ जीवभिन्नब्रह्म एव प्राप्यत्वोक्त्या अचिद्वियुक्तजीवस्वरूपप्राप्तिरेव मोक्ष इति सिद्धयतीति भावः ॥



## श्रीभाष्यम्

दर्शयितुम् 'अन्नमयःपुरुषः' इति शरीरं प्रथमं निर्दिश्य तदन्तरभूतं तस्य धारकं पञ्चवृत्ति-  
प्राणम् तस्याप्यन्तरभूतं मनः तदन्तरभूतां च बुद्धिं, 'प्राणमयो' (तै.आन.२.अ) 'मनोमयो'  
(३) 'विज्ञानमयः' (४) इति तत्र तत्र बुद्ध्यवतरणक्रमेण निर्दिश्य सर्वान्तरभूतं जीवात्मानं  
'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तै.आन.अ.५,२) इत्युपदिश्यान्तरात्मपरम्परां समाप-  
यति । अतो जीवात्मस्वरूपमेव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै आन.१.अ) इति प्रकान्तं ब्रह्म;  
तदेवानन्दमय इति निश्चीयते ॥

ननु च 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै.आन.१अनु) इत्यानन्दमयादन्यद्ब्रह्मेति प्रतीयते ।  
नैवम्-ब्रह्मैव स्वस्वभावविशेषेण पुरुषविधत्वरूपितं शिरःपक्षपुच्छरूपेण व्यपदिश्यते ।

## श्रुतप्रकाशिका

ननु ताद्विशेषणमिति ताद्वियोगेनापरीच्छन्नानन्दत्वादिकमुपदिश्यत इत्यर्थः । तदन्तरभूतां च बुद्धिमिति । प्राणमय  
मनोमययोर्मयत्प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद्विज्ञानमय इत्यापि मयत् स्वार्थिकः 'विज्ञानं यज्ञतनुते' इति मयदन्तत्वं विना  
वक्ष्यमाणत्वात् 'विज्ञानसारथिर्यस्तु' 'बुद्धितु सारथिं विद्धि' इति बुद्धिविज्ञानशब्दयोरैकार्थत्वेन प्रयोगाच्च \*  
विज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या विज्ञान बुद्धिरिति भावः । किमर्थमन्नमयादिनिर्देश इत्याह-तत्रतत्र बुद्ध्यवतरणेति । अप  
रिच्छिन्नानन्दत्वमपि परिशुद्धात्मस्वरूपस्य सभक्तीत्यर्थसिद्धम् । शारीरत्वश्रवणाजीवसामानाधिकरण्याद्विज्ञानमयशब्दस्या  
गतःकरणपरत्वात् प्राप्यत्वादेः परिशुद्धस्वरूपेऽप्युपपन्नत्वाच्छरीरस्योपलक्षणत्वेन ताद्वियुक्तस्वरूपेण प्राप्यत्वादिसभवात् मयत्  
प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वेन \* विकारपरत्वाभावाच्च परिशुद्धप्रत्यगात्मस्वरूपविषयमिदं वाक्यमिति पूर्वपक्षसङ्ग्रहः । तत्र द्वौहेतू  
साधकौ अन्येतु शङ्कितदूषणान्यथासिद्धिरूपाः ॥

एवमानन्दमयशब्दस्य प्रत्यगात्मपरत्ववादिन पूर्वपक्षिण साख्य मृषावादिपक्षस्यश्चोदयति ननुचेति । तस्य पुच्छ  
मितिपष्ठ्याऽऽयविस्मयप्रतीतिःसम्बन्धस्य द्विनिष्ठतया \* प्रतिष्ठा तद्भावेन च व्यतिरेकावगमादन्यत्वमित्यर्थः । परिहरति-  
नैवमिति । 'अन्वयं \* पुरुषविधः' इति श्रुतिवाक्यस्मरणार्थं पुरुषविधत्वरूपितमित्युक्तम् पुरुषविधत्वेन रूपितम् ।

## गूढार्थसंग्रहः

तदन्तरभूतां च बुद्धिमिति । विज्ञानमयशब्दार्थः । अत्र विज्ञानशब्दोपादानेन 'विज्ञानसारथिर्यस्तु' 'बुद्धि  
तु सारथिं विद्धि' इति श्रुत्यन्तरैकार्थ्यबोधनेन तदनुसारेणैव विज्ञानमयशब्दार्थो विवक्षितः । अतएव अन्नमयप्राणमय  
मनोमय शब्दानां पूर्वपर्यायेषूपक्रमवत् अत्र विज्ञानमयशब्दमनुपक्रम्य विज्ञानशब्दप्रयोगेणायमेवार्थः श्रुतावभिप्रेत इति  
निश्चीयते । अन्यथा विज्ञानशब्दप्रयोगवैयर्थ्यादितो भावः ॥

अपि च 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्तं वा इदमुच्यते 'तदप्येव श्लोको भवति असन्नेवसम्भवति असद्ब्रह्मेतिवेद  
चेत् अस्ति ब्रह्मेतिचेद्ब्रह्म सन्तमेनन्ततोविदुरिति' अस्मिन् श्लोके अननुकृत्यानन्दमय ब्रह्मप्रेदनस्यैव भावाभावयोरुगुणदे-  
षाभिधानाद्भ्यन्ते 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति' इति शङ्करभाष्यसिद्धान्तानुसारेण पूर्वपक्षं  
पर्यालोचयति-ननुच ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति । पूर्वपक्षिणः आशय विवृणोति भैवमित्यादिना । शङ्करभाष्योक्तरीत्यनुसा-  
रेण तासिद्धान्तस्यैव युक्तत्वं शङ्कते-ननुचेत्यादिना । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रमे वेद्यत्वेन ब्रह्म प्रस्तुतम् ।

## गूढार्थसंग्रह

‘तदशम्युक्ता, ‘सत्य’ निर्यादा ‘विश्वविता’ इत्यन्ते ब्रह्मस्वरूपवेदनतः फलानि प्रतिपादितानि ‘स्माद्वा एतस्मादा मन’ इत्यथ पुच्छब्रह्माभिनेयमा विवक्षित इति सर्वसमतम् । तच्च ब्रह्म आनन्दमयपदबोधाय जीवामित्र स्यात् जीवामित्रया पञ्चदशमपि नपश्ये । पञ्चदशस्य धुनिता पर्यायिष्यते आनन्दमयशानाशानयोरेव फलस्य श्रुतौ प्रतिपादनं स्यात्, नच तथावर्तते ब्रह्मशानाशानयोरिष्यत्स्य श्रुतौ प्रतिपादनात् । तत्पूर्ववात् ‘ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा’ इत्यस्य पुच्छस्यैव ब्रह्म न नान दमयस्यति शायते । यद्यपि चतुर्षु पर्यायेषु पुच्छशब्दवत् अप्यपि पुच्छशब्दः रूपणात्त पाती । ‘प्रियाशिरस्पाद्यप्राप्तिरुपनयाननयोहिमेद’ (ब्र सू. ३.३ १२) इति सूत्रे आदिपदेन ब्रह्मपुच्छकत्वस्यापि प्रतिपादनेन अस्य रूपणपरवत् सूत्रकारोऽपि बोधयति । तथाऽपि उत्तरपाक्षे ब्रह्मशब्दद्वयसत्त्वेन ज्ञेयब्रह्मण तत्र विवक्षाया आवश्यकतया पूर्ववाक्यस्य ब्रह्मशब्दस्य गौणरूपत्वमनव्याय्यम् । पुच्छशब्दस्य ‘पुच्छोऽस्त्री लोमशङ्कुलम्’ इति पश्चादिपुच्छे प्रसिद्धस्य कोणोक्तार्था समान प्रतिपर्याय गौणत्वेन कल्पनीयम् ॥

अत्र पुच्छशब्दस्य शङ्करभाष्ये इत्यमथ उक्त, ‘पुच्छवत् पुच्छप्रतिष्ठा—परायण एक नीह लौकिकस्थानन्दजानस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते नात्रयत्नम्’ इति । अत्र ब्रह्मविद्याभरणम्—‘पुच्छपदमाधारप्रगुणयागादुपपद्यते । नच तथासति पुच्छपदेनैवाधारत्वस्य लघ्वतया प्रतिष्ठापद व्यर्थमेव स्यादिति वाच्यम्, स्थितिहेतुव प्राप्तप्रापदार्थ, नच स्थितिहेतुत्वेनैवाधारप्रगुणमिति पुनः पुच्छपद किमर्थं तल्लक्षणति वाच्यम्, ‘कस्मिन्वहमुक्ता ते उक्तान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि’ इति जीवरूपेण प्रविष्टस्य ब्रह्मण स्थितिहेतुवेनाग्राऽपि प्राण ब्रह्माधारयोगमावात् एवमाधारभूतानामपि पीठादीनामत्रादिवर्जितनहेतुवाददर्शनात् पुच्छपदेनाधारे प्रतिपादितेऽपि प्रतिष्ठापदेन ‘कोद्येताया क प्राप्तात् यदेव आकाश आनन्दा न स्यात्’ इति वाक्यावगतस्थितिहेतुवप्रतिपादने न काचिदनुपपत्तिरिति तत्र नास्तिारस्यम् । आनन्दमयस्य ब्रह्मप्रतीतिगमकं न किञ्चि पश्याम प्रायपाठानुसारेण अक्षमयादितुल्यतया प्रतिपन्नस्थानन्दमयस्यात्रसमयादिवदब्रह्म समम् । सर्वत्राभ्युपाध्यवच्छिन्नजीवस्यैव विवक्षणीयत्वात् । उपसङ्गता ते अन्यत्रेवा विशेषण सर्वत्र प्रतिपादन आनन्दमयस्य कथं ब्रह्म न सम्भवति । अत उपक्रमे शयब्रह्मण एव प्रस्तुततया ब्रह्मशानाशानया फलस्यात्र निरूपणेन ‘ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा’ इति प्रस्तुतब्रह्मशानभाषामात्रयारेव ‘असन्नेव सम्पत्ति’ इति वाक्यप्रतिष्ठा स्फुरति ‘ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा’ इति वाक्यता पर्यायिणीभूत जीवामित्र ब्रह्मैवति निणायते । अत्र शङ्करभाष्यदूषणेषु प्रघातभूतैकदूषणस्य शङ्कितत्वेऽपि अन्यान्यापि दूषणानि अत्र शङ्कितुरभिप्रतानि । तथाहि ‘स्मा एव पुरुषोऽन्तरसमयः’ इत्युपक्रम्य विज्ञानमयपर्यन्त विकारार्थे मयट्प्रवाहेसति आनन्दमयएवाकस्मादर्धजरतीय यायन कथमिव मयट्प्राचुर्यार्थेन ब्रह्मविषयवत्ताश्रीयत इति । मानवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेन्न अत्रमयादीनामपि तर्हि ब्रह्म वप्ररङ्ग । अत्रमयादिषु ‘अन्योऽन्तर आमा’ इति श्रूयमाण वादब्रह्मत्व आनन्दमयेतु तस्याभूयमाण वात्ब्रह्म वमितितु नशङ्क्यम् ‘सत्य शानमनन्तम्’ इत्यत्र यद्ब्रह्म प्रस्तुत तद्विजिज्ञापयिष्यैव अत्रमयादय आनन्दमयपर्यन्ता पञ्चकाशा कल्पन्ते इति । अपिचानन्दमयस्य ब्रह्मणे प्रियाश्रयवत्त्वेन सविशेष ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् । निर्विशेषतु धात्ररूप श्रूयते । वाक्यनस्योरगोचरताभिधानात् ‘यो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मासा सह । आनन्द ब्रह्मणा विद्वान् । नविभति कुतश्चनेति’ इति मयट् प्राचुर्यार्थकवे दुस्वाप्य वप्रतीतिरवर्जनीया स्यात् । नचानन्दमयाभ्यासदश्रूयते । प्रतिपदिकार्यमानमवहि सर्वत्राभ्यस्यते । ‘रसो वैसः’ इत्यारम्य ‘यदेव आकाश आनन्दा न स्यात्’ ‘संज्ञान दस्य मीमांसा भवति आनन्द ब्रह्मणा विद्वान् । नविभेति कुतश्चेनात इति ‘आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्’ इति च । नचानन्दमयस्यब्रह्म व

## श्रीभाष्यम्

यथाऽन्नमयो देहोऽवयवीस्यस्मादनतिरिक्तैः स्वावयवैरेव 'तस्येदमेवशिरः' (तै.आन.१)  
इत्यादिना शिरःपक्षपुच्छवत्तया निदर्शितः । तथा आनन्दमयं ब्रह्मापि ; स्वस्मादनतिरिक्तैः  
प्रियाऽदिभिर्निदर्शितम् । तत्रावयवत्वेन रूपितानां प्रियमोदप्रमोदानन्दानामाश्रयतयाऽ-

## श्रुतप्रकाशिका

अननिरिक्तत्वमुपपादयति । यथेति । प्रकरणे स्वस्मादनतिरिक्तैस्स्वावयवैः पुच्छप्रतिष्ठात्वरूपणदर्शनात् अत्रापि पुच्छप्र-  
तिष्ठात्वेन रूपितं ब्रह्म आनन्दमयादनतिरिक्तमित्यर्थः । पश्यानिर्देशसमुदायतदेकदेशत्वेनान्नन्धनतयोपपन्न इति भावः ॥

## गूढार्थसंग्रह

प्रियाशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिस्तदसम्भवात् । तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यानन्दप्राप्तेर्पादिकस्य ब्रह्मणि प्रयोग  
दर्शनात् 'यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिब्रह्मविषयप्रयोगः नत्वा नन्दमयाभ्यासइत्यवगन्तव्यम् । (सू.भा)  
आनन्दमय इति कार्यात्मप्रतीतिः, अधिकारान्मयदृष्ट्या च । अन्नादिमयाहि कार्यात्मनो भौतिका इहाधिकृताः  
तदधिकारपातितश्चायमानन्दमयः सङ्क्रमणाच्च । 'आनन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति' इति वक्ष्यति । कार्यात्मना च सङ्क्र-  
मण अनात्मना दृष्टम् सङ्क्रमणकर्मत्वेन चानन्दमयः परमात्मा श्रूयते । यथा 'अन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामति' इति ।  
नचात्मन एवोपसङ्क्रमणमाधकारविरोधादसम्भवाच्च । नह्यात्मनैवात्मनो सङ्क्रमण संभवति स्वात्मनि भेदाभावात् आत्म  
भूतच ब्रह्म सङ्क्रमितुः, शिरआदिकल्पनानुपपत्तेश्च । नहि यथोक्तलक्षणे आकाशादिकारणे अकार्यपतिते शिरआवयववरू-  
पकल्पनोपपद्यते । 'अदृश्येऽनात्म्ये' 'नेतिनेति' इत्यादिविशेषापोहश्रुतिभ्यश्च' इति (उ.भा) । विकारार्थमयद्रागपाठानुरो-  
धेन आनन्दमयः न प्रधानः अपितु पुच्छ ब्रह्मैव प्रधानम् इति वदतामते 'अन्नाद्वै प्रजाःप्रजायन्ते' इत्यादिवाक्यानां  
चतुर्णां यथा न पुच्छविषयकत्वं, किंतु अन्नरसमयविषयकत्वमेव तत्प्रायपाठानुरोधेन, 'असंशयसंभवति' इति वाक्य-  
स्यापि न पुच्छविषयकत्वम् अपितु, आनन्दविषयकत्वमेवेति समाधत्ते—मैवमित्यादि । 'यतो वाच' इति श्रुतिरपि  
मनोविषयिण्येव नतु ब्रह्मविषयिणी, 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध-  
सत्त्वः ततस्तु त पश्यति निष्कल ध्यायमानः' (सू.३.१.८) इति श्रुतौ 'ओमित्येवात्मानं ध्यायय, तद्विशनेन परिप-  
श्यन्ति घीरा. आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति तत्रैवोपनिषदि पूर्वोक्तस्य विशुद्धमनोज-यज्ञानानन्तरकालिकसमाधेः—  
प्रतिपादनेन 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यापि तदर्थस्य विवक्षितत्वेन मनोविषयत्वस्य सूत्रपादत्वात् । ध्यानानन्तर  
कालिकसमाधिरेव मोक्षसाधनज्ञानप्रतिपादकवाक्येषु विवक्षित इति श्रुतिसूत्रादिसिद्धान्तइति प्रागेव निरूपितम् । अनएव  
'मनसैवानुद्वेष्टव्यम्' इति (वृ) श्रुतिरुपपद्यते । अत्र तृतीयया ध्यानानन्तरकालिकसमाधौ मनसःकारणत्वं प्रतिपादितम् ।—  
योगसूत्रेषु अयमर्थः स्फुटः । शङ्कराचार्यादिसंमतश्चेत्यपि पूर्वमेव निरूपितम् । एतेन 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु  
त पश्यति' इति श्रुतौ 'ततः—अवगात्' इत्यद्वैतसिद्धिव्याख्यानमभिनिवेदकमूलकमिति सिद्धम् । 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न  
वागच्छति नो मनः' इत्यादि त्रयाणां ब्रह्मण्यप्रवृत्तिर्बोध्यते । नत्र विवरणकारमते वाचःप्रवृत्तिः, मण्डनवाचस्पतिमते  
मनसःप्रवृत्तिरङ्गीक्रियते । तलवकारोपनिषदि का स्येन वेदननिषेध एव तत्प्रकरणपर्यालोचनायां प्रतीयत इत्यापि पूर्वमेव  
निरूपितम् । सिष्ट सिद्धान्तकथनावसरे निरूपयिष्यते । अतः मनोमयपर्यायिणो मानसज्ञानस्य विवक्षितत्वेन पुच्छस्या  
विवक्षिततया आनन्दमयवाक्येऽपि प्रायपाठानुरोधेन आनन्दमयस्यैव नन्तरत्वात्वेन विवक्षा शुक्ता ननु पुच्छस्य । एतेन

## श्रीभाष्यम्

खण्डरूपमानन्दमयं ' ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ' (तै.आ.५.अनु) इत्युच्यते । यदिचानन्दमयादन्य  
 ब्रह्माभविष्यत् ' तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योऽन्तरात्मा ब्रह्मेत्यपि निर्देक्ष्यत ; नचैवं  
 निर्दिश्यते । एतदुक्तंभवति ' ब्रह्मविदाप्नोतिपरम् ' (तै.आ.१) इति प्रकान्तं ब्रह्म ' सत्यं  
 नमनन्तं ब्रह्म ' (तै.आन.१) इति लक्षणतस्मकलेतगव्यावृत्ताकारं प्रतिपाद्य तदेव ' तस्माद्वा  
 एतस्मादानन्दमनः ' (तै.आ.१) इत्यात्मशब्देन निर्दिश्य तस्य सर्वान्तर्गत्वेनाऽऽत्मत्वं व्यञ्जयद्वा-  
 क्यमन्नमयादिषु तत्तदन्तरतया आत्मत्वेन निर्दिष्टान् प्राणमयादीनतिक्रम्य ' अन्योन्तर-  
 आत्माऽऽनन्दमयः ' (तै.आ.५.२) इत्यात्मशब्देन निर्देशमानन्दमये समापयति । अत आत्म  
 शब्देन प्रकान्तं ब्रह्मानन्दमय इति निश्चीयते ॥

ननु च ' ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ' (तै.आ.५.३) इत्युक्त्वा ' असन्नेयसंभवति । असद्ब्रह्मेति  
 वेदचेत् अन्तिब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनन्ततो विदुः ' (तै.आ.६.१) इति ब्रह्मज्ञानाज्ञानाभ्यामा-  
 त्मनस्सद्वाचासद्वाचौ दर्शयति : नानन्दमयज्ञानाज्ञानाभ्याम् । नचानन्दमयस्य प्रियमो-

## श्रुतप्रकाशिका

ननु ' आनन्द आत्मा ' इत्यानन्दोऽवयवित्वेन रूपितः नत्ववयवत्वेन, तत्कथमुच्यते अवयवत्वेन रूपितानां  
 प्रियमोदप्रमोदानन्दानामिति । नैष दोषः आत्मशब्दस्य स्ववाचित्वाभावात् कायस्य मध्यभागोऽहम्शब्दवाच्यः ' दश  
 हस्या अङ्गुलयो दशपद्या द्वायूरू द्वौबाहू पञ्चविंश आत्मा ' इत्यादौ प्रयोगदर्शनात् । अतएव तस्यानन्दआत्मेति  
 पठ्या \* व्यतिरेकनिर्देशस्वारस्य सिध्यति, तस्मादानन्दो मध्यभागत्वेन रूपितः । नन्वेवमपि पुच्छतया निर्दिष्टं ब्रह्मे  
 त्यङ्गीकृतं स्यात् । \* ततः किं तर्हि किं निरसनीयम् ? आनन्दमयस्याब्रह्मत्वम् अतस्तन्निरासमुखेन पुच्छस्य तदन्तर्भावो-  
 ऽभिधीयते ॥ हेत्वन्तरमाह—यदिचेति । ननु तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योन्तरात्मा ब्रह्मेत्यन्तरात्मतयैव निर्देशोक्तव्य-  
 इति नह्यस्ति नियमः ' पृथगात्मानं प्रेरितारम् ' ' पतिं विश्वस्य ' इत्यादिवद्व्यावर्तकाकारान्तरेणाप्यन्यत्वं प्रतिपादन  
 समयादित्याशङ्क्याह—एतदुक्तमिति । प्रकरणस्य तत्तदन्तरतयैवाव्यवप्रतिपादनपरत्वात्तत्प्रकरणस्येन वाक्येन तादृशेन  
 भविन्यभिमित्यर्थः । आत्मशब्दस्य श्रुत्यैव व्याख्यानं कृतमिति कथमवगम्यत इति शङ्काया स्वेतस्य स्वयमेव व्याख्यान  
 प्रकरणसिद्धमिति दर्शयितुमात्मशब्दनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मत्वोपपादनोपयोगितया च ' ब्रह्मविदाप्नोति ' इत्याद्युक्तम् । तत्र  
 ब्रह्मशब्दव्याख्यानं सत्यज्ञानादिवाक्यम् आत्मशब्दव्याख्यानमानन्दमये समाप्तमस्तु ततः किमानन्दमयस्यैव ब्रह्म व इति  
 शङ्काया ब्रह्मशब्देन प्रकृतस्यैवात्मशब्देन निर्दिष्टत्वं दर्शयति । तदेवेति । ' तस्माद्वा एतस्मात् ' इति तदेतच्छब्दौ  
 प्रकृतपरामर्शिनोऽवित्यभिप्रायः ॥

पुनश्चोदयति ननुचेति । पूर्वं प्राधान्येनोक्तानामन्नमयादीनां श्लोकेषु तत्तच्छब्दैरेव निर्देशो दृष्टः एवमत्राप्यान-  
 न्दमयः प्रधानश्चेत्तद्विषयश्लोकेऽपि तच्छब्देनैव निर्देष्टव्यम् । यद्वा यद्यानन्दमये आत्मशब्दव्याख्यानपरिसमाप्तिः—  
 तर्ह्यात्मशब्देन निर्देष्टव्यम् । तथा च नकृतम् अपितु ब्रह्मशब्देन निर्दिष्टम् । तस्मादानन्दमयस्य न प्राधान्यं अतः पुच्छ-  
 ब्रह्मैव प्रधानप्रतिपाद्यमित्यर्थः । ब्रह्मशब्दस्यानन्दमयविषयत्वे सिद्धे ब्रह्मशब्देन निर्देशो नदोष इति शङ्का \* मर्यादापरिहरन्  
 पुन्यन्तरमाह—नचानन्दमयस्येति । आशङ्काशब्देनोदाहृतश्रुतिवाक्यद्वयस्यभेदार्थो व्याख्यातः । सर्वलोकप्रसिद्धस्य दृ-



## श्रीभाष्यम्

दादिरूपेण सर्वलोकविदितस्य सद्भावात्सद्भावज्ञानाशङ्का युक्ता । अतो नानन्दमयमधिष्ठ-  
न्यायं श्लोक उदाहृतः । तस्मादानन्दमयादन्यद्ब्रह्म । नैवम् । ' इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ' (तै.आ.१)  
' पृथिवीपुच्छं प्रतिष्ठा ' (२.३) ' अथर्वाङ्गिरसःपुच्छं प्रतिष्ठा ' (३.३) ' महःपुच्छं प्रतिष्ठा ' (४  
२) इत्युक्त्वा तत्रतत्रोदाहृताः ' अज्ञातैः प्रजाः प्रजायन्ते ' (तै.२.१) इत्यादिश्लोका यथा न  
पुच्छमात्रप्रतिपादनपराः ; अपित्वष्टमयादिपुरुषप्रतिपादनपराः ; एवमभाष्यान्नानन्दमयस्या-  
यम् ' असन्नेव ' (तै.आन.६.१) इति श्लोकः ; नानन्दमयव्यतिरिक्तस्य पुच्छस्य । आनन्दम-  
यस्यैव ब्रह्मत्वेऽपि प्रियमोदादिरूपेण रूपितस्यापरिच्छिन्नानन्दस्य सद्भावासद्भावज्ञाना-  
शङ्का युक्तेय । पुच्छब्रह्मणोऽप्यपरिच्छिन्नानन्दतयैव ह्यप्रसिद्धता । शिरःप्रभृत्यवयवित्वा-  
भावाद्ब्रह्मणो नानन्दमयो ब्रह्मेति चेत् ब्रह्मणः पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वाभावात् पुच्छमपि ब्रह्म न  
भवेत् । अथा विद्यापरिकल्पितस्य वस्तुनस्तस्याश्रयभूतत्वात् ब्रह्मणः पुच्छप्रतिष्ठेति रूपण-  
मात्रमिन्युच्येत ; हन्त तर्हि तस्यासुरसाध्यावृत्तस्यानन्दमयस्य ब्रह्मणः प्रियशिरस्त्वादिरू-  
पणं भविष्यति । एवं च ' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' (तै.आन.१) इति धिक्कारास्पदजडपरिच्छिन्नव-  
स्त्वन्तरव्यावृत्तस्यासुरसाध्यावृत्तिरानन्दमय इत्युपदिश्यते । ततश्चाखण्डैकरसानन्दरूपे

## श्रुतप्रकाशिता

पदवाक्येनासद्भावश्च \* सद्भावाऽप्याशङ्कावादो न युक्त इत्यर्थः । परिहरति नैवमिति । ब्रह्मानन्दमयशब्दानामैकार्थ्ये  
निश्चिते आनन्दमयशब्दनिर्देशसमो ब्रह्मशब्दनिर्देश इति स्फुटोमिति बुद्ध्या आनन्दमयप्राधान्ये युक्तिमाह—इदं पुच्छं  
मिति । प्रकरणस्य पूर्वश्लाकानां पुच्छमात्रप्रतिपादनपरत्वाभावादयमपि श्लोको न पुच्छमात्रप्रतिपादनपर इत्यर्थः ॥

प्रसिद्धानन्दस्य सद्भावासद्भावशङ्काऽनुपपत्तिं परिहरति । आनन्दमयस्येति । प्रतिव-दीमभिप्रेत्याह—पुच्छब्रह्मणो-  
पीति । ' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ' ' आनन्दो ब्रह्म ' इत्यादिवाक्येन ब्रह्मण आनन्दरूप वस्तोत्त्वादानन्दस्य च प्रसि-  
द्धत्वान्नस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशङ्का युक्तेति चोदिते नस्थानन्दरूपस्य ब्रह्मणोऽविदितत्वमपरिच्छिन्नानन्दत्वादेव हि त्वयो-  
पपादनीयं तदत्रापि तुल्यमित्यर्थः । शङ्कते—शिरःप्रभृतीति । परिहरति—ब्रह्मण इति । पुच्छत्व अवयवविशेष उक्तम् । प्रति  
प्राक्त आध्यात्मम् । ब्रह्मणोऽवयवत्वमनुपपन्नमिति चेत् अवयवत्वमप्यनुपपन्नमित्यर्थः । अवयवव रूपणमात्रमिति शङ्कते  
अथेति । परिहरति हन्ततर्हीति । असुरसादिति । असुरसाध्यावृत्तिविशेषाः शिरः प्रभृति वेन रूपिता इत्यर्थः । सत्यज्ञाना  
दिवाक्येन सकलेतरव्यावृत्तत्वे सिद्धे किमत्र क्रियत इत्याह—एवं चेति । सत्यशब्दनिर्दिष्टस्य ब्रह्मणः कस्यचिद्विकारत्वा  
भावादानन्दमयशब्दवाच्यत्वमप्ययुक्तमित्यत्राह—ततश्चेति । ततः उक्तानुपपत्तीनां परिहृतत्वादुपपत्त्यन्तरसद्भावाच्चैत्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

'तस्य यजुर्वेद शिरः' 'अथर्वाङ्गिरसःपुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र स्वस्मादनतिरिक्तैः स्वावयवैर्दिशरपुच्छादिकल्पन नास्तीति न्या.१.  
उक्तिरपि समाहिता । ' द्वे विद्ये वेदितव्ये पराचैवापराच तत्रापय ऋग्वेदः ' इत्यादिना उपनिषदन्तरे अपरविद्यात्वेन ऋगे  
दादीना प्रतिपादनेन अत्रापि मनोवृत्तिरेव विवक्षितेति प्रागुक्तार्थे बाधकत्वाभावात् । ' सत्ता एष पुरुषोऽक्षरसमयः ' इत्यत्र  
रसशब्दापादान ' अन्नमशितं त्रेधा विधीयते ' इत्याद्युक्तार्थबाधनाय तेन जीवविवक्षा न सिद्ध्यति । ' नित्रयथाऽऽश्रय  
मृते ' (सा.का.४१) इति कारिकाविवरणनत्वकौमुद्या स्मृत्याधिकरण(श) भाष्यविवरणद्वये च पुनरुपपत्तयः शरीरपरत्वम्

## श्रीभाष्यम्

ब्रह्मण्यानन्दमय इति मयद्प्राणमय इव स्वार्थिको द्रष्टव्यः तस्मादविद्यापरिक्लिप्तदिदिध  
देवादिभेदमिदस्य जीवात्मनस्स्वाभाविकं रूपमखण्डंकरसं सुखतानमानन्दमय इत्युच्यते  
इत्यानन्दमयःप्रत्यगात्मा ॥

## श्रुतप्रकाशिका

किंच 'सोऽकामयत' इति वाक्ये स इति पुल्लिङ्गतच्छब्देन कारणवस्तुनिर्देशाच्चानन्दमयः परब्रह्म 'तस्मा-  
द्वा एतस्मादात्मनः' इत्यात्मशब्दानिर्दिष्टा माऽभिप्रायोऽयं पुल्लिङ्गनिर्देश इति चेन्न, व्यवहितादव्यभिक्तस्य ब्रह्मत्वेना-  
नन्दमयस्य ब्रह्मत्वात् 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इति वाक्यात् पश्चा पठितस्य 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इतिवाक्य  
म्यस्यात्मशब्दस्य व्यवधानाभावात्तदभिप्राय इति पुल्लिङ्गनिर्देशः आनन्दमयस्त्वतद्वाक्यापक्षया व्यवहित इति न स परा  
मश्यत इति चेन्न ; 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इति वाक्यस्यस्यात्मनस्सर्वपर्यायसाधारणत्वेनैतपर्यायस्य प्रधानप्रति-  
पादनाभावात् सर्वनामशब्दस्य प्रधानपरामर्शित्वस्वारस्याच्च सइत्यानन्दमयएवाच्यते 'विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्'  
'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यत्र 'विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्कम्य, आनन्दमयमात्मानमुपसङ्कम्य' इत्यत्र  
च स्थानप्रमाणेनानन्दमयशब्दयोरेकार्थत्वावगमादानन्दशब्दस्य परब्रह्मविषयव्यप्रतिष्ठेऽनन्दमय परब्रह्म ॥

नच 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यानन्दशब्दोऽप्यानन्दमयशब्दवत् ब्राह्मकोशपर इति वाच्यम् ; 'अन्नब्रह्म, प्राणो  
ब्रह्म' इत्यादिप्रज्ञानानन्तरमिव 'आनन्दो ब्रह्म' इति प्रज्ञानानन्तर भूगोर्वरुणोपसत्यभावात् । नाह 'तद्विज्ञाय  
पुनरेव यरुणं पितरमुपससार' इति पुनश्श्रूयते । एतदुक्तमिति 'अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यत्र किमन्नाद्यु-  
पसङ्कम्यरहवेदनमुक्तम् उतात्रमयादौ ब्रह्मपुच्छव्यवतरणम् । आद्येऽन्नब्रह्मेति ज्ञानानन्तर वरुणापसात्तिन स्यात् उपलक्षण  
भूतेन तत्र ब्रह्मणःप्रतिपन्नत्वात् । द्वितीयेह्यानन्तावप्यब्रह्मबुद्धेर्यथात्व स्यात् पुनर्वरुणोपसत्यभावादिति । किंच 'आन-  
न्दोब्रह्म' इत्यानन्दशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं युष्माभिरत्र व्याख्यातम् उक्ताहि 'यातु भार्गवी वारुणी विद्या आनन्दोब्र-  
ह्मेति व्यजानात्' इति तस्य मयदोऽश्रयणात् प्रियशिरस्वाद्यश्रयणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वमिति । अतश्च 'आनन्दो  
ब्रह्म' इत्यस्य वाक्यस्य परमात्मपरत्वात् स्थानप्रमाणेन 'अनन्दमयमात्मानम्' इत्यानन्दमयशब्दोऽपि परमात्म-  
पर । आनन्दमयस्य शोध्यत्व च तदनुगुणससारनिर्हरणादिरूपमिति चानुसन्धेयम् ॥

प्रत्यगात्मस्वरूपमेवापरिच्छिन्नानन्दरूपचेत् कथं जीवानां दुःखिन्वसुखिन्वतारतम्यचोपलभ्यत इति शङ्का च परिह-  
रन् पूर्वपक्षमुपसहरति तस्मादिति । 'तस्य प्रियम्' इति सङ्गधवाचिन्या पृष्ठ्या व्यतिरेकप्रतीतिर्ब्रह्मविषयस्योपरितन-  
श्लोकस्य आनन्दमयविषयत्वाभावेन पुच्छतयात्तब्रह्मण एव प्रधानत्वावगमात् । प्रियमोटादिरूपेण लोकविदितस्यानन्द-  
मयस्य सद्भावासद्भावज्ञानशङ्काऽनुपपत्तेः, निरवयवस्य परमामनोऽवयवि वानुपपत्तेः अविकारस्य विकारि वानुपपत्तेः—

## गूढार्थसंग्रह

स्वीकृतम् । स्थूलसूक्ष्मतीन्यायेन अर्थनिरूपणप्रकरणे पुरुषशब्दोऽपि न विरुध्यते । अतः अन्नप्राणमनोमयपर्यायेषु उपाध्यव-  
च्छिन्नजीवविवक्षासाधकं नैव वर्तते इति सिद्धम् ॥

आनन्दमयइति मयदित्यादे । एतेनात्र विकारार्थमयदसम्भवः परोक्तमयदप्रायपाठनिर्णयायोगश्च सूचितः ।  
आनन्दशब्दस्य बृहत्वेऽपि 'नित्यं बृहदशरादिभ्यः' इति सूत्रेऽपि 'भाषाया' नित्यस्यानुवृत्त्या द्वाचकत्वान्नान्येन ।

## श्रीभाष्यम्

परं प्राप्ते प्रचक्षमहे—‘ आनन्दमयोऽभ्यासात् ’ आनन्दमयःपरमात्मा ।

## श्रुतप्रकाशिका

‘ तस्यैव एव शरीर आत्मा ’ इत्यानन्दमयविषयवाक्यागतस्या माऽन्तरस्य परमात्मतया आनन्दमयस्य परमात्मत्वानु-  
परतेः ‘ अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयामे शुध्यन्ताम् ’ इति श्रुतस्य शोध्यत्वस्य नित्यशुद्धे परमा म-  
न्यनुपपत्तेश्च नानन्दमयः परमा मा अपितु पुच्छतया निर्दिष्टमेव ब्रह्म परमा मेति पुच्छब्रह्मवादहेतुसङ्ग्रहः ॥

प्रकरणस्य स्वस्मादनतिरिक्तैस्त्वायवैरिशरः पक्षादरूपणपरत्वात्तदन्तरतया आत्मशब्दव्याख्यानस्यानन्दमये पर्यव-  
सिते वादप्रमयादिविषयाणां प्रकरणस्य श्लोकानां पुच्छादिपक्षत्वात् कारणत्वप्रतिपादके ‘ सोऽकामयत ’ इत्यनन्तरवाक्ये  
सदृशि पुल्लिङ्गान्तेन प्रधानप्रवृत्तार्थपरामर्शिता तच्छब्देनाध्ययहितस्यानन्दमयस्यैव वक्तुं युक्तत्वात् ‘ आनन्दो ब्रह्म ’  
इत्यनन्दशब्दस्य प्रथमरंभाभ्युपगमनात् आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ‘ आनन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य ’ इत्यान-  
न्दानन्दमयशब्दयोरैकार्थ्यत्वानन्दमयशब्दस्यापि परब्रह्मपरत्वात् । आनन्दमयशब्दतुल्यानन्दशब्दवाच्यब्रह्मज्ञानान-  
न्तर बह्मणोरसत्त्वश्रवणात्, सूत्रस्वारस्यात् स्वस्मादनतिरिक्तत्वायवैरव शिरःपक्षपुच्छादिरूपणपरप्रकरणानुगुण्येन पक्षीनि-  
र्देशस्य समुदायसमुदायिभावनिवन्धनत्वोपपत्तेरानन्दमयात्मब्रह्मशब्दानामैकार्थ्येन तेष्वन्यतमेन तद्विषयश्लोके निर्देशस्य  
युक्तत्वादपरिचित्तानन्दस्याप्रसिद्धत्वेन ‘ आनन्दो ब्रह्म ’ इत्युक्ततयाऽभ्युपेतपुच्छब्रह्मण इव सद्भावासद्भावशङ्क सम्भवा,  
दवयववदवयवित्वेन रूपणसम्भवादानन्दमय इत्यत्र मयट्प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वेन प्राचुर्यार्थत्वेन वा विकारपरत्वाभावेन  
ब्रह्मणो निर्भिकारत्वाप्रयोगात् ‘ तस्यैव एव शरीर आत्मा ’ इति वाक्यस्यानन्यात्मत्वप्रतिपादनपरत्वात् ‘ अन्नमय  
प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयामे शुध्यन्ताम् ’ इत्यत्र शोधनं तत्तद्वस्त्वनुगुणं कार्यमिति प्रत्यगा म वपक्षे स-  
सारनिर्हणेन शोध्य वात्तदतिरिक्तत्वपक्षे भगवतः कालुष्यशान्तिरूपशोध्यत्वस्य प्रपदनसाध्यस्योपपन्न वाद्यानन्दमयानतिरिक्त-  
पुच्छब्रह्मस्यानन्दमय एव परमात्मेति पुच्छब्रह्मवादनिराकरणयुक्तिसङ्ग्रहः । अत्राद्य हेतुपदक सिद्धान्तसाधक इतरहेतुग-  
णशङ्काविषययुक्तिपरिहारपरः तस्मादित्यधिकरणपूर्वपक्षोपसंहारः ॥

आस्मिन्पूर्वपक्षे प्राप्त सिद्धान्तसूत्रमवतारयति एवंप्राप्तइति । तत्र प्रतिज्ञाश साध्यसमर्पकपदेन पूर्यव्याचष्टे—  
आनन्दमयइति । उत्तराधिकरणे ‘ भेदव्यपदेशाच्चान्यः ’ इत्यन्यशब्दः प्रयुक्तः इह तदाकर्षणलब्धोऽर्थ उक्तः परमा मेति  
यदा पूर्वाधिकरणसूत्रस्यानाशब्दमिति पदयोरनुबङ्गलब्धार्थमाह—परमात्मेति । आस्मिन्शब्द एव प्रमाणं न भवति स

## गूढार्थसंग्रह

न्दसि ’ इति सूत्रप्रवृत्त्या च विकारायै मयट् असम्भवात् ‘ तत् आगत ’ इति सूत्र ‘ मयट्च ’ इति सूत्रेण मयटः प्रवृ-  
त्तिकल्पनापेक्षया स्वार्थे मयट्कल्पनमेवोचितम् । ‘ तत्प्रकृतवचने मयट् ’ (पा.सू.५.४.२१) इत्यस्य स्वार्थिकप्रकरणे  
पाठेन स्वार्थिकप्रत्ययस्यैव युक्तत्वात् । अयमर्थः प्राक् (७४२.पु) जिज्ञासाऽधिकरणोदाहृतकाशिकाऽदिग्रन्थेषु स्फुटः ।—  
किंच शब्देन्दुशेतेर नागेशेन ‘ तद्ब्रह्मण वाक्यभेदेन प्राचुर्याभावेऽपि अत्यन्तस्वार्थिकमयडर्थे तेन चिन्मय ब्रह्मेत्यादिसि-  
द्धम् । ’ इत्युक्त्या प्राचुर्याविवक्षायां अपि उक्तसूत्रेण मयट्सम्भवति । एतेन ‘ यदेव आकाश आनन्दो न स्यात् आनन्दा-  
दुमेव पञ्चिमाभि ’ इति मयट्हेतुवाचयानामेव जीवाभिन्नब्रह्मपरत्वं ननु मयड्युक्तवाक्यस्येति परोक्तिर्निरवकाशा, स्वार्थे

## श्रीभाष्यम्

‘ यतो वाचो निवर्तन्ते ’ (तै.आन.९.१) इत्येधमन्तेन चाप्येन शतगुणितोत्तरक्रमेण निरति-  
शयदशाशिरस्कः अभ्यस्यमान आनन्दः

## श्रुतप्रकाशिका

इत्यस्यार्थमभिप्रेत्य निरतिशयदशाशिरस्क इत्युक्तम् ‘ स एको ब्रह्मणः ’ इति वाक्यस्यार्थमभिप्रेत्याभ्यस्यमान इत्युक्तम् ।  
शतगुणितोत्तरक्रमेण गुणितत्वादित्यर्थः । ‘ स एको ब्रह्मण आनन्दः ’ इति वाक्यस्य चतुर्मुक्तानन्दविषयत्वेन ‘ यतो  
वाच ’ इत्यादिवाक्यस्यैव ब्रह्मानन्दविषयत्वाङ्गीकारेऽभ्यासादिति हेतोर्व्यधिकरणता स्यात् ॥

किञ्च अयं ब्रह्मशब्दः परमात्मवाचकः ब्रह्मशब्दस्य भगवत्त्वेन मुख्यत्वात् ‘ ब्रह्मविदाप्नोति, अस्तिब्रह्मेति ’  
इत्यादिषु वाक्येषु परब्रह्मपरतैयव ब्रह्मशब्दस्य प्रयोगप्रकरणात् ‘ यतो वाचो निवर्तन्ते ’ इति पूर्वोत्तरयोर्वाक्ययोरान-  
न्दप्रतिसन्निधौ चाविष्यन्तब्रह्मशब्दस्य परब्रह्मपरत्वदर्शनात् ‘ सैवानन्दस्य भीमाङ्गसा ’ इति प्रकृतब्रह्मानन्दनिगमन-  
स्यापेक्षितत्वात् ‘ स यश्चायं पुरुष ’ इति प्रकृतपरमार्थिनाऽनन्तरवाक्यस्थेन कारणपरतच्छब्देन पूर्ववाक्यस्यास्यास्य ब्रह्म  
शब्दस्य परब्रह्मपरत्वनिश्चयात् अन्यथा चतुर्मुक्तस्य सर्वान्तरात्मत्वपरमकारणत्वप्रसङ्गात् । ‘ तदप्येष श्लोको भवति ’ इति  
भगवदानन्दविषयश्लोकोऽन्तर्धानस्य भगवानन्दप्रसङ्गसापेक्षत्वात् निरुपपदप्रजापतिशब्दस्य चतुर्मुखे स्वरस वदक्षादिपरत्वे-  
एकवचनस्वारस्याभावात् ‘ देवानाम् ’ ‘ देवगन्धर्वाणाम् ’ ‘ इन्द्रस्य ’ ‘ बृहस्पतेः ’ इति बहुषु व्यक्तिषु बहुवचनस्य  
एकैकव्यक्तिषु चैकवचनस्य प्रकरणे प्रयुज्यमानत्वाच्च । तथा ‘ स एक प्रजापतिलोकआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽष्टजिनो  
ऽकामहृत्तोथ तेयेशत प्रजापतिलोकआनन्दास्स एको ब्रह्मलोकआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽष्टजिनोकामहृत्तोथ एष  
एव परआनन्द एष ब्रह्मलोकस्साम्राडिति होवाच ’ इति बृहदारण्यकवाक्यैकार्थ्याच्च, ‘ स एको ब्रह्मण आनन्द ’ इति  
वाक्यस्य परमात्मानन्दपरत्व सिद्धम् ॥

नच ‘ स एक ’ इति निर्देशाद्ब्रह्मानन्दस्य परिच्छिन्नत्व आधिक्यमात्रे वाच्यतात्पर्यात् । यथा ‘ क्षिप्तेषुरिव  
संप्रति ’ इति वाक्यं सूर्यगतिमान्द्यनिवृत्तिपर नत्विषुसाभ्यपर सूर्यस्य निमेषमात्रेण बहुयोजनातिवृद्धनस्य प्रमाणसिद्ध-  
त्वात् तथाऽत्रापि पूर्वापरवाक्यादिभिरपरिच्छिन्नानन्दत्वसिद्धेः ‘ स एक ’ इति वाक्यस्य चतुर्मुक्तानन्दादाधिक्ये तात्पर्यं  
मित्यवगम्यते । यद्वा रोमकूपेष्वनन्तानि ब्रह्माण्डसन्नि भ्रमन्ति ते ।—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्रण्ययुतानि च । ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च ॥

गङ्गायां सिकता धारा यथा वर्षतिवासवे । शक्या गणयितुं लोके नव्यतीतपितामहाः ॥

इत्यादिभिरण्डानां तन्त्रे चतुर्मुक्तानां चासङ्ख्येयत्वाय गमात्रियाभ्याजियन्तु शतगुणानन्द वे कथ्यते चतुर्मुक्तैर्म्योऽसख्यतेभ्यः  
शतगुणानन्दतयाऽयगतस्य भगवतः अपरिच्छिन्नानन्दत्वमर्थसिद्धमिति अतो यथोक्तएवार्थः ॥

अभ्यस्यमान इति । अभ्यासशब्दः कर्मार्थव्यञ्जक इत्यभिप्रायः । यद्वा भावार्थत्वेऽप्यानन्दस्याभ्यस्तत्वं पलितमिति  
तथाक्तम् । तच्च हेतोर्व्यधिकरण्यशङ्काव्युदासार्थम् । ननु गुणनं वर्धनम् प्रजापत्यानन्दो हि शतगुणं वेन वर्धते ननु—

## गूढार्थसङ्ग्रहः

शतगुणितोत्तरक्रमेणेति । अत्र शतगुणनस्य श्रुतौ प्रतिपादनेन आनन्दशब्दस्य धर्मभूतशानावस्थावानेवार्थे इति  
भ्रमो व्युदस्य विषयानुकूल्यनिवर्धनत्वात् ज्ञानानुकूल्यस्य विषयानुभवजन्यः आनन्द इति नैयायिकमतमनुभवविरुद्धम् ।



### गूढार्थसङ्ग्रह

विशेषध्वनुकूलत्वानुभव एवानन्दः । शतगुणितोत्तरक्रमे एकस्यानुकूलत्वेन शतविषयापेक्षया अन्यस्य अनुकूलत्वेन शतविषयाधिक्य एव पर्यवसानम् । अत्र गच्छ्याभ्यासेन मनुष्यगन्धर्वादीनामानन्दस्य च भद्रं स्फुटं प्रतीयत इति 'आनन्दब्रह्मण' इत्येतदुत्तरवाक्येऽपि ब्रह्मभिन्नानन्द एव विवक्षितः । एव प्रकरणबलासिद्धौ ब्रह्मसम्भ्यानन्दोऽपि ब्रह्मसन्धिगुणविभूत्यादिरेव । वेदार्थसंग्रहान्ने ब्रह्मण एवानन्दरूपता 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभिः । तत्सम्भन्धादेवा मान्यसामान्यस्य आनन्दरूप एव इति सिद्धान्तितम् । अतश्च निरतिशयदशाशिरस्क ब्रह्मसन्धिगुणविभूत्यादिरेव 'आनन्दब्रह्मणा विद्वान्' इत्यत्र विवक्षितः । गुणविभूत्यादेस्सर्वस्य वाङ्मनसापरिच्छेद्यत्वमत्र विवक्षितम् । एतेन आनन्दस्य प्रागुक्त द्विविधसम्भक्प्रकाशितं भवति, उपक्रमे आनन्दपुरस्कारेण ब्रह्मणो ज्ञान ब्रह्मविदित्यत्रापि विवक्षितम् । 'अस्तिब्रह्मतिचेद्वेद' इत्यत्र तदेव विवक्षितम् नतु निर्विशेषज्ञानम् 'ब्रह्मास्ति' इत्यत्र असंघावर्थकर्तृत्वेनैव ब्रह्मणो ज्ञानस्य विवक्षितं यात् । तेन सविशेषब्रह्मज्ञानमत्र तत्र विवक्षितम् । अत्र गुणानां प्राधान्याभिप्रायेण तद्विशेष्यकज्ञानमभिहितम् तस्यैवामयहेतु एव च

कटापनिषत्त्रापि—'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इत्युपक्रम्य 'भयादस्याग्निस्तपात्' इत्यादौ भीष्मास्माद्वात पवत' इत्यादि क्रमणैवार्थोऽभिहितः । 'नाहमन्ये मुनेदेति' इत्यादौ मुशन्दादेः प्रयागेण कात्स्न्येन वेदनस्यैव निषध इति सिद्धया वाङ्मनसापरिच्छेद्यत्वमपि सूचितं भवति । अनन्तर—'अव्यक्तात्तु परं पुरुषा व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यश्चा वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।' 'नमदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषापश्यति कश्च नैनम्, हृदा मनीषा मनसाऽभिकलतो य एनविदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्यत्र मानसज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुत्वम् । 'ता योगमिति मन्यन्ते' 'विद्यामेतायोगविधिं च कृत्स्नम्' इत्युत्तरत्र योगस्य प्रतिपादनात् । नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्यो न चक्षुषा । अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते' (कठ २.६.१२) इत्यत्र वाच, मनसश्च प्राप्तिहेतु एव निषिध्य 'अस्ति' इति शेषत्व ब्रह्मण, प्रतिपादितम् । अत्राप्यसंघावर्थकर्तृत्वेन ज्ञानसविशेषज्ञानमेव । 'उभयोस्तत्त्वभावेन' इत्यत्र व्यापकपरपुरुषज्ञानस्य मुक्तिहेतु वप्रतिपादनेन व्याप्यव्यापकवस्तुनोरेकविधपरमार्थत्वेन अस्तीतिज्ञानमेव विवक्षितम् । पुरुषशब्दस्य ब्रह्मदारण्यकनिर्वचनत्रयानुसारणच सविशेषपरत्वमेव विवक्षितम् । आनन्दवल्लीयामपि 'साऽकामयत ब्रह्मस्य प्रजायय' इति सविशेषमभिधाय 'तस्माद्वा एतस्मादा मन आकाशस्सम्भूतः' इति पूर्वोक्तस्य विशदीकरणात् । अनन्तरानुवाक 'रसो वै स रसगुह्येवाय लब्धवानन्दी भवत' 'एष ह्यवानन्दयति' इत्यत्र जीवब्रह्मणोरुभयोस्सविशेषवस्यैव प्रतिपादनात् । 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इति वाक्येन 'यदप्य आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यत्र स्वयमान दशून्यस्य अन्यानन्दयितृ एव न सम्भवतीति बोधितम् । ब्रह्मण आनन्दरूपत्वेनैव ब्रह्मसन्धिगुणविभूत्यादेरानन्दरूपतेति बोधनायैवानन्दशब्देन घर्मिणो निर्देशः । अनन्तर 'यदाह्यैव एतास्मिन्' अथ सोऽभयङ्गतो भवति' इत्यत्र प्रागुक्तदिशा ध्यानेन अभयप्राप्तिरेव विवक्षितेति मनोभयपर्यायपाठेन निर्धारितं भवति । 'भीष्मास्माद्वात पवते' इत्यादिना ब्रह्मणो भयहेतु वप्रतिपादनेन अभयहेतु वमपि सूचितम् । आनन्दयितृ वप्रतिपादननापि तं सूचितम् । अतश्च 'यतो वाचो निर्वर्तन्त' इति श्रुतेः प्रागुक्त एवार्थः । श्रुतौ कात्स्न्यावेदनप्रतिषध एव विवक्षित इति प्रागेव निरूपितम् ॥

अतश्च श्रुतौ (शङ्करभाष्यदूषित) सविशेषपरत्वमत्र विवक्षितम् । प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौहि भद्र' इति सूत्रेण सविशेषब्रह्मैव विवक्षितमिति साधनेन आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेष ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् । निर्विशेषतु वाक्यशो भूयते' इत्युक्तं दूषणं न घटत । एतन्मूत्र(श) भाष्ये 'ब्रह्मघर्मोत्वेतान् कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण

## श्रीभाष्यम्

अनन्तदुःखमिश्रपरिमितसुखलवभागिनि जीवात्मन्यसम्भवन्निखिलहेयप्रतीकं कल्याणै-  
कतानं सकलेतरविलक्षणं परमात्मानमेव स्वाश्रयमावेदयति ॥ यथाऽऽह—

## श्रुतप्रकाशिका

ब्रह्मानन्दः सत्यम्—तथाऽपि गुणितः प्रजापत्यानन्द एव ब्रह्मानन्दइत्युपचारणोक्तिः ग्रीहिचतुष्टयं गुञ्जतिवत् गुणिततत्तदा  
नन्दसदृशस्यैकदशतया प्रतिपाद्यमानो ब्रह्मानन्दइत्यर्थः ॥

यद्वा मुहुर्मुहुर्भुक्तिरभ्यासः । तेन तात्पर्यलिङ्गवत्त्वं सूचितम् । असुखानन्दस्यापरिच्छिन्नत्वं, ततः किमित्यत्राह—  
अनन्तदुःखेति । अनेन निरतिशयानन्दविरुद्धधर्मयोग उक्तः परिमितेति निरतिशयानन्दमावउक्तः, विरुद्धर्मोपलम्भा-  
च्छादिसम्भव इत्यर्थः । कथमसम्भवः मुक्तस्यह्यपरिच्छिन्नानन्दत्वं श्रुतमित्यत्राह—निखिलहेयेति । प्रत्यर्नाकत्वमत्र निवर्त-  
कत्वं विवक्षितम् । मुक्तस्यापि परमात्मप्रसादादेवहि हेयानिष्टातिपूर्वकनिरतिशयानन्दप्राप्तिः इह च स्वतएवापरिच्छिन्नानन्द-  
त्वमवगम्यते हेत्वश्रवणादतिशयत्वश्रवणविरोधेन हतुकल्पनायोगाच्च । नच मुक्तस्य स्वतोऽनवच्छिन्नानन्दं वं 'अथसोभयं  
गतो भवति' 'एषह्येवानन्दयाति' 'रसगोह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति परमात्मायत्तवश्रुतेः नहेव परमा-  
त्मानन्दस्यान्याधीनत्वं श्रुतम् । 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' इति मुक्तः पृथङ्निर्दिश्यते । श्रोत्रियः श्रुतवेदात्तः अ-  
कामहतः उपासनानिष्ठस्तमस्तत्केशः 'यश्च श्रोत्रियोऽष्टिन्नोऽकामहत' इति श्रुत्यन्तरम् मुक्तस्य जगद्व्यापाराभावाच्च  
परस्यैव स्वतो निरतिशयानन्दयोगः । एव निरतिशयानन्दस्य जीवात्मन्ययोग्यतारूपतर्कानुगृहीत आनन्दमयशब्दः परमा-  
त्मविषयइत्युक्तं भवति । न केवलं निरतिशयानन्दत्वरूपवस्तुसामर्थ्यानुगृहीतत्वाद्वैलक्षण्यमवगतं कण्ठोक्तञ्चेत्याह—  
यथाऽहेति ॥

ननु 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रस्य विषयवाक्यहीदं तत्र व्याख्यास्यमानस्यास्य कथमिदोपादानमर्थोपपादन-  
ञ्च उच्यते निरतिशयानन्दस्य जीवात्मन्ययोग्यतारूपस्तर्कोह्यानन्दमयशब्दस्य परमात्मविषयत्वव्यवस्थापक उक्तः । अस्य  
तर्कस्थानेन वाक्येन गर्भितत्वात्तत्सूचकत्वेनेदं वाक्यमत्रोपन्यस्तम् अत्र हेतस्मादितिपदेन 'विज्ञानं यद्वतनुते कर्माणि  
तनुतेऽपि च' इति पूर्ववाक्यप्रवृत्तकर्मत्वादिवैशिष्ट्यं जीवस्याभिप्रेतं, धर्मिवाचिनाऽपि मयङ्मतेन विज्ञानमयशब्देन  
सर्वोपाधिनिर्मुक्तं स्वाभाविकरूपमसङ्गुचितज्ञानमित्यवयवशक्त्या दर्शितम् । अनेन वाक्येन स्वभावपरिशुद्धस्यापि

## गूढार्थसंग्रहः

प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वात्प्राप्तिरिति । सच न्यायोऽन्येषु निश्चिनेषु ब्रह्मधर्मोपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः सयद्वामादिषु  
सत्यकामादिषु च' (३.३.१२) इत्युक्तिरनुपादेया । निर्विशेषस्यैवाप्रामाणिकत्वात् 'आनन्दब्रह्मणो विद्वान्' इत्यत्र  
सविशेषब्रह्मणः बाह्यनसापरिच्छेदानन्दो विवक्षितइति प्रागेवोक्तेश्च । मयटः प्राचुर्यार्थकत्वसम्भवः द्वितीयसूत्रविवरणे उप-  
पादयिष्यते । धर्म्यान्न्दस्य धर्मभूतानन्दस्यचाभ्यासस्य पूर्वमभिधानेन आनन्दमयाभ्यासस्यानुक्त्या 'नचानन्दमयाभ्यास-  
श्श्रूयते' इत्याद्युक्तेरपि नावकाशः ॥

कठोपनिषदैककण्ठ्येन 'मनसैवानुदृष्टव्यम्' इति श्रुत्यन्तरानुसारेण च 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यत्र मान-  
ससमाधिरूपज्ञानमेव विवक्षितम् । एतत्तात्पर्येणैव मनोमयपर्याये 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति वाक्यप्रवृत्तिरिति पूर्वोक्त-  
युक्तमत्र । आनन्दमयस्य पूर्वपक्षोक्तजीवसत्त्वासम्भवेन जीवात्मनपरमा मपरवामित्याह—अनन्तदुःखमिश्रेत्यादिना ॥

## श्रीभाष्यम्

‘तस्माद्वा पनसाद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’ (नै.आनन्द. ) इति विज्ञानमयोहि जीवः न बुद्धिमात्रम् मयदप्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतिः । प्राणमयेत्वगत्या स्वार्थिकताऽऽश्रीयते । इहतु तद्वतो जीवस्य सम्भवान्नानर्थक्यं न्याय्यम् । यद्वो मुक्तश्च प्रत्यगात्मा ज्ञातेवेत्यभ्यधिष्मति । प्राणमयादौ मयदर्थसम्भवोऽनन्तरमेव वक्ष्यते । कथं तर्हि विज्ञानमयविषयश्लोके ‘विज्ञानं यन्नं तनुते’ इति केवलविज्ञानशब्दोपादानमुपपद्यते । ज्ञातुरेवात्मनस्स्वरूपमपि स्वप्रकाशतया विज्ञानमित्युच्यत इति न दोषः । ज्ञानैकनिरूपणीयत्वाच्च ज्ञातुःस्वरूपस्य । स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दादि धर्ममुखेन धर्मिस्वरूपमपि प्रतिपादयन्ति । गवादिशब्दवत् । ‘कृत्यल्युटो बहुलम्’ इति या कर्तरि ल्युडाश्रीयते । नन्वादित्वंवाऽश्रित्य ‘नन्दिग्रही’त्यादिना कर्तरि ल्युः । अतएव च ‘विज्ञानं यन्नं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च’ इति यन्नादिकर्तृत्वं विज्ञानस्य श्रूयते, बुद्धिमात्रस्यहि न कर्तृत्वं सम्भवति ।

## श्रुतप्रकाशिका

जीवस्य कर्मकृतानन्तदुःखमाजनस्य निरतिशयानन्दासम्भवात्ततः परमात्मनो विलक्षणत्वं प्रतिपादितमित्यत्रेदमुपात्तम् । अस्मिन्प्राक्के विज्ञानमयशब्दस्य बुद्धिमात्रपरत्वं व्युदस्यति विज्ञानमयोहीति । ‘योऽयं विज्ञानमयःप्राणेषु हृद्यन्तर्ग्योतिःपुरुषः’ इति श्रुतिप्रसिद्धिद्योतकोहिशब्दः । शब्दस्वारस्यानुग्राहकप्रत्यक्षप्रसिद्धिद्योतको वा ! अहं जानामीति ज्ञातृत्वं ज्ञातृत्वं प्रतीयते ॥

ज्ञप्तिमात्रवाचिनो विज्ञानमयशब्दस्य शायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्याऽन्तःकारणपरत्वमप्यस्वरसमित्यभिप्रयन्नाह—नबुद्धिमात्रमिति । मात्रवाभिप्रेतं प्रत्ययवैयर्थ्यं विशदयति । मयदप्रत्ययेनेति । प्रकरणवशात्स्वार्थिकत्वमाशङ्क्याह—प्राणमयेत्विति । अगत्या विकारप्राचुर्याद्यर्थान्तरासम्भवात् । पक्षे वैयर्थ्यमाह—इहत्विति । तद्वत्तइति । प्राचुर्यार्थत्वं संभवतीत्यर्थः नात्र मयदर्थसम्भवति ज्ञप्तिमात्रस्वरूपोह्यात्मा ज्ञातृत्वादि काल्पनिकम् । मुक्तावस्थाया तदपि नास्तीत्यत्राह—बद्ध इति । प्राणमयादौ स्वार्थिकत्वमभ्युपगम्य परिहार उक्तः । अथ तदेव नास्तीत्याह—प्राणमयादाविति । विज्ञानमयशब्दस्य तद्विषयश्लोकस्यविज्ञानशब्दसमानार्थत्वान्मयदस्वार्थिकइत्यभिप्रायेण पृच्छति कथं तर्हीति । उपपद्यते नहि विज्ञानस्य विज्ञानान्तराश्रयत्वं संभवतीति भावः । विज्ञानशब्दस्य ज्ञातरि प्रवृत्तौ निमित्तं दर्शयति ज्ञातुरेवेति । एवकारशङ्कितविरोधमावद्योतकः । अपिशब्दः ‘स्वरूपधर्मयोर्निमित्तसाधारण्यपरः । ज्ञातृशब्दतुल्यार्थतयाऽपि निर्वाहं दर्शयति—ज्ञानैकेति । ततः किमित्यत्राह—स्वरूपेति । स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दाः अयुतसिद्धधर्मवाचिशब्दाः आकृतिनयविषयतया सप्रतिपन्न शब्द निदर्शयति गवादीति ॥

एवं सौत्रन्यायाभ्यां द्विधा निर्वाह उक्तः । अथ शाब्दमर्यादया द्विधा निर्वाहमाह—कृत्येति । प्रथमे पक्षे कर्तृपरत्वं कल्पनीयम् । द्वितीये गणान्तर्भावः कल्पनीय इत्युभयत्राश्रयणशब्दप्रयोगः । प्रत्यक्षानुगुण्यात् श्रुत्यन्तरप्रत्यभिज्ञानात् प्रथमश्रुतत्वात्प्रकृतिस्वारस्यात् प्रत्ययानर्थक्यानुपपत्तेश्च, प्रबलविज्ञानमयशब्दानुरोधेन विज्ञानशब्दो निर्वाह इति भावः । स्ववाक्यस्य युक्त्यन्तरमाह—अतएवेति । अतएव विज्ञानशब्दस्य चेतनपरत्वादेवेत्यर्थः । यथादिकर्तृत्वे श्रुतेः कथं विज्ञानशब्दवाच्यस्य चेतनत्वमित्यत्राह—बुद्धिमात्रस्येति । बोद्धुंवाहि कर्तृत्वं प्रत्यक्षश्रुतिमिसूत्रैश्च सिद्धमिति भावः । ननु सर्वेषां स्वव्यापारकर्तृत्वमस्ति, इत्थं ; नात्र तावन्मात्रं विवक्षितं, किंतु चेतनासाधारणः कर्तृत्वविशेषः प्रयत्नाधारत्वलक्षणः यथादिकर्तृत्वमिति युक्तम् । अत्र विज्ञानशब्दस्वारस्यमुभयोरप्यविशिष्टं यथादिकर्तृत्वास्वारस्यंनु परस्याधिकम् ॥

## श्रीभाष्यम्

अचेतनेषु हि चेतनोपकरणभूतेषु विज्ञानमयात्प्राचीनेष्वन्नमयादिषु न चेतनधर्मभूत कर्तृत्वं ध्रूयते । अत एव चेतनमचेतनं च स्वासाधारणैर्निलयनत्वानिलयनत्वादिभिर्धर्मविशेषैर्विभज्य निर्दिश्य, वाक्यम् ' विज्ञानच्चाविज्ञानं च ' (तै.आ.५.२) इति विज्ञानशब्देन तद्गुणचेतनं वदति । तथाऽन्तर्यामिब्राह्मणे ' यो विज्ञाने तिष्ठन् ' (वृ.६.७.२२) इत्यस्य काण्वपाठगतस्य पर्यायस्य स्थाने ' य आत्मनि तिष्ठन् ' इति पर्यायमधीयाना माध्यन्दिना काण्वपाठगतं विज्ञानशब्दनिर्दिष्ट जीवात्मेति स्फुटीकुर्वन्ति । विज्ञानमिति च नपुंसकलिङ्ग वस्तुत्वाभिप्रायम् । तदेवं विज्ञानमयाजीवादन्यस्तदन्तर परमात्मा आनन्दमय । यद्यपि ' विज्ञानं यज्ञं तनुते ' (तै.आन.५ अनु) इति श्लोके ज्ञानमात्रमेवोपादीयते न ज्ञाता तथाऽपि ' अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय ' (तै.आन.४.१) इति तद्वान् ज्ञातैवोपदिश्यते । यथा--

## श्रुतप्रकाशिका

ननु ' अद्यतेऽस्ति च भूतानि ' इत्यत्रमय इव प्राकराणिकमौपचारिक कर्तृत्वमुपकरणवाविशेषादुद्देशेऽपि स्यादित्यत्राह—अचेतनेषुहीति । बाधकाभावेऽप्युपचारएव दोषः सच प्रकरणानुवृत्तश्चेत्सोढव्यस्यात् । नच तदनुवृत्तिः प्राणमये मनोमय च तस्य विच्छिन्नत्वादित्यभिप्रायः । विज्ञानशब्दस्य चेतनपरत्वे प्रयोगान्तरं दर्शयति । अतएव चेतनमिति । अतएव विज्ञानशब्दस्य चेतनपरत्वादेवेत्यर्थः । चेतनमचेतनञ्चेति । नह्यन्त करणानन्तरं करणविभागोऽत्र क्रियते किंतु चिदचिद्विभाग एवेति भावः, कुत इत्यत्राह—निलयनत्वेति, अचिद्विकारविशेषस्यान्तरं करणस्य ' जीवभूता महाबाहो ययेद धार्यते जगत् ' इति प्रकारेण चेतनधार्यस्य विश्वनिलयनत्वायोगात्, परण तस्य रुत्यवानभ्युपगमाच्चेति भावः । विज्ञानशब्दस्य सवित्परत्वमध्ययुक्तम् । ' अनुप्रविश्य ' इत्यनेनानुप्रवेशश्रवणात् नहि सविद्रूप आ मा आत्माऽन्तरव्याप्यतयाऽभिमतः । परस्य विज्ञानशब्दस्य चेतनत्वेन प्रयोगान्तरं दर्शयति । तथेति । विज्ञानशब्दस्यामशब्दस्यानेन श्रुतत्वादनन्तरं करणपरत्वमनुपपन्नम् । नचात्मशब्दोऽप्यन्तरं करणपरं विज्ञानशब्दवत्तस्यापि तत्रास्वरसंवात् । यथा ' शायतऽनने 'ति व्युत्पत्त्याऽश्रयणं विज्ञानशब्दस्य क्लृप्तम् । तद्वच्चेतनव्यातिरिक्तेश्चामशब्दोऽपि ह्यस्वरसंवात् करणपरं विज्ञानमशब्दयोर्द्वयारण्यस्वरस्य चेतनपरत्वेन विज्ञानशब्दमात्रास्वरस्य ननु द्वयोरिति प्रश्नः । अत्रामशब्दस्य परमात्मतया स्वाभिमतसवित्परत्वं च ' य आत्मनि तिष्ठन् ' इत्यत्रामा तत्रास्तिभ्रवणात्, आ माऽन्तरव्याप्यस्य परमामवा (नुपपत्ते) सिद्धे ॥

सर्वत्र प्रयुक्तस्य विज्ञानशब्दस्य व्युत्पत्त्ययान्तत्वे विशेष्यानुगुणलिङ्गत्वादात्मविषयस्य तस्य कथं नपुंसकवमित्यत्राह—विज्ञानमितिचेति । उपपादितमर्थं परमसाध्येन धर्यति । तदेवमिति । तत् उक्तोपपत्तिभिः एव विज्ञानशब्दस्य चेतनपरत्वं सिद्धे इत्यर्थः । श्लोकस्य विज्ञानशब्दस्य ज्ञातृपरवोपपादनेन विज्ञानमयशब्दस्य ज्ञातृपरं मुक्तम् । अथ श्लोकस्य ज्ञातृपरत्वाभावाऽपि विज्ञानमयशब्दस्य ज्ञातृपरत्वमाह—यद्यपीति । मयद्विहितवाक्ये तदर्थं परित्यक्त इति तद्वत्त्यपि वाक्ये स न त्याज्य इत्यर्थः । तर्हि ब्राह्मणस्य श्लोकस्य च कथमैकार्थ्यमित्यत्राह—यथेति । पूर्ववाक्योक्तार्थेऽपि

## गूढार्थसङ्ग्रहः

अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय इति तद्वान्ज्ञातैवोपदिश्यत इति । ' ब्रह्मवित् ' ' यावद् निहितगुहायाम्—सोऽभूत् सर्वान्कामान्सह ' इत्युपक्रमे षेदितुं यत् सर्वकामाशनमुक्तं तदेव ' विज्ञानं यस्तनुते ' इत्यादौ ' शरीरण्मनो



## श्रीभाष्यम्

‘अग्राहे प्रजा प्रजायन्ते’ (ते.आ. २.१) इत्यत्र श्लोके केवलान्नोपादानेऽपि ‘नवा एषपुत्रोऽन्नरत्नसमयः’ इत्यत्र नान्नमात्रं निर्दिष्टम्-अपितु तन्मय तद्विकार एतत्सर्वं हृदि निधाय सूत्रकारस्वयमेव ‘मेदव्यपदेशात्’ (शारी.१.१.१८) इत्यनन्तरमेव वदति ।

यदुक्तं जगत्कारणतया निर्दिष्टस्य ‘अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य’ (छां. ५.३.२)—‘तत्त्वमसि’ (६.८.७) इति च जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशाज्जगत्कारणमपि जीवस्वरूपा ग्रातिरिच्यत इति कृत्वा जीवस्यैव स्वरूप ‘ब्रह्मविदामोति परम्’ (ते.आ. १.१) इति प्रज्ञान्तमसुखाद्यावृत्तत्वेनानन्दमयइत्युपदिश्यत इति, तदुक्तं जीवस्य चेतनत्वे सत्यपि ‘तदेतदक्षतं बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत’ इति स्वसङ्कल्पपूर्वकानन्तविचित्रसृष्टियोगानुप

## श्रुतप्रकाशिका

विषयवाच्यश्लोकस्य तदेकार्थ्यं यथाऽन्नमयविषयश्लोकस्येत्यर्थः । तन्मय इति श्रुतिवाक्यगतमयवृत्तानुवाद तद्विकार इति वक्ष्याख्यानम् । उक्तार्थजातस्य उक्तं वक्ष्यं परिहरन् व्याख्यास्यमानसूत्रोपयोगि च च दर्शयितुमाह-एतत्सर्वमिति । ‘तस्माद्वा एतस्मात्’ इति वाक्य जीवपरयोर्भेदप्रतिपादकं वदन् सूत्रकारो विज्ञानशब्दस्य शातृपरं व तदुपपत्तीश्च हृदि निदधेव वदतीत्यर्थः ॥

पूर्वपक्षे जीवसामानाधिकरण्यं शारीरत्वश्रवणं च हतुद्वयमुक्तम् तत्र सामानाधिकरण्यस्य भेदाग्रहवमुपपादयितुं यदुक्तमित्यादिनोपदिश्यत इत्यनेनानुदित पूर्वपक्षहेतुं दूषयति तदुक्तमिति । प्राकराणिकवाक्यैरसामानाधिकरण्यप्रतीतिपदिकाशेन विरुद्धधर्माध्यासप्रतिपत्त्या भेदसिद्धेः कालात्ययापदिष्टहतरिव परोक्तहतुन साध्यसाधक इति दूषणं वक्तुं न पदोपस्थाप्य विशेषसमर्पकैः प्राकराणिकवाक्यैः परामितैक्यविरुद्धभेदसिद्धिं दर्शयति । जीवस्येति । प्रत्यक्षदशायामुपसंहृतकरणकलेवरस्य कर्मवश्यस्य सङ्कल्पमात्रेण विचित्रजगत्सर्गायोगाद्वदस्य स्रष्टृत्वमनुपपन्नमित्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

हि वा सर्वान्कामान्समभ्रुत’ इत्यत्र सर्वपापविमोक्तानन्तरकालिकत्वेन विशदीकृतम् । तेनापक्रमोक्तशतैवात्र प्रतिपिपादयिष्यति इति निश्चीयत इति भावः ॥

मैत्रेयीब्राह्मणे-‘विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय’ इत्यनन्तर ‘नवा अरे मोहं ब्रवीमि अल वा अरे इदं विज्ञानाय’ इत्यत्र विज्ञानयोग्यतोक्ता । तत्र विज्ञानशब्देन ज्ञानविशेष एव विवक्षितः । तेनासङ्कुचितज्ञानयोग्यता बन्धदशायामपि वर्तत इत्युक्तं भवति । अत्र ‘विज्ञान’ ‘विज्ञानमय’ शब्दाभ्यां निर्देशपूर्वकं ‘शरीरे पाम्मना हि वा सर्वान्कामान्समभ्रुते’ इत्युपक्रमोक्तमुक्तेरभिधानेन कामनाविषयीभूतसर्वानुभवौपाधिकज्ञानविशेषवान् जीवो ॥ अस्मिन् इति निश्चीयत, अत्र कामनाविषयीभूता ‘आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्’ इत्यत्र आनन्दशब्देन निर्दिष्टा । ‘यता व चो निवर्तन्ते’ इत्यत्र कार्श्यवेदननिषेधस्य विवक्षितत्वेन अपारिच्छिन्नगुणविभूत्यादिज्ञानमेव ‘विद्वान्’ इत्यत्र विवक्षितम् । तादृशज्ञानस्वरूप योग्यताया बन्धदशया सत्त्वेन पापनिवृत्त्यनन्तर उक्तगुणविभूत्याद्यनुभव एव ‘सर्वान्कामान्समभ्रुत’ इत्यत्र विवक्षितः । उपासनाफल गुणविभूत्यादिज्ञानं मुक्तस्य परब्रह्मसमानमिति विज्ञानमयपर्याये ब्रह्मशब्दस्योभयत्र निर्देशः साम्यश्रुत्यानुसारेण ब्रह्मसाम्यतापर्यकः । एतदर्थमेव मनोमयपर्यायानन्तरं विज्ञानमयपर्याये इत्यमुक्तिः । आनन्दमयोपसङ्गात्

## श्रीभाष्यम्

पत्तेः । शुद्धावस्थस्यापि हि तस्य मर्गादिजगद्ध्यापारासम्भवो 'जगद्ध्यापारवर्जम्' [शारी,

श्रुतप्रकाशिका

शुद्धावस्थस्य सम्भवतीत्यत्राह—शुद्धेति । उक्तं विपरीतं शङ्कते—

## गूढार्थसंग्रहः

नन्तर 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्याद्यानन्दवल्त्युपसहारः उक्तार्थतात्पर्यं द्रष्टव्यम् । एव भृगुवल्त्युपसहारे 'अस्माद्धो-  
कात्प्रेत्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य । इमान्तोकांकाभार्वा कामरूप्यनुसञ्चरन्' इत्यत्रोपक्रमोक्तमुक्तिः विशदीकृता  
'सोऽश्रुते सर्वान्कामान्' इत्युपक्रमोक्तार्थः विज्ञानमयपर्याये पापविमोक्तानन्तरमिति भृगुवल्त्युपसहारे च देशविशेषावच्छे-  
देनेति च प्रतिपादनेन उपक्रममध्योपसहाररूपवाक्यत्रयैकरस्यम् अयमर्थः 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयत' इति सूत्रे 'गीयत'  
इत्यत्र विवक्षित इति सूत्रकृता निरूपयिष्यते । अन्नमयाद्युपसङ्क्रान्तिः पूर्वं परत्र च प्रतिपादिता । अन्तएव मुक्तिफलमुक्तम् ।  
अत्रायमाशयः 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्रोपक्रमोक्तब्रह्मशब्दार्थजगत्कारणात्मत्वं प्रागानन्दमयादन्यत्वेन आत्मनः  
अप्रतिपादनेन आनन्दमयएव पर्यवस्यति । 'अर्घीहि भगवो ब्रह्म इति' ब्रह्मशब्दार्थनिर्धारणयैव पितरप्रति भृगुवल्त्या  
प्रश्नः, अनन्तर एकैककोटिनिरसनपूर्वक आनन्दे परिसमाप्त्यभिधानेन आनन्दानन्दमययोरैक्यनिर्णयेन आनन्दस्य जगत्कार-  
णब्रह्मप्रतिपादने जगत्कारणब्रह्मणएव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिविवक्षानिर्णयेन आनन्दमयस्य जगत्कारणत्वसर्वा-  
न्तर्यामित्वनिष्कर्षानन्तरमानन्दमयस्यैव सर्वान्तर्यामित्वनिश्चयेन अन्नमयाद्यन्तर्यामित्वनिश्चये तस्यैवेति निर्धारणं सम्भवतीति  
भृगुवल्त्युपसहारे मुक्तिर्विशदीकृता ॥

वृत्तिकारमते (शं) भाष्योक्तदूषणेषु विकारार्थमयद्रूपवापाठः 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' इति सूत्रेणैव—  
निरस्तः । 'प्रियाशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः' इत्यत्र शङ्काऽनुसारेण सविशेषब्रह्मणएव सूत्रकृतो विवक्षेति सिद्धयति । वेदार्थस-  
ंग्रहान्ते 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादौ आनन्दशब्दस्य धर्मिपरत्वेत्येवाभ्युपगमेन 'तत्प्रकृतवचने मयद्' इति सूत्रस्य विषय-  
भेदेन द्विवार प्रवृत्त्यभ्युपगमेन प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रकृत्यर्थस्य चाभ्यासः वृत्तिवृत्तः विवक्षितः आनन्दमयादन्यस्यानन्द-  
रुद्धयामप्रतिपादनेन आनन्दानन्तरं चरुणोपसम्पत्तेः भृगुवल्त्यामप्रतिपादनेन आनन्दानन्दमयशब्दयोरेकार्थं वन तस्यैव  
उपक्रमोक्तब्रह्मशब्दार्थवनिर्णयः सम्भवति । आनन्दानन्दमयशब्दयोरेकार्थं वेनाभ्यासोऽप्युपपद्यते । सङ्क्रमणविषयः प्रागे-  
वाभिहितः । उत्तरत्र विशदीकरिष्यते । विशेषापोहश्रुतीनामर्थः प्रागेवाभिहितः । वाक्यशेषे निर्विशेषश्रवणेन निर्विशेष  
मेव वाक्यतात्पर्यविषय इति प्रधानं दूषणं परमाप्ये उक्तम् । पूर्वपक्षिणोऽपि तत्सम्मतम् । अतः विस्तरेण जिज्ञासाऽधिक-  
रणे निर्विशेषस्याप्रामाणिकत्वं यदुक्तं तदेव साधयितुं शङ्कते—यदपि चेति । जिज्ञासाऽधिकरणे 'तत्त्वमसि' इति वाक्य  
विचारकरणेन पौनरुक्त्यं प्रतिभाति । तथाऽपि ब्रह्मलक्षणवाक्यैकवाक्ये ब्रह्मणः जीवैकलक्षणासाधने जीवाभिन्नमेव  
ब्रह्मेति भ्रमस्यात् । अत्र सूत्रेषु जीवभेदः स्फुटं प्रतिपाद्यत इत्यभिप्रेत्य तत्रानुक्तविषयाणां पूरणेन पुनरपि 'तत्त्वमसी' ति  
वाक्यार्थविचारोपक्रमः । जिज्ञासाऽधिकरणे कर्मविचारानन्तर्यमयशब्दार्थ इति वृत्तिकारमतं दूषयान्निः परैः आनन्दमयाधि-  
करणेऽपि जीवाभिन्नानन्दस्यैव ब्रह्मत्वं तस्यैवानन्दरूपत्वं, ननु पुच्छब्रह्मण इति वृत्तिकारमतं दूषितम् । एवं च उभयत्र  
'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यबलेनैव वृत्तिकारमतदूषणं संपन्नम् । जन्माद्यधिकरणादौ कारणावाक्यानामेव प्राधान्यं ननु पर  
संमतमहावाक्यानामित्यर्थस्य निर्णीतत्वेन लक्षणवाक्यैकवाक्यविचारे तत्साधनएव सिद्धान्तं दृढीकरणं भवतीत्यभिप्रेत्य—  
'तत्त्वमसि' इति वाक्यविचारः अत्र क्रियत इति बोध्यम् ॥ शुद्धावस्थस्यापि हीति—उपपादयिष्यन्त इत्यतन्म । अत्र

## श्रीभाष्यम्

४.४.१७) 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्' इत्युपपादयिष्यते कारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवस्वरूपानभ्युपगमे 'अनेन जीवेनात्मना' (छां.६.३.२) 'तत्त्वमसि' (६.८.७) इति सामानाधिकरण्यनिर्देशः कथमुपपद्यत इति चेत् ; कथं वा निरस्तनिखिलदोषगन्धस्य सत्यसङ्कल्पस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरनवधिकातिशयासङ्गयेयकल्याणगुणगणस्य सकलकारणभूतस्य ब्रह्मणः नानाविधानन्तदुःखाकरकर्माधीनचिन्तितनिमिषितादिसकलप्रवृत्तिजीवस्वरूपत्वम् ? अन्यतरस्य मिथ्यात्वेनोपपद्यत इति चेत् कस्य भोः ? किं हेयसम्बन्धस्य ? किं वा हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वभावस्य ? हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य ब्रह्मणोऽनाद्यविद्याश्रयत्वेन हेयसम्बन्धमिथ्याप्रतिभासो मिथ्यारूप इति चेत् विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते, ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानत्वमनाद्यविद्याश्रयत्वेनानन्तदुःखाविषयमिथ्याप्रतिभासाश्रयत्वं चेति । अविद्याश्रयत्वं तत्कार्यदुःखप्रतिभासाऽश्रयत्वं चैव हि हेयसम्बन्धः । तत्स-

## श्रुतप्रकाशिका

कारणेति । समानविभक्तयवगतैक्योपपत्तिः कथमित्यर्थः । कथं चेति । प्रतिपादिकावगतविशेषणान्वयः कथमित्यर्थः । निरस्तेयादिपदैस्तत्पदप्रतिपदिकावगतविशेषणान्वयो दर्शितः । 'तदैक्षत, असृजत' इति यथासङ्कल्प जगत्सृष्टिश्रवणेन सत्यसङ्कल्प(त्वा)ल्पादिगुणानामतिरोहितत्वावगमात्तिरोधायकहेयसम्बन्धानर्हत्वमर्थसिद्धमित्यभिप्रायेण निरस्तनिखिलदोषगन्धत्वमुक्तम् । जगद्व्यापारोपयिकगुणान्तराणामन्यत्र कण्ठोक्तानां सद्विद्याया गतिसामान्यनयादर्थसिद्धत्वमभिप्रेत्योक्तः । अनवधिकेति । त्वम्पदप्रतिपदिकावगतविशेषणान्वयो दर्शितः । नानाविधेति । जीवस्वरूपत्व जीवेन सहस्वरूपैक्य जीवत्वमित्युक्ते जीवशरीरकत्वप्रतिपत्तिश्च सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं जीवस्वरूपत्वमित्युक्तम् । साक्षात्पराभिमत पदद्वयावगतविशेषणपरित्यागपक्ष दूषयिष्यन् सभावित पक्षद्वय शङ्कते अन्यतरस्येति । तच्च पदप्रतिपत्तिविशेषणयोरन्यतरस्येत्यर्थः । निक्लपयति कस्येति । प्रत्यक्षसिद्धागमसिद्धत्वन्तत्पदावगतविशेषणजात दुस्त्यजमिति भावः ॥

सहेतुकमविरुद्ध परेण प्रथमाशिरः परिग्रह शङ्कते-हेयप्रत्यनीकेति । हेय दुःख मिथ्याप्रतिभासः भ्रान्तिज्ञानम् । स्वप्नशुद्धस्य पटस्यौपाधिकमालेन्यत्परमार्थतो निर्मलस्य स्फटिकस्याव्यासादरुणिमवच्च ब्रह्मणो निर्दोषकल्याणैकतानत्वं हेयसम्बन्धश्च स्वाभाविकौपाधिकविभागेन परमार्थपरमार्थविभागेन वाऽविरुद्धः उभयोरपि स्वाभाविकत्वसत्यत्वाभ्युपगमोर्हि निरोध इति शङ्काऽभिप्रेता, दूषयति-विप्रतिषिद्धमिति । विप्रतिषेधमुपपादयति । अविद्याश्रयत्वमिति । न केवलं दुःखमेव हेय अपितु तद्धेतुतत्प्रतिभासावपि हेयावित्यर्थः । ततः किमित्यत्राह-तत्सम्बन्धित्वमिति । अविद्यात कार्यदुःखतत्प्रतिभासरूपहेयानामाश्रयत्व तत्प्रत्यनीकत्व च विरुद्धमित्यर्थः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

परेरपि भाष्ये मुक्तानामपि जगद्व्यापारासम्भव एव प्रतिपादितः । अनाद्युत्तिदशब्दात् इत्यन्तिमसूत्रे पूर्वोक्तमुक्तस्यैवानाद्युत्तिप्रतिपादनेन अर्चिरादिगतिद्वारकफलप्रतिपादकश्रुतेरेव तत्र त्रिवक्षितत्वेन सविशेषप्राप्तिरूपमुक्तेरेव सूत्रवृत्ता निर्धारणेन निर्विशेषस्य प्राप्तामाणिक्ता बोधितेति मुक्तिर्द्वैतव्यपरिकल्पनेन सगुणोपासकपरतया जगद्व्यापारमित्यादेरर्थवर्णनमुपपादेयम् ॥

## श्रीभाष्यम्

म्यन्धित्वं तत्प्रत्यनीकत्वं च विरुद्धमेव । तथाऽपि तस्य मिथ्यात्वान्नविरोध इति मावोचः । मिथ्याभूतमप्यपुरुषार्थ एव ; यन्निरसनाय सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति ब्रूये । निरसनीया-पुरुषार्थयोगश्च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया विरुध्यते । किं कुर्मः ? 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छां.६.१.३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां.६.२.१) इत्यादिना निखिलजगदेककारणतां 'तदैक्षत बहुस्याम्' (छां.६.२.३) इति सत्यसङ्कल्पतां च ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्यैव ब्रह्मणः 'तत्त्वमसि' (छां.६.८.७) इति सामानाधिकरण्येनानन्तदुःखाश्रयजीवैक्यं प्रतिपादितम् ; तदन्यथाऽनुपपत्त्या ब्रह्मण एवाविद्याऽश्रयत्वादिपरिकल्पनीयमिति चेत्—श्रुतोपपत्तयेऽप्यनुपपत्त्ये विरुद्धं च न कल्पनीयम् । अथ हेयसम्बन्धएव पारमार्थिकः कल्याणैकस्वभावता तु मिथ्याभूता ; हन्तैवं तापत्रयामिहतचेतनोज्जीवयिषया प्रवृत्तं शास्त्रं तापत्रयामिहतिरेव तस्य पारमार्थिकी कल्याणैकतानस्वभावस्तु भ्रान्तिपरिकल्पित इति बोधयत्सम्यग्जीवयति । अथैतदोपपरिजिहीर्षया ब्रह्मणो निर्विशेष

## श्रुतप्रकाशिका

सम्बन्धमिथ्यात्वादविरोध शङ्कते—तथाऽपीति । तथाऽपि अविद्यादीनां हेयत्वेऽपि तस्य आश्रयत्वस्वरूपसम्बन्धस्येत्यर्थः । दूषयति मिथ्याभूतमपीति । आश्रयत्वं मिथ्याभूतमप्यपुरुषार्थ इत्यर्थः । अपुरुषार्थत्वमुपपादयति यन्निरसनायेपि । ततः किमित्यत्राह—निरसनीयेति । एतदुक्तं भवति मिथ्यात्व किमित्यन्ताभावः ? उत ज्ञानबाध्यत्वम् । प्रथमे निरसनीयाभावात्तन्निरासाय शास्त्रारम्भो न स्यात्, द्वितीये च मिथ्याभूतस्यापुरुषार्थत्वमस्ति न वा नचेन्निरसनीयत्वाभावाच्छास्त्रारम्भवैयर्थ्यं, अपुरुषार्थत्वमस्ति चेद्देयप्रत्यनीकव्याघातो दुष्परिहरइति । ताद्विरोधेऽपि हेयसम्बन्धस्य श्रुतिबलादभ्युपगन्तव्यत्वं शङ्कते किंकुर्मइति । परिहरति श्रुतोपपत्तयइति । अनुपपत्तेर्तर्कपराहतं विरुद्धं प्रमाणविरुद्धम् 'अपहतपाप्मा' 'विशोको विजिघत्सः' 'एष हि सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' 'अनभ्रन्नन्यः' 'अनीशया शोचति—मुख्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' 'अस्मान्मायी सृजते' 'तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' 'तमः' 'क्रतुं पश्यति' 'अनार्ता देवतांप्रपद्ये' इत्यादि श्रुतिविरोधः । एकस्मिन्हेयप्रत्यनीकत्वेहेयास्पदत्वादिविरुद्धधर्मान्वयानुपपत्तिस्तर्कविरोधः । शिरोऽन्तर शङ्कते अथेति । दूषयति हन्तैवमिति । शास्त्रस्य प्रयोजनपर्यवसायित्वाभावादप्रा-

## गूढार्थसंग्रहः

सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इतिब्रूपइति । 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वे) इत्युपक्रमोक्तेशनस्य निर्गुणश्रुत्युत्तर 'य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यतईशनाय' (६) इत्यत्राविद्याहेतुकत्वेन नित्यत्वं 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरव्ययं निरञ्जनम्' इत्यत्राविद्यारूपाविद्यासंबन्धित्वमपि निरस्तमिति वेदान्तानां अविद्यासंबन्धिजीवाभिन्नब्रह्मपरत्व न संभवतीति भावः । अर्थापर्यायाविद्या सिद्धयतीति शङ्कते किंकुर्मइत्यादिना । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यादौ कारणव्यतिरिक्त कार्यस्यासत्यत्वं विवक्षितम् । दृष्टान्ते परिणामिकारणकथनमपि तदभिप्रायकमेवेति कल्याणैकतानस्वभावताया अविद्याहेतुत्वेन मिथ्यात्वमेवेति शङ्कते—अथ हेयसम्बन्धएवेति । परतिद्वान्ताभिप्रायेण शङ्कते अथैतदोपपरिजिहीर्षयेति ॥





## । श्रीभाष्यम्

चिन्मात्रस्वरूपातिरिक्तजीवत्वदुःखित्वादिकं सत्यसङ्कल्पत्वकल्याणगुणाकरत्वेजगत्कारण-  
त्वाद्यपि मिथ्याभूतमिति कल्पनीयमिति चेत् अहो भवतां वाक्यार्थपर्यालोचनकुशलता  
एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य शातव्यत्वाभावाच्च सेत्स्यति ।  
यथैकविज्ञानं परमार्थविषयं तथैव सर्वविज्ञानमपि यदि परमार्थविषयं तदन्तर्गतं च, तदा  
तज्ज्ञानेन सर्वविज्ञानमिति शक्यते वक्तुम् । नहिपरमार्थशुक्तिज्ञानेन तदाश्रयमपरमार्थरजतं  
ज्ञातं भवति । अथोच्येत-एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अयमर्थः निर्विशेषवस्तुमात्र-  
मेव सत्यमन्यदसत्यमिति ; नतर्हि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमृतं मनमविज्ञातं विज्ञातम्' (छां  
६.१.३) इति श्रूयेत । येन श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवतीति ह्यस्य वाक्यस्यार्थः । कारणतयोप-  
लक्षितनिर्विशेषवस्तुमात्रस्यैव सद्भावश्चेत्प्रतिज्ञातः 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृ-

## श्रुतप्रकाशिका

माण्य प्रसजोदित्यर्थः । परस्य सिद्धान्तभूतमुपग्रहाणं शङ्कते अर्थेदिति । परिहरति अहो भवतामिति । अर्थनिष्क-  
पौप्युक्तपदद्वयवाक्यैतत्प्रकरण प्रकरणान्तरोपनिषदन्तरप्रमाणान्तरतर्क सामानाधिकरण्यनिरूपण पर्यालोचनम् । प्रथममे-  
तत्प्रकरणविरोध दर्शयति एकेति । सर्वस्यत्वेऽपि कथं सेत्स्यतीत्यत्राह-यथैकेति । परमार्थविषयमिथ्याविषयत्वे ज्ञानयो-  
र्वैरूप्य स्यादितिभावः । तदन्तर्गतंचेति । परिपञ्चनेन तद्वताः पुरुषाहि ज्ञाता भवन्ति, ननु तद्वहिषा इति भावः ।  
ज्ञानस्य तदन्तर्गतत्वं ताद्विषयान्तर्गतत्वम् ॥

यद्वा तदन्तर्गतं सर्वमिति शेषः । परमार्थविषय तदन्तर्गतमित्युक्तमर्थं व्यतिरेकेणोपपादयति—नहिपरमार्थेति ।  
नहि शुक्तिरजतयोरेकधीविषयत्वमित्यर्थः । एकत्वसर्वत्वावस्थाभेदेसत्यपि धर्मैक्यादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपद्यते ज्ञात-  
त्वसर्वत्वद्वेष्टकाश्रयवर्तिनी । नहि ज्ञातत्वविशिष्टाकारेण सर्वत्व सर्वत्वविशिष्टाकारेण ज्ञातत्व वा? प्रागेवायं मया ज्ञातइत्यपिहि  
धर्मिमात्रस्यैव ज्ञातत्व नत्वेतदवस्थाविशेषविशिष्टस्य देशकालादिभेदात् । नहि पूर्वमेत कालादिविशिष्टतया ज्ञातत्व, ब्रह्मे-  
कमेव सत्यमिति ज्ञाते अन्यन्मिथ्यात्वेन ज्ञान स्यादिति शङ्कते—अथोच्येतेति । परिहरति नतर्हीति । सर्वं मिथ्यात्वेन  
ज्ञातं भवतीति वा श्रूयेतेत्यर्थः । एवंचार्थे सति मिथ्यात्वेनेति पदस्याध्याहारः धर्म्यन्तरविषयतया ज्ञानशब्दयोर्वैरूप्य—  
स्वरसतः प्राप्तहि ज्ञानैकरूप्य तच्च भज्यते । ज्ञातभवतीति ज्ञातृश्रेयतदवच्छिन्नज्ञानाभावान्निवृत्तिलक्षणाचेति दोषत्रयमभिप्रेतम्  
श्रूयमाणान्वयप्रकारस्य पराविरुद्धतामाह—येनेति । एव प्रतिज्ञावाक्यस्वारस्यमुक्तम् । अथ दृष्टान्तवाक्याननुगुणं वमाह

## गूढार्थसमग्रः.

छान्दोग्यमुण्डकयोः प्रथम 'एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा' अन्ते 'तत्त्वमसि' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि  
सामानाधिकरणनिर्देशः, तत्र 'तत्त्वमसि' इत्यादौ एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽनुसार्यर्थः भवन्मते न घटत इति प्रागेवोक्तम्  
(१५९.पु.६.अ) ॥ अत्रतु प्रतिज्ञायाः परस्मैपदार्थोऽपि न घटत इत्याह—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानमित्यादिना ।  
शुक्तिरजतस्यले शुक्तिव्यतिरेकेण रजताभाववत् एकव्यतिरिक्तसर्वाभावः भवन्निरूप्यते साच प्रक्रिया अत्र न घटत इत्याह—  
यथैकविज्ञानमित्यादिना । 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यत्र मृत्तिकैव सत्यम् अन्यन्मिथ्या इतिदृष्टान्तार्थं प्रकल्प्य अर्थ  
वर्णनमपि न घटत इत्याह—नतर्हीत्यादिना । 'वाचाऽऽरम्भणम्' इत्यादिश्रुत्या मिथ्यात्व सिद्धयतीति भ्रम निरस्यति—

## श्रीभाष्यम्

नमयं विशातमिति दृष्टान्तोऽपि न घटते । मृत्पिण्डविज्ञानेन हि तद्विकारस्य ज्ञातता निदर्शिता । तत्रापि विकारस्यासत्यताऽभिप्रेतेति चेत् मृद्विकारस्य रज्जुसर्पादिवदसत्यत्वं शुद्धूपो-  
रसिद्धमिति प्रतिज्ञातार्थसम्भावनाप्रदर्शनाय 'यथा सोम्य' (छां.६.१) इति प्रसिद्धव-  
दुपन्यासो न युज्यते । नच 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानोत्पत्तेः प्राग्विकारजा-  
तस्यासत्यतामापादयत्तर्कानुगृहीतमननुहीतं वा प्रमाणमुपलभामह इति । अयमर्थः  
'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दविभ्यः' (शारी.२.१.१५) इत्यत्र वक्ष्यते । तथा 'सदेव सोम्ये-  
दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां.६.२.१) - 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽ-  
सृजत' (६.२.३) 'हन्ताहमिमास्मिन्ने देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्या-  
करवाणि' (६.३.२) 'सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्य-  
मिदं सर्वम्' (६.८.६) इत्यादिनाऽस्य जगतस्सदात्मकता, सृष्टेः पूर्वकाले नामरूपविभागप्र-  
हाणं जगदुत्पत्तौ सच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्स्वव्यतिरिक्तनिमित्तान्तरानपेक्षत्वं, सृष्टिकालेऽ-  
हमेवानन्तस्थिरत्वरूपेण 'बहुस्याम्' इत्यनन्यसाधारणसङ्कल्पविशेषो, यथा सङ्कल्पम-  
नन्तविचित्रतत्त्वानां विलक्षणक्रमविशेषविशिष्टासृष्टिस्समस्तेष्वचेतनेषु वस्तुषु स्वात्मकजी-  
वानुप्रवेशेनैवानन्तनामरूपव्याकरणं स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्य स्वमूलत्वं स्वायतनत्वं स्वप्र-  
वर्त्यत्वं स्वेनैव जीवनं स्वप्रतिष्ठितत्वमित्याद्यनन्तविशेषादशास्त्रैकसमधिगम्या प्रतिपादिताः  
तत्सम्बन्धितया प्रकरणान्तरेष्वप्यपहतमाप्मत्वादिनिरस्तनिखिलदोषता सर्वज्ञता सर्वेश्व-  
रत्वसत्यकामत्व सत्यसङ्कल्पत्वसर्वानन्दकरणनिरतिशयानन्दयोगादयस्सकलेतरप्रमाणा-  
विषयास्सहस्रशःप्रतिपादिताः ।

## श्रुतप्रकाशिका

त्तिर्निर्दिशेतेति भावः । दृष्टान्ताविरोध शङ्कते तत्रापि । प्रसिद्धवदुपन्यासानुपपत्त्या दूषयति मृद्विकारस्येति । मृद्वि-  
कारासत्यत्वमनुमानादिनाऽजगतमित्यत्राह-नचेति । अनुगृहीतमिति ज्वालैक्यबुद्धिवदापातप्रतीतिमात्रजनकत्वं विवाक्षितम्  
उपरितनवाक्यापर्यालोचना दर्शयति । तथेति । सदायतनत्वफलिन स्वप्रवर्त्यत्वं स्वेनैव जीवनं च प्रशासनेनहि धारणं  
धृत्या च तज्जीवन निषेधाय गुणानुवादइति शङ्काभ्युदासायाह-शास्त्रैकेति । नहि विधेरनुवादित्वमिति भावः ॥

श्रुत्यन्तरापर्यालोचना दर्शयति तत्सम्बन्धितया प्रकरणान्तरेष्वपीति । अपहतमाप्म वादिरूपो निरस्तनिखिल-  
दोषतेत्यर्थः । अपूर्वतालक्षण गुणेषु तात्पर्यलिङ्गं दर्शयितुं सकलेतरप्रमाणाविषयाइत्युक्तम् । ततः किमित्याकाङ्क्षा पूरयन्  
कारणतयेति । अघटितं वमुपपादयति मृत्पिण्डेति । नहि शुक्तिज्ञानाद्रजतनिवृत्तेवत् मृत्पिण्डज्ञानादशदि(विकार)निवृ-

## गूढार्थसंग्रहः

तदनन्यत्वमित्यादिना । सूत्रे आरम्भणशब्दप्रयोगेण 'वाचाऽऽरम्भणम्' इत्यत्र परसम्मतवागालम्बनमित्यर्थकसमासः  
श्रुतौ न विवाक्षित इति परसम्मतार्थस्य सूत्रकृत्तात्पर्यविषयत्वं न घटते 'तदनन्यत्वम्' इति निर्देशासङ्गतेति मूलपक्ष  
व्यक्तीभविष्यति । एव 'वाचा' इति शब्दप्रयोगाभावोऽपि परसम्मतार्थस्य सूत्रकृत्तात्पर्यविषयत्वाभावसूचकः,  
आरम्भणशब्दप्रयोगः सिद्धान्तिसम्मतार्थसूचकः ननु परसम्मतार्थस्येति प्रागेवोपपादितम् (६१८पु.जि.अ) ॥

## श्रीभाष्यम्

एवमनन्यगोचरानन्तविशेषविशिष्टप्रकृतब्रह्मपरामर्शितच्छन्दस्य निर्विशेषमात्रोपदेशपरत्व-  
मसङ्गतत्वेनोन्मत्तप्रलपितायेत । त्वंपदं च संसारित्वविशिष्टजीववाचि तस्यापि निर्विशेषस्व-  
रूपोऽपस्थापनपरत्वे स्वार्थः परित्यक्तस्स्यात् । निर्विशेषप्रकोशस्वरूपस्य च वस्तुनोद्यवि-  
द्यया तिरोधानं स्वरूपनाशप्रसङ्गादिभिर्न सम्भवतीति पूर्वमेवोक्तम् । एवं च सति समा-  
नाधिकरणवृत्तयोस्तत्त्वमिति द्वयोरपि पदयोर्मुक्त्यर्थपरित्यागेन लक्षणा च समाश्रयणीया  
अथोच्येत—समानाधिकरणवृत्तानामेकार्थप्रतिपादनपरतया विशेषणांशे तात्पर्यासम्भ-  
वादेव विशेषणनिवृत्तेर्वस्तुमात्रैकत्वप्रतिपादनाल्लक्षणाप्रसङ्गः । यथा नीलमुत्पलमिति  
पदद्वयस्य विशेष्यैकत्वप्रतिपादनपरत्वेन नीलत्वोत्पलत्वरूपविशेषणद्वयं न विवक्ष्यते ।  
तद्विवक्षायां हि नीलत्वविशिष्टाकारेणोत्पलत्वविशिष्टाकारस्यैकत्वप्रतिपादनं प्रसज्येत तच्च  
न सम्भवति नहि नैत्यविशिष्टाकारेण तद्वस्तुत्पलपदेन विशेष्यते जातिगुणयोरन्योन्यस-  
मवायप्रसङ्गात् । अतो नीलत्वोत्पलत्वोपलक्षितवस्त्वैकत्वमात्रं

## श्रुतप्रकाशिका

पदद्वयपर्यालोचनाभाव दर्शयति एवमिति । एवमनन्यगोचरानन्तविशेषविशिष्टप्रकृतैत्यनेन प्राकरणिकवाक्यविरोधो विव-  
क्षितः प्रकृतब्रह्मपरामर्शितच्छन्दस्येत्यनेन यत्र क्वापि प्रकृताकारविशिष्टपरामर्शितया तच्छन्दव्युत्पत्तिविरोधो उक्तः । त्वंपद-  
स्यापि वस्तुमात्रपरत्वे मुख्यार्थप्रहाणमाह—त्वंपदश्चेति । स्वाभिमुखश्चेतनस्त्वशब्दार्थः । आगिमुख्य च स्ववाक्यबोध्य-  
त्वम् बोध्यत्वाच्चस्य ससारिणः स्वतःप्राप्तमिति भावः, तस्माद्बोधनार्हतोपयोग्याकारविशिष्टस्त्वमर्थः अतस्त्परित्यक्तो भ-  
वति । प्रमाणतर्कपर्यालोचनपूर्वोक्त्याह—निर्विशेषेति । पदद्वयनिमित्तप्रहाणे निर्विशेषत्वस्य बुद्धिस्य वाच्यदनुपपत्तिरूप-  
तर्कपर्यालोचनं दर्शितम् । सामानाधिकरण्यबलान्निर्विशेषवस्त्वभ्युपगम इति शङ्कायां पदद्वयलक्षणालक्षणं दूषणमह—एवं-  
चेति । एवं च सति निर्विशेषस्वरूपोऽपस्थापनपरत्वे मुख्यार्थसंबन्धितया वस्तुमात्रावबोधनेऽभ्युपगमे लक्षणास्वाकारइत्यर्थः

अथ परमतमुपन्यस्यति अथोच्येतेति । समानाधिकरणवृत्तानामित्यादिग्रन्थः पक्षविषयसङ्ग्रहरूपः । विशेषणांशे  
तात्पर्यासम्भवादिति । अन्यथा विशेषणबहुत्वादेकार्थत्वासिद्धीरीति भावः, पूर्वमप्युक्तादेवेत्येवकारामिप्रायः प्रथमसूत्रेहि  
बहुश उक्तः । यद्वा अन्यनैरेष्यपरएवकारः । न लक्षणाप्रसङ्गइति । वाच्याबहिर्भूतप्रतिपादनादिति भावः । एव पक्ष-  
विषये सक्षेपेणोक्तमर्थमुपपादयति यथेत्यादिना । तत्र महाभाष्योक्तेऽप्युदाहरणे विशेषणांशे तात्पर्यसम्भव सिद्धकृत्वा उदा-  
हृतः । कथं तत्र विशेषणाशाविवक्षेत्यत्राह तद्विवक्षायांहीति । प्रसक्तस्यानिष्टता दर्शयति तच्चिवति । युगपदभिधाने  
उदेर्योपादेयविभागहानिप्रसङ्गात्पदद्वयप्रकृत्युपस्थापितविशिष्टक्ये समानविभक्त्या प्रतिपाद्यमाने विशेष्याशस्येव विशेषण  
भूतजातिगुणाद्ययोरप्यैक्यप्रसङ्गाच्च । क्रमणाभिधानपक्षोऽभ्युपगन्तव्य इति हृदि निधायमाह—नहीति । क्रमपक्षेऽपि पूर्व  
पदप्रतिपन्नाकारविशिष्टस्य पदान्तरप्रतिपन्नाकारविशिष्टवस्तुतादात्म्यं किं समानविभक्त्या बोध्यम् ! उत पूर्वपदप्रतिपन्ने  
विशिष्टे विशेषणान्तरान्वय इति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमे विशेषणभूतजातिगुणयोरप्यैक्यप्रसङ्गं सिद्धं बुद्ध्वा द्वितीये शिर-  
स्योन्यसमवायप्रसङ्गमाह—जातिगुणयोरिति । तात्पर्यबहिर्भूतस्यापि विशेषणस्योपपन्नं दर्शयन्फलितमाह—अतइति ।

## गूढार्थसङ्ग्रहः

अतो नीलत्वोत्पलत्वोपलक्षितेति । यद्यपि परैः आधुनिकैः 'नीलमुत्पल'मित्यादौ गौणसामानाधिकरण्यवादिभिः

## श्रीभाष्यम्

सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । तथा सोऽयं देवदत्त इत्यतीतकालविप्रकृष्टदेशविशिष्टस्य तेनैव रूपेण सन्निहितदेशवर्तमानकालविशिष्टतया प्रतिपादनानुपपत्तेरुभयदेशकालोपलक्षितस्वरूपमात्रैक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । यद्यपि नीलमित्याद्येकपदश्चणोपप्रतीयमानं विशेषणं सामानाधिकरण्यवेलायां विरोधात्प्रतिपाद्यते तथाऽपि वाक्येऽर्थे प्रधानांशस्य प्रतिपादनालक्षणा अपितु विशेषणांशस्याविवक्षामात्रम् । सर्वत्र सामानाधिकरण्यस्यैव एव स्वभावइति नकश्चिदोप इति । तदिदमसारं सर्वेष्वेव वाक्येषु पदानां व्यु-

## श्रुतप्रकाशिका

नीलोत्पलमित्यत्र विशेषणान्वये स्फुटेऽपि तात्पर्याभाव उक्तः । तत्र विशेषणान्वयस्यास्फुटत्वाद्विशेषणान्वये स्पष्टता-  
त्पर्याभावमुदाहरणान्तरं दर्शयति तथेति ॥

विशिष्टवाचिनश्शब्दस्य विशिष्टपरित्यागेन विशिष्टैकदेशतया तत्सम्बन्धिनि विशेष्यस्वरूपमात्रे वृत्तिर्लक्षणैव स्यादित्यत्राह—यद्यपीति । परिहरति तथापीति । वाक्येऽर्थे नहि शक्तिविषयाद्विशिष्टाद्वाहिर्भूत विशिष्टमितिभावः । प्रधानाशयेति । तात्पर्यविषयतया धर्मितया च प्रधानस्य विशेष्याशस्यावर्जनादप्रधानविशेषणत्यागेऽङ्गुल्यादिविकले पुरुषशब्दस्येव न लक्षणेति भावः । मुख्यार्थत्वे तुल्येऽपि विशिष्टप्रतिपादनदशातो वैलक्षण्यं दर्शयति अपित्विति । अविवक्षामात्रमिति । अशक्ये क्वचिद्व्यापाराभावात् व्यापारविषयाशेऽपि न ह्यशक्तिरिति भावः, पूर्वं पक्षे लक्षणाभावउक्तः इदानीं सपक्षे विशदीकृतो भवति । विशेषणाविवक्षायामस्वारस्य स्यादित्यत्राह—सर्वत्रेति । सामानाधिकरण्यव्युत्पत्तेरीदृशत्वात्तास्वारस्य, व्युत्पत्त्यनुरोधेति ह्यस्वारस्यम् । अतएकार्थव्युत्पत्तिविरोधिविशेषणविवक्षायामेवास्वारस्यमितिभावः ।

इमं पूर्वपक्षं प्रतिक्षिपति तदिदमसारमिति । प्रथमं चरमोक्ततया बुद्धिस्य व्युत्पत्त्यन्तराश्रयणं निरस्यति—  
सर्वेष्वेवेति । सर्वेषु समानाधिकरणेषु व्यधिकरणेषु च वाक्येष्वित्यर्थः । सामानय गां प्रधानेत्यादिव्यधिकरणवाक्येषु

## गूढार्थसमग्र

विशेष्यविशेषणभावे सामानाधिकरण्यस्येव उपहितान्वयबाधएवाङ्गीक्रियते नतूपलक्षितान्वयबोधः । तथाऽपि विशेषणोपलक्षणव्यतिरेकोपाधेः केनापि दार्शनिकेनानङ्गीकारेण अप्रामाणिकतया इत्यमुक्तिः । विशेष्यविशेषणभावे गौणसामानाधिकरण्यं विहाय 'तत्त्वमसि' इति समन्वयो मुख्यं प्रदर्शितः । सोऽयमित्यादिवाक्यस्यपदानामिव' इति पञ्चपादिका प्रत्यभिज्ञायामधिगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपादयति सोऽयमिति । 'स्यादेतत् क्षणिकत्वंपरिहारार्थं तत्प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यं तावद्वत्त्वम् । एव तर्हि 'सोऽयमित्यादिवाक्यस्याप्येवमेव प्रामाण्यं भविष्यतीति विवरणम् । सर्वसमतप्रकारेण एतच्चिदान्तो नश्यते । 'सोऽयं देवदत्त' इत्यत्र सर्वसमिति उपलक्षितान्वयबोधमात्रे ननु परोक्षरीतावित्याह—सोऽयं देवदत्तइत्यादिना । उपलक्षणस्याप्रकारत्वमिति परसम्मतार्थः जिज्ञासाऽधिकरणे प्रागेव (३२९.पु.जि.अ) पर्यालोचितः । धर्मस्याप्रकारत्वे ससर्गोऽपि न विषयइति तदाशयः । सर्वत्र सामानाधिकरण्यव्यधिकरणवाक्येषु ससर्गविशेषावगाहिचेनैव वाक्यार्थः अन्विताभिधानवादिनस्सम्मतः । धर्मस्याप्रकारत्वे ससर्गस्य भानमेव न सम्भवति । 'नीलमुत्पल'मित्यत्र नीलोत्पलत्वयोः उपलक्षणत्व उपलक्षणस्य प्रकारत्वमेव 'नीलमुत्पलमानय' इत्यत्र आनयनाशे एव नैलोत्पलत्वयोः विशेषणत्वेनान्वयेन विशिष्टान्वयेनाह इत्याह—सर्वेष्वेव वाक्येष्वित्यादिना ॥



## श्रीभाष्यम्

त्पत्तिसिद्ध्यर्थसंसर्गविशेषमात्रं प्रत्याख्यम् । तत्र समानाधिकरणवृत्तानामपि नीलादिपदानां नील्यादिविशिष्टपदार्थो व्युत्पत्तिसिद्धः पदान्तरार्थसंख्योऽभिधीयते । यथा नीलमुत्पलमानयेत्युक्ते नीलिमादिविशिष्टमेवानीयते, यथा च विन्ध्याटव्यां मदमुदितो मातङ्गगणस्तिष्ठतीति पदद्वयावगतविशेषणविशिष्टपदार्थः प्रतीयते । एवं वेदान्तवाक्येष्वपि समानाधिकरणनिर्देशेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । नच विशेषणविवक्षायामितरविशिष्टाकारं चस्त्वन्येन विशेष्यम् । अपितु सर्वविशेषणैस्त्वरूपमेव विशेष्यम् तथा हि ' भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम् ' (कैयटे

## श्रुतप्रकाशिका

नहि प्रतिवाक्यं पदानामर्थभेदव्युत्पत्तिकल्पनं ' क्लृप्तकल्पविरोधेतु युक्तः क्लृप्तपरिग्रहः ' इति न्यायेन क्लृप्तव्युत्पत्त्यैव स्वार्थबोधनसम्भवे व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनानुपपत्तेः । तथा समानाधिकरणवाक्येष्वपि न पदानां व्युत्पत्त्यन्तरप्रवृत्तिनिमित्तादिविशिष्टार्थविवक्षं कल्पनीयमिति भावः । व्युत्पत्त्यन्तराभावेऽपि वाक्यानां परस्परवैषम्यसम्भवेऽप्यपदानपरं व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थसंसर्गविशेषमात्रमिति पदम् । व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थसंसर्गविशेषाद्वाक्यवैषम्यं नतु प्रकृत्यशस्य व्युत्पत्त्यनवगतार्थान्तरकल्पनादित्यभिप्रायः । एव सर्ववाक्यसाधारण रूपमुक्तम् । अनेन समानाधिकरणवाक्येषु फलितमर्थमाह—तत्रेति ॥

तत्र तेषु वाक्येषु समानाधिकरणपदानां विशिष्टैकार्थप्रतीतिहेतुत्वमुदाहरणेन दर्शयति यथेति । प्रत्यक्षविषयपरोक्षविषयचोदाहरणद्वयम् । अतएव ह्यानीयते प्रतीयत इत्युक्तम् । कारकविभक्त्यन्तत्वं न सामानाधिकरण्यविरोधीत्यभिप्रायेण नीलमुत्पलमानयेत्युक्तम् । नीलिमादिविशिष्टमेवानीयतइति । समानाधिकरणपदसमुदायो वस्तुमानप्रत्यायकश्चैवस्तुमाप्रत्वाविशेषादनीलमप्यानीयेत्यभिप्रायः । किंच समानाधिकरणपदानां विशेषणपरित्यागे कोहेतुः समानविभक्त्यवगतमैक्यमिति चेन्न प्रातिपदिकावगतविशेषणान्वयबलात्समानविभक्तिरैक्यं न प्रतिपादयेत् तदेव युक्तं विभक्त्यर्थादपि प्रातिपदिकार्थप्राधान्यात् ' अदितिः पाशान् ' ' गृहं संमार्ष्टि ' इत्यादिषुहि विभक्त्यर्थोऽनादृतः ऐक्यविषयप्रयोगदर्शनादैक्यमिति चेत् विशेषणान्वयेऽपि प्रयोगदर्शनाद्विशेषणान्वयमपि प्रतिपादयति शब्दप्रतीतिर्वस्तुमात्रस्यैव विशेषणान्वयस्तु प्रत्यक्षबलात्स्वीक्रियते प्रत्यक्षागोचरेतु यथाशब्दं नविशेषणप्रतीतिरिति चेन्न विशेषणान्वयश्चाशब्दप्रतीतिविषयः ऐक्यतु प्रत्यक्षबलादस्वीक्रियत इति किं न स्यात् ॥

प्रत्यक्षागोचरेऽपि ' देवदत्तः इयामो युवे 'त्यादिप्रयोगेष्वैक्यदर्शनादैक्यं शब्दप्रतीतिविषय इति चेत् तत्रैव परोक्षविषयप्रयोगे विशेषणान्वयस्यापि प्रतीतिर्विशेषणान्वयश्चाशब्द एव न प्रत्यक्षसिद्ध इति । इत्थं प्रत्यक्षपरोक्षविभागरहितं समानाधिकरणपदानामनेकविशेषणविशिष्टैकार्थबोधकत्वं दृश्यत इति धर्मपक्षाभिप्रायेणोदाहरणद्वयं दर्शितम् । तस्मात् ' यएव लौकिकास्त एव वैदिकाः ' इति लोकवेदाधिकरणन्यायेन वेदान्तवाक्येष्वपि पदद्वयावगतविशेषणापरित्यागेनैकार्थः प्रतिपत्तव्य इत्याह—एवंवेदान्तेति ॥

अन्योन्यसमवायप्रसङ्गं परिहरति नचेति । अरुणाधिकरणे विस्तरेण परिहारो वक्ष्यत इत्यत्र संक्षिप्तः, नहियथाऽनुपपत्तिस्यात्तथा वक्तव्यमिति भावः । युगपदभिधान इति निषाय सर्वविशेषणैः स्वरूपमेव विशेष्यमित्युक्तं सर्वविशेषणैः स्वरूपस्यैव विशेष्यत्वेऽनुगुणं सामानाधिकरण्यलक्षणमित्याह—तथाहीति । नहि विशेषणान्तरविशिष्टाकारे विशेष-

## श्रीभाष्यम्

वृद्ध्यादिके) इत्यन्वयेन निवृत्त्याद्या पदान्तरप्रतिपाद्यादाकारादाकारान्तरयुक्ततया तस्यैव वस्तुनः पदान्तरप्रतिपाद्यत्वं सामानाधिकरण्यकार्यम् । यथा देवदत्तश्च दयामो युवा लोहि ताक्षोऽटीनोऽकृपणोऽनवद्य इति । यत्र त्वेकस्मिन्वस्तुनि समन्वयायोग्यं विशेषणद्वयं समानाधिकरणपदनिर्दिष्टं तत्राप्यन्यतरत्पदमस्य वृत्तमाधीयते ; न द्वयम् । यथा 'गौर्वाहीक'

## श्रुतप्रकाशिनः

णान्तरान्वयप्रतिपादनं सामानाधिकरण्यमित्युक्तमित्यर्थः । सामानाधिकरण्यलक्षणग्रन्थं विवृणोति अन्ययेन निवृत्त्यावेति । अन्ययरूपार्थस्य व्यावृत्तिरूपार्थत्वं न कल्प्यम् यथा व्युत्पत्त्यन्वयमुत्पेन व्यावृत्तिमुत्पेन वा वस्तुनः पदान्तरप्रतिपाद्याकारादाकारान्तरयुक्तताप्रतिपादनं सामानाधिकरण्यपदसमुदायकार्यमित्यर्थः । तत्रोदाहरति यथेति । अन्यमुत्पेनानेकप्रवृत्तिनिमित्तवैशिष्ट्योदाहरणं दयामो युवेति । व्यतिरेकमुखेनानेकाकारान्वयोदाहरणमटीन इत्यादि । दीनत्व-अभास्वरमनस्कत्व कृपणत्व निर्धनत्वम् ॥

अत्रायमर्थः क्रमेणाभिधाने व्यधिकरणवाक्येऽपि करणकारकविशिष्टेऽधिकरणकारकान्वयस्यात् । तादृशिष्टे इतरकारकान्वयो वा प्रसज्येत्यन्योन्यविशेषणविशेष्यभावचोद्य व्यधिकरणवाक्येऽपि समानम् । तत्र य. परिहारः स एवात्रापि तथाहि—

पदजातं श्रुतं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम् । न्यायसम्पादितव्यक्ति पञ्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥

इत्युक्तप्रकारेण स्मरणदशाया सर्वैः पदैः पृथक्पृथक् स्वार्थस्मरणान्नविशेषणानामन्योन्यसमवायप्रसङ्गः । परामर्शदशाया यथा-चोपपन्नं भवति तथा परामर्शान्नय प्रसङ्गः । पञ्चाद्युपपत्तैः परैर्वाक्यार्थबोधनान्नमित्यसमवायप्रसङ्गः । तस्मात्सामानाधिकरण्यपदैर्युगपत्तत्त्वपदप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टैकविशेष्यप्रतिपादनेन क्रमाभावात्तान्योन्यसमवाय इति सर्वविशेषणैस्वरूपमेव विशेष्यमिति ग्रन्थे अयमर्थोऽभिप्रेतः । अत्र सामानाधिकरण्यलक्षणग्रन्थोपादानेन अन्यदीप चोद्य परिहृतं भवति युगपदभिधाने विशिष्टयोरैक्यं समानविभक्तिः प्रतिपादयतीति विशिष्टैक्यवद्विशेषणैक्यमपि स्यादिति चोद्यम् । अत्र परिहारः— एकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यमिति समानविभक्तौ विशेष्यस्यैक्यप्रतिपादनाद्विशेषणैक्यमिति ॥

ननु विशेषणे विशेष्येचाविशेषणं प्रातिपदिकेनावगते सति समानविभक्तिर्विशेष्यैक्यपरा नतु विशेषणैक्यपरेति किं नियामकमिति चेत् ? समानविभक्त्यैक्यबोधिका नतु भेदबोधिकेति किं नियामकम् ? व्युत्पत्तिरिति चेत् साऽत्रापि तुल्या किंच पदान्तरासामानाधिकृते घटइति पदे प्रयुक्ते तत्स्या विभक्तिः प्रातिपदिकावगतानां विशेषणविशेष्यतः सम्बन्धानामैक्यं न प्रतिपादयति विशेष्यमात्रैक्यमेव प्रतिपादयतीति किं नियामकम् । प्रत्यक्षमूलाहि व्युत्पत्तिः प्रत्यक्षं च विशेष्यमात्रैक्यं दर्शयति नतु विशेष्यतः सम्बन्धानामैक्यम् अतः प्रत्यक्षमूला व्युत्पत्तिर्नियामिकेति चेत् सैवात्रापि नियामिकेति तुल्यमिति ॥

एव सर्वत्र व्युत्पत्तिरिति एव स्वीकार्यश्चेन्न कचिदपि वृत्त्यन्तरकल्पनं व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनं वा स्यादित्यत्राह— यत्र त्विति । विशेषणद्वयमिति त्रिविधैर्युपलक्षणम् । व्युत्पत्तिरिति स्वीकार एवाह सर्वत्र स्वतः प्राप्तः तस्य प्रमाणविरोधादन्वयायोग्यत्वे सति वृत्त्यन्तरकल्पनं प्राप्तं तदसम्भवे व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनम् । गोशब्दस्य किरणवाचित्वे वृत्त्यन्तराभावादि शक्तिकल्पनम् यदा वृत्त्यन्तरकल्पनं तदानीमप्यन्यतरपदस्यामुख्यत्वकल्पनं तावन्तैव विरोधशमनात् । न पुनस्तद्वैयर्थ्यं पदानां तात्पर्यनिश्चयाकाभावप्रसङ्गात् गौर्वाहीकइति प्रयोगे गोपदस्यैव मुख्यत्व नतु बाहीकपदस्यापि । अन्यतरपदस्य वृत्त्यन्तरकल्पनेऽपि न निर्विशेषवस्तुपरत्वं मुख्यवृत्त्युपेक्षाविशेषणान्वयेऽपि वृत्त्यन्तरोपनीतविशेषणान्वयादित्यभिप्रायः ॥

## श्रीसाध्यम्

इति । नीलोत्पलादिषु विशेषणद्वयान्वयाविरोधादेकमेवोभयविशिष्टं प्रतिपाद्यते ॥

अथ मनुषे एकविशेषणप्रतिसम्यन्धित्वेन निरूप्यमाणं विशेषणान्तरप्रतिसम्यन्धित्वाद्विलक्षणमिति घटपटयोरिवैकविभक्तिनिर्देशेऽप्येक्यप्रतिपादनासम्भवात्समानाधिकरणशब्दस्य न विशिष्टप्रतिपादनपरत्वम् । अपितु विशेषणमुखेन स्वरूपमुपस्थाप्य तदैक्यप्रतिपादनपरत्वमेवेति । स्यादेतदेवम् ; यदि विशेषणद्वयप्रतिसंवन्धित्वमात्रमेवैष्यं निरुन्ध्यात् नचैतदस्ति । एकसिन्धर्मिण्युपसंहर्तुमयोग्यधर्मद्वयविशिष्टत्वमेव हेतुत्वं निरुणाद्भि । अयोग्यता च प्रमाणान्तरसिद्धा घटत्वपटत्वयोः । नीलमुत्पलमित्यादिषु दण्डित्वकुण्डलित्वचद्रूपवत्त्वरसवत्त्वगन्धवत्त्वादिवच्च विरोधो नोपलभ्यते न केवलमविरोध एव प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेनैकार्थनिष्ठत्वरूपं सामानाधिकरण्यमुपपादयत्येव धर्मद्वयविशिष्टतां

## श्रुतप्रकाशिका

नीलोत्पलादिवाक्येषु वृत्त्यन्तकल्पनहेतुरेव नास्तीत्याह-नीलेति । विशेषणभेदेन विशेष्यभेद शङ्कते-अथमनुष इति । विशेषणप्रतिसम्यन्धित्व विशेषणविशिष्टता । एकविशेषणप्रतिसम्यन्धित्वेन निरूप्यमाणमिति भावप्रधाननिर्देशः निरूप्यमाणत्वं विवक्षितम् । एकविशेषणप्रतिसम्यन्धित्व विशेषणान्तरप्रतिसम्यन्धित्वाद्विलक्षणमित्यर्थः । यद्वा एकविशेषणप्रतिसम्यन्धित्वेन निरूप्यमाण वस्तु विशेषणान्तरप्रतिसम्यन्धित्वाद्वेतोस्तस्माद्विशेषणान्तरविशेष्यत्वादार्थद्विलक्षणमित्यर्थः । विशेषणप्रतिसम्यन्धित्वभेदाद्विशेष्यस्वरूपभेद निदर्शयति । घटपटयोरिवेति । यथा घटत्वविशिष्टतायाः पटवविशिष्टतायाश्च भेदेन तद्विशिष्टयोर्घटपटयोर्विशेष्ययोर्भेदः तथा विशेषणान्तरान्वयस्यान्यविशेषणान्वयस्यच भेदेन तद्विशेष्ययोश्च भेदः समानविभक्तिनिर्देशे सत्यप्यवर्जनीय इति सामानाधिकरण्यं न विशिष्टैक्यप्रतिपादनक्षममित्यर्थः । नविशिष्टप्रतिपादनपरत्वमिति विशेषणान्वयप्रतीतिरवर्जनीयत्वेऽपि न तत्र तात्पर्यमिति भावः । विशेषणत्यागे तत्प्रतिसम्यन्धिविशेष्योपस्थापनायोगात्तदैक्यमपि दुष्प्रतिपादमित्यत्राह-अपित्विति । तात्पर्याविषयस्यापि विशेषणस्य परामर्शदशाप्रतीतिमात्रेण तद्विशेष्यप्रतीतिविद्वैस्तदैक्यप्रतिपादनं सम्भवतीत्यर्थः । परिहरति स्यादेतदिति ॥

यत्रायोग्यत्वमभ्युपगतं तत्रापि विशेषणत्वमेव ह्ययोग्यत्वे प्रयोजकम् । अतो नीलवादिविशेषणमपि विरुद्धस्यादित्यत्राह-अयोग्यताचेति । प्रमाणान्तरसिद्धेति । नपुनर्विशेषणत्वप्रयुक्तमयोग्यत्वमिति भावः । प्रमाणान्तरमपि घटत्वपटत्वयोर्भिन्नाधिकरणत्वलक्षण विरोधमवगमयति नीलत्वोत्पलवयोरपि सविरोधस्तुल्यः, पटपदे कुमुदे च पृथग्दर्शनादित्यत्राह-नीलमुत्पलमित्यादिषुत्विति । नकेवलं भिन्नाश्रयत्वमात्रं विरोधः अपितु तन्नियमः । नच नीलत्वोत्पलत्वयोस्तादृशविरोधः क्वचित्सहप्रतीतत्वादिति भावः । दण्डित्वेति । दण्डादिकं युतसिद्धं, रूपादिकमयुतसिद्धम् । युतसिद्धत्वादिविभागयुतसिद्धत्वादिवाद्विशेषणत्वमपि विरोधाप्रयोजकमिति भावः यद्वा दण्डित्वादिकं परस्परपरिहारेण वर्तते । रूपतु रस परिहृत्य वर्तते रसस्तु रूप परिहृत्य न वर्तते तत्र रूपापरिहारिणो रसस्य रूपस्याविरोधो दुरण्णवः क्वचित्सहोपलम्भात् तथा परस्परपरिहारिणोरपि नीलत्वोत्पलत्वयोः क्वचित्सहोपलम्भादविरोध इत्यभिप्रायेणोदाहरणद्वयं दर्शितम् ॥

अविरोधे विवक्षितैक्यानुपयोगाद्विशेषणाविवक्षेत्यत्राह-नकेवलमिति । अपर्याययोः पदयोरेकार्थवृत्तौ निमित्त-

## गूढार्थसमूहः

अथ मनुषे इत्यादिना—सङ्क्षेपशरीरकविवरणादिपर्यालोचनं सूचितम् ॥

## श्रीभाष्यम्

अन्यथा स्वरूपमात्रैक्ये अनेकपदप्रवृत्तौ निमित्ताभावात्सामानाधिकरण्यमेव न स्यात् । विशेषणानां स्वसम्बद्धानादरेण चस्तुस्वरूपोपलक्षणपरत्वे सत्येकेनैव चस्तूपलक्षितमित्युपलक्षणान्तरमनर्थकमेव उपलक्षणान्तरोपलक्ष्याकारभेदाभ्युपगमे तेनाकारेण सविशेषत्वप्रसङ्गः ॥

सोऽयं देवदत्त इत्यत्रापि लक्षणागन्धो न विद्यते विरोधाभावात् । देशान्तरसम्बन्धितयाऽतीतस्य सन्निहितदेशसम्बन्धितया वर्तमानत्वाविरोधात् । अतएव हि सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञया कालद्वयसम्बन्धिनो वस्तुन ऐक्यमुपपाद्यते वस्तुनस्त्विह रत्ववादिभिः अन्यथा

## श्रुतप्रकाशिका

सापेक्षत्वात्तेनविना तत्र प्रवृत्त्ययोगाच्चात्यन्तोपयोगाद्विशेषणस्य विवक्षितत्वमित्यर्थः । उपपादकत्वमेव विपक्षे बाधकदर्शनेन द्रव्यति अन्यथेति । अन्यथा विशेषणत्यागे उपलक्षणतया निमित्तत्वं स्यादित्यत्राह—विशेषणानामिति । अनादरः तात्पर्याभावः यथोपलक्षणभूतायां शास्त्राया न तात्पर्यम् अपितु चन्द्र एव तात्पर्यं तद्वदित्यर्थः, ननूपलक्षणान्तरवैयर्थ्यं तत्रापि प्रसज्येत् एकस्मिन्नुपलक्ष्ये जन्माद्यनेकोपलक्षणाभ्युपगमादित्यत्राह—उपलक्षणान्तरेति । अस्माभिस्तु जन्मादिभिरुपलक्षणैरुपलक्ष्यास्तदनुगुणज्ञानशक्त्याद्याकारभेदाः स्वीकृता इति नूनैरर्थक्यमितिभावः तेनाकारेणेति । अन्तर्गतत्वाऽप्यवर्जनीयं सविशेषत्वम् । एव च सत्युपलक्ष्याकारान्तराभ्युपगमेन तस्योपलक्षणत्वाङ्गीकारादप्युपलक्षणतयाऽभिमतानामेव विशेषणत्वाङ्गीकारोपरमिति भावः ॥

पूर्वं लक्षणाङ्गीकारपक्षेऽन्यतरपदामुख्यत्वादिदूषणान्युक्तानि । यत्तु बाध्ये प्रधानांशस्य प्रतिपादनाच्चलक्षणेति तत्रापि लक्षणा स्यादेव द्वारभूतप्रवृत्तिनिमित्ताभावेन तद्द्वारकस्याभिधानस्यानुपपत्तेरिति । इदं च दूषणं प्रवृत्तौ निमित्ताभावादिति भाष्येण फलितम् । अथोभयपदविशेषणाविवक्षायामपि सामानाधिकरण्यं सोऽयं देवदत्त इत्यादिषु दृश्यत इति यदुक्तं तत्प्रतिवाक्ति सोऽयमित्यादिना । विरोधाभावात् मुख्यार्थभूतविशेषणद्वयसम्बन्धे विरोधाभावात्, प्रथमं कालद्वयसम्बन्धाविरोधाभावनमुपपादयति देशान्तरेति । वस्तुविशेषणतया निर्दिष्टावपि देशान्तरसम्बन्धसन्निहितदेशसम्बन्धावती तवर्तमानकालोपाधितया विवक्षितौ, इदं च कालोपाध्यन्तराणामुपलक्षणम् । अतीतवर्तमानशब्दावतीतवर्तमानकालसम्बन्धिरौ देशान्तरसम्बन्धितयाऽतीतस्य देशान्तरसम्बन्धाद्युपाध्यवच्छिन्नातीतकालसंबन्धिनः सन्निहितदेशसम्बन्धाद्युपाधिमद्वर्तमानकालसम्बन्धाविरोधादित्यर्थः । अतीतत्वं चान्यापेक्षया विवक्षितम् । ननुभयकालानुगतवस्त्वपेक्षया ॥

एतदुक्तमवति एकस्य कालद्वयसम्बन्धं वदतोऽतीतवर्तमानत्वविरोधो विवक्षितः । स किं प्रध्वस्तस्य वर्तमानत्वविरोधो विवक्षितः सनास्ति प्रध्वसानभ्युपगमात् । यद्यतीतोपाधिमकालसम्बन्धिनो वर्तमानत्वविरोध उच्यते तन्निरूप्यं किं स्वापेक्षयाऽतीतोपाधिमकालसम्बन्धित्वम् उतान्यापेक्षयाऽतीतोपाधिमकालसम्बन्धित्वम् ? नप्रथमः स्वापेक्षयाऽतीतोपाधिमकालसम्बन्धित्वाभावादददः । नद्वितीयः एकक्षणसम्बन्धस्यापि विरोधप्रसङ्गात् । एकस्य वस्तुनः एकोऽपिहिक्षणः स्वभावात्तयाकिञ्चिदुपाध्यपेक्षयाऽतीतो भवति । अतोऽन्यापेक्षयाऽतीतोपाधिमकालसम्बन्धिनो वर्तमानत्वमविरुद्धम् । एवमेकस्य स्वप्रागभावस्वधरोपहितकालसम्बन्धस्यैव विरुद्धत्वादप्यपेक्षयाऽतीतागम्युपाधिमकालसम्बन्धे तदभावाच्च । स्वामावानुपहितकालद्वयसम्बन्ध एकस्य वस्तुन उपपन्नइति ॥

युक्त्यन्तरं चाह—अतएवेति । अतएव कालद्वयसम्बन्धाविरोधादेव । उपपाद्यते सौगतान् प्रतीतिशेषः सौगतमतनिरासकस्य कालद्वयसम्बन्धाविरोधाभ्युपगमो विरुद्धइत्यर्थः । तदेवोपपादयति अन्यथेति । अन्यथा कालद्वयसम्बन्ध-



## श्रीभाष्यम्

प्रतीतिविरोधे सति सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यात् । देशद्वयसम्बन्धविरोधस्तु कालभेदेन परिह्रियते । यतस्समानाधिकरणपदानामनेकविशेषणविशिष्टैकार्थवाचित्वम् अतएव—  
'अरुणयैकहायन्या पिह्नाद्या स्तोमं क्रीणाति' (यजु.६.१.६) इत्यारुण्यादिविशिष्टैकहायन्या क्रयस्साध्यतया विधीयते । 'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्याभियमस्या'दिति । तत्रैवं पूर्व-

## श्रुतप्रकाशिका

विरोधेन प्रतीतिविरोधे वस्तुस्वरूपविषयप्रतीतिविरोधे । सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यादिति । एकस्य देशद्वयकालद्वयान्वयाविरोधे देशकालान्तरसाध्यकसाधनाविधानमात्मनित्यत्वोपदेशश्चाप्रमाण स्यादित्यभिप्रायः । देशद्वयसम्बन्धविरोध परिह्रयति देशद्वयेति । पारिच्छिन्नस्य वस्तुनः स्वानपच्छिन्नदेशसम्बन्धो योगपक्ष एव विरुध्यते ननु प्रमभावित्व इत्यर्थः । एव लोकसिद्धस्य नीलो पद्मादिसमानाधिकरणपदप्रयोगस्य विशेषणविवक्षा स्यापिता । एव प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थपर्यवसायित्व समानाधिकरणपदानां वैदिकप्रयोगसिद्धत्वेत्याह—यतइति । अनेन वस्तुमात्रपरत्वे अरुणाधिकरणसिद्धान्तन्यायविरोधश्चेत्स्यात् । यतः अतएवेति लौकिकप्रयोगसिद्धत्वात्करोतया पूर्वोक्तस्वपक्षपरपक्ष साधनदूषणान्यरुणाधिकरणविवक्षितानीति भावः ॥

'अरुणयैकहायन्या' इत्यादिवाक्ये पदानां न समानाधिकरण्यमित्यत्राह—तदुक्तमिति । 'अर्थैकत्व' इत्यादिसूत्रस्यान्यथा व्याख्यातत्वात् समानाधिकरण्यपरवमित्यत्राह—तत्रैवमिति । एवमिति । असदुक्तावेव पूर्वपक्षसिद्धान्तौ सूत्रकाराभिप्रेतामिति भावः । किमत्रारुणयेति पदोक्तमारुण्यमेकहायनीमात्रान्वयि ? उत प्राकरणिसर्वद्रव्यान्वयीति प्रथमविचारः । तत्रारुणयेतिपद किमेकहायन्येत्यादिपदैरेकवाक्यतयाऽन्वेति उत भिन्नवाक्यतया स्थितमिति तदर्थविचारः । इदं विचारद्वयं पूर्वमीमासाव्याख्यातृभिरभ्युपेतम् । अधिकस्तदर्थविचार उच्यते किमारुणयेत्यादिपदानि व्यधिकरणानि उन समानाधिकरणानीति ? पुनस्तदर्थविचारः कारकविभक्त्यन्तत्वं किं समानाधिकरण्यविरोधि ? उताविरोधीति ; विरोधीति पूर्वपक्षः अविरोधीति सिद्धान्तः । यदा विरोधि तदा समानाधिकरण्याभावेनैकवाक्यत्वाभावात्प्राकरणिकसर्वद्रव्यान्वयीति पूर्वपक्षे फलभावः अविरोधे समानाधिकरण्येन वाक्यभेदाभावादेकहायन्यन्वयनियम इति सिद्धान्ते फलभावः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

क्षणिकत्वमेव स्यादिति । एतेन पञ्चपादिकाविवरणपर्यालोचनं सूचितम् । प्रत्यभिज्ञायां धर्मभासकसामग्रीसत्त्वेन धर्ममानवत् महावाक्येष्वपि धर्मभासकपदसत्त्वे धर्माभावे न घटति इति भावः ॥

जिज्ञासाधिकरणे आकृत्यधिकरणार्थवर्णनेन तन्न्यायेन महावाक्यानामर्थ उक्तः । 'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' इत्याकृत्यधिकरणसूत्रम् । अधिकरणसूत्राणामर्थः पूर्वमेव (९१९. जि. अ) निरूपितः । 'अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि' इति संक्षेपशरीरकोत्तार्थः अरुणाधिकरणे जैमिनिनैव निरस्त इत्यभिप्रेत्य तत्सूत्रार्थमेव दर्शयति—अतएवेत्यादिना । अरुणयैकहायन्या इत्यादि । अरुणाधिकरणसरणिविवरिण्या तत्त्वमार्ताण्डादिबहुग्रन्थकृद्भिः श्रीनिवासाचार्यैः, वादनक्षत्रमालायां अप्यप्यदीक्षितेन, भाट्टकौस्तुभे तण्डदेवेन च उक्तार्थपर्यालोचनपूर्वकं एतदधिकरणार्थं सम्प्रतिष्ठापितः तत्रैव द्रष्टव्यः ॥ एतेन विशेष्यविशेषणभावे समानाधिकरण्यं गौणम् अतण्डार्थसमानाधिकरण्यमेव

## श्रीभाष्यम्

पक्षी मन्यते यद्यप्यरुणयेति पदमाकृतेरिव गुणस्यापि द्रव्यप्रकारतैकस्वभावत्वाद्द्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमभिदधाति तथाऽप्येकहायन्यन्वयनियमोऽरुणिन्नो न सम्भवति एकहायन्या क्रीणाति तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासम्भवात् । ततश्चारुणयेति वाक्यं भित्वा प्रकरणविहितसर्वद्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमविशेषेणाभिदधाति ।

## श्रुतप्रकाशिका

अस्माकत्वं पूर्वपक्षे सिद्धान्तेच्चारुणयेति पदस्य द्रव्यपर्यन्तत्वमनुयायि परेषात् गुणमात्रपर्यन्तत्वमुभयत्रानुयायि । आकृत्यधिकरणे गुणवाचिशुक्लादिपदानां जातिवाचिगवादिशब्दवद्द्रव्यपर्यन्तत्वं निर्णीतम् । आक्षिप्तद्रव्ये गुणजाती इतिहि टीकाकारः । तत्रचात्र च कोविशेष इतिचेत् ? एकैकप्रातिपादिकार्थनिरूपणमाकृत्याधिकरणे अत्रत्वेनैकप्रातिपादिकस्य समानविभक्त्यर्थनिरूपणमिति भेदः । ननु गुणवाचिपदस्य द्रव्यपर्यन्तत्वे एतदधिकरणपूर्वपक्षोत्थानं न स्यात् गुणमात्रपर्यन्तत्वेहि गुणस्य कारणतया निर्दिष्टस्य क्रयान्वयस्य द्रव्यान्वयस्य चैकवाक्येन बोधयितुं शक्यत्वेन वाक्यभेदाप्रकरणिकसं-द्रव्यान्वयीति पूर्वपक्षोत्थानं स्यात् । द्रव्यपर्यन्तत्वेतैकहायनीपदसामानाधिकरण्येन विशेषणैकत्वात्तस्य श्रयान्वयमात्रस्य एकवाक्येन बोधयितुं शक्यत्वेन वाक्यभेदाभावादेकहायनीमात्रान्वयीति वाक्यभेदाद्यत्तपूर्वपक्षानुदय इत्याशङ्क्याह—यद्यपीति । आकृतेरिव गुणस्यापि द्रव्यप्रकारतैकस्वभावत्वात्तद्वाचिशब्दो यद्यपि द्रव्यमात्रपर्यन्तः तथाऽप्येकहायनीत्वाश्रयद्रव्याविशेषपर्यन्तत्वं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । कुतइत्यत्राह—एकहायन्या क्रीणाति तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासम्भवादिति ॥

नच वाक्यमरुणयेति पदं क्रीणातीत्यत्र नान्वेति द्रव्यविशेषाकाक्षायां सविशेष, स्ववाक्यस्यैकहायनीपदोपस्थापितं द्रव्यं भवतीति क्रयस्यैकहायन्यवरुद्धतयाऽरुणापदविभागे साकाङ्क्षत्वाभावादाकाङ्क्षोत्थापकचशब्दद्वन्द्वमावाच्य । अत आरुण्यस्य क्रयान्वयद्वारा नैकहायन्यन्वयः स किं पदयोस्सामानाधिकरण्येन उत वैयाधिकरण्येन स्ववाक्यस्यतया ? न तावत्पदद्वयसामानाधिकरण्येनैकहायन्यन्वयनियम आरुण्यस्य संभवति कारकविभक्त्यन्तत्वप्रयुक्तानुपपत्त्या विशेषणविबक्षाऽनुपपत्त्या च सामानाधिकरण्यायोगात् । तत्र यद्यपि विशेषणविबक्षायां विशेषणभेदेन विशेष्यभेदो जन्माद्यधिकरणन्यायेन पारिहृतः । विशेषणैक्यान्योन्यसमवायादयश्च पूर्वमेव परिहृताः, तथाऽपि कारकविभक्त्यन्तत्वप्रयुक्तानुपपत्तिः स्थिता कारकविभक्तिर्हि क्रियान्वयबोधोपक्षीणत्वाच्च परस्परा-न्वयबोधं जनयितुं शक्नोति । परस्परा-न्वयोहि विशेष्यैक्य एव विशेषणविबक्षाकारकविभक्त्यन्तत्वप्रयुक्तानुपपत्तिभिर्न सामानाधिकरण्यम् अतोऽरुण्यैकहायन्येति पदद्वयं पृथक्करणवाचीत्येतावत्सिद्धं कृत्वा यैयधिकरण्येसति स्ववाक्यस्यतया आरुण्यस्यैकहायन्यन्वयनियमोऽनुपपत्तिरुच्यते । एकहायन्या क्रीणाति इति वाक्येन एकहायन्याः क्रयस्य च सवन्धःप्रतिपन्नः । तच्च क्रयणमरुणया कर्तव्यमिति वाक्येनैकहायनीसाध्यत्वविशिष्टरूपेण श्रयणमरुणद्रव्यसाध्यमिति प्रतिपन्नं तत्पदस्यैकहायनीसाध्यत्वाविशिष्टक्रययोपस्थापकम् । तत्र द्रव्याशस्य तत्साध्यक्रयणस्य च पूर्वप्रतिपत्त्येन अनूदितत्वादेकहायनीद्रव्यस्यारुणिमसम्बन्धएव विधेयः । एवचैकहायन्या क्रयसाध्यः तयाच्चारुणया भवितव्यमित्युक्तं भवति । ततश्चैकहायन्याः क्रयसम्बन्धोऽरुणिमसम्बन्धमेत्यर्थद्वयस्यैकवाक्येन विधानासम्भवादित्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—ततश्चेति । वाक्यभेदेसीत स्ववाक्यस्य वामाचादवान्तरप्रकरणेन वा महाप्रकरणेन वा द्रव्यविशेषनिश्चये वागोपजमानादि सर्वद्रव्याणां प्रकरणान्वयाविशेषा क्रीणातीति वाक्यं भित्वाऽरुणयेतिपदं प्राकरणिकसर्वद्रव्यपर्यन्तं स्वार्थमरुणि

## श्रीभाष्यम्

अरुणयेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्रकरणविहितसर्वलिङ्गकद्रव्याणां प्रदर्शनार्थः । तस्मादेकहायन्यन्वयनियमोरुणिन्नो न स्यादिति ॥

अत्राभिधीयते—(अर्थैकत्वेद्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्वियमस्स्यात्) — अरुणयैकहायन्या इत्यारुण्यविशिष्टद्रव्यैकहायनीद्रव्यवाचिपदयोस्सामानाधिकरण्येनार्थैकत्वे सिद्धे सत्यैकहायनीद्रव्यगुणयोररुणयेतिपदेनैव विशेषणविशेष्यभावेन सम्बन्धितयाऽभिहितयोः क्रयार्यैककर्मान्वयाविरोधादरुणिन्नः क्रयसाधनभूतैकहायन्यन्वयनियमस्स्यात् । यथैकहायन्याः क्रयसम्बन्धवदारुणिमसम्बन्धोऽपि वाक्यावसेयस्स्यात् तदा वाक्यस्यार्थद्वयविधानं स्यात् नचैतदस्ति । अरुणयेति पदेनैवारुणिमविशिष्टद्रव्यमभिहितम् । एकहायनीपदसामानाधिकरण्येन तस्यैकहायनीत्वमात्रमवगम्यते न गुणसम्बन्धः

## श्रुतप्रकाशिका

मानमभिधानीत्यर्थः । अरुणयेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः कथमित्यत्राह—अरुणयेति । पूर्वपक्षमुपसंहरति तस्मादिति ॥

अत्राभिधीयतइति । अस्मिन्पूर्वपक्षे प्राप्ते सूत्रकारः स्वसिद्धान्तमाहेत्यर्थः । सूत्रमुपादत्ते अर्थैकत्वइति । सूत्रस्यास्यार्थमाह—अरुणयेत्यादिना । कयोरर्थैकत्व इत्याकाङ्क्षाया शब्दस्यार्थप्रतिसंनन्धित्वात्पदविशेषयोस्सन्निहितविषयवाक्यस्यत्वच्चारुण्यविशिष्टद्रव्यैकहायनीद्रव्यपदयोरित्यध्याहृतम् । पदद्वयसन्निधिज्ञापनार्थं अरुणयैकहायन्येतीत्युक्तम् । आरुण्यविशिष्टमेकहायनीत्वाविशिष्टं च द्रव्यम् तद्वाचिपदयोस्सामानाधिकरण्येन तत्ताद्विशेषणद्वारैकविशेष्यवृत्तित्वादर्थैकत्वसिद्ध इत्यर्थः । द्रव्यगुणयोरैककर्म्यादित्येतद्व्याचष्टे एकहायनीद्रव्यारुण्यगुणयोरित्यादिना । गुणान्वयस्य क्रयान्वयस्यच वाक्यबोधयत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गो विरोध उक्तः, गुणान्वयस्य प्रातिपदिकसिद्धत्वाच्च वाक्यबोधयत्वं नार्थसिद्धत्वं च अतः क्रयान्वयबोधनमेव वाक्यकृत्यमित्यभिप्रायेणारुणयेति पदेनैवेत्युक्तम् । क्रयार्यैककर्मान्वयाविरोधादिति । वाक्यभेदप्रसङ्गरूपविरोधामात्रादित्यर्थः । नियमस्स्यादित्येतद्व्याचष्टे अरुणिन्नइत्यादि । सर्वद्रव्यसाधारणप्रकरणानपेक्षत्वाद्वाक्यस्यतयैव नियमसिद्धइत्यर्थः । अत्र गुणद्रव्ययोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रातिपदिकावसेयः विशेष्यैक्य सामानाधिकरण्यावसेय क्रयान्वयो वाक्यावसेय इति वाक्यस्य क्रयान्वयबोधनमेव कृत्य तस्मादेकस्मिन्वाक्येऽर्थद्वयविधानप्रसङ्गाभावाद्वाक्यभेदाभावेन आरुण्यं न प्राकराणिकसर्वद्रव्यान्वयि अपित्वैकहायनीमात्रान्वयीति सूत्रार्थः ॥

वैयाधिकरण्येन पदयोरर्थभेद इति पूर्वपक्षे प्राप्ते अर्थैकत्व इत्युक्तम् । द्रव्यगुणयोः क्रयान्वये द्वारद्वारभावेनविना तदयोगाद्द्वारान्वयद्वयान्वयरूपार्थयोर्भिन्नत्वाद्वाक्यभेदप्रसङ्गरूपविरोधप्रसङ्गादिति शङ्कायामैककर्म्यादित्युक्तम् एकहायन्यन्वयान्वयम इति पूर्वपक्षे नियमस्स्यात् इत्युक्तमिति । अत्र गुणसम्बन्धः प्रातिपदिकावसेयोस्तु ततः किं ? वाक्यभेदायत्ता नियमपरिहारस्येतिशङ्काया सूत्राक्षरयोजनाया समग्रहेणोक्तमर्थं विवृणोति यदीत्यादिना । किमारुण्यस्य द्रव्यमात्रान्वये वा द्रव्यविशेषान्वये वा वाक्यबोधे तद्वेद उच्यत इति विकल्पे द्रव्यमात्रान्वयस्य प्रातिपदिकावसेयत्वमाह—अरुणयेति । यदि गुणगुणिसम्बन्धः प्रातिपदिकावसेयः तर्हि सामानाधिकरण्यस्य किंकृत्यमित्यपेक्षा शमयन् द्वितीय शिरःप्रतिवाचि—एकहायनीपदेति । तस्यैकहायनीत्वमात्रं अरुणिमविशिष्टद्रव्यस्यैकहायनीत्वाभ्रयत्वम् विशेष्यैक्यमित्यर्थः । अनेन आकृत्यधिकरणारुणाधिकरणयोः प्रतिपाद्यभेदश्चोक्तो भवति । प्रातिपदिकस्य धर्मिपर्यन्तत्वमाकृत्यधिकरणार्थः अनेकप्रादिकस्य समानविमत्तेर्विशेष्यैक्यपरत्वप्रतिपादकमरुणाधिकरणमिति ॥

## श्रीभाष्यम्

विशिष्टद्रव्यैक्यमेव हि सामानाधिकरण्यस्यार्थः ; ' भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम् ' (पू.मी.३.१.१२) इति हि सामानाधिकरण्यलक्षणम् ॥

अत एव हि ' रक्तःपटो भवति ' इत्यादिष्वैकव्ययैकवाक्यत्वम् । पटस्य भवनक्रियासम्बन्धे हि वाक्यव्यापारः ; रागपदस्तु रक्तसम्बन्धेनैवाभिहितः । रागसम्बन्धिद्रव्यं पट इत्येतावन्मात्रं सामानाधिकरण्यावसेयम् । एवमेकेन गुणेनद्वाभ्यां बहुभिर्वा तेनतेन पदेन समस्तेन व्यस्तेन वा विशिष्टमुपस्थाप्य सामानाधिकरण्येन सर्वविशेषणविशिष्टोऽर्थ एक इति ज्ञापयित्वा तस्य क्रियासम्बन्धाभिधानमविरुद्धम् । देवदत्तश्चामोयुवा लोहिताक्षो दण्डी कुण्डली तिष्ठति । शुक्लेन वाससा यवनिकां सम्पादयेत् नीलमुत्पलमानय नीलोत्पलमानय ; गामानय शुक्लां शोभनक्षीम्, अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टकपालं निर्वपेत्

## श्रुतप्रकाशिका

कथं गुणसम्बन्धो न सामानाधिकरण्यावसेय इत्यत्राह—विशिष्टद्रव्यैक्यमेव हि सामानाधिकरण्यस्यार्थ इति । विशिष्टैक्यमित्युक्ते विशेषणाशस्यैक्य माभूदिति विशिष्टद्रव्यैक्यमित्युक्तम् । द्रव्यशब्देन विशेष्याशो विधाक्षितः । एतदुपपादकत्वेन सामानाधिकरण्यलक्षणग्रन्थमाह—भिन्नेति । नहि विशेषणविशेष्यवाचिनोः पदयोः विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यमित्युक्तिमित्यर्थः । एव प्रातिपदिकेन गुणान्वयः समानविभक्त्या परस्परान्वयो वाक्येन त्रयान्वयश्च बोध्यत इति कृत्यत्रयमुक्तम् ॥

एतत्परैरग्युपेतमित्याह—अतएवेति । किंच द्रव्यपर्यन्ताभिधानेऽप्येकहायनीपदेन वाक्यस्य निराकाङ्क्षादरुणयेति पदं न तत्रान्वेतीति शङ्का च परिहृता भवति । अर्थवादाधिकरणे अर्थवादनैरपेक्ष्येण विधेरेव प्रवर्तकत्वाद्विधिवैक्येनार्थवादस्य नैकवाक्यत्वमिति शङ्काया अर्थवादस्य श्रूयमाणत्वात्तत्रापि विधेराकाङ्क्षाऽस्तीति कल्प्यम् । तस्मादुत्थापिताकाङ्क्षा ह्यर्थवादो विधिनैवाक्यतयाऽन्वित इति निश्चिनः । तत्र तैरेवोक्तमुदाहरणमिदं रक्तः पटो भवतीति । तत्राह पटो भवतीत्येतावता निराकाङ्क्षत्वेऽपि वाक्यस्य प्रयुक्तं रक्तपदं कीदृशः पट इत्युत्थापिताकाङ्क्षवमन्वेति एवमत्राप्यरुणयेतिपदं श्रूयमाणमुत्थापिताकाङ्क्षावादेकवाक्यतयाऽन्वितमिति भावः । अतएव कृत्यत्रयस्यापि यथोक्तप्रकारवादेव । रक्तःपटोभवतीति वाक्ये यथोक्तप्रकारेण कृत्यत्रयं दर्शयति । पटस्येति ॥

रक्तःपट इत्यादिवाक्ये विशेषणस्यैकत्वादुत्थापिताकाङ्क्षामन्वेति बहूनि विशेषणानि समस्तपदोक्तानि चेदन्विताग्निस्तुः नतु व्यस्तपदोक्तानि । अत्रतु पदानि व्यस्तानि तत्र प्रथमान्तत्वात्सामानाधिकरण्यं अत्रतु पदानि कारकविभक्त्यन्तानि । तस्मादात्र सामानाधिकरण्यमिति शङ्कात्रयमभिप्रेत्याह—एवमेकेनेति । पदेन समस्तेन व्यस्तेनयेति । कारकविभक्त्यन्तेन प्रथमानेनवेतिचात्राभिप्रेतम् । तत्र प्रथमान्तबहुविशेषणान्वये उदाहरणमाह—देवदत्तश्चामोयुवा लोहिताक्षो दण्डी कुण्डली युक्तम् । कारकविभक्त्यन्तैरुपदान्वयोदाहरणमाह—शुक्लेन वाससेति । कर्मकारकमुदाहरति नीलमुत्पलमिति । समस्तोदाहरणमाह—नीलोत्पलमिति । कारकविभक्त्यन्तैरुपदान्वयोदाहरणमाह—गामिति । उपदानकारकविषयवैदिकोदाहरणमाह—अग्नयश्चि ।



## श्रीभाष्यम्

(यजुषि.२२) इति । एवं 'अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति' (यजुषि.६.१.६) इति एतदुक्तं भवति-यथा 'काष्ठैस्स्याल्यामोदनं पचेत्' इत्यनेककारकाविशिष्टैका क्रिया युगपत्प्रतीयते ; तथा समानाधिकरणपदसह्याताभिहितमेकैकं कारकं तत्तत्कारकप्रतिपत्तिवेलायामेवानेकविशेषणविशिष्टं युगपत्प्रतिपन्नं क्रियायामन्वेतीति न कश्चिद्विरोधः । सादिरैः शुष्कैः काष्ठैस्समपरिमाणे भाण्डे पायसं शाल्योदनं समर्थः पाचक पचेत् इत्यादिषु इति ।

## श्रुतप्रकाशिका

पुरोडाशमष्टाकपालमिति कर्मकारकमपि सिद्धम् । एव 'अरुण' येत्यादिवाक्येऽपि तुल्यमित्याह-एवमिति ॥

ननु कारकविभक्तेः क्रियान्वयबोधोपक्षीणत्वाच्चपरस्परान्वयबोधकत्व ? उच्यते-कारकविभक्तिः क्रियान्वयबोधिका स्यात् किमत्रायोगव्यवच्छेद एव उतान्ययोगस्य व्यवच्छेदश्च ? अयोगव्यवच्छेदमात्रं न विरुद्धम् । अन्ययोगव्यवच्छेदश्चेत्तर्हि क्रियान्वयबोधोपक्षीणा कारकविभक्तिः 'पशुना यजेत' इत्यादिषु सङ्ख्यान्वयमपि न बोधयेत् कारकविभक्ति-त्वाकारात् क्रियान्वयबोधन एकवचनत्वाद्विवचनत्वाकारा सङ्ख्यान्वयबोधनमित्याकारभेदादात्रोपेक्ष इति चेत् समानविभक्ति-त्वाकारविशेषेण तद्वत्परस्परान्वयमपि बोधयेत् । नत्वेकपदस्या कारकविभक्तियुगपत्सङ्ख्यान्वय च बोधयतीति तुल्यवन्त्वा नान्योन्यासहत्व परस्परान्वयस्तु पदान्तरपरामर्शोपेक्ष इति विलम्बितत्वात्स बाधित इति चेत् किं विलम्बितत्वाविलम्बितव-मात्रमेव प्राप्त्यदौर्बल्यहेतुः तर्हि प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमन्यदुर्बल स्यात् तत्सापेक्षत्वेन विलम्बितत्वात् तस्माद्विजयीलौका-यतिकः । किंच श्रुतिरेव न स्मृतिः विलम्बात् श्रुतिलिङ्गादिष्वपि श्रुतिरेव प्रमाणं न लिङ्गादि विलम्बादेव प्रथमाविभ-क्त्यन्तेषु चैकपदस्यैकवचनादिना प्रागेव सङ्ख्यान्वयप्रतीतिः पदान्तरस्य समानविभक्तिपरामर्शोपेक्षसामानाधिकरण्यासि-द्धिरस्यात् । इहापि द्रव्यगुणयोः पराभिमत आर्थः परस्परान्वयो न सिद्धयेत् शब्दतः प्रथमावगतीक्रियान्वयापेक्षया तस्य आर्थत्वेन चरमावगतत्वाभ्युपगमात् । नैव विरोधसति हि विलम्बिताविलम्बितयोर्ग्राह्यबाधकभाव इति चेत् । तर्ह्यत्रापि क्रियान्वयसङ्ख्यान्वयवत् परस्परान्वयस्यापि विरोधाभावात् विलम्बाविलम्बावकिञ्चि करौ अत्राविरोधः परैरभ्युपेतः पश्चादा-र्थान्वयसिद्धयतीति सिद्धान्तोक्तैः न केवलमविरोधमात्रात्परस्परान्वयसिद्धिः प्रयोगस्य नियामकत्वात् कारकविभक्त्यन्त-पदानां सङ्ख्यान्वयेन सहक्रियान्वयबोधनेहि प्रयोगो दृश्यत इति चेत् तथा परस्परान्वयबोधनमपि प्रयोगसिद्धमिति चरम-युक्त्यभिप्रायेण प्रथमान्तकारकविभक्त्यन्तग्रहदाहरणमुदाहृत देवदत्तश्चाम इत्यादिकम् । यथैकवचनादीनामेकत्वादिस-ख्यान्वयबोधकत्व प्रथमान्तेषु कारकविभक्त्यन्तेषु चाविशिष्टमङ्गीक्रियत उभयत्राविशेषेण प्रयोगदर्शनात् समानविभक्तेर-प्यविरुद्धार्थैक्यबोधकत्वमुभयत्राविशेषण प्रयोगदर्शनादङ्गीकरणीयमित्यर्थः । एव कारकविभक्तिप्रयुक्ताऽनुपपत्तिः परिहृता तथा विशेषणविवक्षाया यदनुपपत्तित्रयम् । तत्र विशेषणभेद विशेष्यभेदो जन्माद्यधिकरणन्यायेन परिहृत इति नात्र विव-क्षितः विशेषणैक्यरिहारः प्रागुक्तोऽत्रानुसन्धेयः । अथान्योन्यसमवायः परिहर्तव्यः विशिष्टत्वमुपस्थाप्य विशिष्टोऽर्थ एक इति शापयित्वेति त्यजन्तत्वात्तत्तिर्देशेन कृत्यत्रयस्य क्रमभाविता प्रतीयते ततश्चान्योन्यसमवायप्रसङ्ग इति तदपनोद्यम् । करणकारकविभक्त्यन्तसामानाधिकरण्य वदतः सूत्रकारस्य तावन्मात्राभिप्रायत्वशङ्का च निवार्या । अतस्तदर्थमाह-एत-दुक्तं भवतीति । 'पदजातं श्रुतं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम्' इति न्यायेन युगपद्वोधनात्क्रमभावेत्वाभावाच्चविशे-षणान्तरविशिष्टे विशेषणान्तरान्वयविधानेन विशेषणानामन्योन्यसमवायप्रसङ्ग इत्यर्थः । यौगपद्यकथनेन पूर्वं त्यक्त-निर्देशः कृत्यत्रयभेदनिर्वाहकरपरामर्शक्रमप्रकटनार्थमिष्युक्तं भवति । तत्तत्कारकप्रतिपत्तिवेलायामित्यनेन इदं सूत्रं सर्व-

## श्रीभाष्यम्

यत्तूपात्तद्रव्यकवाक्यस्यगुणशब्दः केवलगुणाभिधायीत्यरुणयेति पदेन केवलगुण-  
स्यैवाभिधानमिति ; तन्नोपपद्यते, लोकवेदयोर्द्रव्यवाचिपदसमानाधिकरणस्य गुणवाचिनः  
कचिदपि केवलगुणाभिधानादर्शनात् । उपात्तद्रव्यकवाक्यस्य गुणपदं केवलगुणाभिधा-  
यीत्यप्यसङ्गतम् 'पटश्शुक्लः' इत्यादिपूपात्तद्रव्यकेऽपि गुणविशिष्टस्यैवाभिधानात् । पटस्य  
शुक्लः' इत्यत्र शौक्ल्यविशिष्टपटाप्रतिपत्तिरसमानविभक्तिनिर्देशकृता ; न पुनरुपात्तद्रव्य-

## श्रुतप्रकाशिका

कारकविभक्त्यन्तपदप्रदर्शनार्थमिति दर्शितम् । इत्यादिषु न कश्चिद्विरोध इत्यन्वयः विरोधोऽन्योन्यसमवायादिविवाक्षितः  
युगपःप्रतिपन्नमित्यनेन तत्र परिहारो विवाक्षितः । यथा काष्ठैरित्यादिक वदता समानाधिकरणपदविषयचोद्यपरिहारः व्यधि-  
करणवाक्येऽपि समाना इति प्रतिबन्धभिप्रेता ॥

अयमर्थः व्यधिकरणानि पदानि तत्तत्कारकविशिष्टां क्रियां किं युगपःक्रमेण वा प्रतिपादयन्ति । यौगपद्ये उद्देश्यो  
पादेषविभागाभावप्रसङ्गः । अनेककारकविशिष्टाक्रियैकत्वे विशेष्यक्रियैक्यवाद्विशेषणभूतकारकैक्यमपि स्यात् । क्रमेणचेत्का-  
रकान्तरविशिष्टक्रियाया कारकान्तरान्वयविधानं स्यात् । तदा काष्ठस्याव्यादेरन्योन्यसमवायप्रसङ्गेन काष्ठस्य स्यात्वाधिक-  
रणं स्यात्वाः काष्ठमधिकरणं वा स्यात् । नतदस्ति विशेष्यभूतक्रियाया एवैकत्वं वाक्यप्रतिपाद्य नतु विशिष्टस्य अतो न  
विशेषणभूतकारकैक्यप्रसङ्गः । सर्वकारकैः क्रियाया एव विशेष्यत्वेन नान्योन्यसमवायप्रसङ्ग इतिचेत् तथा समानविभ-  
क्तिर्विशेष्यांशमात्रैक्यपरत्वान्नविशेषणैक्यं प्रत्यक्षमूल्या व्युत्पत्तिरत्र नियामिका यथा पट इत्येकपदप्रयोगे तत्स्यमेकवचनं न  
विशेषणविशेष्यैक्य प्रतिपादयति, किंतु विशेष्यैक्यमेव तत्र नियामिका व्युत्पत्तिः इहापि तद्वत् युगपःसर्वविशेषणैकस्यै-  
वार्थस्य विशेष्यत्वेन न विशेषणानामन्योन्यसमवायप्रसङ्गश्चेति, एवं सूत्रकाराभिप्रेतपूर्वपक्षराद्धान्तावीचीहता ॥

अथ परोक्तपूर्वपक्षराद्धान्तयोरनुयायेनमर्थे तत्तदसाधारणार्थे च व्युदस्यति । यच्चित्यादिना । कृष्णो गच्छति  
'श्वेतमालभेत' इत्यादिषु गुणवाचिपदानां गुणिपर्यन्तत्वं तैरभ्युपेतमाकृत्यधिकरणनयात्, तन्नोपात्तद्रव्यकवाक्यस्यत्वं  
गुणवाचिपदानां गुणमात्रपर्यन्तत्वे प्रयोजकमभ्युपेतं पटस्य शुक्लइत्यादिषु तथादर्शनात् पटश्शुक्लइत्यादिपूपात्तद्रव्यक  
वाक्यस्येऽपि तदपवादकसामानाधिकरण्यात् गुणिपर्यन्ताभिधानमितिचाभ्युपेतम् । तत्र गुणमात्रपर्यन्तत्वे यत्प्रयोजकमुक्तं  
तदभ्युपगम्य प्रकृते गुणमात्रपर्यन्तत्वं दूषयति तन्नोपपद्यत इति । कुतइत्यत्राह-लोकवेदयोरेति । कारकविभक्त्य-  
न्तत्वंस्य सामानाधिकरण्याविरोधित्वोपपादनमुपजीव्येद दूषितम् । गुणिपर्यन्तत्वापवादकमुपात्तद्रव्यकवाक्यस्यगुणवाचि-  
पदस्यं यत् तस्यापवादरूपसामानाधिकरण्यस्य अरुणयेत्यादिवाक्ये विद्यमानत्वोपपादनात्केवलगुणाभिधायित्वमयुक्तमि-  
त्यर्थः, एवं परोक्तप्रयोजकाभ्युपगमेन तत्साध्यप्रयोज्यं गुणमात्रपर्यन्तत्वं दूषितम् ॥

अथ तदुक्तं प्रयोजकं दूषयति उपात्तद्रव्यकेति । तत्र हेतुमाह-पटश्शुक्लइत्यादिष्विति । गुणमात्रपर्यन्तत्वे  
गुणिपर्यन्तत्वेऽपि साधारणमुपात्तद्रव्यकवाक्यस्यगुणवाचित्वं गुणमात्रपर्यन्ततायाः प्रयोजकं न भवतीत्यर्थः । ननु न तस्य  
प्रयोजकत्वहानिः अपवादेनहि कचिदुप्याभिधानमित्यत्राह-पटस्येति । असमानविभक्तिनिर्देशः प्रयोजकइत्यर्थः । अस-  
मानविभक्तिनिर्देशः असमानायाविभक्तेर्निर्देशः न समानविभक्तिनिर्देशमात्रः श्वेतो यतीत्यादिष्वपि गुणमात्रपर्यन्तत्वप्र-  
सङ्गात् । व्यभिचारिणः प्रयोजकत्वकल्पनं व्यभिचारस्येत तदपवादकल्पनं चायुक्तम् अव्यभिचारिप्रयोजकसद्भावादित्यभि-  
प्रायः गुणमात्रपर्यन्तत्वे नेदमपि प्रयोजकमसाधारणं पटस्य शुक्लो मागइत्यसमानविभक्तिनिर्देशेऽपि गुणिपर्यन्तत्वादितिचे-

## श्रीभाष्यम्

कत्वकृता । तत्रैव 'पटस्य शुक्लोभागः' इत्यादिषु समानविभक्तिनिर्देशे शौक्यविशिष्ट-  
द्रव्यं प्रतीयते । यत्पुनः क्रयस्यैकहायन्यवरुद्धतयाऽरुणिन्नः क्रयान्वयो न सम्भवतीति ;  
तदपि विरोधिगुणरहितद्रव्यवाचिपदसमानाधिकरणगुणपदस्य तदाश्रयगुणाभिधानेन  
क्रियापदान्वयापरोधादसङ्गतम् । राद्धान्ते चोक्तन्यायेनारुणिन्नदशाब्दे द्रव्यान्वये सिद्धे  
द्रव्यगुणयोः क्रयसाधनत्वानुपपत्त्या अर्थात्परस्परान्वयस्सिद्ध्यतीत्यप्यसङ्गतम् । अतो  
यथोक्तएवार्थः ॥

## श्रुतप्रकाशिका

तत्राह-तत्रैव पटस्येति । अयमर्थः पटशब्देनासमानविभक्तिनिर्देशेऽपि शुक्लशब्दस्य विशेष्यवाचिभागशब्देनासमान  
विभक्तिनिर्देशाभावात् तस्य गुणमात्रपर्यन्तत्वे प्रयोजकत्वमङ्गः । यथा त्वत्पक्षे गुणमात्रपरत्वापवादकाभिमतभागशब्द-  
सामानाधिकरण्याजतस्य धर्मिपर्यन्तत्वात्प्रयोजकत्वहानिरिति । किंच न केवलमुपात्तद्रव्यकवाक्यस्यताया व्यभिचार एव  
कल्पनागौरवमप्यास्ति, परमने श्वेतमालभेत इत्यादिषु गुणवाचिपदस्य गुणिपर्यन्तत्वमुक्तम् । पटस्य शुक्लइत्यादिषु तदप-  
वादकत्वेनोपात्तद्रव्यकवाक्यस्यत्वमभ्युपेत तस्याप्यपवादकत्वेन पटशुक्ल इत्यादिषु सामानाधिकरण्यमुक्तमिति प्रयोजकत्रय  
कल्पनाऽस्ति अस्तत्पक्षे तु श्वेतमालभेत पटशुक्ल इत्यादिप्रयोगेष्वपृथक्सिद्धधर्मवाचित्वादेव गुणिपर्यन्तत्व सिद्धं पटस्य शुक्ल  
इत्यत्र असमानविभक्तिनिर्देशकृत गुणपर्यन्तत्वमिति प्रयोजकद्वयमेवेति इदमर्थसिद्धमिति न कल्पनागौरव कण्ठोक्तम् ।  
एव परस्य पूर्वपक्षसिद्धान्तानुगतमरुणयेतिपदस्य गुणमात्रपरत्व निरस्तम् ॥

अथ पूर्वपक्षाधारणार्थस्य स्वसिद्धान्तयुक्त्या परिहृतत्व वक्तुमाह-यत्पुनरिति । एकहायिन्यवरुद्धतया एकहा-  
यन्या निराकाशत्वात् । विभागे साकाशत्वे सत्येव ह्येकवाक्यत्वमिह तदभावाच्चक्रयान्वयइत्यर्थः । तस्य परिहृतत्व दर्श-  
यति तदपीति । नील शुक्लमित्यादिन्यावृत्त्यर्थे विरोधिगुणरहितशब्दप्रयोगः, गुणपदस्यैव गुणिपर्यन्तत्वेन गुणविशिष्टमेक  
करणमिति अरुणिन्नो द्रव्यद्वारा क्रयान्वयासम्भवोऽनुपपन्न इत्यर्थः । राद्धान्तासाधारणमर्थं दूषयति राद्धान्तेचेति ।—  
'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते ।' इति न्यायेन वाक्यैकत्वे कथञ्चित्सम्भवति वाक्यभेदाश्रयणायोगात् ।  
'गुणे द्रव्यव्यपेक्षे च द्रव्ये च गुणक्रांक्षिणि ।' इति न्यायेन द्रव्यगुणयोः परस्परापेक्षत्वाज्ज्ञातृद्वयधरथ-न्यायेनार्था-  
दन्वयइति तद्राद्धान्तः, तदयुक्त शब्दान्वयसिद्धेरित्यर्थः । स्वोक्ताधिकरणार्थमुपसहरति अतो यथोक्तएवार्थइति ॥

किंच गुणे शुक्लादयःपुंसि इति गुणपर्यन्तत्वे पुल्लिङ्गतायाः प्राप्तत्वादरुणयेति स्वयन्तपदस्य गुणमात्रपर्यन्तत्वदुर्व-  
चम् । किंच पूर्वपक्षश्चात्य-नाभासः भिन्न वाक्यमितिहि पूर्वपक्षः तथासत्यरुणयेतिपद नोपात्तद्रव्यकवाक्यस्य भवति ।  
उपात्तद्रव्यकवाक्यस्यत्वे सिद्धेहि गुणमात्रपर्यन्तत्वसिद्धिरिति । वाक्यभेदेऽपि अरण्यैकहायन्या इति प्रत्यासत्त्यतिशया-  
देकवाक्यतुल्यतयोपात्तद्रव्यकवाक्यस्यत्वमितिचेत् सन्निधिविशेषादेकवाक्यस्यत्वफलभूतगुणमात्रपर्यन्तत्वसिद्धिश्चेत् ततएवैक  
वाक्य(स्य)ताफलभूतैकहायन्यन्वयनियमोऽपि स्यादिति वाक्यभेदहेतुकस्य पूर्वपक्षस्यानुदयएवस्यादिति । राद्धान्तोऽपि दुस्त्यः  
एकहायन्या आरुण्येन च क्रयसाध्यइत्येकक्रियायाः करणद्वयसाकाङ्क्षत्वकल्पकस्य चशब्दस्य द्वन्द्वसमासस्यचाश्रवणात् ।  
अतइमौ पूर्वपक्षराद्धान्तावतिदुस्त्यतया सूत्रकाराभिमतमिति वक्तुमयुक्तम् । अतोऽस्याधिकरणस्य यथोक्तावेव पूर्वपक्षरा-  
द्धान्तौ सूत्रकाराभिमतौ ॥

## श्रीभाष्यम्

तस्मात्तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्ये पदद्वयामिहितविशेषणापरित्यागेनैवैक्यप्रतिपादनं वर्णनीयम् । तत्त्वनाद्यविद्योपहितानवधिकदुःखभागिनश्शुद्धशुद्धयुभयावस्थाधेतनादर्थान्तरभूतमशेषहेयप्रत्यनीकानवधिककल्याणैकतानं परमात्मानमनभ्युपगच्छतो न सम्भवति अभ्युपगच्छतोऽपि समाधिकरणपदानां यथाऽवस्थितविशेषणविशिष्टैक्यप्रतिपादनपरत्वाश्रयणे त्वम्पदप्रतिपन्नसकलदोषभागित्वं परस्य प्रसज्येतेति चेत् नैतदेवम् । त्वम्पदेनापि जीवान्तर्यामिणः परस्यैवाभिधानात् ॥ एतदुक्तं भवति सच्छब्दाभिहितं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सत्यसङ्कल्पमिश्रानवधिकातिशयासह्येयकल्याणगुणगणं समस्तकारणभूतं परं ब्रह्म बहुस्यामिति सङ्कल्प्य

## श्रुतप्रकाशिका

एवमस्तु ततः किं प्रस्तुतसामानाधिकरण्यस्येत्यत्राह—तस्मादिति । तस्मात् सामानाधिकरण्यस्यानेकविशेषणविशिष्टैकार्थस्य लोकवेदसिद्धत्वात् ईदृश सामानाधिकरण्यं परपक्षे न संभवति पदद्वयावगतगुणहानादित्याह—तस्त्विति । जीवब्रह्मभेदमनभ्युपगच्छतो न संभवतीति प्रतिज्ञाया उपपादनार्थमनाद्यविद्येत्यादिकमशेषहेयप्रत्यनीकेत्यादिक च विशेषणमुभयत्र प्रवृत्तिनिमित्तफलतयोक्तम् । कर्मवश्यो निग्राहोऽनुग्राहश्च जीवो निग्राहकोऽनुग्राहकश्च परमात्मा भवितुं नार्हतीत्येषां विशेषणानामभिप्रायः । मुक्तिदशायामैक्यशङ्काव्युदासार्थं शुद्धयश्च शुद्धयुभयावस्थादित्युक्तम् । नहि निग्रहदशायामनिग्रहकर्तुर्नरपतेरन्यः पुरुषोऽनुग्रहदशायामनुग्राहोयमनुग्रहकृता तेन नृपेणामित्रो भवतीति भावः । स्वेतरवैलक्षण्यं तृणादेरप्यस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं उभयलिङ्गत्वेन वैषम्यमुक्तम् । अशेषहेयेत्यादिना निर्भिषेपत्वादिन इत्येतावता पर्याप्तत्वेऽपि स्तपक्षमनभ्युपगच्छतो दूषणवचनं कुट्टाष्टिपक्षत्रयेऽपि दूषणसाम्यज्ञापनार्थं तच्छब्दावगतविशेषणाम्युपगमयत् त्वंशब्दावगतविशेषणमभ्युपगन्तव्यं तथासति ब्रह्मणो दुःखित्वादिप्रसङ्ग इति शङ्कते—अभ्युपगच्छतोपीत्यादिना । परिहरति नैतदिति । कुत इत्यत्राह—त्वमिति । एवेति । तत्पदमतिपन्नस्य जीवविलक्षणस्येवेति भावः । जीववाचित्वेन द्युत्पन्नस्य पदस्य तदन्तर्यामिपरत्वं लाक्षणिकं तत्कथं परस्यैवाभिधानादित्युक्तमित्यत्राह—एतदुक्तमिति । द्वारद्वारिभावविपर्ययशङ्काव्युदासार्थोऽयमारम्भः । वेदव्युत्पत्तिरसिद्ध सर्वशब्दानां परमात्मवाचित्वमभ्युपपादयति सच्छब्देत्यादिना । सामानाधिकरण्यबलात्तत्त्वपदावगतविशेषास्वीकार्याः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वमङ्गद्वारपदत्वादिश्रुत्यन्तरसिद्धं च अतस्तदविरोधायाः तर्थाभिपरत्वं युक्तमिति तत्त्वपदसामानाधिकरण्यमुख्यत्वं निर्दोषत्वश्रुत्यन्यथाऽनुपपत्त्यभिप्रायेण निरस्तनिखिलेत्यादिविशेषणमुक्तम् । सच्छब्दाभिहितमिति । कारणवस्तुवाचिसच्छब्दः कारणत्वानुगुणगुणान्वितवस्तुपर इति भावः । बहुस्यामिति । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र लिङ्वाच्येन ग्राहकेण परमापूर्वेण सविधिसमाग्रातेषु पदार्थेष्वविशेषेण स्वशेषतया गृहीतेषु तत्र प्रोक्षणावघातगोत्यादेः परमापूर्वं प्रतिशेषत्वं ग्रीहिगवादिद्वारकं यागादेस्तु तच्छेषत्वमद्वारकं च

## गूढार्थसंग्रहः

मुख्यमिति पक्षपादिकासंश्लेषशरीरकोक्तार्थः आकृत्यधिकरणावधारणधिकरणोक्तार्थनिष्कर्षणेन अलङ्कार्यसामानाधिकरण्यस्य परसम्मतस्य केनापि दार्शनिकेनानङ्गीकृततया प्रमाणविरुद्धतया च पूर्वमेवायोगस्थोपपादनेन विशेष्यविशेषणभावे सामानाधिकरण्यस्यैव मुख्यत्वं स्थापितं भवति । अतः उपनिषदापि स एवागो मुख्य इत्याह—तस्मात्तत्त्वमसि इत्यादिना—सामानाधिकरण्यं मुख्यमेवेत्यन्तेन ॥



### श्रीभाष्यम्

तेजोऽवन्नप्रमुखं कृत्वा जगत्सृष्ट्वा तस्मिन् देवादिविचित्रसंस्थानसंस्थिते जगति चेतनं जीववर्गं स्वकर्मानुगुणेषु शरीरेष्वात्मतया प्रवेक्ष्य स्वयं च स्वेच्छयैव जीवान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य एवम्भूतेषु स्वपर्यन्तेषु देवाद्याकारेषु सङ्घातेषु नामरूपे व्याकरोत् । एवंरूप-सङ्घातस्यैव वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं चाकरोदित्यर्थः । अनेन जीवेनात्मना जीवेन मयेति निर्देशो जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति । ब्रह्मात्मकत्वं च जीवस्य जीवान्तरात्मतया ब्रह्मणोऽनुप्रवेशादित्यवगम्यते 'इदं सर्वमसृजन यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु

### श्रुतप्रकाशिका

कनिश्चीयते तथा 'बहुस्याम्' इति ग्राहकग्रहणेन तेजःप्रभृतिसर्वनामरूपेषु सामान्येन परमाभीयतयाऽवगतेषु तत्रानु-प्रवेशपूर्वकनामरूपव्याकरणश्रुत्यादिभिस्सद्धारकम(ध्य)सीयत इत्यनुसन्धेयम् । यथोपबृहदेषु—'गुणवान्' 'तमेवं गुणसम्पन्नम्' इत्यविशेषोक्तेषु भगवद्गुणेषु 'समस्तमविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः' इत्युक्तानां स्निग्धवर्णत्वादीनां 'धर्मज्ञ सत्यसन्धश्च' इत्युक्तानां सत्यसन्धत्वादीनां च गुणानां दिव्यविग्रहद्वारकत्वमद्वारकत्वं च दृश्यते, तथेहापीश्वरशरीर-भूतचिद्वारकोऽद्वारकश्च गुणान्वयो यथाश्रुतिस्वीकार्य इति भावः । बहुस्यामिति । बहुनामरूपभागमवेयमित्यर्थः ॥

तेजोऽवन्नप्रमुखमिति । प्रमुखशब्देन तत्त्वान्तरसृष्टिर्विवक्षिता । देवादिविचित्रसंस्थानसंस्थित इति च धक्ष्यमाण-चिदचिदशीविभागार्थं जगदाकारकथनं ननु जीवानुप्रवेशपूर्वावस्थाकथनं, परमात्मनएव कृत्स्नजगच्छरीरित्वचेत्कथं जीवा-त्मनश्शरीरित्वमिति शङ्काऽपनोद्यते चेतनमिति शब्देन चेतनत्वं शरीरित्वे प्रयोजकमित्यर्थः । चेतनमित्यनेन 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यत्र विज्ञानशब्दस्य ज्ञातृवाचित्वं दर्शितम् । जीववर्गशब्देन 'विज्ञानम्', 'जीवेन' इति चैक-चन 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इत्यादिभिरैकार्थ्याज्जाताविति व्याख्यात-मवति । 'अनेन जीवेन' इत्यत्रानेनेति निर्देशस्याभिप्रायविवरणं स्वकर्मानुगुणेऽप्येति जीवविशिष्टपरमात्मविशेषणेदंश-ब्दस्य जीवद्वारकवैचित्र्यस्य च कर्मवैचित्र्याधीनत्वात् जीवकर्तृकप्रवेशव्यावृत्त्यर्थं स्वेच्छयैवेत्युक्तम् पारतन्त्र्यं स्वातन्त्र्यं च अनुप्रवेशहेतुनैपम्यमित्यर्थः । एवम्भूतेषु द्वारद्वारिभावेन व्यवस्थितेषु चिदचिदात्मकेष्वित्यर्थः स्वपर्यन्तेषु देवाद्याकारेषु स-ङ्घातेषु तत्तदेवाद्यस्यास्तत्तदाविशब्दाश्चाकरोदित्यर्थः । 'नामरूपे व्याकरोत्' इत्युक्ते नामरूपव्याकरणस्य परमात्मपर्य-न्तत्वस्यास्फुटत्वात्तद्विशदयति एवमिति । पूर्वं व्यवन्तनिर्दिष्टानां क्रियाणां क्रमविवक्षाराहित्यं चानेन प्रदर्श्यते ॥

एवं रूपसङ्घातस्य चिदचिदीश्वरात्मकस्य सङ्घातस्येत्यर्थः । एव स्वरूपसङ्घातस्येति पाठेऽयमर्थः स्वरूपं च स्वरूपं तस्य सङ्घातः स्वशब्देन शरीरी ईश्वर उच्यते । रूपशब्देन चिदचिद्वस्तुनी शरीरिशरीरसङ्घातस्येत्यर्थः । वस्तुत्वं देवादि-वस्तुत्वं, जीवेनात्मना इत्यत्र जीववैलक्षण्यस्यास्पष्टत्वादात्मशब्दस्थानेकार्थसाधारण्याच्च, तद्विषुष्वन् स्वपरपक्षसाधारणम-न्यथार्थं तावदाह—अनेनेति । मयेत्यात्मशब्दव्याख्यानं अमशब्दस्यासद्वाचित्वेऽसति हि ब्रह्मात्मकत्वं दर्शितं भवति । स्वरूपैक्यशङ्कां व्युदस्यति ब्रह्मात्मकत्वंचेति । इदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतनवस्तुद्वयमित्यत्र सर्वशब्दस्यासङ्कोचोऽ-भिप्रेतः 'तदनुप्रविश्य, सद्यत्याभाभवत्' 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यनन्तरवाक्येन सर्वशब्दस्य स्वतः प्राप्तमस-ङ्कुचितत्वं स्थापितमित्याह—इदं सर्वमिति । 'अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यत्र नामरूपव्याकरणस्यानुप्र-वेशपूर्वकत्वं गम्यते 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यनुप्रवेशस्य सृष्टिपूर्वकत्वं गम्यते तस्मात्तत्र पौर्वापर्यविवक्षा समा-नकर्तृकत्वमेवात्र विवक्षितम् । 'तस्य त्वष्टाविदधद्रूपमेति' इति वाक्ये सृष्ट्यनुप्रवेशायास्समानकालीनत्वावगमात् ।

## श्रीभाष्यम्

प्रविश्य सच्चत्यज्ञाभवत् ' (तै.आन.६.२) इत्यत्रेदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतनवस्तुद्वयं सत्यच्छब्दाभ्यां विज्ञानाविज्ञानशब्दाभ्यां च विभज्य निर्दिश्य चिद्वस्तुन्यपि ब्रह्मणोऽनुप्रवेशाभिधानात् । अत एव नामरूपव्याकरणात्सर्वे वाचकाश्च शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मवाचिन इत्यवगतमिति ॥

किंच ' ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ' (छां.६.८.७) इति चेतनमिदं प्रपञ्चम् इदं सर्वमिति निर्दिश्य ' तस्यैष आत्मा ' (तै.आन.५) इति प्रतिपादितम् । एवं च सर्वचेतनाचेतनं प्रति ब्रह्मण आत्मत्वेन सर्वं सचेतनं जगत् तस्य शरीरं भवति । तथा च श्रुत्यन्तराणि ' अन्तः-विष्टशक्ता जनानां सर्वात्मा ' (यजुषि.आरण्यके.३.११) ' यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद । यस्य पृथिवी शरीरम् । यः पृथिवीमन्तरोऽयमयति । स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ' (बृ.५.७.३) इति प्रारभ्य ' य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् । य आत्मानमन्तरोऽयमयति । स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत ' (बृ.५.७.२२) इत्यादि ' य पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवीशरीरम् । योऽपामन्तरे सञ्चरन् यस्यापश्चरीरम् ' (सुबाल.७) इत्यारभ्य ' योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरम् । यमक्षरं न वेद । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ' (सुबाल.७) इत्यादीनि सचेतनं जगत् तस्य शरीरत्वेन निर्दिश्य तस्यात्मत्वेन परमात्मानमुपदिशन्ति । अतश्चेतनवाचिनोऽपि शब्दाश्चेतनस्याप्यात्मभूतं चेतनशरीरकं परमात्मानमेवाभिदधति । यथा अचेतनदेवादेः स्थानपिण्डवाचिनश्च शब्दाः तच्छरीरकजीवात्मन एव वाचका ' चत्वार पञ्चदशरात्रादेवत्वं गच्छन्ति ' इत्यादिषु । देवा भवन्तीत्यर्थः ।

## श्रुतप्रकाशिका

तस्मान्नाप्येऽप्यनुप्रविश्येति व्यवहृतनिर्देशोऽनुप्रवेशसुष्ठ्वोर्विनिव्य शपनार्थ इत्यवगन्तव्यम् सृष्ट्वानुप्राविशदिति-स्थित्यर्थानुप्रवेशो वा । एव नामरूपव्याकरणप्रकारउक्तः ॥

ततः किं प्रस्तुतस्येत्यत्राह—अतएवमिति । अतः उदाहृतश्रुतिवाक्यात् एव परमात्मपर्यन्तनामरूपव्याकरणप्रतिपादनात् स्वशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वं मानं दर्शितम् । देहवाचिशब्देऽप्याकृतिनयसञ्चारणेन परमात्मपर्यन्तत्वमुपपादयिष्यन् शरीरत्वाक्षेपकं वाक्यं दर्शयति किंचेति । ततः किमित्यत्राह—एवंचेति । न केवलमात्मशब्देन शरीरत्वं गम्यम् अपितु शरीरत्वं शरीरलक्षणेन सह कण्ठोक्तचेत्याह—तथाच श्रुत्यन्तराणीति । ' अन्तःप्रविष्टशक्ता ' इति सर्वात्मशब्दाविवरणं विशेषणद्वयेन नृपनभोव्यावृत्तिः भगवतो नियन्तृत्वकथनात्तदेकनियाम्यत्वं शरीरलक्षणमुक्तं भवति । जगत्परमात्मशरीरमस्तु ततः किं प्रस्तुतसामानाधिकरण्यस्य शरीरात्मभावो हि भेदरूपतया सामानाधिकरण्यस्य विरोधीत्यत्राह अतश्चेतनवाचिन इति । अतः चिदचिदात्मकजगतः परमात्मशरीरत्वात् शरीरभूतचेतनवाचिपदानां तच्छरीरपरमात्मवाचित्वं कथमिति शङ्कायां शरीरवाचिपदानां शरीरपर्यन्तताभिधायित्वदर्शनादित्याह—यथेति । शरीरपर्यन्तं वैदिकप्रयोगं दर्शयति चत्वार इति । तत्र देवशब्दस्य शरीरपर्यन्तत्वं स्पष्टयति देवा भवन्तीति । देवश्च गच्छन्तीत्युक्तम् । ननु देवं गच्छन्तीति देवशब्दस्य शरीरमात्रपरत्वे शरीरत्वं गच्छन्तीत्युक्तं स्यात् ततश्च देहात्मैक्यमुक्तं स्यात् । अतश्च शरीरं गच्छन्तीत्युपगन्तव्यम् अतो भाष्यप्रत्ययान्तत्वं प्रकृतिभूतदेवशब्दस्य शरीरपर्यन्तत्वशपकमित्यर्थः । शरीरवाचिपदानां शरी

## श्रीभाष्यम्

शरीरस्य शरीरिणप्रति प्रकारत्वात् प्रकारवाचिनां च शब्दानां प्रकारिण्येव पर्यवसानात् शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरिपर्यवसानं न्याय्यम् । प्रकारोहि नाम इदमित्यमिति प्रतीयमाने वस्तुनि इत्यमिति प्रतीयमानोऽशः तस्य तद्वस्त्वपेक्षत्वेन तत्प्रतीतेस्तदपेक्षावात् तस्मिन्नेव पर्यवसानं युक्तमिति तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तस्मिन्नेव पर्यवस्यति । अतएव गौर-  
ध्वोमनुष्यः' इत्यादिप्रकारभूताकृतिवाचिनश्शब्दाः प्रकारिणिपिण्डे पर्यवस्यन्तः पिण्डस्यापि चेतनशरीरत्वेन तत्प्रकारत्वात् पिण्डशरीरकचेतनस्यापि परमात्मप्रकारत्वाच्च परमात्म-  
न्येव पर्यवस्यन्तीति सर्वशब्दानां परमात्मैव वाच्य इति परमात्मवाचिशब्देन सामानाधि-  
करण्यं मुख्यमेव ॥

## श्रुतप्रकाशिका

रिपर्यन्तबोधकत्वमपि लाक्षणिकमित्यत्राह-शरीरस्येति । शरीरवाचिनां प्रकारिपर्यन्तत्वं जातिगुणवाचिपदानामिव आकृ-  
त्यधिकरणन्यायसिद्धमित्यर्थः ॥

जातिगुणवाचिनां द्रव्यपर्यन्तवाचित्वं कथमित्यपेक्षायामाकृत्यधिकरणन्यायं विवक्षुस्तदर्थं प्रकारप्रकारिणौ विविच्य दर्शयति प्रकारोहिनामेति । तद्वाचिशब्दस्य प्रकारिपर्यन्तत्वमुपपादयति तस्येति । तस्य तद्वस्त्वपेक्षत्वेन प्रकारस्य प्रकार्यपेक्षस्वरूपास्तित्वेन । तत्प्रतीतेः प्रकारस्य यथाऽवस्थितस्वरूपप्रतीतेः तदपेक्षत्वात् प्रकारिसापेक्षत्वात् तस्मिन्नेव पर्यवसानं युक्तमिति । प्रकारप्रतीतेः प्रकारिण्येव पर्यवसानं युक्तमिति प्रकारवाचिशब्दः प्रकारिणि पर्यवस्यतीत्यर्थः । शब्दशक्तेर्विशेषणमात्रविषयत्वेऽप्यर्थसामर्थ्याद्विशेष्याशबोधनम् । अतोऽर्थसामर्थ्यसचिवा शब्दशक्तिर्विशिष्टार्थबोधनसामग्री तच्च बोधनं मुख्यकोटिनिविष्टं यथा संस्कारसचिवेन्द्रियजन्यमपि प्रत्यभिज्ञानमिन्द्रियप्रसूतत्वात्प्रत्यक्षमेव न स्मृतिर्भवति । तथाऽत्र मुख्यत्वं अतश्शब्दशक्तिः प्रवृत्तिनिमित्तमात्रे पर्यवस्यति विशेष्यबोधनमर्थसामर्थ्यादिति केचिदाहुः । तदयुक्तम् शब्दशक्तौर्विशेष्यपर्यन्तत्वाभावे निष्कर्षकशब्देऽप्यर्थसामर्थ्याद्विशेष्यपर्यन्तबोधनप्रसङ्गात् । रूपग्रहणे नयनशक्तिः रूपिज्ञानमर्थसामर्थ्यजन्यं स्यात् तदभ्युपगमे गन्धशब्दादिग्रहणे सत्यर्थसामर्थ्यात्पृथिवीगगनादिप्रतिपत्तिश्च स्यात् नच तथाप्रतीतिरस्ति । जात्यादिशब्दशक्तिर्जात्यादिस्वरूपमात्रविषया गवादिशब्दशक्तिर्द्रव्यपरतन्त्रजात्यादिविषयेति निष्कर्षकानिष्कर्षकशब्दविभाग इति चेत् तर्हि शब्दशक्तेः प्रकारिविषयत्वमभ्युपगतं स्यात् धर्मिपरतन्त्ररूपतावगतेर्धर्मिप्रतिपत्तिसापेक्षत्वाच्छब्दशक्तेस्तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वाच्च ॥

किंच 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' 'नतास्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शान्धती' इत्यादिवचनस्वारस्यं च शब्दशक्तेरेव विशेष्यपर्यन्तत्वे सिध्यति । अतो विशेष्यपर्यन्ता शब्दशक्तिरित्यत्र तात्पर्यम् । एवं न्यायशिक्षाकृता इत्थं प्रमाणोपपत्तिरिद्वत्त्वात्सर्वशब्दानां परमात्मैव वाच्यइति परमात्मवाचित्वपदेन त्वंपदसामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमित्याह—  
अतएवेति । पर्यवस्यन्तः पूर्वपक्षं कचिद्व्यावृत्तस्य तत्रानुपरम्य तदन्वयिन्यन्यत्र व्यापारः पर्यवसानमिह विवाक्षितम् ननु व्यापारोपरमः व्यापारोपरमवाचित्वे सत्यपर्यवस्यन्त इति पदच्छेदः । यद्वा पर्यवस्यन्तः पर्यवसातुं प्रवृत्ता इत्यर्थः । परमात्मप्रकारत्वाच्चेत्यन्तेन पूर्वोक्तन्यायस्सञ्चारितः । नामरूपव्याकरणश्रुतिः प्रमाणत्वेन पूर्वोदाहृताऽत्राभिप्रेता विशेषणवाचिशब्दो विशेष्यपर्यन्तोऽस्तु ननु विशेषणवाचिशब्दस्य परमविशेष्यवाचिशब्देन सामानाधिकरण्यं दृष्टमिति चेत्, उच्यते यथा नैत्यगुणगतावान्तरजातिवाचिनीलशब्दो 'नैत्यगुणद्वारा तद्विशिष्टे पर्यवसितः उत्पलशब्देन समानाधिकरणो दृश्यते' यथा

## श्रीभाष्यम्

ननु 'खण्डो गौःखण्डश्शुक्लः' इति जातिगुणवाचिनामेव पदानां द्रव्यवाचिपदैस्सह सामानाधिकरण्यं दृष्टम् ; द्रव्याणां तु द्रव्यान्तरप्रकारत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः, यथा— 'दण्डी कुण्डली' इति ; नैवम् जातिर्वा गुणो वा द्रव्यं वा नैतेष्वेकमेव सामानाधिकरण्ये प्रयोजकम् अन्योन्यस्मिन्व्यभिचारात्, यस्य पदार्थस्य कस्यचित्प्रकारतयैव सद्भावः तस्य तदपृथक्सिद्धिस्थितिप्रतीतिमिस्तद्वाचिनां शब्दानां स्वाभिधेयविशिष्टद्रव्यवाचित्वाद्धर्मा न्तरविशिष्टतद्द्रव्यवाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । यत्र पुनः पृथक्सिद्धस्य स्वनिष्ठस्यैव द्रव्यस्य कदाचित्कचिद्द्रव्यान्तरत्वमिष्यते ; तत्र मत्वर्थीयप्रत्यय इति निरव-  
धम् । तदेवं परमात्मनश्शरीरतया तत्प्रकारत्वादचिद्विशिष्टजीवस्यापि जीवविशिष्टनिर्दे-  
शरूपा अहंत्वमित्यादिशब्दाः परमात्मानमेवाचक्षत इति 'तत्त्वमसि' (छां. ६. ८. ७) इति सामानाधिकरण्येनोपसंहृतम् ; एवंच सति परमात्मानं प्रति जीवस्य शरीरतयाऽन्वया-

## श्रुतप्रकाशिका

गवादिशब्दा गोत्वादिजातिवाचिनस्तद्विशेष्यपिण्डद्वारा तद्विशिष्टचेतने पर्यवसिता, खण्डादिशब्दैस्समानाधिकरणा दृश्यन्ते तद्वत् ॥

उक्तं प्रयोजकमतिभ्याप्या दूषयंश्चेदयति नन्विति । परिहरति नैवमिति । प्रयोगदर्शनमविशिष्टमित्यभिप्रायेण द्रव्यैवेत्युक्तं सामानाधिकरण्ये मत्वर्थीयप्रत्ययानपेक्षे इति भावः । हेतुमाह—अन्योन्यस्मिन्निति । व्यभिचारात् साध्यस्य सामानाधिकरण्यस्य जातिवाचिमात्रं गुणवाचिमात्रं चातिलङ्घ्य वृत्तेरित्यर्थः । जातिर्वा गुणो वा मत्वर्थीयप्रत्ययनिरपेक्ष-  
सामानाधिकरण्यस्य जातिगुणवाचिशब्दयोरविशेषेण प्रयोगदर्शनादिति चेत् तर्हि शरीरवाचिशब्दानामपि मत्वर्थीयप्रत्ययनि-  
रपेक्षसामानाधिकरण्येन प्रयोगदर्शनात्सर्वप्रयोगविषयानुयायिप्रयोजक वाच्यमिति भावः । जातिगुणयोरन्यतरत्वं चाव्याप्त-  
मित्यर्थः । इदमव्याप्तं, प्रकारत्वं चातिव्याप्तं तर्हि प्रयोजकमित्याह—यस्येति । तदपृथक्सिद्धिस्थितिप्रतीतिभिरिति । सिद्धिः सत्ता प्रमाणसम्बन्धयोग्यत्वरूपा । स्थितिः तदनुवृत्तिः अपृथक्शब्दसिद्ध्यादिसाधारणः प्रतीतिशब्देनापृथक्प्रतीते स्वरतः प्राप्तत्वं विवक्षितम् । प्रकारतैस्त्वभावस्तुवाचिशब्दत्वं मत्वर्थीयप्रत्ययनिरपेक्षसामानाधिकरण्ये प्रयोजकमित्यर्थः । निष्कर्षकशब्दान्यत्वेऽतीति विशेष्य मत्वर्थीयप्रत्ययसापेक्षसामानाधिकरण्ये हेतुं पक्षे तदभावशपनाय दर्शयति यत्र पुन-  
रिति । इति निरवधमिति । मत्वर्थीयप्रत्ययसापेक्षदण्डकुण्डलादिव्यावृत्तं मत्वर्थीयप्रत्ययनिरपेक्षसर्वप्रयोगविषयानुयायि प्रयोजकं सिद्धमिति नाव्याप्त्यादिदोष इत्यर्थः । इति निरवधमित्यनेन सहोपलम्भनियमादेः प्रयोजकत्वशङ्कापरिहारादिः प्रथमसूत्रोक्तोऽभिप्रेतः । परिहृतचोद्येन शिक्षितेन न्यायेन परमसाध्यासिद्धिमाह—तदेवमिति । तत् चोद्यस्य परिहृतत्वात् एवं पूर्वं शिक्षितप्रकारेण 'ऐतदात्म्यामिदं सर्वम्' इति पूर्वमेव वैयधिकरण्येन ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य विहितं तस्य सामा-  
नाधिकरण्येन जीवविशेषे उपसंहारः यथा 'सत् आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति जीवविशेषे कृत्स्नस्य ब्रह्मशरीरत्वं वैय-  
धिकरण्येनोपसंहृतं तद्वदित्यर्थः । अनेनोद्देश्योपादेयविभागनिबन्धनचोद्यपरिहारोऽभिप्रेतः स्वपदप्रतिपन्नदोषभाक्तवप्रसङ्गस्य परिहृतत्वं दर्शयति ॥

यद्वा अपुरुषार्थस्य ब्रह्मण्यस्पर्शयहि शरीरशरीरिभाव उक्तः, तथाऽपि तत्संसर्गात्तत्प्रसङ्ग इत्याह—एवंचस-  
तीति । जीवशरीरगतधर्मा जीवमिव जीवधर्माः परमात्मानं न स्पृशन्तीत्यर्थः । पूर्वं यानि दूषणानि परमते स्वीचानि तानि



## श्रीभाष्यम्

जीवगताधर्माः परमात्मानं न स्पृशन्ति यथा स्वशरीरगता घालत्वयुधत्वस्थविरत्त्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति । अतः ‘तत्त्वमसि’ (छां.६.८.७) इति सामानाधिकरण्येतत्पदं जगत्कारणभूतं सत्यसङ्कल्पं सर्वकल्याणगुणाकरं निरस्तसमस्तहेयगन्धं परमात्मानमाचष्टे त्वमिति च तमेव सशरीरजीवशरीरमाचष्टे इति सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम् प्रकरणा विरोधस्सर्वश्रुत्यविरोधो ब्रह्मणि निरवद्ये कल्याणैकताने अविद्यादिदोषगन्धाभावश्च । अतो जीवसामानाधिकरण्यमपि विशेषणभूताजीवादन्यत्वमेवापादयतीति विज्ञानमयाजीवाद-  
दन्य एवानन्दमयः परमात्मा ॥ यदुक्तम् ‘तस्यैव एव शरीर आत्मा’ (तै.आन.५) इत्या-  
नन्दमयस्य शरीरत्वश्रवणाजीवादन्यत्वं न सम्भवतीति तदुक्तम् । अस्मिन्प्रकरणे स-  
र्वत्र ‘तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य’ (तै.आ.५) इति परमात्मन एव शरीरात्मत्वा-  
भिधानात् । कथं ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्तन्मूतः’ (तै.आन.१) इत्याकाशादिसृ-  
ज्यवर्गस्य परमकारणत्वेन प्रज्ञातजीवव्यतिरेकस्य परस्य ब्रह्मण आत्मत्वेन व्यपदेशात्तद्व्य-  
तिरिकाकाशादीनामधममयपर्यन्तानां तच्छरीरत्वमवगम्यते ‘यस्य पृथिवीशरीरं यस्या-  
पदशरीरं यस्य तेजश्शरीरं यस्याकाशश्शरीरं यसायक्षरंशरीरं यस्य सृत्युदशरी-  
रम् । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः’ (सुवाल.७)  
इति सुवालश्रुत्या सर्वतत्त्वानां परमात्मशरीरत्वं स्पष्टमभिधीयते । अतः ‘तस्माद्वा एत

## श्रुतप्रकाशिका

स्वपक्षेनायान्तीत्याह—अतइत्यादिना । अतः सामानाधिकरण्यस्य शरीरशरीरिभावनिवन्धनत्वोपपादानात् अयं हेतुः प्रकरणाविरोधादीनामपि साधारणः पदद्वयावगतविशेषणापरित्यागेन विशेष्यैक्यात्सामानाधिकरण्यस्य मुख्यवसिद्धिः प्रक-  
रणाविरोधइति । ‘तदैक्षत’ ‘एतदात्म्यमिदं सर्वम्’ ‘अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ इत्यादिवान्या-  
विरोध इत्यर्थः सर्वश्रुत्याविरोध इति भेदश्रुतिघटकश्रुत्यविरोध उक्तः । अविद्यादिदोषगन्धाभावश्च यत्किञ्चित् श्रुतिरि-  
द्वार्यविरोधमावउक्तः । पूर्वोक्तजीवगतधर्मास्पर्शस्य फलमविद्याद्यभावइति नपौनस्त्ययम्, पूर्वपक्षिणा जीवानतिरेकसाधक-  
तयोक्तस्य जीवसामानाधिकरण्यस्य राद्धान्तानुगुणत्वमाह—अतइति । अतः तत्त्वंपदयोः प्रवृत्तिर्निमित्तं स्यादस्याऽन्वय-  
त्वात्त्वन्वयवगतधर्माणां ब्रह्मणि साक्षादन्वयविरोधेन जीवद्वाराऽन्वयात् द्वारभूतजीवाद्वारिणो ब्रह्मणो वैलक्षण्यसाधकं  
सामानाधिकरण्यमित्यर्थः । उक्तमर्थं परमप्रकृतेन सङ्गमयति इतिविज्ञानमयादिति । इतिशब्दो हेतौ पूर्वपक्षे जीवान-  
तिरेकसाधकतयोक्तस्य जीवसामानाधिकरण्यस्य भेदावहत्वादेतदधिकरणसाध्यमानन्दमयस्य जीवादन्यत्वं मुख्यमित्यर्थः ॥

अथ शरीरत्वश्रवणं पूर्वपक्षहेतुमनुवदति यदुक्तमिति । परिहरति तदुक्तमिति । ननु प्राणमयपर्यायस्यशरी-  
रात्मशब्दो मनोमयपरः मनोमयपर्यायस्यस्तु विज्ञानमयपरः तत्तदन्तरसद्भावज्ञापनार्थत्वाच्छरीरात्मशब्दस्य अतस्सर्वत्र  
शरीरात्मत्व परमात्मन एवेति कथमवगतमिति पृच्छति कथमिति । प्रतिवाक्ति तस्माद्वा इत्यादिना । अत्रमये शरी-  
रात्मत्वकण्ठोक्त्यभावात्प्राणमये ‘तस्यैव एव शरीरआत्मा यः पूर्वस्य’ इत्युक्तत्वाच्च तस्य वाक्यस्यार्थं विवक्षुस्तत्सङ्ग-  
टनायाह—तस्माद्वाइति । आकाशादिसृष्टेः पञ्चादि जीवस्य करणकलेवरसृष्टिः अतस्ततः पूर्वं जीवस्य सृष्ट्यक्षमत्वादाका-  
शादिसृष्टत्वं जीववैलक्षण्यसाधकम् । तस्य जीवविलक्षणस्यात्मशब्देनाभिधानादात्मशब्दस्य पुत्रादिवत्प्रतियोगिकत्वादन-  
मयादीनां परमात्मशरीरत्वमर्थादवगतमित्यर्थः । शरीरत्वं कण्ठोक्तचेत्याह—यस्य पृथिवीति । अतइति । श्रुत्यन्तरेषु

## श्रीभाष्यम्

स्मादात्मनः’ (तै.आन.१) इत्यत्रैवान्नमयस्य परमात्मैव शारीरआत्मेत्यवगतः । प्राणमयंप्रकृत्याह—‘तस्यैष एव शारीर आत्मा य पूर्वस्य’ (तै.आन.५) इति पूर्वस्यान्नमयस्य यश्शारीर आत्मा श्रुत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतः परमात्मा स एव तस्य प्राणमयस्यापि शारीरआत्मेत्यर्थः । एवं मनोमयविज्ञानमयेयोर्द्रष्टव्यम् । आनन्दमयेतु ‘एष एव’ (तै.आन.५) इति निर्देशस्तस्यानन्यात्मत्वं दर्शयितुम् । तत्कथम् ? विज्ञानमयस्यापि पूर्वोक्तया नीत्या परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः । एवं सति विज्ञानमयस्य यश्शारीर आत्मा स एवानन्दमयस्यापि शारीरआत्मेत्युक्ते आनन्दमयस्य अभ्यासावगतपरमात्मभावस्य परमात्मनस्त्वयमेवात्मेत्यवगम्यते । एवं च स्वव्यतिरिक्तं चेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति स एव

## श्रुतप्रकाशिका

शरीरत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् ‘तस्माद्वा’ इत्यादिवाक्ये आत्मशब्दनिर्देशादन्नमयादीनां शरीरत्वस्यार्थसिद्धत्वाच्च । परमात्मैवान्नमयस्यात्मेत्यवगतइत्यर्थः एवमात्मशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवान्नमयस्यात्मेति ‘यः पूर्वस्य’ इत्युत्तरत्र अनुवादस्य पुरोवादानिर्वाहः कृतः उपादिक्षितस्य ‘तस्यैष एव’ इति वाक्यस्य प्राणमयपरत्वज्ञापनायाह—प्राणमयं प्रकृत्येति । तद्व्याचष्टे पूर्वस्येति । यइति प्रसिद्धवन्निर्देशः श्रुत्यन्तरसिद्धमेतत्प्रकरणसिद्धं च ज्ञापयतीत्यभिप्रायेण श्रुत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतइति विशेषणद्वयमुक्तम् । उक्तमर्थं मनोमयादावतिदिशति एवमिति । आनन्दमयस्य परमात्मत्वमयुक्तम् । तस्यात्मान्तरावयणादित्यत्राह—आनन्दमयेत्येति । अनन्यात्मत्वदर्शयितुं ‘पार्तिविश्वस्यात्मेश्वरम्’ ‘नतस्येशे कश्चन’ ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यादिवदयं निर्देश इत्यर्थः ॥

अत्रोपपत्तिजिज्ञासया पृच्छति तत्कथमिति । अनन्यात्मत्वप्रदर्शनार्थं कथमित्यर्थः परिहरति विज्ञानमयस्यापीति । आनन्दमयप्रति श्रूयमाणे ‘य पूर्वस्य’ इति वाक्ये पूर्वशब्दविवरणार्थं विज्ञानमयस्येत्युक्तम् विज्ञानमयशारीरात्मनः परमात्मत्वेसिद्धे ह्यानन्दमयशारीरात्मनः परमात्मत्वसिद्धिरिति शङ्कायुदासाय विज्ञानमयस्यापीत्युक्तम् । पूर्वोक्तया प्राणमयादायुक्तया । ततः किमित्यत्राह—एवंसतीति । अभ्यासावगतपरमात्मभावस्येति । ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्’ इति पूर्वमन्यस्तस्यानन्दस्य ब्रह्मसन्निधिनिर्देशाद्ब्रह्मणश्च ‘आनन्दो ब्रह्म’ इत्यानन्दशब्दवाच्यत्वात् ‘आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्’ इत्यानन्दशब्दवाच्यत्वाने ‘एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य’ इत्यानन्दमयशब्दनिर्देशेनानन्दानन्दमयशब्दयोः पर्यायत्वाच्चानन्दमयस्य परमात्मभावोऽवगतइत्यभिप्रायः अभ्यासावगतपरमात्मभावत्वं पुच्छब्रह्मवादनिरासयुक्तीनामुपलक्षणतयोक्तम् ‘ब्रह्मपुच्छंप्रतिष्ठा’ इति पुच्छब्रह्मप्राधान्येन निर्दिष्टचेत् ‘सोऽकामयत’ इत्यनन्तरवाक्येऽपि तच्छब्देन पुच्छब्रह्मपरामर्शनीयं तदयुक्तं सइति पुच्छिज्ञानिर्देशात् ‘आत्मन आकाशस्तम्भूतः’ इत्यात्मशब्दाभिप्रायः ‘पुच्छिज्ञानिर्देश इति चेन्न व्यवहितादव्यवहितस्यानन्दमयस्यैव परामर्शनीयत्वात् ‘तस्यैष एव शारीर आत्मा’ इत्यनन्तरपूर्वोस्यात्मनः पुच्छिज्ञानिर्देशेन परामर्श इति चेन्न तस्यान्नमयादिसर्वपर्यायसाधारणत्वेन एतत्पर्याय(स्य) प्रधानप्रतिपाद्यत्वाभावात् । अतः प्रधानप्रतिपाद्याव्यवहितानन्दमय एव सइति परामृश्यते । अतः कारणभूतस्य एव परमात्मेति

एव विज्ञानमयस्य जीवस्यान्तरात्मतया व्यपदेशादभ्यासावगतपरमात्मभावात्तदन्तरत्वेनात्मशब्दव्याख्यानपर्यवसाने भूमित्वादात्मशब्दवाच्यस्यादावेव जगत्कारणत्वेनोक्तत्वादनन्तरकारणवाक्ये ‘सोऽकामयत’ इति पुच्छिज्ञानिर्देशापुच्छतया निर्दिष्टब्रह्मणोऽप्यानन्दमयानतिरिक्तत्वाद्व्यमाणस्य हेतुभिर्विज्ञानन्दमयः परमात्मेत्यवगत तस्य च परमात्मन

## श्रीभाष्यम्

निरुपाधिकदशारीर आत्मा । अतएवेदं परंब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं शरीरकमित्यभियुक्तै-  
रभिधीयते । अतो विज्ञानमयाजीवादन्य एव परमात्मा आनन्दमय ॥

## श्रुतप्रकाशिका

आत्मान्तरवत्त्वं 'आत्मे श्वरम्' 'न तस्येशे कश्चन' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्येवमादिश्रुतिविरुद्धमुपपत्तिविरुद्ध-  
च आकाशादिसृज्यवर्गपरमकारणत्वादिना शरीरा मनः परमात्मत्वमवगतम् । एवमानन्दमयस्य शरीरात्मनश्च परमात्म-  
त्वेति परमा भद्वित्वासम्भवात्परमात्मन आत्माऽन्तरवत्त्वं व्याघाताच्च, 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इत्युक्तिः 'आत्मे  
श्वरम्' इत्यादिवत्तत्त्वानन्यात्मवशापनार्थेत्यर्थसामर्थ्यादवगम्यत इत्यर्थः । शरीरात्मत्व परमात्मन एव मुख्यमित्याह-  
एतच्चेति । निरुपाधिकइति । कचिक्कदाचिकिञ्चि प्रतिकर्मानुगुणाहि कश्चिदात्मा भवति, अयत्तु सर्वेषां सर्वदा सर्वत्रा-  
त्मकर्मवदय, स्वत आ मेति निरुपाधिक इतिभावः । तदेवोपपादयति अतएवेति । अभियुक्तैः, भगवद्बोधायनादिभिः  
'सहितमेतच्छरीरकम्' इतिहि वृत्तिकारवचः । सूत्रार्थमुपसहरति अतइति ॥

## गूढार्थसंज्ञह.

अतो विज्ञानमयाजीवादन्यएव परमात्मा आनन्दमयइति । यद्यपि ब्रह्मविद्याऽऽभरणे-शङ्करभाष्यासिद्धान्त-  
रसम्यक्प्रतिष्ठापितः अथापि निर्विशेषस्याप्रामाणिकतायाः जिज्ञासाऽधिकरण एव निरूपणेन जीवभिन्नपरमात्मनिरूपणपर-  
मेवेद प्रकरणम् । 'उपक्रमेचानन्त्यप्रतिपादितम्' इत्यत्र नविवादः । देशकालपरिच्छेदशून्यत्वस्य देशकालव्यापितत्वरूपताया-  
रसर्वसम्मततया वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमपि वस्तुव्यापितत्वरूपमेव 'अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः' (३.२.३८)  
इति सूत्रे आयामशब्दस्य व्याप्तिवाचित्व परैरप्यभ्युपगतम् । तयोदाहृतश्रुतिषु आकाशस्य स्वसमानसत्ताकसम्बन्धेनैव  
व्याप्तिस्तिष्ठयति । 'व्याप्यव्यापकतामिध्या' इति वदता परेषामते त्रिविधपरिच्छेदशू यत्वं न घटते । 'तथाऽन्यप्रतिषे-  
धात्' इति पूर्वसूत्रे तथेत्यस्य वैयर्थ्यान्यथाऽनुपपत्त्या 'परत्वेनैवान्यस्य प्रतिषेधः' इति जिज्ञासाऽधिकरण एवादौ निरू-  
पितम् । (जि.अ.५८) 'नान्त गुणानाम्' इति (श) सहस्रनामभाष्योपात्त.वि.पु वचनानुसारेण गुणैरानन्त्यच न कथचि-  
दपि निर्विशेषे सम्भवतीति पूर्वमेव निरूपितम् । 'घटस्य स्वरूपम्' इत्यादौ स्वरूपशब्दसमर्भिव्याहारे अभेदप्रतिपत्त्यङ्गी-  
कारेऽपि 'आनन्द ब्रह्मण' इति द्विरभ्यस्तवाक्ये अभ्यासरूपतात्पर्यलिङ्गेन 'शब्दविशेषात्' (ब्र.सू.३७) इति सूत्रोक्त-  
न्यायेन ब्रह्मणः आनन्दस्य च भेद एव विवक्षित इत्याख्यम् । श्रुतौ 'आनन्दमय' शब्दनिर्देशेनापि अत्र भेदविषया  
निर्णयते । 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्' इति तलवकारश्रुतौ 'अभि' इत्यनेन वाचा कास्त्वेन प्राप्तेरेव निषेधेन ब्रह्मानन्दैक-  
देशे प्रवृत्तिसत्त्वेऽपि ब्रह्मानन्दे कास्त्वेन प्रवृत्त्यभावतापर्येण निवर्तन्त इत्युक्तिः ॥

ब्रह्मसम्बन्धानन्दबहिर्भूतविषयाभावेन वाक् सामान्यस्यापि निवृत्तिस्तिद्धान्तेऽपि युक्तैव । 'आनन्दमयवाक्यान-  
न्तर 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इत्यत्रामन्त्यशब्दस्य स्वरूपपरतायाः लोके प्रसिद्धत्वेन सिद्धान्ते उपपत्तिः एवमुपपत्ता-  
यपि तत्र तत्परित्यज्य ब्रह्मविद्याऽऽभरणे 'आनन्दमय' शब्दार्थविवरणपरे 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इति वाक्ये  
पञ्चाः अभेदोक्तिरतीव विचित्रा । 'विज्ञानमय' शब्दनिर्देशापूर्वं मनोमयपर्याये 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इत्युक्त्या  
'विज्ञानमय' इत्यत्र मयडर्थस्य 'आनन्दमय' इत्यत्र मयडर्थस्य च वैलक्षण्य सूचितम् । आनन्दवृत्त्यन्ते अस्यैव  
वाक्यस्य पुनरुपादानेनाभ्यासेन अयमेवागो इतीकृतः । कठवल्ल्याम् 'बुद्धिं तु सारधिं विद्धि' 'विज्ञानं सारधिर्यस्तु'

### गूढार्थसङ्ग्रहः

इत्युक्त्या 'बुद्धि' 'विज्ञान' शब्दयोः एकार्थकत्वं काममास्ताम् । बुद्धिशब्दस्य शानार्थकत्वं कोशेष्वेव प्रसिद्धम् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादयः वैदिकाःप्रयोगाः विशब्दापरित्यागेन प्रयुक्ताः शानार्थकत्वमुक्तम्भयन्ति । विज्ञानमयपर्याये 'विज्ञानं यशंतनुते' इत्युक्त्या शानस्वरूपत्वमपि जीवस्य प्रदर्शितम् । 'आनन्दाद्ध्येव खलु' इति वाक्यानन्तरं वरुणोपसम्पत्त्यकथनेन अत्रानन्दमयादन्यस्याकथनेन च शब्दद्वयार्थः एकएवेति प्रतीयते । 'ब्रह्मविदामोति परम्' इत्यत्र प्राप्तिमुक्त्वा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' इति सृष्टिमुपक्रम्य अनन्तरं 'यतोवा इमानि' 'यःप्रयन्त्यभि संविशन्ति' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि' 'आनन्दं प्रयन्ति' इत्यत्र कारणस्य प्राप्यत्वकथनेन राजकुमारनयसूचनेन अम्यासरूपतापर्यालिङ्गेन प्राप्तिर्दृढीकृता 'आप्त' घातोः भवत्यर्थकत्वं नक्तापि प्रसिद्धम् । 'भू'घातोः प्राप्त्यर्थकत्वं वैयाकरणैरेवाङ्गीकृतम् । 'परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति पूर्वं प्रस्तुताप्राप्तिरेव 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र भवतिनोव्यत इत्युक्तौ न कोऽपि विरोधः । श्रुतिश्चैव परेषा नानुकूलेति जिज्ञासाऽधिकरणे भावप्रकाशे च निरूपितम् ॥

'असतोमा सद्गमय तमसोमा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति । सद्यदाह असतोमा सद्गमयेति मृत्युर्वाऽसत् सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमय अमृतं माकुर्वित्येवैतदाह—तमसोमा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमः ज्योतिरमृतम् मृत्योर्माऽमृतं गमय अमृतं माकुर्वित्येवैतदाह—मृत्योर्माऽमृतगमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (वृ.३.३.२८) इति वाक्ये मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितम्' इत्यन्ते उक्त्या 'अमृतं माकुरु' इत्यर्थेऽपि अमृतगमनं वर्तते' एवेति निर्धारितं भवति । अमृतशब्दः मुक्त्यर्थकः मुक्तार्थकश्च मा मुक्तकुरु इत्येतदर्थे मुक्तिगमनमप्यतिरोहितमेवेत्यर्थ एव विवक्षितः एतत्तात्पर्येणैव 'मृत्योर्माऽमृतं गमयेति' नात्र तिरोहितमिवास्ति इत्यन्ते उक्त्या प्राप्तिर्वर्तते एवेति निष्कर्षस्सम्भवत्येव । अतः 'ब्रह्मविदामोतिपरम्' इत्यत्रोक्तायाः प्राप्तेरभ्यासेन दृढीकरणेन सविशेषपरमेवेदं प्रकरणम् । ब्रह्मशब्दादिस्सविशेषपरमेवेति पूर्वमेव साधितम् । 'तदेवाऽभ्युक्ता' इति तदनन्तरवाक्येन पूर्ववाक्यार्थस्य पादचमुष्टयात्मकश्रुत्या विशदकिरणस्य परेषामपि सम्मतत्वेन 'सत्यंज्ञानम्' इत्यादिव्याक्यचतुष्टयस्यापि वाक्यार्थबोध एव विवक्षित इति निश्चयेन एकवाक्यतया वाक्यार्थबोधस्य विवक्षितत्वे 'सह' इत्यत्र विरामेण साहित्यार्थकत्वं नाभिप्रेत, किंतु युगपदित्यर्थकत्वमेवेत्युक्तिरनुपादेयैव 'तदेवाभ्युक्ता' इति वाक्यमेव परसम्मतानिर्विशेष विघटयति । 'सोऽभ्युक्ते सर्वान्कामान्' इत्यर्थः विज्ञानमयपर्याये 'शरीरे पाप्मनो हिवा सर्वान्कामान्समभ्युक्ते' इत्यत्र 'अस्माल्लोकात्त्रेत्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य इमान्लोकाङ्कामान्नी कामरूपप्यनुसञ्चरन् एतत्सामगायन्नास्ते' इत्यत्र च विशदीकरणेन अत्र निर्विशेष न विवक्ष्यत इति सूत्रकृतैव 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयत' इत्यत्र 'गीयत' इत्यनेनैव निर्धारयिष्यते । अन्यत्सर्वं प्रागेव पर्यालोचितम् ॥

ब्रह्मविद्याऽऽभरणे पञ्चालम्बमानावयवस्य प्रथमपर्याये पुच्छत्वोक्त्या चरमपर्यायेऽपि पुच्छत्व तादृशमेवाङ्गीकरणीयं नत्वाधारत्वरूपम् । उपक्रमप्रभृतिषु चतुर्षु पर्यायेषु रूपणमङ्गीकृत्य पञ्चमपर्याये रूपणानङ्गीकारस्यानुचितत्वात् । 'प्रिय-शिरुवाद्यप्राप्तिरूपचयापचयौहि भेद' इति सूत्रेणापि सूत्रकारः प्रकरणस्य सविशेषविषयत्वमेव नतु निर्विशेषविषयत्वमिति बोधयति । तत्रादिपदेन 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इति वाक्यार्थस्यापि प्रतिपादनेन परसम्मतार्थस्य सूत्रकृदनाभिमतत्वं स्फुटं प्रतीयते । सूत्रस्य कृत्वाचिन्तापरवोक्तिरभिनिवेशमूलैव । एवं च सूत्रद्वयेन सूत्रकारसूचितसविशेषपरत्वमेव प्रकरणस्य युक्तम् । पुच्छशब्दस्य परसम्मतार्थकत्वमनुचितं प्रायपाठानुसारेण रूपणमात्रस्यैव न्याय्यत्वात् इति सूत्रकाराशयस्य तत्रैव व्यक्तीकरणात् । रूपणस्थले सदृशभेदएव विवक्षित इति जैमिनि कुमारिलसिद्धान्तः भावप्रकाशे तृतीयसम्पुटएव निरूपितः ॥

। नन्वपि विज्ञानमयाजीवादन्यः परमात्मेति न घटत इति यद्यपि चन्द्रिकादौ आनन्दतीर्थानुयायिभिः व्यास-



## गूढार्थसंग्रहः

तीर्थादिमिरुक्तम् । अथापि सिद्धान्ते स्थूलरूढतीन्यायेन 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्तम्भूतः' इत्यत्रोक्तमात्मत्व आनन्दमये प्रदर्शितम् इत्यङ्गीकारेण 'विज्ञान देवास्सर्वे' इत्यत्रोक्तार्थस्य जीवेऽसम्भवेऽपि नानुपपत्तिः ॥

एतेन पञ्चसु पर्यायेषु ब्रह्मशब्दाभ्यासः 'येऽन्नब्रह्म' इत्यादिरूपादभ्यासात्तत्तिरीयके 'आनन्दमय' इत्याद्यैशब्दे वाच्यो हरिस्त्वयम् । उपलक्षणत्वं शब्दानामानन्दमयपूर्विणाम् । सूत्रस्याव्याख्यत्वेन सर्वशास्त्राविनिर्णये ' (आर्ती. अनु- व्याख्येन) इत्याद्युक्तिरीप नयाधिका । स्थूलरूढतीन्यायेन प्रथमतोऽन्नमयादीनां ब्रह्मत्वमभिधाय विज्ञानमयादन्यत्वे नानन्दमयस्याभिधाने स्थूलनक्षत्रसमीपवर्त्यरूढतीनक्षत्रनिर्णयवत् विज्ञानमयस्याप्यात्मनः आनन्दमयस्य प्रदर्शनस्यैव युक्तत्वात् । विज्ञानमयादन्यत्वस्यानन्दमयेऽभिधानेन विज्ञानमयस्य ब्रह्मत्वासिद्धेः । आनन्दमयादनन्तर अन्यस्यात्मनो ऽकथनेन आनन्दमयएव उपक्रमोक्तात्मत्वपरिसमाप्तोर्निश्चयात् ॥

एवमुत्तरानुवाके अत्रप्राणमनोविज्ञानवाक्यानन्तर 'तद्विज्ञाय पुनरेव वरुण पितरमुपससार' इति वरुणोपसम्पत्तिवत् 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यनन्तर पुनरुपसम्पत्तेरकथनेन आनन्दस्य ब्रह्मत्वात् स्थानप्रमाणेनाभेदात् आनन्द- मयस्यैव ब्रह्मत्वानिश्चयात् । अत्रादीनां मुक्तानत्वेन ब्रह्मत्वबोधनसम्भवात् स्थूलरूढतीन्यायेनोक्तानां द्वारत्वज्ञानसत्वेन पुनरुपसम्पत्तिस्सम्भवत्येव । आत्मन्शब्दार्थबोधनायात्रमयाजादीनां उक्तिः, तत्र शरीराद्यन्तर्वर्तित्वं प्राणादीनां केषां चिद्वायत इति आन्तरपदार्थस्य द्वारत्वोक्तिर्युक्तैव । 'यथा सोम्य मधुमधुक्रतोनिस्तिष्ठन्ति' इत्यादेरनन्तर 'भूयएवमया भग- वान्विज्ञापयतु' इत्याद्युक्तिस्तु (छा) 'ऐतदा म्यमिदम्' इत्यादिप्रतिपर्यायमनुवृत्त्या अनेकदृष्टान्तैः उक्तार्थदृढीकरणतात्प- र्येणोपपद्यते इति न तत्राब्रह्मवशङ्का अन्यत्वस्यायुक्तत्वात् । तत्र 'ऐतदा म्यमिदमसर्वम्' 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्यैव नवकृत्वो ऽभ्यासः । अत्रतु ब्रह्मशब्दाभ्याससत्त्वेऽपि अत्रप्राणादीनां भिन्नतया अन्यत्वोक्तिबाधकसत्त्वेनच अभ्यासो न घटते इत्यन्यत्व- मत्रमयादेरब्रह्मत्वरोधकमेव । एव पुनरुपसम्पत्तिश्च । अत्रतु अन्यत्व स्पष्टमेवोक्तमिति पञ्चानां ब्रह्मत्व नविवाक्षितम् । सूत्रे अभ्यासशब्दोक्ताभ्यास, धर्मधर्मिणोरुभयोरानन्दमयोरिति पूर्वमेवो(१९१.पु)क्तम् । तेनानन्दमयस्यैव ब्रह्मत्व सिद्धयति ॥

परमने 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्यत्रानन्दमयपद 'ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा' इतिवाक्यलक्षयति प्राधान्येन ब्रह्मप्रतिपा- दकमिति साध्याध्याहारः इदञ्च साध्य 'अभ्यासादिति' हेतुबलादेव लभ्यते तात्पर्यलिङ्गान्तर्गतस्याभ्यासस्य प्राधान्यसाधनत्वं स्वारस्यात् । आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वसाधनपरतया सूत्रव्याख्यानेचाभ्यासादितिहेतोः स्वारस्य न लभ्यते जैवानन्दविलक्षण- त्वस्यापि ब्रह्मलिङ्गत्वेन ताल्लिङ्गादित्येव निर्देशे तत्सप्रहोपपत्तेः तदभ्यासपर्यन्तधावनस्य निष्फलत्वात् । प्राधान्यरूपेच साध्ये आनन्दमयस्थानन्वयात् तेन पदेन 'ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा' इति वाक्यलक्षणाया नकाचिदनुपपत्तिः । इति । 'आनन्दमयः न निगमनश्लोकप्रतिपाद्यः इति साध्याध्याहारेण सूत्रयोजना तत्रचाम्यसादित्यनेन निगमनश्लोके ब्रह्मपदाभ्यासात्तत्रैव स इत्येनाभिनिपदेनानन्दमयस्य ब्रह्मपदार्थगोचरसदसत्त्वाधीनसदसत्त्वाश्रयतया अभ्यासाच्च नैकमुपक्रमस्यपुच्छपदमनुसृत्याने- कबाधनेन निगमनश्लोकस्यानन्दमयविषयत्व कल्पनीयमिति च ब्रह्मविद्याभरणे यद्यप्युक्तम् ; तथाऽपि नायमर्थः श्रुतौ विव- क्षितः । अयमशः निरतिशयदशाशिरस्कतयाऽभ्यस्यमानः आनन्द इति भगवदुक्त्या धर्मानन्दबोधकवाक्यानां धर्मानन्दबो- धकवाक्यानां चैकार्थकत्वस्य प्रतिपादनेन च परोक्तार्थस्य श्रुत्यनभिप्रेत व भगवतैव प्रदर्शितम् । लिङ्गादित्युक्तौ एकएव हेतुर्मेवेत् 'ता पर्यविशेषसूचनायाभ्यासादित्युक्तमिति निरतिशयदशाशिरस्कः अभ्यस्यमान आनन्दः' इत्यनेनैव बोधितम् ।

किञ्च 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यभ्यासस्य विवाक्षितत्वेन तत्र पञ्चधाः परोत्प्रेक्षितरीत्या अभेदार्थकत्वं न संभवतीति बोधनायापि अभ्यासादित्युक्तिः । पुच्छपदसमभिव्याहृतब्रह्मशब्दवैलक्षण्यमप्यत्र विवाक्षितम् । पुच्छशब्दा-

## गूढार्थसंग्रहः

अनेके अभ्यस्ताः, तत्रच पूर्वपुच्छपदार्थीरलक्षणाथैकं यमत्र पुच्छपदस्य परैरुच्यते । सिद्धान्ते तु आनन्दशब्दस्य एकार्थकत्वं मेव निर्विशेषस्यात्र विवक्षा नास्तीति सूचनायाऽप्यभ्यासादियुक्तम् । यष्ट्याभ्यासेनापि 'शब्दविशेषात्' इति सूत्रोक्तदिशा सविशेषपरत्वं बोध्यते । अयाज्यनसमोच्चरान-दयस्य 'यता वाचो निवर्तन्त इत्यभ्यस्तवाक्ये विवक्षितम् । तेन सविशेषस्यैवात्र प्रतिपाद्यता बोधिना भवति । 'अभ्यासात्' इत्यत्र एवमर्थस्य विवक्षितत्वादेव आनन्दमयस्य सविशेषस्य परमात्मत्व सिद्धयति । प्रकृत्यर्थस्यैवाभ्यासेन आनन्दमयस्य परमात्मत्वं न संभवतीति परोक्षशङ्काऽपि निरवकाशा । धर्मधर्म्यान्न्दबोधकस्याभ्यासस्यैव सूत्रे विवक्षितत्वेन सङ्कोचे मानाभावात् । धर्मिण आनन्दत्वेन तद्धर्मस्यानन्दत्वबोधनाय प्रथमं तद्धर्मिणः आनन्दत्वोक्तिः । श्रुतिलिङ्गादिसूत्रोक्तप्रक्रिया भिन्ना, उपक्रमोपसंहारादिता पर्यालिङ्गप्रक्रियाचान्या । 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यभ्यासस्यैव विवक्षितत्वेन पुच्छपदाभ्यासोऽपि 'प्रियाशिरस्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौहि भेदे' इति सूत्रोक्तदिशा सविशेषस्यानन्दमयस्यैव ता पर्याविषयत्वं ज्ञातयति । तत्र रूपणमात्रतायाः सर्वैरप्यङ्गीकर्तव्यत्वात् । धर्मधर्म्यान्न्दाभ्यासस्य आनन्दमयस्य परमात्मसाधकत्वमुक्तं भवति पुच्छपदाभ्यासोऽपि । तत्र 'ब्रह्मविदामोति परम्' इति वल्ल्युपक्रमः । 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इति वल्ल्युपसंहारः अभ्यासश्च । उपसंहारवाक्यस्यैवाभ्यासेन उपक्रमे सविशेषब्रह्मविवक्षितमिति निर्धारितं भवति । एतेन 'सत्यज्ञानमनन्तम्' इत्यत्र गुणानन्त्यमव विवक्षितमिति च निर्धारितम् । एव तात्पर्यसूचनायैवाभ्यासादिति हेतुः प्रयुक्तः, अनेन हेतुना आनन्दमयस्य परमात्मत्वं निर्धारितं भवति ॥

माण्डूक्योपनिषदि 'सुषुप्तिस्थानएकीभूतः प्रज्ञानधनएव ह्यानन्दमयोह्यानन्दमुक् चेतोमुखः प्राशस्तृतीयपादः एव सर्वेश्वरः एव सर्वेशः एयोन्तर्यामी एषयोनिस्सर्वस्य प्रभवाप्ययौहि भूतानां' (मा.का.२.ख.५.६) इत्यत्र प्रज्ञानधनस्यैव आनन्दमयत्वाभिधानेन सुषुप्तौ परमात्मनि जीवानां शयनस्य श्रुत्यन्तरे प्रतिपादनेन आनन्दमयो न जीवः किंतु परमात्मैवैत्युक्तिरेव युक्ता । आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वोपपादनार्थमेवैतत्प्रकरणप्रवृत्त्या माण्डूक्योक्तान्तर्यामि वैकार्यम् । एतेन 'असन्नेवसंभवति' इत्यादावपि आनन्दमयस्यैव ब्रह्मवनिश्चयेन ब्रह्मसदसत्त्वज्ञानाधीनानन्दमयसदसत्त्वविषयकत्वं परोक्षं निरवकाशम् । 'घटमय' इत्याद्ययोगेन 'आनन्दमय' इत्यत्र विकारार्थे मयट् न संभवतीत्युत्तरत्र स्फुटीभवित्यति । माण्डूक्ये सर्वेशत्व यदुक्तं 'ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्युपक्रमे विपश्चिच्छब्दे विवक्षितमानन्दमये सङ्गतमिति 'नेतरोऽनुपपत्तेः' इत्यत्र भाष्ये वक्ष्यते । आनन्दमयस्य माण्डूक्ये 'एषयोनिस्सर्वस्य प्रभवाप्ययौहि भूतानाम्' इति सर्वकारणत्वोक्त्या 'यदिदकिंच' इत्युत्तरत्र आनन्दमयस्यापि सृज्यत्वमुच्यते' इति न्यायरक्षामप्युक्तिरापि न घटते । अत्र माण्डूक्यवाक्ये प्रतिपन्ने आनन्दमये प्राप्ते सुषुप्तौ जीवानां शयनस्य श्रुत्यन्तरतस्सिद्ध्या 'सुषुप्तश्रुत्क्रान्त्योभेदेन' 'तदभावोनाहीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' इति सूत्रद्वयानुसारेण आनन्दमये जीवभेदोऽपि सिद्धयतीति अत्र विज्ञानमयाजीवादन्त्यत्वमानन्दमयस्य यदुक्तं तदप्रकल्प्यम् । 'अभ्यासादिति हेतुना आनन्दमयस्य ब्रह्मत्व सूत्रकृत्तापर्याविषय इति साधनेन ब्रह्मविद्याऽऽभरणे यः सूत्रार्थः सः अभिनिवेशनिवन्धनस्योत्प्रेक्षामूलक एवेति सिद्धम् ॥

नवीनास्तु—'येऽन्न ब्रह्मोपासते' 'अन्नं ब्रह्मेतिव्यजानात्' इत्याद्यभ्यासेनानन्दानन्दमययोः स्थानप्रमाणेनैकत्वेन अन्नमयादीनां पञ्चानां ब्रह्मत्वं ब्रह्मशब्दाभ्यासस्याविशेषात् । श्रुतावन्नमयस्यादित्वेऽपि सूत्रे आनन्दमयस्येतरोपलक्षकत्वम् । सूत्रस्याल्पाक्षरत्वात् । अन्नमय इत्युच्यते ततोऽप्यल्पाक्षरत्वं संभवतीति अन्नमय इत्येव किमिति नोक्तमिति चेत् 'आनन्दमयस्येतु ब्रह्मणः पुच्छतोक्तिः । समस्तब्रह्मता प्राप्ते, आनन्दमयनामाहि ॥' (अनु) इत्युक्तदिशा पूर्वपक्षयुचि सत्वेनान-

## श्रीभाष्यम्

आह-नायमानन्दमयो जीवादन्यः, विकारशब्दस्य मयदप्रत्ययस्य श्रवणात् 'मयद्वैतयोः' (अष्टाध्याय्यां.४.३.१४३) इति प्रकृत्य 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' (अष्टाध्यायी.४.३-१४३) इति विकारार्थे मयदस्सर्यते । वृद्धश्चायमानन्दशब्दः । ननु प्राचुर्येऽपि मयद्वैतस्ति

## श्रुतप्रकाशिका

मुनान्तरेणानन्दमयशब्दस्य परमा मपरतामाक्षिप्य प्रतिवक्ति विकारेत्यादिना सूत्रेण, तत पूर्वपक्षमुप-यस्यति—  
आहेत्यादिना । मययो विकारवाचित्वमुपपादयति मयद्वैतयोरित्यादिना । विकारार्थत्वस्य ज्ञापनार्थं मयद्वैतयोः  
इत्युक्तम् । एतयोः तस्य विकारः अवयवे च प्राण्योपधिवृक्षेभ्यः इति प्रकृतयोर्विकारावयवयोरितिहि तस्यार्थः ।  
अयमर्थः प्राग्दीव्यतोणियधिकारसूत्रम्, आस्मिन्नर्थद्वयेऽपि वृद्धसंज्ञानां शरादिगणान्तर्गतानां च मयदेव नाण्प्रत्यय  
इत्यपवदति 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इति सूत्र 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इति सूत्रेणानन्दशब्दस्य वृद्धसं-  
ज्ञादिकारार्थे मयदप्रत्ययो निहित इति ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

न्दमयशब्दनिर्देशः' इति वदन्ति । 'अभ्यासादिति सूत्रार्थतुः 'येऽन्नब्रह्म' 'अन्न ब्रह्मेतिव्यजानात्' इति ब्रह्मशब्दा  
भ्यासस्यैव नवीनसम्मतत्वेन सूत्रस्याल्पाक्षरत्वेनेतरोपलक्षकत्वं वदतामते ततोऽप्यल्पाक्षरत्वेन अन्नादिशब्दनिर्देशं विहाय  
आनन्दमयशब्दनिर्देशेन सूत्रकृतो नायमर्थोऽभिप्रेतः । ब्रह्मनिष्ठगुणक्रियाऽवयवादीनां ब्रह्माभेदवादमते 'आनन्द  
ब्रह्मणो विद्वान्' इति पष्ठ्यभ्यासेऽपि अभेदएव विवक्षित इति सिद्धान्तेन अवयवावयविनोरभेदः निश्चितएवेति समस्ता  
ब्रह्मता प्राप्तिर्न घटते । अत्रैवावयवावयविनोरभेदः सूत्रकृतो विवक्षित इत्यत्र न किञ्चिन्नियामकं पश्यामः । सूत्रे तद्वाच-  
कपदामावात् । किञ्च विकारशब्दात्रोतिचेदिति शङ्कायाः अन्नमय एव सभवेन पञ्चानां ब्रह्मत्वं सूत्रकृतो विवक्षित-  
मिति सूत्रार्थमणिमञ्जर्यामुक्तत्वेन लाघवाद्ब्रह्मादिशब्दानामेव निर्देश उचितः नवीनमत इति आनन्दमयशब्दनिर्देशेन  
श्रुतावन्नमयाग्रन्यत्वप्रतिपादनेन च आनन्दमयस्यैकस्यैव ब्रह्मत्वं सूत्रकृतो विवक्षितमिति निश्चीयते । सूत्रस्याल्पाक्षरत्वेने-  
तरोपलक्षकत्वादमते आनन्दमयपदस्य बहुश्रत्वात् । विज्ञानमयपर्यायेऽपि ब्रह्मशब्दाभ्याससत्त्वाच्च । आनन्दमयवाक्ये  
ब्रह्मणः पुच्छत्वोक्त्या समस्ता ब्रह्मता कथं साध्यते ? पुच्छशब्दस्य गौणार्थकत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थकत्वखलु  
वाच्यम् ; प्रतिपर्यायं ब्रह्मशब्दवत् पुच्छशब्दोऽपि पठितः । आनन्दमयपर्याये ब्रह्मणः पुच्छतोक्तौ इतरब्रह्मशब्दानामभ्या-  
सेनात्रादेः ब्रह्मत्वं प्रागेव निश्चितमिति सर्वेषामब्रह्मत्वस्य प्रसङ्गामावात् अतः अन्नादिशब्द परित्यज्य आनन्दमयशब्द  
प्रयोक्तुस्सूत्रकृतः आनन्दमयमात्रस्य ब्रह्मत्वं समतम् । अन्यत्र ब्रह्मशब्दः द्वारतया उपयुज्यते । श्रुतावन्तरशब्दप्रयोगेण  
तत्पूर्वमात्मशब्दसद्भावाच्च अन्नाग्रन्तरत्वेनानन्दमयस्य बोधनार्थमन्नादेर्द्वारत्वं सभवत्येव । एवं बोधनं तु स्थूलरूपादीनां  
युक्तमेव । 'यतोवाचो निवर्तन्त' इत्यत्र अवाङ्मनसगोचरानन्दवत्त्वस्य नवीनानामपि समतत्वेन निरतिशयत्वविशिष्टस्य  
अभ्यासो नैवेति चन्द्रिकोक्तिर्निर्वकाया । भृगुर्वरुणोपदिष्टानां द्वारत्वं वत्येव तावन्मात्रेण नात्रब्रह्मेति व्यजनादित्येव  
वक्तव्यमिति नियमः । पुनरुपसम्पर्यैवान्नस्य ब्रह्मताज्ञानं नास्तीति निश्चयसम्भवात् । नह्येकैव रीत्या सर्वत्र वाच्य  
मिति नियमः । अतोन्नादीनां द्वारत्वोक्तिर्युक्तैव अतश्च विज्ञानमयाजीवादन्यत्वमानन्दमयस्याप्रकम्प्यमित्यभिप्रेत्योक्तम्—  
अतो विज्ञानमयादित्यादि ॥

वृद्धश्चायमानन्दशब्दइति । यद्यपि 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इति सूत्रे 'मयद्वैतयोः' इति सूत्रेण नास्ति

## श्रीभाष्यम्

‘तत्प्रकृतवचने मयद्’ इति स्मृतेः । यथा ‘अन्नमयो यज्ञः’ इति । स एवायं भविष्यति नैवम्—अन्नमय इत्युपक्रमे विकारार्थत्वं दृष्टम्, अत औचित्यादस्यापि विकारार्थत्वमेव युक्तम् । प्राचुर्यार्थत्वेऽपि जीवादन्यत्वं न सिद्ध्यति । तथाहि आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःख मिश्रत्वमवर्जनीयम् । आनन्दस्य हि प्राचुर्यं दुःखास्याल्पत्वमवगमयति । दुःखमिश्रमेव हि जीवत्वम् । अत औचित्यप्राप्तविकारार्थत्वमेव युक्तम् ॥

किञ्च लोके मृन्मयं हिरण्मयं दारुमयमित्यादिषु, वेदे च ‘पर्णमयी जुहः’ (यजुषि.३. कां.५.प्र.७ अनु) ‘शमीमयस्सुचः’ ( ) ‘दर्भमयीरशना’ (यजुषि.३.अष्टके.२.प्र ८-अनु) इत्यादिषु मयदो विकारार्थे प्रयोगबाहुल्यात्स एव प्रथमतः धियमधिरोहति जीवस्य चानन्दविकारत्वमस्त्येव तस्य स्वत आनन्दरूपस्य सतस्संसारित्वावस्था तद्विकारपेवेति अतो विकारवाचिनो मयदप्रत्ययस्य श्रवणादानन्दमयो जीवादनतिरिक्त इति । तदेतदनु भाष्य परिहरति—

## श्रुतप्रकाशिका

सिद्धान्तच्छायया चोदयति नन्विति । स एवायं भविष्यतीति । विकारार्थत्वेऽपि जीवात्मानि विकारासम्भवा द्विकारपरत्वं तन्मतेऽनुपपन्नमिति भावः । अग्रयप्रायन्यायेन परिहरति नैवमिति । अतः उपक्रमदर्शनात् औचित्यात् उपक्रमप्रतिपन्नस्वीकारौचित्यात् । प्राचुर्यार्थत्वेऽप्यभिमतसिद्धिमाह—प्राचुर्येति । जीवादन्यत्वे हेतुमाह—तथाहीति । दुःखमिश्रत्वे हेतुमाह—आनन्दस्येति । प्राचुर्यार्थत्वस्वभावात्प्रतियोगिन्यपेक्षिते सुखप्रतिसङ्घतया साहचर्यप्रसिद्धदुःखताल्पत्वस्य प्रतियोगित्वमिति भावः । ततः किमित्यत्राह—दुःखेति । उभययाऽपि जीवत्वसिद्धौ किमिति विकारार्थत्वमाद्रियत इत्यत्राह—अत इति । अतः प्राचुर्येऽपि जीवान्यत्वासिद्धेरौचित्याधिकत्वाच्च विकारार्थत्वमेव ग्राह्यमित्यर्थः, प्रयोगप्राचुर्यमाह—किञ्चेति । अवयवार्थादपि प्राचुर्यार्थे प्रयोगबाहुल्यात्तद्व्यावृत्त्यर्थे प्रथमतर्मिति तरपः प्रयोगः । प्रसिद्धमप्ययोग्यं न ग्राह्यमिति शङ्काया जीवस्य विकारत्वमुपपादयति जीवस्येति । तर्हजन्वित्यत्वादिविरोध इत्यत्राह—तस्येति । स्वत आनन्दरूपस्य तस्य दुःखित्वाद्यवस्थायोगो जीवत्व अत आनन्दविकारो जीवः, आनन्दो मयस्वरूपापेक्षया नित्यत्वादिवद इत्यर्थः । शङ्कायास्सूत्रत्वात्तदनुभाष्येत्युक्तम् ॥

## गूढार्थसंग्रह

विहाय सर्वस्यानुवृत्तिरितिकाशिकोक्तया वेदे आनन्दमयशब्दे विकारार्थे मयद् न सम्भवति । विकारार्थमयदुपपत्त्यात् ‘आनन्दमय इत्यत्र विकारार्थे मयदिति परोक्ष(श)रापि न घटते । तथाऽपि ‘नित्यं वृद्ध’ इत्यत्र भाषाग्रहणं नानुवर्तते । अनुवृत्तावपि भाषाया नित्यमन्यत्र काचित्कः इत्याश्रित्य मयद् सुसाधः । अथवा ‘हेतुमनुष्येभ्यः’ इत्यनुवर्तमाने ‘मयद्’ इति सूत्रेण आगतार्थे मयद्विकारइतितु आर्थिकार्थकथनमेवेत्यभिप्रेत्येत्यमुक्ति एतेनानन्दमयशब्दे विकारार्थे मयदः असम्भवेन सूत्रे आनन्दमयमात्रस्य विवक्षाया अयोगेन आनन्दमयशब्दस्य अन्नमयाद्युपलक्षकवाङ्गीकारे अन्नप्राणमनश्चन्दानां व्यञ्जने ‘व्यञ्जः छन्दसि’ इति सूत्रेण विकारार्थे मयद् सम्भवतीति पञ्चानां ब्रह्मसूत्रकाराभिमतमिति सूत्रार्थमणिमञ्जरीनिर्वकाशा । आनन्दमयो जीवादनतिरिक्तइति । उपाध्यवच्छिन्नजीव एवानन्दमयइति परग्रन्थेऽपि स्फुटम्



श्रीभाष्यम्

## सू.१४—विकारशब्दान्नेतिचेन्नप्राचुर्यात् (१.१.६)

नेतुक्तम् ; कुतः ? (प्राचुर्यात्) परस्मिन्ब्रह्मण्यनन्दप्राचुर्यात् प्राचुर्यार्थं च मयट्-सम्भवात् । एतदुक्तं भवति शतगुणितोत्तरक्रमेणाभ्यस्यमानस्यानन्दस्य जीवाश्रयत्वात् सम्भवाद्ब्रह्माश्रयोऽयमानन्द इति निश्चितेति तस्मिन्ब्रह्मणि विकारासम्भवात् प्राचुर्येऽपि मयट्प्रतिषेधिसम्भवाच्चानन्दमयः पर ब्रह्म इति । औचित्यात्प्रयोगप्रौढ्या च मयटो

श्रुतप्रकाशिका

## सू. १४—विकारशब्दान्नेतिचेन्नप्राचुर्यात् [१-१-६]

सूत्रमुदाहृते विकारशब्दान्नेतिचेन्नप्राचुर्यादिति । द्वितीयस्य नञा निषध्य पूर्वपक्षिमतस्यापपन्नत्वमित्यभिप्रायेण नेतुक्तमित्युक्तम् । प्रतिज्ञा हेतुवदनं ययितुमाकाशा दर्शयति कुत इति । कस्मिन्क य प्राचुर्यमित्यपेक्षायामाह—परस्मिन्निति । नकेवलं प्राचुर्यरूपार्थसद्भावेनाल शब्दशक्तिश्चापेक्षितति शङ्काया सूत्राभिप्रायमाह—प्राचुर्यार्थेचेति । मयट्प्रत्ययस्य प्राचुर्यार्थत्वमपि सम्भवतु तथाऽपि विकारार्थत्वपरित्यागे कोहेतुरित्यत्राह—एतदुक्तमिति । अभ्यस्यमानानन्दयोगोत्तरसूत्रगतानामन्येषामपि हेतूना प्रदर्शनार्थं अयोग्यत्वं त्यागहेतुरित्यर्थं बाधकसद्भावाद्विकारार्थं न त्यज्यतनेत् पूर्वोक्त बाधकसद्भावात् तत् स्वीक्रियतामिति शङ्काया परेण विकारार्थं नस्वीकारसाधकतयोक्तमग्रयप्रायः प्रायः प्रयागप्राचुर्यं च परिहरति औचित्यादिति । औचित्यं प्रकरणौचित्यं ताल्लिङ्गशब्दं प्रयागप्रसिद्धिरपि गङ्गापदादिष्वर्थविरोधेन बाधिता । अत उभयमपि प्रमाणा तरावाधित्वेसत्येवार्थसाधकं अत्र वर्धविरोधात्तसाधकमित्यर्थं अर्थविरोधात् आनन्दमय जीवविकार-

गूढार्थसंग्रह

आनन्दस्य जीवाश्रयत्वात्सम्भवादिति । अयमर्थः प्रागप्यनिरूपितः । औचित्यादित्यादि । एतेन 'सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यत्र नान्नमात्रनिर्दिष्टम् । किंतु तं मयः तद्विकार एव' इति प्रागुक्त्यनुसारणं 'अन्नरसमयः' इत्यत्र विकारार्थमय इति भगवदाशयः प्रतीयते । प्रयागप्रसिद्धेरर्थविरोधाभावात् । यद्यपि अन्नरसशब्दस्य व्यञ्चनं नास्ति तथाऽपि 'अन्नापुरुषः, सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यत्र 'अन्नापुरुषः' इति पुरुषस्य अन्नविकारवक्तव्यत्वं नतर 'अन्नरसमयः' इति पदप्रयोगेण 'बहुलछन्दसि' इति सूत्रेण मयट् । 'तत आगतः' इत्यधिकारः 'मयट् च' इति सूत्रेण वा 'अन्नापुरुषः' इति पुरुषस्यान्नविकारत्वस्य पूर्वमेवाभिधानेन अन्नविकारवत्पर्यवसानम् । यद्यपि पुच्छत्रह्यवाग्निभिः आनन्दमयशब्देऽपि आनन्दमयस्य कोशवाङ्गीकारेण अविकारवरूपार्थविरोधो नास्तीति दूषणं परिहृत्यत । 'अन्नरसमयः' इत्यत्र विकारार्थं मयडुपपत्तिर्यथा तथैवानन्दमयः इत्यत्रापि युज्यते तथाऽप्युभयत्र श्रुतिवाक्यवैयर्थ्येन तदुक्तं न घटते । 'अन्नापुरुषः' इत्यन्नविकारत्वमभिधाय अन्नरसमयशब्दप्रयोगेण तत्र यथाक्याचनविधया विकारार्थं मयट् उपपत्तिर्वाच्या, आनन्दमयशब्देन नेतव्यम् आनन्दात्—आनन्दमय इति श्रौतानन्देऽंशो वर्तते इति 'अन्नरसमयः' शब्दतुल्यन्यायवन्नानन्दमयशब्दस्य । अत्र प्रकरणे आनन्दमयपर्यन्तमेव अन्नमयादिपूर्वपूर्वा यवप्रतीतिः शृगुवह्यया अन्नप्राणमनोविज्ञानानन्तरं वरुणोपपत्तिः, नतु आनन्दानन्तरम् इति प्रकरणद्वयमेकार्थकं प्रतीयते । तेनानन्दहेतुकत्वमानन्दमयस्य

## श्रीभाष्यम्

विकारार्थत्वमर्थविरोधान्न सम्भवति । किञ्च औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तम् तत्र विकारार्थत्वासम्भवात् । अतस्तत्र पञ्चवृत्तेर्वार्योः प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम् । प्राणापानादिषु पञ्चसु वृत्तिषु प्राणवृत्तेः प्राचुर्याद्वा । नच प्राचुर्ये मयदप्रत्ययस्य प्रौढिर्नास्ति—अन्नमयो यज्ञः शकटमयी यात्रेत्यादिषु दर्शनात् । यदुक्तमानन्दप्राचुर्यमल्पदुःखसद्भावमवगमयतीति तदसत् तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रभूतत्वम् । तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति, अपितु तस्याल्पत्वं निवर्तयति इतरसद्भावासद्भावौतु प्रमाणान्तरावसेयौ । इह च प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते 'अपहतपाप्मा' (छां.८.१.५) इत्यादिना । तत्रैतावदेव चक्षव्यम्

## श्रुतप्रकाशिका

स्त्वयोः पूर्वोक्तादसम्भवादित्यर्थः । प्रकरणरूपमौचित्यमेव नास्तीत्याह—किञ्चेति । अर्थान्मयदप्रत्ययस्य विकारवाचित्वं प्रकरणविवक्षितमिति शङ्कामपि शमयन्प्राणमयशब्दस्यार्थमाह—अतइति । प्राणशब्दोऽननरूपवृत्तिमात्रपरः । मयदप्रत्ययः प्राचुर्येण सह संबन्धमभिदधाति । तत्र संबन्धमात्रपरत्वेन प्रथमयोजनायां प्राणनवृत्तिमानित्यर्थः । कृत्स्नमुख्यार्थं त्यागादपि मुख्यार्थकदेशाङ्गीकारो न्याय्य इति भावः ॥

यद्वा प्राणाख्यवृत्तिविशेषसम्बन्धत्वमात्रेण प्रत्ययस्यानर्थक्यादमुख्यार्थत्वं चरमिति भावः । उचिततमं योजनान्तरमाह—प्राणापानादिष्विति । पूर्वपक्षयुक्त्यन्तरमनुवदति यदुक्तमिति । आनन्दप्राचुर्यप्रतियोगितत्त्वमानाश्रय दुःखाल्पत्वमेव, आश्रयान्तरगतस्यानन्दप्राचुर्यस्याश्रयान्तरगतमानन्दाल्पत्वं न प्रतियोगितामर्हति स्वाश्रयगतदुःखाल्पत्वस्यैवान्तरङ्गत्वेन ग्राह्यत्वादिति पराभिप्रायः । दूषयति तदसदिति । प्रमाणान्तराविरुद्धप्रतियोग्यपेक्षत्वं न युक्तम्, अपितु प्रमाणान्तरसिद्धप्रमाणान्तराविरुद्धप्रतियोग्यपेक्षत्वमेव युक्तमिति परिहर्तुं प्रचुरशब्दस्यार्थान्तरसद्भावव्यावृत्त्यर्थमाह—तत्प्रचुरत्वं हीति । ततः किमित्यत्राह—तच्चेति । तर्हि व्यवच्छेद्याभावे प्रत्ययवैयर्थ्यमित्यत्राह—अपित्विति । यदि प्राचुर्यवाचिमयदप्रत्ययः नार्थान्तरसद्भावे प्रमाणं, तर्हि तत्सद्भावः केनावगम्यत इत्यत्राह—इतरेति । ततः किमित्यपेक्षायां पराभिमतप्रतियोग्यभावो ब्रह्मणि प्रमाणसिद्ध इत्याह—इहचेति ॥

तर्हि ब्रह्मणि प्रमाणविरुद्धप्रतियोगिदुःखान्वयद्योतको मयदर्थस्यज्यताम् इतरथा तस्यानन्दप्राचुर्यस्य प्रतियोगि किमित्यत्राह—तत्रैतावदिति । प्रमाणान्तरसिद्धार्थान्तरप्रतियोगिक प्राचुर्यमभिदधतो मयदप्रत्ययस्य स्वयमर्थान्तरसाधकत्वाभावात् ब्रह्मणि च दुःखसम्बन्धस्य प्रमाणवाचित्वात् । जीवानन्दाल्पत्वस्य लोकसिद्धत्वाच्च, ब्रह्मानन्दप्राचुर्यप्रतियोगिजीवानन्दाल्पत्वमित्यर्थात् सिद्धमित्यर्थः जीवानन्दाल्पत्वस्य प्रतियोगित्वं न केवलमर्थसिद्धम् । अपितु कष्टोक्तं चेत्याह

## गूढार्थसङ्ग्रहः

नैव सम्भवति । अतश्चार्थविरोधात्प्राचुर्यार्थ एव मयद । एवं विज्ञानमयशब्देऽपि प्राचुर्यार्थ एव नयद । विज्ञानमयपर्याये ब्रह्मशब्दप्रयोगेण मुक्तौ ब्रह्मसाध्यस्य सूत्रेण मयदः प्राचुर्यार्थत्वं सम्भवति । जीवस्याप्यविकारित्वेन विकारार्थे मयदर्थविरोधान्न सम्भवत्येव ॥

प्राणमय एव परित्यक्तमिति । अन्नप्राणमनश्चन्दानां व्यञ्जकत्वेन 'व्यञ्जश्चन्दसी'ति सूत्रेण विकारार्थे मयदसम्भवः । अन्नप्राणमनःपर्यायेषु जीवस्य नविवक्षा स्थूलरूपतीनयेन द्वारतयैवात्मन्शब्दः उपपद्यत इति पूर्वमेवोक्तम्

## श्रीभाष्यम्

ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति । उच्यते च तत् ' सएको मानुषआनन्द- ' (तै.आन.८.अ) इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत इति । यच्चोक्तम् जीवस्यानन्दविकारत्वं सम्भवतीति, तदपि नोपपद्यते

## श्रुतप्रकाशिका

उच्यते चेति । अयमर्थः यदि सजातीयात्पत्व समानाश्रय प्रतियोगि, तद्व्याहत यदि विजातीय समानाश्रयं तत्प्रमाणान्तराधीनस । वासद्भावं अन्याश्रयमपि सजातीय विजातीय वा प्रतियोगि, मानान्तरावसेय तत्रच यथा तेजःप्राचुरो गभस्तिमानित्युक्तेः तेजःप्राचुर्यस्य चन्द्रादिगत सजातीयतेजोमान्य प्रतियोगि न गभस्तिमद्वततिमिराल्पत्वादि तद्वि प्रमाणबाधितम् इतरप्रमाणसिद्ध तारतम्यवाचिनश्चन्दस्य सजातीयप्रतियोगिज्ञापनपरत्वं स्वारसिकं, बलवत्तर इत्युक्ते पुरुषान्तरबलहि प्रतियोगितया प्रतीयते, ननु स्वगत विजातीय ज्ञान अतोऽन्तरङ्गत्व विफलम् ॥

एवं ब्रह्मणि समानाश्रयमानन्दविजातीयदुःखाल्पत्वरूप प्रतियोगिश्रुतिनिषिद्धमन्याश्रय सजातीयात्पत्वलक्षण प्रतियोगिश्रुत्यैव सिद्धमिति । जीवस्यानन्दविकारत्वमनुवदति यच्चोक्तमिति । आनन्दविकारत्व मयद्व्याच्यत्वमित्यर्थः, दूषयति तदपीति । स्वरूपान्यथाभावलक्षणविकारार्थत्वमेव मयदो व्युत्पत्तिसिद्ध तच्चात्र नास्तीत्यर्थः । ज्ञानानन्दौ जीवस्व-

## गूढार्थसंग्रहः

अतः प्राण अचेतनएव विवक्षितः अथापि विकारार्थत्वं न सम्भवतीत्याशयः । अन्यानन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति । प्राचुरप्रकाशस्सपिता प्रकाशप्राचुरस्सपिता इत्युभयत्रापि नक्षत्रादिगतप्रकाशात्पत्वापेक्षमेव प्राचुर्यं प्रतीयत इत्यनुभवस्यापलापासम्भवात् ' प्रकाशमयो रविः ' इतिवत् ' आनन्दमय ' इत्यत्राप्यानन्दात्पत्वापेक्षमेव प्राचुर्यम् । ' घनबृहिनसैहिकेयाञ्जदनारोपिततमोऽल्पत्वमपेक्ष्य घनाद्यपसारणसमये तथा प्रयोगो वर्तत इत्यत्रापि तथा स्यादिति शङ्कायामेतत्प्रकरणता त्रयानुरोधेन ' अभ्यासात् ' इत्यत्र विवक्षितार्थमेवाह—उच्यते च तदित्यादिना । नक्षत्रादिगतप्रकाशात्पत्वापेक्षया ' प्रकाशमयो रविः ' इत्यादिप्रयोगाः नापहोतु शक्याः । अत्रतु जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दस्योत्कर्षः श्रुत्यैव प्रतिपादित इति श्रुतिता पर्यविषयीभूतएवार्थः अभ्यासात् इति सूत्रे विवक्षितइति नदोष इत्याशयः ॥

तदपि नोपपद्यते इति । सङ्कोचविकासात्मकपरिणाम एव विकारशब्दार्थः ननु परिणामसामान्यम् इति जीवस्य विकारः यः परोक्षः स न घटत इत्याशयः । यद्यपि ' तत आगत ' इत्यधिकारे ' मयट् ' इत्यनेन मयद्व्युत्पत्तः । तथाऽप्यानन्दमयशब्दे विकारार्थे मयद्विहिते न सम्भवति । आनन्दमये आनन्दविकारत्वानुक्त्या ' तत आगत ' इत्यस्याधिकारतया मयमात्रासाधारण्यविरहेणच असाधारण्यार्थबोधकसूत्रविहितमयद्वेवात्र विवक्षितइति युक्तत्वात् । किञ्च स्वार्थेऽपिमयटः ' तत्प्रकृतवचने मयट् ' इति सूत्रेण सिद्धया अर्थद्वयस्य आनन्दमय इत्यत्र विवक्षितत्वे आनन्दभृगुवल्लीवाक्यैकार्थ्यं सम्भवतीति प्रागेवोपशान्तेन ' तत आगत ' इत्यर्थः अत्र न विवक्षित इति सूत्रकाराशयः । सूत्रे विकारशब्दस्य प्राचुर्यशब्दस्यच प्रयोगेणानन्दमय इत्यत्र मयट्पूर्वं प्रस्तुतस्यैव अर्थविषये शङ्कासमाधाने अत्र विवक्षितेति स्फुटप्रतीत्येतेति विकारशब्दप्राचुर्यशब्दयोः मयट्शब्दघटितसूत्रस्य च वृत्तिकाराणां मत एव स्वारस्य निर्मातराणां स्फुटम् । यद्यपि मनोरमायां ' मयद्वैतयोर्भाषायाम् ' इति सूत्रे भाषायामितित्याज्यमिति ' नित्यबुद्धे ' तिसूत्रे भाषायामित्यस्यानुवृत्तावापि भाषाया नित्यमन्यत्र क्वाचित्क इत्याभित्य मयट्सुबाधः । यद्वा ' हेतुमनुष्येभ्य ' इत्यनुवर्तमाने मयट्चेतिसूत्रेण आगतार्थे

## श्रीभाष्यम्

जीवस्य ज्ञानानन्दैकस्वरूपस्य केनचिदाकारेण मृदइव घटाद्याकारेण परिणामस्सकलश्रु-  
तिस्मृतिन्यायविरुद्धः । संसारदशायांतु कर्मणा ज्ञानानन्दौ सङ्कुचितावित्युपपादयिष्यते ।  
अतश्चानन्दमयो जीवादन्यः परंब्रह्म ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः परंब्रह्म-

## श्रुतप्रकाशिका

रूपचेत् कथं दुःसाज्ञानसम्भव इत्यत्राह-संसारदशायांत्यति । सूत्रार्थे प्रकृतार्थेन सङ्गमयति अतइति । प्रसिद्धतर-  
मुख्यार्थासम्भवे तदनुग्राहकहेत्वनुरोधेन सभवदनतिप्रसिद्धमुख्यार्थानुग्राहकहेतूनामनुरोद्धव्यत्वमस्मिन्प्रकरणे व्युत्पाद्यमिति  
स्फुटम् ॥

हेत्वन्तरच्चाह सूत्रकारः ।

## गूढार्थसंग्रहः

मयङ्विकार इति तु आर्थिकार्थकथनमेव इति वृत्तिकारमतेन पूर्वपक्षदूषणपरशङ्कराचार्योक्तिरसाधिता ॥

तथाऽपि 'भाषायाम्' इत्यस्य त्याज्यता भाष्यकाशिकयोर्नोक्ता । 'नित्यबुद्धे'त्यत्र भाषाग्रहणं नानुवर्तत इत्यत्र न  
किंचिद्व्यमकम् । भाषाया नित्यमन्यत्र छात्रिक इति कल्पनमापि स्वोपेक्षामूलकमेव । अन्यन्नगमकं किञ्चित् । 'तत आगत'  
इत्यधिकारे 'मयट्चे'तिसूत्रेण मयङ्ङीकारे आगतार्थस्यैव सिद्धिर्न विकारार्थस्यति प्रयासोपपत्त्यमेव स्यात् । तत्र आन-  
न्दादागतः आनन्दमयशब्दार्थः विज्ञानादागतः विज्ञानमयशब्दार्थ इति पर्यवस्यति विज्ञानमयानन्दमयशब्दयोरेकैव  
रीतिर्विज्ञाना, 'विज्ञानयज्ञं तनुते' इति विज्ञानविज्ञानमयशब्दयोरकार्यकत्वं तत्र स्फुटमुक्तम् तत्रापि मनोरमोक्तरीतेरसम्भवः  
इतिप्रार्चीनवृत्तिकारमतदूषणमभिनिवेशमूलमेव । वृत्तिकारमतमेव निर्दुष्टमिति लघुमङ्गुषाया नागेशेन साधितम् । यथा  
'तत्प्रकृतवचने मयट्' प्रकृतशब्देनात्र प्रचुरभावे ल्युट् तेन प्रचुरार्थगोचकात् प्रथमान्तात् स्वार्थे मयट् यथा घृतमय  
वर्तते प्रचुरघृतमित्यर्थः । यद्वा अधिकरणे ल्युट् प्राचुर्यवदन्नादिवोचकादाधिकरणेऽर्थे मयट् यथा 'अन्नमयो यज्ञः प्रचुराज-  
वानित्यर्थः । 'आनन्दमयो ब्रह्म चिन्मय ब्रह्म' इत्यादावयमेव मयट् प्राचुर्ये तु तत्राप्यरिच्छेद्य व अनन्तत्वप्रतिपादकश्रुते  
नच प्राचुर्यस्य स्वसमानाधिकरणविरोध्यत्वसापेक्षत्वेन दुःसानुवृत्तेरपि प्रतीत्यापत्तौ तस्य ब्रह्महानिरिति वाच्यम् । वैपुल्य  
रूपप्राचुर्यस्य तदपेक्षत्वेऽप्यपरिच्छेद्यत्वरूपस्य तस्य तदनपेक्षत्वात् 'सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म' इति तैत्तिरीयश्रुतौ अनन्तत्वोक्तेः  
प्राणमयादावप्ययमेव मयट् विकाररूपार्थस्याञ्जल्येनोपपत्त्यभावात् । तदवच्छिन्नत्वेन तद्विकारत्वस्यादृष्टत्वात्, नहि घटमयाः  
आकाश इति भवति । विज्ञानानन्दमये न ब्रह्मानन्दविकारत्व तस्याविकारित्वात्, नापि वृत्त्यानन्दविकारत्व तद्विषयविज्ञा-  
नस्य तत्रान्तरत्वेन तस्य विज्ञानमयान्तरत्वानुपपत्तेः । प्रवृत्त्याहोमे 'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाभि शुद्ध-  
न्ताम्' इति मन्त्रे शुद्धिस्तद्विषयावरणनाशरूपेति निवारोप इति व्यासप्रवृत्तिकृतः ह्यौदकमयीमिति प्रकाशप्रयोगेऽप्यय-  
मेव मयङ्केपदप्रयोगात् सन्निरूपणोक्तरीत्या च तत्राप्यरिच्छेद्य वरूपप्राचुर्यस्यैव भानात् । ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वत् 'आन-  
न्दो ब्रह्म' इति श्रुतिवलात् इति । एतेन ब्रह्मविद्याऽऽभरणायुक्तिः अभिनिवेशमूलेति सिद्धम् ॥

'आनन्दमयः' 'विकारशब्दात्' 'प्राचुर्यात्' इति पदत्रयस्वारस्य वृत्तिकारमतएवेति निर्मलसाराणा विदुषां  
स्फुटम् । तेन ब्रह्मविद्याऽऽभरणन्यायरक्षामप्याः स्वारस्यविरुद्धाप्रसिद्धार्थकल्पनमभिनिवेशमूलकमेव । 'प्राचुर्यात्' इत्यत्र



श्रीभाष्यम्

सू. १५-तद्वेतुव्यपदेशाच्च (१-१-६)

'कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेव आकाश आनन्दो न स्यात् । एषह्येवानन्दयाति' (तै. आन. १) इति एषएव जीवानानन्दयतीति जीवानामानन्दहेतुरयं व्यपदिश्यते । अतश्चानन्दयितव्या जीवादानन्दयिताऽयमन्य आनन्दमयः परमात्मेति विज्ञायते । आनन्दमय एवात्र आनन्दशब्देनोच्यते इति चानन्तरमेव वक्ष्यते ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः-

श्रुतप्रकाशिका

सू. १५-तद्वेतुव्यपदेशाच्च (१.१.६)

पूर्वोक्तमानन्दप्राचुर्यमप्यनेनोपपादितं भवति, अनितरमुक्तमोक्षप्रदानक्षमत्वादि नितरमानन्दहेतुर्भवति । किंच धनप्रचुरो हि पुरुषोऽन्यस्मै तदभिप्रेतं धनं ददातीति सूत्रानन्तर्यम् । अस्य सूत्रस्य विषयवाक्यमाह-कोह्येवेति । श्रुतेर्यमाह-एषएवेति । अन्याप्राण्यादिति भोगापवर्गमुखहेतुत्वमुक्तम् । यद्वा सत्ताहेतुत्वमुखहेतुत्वमुक्तम् । पूर्वोक्तएव सम्यगर्थः, फलितहेतुमाह-अतश्चेति । कर्मकर्त्रैक्यं न संभवतीति हेतुः, आनन्दशब्दवाच्यस्य ज्ञानन्दयितृत्वमुक्तम्, नान्वानन्दमयस्येति आह-आनन्दमय एवेति ॥

एवमानन्दमयप्रकृतिप्रत्ययार्थविषयः सूत्रत्रयं प्रवृत्तम् । अथानन्दवल्लीमादिमध्यान्ततोऽनुसन्धायार्थं निष्कृष्टकामः प्रथममुपक्रमस्य हेतुमवतारयति-इतश्चेति ।

गूढार्थसंग्रहः

प्राचुर्यं स्वव्यधिकरणसंजातीयात्वं वप्रतियोगिकम् इति 'स एको मानुष आनन्द' इत्यादिश्रुतिवाक्यपर्यालोचनया निर्णयेन जीवानन्दस्य प्राचुर्यपदार्थघटकत्वं बुद्धिस्तथा तद्वेतुत्वस्य श्रुतावुक्त्याऽपि प्राचुर्यं पूर्वोक्तमेव विवक्षितमिति सिद्धयति । प्रथमसूत्रे 'अभ्यासात्' इत्यत्र अभ्यासोऽनन्दस्थान्ध्यासः विवक्षित इत्यर्थस्यापि दृढीकरणमुखेन हेत्वन्तरेणानन्दमयस्य जीवान्यत्वं साधयति-तद्वेतुव्यपदेशाच्चेति । 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' इति सानन्दमय विकारजातप्रतिब्रह्मणः सृष्टृत्वोपदेशादपि ब्रह्म स्वप्राधान्येनैव प्रतिपाद्य पुच्छरूपमिति (न्यायरक्षामणि) परेषामतः निरस्यति-आनन्दमय एवात्रानन्दशब्देनोच्यते इति । 'आनन्दश्चैव खल्विमानि भूतानि' इति वाक्ये आनन्दशब्दार्थं आनन्दमयशब्दार्थभेद एवेति पूर्वमुपपादितम् । जगत्कारणत्वं यस्यानन्दस्य तस्यैव जीवानन्दहेतुत्वमत्र प्रतिपाद्यते इति 'आनन्दप्रत्यक्षमिदं विशन्ति' इत्यत्रोक्तप्राप्तिरपि आनन्दमयहेतुत्वैवेत्यर्थः एतेन सिद्धः । आनन्दमयस्य हेतुत्वं जगत्कारणत्वं मुक्तिहेतुत्वचेति द्विविधम् । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशरसभूत' इत्युपक्रमोक्तार्थस्य 'अन्योऽन्तरात्माऽनन्दमयः' इत्यत्रैव परिसमापनेनानन्दमयस्य जगत्कारणत्वं सिद्धम् । आनन्दानन्दमययोरैक्यनिरूपणेन 'एषह्येवानन्दयाति' इत्यत्र आनन्दमयस्य मुक्तिहेतुत्वमपि सिद्धयति । एतेन सृष्टिवाक्यानां मुक्तिवाक्यानां च सामरस्यं सिद्धयति । 'च' शब्देन आनन्दमयप्रति इतरस्य हेतुत्वानुक्तिः समधीयते तेन (न्या. २) परोक्तिरामेनिवेशमूलैव । 'यदिदं किंच' इत्यत्र आनन्दमयो विवक्षित इत्यत्र नियामकाभावात् ॥

## श्रीभाष्यम्

## सू. १६=मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते (१.१.६)

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै.आन.१) इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मवानन्दमय इति गीयते । तत्तु जीवस्वरूपादन्यत् परं ब्रह्म । तथाहि ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ (तै.आ.१) इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्मनिर्दिष्टम् । ‘तदेवाऽभ्युक्ता’ (तै.आन.१) इति तत् ब्रह्म अभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया परिगृह्य ऋगेषा अभ्येतृभिरुक्ता । ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य वैशद्यमनेन मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः । जीवस्योपासकस्य प्राप्यं ब्रह्म तस्माद्विलक्षणमेव । अनन्तरं च ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः’ (तै.आन.१ अनु) इत्यारभ्योत्तरोत्तरैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रैश्च तदेव विशदीक्रियते । अतो जीवादय आनन्दमयः ॥

श्रुतप्रकाशिका

## सू. १६—मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते [१.१.६]

अक्षरार्थमाह—सत्यमिति । शब्दएवार्थः न तूच्छशब्दः फलित इति शापयितुं वर्णशब्दः । ततः किमित्यत्राह—तद्विवति । ब्राह्मणस्य परशब्दप्रत्यभिज्ञानाय परब्रह्मेत्युक्तम् । मान्त्रवर्णिकस्य जीवादयत्व कथमित्यत्राह—तथाहीति । प्राप्यत्वमस्तु ततः किं मान्त्रवर्णिकब्रह्मणो जीवादयत्वइत्यपेक्षाया ब्राह्मणमन्त्रयोर्घटक वाक्यमाह—तदेवाभ्युक्तेति । तद्व्याचष्टे तदिति । तत्पदं ब्रह्मवाचि । अभिमुखीकरणं चेतनधर्म इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—प्रतिपाद्यतयेति । एषेति पदस्य विशेष्यमाह—ऋगिति । उक्तेति कथिते पौख्येयत्वशङ्का स्यादिति तद्व्युदासार्थमाह—अभ्येतृभिरिति । किमुक्तं भवतीत्यत्राह—ब्राह्मणेति । श्रुतिषु मन्त्राणां प्राबल्यं केचिद्वदन्ति तद्व्युदासार्थमाह—ब्राह्मणोक्तस्येति । ब्राह्मणोक्तार्थविशदीकरणरूपो मन्त्र इति प्रयोजकम् । सङ्ग्रहेणोक्तस्य विस्तरेण कथनं, विस्तृतस्य प्रतिपत्तिः सौकर्याय सङ्ग्रहेण कथनमपि वैशद्यावह नित्यनिर्दोषत्वाविशेषान्मन्त्रब्राह्मणयोः प्राबल्यदौर्बल्यविभागोऽनुपपन्नइति भावः ॥

एष मन्त्रवर्णेन जीवब्रह्मभेदसिद्धिं फलिता दर्शयति जीवस्येति । प्राप्तुरस्योपासकान्मस्वरूपस्य प्राप्त्यस्य परब्रह्मणश्च कथमैक्यमित्यर्थः मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म जीवादयदस्तु अस्यैवानन्दमयत्वं कथमित्यत्राह—अनन्तरंचेति । पूर्वस्मिन्नस्मिन्नपि सूत्रे चशब्दो हेतुसमुच्चये विकारशब्दात् इति सूत्रे स्वतन्त्रहेतुवन्तराभावात् न चशब्दः तद्धि आनन्दमयोऽभ्यासात् इति सूत्रशेषम् ॥

गूढार्थसंग्रहः

‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ इत्युपक्रमे उक्ता ब्रह्मप्राप्तिरूपा मुक्तिः ‘सोऽश्रुते सर्वकामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता’ इत्यनेन विशदीकृता । सैव ‘शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वकामान्समश्रुते’ इति विज्ञानमयपर्याये प्रतिपादिता । ब्रह्मप्राप्तिः सर्वकामावाप्तिः ‘रसो वै स, रसगुह्येनाय लब्धवानन्दी भवति एष ह्येवानन्दयाति’ इत्यत्र प्राप्तेरानन्दरूपत्वं तद्वेतु व परमात्मनः इति पूर्वसूत्रे उक्तं भवति । सर्वकामावाप्तिः एतावता नैव विशदीकृता भवति, अतः ब्रह्मप्राप्तिः आनन्दमयप्राप्तिरेव । प्राप्तिश्च नैतास्मिन्लाके, अपित् उर्ध्वलोक एव । तत्रैव सर्वकामावाप्तिरित्यर्थं साधयति—मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते इति । (जि.अ.७.७६.पु) ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्, सोऽश्रुते’ इति मन्त्रवर्णोक्तार्थ एव ‘अस्माहोका प्रेत्य एत

### श्रीभाष्यम्

अत्राह-यद्यप्युपासकात्प्राप्यम्य मेदेन भवितव्यम् : तथाऽपि न यस्त्वन्तरं जीवा-  
न्मान्त्रवर्णिकं ग्रहः ; किंतु तस्यैवोपासकस्य निरस्तसमस्तायिद्यागन्धनिर्विशेषचिन्मात्रैकरसं  
शुद्ध स्वरूपम् तदेव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ग्रहः' (तै.आन.९.अनु) इति विशोध्यते । तदेव च  
'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' (तै.आन.९) इति वाङ्मनसागोचरतया  
निर्विशेषमिति गम्यते । अतस्तदेव मान्त्रवर्णिकमिति तस्मादनतिरिक्त आनन्दमय इति ।  
अत उत्तरं पठति-

### सू.१७-नेतरोऽनुपपत्तेः (१.१.६)

#### श्रुतप्रकाशिका

उत्तरसूत्रस्य शङ्कामाह-अत्रादेति । अत्र उपासकप्राप्यभेदोऽभिहितसतीत्यर्थं तस्यैवेति । कारणाविद्या आच्छा-  
दिकाऽविद्या कार्याविद्या विशोषकाऽविद्या च विवक्षिता समस्तशब्देन गन्धशब्देनापारमार्थ्यं फलितम् । अपुनस्स-  
म्बन्धोपाऽभिप्रेतः शुद्ध कर्म तत्फलान्तररहितम् । निर्विशेषवमेवोपपादयति तदेवेति । ज्ञानपदेन निर्विशेषत्वमर्थसिद्ध-  
ज्ञानस्य ज्ञानान्तराश्रयत्वाद्ययोगात् । वाङ्मनसनिवृत्तिवचनाच्च निर्विशेषवासिद्धिमाह-तदेव चेति । तदेव शुद्धस्वरूपमेव  
उपासकप्राप्यभेदोऽवस्थाभेदेनाप्युपपन्न इति न जीवाविलक्षणत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥

### नेतरोऽनुपपत्तेः (१.१.६)

#### गूढार्थसङ्ग्रहः

मानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य इमान्ताका-कामादौ कामरूप्यनुसञ्चरन् एतत्सामगायन्नास्ते' इत्यत्र विशदीक्रियत इति  
विज्ञासाऽधिकरण एव भगवता निरूपणन सूत्रे गीयत इत्यनन तदर्थो विवक्षित इति निश्चयस्तम्भवति । भगवताऽत्र  
अन्तिमवाक्यानुपादानतु पूर्वमेव वाक्यत्रयोपादानेन बोधस्तम्भवतीत्यभिप्रायेण । एतेन 'सोऽश्रुत' इत्यत्र मुक्तिर्विव-  
क्षिता 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य' इत्यादितु अविद्यावद्विषयमेव इति (श) परोक्तिः 'गीयत' इति वदतः  
सूत्रकृतोऽनभिमत इति सिद्धम् ॥

वाङ्मनसागोचरतया निर्विशेषमिति गम्यतइति । अयमर्थः ब्रह्मविद्याऽऽमरणे साधितः । वाच इति ब्रह्मा-  
नन्देयत्ताप्रतिपादकविषयसत् सङ्कुचितार्थे स्यात् । निवर्तन्त इति पदस्वारस्येन प्रवृत्तिरप्यवगम्यते, प्रवृत्तस्यैह नि-  
वृत्तिः । इयत्तापरिच्छादिकानां च वाचा प्रवृत्तिर्नास्तीति तदापि पदमसङ्गतमव स्यात् । ततश्च वाच इत्यसङ्कोचेन सर्व-  
वाग्विषयम् नच तवापि सगुणानां वाचा शत्रुलितस्वरूपपर्यन्त प्रवृत्तानां विशुद्धस्वरूपपर्यन्तमप्राप्य निवृत्तिर्मनसा सगुण-  
वस्त्वगाहिज्ञानाश्रयण संहति वक्तुं शक्यत्वऽपि निर्गुणप्रतिपादकवाचा तादृशमनसा सहप्रवृत्तानां निवृत्तिर्नास्तीति सगुण-  
वाग्विषयतया वाच इति सङ्कुचितार्थे वक्तव्यमेवेति वाच्यम् ; निर्गुणप्रतिपादकवचनजातस्य गुणानप्रतिपाद्य विशुद्धस्व-  
रूपमात्रप्रतिपादकवैवस्यपि निर्गुणवाक्यार्थगोचरसाक्षात्कारपर्यन्त औपाधिकगुणजातस्य विद्यमानतया तस्या दशायामधि-  
ज्ञानमात्रपरिशेषेण विशुद्धस्वरूपमावात् तासामपि वाचां मुक्तिदशाऽभिव्यङ्ग्य यादृश विशुद्धस्वरूप ततो निवृत्तिरस्येवेति  
न वाच इत्यस्य सङ्कोचः । नवा निवृत्तिपदस्वारस्यपरित्यागः ॥

## श्रीभाष्यम्

परमात्मन इतरो जीवशब्दाभिलष्यो मुक्तावस्थोऽपि न भवति मान्त्रवर्णिकः कुतः?  
(अनुपपत्तेः) तथाविधस्यात्मनो निरुपाधिकं विपश्चित्वं नोपपद्यते । इदमेवहि निरुपाधिकं  
विपश्चित्वं ‘सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय’ (तै.आन.६) इति सत्यसङ्कल्पत्वप्रदर्शनेन  
विवरिष्यते । विविधं पश्यच्चित्वं हि विपश्चित्वम् । पृषोदरादित्वात्पश्यच्छब्दावयवस्य

## श्रुतप्रकाशिका

इतरशब्दस्य सप्रतियोगिकत्वात् परमात्मन इत्युक्तम् । अनुपपत्तेरित्यास्मिन्पदे पञ्चमर्थे पश्चाद्वक्ष्यन्ननुपपत्तिस्वरूपमाह—तथेति । निरुपाधिकं विपश्चित्वमिति । कर्मविशेषेन्द्रियाद्यनपेक्षत्वं निरुपाधिकत्वमिह चोपाधिरस्ति चेत् स वक्तव्यः तदभावादेव तदनुक्तिरिति केवलविपश्चिच्छब्दे निरुपाधिकविपश्चित्वमाहेत्यर्थः । न केवलं निरुपपदत्वाद्विपश्चित्वस्य निरुपाधिकत्वमर्थसिद्धं श्रुतिसिद्धमपीत्याह—इदमेवेति । मुक्तस्य निरुपाधिकविपश्चित्वं संभवतीति शङ्कायां किं भवदभिमतमुक्तस्य विपश्चित्वोपपत्तिः ? उतास्मदभिमतमुक्तस्येति विकल्पमभिप्रेत्य स्वाभिमतस्य मुक्तस्य तदनुपपत्तिरिदमेवेत्यादिभाष्येणोच्यते । विपश्चिच्छब्दार्थे शतेहि जीवे तदनुपपत्तिर्वाच्येत्यत्राह—विविधमिति । तर्हि विपश्चित्वमिति वक्तव्यमित्यत्राह—पृषोदरादित्वादिति । ‘पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्’ इति पाणिनिः । पृषच्छब्दावयवतकारलो-

## गूढार्थसंग्रहः

नच प्रकरणाधीतानेकसगुणवाक्यानुसारेण ‘यतो वाच’ इत्यस्य एकस्य यथाकथंचित् व्याख्याने न दोष इति वाच्यम् ; तात्पर्यग्राहकलिङ्गवतैकेनैवानेकवाचोपपत्तेः । इदं वाक्यमस्मिन्प्रकरणे द्विरभ्यस्यते मनोमयपर्याये ब्रह्मवच्छयन्तं च । तत्र कथमेकरूपेण द्विरभ्यस्यमानस्य वाक्यस्यान्यथानयनम् । उपक्रमेचानन्त्यं प्रतिज्ञातम् तदुपपादकतया सृष्टिवाक्यप्रवृत्तिः तत्र सृष्टितदुपयोगिगुणमात्रप्रतिपादने वस्तुपरिच्छेदस्य प्रसक्तेः आनन्दस्यमप्रतिपादितमेव भवेदिति आसिन्प्रकरणे सृष्टिवाक्यजातमपवादमपेक्षमाणमेव भवतीति ‘यतो वाच’ इति वाक्यं तदनुगुणमेव । ननु तत्प्रतिकूलम् । तदुद्देश्यसिद्धयुपयोगित्वात् । ‘सोऽश्रुते सर्वान्कामान्सह’ इत्यत्र पाठविच्छेदेन ‘सहे’त्यस्य युगपदित्येवार्थः । ननु ब्रह्मसाहित्यम् । तथाचोपक्रमोपसंहारैकरूप्यमपि तात्पर्यग्राहकं लिङ्गं ‘यतो वाच’ इत्यस्य मध्ये च ‘अदृश्येऽनाम्ये’ इत्यादिरपवाद उपलभ्यते । ‘उदरमन्तरं कुरुत’ इति च भेदनिन्दा । अतो निर्गुणप्रकरणेऽस्मिन् आनन्दमये सगुणे उपक्रान्तब्रह्मपर्यवसानं कर्तुमशक्यम् । ‘आनन्दं ब्रह्मण’ इति षष्ठीच निर्गुणप्रकरणानुरोधात् ‘यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्’ इति च पूर्वोत्तरवाक्यपर्यालोचनया अभेदसम्बन्धपरैव व्याख्येया ‘आनन्दमय’ इत्यत्र ‘मयद्वच’ इतिसूत्रेण मयट् । विकार एवागतत्वात्पञ्चाराभ्रयणात् । अतः विकारप्रायपाठेन आनन्दमयो न ब्रह्म अतः ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म ‘यतो वाच’ इति वाक्यपर्यालोचनया निर्विशेषमेवेति निर्णयः । तेनानन्दमयः जीव एव न ब्रह्मेति—आनन्दमयः मान्त्रवर्णिकम् इति पूर्वसूत्रपदद्वयेन मान्त्रवर्णिकत्वमानन्दमयस्येवेति स्फुटप्रतीयते तस्मादितरः ‘एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’ इति वाक्ये जीवभेदस्यानन्दमये प्रतिपादनात् जीवएवेत्यभिप्रेत्याह—परमात्मन इतरः इत्यादिना ॥

परैः विपश्चिता सहेत्यन्वयमनङ्गीकृत्य ‘ब्रह्मणाविपश्चिता’ इत्यत्र जीवस्य ब्रह्माभेदः विवाक्षित इति प्रतिपाद्यते । ‘सहे’त्यस्य ‘ब्रह्मणा’ इत्यनेन योगानङ्गीकारोऽपि विपश्चिच्छब्दस्यैव बाधकत्वेन परोक्तो जीवब्रह्माभेदः नात्र विवक्षामर्हति विपश्चिच्छब्दार्थस्य निर्विशेषे असम्भवात् । अनुपपत्तेः इत्यत्र विपश्चित्वाद्यनुपपत्तिर्विवक्षिता इति विपश्चिच्छब्दार्थमेव दर्शयति—विविधं पश्यच्चित्वं हि विपश्चित्वमिति । ‘विपश्चिता मेवाधिना सर्वज्ञेनेति’ (शं.उ.माध्यम्) । विशम्भस्य



## श्रीभाष्यम्

यच्छब्दस्य लोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः । यद्यपि मुक्तस्य विपश्चित्वं सम्भवति तथाऽपि तस्यैवात्मनस्संसारदशायामविपश्चित्वमप्यस्तीति निरुपाधिकं विपश्चित्वं नोपपद्यते । निर्विशेषचिन्मात्रतापन्नस्य मुक्तस्य विविधदर्शनाभावात्सुतरां विपश्चित्वं न सम्भवतीति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषं वस्तु प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । 'यतो वाचो निवर्तन्त' (तै.आन.९) इति च वाक्यं यदि वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणो निवृत्तिमभिदधीत न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगमयितुं शक्नुयात् अपितु वाङ्मनसयोस्तत्राप्रमाणतां वदेत् तथा च सति तस्य तुच्छत्वमेवापद्यते

## श्रुतप्रकाशिका

पञ्चच्छब्दलोपः । पाणिनिवदास्ततममुनिभिः कृतनिर्वाहवादीदृशशब्दानां साधुत्वस्य पाणि-यमिमत् वचनेन शतंभवति । अतो विविधं पश्येत्तत्त्वं विपश्चित्वमित्यर्थः । चिच्छब्दस्य शानवाचि च विविधं पश्यश्चित्वमिति बहुव्रीहिः स्वपक्षेमुक्तस्य निरुपाधिकविपश्चित्वायोग उक्तः ॥

अथ पराभिमतमुक्तस्य विपश्चित्वायोगमाह—निर्विशेषेति । विपश्चित्वमात्रमेव न सम्भवतीत्यभिप्रायेण सुतरामित्युक्तम् । न सम्भवतीत्यत्रेतिशब्दः सूत्रस्यपञ्चमीव्याख्यान नकेवलं विपश्चित्च्छब्दमात्रासङ्गतिः । सर्वप्रमाणविरोधश्चेत्याह—न केनापीति । आर्यगुणनिषेधपरस्य सत्यज्ञानादिवाक्यस्य परिहारः प्रथमसूत्रोक्तोऽनुसन्धेयः 'यतो वाच' इत्यस्य वाक्यस्य निर्विशेषपरत्वं व्युदस्यति यतोवाचइत्यादिना । यदीत्यनुज्ञानप्रदर्शनार्थं तर्हि किमवगमयेदित्यपेक्षया नकेवलमिष्टावोषकत्वं किंत्वानिष्टवोषकत्वचेत्यभिप्रायनाह—अपित्विति । कथमस्यानिष्टत्वमित्यत्राह—तथाच सतीति । मनसोऽप्यगोचरत्वेन सर्वप्रमाणगोचरत्वं सिद्धं कृत्वा प्रमाणान्तरागोचरत्वमप्युपजीव्य तुच्छत्वमापादितम् । किं सर्वथा वाङ्मनसनिवृत्तिरुच्यते उतेयत्तागोचरवाङ्मनसनिवृत्तिः । द्वितीयशिरसोऽभ्युपगमो वक्ष्यतइति प्रथमशिरसि तुच्छत्वमुक्तम् ।

## गूढार्थसङ्ग्रहः

विविधेत्यर्थः । इतिपातोः 'प्राध्याम्नास्याम्नादाण्' इत्यतिर्तिशदसदापिच जिघ्रस्यतीति मनयच्छ पश्यच्छं बोधायनीदाः ' (७.१.७८) इति सूत्रेण पश्यादेशः । 'पश्' इत्यनेन पश्यादेशः सूच्यते । पृषोदरत्वादित्वाच्छब्दसाधुत्वम् । अत्र ब्रह्मणा चिता' इति वाक्यसत्वे चिदभेदविवक्षासम्भावनायाः अवकाशः । जीवेश्वरयोः चित्वेनैकत्वोक्तिसम्भवात् । चिच्छब्दमात्रस्य श्रुतावनभिधानेन सर्वद्रष्टृचितः अत्र प्रतिपादनेन 'ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यत्र निर्विशेष न विवक्षितम् । किंतु सविशेषमेवेत्याशयः । तदेतत्प्रकाशयति — निर्विशेषचिन्मात्रतापन्नस्य इत्यादिना ॥

न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगमयितुं शक्नुयादिति । विवरणकारमते शब्दजन्यसाक्षात्कार एव मुक्तिहेतुः । वाचस्पतिमते मानससाक्षात्कारस्तथा । एतन्मतद्वयं वाचो मनसश्चात्र निवृत्त्यभिधानेन श्रुतौ न विवक्षितमिति स्फुटम् । 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्यापि 'वाच' इत्यत्र सग्रहण 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यत्र मुक्तिहेतुज्ञानस्य परेषामपि विवक्षितत्वेन मुक्तिहेतुज्ञानविषयात् 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्यापि निवृत्तौ निर्विशेषस्यासिद्धेरेव स्यात् । एव मनसोऽपि निवृत्तौ मानससाक्षात्कारोऽपि मुक्तिहेतुर्न स्यात् । अतश्च तुच्छत्व एव पर्यवसानं स्यादित्याह—तथाच तुच्छत्वमेवापद्यत इति । शक्त्या बोधकत्वरूपप्रत्ययभावस्यैव निवर्तन्त इत्येतदर्थत्वात् । न तुच्छत्वम् 'कस्मादुच्यते परं

## श्रीभाष्यम्

‘ब्रह्मविदाप्नोति’ (तै.आन.१) इत्यारभ्य ब्रह्मणो विपश्चित्वं जगत्कारणत्वं ज्ञानानन्दैक-  
तानतामितरान्प्रत्यानन्दयितृत्वं कामादेव चिदचिदात्मकस्य कृत्स्नस्य स्रष्टृत्वं, सृज्यवर्गानु-  
प्रवेशकृततदात्मकत्वं भयाभयहेतुत्वं वाय्वादित्यादीनां प्रशसितृत्वं शतगुणितोत्तरक्रमेण  
निरतिशयानन्दत्वमन्यच्चानेकं प्रतिपाद्य वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणि प्रवृत्त्यभावेन निष्प्रमाणकं  
ब्रह्मेत्युच्यत इति भ्रान्तजल्पितं ‘यतो वाचो निवर्तन्त’ (तै.आ.१) इति यच्छब्दनिर्दिष्टमर्थं  
‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्’ (तै.आ.१) इत्यानन्दशब्देन प्रतिनिर्दिश्य तस्य ब्रह्मसम्बन्धित्वं

## श्रुतप्रकाशिका

‘ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्’ इति पूर्वापरवाक्यविरोधात् ब्रह्मणस्तुच्छत्व व्याहृतमित्यत्राह—ब्रह्मविदिति । व्याहृतार्थे श्रुतिर्न  
प्रतिपादयतीति चेत्तन्निर्विशेषपरत्वेऽपि तुल्यमित्यभिप्रायेण तत्तद्वाक्यप्रतिपन्नान् गुणानाह—विपश्चित्त्वमित्यादिना ।  
‘ब्रह्मणा विपश्चिता’ ‘आकाशस्तम्भूतः’ ‘रसोवैसः’ ‘एष ह्येवानन्दयाति’ ‘सोऽकामयत बहुस्यां प्रजा-  
येय’ ‘तदनुप्रविश्य’ ‘अथसोऽभयङ्गतो भवति’ ‘भीषास्माद्वातःपवते’ ‘स एको मासुप आनन्दः’ इत्येषा  
वाक्यानामर्थो विपश्चित्त्वमित्यादिनोक्तः । शतगुणितोत्तरक्रमेणेति । निर्विशेषत्वं विवक्षितचेत् गुणापकर्षो वाच्यः गुण-  
प्रकर्षमुक्त्वा वाङ्मनसनिवृत्त्यभिधानमानन्त्यविवक्षाकृतमित्यभिप्रायः । अन्यश्चेति । आदित्यमण्डलात्तर्वर्तित्वादिक विव-  
क्षितम् । एवं पूर्वापरवाक्यव्याहतिपरिहारार्थं स्वरूपमङ्गीक्रियते चेत् तद्ब्रह्मणा स्वीकार्या इत्युक्तं भवति एवं प्रकरणविरोध  
उक्तः ॥

अथ स्ववाक्यविरोधमाह—यतोवाचइति । यच्छब्दनिर्दिष्टमानन्दमित्यत्र ‘कश्चैप मौनः’ ‘यतो न वेदाः’  
इति सनत्सुजातोक्तश्लोकद्वयैकार्थ्यमनुसंधेयम् व्यतिरेकनिर्देशेन भेदनिर्देशेन वैयधिकरण्येनेत्यर्थः । यच्छब्देनानन्दनि-  
र्देशः आनन्दशब्देन प्रतिनिर्देशो ब्रह्मसम्बन्धित्वनिर्देशश्च वागविषयत्वे व्याहृतास्युः, विद्वानिति तद्वेदनाभिधानं मनोगो

## गूढार्थसंग्रहः

ब्रह्म ! ‘अथ नामधेय सत्यस्य सत्यम्’ इत्यादेः बोधकत्वमात्रपरत्वेन न तुच्छत्वम् (अ.सि.ल.चं) इत्यङ्गीकारे निव-  
र्तन्ते’ इत्यत्र सङ्कुचितार्थत्वमपरित्याज्यम् । शुद्धे ब्रह्मणि शक्त्यभावस्य परसम्मतस्य एतच्छ्रुतिविरुद्धत्वात् । एव सङ्कोचे  
नियामकाभावाच्च ॥

किंच आनन्दवल्लीप्रकरणस्य निर्विशेषपरत्वेनेतच्छ्रुतिबलात् साधितं ब्रह्मविद्याऽऽभरणदौ । श्रुतिभेदे न पराभीष्टं  
साधयितुमलम् क्वापि शब्दावाच्ये प्रमाणज्ञानस्य केनापि प्रवृत्त्यनङ्गीकारेण तस्य तुच्छत्वमपरित्याज्यमेव । उपक्रमोपसंहारैक-  
रूप्यं परमते न समरति, किंतु सविशेषात्मवाद एव सम्भवतीत्याह—ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यारभ्येत्यादिना । द्वि-  
त्यायेन ‘यतो वाचो निवर्तन्त’ इतिवाक्य सविशेषपरमेवेत्याह—यतो वाचो निवर्तन्त इत्यादिना ॥

यद्यपि न्यायरक्षामणौ—‘ततश्च ब्रह्मणो लक्षणे आनन्त्यान्तर्गतं वस्तुपरिच्छेदराहित्य प्रपञ्चस्य प्रतिपक्षोपाधिगतनि-  
षेधप्रतियोगित्वलक्षणमिष्ट्यात्वेनोपपादयितुं ‘आत्मन आकाश’ इत्यादिना ब्रह्मणो जगदुपादानत्वप्रतिपादनेन तत्र प्रप-  
ञ्चारोपकृतः । ब्रह्मण उपादानत्वेऽपि सृष्टिनियमनादिषु निमित्तान्तरसद्भावे वस्तुपरिच्छेदस्यादाति शङ्कानिरासार्थं  
‘सोऽकामयत’ इति सृष्टौ ‘भीषास्माद्वातःपवते’ इति नियमनेऽपि निमित्तत्व दर्शितम् । एवमारोपितस्य प्रपञ्चस्य

## श्रीमाध्यम्

ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन प्रतिपाद्य तदेव याद्व्यनसागोचरं विद्वानिति तद्वेदनमभिदध-

## श्रुतप्रकाशिका

चरणाभावे व्याहृत स्यादित्यर्थः । अनर्थकं वाच्यनन्तर्गतं च स्यादिति । अनर्थकं व्याहृतार्थं स्यात् । व्याहृतिपरिहारोऽभिमतश्चेत् ब्रह्म न शब्दवाच्यमितीदं समुद्रघोषादिवद्वाक्यमेव न स्यादित्यर्थः, वाक्यत्वे व्याहृतिर्निर्वाह्येति भवः । ब्रह्मणोऽशब्दगोचरत्वं ब्रह्म न शब्दगोचरइत्यनेनापि शब्देन व्याहृत स्यादिति चाभिप्रायः । 'सत्यज्ञानम्' इति स्वल्पस्य सत्यत्वं कण्ठोक्तं न गुणानाम् अनस्तन्निषेध इति चेत्, न तत्र सत्यपदेन व्यावहारिकत्वमुक्तम् । ननु मिथ्यात्वव्यावृत्तिः मिथ्यात्वव्यावृत्तिरुक्ताऽस्तु तथाऽपि गुणानां च सत्यत्वं दुरपह्नव प्रमाणसिद्धत्वात् । प्रामाणिकत्वाहि सत्यत्वं किंच गुणानां

## गूढार्थसंग्रहः

'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यत्रापवादउपदिश्यते । अस्यहि मन्त्रस्यायमर्थः यथा श्रुत्तिकायामध्यस्तरजततादात्म्योल्लेखितया प्रवृत्तेन मनसासह 'रजतमिदम्' इति व्यवहारः श्रुत्तिव्यपर्थन्तमप्राप्य 'नेदं रजतम्' इति बाधे सति निवर्तते एव ब्रह्मण्यव्यस्तप्रपञ्चनादात्म्योल्लेखितया 'सन्घटस्सन्घटः' इत्यादि प्रकारेण प्रवृत्तेनान्तकरणेन सह तत्र प्रवृत्ता घटपटादिशब्दा अप्यलण्डाकारपर्यन्तमप्राप्य 'अथात आदेशो नेतिनेति' इत्यादिश्रौतबाधे सति निवर्तन्ते' इत्युक्तम् ॥

अयमर्थः स्वमतामिनिवेशेन श्रुतावारोपितः । अव्यारोपस्थले श्रुतेः रजतं सभूतमिति लोके न व्यवहारः श्रुतिरजतदृष्टान्तश्च सृष्टिप्रकरणे कापि नोक्तः । सृष्टिवाक्यानां ता पर्यं पूर्वमेवोक्तम् । अतः सृष्टिवाक्येषु अव्यारोपो न विवक्षितः । 'अथात आदेशो नेतिनेति' इत्यादिपरमत साधयितुं नालमिति जिज्ञासाऽधिकरण एव (२४३.पु) निरूपितम् । श्रुतिरजतस्थले भयदुक्तप्रकारेणार्थः लोके न कापि व्यवहियते । 'आनन्दब्रह्मण' इत्यत्रानन्दरूपब्रह्मसम्बन्धित्वेन आनन्दतया प्रतिपन्नगुणविभूत्यादौ एकदेश एव वाङ्मनसयोः प्रवृत्तिः ननु कार्त्स्न्येन । इयत्तायास्सत्त्वे कार्त्स्न्येन प्रवृत्तिः स्यात् कार्त्स्न्येन प्रवृत्त्यभावेन निवृत्तिकथनेन इयत्तायाहित्य पर्यवस्यति 'नान्तगुणानां तेनानन्तोऽयमुच्यते' इति पराशरवचनानुसारी 'सत्यज्ञानमनन्तम्' इत्यत्र अनन्तशब्दार्थः 'यतो वाच' इति श्रुत्या दृढीक्रियत इत्यसकृदावेदितम्

ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन प्रतिपाद्यतइति । एतेन पठ्याः द्विरभ्यासेन 'स एको मनुष्यर्ग-धर्वाणामानन्दः' इत्याद्युपक्रमेऽपि पठ्यभ्यासेन च 'आनन्द ब्रह्मणः' इतिवाक्य ब्रह्मभिन्नानन्दमेव बोधयति । 'यदेव आकाश आनन्दो न स्यादिति' धर्मिणः आनन्दबोधकवाक्यस्य धर्मानन्दबोधकवाक्यबोधकत्वं नरुभवत्येव । आनन्दरूपे धर्मिणि धर्मानन्दसत्त्वे विरोधाभावात् । धर्मानन्दस्यापारीच्छित्वेन वाङ्मनसयोस्तत्रैकदेशेन प्रवृत्तादीप सर्वत्र प्रवृत्त्यभावेन 'निवर्तन्ते' इत्यस्योपपत्तिः । अतः उपक्रमोपसहारैकरूप्य द्विरभ्यासश्चेत्युभय सिद्धान्त एवानुकूलम् । अत्राध्यारोपस्य प्रसक्तिरेव नास्ति तद्वोधकशब्दाभावात् । 'यदाहोवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये' 'उदरमन्तरं कुस्ते' इत्यत्र सिद्धान्तिसंगत एवार्थो युक्तः न परसम्मतार्थ इति प्रागेव (६९४, ६९५.पु) निरूपितम् । 'आनन्दमय' इत्यत्र मयडर्थः पूर्वमेवोपपादितः । अतो निर्गुणप्रकरणमसिद्धमेव ॥

'नेतरोऽनुपपत्तेः' इत्यत्र आनन्दमयः इह पर्याये उपास्यो न भवति । उपक्रमोपसहारावधृतशेषब्रह्मतापर्यंके प्रकरणे उपासनाविवक्षाऽनुपपत्तेः' इत्यर्थवर्णनमप्यनुपादेयम् । परसम्मतशेषब्रह्मप्रकरणस्यैवारिड । आनन्दस्य द्विविधस्य सिद्धान्तसिद्धस्यैव युक्ततायाः प्रागेव निरूपणात् । मनोमयपर्याये 'आनन्दब्रह्मणो विद्वान्' इति वाक्येन मानसमय वेदन ध्यानपर्यवसित विवक्षितमिति पूर्वमेवोक्तम् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते, आनन्दब्रह्मणो विद्वान्' इत्यत्र आन-

## श्रीभाष्यम्

द्राक्ष्यं जरहवादिवाक्यवदनर्थकं वाच्यनन्तर्गतं च स्यात् । अतश्शतगुणितोत्तरक्रमेण ब्रह्मानन्दस्यातिशयेयत्तां वक्तुमुद्यम्य तस्येयत्ताया अभावादेव वाङ्मनसयोस्ततो निवृत्तिः ‘यतो वाचो निवर्तन्त’ (तै.आन.) इत्युच्यते—एवमित्यत्तारहितं ब्रह्मण आनन्दं विद्वान् कुतश्चन न विमेतीत्युच्यते । किंच अस्य मान्त्रवर्णिकस्य विपश्चित ‘सोऽकामयत’ (तै.श्रु.) इत्यारभ्य वक्ष्यमाण(स्य)स्वसङ्कल्पावकल्यतजगज्जन्मस्थितिजगदन्तरात्मत्वादेर्भुक्तात्म स्वरूपादन्यत्वं सुस्पष्टमेव ।

इतश्चोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽन्य आनन्दमयः ।

## सू.१८=भेदव्यपदेशाच्च १.१.६

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः’ (तै.आन.) इत्यारभ्य मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म व्यञ्जय-  
द्राक्ष्यमन्नप्राणमनोभ्य इव जीवादपि तस्य भेदं व्यपदिशति ‘तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्  
अन्योन्तरात्माऽऽनन्दमयः’ (तै.आन.) इति । अतो जीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मान्त्र-  
वर्णिक आनन्दमयोऽन्य एवेति विज्ञायते ।

## श्रुतप्रकाशिका

सत्यत्वं कण्ठोक्तम् ‘सत्यकामस्तस्यसङ्कल्पः’ ‘तइमे सत्याःकामाः’ एतांश्च सत्यान्कामान्’ इत्यादिभिः अत-  
स्वरूपवद्गुणा अपि स्वीकार्याः, प्रमाणोपपत्तिसाम्यात् । अतो न वाङ्मनसनिवृत्तिर्निर्विशेषत्वनिवन्धना । ननु न शब्देन  
मुख्यवृत्त्या प्रतिपाद्यते ब्रह्म अपितु लक्षणया अतो ‘यतोवाच’ इति मुख्यवृत्तिविषयो निषेधइति विषयविभागान्न  
व्याहतिरिति चेन्न । निवर्तन्त इत्येकस्य वाक्यस्य मुख्यत्वायानेकवाक्यलक्षणाश्रयणायोगात् । भूयसा स्याद्वलीयस्त्वमितिन्या-  
यादेकवाक्यस्वारस्यभङ्गेनानेकवाक्यस्वारस्यह्यनुवर्तनीयम् ॥

किंच अत्र ‘नहिंस्यात्सर्वभूताति’ अग्नीषोमीय पशुमालभेत’ इतिवाद्द्विषयविभागेनोभयमुख्यत्वं सिध्य-  
तिचेत्तदेवहि युक्तम् लोके च ‘गामानय वलीवर्देविने’ति विषयविभागो मुख्यवानुरोधी दृश्यते । अविरुद्धार्थः कइत्यपे-  
क्षाया विषयविभाग दर्शयति अतइति । वाङ्मनसनिवृत्तिरस्तिचेत् कथं वेदनवचनमित्यत्राह— एवमिति । इयत्तार-  
हितत्वेन वेदनमुच्यत इत्यर्थः । ‘अनुपपत्ते’ इति सौत्रपदस्य विपश्चित्त्वोक्तसर्वशत्वानुपपत्तिरर्थ उक्तः । अयं  
सर्वशक्तित्वानुपपत्तिमर्थान्तरमाह—किंचेति । इदसूत्र मान्त्रवर्णिकसूत्रोक्तहेत्वग्यथासिद्धिपरिहारपरत्वात् तन्हेत्वमिति स्वत-  
न्त्रहेतुपरवामावात् चशब्दाप्रयोगः । एवमनेन सूत्रद्वयेनोपक्रमस्थहेतुरनुसहितः । अथ मध्यगत स्फुटतर हेतुमनुसन्धत्ते-

## गूढार्थसंग्रहः

न्दमयशब्दार्थज्ञानस्यैव फलनिर्देशः । तेनात्र फलनिर्देशाभावात् उपासनाविवक्षा न घटत इति ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इति  
सूत्रे (ब्रह्मविद्याऽऽभरणे) परोक्तिर्निस्वकाशा ॥

आनन्दमयोऽभ्यासात् इति सूत्रोक्तानन्दमयस्यैव भेदव्यपदेशाच्च इत्यत्रानुयोगितयापस्थित्या तत्र जीवभेदएव  
विवक्षित इत्याह—इतश्चोभयावस्थादित्यादिना । ‘भेदविरोधी अपदेशः भेदव्यपदेशः । भेदप्रपञ्चमिष्यात्वपर्यवसायी



## श्रीभाष्यम्

इतश्च जीवादन्त्यः

## सू.१९-कामाच्च नानुमानापेक्षा [१.१.६]

जीवस्याविद्यापरयशस्य जगत्कारणत्वेहायर्जनीया आनुमानिकप्रधानादिशब्दामिधे-  
याचिद्वस्तुमंसर्गापेक्षा। तथैव हि चतुर्मुखादीनां कारणत्वम्। इह च 'सोऽकामयत बहुस्यां  
प्रजायेय' (तै.आ.) इत्यचित्संसर्गरहितस्य स्वकामादेव विचित्रचिदचिद्वस्तुनरसृष्टिः 'इद-  
मैमयमसृजत यदिदं किंच' (तै.आन.) इत्याध्यायते। अतोऽस्यानन्दमयस्य जगत्सृजतो नानु-

श्रुतप्रकाशिका

ऽनन्तरसूत्रेण आनन्दमयस्य जीवादन्त्यत्वं स्ववाक्यैकदेशमयऽन्तपदवाच्यनिरतिशयानन्दयोगेन प्रथमसूत्रेणोपपादितम्  
अतोऽयं स्ववाक्यस्य हेतुश्चेत्ते। भवति ॥

## सू.१८-भेदव्यदेशाच्च १.१.६

यदि जीवात्मस्वरूपं शुद्धावस्थं ब्रह्म। तर्ह्यज्ञमयादेरिवैकवस्थायां भेदव्यपदेशो न सम्भवति तस्मादस्य यादृशि  
रिव जीवेनैक्यं ब्रह्मणो न संभवतीत्यर्थः। विशानशब्दस्यान्तःकरणपरत्वात्तुल्यपत्त्यादिकं पूर्वोक्तमिहानुसन्धेयम् ॥  
अयोपसंहारार्थहेतुमाह—

## सू.१९.कामाच्च नानुमानापेक्षा [१.१.६]

कैश्चित्प्रधानव्यावृत्तिपरमिदं सूत्रं ध्याख्यात तत्पक्षोऽतिदुस्स्वभावान्नूय दूषितः, पूर्वाधिकरणे अचिद्व्यावृत्तः कृता,  
प्रधानत्वशङ्काहेतुश्चास्मिन्ननुवाकं नास्ति, अपेक्षाशब्दवैयर्थ्यं च स्यादिति जीवस्येति। अत्यन्तमचिदनपेक्षत्वे स्वरूपपरी-

गूढार्थसङ्ग्रहः

'यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' इत्युपदेशः। तद्विरोधात् प्रियाद्य-  
वयवयुक्तस्याविशेष आनन्दमयउपास्यो न प्रतिपाद्यः' इति न्यायरक्षामप्युक्तिरभिनिवेशमूलैव। व्यपदेशशब्दस्य अप्रति-  
क्षोऽयं इत्यस्य स्फुटत्वात्। 'यतोवाचो निवर्तन्ते' इत्यस्य भेदमिथ्यात्वबोधकत्वासम्भवाच्च। भेदो वैलक्षण्यं पूर्वेषु पर्या-  
येषु फलनिर्देशः। इह तु नास्तीति वैलक्षण्यम्। ततश्च फलनिर्देशान्यथोऽनुपपत्त्या तत्रोपासनाविवक्षायामपि आनन्दम-  
यस्य फलनिर्देशं विनैव व्यपदेशाच्चेहोपासनाविवर्षा' इति (ब्रह्मविद्याऽऽभरणे) परोक्षरनुपादेया। 'आनन्दं ब्रह्मणो  
विद्वान् न विभेति' इत्यत्र आनन्दमयशब्दार्थज्ञानेन फलस्यापि प्रतिपादनात्। 'सोऽश्रुते सर्वाकामान्' इत्युपक्रमो  
कार्यः 'अस्मात्कात्प्रेत्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य हेमान्तोऽकामात्मी कामरूप्यनुसञ्चरन्' इति वत्स्युपस-  
हारे विशदीकरणेन उपक्रमोपसंहाराभ्यामानन्दमयब्रह्मज्ञानस्य फलस्य दृढीकरणाच्च ॥

'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'सोऽकामयत' इति वाक्ये पुल्लिङ्गतच्छब्दनिर्देशेन आनन्दवत्तयाः सविशेषपरत्वा-  
सम्भवेन पुच्छब्रह्मवादायोगेन 'सन्तमेन ततोविदुः' इत्यनन्तर 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इत्यस्य परोक्षनिर्देशो-

## श्रीभाष्यम्

मानिकाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा प्रतीयते ।

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः ।

सू.२०—अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (१-१-६)

## श्रुतप्रकाशिका

णामप्रसङ्गः, दहातिरिक्ताचिदनपक्षत्वं देवादिषुष्टौ चतुर्मुंसादीनामप्यस्ति अतस्तत्परिहारार्थमाह—इह चेति । सङ्कल्पहेतु-  
भूतकरणकळेबरावस्याचिदसंसर्गापेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥

देहानपेक्ष(त्वं)सत्यसङ्कल्पत्वकार्यं सद्ब्रह्ममाविर्भूतगुणादकस्य मुक्तस्यापि भूयत इति शङ्कां परिहरन् 'सोऽकामयत'  
इति वाक्यादुपरितनहेत्वन्तरमाह—

सू.२०—अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (१.१.६)

## गूढार्थसंग्रहः

परत्वासम्भवेन आनन्दमयस्यैव अनन्यात्मत्वपरत्वावश्यभावेन 'सोऽकामयत' इत्यत्र आनन्दमयविवक्षाया एवावश्य-  
कत्वात् । परमते 'कामस्तङ्कल्पः' इत्यादिश्रुत्या कामादीनामन्तःकरणधर्मत्वस्यैव प्रतिपादनेन मायापरिणामवग्राहक-  
श्रुत्यभावेन 'सोऽकामयत' इत्यत्र निर्विशेषविवक्षाया असम्भवाच्च । 'तस्माद्वा एतस्मादा मनः अन्योऽन्तर आ माऽ-  
नन्दमयः' इतिपूर्वं जीवभिन्नत्वेन प्रतिपादितस्यान्मनः आनन्दमयस्य कामस्यैव विवक्षितत्वेन प्रधानापेक्षा नास्ति जीव-  
विवक्षायां प्रधानापेक्षा स्यादितिभावः । अप्र न्यायरक्षामन्यादौ 'कामयत इति कामः भृगुवृद्धश्च अत आनन्दः । तद्दृष्टा-  
न्तमवलम्ब्यानन्दमयस्य प्राधान्यानुमानेऽपि प्रत्याशा न कार्या । तत्र श्रुतौवानन्दस्य उपक्रमब्रह्मरूपताया 'अनन्दो  
ब्रह्मेति व्यजानात्' इति साक्षात् 'आनन्दाद्वयेव खल्विमानिभूतानि' इति लक्षणमुक्तेन च पर्यवसानप्रतिपादनात्  
इत्युक्ताऽर्थे शब्दत्रये स्वोपेक्षामूकएवेति स्फुटं विदुषाम् ॥ 'कामात्' इत्यत्र 'सोऽकामयत' इति श्रुतौ कामघा-  
त्वर्थः 'नानुमानमतच्छब्दात्' इति सूत्रोक्तएवात्रापि नानुमानेत्यस्यार्थः, 'अपेक्षा' इत्यन्तरार्थ(न्या.र.म)श्चेति अर्थत्रय  
परित्यागस्य अभिनिवेशमूलकताया स्फुटत्वात् ॥

'तद्वैतुष्यपदेशाच्च' इत्यत्र जगत्कारणस्यानन्दमयस्य मुक्तिहेतुत्वाभिधानेन सृष्टिवाक्यानां मुक्तिवाक्यानां च  
सामरस्यमामहिनम् । 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयत' इत्यत्र 'ब्रह्मविदामेति' इत्याद्युपक्रमवाक्यस्य 'अस्माहोकात्रेत्य  
एतमानन्दमयमा मानमुपसङ्गम्य' इति वाक्यस्यैवकार्यकत्वम् । 'नेतरोऽनुपपत्तेः' इत्यत्र उपक्रमप्रभृत्सुपसहारपर्यन्त  
प्रतिपादितधर्माणां आनन्दमयएव सभव नतु जीवइति निरूपितम् । तेन विशानमयपर्याय 'इशेरे पाप्मनो हि या सर्वा  
कामान् समभ्रुते' इत्युपक्रमोपसहारयोरुक्तार्थस्य मुक्तिरूपस्य प्रतिपादनं जीवएवेति निर्धारितम् । एवमुपक्रमोपसहार-  
वाक्योक्तार्थस्यैव सर्वकामावाप्तिरूपस्य मध्ये प्रतिपादनं विशानमयस्य जीवधनिर्णयानन्तरमानन्दमयपरमा मनि जीव  
मेव 'तस्माद्वा एतस्माद्विशानमयात्' इति श्रुत्युक्तः भेदव्यपदेशाच्च इत्यत्र निरूपितः । तदनु तरानुवाक्योक्तार्थः  
कामाच्च नानुमानापेक्षा इत्यभिहितम् । तदनन्तरानुवाक्यकार्यं अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति इति सूत्रेऽभिधीयते



### श्रीभाष्यम्

आनन्द- ' (तै.आन.७) ' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ' (शृ.९.१७) इत्यादिप्यानन्दशब्देनानन्दमय  
एव परामृश्यते, यथा विज्ञानशब्देन विज्ञानमयः अतएव 'आनन्दं ब्रह्मणो विज्ञान ' (तै.  
आन.९.१) इति व्यतिरेकनिर्देशः । अतएव च आनन्दमयमात्मानमुपसङ्गामति ' (तै.आन  
८.१) इति फलनिर्देशश्च । उत्तरेचानुवाकः पूर्वानुवाकोक्तानामप्रमयाद्रीनां ' अयं ब्रह्मेति  
व्यजानात् । ब्रह्मणो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् '

### मुत्तमकाशिका

नेति । अत्र पूर्वोक्तहानां अनुसम्भेयाः स्वरूपस्यानुकल्पेदनीयावादानन्दशब्दो धर्मिणः, चर्मपरत्वेऽप्यर्थः न द्वि-  
इति भावः । व्यतिरेकनिर्देश इदमुदाह—अतएवेति । अतएव आनन्दानन्दशब्दयोरेकविषयवेनेत्यर्थः । हेतुन्तरमह  
अतएवेति । स्थानप्रमाणमाह—उत्तरेचेति । पूर्वानुवाके एतदनुवाकोक्तं भागं च मयदन्तपदनिर्दिष्टानामप्रमयद्वैतपद  
निर्देशप्रकरणे आनन्दशब्देन प्रतिपादनादानन्दमयएवानन्दशब्दवाच्य इत्यर्थः । आनन्दशब्दवाच्यस्य परमात्मवद्भि  
पराङ्गीकृतम् तदेतुव्यपदेशाच्च, अस्मिन्नस्य च सद्योगं शास्ति इति सूत्रयोरियमिदं पूर्वप्र सामान्येन समस्तसुखं  
सुख उत्तरत्र मोक्षसुखहेतुत्वचोक्तमिति तदा ' कोऽप्यन्यात्क प्राण्यात् ' इत्यन्यात् प्राण्यादिति पदाम्ब्या सत्ताहेतुत्वं  
सुखहेतुत्वचोक्तं भवति ॥

यद्वा पूर्वसूत्रमुपायपरं एतत्तूपेपरमिति मिदा ' आनन्दयाति रसो यैसः ' इति सादृश्यप्रतीतिः तदा अप्या प्रा-  
ण्यादिति पदाम्ब्या सांसारिकसुखहेतुत्वं मोक्षसुखहेतुत्वचोक्तं भवति । अथवा अन्यादिति सत्ताहेतुत्व प्राण्यादित्यदिदं

### गूढार्थसंग्रहः

कप्राप्तिरेव । ' आनन्दमयमात्मानमुपसङ्गामति ' इत्यत्र विवक्षिता, नतूपसङ्गमण परमतवत् अतिङ्गमणित्वमिदं  
अतएवेति । ' ननु मुख्यमेव संक्रमण भूयते उपसङ्गमतीति चेन्न अत्रमये अदर्शनात् न मुख्यमेव संक्रमणं न ह्यत्र  
मयमुपसङ्गमनो बाह्यादस्मादलोकात् जलकावसङ्गमण दृश्यते । अन्यथा वा मनोमयस्य बहिर्निर्गतस्य दिश नभस्य पुनः  
प्रत्यङ्मुखा मसङ्गममिति चेन्न स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अन्योऽन्नमयमुपसङ्गामतीति इदं त्वं मनो मयो दिश नभो वा  
स्वा मानमेवोपसङ्गामतीति विरोधस्यात् । तथा नानन्दमयस्या मसङ्गमणमुपपद्यते । तस्मात्प्राप्तिरङ्गम । नाप्यत्र  
मयादीनामन्यतमकर्तृकम् । पारिषेध्यादन्नमयाद्यानन्दमयान्ता मव्यतिरिक्तकर्तृकं न नमात्र च संक्रमणमुपपद्यते । न नमा  
त्रवे च आनन्दमयान्तस्यैव सर्वान्तरस्याकाशाद्यन्नमयान्तकार्यं सृष्ट्वा अनुप्रविष्टस्य हृदयगुहाभिसंन्धादन्नमयादिषु अना-  
त्मस्वा मविभ्रमः संक्रमणात्मकविवेकशानोत्पत्त्या विनश्यति । तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रमनाश संक्रमण इदं उपपद्यते, (श.  
उ.भा) इति परे संक्रमणं न प्राप्तिरिति दूषितम् ॥

' अपिचानन्दरूपस्य ब्रह्मत्वं बहुशश्रुतम् । तथाचानन्दवल्लीति व्यपदेशोऽपि मुज्यते ॥ आनन्दवद्व्याज्ज्ञेयं  
तदुपायविधिसंज्ञा । अर्वाहि भगवो ब्रह्मेत्यवोचत् वरुण भृगुः ॥ व्याख्यातवाद्दुपेयस्य द्युपायाऽत्रावशिष्यत । उपायाः  
कोऽन्यथापि यस्मात्तैः तत्प्रपद्यते ॥ तस्मात् ज्ञानक्रियाकार्यं प्रियाचारतद्बुद्धिम् । आनन्दमयमात्मानं श्रुतिस्वापाधिक  
जगत् ॥ ' इत्यादिना वार्तिकेऽपि तस्याधितम् । अथापि प्रोक्तार्थं, न श्रुतितात्पर्यानुगुणः । किंतु संक्रमणं प्राप्तिरूपमेव  
विवाच्यमित्यभिप्रेत्याह—फलनिर्देशश्चेति ॥



## जीमाप्यम् -

(तै भ २, ३, ४, ५ अनुवाका ) इति प्रतिपादनात् ' आनन्दो ग्रह ' (तै भ ६ १) इत्यप्यानन्द-  
मयस्यैव प्रतिपादनमिति विज्ञायते । अतएव च तथापि ' आनन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य'  
(तै आन १०.५) इत्युपसङ्गतम् । अतः प्रधानशब्दाभिलष्यादर्थान्तरभूतस्य परस्य इहणो  
जीवशब्दाभिलषणीयादपि वस्तुनोऽर्थान्तरत्व सिद्धम् ॥

॥ आनन्दमयाधिकरण समाप्तम् ॥

## श्रुतप्रकाशिका

त्रैवर्गिकापवर्गिकलसुखहेतुत्वम् । अधिकरणार्थमुपसहरति अतइति । जीवसमाधिकरण्य शरीरस्य च शोध्यव विक्  
रश्रवणम् प्राप्यवानन्यादीनामवस्थामदेनोपपत्ति शानस्वरूपमयाअनसनिवृत्त्यामघानरूपायगुणानपेक्षस्यान दम्यस्य

## गूढार्थसंग्रह

अत्र इन्द्रप्राणाधिकरण व्याख्येयं आनन्दमयप्रतिपादनानन्तर ' ब्रह्मविद प्राप्ति ' इत्युपक्रमेण हि प्राप्तिरिति शब्दो  
करणार्थे ' अयातोऽनुप्रश्ना ' इति प्रश्ना उपाक्षता । पूर्वप्रतिपादनस्य वृत्तु साहचर्यवन्तदशब्देनाभ्यत इति ' उताविद्वान्  
नमु लाकप्रेत्य ' इत्यादिप्रश्नवाक्यार्थमाभिधाय ' सयएव वित् अस्माहोका प्रत्य एतन्मन्त्रमयमा मानमुपसङ्गमति— एत  
मानन्दमयमा मानमुपसङ्गमति ' इत्यतवाक्यस्य विद्वान् अस्माहोका इत्युपसङ्गमतिरिति शब्दो ' अयातोऽनुप्रश्ना ' इति शब्दो  
नन्द परमा मान भोग्यभूत भोक्तासन्ननुभवतीति प्रश्नस्योत्तरमुच्यते । अत्र अनरतिशयानन्दमित्यान दशब्दार्थः । ' अमु  
लाक परमा मानम् ' इति (श उ. मा) परे व्याख्यातम् । प्रकरणादव वदन परमा मविषयक सिद्धयतीति लाक इत्येव  
स्यमङ्गो, न कार्यः । ऐतरेयोपनिषदि— ' स एवावद्वान् अस्माहोका इत्युपसङ्गमतिरिति शब्दो ' अयातोऽनुप्रश्ना ' इति शब्दो  
मानाप्त्वा ' इत्यत्र अदशशब्दसमभिव्याहृतलोकशब्दस्य दशपर वनिष्यन अत्रापि लेख्य इति शब्दो ' अयातोऽनुप्रश्ना ' इति शब्दो  
वेद निहित गुहाया परम व्यामन् ' इत्यत्र व्यामन् परम वाक्शयणन स्वयप्रकाशद्विविशेष एव इति शब्दो ' अयातोऽनुप्रश्ना ' इति शब्दो  
कारे ऐतरेयश्रुत्यानुगुण्यम् । ' गुहायाम् ' इति हृदयगुहापरम् देशद्वयसम्बन्ध ए नाम हता भवति । गुहाप्रवि  
ष्टावात्मानौहि तदशनात् इति सूत्रम् ' हार्दानुगृहीतशताधिकया ' इति सूत्रं दशावशयगमनं प्रातपाद्यत । हृदयगुहा मविषयन  
अनुग्रहण शताधिकया गमनपूर्वकं दशविशेषप्राप्तं सूकृता प्रतिपादनन अयमर्थः श्रुतौ विवक्षित इत्यपि प्रतीयते ॥

परे ' गुहाया व्यामन्निति सामानाधिकरण्यात् अव्याकृताक शब्देन गुहाह दमवतु परमव्योमेति व्याख्यम् । तस्मिन्  
हादे व्यामन् यावदुगृहा तस्या निहित ब्रह्म तद्वृत्त्या विविक्ततयोपलभ्यत इति । नह्य यथा विशिष्टदशकालाऽस्त  
ब्रह्मणः । सर्वगत वान्निर्विशेषवाच्च ' इति व्याख्याताऽर्थः अनुपादय । अत्र निर्विशेषप्रतिपादनासम्भवे प्रत्येव वदनं तु  
अतः ' परमव्यामन् ' इति विशिष्टदेशसम्बन्ध एव विवाक्षतः । एव च ' अमु लोकप्रत्य ' इत्यत्र दशविशेषएव लक्ष  
दार्थः । अत्र प्रश्नानुरोधेन ' अस्माहोका प्रत्य एतन्मन्त्रमयमा मानम् ' इत्यादौ स्मरणं प्राप्तिरिव । उताविद्वान् ' इत्यत्र  
विद्वान् इत्यत्र छेद निर्धारत व्याख्येयः । तेन ' कश्च न गच्छती ' इत्यत्र दशविशेषगमनम् ' कश्च न गच्छती ' इत्यत्र  
भोग इत्यर्थद्वय प्रभोषणितम् । पूर्वानुवाके ' उपसङ्गमति ' इत्यत्र एकाऽर्थः उक्तः । उत्तरचानुवाके ' सयएववित्—  
अस्माहोका प्रत्य ' इत्यादिना ' एतमानन्दमयमा मानमुपसङ्गम्य इमान् लोकान् कामाप्सी कामरूप्यनुसङ्गरेन् ' इत्यत्र

### श्रुतप्रकाशिका

प्रत्यगात्मा व्यतिरिक्तत्वे हेतुः । स्वतस्सिद्धनिरतिशयदशाशिरस्कानन्दाभ्यास, आनन्दयितृत्वं, भयाम्यहेतुव समस्तप्रशा-  
सितृत्व प्राप्यत्व निरुपाधिकविपश्चित्वम् । बद्धमुक्तयोरसम्भावितमाकाशादिसमस्तजगत्कारणत्व बद्धदशायामेव विज्ञान-  
मयाजीवात् भेदव्यपदेशः करणकलेवराद्यनपेक्षसत्यसङ्कल्पत्व मुक्तानां निरतिशयभोग्यत्वं च सिद्धान्ते हेतुः । शरीरशरीर-  
भावः तस्य निरुपाधिकत्व प्रसाद्यत्व प्राप्सुर्यसम्भवः बद्धदशायामेव भेदव्यपदेशस्यावस्थाभेदेन निर्याहानुपपत्तिः प्रभाप्रमा-  
धन्यायेन स्वरूपतोऽधर्मतश्च ज्ञानावोपपत्तिः बाह्यनसनिवृत्तेरियत्ताराहित्यनिवन्धनत्वं च पूर्वपक्षमुक्तिपरिहाराहेतवः ।

षष्ठ्यान्यत्वमवेदि नैनमवदच्छलोको नचाज्ञातता

ज्ञातस्यास्य तथाऽपि नावयविता तस्यान्य आत्मा श्रुतः ।

शोध्यत्यं च विकारवाचकवचस्तद्ब्रह्मपुच्छं भवेत्

नत्वानन्दमयस्सचान्नमयवत्कोशो वहि कथ्यते ॥

पुल्लिङ्गान्तप्रधानप्रकृतवचो रूपणंचाप्यनन्यैः

श्लोका पुच्छ नचाहुस्स्वरसमापहि नत्सूत्रमन्योऽन्तरो न ।

षष्ठ्यादिश्चांशभावाग्निरतिशयतया रूपणादानुरूप्यात्

पर्यायत्वादनन्यात्मकवचनतया पुच्छहेतु परास्ते ॥

इति पुच्छब्रह्मवादतन्निराससङ्ग्रहः ॥

आस्करीयेदु अभ्यासादिति पदस्यानन्दशब्दाभ्यासादित्यर्थ उक्तः कथमानन्दशब्दाभ्यासस्य परमात्म वसाचक व-  
मित्यपेक्षायामानन्दशब्दस्य कारणविषयत्वाग्निरतिशयानन्दविषयत्वाच्चेति वक्तव्यं, तत्र ह्यन्तसाकङ्क्षस्य हेतुवोक्तेरपि  
निराकांक्षस्य हेतुवपरात्वं युक्तम् । ' नेतरोऽनुपपत्तेः ' इत्यत्र च सत्सारिर्जीवादम्यन्वोपपादनमयुक्तम् निरतिशयानन्दयो-  
गिनो मान्त्रवर्णिकस्य ब्रह्मणस्संसारित्वङ्काया अभावात् ' भेदव्यपदेशाच्च ' इति सूत्रस्यापि ' रसरङ्गोवायं लब्ध्वाऽ-  
नन्दीभवति ' इति लब्धलब्धव्यभावेन भेदोपपादक वमुक्तम् । ततोऽपि विज्ञानमयादन्य इत्यन्यत्वं व्यपदेशस्यैव हेतु-  
त्वोक्तिपरत्वमत्यन्तोचितं भेदव्यपदेशशब्दस्वारस्यात् ' कामाच्च ' इत्यादिसूत्रं च न प्रधानभ्युदासपरम् अपेक्षाशब्दवै-

### गूढार्थसंग्रहः .

प्राप्तिः उपक्रमोक्तसर्वकामाशनचे युभय प्रतिपादित भवति । अन्नमयप्रभृति विज्ञानमयपर्यन्तमुक्तानामर्थानां द्वारस्य  
पूर्वमभिधानेन द्वारभूतसमाधिर्वाष्टविभूतिकः अनन्दमयपरमादेव अत्र रज्ज्मण्डपकेन श्रुतौ विवक्षित इति व्यसार्थो-  
णामाशयः । प्राप्तिः अनुभवरूपतया निभूतेरप्यनुभाव्यत्व वर्तते इत्यन्नमयाद्युपसङ्क्रमणस्य नविरोधः । ' उपसङ्क्रमेत्य' न  
समानकर्तृकत्वमात्र विवक्षितं नतु पौर्वापर्यम् । ' तत्सद्वा तदेवानुप्राविशत् ' इतिवदितिभावः । ' सोऽश्रुते सर्वान्का-  
मान् ' इत्युपक्रमश्रुतेः ' आनन्दमयमागमानमुपसङ्क्रम्य इमान् लोकान्कामाप्ती कामरूप्यनुस्मरणम् ' इत्युपसंहारश्रुतेः एवमुक्त-  
वावश्यकत्वमेकार्थकं वचेति जिज्ञासाऽधिकरणे (७७६.पु) प्रगवतैव स्थापितम् ॥

एतेनानन्दमययिषा सगुणविधेयः आनन्दवल्लीति व्यवहारः । अमानन्दविशिष्टस्य चर्मिणः आनन्दरूपत्वेन सङ्गते-  
भवति । ' यतोवाचो निवर्तन्त ' इत्यत्र परोक्षरीत्या निर्विशेषपरत्वस्यायोगेन द्विविधस्यानन्तस्य सविशेष एव संभवेन-  
' आनन्द ब्रह्मण ' इति व्यतिरेकानिर्देशेन प्राप्तिर्सर्वकामाशनपक्षप्रतिपादनेन च आनन्दवल्ली सविशेषपरैवेति सिद्धम् ॥

॥ आनन्दमयाधिकरणे समाप्तम् ॥

### भुवप्रकाशिका

वर्षात् निरतिशयानन्दयोगिनः प्रधानत्वशङ्काया ह्येवभावात् तृतीयसूत्रपरमसूत्रगतयोस्तस्यैवयोरानन्दपरता एकरूपायं  
शान्तिं च युक्तम् 'यदाह्येवैष' इत्यादिवाक्यविषयतया निर्वाहे तत्रासिद्धयति । यस्यमाणमपि दूषणमिहानुसन्धेयम् ॥

यादवप्रकाशये च 'अभ्यासात्' इति पदस्य ब्रह्मशब्दाभ्यासपरत्वमुक्तम् विज्ञानमयपर्यायेऽपि 'ब्रह्मज्येष्ठ-  
मुपासते, विज्ञानं ब्रह्मचेद्वेद' इति ब्रह्मशब्दस्याभ्यस्तनया हेतुनैकान्त्यात् 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' इत्यस्य प्राचुर्यस्य  
हेतुव्यपदेशादित्ययो न युक्तः तद्विषयस्य 'एवमेवयानन्दयाति' इति वाक्यस्यानन्दहेतुव्यपत्तिपादकस्य प्राचुर्यहेतुयानि  
श्यामावात् प्रथमप्रकृतास्य साध्यस्य हेतुन्तरवाचित्वामोवेन चशब्दानन्वयश्च नेतरः, भेदव्यपदेशात् इत्यनयोरनुपपत्तिः  
पूर्ववत् । कामाच्च इत्यादिष्वे च 'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति ब्रह्मविषयायाऽविद्यायाः 'सैषाभार्गवी धारणीविद्या  
परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' इति परमव्योमविषयत्वावगमात् परमाकाशस्यचाचेतनस्य स्वकार्यापेक्षया कारणव्यसम्भवाच्च  
ब्रह्मशब्दवाच्यं प्रधानमित्याशङ्क्य निराक्रियतइति यदुक्तं तदयुक्तम् परमव्योमप्रतिष्ठितत्वमात्रेण तद्विषयवाप्तिदेः, नहि  
ब्रह्मग भूयिष्ठदेशे वेदविद्याप्रतिष्ठितेयुक्ते तस्यास्तद्देशप्रतिपादकत्वम् 'परमेव्योमन् सोऽभुते सर्वान्कामान् सह-  
स्रगा विपश्चिता' इति परमाकाशस्य ब्रह्माधारत्वावगमात्तस्य ब्रह्मवशङ्कानिराकरणमास्मिन् सूत्रे क्रियत इत्यप्ययुक्तम्—  
मान्प्रवर्णिकमेव च गीयत इति मन्त्रवर्णं विषयीकुर्वता सूत्रेणैवास्याशङ्कायाःप्रतिहतोदय-वात् । नापि सत्यत्वज्ञान-  
विषयपरिच्छेदविषयादयः परमाकाशस्य सामर्थ्येन समर्थन्ति । अपेक्षाशब्दवैयर्थ्यं च पूर्ववत् चरमसूत्रमध्येव व्याख्या-  
तम् । अस्मिन्ब्रह्मणि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्यतद्योग परमात्मप्राप्तिं दर्शयति 'सोऽभुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विप-  
श्चिता' इति । तथा 'यदाह्येवैष' इत्यादिवाक्येभ्योऽस्मिन्निष्ठा गतस्यास्य 'अथसोऽभयङ्गतो भवति' इति ब्रह्मप्राप्तिर-  
च्यतइति तदनुपपन्नं मन्त्रवर्णोदितायाः परमात्मविदस्तप्राप्तेः 'मान्प्रवर्णिकमेव च गीयत' इतिसूत्रेणैव दर्शितत्वादिह  
तदुक्तपनपेक्षणात् । यदाह्येवैष इत्यादिवाक्योक्तमयप्राप्तिहेतुत्वं च 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' इति सूत्रेणैव दर्शितमितीह  
तदुक्तिरनपेक्षिता तद्विषयभूतवाक्योक्तमानन्दयितृ वेहि मोक्षानन्दहेतुत्व मोक्षानन्दश्च संसारभयनिवृत्तिपूर्वकः तस्मादानन्द  
यितृत्ववाक्यासन्नतरवाक्योक्तमभयप्राप्तिहेतुत्व मोक्षप्रदत्वान्तर्भूतमिति न पृथग्घेतुः, 'आनन्दयाति' इति वाक्ये आन-  
न्दहेतुत्वमुक्तं ब्रह्मप्राप्तस्यैवचानन्दः अतोऽस्मिन्वाक्ये अभयशब्दवाच्यब्रह्मप्राप्तिरच्यत इतिचेन्न तस्य ब्रह्मशब्दसामानाधि-  
करण्यमावात् 'अथुतस्य भयं भवति' इत्युक्तभयामावप्राप्तेरेव 'अथसोऽभयङ्गतो भवति' इत्युच्यमानत्वाच्च,  
अतो भयनिवृत्तिपूर्वकनिरतिशयानन्दहेतुत्वं 'तद्धेतुव्यपदेशात्' इत्यन्तर्भूतमिति न पृथग्घेतुत्वम् अतो मोक्षप्रदत्वेऽ  
मिहिते मुक्तप्राप्यत्वकथनं प्राप्तिर्निरतिशयानन्दत्वरूपविशेषकथनंचात्यन्तापेक्षितमिति तदेव वक्तव्यम् । अतस्त्राण्यार्ण-  
यधोक्त एवार्थः ॥

समाप्तमानन्दमयाधिकरणम्



श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तसारः

### सू. ३३ आनन्दमयोऽभ्यासात् [१.१.६]

यद्यपि प्रधानादर्थान्तरभूतस्य प्रत्यगात्मनश्चेतनस्य ईक्षणगुणयोगस्तम्भवति, तथाऽपि प्रत्यगात्मा ब्रह्मो मुक्तश्च न जगत्कारणम्, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्तम्भूतः' (तै.आन.१.अ) इत्यारभ्य 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तै.आन.५.) इत्यस्य आनन्दमयत्वप्रतिपादनात् कारणतया व्यपदिष्टोऽयमानन्दमयः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्तर्पणः परमात्मैव । कुतः ? अभ्यासात्—आनन्दमयस्य निरतिशयदेशाक्षिरस्कानन्दमयत्वेनाभ्यासात् । 'तेयेशत प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः' (तै.आन.८.४) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह । आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कुतश्चन' इति हि वेद्यत्वेनायमानन्दमयोऽनवधिकातिशयोऽभ्यस्यते

### सू. १४—विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् (१.१.६)

'सत्त्वा एष पुरुषाऽन्नरसमयः' (तै.आन.१) इति विकारार्थमयत्प्रकरणात् 'आनन्दमयः' (तै.आन.५.२) इत्यस्यापि विकारार्थत्वप्रतीयते । अतोऽयमानन्दमय नाविकाररूप परमात्मा इति चेन्न अर्थविरोधात् प्राचुर्यात् एवायमयमिति विज्ञायते, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्तम्भूतः' (तै.आन.१) इति ह्यविकार आत्मा प्रकृतः । प्रकरणे च विकारार्थत्वप्राणमय एव परित्यक्तम् । उक्तेन न्यायेन आनन्दप्राचुर्यात् परमपुरुष एवानन्दमयः ॥

### सू. १५—तद्धेतुः पददेशाच्च [१.१.६]

'एष ह्येवानन्दयाति' (तै.आन.७.१) इति जीवान्प्रत्यानन्दहेतुरयमानन्दमयो व्यपदिश्यते; अतश्च य न प्रत्यगात्मा ॥

### सू. १६—मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते (१.१.६)

'सत्यज्ञानमनना ब्रह्म' (तै.आन.१) इति मन्त्रवर्णोदितमेव 'तस्माद्वा एतस्यात्' (तै.आन.१) इत्यादिना—आनन्दमय इति गीयते; अतश्च न प्रत्यगात्मा ॥

### सू. १७—नेत्रोऽनुपपत्तेः (१.१.६)

इतरः प्रत्यगात्मा मन्त्रवर्णोदित इति नाशङ्कनीयम्, 'सोऽशुने सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति प्रत्यगात्मनो ब्रह्मस्य मुक्तस्य च ईदृशविपश्चित्वानुपपत्तेः । 'सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेय' (तै.आन.६) इति विचित्र स्थिरवस्तरूपबहुभजनसङ्कल्परूपमिदं विपश्चित्वमिति ह्युत्तरत्र व्यज्यते । मुक्तस्य सर्वदस्यापि जगद्व्यापाराभाव ईदृशविपश्चित्वासम्भवः ॥



### सू.१८=भेदव्यदेशाच्च १.१.६

‘तस्मादा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरात्माऽऽनन्दमयः’ (तै.आन.५) इति हि विज्ञानमयात् प्रत्यगात्मनो भेदेनायमानन्दमयो व्यपदिश्यते । नच विज्ञानमयविषयतया उदाहृत्योक्ते ‘विज्ञानं यश्ननुते’ (तै.आन.५) इति व्यपदेशात् विज्ञानमयो बुद्धिमात्रमित्याशङ्कनीयम् ; यतस्सूत्रकार एव इमामाशङ्कं परिहरिष्यति ‘व्यपदेशाच्च क्रियायां नचेन्निर्देशविपर्ययः’ (शारी.२.३.३५) इति । ‘विज्ञानं यश्ननुते’ (तै.आन.५) इति यथादिक्रियायां जीवस्य कर्तृत्वव्यपदेशाच्च जीवः कर्ता । विज्ञानशब्देन जीवस्याप्युपदेशो बुद्धिमात्रव्यपदेशे च विज्ञानेनेति निर्देशविपर्ययस्यात्, बुद्धेःकरणत्वादिति ॥

इतश्च-

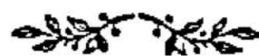
### सू.१९.कामाच्च नानुमानापेक्षा [१.१.६]

‘सोऽकामयत । बहुस्याम्’ (तै.आन.६) इति स्वकामादेवास्य जगत्सर्गश्च्युते । प्रत्यगात्मनो हि यस्य वक्ष्यचि त्सर्गे अनुमानापेक्षा दृश्यते । अनुमानगम्यं प्रधानम् आनुमानम् ॥

### सू.२०—अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (१-१-६)

अस्मिन्नानन्दमये अस्य-प्रत्यगात्मनः, आनन्दयोग शास्ति ‘रसोवैसः । रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दो भवति’ (तै.आन.७.१) इति । अतः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः सर्वशः पुरुषोत्तमः जगत्कारणभूतः आनन्दमयः ॥

इति वेदान्तसारः



श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तदीपः

### सू ३३ आनन्दमयोऽभ्यासात् [१.१.६]

तैत्तिरीयेके—‘तस्मादा एतस्मादात्मन आकाशसम्भूतः’ इति प्रकृत्य (तै.आन.१) ‘तस्मादा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’ (तै.आन.५) इत्यत्र जगत्कारणतयाऽवगत आनन्दमयः किं प्रत्यगात्मा? इत परमात्मेति संशयः । प्रत्यगात्मेति पूर्वपक्षः । कुतः ? ‘तस्यैष एव शरीर आत्मा’ (तै.आन.२) इति आनन्दमयस्य शरीरत्वश्रवणात् शरीरोहि शरीरसम्बन्धी । सच प्रत्यगात्मेव । तस्य चेतन-वेनेक्षापूर्विका च सृष्टिरुपपद्यत इति । सदा-न्तरम्—‘सैवाऽनन्दस्य मीमांसा भवति’ (तै.आन.८) इत्यारम्य ‘यतो वाचो निवर्तते । अप्राप्य मनसारुह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्’ (तै.आन.९) इति निरतिशयदशाशिरस्कोऽभ्यस्यमान आनन्दः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य परस्यैव ब्रह्मण इति निश्चयेत । शरीरात्मत्वं परमात्मन एव, ‘तस्मादा एतस्मादात्मन आकाशसम्भूतः’ (तै.आन.१) इत्याकाशादि-जगत्कारणतयाऽवगत एवात्ममयस्य शरीरात्मेति प्रतीयेत, आत्मान्तरानिर्देशात् । अन्त्यन्तरेषु पृथिव्यक्षरादीनां शरीरत्व

परमात्मन आत्मत्वे च श्रूयते 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यारभ्य 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः' (सुबाल.७) इति अन्नमयस्यात्मैव प्राणमयादिषु 'तस्यैव एव शरीर आत्मा । य.पूर्वस्य' (तै.आन.५) इत्यनुकुर्यते इति प्रत्यगात्मनो विज्ञानमयस्य च स 'एव शरीर आत्मा' । आनन्दमयेतु 'तस्यैव एव शरीर आत्मा य.पू.र्वस्य' (तै.आन.५) इति निर्देशः आनन्दमयस्यानन्या मत्वप्रदर्शनार्थः । अतो जगत्कारणतया निर्दिष्ट आनन्दमयः परमात्मैवेति ॥

सुत्रार्थस्तु—आनन्दमयशब्दानिर्दिष्टः आकाशादिजगत्कारणभूतः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मा । कुतः ? तस्यानन्दस्य निरतिशयत्वप्रतीतिवलात् । 'स एको मानुष आनन्दः । तेयेशतम्' (तै.आन.८) इत्याद्यभ्यासात् तस्यच प्रत्यगात्मन्यसम्भावितस्य तदतिरिक्ते परमात्मन्येव सम्भवात् ॥

### सू.१४—विकारशब्दान्नेतिचेन्नप्राचुर्यात् (१.१.६)

'आनन्दमयः' (तै.आन.५) इति विकारार्थान्मयद्वन्द्वशब्दाच्चायमविवृतः परमात्मा । अस्य च विकारार्थत्वमेव युक्तम्, 'अन्न...मयः' (तै.आन.१) इति विकारोपक्रमेति चेन्न प्रत्यगात्मन्यपि 'न जायते म्रियते वा' (कठवल्लभा १.२.१८) इत्यादिविकारप्रतिषेधाऽप्राचुर्यार्थ एवाय मयाङ्गिति निश्चयात् । अस्मिन्श्चानन्दे 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै.आन.१) इति वक्ष्यमाणाऽप्राचुर्यादयमानन्दप्रचुरः परमात्मैव । न ह्यनवधिकातिशयरूपे प्रभूतानन्दः प्रत्यगात्मनि सम्भवति

### १.१.५ तद्वेतुः यपदेशाच्च [१-१-६]

'एषश्चेवानन्दयाति' इति जीवान्प्रत्यानन्दयितृत्वपददेशाच्चायं परमात्मैव

### सू.१५—मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते (१.१.६)

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.आन.१) इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' (तै.आन.१) इत्यारभ्य 'आनन्दमयः' (तै.आन.५) इति च गीयते ; ततश्चानन्दमयो ब्रह्म ॥

प्रत्यगात्मनः परिशुद्ध स्वरूप मन्त्रवर्णोदितमित्याशङ्क्याह—

### सू.१७—नेतरोऽनुपपत्तेः (१.१.६)

परस्माद्ब्रह्मणः इतरः प्रत्यगात्मा न मन्त्रवर्णोदितः तस्य 'विपश्चिता ब्रह्मणो' (तै.आन.१) इति विपश्चित्यानुपपत्तेः ; विविध पर्यायिणी विपश्चित्वम् । तद्य 'सोऽकामयत । बहुला प्रजायय' (तै.आन.६) इत्यादिव्याकरोदितानिरुपाधिकबहुभवनसङ्कल्पस्य सर्वशयम् । तत्तु प्रत्यगात्मनः परिशुद्धमपि न संभवति, 'ब्रह्मोपापारवेजं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (शारी.४.४.१७) इति वक्ष्यमाणं जातम् । अतः परब्रह्मैव मान्त्रवर्णिकम् ॥

### भेदव्यपदेशाच्च [१-१-६]

'मीमांसाद्वातः पर्वतः' इत्यादिना अग्निवायुसूर्यादिव्ययमस्य आनन्दमया प्रकाशितः प्रकाशितव्यत्वेन भेदोऽप्यवदितव्यः । अतश्चानन्दमयः परमात्मैति धोवनान्तम् 'तस्माद्वा ए तस्मादिज्ञानमयात् । अन्तोऽन्तरात्माऽऽनन्दमयः

(ते.आन.५.१) इति विज्ञानमयाजीवादानन्दमयस्य भेदो व्यपदिश्यते । विज्ञानमयोहि जीव एव । ननु हिमात्रं, मयद्-  
च्युतेः अतश्चानन्दमयः परमात्मा ॥

### सू.१९-कामाच्च नानुमानापेक्षा [१-१-६]

‘सोऽकामयत’ (ते.आन.५.१) इत्याख्ये ‘इदं सर्वमसृजत’ (ते.आन.६.२) इति कामादेव जगत्सृज्यमानात्  
अस्यानन्दमयस्य जगत्सर्गे नानुमानगम्यप्रकृत्यपेक्षा प्रतीयते । प्रत्यगात्मनो यस्यकस्यचिदपि सर्गे प्रकृत्यपेक्षाऽस्ति ।  
अतश्चायं प्रत्यगात्मनोऽन्यः परमात्मा ॥

### सू.२०-अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (१.१.६)

‘रसो वै सः । रसगुह्येरायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति’ (ते.आन.७.१) इति अस्मिन्—आनन्दमये रसशब्दनि-  
र्दिष्टे, अस्य अयंशब्दनिर्दिष्टस्य जीवस्य तद्धाभादानन्दयोगं शास्ति शास्त्रम् । प्रत्यगात्मनो यद्धाभादानन्दयोगः सत-  
त्त्वादित्यः परमात्मैवेत्यानन्दमयात्परं ब्रह्म ॥

॥ इति वेदान्तटीपे आनन्दमयाधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणसारावली

मुख्येक्षा यद्यभीष्टा भवतु तदुचिते सा पुनर्जीवतत्वे  
सद्विद्यायां हि शब्दौस्त्रिभिस्परि सततस्य जीवैक्यमुक्तम् ।  
इत्युहादुज्जिहानं प्रशमयितुमथ प्रस्तुतो विश्वकर्ता  
जीवस्याप्यन्तरात्मा निरुपधिकमहानन्दधुरस्थाप्यतेऽत्र ॥ १ ॥  
दृष्टः पूर्वविकारे मयडिति चरमेऽप्येवमस्तिवत्युक्तम्  
मध्येऽतद्गच्छदृष्टेः प्रचुरमिह वदेत् प्रत्ययोऽन्यस्य बाधात् ।  
आनन्दमाचुरी च प्रकृतपरसुखाल्पत्यलब्धावधित्वा  
दुःखसत्त्वानपेक्षा परदुस्तिभिददशासितुस्तद्विरोधात् ॥ २ ॥  
आत्मा तस्यैव मूलेत्युदितमनितरात्मत्वमस्यैव वक्तुं  
शारीरोक्तिश्च तस्मिन्नखिलतनुतया स्यादसङ्कोचवृत्तिः ।  
शोध्यत्वन्तत्तदर्थानुगुणमिति विभोस्तत्प्रसाद्यत्वमात्रं  
प्राप्येऽस्मिन्प्राप्तिरूपा परविद् उपसङ्गान्तिरानन्दसिन्धौ ॥ ३ ॥  
निर्देहेऽस्मिन्निरंशे नाहि भवति शिर पक्षपुच्छादिकिञ्चि  
त्तस्मात्पुच्छं प्रतिष्ठेत्युदितमिह परं ब्रह्म भातीति चेन्न ।  
साक्षात्पुच्छत्वकल्पित्यादिह कथामितरन्नानुमन्यत कल्पम्  
ब्रह्मण्यात्मप्राप्त्या वृत्तमनितराधारताख्यापनाय ॥ ४ ॥  
समाप्तिमानन्दमयाधिकरणम्

## श्रीसायम्

इदमाज्ञायते छान्दोग्ये 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यमश्नु  
हिरण्यकेश आग्रणत्वात्सर्व एव

## श्रुतप्रकाशिका

निरस्ता । अत्र वानन्दमयत्वैवादित्यान्तर्वर्तिनः करचरणादिमत्त्वं तं ते, अतः पूर्वाधिकरणं शरीरमात्रेण संबन्धमाश्रय  
वशादुच्यताया जीववशङ्काया निरस्ताया पुनः करचरणादिसंस्थानकदेहविशेषेणोपकरणिवत्क्षणसंबन्धविशेषेण  
जीववशङ्कास्यादिति तन्निरासार्थमानन्दगयाधिकरणशेषवन्तैतदधिकरणारम्भ इति । अयमर्थो यद्यपीत्यादिरुक्तेति प्रश्ने  
ऽभिप्रेतः ॥

## सू. २१-अन्तर्दर्मोपदेशात् (१-१-७)

विषयं दर्शयति— इदमिति । 'यएष' इति प्रसिद्धवार्तिदेशानुवादरूपताशङ्कया अस्यार्थस्य प्रमाणान्तराग्राह-  
त्वात् 'यदाभेयोऽष्टाकपालः' इतिवत् आदित्यशब्दः 'दित्यादित्यापित्यपच्युत्तरपदान्यः' इति प्यप्रत्ययान्तो

## गूढार्थसंग्रह

छान्दोग्ये प्रथमे पष्ठसप्तमखण्डयोः 'अन्तरादित्ये अन्तरशिणि' इति अन्तरशब्दघटितवाक्यद्वयमभिप्रेत्य सूत्रे  
अन्तरशब्दप्रयोग इतिभावेन वाक्यद्वयं विवाक्षितमित्याशयेनाह—यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते इत्यादिना  
तैत्तरीये—'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ताश्चक्षुस्तद्वत्ता मण्डलग्ने सक्तृत्वा लोकोऽथ यएष एतास्मिन्मण्डलेऽ  
चिर्दीप्यते तानि सामानि ससाम्ना मण्डलग्ने ससाम्ना लोकोऽथ यएष एतास्मिन्मण्डलेऽर्चिषि पुरुषस्तानि यजुर्ग्वि सयजुषा  
मण्डलग्ने सयजुषा लोकस्यजुषा त्रयेव विद्या तपति यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषः' इति श्रूयते । अत्रपूर्वं नारा  
यण एव परब्रह्मेति कथनानन्तर 'अन्तर्यामी नारायण' इति व्यासीरुद्रान्तमभिधाय 'एषोऽन्तर्यामी' इत्यादि  
नारायणत्वैवानुसन्धानमुच्यते' इति विचारण्यभाष्ये उक्तम् । एतच्छ्रुतिव्याख्यानेऽपि नारायणशब्दवान्यो य  
परमेश्वरः पूर्वानुवाकऽभिहितः 'सएष' इत्युपक्रमे 'अन्तरादित्ये—आदित्यमण्डलमस्य हिरण्यमयः वर्तते । हिरण्यमयं  
च श्रुत्यन्तरे प्रतिपादितम् । 'अथ यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते' इति छान्दोग्यश्रुतिरुदाहृता । 'ततोह  
जग्रे भुवनस्य गोषा हिरण्यमयश्चकुनिर्ब्रह्म नाम । येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः । पिता पुत्रेण पितृमान् योनियोनौ । नाव  
दधि-मनुते तवृहन्तम् । सर्वानुभुमा मानर्गं सपराय । एष नित्योमहिमा ब्राह्मणस्य । नकर्मणा वर्धते नोक्नीयन् । तस्यै-  
वा मा पदवित्तं विदित्वा । नकर्मणा लिप्यते पापकेन ।' इति तैत्तरीयब्रह्मणान्ते काठके श्रूयते ॥

अत्र सायणीये—हिरण्यमयो ज्योतिर्मयः ब्रह्मति यस्यनाम परब्रह्मैव विश्वसृजामनुष्ठानं पारयितुं हिरण्यशकुनिरूपं  
स्वीचकरोति' इत्युक्तम् । हितरमणीयरूपः हिरण्यवर्णो शकुनिः शक्तः प्रपञ्चापादने' इति मट्टभारकरीयम् । शकुनिश्च  
वदस्य शक्त इत्येवार्थो युक्तः । येन सूर्य इत्युत्तरवाक्ये 'सर्वानुभुमा मानम्' इत्यत्रोक्त्यादित्यमण्डलात्तर्वर्ति हिरण्यमयपुरु-  
षस्यैव ब्रह्मणः विवक्षाया स्फुटत्वात् 'येन हिरण्यमया मना तेजसा इद्ध सूर्यस्तपति' इत्यनेन सूर्यस्य तापयितुं न स्वात-  
न्येण अपित्वनार्यामिहिरण्यमयपुरुषाधीनतया इतिचैतनं बोधतम् । 'योनियोनौ पुत्रेण पितृमान्' भवतीत्यत्र दशरथ  
वसुदेवादेः परब्रह्मसृष्टत्वेन पुत्रत्वम् । तेन दशरथवसुदेवादिना पितृमानापि भवति, 'पितर रोक्षयामास एता दशरथे



## अथ अन्तरधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

यद्यपि मन्दपुण्यानां जीयानां कामाज्जगत्सुष्टिरतिशयितानन्दयोगो भयाभयहेतुत्व-  
मित्यादि न सम्भवति, तथापि विलक्षणपुण्यानामादित्येन्द्रप्रजापतिप्रभृतीनां सम्भवत्येदे-  
तीमामाशङ्कां निराकरोति—

## सू.२१—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् [१.१.७]

### अथ अन्तरधिकरणम्

#### श्रुतप्रकाशिका

अथावान्तरसङ्गतिमाह—यद्यपीति । कारणवादिवाक्यानां परमात्मपरधर्मा निरूप्यते, तत्र कारणवाक्यवामावेऽपि  
कथमन्तरादित्यविद्याऽत्र निरूप्यत इति चेत् । उच्यते—आनन्दमयाधिकरणशेषतयेति । यद्यपि निषेदेऽपि तच्छेष-  
निरूपणम् । इत्थं आनन्दमन्दबल्लया—‘सयश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः’ इत्यानन्दमयस्यैवादित्यमण्डलव-  
र्तित्वमुक्तम् । छान्दोग्यप्रतिपादितस्यादित्यान्तर्वर्तिनो देहसम्बन्धेन जीवानतिरिक्ते सत्यानन्दबल्लयामपि जीवानतिरिक्त आदि-  
त्यान्तर्वर्ती पुरुष उत्तरस्यादित्यानन्दमयो जीव एवेति शङ्कायां तच्छेषत्वेनोत्तराधिकरणारम्भ इति । आधिकरणभेदः उच्यते  
न्यायाविषयभूतोपनिषदेऽद्वैतकः ॥

ननु ‘तस्यैव एव शारीर आत्मा’ इति वाक्यप्रतिपन्नशरीरसम्बन्धस्य परिहृतत्वात् शरीरत्वभ्रवणहेतु वजीव-  
शङ्का नोपपद्यत इति चेत्—उच्यते तत्र ह्यन्नमयादीनां शरीरत्वमुक्तं नहि ते प्रत्येकं करचरणादिसंस्थानवन्तः तैस्सम्बन्धमा-  
भिशात्रभिधेयभावलक्षणः शेषशेषिभावलक्षणो वा येन केनापि प्रकारेणोपपद्यते । अत्र तु ‘हिरण्यदमश्च हिरण्यवेशः’  
इत्यादिना करचरणादिसंस्थानक शरीरं श्रूयते, तस्य च कर्तृत्व लोकप्रसिद्धम् । अत उपकरणोपकरिणत्वलक्षणसम्बन्ध-  
मर्थसिद्धः । ननु तत्राप्यन्नमयस्यात्मत्वभ्रवणादा न प्रतिसंवेद्येन शरीरस्य करचरणादिमत्त्वात्तत्कृतजीवत्वशङ्काऽपि तत्रैव  
निरस्तोति चेत् । प्राणमयादीनां करचरणादिमत्त्वाभावात् अन्नमयस्य तु तथाविधत्वेऽपि तत्प्रतिविशानमयस्यैव शरीरत्वात्  
विशानमयप्रति शरीरेण आनन्दमयस्य करचरणादिमच्छरीरकत्वाभावात् शरीरमात्रेण सम्बन्धमात्रनिबन्धनद्वैतत्वे तत्र

### अथ अन्तरधिकरणम्

#### गूढार्थसङ्ग्रहः

आ नन्वल्लयाः सविशेषपरत्वेन ब्रह्मलक्षणेकवाक्यतात्पर्यमपि सगुणएवेति साधितम् । ‘सयश्चायं पुरुषे यश्चासा-  
वादित्ये’ इत्यादित्यान्तर्वर्तिनः आनन्दमयस्यापि ऐक्यप्रतिपादनेन जगत्कारणब्रह्मणो गुणवत्त्ववत् विग्रहवत्त्वमपि वता-  
इति अन्तराधिकरणे निरूप्येभ्यन् जीवविशेषभेदातिशयो आनन्दमयाधिकरणोक्तः जीवसामान्यभेदोऽपि न सिद्धयतीत्यत-  
स्ते जीवविशेषभेदसाधनेन पूर्वाधिकरणोक्तार्थे दृढीकरोति—‘अन्तरित्यादिना’ इत्याशयेनावतारयति—यद्यपीत्यादिना ॥

## श्रुतप्रकाशिका

किंच दृश्यत इति व्यपदेशाच्च उपासनायामारोपितत्वमुत्तमम् । आत्मन्यारोप्यमाणहि गरुडत्वं न ततः पूर्वं केनाप्यवगम्यते इह नूरासनविधानात्प्रागेव विद्यमानताऽनेन वर्तमानव्यपदेशेन प्रतीयते, अतो वास्तवत्वं, दृश्यत इत्यनेन पूर्वपूर्वोपासकप्रवाहैरारोपेणानुसंधायमात्रमुच्यत इति चेन्न अशब्दत्वात् न ह्यारोप्य यं दृश्यत इति श्रूयते । दृश्यत्वमेवारोपितत्वाभिनिचेन व्युत्पत्तिविरोधात् ‘दृश्यतेत्वमयया युद्धया’ इति दृश्यतयोक्तपरमात्मस्वरूपस्याप्यवास्तवत्वप्रसङ्गाच्च तन्मिथ्यात्वं प्रमाणविरुद्धमिति चेत् वृत्त्यम् ‘आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्’ इति तमसः परस्तात् स्थितस्य विग्रहस्य स्वरूपस्यैव मिथ्यात्वं हि प्रमाणविरुद्धं अतो वास्तवत्वसिद्धिः । अशरीरत्वश्रुतेरवकाशो दृश्यते तस्य यथेति । अस्य वाक्यस्य वाक्यकारेण षडर्थः पूर्वपक्षत्वेन सिद्धान्तत्वेन चोक्ताः तत्रार्थत्रयस्य पूर्वपक्षत्वं तत्स्वभावादेवावगतम् । कपिः आदित्यः ‘कपिचलन’ इति घातोर्निष्पन्नः कपिशब्दः । कः पिवतीति च ‘कार्पिर्विभर्ति तेजनम्’ इति च वैदिकप्रयोगः तस्य आसं मण्डलं कप्यास यथाऽदित्यमण्डलं हृदयपुण्डरीकं च परमात्मन उपासनस्यानं तथा तस्योपासकस्य शिष्योऽप्युपासनस्यानमित्येकोऽर्थः । अयं नोपपद्यते ॥

तथाहि ‘आग्नेश्चेन्द्रश्च’ इतिवदपवादकचशब्दाद्यभावेऽपि समानविभक्तयन्तयोः पदयोः स्वतः प्राप्तस्मानादिधरण्यस्वारस्यमङ्गः पुण्डरीकशब्दे हृदये पुण्डरीकशब्दो गौणस्यात् । हृदयपुण्डरीकमिति प्रयोगस्तु पुरुषस्य प्रवृत्तिवत् ‘उपमितं व्याघ्रादिभिस्सामान्याप्रयोग’ इति सूत्रविहितसमासवाहुपमानोपमेयवाच्यशब्दरूपादश्च मुख्य एव अत्र तदभावात् गौणत्वमवर्जनीयम् उपासनस्यानमिति प्रथमान्तपदाध्याहार उपासकस्येति पठ्यन्तपदाध्याहारश्च तत्परिहाराय तस्यैव उपासकपरत्वे सत्यप्रकृतपरामर्शित्वमन्तरवाक्यस्य पठ्यन्तशब्दविरुपायता च स्यात् । दिव्याङ्गवर्णनप्रकरणोचित्यं च नामविधिवाक्यापूर्वं रूपकथनं स्मृतम् ‘यएष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेक्षिन्’ इति दक्षिणस्याश्च उपासनस्यानत्वभ्रवणादधिणी इति द्विवचनविरोधश्च । उर्ध्वमक्षिविद्याया उक्तत्वादिह तदुक्त्यनपेक्षणादस्य वाक्यस्य पुनरुक्तिश्च । अन्तरादित्याविद्याया ‘यएषोऽन्तरादित्य’ इति स्थानस्योक्तत्वादाक्षिविद्यायाच यएषोन्तरक्षणि

## गूढार्थसंग्रहः

च अग्रहणार्थमादयः ब्रह्मसम्बन्धितया जीवसम्बन्धितया च श्रुताः । एव च अत्र दहराधिकरण(श) माध्ये ‘अपरेतु वादिनः पारमार्थिकमेव जीवरूपमन्यन्तेऽसदीयाश्च केचित् ।’ इत्युक्तिव्याख्यानभामत्या मतान्तरमाह—‘अपरेतु वादिन इति’ वाक्यस्य कल्पतरौ—‘अस्यचौपाधिको जीवो अवाच्छब्दे च अपहृतपाप्मत्वादिसंभवइति मतम् । पारमार्थिकजीव-प्रत्यक्षविभागमतमाह—मतान्तरमिति’ इत्युक्त्या जीवपरोक्षवृत्ति अपहृतपाप्मत्वादिगुणजातामिति पारमार्थिकजीवब्रह्मविभागवादिमतस्य प्राचीनत्वं सिद्धमिति प्रत्यग्गुणेति पदेन तस्यैवार्थस्य सूत्रेण ततएव साद्विद्यादहरीययोर्विकल्पसिद्ध-इत्यर्थः सूचितो भवति । एतेनात्र आधुनिकाप्रेक्षितदोषस्य नावकाशः । जीवसम्बन्धि अपहृतपाप्मत्वादिगुणतुल्यगुणकता देवता ‘अथ मयस्य’ इत्यत्र सप्तव्यत्येन विवाक्षिता इति श्रुतिसूत्रतात्पर्यानुसारेण निर्णयः । अतश्च साद्विद्यायामपि—अग्रहणार्थमादयः दहरीयदेवताया एव सप्तव्यत्येन सिद्धम् । उभयत्र एकपक्षे सिद्धे विकल्प एव पर्यवसानम् । एतेन साद्विद्या निर्गुणविद्या दहरीविद्या सगुणावचेति परमतं भाष्यकृता निराकृतं भवति । निर्गुणस्य चाप्रामाणिकत्वेन तद्विद्यायास्तुतगमसम्भवात् ॥

एव गुणवत्त्वस्य पारमार्थिकत्वे विग्रहवत्त्वमपि पारमार्थिकमिति सिद्धयति । अतः सिद्धं ऽऽन दर्शयद्विद्योः ब्रह्मणा गुणवत्त्वस्य विवाक्षितत्वेन तस्य विग्रहः अन्तराधिकरणे प्रतिपाद्यते । ‘हिरण्यः’ इत्यस्य हिरण्यवर्णो वा इति

## श्रुतप्रकाशिका

मण्डलवाची 'यएतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायदक्षिणेऽक्षिणिति' बृहदारण्यके 'यएष एतस्मिन्मण्डलेऽर्चिषि पुरुषः' इति तैत्तिरीयके च पुरुषस्य मण्डलवर्तित्वश्रवणात् हिरण्यमशब्दो रमणीय वपरः 'हिण्मयः' इति रूपसामान्यात् चन्द्र-  
मुत्पवदितिहि वाक्यकारः । दृश्यते योगिभिरित्यर्थः 'दृश्यते त्वमथया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति श्रुत्यै  
कार्ण्यात् 'यएवंवेद' इत्युत्तरत्रोपासनविधानादुपासनार्थमारोपितरूपपरमिदं वाक्यमिति नाशङ्कनीयम् 'नसन्दृशे  
'तिष्ठति रूपमस्य' इत्युत्तरा 'हृदा मनीषा मनसाऽभिकल्पतो यएवंविदुरभृतास्ते भवन्ति' इति 'यदा पश्यः  
पश्यते रुक्मवर्णम्' इति प्रकरणे 'मनसातु विशुद्धेन' इति च विशुद्धमनसो ग्राह्यते नोक्तेः आरोपिताकरोहि दुष्ट-  
मेनो ग्राह्यः, नच 'रूपमस्य' इति स्वरूपमुच्यते पठ्यस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात् । अतो विग्रहविशिष्टस्य विशुद्धमनोग्राह्यत्वा  
द्विग्रहपारमार्थ्यम् ॥

## गूढार्थसंग्रहः

नृपम् (रा-बा.) इत्यादिकमत्र भाव्यम् । एतेन परत्वमात्रप्रकाशने सर्वेषां स्वानुभवो न सम्भवति आश्रयणासम्भवात् । अवतारेषु  
सौलभ्यवात्सल्यादीनां प्रकाशने सर्वेषामप्याश्रयणसम्भवेन अनुभवो घटते इत्यादयः प्रकाशितो भवति । तस्यैव ब्रह्म  
वदार्थबृहत्त्वं न परत्वमात्रेण । 'सपराये—' परलोकगमनवेलाया इति सायणीयम् । 'मरणं कले रसारे वा' इति भट्टभा-  
स्करीयम् । 'सर्वानुभुम्' इत्यत्र सर्वस्यानुभवितार अनुभाववितारित्यर्थः । ब्राह्मणस्य—परब्रह्मरूपस्य यो महिमा इति  
सायणीयम् । तस्यैव ब्रह्मणः पदवित् व्यवसायवित् त्राणवदङ्गिवदिति वाऽर्थः । तद्विदिता हिरण्यमदिग्रहविशिष्ट रौल-  
भ्यसौशील्यवात्सल्यादिगुणवन्त विदिता इत्यर्थः ।

सुरेश्वरवार्तिके—'एतमेव समुद्दिश्य मन्त्रो नारायणस्तथा । वेदविद्भिर्महाप्राज्ञैः पुरुषैर्विनिमुच्यते ॥' इत्युक्तम् ।  
एतमेवेति 'सहस्रशीर्षं देव विश्वाक्ष विश्वशम्भुवम् । विश्व नारायण देवमक्षरं परमं प्रभुम्' इत्यादिर्मन्त्रः वेदार्थविद्भिः  
अन्तर्यामिणमुद्दिश्य विनिमुक्तः । अतस्स वैदिक इत्यर्थः 'इत्यानन्दगिरिः । एतेन—आनन्दमयाधिकरणे अन्तर्यामि वेन  
प्रतिपादितस्य नारायणस्य आदित्यमण्डलान्तर्वर्तित्वं 'स यश्चाय पुरुषे यश्चासावादित्य' इति श्रुतिसिद्धम् अन्तराधि-  
करणं विवक्षितमिति सिद्धम् । अत्र 'निर्विशेष परब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । येमन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषं निरूपणैः । वशी-  
कृतेमनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्मवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्' इति कल्पतरुवृत्तम् । प्रकृत्याधिकरणे आश्रयवा-  
क्यमपि संव्यवहारमात्रम्' इत्यादिसंक्षेपशारीरकाभिप्रेतवाक्यवचनानि स्वपक्षसाधकतयोपयुक्तानि एतानि वाक्यानि न  
परपक्षाधकानि अपितु परिणामसाधकानीति भावप्रकाशे २.स.३४८, अत्रैव जिज्ञासाधिकरणे च उक्तम् । संक्षेपशारीरक एव  
'अन्तर्गुणा भगवती परदेवतति प्रत्यग्गुणति' (सं.शा) इत्यादिवाक्ये गुणशब्दोपादानेन मधुसूदनध्याख्ये सरीत्या अर्थो न  
विरक्षित इति (७८३, ७८४ पु) गूढार्थसङ्ग्रहे प्रागेव निरूपितम् । अत्र 'प्रत्यग्गुणा' इत्यत्र प्रत्यक्शब्दः जीवपरः ।  
जीवस्य गुणा एव गुणाः यस्य सा दधतेत्यर्थः । अयमाशयः अत्र अन्तर्गुणेत्युक्त्या बहिर्गुणत्वमपि क्वचिन्प्रतिपाद्यत इति सूचि-  
तम् । अन्तर्गुण वमुपासनस्य गुणविशेष्यकत्वेन, बहिर्गुणत्वत्तु गुणविशेष्यकत्वेनापि गुणविशेष्यकोपासन—अथ यदिदमुस्मि-  
न्ब्रह्मपुरे—तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इति दहरिव्यायाम् । सद्ब्रह्माया—'तस्य तावदेव चिरं यादन्नाविमोक्षे' इति  
फलवाक्यम् । सद्ब्रह्मायामेवोक्तान्तेः द्विवारमभिधानेन उक्तान्तिरवर्जनीयाति अनेत्यस्य उक्तान्तरमित्यर्थः । अवश्यमे-  
व शब्दः । उक्तान्यङ्गीकारे गतिरपि स्वन एव सिद्ध्यति । 'सपत्न्य' इत्यत्र सपत्ने, 'अस्मान्छरीरात्समुत्थाय परज्वो-  
तिरुत्तमम्' इति—दहर्प्रजापतिवाक्ययोः निर्णय इति सूत्रकार एव स्थापयति । दहरिव्यायां प्रजापतिविद्यायां

## गूढार्थसङ्ग्रहः

एवमस्य देवस्य आक्षिणी उपमितोपमत्वाच्चर्ह नोपमा’ इति (श.उ.भा) परोक्षवाक्यप्रतिपाद्यार्थोऽपि परित्यक्तार्थाऽन्तःपाती । अत्र श्रुतौ यथा इत्येकमेव पदम् तेनैकोपमा ‘कप्यासम्’ इत्यस्य पुण्डरीकविशेषणतया तत्रोपमाविवक्षागमकाभावोपमा कप्यासशब्दस्य लक्षणाङ्गीकारे गौणता स्यादिति व्यासार्थैरुक्तम् । अत्र प्रोद्गातृनेयेन रूढिपूर्वकलक्षणासम्भवे योगान्नौचित्यम् ‘यउदगात्—लोहिताक्ष’ इति मन्त्रे मण्डलान्तर्वर्तिनो लोहिताक्षवर्णनदर्शनन अत्रापि श्रुत्यन्तरप्रतिपादितार्थवर्णनसंभवे अर्थान्तरवर्णनानौचित्य परैरुक्तम् । (ब्र.वि.आ, शि.म.दी) ॥

प्रोद्गातृनेये उद्गातृशब्दस्य यौगिकत्वमेव भाट्टदीपिकायां पुण्डदेवेन स्थापितम् । पुण्डरीकशब्दस्य शब्द स्वा-  
भिना नवमे ‘पौण्डरीकानि बर्हिषि भवान्त’ इति स्तरणार्थत्वेन विहितेषु पुण्डरीकेष्वतिदेशप्राप्तस्य ‘दर्भैरुणीत हरितै.’  
इतिमन्त्रस्य दर्भपदस्थाने पुण्डरीकपदमिव हरितपदस्थाने रक्तपदमूहितव्यम् इत्युक्त्या पुण्डरीकपदस्य रक्तपुण्डरीकपर व  
सिद्धमिति ततएव लोहिताक्ष-यमपि सिद्धयतीति पुथक् ‘कप्यास’ पदे तदर्थविवक्षायाः नावश्यकत्वम् । पुण्डरीकाक्ष  
शब्दः भगवति सर्वग्रन्थेषु प्रयुक्ततया प्रसिद्धः । तेन आक्षिप्तशब्दसमभिव्याहृतपुण्डरीकशब्देन रक्तपुण्डरीकमेव शिष्यमुप  
स्थाप्यते । तत्र सूर्य एव लोहिताक्षत्वमुक्तम् । तस्मिन्मन्त्रे पुण्डरीकशब्दो नात्येव । पुण्डरीकशब्दसंख्येऽविलम्बेन लोह  
त्यप्रतीत्यर्थे रक्तबोधकपदप्रयोगस्य परैरप्रदर्शनेन तदभावेन च ‘लोहिताक्षसूर्य’ इत्युक्त्या नपरेष्ट सिद्धयति । रक्तबो-  
धकरदसत्त्वेऽपि शोभातिशयप्रतीत्यभावे निवक्षितार्थाबोधनेन न्यूनता । अतः शोभाऽतिशयप्रतीत्यनुरोधेन अर्थवर्णनमुचि  
तम् । एवंचैतदर्थकवाक्यकारवाक्यानामेव सिद्धान्तवाक्यत्वम् । तत्र—‘आदित्याक्षिप्त वा श्रीमत्त्वात्’ इति वाक्यानु-  
सारेण कशब्दोपपदात् ‘पापान्’ इति घातोः औणादिकेकारप्रत्यये आतो लोपे च सति निष्पन्नः कपिशब्दः । ‘असुक्षे  
पगे’ इतिघातोः आस्यते विकास्यत इति कर्मणि घञन्तः । ततश्च कपेरासं विकास्यमिति कृद्योगलक्षणषष्ठीसमासे ‘कप्या  
सम्’ इत्यस्य रविकरविकसितमित्यर्थः । तात्पर्यदीपकाया व्यासार्थैः ‘कपिर्भभस्ति तेजनम्’ इति वैदिकप्रयोगः (तै.  
आ.४.२३.३) अत्र भाट्टभास्कारीयम्—‘तेजन तेजः, कपिः आदित्यः, क उदक भूयिष्ठ पित्रति रश्मिभिरादत्त इति  
पुनः वीष्ठायालोपो द्रष्टव्यः । बभस्ति भक्षयति रात्रौ प्रवेशित तेजः प्रातरुपादत्ते । ‘अग्निवावाऽऽदित्यस्ताय प्रविशति  
उग्रन्तंवावाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति’ (तै.ब्रा.१.२.१) इति । अत्रादित्यस्य तेजोऽतिशयः विवक्षितः । ‘क्षिप्रेरणे’ इति  
घातुः । प्रेरणं च आदित्यप्रेरण विकास एव । परैरपि सहस्रनामभाष्ये—‘क जलं रश्मिभिःपिबन् सूर्यः’ इत्युक्तम् ॥

अत्र परैः—‘रात्रौ मुकुलता दिवा विकासः पद्मानामिति नियमोपगमेऽपि कालकृतोऽसौ न सूर्यकृतः । अतएव  
रामायणे कविप्रौढोक्तिसिद्धं दिवा गाढा-घकार प्रस्तुत्य ‘निलीयमानैर्विहगैः निमीलद्भिश्च पङ्कजैः । विवर-त्या च  
मालत्या गनोऽस्तं शायते रविः ॥’ इति कालकृतावेव पद्मपङ्कोचविकासौ प्रतिपादिताविति । तथा विकसितत्वमपि  
आसशब्दतः क्लेशेन लभनीयम्’ इति (ब्र.वि.आ) उक्तम् ॥

‘निलीयमानैः’ इतिश्लोके पङ्कजानिमीलन पङ्कजानां सूर्यसंवन्धाभावबोधकम् । तेन कारणाभावाद्विकासभावइत्यर्थः  
प्रतीयते । ‘सप्तर्षिहस्तापक्षितावशेषाप्यघोविवस्वान् परिवर्तमानः । पद्मानि यस्याप्रसरोरहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः  
(कु.सं.सर्ग.१९) अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविभ्रमानन्दः । मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥  
(काश्यप्रकाश.सप्तमोऽष्टासे अष्टोदोदाहरणम्.श्लो.२५५) आगत्य सप्रति वियोगविसृष्टुल्लाङ्गीमम्मोजिनी कचिदपि क्षपित  
त्रियामः । एतां प्रसादयति पश्य शनैःप्रभाते तन्वाङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥ इदं ध्वनिमर्यादासर्वालित का.प्रकाशे.  
पु.२४४.प.उल्लासे.श्लो.१२७ । मित्रे कापिगेते सरोरुहवने बद्धानने ताभ्यति श्रन्दसु भ्रमेरपु वीक्ष्यदयिताऽऽसन्नपुररसा



## श्रीभाष्यम्

सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः उदेतिहवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक्च सामच गोष्णौ इत्यधिदैवतमथा ध्यात्ममभ्य ययपपोन्तरक्षिणि पुरुषोदृश्यते सैव ऋक्साम तदुक्तं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तरयतस्य सदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गोष्णौ तौ गोष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छां.८.१२.१) इति

## श्रुतप्रकाशिका

इति स्थानस्योक्तत्वादुभयत्र स्थानविध्यपेक्षा नास्तीत्यनाकाङ्क्षितत्वादिदे वाक्यमनन्वितं स्यात् । 'अन्तरादित्य' इत्यादित्यमण्डलस्य स्थानतया विहितत्वात् 'एवमक्षिणी' इत्यक्षः स्थानत्वे विहितेति स्थानभेदाद्रूपभेदेन विद्याभेददेकवाक्ये विद्याद्वयस्य विधातुमशक्यत्वाच्च, वाक्यभेदात् सचैकवाक्यत्वे संभवति नोपपद्यते कप्यास पुण्डरीकं च दृष्टान्ततया अनूय 'एवमक्षिणी' इत्यक्षः स्थानत्वस्य विधेयत्वं गम्यत इति चेत् तथा च 'अन्तरादित्य' इत्युपक्रमविरोधः उपक्रमेऽपि आदित्यमण्डलस्यानुवाद इति चेत् तथा सतीयमक्षिविधैव स्यात् । तथाचान्तरादित्यविधेत्याख्याविरोधः, भक्षिविधायामेतीदृशोक्तत्वाद्यतिदेशानुपपत्तिश्च नैकवलं कप्यासवाक्यमात्रस्य अपितु कृत्वाया अन्तरादित्यविद्यायाः पुनरुक्तिश्च स्यात्, उभयोरप्यक्षिविद्यायाविशेषात् रूपादिवैषम्याभावाच्च तस्मादस्य वाक्यस्योपारः स्थानविधिरवश्यमुक्तः कपिः मर्कटः तस्य आस जघनप्रदेशः मर्कटपृष्ठसाम्यमुच्यत इति यावत् । तदप्युक्तम् मर्कटपृष्ठं पुण्डरीकं च किमुपमानद्वयम् ? उतैकोपमा तत्रोपमाद्वित्वमयुक्तम् स्वतःप्राप्तसामानाधिकरण्यापरित्यागप्रसङ्गात् श्रुत्याध्यायेन निर्वाहे संभवत्यापि हीनोपमाभयणायोगाच्च यद्येकोपमा तथासति मर्कटपृष्ठसदृशपुण्डरीकसदृशेऽयुक्तं स्यात्, तदा कप्यासपदस्य गौणतास्यादिति । कप्यास, ईषद्विकसितमित्यपरोऽर्थः तत्रात्यन्तार्थानौचित्यं नास्त्येव, तथाऽप्यवयवद्वयतया वा रुढ्यावेषाद्विकारुपत्वं नास्तीति सोऽप्युक्तः एवं शब्दार्थस्वभावपर्यालोचनायामिदमर्थत्रयं पूर्वपक्षतया वाक्यकाराभिप्रेतमित्यवगतम् ॥

अर्थान्तरत्रयं तत्रापन्नम् कपिब्रवीतीति कपिः आदित्यः तेन अस्यते—क्षिप्यते विकास्यत इति कस्यायं तथाऽऽह वाक्यकारः 'आदित्यधिसं वा श्रीमत्त्वात्' इति कपिब्रवीतीति कपिः नाळं तस्मिन्नास्त इति कप्यासम् । अपाचितादापि पङ्कजान्नाळस्यपुण्डरीकस्य शोभाऽतिशयोऽस्तीति सोऽत्र विवक्षितः । कजलं 'आस उपवेशन' इति घातुरपि पूर्वकः 'वष्टिवागुरिरलोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इति वचनादपरकारलोपः । कप्यास सलिलस्थमित्युक्तं भवति ॥

एवमस्यार्थत्रयस्योपपन्नतया वाक्यकारेण सिद्धान्ततयोक्तत्वमभिप्रेत्याहि भगवता भाष्यकारेण वेदार्थरङ्गहेऽभिहितम् 'गम्भीराम्भस्समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलायतेक्षणः' इति । गोष्णौ गानविशेषौ अधिदैवतं देवतायामुपासनम् । अध्यात्म, आत्मन्युपासनम् । आत्मशब्दो देहवचनः अमुष्य आदित्यस्य आदित्येतद्वर्णपदेशादिति वा अक्षणि तद्वर्णपदेशादिति वा न सूत्रितम् अपिबन्तशब्दसूत्रकारेण प्रयुक्तः अन्तश्शब्दस्य 'अन्तरादित्ये'

## गूढार्थसंग्रहः

भट्टम स्वरव्याख्याऽनुसार्थः । 'हिरण्य' इति रूपसामान्यात् 'चन्द्रमुत्पवत्' इति वाक्यमपि अमुमेवार्थं प्रतिपादयति—कप्यासमिति । अस्यार्थः 'गम्भीराम्भस्समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलायतेक्षणः' इति वेदार्थसङ्गहे उक्तः । अत्र वाक्यकारोक्तार्थपटुके अर्थत्रयं भगवता परिगृहीतम् । अर्थत्रयं च परित्यक्तम् । 'यथा कपेः मर्कटस्य कप्यासः—आसेरुपवेशनार्थस्य कारणे घञ् । कपिपृष्ठान्तः गेनोपविशति । कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्ततेजस्वि ।

## गूढार्थसङ्ग्रहः

एवमस्य देवस्य आक्षिणी उपमितोपमत्वाद्वा नोपमा’ इति (श.उ.भा) परोक्तवाक्यप्रतिपाद्यार्थोऽपि परित्यक्तार्थान्तःपाती । अत्र श्रुतौ यथा इत्येकमेव पदम् तेनैकोपमा ‘कप्यासम्’ इत्यस्य पुण्डरीकविशेषणतया तत्रोपमाविवक्षागमकाभावान्नोपमा कप्यासशब्दस्य लक्षणाङ्गीकारे गौणता स्यादिति व्यासार्थैरुक्तम् । अत्र प्रोद्गातृनेन रूढिपूर्वकलक्षणासम्भवे योगान्नौचित्यम् ‘यउदगात्-लोहिताक्ष’ इति मन्त्रे मण्डलान्तर्वर्तिनो लोहिताक्षवर्णनदर्शनन अत्रापि श्रुत्यन्तरप्रतिपादितार्थवर्णनसम्भवे अर्थान्तरवर्णनानौचित्यं परैरुक्तम् । (ब्र.वि.आ, शि.म.दी) ॥

प्रोद्गातृने उद्गातृशब्दस्य यौगिकत्वमेव भाट्टदीपिकायां पुण्डरीकशब्देन स्थापितम् । पुण्डरीकशब्दस्य शत्रु-स्वामिना नवमे ‘पौण्डरीकानि बर्हिषि मवान्त’ इति स्तरणार्थत्वेन विहितेषु पुण्डरीकैष्वतिदेशप्राप्तस्य ‘दर्भैः तृणीत हरितैः’ इति मन्त्रस्य दर्भपदस्थाने पुण्डरीकपदमिव हरितपदस्थाने रक्तपदमूहितव्यम् इत्युक्त्या पुण्डरीकपदस्य रक्तपुण्डरीकपरव सिद्धमिति ततएव लोहिताक्ष-यमपि सिद्धयतीति पुथक् ‘कप्यास’ पदे तदर्थविवक्षायाः नावश्यकत्वम् । पुण्डरीकाक्षशब्दः मगवाति सर्वमन्त्रेषु प्रयुक्ततया प्रसिद्धः । तेन आक्षिप्तशब्दसमभिव्याहृतपुण्डरीकशब्देन रक्तपुण्डरीकमेव शिष्यमुपस्थाप्यते । तत्र सूर्य एव लोहिताक्षत्वमुक्तम् । तस्मिन्मन्त्रे पुण्डरीकशब्दो नास्त्येव । पुण्डरीकशब्दसत्त्वेऽदिलभ्येन लोहि-त्यप्रतीत्यर्थे रक्तबोधकपदप्रयोगस्य परैरप्रदर्शनेन तदभावेन च ‘लोहिताक्षसूर्य’ इत्युक्त्या नपरेष्ट सिद्धयति । रक्तबोधकपदसत्त्वेऽपि शोभातिशयप्रतीत्यभावे विवक्षितार्थाबोधनेन न्यूनता । अतः शोभाऽतिशयप्रतीत्यनुरोधेन अर्थवर्णनमुचितम् । एवंचैतदर्थकवाक्यकारवाक्यानामेव सिद्धान्तवाक्यत्वम् । तत्र—‘आदित्याक्षिप्त वा श्रीमत्त्वात्’ इति वाक्यानुसारेण कशब्दोपपदात् ‘पापानि’ इति घातोः औणादिकेकारप्रत्यये आतो लोपे च सति निष्पन्नः कपिशब्दः । ‘अमुक्षे-पगे’ इति घातोः आस्यते विकास्यत इति कर्मणि घञन्तः । ततश्च कपेरासं विकास्यमिति कृद्योगलक्षणघञीसमासे ‘कप्यासम्’ इत्यस्य रविकरविकसितमित्यर्थः । तात्पर्यदीपिकायां व्यासार्थैः ‘कपिर्भस्ति तेजनम्’ इति वैदिकप्रयोगः (तै. आ.४.२३.३) अत्र माट्टमास्कारीयम्—‘तेजनं तेजः, कपिः आदित्यः, क उदक भूयिष्ठं पिबति रश्मिभिरादत्त इति पुनः वीष्णवालोपो द्रष्टव्यः । बभस्ति भक्षयति रात्रौ प्रवेशितं तेजः प्रातरुपादत्ते । ‘अग्निवावाऽऽदित्यस्यायं प्रविशति उग्रन्तंवावाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति’ (तै.ब्रा.१.२.१) इति । अत्रादित्यस्य तेजोऽतिशयः विवक्षितः । ‘क्षिप्रेरणे’ इति घातुः । प्रेरणं च आदित्यप्रेरणं विकास एव । परैरपि सहस्रनामभाष्ये—‘क जलं रश्मिभिः पिबन् सूर्यः’ इत्युक्तम् ॥

अत्र परैः—‘रात्रौ मुकुलता दिवा विकासः पद्मानामिति नियमोपगमेऽपि कालकृतोऽसौ न सूर्यकृतः । अतएव रामायणे कविप्रौढोक्तिसिद्धं दिवा गाढान्धकार प्रस्तुत्य ‘निलीयमानैर्दिहैः निर्मीलं च्छिन्नैः । दिक् सत्या च मालत्या गनोऽस्तं शायते रविः ॥’ इति कालकृतावेव पद्मचङ्कोचविकासौ प्रतिपादिताविति । तथा विकसितत्वमपि आसशब्दतः क्लेशेन लम्बनीयम्’ इति (ब्र.वि.आ) उक्तम् ॥

‘निलीयमानैः’ इति श्लोके पङ्कजानिमीलनं पङ्कजानां सूर्यसंवन्धाभावबोधकम् । तेन कारणाभावाद्विकासभावइत्यर्थः प्रतीयते । ‘सप्तर्षिहस्तापचितावशेषाण्यधोविवस्वान् परिवर्तमानः । पद्मानि यस्याप्रसरोरहाणि प्रबोधयन्मूर्ध्वमुखैर्मयूरैः (कु.सं.सर्ग.१९) अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः । मरुदुल्लासितसौरमकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥ (काश्यप्रकाश.सप्तमोऽंशे अष्टोदोदाहरणम्.श्लो.२५५) आगत्य संप्रति वियोगविसंशुल्लाङ्गीमम्मोजिनी कश्चिदपि क्षपित त्रियामः । एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥ इदं ध्वनिमर्यादासंबलित का.प्रकाशे. पु.२४४.पं.उल्लासे.श्लो.१२७ । मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताभ्यति ब्रन्दन्तु भ्रमेरधु वीक्ष्यदयिताऽऽसन्नपुरसा

### गूढार्थसंग्रहः

रसम् । चक्र हेन वियोगिनाविसलतानास्वादितानोद्दिष्टता कण्ठे केवलमर्गलेव निहिताजीवस्य निर्गच्छतः ॥ का.प्रकाशे. अष्टमोच्छासे श्लो. ३४४. उदयमेव सविता पद्मेध्वर्ययति श्रियम् । विभावयन् रमृद्धीनां पल मुह्यदनुग्रहम् ॥ चन्द्रालोके निदर्शनालङ्कारप्रकरणे । ' भास्वानुदेध्वति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ' (कुवलयानन्दः) इत्यादौ बहुत्र सूर्यस्य पद्मविकासहेतुत्व स्फुटम् । अत्र एव शिवार्कमणिदीपिकाया—अप्यदीधितैः ब्रह्मविद्याऽऽभरणोत्तेतरदोषाणामभिधानेऽपि अयं दोषः परित्यक्तः । ' न कर्माविभागात् ' इति सूत्रे यथा सवितृकिरणसन्देहे सममेव सन्ततेऽपि पद्मान्येव पद्मानि विकसितानि नाप कानि' इति श्रीकण्ठभाष्ये सवितृकिरणानां पद्मविकासहेतुत्व स्पष्टम् । एतेन श्रीमत्त्वमपि सिद्धयति । श्रीशब्दस्य शोभाय कत्वात् पुण्डरीकशब्दमात्रप्रयोगे मुकुलिनम्लानव्यावृत्तिर्न भवति । अतः कप्यासपदप्रयोगः । एतेन अक्षोः निर्मूलना- वस्या व्यावृत्तिः । तेन सर्वदा अक्षोरुन्मीलनमेवेत्यर्थः सूचितः । कं पिबतीति द्यु पस्या सपूर्णशोषण सूच्यते । तेन जल- सम्प्रघट्टशायमेव पुण्डरीकस्य विकास. विकासप्रयोजकजलसामान्यशोषकः यः स एव जलमशोषयि वा दिक्कस्तेषुरपि भवतीति आदित्यस्य विरुद्धधर्मसम्बन्धः सूच्यते । एतेन अक्षोरपि आदित्यमण्डलान्तर्वर्ति पुरुषसंबन्धिनोपातेन पापिना दुःख पुण्यरता भक्तानां सुखमित्यर्थोऽपि सूच्यते । एतदेवाभिप्रेत्य आदित्यमण्डलान्तर्वर्तिपुरुषदणोः आदित्यविकसित पुण्डरीकसादृश्यमभिहितम् । उपमानोपमेययोः आदित्यसंबन्धाभिधानेन विशेषः सूचितः । (श) सहस्रनामभाष्ये ' कपिः वराहो वा । ' कपिर्वराहश्चेष्टश्च ' इति वचनात् इत्यत्र कपिशब्दस्य श्रेष्ठार्थकत्वकथनेन तद्विवक्षायामुक्तविशेषलाभो न स- भवति । आदित्यसम्बन्धेन विकासबोधनेन दलानामपि गुणातिशयः प्रतीयते । व्यासार्थोदाहृतप्रमाणेषु दलानामेवोपनानता स्फुटा । मर्कटासंभवाविमक्षायां तं सम्बन्धिनः मलस्य स्थायित्वं सूचनेन स एव दोषः । उक्तार्थे तु मलसम्बन्धप्रतीत्यभाव सूचकः ' अमल ' शब्दः पुण्डरीकेषु रविकरविकसितत्वप्रतिपादनेन साक्षाद्दलानामप्यायतत्वं, तेनाक्षोरप्यायतत्वं सिद्धयति परोक्तार्थे तु नायमर्थः सिद्धयति ॥

' कं पिबतीति कपिः—नालम् । तस्मिन्नास्त इति कप्यासम् । अपचित्तादपि पद्मात् नालस्यपुण्डरीकस्य शोभाऽति शयोऽस्तीति अत्रापि श्रीमत्त्वम् । तेन 'सुमृष्टनाल' इत्यर्थवर्णने अपचितपद्मव्यावृत्तिः । कपिशब्दस्य मर्कटपरत्वे तु न व्यावृत्तिः । ' कं जल—असंभुवि ' तस्मात् अपिपूर्वकात् के जले अप्यास्ते इति कप्यासम् । अपिपूर्वकधातुप्रयोगेन जल- स्यापि विशेषः सूच्यत इति तात्पर्येण ' गम्भीराम्भस्समुद्भूत ' इत्युक्तम् । अस्यामपि योजनायां पद्मशोभाऽतिशयेन दणो- र्शोभाऽतिशयसिद्धयति । वाक्यकारोक्तार्थत्रयेऽपि श्रीमत्त्वं सिद्धम् । श्रीमत्त्वस्य यथा प्रतीतिः तथा योजनात्रयमेव वाक्यकारतात्पर्यविषय इत्येतेन निष्पन्नम् । अत्र निहतार्थादिदोषोद्भावनं ब्रह्मविद्याऽऽभरणदौ ' वस्त्राद्यौचित्यवशात् दोषोऽपि गुणः ' इति काव्यप्रकाशे (७.५९) मम्मटोक्त्या निरवकाशम् ॥

अत्र ' हिरण्यं पुरुषो दृश्यत ' इत्यत्र पुरुषशब्दस्य ' सवा अयं सर्वासु पूर्णं पुरिषयः ' (बृ.अ) इत्योपनिषद- निर्वचनानुसारेण सर्वशरीरो इत्यर्थः । अन्यर्यामिब्राह्मणं च नारायणपरमिति शङ्कराचार्यतच्छिष्याभ्यां व्यवस्थापितमिति अत्रैव पूर्वमुक्तम् २५३. । हयशिरोरत्नभूषणदीधितौ तद्विस्तरः । ' यथादित्ये तिष्ठन् ' इत्यादिना आदित्ये स्थितिरपि तत्रैवोक्ता । ' आदित्यो वा एष ' इति मन्त्रस्य नारायणपरस्य विचारण्येनैवोक्तमिति पूर्वमेव निरूपितम् । ' नारायणपर तत्त्वम् ' इत्यत्र नारायणएव परतत्त्वमित्यर्थः. विचारण्येनैवोक्तः । तत्र तैत्तिरीये रुद्रादिपदसत्त्वेऽपि दुर्गाऽऽदिपदवत् तदुपासक- त्रिपयैव तन्मन्त्राणां ऋक्संहितायां ' कद्रुद्राय ' (१.४२. सूक्त १. मन्त्र) इति रुद्रसूक्तं सर्वरुद्रमन्त्रेषु दिशामुपस्थानमिति आश्वत्थयनेन (सू.४.९.२२) उक्त्या रुद्ररसम् । तत्र ' यश्चक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते श्रेष्ठो देवानां वसुः ' (ऋ.१.

### गूढार्थसंग्रहः

४३.५) इत्यत्र रुद्रस्य सूर्यसाम्यमेवोक्तम् नतु सूर्योन्तर्वर्तित्वम् । सूर्यइव शुक्रः दीप्तिमान् इति भाष्यम् । देवानां अष्टवं द्रोपासनोपयोगितयोक्तम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् अतः 'ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः' इत्यादिपुराणवचनोक्तार्थः ध्रुवतुल्यगुणएव । 'एतेन तन्मण्डलस्य मा ध्यायेत्तेजो मूर्तिं चतुर्भुजम् । उदुलं तज्जपेन्मन्त्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यापि गायत्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा सूक्तं च मामकम् ॥' इति कृष्णवचनेन विष्णोरादित्यान्तर्वर्तित्वं गायत्र्युपास्यत्वं च सिद्धम् । एतेषां वचनानां विष्णुभक्तमात्रविषयकत्वं 'भर्ग' इत्यस्य नसान्तत्वं किंतु अकारान्तत्वेन रुद्रपरत्वेमेव नतज परत्वमिति अभ्यस्यदीक्षितैरुक्तम् (शि.दी) ॥

एवं 'ध्येयस्सदा' इत्यपि आग्नेयपुराणे विष्णुपूजाप्रकरणे पाठितत्वेन न विष्णोः आदित्यमण्डलान्तस्थत्वसाधकम् अथापि देवस्य द्योतमानस्य सवितुरादित्यस्य सर्वंविभूत तद्ब्रह्म भर्गः तेजोरूपं वरेण्यं धीमहि ध्यायेमहीति सवन्धः । तच्छब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वात् तदुक्तं भगवद्गीतायां—'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधस्मृतः' इति, यएवविधः परमात्मा स नोऽस्माकं बुद्धीः दृष्टादृष्टार्थफलेषु कर्मसु प्रचोदयात् प्रेरयेत् इति । एव च सवितृमण्डलान्तस्थ हिरण्यपुरुषं ध्यायन् जपेदित्युक्तं भवतीति स्मृतिचन्द्रिकायामुक्तम् । वैद्यनाथीयेऽपि अगस्त्यः—'योदेवस्सविताऽस्माकं धियोबुद्धीः धर्मादिगोचराः । प्रेरयेत्तस्य यद्भर्गस्तद्वरेण्यमुपास्महे ॥' इत्युपक्रम्य देवस्य सवितुरेण्यं यद्भर्गस्तद्वचायामि । तच्छब्दे ब्रह्मवाचकत्वेन च प्रसिद्धः । 'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधस्मृतः' इति गीतास्मरणेन आदित्यमण्डलान्तर्वर्तिनं पुरुषमनुचिन्तयामि । 'यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्यपुरुषः' 'यएष एतस्मिन्मण्डलेऽर्चिपि पुरुषः' इत्यादिश्रुतेः यस्सविता अस्माकं धियः ज्ञानादिप्रचोदयात् प्रचोदयति प्रवर्तयति तस्सवितुः तद्भर्गः चिन्तयाभीति । 'ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणस्सरसिजासनसन्निविष्टः केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्यवपुर्धृतशङ्खचक्रः' इति चोक्तम् ॥

भगवद्गीतायां तत्रतत्र ईश्वरशब्दस्य 'ईशानशीलो नारायण' इति शङ्कराचार्यादिभिर्विवरणेन गीता नारायणपरैवेति सिद्धम् । गीतायां 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'पुरुषस्तपरःपार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इत्यादेः मूलभूता 'यथाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्' (कै.उ) 'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम्' इति कैवल्यश्रुतिः । कैवल्योपनिषदि अन्ते 'यश्शतरुद्रीयमधीयते' इत्युपक्रम्य 'अत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत् । अनेन ज्ञानमाप्नोति ससारान्निवनाशनम् ॥ तस्मादेव विदित्वैनं कैवल्यं पलमश्नुते' इत्यत्र रुद्रस्याचार्यवदुपकारकत्वं विवक्षितम् । 'रुद्रस्तारकं ब्रह्मोपदिदेश' इत्यत्र रुद्रस्याचार्यकत्वं स्पष्टम् । काश्या मणिकर्णिकाषट्के सुमूर्ध्ना दक्षिणश्रवसि रुद्रेण रामतारकोरुदेशः (रामतारनीयोपनिषत्) स्पष्टमुक्तः । एतेन 'किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति सहोवाच वाश्वत्थः शतरुद्रीयणेत्येतां हि हवा अमृतनामधेयानि एतेर्हवा अमृतो भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः' (जा.मु.ए.३) इति जादालोपनिषदुक्तिरपि रुद्रस्याचार्यत्वाभिप्राया । अथैव प्रथमखण्डे 'अत्राहि जन्तोः प्राणेषु उक्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्मव्याचष्ट येनासावमृतोभूवा मोक्षी भवति तस्माद्विमुक्तमेव निषेवेत' (जा.उ.१.ख) इति स्पष्टमुक्तम् । तेन 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' इति गीतात्तया अन्यत्र रुद्रस्य एवमेव हननसाधनत्वोक्तिः द्वारत्वविवक्षया निर्वाह्या । सहस्रनामभाष्ये विष्णुशब्दविवरणे 'आलेह्यं सूर्यशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः । इदमेकं मुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणस्सदा ॥' इति महाभारतान्ते भगवता श्रीवेदव्यासनोपसहनम् । 'हरिरेकस्सदा ध्येयो भवार्द्रस्सत्त्वसंस्थितैः । ओमित्येव सदा विप्राः पठत ध्यात केशवम् ।' इति हरिवंशे । कैलासयात्रायां 'हरिरेको ध्यातव्यः' इत्युक्तं श्रीमहेश्वरेणापि । एतत्सर्वमभिप्रेत्य 'एषमे सर्वधर्माणां हर्षोऽधिष्ठाता



## भीमाप्यम्

तत्र सन्दिहाने—किमयमध्यादित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषः पुण्योपचयनिमित्तैश्वर्य-  
मुत्प्रकाशिका

‘अन्तरक्षिणी’ इत्युभयभरणादिद्यादित्यमपि संप्रहीनमित्यभिप्रायेणाशिविद्यावाक्यमभ्युदाहृतम् । शय दर्शयति-  
सत्रेति । शरीरसव-चापहनगाम्भ्यादियोगासंशयः —

## गूढार्थसङ्ग्रहः

मनः’ इत्युक्तम् इति शङ्कराचार्यैरुक्तम् । ‘हरिरैक’ इति श्लोकान्तरं ‘उवाचोऽहं सदा विष्णोः उवाचोहि हरमृतौ’  
इत्युक्तौ स्वस्य द्वारत्वं शिवस्याकथयदिति स्पष्टं विदुषाम् ॥

आमोपपुराणे (२१६.अ) ‘एवं सन्ध्यायिषि कृत्वा गायत्रीं च जपेत्सरेत् । गायन् शिष्यं न यतस्त्रयेत् काय-  
(यं) प्राणास्तथैव न । ततश्चमृतेय गायत्रीं सवित्रीं यततो यतः ॥ प्रकाशनात्वा सवित्रः चाग्रपत्वा सरस्वती । तज्ज्योतिः परमं  
ब्रह्म भर्गो देवो यतश्चमृतम् । भादीप्ताविनि रूपहि भ्रजवाकेऽथ तश्चमृतम् । ओषध्यादिकं पचति भ्राजुदीप्तौ तथा भवेत्  
भर्गस्याद्वाजन इति बहुलं छन्द इतिरुक्तम् । वरेण्यं सर्वनेत्रोभ्यः अष्टौ परमं पदम् । स्वर्गावर्गकर्मिणां वरणीयं रक्षेहि  
धृजोते ररणा र्थत्वात् आम्रस्वप्नादिवर्जितम् । नित्यं शुद्धं शुद्धमेक एव तदीमद्रेक्ष्यम् ६ अहमक्षपरं ज्योतिर्ध्यायेत् ६ विमु-  
क्तये । तज्ज्योतिर्मगान् विष्णुः जगज्जन्मादिकारणम् ७ शिव केचिद्वदन्ति स शक्तिरूप इति ८ । केचिद्वदन्ति केचि-  
दस्मि वेदगा अग्निहोत्रिणः ८ अमयादिरूपा विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्मणीयते । तदपरमं विष्णोः देवस्य रविदृग्मृतम् ९  
महदाशं सूरतेहि स्वयं ज्योतिर्हरिः प्रभुः’ इति ‘विष्णोर्परमं पदम् । देवस्य सवित्रुर्भर्गः वरेण्यं हि तुरीयकम् योऽसावा-  
दित्ये पुरुषः सोऽसावहमनन्त ओम्’ इत्यत्र गायत्रीप्रतिपाद्यत्वं आदित्यमण्डलान्तर्वर्तिव च स्पष्टमुक्तं विष्णोः ।  
अथ ‘एवं सन्ध्यायिषि कृत्वा गायत्रीं च जपेत्सरेत्’ इत्युपक्रमोक्तया सन्ध्याऽदिकं निरुक्ता रस्य गायत्र्यर्थः विवक्षित-  
इति वैष्णवमात्रविषयकत्वमेतत्प्रघट्टकस्य न यत्तु शक्यम् । ‘अष्टोत्तरशतं जप्त्वा तीर्णरससारसागरात् । रद्रक्ष्माण्ड-  
जप्येभ्यो गायत्रीं विविधये ॥ (२१५.अध्याय.श्लो.७) इति प्रागभिधाय ‘अमयादिरूपा विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्मणीयते’  
इत्युक्तया रद्रस्य गायत्रीप्रतिपाद्यत्वं न विवक्षितमिति स्फुटम् ॥

एतेन ‘तत्सवितुर्वरेण्यं’ मित्युपक्रम्य भाभिर्गतिरस्येति भर्गः भर्जयतीति वा एव भर्ग इति रद्रो ब्रह्मवादिनः’  
इत्यत्र रद्रः (मैत्रायणीये.६.प्रपा) ओमित्येतदक्षरं यदस्याग्रं तच्छन्तमद्वन्द्वमयमशोकमानन्दम् (७) स्थिरमनःतममृ-  
तमभ्युन्नं ध्रुव विष्णुसंज्ञितम् तदेताउपासितेत्येव ह्याह (मै.६.२२) इत्यनेन प्रणवघटकनादार्थभूतविष्णुरेव अप्रपदेन बोधितः  
तत्र ओमित्याग्रं नादार्थं एव । नादार्थत्वात् शब्दभूतसहस्रं तत्र । एतेन रद्रद्ररा संहर्तृत्वं विष्णोरेवेति रद्रस्य  
द्वारत्वात्परेण ‘रद्रो ब्रह्मवादिनः’ इति पूर्वमुक्तम् । अतः आदित्यान्तर्वर्ती हिरण्यः पुरुषः गायत्रीप्रतिपाद्यः नादार्थ-  
भूतो वासुदेवः विष्णवभिन्नः क्षुण्णौ विवक्षित इति सिद्धम् । अत्र पुरुषशब्देन नादाद्यो वासुदेवः बोध्यते । एतत्तत्त्वं  
हयशिरोरत्नभूषणदीधितौ व्यक्तम् । ‘पुनश्च पद्मसम्भूना आदित्योऽभूद्यदा हरिः ।’ (वि.पु) ‘विद्यासहायवन्तमां आदि-  
त्यस्य सनातनम् ॥’ (भा.मोक्षध) ‘विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मुर्तिधृते नमः’ (शा.मो.घ) इत्यत्र वासुदेव एवादित्य-त-  
र्वर्तीति स्पष्टम् ॥

‘आग्नेवेदममसी पुरुषविधः’ (वृ.३.३) इत्यत्र पुरुषशब्दस्य ‘स्य पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औषत्’  
इत्यत्र सर्वपापदाहकत्वात्थकत्वेन सर्वपापसम्प्रधानहता सिद्ध्यति । अस्यार्थस्य दृढीकरणेनादित्यान्तर्वर्तिनः जीव-  
विशेषत्वमपि न सम्भवतीति अन्तस्तद्धर्मोपदेशादित्यत्र स्थाप्यते—पुण्योपचयनिमित्तैश्वर्यइति । ‘तं विद्याकर्मणी सम-

### श्रीभाष्यम्

आदित्याभिलष्योपजीव एव आहोस्वित्तदतिरिक्तः परमात्मेति किं युक्तम् ? उपचितपुण्यो-  
जीवएवेति । कुतः ? सशरीरत्वध्वणात् शरीरसम्बन्धोहि जीवानामेव सम्भवति । कर्मा-  
नुगुणप्रियाप्रिययोगादिति शरीरसम्बन्धः अतएवहि कर्मसम्बन्धरहितस्य मोक्षस्य प्राप्यत्व-  
मशरीरत्वेनोच्यते 'न हवै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वाच्यं सन्तं न  
प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥' इति, (छां.८.१२.१)

### श्रुतप्रकाशिका

आदित्यादिशब्दाभिलष्योपजीवएवेति । यत्रयत्र प्रकरणेषु करणकलेत्रावस्थशरीरसम्बन्धेन जीववशङ्का तेषां प्रकर-  
णानां सर्वेषां परमात्मपरत्वस्य प्रदर्शनायमयमधिकरणारम्भ इत्यभिप्रायेणादिशब्दः प्रदुतः । अतएव हिरण्यगर्मादिजी-  
वैभ्योऽन्य इत्याधिकरणोपसंहारे, मध्येऽप्यादित्यादिजीवव्यतिरिक्त इतिनोक्त वेदान्तवेद्य कारणं ब्रह्म किं प्रकृष्टपुण्योजीवः  
उत नेति विचारः ? तदर्थमानन्दमयः किं जीवः उत परमा मेति ? तदर्थमन्तरादित्येऽन्तराक्षणि च वर्तमानः किं जीवः  
उत परमात्मा ? तदर्थं सशरीरत्वं किं जीवस्यैव उत परमात्मनोऽपि सम्भवतीति, तदर्थं शरीरसम्बन्धस्यैव सम्भवति  
नेति तदर्थं पाप्मोदितत्वादिश्रुतिः 'अजायमान' इत्यादिश्रुतिरादित्यवर्णत्वादिश्रुतिश्च किमैच्छत्वं शपयति नेति तदर्थ-  
मिह पाप्मशब्दः किं पापमात्रपरः उत पुण्यपापरूपकर्मपरः ? अपहृतशब्दः किं प्रध्वसपरः उत्पत्त्यान्ताभावपरः अज्ञत्वादित्य-  
श्रुतिः किं कर्मकृतजन्मविषयतया व्यवस्थापयितुं शक्यते नेति आदित्यवर्णात्वादिश्रुतिर्विग्रहस्य प्रकृतिप्राकृतविलक्षणत्वं  
शपिका नवेति चतुर्धा सशयः ॥

अत्र पूर्वं कल्पा. पूर्वपक्षाः अपरेतु सिद्धान्ताः । यदा पाप्मशब्दः पापमात्रपरः अपहतिश्च प्रध्वसः जन्मनिषेधश्च  
न कर्ममूलजन्मविषयः, विग्रहश्च न प्राकृतविलक्षणः तदानीं विग्रहसम्बन्धस्येच्छामात्रमूल वरुभवेन कर्मनिबन्धनतया पर-  
स्मिन्नसम्भवेन जीवसाधारण्यादादि(स्थान)वर्ती पुरुषो जीवइत्यन्तरादित्येवावैकार्यादानं दह्नीवावयेऽपि जीवस्यप्रति-  
पाद्यत्वात् सर्वाणि कारणवाक्यानि प्रकृष्टपुण्योपचयजीवपराणीति पूर्वपक्षः । यदा पाप्मशब्दः कर्ममात्रपरः अपहृतशब्दो-  
ऽत्यन्ताभावपरः जन्मनिषेधश्च कर्ममूलजन्मविषयः, विग्रहश्च प्राकृतविलक्षणः तदानीं विग्रहस्येच्छतया तस्य जीवा पर-  
स्मिन् सम्भवाच्चाक्ष्यादित्यान्तर्वर्ती पुरुषः परइति तदैकार्यादानं दह्नीप्रतिपाद्यस्य परमात्मवन्निश्चितमिति तदैकार्या-  
त्सर्वाणि कारणवाक्यानि परमात्मपराणीति राद्धान्त फलफलमात्रः ॥

पूर्वपक्षमाह — उपचितेति । जीवानामेव शरीरसम्बन्धमुपपादयति कर्मानुगुणेति । कर्मकृतप्रियाप्रिययोगार्थत्वं  
व्यतिरेकेणोपपादयति अतएवहीति । अतएव शरीरसम्बन्धस्य कर्ममूलप्रियाप्रिययोगार्थं वादेवहि कर्मसम्बन्धरहितो मोक्षो

### गूढार्थसंग्रहः

नारमेते पूर्वप्रश्नाच्च' (बृ.६.४.२) इत्यादौ 'अन्यन्नवतर कल्याणतर रूपं कुरुते पितृणां गान्धर्वे वा दैव वा प्राजापत्यं वा  
ब्रह्म वा अथैवा भूतानाम्' इति ४ 'पुण्यं पुण्येन कर्मणा भवती'ति च (बृ.६.४.५) उक्त्या शरीरसम्बन्ध पुण्यविशेषनिबन्धन  
इति प्रतीयते । अक्षिविद्याया 'स एष ये चैतस्मादवाञ्छो लोकास्तेषांचेष्टेमनुष्यकामानां च' (छा.१.८) इति । अन्तरादित्यवि-  
द्याया 'स एष ये चानुष्मावराञ्छो लोकास्तेषांचेष्टे देवकामानां च' (छा.६.८) इत्येवैव प्रतिपाद्यते । तादृशैश्च पुण्यविशेष-  
निबन्धनमेव । आदित्यः देवगणे पाठितः, अतः पुण्यविशेषनिमित्तैश्चैव युक्तमेव । न हवै सशरीरस्येति । प्रियाप्रिययोर-

## श्रीभाष्यम्

सम्भवति च पुण्यातिशयाज्ज्ञानाधिक्यं शक्त्याधिक्यं च अतएवं लोकामेशत्वादि तरये धोपपद्यते, ततएवचोपास्यत्वं, फलदादित्वं पापक्षपणकरत्वेन मोक्षोपयोगित्वं, च मनुष्ये-  
ष्यप्युपचितपुण्याः केचिज्ज्ञानशक्त्यादिमिरधिकतरा दृश्यन्ते । ततश्च सिद्धगन्धर्वादयः—  
ततश्च देवाः ततश्चेन्द्रादयः । अतो ब्रह्मादिष्वन्यतमपर्वकैकस्मिन् कल्पे पुण्यविशेषेणैवम्भू-  
तभैश्वर्यप्राप्तोजगत्सृष्ट्याद्यपि करोतीति जगत्कारणत्वजगदन्तरात्मत्वादिविषयमस्मिन्नेवो-  
पचितपुण्यविशेषे सर्वे सर्वशक्ततां वर्तते । अतो नजीवादतिरिक्तः परमात्मा नाम कश्चि-  
दस्ति । एवं च सति ‘अस्थूलमनण्वहस्वम्’ (यु.५.८.८) इत्यादयो जीवात्मनस्स्वरूपाभि-  
प्राया भवन्ति । मोक्षशास्त्राण्यपि तत्स्वरूपतत्प्राप्त्युपायोपदेशपराणीति ॥

एवंप्राप्तेऽभिधीयते (अन्तस्तदमोपदेशात्) अन्तरादित्येऽन्तरक्षणि च यः पुरुषः  
प्रतीयते

## श्रुतप्रकाशिका

ऽशरीरतया प्राप्यत्वेनोच्यत इत्यर्थः । ज्ञानशक्त्यादिकं लोककामेशितृ वादिकं च कथं जीवस्य स्यादित्यत्राह—संभवति  
चेति । तथा दर्शयति मनुष्येष्वपीति । अत्र ‘सण्को मानुषआनन्दः’ इत्याद्यभिप्रेतम् । आदित्येन्द्रप्रजापतिभ्यं  
भूमीनां सर्वेषां कारणत्ववचनाद्व्याहृतिस्स्यात् पुण्यहेतुत्वात् क्षयित्वं च स्यादित्यत्राह—अतो ब्रह्मादिष्विति । सर्वविध  
वाक्यानां जीवपरत्वमाह—जगदित्यादिना । अपहतपाप्मत्वादियुक्तयो नाकर्मवश्यतां वदन्ति, अपितु केवलपुण्यहेतुकश-  
रीरवतः पापराहित्यं पापहेतुकम्, पुण्यहेतुकं, मिश्रहेतुकम् चेति त्रिविधं शरीरमित्यभिप्रायेणोपचितपुण्यदिदिष्टं द्रुतम् ।  
मोक्षशास्त्रपराणि उपायपराण्युपेयपराणिचेत्यर्थः ॥

\* २ रादान्ते सौत्रं प्रतिज्ञं परमन्तश्शब्दं व्याचष्टे अन्तरादित्येति । द्वितीयसूत्रस्यान्यशब्दादयत्तञ्च साध्यधर्ममाह  
संजीवादन्येति । तेन कलितमाह—परमात्मेति । हेत्वशमवतार्य व्याचष्टे कुतइत्यादिना । ‘तद्वर्मोपदेशात्’ इति  
तच्छब्दः परमात्मपरः परमात्मनि सिद्धे तद्वर्मोपदेशः तद्वर्मोपदेशात्परमात्मसिद्धिरिति परस्परश्रयशङ्कायामह—

## गूढार्थसंग्रहः

पहृत्यभावे शरीरसंक्रमः प्रयोजक इत्युक्तम् । शरीरसंक्रमवतः प्रियाप्रिययोरपहृत्यभावे तस्य परमात्मव न संभवति ।  
अयोग्यवच्छेदपादे जगत्कारणलक्षणलक्ष्यत्वं अचिज्जीवविलक्षणस्य उपपादनीयम् । जगत्कारणत्वव्याप्तिर्देवतादेवावि-  
शिष्टस्य जीस्य अस्याश्रुतौ विवक्षितत्वे उक्तलक्ष्यासिद्धिः ॥

‘अस्थूलमनण्वित्यादी’नां कागतिरिति शङ्कायामाह—अस्थूलमनण्वित्यादीति । अन्तरादित्ये अन्तरक्षणिचेति ।  
एतेन ‘‘यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्ये’’ इत्यन्तराधिकरणविषयवाक्ये अन्तश्शब्दो नास्तीति वाक्यद्वयमभिप्रेत्यैव सूत्रे  
अन्तश्शब्दः प्रयुक्तः । अत्रान्तश्शब्दप्रयोगेण वाक्यद्वयं विवक्षितमिति भावः । आनन्दमयाधिकरणे ‘आनन्दशब्दस्य—  
व्यापकचेतनार्थकतया आनन्दमयस्य सर्वशरीरत्व शरीरशब्दैकार्थ्येन च सिद्धयतीत्युक्तम् । अत्र ‘हिरण्यवःपुरुषो  
दृश्यते’ इति पुरुषशब्दः प्रयुक्तः । पुरुषशब्दश्च जगत्कारणसर्वशरीरवाचकः । एवचान्तरादित्ये जगत्कारणत्वेन सर्वशरी-  
रत्वेन प्रतीपादितब्रह्म ‘नेतरोऽनुपपत्तेः’ इति पूर्वाधिकरणसूत्रे जीवमिन्नत्वेन साधितमिति ‘नेतर’ इत्यस्यानुपक्षेण जीव-

### भीमाप्यम

स जीवादन्यः परमात्मैव कुतः? तद्धर्मोपदेशात् जीवेऽसम्भवंस्तदातिरिक्तस्यैव परमात्मनो धर्मोऽयमपहतपाप्मत्वादिः 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' (छां.१.६.७) इत्यादिनोपदिश्यते । अपहतपाप्मत्वं ह्यपहतकर्मत्वं कर्मवश्यतागन्धरहितत्वमित्यर्थः

### श्रुतप्रकाशिका

जीवेऽसम्भवमिति । जीवेऽसम्भवमय धर्मो जीवातिरिक्तस्वाश्रयप्रतिपादकत्वं श्रुतेर्निश्चाययति । योग्यतारामर्शसह-  
इत्येव श्रुतिः परमात्मानमभिधत्तइत्यर्थः अपहतपाप्मत्वं पापहेतुकशरीरवत्त्वावर्तकमित्यत्राह-अपहतेति । ॥

यद्यपि 'सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति विषयवाक्यं तथाऽपहतपाप्मशब्दप्रयोगः श्रुत्यन्तरस्तरणार्थः । अपहत कर्मत्वमिति । पाप्मभ्य इति पाप्मशब्दः पुण्यपापरूपोभयविधकर्मपर इत्यर्थः हि दृष्टः परमात्मप्रकरणेषु पाप्मशब्दस्य पुण्यपापरूपमभिधत्ति सूचयति 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो नजरा नमृत्युर्नशोको नमुकृत नदुःकृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निर्वर्तन्ते' इति 'स नसाधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मायान्' 'नकर्मणा वर्धते नो कर्मायान्' इत्यादिश्रुतयोस्तस्मिन्नर्थे प्रमाणं स्युः 'पाप्मानः कालजरा मृत्युशोकादयस्सह्यपातघातः' इति वाक्यकारवचः असौ किञ्चिदस्य निष्कृष्टसाधनत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तयोगादुपपन्नं पुण्यस्यापि पापशब्दाभिधेयं दृष्टं हि मुमुक्षुपक्षया स्वर्गादीनामनिष्फलत्वं 'अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनः' इत्यारभ्य 'एतेवै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः' इति—

कनाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् । कजपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥  
इति च पाप्मशब्दव्याख्यानमुत्तेन ब्रह्मव्यावृत्तिरुक्ता । अथापहतशब्दव्याख्यानमुत्तेन मुक्तव्यावृत्तिमाह-कर्मैति । जीव-  
व्यावृत्तिः स्फुरयति कर्मार्थानेति । अरहन्पाप्मशब्दोऽसङ्कोचात् स्वस्मिन्परत्र च पाप्मनामपघातकत्वं स्वतरिषद्वदतीति  
इत्यप्रत्यर्नाकत्वसिद्धिः ॥

### गूढार्थसंग्रहः

सामान्यभिन्नब्रह्ममेदस्यान्तरादित्यपुरेण साध्यताविवक्षामभिप्रेत्याह-सर्जीवादित्य परमात्मेति । पूर्वोक्तप्रकरणे 'नेतरोऽनुपपत्तेः' इत्यत्र आनन्दमये जीवसामान्यभेदे साधिते जीवसामान्याभिन्नब्रह्मणः पूर्वमुपस्थिततया तच्छब्दस्य सूक्ष्मस्य जीवसामान्याभिन्न ब्रह्मेवार्थः । तेन पर्यवसितार्थमाह—जीवेऽसम्भवमित्यादिना । 'आवृत्तिरसद्वृत्तुपदेशात्' इत्यादौ सद्विद्यावाक्यमेव विवक्षितमिति परमाप्ये व्यक्तम् । सद्विद्या निर्गुणविद्या प्रजापतिविद्याऽपि तदेवेति परेषदन्ति । अन्तरादित्यविद्यातु सगुणविद्या, अयं च विषयविभागः औपदेशिकः उभयत्र उपदेशशब्दप्रयोगादित्यभिप्रेत्य प्रजापतिविद्यायामपि प्रतिपादितमपहतपाप्मत्वादितद्धर्मत्वेन विवक्षितमित्याशयेनाह-अपहतपाप्मत्वादि इति । 'तस्योदितनाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' । उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः' (छां.१.६.७) इत्यत्र उ पूर्वकेण्धातोः गत्यर्थकतया पूर्वं सङ्गः अनन्तर तन्निवृत्तिः प्रतीयत इति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । 'नहैव देवान् पापं गच्छति' इति श्रुतिरपि तदभिप्रेता । तथाऽपि 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' इति दहरविद्यायामपहतपाप्मत्वं परमात्मनिष्ठतया प्रतिपादितमिति तदेवात्र विवक्षितम् । 'य एष आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादौ जीवस्याप्यपहतपाप्मत्वश्रवणात् तद्व्यावृत्तिर्न सम्भवतीत्याशङ्कामपि निरस्यनपहतपाप्मत्वस्वरूपं निरूपयति अपहतपाप्मत्वं हीति । कर्मवश्यस्य पापानामपहतिः विद्यामहिम्ना कदाऽपि पाप-



### श्रीभाष्यम्

कर्माधीनसुखदुःखभागित्वेन कर्मवश्याहि जीवा अतोऽपहतपाप्मत्वं जीवादन्वस्य परमात्मन एव धर्मः । तत्पूर्वकं स्वरूपोपाधिकं लोककामेशत्वम् ।

### श्रुतप्रकाशिका

न वपहनशब्दः प्रध्वसपरः । उत्पन्नस्यैव प्रध्वसः अतः प्रध्वस्तपाप्मत्वश्रवणात्परमात्मनः कर्मसम्बन्धस्य प्राग्विद्यमानत्वमपगम्यते ततश्च प्रध्वस्तपाप्मनः परमात्मनो मुक्तादवैलक्ष्यं स्यात् । यदि निन्याससृष्टपाप्मत्व विवक्षितं तदस्य न्तमशब्द परस्य कुर्वतोऽकुर्वतो वा पाप्मसस्पृष्टत्वम् । प्रथमे व्याघातः कर्तृसमवेतत्वाक्रियायाः द्वितीयेऽसदादेरवैलक्ष्यं न ह्यकृतेन कर्मणा कश्चिद्विध्यते इति । उच्यते—परस्य तावत्पाप्माभावपराणि वाक्यानि विविधानि श्रूयन्ते 'सर्वेभ्यः पाप्मभ्यउदितः' इति पाप्मभ्यउदयश्रूयते । 'अपहतपाप्मा' इति पाप्मनामपहतिश्रुता 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो नजरा नमृत्युः नशोको नसुकृतं नदुष्कृतं सर्वे पाप्मनोऽतो नियतेन्ते' इति तरतेःप्राप्तिवाप्तिवदप्राप्तिर्निवृत्तिश्च श्रूयते, 'स नसाधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इति कर्मफलास्पर्श उच्यते तत्र प्रथममुदितशब्दस्य मुख्यार्थोऽनुपपन्नः । विभोः परस्य पाप्मान्वितदेशादूर्ध्वगमनायोगात् । तस्मिन्नेकलक्षणा युक्ता तत्राकृतकर्माश्लेषस्य सर्वसाधारणस्य प्रतिपादनवैयर्थ्यं स्यात् अतः कृतानामपि कर्मणामश्लेषपरत्वं तस्य वाक्यस्याभ्युपगन्तव्यम् । क्रियायाः कर्तृसमवेतत्वेन स्वरूपाश्लेषस्य व्याघातादेव फलाश्लेषपरत्वमाश्रयणीयम् । तत्र हेत्वकथनात्तिरोधानाविर्भावयोः निष्प्रमाणकत्वाच्च तस्य स्वाभाविकत्व नित्याविर्भूतत्वं च सिद्धम् ॥

अपहतशब्दश्च हिंसारूपघातवर्त्यासभवाद्दिनाश लक्षयन् क्रियास्वरूपस्य नश्वरतया स्वरूपनाशप्रतिपादनवैयर्थ्यात् फलजननशक्तिविशिष्टरूपेण नाशं प्रतिपादयति यथा 'सर्वमेकपदे नष्टं दामश्रोत्रिये यथा' इति नाशशब्दो दानस्य फलजननशक्तिहानिं प्रतिपादयति तद्वत् ; अतर्हश्चरेण कृतानि पुण्यपापसजातीयानि कर्माणि न शुभाशुमफलजननशक्तानि स्युः । ईदृशमपहतपाप्मत्व च पूर्वोक्तन्यायान्निष्पादिक नित्याविर्भूतत्वाभ्युपगन्तव्यम् । 'स नसाधुना कर्मणा' इत्यत्राप्यसाधुकर्मफलास्पर्शास्त प्रायश्चित्तरूपसाधुकर्मनिवन्धन इति शङ्का च साधुकर्मप्रतिषेधेनैव निरस्ता । नच साधुकर्महतिस्तस्यापि निवर्तकविद्याबलादिति शङ्कनीयम् ध्यानकर्तृत्वानुक्तेः 'उदेतिहवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो यएवंवेद' इति तस्य ध्येयत्वश्रवणाच्च, साधुकर्मनिषेधोदेव ध्यानकर्तृत्वमपि निषिद्धं भवति यथादिक्मुपासना मक च कर्महिंसाधु

### गूढार्थसंग्रहः

सर्वघाताभावस्य स्वाभाविकी पापानामपहतिः, सैवात्र स्वाभाविकी पापहतिर्विवक्षिता तस्या एव मुख्यत्वात् जीवस्य न स्वाभाविकीसा इति भावः । तमेव प्रकाशयति—कर्माधीनसुखदुःखभागित्वेनेत्यादिना ॥

एतेन 'सर्वेभ्यः पाप्मभ्यउदितः' इत्यत्र पूर्वं पापसम्बन्धवतः उद्गमनं न विवक्षितम् । अपहतपाप्म वस्तुत्युत्तरेण स्वाभाविकपापपहतिरेव विवक्षिता । तस्यैवात्र विवक्षितत्वं स्यापयति—तत्पूर्वकमित्यादिना ॥

यद्यपि 'उदेतिहवै' इति वाक्यानन्तर—'स एष येचामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषांचेष्टे देवकामानां च' इत्यन्तरादित्यादिवाया परालोककामशितृत्वमुक्तम् । अथापि परालोककामेशत्वेन इतरलोककामेशत्वमपि सिद्धयति । आक्षिप्यार्था 'तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इत्यतिदेशप्रतिपादनेन अर्वालोककामेशितृत्वमपि सिद्धयति । फलस्यातिदेशाभावेन कथं सिद्धयतीति चेत् फल पृथगेव निर्दिष्टं तेन सर्वलोककामेशत्व विवक्षितम् । 'अन्तरादित्य' इत्युक्त्या ऊर्ध्वदेशवृत्ति

### श्रीभाष्यम्

सत्यसङ्कल्पत्वादिकं सर्वभूतान्तरात्मत्वं च तस्यैव धर्मं यथाऽऽह—‘एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्थिशोको विजिघ्रित्सोऽपिपासस्तस्य कामरससङ्कल्पः’ (छां.८.१.५) इति । तथा ‘एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नागायणः’ (सुवाल्.७) इति । ‘सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेय’ (तै.आन.६) इत्यादिसत्यसङ्कल्पत्वपूर्वकसमस्तचिदचिद्वस्तुसृष्टियोगो निरुपाधिकभयाभयहेतुत्वं चाह्यनसपरिमितिरुतपरिच्छेदरहिता-नवधिकातिशयानन्दयोग इत्यादयोऽकर्मसम्पाद्यास्वाभाविका धर्मा जीवस्य न संभवन्ति,

### धृतप्रकाशिका

कर्मशब्दाभिग्राहम् । अतः प्रायश्चित्तादिभिर्विनैव कर्मफलश्लेष इत्यपहतपाप्मशब्दस्यो हानिघातुश्च हानिपरः न प्रयोज्यः । ‘नैनंसेतुम्’ इत्यत्रापि कृतानामेव कर्मणां फलजननशक्तिमत्त्ववेपेण प्राप्तयमात्र उच्यते । अतो निरुपाधि-कमपहतपाप्मत्व नाम कर्मवश्यतागन्धरहितं न च परमात्मनि फलजननासमर्थस्य त कृतकर्मणस्तु प्रति न पाप्मत्वमिति श्रुतिवाक्यस्वरानन्दशब्दाभ्यामुक्त्य वमिति वाच्यम् ; अनन्तरयातिनिर्णीयं जरयामास तद्विषयम् । जपन्विषधरोहरः इत्यादिषु निगीर्णजीर्णविषानीश्वरादीन् प्रति विषयशब्दस्येव मुख्यत्वोपपत्तेः क्षेत्रेषु प्रत्ययायकरपापसजातीयानां कर्मणा स्वलीलाकृतानामपि फलजननशक्तिप्रतिभटवनाम कश्चिदयमीश्वरस्य स्वभावविशेषः परिशुद्धा मस्वरूपविषयस्यापहतपाप्म-शब्दस्यायमेवार्थः स तु तस्य निरोधानार्हः प्रतिवन्धीनवृत्तावाधिमवति, ईश्वरस्य तु तिरोधानानर्हो नित्याविर्भूत इति विशेषः । अतोऽपहतपाप्मत्वविषयश्रुतीनां यथोक्त एवार्थ इति तेन धर्मेणान्तरादित्येऽवास्तवस्य भगवतो जीववैतथ्य-विद्धिः । गुणान्तरागामपि जीवेष्वसम्भव दर्शयति तत्पूर्वकं स्वरूपोपाधिकमिति । अपहतपाप्मत्वपूर्वकत्वास्वरूपोपा-धिकं स्वाभाविकमित्यर्थः ।

एव प्रसिद्धाप्रसिद्धयोरर्थयोरेकानिहितसम्भवं प्रसिद्धवाचिनेकेनैव शब्देनोपादानार्हं वमिह्यु पादितम् । आदित्या-न्तर्गतिनोऽपहतपाप्मत्वगुणयोगेनानन्दवल्लीटहरविद्या सुबालोपनिष प्रतिपाद्यस्येह प्रत्यभिज्ञानात् । तद्वत्प्रोक्ता गुणाऽन्व-रौ हि एवगुरुत्वस्य धर्मा इत्यभिप्रायेण सत्यसङ्कल्पत्वादिकं सर्वभूतान्तरात्मत्वचे युक्तम् । अपहतपाप्मत्वपूर्वकसत्यस-

### गूढार्थसंग्रहः.

प्रपत्तीत्यानुगुण्येन परालोकदेवकामेशत्व तत्र प्रतिपादितम् । अश्विविद्यायास्तु अर्वाग्लोकमनुष्यकामेशितृ व मनुष्याणामर्वालोके सध्याननुसृत्योक्तम् । देवकामेशत्वं देवस्य न समप्रतीत्युपचितपुण्यविशेषस्यापि तदसम्भवः । परालोकदेव-कामेशत्वप्रतिपादनेन ततो मूनार्वाग्लोकमनुष्यकामेशत्व स्वत एव सिद्ध्यतीत्यभिप्रायः, इदं च स्वरूपोपाधिकमेव । ‘न सृष्टं न दुष्टं न द्रष्टव्यं’ इत्युक्त्या ‘सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते’ इति छान्दोग्यप्रोक्त्या ‘सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः’ इत्यत्र पाप्मशब्दस्य पुण्यपापोभयपरत्वं विवक्षितमिति सर्वलोककामेशत्वस्य पुण्यविशेषनिमित्तत्वं न समप्रतीति भावः । अत्र ‘सर्वेभ्यः पा-प्मभ्य उदितः इति तेषांचेष्टे देवकामानां च’ इत्युक्त्या ‘अपहतपाप्मा सत्यकामः’ इति पदद्वयघटितछान्दोग्योक्तश्रुत्यर्थोऽपि निवक्षितः अनेनेतेरपि धर्मा आकृष्टा भवन्तीत्यभिप्रेत्य सत्यसङ्कल्पत्वादिकमित्याद्युक्तिः । इममेवार्थं व्यनक्ति—अकर्मसम्पाद्यास्वाभाविका धर्मा इति । कर्मसम्पाद्याभावस्यात्र प्रतिपादनेन कर्माभूतकतिपयधर्मोक्त्या इतरेऽपि धर्मासिद्ध्यन्तीत्यभिप्रायः । ‘तद्धर्मोपदेशात्’ इत्यत्र तच्छब्द, उपदेशशब्दप्रयोगेण धर्माणां स्वाभाविकं व सिद्ध्यतीत्याशयः

## श्रीभाष्यम्

यत्तु शरीरसम्बन्धात् जीवातिरिक्त इत्युक्तम्; तदसत्, नहि सशरीरत्वं कर्मवश्यतां साधयति, सत्यसङ्कल्पस्येच्छयाऽपि शरीरसम्बन्धसम्भवात् । अथोच्येत-शरीरं नाम त्रिगुणात्मकप्रकृतिपरिणामरूपभूतसङ्घातः ; तत्सम्बन्धश्चापहतपाप्मनस्सत्यसङ्कल्पस्य पुरुषस्येच्छया न सम्भवति, अपुरूपार्थत्वात् । कर्मवश्यस्य तु स्वस्वरूपानभिज्ञस्य कर्मानुगुणफलोपभोगायानिच्छतोऽपि तत्सम्बन्धोऽवर्जनीयः इति । स्यादेवम् ; यदि गुणत्रयमयः प्राकृतोऽस्य देहस्यात् ; स तु स्वाभिमतस्स्यानुरूपोऽप्राकृत एवेति सर्वमुपपन्नम् ॥

## श्रुतप्रकाशिका

ङ्कल्पवादौ श्रुतिं दर्शयति एष आत्मेति । तत्पूर्वकसर्वभूतान्तरात्मने श्रुतिमुदाहरति एष सर्वभूतान्तरात्मेति । तत्तदन्तरत्वेनात्मत्वव्याख्यानपरस्यानन्दबलीवाक्यस्य नारायणपरत्वज्ञापनार्थं च एष सर्वभूतान्तरात्मा-इति वाच्योपादानम् । केपुचिद्वाक्येष्वपहतपाप्मवपूर्वकगुणविधानात् सर्वशाखाप्रत्यय-व्यायेन वाक्यान्तरेष्वपि तत्पूर्वकत्वं त्रिविधतमित्यभिप्रायेणाह-सोऽकामयतेति । जगत्कारणत्वमेव वदान्तवेद्यस्य ब्रह्मणोऽक्षणे कारणचेत्सत्यसङ्कल्पस्य सत्यसङ्कल्पवचेदपहतपाप्म-तत्पूर्वकं तच्च नारायणप्रत्यभिज्ञापकं च सुबालोपनिषदैकार्थ्यादिभिर्भावः ॥

याद्वानसेति परिच्छेदकासिद्धिमाह पूर्वपक्षमनुवदति यच्चिति । परिहरति तदसदिति । शास्त्रिकप्रमाणे षष्ठ्युनि लोकादृष्टव्याप्तिमूखस्तर्को न कर्मवश्यत्वसाधक इत्यभिप्रायेणाह-नहीति । कल्पकस्या यथासिद्धिमाह-सत्यसङ्कल्पस्येति । सत्यसङ्कल्पस्य कर्मनैरेक्ष्यमपहतपाप्मवपूर्वकसत्यसङ्कल्पवशु-युपपादनेन समर्थितम् । अतएव 'स एष येचामुपमात्य राश्रो लोकास्तेषांचेष्टे देवकामाना च' 'स एष येचैतस्माद्वर्वाश्रो लोकास्तेषांचेष्टे मनुष्यकामानां च' इत्यादित्याक्षिपुरुषविषयवाक्यद्वयेन प्रतिपन्नमैश्वर्यमनवच्छिन्न तदवच्छेदे शङ्क्यमानेऽपि सोऽवच्छेदोऽप्यै-उतयाऽन्यथासिद्ध इति फलितत्वात् कण्ठोक्तम् । विग्रहविषयाया इच्छाया असंभय शङ्कते अथोच्येतेति । हेयत्वसूचकस्त्रिगुणात्मकशब्द- 'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपपन्नमक चलं च रज । गुरुपरणकमेव तम' इत्युक्ते इच्छाया अभावेऽपि कर्मपाख्ययात् जीवस्य तत्सम्बन्धसम्भयमभिप्रेत्याह-कर्ममिति । कर्मापरणहतु स्वस्वरूपानभिज्ञस्येति विशेषणम् । परिहरति स्यादिति । स्वाभिमतैर्युक्तेऽभिमत प्रयोगेऽपि न सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह-अनुरूपेति । कुत इत्यत्राह-अप्राकृत इति । परमात्मस्वरूपहि निरतिशयानन्दरूप सर्वज्ञ वाच्यञ्च आनालेवति स्वस्वरूपाद यत्र भोग्यत्वञ्च न न वक्तुं युक्तम्, अतस्सर्वज्ञस्य तस्य विग्रहे स्पृहणीये स्वरूपस्य भोग्यतापैक्यस्य स्यादित्यत्राह-सर्वमुपपन्नमिति । कथमुपपन्नमित्यत्राह-

## गूढार्थसंग्रह

इच्छयाऽपि शरीरसम्बन्धसम्भवादिति । उक्तं च शङ्करभाष्येऽपि 'स्या परमेश्वरस्यापीच्छा-शब्दो मायामय रूप साधकानुग्रहार्थम्' इति अत्र 'मत्तानुग्रहविग्रह(ब्र. प्र. ख. ७. ८८) इति यच्चनम्' विवक्षितम् । सर्वकारण वास्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्ट परमेश्वर उपाख्यान निर्दिश्यते 'सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस' इत्यादिना । तथा हिरण्यकेश्युवादिनिर्देशाऽपि भविष्यति इति च । 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' इति गार्गीशङ्करभाष्ये 'दिविभवानि दिव्यानि न्यप्राकृतानि' इत्युक्तम् । उपासनमपरब्रह्माविषयक अपरमुक्तिफलक साविशेषस्य मिथ्यात्वेन मिथ्यार्थविषयकमित्यर्थं लघुसिद्धान्त एव पर्यालोचनः । सविशेषस्यापि कौटस्थ्यं सम्भवति, निर्विशेषस्याप्राभाणिकत्वमिति च महासिद्धान्ते निरूप-

## श्रीभाष्यम्

एतदुक्तं भवति—परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपतया

गूढाधसद्ब्रह्मः

वेत्तम् । परब्रह्मणः मगुण वसिद्धौ ततएव विग्रहवत्त्वमपि सिद्धयति । 'इच्छावशात्' इति (श) भाष्योक्तेः 'इच्छा  
गृहीताभिमतोददहः' इति विष्णुपुराणोक्तार्थो विवक्षितः । 'साधकानुग्रहार्थम्' इत्युक्त्या 'ससाधिताशेषजगद्वितो-  
ऽधो' इत्युक्तार्थः अङ्गीकृतप्राय एव 'तेजोब्रह्मैश्वर्यं' इत्युक्त्याऽगुण्य च 'सच्च भगवान् शानैश्वर्यशक्तिबलमैश्वर्यतेजोभिः'  
(श) इति गीताभाष्योक्तमेव शङ्कराचार्यैरङ्गीकृतमेव । 'मायाहेषा' इत्यतः पूर्वं 'सत्त्वं रजस्तमश्चैव नगुणास्तं भजन्ति वै । द्विर्द्वा-  
दशैश्वर्यस्तत्त्वैः खयातोऽयं पञ्चविंशकः । यं प्रविश्य भजन्तीह मुक्ताः द्विजसत्तमाः । सवासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा  
धनातनः ॥' इत्युपक्रम्य वासुदेवस्य व्याप्तिसमष्टिप्रलयकारणत्वं सर्वभूतामभूतोहि वासुदेवो महाबलः । पृथिवीवायुरा-  
काशमात्रो ज्योतिश्च पञ्चमम् । तदा विनाति योब्रह्मन् अदृश्यो लघुविग्रहः । इत्यादी सङ्कर्षणप्रयुक्तानिरुद्धाना जीवमनो-  
ब्रह्मरूपदसामानाधिकरण्यमुत्प्रेन तत्रय निरूप्य 'मायाहेषा मया सृष्टा' इत्यादिश्लोकः पठितः अनन्तर 'मयैतत्कथितं  
अभ्यक् तव मूर्तिचतुष्टयम् । अहं सर्वत्रगो ब्रह्मन् भूतग्रामशरीरक । भूतग्रामशरीरेषु नश्य सु ननशाम्यहम्' इत्याद्युक्तम्  
सर्वभूतामभूतः सः प्रद्युम्नः अनिरुद्धः सोऽहङ्कारः इत्यादौ पूर्वं प्राकृतपदार्थाभेदो वासुदेवस्य प्रतीयत इति भ्रम  
व्युदस्यति—मायेति यत् जगद्रूपं मां पश्यसि एषा जगद्रूपा मया सृष्टा माया मूलप्रकृतिरित्यर्थः । मायाशब्देन जगतो न  
प्रेष्यान्वसिद्धिरिति अन्यत्र स्पष्टम् प्राकृतजगन्नियामकत्वमात्रमेव नतु प्राकृतवस्त्वभेदः अतः स्वस्य सत्त्वरजस्तमो गुणवत्त्वं  
न कदापि स्याह—सर्वभूतगुणैर्युक्तमिति । एतेन पूर्वोक्तनिर्गुणत्वं प्राकृतगुणशूयमेव नतु गुणसामान्यशून्यत्वमिति सिद्धम्  
इति अयमर्थः हयशिरोरत्नभूषणदीधिति उपपादितः । प्रकरणपर्यालोचनायामयमेवार्थो युक्तः ॥

'भारूप' इत्यत्र विग्रहोपाधिकरूपवत्त्वमेव विवक्षितम् । अन्यथा साधकानुग्रहासम्भवात् अतएव (न्या.र) उपा-  
सकानुग्रहार्थपारिगृहीतविग्रहोपाधिकदीप्तिमत्त्वं वा' इति भारूप उपाभिहितम् । तन्निरुद्धमेव सर्वगन्धत्वं सर्वरसत्वं च ।  
साधकानुग्रहार्थमेते गुणा विवक्षिता इति 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च' इति सूत्रे व्यक्तम् । सूर्यस्य ऋग्यजुरसामसम्बन्धः  
'वेदैर्यजुर्वाग्निमिरेतिसूर्यः' (काठक) 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपात तत्र ता भ्रजः' (तै.उ) इत्यादौ प्रसिद्धः । बहुच  
जुसामगैः सन्ध्यावन्दनादौ अस्य रूपस्योपास्यत्वं सर्वसमम् । तेन साधकानुग्रहार्थं रूपगुणवत्त्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्यापि वेद  
प्राप्त्यस्य प्रामाण्यमेव स्यात् अतः गुणानां विवक्षा यत् रूपस्यापि विवक्षाऽवश्यमेवेति व्या । शाण्डिल्यविद्याया जीवब्रह्मभेदो विव  
क्षेत इति सूत्रकाराभिप्रायः परैरपि निरूपितः शाण्डिल्यविद्यायाः साधिशेषविषयवदन्तरादित्यादिद्याया अपीति परे वदन्ति ।  
स्यां विद्याया 'सर्वसत्त्विदब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति प्रथमवाक्यम् इदञ्च सामानाधिकरण्यवाक्यम् । अत्र जन्म  
स्थितिलपैस्सर्वस्य ब्रह्मभेदः प्रतिपादितः तेनोपादानोपादेयभावनिरुद्धमेव सामानाधिकरण्यनिर्देश इति स्थापितमवति ।  
अन्तर्यामिभूतसत्ताऽनुवृत्तिलक्षणस्यैतेरपि सामानाधिकरण्यनियामकत्वम् । परसम्मतमहावाक्येष्वपि पूर्वमुपादानोपादेयभा-  
स्य प्रतिपादनेन तन्निरुद्धमेव सामानाधिकरण्यमिति पूर्वमेव निरूपि म । एव च निर्विशेषस्याप्रामाणिक्यत्वा निर्वि-  
शेषविशेष शशशृङ्गबुल्या । अतस्सर्वाऽपि विद्या सविशेषविशेषैव , अतश्च गुणानां विवक्षासत्त्वे विग्रहस्य विवक्षा अका-  
नापि स्वीकर्तव्या । 'भारूप' इत्यत्र दैव्यमङ्गलविग्रहः तद्वदेव 'हिरण्यमयः पुरुषो' 'हिरण्यमयः शुभ्रः' इत्यादावप्यप्राकृत  
वेग्रहो विवक्षित इति श्रुतिसूत्रसिद्धान्तः । अमुमेव सिद्धान्तं व्यनक्ति—परस्यैव ब्रह्मण इत्यादिना ॥



## श्रीभाष्यम्

सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाश्च सन्ति । तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्य, सौन्दर्य, सांगम्य सोकुमार्यन्नावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति । तदेवोपासका-

## श्रुतप्रकाशिका

एतदुक्तमिति । स्वतस्सर्वशस्य सर्वशक्तेर्ज्ञानार्थं प्रवृत्त्यर्थं च करणानपेक्षत्वात् न देहापेक्षा, रूपादिमत्त्वे च प्रकृतं स्यात् नित्यपेक्षानित्यब्रह्मतारासम्भवः तिर्यगादिरूपपरिग्रहे 'याचिकैः पक्षिमृगताम्' इत्यादिप्रकारेण तन्मूलकमसाध-  
न्यस्यादिति शङ्कापरिहारार्थंचैतदुक्तनित्यारम्भः यथा परस्य ब्रह्मणो धर्मिस्वरूप स्वाभाविका गुणाश्च प्रमाणिकवादङ्गी-  
क्रियन्ते, तथा विलक्षण शरीरमभ्युपगन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह-परस्यैवेति । स्वाभिमतैति । करणानपेक्षानाश्रयस्यापि  
परस्य भोगार्थो विग्रहः निरतिशयानन्दस्यापि तस्य प्रीतिविशेषापेक्षा घटते प्रभूतानन्दानामप्यानन्दा-तरापेक्षादर्शनादिति  
भावः । एकरूपेति । हेयप्रीतिमयत्वमङ्गलाकारत्वाद्याकारैकैकरूप्यम् । शरीरत्वादस्मदादिशरीरवद्दुःखवहमित्यादिरुक्ता-  
गोचरत्वमभिप्रायत ह-अचिन्त्येति । अचिन्त्यत्वे हेतुमाह-दिव्येति । अनेन दिव्यशब्देन विलक्षणद्रव्यत्वमुक्तम्-  
रूपादिमत्त्वात्प्रकृतत्वं धर्मिग्राहकमानवाधितमिति भावः । द्वितीयेन दिव्यशब्देन विलक्षणसन्निवेशव यथा-तद्विश्व-  
रूपवैरूप्यं रूपमन्यद्वरेर्महत् । इति । अद्भुतत्वम् अतिक्षममभिनवत्वं नित्येति । सावयवत्वादनित्यमित्यादनुमानं  
धर्मिग्राहकप्रमाणवाधितमिति भावः । कल्याणाकरत्वेऽपि हेयमिश्रत्वशङ्काऽनुदासार्थो निरवद्यशब्दः निरतिशया वक्ष्यमाणस-  
र्वगुणाः । आदेशशब्देन पराक्रमादयो विवाशिताः, नित्यत्वे कथमनित्यब्रह्मतारासम्भवः, कथं च निवृत्तदेवादिसाजात्य-  
मित्यत्राह-तदेवेति । तदेव अप्रच्युतसन्निवेशमेवेत्यर्थः । सस्यानार्थोच्यत्वेऽपि देवाद्यनेकदेहोपादकं च चतुर्मुखदेहे दृष्ट

## गूढार्थसंग्रहः

तदेव उपासकानुग्रहेणेति । 'साधकानुग्रह'मिति पूर्वमुदाहृतशङ्करभाष्यं व्यक्तम् । तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसं-  
स्थानमिति । अत्र 'जन्म कर्म च मे दिव्य एव योवेत्तितत्त्वतः-मामेति सोऽजुन(गी.४.९)ब्रह्मो ज्ञानतपसा पूता मद्भाव-  
मागताः (४.१०) ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्मानुवर्तन्ते मनुष्या पापं सर्वशः' (४.११)  
इति गीता 'अग्निर्गुरादित्यः-इन्द्रो विष्णुरित्येकेऽन्यमभिधाय-तेकेऽयं श्रेय करमो यस्मैऽस्स क ब्रूहीति शार्ङ्गं वा  
चेति, (मैत्रा.४.५) ब्रह्मणो वाचैता अग्रयास्तनवः परस्याभृतस्याशरीरस्य तस्यैव तं के प्रतिमोदतीह सोऽस्मानुत्त इत्येवं  
ग्राह' (४.६) ब्रह्म सत्त्विदवाव सर्वम् । याथा अस्याग्रयास्तनवः ता अभिध्यायेदर्चयेदिति हनुयाद्य अतस्ताभिस्तदैव उप-  
र्युपरि लोकेषु चरति अथ कृन्धस्य एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्येति । अत्र कृन्धस्येति पुरुषस्य एकत्वमेति इत्युक्तं  
प्रच्छन्नकाले सर्वशरीराणां नाशः प्रतीयत इति ताव पर्यन्तस्यायित्वमत्र स्पष्टम् । तत्र दिव्याय विचारितमिति नैव निश्चितं  
शक्यम् । कृन्धस्योऽपि न परममतिनिर्विशेषज्ञाननिवन्धनः तथा नित्या कामावात् । सहारकालिक एव कृन्धस्यः 'दि-  
व्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुक्तम् । सत्यं पूषणराष्ट्रं सत्यधर्माय विष्णवे (६.१७) योऽसावाहित्ये पुरुषे सोऽसावहमिति  
(४.१.) एतत् सत्यधर्मः नमसोऽन्यैर्गन्तव्यं तेजसोऽशमात्रमेतत् 'असिमेव यजमानः संपद्य इयं रीयन्ते एयावेब्रमेकता  
अवहि 'सर्वे कामासमाहिता' इत्यत्रोदाहरन्ति अश्वधाम इव अश्वतोतिरितः सापुरत्यसावन्तर्गमुयागाम यदैववित्  
सवि स सावि य इति चैकधामेनस्यात तदा मकथ' (६.४३, ४८) इत्यत्राप्येकं च न परमात्मम् । एवमत्रत्योर्वि

## श्रीभाष्यम्

नुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसंस्थानं करोत्यपारकारुण्यसौशील्यवात्मन्यौदार्यजलनिधिः

## श्रुतप्रकाशिका

परनामविग्रहो युज्यत इति 'नित्यालिङ्गयास्वभावसंमिद्धिरिन्द्रियाकाराद्गुणप्रत्यङ्गव्यञ्जनवती' 'हृज्जहारामन केशौ सितृष्णौ' 'अंशोऽनायतीर्योर्व्याम्' 'समस्तदत्तिरुपाणि तत्करोति जनेश्वर' 'वस्तेवस्ते जायमानास्मृत्या' 'सोऽशो विष्णुमयं स्थानम्' इत्याद्यत्रानुसन्धेयम् । उपासकानुग्रहोपयुक्ता गुणा उच्यन्ते अपारेति । कारुण्यं—परदुःखासहिष्णुत्वम् । सौशील्यं—महतो मन्दैरसह नीरम्भर श्लेषस्वभावम् । वात्सल्यं देव न दहेदुःखैः—यथा मातुःपुत्रे औदार्यं, दातृप्रतिग्रहीतृविभागबुद्धिरहितं दातृत्वम् । एते सौतम्योपयुक्ता गुणाः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

नीरम्भसंश्लेषएव । रूपविषयेऽपि तथा संश्लेषस्तम्भवति एतद्रूपस्य वासुदेवरूपांशमात्रवशेव । पुरुषशब्दस्य वासुदेवपरत्वात् । अत्र विष्णोः इतराविशेषणक्षयः प्रतीयते । अथापि 'ओमित्येतदश्वर-विष्णुसंज्ञितम्' गै. ६. २३ इतिप्रागुक्तं तदुपनिषच्छ्रुतिवाक्ये अच्युतशब्दे 'च्युतनोपत्तियुक्तेषु ब्रह्मेन्द्रवरुणादिषु । यस्माच्च च्यवसे स्थानात् तस्मात्सङ्कीर्त्यतेऽच्युतः' किंच ब्रह्मा च रुद्रश्च—प्रलयं नार्जुनानन्ति' (मा. मो. ३. ५९-२६१) इत्यत्राच्युतिराहित्यस्य प्रतिपादनेन ध्रुवत्वप्रतिपादनेन च स्वेच्छामूलकशरीरसंबन्धविगमएव विष्णोः क्षयो विवक्षितः । विष्णुगवासुदेवयोः अलण्डप्रणवार्ययारैवयम् (ह. शि. र. दीर्घतौ) व्यक्तम् ॥

अपारकारुण्येत्यादिना । निग्रहस्य मिथ्यात्व न विवक्षितमिति सूचितम् । एतेन प्रागुक्तगुणेषु उपाश्रयणस्यात्यन्तानुगुणाः कारुण्यादय इति बोधितम् । 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपैर्यतः तदेतद्ब्रह्म—अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' 'येन इत्यत्र सूर्यस्तपति—सर्वानुभुमात्मानं संपराये' इत्यत्र यस्सर्वानुभवउक्तः एतेषां गुणानां सत्त्वएव स निर्वहति नन्दन्यथा । 'सर्वानुग्राहकत्वेने'ति प्रागुदाहृतब्रह्मविन्दूनिपद्वाक्ये अनार्यामिरूपस्य उपासकानुग्रहार्थत्व स्पष्टम् । 'मायाभिः' मायाशब्दस्य न मिथ्याबोधयत्वमिति जिज्ञासाऽधिकरणे ८७५. पु. स्पष्टम् । अत्र कारुण्यवासत्यस्वरूपनिष्कर्षः भावप्रकाशे (३. सं) द्रष्टव्यः । वात्सल्यं दोषानादरहेतुः स्नेह इत्येव व्यासार्थाणां सिद्धांतः । ब्रह्म दोषेषु गुणवबुद्धिः इति व्यास योऽस्य गुणवत्त्वगुणो व्यासजनन्तुषु । रजो सत्त्वादिसन्ध्यादौ शौर्यादौ भीमइन्द्रिये ॥ रूपादावप्रधाने च दोषान्यस्मिन्विशेषणे' इति (अमर. शत्रि. ८५) अमरमुघोदाहृतहैमवचनेन दोषान्यवरूप विवक्षितम् । दोषत्वचालङ्कारिकैः उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकावमिति परिष्करणेन दोषान्यत्व उद्देश्यप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वम् । सन्ध्याविशेषान्वितेषु प्रीतिः स्नेहः यस्य विपाका. अस्थानमयशङ्खित्वं दोषानवमासः दोषेषु गुणवबुद्धिरित्यादय इति जिज्ञासाऽधिकरणेन व्यासार्थेदत्तम् । असिन्धुकरणे रुदसाधारणार्थ एव निरूपितः, अत्र प्रीतिकारितार्थत्रय सर्वसाधारणम् । व्यासार्थः भगवद्विषये प्रयुक्तवा सन्ध्याशब्दस्य ब्रह्म दोषेषु गुणवत्त्वबुद्धिरित्येवोक्तम् नान्यर्थद्वयम् । अतः अर्थद्वय न भगवद्विषयक दोषेषु गुणवत्त्वबुद्धित्वेव भगवद्विषयभवति । अत्रप्रीतिः स्नेहइति दोषेषु गुणवत्त्वबुद्धिहेतुः य. स्नेहउक्तः सएव व सल्लशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतार्थः 'वरांसाभ्यां वारंस्ते' ५. ३. ९८ इतिप्रात्' इति दोषानदरहेतुस्नेह इत्यनेन व्यासार्थैरेव निर्णीतंभवति । अनेन स्नेहेन दोषे भगवत्पराप्रतिबन्धकत्वं नास्ति 'जीवानुप्रवेशेषु शोकादयो जीवांशगताः । साक्षादवतारेषु अभिनयमात्रम्' इत्युक्त्या 'व्यमनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः' 'संजातवाष्पः परवीरहता' (रामायणम्) इत्यादेरभिनयमात्रत्वमुक्तम् । 'दयाहि स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखाहृण्णा । अत्र अनुकूलेतरजनः परइतिविवक्षितः अर्थादिकामनया परदुःखं शिशमयिषोः तद्दुःखानुवृत्तिरिष्टा स्यादिति'

## श्रीभाष्यम्

निरस्तनिखिलहेयगन्धोऽपहतपाप्मा परमात्मा परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः इति ॥

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ (तै.भृ.१) ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ (छां.६.२.१) ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्’ (पेतरैय १.१.१) ‘एकोहवै नारायण आसीन्न-  
ब्रह्मा नेशानः’ (महोप.१.अ.१) इत्यादिषु निखिलजगदेककारणतयाऽवगतस्य परस्य ब्रह्मणः  
‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै.आन.१) ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ (वृ.५.९, २८) इत्यादिष्वेवंभूतं  
स्वरूपमित्यवगम्यते । ‘निर्गुणम्’ (आत्मोप.) ‘निरञ्जनम्’ (श्वेता, ६.१९) ‘अपहतपाप्मा  
विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्त्यकामस्त्यसङ्कल्पः’ (छां.८.५.१) न  
तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव धूयते  
स्वाभाविकी ज्ञानचलक्रिया च’ (श्वे.६.८) ‘तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं

## श्रुतप्रकाशिका

अथ परंत्वमुच्यते निरस्तेति । परत्वसौलभ्ये अप्युपास्यत्वोपयोगिनी । मनुष्यादिसाजात्येऽपि त प्रयुक्त शोषमोहा-  
द्यस्पृष्टत्वमभिप्रयज्ञाह—निरस्तेति । जीवानुप्रवेशेषु शोकादयो जीवाश्रयताः साक्ष दवतोरध्वभिनयमात्रम् । निखिलशब्देन  
चिदचिद्गता दोषा विवक्षिता । शोकाद्यस्पर्शहेतुमाह—अपहतेति । अर्वाचीनात्मव्यावृत्त्यर्थः परमा मशब्दः प्रधानव्यावृ-  
त्त्यर्थस्त समानाधिकृतः परब्रह्मशब्दः पुरुषोत्तमशब्दो वैलक्षण्यपरः । नारायणशब्दो घटकः । यथा परमा मपरब्रह्मशब्दौ  
सामान्यशब्दावेकाग्रिण्यौ यथा पुरुषोत्तमनारायणशब्दौ विशेषशब्दावेकविषयौ तथा सामान्यविशेषशब्दा एकविषया  
इति भावः । अत्र स्वरूपस्य भोग्यत्ववैकल्यशङ्का च परिहृता भवति स्वसन्धिभोग्यत्वं स्वस्य नभोग्यताविरोधि, अपितु  
स्वभोग्यत्वातिशयावह यथा स्वसन्धिगुणगणभोग्यत्वम् नहि स्वरूपसन्धिनामप्यामोदकस्य कर्तुरेव देवामोदकैवत्यम् ।  
अपितु तत्पौष्कल्यमेव तथा स्वसन्धिर्वाद्ब्रह्मभोग्यत्वमपि स्वभोग्यत्वातिशयावहमिति ॥

अथोक्तार्थे प्रमाणाभ्याह—यतो वा इमानित्यादि । जगत्कारणवधर्मिस्वरूपविषयप्रमाणोपन्यासो दृष्टान्तार्थः  
गुणविभागकथनं चादिप्रवादक्षमनार्थं दृष्टान्तार्थं च विद्युत् विद्युद्वर्णात् ‘आदित्यवर्णम्’ ‘रक्तमवर्णम्’ इतिवाक्य  
सरूपार्थस्वीकारस्योचितत्वात् । आदित्यवर्णो विग्रहश्च न प्राकृतः ‘तमस परस्तात्’ इति श्रुतेः अतिसूक्ष्मप्रकृतिर्हितमः

## गूढार्थसंग्रहः

तद्वदुदासाय स्वार्थानपेक्षशब्दः । ‘दयाभूतेषु’ (गी. १६.२) इति गीताभाष्ये सर्वभूतेषु तु सासहिष्णुमिति भगवतोत्तम ।  
सहनं अनिष्टताभावः असहनमनिष्टता ‘अलङ्घ्यन्निराकृञ्’ इति सूत्रविहितेऽणुप्रत्ययस्य ‘आहस्त-छात्त-द्वर्मत साधुका-  
रिषु’ इति सूत्रेत्तदिशा त साधुकारी इत्यर्थः । ३ नित्यत्वसाधुकारित—अनिष्टताकार्यकारितैव । एव च परं तु तानिष्टतप्र-  
योज्यतन्निष्ठमविषया परं तु सासहिष्णुताशब्दार्थः । इतरात्रेऽणुचोर्विवक्षितं चिदमविषयापर्यन्तं नञ्समाख्यादृष्टरहेत्यर्थः इति  
दया तु सासहिष्णुमिति प्रमाणानुसारिणि ‘दया सर्वेषु भूतेषु’ (गी. सू.) ‘मैत्री करुणा’ (यो. सू.) इत्येतद्विवरणमा-  
त्राणि कोक्तयनुसारिण्ये दया तु सासहिष्णुमिति अहिर्बुध्नयसहितानुसारिणः भाष्यकृत् स्ता पर्यमिति व्यासायाण माश्रयः  
अस्मिन्विषये आचार्यपादानां व्यासायाणां कैकएवाश्रयः । काव्यसौशील्यवाच्यत्वात् रामकृष्णायवतास्यो विशेषेण  
प्रकाशितानि—निखिलजगदेककारणतयाऽवगतस्येति ॥

## श्रीभाष्यम्

च द्रैवतम्' (श्वे.६.७) 'सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः' (६.९) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीर । नामानि कृत्वाऽभिघदन् यदास्ते, वेदाहर्षं तंपुर्यमहान्तम् । आदित्यवर्णं तमस परस्तात्' (यजु.आरण ३१०.पुरषसूक्त) 'सर्वे निमेषा जशिरे विद्युत पुरादधि' (तै.नाराणीये.१.अनु ८) इत्यादिषु परस्य ग्रहणं प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यतासम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपं च यदन्ति । तदिदं स्वाभाविकमेव रूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रतिपत्त्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादि संस्थानं करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान् । तदिदमाह श्रुतिः—'अजायमानो

## श्रुतप्रकाशिका

अस्तकार्यवैलक्षण्यसिद्धिः अन्यथा स्वरूपस्य तमसोऽयत्नकथनं स्यात् तदानीं परस्तादित्यस्तातिप्रत्ययस्यादित्यवर्णोत्पत्तिश्च वैयर्थ्ये स्यात् । अतो विग्रहविशिष्टस्यैव तमस्पर्शाभावोक्तिरिति विग्रहवैलक्षण्यसिद्धिः । प्राकृतहेयेति । क्वचिदतोहि क्वचिन्निषेधः अतो निषेध्यहेयगुणानां प्रकृतित स्मृतिप्रतीतिषु विद्यमानत्वं प्रकृत्यादिना शब्देन दर्शितम् । विग्रहविशेषविधानदर्शनाद्विग्रहसामान्यनिषेधस्तद्व्यतिरिक्तविषयः । 'न हिंस्यात्' इतिवत् 'निर्गुणम्' इतिवच्च, विशेषनिषेधदर्शनाद्देहसामान्यनिषेधो विशेषे पर्यवस्यति । 'पशुना यजेत' इति पशुशब्दवन्निर्गुणशब्दवच्चेति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तं मयि वक्ष्यमाणवचनस्यैतदर्थविषयताशपनार्थमनुवदन् पूर्वोक्तसंस्थानशब्दं विवृणोति तदिदमिति । परमकारुणिकइति दवादिजातं न कर्मनिबन्धनम् । उपासकानुग्रहार्थं वादित्यर्थः ॥

## गूढार्थसङ्ग्रह

एतेन सृष्टिदशाया मूलभूता या दया सा अन्तर्याम्यवतारमात्रेण प्रकाशयितुमशक्ता विभवावतारदेव स्वयंप्रकाशितेति सूचितम् । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यत्र न शरीरसम्बन्धसामान्यनिषेधः । 'आदित्यवर्णं' 'विद्युतः पुर्यात्' इत्याद्यनुरोधात् 'निर्गुणं' इत्यत्र न गुणसामान्यनिषेधः, 'पराऽस्य शक्तिः' इत्यादिना गुणतद्विशेषप्रतिपदनत् । 'सर्वाणि रूपाणि' इतिसर्वरूपनामकारकत्वेन श्रुतस्य पुरुषस्य पुरुषइति नाम आदित्यवर्णं वस्यचप्रतिपादनेन नामरूपसम्बन्धो वर्तनइति विवाञ्छितम् तदिदं स्वाभाविकमेव रूपमिति । 'स्वाभाविकी शानबलक्रियाच' इत्यत्र गुणेषु स्वाभाविकत्वकथनेन रूपस्यापि स्वाभाविकत्वं सिद्धयति ॥

ननु 'आदित्यवर्णम् भारूप' इत्याकारवत्त्वमा मनः श्रूयते । न । तमोरूपव्यतिरेकार्थत्वात् तद्वाक्यानां । द्रव्यगुणाग्राकारप्रतिषेधे आ मनः तमोरूपं वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थानि 'आदित्यवर्णम्' इत्यादीनि वाक्यानि । 'अरूपम्' इति च विशेषत रूपप्रतिषेधात् अविषयत्वाच्च । 'न स इदं निश्चिती रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम्' 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादेः (श.भा) इति गीताभाष्ये (अ.१८.श्लो.५०) परोक्तमनादरणीयम् । शुद्धाशुद्धभेदेन मनोद्वैविध्यस्य उपनिषत्सु तदुपबृंहणेषु च व्यक्तमुक्तया शुद्धमनसा रूपदर्शनसम्भवात् । अन्यथा 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्' इत्यादेः 'नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्यो न चक्षुषा' 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा शानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वं तत्तत्तु पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' (मु. ) इत्यादेश्च शब्दजन्यसाक्षात्कारस्य शब्दजन्यज्ञानविषयत्वस्य च निर्विशेषे नियमेन निर्विशेषस्य गगनकुसुमतौल्यापत्तेः । 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यत्र स्पर्शादिसहपठित-



## श्रीभाष्यम्

बहुधा विजायते ' (पुरुषसू.) इति । स्मृतिश्च ' अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ' (गी.४.६) इति । साधवोऽहोपासकाः तत्परित्राणमेवोद्देश्यम्, आनुपङ्गिकस्तु दुष्कृतां विनाशः सङ्कल्पमात्रेणापि तदुपपत्तेः । ' प्रकृतिं स्वाम् ' इति प्रकृतिः—स्वभावः । ' स्वमेव स्वभावमास्थाय ' न संसारिणां स्वभावमित्यर्थः । आत्ममाययेति स्वसङ्कल्प-रूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः । ' मायावयुनं ज्ञानम् ' (वेदनिघण्टौ.धर्मवर्ग.श्लो.२२) इति ज्ञानपर्यायमपि मायाशब्दं नैघण्टुका अधीयते ।

## श्रुतप्रकाशिका

श्रुतिं दर्शयति तदिदमिति । अजायमान इति सहेतुकसुखाद्यर्थप्राकृतदेहसङ्गतिरूपजन्मनिषेधः बहुधा विजायत इति चेच्छहेतुकजगद्रक्षणार्थं प्राकृतविग्रहाधिष्ठानरूपजन्मनिषेधः । ननु अजायमान इति परमात्मजन्मनिषेधः—बहुधा विजायत इत्यारमार्थजन्मनिषेधस्यात् । न क्लृप्तिमिव्यावर्त्तादिपक्षे प्रयोजनाभावात् प्रपञ्चमिथ्या वक्तव्येनैवैश्वर्यरूपमिथ्यात्वमिहि सिद्धम् । किं विशेषतोऽभिधानेन विहितस्य निषेधायोगाच्चायुक्तं मानांतरगोचरं जन्माभिधाय तदेव कथं सिद्धयति । स्वरूपस्याजस्रं शरीरद्वारा बहुमवन, चोद्यतइति चेन्न शरीरनित्यत्वेदेहद्वारजन्मनोः जीवानामपि समानतया ' तस्य धीगाः परिजानन्ति योनिम् ' इति अन्तरवाक्यप्रतिपन्नवैलक्षण्यानुपपत्तेः सर्वसाधारणलोकविदितजन्मप्रकारवैजात्ये सत्येव ह्येवं वक्तुं युक्तम् । नहि देवदत्तस्य जन्मधौरेव परिहायत इति वक्तव्यं यशदत्तजन्मनो वैलक्षण्यभावात् स्वरूपेणाजस्रं विचित्रसमस्तजगद्रूपेण बहुमवमुच्यते तद्धि जीवेषु संभवतीति चेन्न ' सर्वाणि रूपाणि विचित्यधीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्त ' इति पूर्वानुवाकेऽभिधाय ' तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति ' इत्यस्मिन्नप्यनुवाके बहुमवनस्योक्तार्थत्वात् । एवमर्थान्तरपरत्वे सत्यानर्थक्यप्रसङ्गात्तत्परिहारायाः श्रुतेः अवतारपरत्वमप्युपगन्तव्यम् । तथाऽस्याऽश्रुतेरवतारविषयत्वेत्येव ' अजोऽपि सन् ' इत्याद्युपदेष्टव्ये सिद्धयेत् अतोऽस्य वाक्यस्य यथोक्त एवार्थः ॥

उपदेष्टव्येणैव दर्शयति—स्मृतिश्चेति । अजोऽपि सन् सम्भवाभीति विधिनिषेधयोरपि यथोक्त एवार्थः, उपासकानुग्रहार्थत्वं कथमत्रावगम्यतइत्यत्राह—साधवइति । आनुपङ्गिकइति । ' विनाशाय च दुष्कृताम् ' इति चशब्दोऽन्वान्वयपर इति भावः, समुच्चयस्तप्रधानयोः अन्वाचयः प्रधानानुपङ्गिकयोः दुष्कृदिनाशस्यानुपङ्गिकत्वमुपपादयति—सङ्कल्पेति । प्रकृतिसंबन्धभ्रमनिवृत्त्यर्थं व्याचष्टे । प्रकृतिं स्वामितीति । स्वभावः निरुपाधिकधर्मः अनेन विग्रहश्च स्वाभाविक इत्युक्तं भवति । अथारमार्थिकत्वभ्रमनिवृत्त्यर्थं व्याचष्टे । आत्ममाययेति । नैघण्टुकाः वेदनिघण्टुकाराः

## मूढार्थसङ्ग्रहः

तथा रूपं पञ्चभूतगुणैव ननु विग्रह इति श्रुत्यम् । अन्यथा शब्दरूपान्यानिषेधे शब्दजन्यज्ञानसामान्यस्यापि निषेधेन परब्रह्मण एवासिद्धिप्रसङ्गात् । ' ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ' इत्यत्रापि रूपसामान्यनिषेधो न विषादितः ' विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ' इति शेषाश्रय एव अनेकरूपत्वप्रतिपादनात् । ' यत्तत् रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ' इति (ई. वा.) कल्याणतमविशेषणे अकल्याणप्राकृतरूपप्रतिषेधस्यैव व्युत्पत्तिः । अतः ' आदित्यवर्णम् ' ' रक्तमवर्णम् ' इत्यत्र शब्द-वाच्यार्थस्य विषयायां न किञ्चिद्व्यतिरेकम् ॥ सन्ध्यायां गायत्रीजपस्य त्रैवर्णिकसामान्यकर्तव्यत्वेन एतदुपानुसंधानेन पञ्च

### श्रीभाष्यम्

‘समस्तादशक्त्यधेता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्वरेर्महत् ॥ समस्त शक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया ॥ जगता-  
मुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा’ (वि.पु.६.७.७०) इति ; महाभारतेचावताररूपस्याप्यप्रा-  
कृतत्वमुच्यते ‘न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः’ (महाभारते.उद्योगपर्वणि) इति ।  
अतः परस्यैव ब्रह्मण एवरूपवत्त्वादयमपि तरयैव धर्मः । अत आदित्यमण्डलादयधिक-  
रण. आदित्यादिजीवव्यतिरिक्त. परमात्मैव ॥

### श्रुतप्रकाशिका

‘मूलभूतप्रयोगश्च’ ‘यावन्त पाण्डित्यो भूमेः सङ्ख्यातादेवमायया’ इति स्वोक्तार्थवैयर्थ्यम् ह-आहचेति । अयमपि  
धर्मः एवरूपमपि जीवादय वसाधकमित्यर्थः । ‘तद्धर्मोपदेशात्’ इति सौत्रधर्मशब्देनैवरूपरूपवत्त्वमपि विवक्षित  
मेति भावः । सूत्रार्थमुपसंहरति अतइति । —ह वन्तरमाह—

### गूढार्थसंग्रहः

धर्मो वैदिकानामनुभवसिद्धम् । तेन विग्रहस्य न मिथ्यात्वमित्याशयेन ‘यस्यस्यान्तरादित्यविद्यावाक्यनिरूपणम् ॥’  
एतेन श.उ.निपझाथे ‘हिरण्यमय इव हिरण्यमयः, नहि सुवर्णविकारत्वं देवस्य सम्भवति ऋक्सामगोष्णत्वापहतपाप्म  
वासम्मोहात् । अतो ह्यतोपम एव हिरण्यमयशब्दः ज्योतिर्मय इत्यर्थ इत्यभिधाय ‘हिरण्यमयः, हिरण्यकेश’ इत्यादिक  
ज्योतिर्मयार्थकर्तृयैव यद्व्याख्यानं तदनुपादेयमिति सिद्ध्यति । हिरण्यमयस्य ह्यतोपमत्वं कामं स्यात् अथापि दिव्यमङ्गल  
विग्रहस्यैव हिरण्यमय इत्यत्र ह्यतोपमत्वेन ग्रहणम् । दृश्यता इति ध्यानानन्तरकालिकदर्शनपरम् । ‘न चक्षुषा गृह्यते’ नापि  
वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धस्वः तत्तत्तु पश्यति निष्कल ध्यायमानः’ मु. इत्यत्र दर्शनस्य  
ध्यानानन्तरकालिकत्वप्रतिपादनात् । ध्यानं च परब्रह्मविषयकमिति जिज्ञासाऽधिकरण एव निरूपितम् । एतेन ‘भारुपः  
सत्यकामः’ इत्यादिशाण्डिल्यविद्यावाक्यमपि परब्रह्मविषयकमेव । शाण्डिल्याविद्यैव ‘सर्वेष्वत्विदब्रह्म’ इत्यभेदमुपनय्य  
गुणविग्रहविशिष्टस्योपास्थत्वप्रतिपादनेन ‘तत्त्वमसि’ ‘बृहन्नमोऽसि’ इति समानाधिकरणवाक्यानां गुणविग्रहवाक्यानां  
च न मितापेक्षकत्वम् अपित्वेकविषयकत्वमेवेति निर्दिशेत् अप्रामाणिकत्वं स्थापयति । अत्र सारं ‘तदेतद्वाक्यकारश्चाह—  
‘हिरण्यमयं पुरुषो दृश्यते’ इति प्राज्ञस्त्वान्तरस्यात् लोककामेशोपदेशात् तथोदयात्पाप्मानम्’ इत्युक्त्वा तद्रूपस्य  
कार्यं व मायामयत्वेनेति विचार्य ‘स्याद्रूपकृतकमनुग्रहार्थं तच्चेतसामिश्रयात्’ इति निरसनीयमतमुपनय्य ‘रूपवा-तीन्द्रिय-  
मन्तःकरणेप्रत्यक्षनिर्देशात्’ इति व्याख्यात च द्रष्टृमिमांसकैः. ‘नया मायामात्रमज्ञैव विश्वसृजो रूपम् । तत्तु न चक्षुषा  
ग्राह्यम् मनसात्वक्क्षुपेण साधनान्तरवता गृह्यते । ‘न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा’ ‘मनसातु विशुद्धेन’ इति श्रुतेः नह-  
रुगाया देवताया रूपमुपदिश्यते ‘यथा भूतवादिहि शास्त्रम्’ यथा ‘माहारजतवासः’ ‘वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।  
आदित्यवर्णम्’ इति प्रकरणान्तरनिर्देशात् इति ‘साक्षिणः’ इति ‘हिरण्यमयः’ इति ‘रूपसामान्याच्च द्रष्टुं शक्यत्’ इति च वाक्यम् ।  
तच्च व्याख्यात तैरेव ‘न मयङ्ग विकारमादाय प्रयुज्यते अनारभ्यत्वादात्मनः’ इत्यादिना वेदार्थसंग्रहेऽप्ययमर्थ उक्तः  
अत्र कृतकशब्दप्रयोगेण तस्य पूर्वपक्षवाक्यत्वं सूच्यते । ‘कृतकः कृन्ति स्वरूप कृत्रिमस्य स्वरूपाच्छादकत्वात्तथात्वम् ।  
कृत्रिम इति उगादिकोशः’ इति शब्दकल्पद्रुमः । कृत्रिमवोक्त्या चक्षुषिन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वेनाविद्यमानं वं प्रतीयते ।

## गूढार्थसंग्रहः

अविद्यमानरूपोपासनस्यापि सफलत्वं 'अनुग्रहार्थं तच्चेतसामैश्वर्यात्' इत्यत्र विवक्षितम् । 'अन्तःकरणप्रत्यक्षनिशात्' इत्युत्तरवाक्येन पूर्ववाक्यस्य चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वेनाविद्यमानरूपपरत्वं सूचितम् । मुण्डकोपनिषदि 'नक्षुपा गृह्यते नापि वाचा नान्यदेवैस्तपसा कर्मणा वा, ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वं, ततस्तु तपस्यति निष्कलं ध्यायमानः' इति भाष्ये व्यक्तः । 'अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम्' इति भाष्ये 'तत्त्वैवद्वाञ्जसाद्वयम्' इति कोशेन परमार्थभूतत्वं स्फुटं मुक्तं भवति । 'मनसा तु विशुद्धेन' इति भाष्योक्त्या मुण्डकोपनिषदुत्तरार्धार्थः प्रकाशितो भवति । सच्च 'अन्तःकरणप्रत्यक्ष निदेशात्' इति वाक्ये व्यक्तः । एवमुत्तरवाक्यार्थे पूर्ववाक्यस्य मिथ्यारूपविषयकपूर्वपक्षपरत्वं स्फुटमिति भगवत आशयः । अत्र 'लोककामोपदेशात्तथोदयात्पाप्मनाम्' इति हेतुद्वयानन्तरं 'रूपवा अतीन्द्रियमि'त्युक्त्या हेतुत्रयमत्र विवक्षितमिति प्रतीयते इत्यभिप्रायेण परस्यैव ब्रह्मण इत्यादि तस्यैव धर्म इत्यन्तं भाष्यम् ॥ अत्र वाक्यक्रमपर्यालोचनाया लोककामेशत्व प्रथमत उपात्तमिति तस्यैव भाष्ये प्रथमत अभिधानं युक्तमिति सर्वपाप्मोदितवस्य प्रथममभिधाने किञ्चिजमिति चेत्—उच्यते । लोककामेशित्वं च आदित्यादिवाक्यद्वये श्रूयमाणम्—एकमेव फलं न तत्र अर्वाकपरावशब्दप्रयोगेण फलभेद इति वाक्यद्वयप्रतिपाद्यैकफलनिरूपणेन एकविद्यात्वोपादानार्थमस्य प्रथमत उपादानम् । अक्षिपुरुषविषये आतिदेशेन ऐक्यासिद्धिः । सर्वपाप्मोदितत्वतु प्रथमत उपात्तं 'उदेति ह वै—य एव वेद' इति तद्वेदनफलस्य अत्रणेन तस्यैव प्राप्त्यम् । उपपूर्वकः 'इण्गौ' इति धातुः तेन सर्वपापापादानकोद्गमनमेवात्र विवक्षितम् । तेन सर्वपापविरहः परस्य ब्रह्मण एव धर्मः तद्वेदितुः सर्वपापविरहप्रतिपादने मुक्तिफलत्वं विद्यायारिषद्भवति इत्यभिप्रेत्य सर्वपाप्मोदितवस्यैव भगवतः प्रथममुपन्यासः । तेन लोककामेशत्व वाक्यद्वये अभिप्रेतं सिद्धयति एकत्र मनुष्यकामेशत्व अन्यत्र देवकामेशत्व प्रतिपाद्यभेदेन वाक्यद्वये प्रतिपादनात् निरङ्कुशैश्वर्यं नान विवक्षितमिति प्रतीतिरस्यात् एतद्भ्रमनिवृत्तिरपि सर्वपाप्मविरहकमेव सिद्धयति । 'न शोको न मुक्तं न दुःकृतं—सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' इति श्रुत्यनुसारेण 'सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः' इत्यत्र पाप्मशब्दस्यापि मुक्तदुष्कृतोभयपरतया पुण्यपापसामान्यविरहस्य परमात्मासाधारणस्य उपाध्यनिर्देशेन स्वाभाविकस्य सिद्ध्या पुण्यपापसम्बन्धनिवृत्तिरनन्तमव साङ्कुशमैश्वर्यं पुण्यपापविरहे स्वाभाविकेति प्रतिपादितस्य लोककामेशत्वस्य निरङ्कुशस्यात्र विवक्षा सिद्धयति ॥

एव श्रुत्युक्तरूपस्य पारमार्थिकत्वं वाक्यभाष्यसिद्धं श्रुतौ पापसम्बन्धसामान्यविरहप्रतिपादनेन सिद्धयति । शरीरसम्बन्धकर्ममूलकः श्रुतिषु प्रतिपन्नः कर्मसम्बन्धभावे स्वेच्छानिवन्धन इति सिद्धयति कर्मसम्बन्धसत्त्वे मिथ्यात्वप्रत्याशा कर्मसम्बन्धभावेन स्वेच्छाकृतत्वे न कदाऽपि मिथ्यात्वं शङ्कितुमपि शक्यम् । तेन पारमार्थिकत्वमपि रूपस्य सिद्धयति । एव च वाक्यतात्पर्यविपर्ययीभूते धर्मत्रये सर्वपापोद्गमनं लोककामेशत्वस्य निरङ्कुशतायाः रूपस्यानित्यत्वापारमार्थिकवध्नमनिवृत्तिमुत्तेन पारमार्थिकत्वस्य च निदानं भवतीति तस्यैव प्रथमतः भाष्ये उपादानमिति बोध्यम् । एतेन 'अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम्' इति द्रमिडभाष्यं सुस्पष्टम् । अत्र 'विश्वसृज' इत्यनेन 'सर्वैल्लिखद् ब्रह्म तज्जलानिति शान्तवयासीत्' इति श्रुत्यनुसारेणाभेदनिर्वाहकत्वमुपादानोपादयभावस्येति कारणवाक्यानामेव प्राचायेन परसम्मतमतहावाक्यानां परसम्मतार्थासाधकत्वेन सुप्रेर्दयामूलकत्वेन च रूपस्यापि परानुग्रहार्थस्य तात्त्विकस्य सिद्धिरिति रूपस्य अङ्गीकृतं पदेन तात्त्विकत्वबोधनयुक्तम् । रूपस्य दयामूलकत्वं 'अपारकारुण्यसौशील्यं वा सत्योदायं जलनिधिः' इत्यनेन भगवता सम्प्रकाशितम् । एतेन 'विश्वसृज' इति पदतात्पर्यमेव भगवता प्रदर्शितं भवति ॥

'सयश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्य' इति वाक्यानुसारेण आनन्दमयाधिकरणशेषभूते अन्तराधिकरणे प्रासाङ्गिके

श्रीभाष्यम्

सू.२२=भेदव्यपदेशाच्चान्यः (१.१.७)

श्रुतप्रकाशिका

सू.२२-भेदव्यपदेशाच्चान्यः (१.१.७)

गूढार्थसङ्ग्रहः

साधकः जीवसामान्यभेदसाधकः ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इति योहेतुरुक्तः तद्वत् जीवाविशेषभेदसाधिकां श्रुतिमभिप्रे-  
 ताह—भेदव्यपदेशाच्चान्यइति ॥

‘सयश्च यम्’ इत्यत्र शाङ्करोपनिषद्भाष्यम्—‘अद्वैतत्वादानन्दानन्दिनोश्चाविभागोऽत्र । तदेतन्मीमांसाफलमुपसं-  
 ह्रियते, ‘सयश्चायं पुरुषे’ इति । गुहाया निहितः परमव्योमस्याक शादिकार्यं सृष्ट्वा अन्नमयान्त तदेवानुप्रविष्टः स य इति  
 निर्दिश्यते कांऽसौ ‘अयंपुरुषे यश्चासावादित्ये’ यः परम आनन्दः श्रोत्रियप्रत्यक्षनिर्दिष्टः यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि  
 सुवार्हाण्युपजीवन्ति, स ‘यश्चासावादित्ये’ इति निर्दिश्यते । स एकः भिन्नप्रदेशस्थघटाकाशाकाशैकत्ववत् । ननु तन्निर्देशे  
 ‘सयश्च यं पुरुषे’ इत्यविशेषतोऽध्यात्म नयुक्तो निर्देशः ‘यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्’ इतितु निर्देशो युक्तः प्रसिद्धत्वात्—  
 न-पराधिकात् परोह्यात्माऽत्राधिकृतः ‘अदृश्ये अनात्म्ये भीषासाद्वातपवते’ ‘सैवानन्दस्य मीमांसा’ इति, नह्यकस्माद  
 प्रकृतो युक्तः निर्देशं परमात्मविज्ञानं च विवक्षितम् । तस्मात्पर एव निर्दिश्यते ‘स एक’ इति । नन्वानन्दस्य मीमांसा  
 प्रसक्ता तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम् । अभिन्नः स्वामाविक आनन्दः परमात्मैव । न विषयविषयिसम्बन्धजनित इति । ननु  
 तदनु रूप एवायं निर्देशः ‘सयश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः’ इति भिन्नाधिकरणस्थविशेषोपमर्दनेन । नन्वेवम  
 प्यादित्यविशेषग्रहणमनर्थकं नानर्थकं उत्कर्षापकर्षापोहार्यत्वात् द्वैतस्य हि यो मूर्तामूर्तलक्षणस्य परउत्कर्षः सवित्र-तर्गतः—  
 सचे-पुरुषगणविशेषोपमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य समो भवति न कश्चिदुत्कर्षोऽपकर्षो वा तागतिं गतस्येति अभय प्रतिष्ठां  
 विन्दत इत्युपपन्नम् इति ‘अदृश्ये अनात्म्ये’ इत्यत्र शाङ्करभाष्योक्तार्थः जिज्ञासाऽधिकरणे (१५१.पु) निरूपितः ॥

अत्र वार्तिकम्—‘आनन्दानन्दिनोश्चात्र नभेदस्यान्मनागपि । श्रुत्यैवापोदितो यस्मात् छिद्रं कुर्वन्मनागपि ॥ अरं  
 छिद्रं भिदाऽ-यत्वं वेद्यवेत्तृत्वलक्षणम् । यस्मादुत्कुरुते मोहादात्मनो ब्रह्मणस्ततः ॥ अन्योऽसावीश्वरो मत्तः तस्माच्चाह-  
 मनीश्वरः । इति छिद्रयनोऽछिद्रं छिद्रेऽनयो भवेद्भयम् ॥ अनूय सय इत्येवमपकृष्टं नृबुद्धिगम् । उ कृष्टेनेश्वरेणाय विशिनष्ट्य  
 हिरञ्जुवत् ॥’ इत्यादि । अत्र ‘तत्त्वपदार्थयोरेकत्ववे घनप्रकारं प्रकटयति अनूयेति । यथा यः सर्पः सा रज्जुरित्युच्यते ।  
 तथा बुद्धेस्त्वपकृष्टत्वेन कल्पितं त्वंपदार्थमनूय आदित्यमण्डलस्येन प्रकृष्टतया कल्पितेन तत्पदार्थेनैक्यमत्र बोध्यते ।  
 तथाचोत्कर्षापकर्षहीनं सच्चिदानन्दात्मकं वस्तु परिशिष्टं भवतीत्यर्थः’ इत्यानन्दगिरिः ॥

‘सयएवंवित् अस्मल्लोकाप्रेत्य’ इत्यादेः अस्मल्लोकाप्रेत्य प्रत्यावृत्त्य निरपेक्षो भूत्वा यथा व्याख्यातं ‘अन्नमय  
 मात्मानमुपसङ्गामति’ विषयजातमन्नमयात् पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं न पश्यति । सर्वे स्थूलभूतमन्नमयमा मानं पश्यतीत्यर्थः  
 विश नमात्रं सङ्क्रमणश्रुतेरर्थः । ज्ञानमात्रत्वेच आनन्दमयान्तरस्थस्यैव सर्वान्तरस्याकाशादन्नमयान्तं कार्यसृष्ट्वा अनुप्रविष्टस्य  
 हृदयगुहाभिसम्बन्धात् अन्नमयादिध्वनात्मसु आत्मविभ्रमसङ्क्रमणात्मकविवेकज्ञानोत्पत्त्या दिनश्यति । तदेतस्मिन्नादिव्यावि-  
 भ्रमनाशे सङ्क्रमणशब्द उपचर्यते । नह्यन्यथा सर्वगतस्यात्मनस्संक्रमणमुपपद्यते वर्यन्तराभावाच्च । नच स्वात्मनएव रुक्



## श्रीभाष्यम्

आदित्यादिजीवेभ्यो भेदो व्यपदिश्यतेऽस्य परमात्मनः—‘य आदित्ये तिष्ठन्नादित्या-

## गूढार्थसंग्रहः

मग नहि जल्का स्वात्मानमेव सङ्गमति । तस्मात् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहु भवनसर्वप्रवेशरूपभयाभयसङ्क्रमणादिपरिक्लृप्तये । आत्मन्नेव ब्रह्मणि सैव्यवहारविषये नतु परमार्थनो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिदपि विकल्प उपपद्यते । तमेत निर्विकल्पमात्मानमेव प्रमेणोपसङ्गम्य विदित्वा ‘नविभेति कुतश्चन अभयप्रतिष्ठा विन्दते’ इत्येतास्मिन्नर्थे विशेषश्लोको भवति सर्वस्यैवास्य प्रकरणस्य आनन्दबलव्यर्थस्य संक्षेपतः प्रकाशनाय एवमत्रो— भवति’ इति (श.उ.मा) ॥

‘सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्यत्र आनन्दव्यवस्थापरिच्छेदराहित्यमपि देशकालपरिच्छेदशून्यत्वेऽस्य देशकालव्यापित्वरूपतया वस्तु यापकवरूप ‘यच्च किञ्चिजगत्यास्मिन्—याप्य नारायणास्थितः’ इति श्रुतिद्वयं रामनादिकर्मण्यन्यामकमेव भवति । ‘नान्तगुणानां गच्छन्ति’ इति पराशरवचनानुसारेण अन्तःशून्यगुणवत्त्वरूप (अनन्तं ब्रह्म) इत्येवमज्ञानत्रेऽपि तदुपपादके इति प्रागेवोपपादितम् । ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मनः’ इत्यत्र पूर्वश्रुतिप्रस्तुत एवात्मा तस्य निर्विशेषत्व न कथञ्चिदपि शङ्कितुमर्हम् । ‘यदहोवैष एतस्मिन्’ इति वाक्यादव्यवहितपूर्ववाक्ये ‘एवमेवानन्दयति’ इत्यत्र आनन्दयितुः प्रस्तुततया आनन्दयितैव एतच्छब्दार्थः । त पूर्वमानन्दरूपब्रह्मण प्रस्तुततयाऽऽनन्दरूप एव आनन्दयिता इत्यर्थः स्फुटमुक्तः । एव पूर्ववाक्यार्थे सपक्षे आनन्दरूपस्य ब्रह्मणः अनन्दवत्त्वस्य पूर्वमभिधानेन अस्यार्थस्य उपक्रमोक्तानन्तवानुगुणतया ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्’ इत्यत्र उपक्रोक्तान्तःशून्यगुणवत्त्वज्ञानस्यैव भयनिवृत्तिहेतुव श्रुतौ विवक्षितम् । एव गुणवत्त्वज्ञान एव गुणवदाश्रयेण भयनिवृत्तिः । तज्ज्ञानाभावे तदाश्रयणाभावेन भयनिवृत्तिरेव । तच्च ज्ञान ध्यानरूपमेवेति ‘यदाहोवैष’ इत्यादिप्रघट्टकार्यम् । अयमर्थः प्राक् जिज्ञासाऽधिकरणे (६५४.पु) परमपर्यालोचनपूर्वकं श्रुतौ विवक्षित इति साधितम् । बहुषष्ट्यभ्यासस्थले आनन्दानन्दिनोरविभक्तित्वमिदं नैव ।

एवमत्र निर्विशेषस्य परमभनस्यात्र श्रुतावप्रामाणिकस्य शशशृङ्गवद्विवक्षाया एवासम्भवे ‘सयश्चायम्’ इति वाक्यस्यार्थान्तरकल्पनेन जीवब्रह्माभेदपरवोक्तिरभिनिवेशमूलैव । ‘अस्माहोकाप्रेत्य’ इत्यत्र ‘प्रेत्य’ इत्यस्य परावृत्त्य इत्यर्थवर्णनमपि विचित्रमेव । प्रेत्यइत्याः तादृशार्थस्य क्वा प्रवर्तिते । सक्रमणं विज्ञानमात्रमित्युक्तिरपि तथैव पूर्वक्रमेणानन्दमयपदार्थस्य सर्वान्तरत्वस्य पूर्वे बोधिततया उपसङ्क्रमणमपि तथैव वर्णितम् । ‘इमान्लोका कामान्नो कामरूप्यनुसञ्चरन्’ इतिवाक्ये ‘सोऽश्रते’ इत्युपक्रमवाक्यानुरूपम् । एवमङ्गीकोर एव उपक्रमोपसहारयोरेकार्थं व युक्तत्वं च । एतदप्रिप्रेत्यैव च मान्त्रं वार्णिकमेव च गीयत इति सूत्रम् अतः परोक्तार्थः सूत्रे न विवक्षितः । ‘एत सामगायन्’ इति वाक्यस्य ‘साम’ सम वाङ्महैव साम सर्वान् यरूप गायन् उ दयन्नात्मैक्य प्रख्यापयन् लोकानुग्रहार्थम्’ इति शङ्करोपनिषद्भाष्यप्रदर्शितार्थोऽपि अतीव विचित्रः । शब्दानां तादृशार्थस्य लोके कुत्राप्यप्रसिद्धेः । आनन्दबलव्या उपक्रमापसहारकरूप्येन उक्तार्थस्यैव युक्ततया ‘सयश्चायं पुरुष’ इत्यस्य परमभनार्थस्यायुक्तत्वेन च आनन्दमयाधिकरणशेषत्वमेव अन्तराधिकरणस्येति आनन्दमयाधिकरणे जीवसमाय भेदसाधनं न सम्भवति जीवविशेषस्यैव छान्दोग्ये ‘यएषोऽन्तरादित्ये’ इत्यत्र प्रतिपादनेन ताद्विरोधं शङ्कायाः अन्तराधिकरणे परिहार उक्तः अतः जीवसामान्यभेदः जीवविशेषभेदश्च जगत्कारणे प्रतिपादितो भवति ॥

## अन्तराधिकरणं समाप्तम्

## श्रीभाष्यम्

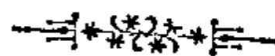
‘अन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यदशरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति’ (वृ.५.७.९) ‘य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मनोऽन्तरो यमयति’ (वृ.५.७.१०) ‘योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्या मृत्युदशरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एषो नारायणः’ (सु.७.७.११) इति चाम्यापहतपाप्मनः परमात्मनस्सर्वान् जीवान् शरीरत्वेन व्यपदिश्य तेषामन्तरात्मत्वेनैवं व्यपदिशति । अतस्सर्वेभ्यो हिरण्यं भादिजीवेभ्योऽप्येव परमात्मेति सिद्धम् ॥

## अन्तरधिकरण समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशः

‘अयमभ्यसन्दः पूर्वापरसूत्रेष्वभ्यवेतव्यः । आदित्यारयजीवात् भेदव्यपदेशे श्रुतिर्माह— य आदित्य इति । आदित्यारयापोषादान् प्रकरणस्य जीवा तरविषयपर्याणां प्रदर्शनायम् आदित्यादीत्यत्रादिशब्दापात्ते दत्तादिशेषभ्यो भेदव्यपदेशश्चातएव दर्शितो भवति । अत्रहि प्रकरणे ‘यस्सर्वेषु देवेषु तिष्ठन्’ इति पर्याये सर्वदेवताभ्यां भेदो व्यपदिश्यते । आसा देवतानां मुक्तायस्यायामपि ताभ्यः परमा मनो भेदज्ञानार्थं निष्कृष्टा मनः परमा मनियाभ्य वादिप्रतिपादक पर्यायमुदाहरति । य आत्मनीति । कारणायस्यायामपि भेदज्ञापनार्थमाह— यस्याक्षरमिति । अक्षरम् अच समष्टिसृष्ट्या (जीव) पुरुषसमाष्टिः मृत्यु च समष्टिरसृष्ट्या च समष्टिः ‘देवकामानाचेष्ट’ इति वाक्यमस्य सूत्रस्य विषयतयोपात्त यादवप्रकाशैः तन्नात्यन्तोचितम् । इन्द्रादीनामपि स्वावरदेव कामनिष्पादक वसम्भवन क्षेत्रज्ञैलक्ष्यसाधक वामावाहवकामेदनस्य आदित्यपुरस्कारेणोत्थिते पूर्वपक्षे तमादित्य कण्ठोक्त्या निर्दिश्य तदितरदेवतानां तस्य च नियाम्य व व्याप्यत्वमज्ञ वचोत्तवा नियन्तृ पर्यायानि वसोपक्षे परमा मनस्तेभ्यः स्फुटतरभेदव्यपदेशपरप्रकरणस्य विषयतयोदहरणं ह्यत्यन्तोचितम् । शरीरसंबन्धावाच्छिष्यैश्चर्यश्रवणसिद्धकर्मैर्यश्च लोककामेशवादीनां मुक्तप्रकरणेणोपपत्तः । पाप्मोदयश्रवणस्य पापसम्बन्धनिवर्तकत्वेन पुण्यसम्बन्धनिवर्तकवर्मावाच्यं पूर्वं पक्षः मोक्षप्रकरणेभूयकर्मविषयपाप्मशब्दप्रयोगश्रुत्यन्तरैकार्थ्यप्रवृत्तिनिमित्तयोगैः पाप्मशब्दस्योभयपरत्वेन कर्मैर्यश्च वानिषेधात् पूर्वकगुणान्तराणामपि जीवेभ्यः सम्भवदेव परता द्रव्यतश्च विलक्षणविग्रहयोगस्य जीवैलक्ष्यसाधकत्वादित्यादि जीवेभ्यो भेदव्यपदेशाच्च परमा मेति रद्धात् । अधिकरणं मुक्तरहति अतश्च ॥

## अन्तरधिकरणं समाप्तम्



श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ वेदान्तसारः

## अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् १-

१. अयं जगत्कारणभूतः विपश्चिदानन्दमयः, कश्चिदुपचितपुण्यविशेषो जीवविशेषो देहयोगाद्विजायते

मेति नाशङ्कनीयम् ; ' यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयःपुरुषः ' (छां. १. ६. ६) इत्यादौ भूयमाणःपुरुषाकारः परमात्मैव । कुतः  
 ' तद्वर्णोपदेशात् ' ' सएष सर्वेषां लोकानामीशः सर्वेषां कामानाम्, तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यउदितः ' (छां. १. ६. ७) इति निरुपाधिकसर्वलोकसर्वकामेश्वरं स्वत एवाकर्मवदयवं च प्रत्यगात्मनोऽर्थात्तरभूतस्यहि परमपुरुष-  
 र्त्वेव धर्मः, ' वेदाहमेत पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णे तमसःपरस्तात् ' (यजु. आर. ३. १. ३. पुरुषसू) इत्यादिषु त्रिगुणा-  
 मकप्रकृत्यन्तर्गताप्राकृतस्वासाधारणरूपवन् च ज्ञानादिगुणयुक्तस्यैवाहि भूयते ; ज्ञानादयोऽपि ' सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' (तै. आन. १) ' यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् ' (मु. १. १. ९) ' पराऽस्य शक्तिर्विविधैव भूयते स्वामाविकी ज्ञानबलक्रिया च ' (श्वे. ६. ८) इत्यादिषु श्रुतत्वात् तस्य गुणा विशायन्ते । तथा ' आदित्यवर्णे तमसःपरस्तात् ' (यजु. आर. ३. १. ३. पुरुषसू) इत्यादिषु अप्राकृतस्वासाधारणरूपश्रवणात् तद्वत्ता च विशायते । तदेतद्वाक्यकारश्चाह—' हिरण्मयःपुरुषो दृश्यते ' इति  
 ' प्राज्ञस्सर्वान्तरस्यात् लोककामेशोपदेशात् तथोदया पाप्मनम् ' इत्युक्त्वा तद्रूपस्य कार्यं व मायामयं वा इति विचार्य  
 ' स्याद्रूपं कृतकमनुग्रहार्थं तच्चतसामैश्वर्यात् ' इति निरसनीय मतमुप-यस्य, ' रूपं वातीन्द्रियम् अन्तःकरणप्रत्यक्षनिर्दे-  
 शात् ' इति व्याख्यात च द्रमिडाचार्यैः—' नवा मायामात्रमज्जसैव विश्वसृजो रूपम्, तत्तु न चक्षुषा ग्रह्यम्, मनसा व-  
 कलुषेण साधनान्तरवता गृह्यते, ' न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा मनसातु विशुद्धेन ' इति श्रुतेः ; नक्षरूपाया देवतायाः  
 रूपमुपदिश्यते ; यथाभूतवादिहि शास्त्रम् ; यथा ' महारजत वासः ' ' वेदाहमेत पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णम् ' इति  
 प्रकरणान्तरनिर्देशात् ' इति साक्षिण, इति ' हिरण्मय ' इति रूपसामान्याच्च-द्रमुत्पत्तवत् इति च बावयम् । तच्च व्याख्यात  
 तैरेव ' नमयइत्र विकारमादाय प्रयुज्यते अनारभ्यत्वादात्मनः ' इत्यादिना । अतः प्रधानात् प्रत्यगात्मनश्चार्थान्तरभूतो  
 निरुपाधिकविपश्चिदनवधिकातिशयानन्दोऽप्राकृतस्वासाधारणदिव्यरूपः पुरुषोत्तमःपरं ब्रह्म जगत्कारणमिति वेदान्तैःप्रति-  
 पाद्यत इति निरवयम् ॥

### भेदव्यपदेशाच्चान्यः १-१-२२

' य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो नवेद यस्यादित्यश्चरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति सत आ मा-  
 ऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतम् । यश्चक्षुषि तिष्ठन् इत्यध्यात्मम् । यस्सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्नित्यधिलोकम् । यस्सर्वेषु भूतेषु तिष्ठ-  
 न्नित्यधिभूतम् । यस्सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्नित्यधिवेदम् । यस्सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्नित्यधियज्ञम् ' (वृ. ७. ७. ९) इत्यन्तर्यामिब्राह्मणे ;  
 सुबालोपनिषदि च ' यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् ' इत्यारभ्य ' योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यो मृत्युम-  
 न्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युदशरीरम् य मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ' (सुबा ७. ७) इति सद्य सर्वलोकसर्वभूतसर्ववेदसर्वयज्ञसर्वार्त्तोपरिवर्तमानतया तच्छरीरतया तत्तदन्तरात्मतया तत्तदवेद्यतया  
 तत्तन्नियन्तृतया चैभ्यस्सर्वेभ्यः भेदव्यपदेशाच्च अयमपहतपाप्मा नारायणःप्रधानात् प्रत्यगात्मनश्च अर्थान्तरभूतो निखिल  
 जगदेककारणमिति सिद्धम् ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

### अन्तस्तद्वर्णोपदेशात् १-१-२१

छान्दोग्ये ' यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयःपुरुषो दृश्यते ' (छां. १. ६. ६) ' यएषोऽन्तराक्षणि पुरुषो दृश्यते ' (छां.

१.७.५) इत्यादित्याधारतया श्रूयमाणः पुरुषः किं जीवविशेषः, उत परमपुरुष इति सङ्शयः । जीवविशेष इति पूर्वपक्षः । कुतः ? सशरीरत्वात् । 'शरीरसयोगो हि कर्मवश्यस्य जीवस्य स्वकर्मफलभोगायेति । रादा-तरु- 'रूप सदेभ्यः पाप्मस्य उदितः' (छा. १.६.७) इत्यादिना अपहृतपाप्म दपूर्वैकैर्धर्मेणैव बोधेद्वा । तथा च जीवेश्वसम्भवात्, अयमक्षयादित्याधारः पुरुषोत्तम एव । स्वासाधारणविरुद्धरूपत्व च ज्ञानबलैश्वर्यादिवत्याणुगुणवत् तस्य सम्भवति । श्रूयते च तद्रूपस्याप्राकृतत्वम् 'आदित्यवर्णं तमकरतु पारे' (पुरुषसू.) इत्यादौ । सूत्रार्थस्तु—आदित्याद्यन्तःश्रूयमाणः पुरुषः परब्रह्म । तदसाधारणादपहृतपाप्मत्वं दिष्टम् । देव त ॥

### भेदोपदेशाच्चान्यः १-१-२२

'यथादित्ये तिष्ठन्नादित्याद तरः' (बृ. ५.७.५) 'यथा मने तिष्ठन्ना मनोऽन्तरः' (बृ. ५.७.१२. विश्व न स्थाने माध्यान्दिनपाष्ठ) इत्यादिभिः ज्ञानाच्छेदव्यपदेशाच्च ज्ञेयं परमात्मैव ॥

॥ इति वेदान्तदीपे अन्तराधिकरणं समाप्तम् ॥

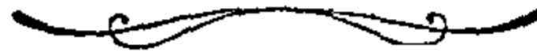
### अथ अधिकरणसारावली

भूयिष्ठानन्तपुण्योपचयबलसमुद्बुद्धपूर्वोक्तभूम्ना  
 शक्रादन्यायतस्यात् त्रिगुणतनुभृतार्माश्वराणा प्रवाह ।  
 तन्नाकर्मोत्थदिव्याकृतिजनिमहिमा शासिता सर्वपुसा  
 नित्यश्रान्त्रिभ्रविंशे श्रुतइति स य इत्युक्त एवैष एक ॥ १ ॥  
 सर्वेभ्य कल्मषेभ्योऽप्युदित इति वदन्त्यन्तरादित्यविद्या  
 तस्माच्छेषाभ्यनुज्ञानयत इति त्रिभो पुण्ययोगोऽस्तु मैवम् ।  
 आम्नातोऽनन्यशास्यस्ववशपरफलस्साधुना नैव भूयान्  
 स्यात्पुण्ये लक्ष्मयोगादपि न सुकृतमित्यादिना पाप्मशब्दः ॥ २ ॥  
 प्रख्यातं शुद्धसत्त्वं किमपितदनघ द्रव्यमव्यक्ततोऽन्य  
 तद्रूप रूपमैशं दिवि कनति तथा शेषशेषाशनाद्यै ।  
 नित्य तत्सूरिसेव्यं परतरमजहत्स्वस्वभावस्त देव  
 पुंसां ससारशान्त्यै विपरिणमयति व्यूहपूर्वैर्विभगे ॥ ३ ॥  
 देहत्यात् सप्तधातुत्रिमलमघभवन्दु सष्टन्नाद्युक्त  
 सांशत्यादेश्च हेतोरिति यदि तदसद्धर्मिमानेन बाधात् ।  
 बाधशशास्त्रैकवेद्ये कचिदपि न भवेदन्यथाऽतिप्रसङ्गात्  
 यत्तु स्वेच्छावतारेणभिनयति तदप्यासुरोपप्लवार्थम् ॥ ४ ॥



इत्थं विद्यात्रयेण स्थिरचरचिदचिदेहिनस्सर्वदेहो  
 रव्यत्ताज्जीवतत्त्वाद्यापि समाधिगता यद्यपि स्यात्तथाऽपि ।  
 उत्थानद्वारेभेदात् क्रमत इह मुदूपक्रमान् कूरानिष्ठान्  
 अद्वयायेऽस्मिन्निरुन्धन्नधिकरणगणैस्तदुणानुदृणाति ॥ ५ ॥  
 शब्दैस्सद्ब्रह्ममुख्यैश्च्युतिशिरसि मितं कारणं किञ्चिदेकं  
 सङ्कल्पाभ्यासरूपैरतदननुगुणैश्चिन्तितश्चिद्विशेषः ।  
 भूतकाशादिशङ्काजननसमुचितैर्नामभिः कारणस्थै  
 क्षिप्त्वा तत्पादशेषश्च्युतिसमुदयनासम्भवोक्त्या भुनक्ति ॥ ६ ॥  
 आकाशप्राणशब्दावनितरगतिकौ रूढिभङ्गेन नेयौ  
 ज्योतिश्शब्दस्तु रूढ्या प्रथयति पुरुषं दिव्यतेजोविशिष्टम् ।  
 प्रख्यतेन्द्रादिशब्दस्तदनु नियमितस्तद्विशिष्टप्रवृत्त्ये  
 त्येवस्यात्पेदिकैषा द्वित्रयुगलवती शब्दवृत्तिक्रमेण ॥ ७ ॥

॥ इत्यन्तरधिरणसमाप्तम् ॥



## श्रीभाष्यम्

त्कारणे निर्दिष्टे ईक्षणनिशेषानन्दविशेषरूपविशेषार्थं स्वभावात्प्रधानक्षेत्रज्ञादिव्यतिरिक्तं  
ग्रहेत्युक्तम् । इदानीमाकाशादिविशेषशब्दैर्निर्दिष्टं जगत्कारणत्वजगद्देश्वर्यादिवादेऽप्या-  
काशदिशब्दाभिधेयतया प्रसिद्धचिदचिद्वस्तुनोऽर्थान्तरमुक्तलक्षणमेव ग्रहेति प्रतिपाद्यते-  
' आकाशस्तल्लिङ्गात्-इत्यादिना पादशेषेण—

## २३-आकाशस्तल्लिङ्गात् (१.१.८)

इदमाम्नायते दान्दोग्ये- 'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि  
ह वा इमनि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवम्यो ज्या-  
श्रुतप्रकाशिका

## सू. २३-आकाशस्तल्लिङ्गात् (१.१.८)

सिद्धान्ते कारणत्वानुपादस्य वक्ष्यमाणत्वाद्विधेयं किमित्यपेक्षया विधेयार्थशापनाय 'अस्य लोकस्य कागतिः'

## गूढार्थसंग्रहः

दभिप्रेत्याह-साधारणैरशब्दैः जगत्कारणे निर्दिष्टे इति । इदानीमाकाशादिविशेषशब्दैरिति च । परैः 'यदेव आकाशं  
आनन्दो न स्यात्' 'आकाशोऽहं नै नामरूपयोः' इत्यादौ ब्रह्मणि आकाशशब्दप्रयोगात् तद्वाक्यानां ब्रह्मपरत्वनिर्णयनं  
तत्राकाशशब्दस्य गौणत्वम् अत्र तु आकाशशब्दस्योपक्रमस्यस्य अभ्यासरूपतात्पर्यलिङ्गेन श्रुतिस्त्वात् गौणत्वत्वेन न स  
भवतीति पूर्वपक्षिण आशय उक्तः । सच न युक्तः । सर्वत्रापि आकाशशब्दस्य प्रसिद्धाकाशे रूढत्वेन ब्रह्मशब्दार्थस्य  
निरवग्रहमहत्त्वस्य तदर्थेऽपि विश्रान्तिरिति पूर्वपक्षिण आशयः । ब्रह्मशब्दस्य 'बृहज्जातिजीव' इत्यादिरुदिग्राहकप्रमाणमुपन्यस्य  
रुदिमाशङ्क्य निवृत्तिबलभ्योऽर्थः निरवग्रहमहत्त्वं तेन रूढिर्न विशिष्यत इति पञ्चपादिकाविवरणयोर्व्यक्तम् । निवृत्ति-  
बलभ्यार्थमङ्गीकृत्य अन्यार्थेषु रूढौव प्रयोग इति विवरणप्रमेयसंग्रहे स्पष्टम् । इत्थं च आकाशपदस्य रूढिलब्धार्थप-  
रिग्रहे श्रुतिव्यभेदायतमिति ब्रह्मशब्दोपेक्षया निष्कर्षः नैवापादयितुं शक्य इति सदात्राकाशशब्दार्थ एव ब्रह्म इति ङ्गीक-  
रणमिति यावदयं युक्त इति भावः ॥

अन्तरधिकरणविषयवाक्य(छा. १.७) उपलब्ध उत्तरउपलब्ध (छा. १.९) 'अस्य लोकस्य कागतिः' इत्यादिवाक्यं वर्तते । एत-  
त्पूर्वउपलब्धे शालावत्यदाल्भ्यजैवर्त्तना कथायां शालावत्येदाल्भ्य 'कास मोगतिरिति पप्रच्छ । तत्रैव प्रश्नपरम्परायां 'अमुष्य  
लोकस्य कागतिः' इत्यन्तं दातुम्येनोक्ते 'अयं लोक' इति तेनोत्तरिते 'अस्य लोकस्य कागतिः' इति तदनन्तरं जैवर्त्तना  
'अनन्तरवर्त्तिते शालावत्यसाम्' इत्यारम्भे 'अस्य लोकस्य कागतिः' इत्याद्युत्तरवाक्यम् । अत्र 'अस्यलोकस्येत्युक्त्या  
एतल्लोकविषयत्वं वाक्यस्य प्रतीयते । अन्तरधिकरणस्य आनन्दमयाधिकरणशेषतया आनन्दमयाधिकरणविषयवाक्यभू-  
तानन्दवत्त्वया 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्तस्मभूतः' इत्यत्राकाशस्य वात्वादिक्रमेणोपादकत्वं स्पष्टम् । अत्राका-  
शशब्दः अभ्यस्त इति अभ्यासरूपतात्पर्यलिङ्गेन श्रुतिश्चान्न पूर्वपक्षमूलम् । अन्यथास्तिद्वलिङ्गेन श्रुत्यपेक्षया प्रबलमिति समा-  
यते- 'आकाशस्तल्लिङ्गादित्यादिना ॥ अन्तरधिकरणे अपहृतपाप्मत्वस्य सदाऽभिव्यक्तिस्वभाविकत्वं उपदेशात् इति  
सौत्रशब्देन सूच्यते । अत्र तु लिङ्गशब्दस्यान्यदेव तात्पर्यम् ॥

### श्रीभाष्यम्

यानाकाशः परायणम्' (छां.१.९.१) इति । तत्र सन्देहः—किं प्रसिद्धाकाश एवात्राकाश-  
शब्देनाभिधीयते, उतोक्तलक्षणमेव ब्रह्म-इति । किं प्राप्तम् । प्रसिद्धाकाश इति, पुनः ?  
शब्दैकसमधिगम्ये वस्तुनि य एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धशब्देन प्रतीयते स एव ग्रहीतव्यः ।  
अतः प्रसिद्धाकाश एव चराचरभूतजातस्य कृत्स्नस्य कारणम् । अतस्तस्मादनतिरिक्तं  
ब्रह्म । नन्वीक्षापूर्वकसृष्ट्यादिभिरचेतनाजीवाद्य व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम् । सत्यमुक्तम्,  
अयुक्तं तु तत् । तथाहि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते-तद्ब्रह्म' (तै.भृ.१.अनु)इत्युक्ते  
कुत इमानि भूतानि जायन्त इत्यादि विशेषापेक्षायां 'सर्वाणि ह्येवा इमानि भूतान्याका-  
शादेव समुत्पद्यन्ते' (छां.१.९.१) इत्यादिना विशेषप्रतीतेः जगज्जन्मादिकारणमाकाश

### श्रुतप्रकाशिका

इत्यादिकमुक्तम् । गतिः प्राप्य, संशयमाह—तत्रेति । भूताकाशे प्रसिद्धयतिशयपरायणत्वाद्गुणवृत्तिभ्यां संशयः—  
भूताकाशे परमा मानिनाकाशशब्दप्रयोगात्संशय इत्युक्तं परैः । तदयुक्तम् अश्रुतवेदान्तस्य 'सर्वाणिह्येवा इमानिभू-  
तानि' इति वाक्यस्याकाशशब्दवत् 'आकाशोह्येव नामरूपयोर्निर्वहिते' इत्यादिवाक्यस्याकाशशब्दस्य च परमा म-  
विषयताप्रतिपत्तेः श्रुतवेदान्तस्य सशयमावाद्य । चिदचिद्विलक्षणकारणास्तित्वायोगव्यवच्छेदादि प्रथमपादसाध्यः नान्वययो-  
गव्यवच्छेदः सः त्रिपदासाध्य एव, इतः पूर्वैरधिषकरणैरेवायोगव्यवच्छेदसिद्ध इति चेन्न 'सदेव' 'ब्रह्मविदामोति'  
'आत्मन आकाशस्सम्भूत' इत्यादिषु कारणविषयाणां सद्ब्रह्मादिशब्दानां साधारणानामाकाशप्राणेन्द्रादिविशेषपर्यव-  
सानेसति चिदचिद्विलक्षणकारणास्तित्वादिशब्दाकाशादिपदानामीक्षणान्दन्निशेषयोगानुरूपतया नेय वेत्त्येव तात्स्निक्षेपः ।  
अतो यथोक्तहेतुनिबन्धनसंशयः ॥

जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्य वस्तु किमाकाशः उत परमा मेति विचारः तदर्थं 'अस्य लोकस्य कागतिः'  
इत्याकाश इत्याकाशः किंप्रसिद्धः ? उत परं तदर्थं किमाकाशशब्दो रुद्ध्या वर्तते उनाययवशतया । तदर्थे ज्याय  
स्वादिगुणाः किं मुख्यतया नेयाः उतान । तदर्थं 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' इत्यात्मशब्दः किं कारणाकाशपरः  
उत परमा मपरः ? तदर्थं किमयमा मशब्दः स्वरूपपरः उत देहप्रतिसन्धिपर इतिविचारः यदा स्वरूपपरः तदा आत्मन  
आकाश इत्यात्मशब्दस्य कारणाकाशपरतया ज्यायस्वादिगुणानामपि कथञ्चिन्नेवेन रुद्धिशक्तेः स्थितत्वादधिषयवाक्य-  
स्याकाशशब्दः प्रसिद्धाकाशपर इति वेदान्तवेद्य वस्तु प्रसिद्धाकाश इति पूर्वपक्ष परपक्षिभावः । यदा आत्मशब्दः शरीर  
प्रतिसन्धिपरः तदा आत्मन आकाश इत्यात्मशब्दस्य परमात्मपरतया ज्यायस्वादिगुणानामपि मुख्यत्वाद्यौगिकवृत्त्या  
विषयवाक्यस्याकाशशब्दः परमा मपर इति कारणवाक्यप्रतिपाद्यः परमा मेति राद्धान्ते परपक्षिभावः ॥

पूर्वपक्षसमर्थनौपयिक प्रयोजक शिक्षयति शब्देति । प्रमाणांतरसिद्धार्थानुवादेरुति हि तदनुरोधाय त्रिष्टगत्याऽ  
र्थस्य वर्गनीयत्व स्यात् 'आदित्यो यूय' इत्यादिषु यूपान्देः प्रमाणांतरगोचरत्वादि तदनुरोधादेकवहानम् मानान्तरागो-  
चरे वस्तुनि प्रतिपाद्ये न तथा व्युत्पत्तिसिद्धार्थस्त्याज्यः । आनुरोद्धव्यान्तराभावेन शब्दस्वान्त-यस्य अकुण्ठितत्वादिति  
भावः । ततः किमित्यनाह—अत इति । प्रसिद्धाकाशएवेति । अर्थान्तरपरत्वेहि यौगिकवृत्तिग्राह्यणीया नतद्युक्त रुद्धिर्हि  
योगात्प्रवर्तेतिभावः । अ(र्थान्तर)र्थप्ररोधोपपत्तिरिद्धार्थस्त्यज्यत इति बोधयति नन्विति परिहरति सत्यमिति ।  
इत्यादीत्यादिशब्देन किंप्रयान्त कन जीवन्ति इत्यपेक्षा विवक्षिता विशेषण प्रतीतिरिति एतद्वाक्यविशेषण वस्तुविशेष-  
प्रतीतिहेतुनयोक्ता जगज्जन्मादिकारणमाकाशएवेति निश्चित इति । सद्विद्यादिप्रतिपक्षकारणानुवादिदृष्टव्यवयोक्त

## श्रीभाष्यम्

एवेति निश्चितेति 'संदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां.६.२.१) इत्यादिष्वपि सदादिशब्दास्माधारणाकारास्तमेव विशेषमाकाशमभिधधाति । आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (पेतरेय.१.१.१) इत्यादिवात्मशब्दोऽपि तत्रैव वर्तते । 'तस्यापि हि सैतनैक्यन्तत्वं न संभवति ; यथा 'मृदान्मको घट' इति । आप्नोतीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या सुतरामाकाशोऽप्यात्मशब्दो वर्तते । अत एवमाकाश एव कारणं ब्रह्मेति निश्चिते स्तीक्ष्णादयस्तदनुगुणा गौणा वर्णनीयाः । यदि हि साधारणैश्चैरेव सदादिभिः 'कारणमभ्यधायिष्यत ; ईक्षणाद्यर्थानुरोधेन चेतनविशेष एव कारणमिति निरचेप्यत । आकाशशब्देन तु विशेष एव निश्चित इति नार्थस्वाभाव्यान्निर्णेतव्यमस्ति । ननु 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' (तै.आन.१.२) इत्याकाशस्यापि कार्यत्वं प्रतीयते । सत्यम्, सर्वेषामेवाकाशवाय्वादीनां सूक्ष्मावस्था स्थूलावस्था चेत्यवस्थाद्वयमस्ति । तत्राशस्य सूक्ष्मावस्था कारणम् । स्थूलावस्था तु कार्यम् । 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' (तै.आन.१.२) इति स्वप्नादेव सूक्ष्मरूपात्स्वयं स्थूलरूपस्सम्भूत इत्यर्थः । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छां. १.९.१) इति सर्वस्य जगत आकाशादेव प्रभवान्ययादिश्रवणात्तदेव हि कारणं ब्रह्मेति

## श्रुतप्रकाशिका

ब्रह्म आकाश एवेति निश्चितइत्यर्थः । यद्वा आवातप्रतीतिः पूर्वमुक्ता निश्चित इति युक्तितो निर्णय उक्तः ॥

ननु 'यतो वा इमानि'त्यादि वाक्यप्रकरण एव 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यानन्दशब्देन विशेषनिर्णयोऽस्ति । नैवम् 'यदेव आकाश आनन्दो नस्यात्' इत्याकाशशब्दसामानाधिकरण्यादानन्दशब्दः किमाकाशपरः आकाशशब्दः किमानन्दपर इति सशयस्यात् तस्मादानन्दशब्दसामानाधिकरण्यादप्येव हितात् 'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति वाक्यादेव विशेषनिर्णयइत्यभिप्रायेणाकाशएवेति निश्चितइत्युक्त साधारणाकाराः साधारणरूपाः 'छागोवा मन्त्रवर्णात्' इति न्यायोऽभिप्रेतः आत्मशब्देन विशेषनिर्णयशङ्का निरस्यति । आत्मावा इत्यादिना । तत्रैव आकाशे आकाशशब्दापेक्षया आत्मशब्दोऽपि साधारण इत्यर्थः आत्मशब्दस्यावयवशक्त्याप्याक इपर व दर्शयति आप्नोतीति । व्यवस्थितरुटिशक्तेराकाशशब्दस्य रुटिमङ्गादपि नानार्थसाधारणरुटिशक्तेरामशब्दस्य रुटिमङ्गउचित इति भावः । ईक्षणादीनामणत्वेन निर्वाह्यवमाह - अतएवमिति । श्रुतिप्रावत्यलिङ्गं तदनुगुणं नेयमित्यर्थः । ईक्षणादिमुख्यवानुरोधी सदादिशब्दैरेव विशेषनिर्णय इति शङ्कायाः सदादिशब्देभ्य आकाशादिपदश्रुतेः प्रावत्यमुपपादयति यदिहीति । साधारणशब्दैरेवेति । ननु विशेषशब्दान्तरे सतीति भावः । यदीत्यभिप्रेतं विपर्ययण विशेषनिश्चायकरद्भावं दर्शयति आकाशशब्देनत्विति । रुटिर्हि योगमपहरतीति न्यायाद्विलम्बितप्रतिपत्ताद्यौगिकादपि शीघ्रधीविषय रुढ्यर्थ एवाकाशशब्दस्य परिग्राह्य सदादिशब्दानामीक्षणादिलिङ्गपरमर्शसोपेक्षत्वेन विलम्बितप्रवृत्तितया अतिशीघ्रप्रवृत्तिवत् प्रवृत्तर व शपर श्रुत्याऽपेक्षिते विशेषे लब्धे अर्थस्वभावनिर्णेतव्यविशेषामवादीक्षणादयस्तदनुरोधेन वर्णनीयाः । अतो नचेतनविशेषकारणत्वादिद्विरित्यर्थः कार्यतयाऽवगतस्य परमकारणत्वानुपपत्तिमुपेन चोदयति नन्विति । परिहरति सत्यमिति । कार्यत्वेऽभिप्रेतः तस्य कारणत्वमङ्गत्वेऽनङ्गीकारः वाय्वाद्युपादानं निदर्शनतया सूक्ष्मावस्थाशब्देन तन्मात्रावस्था कथ्यते 'आत्मन आकाश' इति वाक्ये आत्मशब्दः स्ववाचीत्यर्थः । कुत इत्थमस्त्वारस्येनाथो वर्ण्यते इत्यत्राह-सर्वाणीति । प्रभवान्ययादीत्यादिनाकाशप्रदानेन स्थितिहेतुत्वमुच्यते परायणम् इति शत्रोक्तम् ॥



## श्रीभाष्यम्

निश्चितम् । यतः प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्म, अत एव च 'यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै.आ.७) 'आकाशो ह्येव नामरूपयोर्निर्वहिता' (छां.८.१४.१) इत्येवमादि निर्देशोऽप्युपपन्नतरः । अतः प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्मेति ॥

एवंप्राप्ते घ्नमः—'आकाशस्तद्विज्ञात्' आकाशशब्दाभिधेयः प्रसिद्धाकाशाच्चेतनादर्थान्तरभूतो यथोक्तलक्षणः परमात्मैवा पुनः ? तद्विज्ञात-निरिलजगदेवकारणत्वम्, सर्वस्माज्ज्यायस्त्वम्, परायणत्वम् इत्यादीनि परमात्मविज्ञान्युपलभ्यन्ते । निरिलकारणत्वं ह्यचिद्वस्तुनः प्रसिद्धाकाशशब्दाभिधेयस्य नोपपद्यते, चेतनवस्तुनस्तत्कार्यत्वासम्भवात् । परायणत्वं च चेतनानां परमप्राप्यत्वम् । तच्चाचेतनस्य हेयस्य सकलपुरुषार्थविरोधिनो न सम्भवति । सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं च निरुपाधिकं सर्वैः कल्याणगुणैरसर्वैर्भ्यो निरतिशयोक्त्यर्थः तदप्यचितो नोपपद्यते ॥

यदुक्तं जगत्कारणविशेषाकांक्षायामाकाशशब्देन विशेषसमर्पणादन्यत्सर्वं तदनुरूप

## श्रुतप्रकाशः

नामरूपयोर्निर्वहिता इत्येवमादीत्यादिशब्देन 'कं ब्रह्म ख ब्रह्म' 'प्राणंचास्मै तदाकाशंचोचुः' 'परमे व्योमन्प्रातिष्ठिता' इति वाक्यान्वयमिप्रेतानि । पूर्वपक्षमुपसहरति अतइति । रादान्तरमारभते एवमिति । पूर्वाधिकरण इव नात्र तद्वर्माणपदेशात् इत्युक्तं वाक्यान्तरप्रसिद्धार्थस्यानूदेतस्य हेतुतया विवक्षितत्वात् । लिङ्गसम्बन्धित्वेन प्रमाणान्तरोपलब्धार्हे लिङ्गं भवति । लिङ्गं च किमित्यत्राह—निरिलजगदिति । 'सर्वाणि ह्येव इमानि' इत्यस्मिन्विषयवाक्ये सर्वशब्दस्यासङ्कोचमभिप्रेत्य निरिलेयुक्तं भूतशब्दस्य वाय्वादिचतुष्टयमात्रपरत्वव्युदासाय जगच्छब्दः । महच्छब्दपञ्चशब्दपृथिव्यादिशब्दसमभिधेयाहाराभाव भूतशब्दस्याचि ससृष्टचेतनपरत्वं स्वनः प्राप्तम् । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' 'न हि स्यात्सर्वा भूतानि' 'भूतानां प्राणिनश्चेष्टाः' इत्यादि प्रयोगत्वात् । अतस्मिन्भूतकारण वक्तव्यं चिदचिदात्मकसमस्तप्रपञ्चकारणत्वमुक्तं भवतीत्यभिप्रायण निरिलजगादि-युक्तम् । तत्र निमित्तान्तराश्रयणाद्वाक्यान्तरैकार्थ्याच्च निमित्तोपादानादिरूपसर्वविधकारणत्वाभिप्रायेणैककारण वमित्युक्तम् आकाशस्य तद्विज्ञानुपपत्तिमाह—निरिलकारणत्वमिति । अनेनैककारणत्वानुपपत्तिमभिप्रेता न ह्यआकाशो निमित्तकारणं भवितुमर्हति, पुरुषार्थविरोधित्वाच्च प्राप्यत्वं च न सम्पत्तीत्याह—परायणत्वं चेति । अचेतनस्य चेतनत्वेन स्वरूपानन्तर्भूतत्वादेयत्वमित्यर्थः सकलपुरुषार्थविरोधिनः सकलानां पुरुषाणां साक्षात्पुरुषार्थो मोक्षः कच्छेहेतुतया तस्य विरोधिन इत्यर्थः । यद्वा मोक्षविरोधितया हेतुस्य शब्दादिनिष्ठविषयभावप्यजननाद्धर्मादिसकलपुरुषार्थविरोधिनः २६८८-सुवस्य मोक्षान्नर्मात् सकलपुरुषार्थरूपो मोक्ष तद्विरोधिन इति वाऽर्थः ॥

यद्वा कारणावस्थायामत्यन्तज्ञानसङ्कोचहेतुतया चतुर्णामपि पुरुषार्थानां विरोधिन इत्यर्थः । ज्यायस्त्वमुपपत्तिरह सर्वस्मादिति । अत्र पूर्वपक्षयुक्तं कःपिह्यउक्तो भवतीत्यपेक्षया सूत्राभिप्रेतार्थं वक्ष्यन् परेक्षमनुवदति यदुक्तमिति ।

## गूढार्थसंग्रहः

निरिलजगदेककारणत्वमिति । 'आकाशादेव समुपपद्यन्ते' इत्यत्र एवकारेण कारणान्तरनिषेधेन उपादानकारणत्वं निमित्तकारणत्वं चैकस्यैवेति तात्पर्येण निरिलजगदेककारणत्वमित्युक्तम् । पूर्वाधिकरणे 'तद्वर्माणपदेशात्' इत्यत्र

## श्रीभाष्यम्

मेव वर्णनीयमिति, तदयुक्तम् 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छां १.९.१) इति प्रसिद्धवन्निर्देशात् । प्रसिद्धवन्निर्देशो हि प्रमाणान्तरप्राप्तिमपेक्षते । प्रमाणा-  
न्तराणि च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा.६.२.१) इत्येवमादीन्येव वाचयानि । तानि  
च यथोदितप्रकारेणैव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति तत्प्रतिपादितं ब्रह्माकाशादशब्देन प्रसिद्धवन्निर्दि-  
श्यते । सम्भवति च परस्य ब्रह्मण प्रकाशकत्वादाकाशादशब्दाभिधेयत्वम्—आकाशते, आ

## श्रुतप्रकाशिका

परिहरति तदयुक्तमिति । प्रथमं पुरावादसोपेक्षणानुवादेन पुरोवादिवाक्यविरुद्धार्थप्रतिपादनायोगं वक्तुं अनुवादलिङ्ग-  
वत्त्वमाह—सवाणीति । प्रसिद्धवन्निर्देशोऽस्तु, तत्किमित्यत्राह—प्रसिद्धवदिति । सपेक्षत्वमस्तु तत् किमित्यत्र ह-  
प्रमाणान्तराणिचेति । कथमाकाशशब्दस्य परब्रह्मवादिभिरपि लभ्यते—सम्भवतिचेति । प्रकाशकत्वात् अन्यथा सर्वार्थ

## गूढार्थसंग्रह

तच्छब्दोपपादनेन अनन्यथासिद्धत्वं यथातथाऽत्रापि तच्छब्दनिर्देशेन लिङ्गस्यानन्यथासिद्धत्वं बोध्यते । अनन्यथासिद्धत्वं  
ज्ञस्य श्रुत्यपेक्षया प्राबल्यं सूत्रे निवाक्षितम् । अत्र श्रुतिक्रमे 'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिना कारणं व प्रथमतः, अनन्तरं  
उपायत्वम् अनन्तरं परावणत्वम् अनन्तत्वचान्तेऽभिहितम् । यद्यपि जैत्रिलिना 'अन्तर्वाकिल शालावत्यसाम्' इति पूर्व-  
मेव शालावत्यप्रतिसाम् अल्पव्ययं प्रतिपादितम् । तत्प्रतिकोटिभूतमनन्तव्ययं, तस्यैव प्रथममभिधानं युक्तमिति (न्या.१.१.१०)  
कैश्चिदुक्तम् । तथाऽप्याकाशशब्दघटितविषयवाक्ये लिङ्गोक्तिक्रमपथोलोचनायाः कारणत्वमेव प्रथमतः अन्तर्वाकिलान्तर्वा-  
मुक्तम् । एतदनुसारेण परैरपि कारणत्वादिक्रममभिधाय अनन्तत्वमन्तर्वाभिहितम् । युक्तचेतत् अम्यासरूपता पर्यालिङ्गं नुगृही-  
ताकाशशब्दश्रुतिः पूर्वपक्षलिङ्गमिति (ब्र.वि.आ) पूर्वपक्षिण आशयः परैरेवोक्तः । सिद्धान्तेऽपि एतत्प्रतिपादित्यकार-  
णं व प्रथममभिहितम् । एवमुक्तावेवानन्यथासिद्धं लिङ्गं पूर्वपक्षप्रतिकोप्तिरिति यद्वाक्यबलादुप-  
युक्तं तस्मिन्नेव वाक्येऽनन्यथा-  
सिद्धं लिङ्गं यद्वर्तते तत्प्रकाशन एव पूर्वपक्षानुगुण्य सिद्धान्तस्य एवमुक्तावेव 'आकाशस्तद्विज्ञात् इति सूत्रयितुं व्यसंशय-  
सम्भक्प्रकाशितो भवति । अभ्यस्तश्रुतिरेव पूर्वपक्षबीजमिति परेषामपि समन्तम्, तत्प्रतिकोटिभूतार्थस्य सिद्धान्ते वर्णनदशा-  
यामपि तद्वाक्योक्तकारणत्वस्यानन्यथासिद्धस्य प्रथमोक्तस्य पूर्वपक्षनिरासकत्वकथनं एवानुरूप्यम् । एवमाशयर्नव शङ्करा-  
चार्यैरपि श्रुत्युक्तक्रमेणैव लिङ्गान्यभिहितानि । तद्वीतिरेव भगवद्भाष्यकारैरप्याहता । इत्यादीनि इत्यत्रादिपदेन अनन्त-  
त्वमपि सगृहीतं भाष्ये । तद्विज्ञादित्यत्रैकवचनेन एकस्यैव लिङ्गस्य श्रुतिवाचकत्वं सम्भवतीत्यर्थो बोधितः । अथापि श्रुतौ  
बहूनां सिद्धान्तानामभिधानेन बहूनि लिङ्गान्युपापन्यस्तानि । एतेनाम्यासरूपता पर्यालिङ्गस्य पूर्वपक्षराघवस्य अपि उपश-  
स्त्वचितो भवति । पूर्वोक्ते 'अर्थाद्वा कलनैकदशत्वात्' (१.४.३०) इत्यत्र 'हस्तेनावप्रति स्वाधितिनाऽवप्रति' 'अञ्ज-  
लिना सक्तुन्प्रदाव्ये जुषति' इत्यादौ सामर्थ्यानुवादेनापदानस्य द्रवद्रव्यपुरोडाशाद्यवदानपरत्वेन अञ्जलिशब्दस्य व्याक-  
चात्मकाञ्जलिपरतया च सङ्कोचः । एव कृष्णलेऽष्टौ 'स्याद्वा प्रत्यक्षादष्टत्वा प्रदानवत्' (१०.२.१) इत्यत्र 'घृतेऽथ  
पयति' इत्यादौ विक्लव्यनुकूलव्यापारसामान्यवाचकस्य आघातोऽभिप्राययोगमात्रपरत्वेन सङ्कोचः स्वीकृत इत्यनन्यथा-  
सिद्धलिङ्गस्य प्राप्तये पूर्वमीमांसकानामपि समतममिति सिद्धम् ॥

## आकाशाधिकरणं समाप्तम्

### श्रीभाष्यम्

काशयति च—इति । किञ्च अनेनाकाशशब्देन विशेषसमर्पणक्षमेणापि चेतनांशं प्रत्यस-  
म्भावितत्वं एवमात्रमचेतनविशेषमभिधानेन 'तदक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छां.६.२.३)  
'सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेय' (तै.आन.६) इत्यादियावदशेषावधारितसार्धस्य न्यक्त्याम  
सत्यमङ्गल्यत्वादिविशिष्टापूर्वार्धप्रतिपादनसमर्थानेषवापयगत्तिसामान्यं दैवेनानुवादस्व-  
रूपेणान्यथाकर्तुं न शक्यते । यत्त्वात्मशब्दश्चैतनकान्तो न भवति 'मृदात्मको घटः' इत्यादि  
दर्शनादित्युक्तम् ; तत्रोच्यते—यद्यपि चेतनादन्यथापि कचिदात्मशब्दः प्रयुज्यते ; तथा-  
ऽपि शरीरप्रतिसंबन्धिन्यात्मशब्दस्य प्रयोगप्राचुर्यात् 'आत्मा वा इदमेक एवाग्रभासत'  
(ऐतरेय.१.१.१) 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' (तै.आन.१.२) इत्यादिषु शरीरप्रतिसर-  
न्धिचेतन एव प्रतीयते । यथा गोशब्दस्यानेकार्थवाचित्वेऽपि प्रयोगप्राचुर्यात्साक्षादिमानेव  
म्यनः प्रतीयते ; अर्थान्तरप्रतीतिस्तु तत्तदसाधारणनिर्देशापेक्षा ; यथा स्वतः प्राप्तं शरीर-  
प्रतिसंबन्धिचेतनाभिधानमेव 'स ईक्षत लोकांशुर्गजा इति' (ऐतरेय.१.१.१) 'सोऽका-

### श्रुतप्रकाशिका

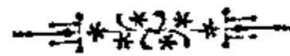
प्रकाशकत्वात् आकाशते स्वस्मै प्रकाशने । आकाशयति अन्य प्रकाशयति, स्वा मने इत्यर्थः । यद्वा प्रकाशकत्वादिति णि  
अन्तरेणाणिजन्तत्वेन च व्युत्पत्तिद्वयस्य तत्रोक्तिः । तस्यैव विवरणम् आकाशते इत्यादि रुद्रिप्रादयमर्थाविरोधसती-  
त्यनुवादाधिकरणनयोपजीनेनेनात्रावयवशक्त्या निर्वाहःकृतः । रुद्रपरित्यागेनापर्यवसानवृत्त्या आकाशशब्दस्याकाशशरी-  
रकपरमात्मपरतया निर्वाहोऽप्यभिमतः । वैश्वानराधिकरणे वैश्वानरशब्दस्योभयत्राऽपि परमात्मपरवस्य ददयमाणत्वात् ,  
आकाशादिशब्दानां तत्तच्छरीरकपरमात्मवाचित्वस्यानन्तरपादेऽनुवादियमाणत्वं च । आकाशशब्दस्याव्यावृत्तशरीरकपरमा-  
त्मपरत्वतु यादवप्रकाशोक्तं विलम्बद्वयवत्त्वादुपेक्षितम् । न केवलं प्रसिद्धवन्निर्देशमात्रमनुवादकत्वसाधक 'यदाभेयोऽ-  
ष्टाकपालः' 'उपरिहि देवेभ्यो धारयति' इत्यादावदर्शनादिति शङ्कायामयोग्यत्वे निश्चितेति प्रसिद्धवन्निर्देशोऽनुवा-  
दकत्वसाधक इत्यभिप्रायेणाह—किञ्चेति । विशेषसमर्पणक्षमेणापीति । एकपदअवयववेलाया विशेषसमर्पणक्षमेणापि परा-  
मर्शदायानयोग्यतया निश्चितोऽर्थो न प्रतिपादयितुं शक्य इत्यभिप्रेत्यासम्भावितकारणभावमिदमुक्तम् । 'सदक्षत' इति  
सद्विवाकावयवशेषः 'सोऽकामयत' इति 'ब्रह्मविदामेति' इत्यनुवाकवाक्यशेषः ब्रह्मणो योग्यार्थत्वज्ञापनाय सार्वश-  
दिकमुक्तम् । नप्रमाणपदधीमधिरोहतीति । अयोग्यार्थेनानुवादरूपेण वाक्येन योग्यापूर्वार्थवाक्यानामन्यथाकरणम-  
युक्तमित्यर्थः । उक्तवैषम्यद्वयानुवादेनानेकवाक्यान्त्येकवाक्येन बाधयितुं शक्यानीत्याह—एवमिति । गतिसामान्यं प्रवृ-  
त्तिसामान्यं 'अस्य लोकस्य कागतिः' इत्युक्तमवशात् अन्यपरव स्फुटम् ॥

एवमाकाशकारणपक्षे अन्यपरत्व,मेकवाक्यत्व,मयोग्यार्थत्व,मनुवादरूपत्वम् स्वपक्षे अन्यपरत्वं वाक्यवहुत्वं योग्या-  
र्थत्वमपूर्वत्व,वेति वैषम्यचतुष्टयमुक्तम् । एवमयोग्यार्थश्रुतिमूल लिङ्गमयोग्यार्थश्रुतितः प्रक्षलमिति सिद्धांतः । याय उक्तो  
भवति यथा गङ्गाशब्दस्वार्थसमर्पणक्षमोभूतलघर्मतया प्रत्यक्षासिद्धशेषाधिकरणत्वात्किञ्चविरोधनादय,योयः स्वार्थप्रतिपा-  
दनसमवाभावाच्छ्रुत्याभासः, एवं योग्यार्थश्रुतिमूललिङ्गापेक्षया आकाशश्रुतिः श्रुत्या भासत इति । आत्मशब्दानैकान्त्य  
यत्तित्यादिनान्य परिहरति तत्रेति । स्वतःप्राप्तया आत्मशब्दो विशेषवाचीत्यर्थः । प्रवृत्तब्रह्मवाचितच्छब्दसामानाधि-  
करण्याच्च न स्वरूपपरत्वमित्यर्थसिद्धम् । न केवलमर्थान्तरसाधकनिर्देशाभावः स्वतःप्राप्तार्थसाधकनिर्देशोऽप्यस्तीत्याह—स  
ईक्षतेति । अधिकरणार्थमुपसहरति एवमिति । योगादूदेः प्राक्ख्यात् प्रसिद्धार्थपरत्वेति श्रुतिविरोधाहुर्बलं लिङ्गादि-

श्रीभाष्यम्

मयत बहुस्यां प्रजायेय ' (तै.आन.६) इत्यादितत्तद्वाक्यविशेषा एव स्थिरीकुर्वन्ति । एवंवाक्यशेषावधारितानन्यसाधारणानेकापूर्वार्थविशिष्टं निखिलजगदेवकारणं ' सदेव सोम्य ' (छां.६.२.१) इत्यादिवाक्यसिद्धं ब्रह्मवाकाशशब्देन प्रसिद्धवत् ' सर्वाणि हवा इमानिभूतानि ' (छां.१.९.१) इत्यादिवाक्येन निर्दिश्यत इति सिद्धम् ॥

आकाशाधिकरणं समाप्तम्



श्रुतप्रकाशिका

तदनुरोधेन नेयमिति पूर्वपक्षयुक्तिः योग्यार्थश्रुतिमूललिङ्गादयोग्यार्थस्य पदस्य श्रुत्याभासत्वाद्योग्यार्थस्वीकारइति राद्धान्त-युक्तिः ॥

आकाशाधिकरणं समाप्तम्

अथ वेदान्तदीपः

आकाशस्तल्लिङ्गात् १-१-२३

' अस्य लोकस्य कागतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशप्रत्यस्तं यन्ति ' (छा.१.९.१) इत्यत्र आकाशशब्दनिर्दिष्ट जगत्कारणं किं प्रसिद्धाकाशः, उत सम्स्तचिदचिद्वस्तुविलक्षणं ब्रह्मेति संशयः । प्रसिद्धाकाश इति पूर्वपक्षः । कुतः ? आकाशशब्दस्य लोके तत्रैव व्युत्पत्तेः, ' यतो वा इमानिभूतानि ' (तै.भृ.१.अनु) इत्यादिसामान्यलक्षणस्य सदादिशब्दानामपि साधारण्येन ' आकाशादेव समुत्पद्यन्ते ' इति विशेषे पर्यवसानात्, ईक्षणादयोऽऽयाकाश एव जगत्कारणमिति निश्चितेऽस्मिन् गौणा वर्णनीया इति । राद्धान्तस्तु—' सर्वाणि हवा इमानि भूतानि ' (छा.१.९.१) इति प्रसिद्धवन्निर्देशात्, प्रसिद्धेश्वक्षापूर्वकत्वात्, चिदचिद्वस्तुविलक्षणं सर्वशं ब्रह्माकाशशब्दनिर्दिष्टमिति । सूत्रार्थस्तु—आकाशशब्दनिर्दिष्ट परमेव ब्रह्म, प्रसिद्धवन्निर्दिश्यमानात् जगत्कारणत्वादिलिङ्गात् ॥

॥ इति वेदान्तदीपे आकाशाधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणसारावली

अत्राकाशस्त्वशेषप्रभवविलयभूरेसाम्नि दृष्टस्त्वनाम्ना  
निर्दिष्टस्तैत्तिरीयेऽप्यनितेरजनितस्वात्मनस्सम्भयोक्त्या ।  
मैवं सिद्धानुवादोह्यमथ च परप्राप्यतादिर्न तस्मिन्-  
स्तकर्ताऽऽत्मा विपश्चिच्छुत इति विहता स्वात्मनस्तत्प्रसूतिः ॥  
समाप्तमाकाशाधिकरणम्



## अथ प्राणाधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू. २४—अत एव प्राणः (१.१.९)

इदमाम्नायते छान्दोग्ये—प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ' (छां. १.९.१) इति प्र-  
स्तुत्य ' कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवामि-  
संप्रिशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते  
व्यपतिष्यत् ' (१.१.५) इति ॥

अत्र प्राणशब्दोऽप्याकाशदान्दवत्प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्ते परस्मिन्नेव ग्रहणि वर्तते, तदसा-  
धारणनिखिलजगत्प्रवेशनिष्क्रमणादिलिङ्गात्प्रसिद्धवन्निर्दिष्टात् । अधिकाशङ्का तु-वृक्षस्य  
भूतजातस्य प्राणाधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिदर्शनात् प्रसिद्ध एव प्राणो जगत्कारणतया निर्देश-  
मर्हति-इति ॥

## अथ प्राणाधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

उक्ताधिकरणन्यायमनुवदति—

सू. २४—अत एव प्राणः (१.१.९)

विषयमाह—इदमिति । मूर्धते व्यपतिष्यत् आ मसत्ता न लभ्येतेत्यर्थः । किं वेदान्तवेद्य प्रसिद्ध प्राणः उत पर-  
मा मा, तदर्थे ' प्राणइतिहोवाच ' ' प्राणमेवामिसंप्रिशन्ति ' इत्युक्त प्राण किंप्रसिद्ध उतपरः? तदर्थे किंप्राणशब्दो  
रूढः उत योगिक तदर्थे भूतजातस्य प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्तस्थितिप्रवृत्तिर्यमस्ति उत नतिविचारः । यदाऽस्ति तदा रूढत्वा-  
दिष्यवाक्यस्यप्राणशब्दः प्रसिद्धप्राणपर इति सर्ववेदान्तवेद्य प्रसिद्धप्राण इति पूर्वपक्षे फलितम् । रादान्तेषु यदा प्राणा-  
व्यतिरिक्तस्थितिप्रवृत्तिर नास्ति तदाऽवयवशक्त्या विषयवाक्यस्यप्राणशब्दः परमा मपरइति सर्ववेदान्तवेद्य परमा मेति फल-  
फलितम् । अक्षरार्थमाह—अत्रेति । आकाशशब्दपरित्यक्त रूढिप्राणवत् त परिहारादिक पूर्वोक्त सर्वमनुरन्वेयम् ॥

नहिप्रमुदाहरण न्यायोऽतिदेष्टव्यः । अतिदशस्यहि प्रयोजन अधिकाशङ्कापरिहार अत सूक्ष्मकाराभिमतमधिक-  
शङ्का दर्शयति कृ स्तस्येति । अप्राविरोधशङ्कया प्रत्यवस्थान विरोधस्तुटीकरणचानुसन्धेयम् । स्थितिप्रवृत्त्यादीत्यादि

## अथ प्राणाधिकरणम्

गूढार्थसंग्रह

वृत्तस्य भूतजातस्येति । स्वापकाल प्राणवृत्तिलापे इतरोन्द्रियवृत्तीनां लोपः, प्रबोधकालच प्राणवृत्तिसत्त्वेऽलाप  
इति लोके प्रसिद्धः । शनपद्यब्राह्मणेऽपि ' यदावै पुरुष स्वापित प्राणतर्हि वागप्येति प्राण चक्षु प्राणगोश्रोत्र प्राणमन  
स्यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायते ' (श. ब्रा १०.३ ३ ६) इत्यत्र अयमर्थो व्यक्तः । अ । ' कतमासादेवता प्राणइतिहो

## श्रीभाष्यम्

परिहारस्तु—शिलाकाष्ठादिषु चेतनस्वरूपे च तदभावात् 'सर्वाणि हवा इमानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' [छां.१.११.५] इति नोपपद्यत इति । अतः प्राणयति सर्वाणि भूतानीति कृत्वा परं ब्रह्मैव प्राणशब्देनाभिधीयते । अतः प्रसिद्धाकाशप्राणादेरन्यदेव निखिलजगदेककारणमपहतपाप्मत्वसावेक्षसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनन्तकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मैवाकाशप्राणादिशब्दाभिधेयमिति सिद्धम् ॥

## प्राणाधिकरणं समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

शब्देन निवृत्तिरुच्यते प्रवृत्तिहेतुभूतज्ञानचिकीर्षे च ; स्थितिप्रवृत्तिहेतुत्वेनोपत्तिकारणत्वमर्थसिद्धमिति भावः ॥

यद्वा 'यदावै पुरुषस्त्वपि प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणंचक्षुः प्राणंश्रोत्रं प्राणंमनः यदाप्रचुध्यते प्राणा देवाधिपुनर्जायन्ते' इति प्रसिद्धवन्निर्देशरहितया श्रुत्या प्राणस्याप्ययोद्गमनहेतुत्वावगमश्चादिशब्देन विवक्षितः, अस्मिन्प्रकरणे उद्गीथप्रतिहारयोर्देवतात्वेनाग्नादित्याहुक्तौ तयोश्चाब्रह्मत्वात् प्राणोऽपि ब्रह्मव्यतिरेकः प्रसिद्धएव ब्राह्मइतीदमाप्येऽनादृतम् प्रकरणोक्तानामन्नमयादीनामब्रह्मत्वेऽपि कारणस्य परब्रह्मत्वमानन्दबल्लया समर्थितमिति प्रकरणमाश्रय पूर्वपक्षावलम्बनत्वेन बुद्धावनारोहात् । जगत्कारणतयेति । संसृष्टप्रति कारणत्व संभवतीति भावः ॥

आधिकं परिहार दर्शयति परिहारस्त्विति । आदिशब्दोक्त आकाशादिः 'प्राणंतर्हि वागप्येति' इत्यादिश्रुतिरिन्द्रियव्यापारविषया, प्राणशब्दस्य परब्रह्मत्वचित्त्वं कथमिति शङ्का परिहरन्नधिकरणार्थमुपस्हरति अतइति । वृत्ताधिकरणद्वयस्यावान्तरपेटिकात्वं दर्शयति अतःप्रसिद्धेति ॥

## प्राणाधिकरणं समाप्तम्

## गूढार्थसंङ्ग्रहः

वाचं'ति प्रश्नप्रतिवचने (१.११.४.५) एतद्वाक्यानन्तर 'उद्गातर्या देवता' 'प्रतिहर्तर्या देवता' इत्युपक्रम्य 'आदित्य इतिहोवाच' 'अन्नामेतिहोवाच' इत्यादिप्राणक्रमेणैव वाक्यं श्रूयते तत्रोभयोर्ब्रह्मत्वाभावात् अत्रापि ब्रह्मत्वाभावः । एवं 'यदापुनः स्वप्न न कञ्चन पश्यति' इत्यादिकौपीतकीवाक्ये 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यत्र पूर्वोक्तश्रुत्यर्थएव स्फुटः इत्यधिका शङ्का । स्वापप्रबोधयोः इन्द्रियमात्रस्य सवेशनोद्गमनदर्शनेऽपि सर्वेषां भूतानामत्रोपत्तिलयश्रवणेन मुख्य प्राणस्योत्पादक वासंभवः ब्रह्मादिस्तम्भान्तस्य भूतशब्दार्थतया चेतनेषु प्राणाधीनत्वं न संभवति । 'वाचिकैःपाक्षिमृगता मानसैरभ्यजातताम् । शरीरजै कर्मदोषैर्याति स्यावरता नरः' इति स्यावराशिलायाः प्राणाधीनस्थित्यदर्शनात् अत्र 'सर्वाणि भूतानि' इति वाक्यं न गौणं नेतुं शक्यम् । 'प्राणबन्धनं हि सोम्यमनः' इत्यादौ प्राणशब्दः ब्रह्मणि प्रसिद्धः । 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादौ प्राणशब्दः ब्रह्मपर एव, 'कोहोवा-या-क्.प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादौ प्राणस्य परमाधीनत्वमपि श्रूयते, एव प्राणशब्दस्य परमात्मपरत्वे संभवति अन्नादित्यवाक्ययोरेव प्राणवाक्यस्य गौणार्थकल्पनं नयुक्तम् । तत्र गत्यन्तरविरहात्तथाऽऽश्रयणम् अत्रतु न तथा, अतः सर्वभूतोत्पादकत्वादिलिङ्गस्य अनन्यथासिद्धस्य मुख्यप्राणपरिग्रहे बाधकस्य सत्त्वात् यौगिकएवाय प्राणशब्दः इत्यभिप्रेत्याह—प्राणयति इत्यादि ॥

## प्राणाधिकरणं समाप्तम्

अथ वेदान्तसारे आकाशाधिकरणं, प्राणाधिकरणं च,

सू.२३—आकाशस्तद्विंशति (१.१.८]

सू.२४—अत एव प्राणः (१.१.९)

‘सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यक्षं यन्ति’ (छा.१.९.१) ‘सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिधायिष्यन्ति प्राणमेवाभ्युज्जिहते’ (१.१.१.५) इत्यादौ ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इत्यादिना सामान्येन निर्दिष्टस्य जगत्कारणस्य भूताकाशप्राणसहचारिजीववाचिशब्दाभ्यां विशेषनिर्णयशङ्कायां ‘सर्वाणि हवा इमानि भूतानि’ (छा.१.१.५) इति प्रसिद्धवज्रिर्देश्यमानात् जगत्कारणत्वादित्तिज्ञात् भूताकाशादिजीवाभ्यां ऊर्थांतरभूतः परमपुरुष एवात्र आकाशप्राणशब्दनिर्दिष्ट इति निर्धार्यते । तत्प्रसिद्धिरस्तु—बहुभवनरूपेणानवाधिकातिशयानन्दजीवानन्दहेतुवविज्ञानमयविलक्षणत्वनिखिलभुवनभयामयहेतुवसर्वलोकसर्वकामेश्वरसर्वपाप्मोदयाप्राकृतस्वासाधारणरूपविशिष्टस्य शवेकरविकसितपुण्डरीकनयनस्य सर्वशस्य सत्यसङ्कल्पस्य करणाधिपाधिपस्य परमपुरुषस्यैव निखिलजगदेककारणत्वादिति स एव आकाशप्राणशब्दाभ्यां जगत्कारणत्वेनाभिधीयत इति निर्णयो युक्त एव ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

अत एव प्राणः १-१-९

छान्दोग्ये—‘प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता’ इति प्रस्तुत्य ‘कतमासा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिधायिष्यन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता’ (छा.१.१.४,७) इत्यत्र निखिलजगत्कारणतया प्राणशब्दनिर्दिष्टः किं प्रसिद्धः प्राणः । उतोत्तलक्षण ब्रह्मेति रुशयः । प्रसिद्धप्राण इति पूर्वपक्षः । कुतः । सर्वस्य जगतः प्राणायत्तस्थितिदर्शनात् स एव निखिलजगदेककारणतया निर्देशमर्हतीति । रादान्तरु—शिलाकाशादिध्वचेतनेषु चेतनस्वरूपेषु च प्राणायत्तस्थित्यभावात्, ‘सर्वाणि हवा इमानि भूतानि’ (छा.१.१.४) इति प्रसिद्धवज्रिर्देशादेव हेतोः प्राणशब्दनिर्दिष्ट परमेव ब्रह्म सूत्रमपि व्याख्यातम् ॥

॥ इति वेदान्तदीपे प्राणाधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणसारावली

प्राणायत्तं हि देहादिकमिह विदितं तेन तत्कारणत्वं  
मृत्युकं रुद्धिशक्त्या सुदृढमिति न तद्वधोमवद्वाधनीयम् ।  
तन्न प्राणस्य काष्ठादिषु महिमहते. पूर्ववच्चानुवादात्  
आकाशोत्तेरियोक्ते भगवति निखिलप्राणनस्यापि दृष्टेः ॥

नोक्तिं व्याहन्ति लिङ्ग किमपि भवति तु ख्याततत्त्वानुकूलं  
 शब्दश्चानन्यनिष्ठश्चुत इति न परो ज्योतिराद्युक्तिवेद्यः ।  
 विश्वोत्पत्त्युत्तमभावेऽप्यवगतमिह तल्लिङ्गमित्याक्षिपन्तः  
 रूपेऽथाधिक्रियाभ्यां तदुचितीचदीचद्वर्गवैशिष्ट्ययुक्त्या ॥

॥ प्रा णा धि क र णं न मा स म् ॥

अथ ज्योतिरधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

अतः परं जगत्कारणत्वव्याप्तेन येन केनापि निरतिशयोक्तृष्टगुणेन जुष्टं ज्योतिरिन्द्रा-  
 दिशब्दैरर्थान्तरप्रसिद्धैरप्यधीयमानं परं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते—‘ज्योतिश्चरणाभिधानात्’—  
 इत्यादिना—

सू.२५—ज्योतिश्चरणाभिधानात् (१.१.१०)

इदमाज्ञायते छान्दोग्ये—‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः  
 पृष्ठेष्वनुत्तमेषुत्तमेषु लोकेष्विदं वाच तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरे ज्योतिः’ (छां.३.१३.७) इति

अथ ज्योतिरधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

वर्तितव्यमाणाधिकरणद्वयस्य पेटिकान्तरत्वमाह—अतः परमिति । वस्तुन्तरासाधारणैश्वर्यैर्जगत्कारणनिर्दिश्यमा-  
 नेऽपि कारणवाभिधायिनां वाक्यानां विशेषपर्यवसानं कृतम् । अथ कारणवाक्षेपकलिङ्ग(विशेष)वाचिना वाक्यानां अभि-  
 मतविशेषपर्यवसानमुच्यते इत्यन्तरेपेटिकाभेदस्तु सङ्गतिश्चेत्यर्थः, ज्योतिरदृशदेनावात्सङ्गतिश्च द्योतिता प्राणो वायु  
 विशेषः, आदित्यादिज्योतिस्तेजा विशेषः, अतः आकाशप्राणज्योतिषा क्रमा युक्त इति । नन्वाकाशादिशब्दत्रय परमात्मपर-  
 मिति सिद्धान्तितम् । सत्यं तथाऽपि प्रसिद्धचतुसारिण्या पूर्वपक्षदृष्ट्या रुद्धयुत्पत्तिं येन वनापीति न लिङ्गत्वं विव-  
 क्षितम्, किंत्वाद्वैतविषयवाक्यप्रतिपक्षोऽयमेव गुणकारणत्वाक्षेपक इति गुणविशेषानियम इति भावः । उभयापेटि-  
 कयोः अनुवायिनमाकार दर्शयति अर्थान्तरप्रसिद्धैरपीति ॥

सू.२५—ज्योतिश्चरणाभिधानात् [१.१.१०].

इदमित्यादि । पृष्ठेषु, उपरितनेषु ‘त्रिपादूर्ध्वः’ ‘तमसोपरिष्ठात्’ इत्यादिश्रुतिभ्यः व्यष्टिसमष्टिविवक्षया विश्वतः  
 सर्वत इत्युक्तम् । अनुत्तमेषु स्वसादन्य उत्तमो नास्तीत्यनुत्तमः । विश्वतः कृत्स्नभूमिप्रदेशात् सर्वतः कृत्स्नन्तरिक्ष



### श्रीभाष्यम्

तत्र संज्ञाय - किमयं ज्योतिरदशब्देन निर्दिष्टो निरतिशयदीप्तिरुक्तोऽर्थः प्रसिद्धमादित्यादि-  
ज्योतिरेव कारणभूत ब्रह्म, उत समस्तचिदचिदस्तुजातविसर्जातीय परमकारणभूतोऽमित  
भास्वरसर्वज्ञस्मृत्यसङ्कल्प पुरुषोत्तम इति । किं युक्तम् ? प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । कुत ?  
प्रसिद्धवन्निर्देशोऽयाकाशप्राणादिवत्

### श्रुतप्रकाशिका

प्रदेशात् ; पृष्ठेषु बहिर्भूतषु इति योजनासम्भवात् पूर्वपक्षो यान आदित्योद्युध्वले कधीप रश्मिद्वारा दीप्यते तत्रेति ।  
लोकप्रासदि भूतचरण प्राप्त्वा सशय निरतिशयदीप्तिरुक्तोऽर्थ इति पूर्वपक्षसिद्धात्साधारणनिर्देशः, निरतिशयदीप्तिरेव  
कारणप्राप्तयेकं सिद्धं नतत्र सूर्यो भाति तस्य भासा सर्वमिदं विभाति इति प्रकरण तथाऽक्षरात्सम्भवतीहचिश्चम्  
इति निरतिशयदीप्तिरुक्तस्य वस्तुन कारणवधवशात् । त प्रकरणस्य कारणविषयः स्वविभाति परमा मविषयः हि वि-  
मति । निरतिशयदीप्तिरुक्तायात् कारणभूत ब्रह्म भवन् नारायणः इति निर्दिष्टोऽर्थः किं प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरित्यस्य वयार्थः  
साऽवाचरभेदसमष्टिव्यवस्थादिविषयया समस्तचिदचिदस्तुजातशब्दः । व्याप्तिग्रहणस्यानोपनिषत्प्रासद्विज्ञापणमाह- सर्वं  
ज्ञातस्यसङ्कल्पइति । 'यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्' 'यस्य ज्ञानमय तपः' इति श्रूयते । अस्यामुपनिषदि पुरुषसूक्तप्र-

### अथ ज्योतिरधिकरणम्

#### गूढार्थसंग्रहः

आनन्दवच्छ्रुत्या- 'कालवान्या क प्राप्यात्, यदेष आकाशः अनदो न स्यात्' इति श्रुतिमूलोपेक्षस्य अभिहरणं  
द्वयन छान्दोग्यप्रथमाध्याय प्रथमपादस्यकारणवाक्यविचारेण परिहारः कृतः । त पृथ्वाधिकरणं 'सयश्चायं पुरुषे यश्चासा-  
वादित्ये' इत्यानन्दवल्लीवाक्यमूलोपनिषद्विरासः कृतः । आदित्यादिवर्ति पुरुषविद्वत्पुरुषोऽपि आकाशवाच्यनन्तरत्वेन  
आदित्यस्य बुद्धिस्यतया तत्र जगत्कारणत्वेनैकवाक्यमवदपि कारणवाधेपकल्लिङ्गस्य वन तद्वाक्यस्य तजस परवे जगत्कारणे  
ऽचिद्वैलक्षण्यं न सिद्धयतीति ज्योतिरदशब्दप्रतिष्ठा दोग्धतृतायाध्यायस्यवाक्यं ज्योतिरधिकरणं विचार्यते । असाधारणं  
शब्दानिबन्धनाशङ्का सवत्र । आनन्दवच्छ्रुत्या 'अस्माच्छ्लोका प्रत्य एतमानन्दमयमा मानमुपसङ्गम्य इमाच्छ्लोकाकामाजी'  
कामरूप्यपुष्पञ्चरन्' इति पलवाक्यं लोकविशेषं नैव निर्धारितं । अतः पलवाक्यं 'येचामुष्मा पराञ्चा लोका-  
स्तेषाचष्ट दवकामाना च । यचामुष्मादवाञ्चा लोकास्तेषाचष्ट मनुष्यकामाना च' इत्यत्र लोका प्रतिपादिता । तत्र श्लोके-  
शयमाप प्रतिपादितम् इति ताद्वैर्धारणमुत्पन्नानन्दमयस्य लोकविशेषस्य वमपि ज्योतिरधिकरणं स्थाप्यते । उत-इत्यादि  
पुरुषोत्तम इत्यन्तम् । पुरुषोत्तमनामानर्धचन (वि स मा) 'यस्मात्परमतातोऽहमक्षरादपिचात्तम, अताऽस्मि लोक वेदे  
च प्रसिद्धपुरुषोत्तम' (गा १५) इति गातावचनं शङ्कराचार्येण ददाहृतम् । गीतायामश्विरशब्द ईश्वरशीलनारायण  
इति विवृतः । 'विहायसगानज्योति' इति सहस्रनाममाप्ये शङ्कराचार्ये स्वत एव द्योतते इति ज्योतिः 'नारायण पर  
ज्योति' इति मात्रवर्णात् इति 'नर आ मा यता ज्ञाना याकाशादीना नाराणि कायाणि अयं कारणात्मना  
ज्योतिरिति अतश्च तं ययनमस्येतिनारायण । 'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यत श्रूयतऽपि वा, अतर्हिद्वि तत्सर्वं स्यात्' इति  
नारायणारस्यतः' इति मात्रवर्णात् 'नर ज्ञातानि तत्त्वानि नाराणीति तदा विदुः । ता येन ज्ञायन तस्य तन नाराय-  
णसमृत् ॥' इति महाभारते 'नाराणा जीवानमयनवात् प्रलय' इति वा । 'य प्रय त्यागमविशति' इति अतः

## श्रीभाष्यम्

स्ववाक्योपात्तपरमात्मव्याप्तलिङ्गविशेषादर्शनात्, परमपुरुषप्रत्यभिज्ञानासम्भवात्,

### श्रुतप्रकाशिका

प्रत्यभिज्ञानात् पुरुषोत्तम इत्युक्तम्, 'अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यत्र ज्योतिश्शब्दः किं प्रसिद्धादित्यादिज्योतिर्विषयः ? उत परमात्मपर इति । तदर्थं पूर्ववाक्ये द्युसम्बन्धितया निर्दिष्टस्य परमात्मनः किमत्र प्रत्यभिज्ञाननास्ति, उतास्ति तदर्थं कौक्षेयज्योतिर्पैक्योपदेशः उपदेशभेदश्च किं प्रत्यभिज्ञाविरोधिनौ, उताविरोधिनौ, पूर्वस्मिन्ब्राह्मणवाक्ये गायत्रीशब्दः किं प्रसिद्धगायत्रीकरः, ? उत नेति विचारः, यदा विरोधिनौ, गायत्रीशब्दार्थश्च परिहृतः तदा तस्मिन्वाक्ये परमात्मप्रत्यभिज्ञाभावात् द्युसम्बन्धज्योतिः प्रसिद्धादित्यादिज्योतिरेवेति पूर्वपक्षे फलफलभावः । यदा कौक्षेयज्योतिर्पैक्योपदेशो विभक्तिभेदश्च न परप्रत्यभिज्ञाविरोधिनौ ; गायत्रीशब्दश्च ब्रह्मपरः, तदा पूर्ववाक्योक्तद्युसम्बन्धपरमात्मन इह प्रत्यभिज्ञानादिवः परत्वेनैवोक्तज्योतिः परमात्मैवेति फलफलभावः ॥

ननु कथं स्ववाक्ये परमात्मलिङ्गाभावः निरतिशयदीप्तियोगाक्षिप्त कारणत्वांहि परमात्मलिङ्गम्, नैवम् नहि जगत्कारणत्वमात्रं परमात्मलिङ्गं अपितु कारणत्वाविशेष एव तल्लिङ्गं, कृत्स्नचेतनाचेतनप्रति सर्वविधकारणहि परमात्मा पूर्वाधिकरणद्वयविषयवाक्येऽपि 'सर्वाणि ह्वा इमानि भूतानि' इति समस्तचेतनाचेतनप्रति कारणत्वरूप परमात्मलिङ्गं स्ववाक्यस्यम् । न तथाऽत्र परमात्मलिङ्गभूतकारणत्वविशेषः स्ववाक्ये दृश्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं परमात्मव्याप्तलिङ्गविशेषादर्शनादिति । ततः किमित्यत्राह — परमपुरुषेति । हेत्वन्तरमाह — कौक्षेयेति । प्राकृततेजस्तत्त्वकार्यतया आदित्यादेः कौक्षेयज्योतिषश्चैकजातीयतया सामानाधिकरण्यनिर्देशेनैव शब्देऽप्युपदेशः कौक्षेयज्योतिषश्च भौतिकत्वं उष्णत्वघोषगुणकत्वात्मननासिद्धम् 'तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिन्शरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपि गृह्य निनदमिव नदधुमिवाग्नेरिव ज्वलतः उपशृणोति' इति हि श्रूयते, प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । आदित्यादौ ज्योतिश्शब्दस्य प्रसिद्धवादिति भावः । एव स्ववाक्येत्यादिना कौक्षेयेत्यादिनाच स्ववाक्ये विरोधिलिङ्गाभावात्प्राप्तुकूलसद्भावो दर्शितो भवतः 'दीप्यत' इति श्रूयमाणा दीप्तिश्च रूपवत्पदार्थनिष्ठा भवतीत्यभिप्रेतम् अस्यापि हेतोः परिहारिष्यमाणत्वात् — सर्वगतस्य ब्रह्मणो द्युमर्यादत्वाच्च भवस्तु परैः पूर्वपक्षहेतुतयोक्तो भाष्येऽनादृतः भौतिकज्योतिषोऽपि द्युमर्यादत्वाच्च भवस्तु सर्वत्र भौतिकानि ज्योतिर्गोष्ठिहि विद्यन्ते उपासनाभ्युपदेशविशेषपरिग्रहस्तु ब्रह्मणोऽप्युपपद्यते । लोकेऽपि अतिकरणबहुत्वप्रतीतिश्च सर्वत्र सतो ब्रह्मण उपपन्ना, तदेतद्दृष्टं च श्रुतं च इत्युपाधीतं चक्षुष्यश्रुतो भवति यएववेदेत्य-

### गूढार्थसङ्ग्रहः

'नारायणमयं यस्मात्तस्मान्नारायणस्मृतः' इति ब्रह्मैववर्तात् ।

नारायणाय नम इत्ययमेव सत्यः ससारघोरविषसहरणाय मन्त्रः ।

शृण्वन्तु भव्यमतयो यतवोऽस्तरागाउच्चैस्तरामुपदिशाम्यहमूर्ध्वबाहुः ॥

इति नारसिंहपुराणे (१८. अध्याय. ३०. श्लोक) 'नयतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः' इति व्यासवचनम्, इति च उक्तम् । अथ 'नारायणाय नम इत्ययमेव मन्त्रः' इत्यत्र मन्त्रः 'अष्टाक्षरं प्रवक्ष्यामि मन्त्राणां मन्त्रमुत्तमम् । य जपन्मुच्यते मर्त्यो जन्मससारबन्धनात् ॥ ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रस्सर्वार्थसाधकः ।' इत्युपक्रमे तत्रैवोक्तम् । 'यत्प्रयत्नं

### श्रीभाष्यम्

कौक्षेयज्योतिषेयोपदेशाच्च प्रसिद्धमेव ज्योतिः कारणत्वव्याप्तनिरतिशयदीप्तियोगाज्जगत्कारणं ब्रह्मेति ॥

एवं प्राप्ते प्रचदमहे- 'ज्योतिश्चरणामिधानात्' द्युसंवन्धितया निर्दिष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिः परमपुरुष एव । कुतः ? 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां ३.१२.६) इत्यस्यैव द्युसम्बन्धनश्चरणत्वेन सर्वभूतानामभिधानात् ॥

### श्रुतप्रकाशिका

स्वफलवश्रवणं तु ब्रह्मविदामपि विद्यानुकूलकल्पप्रदत्वात् परमात्मन उपपद्यते एवमेतेषां हतूनामाद्यकरणान्तरपरिहार्यत्वादमी पूर्वरश्मेऽनादृताः ॥

एवंप्राप्तइति । चरणत्वेन सर्वभूताभिधानं कारणस्य जीववैलक्षण्यनिश्चायक जीवमात्रस्य सर्वभूतपादवत्त्वानुपपत्तेः तत्र एव पुरुषगूढप्रत्यभिज्ञापकतया देवताविशेषनिश्चयः । तद्द्वारा दीप्तियोगस्य भौतिकज्योतिर्ये हेतुतापरिहारश्च भवति

### गूढार्थसङ्ग्रहः

भिसविशन्ति' इति श्रुतेः नारायणनामानिर्वचनसाधनतयोपन्यासेन 'यतो वा' इति श्रुतेः जगत्कारणीभूतनारायणपरत्वमेवेति शङ्कराचार्यैस्सूचितम् । 'नारायणपरा ज्योतिः' इत्यत्र विचारण्यभाष्यम् 'नारायण.पर-नारायणपरः' इति पुराणेषु नारायणशब्देन व्यवहियमाणः य.परमेश्वरः स एव परमु कृष्ट सत्यज्ञानानन्दादिवाक्यैः प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणस्तत्त्वं अतो नारायणः पर एवा मा नन्परो मूर्तिविशेषः तथा परो ज्योतिः यदेतत् कृष्ट ज्योतिः । छान्दोग्ये 'परज्योतिरुपसर्पयते' इत्याग्नान्तम् तदपि नारायण एव तस्मात्तारायणः परमात्मा इति । आरम्भभाष्ये 'अमितभा' इत्यनेन 'नतत्र सूर्यो माति-तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' (कठ.श्र.) इति श्रुतिर्विग्रहपरेति व्यञ्जितम् । 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता यदिमास्सदृशी स्यात्सा भासस्तस्य महात्मनः ॥' इति गीतावचनमेतदुपगृहणम् । 'भासस्तस्ये'ति गीताया 'तस्य भासा' इति श्रुतिर्विवक्षिता इदं च गीतावचनं विग्रहपरमिति सर्वसमतम् । अनेन गीतावचनेन 'तस्य भासा' इति श्रुतौ विग्रहमा एव विवक्षितेति गीतावचनेन निर्धारितं भवति 'भान्, तस्य भासा' इति निर्विशेषपदादे न सम्भवतीति पूर्वमेवोपपादितम् ॥

यदिदमस्मिन्नन्त पुरुषे इति वाक्याशयेनाह—कौक्षेयज्योतिषेत्यादि । प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । 'ज्योनिरमौ दिवाकरे' इत्यादिमेदिनीकोशेन आदित्ये प्रसिद्धो ज्योतिश्शब्दः । एवं प्राप्तइति । पूर्वोत्तरखण्डयोरैकार्थकत्वं न सम्भवतीति उत्तरत्र सूत्रद्वयेन सूच्यते । 'गायत्रीवा' इति पूर्वखण्डोपक्रमः । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतौ 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यत्र दिवि वर्तमानत्वं प्रतिपादितम् । तत्र तु 'परोदिवः' इति निर्देशेन द्युसम्बन्धश्च न्यमेव प्रतीयत इति खण्डयोरैकार्थकत्वा सम्भवः पूर्वपक्ष्यभिमतः विवक्षितः । अस्मिन् खण्डे जगत्कारण वमपि न प्रतिपादितम् । कारणत्वव्याप्तलिङ्गमपि नास्ति । खण्डेचास्मिन्परमात्मत्वसाधकलिङ्गाभावेऽपि (छा. १२.१३) खण्डयोर्द्वयोरैकार्थत्वेन पूर्वखण्डोक्तसर्वभूतचरणत्वं प्रसिद्धादित्यादिव्यावर्तकमित्याह-ज्योतिश्चरणामिधानादिति ॥

निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिरिति । 'अथ यदत परोदिवो ज्योतिर्दीप्यत' इत्यत्र निरतिशयज्योतिर्विवक्षितमिति भावः । 'अथ यदत परोदिवो ज्योतिः' इत्यत्र दिव पर इति निर्देशेन 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यत्र द्युसम्बन्धत्वेन पूर्वखण्डोक्त एवार्थः अत्र विवक्षित इति श्रुतौ प्रतीयते । तत्र च 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इत्यत्र

## भुतप्रकाशिका

पुरुषसूक्तं कस्मात्सूत्रकारेण ननिरूपितम् । सशयहेत्वभावादिति ब्रूमः सन्दिग्धोऽहं न्यायः । प्रवर्तते पुरुषसूक्ते च ज्योतिर-  
शब्दश्चोऽभिधानादिक प्रधानक्षेत्रशासाधारणलिङ्गान्तरं वा क्वचिददृश्यते सर्वभूतपादत्वादिधर्माश्च तयोरसम्भा-  
विताः । तर्हि चिदचिद्विलक्षणकारणास्तिविषयस्य प्रथमपादस्यानारम्भस्यादिनिर्देशं बहूनां वेदान्तवाक्यानां प्रकृतिषु  
रूपकारणमात्रादित्वे तद्विरोधेनात्रापि संशयप्रसङ्गात् तेषां भूयसां बलीयस्तया विपरीतनिश्चयप्रसङ्गाच्च, तदुदासायार-  
म्भणीयत्वात् तेषु च प्रकृतिपुरुषविलक्षणविषयतया न्यायतो निश्चितेषु सशयविषयभावात् पुरुषसूक्तस्य चिदचिद्विलक्षणे  
परब्रह्मणि प्रामाण्यमप्रतिभट्टमवतिष्ठते । अतो न तत्र निरूपणीयं तस्य तत्परं च तत्रापि महापुरुषस्य शदेवताविशेषविषय-  
त्वमप्यविगीतम् अनेकोपपत्तिसिद्धं च,

तथाहि इदतावत् 'अग्निमीळे पुरोहितम्' 'अभित्वा शूरनोनुम.' 'स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स्तौ  
म्याग्निनाथितो जोहवीमि' इत्यादिवदन्यस्ववाक्यं न स्तुतिपरत्वमवगमयति 'अर्हन्विभिर्पि सायकानि धन्वेत्याह,  
स्तौम्येयै नमेतत्' 'ततो देवा ऊर्ध्ववाहवो रुद्रमस्तुवत्' इत्यादेरिव वाक्यान्तरेणास्य स्तुतिपरत्वं नावगम्यते नापि  
स्तुतिपरत्वे लिङ्गमुपलभ्यते नहि 'नमस्ते अस्तु मामाहिर्गंसीः' 'देहिमे ददामिते' इतिवन्नमस्कारोऽनिष्टनिवृत्ती-  
ष्टलाभप्रार्थना वा दृश्यते 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तर' 'तस्य वज्रमादाय शीर्षाण्याच्छिनत्, तं भूतान्यभ्यक्रोशन्त्र  
हहन्निति' 'अग्निस्सर्वादेवताः' 'अग्निं जातं पाप्मा जग्राह' इत्यादिभिर्मीन्द्रादीनामिव प्रतिपन्नस्य प्रकर्षस्य  
बाधकश्च न दृश्यते नहि, परमपुरुषस्य कार्यं वकर्मवश्यत्वादिक क्वचिदन्यपरवाक्येनावगम्यते 'आकाशोहवै नामरू-  
पयोर्निर्वहिता' 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यानामिधानुवादरूपतया नास्य साकाङ्क्षात् प्रतीयते 'तदेवाभ्युक्ता'

## गूढार्थसंग्रहः

सर्वभूतानां पादत्वं युसम्बन्धिनः प्रतिपादितम् । सर्वभूतपादत्वमादित्यादिज्योतिषः न सम्भवति । श्रुतिघटकपादशब्द-  
विहाय चरणशब्दनिर्देशेन आदित्यादिव्यावृत्तिरिति सूत्रकारेण व्ययमर्थः सूचितः । 'चरणमिभक्षणयो' इति धातुः  
'पदलगतौ' इति पाद इत्यत्र धातु । अत्र दिवि इति युसम्बन्धिनः गमनं भक्षणं चरणशब्दे विवाक्षितम् । 'दिवि'  
इति निर्देशेन 'अस्माच्छरीरांसमुत्थाय परज्योति' इत्यत्र परत्वेन वक्ष्यमाण ज्योतिरेवात्र विवाक्षितमिति प्रतीयते ।  
चरणशब्दयोगेन सर्वभूतानां गमनसम्बन्धित्वं भक्षणसम्बन्धित्वं विवाक्षितमिति ज्ञायते । तेन दिवि विद्यमानं मुक्तप्राप्य  
ज्योतिः प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वस्थानवर्त्येव विवाक्षितम् । युशब्दस्य 'युतदीप्तौ' 'युआभेगमने' 'दिवुक्तीडाविजिगीषा' इति धातु-  
त्रयेण निष्पत्तिः (अ.सु.) प्रदर्शिता । तत्र 'युआभेगमने' इति धातुना मुक्तप्राप्यत्वं 'परज्योतिरुपसम्पन्न' इत्यादिना  
वक्ष्यमाणं 'युतदीप्तौ' 'दिवुक्तीडा—युति' इति धातुद्वयेन दीप्तिमत्त्वं च बोधितम् । 'दिवि' इत्यत्र दीप्तिर्विवाक्षि-  
तत्वे 'दीप्यत' इति धातुना 'अत पर' इत्यनेन च प्रसिद्धज्योतिर्व्यावर्तकनिरतिशयदीप्तिर्बोधिता । युधातोः क्रीडार्थ-  
कत्वेन ऋड्या सर्वभूतचरणमित्यापि सूचितम् । सूत्रे चरणधातुयोगेन 'त सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्' इत्यादिश्रुत्युक्तान्तर्या-  
मितयाऽवस्थानं 'यस्य ब्रह्म च क्षत्र चोभे भवत ओदनः' इति श्रुत्युक्तं भक्षणं सहारूपं 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि'  
इति श्रुतौ सूचयति सूत्रकारः, सृष्टिकालिकान्तर्यामित्यप्रतिपादनेन सृष्टिसिद्धयति । तेन सर्वभूतानां सृष्टिसहारविषयत्वं  
श्रुतौ विवाक्षितमित्यापि सिद्धयति । श्रुतौ विभागेन दिवः सृष्टिसहारविषयत्वं नास्तीति सूचितं भवति । एतेन सृष्टिस-  
हाराविषयत्वं 'दिवि'त्यत्र विवाक्षितम् । तेनोक्तोभयाविषयविषयदेशद्वयं श्रुतौ विवाक्षितमित्यापि बोध्यम् ॥



### श्रीभाष्यम्

इत्यस्या ऋचोऽपि छन्दोविषयत्वाच्चात्र परमपुरुषाभिधानमिति चेत्-तत्र । तथा (चेतोऽर्पण निगमात्) न गायत्रीशब्देन छन्दोमात्रमिहाभिधीयते, छन्दोमात्रस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्तेः । अपितु ब्रह्मण एव गायत्रीचेतोर्पणमिह निगम्यते ब्रह्मणि गायत्रीसादृश्यानुसन्धानं फलायोपदिश्यत इत्यर्थः । सम्भवति च 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादम्यामृतं दिवि'

### श्रुतप्रकाशिका

तन्नेति । छन्दोऽभिधानेनेत्यर्थः । तथाचेतोऽर्पणनिगमात् इति स्वाभिमतनिर्वाहवदता सूत्रकारेणाभिप्रेता छन्दोमात्रपरवानुपपत्तिमाह-गायत्रीति । कुत इत्यत्राह-छन्दोमात्रस्येति । पूर्वसूत्रे 'चरणाभिधानात्' इति स्वपक्षसाधकतया कण्ठोक्तस्य हेतोः पूर्वपक्षेऽनुपपत्तिरिति सूत्रकाराभिप्रेतोति भावः । ननु गायत्र्या ब्रह्मदृष्टिरिति दृष्टिविशेषणभूतब्रह्मणश्चरणाभिधानोपपत्तिरिति चेन्न 'मनोब्रह्म' इति ब्रह्मदृष्टिविशेषणभूतब्रह्मवाचिपदसामानाधिकरण्याभावतः । दृष्टिविधानाभ्युपगमेऽपि 'तावान्' इति मन्त्रस्य दृष्टिविशेषणब्रह्मपरत्वेनोत्तरवाक्ये ब्रह्मप्रत्यभिज्ञानोपपत्तस्तदभ्युपगमवैयर्थ्यात् अतो गायत्र्या ब्रह्मदृष्टिश्चोदयितुरनभिमता ॥

यादवप्रकाशैस्तु-'गायत्रीवा' इत्यादिब्रह्मणोक्तसर्वभूतवाङ्मृद्विषयीशरीरहृदयप्रणाभ्यामिधनञ्छन्दोमात्रमिति व्याख्यातम् ततोपीदमुचितं अश्रुतं हेतुं कन्यायित्वा तदनुपपत्त्या छन्दःपरवप्रतिक्षेपादापि पूर्वसूत्रश्रुतहेतावनुपपत्त्या तत्प्रतिक्षेपोपपत्तेः । स्ववाक्यस्य हेतुविवक्षा न्याय्येति चेत् सत्यं सतु हतुरनन्तरसूत्रे विवक्षितं, मन्त्रवर्णोक्तपादवत्त्वं तत्र विवक्षितमिति चेन्न, स्वपक्षसाधनाय तस्याङ्गसूत्रे कण्ठोक्त्या-छङ्कापि हाराय तस्यैवाभिप्रेतत्वाभ्युपगमपत्तेः क्वचिदुक्तस्य ह्यन्यत्रोपजीव्यत्वं न्याय्यम् अन्यत्रानुक्तस्य च क्वचिदुक्तिरपेक्षिता साचेत्सिद्धयति तदङ्गुणो निर्वाहो न्याय्यः—एव छन्दःपरत्वेऽनुपपत्तेरिति तस्य वाक्यस्य कोऽर्थ इत्यत्राह-अपत्तिरिति । चेतोऽर्पणशब्द निगमशब्दश्च त्रिवृत्तवन् कसिन्निर्मर्धमित्यकाङ्क्षा च पूरयति ब्रह्मणीति । अनुसन्धानोपदेशशब्दम्या चेतोऽर्पणनिगमशब्दौ विधृतौ । कनाकारेण सादृश्यमित्यत्राह-सम्भवति चेति । गायत्रीसादृश्यं चतुष्पात्त्वलक्षणम् । चतुष्पात्त्वमेवानुसन्धयम् नन्विह नानुसन्धेयं व फलं च श्रूयते । न 'पूर्णमप्रवर्तिनी श्रिय लभते य एवं वेद' इति श्रवणात् पूर्णं वम् अपरिच्छिन्नं व, अचलं व स्थिरं व-नन्तस्थिरा च श्रीः मुक्तैश्वर्यम् ॥

### गूढार्थसंग्रहः

नुपपत्तिरिति । 'तावानस्य' इत्यतः पूर्वमव 'गायत्रीवा' इत्युक्तमवाक्यम् । अतः उक्तमोक्तत्वेन सर्वा मवानुसारेणैवार्थ निर्णय इति भावः, उक्तमव सर्वात्मकत्वमुक्तम् । अजहृक्षणेन गायत्र्या-चतुष्पदब्रह्मपरवाङ्गीकारे सर्वात्मकं व न घटते उपलक्षितरूपेणैव सर्वात्मकत्वं वाच्यम् ; उपलक्षितेऽपि अजहृक्षणेनैव वाच्या नन्वजहृक्षणा । 'गायत्रीवा' इदमव 'इत्यत्र सर्वात्मकं व गायत्रीशब्दादुपस्थितरूपेणैव वाच्यम् गायत्रीशब्दस्य मुख्यार्थकं व पूर्वपक्षहेतु 'छन्दोभिधानात्' इति सूत्रे छन्दशब्दनिर्देशः कुत इति विमर्शनीयम् । गायत्रीछन्दसः छन्दश्च छे प्रसिद्धस्य गायत्रीशब्देन ब्रह्मणमिति तस्य सर्वात्मकत्वमनुपपन्नमिति समाधानम् । एव च चरणाभिधानं पूर्वसूत्रे चरणाभिधानं हतुरक्तः पूर्वसूत्रोक्तचरणविशिष्टस्यैव श्रुत्युक्तस्य (पादोऽस्येति) ब्रह्मण्युपादानानुगुण एव हेतुर्वाच्यं ब्रह्मण्युपपादानं च गायत्र्या सादृश्यनैव कार्यम् । गायत्रीसादृश्यं च 'छन्दोविधिति' सूत्रेषु 'अयं चतुष्पात्कृतुभिः' इति पिङ्गलनागेन सूत्रकृता गायत्र्याख्यछन्दसः चतुष्पात्त्व

## गूढार्थसंग्रहः

स्योक्त्या 'आयं छन्दोगायत्रंचतुष्पाद्भवति ऋतुभिरक्षरैः पादैः तद्यथा इन्द्रदशचीपतिः' इत्यादिमाध्योक्तरीत्यैवोपपादनीयम् । अत्र शौनकादिस्मरणमपि वर्तते इति भास्करभाष्ये व्यक्तम् । 'तावानस्य महिमा' इत्यस्य विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मवैवर्ते वचनानुसारेण आमिथ्याभूतरूपस्य भामतीपञ्चपादिकाऽदिशङ्कितस्य वृत्तिकारसमतस्यार्थस्य पूर्वमेवाभिधानेन मिथ्याभूतार्थविषयकत्वं चरणाभिधानादिति हेतुं वदतो सूत्रकृतो न समतम् । अतः एतत्तात्पर्यं (श)भाष्ये 'अपरआह' इति यत्प्रदर्शितं तदेव युक्तम् । यथा 'अपरआह' साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते सरयासामान्यात् यथा गायत्री चतुष्पादपट्टक्षरैः पादैः तथा ब्रह्म चतुष्पात् तथाऽन्यत्रापि छन्दोऽभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे सख्यासामान्यात् प्रदुष्यमानो दृश्यते तद्यथा 'तेवा एते पञ्चान्ये पञ्च न्य दशसन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्य 'सैषा त्रिराड्नादि' (छा. ४. ३. ८) इत्यस्मिन्पक्षे ब्रह्मेवाभिहितमिति न छन्दोऽभिधानम् इति । 'साक्षादेव' इत्यत्र साक्षाच्छब्दस्य गायत्र्यर्थाच्छब्दब्रह्मपरत्वे उपरक्षितब्रह्मणि विशेषणां विहाय ब्रह्मण्यन्वय इति गायत्रीशब्दार्थस्वारस्यम् । सहपरत्वे वापि विशेषणां अन्वयाभावादिशेष्यां अन्वयो युक्त इत्यर्थः सूचितः । अत्र पुरुषसूक्तकार्यं स्पष्टम् । पुरुषसूक्तस्य भोक्षधर्मे नारायणाख्याने ब्रह्मरुद्रसवादे जीवभिन्नब्रह्मपरत्वं स्पष्टं सूत्रकृतोक्तं नारायणाख्याने वामुदेवादिमूर्तिचतुष्टयं उपक्रमे निरूप्य गीतायाः समग्ररूपत्वं पञ्चरात्रस्य विस्तररूपमभिधाय 'चतुर्विभक्तः पुरुषः' इत्युपसहारेण तन्मध्यगतपुरुषसूक्तवाक्येऽपि चतुर्विभक्त एव पुरुषो विवक्षित इति निर्मत्सरानां विदुषा स्फुटम् । एतद्विस्तरः हयशिरोरत्नभूषणदीधितादवसेयः । वेदस्य मिथ्याभूतार्थकत्वकल्पनमनुचितमित्यर्थेनादाधिकरणतासिद्धिपेटिकयोर्निरूपणेन वेदे परसमताप्यासासम्भवः इति भट्टपादैर्यवस्थापनपूर्वकं 'सिंहो देवदत्त' इत्यस्यापि सिंहसदृशार्थकत्वं निरूपितमिति अत्र गायत्रीसदृशार्थकत्वं समञ्जसमेव । 'वरह गावोऽनुधावन्ति' इत्यत्र औत्पत्तिकगवि द्विपात्वमिति वायसशङ्का नैतन्निर्णयविरोधिनी औत्पत्तिकगवि द्विपात्वं तत्रेति शङ्का, अत्र गायत्र्याः चतुष्पात्त्वमनौत्पत्तिकार्थितप्रमाणासिद्धयैः तात्त्विकमेवेति ब्रह्मविद्याऽऽभरणन्यायरक्षामप्युक्तदोषस्य नावसरः । 'सर्वेऽस्त्वित् ब्रह्मतत्त्वज्ञानं' इत्यत्र कार्यानुगतब्रह्म (श)भाष्योक्तरीत्या नैव विवक्षितम् । 'तज्ज्ञानं' इति हेतुना उगदानोपादेयभावादि बन्धनमेव सामानाधिकरण्यं समानाधिकरणप्राग्वेषु सर्वत्र विवक्षितमित्येव पर 'सर्वेऽस्त्वित्' इति वाक्यमिति पूर्वमेव निरूपितम् ।

उत्तराध्याय एव 'सैषा त्रिराड्' इति वाक्ये सादृश्यनिबन्धनं सामानाधिकरण्यमिति स्फुटम् । 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति तत्पूर्वाध्यायवाक्येऽपि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति चतुस्सङ्ख्याप्रातिपादनेन सादृश्यनिबन्धनमेव श्रुतौ विवक्षितमिति निश्चयते । अतः (श) भाष्ये 'अपर आह' इत्युक्तवृत्तिकारमतमेव युक्तम् । 'अपर आह' इतिपक्षे (श) भाष्ये सर्वगविद्यावाक्यं यदुक्तं 'ते वा' इत्यादि तदेव दर्शयति । तेन 'अपरआह' इति पक्ष एव वृत्तिकारसमतस्समीचीन इति सूचयति ॥

एतत्पूर्वश्रुतिः 'सैषा चतुष्पाद पट्टत्रिधा गायत्री तदेतद्वत्ताऽभ्यनूतम्' इति । तत्र चतुष्पादत्वं गायत्र्याः वर्णपट्टकक्रमेण स्पष्टमभिहितम् । 'तावानस्य महिमा अतो ज्यायाम्भ पुरुषः' इत्यत्र अतः महिमवत्त्वेन व्यापकत्वं इत्यर्थः पूर्वं वाक्यं गायत्र्याः चतुष्पादोपपादनं 'तावानस्य' इत्युत्तरवाक्येऽपि चतुष्पादं यत्तात्त्विकमेव श्रुतिप्रमत्यासिद्धिनायां गायत्रीसादृश्यमेव स्फुटं प्रतीयते । 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इति मन्त्रे 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इत्युक्तसार्वाभ्यं गायत्रीसदृशब्रह्मणः सम्यङ्निरूपितं भवति । गायत्र्याभ्यं नेदं सर्वा मन्त्रं सम्भवति । सर्वभूतानामेकपदस्य सार्वाभ्योपपादकस्यासम्भवात् । दिवि इत्यस्य अमृतस्य त्रिपादस्य च सर्वथाऽसम्भवात् । 'अतो ज्यायाम्भ पुरुषः' इत्यत्र सूत्रोक्तचरणवत् पुरुषस्य प्रतिपादनम् गृहेतुं ज्योतिरः एवमित्येव 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति सूत्रतः ज्योतिरप्यस्य शब्दपुरुषशब्दपारैकाग्ये विवक्षितमिति स्फुटम् ॥

### श्रुतप्रकाशिका

ननु शरीरं ज्योतिरिति न सोऽस्माच्छरीरात् १-३० । 'यदेन द्रष्टेते इदं वाय तयोऽयं महिर्वापुरुषादाकाशः योऽयं सवर्द्धिर्वापुरुषादाकाशोऽयं वायसः योऽयमन्तःपुरुष आकाशो योऽयमोऽन्तःपुरुष आकाशोऽयं वायसः योऽयमन्तःहृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्त्त' इति हि ध्रुवः । अतो न गायत्रीसादृश्यानुसन्धानपक्षमिति-उच्यते ; सतोऽन्तरिच्छित्तरेऽपि ब्रह्मणः परिच्छिन्नेः पदार्थभूतत्वात् गोपदेशस्य उपासनायैवाग्राये वैयर्थ्यात् । प्रकरणे तस्य पलायनाविवानाद्य, गयत्रीछन्दसस्तस्य चतुर्गात्रस्य अनुसन्धानं प्रतीयते । तत्र भूतवृत्तिर्वीर्योद्देश्ये चतुर्गात्रेऽभिहिते ब्रह्मणोऽङ्गं गायत्रिरयच्छन्दसावृत्त्यर्थं पूर्णं गायत्रीं त्रिगुणकस्यैव चतुष्पाद्वत्तु उपासनं विधीयत इति 'त्रिपदागायत्री' इति हि ध्रुविः तत्कथं चतुष्पादाभिप्राह—चतुष्पदाचेति । गायत्रीशब्दस्य मुख्यार्थाविरथा कथमिति शङ्कायां 'तथा

### गूढार्थसङ्ग्रहः

एतेन 'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परज्योतिरवस्थाय एतन् रूपेणामिनिष्पद्यते उत्तमः पुरुषः' इति ध्रुवो ज्योतिरशब्दपुरुषशब्दयोरप्येकार्थ्यं बोधितं भवति । ज्योतिश्च उत्तमपक्षव्ययम् उपसपत्तव्यज्योतिषः पूर्वमुक्तया 'सत्तत्तः पुरुषः' इत्यत्र पुरुषे जीवामेदो नैव विवक्षित इत्यपि निर्णयते । तेन जीवामिन्न ज्योतिरेवोपरपत्तव्यं विवक्षितं तदेवात्र वाक्येऽपि विवक्षितम् । तेन अतो ज्यायागँश्च पुरुषः' इत्यत्र महिमववेनैव पुरुषेऽप्ययस्यैव विवक्षितम् । इदं च वाक्यं एकपादत्रिपादवत्त्वाभ्यामुत्तरवाक्ये वक्ष्यमाणाभ्यां महिमवत्त्वरूपम् । त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यत्र अमृताशब्देन पुरुषस्योपसपत्तव्यत्वमपि बोधितम् । अयमर्थः निर्मसराणां स्फुटः । एव च 'अतः विकारजाता पुरुषस्य परमार्थत्वेन ज्यायस्य च' इति (शं.उ) भाष्योक्तं नैव युक्तमिति सिद्धयति । पुरुषशब्दार्थस्य तैरेवान्यत्र निरुक्तस्यासम्भवात्, सर्वशरीरित्वं बहुप्रदर्शं, सर्वपाददाहकार्यं सर्वकारणं वंचयेते पुरुषपदार्थाः प्रागेव निरूपिताः । अयमर्थस्यार्थशेषब्रह्मणाद एव सङ्गच्छते । छान्दोग्यध्रुवोक्तमयोरैकार्थ्यस्य सूत्रसिद्धतया उपसपत्तव्यपुरुषस्यैव 'अतो ज्यायागँश्च पुरुषः' इत्यत्रोपसपत्तव्यत्वसिद्धया उभयोर्भिन्नार्थकत्व(सगुण निर्गुणरूप)वादिमते 'सर्वाणि भूतानि' अस्मैकदेशः यथा चतुष्पदादुक्तात् पदार्थात् तदेकपादपरिमितं वस्तु तस्मादल्पमवति तद्वत् प्रपञ्चोऽप्यल्प इति द्योतनाय पादत्वकल्पनम् । अस्य परमात्मनो दिवि सत्यलोकोपरिभागे त्रिपात् ब्रह्मविष्णुशिवत्माऽभिव्यक्त स्वरूप अमृतात्मकमस्तीति मन्त्रार्थः' इति (ब्र.वि.आ) उक्तिः अभिनिवेशमूलैव । 'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय' इति ध्रुवो समुत्थाय, उपसपत्त, इत्यादेः परमतेऽस्वारस्य मवर्जनीयमेवेति पूर्वमेव निरूपितम् ॥

अत्र सगुणत्रिपात् 'अस्माच्छरीरात्' इत्यत्र निर्गुणविद्या इति विभागोऽपि परसमतः न घटते । 'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय' इत्यत्रोक्तान्तेः स्फुटतयोक्तान्तस्य गतेरवर्जनीयतया गत्यनन्तरमेवोपसपत्तिरिति निर्णयस्याप्रकल्प्यतया अत्राप्युपसपत्तव्यपुरुषस्यैकस्यैव विवक्षितत्वेन सत्यलोकोपरिब्रह्मविष्णुशिवरूपेण त्रिपात्वकल्पनं श्रुतिपीडनमेव । सत्यलोकादुपरि ब्रह्मणरित्यतेः व्याप्यप्रसिद्धतया एव विष्णुशिवयोरपि तत्र स्थितेः प्रमाणासिद्धतया सत्यलोकादुपरि ब्रह्मविष्णुशिवत्माऽभिव्यक्त त्रिपात्त्वेन स्थितिः इति कल्पनाऽभिनिवेशमूलैव । उभयत्राप्येकस्यैव पुरुषस्य उपसपत्तव्यत्वात् । अथर्वशिखाया नादार्थस्य पुरुषस्य प्रणवघटकपूर्वाक्षरार्थाविष्ण्वभेदस्योभयत्र विद्युमतीति प्रयोगेण सिद्धया पुरुषपदार्थवासुदेवस्यैवोपसपत्तव्यत्वं ज्योतिरशब्दार्थव्यं च निष्कण्टकं सिद्धयतीति परसमतार्थोपेक्षाया असम्भवात् । पुरुषपदार्थो वासुदेव इति पूर्वमेव निरूपितम् इत्यं च श्रुतिकारसिद्धान्तो निष्कण्टकः ॥

## श्रीभाष्यम्

[छां.३.१२.६] इति चतुष्पदो ब्रह्मणश्चतुष्पदया गायत्र्याच सादृश्यम् । चतुष्पदाच गायत्री कचिद्दृश्यते । तद्यथा ‘ इन्द्रश्चचीपति । वलेन पीडितः । दुश्च्यवनो वृषा । समित्सु सासहिः ’ इति । तथाह्यन्यत्रापि सादृश्याच्छब्दोऽभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते । यथा संवर्गविद्यायाम्—‘ ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सम्पद्यन्ते ’ (छां.४.३.८) इत्यारभ्य ‘ सैषा विराड्नात् ’ (४.३.८) इत्युच्यते ॥

इतश्च गायत्रीशब्देन ब्रह्मैवाभिधीयते—

## सू.२७—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् (१.१.१०)

## श्रुतप्रकाशिका

‘हिदर्शनम्’ इति सूत्रतण्ड व्याचष्टे तथाह्यन्यत्रापीत्यादिना । वाय्वग्निसूर्यचन्द्रसलिलानि प्राणवाक्छुश्रोत्रमनासिच दशसङ्ख्यत्वाद्विराट् सदृशे सदृशान्तरवाचिशब्दप्रयोगश्चतुष्टिसमाधिरित्यर्थः ८ नात् अन्नं च तदात्तेचेत्तन्नात् । ननु ज्योतिर्वीक्ष्ये परमात्मलिङ्गाभावात् आद्यसूत्रं परमात्मपरत्वसमर्थनार्थमिति सप्रयोजनम् । द्वितीयतु किमर्थे? छन्दोमात्रप्रसिद्धस्यापि गायत्रीशब्दस्य परमात्मासाधारणसर्वो मकं बालिङ्गवत्त्वात् परमात्मविषयत्वं ह्याकाशाधिकरणनयेन सिद्धम् ? उच्यते—गायत्रीशब्दस्य स्वार्थप्रहाणेन ब्रह्मपरत्वे चतुष्पात्त्वमविश्रुतं स्यात् तच्चोपादिश्यते । गायत्र्यावाच्छ्रुतब्रह्मपरत्वे सर्वो मकत्वमनुपपन्नम् गायत्र्यावाच्छ्रुतब्रह्मणस्सर्वात्मकत्वोक्तिः स्तुतिरिति चेत् ततोऽपि गायत्र्या एव स्तुतिस्सर्वा मकत्वोक्तिरिति वरमित्यधिकाशङ्कापरिहारपरं सूत्रम् । गायत्रीशब्दस्य तत्सदृशब्रह्मपरत्वाच्चतुष्पात्त्वसर्वात्मकत्वोपपत्तिरिति परिहारः ॥

उपक्रमस्य गायत्रीशब्दानुरोधेन मन्त्रगतसर्वात्मकत्वस्वारज्येन निर्वाह्यं ननु सर्वात्मकत्वानुरोधेनोपक्रमस्य गायत्री पदास्वारस्य न्याय्यमिति शङ्कायामुपक्रम एव गायत्रीपरत्वेऽस्वारस्यहानिरुच्यते—

## गूढार्थसंग्रहः

आदित्यादिज्योतिषः भूतादिपादव्यपदेशस्तम्भवतीति अथमादित्यादिव्यावर्तको न भवतीति चरणाभिधानमिति हेतुः प्रथममभिहितः । तत्रादित्यादिज्योतिषि एकपादएव न सम्भवतीति त्रिपादसम्भवस्य का कथा ? इत्यादित्यादिज्योतिर्व्यावृत्तिः । पूर्ववाक्ये उक्तहेतुना आदित्यादिव्यावृत्तौ ततोऽपि प्रथमवाक्ये गायत्रीशब्दनिर्देशेन गायत्रीशब्दमुत्पादयन्तया गायत्रीशब्दस्य एव ग्रहणमिति शङ्काया ‘ यजमानः प्रस्तरः, आदित्यो यूषः ’ इत्यादौ यथा सदृशार्थकत्वं तद्वत् अथैव गायत्रीसादृश्यस्य श्रुतिवाक्यैरेव बोधनेन संवर्गविद्याया स्फुटोक्त्या च गायत्रीशब्दोपक्रमः न विरुध्यत इति छन्दोऽभिधानात् इति सूत्रे निर्धारितम् ॥

अथ ‘ छन्दोऽभिधानात् ’ इति सूत्रे पूर्वपक्षिणः ‘ तावानस्य ’ इत्यतः पूर्वं भूतपृथिवीशरीरद्वयान्यभिधाय ‘ सैषा चतुष्पदा पृथ्विषा गायत्री ’ इत्यत्राक्तपादचतुष्टयवत्त्वमपि पूर्वोक्तप्रकारेण गायत्रीसादृश्येन ब्रह्मण्येवोपपद्यते ननु छन्दसि । भूतादिपादव्यपदेशस्य गायत्र्यासम्भवे का कथा सर्वभूतादिपादचतुष्टयसम्भवव्यपदेशस्येत्यमिश्रयेणाह—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवमिति । प्रथमसूत्रे आदित्यादिज्योतिर्व्यावृत्तिर्न सम्भवतीति अथहेतुर्नोपन्यस्तः गायत्रीछन्दो व्यावृत्तिरसम्भवतीत्यत्राह हेतुरक्तः । एवमित्यस्य गायत्रीसादृश्येनैव भूतादिपादव्यपदेशः ब्रह्मण्येव ननु गायत्र्यामिति,



### श्रुतप्रकाशिका

‘तदेतदृचाभ्यनूक्तम्’ इतिवत् स्तोत्रदृष्टार्थसाक्षिदेन प्रमाणांतरानुपस्थापनाच्च नैऋत्यमदभ्यस्यते ‘तदेतदृचाभ्य-  
नूक्तं सावानस्य महिमा’ इत्यादिभिः साक्षित्वेनोदाहृतं वच्च स्वयमन्यानपेक्षस्य प्रमाणान्तरोपजीव्यं प्रतीयते ।—

इदंपुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पठ्यते । अतः सत्यं च विख्यातं ऋषिसिंहेन चिन्तितम् ॥

इति मोक्षधर्मे तत्त्वनिष्कर्षकतया व्यासेनोदाहृतम् । अत्र च सर्ववेदेषु पठिततया सन्निहितत्वात्तत्त्वच्छास्त्रागतानां तत्त्वपरवा-  
क्यानामाकाशितयोग्यविशेषसमर्पकतयाऽनुरेद्वयमिदमित्यवगम्यते । एव तत्त्वपरस्यास्य सूक्तस्य दवताविशेषपरवदुर-  
पहनम् ‘पुरुषोद्देव नारायणोऽकामयत’ इति बृहदारण्यके पुरुषशब्दस्य नारायणपरत्वदर्शनात् । किंच छन्दोग्ये  
‘एषा वैष्णवीनामसंमिता एतां प्रयुञ्जन्वाविष्णुं प्रीणाति’ इत्युक्तम् ॥

आर्याग्रे अष्टादशमहाशान्तिप्रकरणे तत्तद्देवतशान्तिषु तत्तद्देवतमन्त्रविनियोगावसरे ‘वैष्णव्यां पुरुषसूक्तम्’  
इति वैष्णव्या शान्तौ पुरुषसूक्तं विनियुज्यते । तथा ‘आद्ययाऽचाहयेदेवमृचातु पुरुषोत्तमम्’ इत्यादिना शौनकेन  
भगवत्समाराधने ‘जितन्त’ इत्यादिमन्त्रतुल्यं विनियुज्यते । महापुरुषशब्दश्च कल्पसूत्रकारिदेवताविशेष एव प्रयुक्तः ।  
‘महादेवं वा महापुरुषं वाऽर्चयेत्’ इति । इह च ‘वेदाहमेतं पुरुषमहान्तम्’ इत्युच्यते । अतश्च भगवत्समाधा-  
रण्य तथा पुरुषस्य हरेस्सूक्तं स्वर्ग्यं धन्यं यशस्करम् । इति च स्मर्यते—

योऽनूचानं द्विजं मर्त्यो हतयानर्थलोभतः । सपठेत्पौरुषसूक्तं स्मरन्विष्णुं जले सजुत् ॥

इति यमस्मृतौ रहस्यप्रायश्चित्तेषूक्तम् । तथा योगवासिष्ठे—

आसीनः प्राञ्जलसदृशश्चिन्तयन्मनसा हरिम् । पौरुषेणैव सूक्तेन जुहुयाद्धव्यवाहनम् ॥

इत्युक्तम् । लक्ष्मीपतिप्रतिपादकोत्तः नारायणसमन्वितः प्रकण्ठेन ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः, पुरुषएवेदगोसर्वम्’ इति नाराय-  
णानुवाकैकार्थं च प्रतीयते ‘पुरुषएवेदगोसर्वम्’ इत्युक्तसद्वृत्तम् । तथा पाञ्चे पुराणे—

ब्रह्महत्यादिपापानां सर्वेषामपनुत्तये । पठेत्तु पौरुषं सूक्तमेकान्ते संस्मरन्हरिम् ॥

इत्युच्यते । तथा स्कान्दे—

यथा भास्करशब्दोऽयमादित्ये प्रतितिष्ठति । यथा वाऽग्नौ बृहद्भानुः यथा वायौ सदागतिः ॥

यथा पुरुषशब्दोऽयं वासुदेवे प्रतितिष्ठते । तथा शङ्करशब्दोऽयं महादेवे प्रतितिष्ठते ॥

इति शङ्करशब्ददृष्टान्तत्वेन पुरुषशब्दस्य भगवत्समाधारणत्वकथनाच्च पुरुषसूक्तस्य तदसाधारण्यं प्रतीयते । पाञ्चे पुराणे  
नामनिर्वचनार्थाध्याये—

पूरसंज्ञेतु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः । शकारस्य पकारोऽयं व्यत्यासेन प्रयुज्यते ॥

यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्नास्ते सपुरुषो हरिः । यदिवा पुरवासीति पुरुष प्रोच्यते हरिः ॥

यदिवा पूर्वमेवासमिहेति पुरुषविदुः । यदिवा बहुदानाद्वै विष्णुः पुरुष उच्यते ॥

पूर्णत्वात्पुरुषो विष्णुः पुराणत्वाच्च शार्ङ्गिणः । पुराणभजनाच्चापि विष्णुः पुरुष ईर्यते ॥

यद्वा पुरुषशब्दोऽयं रूढ्या वक्ति जनार्दनम् ।

इति च योगरूढत्वमनगम्यते । अतः पुरुषप्रतिपादकं सूक्तं भगवत्समाधारणमिति ‘चरणाभिधानात्’ इति वदता सूत्र-  
कारेण देवताविशेषनिष्कर्षः कृतः । सारेच्चैव त्रिशदतममुक्तं भगवता भाष्यकारेण । अतो यथोक्तार्थं उपपन्नम्—अत्र पादो-  
ऽस्य’ इति मन्त्रे ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इति शुशब्देन द्योतमानसविदात्मस्वरूपमुच्यते इति केचिदाहुः । तदानीमस्य

## श्रीभाष्यम्

एतदुक्तं भवति-यद्यपि 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः' (छां.३.१३.७) इत्यस्मिन्वाक्ये परमपुरुषासाधारणलिङ्गं नोपलभ्यते ; तथाऽपि पूर्ववाक्ये श्रुतसम्बन्धितया परम-

## श्रुतप्रकाशिका

दिवीति व्यतिरेकनिर्देशस्य क्लिष्टता स्पष्टा । किंच श्रुतसम्बन्धप्रत्यभिज्ञापकतया तदेकार्थत्वेन सूत्रकारोदाहृतं 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति वाक्ये पञ्चम्यन्ततया श्रूयमाणेन श्रुतशब्देन विरोधश्च स्यात् । नहि द्योतमानमात्मस्वरूपं स्वस्वरूपात्परं भवति । 'दिविहृदयाकाशे स्थित'मिति भास्करः तदयुक्तम् ; 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमे पूतमेषु लोकेषु' इति श्रुतिविरोधात् । नहि हृदयाकाशो दिव उपरितनेषु लोकेषु वर्तते । परमात्मन आदित्यमण्डलेऽप्यवस्थानात्तद्विषय तद्वाक्यमिति चेन्न रविमण्डलस्य भूम्योर्जनलक्षेऽवस्थितस्य विश्वप्रपञ्चसहिर्मावाभावात् विश्वसर्वशब्दयोर्भूम्यन्तरिक्षमात्रपरत्वे स्वारस्य भङ्गाच्च ॥

किंच सप्तम्यन्तपञ्चम्यन्तयोः श्रुतशब्दयोः अविरोधेनार्थैकत्वं चतुर्थसूत्रे समर्थितम् तच्च तयोर्हृदयाकाशराविमण्डलपरत्वेऽनुपपन्न विश्वसर्वशब्दस्वारस्य भङ्गप्रसङ्गादेव श्रुतशब्दस्य प्रसिद्ध्युपरत्वं चायुक्तम् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तवस्थासु जीवसन्धारभूमितया त्रेधा विभक्ताः कार्याकाशप्रदेशविशेषास्त्रयः पादाः तदुपलक्षण कारणब्रह्मस्वरूप त्रिपादमृतमुच्यते इति चायुक्तम् ; अस्य त्रिपादिति व्यतिरेकनिर्देशस्यामुख्यत्वात् । जीवस्य जाग्रदवस्थाया बाह्याकाशस्सञ्चारभूमिरिति चायुक्तम् तदानीमपि शरीरान्तर्वर्तिन्यात् स्वप्ने शरीराकाशवर्तित्वमप्ययुक्तम् ईश्वरसृष्टशरीरैर्बाहिरप्यवस्थानात् । तदनभ्युपगमेऽपि पूर्वशब्दस्कारसहकृतमनोव्यापारमात्रेण हृदयावस्थानेऽपि जीवस्य स्वाप्नभ्रमोपपत्तेः, स्वप्ने जीवस्य हृदयात्रिक्रमणस्य निष्प्रमाणकत्वाच्च 'हृदि ह्ययमात्मा' इति जीवस्य स्वतो हृद्यवस्थान श्रूयमाण स्वप्नावस्थाया कथं वचनेन विनाऽपोचते तस्माद्वचोऽयमर्थस्सर्वभूतानीति कार्यजगदन्तर्गताच्चि सृष्ट्येवेतना उच्यन्ते । श्रुतशब्दस्तु समस्तव्याप्तिसमष्टितत्त्वबहिर्भूतस्थानविशेषपरः । 'विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु' इति श्रवणात् । विश्वशब्दविवरण सर्वशब्दगतिगत्यभावलिङ्गं 'तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति जगदन्तर्वर्तिन्याष्टिजाते विश्वशब्दप्रयोगात् विश्वशब्दो व्याप्तिपरः । सर्वशब्दपरिशेषात् समष्टितत्त्वपरः । अतएवहि गद्येऽपि गदित भाष्यकारैः समस्तकार्यकारणजातमतीत्य वर्तमानः इति, पुरुषसूत्रे 'तेह नाकं महिमानस्सचन्ते' इति मुक्तप्राप्यदेशस्य नाकशब्देनोक्तत्वात् । मुक्तस्य च दुःखमिश्रकार्यलोकानां हेयत्वाज्ज्ञासा अकम्भवतीत्यवयवार्थपौष्कल्योपपत्तेः, तत्रैव 'तमस परस्तात्' इति विशेषितत्वात् 'क्षयं तमस्य रजस पराक' इति निवासशब्दात् 'तदक्षरे परमे व्योमन्' 'विश्वं पुराण तमसः परस्तात्' इति तमस परस्य स्थानस्य स्थानिनो ब्रह्मणश्च व्यतिकनिर्देशात्, तस्य तमसःपरत्वविशेषणेन पुरुषसूत्रप्रत्यभिज्ञानाच्च, दिवीत्यप्राकृतं स्थानमुच्यते त्रिपात्वचाप्राकृतैर्मोघमोगोपकरणभोगस्थानविशेषैर्वा भूषणास्त्रादिरूपेण जगदन्तर्गतवस्त्वाभिमानिभिर्नितैः भगवदनुभवमात्रपरैश्च नित्यसिद्धैर्मुक्तैश्चात्मभिर्वा सम्भवति । एवं चास्य दिवीति व्यतिरेकनिर्देशोऽमृतत्वं च मुख्यं भवतीति ॥

एव पूर्ववाक्ये श्रुतसम्बन्धनश्रवणमिधोनसीत कथमस्य वाक्यस्य परमात्मपरत्वम् एकाविषयत्वादिति चेत् कथमेकविषय वामित्यग्राह-एतदुक्तमिति । ज्योतिशब्दश्रुत्यपेक्षया स्ववाक्यस्य पूर्ववाक्यप्रत्यभिज्ञापक श्रुतसम्बन्धित्वलिङ्ग प्रकरणं च दुर्बलमिति चेन्न अनुवादलक्षणयच्छब्दसमभिव्याहारेणान्यसोपेक्षताज्ञापकेन ज्योतिशब्दस्य दुर्बलं वाच्यमात्रं, प्रथमप्रतिपन्नयच्छब्दश्रुत्या सहकृतस्य श्रुतसम्बन्धित्वलिङ्गस्य प्रबलत्वाच्च । इदं ज्योतिशब्दस्यादित्याद्यसाधारण्याभ्युपगमेनोक्तं तच्च

### गूढार्थसंग्रहः

'अनुत्तमेयूत्तमेषु लोकेषु' इत्यपि एतदर्थोत्तमभक्तम् । 'दिशुक्नीटा विजिगीषा' इत्यादौ घुघातोर्मोदार्थं प्रतिपादनेन निरतिशयानन्दवतः प्रकृतिमण्डले सृष्टिः किमर्थेति शङ्काऽपि दिवुघातुवर्थक्रीडया परिहृता भवति । घातुयो गेनान्तर्योमित्वप्रतिपादनेनान्तर्योमित्वस्य दयामूलकत्वेन 'द्युअभिगमने' इति घातुना मुक्तप्राप्यत्वप्रतिपादनेन दयया सृष्टिकर्मभूतानां जीवानां निरतिशयदीप्तिरुक्तस्य प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वदेशे विद्यमानस्य प्राप्य वाविवक्षाऽपि सूचिता । अमृतमित्यनेन भोग्यत्वसूचनेनापि मुक्तप्राप्यत्व बोधितम् । अमृतमित्यस्य नित्यरूपार्थविवक्षाया 'नित्याहि नास्ति जगति भूतं स्यात्तज्ज्ञमम् । ऋतेतमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥' (मोक्षधर्म) इत्युपगृहणानुरोधेन 'परज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते सउत्तमःपुरुषः' इति श्रुत्युक्तःपुरुषो वासुदेव एवात्र नित्यो विवक्षितः 'नित्यत्वं वासुदेवाह्वयवपुषि जगौ मोक्षधर्मे मुनीन्द्रः ।' इत्याचार्यपादैः त्रिग्रहो त्रिवाक्षित इत्युक्तम् । अत्र विष्णुधर्मोत्तरपञ्चकालविधिभिरूपणानन्तरं वचनमपि मूलम् । तत्र च 'भगवान्वासुदेवस्तु देवस्सङ्कर्षणस्ततः । प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च प्रभावोऽयमुदाहृतः ॥' (वि.प.६३.३४) 'च तत्र एते धर्मज्ञ वासुदेवाःप्रकीर्तिताः । भगवच्छब्दवाच्याश्च सर्वभूतभवोद्भवाः ॥ तदेतत्पर्यते सूक्ते पौरुषे द्विजसत्तम । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (४०) इत्यत्र विष्णुधर्मोत्तरे शङ्करगीताया—दिवि विद्यमानस्य वासुदेवस्य त्रिपात्वं सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणेति स्फुटमुक्तम् । अयमर्थः 'सचादिपुरुषो विष्णुस्सर्वव्यापी सनातनः । शरीरात्स्वात्मगतत्वात् सङ्कर्षणमभावयत् ॥ सच सङ्कर्षणो देवः प्रद्युम्न समभावयत् । सच प्रद्युम्नसंश्लेषन् अनिरुद्धमभावयत् । तस्माद्ब्रह्मासमुत्पन्नः जगत्सृष्टुं चरानरम् ॥ एवचतुर्धा सव्यूह्य स्वात्मानं पुरुषोत्तमः । अण्डेभ्यः परतो नित्यं त्रिपादेन विराजते । जगत्सृष्ट्यादिकर्माणि कर्तुं कामस्वलीलया ॥' इति वैकुण्ठसहिताया व्यक्तः । ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मण्डे 'मङ्गल्यं मङ्गलाभच मङ्गल मङ्गलप्रदम् । प्रकृतेःपरमीशान निर्गुण नित्यविग्रहम् ॥' (२.३४) इतिप्रकृतिखण्डे 'तत ऊर्ध्वं च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डाद्वाहिरेवसः । सच सत्यस्वरूपश्च शश्वन्नारायणो यथा ॥ ३.९ ब्रह्मादिनृणपर्यन्तं शेषं प्राकृतिकभवेत् । यद्यत्प्राकृतिकं दृष्ट सर्वं नश्वरमेवच ॥ ७-८ विद्वद्येकं सृष्टिमूलं तत्सत्यं नित्यं सनातनम् । स्वेच्छामयं परब्रह्म निर्लिप्तं निर्गुणं परम् ॥ ७-८७ निरुपाधिं निराकारं भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च नवीनघनसन्निभम् ॥' ७-८८ इतिचोक्तम् अत्र 'भक्तानुग्रहविग्रहम्' इत्यनेन 'सर्वभूताधिपासच यद्भूतेषु वसत्यापि । सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्यैव वासुदेवस्तदस्यैववासुदेवः' इति श्रुतितात्पर्यमाविष्कृतम् । कृष्णजन्मखण्डे भगवत्सन कुमारसवाते—'योयो विग्रह इत्युक्तस्सच प्राकृतिकस्मृतः । देहो नविद्यते विग्रहं नित्यस्ता प्रकृतिं विना ॥ ८७-२४ सनःकुमारः रक्तविन्दूद्भवादेहास्ते च प्राकृतिकास्मृताः । कथं प्रकृतिनाथस्य बीजस्य प्राकृतं वपुः ॥ ८७-२५ श्रीकृष्णः—साम्प्रतं वासुदेवोऽहं रक्तबीर्याश्रितं वपुः । कथं नप्राकृतो विग्रहः... ८७-२९ सनःकुमारः—वासुस्सर्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमसु । तस्य देहःपरब्रह्म वासुदेव इतीरितः ॥ ८७-३० वासुदेवेति तन्नाम वेदेषु च चतुर्मुख । इत्यादि तत्रैव पूर्वं 'शरीरं द्विविधं शब्दो नित्यं प्राकृतमेव च । नित्यं विनाशरहितं नश्वरप्राकृतं सदा ॥' इति, तृतीय खण्डेऽपि—'देहाःप्राकृतिकास्सर्वे नश्वराः पाञ्चभौतिकाः । अहमित्यशरीरा च भानुविग्रहविग्रहाः ॥' इतिचोक्तम् ॥

समन्वयाधिकरणे कार्यवाक्यार्थवादिवृत्तिकाराशयःपञ्चपादिकायामिन्धुपदर्शितः 'अथ यदत्त.परो दिवो ज्योतिः' इति प्रपञ्चातिरिक्तब्रह्माभ्युपगमे देवताविग्रहवत्त्वन्यायसम्भवान्मोक्षकामस्य ब्रह्मोपासनं विधीयते । तथा च श्रुतिः—'विद्यया तदारोहन्ती' इति । नच साध्यत्वेऽप्यन्तवत्त्वम् । शब्दगम्यत्वादानावृत्तेः 'नच पुनरावर्तते' इति । नह्येय तर्कगम्यः येन तर्केणास्य तत्त्वं व्यवस्थाप्येत शब्दगम्यस्यतु शब्दादेव व्यवस्थेति मन्वानस्योत्तरमाह भाष्यकारः इति ॥

भामत्यामपि—'अथ यदत्त.परो दिवोज्योतिर्दीप्यते' इतिश्रुतेः ब्रह्मणो विकृताविकृतदेशभेदावगमात् अविकृतदेशब्रह्मप्राप्तिरूपासनादिविधिकायां भविष्यतीति प्राप्यकर्मता ब्रह्मण इत्यत आह—नचाप्याप्यत्वेनेति । अन्यदप्येन विकृत-

श्रीभाष्यम्

पुरुषस्य निर्देशादिदमपि द्युसम्बन्धिज्योतिरस एवेति प्रत्यभिज्ञायत इति । कौक्षेयज्योति  
पैत्र्योपदेशश्च फलाय तदात्मकत्वानुसन्धानाविधिरिति न कश्चिद्दोषः । काक्षेयज्योतिषश्च  
तदात्मकत्व भगवता स्वयमेवोक्तम् ' अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित ' (गी १५  
१) इति ॥

सू.२६—उन्दोऽभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् (१.१.१०)

पूर्वस्मिन्वाक्ये ' गायत्री वा इदं सर्वम् ' (छा ३ १२ १) इति गायत्र्याख्य छन्दोऽभिधाय ' तदेतद्वचाभ्यनूक्तम् ' (छा ३ १२ ५) इत्युदाहृताया ' तावानस्य महिमा ' (३ १२ ६)

श्रुतप्रका

न, अवभासक वनिमित्तकत्वात् ज्योतिश्शब्दस्य 'नारायणपरोज्योति' इत्यादप्रयोगाच्च, उक्त पूर्वपक्षहेतु पाग्रहर्ति  
कौक्षेयेति । फलायेति । चक्षुष्यश्चुतोभवति इ युक्तप्रायेत्यर्थः । तदात्मकत्वेति । 'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्यु  
पासीत' इत्यत्र तदत-उ-दौ तदा मकज्योतिर्विषयौ तदा मक वन प्रकृतं तदेतिभावः । 'अन्नादो वसुदान' 'चतु  
र्विधा भजन्ते माम्' 'सकलफलप्रदोहि विष्णु' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवशात् सकलफलप्रदश्च परमा मनश्चक्षुष्यत्वादि  
विद्यानुगुणफलहेतुवमत्र युक्तमित्यभिप्रायणाह-नकश्चिदोप इति । दामकत्वं प्रमाणं दर्शयति कौक्षेयज्योतिरप्येति ।  
वदस्य यथार्थविषयवे सभवंत्यस्मिन्हादिरूपताश्रवण पराक्तमयुक्तमितिभावः ॥

द्युसन्नीधविषयस्य पूर्ववाक्यस्य परमा मपरवमा क्षिप्य समाधत्ते—

सू.२६=छन्दोभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् (१.१.१०)

सूत्र शङ्काप-यासपरमश व्याचष्टे पूर्वस्मिन्निति । परिहारखण्डस्य नेतिपद संपूरकमादत्तै—

## गूढार्थसंग्रह

देशपरिद्धयाविकृतदेश प्राप्यत । तद्यथोपवल जलाधिरतिगुह्यलचपलकहालमात्र परम्परासालनसमहास ११ पुङ्गुस्तम्भयावि  
कृत मध्यतु प्रशान्तसकलकङ्कालापसग स्वस्यास्स्यस्तयाऽविकृत तस्य मध्यमविकृत गैरिक पातः प्राप्नोति । जीवन्मु ब्रह्मेवति  
किंकेन प्राप्यता भेदहाश्रय वा प्रोत्तेरित्यर्थः । इति । एत सर्वे तावन्नक्षणाभ्यः क्षण समन्वयाधकरण (श) माध्याह्नम  
भिप्रेत्य वृत्तिकारमतदुपणम् सच्च कार्यायै व्युपात्तवादी । दहराधकरण अपहतपाप्म । पारमार्थिकब्रह्माभ्यर्ज्यसमन्वय  
वादिप्राचीनवृत्तिकारमतोप यासन तस्य वृत्तिकारस्य तात्त्विकजावन्नक्षमादि व क तत्र उच्यते न्यस्त म त र म त इददूषण  
नसम्भवति । श्रुतौचात्र गङ्गानां बहूनामुक्तया भामतीकारोत्तरीनिर्नात्र विवक्षिता । उभयवृत्तानुसारेण 'त्रिपादस्यामृत  
दिवि' इत्यस्याप्येव युक्ता ग्राह्य इति सिद्धान्त निगमयति—इदमपि सुसम्बन्धिज्योतिस्तदेवेति ॥

‘चरणाभिधानात्’ इति सूत्रस्य यादवकृत् स गायत्र्याद्यष्ट दस एव सम्भवतीति ‘छन्दोऽभिधानात्’ इति सूत्रपूर्वपक्षतात्पर्यमाह—पूर्वस्मिन्वाक्ये इत्यादिना । नति । नपेक्षस्य तापय । अह—छन्दोगानस्य सवात्मकत्वा



श्रीभाष्यम्

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य 'सैषा चतुष्पदा' [छां.३.१२.५) इति व्यपदेशो  
ग्रहण्येव गायत्रीशब्दामिधेय उपपद्यते ॥

श्रुतप्रकाशिका

सू. १७—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् (१.१.१०)

पूर्वलिङ्गावयव 'पादोऽस्य' इति म प्रे स म र्ग म क वानुपपत्तिरुक्ता । अथतु 'गायत्रीया' इत्यादिब्रह्मणोक्तं च  
तुष्पात्तानुपपत्तिरुच्यते । भूत आ म र्ग म गायत्री अथलोकः कर्मजनभोगस्यानम् । तदुपकरण शरीरम् । हृदयं आत्मनः  
स्थित्यनुगुणः प्रदेशविशेषः एवमुपक्रमस्यैव परमा मपर य दर्शितम् । यादवप्रकाशस्तु—इदस्य 'पादोऽस्य' इति म-प्र-  
वर्णोक्तभूतादिपादानुपपत्त्या ब्रह्मप्रतिपादनसमर्थनपरं व्याख्येयम् । 'गायत्री या इदं सर्वम्' इत्यादिब्रह्मणोक्तं चतु-  
ष्पात्तपरम् किंतु सर्वभूतयावत्पृथिवी शरीरहृदयप्राणरूप विधा पट्कार 'सैषा चतुष्पदा पट्विधा' इति वाक्येन पाट्-  
विधानुवादेन चतुर्गात्रविधानपरम् । चतुष्पा व च 'पादोऽस्य' इति मन्त्रवर्णप्रतिपाद्यम् तत्र चेतनाचेतनरूपानि-  
विरुद्धिकारा मा प्रथमःपादः, 'त्रिपादस्यामृतं त्रिवि' इति वाङ्मयप्राणमयमनोमयात्मानस्त्रयःपादा उच्यन्ते इति प्रति-  
पादितम् । तदनुपपन्नं कथं उच्यते, तत्र मन्त्रवर्णोक्तचतुष्पात्तवपरवादिषु ब्रह्मणोक्तार्थविषयत्वोपपत्तिः पूर्वमेव दर्शिता ॥

किंच प्राथमिकगायत्रीवाक्यानुगुणेन पञ्च हृद हृतमन्त्रवर्णो नैव इति शङ्का तावदवतरति सा च मन्त्रवर्णोक्तार्थस्य  
हेतुतयोपन्यासेऽप्यवतिष्ठते । उपक्रमस्य गायत्रीवाक्य एव परमात्मसाधकहेतुप्रदर्शनेनैव निवर्तते । रतु हेतुरस्येनेत्यनेनाभि-  
प्रेत इति चेत्—न ; शङ्कायाः परिहारस्य चो सूत्र वादपि शङ्कामाश्रया सूत्र(त्व)स्य शब्दादेव परिहारसिद्धयनुगुणनिर्वाहस्य  
न्याय्यत्वात् । 'गायत्री या इदं सर्वम्' इत्यादिवाक्यस्य पाट्विध्यपरत्वमप्युक्तम् 'सैषा चतुष्पदा पट्विधा'  
इति निगमनवाक्यस्य स्वरसतश्चतुष्पात्तपाट्विध्यनिगमनपरत्वमिति । ननु सर्वभूतयावत्पृथिवीशरीरहृदयप्राणरूपपदार्थ  
पट्कप्रतिपादनात् स्वात्ममन्त्रेणापि पाट्विध्यनिगमनपरत्वमाश्रयमिति चेन्न वाकप्राणयामानप्राणादिवद्व्याधिसुत्तया  
भूतपृथिव्यादिवत् प्राधान्यतः प्रतिपाद्यवामात्मन पदार्थपट्कासिद्धः, ब्रह्मणो गानत्राणाभ्या गायत्रीशब्दवाच्यत्वोपपाद-  
नाय प्रागप्रसङ्गः ॥

तथाहि गायत्री वा इदं सर्वम् भू-मिति गायत्रीशब्दश्चतुष्पाद्ब्रह्मपरः सर्वशब्द आत्मपरः आ म र्ग मस्य त-पादत्वं  
सामानाधिकरण्येनोक्तं तस्यैव ब्रह्मणो गानत्राणादिभिः पाट्विध्य च विवक्षुः श्रुतिर्गानत्राणोपपादनाय वाग्रूपत्वमाह—वाग्वै  
गायत्रीति गायत्रीशब्दवाच्यं चतुष्पाद्ब्रह्म वाग्रूपविशिष्टमित्यर्थः । 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादिभ्योच्यते 'शब्दः रे  
पौरुषं नृपु' इति तथा भगवत्पराशरवचनं 'शब्दमूर्तिधरस्यैतद्रूपविष्णोर्महात्मनः' इति । सतः किं विवक्षितपाट्-  
विध्यस्येत्यत्राह—वाग्या इदं सर्वम् गायति च प्रायते चेति वाग्विशिष्टं पञ्च ब्रह्म सर्वभूत गायति अभिधत्ते हिता हितवि-  
धिनेषधमुखेन प्रायते चेत्यर्थः । एवमेकः पादो गानत्राणरूपविधानद्वयं चोक्तम् । तदनुवादपूर्वकं द्वितीयं पदं सामाना-  
धिकरण्येनाह—यत्रैवाग्या इयं वाच सायं पृथिवीति उक्ताकारविशिष्टप्रकृतधर्मिणो यत्तच्छब्दो यो सर्वभूतरूपैकपाद-  
गायत्री गायत्र्याख्य ब्रह्म तदेव पृथिवीत्यर्थः कथं पृथिव्या ब्रह्मात्मकत्वमित्यत्राह अस्याहीति ब्रह्मात्मकत्वादेवाहि सर्वभूत  
प्रतिष्ठात्वं नहि केवलपृथिव्याः सर्वभूतधारणे शक्तिरित्यर्थः प्रतिष्ठात्व च नियतमित्याह एतामेव नातिशीयत इति पृथिवी  
भूतजात नातिवर्तते कर्मवश्यात्मना नियमेन प्रतिष्ठा वादशक्यातिश्रमणेत्यर्थः पृथिवीमयब्रह्मादोदरे हे वर्तुर्बहद्वर्तुः १२

## श्रुतप्रकाशिका

वर्तते । एव द्वितीयपादो भूतप्रतिष्ठात्वतदनतिवर्त्यवरूपं विधाद्वयंचोत्तम् ॥

अथ तृतीय पादमाह—‘ यावै सा पृथिवी इय वाव सा यदिदमस्मि पुरुषे शरीरम् ’ इति पुरुषशब्दः शरीरवि-  
शिष्टजीवपरः पृथिवीरूपपादविशिष्टा सा गायत्री गायत्र्याख्यं ब्रह्म सा शरीरं शरीराख्यपादविशिष्टेत्यर्थः । भू पृथिव्योः  
गायत्रीसामानाधिकरण्येन निर्दिष्टतया पृथिवीशब्दस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वेन तदुपस्थापनक्षमत्वादग्रप्रपञ्च-कारेण अत्रापि षटा  
न्तरस्य तत्सामानाधिकरण्येन निर्देष्टुं युक्तत्वाच्च, शरीरब्रह्मात्मकं च प्राणप्रतिष्ठात्वतदनतिवर्त्य वाग्य मुपपद्यते अस्मिन्ही  
मे प्राणाःप्रतिष्ठिताः एतदेव नातिशीयन्त इति । चतुर्थे पादमाह—यद्वैतत्पुरुषे शरीरमिदवाव तद्यदिदमन्त पुरुषे  
हृदयमिति शरीराख्यपादविशिष्टं यद्वायव्याख्यं तदेव हृदयमत्यर्थः । पूर्ववद्ब्रह्मात्मकत्वमुपपादयति अस्मिन्हीमे प्राणाः  
प्रतिष्ठिताः एतदेव नातिशीयन्त इति । प्राणाः प्राणापानादयः इन्द्रियाणि वा, तेषां हृदयसम्बन्धिनाडीद्वारा हृदयप्रति-  
ष्ठितत्वम् । प्राणशब्दस्य जीवपरत्वं केचिदाहुः, तदयुक्तं भूतप्राणशब्दयोरर्थवैषम्याभावेन तदभिमतषाड्विध्यासिद्धेः ।  
भूतशरीरहृदयवाकप्राणैर्हि ते षाड्विध्यं वदन्ति । एव तृतीयचतुर्थपादौ प्राणप्रतिष्ठात्वतदनतिवर्त्यवरूपं विधाद्वयंचोत्तम्  
एवमुक्तं चतुष्पात्त्वं षाड्विध्यं च निगमयति ‘सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री’ इति ॥

नन्वेवंतर्हि ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वं स्यादिति शङ्कायामुक्तस्य महिम्नएतावत्त्वप्रतिक्षेपिकामृच्छदं ह्यति तदेतदिति ।  
ब्रह्माभिप्रायेण नपुंसकत्वं तदेतत् चतुष्पात् षड्विधं च ब्रह्मेत्यर्थः ‘सभूमिं विश्वतो घृत्वा’ इत्युक्त्वा ‘एतावानस्य  
महिमा अतो ज्यायागश्च पुरुषः’ इतिहि पुरुषसूक्ते श्रूयते, इहच पृथिव्या भूतशरीरहृदयान्यान्तर्गतानि अतः‘ताया  
तस्य महिमा’ इत्यनेन पृथिवीतदन्तर्गतपदार्थैश्चतुष्पात्स्वरूपमहिमानुवादः । तावत्त्वं प्रतिषेधति अतो ज्य यानिति—  
पादोऽस्येति इहोक्तं पादचतुष्टयमेकपादस्थानीयं अतोऽतिरिक्ता त्रिपादिभूतिः, तस्मादतो ज्यायानि युपपन्न इत्यर्थः । एव-  
मस्या ऋचः परिच्छिन्नशङ्काव्युदासार्थं युक्तम् अनन्तरमपि ‘तदेतत्पूर्णमप्रवर्तिपूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं  
वेद’ इति पूर्णत्वादिगुणकतयोपासनविधानात् ॥

नन्वेवसति ब्राह्मणोक्तचतुष्पात्त्वविषयवाभावेन ब्राह्मणस्य ऋचश्चैकार्थ्यं नसिध्येत्—न; उभयोर्ब्रह्मविषयत्वात् यदी-  
यमृगुक्तचतुष्पात्त्वविषया नभवति तर्हि किमर्थं तदुदाहरणम् । परिच्छिन्नत्वशङ्काव्युदासार्थमि युक्तम् तथास्तेवार्थदत्त्वं  
नष्टुकमात्रशापने प्रयोजनं नचेयमृक्पूर्वोक्ताविवरणरूपा दृश्यते । किंच ऋचश्चतुष्पात्त्वान्तरपरत्वं परेषामप्यवर्जनीयं जाग्र-  
दाद्यवस्थात्रयोपलक्षितं ब्राह्मणशरीरहृदयरूपेण त्रेधाविभक्तकार्याकाशोपलक्षितं वा कारणस्वरूपं त्रिपादु-क्त इति तत्कृतयो-  
जना । तत्र कथं सर्वभूतैर्जाग्रदाद्यवस्थात्रयविधाकाशोपलक्षितरूपेण चतुष्पात्त्वं भूतपृथिवीशरीरहृदयैश्चतुष्पात्त्वचैकरूपं  
भवति चतुष्पात्त्वहि षड्विधं श्रूयते ‘चतुष्पद्ब्रह्मवाक्पादः प्राणःपादश्चक्षुष्पादश्च श्रोत्रं पादः’ इति तथा ‘अग्निः  
पादो वायु पाद आदित्य पादो दिशःपादः’ इति च । एव शातमात्रशापने प्रयोजनाभावात्, पुरुषसूक्तप्रक्रियानु-  
गुण्या(त्त)दनन्तरवाक्यानुगुण्यात् ब्रह्मणो विविधचतुष्पात्त्वसम्भवाच्चतुष्पात्त्वभेदस्य परपक्षेऽप्यवर्जनीयत्वाच्च यथोक्तएवा-  
स्याऋचोऽर्थः ॥

अथ चतुर्थपादस्तेनोक्तहृदयस्याकाशस्य महत्त्ववक्तुं बाह्याकाशस्य ब्रह्मणस्तस्य वं सामानाधिकरण्येन ह—यद्वैतद्ब्रह्मेति  
हृदवायतयोऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाश इति आकाशः स्वकार्यव्यापन्यामूर्तं वाचलं वादिभिः ब्रह्मणस्तस्य इत्यर्थः; ‘अयंवावर्धो  
योऽयमन्तः पुरुष आकाशः अयवावसः योऽयमन्तर्हृदयआकाश’ इति निर्देष्टो यथैवयामिमायः । एव हार्दाकारमा-  
हृदयेन हृदयं स्तुते भवति । एव चतुष्पदः षड्विधस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चान्तर्भावेन परिच्छिन्नत्वास्तिरयशङ्काप्यवर्ज्यं पूर्णं

## श्रुतप्रकाशिका

त्वाप्रवर्तिवगुणकतयोपासनं मोक्षफलकं विदधाति तदेतदिति ; तदेत् चतुष्पात पट्टविधमित्यर्थः नात्र हृदयमात्रे ब्रह्मोपासनविधिः सप्तम्यध्वनात् अथ ब्रह्मोपासनाङ्गत्वेन द्वारोपासन विधीयते 'तस्य हृदया एतस्य हृदयस्ये'त्यादिना ; तत्रच प्रागृत्तविशेषाप्यायितचक्षुराद्यनुग्राहका आदित्यादय उपास्यः नच हृदयस्येयुक्तत्वात् द्वारोपासनं हृदयोपासनाङ्गमिति वाच्यम् ; किंतु प्रकृतननुष्पाद्ब्रह्मोपासनाङ्गं, हृदयस्येति निर्देशस्तु चतुर्थपादत्वेन हृदयस्याव्यवहितप्रकृतत्वाद्वाहीद्वारा चक्षुरादीनां तत्सम्बन्धित्वाच्च कृतः एवं गायत्रीविद्याप्रकृतस्य एकलपलप्रदस्य शुद्धमन्त्रिधनः परस्य ज्योतिष आरि रूप्य-कीर्तिमत्त्वरूपफलविशेषार्थं कौशेयज्योतिरूपत्वेन उपासनाविधानाय अथ यदतःपरो दिवोज्योतिरित्याद्यारभ्यते । पञ्चधा-कप्राणयोरन्यार्थमुदाहृतत्वाज्जिगमनवाक्यस्वारस्याच्च भूतपृथिवीरहृदयान्येव पादाः गान्ध्याणभूतप्रतिष्ठावतदनतिशयप्राण प्रतिष्ठावतदनतिशयाः पट्टविधाः ॥

ननु 'सैपा' इत्यादिवाक्यस्य पाट्टविध्यानुवादेन चतुष्पात्त्वविधानपरत्वेति ऋचश्चतुष्पात्त्वोपदेशपरत्वं सिद्धयति ततश्च 'तदेतदृचाभ्यनूक्तम्' इति घटकवाक्यस्वारस्य भवेदिति चेत् तदयुक्तम् प्रथमश्रुतस्य ब्राह्मणवाक्यानिगमनस्य स्वारस्यमङ्गेन पाश्चात्यसंदंशकवाक्यानुरोधानुपपत्तेः अन्यार्थतया वस्तुभूतयोर्वाकप्राणयोर्भूतपृथिव्यादितुल्यतापारिक्लपनस्योपक्रमस्वारस्यविरुद्धत्वाच्च । ऋगुप-यासस्य प्रयोजनं तत्रोपपत्तयश्च दर्शिताः नहोकरूपमेव ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वमिति नियन्तुं शक्यम् चतुष्पात्त्ववैविध्यस्य न्यत्रापि श्रुतत्वात् किंच त्रिपाच्छब्दनिर्वाहश्च निरूपणीयः ॥

तथाहि मनोमयवाङ्मयप्राणमयाह्वय ईश्वरव्यूहाः तैस्त्रिप्रकारमवस्थितं ब्रह्मत्रिपादमृतं विवक्षितमित्युच्यते । तत्र तावत्प्रतिष्ठमनोवाकप्राणानामात्रादिकारत्वात्तैश्चरव्यूहत्वममृतत्वं च सम्भवति । सप्तान्नब्राह्मणोक्तानां मनोवाकप्राणानु-ग्राहकाणामग्रयादित्यचन्द्राणां च कर्मवश्यत्वात् सृज्यत्वाच्च तैश्चरव्यूहत्वममृतत्वं च युज्यते 'चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोस्सूर्यो अजायत, मुरादिन्द्रश्चामिश्र' 'भीपास्माद्वातःपवते, भीपोदेति सूर्यः, भीपास्मादग्निश्चेन्द्रश्च' 'असौ योऽपक्षीयति असौ य आपूरयति' इति तेषां सृज्यत्वकर्मवश्यत्वेहि श्रूयते । मनोवाकप्राणशब्दवाच्यतयाऽभिमतानां सत्त्वतमोरजसां शक्तिरूपाणां प्रज्ञाशक्तिवाकशक्तिशक्तिशब्दवाच्यानां शुद्धिव्यवस्थाशब्दवाच्यतयाऽभिमतानां स्थूलानां सविकाराणां सत्त्वतमोरजसांचाधिष्ठातार ईश्वरांशास्त्रयईश्वरव्यूहा इति चेत्-तैरपि त्रिपात्त्व दुर्वचम् व ऋग्यप्राण मययोर्मनोमयादुःपत्यभ्युपगमेन त्रयाणां नित्यत्वायोगेन त्रिपादमृतमिति निर्देशानुपपत्तेः तेषां शक्तिरूपेणामृतत्वमिति चेत् शक्तिरूपेणामृतत्वं 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इति पादत्वेनोक्तानां सर्वभूतानां सम्प्रकृतिकानमप्यस्तीति 'त्रिपाद-स्यामृतं दिवि' इति वचनवैयर्थ्यं स्यात् ॥

किंच 'ईश्वरः परात्माऽस्य तपोब्रह्म मनोमयः' इत्यारम्भ 'तस्य द्वौव्यूहावाकाशशरीरः प्राणशरीरश्च तयोरन्ये प्रत्येकमसङ्ख्याता प्रतिजीवमवस्थिताव्यूहाः' इत्युपनिषत्कल्पे भवन्निरूप्यते, किमसङ्ख्येयानामीश्वरव्यूहानां जीवानामिव स्वतएव स्वरूपगतो भेदः उपाधिष्येयगतभेदएवैश्वरव्यूहभेद इत्युपचारादुच्यते, प्रथमे जीवबहुत्वैश्वरैक-त्वश्रुतीनां वैयर्थ्यं समर्थयैक्यस्य व्याप्तिभेदस्य च जीवेश्वरयोगतुल्यत्वात् । श्रूयतेहि 'त्वमेकोऽसि बहून्नुप्रविष्टः' 'अन्तःप्रविष्टः शास्त्राजनानाम् । एकस्तन्बहुधा विचारः' 'एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः' 'एको वशी निष्कि-याणां बहूनां एकं यीजं बहुधा यः करोति, एकोबहूनां योविदधाति कामान्' 'य पृथिवीमन्तेर सञ्चरन्' इत्या-रम्भ बहुध्ववस्थानमुक्तत्वा 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहृतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इत्यादि । द्वितीये च पक्षे किमीश्वरव्यूहाधिषेया गुणाः उतः गुणशक्तयः । प्रथमे सत्त्वतोरजसामुत्पत्तेः पूर्वं निर्गुणानां तेषामवस्थानवादानुषङ्गे

## श्रुतप्रकाशिका

उक्तं हि तत्त्वप्रचारगाथा भवद्भिः ‘ यस्मादेपां प्रकृत्यकालेऽप्यवस्थानमाप्नायते तस्माद्गुणोत्पत्तेः प्रागप्येषामवस्थानान्निर्गुणा एते ’ इति । द्वितीये च गुणप्रख्यापश्चाद्गुणशक्तीनामीश्वराधिष्ठेयत्वं नोपपद्यते तासां प्रविष्टानि कार्याभिमुखीकरणलक्षणं प्रेरण तत्तदानीमस्ति चेदासर्गकालाद्गुणानुपत्तिरनुपपत्ता कार्यानुपादनमपीश्वराधिष्ठानाधीनमिति चेत्तर्हि परमानस्वापे गुणशक्तीना तदधिष्ठितत्वाभावात्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । स्वापप्रबोधे हि ईश्वरस्य त्वदभ्युपगतौ अतः कार्यानुपादनस्येश्वराधिष्ठानानपेक्षत्वेन गुणशक्तीनामधिष्ठातृत्वाभावेन व्यूहभेदाभावाद्गुणोत्पत्तेः प्राक् निर्गुणत्वेन त्रयाणां व्यूहानां काञ्चि कालावस्थानमयुक्तम् । अधिष्ठेयभेदमनपेक्ष्य स्वतएव मदश्चेत् त्रिविद्यानादित्वात्मनोमयादितरयोस्तत्त्वरनुपपत्ता ॥

किंच तिसृष्वमीश्वरयोः प्रमाणम् ‘ एतन्मयो वा अरेऽयमात्मा वाङ्मयो मनोमय प्राणमयः ’ इति श्रुतिरिति चेत् न जीवस्य मनोवाक्प्राणकरणित्वप्रतिपादनपरत्वात्तस्याः तथाहि । यत्सप्तान्नानिमेधया तपसा जनयत्पिता ’ इति परमात्मनस्सङ्कलादेहिनामुपजीव्यत्वादन्नशब्दवाच्याना रतानामुपत्तिमुक्तत्वा तत्र प्रसिद्धान् दर्शपूर्णमासीपयश्चेत्यन्नचतुष्टयस्य मानुषदेवतिर्यक्षु विनियोगमुक्तत्वा ‘ त्रीण्यात्मने कुरुत ’ इत्यवाशिष्टात्रत्रयस्य सर्वविधप्रवृत्तिहेतुत्वात् सामान्येन सर्वभोक्तृत्वं गमकरोदित्युक्तत्वा ‘ अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौपं कामस्सङ्कल्पं विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएव ’ इति प्रसिद्धं मनएव प्रतिपादितम् । कामादीन् मनःकार्यत्वात्सामानाधिकरण्यं ‘ यः कश्चन शब्दो वागेव ’ इति सामानाधिकरण्यमपि शब्दस्य वागिन्द्रियाधीनोच्चारणत्वेन बन्धनम् अतश्शब्दोच्चारणकारणं प्रसिद्धवागिन्द्रियमेवेत्युक्तम् ‘ प्राणोऽपानो व्यानउदानस्समानइत्येतत्सर्वप्राण एव ’ इति पञ्चवृत्तिप्राण एव स्पष्टमभिहितः । ‘ एतन्मन ’ इत्येतच्छब्दश्च प्रकृतमनोवाक्प्राणपरः ‘ अयमात्मा ’ इत्ययं शब्दविशेषित आत्मा च प्रसिद्धो जीवः ननु परमप्रकृतः परमात्मा तस्य जीवस्य त्रिविधोत्पत्तिरनुपपत्तिरिति प्रतिपादितम् । पश्चात् ‘ त्रयो लोका एतएव ’ इत्यादिना तेषां प्रशंसा कृता ‘ यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग् विज्ञाता वागेवैनं तद्भूत्वावतीति ’ यद्वाग्यवहारादिज्ञातं तत्सर्वं वाचारूपमव छेदकम् वागिज्ञाता विज्ञायमानं सर्वं वागधीनम् उच्चारणात्सामानाधिकरण्यम् वागेवैनं तद्भूत्वाऽवति यद्वाचा विज्ञातं वस्तु पुरुषोपकरोति तद्भूत्वा तत्स्वरूपेण वागेवोपकरोतीत्यर्थः ‘ विजिज्ञास्यम् ’ इति चिन्तनीयं पूर्वयोजनं याचिन्तितं देवतादिकमुपकरोति तद्भूत्वा मन एवोपकरोतीत्यर्थः ‘ अविज्ञातम् ’ इति पूर्वयोजनं पूर्वसुकृतवशाच्चिन्तितं यदुपकरोति तद्भूत्वा प्राणोपकरोतीत्यर्थः

एवं प्रशंस्य त्रयाणां प्रविष्टानानि अधिष्ठातृत्वं दर्शयति ‘ तस्यैवाच ’ इत्यादिना वाचः वागिन्द्रियस्य पृथिवीशरीरम् आयतनं जिह्वागोष्ठकस्य वाग्निप्राणमाश्रित्य वागिन्द्रियं तिष्ठतीत्यर्थः । ज्योतीरूपमयमग्निं ज्योतिर्मयमाधिष्ठातृदेवतास्वरूपमग्निं ’ इत्यर्थः ‘ यावतीवाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ’ इति यत्तत्र वागिन्द्रियं तत्रतत्र तदधिष्ठानतया पृथिव्यास्ति, अधिष्ठातृत्वाऽन्तरप्यस्तीत्यर्थः ‘ अथैतस्य मनसो द्यौश्शरीरम् ’ इति इह सुखदशायां शमाश्रयः ननु लोकविशेषपरः (कुतः) अनुपपत्तेः । नहि स्वर्गलोक एव मनसोऽधिष्ठानं मनुष्याणामनश्चत्वरुद्राणां । सुखदोहि लोकविशेषे नमोमात्रे च वर्तते ‘ सुरलोको द्यौर्दिवी द्वे त्रियाम् ’ ‘ द्यौर्दिवी द्वे त्रियामर्धं व्योमपुष्करमम्बरम् ’ इति हि नामानुशासनम् । अतः अकाशमात्रविवक्षा तत्रापि सापत्न्यात् हृदयाकाशे पर्यवस्यति हृदयच्छिद्ररूपा काशआयतनमित्यर्थः । ‘ ज्योतीरूपम् ’ इत्यादेः पूर्ववत् तौ अन्यथाऽसौ मिथुनं मंगला मिथुनीभाषमनिच्छताम् । एतः प्राणोऽज्ञायत अयमस्य मित्रायः आदित्याधिष्ठेयमनः पूर्विका अग्न्याधिष्ठेयवाक्प्रवृत्तिः तदुभयपूर्विकापञ्चवृत्तिप्राणधीनां शरीरप्रवृत्तिरिति प्राणस्यासुप्तं च चतुर्गदितु स्वसदृशप्रतिस्पर्धिप्रतिरहितं ‘ अथैतस्य प्राणस्यापदशरीरम् इति ‘ प्राणा



## श्रुतप्रकाशिका

वा आप ' इति श्रुति ' पानीर्य प्राणिना प्राणा विश्वमेव च तन्मयम् ' इत्यायुर्वेदविद अत प्राणस्य आकाश-  
तन 'ज्योतीरूपम्' इत्यादिपूर्ववत् मन प्राणिनोराभिमानिदेवतान्तरश्रवणेऽपि श्रुति प्राविशयोद्वेगपि सम्भतीत्युक्तम् । आनन्त्य प्रतिशरीर मनआदिव्यष्टिभेदात् ' स एष सवत्सर ' इत्यादिना ' चन्द्रमाप्यह्णोता सञ्जतृ व रूप-  
याति ' इति प्रकारेण सर्वतुप्रवर्तकतेया सेव सरसज्ञस्य रात्रयधीनोपचयापचयान्वितकलामयस्य प्राणाधिदैवस्य च द्रव्य-  
प्रचारश्चकव ' सौम्योवै देवतत्रा पुरुष ' इति प्रकथय पुरुषस्य चन्द्राधीनत्व तद्वेदनपरत्वे त्तम , आश्वा मनोवा दप्रा-  
णाना व्यापारस्य परलोकैऽभ्यधिक व यवतु ' अथ त्रयो लोका ' इत्यादिना लोकत्रय प्रस्तुत्य पुत्र वि यस्तः रस्य-  
तन्मुनेनैह लौकिकार्थप्राप्ति केवलकर्मणाऽ तन्मि ति का यद्विद्याविशेषेण दल्लोकप्राप्ति, चाभिघ य प्रैष्यतो मनुष्यस । य-  
यनयज्ञादिक श्रेय पुत्रेण सपाद्यमिति तास न्निहितमर यमत्तवा ' अययदैवविदस्माह्लोकात्तेत्यथैभिरेव प्राणैरुह पुत्र-  
माविशति ' इत्युक्तम् पुत्रो भूरा यज्ञादिकमयमय क्वाति, पुत्रकृत रुवे परीवग स पिदु स्तानुष्टित्वद्वत्तुकारक-  
भवतीत्यर्थ ' अथैनमेते देवा प्राणा अमृता आविशन्ति ' इति एव पुत्रे निक्षिप्तमर परलोकगत पुण्यकर्मण पुरुष-  
देवा प्राणशब्दवाच्या मनआदय आदिश तीत्यर्थ तदत्र प्रपञ्चयति पृथिव्यैचैनमित्यादिना शपानुग्रहकर्मर्था वाग्वैवी-  
वाक् । अमोघसङ्कल्पमानन्दैककारण मनोदैव मन अप्रतिहतगगनमनादिव्यापारहत प्राणोदैव प्राण । एते पृथिवी-  
द्युसलिलरूपाधिष्ठानेभ्योऽग्रयादित्यच द्रुपाधिष्ठानेवताभ्यश्च स्य सम्भवन्ति, देवतासाद देवस मनोवाप्राण । एतेऽपि  
भव तीत्यर्थ । एव जीवोपकरणाना एवा परलोकशक्तप्रतिशयमुक्तवा ' स एव वित्सर्वेषा भूतानामात्मा भवति ' इति  
वागिन्द्रियादिदेवताविज्ञानप्रकर्षेणास्य सप्रभूतान्तर्द्विज्ञानस मर्थम् तस्य तु एकरूपे च आभिधायोपर हृतम् ॥

अत्र द्युपृथिव्यशब्दाना मनानाप्राणशब्दाना च सत्यतमोरजोवाचि वाभाव त, प्रशशक्तिवाकशक्तिमित्रिय शक्तिवा-  
चिवाभावाच्च सदाधिष्ठात्रीश्वरव्यूहप्रतिपादनमनुपपन्नम् । शब्दस्वारस्याभावेऽप्यर्थानुपपत्त्या तादृगर्थपर वमाश्रयीयमिति  
चेत् कापुनरत्रानुपपत्ति ' यावती वाक् तावता पृथिव्या ' इत्यादिवाक्यं पृथिव्यादीना व्याप्तयवगमात् प्राणिदुष्ट-  
व्यादिपरमनुपपत्तिमिति चेन्न वागिन्द्रियादभिस्तद धिष्ठ नभूत ना पृथिव्यादाना व्यदद मानप्रतिपादनात् । इन्द्रस्य  
ऐश्वर्येहि नव्यास्तिमत्र कार्याणा तत्प्राता दशगुणकारणपरि छत्र वनेन्द्रियरम्भ हृद रतः परि छत्र वात् ॥

ननु तत्त्वकारणा श्रुतौ नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम् । नासीद्भजो नोव्योमापरोयत् । किमावरीव  
कुहकस्य गर्भम् । अम्भ किमासीद्भजन गभीरम्' इति ताम्भनवतिशति ' न कस्मिंश्चन स ऋत ज्योतिष्मदुदप्रवत स य-  
ज्योतिष्मदुदप्रवत तद्यद्वतमिनि वाकसाय सत्यमिति प्राणरसयत्तप इति मन्त्रस्तत्तपः । त्रम्य ज्योति रासीत्ता यवमो स्ता क-  
भूवाग्नेन ज्योतिषाऽप्यायत तद्यथाप्यष्टील वास्वा सत्त स्य वृतिदैव तदैक्षत हन्तप्राण करवा' इत्यादिना तपामृतसत्य-  
तपशब्दवाच्याना वाक्प्राणमतरा प्रलयऽप्य स्थ नत् । रुद्राद्यधिष्ठाताईश्वरव्यूह एव मनआदिदेववाच्या इन्द्र-  
अर्वा श्रुतौ प्रलयऽप्यवस्थानाप्रती उद्भवतति हि श्रूयत । उद्भवन च नास्ति, किंतूद्भवनम् । तेनो पत्तिरेवावग-  
म्यते यथाव्येस्तरङ्गाद्रम इति, कारणा कार्यादय इति च, ननुद्भमनादिशब्दे छन्दित्यवस्थान प्रतीयते अत्र परि द्वा-  
गाद्यु पत्तो प्रतिपाद्यमानायामाख्यापदाना कारकपदानां च स्वररता सात् । इतरथा स्या सगेव ' तेषामज्ञमेव ज्योति-  
रासीत् ' इत्यत्र ज्योतिशब्द आज शब्दवत् प्रवृत्तिसाम्यपर । निविधकारणानामप्येवमेव प्रवृत्तिसाम्यहेतुर्लार्थ-  
' तान्येकमभवन् ' इति एककार्योपपत्ति प्रत्येकसाग्नी वः भजित्यर्थ । करणत्रयणापि दशादिकर्मनिष्पत्ति । अन-  
न्तर ' तदैक्षत ' इति तच्छब्दश्च स एप्रतिपादनाशितकारणत्रयपर एव प्रलयदशायामप्येव नश्वररूपापवादानाम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

वात् मनआदिशब्दो नेश्वरव्यूहपरः । यत एवं तस्मात् सप्ताक्षसृष्टौ ‘ तौ मिथुनं समेतां ततः प्राणोऽजायत सइन्द्रः सएषोऽसपन्नः ’ इति वाङ्मयव्यूहपत्नीकान्मनोमयादीश्वरात् प्राणमयव्यूहोत्पत्तिरुच्यते इति चानुपपन्नम् ॥

ननु बृहदारण्यक एव षष्ठेऽध्याये ‘ इन्द्रोहवै नामैष योऽयं दक्षिणेक्षन् पुरुषस्तं वा एतामिदं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रियाइवाहि देवाः प्रत्यक्षद्विप. अथैतद्वामेक्षणि पुरुषस्य रूपमेयायास्य पत्नीविराट् तयो-  
रेपसंस्तावो यएषोऽन्तर्हृदय आकाशः ’ इत्यत्र दक्षिणाक्षिप्रतिष्ठास्य पुरुषस्य वामाक्षिगत पुरुषरूपं पत्नीत्वेनोच्यते  
अतोऽत्र वाङ्मयपत्नीको मनोमयःप्रतिपादित इति न ‘ ततःप्राणोऽजायत सइन्द्रः ’ इति मिथुनोत्पत्तयेन्द्रशब्दवाच्य-  
त्वावगमात् । इह च पत्नीवतः पुरुषस्येन्द्रशब्दवाच्यत्वावगमाच्च, तत्तश्चेन्द्रशब्दवाच्यप्राणमयस्य वाङ्मयः पत्नीप्रसूत-  
नतु मनोमयस्य, मनोमयस्य वाङ्मयपत्नीकत्वं प्राणमयस्य तदुत्पन्नत्वमपिहि भवदभिमतम् । तस्मादत्रायमर्थः दक्षिणा-  
क्षिस्यःपुरुषोत्तमः ‘ यएष एतदस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन् ’ इति दक्षिणाक्षिस्यस्यादित्यान्तरवस्थित-  
त्वश्रवणात्तस्य च पुण्डरीकाक्षत्वात् ‘ इन्द्रं निचिक्षुः परमे व्योमन् इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपः ’ इत्यादिषु परमपुरुष-  
स्येन्द्रशब्दवाच्यत्वं च सिद्धम् । वामाक्षिस्थातपत्नी साक्षाद्विमीरेव इन्द्रशब्दवाच्यस्य पत्नीत्वेन प्रतीतेः, तैत्तिरीयके च  
‘ राडसि बृहतीश्रीरसीन्द्रपत्नी चर्मपत्नी ’ इतीन्द्रपत्न्याः श्रीशब्दवाच्यत्वावगमात्, किंच हृदयगुहायामवस्थानमनयो-  
रिह श्रूयते ‘ तयोरेप संस्तावो यएषोऽन्तर्हृदयआकाशः ’ इति, संस्तावः अधिकरणे घञ् संस्तावः, स्थानं संस्तवः  
परिचयः सहवासः ‘ पद्मकोशप्रतीकाशम् ’ इत्यारभ्य ‘ तस्यादिशखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ’ इति नारा-  
यणस्य हृदयस्थितिश्रवणादत्रापि श्रियःपतिर्नारायण एव प्रतिपादित इति वाङ्मयपत्नीकपुरुषप्रतिपादनमस्मृत्तम् । तत्-  
वकारिश्रुतावपीश्वरव्यूहत्रयप्रतिपादनाभावात् अघमर्षणसूक्तेऽपि नतत्प्रतिपादनमिति वाङ्मयपत्नीकपुरुषप्रतिपादनमस्मृ-  
तम् अपितु तपश्शब्दःपरमात्मपरः ‘ यस्य ज्ञानमयं तपः ’ इति तपश्शब्दस्य ज्ञानवाचित्वात् परस्य ज्ञानगुणसारत्वेन  
ज्ञानशब्दस्येव घर्मिपर्यन्ताभिधानोपपत्तेः, तस्माद्वतशब्दसत्यशब्दवाच्ययोर्यथादिक्कर्मतद्भोक्तृचेतनवर्गयोरुत्पत्तिः वावप्राणयोः  
वा ‘ तद्यद्वतमिति वाक्सायनसत्यमिति प्राणस्तः ’ इति श्रुतेः,

यद्वा ऋत यथार्थशब्दः सत्यं अवाध्योऽर्थः, नामरूपे उत्पन्ने इत्यर्थः अतो मियःकार्यकारणभोवनावीक्ष्यते वाङ्म-  
यादिव्यूहत्रय निष्प्रमाणक, किंच वाङ्मयपत्नीकान्मनोमयात् प्राणमयोत्पत्तिं किं प्रलयदशाया महदादिसर्गात् पूर्वभा-  
विनी उत महदादिसर्गान्तरभाविनी तत्र प्रथम शिरो निष्प्रमाणकत्वान्निरस्तम् । द्वितीयेतु ब्रूमः ‘ वाङ्मयःपृथिवी-  
शरीरो लयपरिणामशक्तिमधिष्ठति तम पृथिवीत्युच्यते लयपरिणामशक्तिर्वा गतिमोक्षस्थानमिति च ’ इत्युक्तमु-  
पनिषत्कल्पे । तत्रैव ‘ प्राणमयोऽप्यरीरः क्रियाशक्तिमधिष्ठति रजआइत्युच्यन्ते क्रियाशक्तिःप्राणः ’ इतिचोक्तम्  
यदि तमोरजश्चतुर्ध्यातारौ वाङ्मयप्राणमयो तदा वाङ्मयपत्नीकान्मनोमयाप्राणमयोत्पत्तिं वदता चतुर्मुखोपपत्तेःपूर्वमेव  
रुद्रोत्पत्तिरुक्ता स्यात् । तच्छ्रुतिरिन्द्र महोपनिषदि ‘ तत्र ब्रह्माचतुर्मुखोऽजायत ’ इति ब्रह्मसृष्टिमुक्त्वा ‘ अथ पुन-  
रेव नारायण सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्रयक्षदशूलपाणिः पुरुषोऽजायत ’  
इति रुद्रसृष्टेः पश्चात्तनवभवणात्, सुबालोपनिषदि ‘ ललाटात्क्रोधरुद्रोऽजायत ’ इति रुद्रस्य चतुर्मुखललाटोपपन्नव-  
भवणात् शैलालिङ्गाक्षणे रुद्रस्य चतुर्मुखस्य प्रयादिजीववदुत्पत्तिश्रवणात्, शतपथचाष्टमूर्तिब्राह्मणे सवःसप्तशतवाच्येन  
प्रजापतिना रुद्रसृष्टेश्चतुर्ध्यातारो तद्भोदनपरिहृत्य तेन तस्य नाममूर्त्येष्टकप्रदानप्रतिपादनाच्च ॥

ननु श्वतोभ्वतरे-‘ विश्वाघकां रुद्रो मर्दिपः हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ’ इति श्रूयते इतिचेत् तदपि

श्रुतप्रकाशिका

मात्रे विरुद्धम् अनन्तरमेव ‘वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्’ ‘महान्प्रभुर्वै पुरुषस्तत्त्व-  
स्यैव प्रवर्तकः’ ‘अद्भुष्टमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा’ ‘सहस्रशीर्षापुरुषः’ इत्यादिषु वाक्येषु ‘एतं महान्तं पुरुषम्’  
‘एष महान् (महान्प्रभुर्वै पुरुषः)’ इति प्रकृतरुद्रपरामर्शिनैतच्छब्देन महापुरुषशब्दसामानाधिकरण्यात् ‘यदेयं आकाश-  
आनन्दो न स्यात्’ इत्यानन्दशब्दसामानाधिकरणाकाशशब्दस्य प्रसिद्धाकाशप्रहाणेन परमात्मपरवद्वद्भूत्यापि प्रसिद्धार्थ-  
प्रहाणेन महापुरुषपरतायाः न्याय्यत्वात् सत्त्वप्रवर्तकविषयस्य वाक्यस्य तमोऽधिष्ठातृवाङ्मयपरत्वाभावात्, पुरुषस्य वा  
क्योपादानेन पुरुषोत्तमविषयस्य स्फुटवच्च, परमपुरुषादेव हि हिम्यगर्भोऽने स्तत्र प्रतिपाद्यान्तरया र ऊदरार्द्धक-व-  
प्रसङ्गाभावात् यथा ‘मृत्युर्नैवेमावृतमासीत् अशनायया अशनया हि मृत्युस्तन्मनो कुरुतात्मन्वीस्यामिति सोऽक्षर-  
प्रचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्त’ इत्यारभ्य अशनायालक्षणत्वं मृत्योरभ्युपगम्यमानं सृष्टिप्रतीतावपि न प्रसिद्ध-  
मृत्योः क्षुधोवा गृथि-यादिप्रपञ्चकारणत्वमभ्युपगम्यते. ‘भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः’ ‘मृत्युर्यस्यो-  
पसेचनम्’ ‘तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरी-  
शानः’ इति परमात्मसृज्यत्वसंहायकं न्याय्यवश्रवणात् । एव ब्रह्मसृष्टस्य रुद्रस्य न ब्रह्माणप्रति स्फुटं विहिताव्यतस्य  
भ्युपगन्तव्यम् । शैलालिङ्ग द्वाणशतपथसुनालोपनिषदां नैवमर्थान्तरपरं च बबतु शक्यम् ॥

नन्येवमपि कल्पभेदेन सृष्टिप्रकारइत्याख्येयम्-नैवम्; त्वदभिमतसृष्टिप्रकारस्य स्फुटश्रवणाभावात् आकाशादीनामपि  
कल्पभेदेन परमकारणत्वकल्पनाप्रसङ्गात् श्रुतिविरोधेन कल्पनोऽनुपपत्तेश्च, अतो र ऊदरार्द्धक-व-  
हिरण्यगर्भोपात्तिः विरुद्धा किंच ‘वाङ्मयलयपरिणामशक्तिमधितिष्ठति लयपरिणामशक्तिश्च वाक्’ इति कथ्यते,  
मोक्षस्थानमिति च मोक्षस्थानं परमाकाशः सत्त्व प्रकृतेस्तमसशब्दवाच्यत्वात् आद्याऽवस्थति च भवद्विरुध्यते तथा तत्त्व-  
विचारणायामुक्तम् ‘परमाकाशो नाम प्रकृतेराद्यत्वावस्था’ इत्युपक्रम्य ‘सा च तमोऽवस्थापञ्चा प्रकृतिः परस्तादा-  
त्मनो विभागरूपं विकारं प्रतिपद्यते स एव परमाकाशः स एव मुक्तानामीश्वरस्य च स्थानं शब्दपरिणामशक्ति-  
युक्तत्वाद्वाक्’ इति चोच्यते अक्षरमिति चेत्, यद्यन्यत्तमसोर्भेदमपि तत्र अक्षरं परमाकाशः सत्तावदाद्यो विभागः ‘तम-  
एकीभवति मृत्युर्वै परदेव एकीभवति’ ‘तस्मात्तमस्तस्माज्जायते’ इति तमस एव विभागश्रवणात् । विभक्त-  
मसोऽक्षरविभागः तमस्तस्मादक्षररूपेण जायत इति योजनावस्वरसा ‘अक्षरं तमसि लीयते’ इति लयश्रवणविरु-  
द्धा च । तच्चाक्षरं समुक्तानामीश्वरस्य च स्थानं तस्योऽप्युक्ताद्यपेक्षया अक्षरत्वेऽपि तमसि लयश्रवणेण क्षरत्वात् । ‘तदक्षरे  
परमे व्योमन्’ इति परमव्योमः क्षरणाभावाच्च तत्राप्यापेक्षिकमक्षरत्वमिति चेन्न तत्र स्वारस्यभङ्गप्रलयश्रवणमावात्  
तमसो विभक्तमक्षरमेव तत्राक्षरशब्देन प्रत्यभिज्ञाप्यत इति चेन्न । वर्णानुपूर्वसादृश्येऽप्यन्यविशेषणतया प्रयुक्तेनाक्षरशब्देन  
विशेष्यसमर्पकाक्षरशब्दार्थस्य प्रत्यभिज्ञानाभावात् न ह्यक्षरः पटइति वाक्यस्योऽरण्यशब्दे रदिरस्य रण प्रत्यभिज्ञायत इति

किंच स्वप्रकरणे ‘विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्’ इति समानप्रकरणे च ‘आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्’ ‘तेहनाकं  
महिमानस्तचन्ते’ ‘आदित्यवर्णं तमसस्तुपारं’ इति मुक्ताभेदस्थानस्य तमसः परत्वश्रवणात्तमसोऽर्वाचीनस्याक्षरस्य न  
तत्र प्रत्यभिज्ञा ‘तमसः परस्तात्’ इति परस्वरूपस्य तमोवैलक्षण्यमुच्यत इति चेत् न दिग्देशकालेष्वस्तातिप्रत्ययस्य विहि-  
तत्वेन वैलक्षण्यमात्रपरत्वस्य क्लृप्त्वात् स्थानविशेषस्य सन्निहितत्वाच्च तमसः परत्वस्य देशविशेषवर्तिपरमात्मविशेषणवो-  
पपत्तेः ‘तमसस्तुपारं’ इति पारशब्दभावविधाचकः । अतस्तमसः परस्य स्थानस्येह प्रत्यभिज्ञानाभावात् तमोविभागरूप-  
मक्षरं न मुक्ताभेदपरमात्मस्थानं तमोविभागरूपचाक्षरं न वाङ्मयाधिष्ठेयम् तस्याक्षरस्य ब्रह्मरुद्रसृष्टेः पूर्वभावितात्, ‘यः

श्रीभाष्यम्

सू.२८—उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् (१.१.१०)

श्रुतप्रकाशिका

पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्' इत्यारभ्य 'योऽक्षरमन्तरे सञ्चन्यस्याक्षर शरीरम् यस्यमृत्युदशरीरम्' इत्युक्त्वा 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण' इति तस्याक्षरत्वं कारणम् मृत्युशरीरस्य नारायणवप्रतिपादनाच्च, तस्यैवांतरा मत्वश्रवणाद्वाक्योऽंतरा मतिचानुपपन्नम् अतएव हिरण्यगर्भस्य प्राणम्यस्यातयामि वच निरस्तं नारायणस्यैव ह्यन्तर्यामि व श्रुतम्, हिरण्यगर्भस्य महत्तत्वाभिमानि चतुर्ब्रह्माण्डं तर्हि यद्वर्तते तदिदं वक्षिदुर्लभमिति मन्तव्यं परमकारणवाभावात् अग्निन्द्रादीनां वाक्याण्याद्यभिमानि वचत् 'सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यत्र सर्वभूतशब्देन ब्रह्मरुद्रयोरापि जीवान्तर्यामि 'तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपूरुष' 'त्र्यक्षदशूलपाणि पुरूपोजायत, इन्द्रोवरुणस्सोमो रुद्र' 'सन्नद्धा सशिरस्सेन्द्रस्सोक्षर' इतीदं वाक्यं प्रादिश्रवणं त् । एवमेव पुनर्वृत्ते भगवता व्यासेन ब्रह्मरुद्रसंवादे—

ममान्तरात्मा तत्र च येचान्ये देहिसञ्चिता । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ नम्राह्य केनचित्काचित् ॥

अहं ब्रह्मा आद्य ईश प्रजानां तस्माज्जातस्तत्र च मत्तं प्रसूतम् ।

मत्तो जगत्स्थावरजङ्गम च सर्वेवेदारसरहस्याश्च पुत्र ॥

इति । अतएव मानवे धर्मशास्त्रेऽपि 'योऽस्यात्मन कारयिता' इत्यादिवचनानि च न भवदभिमतवाक्यप्राणमयविषयाणि श्रुत्यनुसारित्वात् स्मृतिवचनानाम् । अतएव 'मनोमयप्राणशरीरो भारूप तस्य सङ्कल्पाकाशात्मा' 'प्राणो ब्रह्म कर्त्रह्य सन्नद्ध' इत्यादिश्रुत्यर्थं न भवदभिमतवागीप्रतिपादिकं स्ववाक्यस्वारस्याभावात् श्रुत्यन्तरविराधादनुपपन्नत्वाच्च । यत ईश्वरस्य न प्रलयकालं व्यूहत्रयं प्रामाणिकं अतएव ब्रह्मरुद्रयेव वाक्यप्राणमयं मृतं व च दूरो सारितम् स्मृत्यर्थं श्रुत्यनुरोधेन वर्णनीया अद्वयवर्णनाश्वेदनादर्शनीया एव वाक्यादि यूहत्रयकल्पनस्य निर्मूलत्वात् 'त्रिपादस्यामृतदिवि' इति वाक्यस्य यादवप्रकाशेश्वरभिहितार्थोऽनुपपन्नः, तस्मात् 'भूतादुपादेत्वादिसू'स्य भाष्यकाराभिमत एवार्थ उपपन्न इति स्थितम् ॥

सू.२८—उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् (१.१.१०)

गूढार्थसंग्रह

'सैषा चतुष्पदा' इति वाक्यस्य तात्पर्यनिर्णये 'तदेतद्व्याप्यनूतम् तावानस्य महिमा' इत्यनन्तरश्रुतावपि 'अथ यदत परोदिया ज्योति' इत्यत्र ज्योतिशब्दार्थं न प्रसिद्धादित्यादित्यादिज्यानीरूपं, किंतु ब्रह्मगायत्रीसदृशतया निर्णीतब्रह्मेवेति भूतादिपादव्यपदेशः यथा प्रसिद्धार्थपरत्वव्यापत्तकं सादृश्यनिबधनं सदृशं न तु दिस्यन्नदविषयक एव, न तु मुखगायत्रीविषयक तद्वदेव ज्योतिशब्दार्थोऽपीति एवमित्यत्र विवक्षितम् ॥

'अथ यदत परोदियो ज्योतिर्दीप्यत' इत्यत्र इत्युक्त्वा उभयार्थकार्यं न कथयति अपितु भिन्नार्थकं वदेव एव चरणाभिध न हतुरापि उपपत्तेः ज्योतिर्वाक्ये चरणाभिधानाभावात् । इयं च व्यातिर्वाक्यमात्रदर्शने च तायां आदित्यादिज्योतिः तद्वक्त्यप्रतिपादितत्वे न वाऽप्यनुपपत्ति इति पूर्वाणि व्याख्यं प्रकृत्यन् रिक्तं न्तयति—उपदेशभेदान्नेतिचेत् इत्यादिना । 'अनुत्तमेपूतमेतु' इत्यत्र अनुत्तमशब्देन न विरुद्धं तदर्थो उत्तमा ते अनुत्तमा इति विमर्शतेन



## श्रीभाष्यम्

पूर्ववाक्ये ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ (छां.६.१२.६) इति दिवोऽधिकरणत्वेन निर्देशा-  
दिहच ‘दिवः पर’ इत्यवधित्वेन निर्देशादुपदेशस्य मिश्ररूपत्वेन पूर्ववाक्योपतं ब्रह्म परस्मि  
प्रत्यमिहायत इति चेत्-तन्न, उभयस्मिन्नपि उपदेशे अर्थस्वभावैक्येन प्रत्यमिहायाअवि  
रोधात्; यथा ‘वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतदश्येनः’ इति । तस्मात्परमपुरुष एव निरतिशय  
तेजस्को ‘दिवःपरो ज्योतिर्दीप्यते’ इतिप्रतिपाद्यते । ‘एतावानस्य महिमा । अतो ज्यायागु-  
श्चपुरुषः । पादोऽस्य विभ्या भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ (तै.यजुर्ण्य.प्र.१२.अनु) इति प्रति-  
पादितस्य चतुष्पदः परमपुरुषस्य ‘वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमस्तु पारे’  
(पुरुषसूक्तम्) इत्यभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्यप्राकृतमिति तद्वत्तया स एव ज्योतिश्श-  
ब्दामिधेय इति निरवद्यम् ॥

## ज्योतिरधिकरणं समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

यथा वृक्षाग्रे श्येनइति । सप्तमी अन्तर्बहिरघोर्ध्वभागस्थितिसाधारणी पञ्चमीतूपरिस्थित्यसाधारणी अथ उमा-  
भ्या स्थानविशेषादुपरिस्थितिरेव विवक्षितेति भावः । सूत्रार्थे परमसाध्येन घटयति तस्मादिति । न खल्वमस्वरूपे दीप्ति  
रस्ति तत्र कथं ज्योतिर्दीप्यते इत्युक्तज्योतिश्शब्दामिधेयत्वमिति शङ्का परिहरन्नधिकरणार्थं निगमयति एतावानिति । पुरु  
षसूक्तवाक्योपादानं विग्रहविशेषशपनार्थम् ॥

## ज्योतिरधिकरणं समाप्तम्

## गूढार्थसंग्रहः

उत्तमत्वं न आपेक्षिकम् किंतु निरवधिकमेवेति सिद्धयति । ‘पादोऽस्य सर्वाभूतानि’ इत्यत्र सर्वभूतानां पादत्वमभि-  
धाय ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इत्युक्ता सर्वभूतसम्बन्धविरहः ‘दिवि’ इत्यत्र विवक्षितदेशस्य प्रतीयते तेन प्राकृतदेशस्य  
सर्वस्य सर्वभूतसम्बन्धितया प्राकृतदेशमिन्न एव देशः ‘दिवि’ इत्यत्र विवक्षितः । ‘दिवःपर’ इत्यत्र इन्द्रियजन्य  
प्रत्यक्षनिषेधलोकादूर्ध्वज्योतिरेव विवक्षितम् । ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इत्यत्रामृतशब्देन अनश्वरत्वं तत्स्थानवर्तिनः प्रती-  
यते । नाशश्च सृष्टिप्रलयसम्बन्धेनैव, तेन ‘दिवि’ इत्यत्र तद्देशस्यापि सृष्टिप्रलयसम्बन्धभावात् विवक्षितइत्यपि प्रतीयते  
इत्यत्र प्राकृतदेशसम्बन्ध्यप्राकृतदेशसम्बन्धज्योतिषः उभयत्रापि प्रतीतिः । अतश्च वृक्षाग्रात्परतदश्येन इत्यत्र वृक्षाग्र  
संज्ञविगमः प्रतीयते वृक्षाग्रे इत्यत्र तत्सम्बन्धः इत्युभयत्र किञ्चिद्व्यपेक्षेऽपि वृक्षाग्रासम्बन्धेऽपि किञ्चिद्व्यवधानेऽपि वृक्षा  
ग्रस्य अधिकरणत्वं प्रतीयते तद्वदत्रापि इत्यप्राकृतदेशसम्बन्धस्योभयत्र प्रतीत्या व्यवहारस्य नाविरोधः इति दृष्टान्तोपेक्षया  
अयं विशेषः अत इत्यनेन सूच्यते इति सूत्रकाराशयो, निरूपयितुं शक्यते, तथाऽप्युभयत्र दृष्टान्तयोरेकार्थकत्वमभ्युपेत्य  
‘अनुत्तमेपूतमेतु लोकेषु’ इति लोकानां बहुवचनमभ्युपेत्य परोक्षरीतिमनुसृत्यैवाह— वृक्षाग्रे श्येनइति । अयमर्थः पुरुष  
सूक्ततोऽपि प्रतीयत इत्याह—एतावानस्य महिमा इत्यादिना । श्रुयोरनयोर्विशेषाभावात् तत्र कथमप्राकृतस्थानसिद्धि  
रिति शङ्काऽपनोदनाय ‘वेदाहमेतम्’ इत्युत्तरवाक्यमुपादत्ते । ‘अतो ज्यायागुश्च पुरुषः’ ‘वेदाहमेतं पुरुषम्’ इतिवा

## गूढार्थसङ्ग्रहः

क्यद्वयपर्यालोचनाया पूर्वोक्तज्यायानेव पुरुषः अत्रापि प्रतीयत इत्युभयोरैकार्थ्यम् । 'तमसः परस्तात्' इत्यत्र तमश्शब्दस्य 'अतः पर' इत्यत्र अतश्शब्दस्यैकार्थ्येन 'अथ यदतः पर' इत्यत्र प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वं सर्वभूतासंबन्धिनः ज्योतिश्शब्दाभिधेयस्य पुरुषस्यैव विवक्षेति निर्णयते । 'आदित्यवर्ण' शब्दप्रयोगात् दिव्यमङ्गलविग्रहस्यापि विवक्षा सिद्ध्यति एव च अप्राकृतदेशे अप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहयुक्तः नारायणः परज्योतिः 'परज्योतिरूपसम्पद्य' (छा. ८. प्र) इत्यत्र ज्योतिश्शब्दसमानार्थकः उत्तमपुरुषः 'परज्योतिरूपसम्पद्य' इत्यत्र विवक्षित इति सिद्धम् ॥

## ज्योतिरधिकरणं समाप्तम्

- अथ वेदान्तसारः -

## ज्योतिश्चरणाभिधानात् [१.१.१०]

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेष्टमेष्टु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा. ३. १३. ७) इत्यत्र सर्वस्मात्परत्वेन निर्दिश्यमानतया सकलकारणभूतज्योतिषः कौशेयज्योतिषैक्याभिधानात्, स्ववाक्ये विरोधिलिङ्गादर्शनाच्च, प्रसिद्धमेव ज्योतिर्जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यत इति शङ्कायाम्, यद्यपि स्ववाक्ये विरोधिलिङ्गं न दृश्यते ; तथाऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि । त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा. १. १२. ६) इति प्रतिपादितस्य सर्वभूतचरणस्य परमपुरुषस्यैव सुसम्बन्धतयाऽत्रापि प्रत्यभिज्ञानात् स एव ज्योतिश्शब्देन सर्वस्मात् परत्वेन सकलकारणतयाऽभिधीयते । अस्य च कौशेयज्योतिषैक्याभिधानं फलयोगादिदृश्यत इति न कश्चिद्विरोधः अतिलज्जगदेककारणभूतः परमपुरुषोऽप्राकृतस्वासाधारणदिव्यवर्णो दिव्यरूपस्तामसः परस्ताद्वर्तत इति तस्यैव निरतिशयदीप्तियोगात् ज्योतिश्शब्दाभिधेयत्वम् विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेष्टमेष्टु लोकेषु (३. १३. ७) वाच्यं मुख्यतएव ॥

## सू. २६—छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् (१.१.१०)

पूर्वत्र 'गायत्री वा इदं सर्वम्' (छा. ३. १२. १) इति गायत्र्याख्यच्छन्दः प्रस्तुतमिति नात्र परमपुरुषाभिधानमिति चेत्—नेतत् परमपुरुषस्यैव गायत्रीसादृश्यस्य अनुसन्धानोपदेशात्, तस्य छन्दोमात्रस्य सर्वभूता मन्वानुपसरेवेति निगम्यते । अन्यत्रापि ह्यन्यस्य छन्दसादृश्यात् छन्दोनिर्देशः दृश्यते 'ते वा एते पञ्चान्ये' (छा. ४. १. ८) इत्यारभ्य 'सैवागिराह' इत्यादौ ॥

## सू. २७—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् (१.१.१०)

भूतपृथिवीशरीरहृदयैश्चन्द्रदेति व्यपदेशश्च परमपुरुषे गायत्रीछन्दनिर्दिष्ट सुन्दरदत्त इति पूर्वोक्तप्रकार एव समञ्जसः ॥

## सू.२८—उपदेशमेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् (१.१.१०)

पूर्वत्र 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां.३.१२.६) इति परमपुरुषो व्यपदिश्यते । अत्र 'अथ यदतः परो दिवः' (छां.६.१३.७) इति पञ्चम्या निर्दिष्टः द्युसम्बन्धिज्योतिरिति न प्रत्यभिज्ञेति चेत्—नैतत् उभयस्मिन्नपि व्यपदेशे विरोधाभावात् ; यथा 'वृक्षाग्नेर्येनः, वृक्षाग्रात्परतः येनः' इति व्यपदेशः । अत्र दिवः परब्रह्ममेव उभयत्र विवक्षितमित्यर्थः ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

## ज्योतिश्चरणाभिधानात्

छान्दोग्ये—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमे पूत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' (छां.६.१३.७) इत्यत्र जगत्कारणत्वव्याप्तनिरतिशयदीप्तिरुक्ततया ज्योतिश्शब्दनिर्दिष्टः किं प्रसिद्धादित्यादिज्योतिः, उत परमेव ब्रह्मेति सशयः, प्रसिद्धज्योतिरिति पूर्वपक्षः । कुतः ? 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' (छां.६.१३.७) इति कौक्षेयज्योतिषा, प्रसिद्धेनैकयावगमात्, स्ववाक्ये तदतिरिक्तपरब्रह्मासाधारणलिङ्गादर्शनाच्च । शान्तान्तस्तु—प्रसिद्धज्योतिषोऽन्यदेव परब्रह्म इह निरतिशयदीप्तिरुक्तं ज्योतिश्शब्दनिर्दिष्टं । कुतः 'पादोऽस्य सर्वाभूतानि । त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां.३.१२.६) इति पूर्ववाक्ये द्युसम्बन्धितया निर्दिष्टस्यैव चतुष्पदो ब्रह्मणः 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः' (छां.६.१३.७) इत्यत्र प्रत्यभिज्ञानात् । तच्च परमेव ब्रह्मेति विशातम् सर्वेषां भूतानां तस्य पादत्वेन व्यपदेशात् । एवं परब्रह्मत्वे निश्चिते कौक्षेयज्योतिषः तदात्मकत्वानुसन्धानं फलायोपादिश्यत इति ज्ञायते । सूत्रार्थस्तु—ज्योतिश्शब्दनिर्दिष्टं परब्रह्म ; अस्य ज्योतिषः पूर्ववाक्ये सर्वभूतचरणत्वाभिधानात् । सर्वभूतपादत्वञ्च परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते ॥

## सू.२९—छन्दोऽभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् (१.१.१०)

'गायत्री वा इदं सर्वम्' (छां.३.१२.१) इति गायत्र्याख्यच्छन्दसः प्रकृतत्वात् सर्वभूतपादत्वेन गायत्र्या एवमभिधानान्नब्रह्मेतिचेत्—नैतत् तथा चेतोऽर्पणनिगमात् गायत्री यथा भवति, तथा चेतोऽर्पणोपदेशात् । गायत्रीसादृश्यचतुष्पात्त्वं ब्रह्मण्यनुसन्धेयमित्युपदिश्यते, गायत्र्यासर्वात्मकत्वनुपपत्तेरित्यर्थः । तथाहि दर्शनात् तथाछान्यत्रापि अच्छन्दसएव सादृश्याच्छन्दश्शब्देनाभिधानं दृश्यते 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सम्पद्यन्ते' (छां.४.३.८) इत्यारम्य 'सैषा विराड्ज्ञात्' (छां.४.३.८) इति ॥

## सू.२७—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् (१.१.१०)

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य 'सैषा चतुष्पदा' (छां.३.१२.५) इति भूतादीनां पादत्वव्यपदेशश्च ब्रह्मण्येवोपपद्यत इति ब्रह्मैव गायत्रीशब्दनिर्दिष्टमिति गम्यते ॥

## सू.२८—उपदेशभेदोन्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नन्यविरोधात् (१.१.१०)

‘पादोऽस्य सर्वा भूतानि । त्रिपादस्यामृतं दिवि’ (छा.३.१२.६) इति पूर्ववाक्योदित परब्रह्मैवास्तु ; तथाऽपि ‘अथ यदतःपरो दिवो ज्योतिः’ (३.१३.७) इति द्युसप्तममात्रेण नेह प्रत्यभिज्ञायते ; तत्र चात्र च उपदेशप्रकारभेदात् । तत्रहि ‘दिवि’ इति द्यौस्सप्तम्या निर्दिश्यते । इह च ‘दिवःपरो ज्योतिः’ इति पञ्चम्या । ततो न प्रतिसन्धानमिति चेन्न ; उभयस्मिन्नपि व्यपदेशे उभयस्थितिरूपायैव्येन प्रतिसन्धानविरोधात् यथा ‘वृक्षाग्रे द्येनः, वृक्षाम्नात्परत इत्येनः’ इति ॥

॥ इति वेदान्तदीपे ज्योतिरधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणसारावली

कौक्षेयज्योतिरैक्यं कथितमिह परज्योतिपस्तस्य विश्वो-  
पादानत्वं च विद्यान्तरविदितमतः कारणंगहिरस्तु ।  
मैवं पुंसूक्तवाक्योदितपरपुरुषप्रत्यभिज्ञप्रत्यवाधात्  
गायत्र्युक्तिस्तु साम्यादपि च निगदितास्तस्य भूतादिपादाः ॥  
उत्थानं ज्योतिरादावधिकरणयुगे कारणव्याप्तलिङ्गा-  
दित्याभाष्यान्यालिङ्गं स्ववचसि विहितं नेति भाष्यं कथं स्यात् ।  
इत्थं विश्वादिलिङ्गं सादिह न तु पराभीष्टालिङ्गं समस्ती-  
त्युत्पश्यन् पूर्वपक्षी व्यवहरति तथा व्याहृतिस्तन्नशङ्कया ॥

॥ ज्यो ति र धि क र णं स मा प्त म् ॥





## अथ इन्द्रप्राणाधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

निरतिशयदीप्तिरुक्तं ज्योतिश्शब्दामिधेयं प्रसिद्धवन्निर्दिष्टं परमपुरुष एवेत्युक्तम् ।  
इदानीं कारणत्वव्याप्तामृतत्वप्राप्त्युपायतयोपास्यत्वेन श्रुत इन्द्रप्राणादिशब्दामिधेयोऽपि  
परमपुरुष एवेत्याह—

## अथ इन्द्रप्राणाधिकरणम्

### स्तुतप्रकाशिका

अवान्तरसङ्गतिमाह—निरतिशयेति । ज्योतिश्शब्दामिधेयमिति । आकाशप्राणतेजसा क्रमोपपत्तेः । 'अतएव  
प्राणः' इत्यस्यानन्तर 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इत्यधिकरण सङ्गतमिति भावः । प्रसिद्धवन्निर्दिष्टमिति । अने-  
नाधिकरणयोः पौर्वापर्यायनियम उक्तः । 'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि' इति पूर्वस्मात्पूर्वाधिकरणद्वयविषयवाक्ययोः  
प्रसिद्धवन्निर्देशो दृश्यते । अत्रापि 'अथ यदत पर' इति यच्छब्देन प्रसिद्धवन्निर्देशो दृश्यते, तस्मात् ज्योतिराधिकरण  
पूर्वाधिकरणद्वयेन सङ्गतम् । एवंसत्युत्तराधिकरणस्य ज्योतिराधिकरणानन्तरभावि य प्राप्तमिति भावः । अवान्तरपेटिकाऽ-  
नुगतमर्थमाह—कारणत्वव्याप्तेति । पूर्वाधिकरणे परमपुरुषस्य ज्योतिश्शब्दामिधेयत्वमुक्तम् तदयुक्तम् परमपुरुषादन्यस्ये-  
न्द्रादिशब्दवाच्यस्य वेदान्तप्रतिपाद्यत्वादिति शङ्कया सङ्गतिरित्यर्थः । तत्र कारणत्वाक्षेपकलिङ्गभूयस्त्वमनुसंधेयम् ॥

## अथ इन्द्रप्राणाधिकरणम्

### गूढार्थसंग्रह

एतावता प्रकृतिः, प्राकृततद्विशेषः, जीवतद्विशेषव्यतिरेकः निरूपितः । एतत्सर्वं समानाधिकरणवानयपर्यालोचनाया न  
घटते प्रतर्दनाविद्यायामिन्द्रादिजीवविशेषाभेदसमानाधिकरणवाक्यैः तस्यैव परत्वमुपास्यत्वं च प्रतिपाद्यते तत्पर्यालोचना-  
यामभेदेऽप्य वेदान्तसिद्धान्त इति भ्रमस्स्यात् । तदपनोदनाय जीवभिन्नपरमा मन एव तत्रापि विवक्षा । तदुपासनमेव प्रतर्दन-  
विद्यायां विवक्षितम् । उपासनं ज्ञानचैकमेव ननु तयोर्भेदः ज्ञान निर्विशेषविषयकम् उपासनं सविशेषविषयकमित्यापि नोप-  
निषत्सिद्धान्त इत्यभिप्रेत्य ब्रह्मलक्षणलक्ष्यत्वं जीवविलक्षणस्यैवेति पादाऽत्याधिकरणे निरूपयति । विशेषसमर्पकशब्दघटित  
वाक्यविचाररूपत्वं आकाशाद्याधिकरणचतुष्टयस्य तत्राद्याधिकरणद्वयस्य कारणवाक्यविचाररूपता, अन्त्याधिकरणद्वयस्य कार-  
णत्वाक्षेपकधर्मबोधकवाक्यविचाररूपतेति विभागः । कारणस्यानन्दरूपस्यैव प्राप्यत्वं जन्माद्याधिकरणविषयवाक्यएव स्फुटम् ।  
प्रकृतिमण्डलाद्विहः निरतिशयदीप्तिरुक्तज्योतिश्शब्दामिधेयपुरुषस्यैव कारणस्य प्राप्यता पूर्वाधिकरणे स्थापिता । पूर्वाधिकरण-  
विषयवाक्यस्य पुरुषशब्दता पर्यविषयीभूतार्थः आनन्दरूपः चेतनाचेतनशरीरी जीवविशेषविलक्षण ज्ञानाभिज्ञोपासनविषय  
इति स्थापनमुखेन 'तत्त्वौपनिषद पुरुषम्, विशानमानन्द ब्रह्म' इति प्रथमसूत्रविवाक्षितश्रुत्यर्थनिरूपणमुखेन निर्विशे-  
षस्यानन्दरूपता न कथंचिदपि सम्भवति, किंतु सविशेषस्यैवेति च स्थापयति आस्मिन्नधिकरणे । अत्र कारणत्वव्याप्तिलिङ्ग-  
ममृतत्वप्राप्त्युपायत्वरूपमेव 'यो मामायुरमृतमियुपास्ते सर्वमायुरास्मिन्लोके एति आप्नोत्यमृतत्वं' इत्यत्रामृतत्वहेतुत्वमु-  
पासनस्य स्फुटम् । 'अमुष्मिन्लोके अमृतत्वमाप्नोति' इति पूर्ववाक्येऽप्यभ्यस्तम् । तत्पूर्वं 'सद्योमा विजानीयात् नास्य  
केनचित्कर्मणा लोको मीयते' इति सर्वकर्मक्षयोऽप्यभिहितः । तेनामुष्मिन्लोके सर्वकर्मक्षयानन्तरममृतं वप्राप्तिरिति सिद्धा । उपक्रमे

## श्रीभाष्यम्

## सू. २९ = प्राणस्तथानुगमात् (१.१.११)

‘कौपीतकीब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां-’ प्रतर्दनो हवै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च ’ (कौपीतक्यां. ३.१) इत्यारभ्य ‘वरं वृणीष्व ’ (३.१) इति वक्तार-  
मिन्द्रं प्रति ‘त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे ’ (३.१) इति प्रतर्दने-  
नोन्ते ‘सहोवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्य ’ (३.१) इति श्रूयते । तत्र

## श्रुतप्रकाशिका

## सू-२९ प्राणस्तथानुगमात् [१-१-११]

‘तत्रेति । ‘इन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम ’ इत्युपक्रमे इन्द्रशब्दनिर्दिष्टत्वात् ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा ’ ‘स  
एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरो मृतः ’ इति प्राणशब्देन निर्दिष्टत्वाच्चेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्ट इत्युक्तम् । प्राणश-  
ब्दस्य परमात्मलिङ्गप्रतिपादकवाक्यस्यावेन सिद्धान्तहेतुद्योतकत्वात् सूत्रे प्राणशब्देन धर्मी निर्दिष्टः नत्विन्द्रशब्देन इन्द्र-  
शब्दनिर्दिष्टस्य विचारविषयत्वमर्थमिति सूत्रकाराभिप्राय इति भावः । जीवमात्रलिङ्गसद्भावेऽपि विशेषकोश्या जीव  
धर्मस्येन्द्रशब्दवाच्यप्रकृतजीवविशेषनिष्ठवप्रतीतेर्जीवोवेति शिरोऽन्तरं परोक्षमयुक्तमिति भावः । प्राणलिङ्गस्यैव ‘प्राणो  
ऽस्मि ’ इति सामानाधिकरण्येन प्राणस्य जीवविशेषणत्वप्रतीतेः प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वशङ्काया असम्भवात् प्राणोवेति  
चानुपन्यस्तम् । कारणवाक्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म किं प्रसिद्धजीवभावइन्द्रः ? उत परमात्मेति विचारः । तदर्थं हिततमोपासन  
कर्मतयेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः किं प्रसिद्धइन्द्रः ? उत परमा मेति । तदर्थमानन्दादिगुणाः किं गौणाः उत मुख्या ? तदर्थं

## गूढार्थसंक्षेपः

‘यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे ’ इत्यत्र हिततमशब्दः इष्टसाधनपरः । सुखबोधटीकाया दुर्गादासोक्तेः । अत्रोपासन  
स्यामृतत्वप्राप्तिसाधनत्वोक्तेश्च । ज्ञानाभिन्नोपासनस्य मुक्तिसाधनत्वस्य स्पष्ट प्रतीत्या उपासनमेवामृतत्वोपायभूतमत्र विव-  
क्षितम् ॥ एवं च प्रश्नः अमृतत्वोपायविषयकएव सिद्ध्यतीति भावः । हिततमोपासनविषयकएव प्रश्न इत्येवावशदाकर-  
णार्थं विषयवाक्यमुपादत्ते-प्रतर्दनो हवै इत्यादि ॥

- वरंवृणीष्वेति । अत्र मुद्रितकोशेषु ‘प्रतर्दनो हवै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियधामोपजगाम । युद्धेन च पौरुषेण च तं  
हेन्द्र उवाच प्रतर्दनं वरते ददामीति । सहोवाच प्रतर्दनः त्वमेव मे वरंवृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे ’  
इत्यानुपूर्वी दृश्यते । अत्र पूर्वं ‘वरंवृणीष्वेति वाक्याभावे ‘वरददानी ’ति वाक्यमत्रित्वे ‘वरदेही’त्येव ब्रूयात्प्रतर्दनः  
ननु त्वमेव वरंवृणीष्वेति । वर्ततेतु ‘त्वमेव वरंवृणीष्वेति । अतः पूर्वं ‘वरंवृणीष्वेति इन्द्रव क्यसत्त्व एव सङ्गतायकत्वं  
नान्यथा । अतः ितकोशेषु तदाव उल्लेखः ‘वरंवृणीष्वेति पाठएव भाष्यादतो युक्त इति प्रतिभाति । इन्द्र-  
प्राणशब्दनिर्दिष्टइति । यद्यपि ‘प्राणस्तथाऽनुगमात् ’ इति सूत्रे इन्द्रशब्दो नास्ति । तथाऽपि ‘नयक्तुरात्मोप-  
देशात् ’ इतिपक्षे ‘वक्तारं ’ इति । इति तद्विषयवाक्ये च पूर्वपक्षे वक्ता इन्द्र एव विवक्षितइति स्पष्टम् । ‘प्राणे-  
ऽस्मि प्रज्ञात्मा तं माम् ’ इत्यत्र असत्त्वशब्दप्रयुक्तः उच्चारयिताऽसत्त्वन्दार्थ इति सर्वसमनम् । उच्चारयिता चात्र वक्ता

## श्रीभाष्यम्

संशय — किमयं हिततमोपासनकर्मतयेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव एव ; उत तदतिरिक्त प  
रमात्मा-इति । किं युक्त जीव एवेति । कुत ? इन्द्रशब्दस्य जीवविशेष एव प्रसिद्धे , तत्स  
मानाधिकरणस्य प्राणशब्दस्यापि तत्रैव वृत्ते । अयमिन्द्राभिधानो जीव प्रदर्शनेन 'त्वमेव  
मे वर वृणीष्व यं त्व मनुष्याय हिततमं मन्यसे ' (३१) इत्युक्त ' मामुपास्य ' (३१) इति  
स्वात्मोपासन हिततममुद्दिदेश । हिततमश्चात्मतत्त्वप्राप्त्युपाय एव । जगत्कारणोपासनस्यै

## श्रुतप्रकाशिका

किमुपक्रमावगताष्टहृन्नादिलिङ्गानुरोधेनानन्दादिवर्णनम् । उतानन्दादिलिङ्गानुगुणं वा, वाष्टहृन्नादिवर्णनम् । तदर्थं  
' मामुपास्य ' इति किं स्वोपासनमुच्यते ? उत स्वावस्थपरमा मोपासनमिति विचार । यदा स्वोपासनात् तदा स्वाष्ट  
वधाद्यनुगुणमानन्दादेर्वर्णनीय वेनानन्दादिगुणानाममुख्य वादिततमोपासनकर्मतयोक्त इन्द्रइति जगत्कारण प्रसिद्धजीवभाव  
इन्द्रइति पूर्वपक्षे कल्पलिभाव । यदा स्वावस्थपरमा मोपासनोपदेश तदा आनन्दादिगुणानुगुण वाष्टवधादेर्वर्णनीय वात्  
आनन्दादिगुणानां मुख्य वादिततमोपासनकर्मीभूतेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्ट परमा मेति 'सर्ववेदान्तवेद्य जगत्कारणब्रह्म' पर  
मा मेति रादान्ते कल्पलिभाव । जीवविशेष एव प्रसिद्धेति । अनेन जीवमात्रपक्षस्यानुदयारसूचित । प्राणशब्दस्य  
कथं जीवपरमित्यत्राह—तत्समानाधिकरणस्येति । अनेन प्राधायेन प्राणपरवशङ्काऽनुमानमप्यर्था सूचितम् इन्द्रस्य  
जीवः कथं कारणस्य जीवानतिरिक्तमित्यत्राह—अयमिति । स्वा मोपासन हिततममुपदेष्टुं तत् किमिन्द्रस्य जग-  
त्कारणत्वइत्यत्राह—हिततमइति । तत् किमित्यपेक्षया मुमुक्षुपास्य वस्य कारणव्याप्तिं दर्शयति जगदिति । अत इति  
पूर्वपक्षोपसहार ॥

## गूढार्थसमग्र

इन्द्रएव, अत 'प्राणोऽस्मि' इति वाक्येऽपि इन्द्रएव प्राणशब्दार्थं पर्यवसित । इदमतदधिकरणविषयवक्याम् । प्राणशब्द  
स्याम्यासेऽपि वर्तते तद्वदिन्द्रस्यापि उत्तरत्र वक्ष्यमाणापासात्रैविध्यवाक्यमपीदमय । एतच्चाप्येण सूत्रे प्राणशब्दनिर्दे-  
शेऽपि प्राणशब्द नेन्द्रव्यावृत्त्यर्थे सूत्रे उपात्त उत्तरसूत्रविरोधात् । अत इन्द्रप्राणशब्दद्वयनिर्दिष्ट एवात्र विचारविषय  
इति भाव । (श) भाष्ये देवतामा जीव इति पृथङ्निर्देशा न घटत । श्रुतौ सूत्रे च देवताशब्दस्याभावात् 'नवक्तु  
रात्मोपदेशात्' 'उपासात्रैविध्यात्' इत्युत्तरसूत्रद्वयऽपि जावस्यैव वक्तुर्निर्देशात् । 'चकतुरात्मे'त्यस्योत्तरसूत्रस्य  
'समं आ मति विद्यात्' (कौषीतकी) इत्यन्तिमश्रुतिस्यस्य अत्रानुपपन्नं वक्तुमिन्द्र पुरुष एव प्रथमसूत्रे प्राणशब्दवाध्य  
इत्यर्थं सिद्धयतीति इन्द्रो जीवएव परमा मविलक्षण पूर्वपक्षे विवक्षितइति सूत्रकाराशयस्य निर्ममराणा विदुषा स्फुटवात्  
इयच्च जीवातिरिक्त देवता मानात्रविवक्षितइति निगमयति, जीवएवेति 'जीवमुख्यप्राणे'त्यत्र प्राणशब्दात् पूर्व जीवशब्द  
निर्देशेन प्राणशब्दस्य जीवार्थकत्वेन च वक्ता इन्द्र जीव प्रथमसूत्रविवक्षित इत्ययं निर्धारणं सम्भवति । प्राणशब्दस्या-  
म्यासवाहुल्यात् सूत्रे इन्द्रशब्द विहाय प्राणशब्द प्रयुक्त । 'नवक्तुरात्मा' 'जीवमुख्यप्राण' इति सूत्रद्वये जीवस्य  
पूर्वपक्षहतुविषय व स्पष्टमिति प्रथमसूत्रे तत्पूर्वपक्षगमक किञ्चिदपि नास्ति प्राणशब्दस्य जीववाचक व 'पुंसि भूतयसव  
प्राणाश्चैव जात्रोऽसुधारणम्' (ना अ क्ष, य ११९) इति काशा प्रसिद्धमेव ॥

'जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्' इति सूत्रे लिङ्ग हेतुर्ननु श्रुतिरेवेति प्रथमसूत्रे वायुविशेषपूर्वपक्षो न युक्त । प्राणशब्दस्या  
पीति । प्राणशब्दस्य कोशाजीवपर व पूर्वमेवोपपादितम् ॥ हिततमश्चात्मतत्त्वप्राप्त्युपायएवेति । अयमर्थं श्रुतौ विव

## श्रीभाष्यम्

चामृतत्वप्राप्तिहेतुता ‘तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये’ (छां.६.१४.२) इत्यवगता । अतः प्रसिद्धजीवभाव इन्द्र एव कारणं ब्रह्म ॥ इत्याशङ्कायामभिधीयते-

‘प्राणस्तथाऽनुगमात्’ इति ; अयमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो न जीवमात्रम् ; अपि तु जीवादर्थान्तरभूतं परंब्रह्म । ‘स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः’ (कौ.३.९) इतीन्द्रप्राणशब्दाभ्यां प्रस्तुतस्याऽनन्दाजरामृतशब्दसामानाधिकरण्येनानुगमो हि तथा सत्येवोपपद्यते ॥

सू-३० न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन् [१-१-११]

## श्रुतप्रकाशिका

राद्धान्तं प्रतिजानीते अयमिति । उपपादयति स एष इति । अनुगमः पूर्ववाक्यप्रकृतस्योत्तरवाक्यसम्बन्धः । स्ववाक्या-  
नभिध्यक्तस्य सिद्धान्तहेतोत्तरवाक्याभिव्यक्ततया अनुगमादित्युक्तम् । आकाशाधिकरणे ज्योतिराधिकरणे च सिद्धान्तहेतोर्हि  
स्ववाक्यपूर्ववाक्याभिव्यक्ततया अनुगमादित्युक्तिः । सौत्र तथापद साधकाकारपरामर्शित्वेन व्याचष्टे आनन्दाजरेति ।  
प्राणः परमात्मा तथाऽनुगमात् परमात्मत्वानुगम्येनानुगमादिति सूत्रयोजना तथाशब्दस्य साध्याकारपरामर्शित्वमभ्यभि-  
यन्नाह-तथासत्येवेति । तथासति इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येवेत्यर्थः । प्राणः परमात्मा तथाऽनुगमात्  
परमात्मतयाऽनुगमादिति योजना । अनुगमक्रियाविशेषण तथाशब्दः । बुद्धिस्तथासाध्यसाधकधर्मवत्तयाऽनुगमो विवक्षित  
इत्यभिप्रायः । आद्यसूत्र ‘स एष प्राण एव’ इत्यादिवाक्यमात्रविषयक व्याख्यातम् न तु परैरिव वाक्यान्तरस्य हेतवो प्रत्य  
क्षविवक्षितत्वेनोक्ताः ‘अध्यात्मसम्बन्धभूमा’ इति द्वितीयसूत्र एव बहुवाक्यस्य हेतुबाहुल्यस्य विवक्षितत्वावगमात् आन-  
न्दादिगुणप्रतिपादकवाक्यस्य प्राणशब्दाचिह्नितत्वात् तद्वत्तत्वेतुपरत्वेन हि प्राणशब्दाचिह्नितसूत्रव्याख्यानं युक्तम् । प्राणश-  
ब्दाचिह्नितस्यापि ‘प्राणोऽस्मि’ इत्यादेरनुदाहरणमभिव्यक्षणेन भूतपरमात्मलिङ्गत्वात् ‘प्रातेऽर्पिता’ इत्यस्यानुदाह-  
रणं तु सूत्रान्तरैकार्थ्यात् ॥

सू-३० न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन् [१-१-११]

## गूढार्थसंग्रहः

क्षित इति पूर्वमेव निरूपितम् । आनन्दोऽजरेत्यादि-अनुगमो हि तथासत्येवोपपद्यते इति ‘इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्ट  
स्यैव आनन्दत्वाजरत्वामृतत्वादिवचनात्’ इति ‘तथेति प्रकारवचनः’ इति च दीपे उक्तम् । अतः ‘तथाऽनुगमात्’  
इत्यस्यानन्दत्वाजरत्वामृतत्वाद्यनुगमादित्येवार्थः । ‘अध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन्’ इत्यशेषप्रथमप्रभृत्पुनरुक्तपर्यन्तोत्तसर्व  
धर्मसम्बन्धभूमा वक्ष्यते । अत्र ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा’ ‘माशुपास्व, मामेव’ इत्यत्र सामानाधिकरणशब्देन अस्मिन्-  
च धर्मादिरिन्द्रस्यैव विवक्षा प्रतीयते । तत्र च ‘सममात्मा’ इत्युपसंहारः आत्मशब्दमुख्यार्थः इन्द्रान्तर्याम्येव विवक्षित  
इति निर्णयसम्भवति । एवञ्च सामानाधिकरण्योपपादकस्योपसंहार एवसत्त्वेन उपसंहारस्य धर्मानुगमः पूर्वपक्षव्यावर्तकः



### श्रीभाष्यम्

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टस्य 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ.३.९) इत्यनेनैवाध्यायं परं ब्रह्मेति । तन्नोपपद्यते, 'मामेव विजानीहि' 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्य' (कौ.३.१) इति चक्षाहीन्द्रः 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्टमहनम्' (३.९) इत्येवमादिना त्वाष्टमहननादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्य स्वात्मन एवोपास्यतां प्रतर्दनायोपदिशति । अत उद-  
क्रमे जीवविशेष इत्यवगते सति 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' (३.९) इत्यादिभिरुपसंहारस्तदनु-  
गुण एव वर्णनीय इति चेत्—

परिहरति (अध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन्) आत्मनि यस्सम्बन्धस्सोऽध्यात्मसम्बन्धः ।  
तस्य भूमा भूयस्त्वम्, बहुत्वमित्यर्थः । आत्मन्याधेयतया सम्बध्यमानानां बहुत्वेन सम्ब-  
न्धबहुत्वम् । तच्चास्मिन्वक्तुं परमात्मन्येव हि सम्भवति । 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता

### श्रुतप्रकाशिका

निषेध्याध्याहारेण नञर्थमाह—यदुक्तमिति । त्वाष्ट्रवधादीत्यत्रादिशब्देन सालावृकयतिप्रदानदैत्यादिरुन्धानपौ-  
लोमनिरासेन्द्रशब्दा विवक्षिताः, ततः किमित्यत्राह—अत इति । उपक्रमो बलीयानित्यर्थः 'विकारशब्दान्नेति चेन्ने'तिवत्  
सूत्रे सिद्धान्तखण्डे निषेधवाचिशब्दाभावात् खण्डान्तरस्य सिद्धान्तपरत्वद्योतनाय परिहरतीत्युक्तम् । भूमशब्दो भूयस्त्व-  
शब्देन व्याख्यातः । भूमशब्दप्रकृतिं दर्शयितुं बहुत्वमित्युक्तम् आपेक्षिकहि बहुत्व पूर्वपक्षयुक्तिबहुवादापि बहुतरमिति  
भावः । सम्बन्धबहुत्वनिबन्धनमाह—संबध्यमानानामिति । सम्बन्धः कीदृश इत्यत्राह—आधेयमिति । अस्मिन्नितिपद  
व्याचष्टे तच्चेति । आधेयतया सम्बन्धे श्रुतिमाह—तद्यथेति । न केवलमुपसंहारवचनमात्रं किंतु पूर्वमप्यस्तीति बहुत्वाभि-  
प्रायेण 'स एष प्राण एव' इत्यादिकमुपात्तम् । पूर्वोपात्तश्रुत्यर्थमाह—भूतमात्रेति ॥

### गूढार्थसंग्रहः

प्रबलइत्यभिप्रेत्य भाष्यादां घर्मानुगम उक्तः । 'तथाऽनुगमः' इत्यत्र तथाशब्दप्रयोगेण निर्विशेषस्य नात्र विवक्षेति  
स्वकाराशयस्फुटं प्रतीयते ॥

'उपासात्रैविध्यात्' इत्यत्र श्रुतौ ज्ञानोपासनवाचिशब्दयोरेकार्थत्वस्फुटीकरणेन ज्ञान परब्रह्मविषयकम् उपस-  
नमपरब्रह्मविषयकमिति मतं श्रुत्यननुगुणमित्युत्तरत्र स्फुटीभविष्यति इत्येवमादिनेति । 'अस्मन्स्त्वान्यतीसारं वृक्षेभ्यः  
प्रायच्छम्' इत्यत्र सालावृकप्रदानं 'ब्रह्मिस्सन्धाऽतिक्रम्य दिवि प्राह्मादीनतृणहमन्तरिक्षे पौलोमन् पृथिव्या कालक-  
ञ्चान्' इत्यत्रोक्तं बहुसन्धातिक्रमपूर्वकं प्रह्लादपुत्रहननं अन्तरिक्षे पुलोमसुतहननं पृथिव्या कालकञ्जिहसनं चादिशब्देन  
विवक्षितम् । 'सम आत्मेति विद्यात्' इत्यत्र इन्द्रान्तर्यामी विवक्षित इत्यभिप्रेत्य ह—आत्मनि यस्सम्बन्ध इति ।  
तथेति सूत्रस्यशब्दानुरोधेन आत्मनि विद्यमानप्रकारसम्बन्धएव अध्यात्मसम्बन्ध इत्यभिप्रेत्याह—आत्मन्याधेयतयेत्यादि  
अध्यात्मसम्बन्धभूमेत्यनेन प्रथमसूत्रस्य तथेतिशब्दार्थः सम्यग्विशदीकृतः । आत्मन्याधेयतया विद्यमानाः प्रकाराः  
'तद्यथा रथस्ये'ति श्रुत्यैव प्रदर्शिता इत्यभिप्रेत्याह—तद्यथारथस्येत्यादि पूर्वसूत्रविवक्षितश्रुतिपूर्ववाक्यमात्रविवक्षितमिति  
विशिष्टवाक्योपादानम् । तेन 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमरः' इति निर्विशेषपरवाक्यम् 'तद्यथारथस्ये'-  
त्यादितु कल्पितार्थविषयकं 'विषयेन्द्रियव्यवहारारणाभिभूत'मिति परेषा भाष्यम् (रत्नप्रभा) । 'प्रज्ञामात्रासुहृति वागाद्यव-  
च्छिन्नप्रज्ञात्मकजीवांशेषु' इति ब्रह्मविद्याऽभरणम् ॥

## श्रीभाष्यम्

नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्पर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पितास्त एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः’ (कौ.३.९) इति भूतमात्रशब्देनाचेतनवस्तुजातमभि-

## श्रुतप्रकाशिका

ननु कथं प्रज्ञामात्रशब्देन चेतनवराभिधानम् । वाग्प्राणचक्षुश्श्रोत्रजिह्वा पाणिपादस्य रीमनासि च प्रतिपाद्य ‘तावा एतादृशैव भूतमात्राअधिप्रशं दशप्रज्ञामात्रा अधिभूतं यदुहवैदश भूतमात्रा नस्युः न प्रज्ञामात्रास्यु यदुहवै नप्रज्ञामात्रास्यु नभूतमात्रास्यु.’ इति भूतमात्राः प्रज्ञामात्राश्च प्रत्येक दशरङ्गधाः परस्पर स काक्षा उक्ताः तत्र प्रज्ञामात्रशब्दो गन्धादिचतुष्टयवागादव्यापारचतुष्टयशरीरसुखदुःखमन्तव्यविषयज्ञप्तिपरः । यद्वा भोग्या रूच दयः शरीरानुप्रविष्टभूताश्च भूतमात्राः । दशेन्द्रियाणि प्रज्ञामात्राः प्रत्येक दशसख्याश्रवणदलादनुत्ता पदार्थाश्च जहलक्षणा विवाक्षिता इत्यभ्युपेत्य प्रज्ञामात्राशब्दस्य जीवपरत्वे दशसख्याविरोधात् । एव ‘ताश्च ताश्च दशदशोक्ता नह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिध्येत् नोएवैतन्नाना’ इत्यासामुभयविधानामपि परस्पराविनाभावमुक्तत्वा तत्र दृष्टान्तमाह—‘तद्यथारथस्य’ इति वाक्येन । नच वाच्य ‘योधै प्राणः साप्रज्ञा याप्रज्ञा न प्राणस्सह्येतावस्मिन् शरीरे वसत सहोत्क्रामतः’ इति प्रकृतजीवविषयोऽयं प्रज्ञामात्राशब्द इति मात्रान्तेन प्रज्ञाशब्देन व्यवहितवाक्यस्यैकैवत्प्रज्ञाशब्द

## गूढार्थसङ्ग्रहः

तदेतत् ‘अध्यात्मसम्बन्धभूमा’ इत्यत्रात्मन्येव सन्नघबहुत्वमात्मनि बहुधर्मकथनएवोपपद्यते । आत्मन्शब्दः ‘सम आत्मेति विद्यात्’ इति श्रुतिघटकात्मन्शब्दसमानार्थकः तत्रात्मशब्दस्य निर्विशेषपरत्व नसंभवति । सन्नघबहुत्वेन वक्तुरिन्द्रस्य व्यावृत्तेरत्रोक्तेः ‘वक्तुरात्मेत्यत्र वक्रभिन्नात्मैव विवाक्षितइति सर्वसमतम् । तन्नेयमेव श्रुतिर्मूलम् श्रुतौ पठ्यर्थसन्नघः इन्द्रभिन्नपरमात्मा विवाक्षितइति निर्णयरसूत्रकारसमतः । श्रुतौ पूर्वं बहुप्रकारसन्नघकथनेन ‘सम आमेति विद्यात्’ इत्यत्र पठ्यर्थसन्नघः विवाक्षित इति सूत्रकृदाशयो निर्मलाराणा विदुषा स्फुटः । सन्नघशब्दस्य लिङ्गपरतया व्याख्यानं न्यारक्षामण्युक्तमभिनिवेशमूलकमेव । लिङ्गशब्दाविहाय सन्नघशब्दनिर्देशे प्रयोजनाभावादित्यभिप्रेत्य आनन्दरूपसविशेषपरब्रह्मणि बहुप्रकारसन्नघ श्रुत्यर्थमाह—भूतमात्रशब्देनेति । शरीरे जीवसवधदशायां शरीरस्य पञ्च भूतविकारत्वेन पञ्चभूतजीवपरमात्मनां शरीरे सन्नघोऽस्तीत्यविप्रतिपक्षोऽर्थः । तत्र शरीरस्य नेमिस्थानापन्नत्वेन पञ्चभूतानां नेमिस्थानापन्नत्वम् । जीवसत्त्वएव शरीरस्य सत्त्वम् । नेमेः अरसम्बन्धमन्तरा चक्रे स्थितिः न संभवति, जीवस्य परमात्मसवन्धमन्तरा स्थितिर्न संभवतीति नाभिस्थानापन्ने परमात्मनि जीवानां स्थितिः । एवं च भूतानां जीवानां च परमात्माघनित्वमुक्तं भूतानां जीवद्वारा जीवस्य च साक्षात्परमात्मनि स्थितिः । इत्थं च सर्वसत्तानियामकत्वं परमात्मनः अत्र प्रतिपादितं भवतीति भूतमात्रशब्दः अचेतनपरः, प्रज्ञामात्रशब्दः जीवपरः, प्रज्ञाशब्दस्य ज्ञानवाचिवात् सएव प्राणएव प्रज्ञात्मा इत्यत्र प्रज्ञाशब्दस्य ज्ञानपरत्वेन प्रज्ञाशब्दस्य परमात्मपरत्वम् । पूर्वं ‘यत्रैतत्पुण्यमुत्त स्वप्न न कंचन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इत्यत्र प्राणशब्दः परमात्मपरः । तदनन्तरं ‘यथाऽग्नेर्जलतो विष्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेन् एवमेतस्मादात्मनस्सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते’ इत्याद्युक्तम् । तत्राग्निविष्फुलिङ्गदृष्टान्तेन अग्निविष्फुलिङ्गयोरेकजातीयत्ववत् जीवपरयोरेकजातीयवद् बोधितम् । इदं च वाक्यं द्विषाऽभ्यस्तम् । एतदुत्तरं गार्ग्य(अज्ञा-  
[अनुब्राह्मणे]) ‘यदा मुमस्त्वम न कञ्चन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदा प्रतिपुण्यते यथाऽग्नेर्जलतो

### श्रुतप्रकाशिका

निर्दिष्टजीवप्रत्यभिज्ञानाभावात्, अनन्तरपूर्वावक्यप्रकृतदशसङ्ख्यप्रशामात्राणामेव स्वतः प्रत्यभिज्ञादमानत्वाच्चेति ; तदुक्तम् अर्थविरोधात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तेश्च, प्रत्यभिज्ञानस्य भग्नत्वात् । नाहि वागादीन्द्रियाणि भूतमात्राणामभ्यः भूतसङ्ज्ञानरूपशरीरमेव हीन्द्रियाभ्यस्त्यर्थविरोधस्फुट । तथा दशैव भूतमात्रा अधिप्रश दशप्रशामात्रा अधिभूतम् इति परस्परसाक्षात्त्वं पूर्वावक्योक्तं अरनाभिदृष्टान्तवाक्येन न परस्परसाक्षात्त्वं प्रदर्श्यते ' भूतमात्राः प्रशामात्रास्व

### गूढार्थसंग्रहः

विष्णुलिङ्गा विप्रतिष्ठेन्, एवमेवैतस्मादान्मनःप्राणा यथायतन विप्रतिष्ठन्ते— यथा क्षुरः क्षरघाने निक्षिप्तः तस्माद्विश्वभरो वा विश्वभरकुलोऽपि तस्मात्प्राण आत्मा इदं शरीरमनुप्रविष्ट आलम्ब्य अनन्तराग्रम्यः तमेतमात्मानमेतमात्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिन स्वा. तद्यथा श्रेष्ठो तैर्भुङ्क्ते यद्यथा श्रेष्ठिन स्वाभुङ्क्ते एवमेव प्राण आत्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते यथा श्रेष्ठो शरीरेवैतमात्मान एतआत्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिन स्वाः सयात्रद्धवा इन्द्र एतमात्मानं नविजशै तावदेनमसुरा अभिवभूयुः । सयदो विजशवथ ह वाऽसुरान् विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्य स्वाराज्यमाधिपत्यं पयैति तथो एव विद्वान्सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्य स्वाराज्यमाधिपत्यं पयैति यएववेद यएववेद ' इति बृहदारण्यके अजातशत्रुब्राह्मणान्ते— ' यत्रैव एत सुतोऽभूद्यएधोऽन्तर्हृदय आकाशस्तिस्मिरेते ' (वृ.४.१. ) ' अथ यदा सुषुप्तो भवति एवमेवैव एतच्छेते— यथाऽग्न क्षुद्राः विष्णुलिङ्गा व्युच्चरन्ति । एवमेतस्मादान्मनस्सर्वे प्राणाः—सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति(का.पा) सर्वे एत आत्मनोव्युच्चरन्ति ' (वृ.१.ब्रा) ' सवा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिस्सर्वेषां राजा ' (६.ब्रा) ' तद्यथानामौ च रथनमौ चारास्सर्वे समर्पिताः एवमेवैतस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकास्सर्वे प्राणाः सर्वे एत आत्मानः रसमर्पिताः (४.५) इति ' तद्वदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत असौ नामेदरूपमिति । स एष इहप्रविष्ट आनन्तराग्रम्यः यथा क्षुरः क्षरघाने निहितस्यात् विश्वभरो वा विश्वभरकुलोऽपि तन्नपदयन्ति ' (वृ १.४) इति चोक्तम् । अत्र बृहदारण्यककौपीतकीवाक्ययोरेकार्थ्यं स्फुटं प्रतीयते ॥

' यथाग्रे क्षुद्रा विष्णुलिङ्गा व्युच्चरन्ति ' इति बृहदारण्यकवाक्यविवरणे राजकुमारनयः द्रमिहाचार्यसंमत (श.उ) भाष्ये प्रदर्शितः । अत्र व्युच्चरणकर्तृत्वेनोक्तानां सर्वेषां ' सवा अय सर्वेषां भूतानामधिपतिस्सर्वेषां राजा ' इत्यादौ राशि भूतानि सर्वात्मना समर्पितं च प्रतिपादितम् । अत्र राजपदसत्त्वेन राजकुमारनयः अत्रैव विवाक्षित इति स्पष्टं प्रतीयते । ' एक इद्राजा जगतो बभूव ' इति हिरण्यधर्मसूत्रे ' इन्द्रो राजा ' इति स्वर्णधर्मानुवाक (तै.आ) च राजशब्द प्रयुक्तः अत्रारनाभिदृष्टान्त बृहदारण्यकोक्तः कौपीतकीब्राह्मणेऽपि प्रदर्शितः इ य च बृहदारण्यकैकार्थ्यस्य कौपीतकी ब्राह्मणे स्पष्टं तथा राजकुमारनयोऽत्रापि विवाक्षितः । ' तमेतमात्मानमत्मानं अन्ववस्यन्ति ' इत्यत्र कुमारभूतजीवानां राजभूत पितृश्च विवाक्षितत्वेन उभयोर्भोगो विवाक्षितः सन् ज्ञानानन्तरकालिकं नष्टसृष्टिकालिकः इन्द्रस्य ज्ञानानन्तरमेव सुरविजयोक्ते जीवानां ज्ञानानन्तरमेव सर्वपापप्रहाणोक्तेश्च । पराशरमुनिश्च ' त्व माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता इत्यादि श्रीस्तोत्रे इन्द्रवाक्यमभिधाय एतत्स्तुतिमूलज्ञानेन ' त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ' इत्येतदुपनिषत्तां पयै स्पष्टी चकार । एतदुपनिषद्द्वयपर्यालोचनायां परोक्षरीत्या नाद्वैतपरं कुमारस्य पितृश्च सर्वैक्यासम्भवात् । किंतु जीवब्रह्मणाभेदपरं सुक्तौ समानभोगवत्त्वपरश्चेति उपनिषत्तात्पर्यमकामेनापि स्वीकर्तव्यमिति निर्ममसराणां विदुषा स्फुटम् । जिज्ञासाऽधिकरण (७६४.पु) ऋक्सम्मितायामस्य वामसूक्ते राजकुमारनयो विवाक्षित इति सम्यक्सूचितम् । एवमुपनिषदर्थे श्रुतितात्पर्यविषयभूतसिद्धे अरनाभिदृष्टान्तमूलकमेदोक्तेः परैः काल्पनिकार्थकत्वं यदुक्तं तदभिनिवेशमूलकमिति सिद्धम् ॥

### श्रुतप्रकाशिका

र्पिता इत्युक्तं प्रज्ञामात्रा भूतमात्रास्वर्पिता इति न ह्युक्तम् तथासति हि परस्परसाक्षात्त्वेन दृष्टान्ता विवक्षिता स्यात् । अपितु 'प्राणे अर्पिता' इत्येवोक्तम् । प्राणश्च परमात्मा अनन्तरमेव 'स एष प्राण एष प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्युक्तेः अतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तिः अतः प्रत्यभिज्ञानभञ्जकहेतुरुद्धावात् 'तपसा चीयते ब्रह्म, तस्मादेतद्ब्रह्म' इति वाक्यद्वयस्य ब्रह्मशब्दयोरिव पूर्वापरवाक्ययोः प्रज्ञामात्रशब्दयोर्नैकार्थ्यम् ॥

किंच द्वयोर्वाक्ययोर्मिथस्सन्निकृष्टत्वेऽप्यन्यतरस्य समबन्धमुख्यार्थस्तयोरैयार्य्यश्रद्धया न त्याज्यः तयोरेव ब्रह्मशब्दयोस्तथा दर्शनात् ; प्रज्ञाशब्दश्चेन्द्रियेष्वमुख्यः जीवेषु मुख्यः तेषां ज्ञानस्वरूपत्वात् । प्रज्ञाशब्दोऽपि तत्तदर्थविषयज्ञानपरइति चेत्तर्हि दृष्टान्तविरोधः शरीरगतानां भूतमात्राणां वैषयिकज्ञानैर्धार्यत्वाभावात् एवमर्थविरोधादिभिर्नार्थत्वे सति (हि) मात्राशब्दः सधार्तैकदेशाभिप्रायः । विशिष्टस्य ब्रह्मण एकदेशभूतानि हि चिदचित्त्वानि । किंच अस्मिन्प्रकरणे प्राणशब्दस्यैव प्रज्ञाशब्दस्यापि बाह्यार्थविषयप्रयोगदर्शनान्नैक र्थनियतत्वम्, अतश्च जीवविषयं वं युक्तमाश्रयितुं, विशेषतो जीवे प्रयुक्तत्वाच्च प्राणशब्दस्तावन्मुख्यप्राणे प्रयुक्तः 'यावदस्मिन्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति तथेन्द्रियेषु 'प्राणं प्राणं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्ति' इति ; तथा परमात्मनि 'यत्रैतत्पुरुषस्वप्नं न कथञ्चन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति । तथा जीवेषु 'एतस्मादात्मन प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' इति नचात्र बहुवचनान्तः प्राणशब्दः पञ्चवृत्तिवायुपरः तस्य सुषुप्तादुपरत्यभावात्त्रिप्रमाणानुपपत्तेः । नापीन्द्रियपरः देवशब्देन पृथगुक्तत्वात् ॥

नच देवशब्दः प्रकाशरूपज्ञानवाची लोकशब्देन तदुक्तेः अस्वारस्याच्च । नच लोकशब्दो कनीयविषयपरः देवेभ्यो लोका इत्यत्र विषयाणां ज्ञानतो निष्क्रमणाभावात् । ज्ञानैर्ग्रह्या इत्यर्थे इति चेन्न 'अथ यथैकस्यैव दृष्टत्वात्' इति प्रह्लादपदाध्याहारप्रसङ्गाच्च अतोऽस्मिन्वाक्ये बहुवचनान्तः प्राणशब्दो जीवपरः । अत्र हृदयं जीवे प्रयेगः परमात्मनस्तु प्राणशरीरकत्वात् तथा प्रज्ञाशब्दश्च जीवे तावत्प्रयुक्तः 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति प्रज्ञारूपमात्रा प्रज्ञात्मा तथा यो वै प्राणस्साप्रज्ञाया प्रज्ञासप्राणः न ह्येतावस्मिन्शरीरे वसतस्सहोत्क्रामतस्तस्यैवैव सिद्धिरेताद्विज्ञानं यत्रैतत्पुरुषस्वप्नं न कथञ्चन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति । नचात्र प्रज्ञाशब्दोऽपरितनयपण्डितप्रज्ञाशब्दवन्मनोविषयः 'सहोत्क्रामते' इति श्रवणात् 'तमुत्क्रामन्ते प्राणोऽनूत्क्रामति' इति श्रुत्यनुरेकस्य च, तथोत्तरत्र वागादीन्द्रियाणां जीवोपकरणत्वप्रपञ्चनेन पृथङ्निर्देशाच्चायं प्रज्ञाशब्दो जीवपरः 'अस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति' इत्युक्तस्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूहत् प्राण एवास्या एकमङ्गमदूहत्' इत्येवमादिपर्यायः पादपर्यन्तानां करणानां कृत्यमुक्त्या 'प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमदूहत्' इत्युक्तम् । अत्रह्यस्या इति चतुर्थ्यन्तं पठ प्रज्ञाशब्दनिर्दिष्टजीवपरम् प्रथमान्तप्रज्ञाशब्दो हि मनोवाची 'नेत्यां नीतिन विजिज्ञासी तैतने तारमिद्यात्' 'न मनो विजिज्ञासीत मंतरं विद्यात्' इति स्थानप्रमाणात् तस्माच्चतुर्थ्यन्तः प्रज्ञाशब्दः प्रथमान्तप्रज्ञाशब्दवाच्यमनःकरणजीवविषयः अतस्सहोत्क्रामणपृथगुपदेशाभ्यां 'यो वै प्राणस्सा प्रज्ञा' इति प्रज्ञाशब्दो जीवविषयः । उक्तमणश्रुतिप्रत्यभिज्ञापकत्वात् वागादीनामुपकरणवाच्च बुद्धिपरत्वमप्यनुपपन्नम् अतो जीवविषयत्व दृष्टम् । तथा मनसि प्रज्ञाशब्द प्रयुज्यते 'न हि प्रज्ञापेतावाहनामर्किचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मेमनोऽभूदिति नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिपम्' इति तथेन्द्रियेषु च । 'दशप्रज्ञामात्राः' इति । अतः पूर्वं प्रज्ञाशब्दनिर्दिष्टो जीवइह प्रज्ञामात्रशब्दोक्तः जात्यभिप्रेत्येकवचनानिर्दिष्टस्य व्यक्त्यभिप्रेत्येकं बहुवचननिर्देशोपपद्यते, यथा 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, सार्वसम्पद्य नयिदुस्सतिसम्पत्स्यामहे' इति च ॥



## श्रीभाष्यम्

धाय प्रज्ञामात्रशब्देन तदाधारतया चेतनवर्गेचाभिधाय तस्याप्याधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राण शब्दाभिधेयं निर्दिश्य तमेव ‘आनन्दोऽजरोऽमृतः’ (३.१) इत्युपदिशति । तदेतच्चेतनाचेतनात्मकहृत्स्नवस्त्वाधारत्वं जीवादर्थान्तरभूतेऽस्मिन् परमात्मन्येवोपपद्यत इत्यर्थः ॥

अथवा (अध्यात्मसम्बन्धभूमाहस्मिन्) परमात्मासाधारणधर्मसम्बन्धोऽध्यात्मसम्बन्धः । तस्य भूमा यदुत्तरं हि अस्मिन्प्रकरणे विद्यते । तथाहि प्रथमं ‘त्वमेव मे वरं वृणीष्व

## श्रुतप्रकाशिका

यदा माभूत् प्रज्ञामात्रशब्दस्यार्थैरूप्यभ्रयण अरनाभिदृष्टान्तावयवे प्रज्ञामात्रशब्दस्य भूतोऽद्रियाभिमानिदेवता रूपदशविधचेतनपरत्वं स्यात् । तदानीमपि तदाधारतया चेतनाधारवत् स्यार्थैरेव एवमेतत्प्रकरणपर्यालोचनं कृतमुपपत्तिजात सर्वे माध्य एव व्यक्तीभविष्यति । प्रज्ञामात्रशब्देन तदाधारतयेति । नहिन्द्रियाणां पृथिव्यादिभूताधारत्वं युक्तमिति भावः । चेतनवर्गमिति । प्राकरणिकप्रश्न शब्दैकवचनं जात्यभिप्रायमिति भावः । तस्याप्याधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राणशब्दाभिधेयं निर्दिश्येति । ‘तावा एताः’ इत्यादिपूर्ववाक्योक्ते परस्परस्वाक्षये दृष्टान्तवत् न घटते, प्रज्ञामात्राणामाधारान्तरकथनादिति भावः । तस्य च परमात्मन्येव कथमित्यत्राह—तमेवानन्दोऽजरइति । एवमर्थविशेषदृष्टादार्ष्टान्तिकभाववैधेयमुख्यवप्राकरणिकप्रयोगसाधारण्यैरनुगृहीतस्य श्रुतिवाक्यस्यार्थमुपपत्तयः सूत्रार्थमुपसंहरति तदेतदिति

एवं प्रथमयोजनायां तद्यथा रथस्यारेषु इत्यादिवाक्येमेकमेव विषयस्यात् ‘स एष प्राण एव’ इत्येतद्वाक्योदाहरणं वाक्यान्तराण्यपि परब्रह्मपराणि सन्तीति प्रदर्शनार्थम् । तेनोपक्रमस्वारस्येऽपि स्फुटायस्वारस्य प्रकृतमिति पालितम् । एवमप्यविश्वारस्यप्राबल्यस्यार्थसिद्धिवादपि कण्ठे चत्वं युक्तमिति मुक्तान्तरं योजयति अथवेति । पूर्वयोजनादामात्रात्मशब्दस्यामनीत्यर्थः । अस्या वा मानवर्तमानपरेऽध्यात्मशब्दः उपसहारवाक्यमुपक्रमवाच्यमिति पूर्वपक्षिणोक्तं तत्रेदमुत्तरमुक्तं भवति उपक्रमोपसहारौ वाक्यावयवौ तयारवयवभूतयोः परस्परवरोधे उपक्रमप्राबल्यं न तत्रयविविशेषः । अत्रानेकावान्तराक्रमैः पर्यालोचितैः प्रतिपक्षस्य महावाक्यार्थस्यावयविनो विराध अवयवभूतोपक्रमो दुर्बलः । यथा गङ्गायाधोपः प्रतिपत्तीत्यादिषु धोपः प्रतिवसतीति पदाम्या प्रतिपन्नय कथार्थमुपक्रमस्य गङ्गापदं न वाच्यते अपि तु स्वयं तदनुगुणार्थो भवति तद्वदिति तदेतदभिप्रयन् परमात्मासाधारणधर्मभूयस्व दर्शयति तथाहीति । ‘हिततमं मन्यसे’ इति वाक्यत्वाद्-

## गूढार्थसङ्ग्रह

‘मामेव विजानीहि’ इति वक्ता यः इन्द्रः सकौपीतकी एतदुत्तराजातशत्रुब्राह्मणे स्वस्य परमात्मार्थानं व सम्यज्जानातीत्यर्थस्य स्फुटतया अत्र वक्तुर्विवक्षा न सम्भवतीति ता पर्यम्—तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—जीवादर्थान्तरभूतेऽस्मिन्परमात्मन्येवोपपद्यत इत्यर्थेति । योजनायाच्चास्या अजातशत्रुब्राह्मणैककण्ठ्येन सर्वेयामा मनां परमात्मार्थं न वक्ष्ये उक्तया इन्द्रेऽपि तदन्तर्गत इत्यर्थेति सिद्धयतीति अध्यात्मसम्बन्धभूमेत्यत्र सर्वजीवानामात्मसम्बन्धः प्रतिपिपादायैवितः । रुचिनामचिज्जीवानां बहुत्वेन सम्बन्धबहुत्वमिति सूत्रतात्पर्यं प्रकटीकृतम् ॥

उपक्रमप्रभृत् युपसहारपर्यन्तं बहूनां घर्माणां सप्त घस्य प्रतिपादनेन उपक्रममात्रप्राबल्यपर्यालोचनया पूर्वपक्षो नोदेति उपक्रमोपसहारप्राबल्यस्य ततोऽपि ज्यायसस्त्वावाटित्यभिप्रेत्य अथवेत्यादिना ये जना इति आह—‘मामेव विजानीहि’ इत्यादि पूर्ववाक्योक्तोपनं । इन्द्रे न सम्भवतीत्यभिप्रेत्याह—प्रथममित्यादिना । हिततमशब्दस्य भगवदुत्तरार्थ एव युक्तः ।

## श्रीभाष्यम्

यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे ’ (३.९) इति, ‘मामुपास्व ’ (३.९) इति च परमात्मासाधारणमोक्षसाधनोपासनकर्मत्वं प्राणशब्दनिर्दिष्टस्येन्द्रस्य प्रतीयते । तथा ‘एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपति एष एवासाधुकर्म कारयति तं यमघोनिनीपति ’ (को.३.९) इति सर्वस्य कर्मणः कारयितृत्वं च परमात्मधर्मः । तथा ‘तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभाचरा अर्पिताः एवमेवैतां भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिता, प्रज्ञामात्राः प्राणोऽर्पिता. ’ (३.९) इति सर्वाधारत्वं च तस्यैव धर्मः । तथा ‘स एष प्राण एव प्रज्ञा-त्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः ’ (३.९) इत्येतेऽपि परमात्मन एव धर्माः । ‘एष लोकाधिपतिरेव सर्वेशः ’ (३.९) इति च परमात्मन्येव सम्भवति । तदेवमध्यात्मसम्बन्धभूतोऽत्र दिद्यमानत्वात्परमात्मैवात्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः ॥

## श्रुतप्रकाशिका

वधादेरप्युपक्रम(भू)नमुपक्रमस्यापि महावाक्यान्तर्भावात्तदुक्तिः नतु तावन्मात्रस्य साधकत्वाभिप्रायेण लोकाधिपतिः लोक-स्वामी सर्वेश्वरः सर्वनियन्ता,

ननु ‘पा रक्षण ’ इति घातोः पतिशब्दः तत्कथमत्र शेषिवाचित्वमुच्यते, नहि सर्वत्रावयवशक्तिरेव रुद्धिशक्तिर-पिह्यस्ति । अन्यथा ‘गमेर्लो ’ इति व्युत्पत्त्या गोशब्दस्य सर्वजङ्गमवाचित्वप्रसङ्गात् स्थिताया गोरवान्कत्वप्रसङ्गाच्च । अतश्शेषिणि पतिशब्दो रुद्धः अन्यथा—

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुताश्शशु । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥  
इतिन्यायेन पितृस्सरक्षके पुत्रेऽपि पितरप्रति पतिशब्दप्रयोगप्रसङ्गादिति । सूत्रार्थनिगमयति—तदेवमिति । ‘अध्यात्म सम्बन्धभूमाह्यास्मिन्’ इति सूत्राशः परैरेवव्याख्यातः अध्यात्मसम्बन्धः प्रत्यगात्मसम्बन्धः तस्य भूमा बाहुल्यमुपलभ्यते अस्मिन्नध्याये आयुषःप्रभुत्वमिन्द्रियाश्रयत्व शरीरोत्थापक व विषयेन्द्रियादिविज्ञ नप्रतिक्षेपेण इत्यगम्येदन्तरे पदिश्यत इति । अपरैश्च प्रज्ञादेहन्द्रियमनः प्राणात्मना सन्नधोऽध्यात्मसन्नधः रभूयानिति व्यख्यातम् तदुक्तम् आहुरदिपति-त्वादीना मनःप्राणसन्नधत्वादीना च परमात्मसाधकत्वाभावात् । इन्द्रसत्तदेवताविशेषे तात्पर्यनिर्घपत् सूत्रमिति चेन्न— इन्द्रस्य शरीरेऽपि प्राणेन्द्रियमनःप्रभृतीना विद्यमानतया तत्प्रतिक्षेपासामर्थ्यात् ‘अस्मिन्शरीर ’ इति निर्देशोहीन्द्रशरीरेऽपिहि सम्भवति ‘सदेव सोम्येदम्’ इतीदंशब्दवत् सर्वनामपदस्य साधारणत्वात् प्रत्यगर्थविषयस्योपदेहस्य परार्चन-देवताविषयत्वमयुक्तमिति चेन्न इन्द्रस्यापि स्वात्मानं प्रत्यहमिति प्रत्यक्षयाऽवभासात् । ‘प्राणोऽस्मि ’ ‘मामुपास्व ’ इतिहि तद्वाक्यम् । इन्द्रमात्रस्य प्राधान्यतः प्रतिपाद्यत्वाप्रतिक्षिप्यत इति चेन्न प्राणेन्द्रियमनआदिसम्बन्धानां तत्प्रतिक्षेपा सामर्थ्यात् । सौत्रवचनव्यक्त्यनुगुणता च नस्यात् प्राणःपरमा मेति प्रतिज्ञातमाद्ये सूत्रे द्वितीयस्य स्थेन नञा परमात्मव-

## गूढार्थसंग्रहः

‘उपासात्रैविध्यात्’ इति सूत्रकृतोपासनस्य प्रतिपिपादयिपितायाः स्फुटमुक्तेः, तेनोपासिघातुः शान्ते त्वाक्षणिक इति परो-क्तिरभिनिवेशमूलैवेति पूर्वमेव कम् । इन्द्रद्वारा साधुकर्मकारयितृत्वमपि परमात्मन एवेत्याह—तथेत्यादिना । इन्द्रलोकस्य सर्वलोकान्तर्गततया सर्वलोकाधिपतेर्येन्द्रलोकाधिपत्य इन्द्रशु द्वाभूत एवेत्याशयनाह—एषलोकाधिपतिरिति । अशब्देन ‘समआत्मो विद्यात्’ इति वाक्यमपि इन्द्रान्तर्यामित्वेन परमात्मन्येव सम्भवतीत्यर्थो बोधितः । ‘समआत्मेतिविद्यात्’

### श्रीभाष्यम्

कथं तर्हि प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्वोपदेशस्सङ्गच्छते ; तत्राह ।

### सू.३१—शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् (१.१.११)

प्रज्ञातजीवभावेनेन्द्रेण 'मामेव विजानीहि' 'मामुपास्व' (को.३.१) इत्युपास्यस्य ब्रह्मण-  
स्स्वात्मत्वेनोपदेशोऽयं न प्रमाणान्तरप्राप्तस्वात्मावलोकनवृत्तः, अपितु शास्त्रेण स्वात्मदृष्टि-  
कृतः । एतदुक्तं भवति—'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां.६.  
३.२) 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' [६.८.७] 'अन्तःप्रविष्टशस्ताजनानामेव सर्वात्मा' (यजुरा-  
रण्यक) 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमत्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मान-

श्रुतप्रकाशिका

मेव निषेध्य न परमा मेति पूर्वपक्षिते तत्प्रतिसमाधानपरेण परमा मेव प्राण इति प्रतिशब्दसमर्थनीयम् न परमा मेति द-  
दन्तप्रति नेन्द्रइत्युक्ते कःप्रतिक्षेपः न घटोऽस्ती युक्ते न पट इति च त्वाविरोधाभावात् परममेव प्रतिशब्दे मन प्राणसद-  
न्धादयस्तु न परमात्वसाधन(ना)समर्थाः ॥ ननु नाय परमात्मा अविवक्षित इति प्रतिशब्दे सति नेन्द्र इति प्रतिविधेयं न  
युक्तमिति चेन्न त्वदुक्तयुक्तेरिन्द्रप्रतिक्षेपकत्वाभावात् । अस्तु वा तत्प्रतिक्षेपः तत्किं स तु परमराध्यस्य परमात्मा परमदृष्टे-  
पयोगीति चेन्न परमात्मा व्यावहितसाधकहेतूपस्थापक एव स भवति परमपरया साधकार्थपरत्वेन निर्वाहानुपपत्तेः ॥

उत्तरसूत्रं शङ्कयाऽवतारयति कथं तर्हीति । प्रज्ञातजीवभावस्येति । इदिपरमैश्वर्य इत्यादिप्रकृतिप्रत्ययाविभागेन  
परमात्मपरत्वमिन्द्रादिशब्दानामयुक्तत्वाद्ब्रह्मादिलिङ्गनिर्वाहानुपपत्तः । तत्कथमिन्द्रशब्देन परमात्मनिर्देश इति भावः ।  
पूर्वं परमात्मपरत्वसाधकहेतुरुक्तं, पूर्वपक्षयुक्तेः क परिहारइत्यपेक्षायां सूत्रावतार इत्यर्थः ॥

### सू.३१=शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् (१.१.११)

कीदृशोपदेशइत्यत्राह—प्रज्ञातेति । शास्त्रदृष्टिः इत्यस्य व्यवच्छेद्यमाह—सप्रमाणान्तरेति । शास्त्रस्य दृष्टिः शास्त्र-  
रूपा दृष्टिरिति वा प्रतीतिरस्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—शास्त्रेणेति । यस्य दृष्टिरित्यपेक्षायां स्वात्मशब्दः स्वानुभवप्रत्यक्षेण  
स्वात्मलोके जीवमात्रप्रकाशः शास्त्रेण तन्मूलयोगेन च मानुभवे परमात्मपर्यन्ततया प्रकाश इति भावः । नहि प्रमाणविशे-  
षेणान्यत् प्रमेयमन्यद्भवति तच्च शास्त्रं किमित्यत्राह—एतदुक्तमिति । जीववाचिपदानां परमात्मसामानाधिकरण्योपपा-  
दिकाः श्रुतीरुदाजिह्वीर्षन्नामरूपव्याकरणश्रुतिमाह—अनेनेति । जीवेऽप्यनुप्रवेशं दर्शयितुमाह—एतदात्म्यमिति । तदेव

गूढार्थसङ्ग्रहः

इति वाक्यतात्पर्यम् एतदितरोपनिषद्वाक्यैरेव सिद्धयनीत्यभिप्रेत्य 'मामेव विजानीहि' इति वाक्यतात्पर्यनिर्णयार्थं—शास्त्र-  
दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्' इति सूत्रम् । अत्रात्मशब्दघटितोपनिषद्वशात्तमेव विवक्षितमिति हेतुम् ॥

अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्यादि । पूर्वं जिज्ञासाऽधिकरणे (८८०, १०४-पु)  
एतच्छ्रुत्यर्थः निरूपितः । अन्तःप्रविष्टशस्ताजनानामिति । इदं वाक्यं शङ्कराचार्यैः उपदेशशास्त्राचार्यैः 'तत्त्वमसि'  
इत्यादिवाक्यसमशीलतयोपात्तम् । य आत्मनि तिष्ठन्निति । यमयतीत्यन्तः प्रेक्षपरमिति अत्रात्मिकप्रमाणम् —

## श्रीभाष्यम्

‘मन्तरोयमयति’ [बृ.५.७.२२] ‘एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एकोनारा-  
यणः’ (सुबाल.७.ख) इत्येवमादिना शास्त्रेण जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्म-  
वाचिनामहंत्वमादिशब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा ‘मामेव विजानं हि, मामु-  
पास्व’ (कौ.३.१) इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश इति । वामदेववत्  
यथा वामदेवः परस्य ब्रह्मणस्सर्वान्तरात्मत्वं सर्वस्य च तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां च श-  
रीरिणि पर्यवसानं पश्यन् ‘अहम्’ इति स्वात्मशरीरकं परंब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधि-  
करण्येन मनुसूर्यादीन् व्यपदिशति ‘तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहंमनुरभवं सूर्य-  
श्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्र’ (बृ.३.४.१०) इत्यादिना । यथा च प्रह्लादः ।

## श्रुतप्रकाशः

स्पष्टयति अन्तःप्रविष्टइति । शरीरत्वं लक्षणं दर्शयति यआत्मनीति । पर्यवसानं ज्ञात्वेति नामरूपव्याकरणश्रुतिल-  
ब्धार्थ उक्तः उपदिदेशेत्यन्तेन ‘शास्त्रदृष्ट्यातूपदेश’ इत्यंशो व्याख्यातः ‘वामदेववत्’ इत्यशब्दाच्चे-यथेति ।  
शरीरिणि पर्यवसानं पश्यन्नित्यन्तेन ‘तद्धैतत्पश्यन्’ इत्येतद्व्याख्यातम् । उक्तार्थविशदीकरणायाह-यथाच प्रह्लादइति ॥

## गूढार्थसंग्रहः

‘एषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ इति ‘तत्त्वमसि’ इत्यादिसमशीलमिति अहिकुण्डलोघिकरेण (श.भा) उक्तम् । काण्वमाध्य-  
न्दिनपाठभेदेन द्वाविंशति(का)चतुर्विंशति(मा)नार षष्ठ्यभ्यासेन ‘एषम आत्माऽन्तर्हृदय’ (छा) इति शाण्डिल्यविद्यावाक्य  
इव भेदएव विवक्षितः । सूत्रकारश्च ‘शब्दविशेषात्’ इत्यत्र शाण्डिल्यविद्यावाक्यस्य भेदपरत्वमभिप्रेतीति, परेषामपि  
संमतम् । तद्वदेवात्रापि ‘उभयेऽपिहि भेदेनैवमधीयते’ इति वदतरसू-कृतो विवक्षितम् । इत्येवमादिनेत्यत्रादिपदेन  
‘सतआत्मेति’ माध्यन्दिनवाक्यं ‘योविशाने तिष्ठन्—एषतआत्मा’ इति काण्ववाक्यम् ‘आत्मैवेदमग्र आसी पुष्टव-  
विधः, सएष इहप्रविष्टः, तदात्मानमेवावेदहब्रह्मास्मि’ इति ‘एषम आत्माऽन्तर्हृदये’ (छा.शा) ‘समआत्मेति’ (कौ)  
इत्यादिवाक्यानि विवक्षितानि ॥

स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवेति ‘तत्त्वमसि’ इत्यत्र ‘ऐतदात्म्यम्’ इत्यस्य ‘श्वेतकेतो’ इत्यस्य च नव-  
कृत्वः अभ्यासेन ‘अनेन जीवेनात्मना’ इत्युपक्रमानुसारेण च श्वेतकेतुशरीरकपरमात्मैव विवक्षितः । ‘तदात्मानमेवा-  
वेदहब्रह्मास्मि’ इत्यादि कौपीतकीवाक्यैकार्येण ‘ब्रह्मवा इदमग्र आसीत्’ इत्यस्यात्मनशब्दस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गेन च  
अन्तर्याम्यभेद एव विवक्षित इति प्रागेव साधितम् । एवञ्च ‘समआत्मेतिविद्यात्’ इत्यादि श्रुत्यन्तरकार्येणैव शरीरकपर-  
मात्मैव विवक्षितइति निश्चीयत इति भावः । श्रुतिदृष्ट्या इत्याद्यनाभिधाय ‘शास्त्रदृष्ट्या’ इत्युक्त्या विधिवाक्यघटित  
शास्त्रमेव विवक्षितम् । विधिप्रत्ययस्य शासनमर्थ इति रचनानुपपत्त्यधिकरणे ‘स्वशासनावबोधशास्त्रम्’ इति सूक्तयनुरो-  
धेन आचार्यपादैर्निर्णीतम् । एव च ‘मामुपास्व’ ‘आत्मेत्येवोपासीत’ ‘आत्मानमेवोपासीत’ इत्यादौ विधिप्रत्ययस्य  
शासनमेवार्थः । एव च ‘शास्त्रदृष्ट्या’ ‘उपासाग्रीविध्यात्’ इति पदद्वयेन विधेयार्थतात्पर्यकश्रुतिरेव शास्त्रपदेन  
विवक्षिता ॥

तद्धैतत्पश्यन्ऋषिर्वामदेवइत्यादि । बृहदारण्यके तृतीये चतुर्थब्राह्मणे ‘आत्मैवेदमग्र आसीत्’ इत्युपक्रमः, तत्र  
पुरुषशब्दस्याप्यंशमभिहितम् । तृतीयेऽध्याये मधुसूदनब्राह्मणे ‘सर्वा अयं सर्वांस्तु पृथुपुरिषय’ इति सर्वशरीरकपुरुष



### गूढार्थसंग्रहः

शब्दार्थः वक्ष्यते । 'स एष इह प्रविष्ट आनशाग्नेभ्यः' इत्यनन्तर 'स योत एकैकमुपास्ते न स वेद आकृष्टो ह्येव अतएव केचन भवन्ति 'आ मेत्येवोपासीत' इति वाक्ये आ मन्शब्दस्यापि व्यापकचेतनवाचिनः सर्वशरीरार्थ इति सूचितम् । एतदुत्तरं अत्र ह्येने सर्व एक भवन्ति' इति वाक्यं श्रूयते । तदुत्तरं अन्तरतरं यद्यपि मा मा स योऽयमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं सेत्स्यतीत्यात्मानमेव प्रियमुपासीत' (८) इत्यत्र 'अन्तरतरं यद्यपि मा मा' इत्यनेन 'स एष इह प्रविष्टः' इत्यर्थः स्मारितः । एतेन सर्वव्यापकचेतनस्य प्रियत्वं सर्वव्यापकचेतनस्यैकत्वेन 'अत्र ह्येते सर्व एक भवन्ति' इत्येतेन व्याख्यानं व्यापक एव एकीभावः कथितः । अनन्तर 'ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमुत तद्ब्रह्मावेत् यस्मात्तत्सर्वमभवत्' (९) इत्यत्र ब्रह्मणः सर्वभावे मूलभूतज्ञानप्रभः एतदनन्तर 'ब्रह्मवा इदमग्र आसीत् तदा मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि इति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (१०) इति वाक्यम् । अत्र 'ब्रह्मवा इदमग्र आसीत्' इति वाक्यमात्रेऽपि अवशिष्टभागेन प्रतिवचने प्रष्टुं जिज्ञासनिवृत्तिर्भवति, इति । तद्वाक्यं किमर्थमिति विवेचनीयम् । इदंच वाक्यं 'तद्वद तर्ह्यव्याहृतमासीत्' इति पूर्ववाक्यसमशीलम् । तत्र नामरूपव्याकरणं प्रवेशनिवन्धनमिति व्यक्तमुक्तम् । 'स एष इह प्रविष्ट' इति आत्मशब्दार्थविपरणमेव, प्रवेशश्च प्रलयानन्तरसृष्टिसमकालिकः, एवंच प्रलयानन्तरसृष्टिसमकाले सर्वा न्तःप्रविष्टचेतन एव आ मन्शब्दार्थः पर्यवसतः ॥

एवं च 'ब्रह्मवा इदमग्र आसीत्' इत्यनेन प्रलयस्यामन्शब्देन तदनन्तरसृष्टिसमकालिकान्तःप्रविष्टचेतनस्य बोधनपूर्वकं तस्यामन एव 'अहंब्रह्मास्मि' इति सर्वभावहेतुभूतज्ञानविषयत्वाभिधानेन ब्रह्मणः सर्वभावे सृष्टिसमकालिकान्तःप्रवेशएव मूलमिति युक्तं भवति । अन्यथा 'आमानमेवावत्' इत्यत्र आ मन्शब्दस्य वैयर्थ्यमेव स्यात् । अनन्तर 'तद्ये यो देवानां प्रत्यनुध्यत स एव तदभवत्' इत्यत्र तच्छब्देन पूर्वोक्तसर्वभावहेतुभूतज्ञानविषयीभूतार्थस्य परामर्शेन सर्वभावो प्रागुक्तज्ञानमेव हतुरिति भावः । एवमेव 'तद्ये गीणा तथा मनुष्याणां तद्वैतत्पर्यन्तपिर्वामदेव प्रतिषेदे अहं मनुरभवत् सूर्यश्च' इति तदिदमप्येतर्हि य एव देवाहं ब्रह्मास्मीति स इह सर्वमवति तस्य हनदेवाश्च नाभूत्या ईशते आ म ह्येवास भवति अथ योऽन्या देवतामुपास्त अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा दशुरेव स देवानां यथाहं अहं पशवो मनुष्यभुञ्जु एवमेकैकं पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशौ आदीयमानेऽप्रियमवति किमु बहुषु तस्मादेवा तन्न प्रियं यदेत मनुष्याः विद्युः' इत्यत्र वामदेवादीनामभेदज्ञानेऽपि सर्वा तर्थाग्या मज्ञानमेव मूलम् । इत्थं च सर्वान्तर्याम्यभेद एव विवाक्षितः । 'अथ योन्याम्' इति निन्दावाक्येऽपि सर्वान्तर्याम्य-यदेवतैव विवाक्षिता । इत्ययमर्थः एतच्छ्रुतिविषय 'आ मेवेदमग्र' इत्युपक्रमप्रभृतिवाक्यपर्यालोचनेन प्रतीयते । इममर्थमभिप्रेत्यैव स्वात्मशरीररूपरमात्मानमेवोपादिदेशेति पूर्वभाष्यवाक्यम् । वामदेवस्य सगुणब्रह्मविद्यानिष्ठत्वेन 'आमेत्येवोपासीत' इति अत्रत्यवाक्यानुरोधेन च 'अहमनुरभवत्' इत्यादौ तत्तच्छरीररूपरमात्मैव विवाक्षित इति निश्चीयते ॥

'वामदेववत्' इत्यभिधाय 'उपासात्रैविध्यात्' इति वदतः सूत्रकृत 'आ मेत्येवोपासीत' इत्यनन्तर 'तद्वै तत्पर्यन्तपिर्वामदेव' इत्यत्रापि स्वात्मशरीररूपरमात्मोपासनमेवाभिमतम् । अतएव 'गर्भेऽनुसन्नेषामवेदमहं देवानां जनिमानि त्रिधा' (ऐ. ४. ४) इत्युपक्रम्य 'गर्भे एव एतच्छ्रयानः वामदेव एवमुवाच । स एव विद्वानस्मान्छरीरमेदादूर्ध्वमुपक्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वा अमृतस्ममभयस्ममभवत्' (ऐ. ४. ४) इत्युक्तार्थं उपनिषदन्ते 'स एतेन प्राज्ञेना मना-अमृतस्ममभवत्स्ममभवत्' इत्यभ्यासेन दृढीकृतः । अतः उक्तातिपूर्वकमुक्तिप्रतिपादनं बृहदारण्यके उपासननिष्ठवस्य प्रतीत्या परसमतर्निर्विशेषविद्यानिष्ठं वामदेवस्य नास्तीति निर्मसराणां स्फुरम् । गर्भे एव

## श्रीभाष्यम्

सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः । मत्तस्सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने ' इत्यादि वदिति । अस्मिन्प्रकरणे जीववाचिभिर्दशब्दैरचिद्विशेषाभिधायिभिश्चोपास्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणोऽभिधाने कारणं चोद्यपूर्वकमाह—

सू.३२-जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतयोगात्(१.१.११)

## श्रुतप्रकाशिका

उत्तरसूत्रमवतारयति अस्मिन्निति । जीववाचिभिरित्यादि । त्वाष्ट्रवधादिलिङ्गप्रतिपादनकारणमपि कथनीय-मित्यभिप्रेतम् उपरितनग्रन्थानुगुण्यात् । कारणं प्रयोजनरूपम् । उपदेष्टुमितिहि वक्ष्यते, चोद्यपूर्वकमाह नतूक्तार्थप्रतिषे-  
पार्थक्यं चोद्य विशेषणाशे तात्पर्यं प्रतीयत इति तस्य प्रयोजनमेव प्रष्टव्यं तच्चोद्यरूपेण पृष्टवानित्यर्थः ॥

सू.३२-जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतयोगात्(१.१.११)

## गूढार्थसंग्रहः

वामदेवस्य देवानां जनेः शान्तस्य प्रतिपादनेनच वामदेवस्य कार्यकारणभावः अकल्पित इत्येवाभिप्रेतं ननु परीत्या साधृत-  
तत्वमिति च निर्मत्सरणा स्फुटम् ॥

सर्वगत्वादनन्तस्येति । अनन्तशब्दः त्रिविधपरिच्छेदरहितपर इति परेषामपि संप्रतिपन्नम् । देशकाल.परिच्छे-  
दशून्यत्वं देशकालव्यापकत्वरूपं यथातथैव वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमपि वस्तुव्यापकत्वरूपमेव । 'अन्तर्बाहिश्च तत्सर्वं व्याप्य-  
नारायणस्थितः' इति श्रुत्यर्थः 'सर्वगत्वादनन्तस्येत्यत्र विवक्षितः । इत्थं च सर्वगतत्वादनन्तस्येत्यनेन 'स एवाह-  
मवस्थित' इत्यभेदे हेतुकथनेन 'अन्तरतर यदयमात्मा' इति प्रागुदाहृतश्रुत्यर्थप्रकाशनेन वामदेवब्रह्मादयोरेकएवाभिप्रायो  
विवक्षितः । परमते अनन्तस्य सर्वगत्वादित्यभेदेहेतूक्तं न घटते । 'अनन्तत्वात्स एवाहम्' इत्युक्तौ तन्मतसूचनं यथा-  
कथञ्चित्स्यात् । 'मत्तस्सर्वमहसर्वम्' इत्यत्र कार्यकारणभावेनैवाभेद उपपादितः सोऽपि परमते कार्यकारणभावस्य साधु-  
तत्वेन न घटते इति भगवत आशयः 'मयिसर्वम्' इत्याधाराधेयभावोक्तिरपि परमतेऽनपेक्षिता ॥

एतावता इन्द्ररूपजीवएव श्रुतिप्रावच्येनोपक्रमप्रावच्येन च प्रतर्दनविधौवेद्य इति शङ्का उपक्रमोपसंहारयोरुभयोः  
परमात्मनः विद्यावेद्येन परिहृता । मनुष्यहिततमोपासनकर्मवस्येन्द्रेऽसंभवात् । इन्द्रस्योत्तराध्याये परमात्माधीनशा-  
नस्य स्पष्ट वक्ष्यमाणत्वेन 'मामुपास्व' इत्यत्र स्वा मशरीरकपरमा मैव विवक्षित इति 'अध्यात्मसम्बन्धभूमा' इति  
सूत्रप्रण्टेन व्यासेन निर्धारिततया 'मामुपास्व' 'मामेव विजानीहि' इति शानोपासनवाचिधातुद्वयप्रयोगेन उपास्य  
ब्रह्मभिन्नशेषब्रह्मनात्यर्थक्यस्य परोक्तस्यायोगेन सगुणब्रह्मेवात्र विवक्षितमिति इन्द्रशब्दश्रुतिर्न घटत इति निरूपितप्रायम् ।

अथ यल्लिङ्ग पूर्वपक्षिणो विवक्षितं तदाशङ्क्य समाधत्ते-जीवमुख्यप्राणलिङ्गादित्यादिना । परमाध्ये(ष्ट)अथवा  
'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतयोगात्' इत्यस्यापमन्योऽर्थः न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विवक्ष्यते, कथं  
'उपासात्रैविध्यात्' त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मेण च, इति वृत्तिकारसम्मतो

## श्रीभाष्यम्

‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्’ (कौ.१.८) ‘त्रिदीर्घाणं त्वाष्ट्रमहनम् । अह-  
न्मुखान्यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्’ (कौ.३.१) इत्यादिजीघलिङ्गात्, ‘यावदसिंश-  
रीरे प्राणो यसति तावदायुः’ (३.१) ‘अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्था-  
पयति’ (३.१) इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च नाध्यात्मनमन्यन्धभूमेति चेत्—न ‘उपासात्रैवि-  
ध्यात्’ हेतोः उपासनात्रैविध्यमुपदेष्टुं तत्तच्छब्देनाभिधानं निखिलकारणभूतस्य ब्रह्मणस्व  
रूपेणानुसन्धानम् भोक्तृवर्गं शरीरकत्वानुसन्धानम् भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वानुस-  
न्धानंचेति त्रिविधमनुसन्धानमुपदेष्टुमित्यर्थः । तदिदं त्रिविधं ब्रह्मानुसन्धानं प्रकरणान्तरे  
ष्यप्याश्रितम् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै.आन.१.अनु) ‘आनन्दो ब्रह्म’ [तै.भृ.६] इत्या-  
दिषु स्वरूपानुसन्धानं ‘तत्सृष्ट्वा । तदनुग्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सद्यत्यद्याभवत् । नि-  
दकतंचानिदकतं च । निलयनंचानिलयनंच । विज्ञानंचाविज्ञानं च । सत्यंचानृतंच सत्यमभवत्’

## श्रुतप्रकाशिका

‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्’ इति केवलं मद्रचनमेव विजानीहि, वक्तार मां च विजानीहीत्यर्थः ।  
मुख्यप्राणः पञ्चवृत्तिः, मुख्यशब्दइन्द्रियादिव्यावृत्त्यर्थः नमो निषेध्याकाङ्क्षायमनतिविप्रकृष्ट सौत्र पदमध्याहृतम् अध्या-  
त्मेति । हेतुत्वं विवृणोति उपासनेति । उपदेष्टुं मत्पत्नेन प्रयोजनतया हेतुत्वं स्पष्टम् त्रैविध्यं विवृणोति निखिलेति ।  
स्वरूपेणानुसन्धानं अक्षरकगुणविशिष्टानुसन्धानम् । त्रिविधानुसन्धानस्य प्रमाणमूलत्वे सिद्धेष्टय निर्वाह उपपन्नस्यादिति  
यङ्ग्यामाश्रितत्वादित्येतद्व्याचष्टे । तदिदमिति । कुत्रेत्यपेक्षायां प्रकरणान्तरष्वपी युक्तम् । आश्रितं प्रतिपन्नमित्यर्थः ।  
तत्सृष्ट्येत्यादि । ‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’ इति देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य ब्रह्मणः ‘ब्रह्मविदामोति’ इति वेद्य-  
त्वविधानात् प्रकरणस्य वेद्यब्रह्मप्रतिपादनपरत्वात् ‘सयएयंयित्’ इति निगमनवाक्येऽपि पूर्वोक्तसमस्तप्रकारविशिष्ट  
वेदनप्रतीतिश्च, चिदचिच्छरीरकत्वानुसन्धानमत्र विवाक्षितमिति भाष्याभिप्रायः ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

योऽयमर्थो निरूपितः स एव युक्त इत्यभिप्रेत्य विवृणोति—उपासात्रैविध्यमुपदेष्टुमित्यादि । ‘त मामायुःमृतमियुपास्व’  
इति वाक्यमेव त्रिविधोपासनप्रतिपादकम् । आयुरिति प्राणधर्मेण अमृतमिति स्वधर्मेण मामिभिति प्रज्ञाधर्मेण ब्रह्मणः  
त्रिविधोपापासनस्योक्तेः इति व्यासार्थः श्रुतौ त्रिविधोपासनस्य या विवक्षा उक्ता सैव युक्ता । ‘प्राणोवा आयुःप्राणो वा  
अमृतः’ इत्युत्तरवाक्ये प्राणशरीरकस्वरूपोपासनस्य पूर्ववाक्यनिर्धारणेन प्राणशब्दार्थामृतशब्दार्थयोरेकत्वता पक्षेण प्रवृ-  
त्तेरसम्भवात् । अतः अमृतमिति स्वरूपविवक्षाया न किञ्चिद्वाचकम् ‘तस्मादेतदेवोक्तमनुपासीत’ इत्यनन्तरव वयमिति  
कर्तव्यताविधिपरम् वक्ष्यमाणतत्तद्गुणविशिष्टत्रिविधोपासनविधिः ‘प्रणोऽस्मि’ इत्यत्र, अतः वाक्यैकवाक्यताऽङ्ग-  
सम्भवति । तेन न्यायरक्षामण्युक्तदोषस्य नावसरः ॥

॥ इन्द्र प्रा णा धि क र णं स मा स त् ॥

## श्रीभाष्यम्

इत्यादिषु भोक्तृशरीरतया भोग्यभोगोपकरणशरीरतया चानुसन्धानम् । इहापि प्रकरणे तत्रिविधमनुसन्धानं युज्यत एवेत्यर्थः ॥

एतदुक्तं भवति-यत्र हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रकृत्याद्यचेतनविशेषाणां च परमात्मासाधारणधर्मयोगः तदभिधायिनां शब्दानां परमात्मवाचिशब्दैस्सामानाधिकरण्यं वा दृश्यते ; तत्र परमात्मनस्तत्तच्चिदचिद्विशेषान्तरात्मत्वानुसन्धानं प्रतिपिपादयितं इति । अतोऽत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवादर्थान्तरभूत परमात्मैवेति सिद्धम् ॥

भगवद्रामानुजमुनिनिरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः



## श्रुतप्रकाशिका

ननु 'सयश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये सएकः' इत्युक्त्या अनन्तर 'सयएवंवित्' इति वाक्येन जीवान्तर्यामिण आदित्यान्तर्वर्तिनश्चोपासनमुच्यत इति चेन्न स्थानभेदेन विद्याभेदप्रसङ्गात् । रुचानुपपन्नं 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्षामति' इत्यानन्दमयप्राप्तिफलत्ववशेन 'ब्रह्मविद्याप्रोतिपरम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिन प्रतिपादितानन्दमयविषयविद्यैक वावगमात् प्रकरणस्य सम्भवत्येकवाक्ये वाक्यभेदानुपपत्तेश्च, 'सयश्चायम्' इत्यादि वाक्ये किमुच्यत इति चेत् त्रिविधानुसन्धानरूपैकविद्याया मोक्षफलकत्वेन विवक्षितत्वे सति तत्र स्वरूपणावस्थितस्य नुसन्धाने ज्ञानादिगुणवद्विविग्रहयोगस्याप्यनुसन्धेयतासिद्ध्यर्थं पुण्डरीकाक्षमप्राकृतवपुर्गतिदिश्यते । तत्र 'सयश्चायं पुरुष' इति विज्ञानमयादन्तरस्थानन्दमयस्यानुवादः, 'यश्चासावादित्य' इति विग्रहातिदेशः ॥

किंच आनन्दमयप्रतिपादनानन्तरम् 'ब्रह्मविद्याप्रोति' इत्युपक्रमाभिहितप्राप्तिशब्दीकरणार्थं 'अथातोऽनुप्रश्नाः' इति प्रश्ना उपश्लिष्टा पूर्वप्रतिपादनस्य बुभुक्षाहेतुवमतश्चन्देनोच्यते 'उत्ताविद्वान्' इति । उत विद्वान् इति पद 'निपातस्य' इति छान्दसो दीर्घः 'अथासपन्नान्' इतिवत् अविद्वान् इतिपदसति ह्यनुदात्तत्वस्यात् 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' इत्यादिस्मरणात् 'अविद्वान्प्रतिगृह्णाति' इतिवत् अन्तोदात्तचेदपद तस्माद्विद्वानितिपद कश्चनाविप्रकृष्टदयादिस्थानस्यमनर्वाञ्छन्न च ब्रह्मोपासीनो विद्वान् किमत प्रेत्य अमुलोक 'परमेव्योमन्' इत्युक्तं लोक गच्छतीत्येक प्रश्नः । उत गत्यनपेक्षमिहैव ब्रह्मप्राप्नोतीत्यर्थसिद्ध प्रश्नः, 'आहोविद्वान्' इति । समश्नुता' इति मोक्तृव विवक्षितम् कश्चेत् अहमप्रेषोपासीनोऽपि विद्वानमुलोक गत्वा किं समश्नुते भोग्यभूत ब्रह्मभवतीत्येक प्रश्नः । उत ब्रह्मस्वरूपणैकीभवीत्यर्थसिद्ध प्रश्नः ॥

एव शास्त्रत्रैविध्यमूला गतिविशेषस्वरूपभेदभावावविषयाः प्रश्ना बहुवचनविवाहिता एतन्प्रतिद्वन्द्वं उरवारणवौपयिकगुणविशिष्टस्यैव विलक्षणस्य ब्रह्मणः प्राप्यत्वादिज्ञापनाय 'सोऽकामयत' इत्यादिना जगत्काणवादेकनिरतशयानन्दपर्यन्तमहिमानमुक्त्वा 'सयश्चायम्' इत्यादिवाक्यं वदति सत्किञ्चिद्वदयस्य वा विप्रकृष्टरविमण्डलादिस्थानस्य वा पूर्वोक्तं सत्यं वादिलक्षणमानन्दादिगुणकं वा ब्रह्मोपासीनः सर्वोऽपि विद्वानस्माहोकात् प्रत्याक्षमयादिसमष्टिविभूतिक निरतिशयानन्द परमात्मानं भोग्यभूतं भोक्तासन्ननुभवतीति प्रश्नस्योत्तरमुच्यते । उत्तरसर्वेषां विद्याविशेषः,





### श्रीभाष्यम्

इत्यादिषु भोक्तृशरीरतया भोग्यभोगोपकरणशरीरतया चानुसन्धानम् । इहापि प्रकरणे तत्त्रिविधमनुसन्धानं युज्यत एवेत्यर्थः ॥

एतदुक्तं भवति-यत्र हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रवृत्त्याद्यचेतनविशेषाणां च परमात्मासाधारणधर्मयोगः तदभिधायिनां शब्दानां परमात्मवाचिशब्दैरसामानाधिकरण्यं वा दृश्यते ; तत्र परमात्मनस्तत्तच्चिदचिद्विशेषान्तरात्मत्वानुसन्धानं प्रतिषिपादयिषितं इति । अतोऽत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवादर्थान्तरभूत परमात्मैवेति सिद्धम् ॥

भगवद्रामानुजमुनिविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमःपादः



### श्रुतप्रकाशिका

ननु 'सयश्चायं पुरूपे यश्चासावादित्ये स एकः' इत्युक्त्वा अनन्तर 'सयएवंविद्' इति वाक्येन जीवान्तर्यामिण आदित्यान्तर्वर्तिनश्चोपासनमुच्यत इति चेन्न स्थानभेदेन विद्याभेदप्रसङ्गात् । रुचानुपपन्नः 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्कामति' इत्यानन्दमयप्राप्तिफलभवेन 'ब्रह्मविदामोतिपरम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इत्यादिना प्रतिपादितानन्दमयविषयविद्यैकत्वावगमात् प्रकरणस्य सभवत्येकवाक्ये वाक्यभेदानुपपत्तेश्च, 'सयश्चायम्' इत्यादि वाक्ये किमुच्यत इति चेत् त्रिविधानुसन्धानरूपैकविद्याया भोक्तृफलत्वेन विवक्षितत्वेति तत्र स्वरूपेणावस्थितस्य नुसन्धाने ज्ञानादिगुणवहिन्यविग्रहयोगस्याप्यनुसन्धेयतासिद्धयर्थे पुण्डरीकाक्षमप्राकृतवपुर्गतिदिश्यते । अथ 'सयश्चायं पुरूपे' इति विज्ञानमयादन्तरस्थानन्दमयस्यानुवादः 'यश्चासावादित्य' इति विग्रहातिदेशः ॥

किंच आनन्दमयप्रतिपादनानन्तरम् 'ब्रह्मविदामोति' इत्युपक्रमाभिहितप्राप्तिशब्दीकरणार्थे 'अथातोऽनुप्रश्ना' इति प्रश्ना उपश्लिष्टा पूर्वप्रतिपादनस्य बुभुक्षाहेतुवमतश्चान्देनोच्यते 'उताविद्वान्' इति । उत विद्वान् इति पद 'निपातस्य' इति छान्दसो दीर्घः 'अथासपन्नान्' इतिवत् अविद्वान् इतिपदेसतिहा शुदात्तत्वस्यात् 'तत्पुरूपे तुल्यार्थे' इत्यादिस्मरणात् 'अविद्वान्प्रतिगृह्णाति' इतिवत् अन्तोदात्तचेदपद तस्माद्विद्वानितिपद कश्चनापिप्रकृष्टदद्यादिस्थानस्थमनर्वान्छन्न च ब्रह्मोपासीनो विद्वान् किमतः प्रेत्य अमुलोक 'परमेव्योमन्' इत्युक्तं लोक गच्छतीत्येक प्रश्नः । उत गत्यनपेक्षमिहैव ब्रह्मप्राप्नोतीत्यर्थसिद्ध प्रश्नः 'आहोविद्वान्' इति । समश्नुता' इति भोक्तृव विवर्तितम् कश्चेत् अहप्रहेणोपासीनोऽपि विद्वानमुलोक गत्वा किं समश्नुते भोग्यभूत ब्रह्मभवतीत्येक प्रश्नः । उत ब्रह्मस्वरूपगैकीभवीतीत्यर्थसिद्ध प्रश्नः ॥

एव शास्त्रवैविध्यमूला गतिविशेषस्वरूपभेदमावावविषयाः प्रश्नाः बहुवचनविवाहिता एतन्मूर्तिवत् उरवारणवौपयिकगुणविशिष्टस्यैव विलक्षणस्य ब्रह्मणः प्राप्यत्वादिसापनाय 'सोऽकामयत' इत्यादिना जगत्काले वा दैकनिरतशयानन्दपयना महिमानमुक्त्वा 'सयश्चायम्' इत्यादिवाक्ये वदति सन्निवृष्टदृश्यस्थ वा विप्रकृष्टरविमण्डलादित्या नस्य वा पूर्वोक्तं सत्यवादिलक्षणमानन्दादिगुणकं वा ब्रह्मोपासीनः सर्वोऽपि विद्वानस्माच्छोषात् प्रत्याक्रम्यादिसमष्ट्य-  
ष्टविभूतिक निरतिशयानन्द परमा मान भोग्यभूत भोक्तासन्ननुभवतीति प्रश्नस्योत्तरमुत्तमम् । अतःसर्वेषां विद्याविशेष,

## श्रुतप्रमाशिका

निशानामर्चिणादिगतिमत्त्व भोक्तृभोग्यभावेनावस्थानं च प्रतिपादयितुं सन्निकृष्टविप्रकृत्यान्विशेषोपलक्षणार्थं ‘सयश्चायम्  
इत्युक्तं तस्मादादित्यान्तर्यवर्तितयोरासनमानन्दवल्ल्या न विधिसितम् । अत उत्तरलक्षणत्रिविधे पासनमेवात्र विवक्षितम् ॥

एवं ‘मोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा मयं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्’ इत्यादीनि सदृशानि श्रुत्यन्तराणि च  
विधयितानि, त्रिविधोपासनस्य स्फुटतरत्वात् भोक्तृभोग्ययोरीश्वरविधेयं कथमित्यपेक्षायां चिदचिदनुग्रहेणादीनां स्य  
तत्प्रकारि वीमिति त्रिविधोपासनं श्रुत्यन्तरां विद्वद्कारणं तु वाट नन्दवल्लीयवयमिहेतु हृत आय वीमिप्रतं ‘इह तद्योगात्’  
इत्येवम्याचष्टे इहापीति । आनन्दोऽजरोऽमृत इति स्वेन रूपेणानुसन्धानम् ‘प्राणोऽस्मि’ इत्यचिद्विशिष्टानुसन्धानम्  
‘मामुपास्य’ इति चिद्विशिष्टानुसन्धानमिति त्रिविधानुसन्धानमिहेतुपपद्यत इत्यर्थः, त्रिविधानुसन्धाने कर्तव्येऽप्यत्र  
चिद्विशेषाचिद्विशेषविशिष्टोक्तिः कथं सामान्येन चिदचिद्विशिष्टानुसन्धानादि प्रकरणान्तरोक्तमित्यपेक्षां प्रशमयत्यस्य  
न्यायस्य प्रनर्दनप्रियामात्रविषयत्व च निवारयान्विशिष्टोपासनपरत्वाच्चिह्नं च दर्शयति एतदुक्तमिति । यत्रेति । अयं  
न्यायो न प्रनर्दनप्रियामात्रविषयः अपि त्रिदशसर्वप्रकरणविषय इति भावः । सामान्येन चिदचिद्विशिष्टापरत्वाच्चिह्नं चिद्विशिष्ट  
त्वात्स्वीक्रियते विधेरवयवार्थार्थं तथा चिदचिद्विशिष्टोपासनं विहितचेष्टा तत्र चिदचिद्विशिष्टा त्रयमित्यादिनां च  
मित्यभिप्रायेणाह—हिरण्यगर्भादीति । हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणामिति पदेन परमात्मदेवेन च ‘परमात्माव्यव-  
स्थितः स ब्रह्मा स शिव’ इति श्रुतिः स्मार्यते, अनन्यपरेण नारायणो नृवाकेन सर्वविद्यासूक्तस्यो नागयण एवेति निर्णीत-  
त्वादिन्द्रायुपासनेऽपि तत्तदन्तर्यामी नारायण एवोपास्य इति भावः । पाशुपताधिकरणे तथाऽनुवदिष्यमाणेन च परमात्म-  
पर्यन्तवाचकशापक द्विविधं प्रदर्शयति परमात्मासाधारणेति । परमा मासाधारणधर्मयोगात् तद्वाचिद्विशिष्टाणां वि-  
करण्याच्च विशिष्टोपासनपरत्वमवगम्यत इत्यर्थः । अधिकरणार्थमुपसहरति अतइति ॥

अत्र कैश्चिदेव वर्णितं प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात् तत्सङ्कीर्तनं जीवनं कीर्तनं तु तस्योपाधिके तदप्रतिस्तेपेण  
परब्रह्मरूपताज्ञानार्थं अन्यथा त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत ततश्च वाक्यभेदस्यादिति, तदुक्तम् । ‘नित्योपलब्ध्यनुपल-  
ब्धिप्रसङ्गः’ ‘अपीतो तद्वत्प्रसङ्गात्’ इतिवत् प्रसङ्गशब्दस्याश्रुतत्वात् वाक्यभेदाभावाच्च । एकवाक्येनैवाहि विधी-  
यते ‘तं मामायुरमृतमित्युपास्य’ इत्यत्र मामिति जीवविशिष्टोक्ता आयुरिति प्राणविशिष्टता ‘आयु प्राण’ इत्य-  
नन्तरवाक्यम् । अमृतमिति स्वेन रूपेणावस्थितिः अतएवविधेः परमात्मानमुपास्वेत्येकवाक्यत्वम् । उपासात्रैविध्यविधा-  
नस्य कृत्तिकारामिमसंयात्तदनतिक्रमाय परैरेव त्रिविधोपासनपरत्वेन याजना तर कृतम् । तत्र शानप्रियाशक्तिद्वयाऽश्रय-  
बुद्धिप्राणरूपोपाधिधर्मेण स्वधर्मेण च त्रिविधं ब्रह्मोपास्यमिति । तदुक्तम् जीवेश्वरभेदस्यान्तःकरणरूपोपाधेरुद्देशकत्वे-  
त गभावात् ‘यस्यात्मा शरीरम्’ ‘मनोमय प्राणशरीर’ इति जीवप्राणयोः परमात्मानमिति शरीरतया प्रकारत्वस्य  
श्रुतत्वेन प्रकारान्तरेण त्रैविध्यकल्पनायोगाच्च, अन्यत्वेवमुपासात्रैविध्येन वाक्यैकं वमाहुः प्रज्ञाशरीरो जीवशरीर, प्राण-  
शरीरश्च परमात्मोपास्यः । तत्र प्रज्ञाशरीरो मनोमयः । जीवशरीरो वाक्ययः वाक्यशब्दः शब्दपरिणामशक्तियोगात् परमा-  
काशविषयः अतो वाक्य आकाशशरीरः, आकाशशरीरं च जीवशरीरत्वपर्यन्तं ‘तस्यान्ते सुषिरं गूढं मूढम्, तस्य  
मध्ये महानग्निः’ इति हृदयाकाशमध्ये अग्निशब्देन जाठराग्निपरमा मज्जालया रुसृष्ट जीवमभिधाय ‘तस्यादिशस्या-  
यामध्ये परमात्मा व्यवस्थितः’ इति आम्नानादिति । तदप्यनुपपन्नम्, मनोमयादिव्यूहानामप्रामाणिकत्वस्य पूर्वमेव  
दर्शितत्वात् ॥

### श्रुतप्रकाशिका

किंच अस्मिन्प्रकरणे प्रज्ञाशब्दस्य सहोक्तमणपृथग्यवहाराभ्यां स्थानप्रमाणेन च जीवप्रसिद्धमनोविषयवोपपादने-  
नेश्वरप्रज्ञाशक्तिवाचित्वाभावात् प्राणशब्दस्य घटशब्दस्योदकाहरणशक्तिवाचित्वाभावात् त्रियाशक्तिवाचि वाभवाच्च अतः  
प्रज्ञाप्राणशब्दौ न मनोमयप्राणमयवाचकौ । यदि प्रसिद्धमनोवाक्प्राणा एतकार्यभूता विवादिताः तर्ह्यस्मिन्प्रकरणे चक्षुः  
श्रोत्रादीनामपि प्रकृतत्वात्तेषां च परमा ममयत्वादुपासाद्यैविध्यं विरुध्यते । आकाशशरीरं च जीवशरीरत्वरूपं तत्त्वमित्यप्य-  
युक्तम् । ' तस्य मध्ये महानग्निः ' इत्यग्निशब्दस्य जीववाचि वाभावात् ' तत्र यस्संश्रितो नित्यं स्थात्यामग्निरिया-  
र्पितः । आत्मानं तं विजानीयात्- ' इति स्मृतिवचनं न जीवस्य श्रुतावाग्निशब्दवाच्यत्वे प्रमाणं, किंतु स्थानस्था-  
निर्नेर्वैलक्षण्ये दृष्टान्तमात्रसमर्पणम् । वाङ्मयस्य जीवशरीरकत्वं भवत्प्रक्रियया विरुद्धं च प्राणमयस्यान्तर्यामिवाभ्युपग-  
मात् अन्तर्यामिणो जीवशरीरकत्वभ्रवणाच्च, ' यस्यात्मा शरीरम् ' ' सत आत्माऽन्तर्याम्यमृत ' इति हि श्रूयते तमो  
ऽधिष्ठातृतयाऽभ्युपगमस्य वाङ्मयस्य जीवशरीरकत्वं श्रुतिविरुद्धं च ' यं पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्त्यस्य पृथिवीशरीरम् ' इत्यारभ्य ' एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहृतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण ' इति समानप्रकरणे नारायणस्यैवा-न्तर्या-  
मिवभ्रवणात् धर्मैक्यात्सर्वमुपपन्नमिति चेन्न सर्वेषां व्यूहानां सर्वधर्मसमवेन व्यूहत्रयतद्व्यापारविभागव्यवस्थोपन्यासानुप-  
पत्तेः अतो यथोक्तमेवोपासाद्यैविध्यमिति सिद्धम् ॥

### इति इन्द्रप्राणाधिकरणम्

॥ श्रुतप्रकाशिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादस्तस्मात् ॥

अथ वेदान्तसारः

### सू. २९ = प्राणस्तथानुगमात् (१.१.११)

आत्मानं हिततमरूपमोक्षसाधनोपासनकर्मतया प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्य ' प्राणोऽस्मि प्रज्ञा मा तमामासुरमृतमि यु-  
पास्व ' (कौ. ३.१) इति विधानात् स एव जगत्कारणम् । कारणोपासनमिह मोक्षसाधनम् ' तस्य तावदेव क्षिरं यावत्त-  
विमोक्षये अथ सप्तस्ये ' (छा. ६.१४.७) इति श्रुतिरिति नाशङ्कनीयम् ; प्राणशब्दसमानाधिकरणे द्रव्योदनिर्दिष्टो जीवा-  
दर्शान्तरभूतउल्लक्षणः परमात्मैव । कुतः ? ' तथानुगमात् , परमा मासाधारणानां दाजरामृतादिष्वस्येन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टि-  
स्यानुगमोहि दृश्यते—' स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दाऽजरोऽमृत ' (कौ. १.३) इति ॥

### सू-३० न च कतुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन् [१-१-११]

उपक्रमेहि ' मामेव विजानीहि ' (कौ. ३.१) इति त्वाष्ट्रवधादिना प्रज्ञातजीवभावस्य इन्द्रस्योपदेशात्, तपसहार-  
स्तदनुगुणो वर्णनीय इति चेत्—नेतत् ' अध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन् ' अध्यात्म परमात्मधर्म । परमात्मसम्बन्धबहुवचसि  
भिन्द्रशब्दाभिधेये वाक्योपक्रमप्रभृत् युगम्हं रादृश्यते । ' यत्त्वमनुष्याय हिततमं मन्यसे ' (कौ. ३.१) इति हिततमोपासन



प्रारब्धम् । तच्च परमात्मघर्मः । 'तमेव विद्वानमृत इह भवति । नान्यःपन्थाः' (पुरुषसू.) इत्यादिश्रुतेः तथा 'एष एव साधुकर्मा कारयति' (कौ.३.९) इत्यादिना सर्वत्र कारयितृत्वम् 'एवमेवेता भूतमात्राः' (३.९) इत्यारम्य 'प्रज्ञा मात्राः प्राणेष्वर्पिताः' (३.९) इति सर्वाधारत्व तथा आनन्दादयश्च, 'एष लोकाधिपतिः' (३.९) इत्यादिना स्वैश्वर्यञ्च ॥

### सू.३१=शास्त्रदृष्ट्यात्पदेशो वामदेववत् (१.१.११)

नामरूपव्याकरणादिशास्त्रासर्वशब्दैः परमात्मैवाभिधीयत इति दृष्ट्यः तद्वत् पनायायमिन्द्रशब्देन परमात्मोपदेशः शास्त्रस्याहिं वामदेवादयः तथैव वदन्ति—'तद्वैतपश्यन् ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे अहमनुरभव सूर्यश्च' (वृ.३.४.१०) इति

### जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति त्रेत्रोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतयोगात् १-१-३२

'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्, यावदध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' (कौ.३.१) इत्यादिजीवलिङ्गं, मनुष्यप्राणलिङ्गं चास्मिन् दृश्यत इति नैवमिति चेन्न ; उपासात्रैविध्यात् हेतोर्जीवशब्देन प्राणशब्देन च परमात्मोपदेशानम् । अन्यत्रापि परमात्मनः स्वरूपेणोपासनं भोक्तृशरीरकत्वेन भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वेन इति त्रिविधं परमात्मोपासनमाश्रितम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' (तै.आन.१) इति स्वरूपेण 'तदनुप्रविश्य सच्चत्यत्याभवत्' (६) इत्यादि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (६) इति भोक्तृशरीरकत्वेन भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वेन च ; सहापि तत्सम्भवादेवमुपदेशः । 'जन्माद्यस्य यतः' (शारी.१.१.२) इत्यादिषु सद्ब्रह्ममेति सामान्यशब्दैर्हि जगत्कारणं प्रकृतिपुरुषाभ्यामर्थान्तरभूतमिति साधितम् । 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (शारी.१.१.२६) इत्यस्मिन्ने पुरुषसूक्तोदितो महापुरुषो जगत्कारणमिति शब्दविशेषतो निर्णीतम् । स एव प्रज्ञातजीववाचिभिर्निन्द्रादिशब्दैरपि क्वचि क्वचिच्छास्त्रदृष्ट्या तत्तच्छरीरकतया चोपास्यत्वायोपदिश्यत इति 'शास्त्रदृष्ट्यात्पदेशो वामदेववत्' (शारी.१.१.३१) इति उपासात्रैविध्यात् इति साधितम् ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

### सू-२९ प्राणस्तथानुगमात् (१-१-)

कोषीतकीब्राह्मणे प्रतर्दनविध्यायां 'त्वमेवमे वरं वृणीष्व याव मनुष्याय हिततमं मन्यसे - (का.३.१) इतिप्रतर्दनोक्त इन्द्रः 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तमामायुर्मृतमित्युपास' ३.१. इत्याह । अत्र हिततमोपासनकर्मतया निर्दिष्ट इन्द्रप्राणशब्दामिधेयः, किं जीवः ? उत परमात्मेति सशयः । जीवइति पूर्वपक्षः । कुतः ? इन्द्रशब्दस्य जीवविशेषे प्रसिद्धेः प्राणशब्दस्यापि तत्समानाधिकरणस्य सप्रवार्थ इति 'तमामायुर्मृतमित्युपास' इति तस्यैवोपास्यत्वोपदेशात् इति । राक्षास्तु—इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्ट जीवादर्थान्तरभूतं पर 'स एष प्राण एष प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोमृतः' ३.१. इतिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टस्यैव जीवेष्वसम्भावितानन्दत्वाजरादिश्रवणात् । सूत्रार्थस्तु उपास्यत्वोपदिष्ट इन्द्रप्राणशब्दमिधेयं परं ब्रह्म ; तथेति प्रकारवचनः, परब्रह्मप्रकारभूतेष्वानन्दादिष्वस्यानुगमात् ॥

सू-३० न चक्षुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन् [११-१]

नायमुपास्यः परमात्मा 'मामेव विजानीहि, तमामायुरमृतमियुपास्व' .कौ.३.१. इति प्रशातजीवभावस्येन्द्रस्य चक्षुरात्मन उपास्योपदेशात् उपक्रमे जीवभावनिर्भये सति उपसंहारस्य तदनुगुणतया नेयत्वादिति चेन्न ; आध्यात्मसं-  
बन्धभूमाह्यस्मिन्-आत्मनि संबन्धः अध्यात्मसम्बन्धः तस्य, भूमा बहु वम् । जीवादर्थान्तरभूता मारुधाः ण, घर्म्मसंघ-  
हुत्वमस्मिन्प्रकरणे उपक्रमप्रभृत्युपसंहारादुपलभ्यते । उपक्रमेतावत् 'यत्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' .३.१. इति ह्यने-  
नोच्यमानमुपासनं परमात्मोपासनमेव, तस्यैव हिततमत्वात् । तथा 'एष एव साधुकर्म कारयति' .३.९. इत्यादिसाध-  
साधुकर्मणोः कारयितृत्वं परमात्मन एव धर्मः । तथा 'तद्यथा रथस्थारेषु नेमिरर्पिता नामावरा अर्पिता एवमेवैता भूत-  
मात्राः प्रशामात्रास्वर्पिताः, प्रशामात्राः प्राणोऽर्पिताः' .३.९. इति सर्वाधारत्वञ्च तस्यैव धर्मः । आनन्दादयश्च, 'एष-  
लोकाधिपतिरेव सर्वेश्वरः' .३.९. इति च । हीतिहेतोः । अतः परब्रह्मैवायमित्यर्थः ॥  
परमात्मैवोपास्यश्चेत्—कथामिन्द्र. 'मामुपास्व' .३.१. इत्युपादेदेश इत्याह—

सू.३१—शास्त्रदृष्ट्यात्पदेशो वामदेववत् (१.१.११)

इन्द्रस्य जीवस्यैव सतः स्वात्मत्वेनोपास्यभूतपरमात्मोपदेशोऽयं शास्त्रदृष्ट्या । 'अन्तःप्रविष्टश्चास्ताजनानागौ-  
सर्वात्मा' (आरुण.३.प्रअनु.२१) 'तत्त्वमसि' .छा.६.८.७. 'यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोऽयमा मा नवेद यस्यामा-  
शरीरं यआत्मनोऽन्तरो यमयति सतआत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (वृ.५.७.२२) 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो-  
' देव एको नारायणः' .सुबाल.ख.७. इत्यादीनिहि शास्त्राणि परमात्मानं जीवा मनआत्मतयोपदिदिशुः ; अतो जीवा म-  
याचिनश्शब्दाः जीवात्मशरीरं परमात्मानमेव वदन्तीति शास्त्रदृष्टार्थस्य तस्य 'मामेव विजानीहि, माम्-उपास्व' .३.  
१. इति स्वात्मशब्देन परमात्मोपदेशो न विरुध्यते । यथा वामदेवश्चास्त्रदृष्ट्या स्वात्मशरीरकं परमात्मानं पश्यन् अह-  
मिति परमात्मानमवोचत् 'तद्वैतत्पश्यन् ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे अहमनुरभव सूर्यश्चाह कक्षीवानृषिरस्मि विप्र' .वृ.३.  
४.१०. इति ॥

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतयोगात् [१.१०]

'त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुलान्यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' 'यावदस्मिन्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'  
.३.१. इति जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् नाध्यात्मसम्बन्धभूमा परमात्मवनिश्चयइति चेन्न ; परमात्मन एव स्वाकारेण जीवश-  
रीरकत्वेन प्राणशरीरकत्वेन चोपासात्रैविध्यादेतोः तत्तच्छब्देनाभिधानमिति निश्चीयते । अन्यत्रापि ब्रह्मोपासनात्रैवि-  
ध्यस्याश्रितत्वात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' .ते.आन.१. 'आनन्दो ब्रह्म' .६. इति स्वाकारेणोपास्यत्वम् 'सच्चिदान-  
भवत्' .६. इत्यादिना भोक्तृशरीरकत्वेन भोग्यशरीरकत्वेन च । इह प्रतर्दनविद्यायामपि तस्य त्रैविध्यस्य र —  
अतः इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मा ॥

॥ इति वेदान्तटीपे इन्द्रप्राणाधिकरणं समाप्तम् ॥

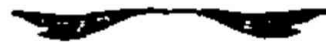
प्रथमपादश्च समाप्तः

## अथ अधिकरणसारावली

विद्या प्रातर्दर्ना सा वदति हिततमोपास्तिकमेन्द्रमेव  
ख्यातप्राणेन्द्रचिह्नान्वितमपि तदसौ विश्वकर्मतिचेन्न ।  
ब्रह्मत्रेधा ह्युपास्यं बहुविधाचिदचित्कञ्चुकं स्वात्मना च  
प्राणेन्द्रप्रकमोऽपि प्रचलतरमहावाक्यवैघट्यभग्नः ॥ १ ॥  
याद्विह्वं कारणैकस्थितमिति कथितं ज्योतिषीन्द्रे च तत्तु  
प्रख्यातान्यैकनिष्ठं प्रथममितमस्तन्मुखोत्थित्ययोगः ।  
अप्राप्ते तद्विमर्शे प्रकृतशिथिलता नेतिचेत्सत्यमेतत्  
विष्णुत्पत्त्यादिनीतिभ्रमत इह पुरोवादमुत्प्रेक्ष्य शङ्का ॥ २ ॥  
ज्योतिःप्राणेन्द्रशब्दाः परतरविषयाः कारणव्याप्तघर्मा-  
इत्येतत्साध्वमीपां बहुविह्वतिमती ख्यातमात्रेण वृत्तिः ।  
तत्कौश्लेयानिलात्मा कथित इह तथा ध्यानतस्तत्फलाप्त्यै  
मुख्यप्राणादिलिङ्गं तदुपहितपरोपासनान्मोक्षणाय ॥ ३ ॥  
कार्यं यत्कर्मवश्यं यदपि दृढमितं तन्निरुद्धैस्तु शब्दैः  
निर्दिष्टे ब्रह्मणि स्यात्काचिदगातहता रुढिरैन्द्रीनयेन ।  
तद्विह्वानन्यथासिद्धयधिगमनवलात्तद्विशिष्टे विवक्षा  
स्यादीशे ज्योतिरिन्द्राद्यभिलषनपदेऽहंत्वमादीरिते च ॥ ४ ॥  
स्वेच्छातस्सर्वहेतुदशुभगुणविभवानन्तनिस्सीमहर्षः  
शुद्धाकर्मोत्थनित्याकृतिरनुपधिकाकाशनादिस्वभावः ।  
सप्राणाप्राणभेदव्यतिभिदुरजगत्प्राणनो दिव्यर्दाप्तिः  
प्राणेन्द्राद्यन्तरात्मा प्रभुराधिकरणगणैस्सप्तभिः प्रत्यपादि ॥ ५ ॥

इति इन्द्रप्राणाधिकरणम्

प्रथमःपादस्समाप्तः



श्रीलक्ष्मीहयवदनलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ अथ प्रथमाध्याये द्वितीयपादे सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम् ॥

श्रीभाष्यम्

प्रथमपादे अधीतवेदः पुरुषः कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्मयाथात्म्यज्ञानः केवल-  
कर्मणामल्पास्थिरफलत्वमवगम्य वेदान्तवाक्येषुचापातप्रतीतानन्तरिथरफलब्रह्मस्वरूपत-  
दुपासनसमुपजातपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्षापेक्षोऽवधारितपरिनिष्पन्नवस्तुबोधनशब्दशक्ति-  
वेदान्तवाक्यानां परस्मिन् ब्रह्मणि निश्चितप्रमाणभावस्तदितिर्ष्येयत्तारूपशरीरकर्ममीमांसा-  
श्रवणमारमेतेत्युक्तं शास्त्रारम्भसिद्धये । अनन्तविचित्रस्थिरप्रत्यक्षमोक्तभोग्यभोगोपकर-

अथ सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

प्रथमे पादे इत्यादि । किमर्थमत्र प्रथमपादाधिकरणार्थानुक्रमणम् । उच्यते—पादानुयायिनोऽर्थस्य प्रत्यधिक-  
रणमनुयायित्वस्फुटीकरणाय । किमर्थमनुयायित्वकथनम् । त्रिपादीसङ्गत्यर्थम् रुद्धतिः कुतः ? सूत्रकाराभिप्रेतत्वात् पाद-  
भेदोद्धार्यमेदात् । तत्रैव रुद्धतिविशेषात् तत्र किं प्रमाणम् ? सम्प्रदायक्रमः । किंच अत्राधिकरणार्थानुक्रमणेन त्रिपाद्या  
अनारम्भणीयत्वशङ्काचार्यात् परिहृता भवति । त्रिपाद्यामुदाहरिष्यमाणानां श्रुतीनां प्रथमपादाधिकरणोक्तन्यायविषयत्व  
ज्ञापनार्थत्वादनुक्रमस्य ; अतएव प्रथमपादे वेदान्तवाक्यानां परमात्मपरवे दर्शितेऽपि त्रिपाद्या आरम्भणीयत्व सिद्धम् ॥

प्रथमे पादेऽपीक्षन्यानन्दमयाधिकरणयोः कारणस्य चिदचिद्वैलक्ष्ण्येसिद्धेऽपि पूर्वाधिकरणन्यायाविषयश्रुतिवाक्यार्थ-  
निर्णयार्थोत्तरोत्तराधिकरणारम्भः तद्वदत्रापीति । शास्त्रारम्भप्रयोजनायाश्चतुस्तथाः कथं प्रथमपादे सङ्गतिः । उच्यते—  
तस्याः शास्त्रारम्भार्थत्वेन शास्त्रोपादृष्टातरूपत्वादर्थनः प्रथमपादान्तं न नतु प्रथमपादस्य प्रथमाध्यायस्य वा असाधारण-  
त्वासङ्गतिः । प्रथमे पादे इति अधीतवेदः कृतसाङ्गसंशिरस्वाध्ययनः । तावत्पर्यवसानमाह—वर्मेति । तत्राप्यपर्य-  
वसानहेतुमाह—केवलेति । तथाऽपि ब्रह्मविचारप्रवर्तनक्षमापातप्रतीतिरेव न जायते सिद्धवस्तुनि व्युत्पत्त्यभावादिति  
शङ्काया प्रथमसूत्रस्य तात्पर्यमाह—अवधारितेति । तर्हि वेदान्तवाक्यैरेवालम् किमर्थो ब्रह्मविचार इत्यत्राह—तदतिकर्त-  
व्येति ॥

ननु चतुस्तुत्रीहि शास्त्रारम्भार्थं तत्र प्रथमाधिकरणार्थानुक्रमे शास्त्रारम्भसिद्धय इत्युक्तम् । जन्मादिसूत्रत्रय-  
स्यापि प्रथमाधिकरणाधीनारम्भवात्तथोक्तिः । न(वे)तु)तथा सूत्राणां शास्त्रारम्भार्थं वाभावात्, यद्वा जन्मादिसूत्रत्रयाः  
शास्त्रारम्भार्थं वे सत्यपि प्रथमपादे सङ्गतिरप्यस्ति चिदचिद्वैलक्षणकारणास्ति विषयवात्तस्याः । प्रथमपादोहि समस्त-  
चिदचिद्वैलक्षणकारणास्ति वनिरूपणपरः ; जन्मादिसूत्रे जन्मादिकारणं न लक्षणवृत्तम् कारणस्य प्रमाणान्तरासिद्धिः प्रयो-  
जनरताचानन्तरसूत्रद्वयेनाक्ते अत्र प्रथमाधिकरणार्थानुक्रमे शास्त्रारम्भसिद्धय इत्युक्तमिति । यद्वा शास्त्रारम्भसिद्धयइति  
पदमुत्तराधिकरणत्रये अनुषज्यते इति चतुस्तुत्रया शास्त्रारम्भसिद्धयर्थमुक्तं भवति । जन्मादिसूत्रार्थमनुक्रममिति अन-  
न्तेति । सौत्रस्यास्येति पदस्य विवक्षितमर्थमाह—अनन्तविचित्रादिविरेपै । अनन्तविचित्रशब्दो भोक्तृभोग्यसाधारणौ ।



## श्रीभाष्यम्

रणमोगस्यानलक्षणनिर्गलजगद्द्वयविभवलयमहानन्दैककारणं परं ब्रह्म 'यतोवा इमानि  
मूतानि(नै.भृगु.) इत्यादिवाक्यं बोधयतीति च प्रत्यपादि । जगदेककारणं परं ब्रह्म सफले-  
तरप्रमाणाविपतया शारङ्गप्रमाणकमित्यभ्यधाम शारङ्गप्रमाणकत्वं च ब्रह्मणः प्रवृत्तिनि-  
घृत्यन्वयविगतेऽपि स्वरूपेणैव परमपुरुषार्थभूते परस्मिन् ब्रह्मणि वेदान्तवापयानां समन्व-  
याधिकृत इत्ययम् । निर्गलजगदेककारणतया वेदान्तवेद्यं ब्रह्मवेदनाद्यन्वयादानुमानिक  
प्रधानादर्थान्तरभूतश्चेतनविशेष एवेत्युपाधीपदाम । सच स्वाभाविकानवधिकातिशया-  
नन्दप्रतिपक्षित्यनिर्गलचेतनमयाभयहेतुत्वसत्यसङ्कल्पत्वमस्तचेतनाचेतनान्तरात्मन्यादि  
मिर्मदमुक्तोभयायम्याजीवन्नान्दामिलपनीयाद्यर्थान्तरभूत इति च समार्तिथामहि ॥

सच्चाप्राप्ताकर्मनिमित्तत्वासाधारणदिव्यरूप इत्युद्देरिरामे । 'आकाशप्राणाद्यचेतन  
विशेषाभिधानिर्मिर्जगत्कारणतया प्रतिद्वयप्रतिदिश्यमानमसकलेतरचेतनाचेतनविलक्षणस्स  
एवेति समगरिष्महि । परतत्वासाधारणनिरतिशयदीप्तिरुक्तज्योतिश्शब्दामिधेयो घुस-  
म्वन्धितया प्रत्यभिज्ञानात्स एवेत्यातिष्ठामहि । परमकारणासाधारणासृत्तत्वप्राप्तिहेतुभूतः  
परमपुरुष एव शास्त्रदृष्ट्येन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इत्ययमहि । तदेवमतिपतितसफलेतरप्र-  
माणमम्भावनाभूमिस्सर्वशयसत्यसङ्कल्पत्वाद्यपरिमितोदाग्गुणसागरतया स्वेतरसमस्त-  
वस्तुविलक्षणः परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण एव वेदान्तवेद्य इत्युक्तम् ॥

अतः परं द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु पादेषु यद्यपि वेदान्तवेद्यं ब्रह्मैव, तथाऽपि कानिचि-

## श्रुतप्रकाशिका

महानन्दैककारणत्वं 'तद्विजिज्ञासस्व' इति वाक्याभिप्रेत तापत्रयादुरजिज्ञास्यन्वाहि लक्षण निरूपितम् अतो महानन्दै-  
ककारणमि युक्तम् ॥

यद्वा 'यत्प्रयन्ति' इत्यस्यात्यन्तिकत्वपर्यन्तत्वाभिप्रायेणोक्त महानन्देति 'येऽयं प्रेते' 'नप्रेत्य' इति चात्य-  
न्तिकल्योहि प्रायेण श्रुतः । अन्विकृद्विशेषणभेदा न विशेष्यभेदावह इत्यभिप्रायेणकशब्दप्रयोगः । निमित्तोपादानैक-  
त्वमभिप्रायेण वा शास्त्रेति । समन्वयात् परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपादकतया शास्त्रस्य तेनान्वयात् सचेत्यादि ।  
स्वाभाविकानवधिकातिशयशब्दो प्रतिविज्ञापणसमन्वितौ । आकाशप्राणाधिकरणार्थयोः पृथगनुक्तिन्यायस्यानातिभिन्नत्वात् ।  
परमेति । परमकारणस्यासाधारण-तस्य प्रदेयत्वेनासाधारणमसृत्तत्वं तत्प्राप्तिहेतुरित्यर्थः । यद्वा परमकारणस्यासाधारण  
चिद्भूतमित्यर्थः । उपासकस्यासृत्तत्वप्राप्तिरूपस्य परमकारणत्वमावेदयतीति । यद्वा परमकारणासाधारण तद्धर्मभूतमसृ-  
त्तत्वं तत्प्राप्तिः परमसाध्यावतिगित्यर्थः । पदार्थमाह-तदेवमिति । 'पुरुषवादसदादि'वादित्यादिकुतर्कपरिहारार्थमाह-  
अतिपतितेति । तेषां चर्मिग्राहकाननाय इति भावः । ज्योतिराधिकरणार्थमभिप्रायः पुरुषोत्तमशब्दः । प्रतर्दनविद्याभि-  
प्रायो नारायणशब्दः 'मासुपास्व' इत्यस्यापि नारायणानुवाकैकेन सर्वविद्योपास्यतयोक्तनारायणोपासनपरत्वात् । चि-  
दचिद्विलक्षणकारणास्तित्वं पादानुगतार्थइत्यर्थः । नारायणएवेत्यवधारणाक्षेपेण द्वितीयादिपादोपधानमित्यभिप्रायेणाह-  
अतःपरमिति । द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्विति । प्रथमपादस्य न केवलमनन्तरपादेन सङ्गतिः ॥ अपितु  
निषाद्येवेतिभावः । यथा चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इत्यत्र चोदनेव प्रमाणम् प्रमाणमेव चोदनेत्यवधारणद्वयं ।  
तत्र प्रमाणमेव चोदनेत्यवधारणमौचित्यसूत्रं साधितं चोदनेव प्रमाणमित्यवधारण प्रत्यक्षसूत्रे स्थापितम् । तथ

## श्रीभाष्यम्

प्रेषान्तर्वाक्यानि प्रधानक्षेत्रज्ञान्तर्भूतघस्तुविशेषस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेदेत्याशङ्क्य तन्नि-  
रसनमुखेन तत्तद्वाक्योदितकल्याणगुणाकरस्य ग्रहाणः प्रतिपाद्यते । तत्रास्पष्टजीवादिलिङ्ग-  
कानि वाक्यानि द्वितीये पादे विचार्यन्ते । स्पष्टलिङ्गकानि तृतीये ; तत्तत्प्रतिपादनच्छाया-  
नुसारीणि चतुर्थे ॥

## सू-१ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् [१-२-१]

इदमाज्ञायते छान्दोग्ये-‘ अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिलोके पुरुषोभवति  
तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं पुर्ध्नात मनोमयः प्राणशरीरो भारुपः ’ (छां.३.१४.१) इत्यादि

## भूतप्रकाशिका

जन्मादिसूत्रेऽपि ब्रह्म कारणमेव ब्रह्मेव कारणमित्यवधारणद्वयमपि विवक्षितम् । जन्मादिकारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणत्वात्, स्थ-  
णस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवपरिहारावश्यकत्वात् तत्र व्यक्तेरन्याध्याव्याप्तिः असम्भवपरिहाररूपायोगव्यवच्छेदः प्रथम-  
पाद उक्तः । अतिव्याप्तिपरिहाररूपाव्ययोगव्यवच्छेदाल्लिपाया क्रियत इति विभागाभिप्रायेण कानिचिद्वेदान्तवाक्यानीत्या-  
शङ्कम् । तत्तद्वाक्योदितकल्याणगुणाकरस्य ग्रहाणः प्रतिपाद्यत इति । चिदनिर्दिष्टलक्षणस्वरूप साधितम् । अथ तस्य  
गुणविशेषप्रतिपादनं त्रिधायां क्रियत इति च प्रथमपादत्रिधाचोर्धिभाग इति भावः ॥

पादत्रयस्यावान्तरभिदामाह-तत्रेति । अस्पष्टत्वादिवैषम्यं ब्रह्मलिङ्गगतमिति परैरुक्तम् अत्र तु जीवादिलिङ्गगत-  
मिति भिदा । द्वितीयतृतीयपादाच्चाधिकरणयोर्जीवस्य पूर्वपादितत्वात् जीवादियुक्तम् । तत्तत्प्रतिपादनच्छाया अनुसा-  
रीणि चतुर्थेति । तत्तत्प्रतिपादनं जीवादिलिङ्गप्रतिपादनं, न तादृङ्गप्रतिपादनम् अस्पष्टस्पष्टस्पष्टतरपूर्वपक्षोऽथानेह-  
भेदेन भिन्नाख्यः पादा इत्यर्थः । प्रथमपादचर्माधिकरणे अवयवभूतोपक्रमगतजीवल्लिङ्गमन्याविभूतयावयवार्थस्वारस्येन  
वाधितमित्युक्तम् । सर्वतादात्म्यमनःप्राणसम्बन्धमार्गकोकवाणीरव्यपदेशरूपलिङ्गानां वयदिरत्वेनावाच्यमिति प्रत्य-  
क्षस्थानं परिह्रियते द्वितीयपादप्रथमाधिकरणे इत्यवान्तरसङ्गतिः ॥

## सू.१-सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् (१.२.१)

‘ सर्वखलु ’ इत्यादेर्द्वितीययोजनायामुदाहरिष्यमाणत्वात् प्रथमयोजनापेक्षित ‘ अथ खलु ’ इत्यादिकमुपात्तम् ।  
द्वितीयसूत्रे ‘ भारुपः ’ इत्यस्योपरितनवाक्यस्योपादास्यमानत्वात् अत्र ‘ भारुप ’ इत्यन्तमुपात्तम् आदिशब्देनान्यद्वद्भीत  
अत्र तान्निसन्न्यायेन मनोमय उपास्यतया सन्न्यते, आर्धवादिकस्यापि विध्यपेक्षितस्य स्वीकार्यत्वात्, ननु ‘ स क्रतु  
कुर्यात् ’ इत्यादिकमुपादीयतां किमर्थं ‘ यथाक्रतुरस्मिन् ’ इत्यादिवाक्योपादानम् । उच्ये-‘ फलवत्सन्निधावफल  
तदङ्गम् ’ इति न्यायेन ‘ स क्रतुं कुर्यात् ’ इति विधेः फलश्रवणनिमित्तं पूर्वविहितोपासनाङ्गत्वं माभूदिति फलसम्बन्ध  
प्रदर्शनार्थं तदुपादानम् ‘ शान्त उपासीत ’ इति विहितोपासनाधिकृतस्यैवोपासनान्तरविधानमनुपपन्नमिति शङ्काव्यावृ-  
त्त्यर्थम् ‘ अथ खलु क्रतुमयः पुरुष ’ इति वानयं घटकत्वेनोपात्तम् । जीवस्य बहुविधोपसनप्रचुरवादनैकोपासनविधान  
कमिति भावः, अत्र व्याख्यान्तरेः ‘ सर्वखलु ’ इति वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं स्पष्टमिति बुद्ध्वा ‘ स क्रतुम् ’ इत्यादि

## श्रीमाप्यम्

तत्र 'स क्रतुं कुर्वीत' (छां.३.१४.१) इति प्रतिपादितस्योपासनस्योपास्यः 'मनोमयः प्राणशरीरः' (१.१४.१) इति निर्दिश्यत इति प्रतीयते । नत्र संशयः किं मनोमयत्वादिगुणकः क्षेत्रज्ञः ; उत परमात्मा-इति । किं युक्तम् ? क्षेत्रज्ञ इति । कुत ? मनःप्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वात्, 'अप्राणो ह्यमना' (मु.१.२.१) इति तत्प्रतिषेधाच्च । न च 'सर्वं सत्त्विदं ब्रह्म' (छां.३.१४.१) इति पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्रोपास्यतया सम्यङ् शक्यते, 'शान्तउपासीत' इत्युपासनोपकरणशान्तिनिर्वृत्युपायभूतब्रह्मात्मवत्त्वोपदेशोपात्तत्वात् । न च 'स क्रतुं कुर्वीत' (३.१४.१) इत्युपासनस्योपास्यसाक्षात्त्वाद्वाक्यान्तरस्थं पि ब्रह्म सम्बध्यत इति

## श्रुतप्रकाशिका

वाक्ययोजोविषयत्वेन पूर्वपक्ष कृ वा ब्रह्मविषयत्वेन सिद्धान्त उक्त इह तु विषयैक्ये स्थित एव पूर्वपक्षसिद्धान्तौ पश्चादभिधास्येते । प्रथम व्याख्ययन्तरोक्तदिशा पूर्वपक्षसिद्धान्तावुपवर्ण्येते ।

नन्वत्रोपासनान्तरं विधिसितम् पूर्वविहितापासनङ्गभूतक्रतुविधिपरत्वादस्य वाक्यस्य । ततश्च मनोमयादिपदान्युपास्यान्तराभावात् प्रकृतब्रह्मपराणीति निश्चयान्नविचारविषय इति शङ्का न्युदस्यति । अत्रेति । मनोमयादिपदानां प्रकृतोपास्यविषयत्वे प्रमाणाभावात् ब्रह्मपरवानिश्चयात् 'सक्रतुम्' इति निर्दिष्टोपासकविशेषणवाश्रयणे तस्यानाविर्भूतगुणाष्टकस्य सत्यसङ्कल्पत्वादेरघटमानत्वाच्च, पाश्चात्यविद्यान्तरापास्यपरत्वनिश्चये सति तद्विशेषनिश्चयाभावाद्विचारस्याप्रभणीयत्वमित्यर्थः । उपासनस्येति पदेन 'त यथायथोपासते तथैव भवति' 'यथा क्रतुरास्मिंलोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति' इत्यनयोर्वाक्ययोरैकार्थ्यात् 'क्रतुं कुर्वीत' इत्यत्र क्रतुशब्दश्चोपासनपर इति तदुपास्य मनोमयवादिगुणके संशय इति भावः । तत्रेति । 'सक्रतुं कुर्वीत' इत्यत्रोपास्यतया निर्दिष्टा मनोमयवादिगुणकः किं जीवः ? उत परमात्मेति विचारः तदर्थं कर्मकर्तृव्यपदेशशब्दविशेषोपासहारगतब्रह्मशब्दादयः किं मुख्या उतामुख्या तदर्थं किं ? मनोमयवादिक जीवस्यैव संभवति उत परमात्मनोऽपि घटत इति । तदर्थं 'अप्राणो ह्यमना' इति किं मनोआदिसंबन्धमात्रनिषेधः उत संबन्धविशेषनिषेध इति । यदा सम्बन्धमात्रनिषेधः तदा मनोमयवादेर्जीवासाधारणतया कर्मकर्तृव्यपदेशादीनाममुख्यत्वेन 'स क्रतुं कुर्वीत' इति विहितोपासनस्योपास्योपजीव इति पूर्वपक्षस्यति यदा संबन्धविशेषनिषेधः तदा मनोमयत्वादेः परस्मिं संभवनं कर्मकर्तृव्यपदेशादीनां मुख्यवात्तत्रोपास्यतया विहितं परमात्मेति सिद्धाते फलफलभावः । पूर्वपक्षमुपपादयति कुनइत्यादिना ॥

ननु कथमस्य पादस्यास्पष्टजीवल्लिङ्गवाक्यविषयः मनोमयवादिर्वाह स्पष्टजीवल्लिङ्गमिति च त्रस्य स्पष्टस्य मनससंबन्धमात्रस्य जीवल्लिङ्गत्वाभावात् जीवल्लिङ्गभूतस्योपकरणोपकरणि वलक्षणसम्बन्धविशेषस्यास्पष्टवाक्येति प्रत्येकं मनःप्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वादित्युक्तम् । ननु 'सर्वं सत्त्विदं' इति वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मैव 'सक्रतुं कुर्वीत' इत्यत्रोपास्यतया सम्बन्धमनोमयत्वादिगुणानां विशेष्यस्यादिति शङ्कायां किं ब्रह्मशब्दस्य विधिपदाकाङ्क्षया चरन्त्यान्वयः, उत 'क्रतुं कुर्वीत' इति विधिपदस्योपास्यसाक्षात्त्वात् सन्निहितानां मनोमयादिपदानां विशेष्यसाक्षात्त्वाच्च, ब्रह्मशब्दस्योत्तरना वय इति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमं शिरो दूषयति नच सर्वमिति । अन्यार्थतया निराकाङ्क्षवादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति नच सक्रतुमिति स्ववाक्योपात्तेनेति विच्छेदकाभावात् महावाक्यैक्यं विवक्षितम् ततश्च 'एष आत्मा' इति स्वयं वक्ष्यमानना यार्थेन समानलिङ्गेनामशब्देन विशेष्यसाक्षात्त्वाशमनात् वाक्यान्तरस्यान्यार्थमिन्नलिङ्गब्रह्मशब्दाकषो न युक्त इति भावः । प्रथमा

## श्रीभाष्यम्

शुक्लं वक्तुम्, स्ववाक्योपात्तेन मनोमयत्वादिगुणत्वेन निराकाङ्क्षत्वात् ; ' मनोमयः प्राण शरीरः ' (शं.१.४.१) इत्यनभ्यर्थतया निर्दिष्टस्य भक्तिविपरिणाममात्रेणोभयाकाङ्क्षानिवृत्तिरिति । एवं निधिमे जीयते ' एतद्वत् ' (३.१.४.१) इत्युपसंहारस्य प्रत्ययपदमपि जीय एव पूजार्थं प्रयुक्तमित्यध्ययनीयत इति ॥

परं प्राप्ते पुनः—' सर्वत्र प्रतिज्ञोपदेशान् ' मनोमयत्वादिगुणदः परमात्मा । पुनः ? सर्वत्र वेदान्तेषु परस्मिन्नेव प्रत्ययि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात् । प्रसिद्धं हि मनोमयत्वादि प्रमाणः । यथा-मनोमयः प्राणशरीरनेता ' (मु.२.२.७) ' स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्यमयः ' (नं.शिखायवल्यां.६.३) ' हृदा मनीषा मनसामिफलसो य एनं विदुरमृताम्ने भवन्ति ' (नं.नागयण.३) ' न चक्षुषा शृणो नापि वाचा ' (मु.३.१.८) ' मनसा तु विशुद्धेन (३.१.८) तथा ' प्राणस्य प्राणः ' (वेनो प.१.२) ' अथ प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति (को ३.२) ' सर्वाणि ह्याह-

## श्रुतप्रकाशिका

ज्ञानां मनोमयादिपदानामुपासनवाचिपदेनान्वयायोगात् ब्रह्मपदमन्वेतद्व्यमित्यत्राह—मनोमयइति । ऋतुशब्देन द्वितीयाकारपदस्याभ्यनन्वयात् पठ्यन्ततया विभक्तिविपरिणामे कार्ये सन्निहितस्य साक्षात्स्यैव पदस्य विभक्तिविपरिणामो न्यायः । ननु वाक्यान्तस्य निराकाङ्क्षेत्यर्थः उभयाकाङ्क्षा मनोमयादिपदस्य ' वक्तुं कुर्वीत ' इत्यस्यैवाकाङ्क्षा । न वक्तुं युक्तमिति पञ्चम्यन्वयः । मनोमय यादि च सत्यसङ्कल्पत्वात् पूर्वमेव प्रतिपन्नम् अणीयस्य च व्यापकत्वात् पूर्वश्रुतव्यतिरेकनिर्देशश्च मनोमयत्वादः पाश्चात्त्यः अतो मनोमयत्वादिस्यारस्यानुगुणमित्यन्वेयं तस्मिन् प्रयेत्तेन मनोमयत्वादिमुणकेनेति जीवपरत्वे ब्रह्मशब्दः कथमित्यत्राह—एवमिति ॥

एव प्राप्तइति । प्रतिज्ञावाक्यमभ्याहरति मनोमयत्वादीति सत्यसङ्कल्पत्वादिपिशेषिप्रादरणिक्वा मशब्दानुशेषेन परमात्मैक्युक्तम् । सर्वत्रेति व्याख्येय पदम् । तद्व्याचष्टे वेदान्तेष्विति । सामान्यशब्दद्वयं विशेषशब्दव्युत्पत्तिं भावः । हतुपद व्याचष्टे प्रसिद्धस्येति । ननु वेदान्तेषु परतत्परतया प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दभ्रमणादिति परैर्याख्यात तन्मतन व्याख्यानं सत्यपि तद्विहाय कथं युक्त्यन्तरोक्तिः उच्यते—पूर्ववाक्यस्य ब्रह्मशब्दान्वयस्योपसंहारस्य ब्रह्मशब्दद्वैतस्य सत्यं पूर्वाश्लिष्टत्वात्तथोत्तरं वक्तुं युक्तमिति भावः । मनसामान्येन सन्नसामान्यपर वाक्यमाह—मनोमयः प्राण शरीरनेतेति । अमृतो हिरण्यमय इति परमात्मपरत्ववैशद्यायोपात्तम् । मनसामान्येन सन्नसामान्यपर वाक्यमाह—हृदामनोनेतेति । हृदेति भक्तिरूप्यते मनीषेति धृतिः ' न सन्देहो तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् ' इति पूर्वाधमेन रूपं पठित्वा ' भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यतीह ' इति महाभारत उक्तत्वात् । अभिक्लृप्तः ग्राह्यः मनोविशेषेण सन्न-धविशेषवाचिवाक्यमाह—न चक्षुषेति । प्राणशरीरं वे श्रुतिमाह—तथेति । प्राणस्य प्राणः आधारः ' सर्वाणि ' इत्यादिवाक्यं प्राणशब्दस्य यौगिकवृत्त्या परमात्मपरत्वं प्रागुक्तम् । इदानीमपर्यवमानवृत्त्याऽपि परमात्मपरत्वेन तद्व्याख्यानमुपात्तम् । वैश्वानराधिकरणन्यायेनोभयथाऽपि परमात्मपरत्वं युक्तमिति भावः ॥

अत्र वाक्यज्ञाते प्रतिपन्नं मनोमयत्वादिशब्दार्थमाह—मनोमयत्वमिति । ग्राह्यमाह कलक्षणसम्बन्धविशेषार्थाप्रायेण मनोमयइत्युक्तमित्यर्थः प्राणशरीरशब्दार्थमाह—प्राणेति । मनोविकारो मनोमयः सर्वविकाराणां ब्रह्माधिष्ठानत्वात् ब्रह्म



### श्रीभाष्यम्

मानि भूतानि प्राणतेजानि संप्रिशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते ' (छां.१.११.५) इत्यादिषु । मनोम-  
यत्वं विमुक्तं मनसा ब्राह्मण्यं प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वं च ॥

एवं च सति ' एषम आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्म ' (छां.३.४.१४) इति ब्रह्मशब्दोऽपि  
मुख्य एव भवति । ' अप्राणो ह्यमनाः ' (मु.१.१.२) इति मन आयत्तं ज्ञानं प्राणायत्तां स्थितिं  
च ब्रह्मणो निषेधति ॥ अथवा ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपार्सीत ' [छा.३.  
१४.१) इत्यत्रैवोपासनं विधीयते-सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तस्सद्गुपासीतेति । ' स क्रतुं कुर्वीत '  
इति तस्यैव गुणोपादानार्थोऽनुवादः । उपादेयाश्च गुणा मनोमयत्वादयः यतस्सर्वात्मक

### श्रुतप्रकाशिका

समानाधिकरण्यमिति कैश्चिदुक्तम् तदाहि मनोविकारस्तुल्यदुःखद्वेषादयो ब्रह्मे युक्त स्यात् तदुक्तम् एतद्ब्रह्म वा  
दिकत्याणगुणप्रकरणविरोधात् । हेयगुणविशेषाणामुत्पत्तिरनुपपत्तेश्च । उक्तं हि ' यथा क्रतुरास्मिन्लोके पुरुषो भवति  
तथेत प्रेत्य भवति ' इति अतो हेयगुणापात्तिरेव फल स्यात् । प्राणप्रेयः शरीरमस्येत्यर्थश्चेत् प्राणशब्देन प्राणरूपव्यभि-  
धानं हिष्ठस्यात् प्राणश्च शरीरचास्येति समासो न घटते । प्राणशरीरे यस्येति व्याघ्रवर-कुर्महिश्च हिष्ठ-अतो न हेतु  
एवार्थ इत्यभिप्रायः—उपसहारस्वारस्यमाह—एवचेति । मनःप्रभृतिनिषेधवाक्यार्थमुक्तार्थाविरुद्धमह—अप्राण इति ।  
ब्राह्मब्राह्मकभावानियन्तृनियाम्य वादिरूपसन्धविशेषो विधेयः उपकरणोपकरणत्वलक्षणसन्धविशेषो निषेध इत्यभिप्रायः ॥

अथ स्वामिमनार्थयोजना कर्तुमारभते अथवेति । पूर्वस्या योजनाया सूत्रे प्रतिज्ञावाक्यस्याध्याहार्यं वादुपक्रमेण  
सहारगतत्रयशब्देकविषयत्वप्रतीतिस्वारस्येन भिन्नविषयत्वप्रतीतिपूर्वकपूर्वपक्षानुदयेनाधिकरणाभात्तं श्रवणमन्त्रभ्यामेव नि-  
ष्पाद्यायाः शान्तेरुपासननिष्पादकत्वस्य ' एवविच्छान्तः ' इति श्रुतिसिद्धवादस्यैव शान्त्युपायत्वेनोपासनविधानादर्श-  
नात् शान्तशब्दस्य शान्तिकामपरत्वास्वारस्यात् वृत्त्यनुरोधाच्चयमेव योजना समुचितेति भावः । अत्रैवोपासनविधीयत  
इति । अत्र शान्त्युपायोपासन उत्तरत्र मोक्षोपायोपासनमिति नायमर्थः, अपित्वैव मोक्षार्थोऽनन्तरं विधीयते इत्यर्थः ।  
शान्तशब्दार्थे स्वरसतो वदन्वाक्यार्थमाह—सर्वात्मकत्वमिति । नन्वाशसाया तद्वह विहितोऽयमिति भावः ॥

तर्हि ' स क्रतुं कुर्वीत ' इति किमुच्यत इत्यत्राह—सक्रतुमिति । के पुनर्विधेया गुणा इत्यत्राह—उपादेयाश्चेति ।

### अथ सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरणम्

### गूढार्थसङ्ग्रहः

पूर्वाधिकरणे (पूर्वपादान्त्यधिकरणे) आपाततः जीवब्रह्माभेदप्रतीतिकरप्रतर्दनविद्यावाक्य विचार जीवब्रह्माभेदो न वि-  
वाक्षितः । ' अध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यास्मिन् ' इत्यत्र तथा निर्णयात् ' विजानीहि ' ' उपास्व ' इति घातुद्वयार्थान्तश्रुतिसिद्धमे-  
शानाभिन्नमेवोपासनं विवक्षितमिति स्फुटं प्रतीत्या साविशेषजीवब्रह्मैव जीवभिन्न श्रुतितात्पर्यविषय इति निर्धारितम् ॥

अथ समानाधिकरणोपक्रमवाक्यघटितशाण्डिल्यविद्याया जीवभिन्नब्रह्मैवोपास्य विवक्षितम्, ' अध्यात्मसम्बन्ध-  
त्यत्र ' सम आमेति विद्यात् ' इति वाक्ये तात्त्विकभेदघटितसबन्धी परमा मैव विवक्षित इति निरूपितोऽर्थः । निष्पाद-  
न्यस्त एष ' म आत्मा ' इति वाक्य एव विवक्षित इति साधनेन स्थापयिष्यन् निर्विशेषविशेषविद्याभेद-प्रतर्दनशा-  
ण्डिल्यविवक्षित इति पक्षमपि व्युदस्यन् शाण्डिल्यविद्याप्रतिपादार्थं निश्चिनोति—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादित्यादिना । सर्वत्र

## गूढार्थसंग्रहः

प्रसिद्धोपदेशात् इत्यत्र सर्वत्रेति न वेदान्तपरं 'सर्वेखल्विति' विषयवाक्यविवरणरूपत्वादस्य सू-स्य श्रुतिघटकशब्दार्थस्य बुद्धिस्थस्य परित्यागानौचित्यात् । एतेन सर्वशब्दार्थभूतं ब्रह्मेति निष्पन्नम् । 'खल्विति प्रसिद्धार्थम्' इति सूत्रकाराशयः । अन्ययानामनेकार्थत्वात् । सामानाधिकरण्येन निर्दिष्ट ब्रह्मैव 'प्रसिद्धोपदेशात्' 'तज्जलान्' इति हेतुतः सर्वात्मकत्वोपदेशादित्यर्थः । प्रसिद्धाहि हेतुतया व्यपदिश्यते स्वतोपनिषत्सु ब्रह्मैव जगज्ज मलयास्थितिहेतुतया प्रसिद्धम् । 'यतो वा' इति श्रुतेः इति सोऽ, दीपेऽप्येवमेव । विवरणद्वयस्यायमाशयः । 'तज्जलान्' इति हेतुना ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वं श्रुतौ विवक्षितमिति स्पष्टम् । ब्रह्मणः जगज्जन्मादिकारणवतेन सर्वात्मकत्वचेत्युभयं प्रसिद्धम् । तेन जीवव्यावृत्तिः 'यथा मनि तिष्ठन्' 'यस्सर्वेषु भूतषु तिष्ठन्' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण सर्वत्राति समन्वयोक्तिः तत्रान्तर्यामितया विद्यमानस्यैव सर्वात्मकत्वमिति बोधनाय । तत्र 'एष त आत्माऽन्तर्यामी' 'स त आ मा अन्तर्यामी' इत्यभ्यासवत् अप्यापि 'एषम आत्माऽन्तर्हृदय' इति त्रिवारमभ्यासेनापि अयमर्थः दृढीक्रियते ॥

पूर्वयोजनाया मनोमयत्वादेः सर्वत्र प्रसिद्धिः या उक्ता 'न घटन इति 'अथवा' इति योजनान्तरम् । 'जन्माद्यस्य यतः' इति सूत्रयितुः जगत्कारणवाक्यानामेव प्राधान्यं तदर्थस्यैव प्रसिद्धिरिति च समनमिति स्फुटम् । उपादानोपादेयभावनिवन्धनाभेदोपपादकत्व कारणवाक्यानामेवेति पूर्वमेवोपपादितम् । अत्र श्रुतिरेव 'तज्जलान्' इति हेतुतः तत्स्पष्टं ब्रवीतीति उपपादननिरपेक्षमेव । भाष्येऽप्ययमर्थो विवक्षितः अतः व्याख्यात्रयेऽध्ययमेवार्थः । एतेन उपासनाविधावपि बीजे प्रदर्शित भवति शान्तिस्तु न प्रधानभूता उपासनाङ्गभूताहि सा । 'शान्तोदान्तः' इत्यादिश्रुत्यन्तरैकरस्याच्च । उपादानोपादेयभावनिवन्धनाभेदप्रतिपत्तौ सर्वत्र पारतन्त्र्यप्रतीतिरपि भवति । 'एषम आत्मा' इत्यभ्यासात् । एतेन राजकुमारनयोऽपि सूचितो भवति । शरीरे जीवपरयोः स्थितेरत्र विवक्षितत्वेन 'द्वासुपर्णा' इति श्रुत्यन्तरार्थस्याप्यत्राभिप्रेतत्वात् तस्याश्श्रुतेः उपनिषद्द्वयइव ऋक्संहिताया 'अस्य वामस्य' इति सूक्तेऽपि पाठेन तत्र 'इनोविश्वस्य' 'पाक न' 'तन्नोन्नशयः पितरं न वेद' इत्यादौ स्पष्ट राजकुमारनयोऽभिहितः । अयमर्थः पूर्वमेव (जि.अ.७६४.पु) अभिहितः । इमं चार्थं 'अर्मकौकस्वात्' इति सूत्रे सूचयिष्यति सूत्रकारः । तत्र 'अल्पोकस्वा'दित्यनभिधाय 'अर्मकौकस्वात्' इत्यभिधानेन 'पाक न' इति श्रुतिस्थपाकशब्दार्थः सूत्रकाराभिप्रेतः । 'पोतःपाकोऽर्मकः' इति कोशानुसारात् पाकशब्देऽर्मकवाची । अतः 'सर्वेखल्विदब्रह्म' इत्यत्रोपादानोपादेयभावविवक्षायाः सूचनेन राजकुमारनयस्य स्पष्टतया सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वोपासनविधावेव श्रुतितात्पर्यम् । इदं 'सर्वत्र' इति सप्तम्यन्तनिर्देशेन 'अर्मकौकस्वात्' इत्यत्रार्मकशब्देन च सूचितम् । सर्वत्रान्तर्यामितया स्थितिरेव 'सर्वं खलु' इत्यत्र विवक्षिता । उपादानोपादेयभावस्यान्तर्यामित्वगर्भत्वात् । 'एषम आत्मा' इति त्रिवारमभ्यासेनान्तर्यामिब्राह्मणे (२२)वार(२४)वारमभ्यासेन (का.पा.मा.पा) 'स त आत्माऽन्तर्यामी, एष त आत्मा अन्तर्यामी' इति सर्वत्रान्तर्यामितया स्थितेर्दृढीकरणात् । अतः 'सर्वत्रेति' पदं न वेदान्तपरम् अपितु श्रुतिघटकसर्वपदार्थपरमेव । 'तेनच उपासीत' इत्यत्रैव विधिर्विवक्षित इति निश्चीयते । अनोपासनाविध्यङ्गीकारेऽपि एतद्विहितोपासनानुवादेन मनोमयत्वादीनां गुणानां बहूनां विधानेऽपि नानुपपत्तिः । 'स क्रतु कुर्वीत' इत्यत्र विधिप्रत्ययान्तरश्रवणेन रेवत्यधिकरणगुदायेष्ट्यधिकरणन्यायाभ्या (१.२.१२.६.६.१) भावनान्तरविधानाङ्गीकारेण दोषवत् । तथाहि यथा अग्निष्टुथागकरणे श्रुते 'एतस्यैव रेवतीषु वारयन्तीयमग्निष्टोमसामकृ वापशुकमोह्येतनयजेत' इत्यस्मिन्वाक्ये प्राप्ताग्निष्टुथागानुवादेन अग्निष्टोमसामपतदुत्तरकालादीनामनेकविधोऽपि भावनान्तरविधानाङ्गीकाराद्यथा न वाक्यभेदः, यथा वा दर्शपूर्णमासयोः 'यस्य हविर्निरुत पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदियात् सत्रेधा तज्जलान् विमज्जेयमध्यमास्तानमये दात्रे पुरोडाशमष्टाक्षपाल

## श्रीभाष्यम्

ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः । तत्र सन्देहः किमिह ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मा निर्दिश्यते उत परमात्मा-इति किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यनिर्देशोपपत्तेः । सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् । ब्रह्मादिभावश्च प्रत्यगात्मनोऽनाद्यविद्यामूलकर्मविशेषोपाधिको विद्यत एव ; परस्य तु ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपहतपाप्मनो निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धस्य सम्स्तहेयाकरसर्वभावो नोपपद्यते । प्रत्यगात्मन्यपि क्वचित्क्वचिद्ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते । अत एव परमात्मा परं ब्रह्मेति परमेश्वरस्य क्वचित्सविशेषणो निर्देशः । प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्बृहत्त्वं च विद्यते 'सचानन्त्याय कल्पते' (श्वे. ५. ९) इति श्रुतेः । अविदुषस्तस्यैव कर्मनिमित्तत्वाज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते । तदयमर्थः-अयं जीवात्मा स्वतोऽपरिच्छिन्नस्वरूपत्वेन ब्रह्मभूतस्सन्ननाद्यविद्यया देवतिर्यङ्मनुष्यस्यावरात्मनाऽवतिष्ठते इति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

उपादेयाः विधेया । यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति होमे विहिते 'दध्ना जुहोति' इति दध्ने होमसाधनत्वमात्रविधेयं जुहोतीत्यनुवादः तद्वदिति ॥

ननूपासनविधेरुपपत्तिश्चिष्टसर्वात्मकवगुणावराधा-मनोमयवादीनां नोपास्याकाङ्क्षवमिति चेन्न सर्वात्मकवस्योपासनविधिवाक्यस्य ग्रामात् । तज्जन्तस्तदनुदानवैत्सर्ग्यमिदं ब्रह्मत्वाच्च निःप्रसिद्धत्रनिर्देशोपासनविधेरुपपत्त्येव निवारयति नष्टुपासीत सत्विति प्रसिद्धत्रनिर्देशवचनव्यतिरिक्तते । वाक्यार्थमाह-अत इति । एवमेकविषयत्वमङ्गीकृत्यैव पूर्वपक्षसिद्धान्तौ दर्शयितुं शक्यमाह-तत्रेति । तत्र एकविषयत्वे सिद्धे किमत्रोपास्यतया निर्दिष्टो जीवः । उत परमा मेति विचारः, तदर्थं किं ब्रह्मशब्दो जीवपरः ? उत परमात्मपरः तदर्थं किं ब्रह्मशब्दकर्मकर्तृव्यपदेशादयो मुख्या, उतनेति तदर्थमणीयस्त्वव्यपदेशः किं मुख्यवविरोधी उत न तदर्थमणीयस्त्वव्यायस्त्वया किं स्वाभाविक किमोपाधिकमिति । यदाऽणीयस्त्वस्व स्वाभाविक व्यायस्त्वमन्यथासिद्धं तदाऽणीयस्त्वस्य ब्रह्मशब्दादिमुख्याविरोधि वेन ब्रह्मशब्दस्य जीवपरवातुपास्यतया निर्दिष्टो जीव इति पूर्वपक्षस्थितिः, यदाऽणीयस्त्वमौन्येन व्यायस्त्वस्व स्वाभाविक, तदाऽणीयस्त्वव्यपदेशस्य ब्रह्मशब्दादिमुख्यताविरोधित्वाभावेन ब्रह्मशब्दस्य परमात्मपरवनाप्रोपास्यतया निर्दिष्टः परमा मेति सिद्धान्ते पक्षपक्षमात्रः । हेतुं विवृणोति सर्वशब्देति । ततः किमित्यपक्षाय जीवस्य सामानाधिकरण्योपपत्तिमाह-ब्रह्मादीति । ब्रह्मादिमात्रः चतुर्मुखादिभावः । अनादीति । अहितकर्मोपादनहतुरविद्या, तदेतुं कर्मेति बीजाङ्कुरादिनयादनादि । तस्यैवैत्यवधारणनूदिता परस्य सर्वभावानुपपत्तिं विवृणोति परस्येति । सर्वज्ञवाङ्मय जानाति सर्वशक्तिवान्निवारयितुं शक्नोति, नच ज्ञानशक्तयोऽसङ्काचः अविद्यामूलकर्मप्रिहात् अतो न सर्वभावरसम्भवतीति भावः । ब्रह्मशब्दः कथमित्यत्राह-प्रत्यगिति । तदुपपादयति अतएवेति । परमा मेति दृष्टान्ततयोक्तं यथा आत्मशब्दो जीवस्य साधारणं तद्वत् ब्रह्मशब्द इति भावः । प्रतिपात्ता परब्रह्माभ्युपगमेन वाक्यनिर्देशविचारपदादत्र पूर्वपक्षेण परमेश्वराभ्युपगमात् तदुपपत्तिः, आत्मशब्दस्य साधारण्यं युक्तं प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारण्यात् आप्नोतीतिह तदुपपत्तिः जगह व्याप्नोतीति, एवमुभयासाधारण्यं ब्रह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तमित्यत्राह-प्रत्यगात्मनश्चेति । कथं जन्मादिकारणं हेतुनयोच्यते हेतुनिर्देशो हि पूर्वप्रसिद्धयेश्च प्रसिद्धिश्च परमात्मविषय युक्तमित्यत्राह-अविदुष इति । जन्मादिहेतुवत्तदस्य, ब्रह्मत्वतु शुद्धस्य तस्य सर्वशब्दसामानाधिकरण्यं कथं घटत इत्यत्राह-तदयमर्थ इति ॥

## श्रीभाष्यम्

अत्र प्रतिविधीयते-‘ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ’-सर्वत्र ‘ सर्वखल्विदम् ’ (छां.३.१४.१) इति निर्दिष्टे सर्वस्मिन् जगति ब्रह्मशब्देन तदात्मतया विधीयमानं परं ब्रह्मैव न प्रत्यगात्मा । कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात्, ‘ तज्जलान् ’ (३.१४.१) इति हेतुतः ‘ सर्वे खल्विदं ब्रह्म ’ (३.१४.१) इति प्रसिद्धवदुपदेशात् । ब्रह्मणो जातत्वाद्ब्रह्मणि लीनत्वाद्ब्रह्माधीनजीवनत्वाच्च हेतोर्ब्रह्मात्मकत्वं सर्वं खल्विदं जगदित्युक्ते यस्माज्जगज्जन्मस्थितिलया वेदान्तेषु प्रसिद्धास्तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते । तच्च परमे ब्रह्म ; तथा हि ‘ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्यमिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म ’ (तै.भृ.१) इत्युपक्रम्य ‘ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्वैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ’ (तै.भृ.६) इत्यादिना पूर्वानुवाकप्रतिपादितानवधिकातिशयानन्दयोगिनो विपश्चितः परस्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पत्तिस्थितिलया निर्दिश्यन्ते ; तथा ‘ सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नः चाधिपः ’ (इवे.६.९) इतिकरणाधिपस्य जीवस्याधिपः परं ब्रह्मैव कारणं व्यपदिश्यते । एवं सर्वत्र परस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वं प्रसिद्धम् । अतः परब्रह्मणो जातत्वाच्चस्मिन् प्रलीनत्वाच्चेन प्राणनात्तदात्मकतया तादात्म्यमुपपन्नम् । अतस्सर्वप्रकारं सर्वशरीरं सत्त्वात्मभूतं परं ब्रह्म शान्तो भूत्वोपासीतेति श्रुतिरेव परस्य ह्यणस्सर्वात्मकत्वमुपपाद्य तस्योपासनमुपदिशति । परं ब्रह्म हि कारणावस्थं कार्यावस्थं सूक्ष्मस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा

## श्रुतप्रकाशिका

सिद्धान्तमाह-अत्रेति । यथा ‘ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ’ इत्यन्तःशब्दः प्रतिज्ञापरः, एवं सर्वमेति सूत्रपदं प्रतिज्ञापरमित्याह-सर्वत्रेति । तदेव पदं व्याचष्टे सर्वमिति । सर्वत्रेति पदं न वाचकवेदान्तपरम् अपितु वाच्यजगत्परमित्यर्थः नाशब्दमिति वा नेतर इति वा अन्य इति वा पूर्वपादादनुवर्तते अतः पर्यवसानलब्ध प्रतिज्ञापदं परं ब्रह्मैवेति ‘ न शरीरः ’ इत्यत्र वक्ष्यमाणमनुसंधायाह-न प्रत्यगात्मेति । प्रसिद्धोपदेशात् इति पदं व्याचष्टे तज्जेति । जगज्जन्मस्थितिलयानां तत्कृततादात्म्यस्य च प्रसिद्धत्वेनोपदेशादित्यर्थः इतिशब्देन हेतुतयोक्तत्वाज्जन्मादीनां प्रसिद्धत्वम् । प्रमाणोक्तस्यैव हि हेतुना तत्कृततादात्म्यस्य प्रसिद्धत्वम् एतदुक्तमिति । तत्स्पष्टयति ब्रह्मण इति । कारणत्वनिवन्धनतादात्म्यस्य चात्र प्रसिद्धत्वेनोपदेशः फलितः । प्रसिद्धत्वमस्तु ततः किमित्यत्राह-तच्चेति । प्रसिद्धं दर्शयति तथाहीति । ‘ यतो वा इमानि ’ इति वाक्यस्य जीवविषयत्वव्यावृत्त्यर्थमाह-आनन्दो ब्रह्मेति । आनन्दशब्दस्यानन्दमयपरत्वव्यक्तीकरणायाह-पूर्वानुवाकेति । वाक्यान्तरमाह-तच्चेति वाक्यान्तराणामप्युक्तार्थपरत्वात्तत्त्वात् तत्प्रसिद्धिमाह-एवमिति । श्रुत्यन्तरेष्वपि जन्मादिहेतुत्वकृततादात्म्यमप्यर्थसिद्धमित्याह-अत इति । तदात्मकतया तादात्म्यमिति । तदात्मकतयेति श्रुत्यन्तरविषयं तज्जव तदनन्तत्वं तज्जत्वेः श्रुत्यन्तरेषु तदात्मकत्वेनोपपादनादिह प्रतिपन्नमपि तादात्म्यमुपपन्नमित्यर्थः । चिदचिद्विलक्षणस्य कथं तादात्म्योपपात्तारित्यत्राह-अतस्सर्वेति । सर्वात्मकशब्दवैशद्याय सर्वशरीरमित्युक्तम् आकृत्यधिकरणस्यायेन प्रकारिपर्यन्ताभिधानासिद्धयर्थमाह-सर्वप्रकारमिति । श्रुतिरेव ‘ सर्वं खलु ’ इत्यादिश्रुतिरेव उपपाद्य ‘ तज्जलान् ’ इत्यंशेन कार्यकारणभावेन शरीरात्मभावेनोपपाद्येत्यर्थः । तद्ब्रह्मन्तर्भावरूपेण कृतस्य प्राणनस्य शरीरात्मभावोपेक्षयाच्चेन च तथोपपादितं भवति । स्थितेदशया हि शरीरात्मभावः, प्रत्ययावस्थायां ‘ एकमेवाद्वितीयम् ’ इति सर्वभेदशून्यत्वात्तदशरीरात्मभावसिद्धिरित्यत्राह-परं ब्रह्मैवेति । स्थितौ शरीरात्मभावोपपादनादुभयलिङ्गस्य ब्रह्मणः



## धीभाष्यम्

सर्वात्मभूतम् । एवंभूततादात्म्यस्य प्रतिपादने परस्य ब्रह्मणस्सकलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरत्वं न विद्यते, प्रकारभूतशरीरगतानां दोषाणां प्रकारिण्यात्मन्यप्रसङ्गात् । प्रत्युत निरतिशयैश्वर्यापादनेन गुणार्थेव भवतीति पूर्वमेवोक्तम् ॥

यदुक्तं जीवस्य सर्वतादात्म्यमुपपद्यत इति ; तदसत्, जीवानां प्रतिशरीरं भिन्नानामन्योन्यतादात्म्यासम्भवात् । मुक्तस्याप्यनवच्छिन्नस्वरूपस्यापि जगत्तादात्म्यं जगज्जन्मास्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तं न सम्भवतीति ‘जगद्द्वयापारवर्ज्यम्’ (शारी.४.४.१७) इत्यत्र दृश्यते । जीवकर्मनिमित्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिलयानां स एव कारणमित्यपि न साधीयः, तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वात् । अतः परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दामिधेयः । इममेव सूत्रार्थमभियुक्ता बहुमन्वते । यथाऽऽह वृत्तिकारः ‘सर्वं खल्विति सर्वात्मा ब्रह्मेशः’ इति ॥

## सू-२ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च [१-२-२]

## श्रुतप्रकाशिका

कारणावस्थायामपि विशिष्टत्वमर्थोऽसिद्धं मुख्यन्तरैः कण्ठोक्तं चेत्प्रमाणाय, सर्वदा विशिष्टत्वेत् कार्यकारणावस्थयोः को भेद इति शङ्कापरिहाराय सूक्ष्मशून्यचिदाचिद्वस्तुशरीरतयैव युक्तम् । ततः । कमुभयलिङ्गकत्वस्यैव तत्राह— एवंभूतेति ॥

जीवस्यैव सर्वतादात्म्यं पूर्वपक्षिणोक्तमनूय दूषयति । यदुक्तमित्यादिना । मुक्तस्य तत्सम्भवतीत्यत्राह— मुक्तस्येति । जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तमिति बहुमीहिः कारणत्वप्रयुक्तमित्यर्थः । जीवस्य कर्मद्वारा जगत्कारणत्वमनूय दूषयति जीवकर्मैति । तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीति । नहि कर्म जगतः कर्तृरूपनिमित्तमुपादानं च उभयमीश्वर एव । कर्म तु केवलं वैयर्थ्यहेतुः यथा घटादिनिर्माणस्य भोक्तृकर्मनिमित्तत्वेऽपि भोक्तृकर्मणा न कर्तृत्वमुपादानं वा कुलालमृत्पिण्डयोरपि तदुभयम् । नच ‘तज्जलान्’ इत्यत्र तच्छब्दस्य कर्मवाचित्वम् अतो न जीवस्य जगत्कारणत्ववृत्ततादात्म्यमस्ति यमिधायः । सूत्रार्थमुपसहरति अतइति । द्वितीययोजनोक्तार्थस्यैव साम्प्रदायिकत्वमाह— इममेवेति । ‘सर्वं खलु’ इत्यादिवाक्येन सर्वात्मतयोक्तं ब्रह्म ईशः परमात्मेत्यर्थः ॥

## सू= विवक्षितगुणोपपत्तेश्च [१-२.२]

## गूढार्थसंग्रहः

निरूपेत् ये स्वयिष्टास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधर्गैश्च येऽणिष्टास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरम्’ इति श्रुते वाक्ये वाक्यभेदापादकगुणात् ‘त्रीणि कर्माणि विधीयन्ते’ इति पूर्वपक्षीकृत्य द्रव्यदेवताविशिष्टभावनान्तरविधिपक्षस्वीकारेण वाक्यभेदपरिहारः तद्वत् अत्रापि ‘सर्वं खलु’ इति वाक्यविहितोपासनानुवादनं मनोमयत्वादिगुणविधायकवाक्ये गुणविधानेऽपि भावनान्तरविधानाङ्गीकारेणैव वाक्यभेदपरिहारोपपत्तिः । ‘विवक्षितगुणोपपत्तेश्च’ इति सूत्रे विवक्षितपदं तात्पर्यविषयीभूतार्थपरम् । तदुक्तं शाङ्करभाष्ये— ‘वक्तुमिष्टाः विवक्षिताः; यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुमिष्टाः विवक्षिताः’

## श्रीभाष्यम्

वक्ष्यमाणाश्च गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्तत्त्वसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामन्सर्वगन्धरसर्वरसस्सर्वदिग्भ्यात्तोऽवाययनावरः' (छां.३.१४.२) इति । मनोमयः-परिशुद्धेन मनसैकेन ग्राह्यः ; विवेकविमोक्षादिसाधनसप्तकानुगृहीतपरमात्मोपासननिर्मलीकृतत्वेन हि मनसा गृह्यते । अनेन हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया सकलेतरविलक्षणस्वरूपतोच्यते ; मलिनमनोभिर्मलिनानामेव ग्राह्यत्वात् । प्राणशरीरः जगति सर्वेषां प्राणानां धारकः प्राणो यस्य शरीरम् आधेयं विधेयं शेषभूतं च सप्राणशरीरः । आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वानि शरीरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तानीत्युपपाद्यिष्यते । भारूपः भास्वरूपः ; अप्राकृतस्वासाधारणनिरतिशयकल्याणदिव्यरूपत्वेन निरतिशयदीप्ति-युक्तइत्यर्थः । सत्यसङ्कल्पः अप्रतिहतसङ्कल्पः । आकाशात्मा आकाशावत्सूक्ष्मस्वच्छस्वरूपः ;

## धृतप्रकाशिका

विवक्षितत्वं वक्ष्यमानाविषयस्य अपौरुषेयवाक्यप्रतिपाद्यगुणानां पुरुषेच्छापूर्वकत्वायोगात् कथं विवक्षितत्वमिति शङ्काया विवक्षितपद व्याचष्टे वक्ष्यमाणा इति । विवक्षितानामेव वक्ष्यमाणत्वाद्विवक्षितशब्देन वक्ष्यमाणत्वं लक्ष्यतइत्यर्थः । 'सर्वखलु' इति प्रथमवाक्यपेक्षया वक्ष्यमाण ह्यनन्तरवाक्यगतगुणजातम् । निषेधवाक्यविरोधपरिहाराय सामान्य मनोमयशब्द विशेषवाक्यानुगुणं व्याचष्टे 'मनोमय इति । परिशुद्धेन मनसैकेनेति । 'अद्वक्षो वायुभक्षः' इतिवदवधारणगर्भ इत्येकशब्दस्य भावः, तच्च 'न चक्षुषा गृह्यते नापि घ्राणा, मनसा तु विशुद्धेन' इति श्रुत्यानुगुण्यात् विवृणोति विवेकेति । फलितार्थमाह—अनेनेति । कुतइत्यत्राह—मलिनेति । मलिनमनोग्राह्यव हेयार्हं वक्ष्यापकं अनो व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरित्युभयलिङ्गकत्वसिद्धिरिति भावः । मुक्तस्यापि विशुद्धमनोग्राह्यत्वं न संभवति मुक्तं स्वातन्त्र्येण गृह्णाति चेत् मनोऽशुद्ध ब्रह्मपर्यन्तत्वेन चेद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः विशुद्धमनोग्राह्यत्वमिति । प्राणशरीरशब्द व्याचष्टे जगतीति । प्राणशरीरशब्देन प्राणधारकव कथमवगम्यत इत्यत्राह—प्राणो यस्येति । शरीरत्वे सति कथमाधेयत्वादिकमित्यत्राह—आधेयस्येति । भारूप इति । ज्ञानस्वरूपइत्यर्थस्त्विति क्लिष्टः रूपशब्दो हि धर्मो ही भाशब्दो हि दीप्तिपरः दीप्तिधर्मकत्वं त्रिग्रहद्वारक 'आदित्यर्णतमस परस्तात्' 'रूपमवर्णम्' इत्यादिश्रुत्यैकार्थ्यात् इत्यभिप्रायेणाह—भास्वरूप इति । तद्विवृणोति अप्राकृत इति । सूक्ष्मस्वच्छस्वरूप इति । सूक्ष्मत्वं व्याप्त्यर्हत्वं, स्वच्छत्वं निर्मलत्वं,

## गूढार्थसंग्रह

संभवति तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोके हि यच्छब्दोऽभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमिदं युज्यते । यदनुपादेयं तद्विवक्षितमित्युच्यते तद्वदेदेऽपि उपादानत्वेनाभिहितं तद्विवक्षितं भवति, इतरद्विवक्षितम् । उपादानानुपादानेन वेदवाक्यतापर्यायापर्यायाभ्यामवगम्यते इति ॥

मनोमयत्वं जीवधर्मः ब्रह्मणः सर्वसत्त्वात्वात् ब्रह्मसत्त्वधर्मि भवतीत्यादि परयोजनाया मनसि निधाय—परिशुद्धेन मनसैकेन ग्राह्य इत्यादि । 'यथापि मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं मनः' (मै.उ) इत्यादिपर्यालोचने मनोग्राह्यव ब्रह्मणः कथमिति शङ्का संभवति । तथाऽपि मैत्रायणी-योपनिषदि 'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धम्' 'समासक्तं यथाचित्तं जन्तोर्विषयगोचरे । यद्येव ब्रह्मणि स्यात्तं को न मुच्येत बन्धनात् ॥' इत्यन्तेन इत्युपक्रम्य 'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निराशतस्यामनि यं सुखं भवेत् । न शक्यते

## श्रीभाष्यम्

संकलेतरकारणभूतस्याकाशस्याप्यात्मभूत इति वा आकाशात्मा ; रदयं च प्रकाशते ध-  
म्यानपि प्रकाशयतीति वा आकाशात्मा । सर्वकर्मा-क्रियत इति कर्म ; सर्वे जगद्यस्य कर्म  
वर्ता सर्वकर्मा सर्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्वकर्मा । सर्वकामः—काम्यन्त इति कामा.—  
मोग्यमोगोपकरणादयः ते परिशुद्धाः सर्वविधास्तस्य सन्तीत्यर्थः । सर्वगन्धः सर्वरसः—  
‘अशब्दमस्पर्शम्’ (कठ.१.३.१५) इत्यादिना प्राकृतगन्धरसादिनिषेधादप्राप्ताः स्वासाघा-  
रणा निरवशा निरतिशयाः कल्याणाः स्वमोग्यभूतास्सर्वविधा गन्धरसास्तस्य सन्तीत्यर्थः ।  
सर्वमिदमभ्यासः—उपतं रसपर्यन्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान् । ‘अभ्यासः’  
इति ‘भुक्ता ब्राह्मणाः’ इतियत्कर्तरि क्तः प्रतिपत्तव्यः । भवाक्की वाकः उक्तिः सोऽस्य ना-  
स्तीत्यवाकी । कुत इत्याह—अनादर इति अयातसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादररहितः  
अत एव भवाक्की अजल्पाकः

## श्रुतप्रकाशिका

सकलेतरकारणभूतस्याकाशस्येत्यनेन ‘आकाश एव तदोतं च प्रोतं च’ इति वाक्य स्मरितम् ‘अक्षरमभ्यरान्त  
धृतेः’ इत्यधिकरणन्यायादाकाशशब्दः प्रकृतिवार्त्ताति भावः । अन्यानापि प्रकाशयति स्वस्मै प्रकाशयतीत्यर्थः सर्वा  
वा क्रियेति । लौकिकैर्गोदकसकलक्रियाणां सद्धारककर्ताऽसौ । यद्वा सर्ववैदिकक्रिया आराधन यस्य ससर्वक्रिय इत्यर्थः ।

इ-उमाहुत्यव्यावृत्त्यर्थे सर्वकामपद व्याचष्टे काम्यन्तइति । मोग्यमोगोपकरणादीनां प्राकृतव्यावृत्त्यर्थमाह—  
ते परिशुद्धा इति । अप्राकृता इत्यर्थः सत्यकामपदैकार्थ्यादित्यभिप्रायः । सर्वगन्धइत्यादि । रूपस्पर्शादिनिषेधपरवाक्या-  
न्तराणामपि तुल्यन्यायत्वेनोक्तनाथे आदिशब्दः । गन्धरसादीनामव्यवधानेन स्वरूपाव्यवधानमावात् सद्धारकत्वेति प्रा-  
कृतानां पृथिव्यादिगतगन्धरसादीनां हेयत्वेन कल्याणगुणप्रकरणविशेषात् । ‘भारूपः’ इति दिव्यदिग्रहस्य प्रकृतवा-  
चाप्राकृतदहद्वारकगन्धरसादिविधित्यर्थः ‘तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति ब्रह्मरसः प्रविशति’ इति मुक्ता मनि साभ्याप्ते  
ब्रह्मगन्धरसप्रवेशव्यपदेशश्चास्यार्थस्योत्तमभक्तः सर्वमिदमिति । जगतोऽपि सर्वकर्मादिगुणान्तर्भावात् गुणपरं तद्व्याख्यातम्  
‘अभ्यासः’ इत्यत्र स्वीकरणरूपगुणविधिः ॥

ननु नायमादिकर्मणिक्तः गुणगणादानस्य नित्यत्वात् नचाभ्यासदाविर्गत्यर्थः स्वीकरणार्थत्वात् । नाप्यकर्मकः  
सर्वमिदमिति श्रवणात् । नच शिष्टादिध्वन्यतमः अपठितत्वात्, त कथं कर्तरि क्तः ‘तयोरेव कृत्यत्तफलक्ताः’ इति  
भवाकर्मणोरेवहि तत्सरणमित्यत्राह—भुक्ता तति । प्रयुक्तानुशासनत्वात् व्याकरणशास्त्रस्य यथाप्रयोगमनुशासन कार्यं  
ननु यथाऽनुशासन प्रयोगान्यथाकरणमिति भावः यत्तु मुक्ता ब्राह्मणा इत्यत्र मन्वर्थायाकारप्रत्ययेतिच्छित्ते तेषां भुक्त  
शब्दस्याशब्दादिगणान्तर्भावकल्पन, आकारप्रत्ययणमिति तत्र गौरव पश्यतोक्तं कर्तरि क्तं कर्त्रर्थतया प्रयोग एवहि भुक्ता  
दीनामाकृतिगणान्तर्भावकल्पनानिमित्तं तेनैव कर्त्रर्थत्व क्तप्रत्ययस्य कल्प्यता किमभ्युपगमाकारप्रत्ययेनेति भावः, यद्वा कर्तरि  
प्रतीतिः प्रतिपत्तिः सा यथा मुक्ता ब्राह्मणा इत्यत्र प्रतिपाद्यते निरूप्यते एवमत्रापि निबोधयेत्यर्थः । सो-स्य नास्ती  
त्यवाकीति । फलितार्थकथनमतत् वाकः उक्तिः भवाक्, तदभावः भवाकोऽस्यास्तीत्यवाकशब्दात्तद्विप्रत्ययः । यद्वा  
वाक्की न भवतीत्यवाक्की कुतइत्याह कुतइत्यत्रोहेत्यर्थः । अवाकत्व वाकसामर्थ्याभावादिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमनादर इति  
पदमिति भावः । तदुपपादयति अचाप्तेति । अवाकत्वस्य तत्फलतामाह—अतएवेति । निषेधोऽवाको हेयरूप इति दर्श  
येति अजल्पाकइति । सापेक्षत्वेन निबन्धनबहुप्रलापो निषेधः ननु वाकसामर्थ्याविरूपइत्यर्थः । पदद्वयमप्रतिपाद्योऽयमेक

‘अनुपपत्तेस्तु न शरीरः’ इत्यत्र यदुक्तं परैः जीवपरयोरेक्याजीवधर्मैः परस्य विशिष्टत्वा अनुसन्धानोपपत्तिश्चेत् तदनन्वयादेव परमात्मधर्मास्त्यसङ्कल्पत्वादयोऽपि जीव उपपद्यन्ते इति शङ्कानिरासार्थमिदं सूत्रम् । आरोग्यगतधर्मैरधिष्ठानं विशेष्यते यथा सर्पगतमीषणत्वादिना तदधिष्ठानं न चाधिष्ठानधर्मैराप्य विशेष्यते यथा रज्जुवेन सर्पः अतो जीवधर्मैर्मनोमयत्वादिभिः परमात्मनो विशेष्यत्वमुक्तम् ननु परमात्मधर्मैस्त्यसङ्कल्पत्वादिभिर्जीवस्य विशेष्यत्वमिति सूत्रार्थ इति तदुक्तं सर्पादिव्यावर्तकरज्जुवादिप्रतीतौ सर्पादिधर्मभूतमीषणत्वादिभिरधिष्ठानस्य विशेषणायोगात् इह च जीवव्यावर्तकास्त्यसङ्कल्पत्वादयः प्रतीयन्ते, अतोऽध्यस्तजीवधर्मैः परमात्मनो विशेष्यत्वमुक्तम् । मनोमयत्वादिभिः सत्यसङ्कल्पत्वादिभिश्च पदैरनुमात्रं लक्ष्यते इति चेत्तर्हि ‘वियक्षितगुणोपपत्तेश्च’ इति पूर्वसूत्रं विरुध्यते । उभयविधगुणानामवियक्षितत्वं सूत्रकाराभिमतचेत् ‘अनुपपत्तेस्तु न शरीरः’ इति यदनुपपत्तेस्तु नेश्वर इति च सूत्रं वक्तव्यम् वस्तुमात्रविशेषाणां जीवधर्माणामिवेश्वरधर्माणामप्यनुपपत्त्या विशेषात्, अथ ईश्वरधर्मेषु सात्पर्यमवगम्यते, अस्त्येषु प्रतीयमानेषु रज्जोमीषणत्वादिनेव मनोमयत्वादिना परमात्मनो विशेष्यत्वमनुपपन्नम् । मनोमयत्वादि च न जीवसाधारणमिति चेत् किमनोमयादिपदैर्मनः प्राणाद्यधीनशानप्रवृत्त्यै विधीयते उत विशुद्धमनोप्राप्त्यप्राणशरीरकत्वादि च प्रथमे जीवसाधारणधर्मैः परमात्मनो विशेष्यत्वानुपपत्तिः, द्वितीये तु मनोमयत्वादीनामारोपितधर्माभावात् आरोग्यगतधर्मैः



## श्रीभाष्यम्

## सू-६ स्मृतेश्च १.२.६)

‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च’ (गी १५ १५) ‘यो मा मेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्’ (१५.१९) ‘इश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया । तमेव शरणं गच्छ’ (गी १८ ६१) इति शरीर सुपासक, परमात्मानं चोपास्य स्मृतिर्दर्शयति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

याच्च ‘आत्मन्पश्यन् सर्वभूतानि’ इतिवत् एतत्सप्तमीकोऽयं निर्देश इति भावः । एव स्वप्रकरणं षष्ठीप्रथमा मक समानप्रकरणे सप्तमीप्रथमा मकश्च शब्दविशेषो विवक्षितः ॥

हृदयस्येश्वरवमुपबृहणेन विशदयितुमाह—

## सू-६ स्मृतेश्च [१.२.६.

‘एष म आत्माऽन्तर्हृदय’ इति हृदयशब्दप्रत्यभिज्ञापनार्थमाह—सर्वस्येति । उपास्यवशापनार्थं तदनन्तरवाक्यमाह योमामिति । हृदयस्येश्वरवकण्ठात्तिं दर्शयति इश्वरइति । ‘तमेव शरणं गच्छ’ इ युपादानं हृदयस्यस्य भजनप्रदर्शनार्थम् । सर्वस्येति सर्वशब्दो जीवविषयः, पराधीनभूत्याद्याभयभूतवस्तुविषयत्वात् पुरुषोत्तमशब्दवाच्यस्य जीववैलक्षण्यं तत्रैवेत्तम् सर्वभूतशब्दोऽपि जीवविषयः भ्रान्त्याभयत्वाद्द्वारायय आरुढत्वाच्च अत्र चशब्दोऽवा तरशङ्कापारहारहेतुद्वयसमुच्चयार्थः । अन्वाचयो वा—

अत्र केचित्—कर्मकर्तृव्यपदेशादये प्रकरकादिकृतगगनभेदाश्रयणेन बालिशकृताल्पवमहवादिव्यहार इव काव्यनिक भेदमाश्रित्य ‘तत्त्वमसि’ इत्या मेकवोदेशग्रहणात् प्राक्प्रवर्तन्ते । ऐक्यापदेशग्रहणान्तरं सर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरित्याहुः । अत्र ब्रूम यस्य भ्रम स एव भ्रातिसिद्धमर्थं व्यपदिशति, तस्यैवोपदेशग्रहणात्तन्निवृत्तिः । एव सति जीवेश्वरभेदभ्रात्या तयो कर्मकर्तृभावादिकं का व्यपदिशति । किं जीव उतेश्वर उत वदएव ? तत्राश्रुतशास्त्रस्य जीवस्य देहातिरिति जीवमप्यजानत सत्यसङ्कल्पवादिलक्षणे श्वरप्रतीत्यसम्भावनात्तद्भातिर्मूलं व कर्मकर्तृव्यपदेशस्य सम्भवति नापि श्रुतशास्त्रस्य जीवस्य तस्य जीवेश्वरभेदभ्रातौ श्रुतिरेव परमनिश्चयसार्थिभिर्वेदान्तानामनुपादय वप्रसङ्गः । स्वनिमित्ता मापि भ्रान्तिश्चुतिस्त्वयमवैक्योपदेशन निवर्तयतीति चेत् तथाऽपि ‘प्रक्षालणाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं पवर’मिति न्यायादनुगदेयवमेव स्यात् कर्मकर्तृभावादिव्यपदेशस्येश्वरभ्रान्तिर्मूलं वमपि न घटते, व्यपदेशवैधव्यात् तथासति हि ‘एतमित प्रेत्याभिसम्भावितासि’ इति व्यपदेशो न स्यात् । अपिचित प्रतीराभिसमाध्योऽहमित्येव स्यात् । किंच भ्रमनिवृत्त्यर्थं मीश्वर प्र उपदेश्यम् न ह्य यस्य भ्रमेऽत्यय प्र उपदेश्यम्, तथा च ‘तत्त्वमसि’ इ उपदेशो न घटते, किंतु व जीवोऽसीत्येव वक्तव्यं अतः श्रुतिषु कर्मकर्तृव्यपदेशो नेश्वरभ्रममूलः । यदि वेदएव आ तो व्यपदिशति, तर्हि वदस्य तत्त्वोपदेशो व न स्यात् भ्रातत्वात् । पश्चा प्रतिबुद्ध उपदिशतीति चेत्, तदयुक्तम् । स्वस्य भ्रमनिवृत्तेरन्यथा जीवेश्वरभ्रमाभाषा व्यापदेशवैयर्थ्यात् । अन्येषा जीवेश्वरभेदभ्रात्यामावेऽपि जीवबहुवभ्रमनिवृत्त्यर्थमुपदेशः कार्य इति चेत् न उपदेशवैधः ।

## श्रीभाष्यम्

सू-७ अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चनेतिचेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च १२७.

अल्पायतनत्वमर्भकौकस्त्वम् ; तद्व्यपदेश - अल्पत्वव्यपदेशः । ‘एष म आत्मन्तर्हृदये’ (छां.३.१४.३) इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात् ‘अणीयान् ब्रह्मेर्वा यवाद्वा’ (३.१४.३) इत्यादिनाऽणीयस्त्वस्य स्वरूपेण व्यपदेशाच्च नायं परमात्मा अपि तु जीव एव । ‘सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्व्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः’ (मुण्डक.१.१.६) इत्यादिभिः परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात् जीवस्य चाराग्रमात्रत्वव्यपदेशादितिचेत्-

नैतदेवम्, परमात्मैव ह्यणीयानित्येवं निचाय्यत्वेन व्यपदिश्यते ; एवं निचाय्यत्वेन एवं द्रष्टव्यत्वेन एवमुपास्यत्वेनेति यावत् । नपुनरणीयस्त्वमेवास्य स्वरूपमिति । व्योमवच्चाय

## श्रुतप्रकाशिका

व्यादेव । नहि तदानीं ‘तत्त्वमसि’ इत्युपदेशो घटते किंतु सर्वजीवास्त्वमित्युपदेष्टव्यम् । नचैवमुपदेशो वेदान्तेषु कचिदपि दृश्यते । नच ‘अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृपिरास्मि विप्र’ इत्याद्यनुसंधानदर्शनात्तन्मूलभूतउपदेश-स्वजीवैक्यविषयोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् एकस्य जीवस्य ‘सिद्हेन भूत्वा बहवो मयाऽत्ताः’ ‘व्याघ्रेण भूत्वा बहवो मयाऽत्ताः’ इतिवत् कर्मभेदेनातीतस्वीयमनुसूर्यादिजन्मस्मरणपरवसम्भवात्तस्य वाक्यस्य । यतश्शास्त्रेण विना शरीरेणा जीवेश्वरविभागप्रतीतिर्न सम्प्रति अनएव लोकसिद्धभेदो निषेधार्थे श्रुत्याऽनूयतइत्येतन्निरस्तम् ॥

नचेश्वरस्यानुमेयत्वसम्भवाजीवेश्वरभेदप्रत्ययस्य लोकसिद्धवसम्भव इति वाच्यम् । तर्कवश्यपुरुषानुमानस्य दूषितत्वात् अनुमानसम्भवेऽपि भारुत्पत्त्यसत्यसङ्कलनमुक्तप्राप्यत्वादीनामनुभातुमशक्यत्वाच्च, कर्मकर्तृव्यपदेशोऽपि ह्युपास्यत्वादिनिबन्धनः । तत्तत्कर्मविशेषार्थिना कर्मकर्तृसापेक्षोपासनसिद्धयर्थे जीवेश्वरभेद श्रुति कल्पयतीतिचेत् तथासति तत्त्व निरूपणदशया ‘अत्ता चराचरग्रहणात्’ ‘अनुपपत्तेस्तु न शरीर’ इति जीवविलक्षण वस्तु प्रतिज्ञाय कर्मकर्तृ व्यपदेशस्य हेतुनयोपन्यासायोगात् । कथमुपासनार्थमपरमार्थभेदव्यपदेश विज्ञानं सूत्रकारस्तत्पार्थहेतुतया त ब्रूयात् । नह्यनात्त्विकभेदःप्रतिज्ञातः ‘ब्रह्मजिज्ञासा’ इत्युपक्रमविशेषात् ‘सपत्तेरिति जैमिनि’ ‘प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः’ ‘आध्यानाय प्रयोजनाभावात्’ इति जीवेश्वरभेदापरमार्थविषयप्रतिज्ञांतराभावाच्च गरुडनेरन्द्रयोरिव भेदस्य काल्पनिकत्वाभ्रयणमयुक्तम् अतश्श्रुतिसूत्राणां काल्पनिकभेदविषयत्वमनुपपन्नम् ॥

सू-७ अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्ननिचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च १.२.७.

अल्पायतनत्वमित्यादि । अणयिस्त्वाक्षेपकार्यव्यपदेशात् साक्षादणीयव्यपदेशाच्चेत्यर्थः । परमा मनस्तु वैधर्म्यमाह—सर्वगतमिति । निचाय्यशब्दार्थमाह—द्रष्टव्यत्वेनेति । ‘चाय्यदृशने’ इतिहिधातु । फलरूपदर्शनव्याप्यर्थमाह—उपास्यत्वेनेति । तद्व्यावर्त्यमाह—नपुनरिति । तदुपपादक सू एष व्यपदिश्यते व्योमवदिति । व्योमं द्रष्टव्यमित्युक्ते प्रतिज्ञामात्ररूपत्वात् प्रमाणाकाङ्क्षा भवति व्यपदिश्यत इत्युक्ते प्रमाणमेव दर्शितं भवति अतोऽध्याहारस्य व्यपदिश्यते निराकाङ्क्षयोजनावरमित्यभिप्रायेण व्यपदिश्यत इतिपद पूरकतयाऽध्याहृत्य व्याख्यातम् । व्योमवच्छब्दफ

## श्रीभाष्यम्

व्यपदिश्यते, स्वाभाविकं महत्त्वं चात्रैव व्यपदिश्यते 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छां.३.१४.१) इति । अत उपासनार्थमेवाल्पत्व-  
व्यपदेशः । तथा हि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (३.१४.१) इति  
सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्यात्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन सर्वात्मकं ब्रह्मो-  
पासीतेत्युपासनं विधाय 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरसिलोके पुरुषो भवति त-  
थेतःप्रेत्य भवति' (३.१४.१) इति यथोपासनं प्राप्यरुद्धिमभिधाय 'स ऋतुं कुर्वीत' (३.  
१४.१) इति गुणविधानार्थमुपासनमनूद्य 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपरसत्यसङ्कल्प  
आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाधयनादरः' (३.  
१४.१) इति जगदैश्वर्यविशिष्टस्य स्वरूपगुणांश्चोपादेयान् प्रतिपाद्य 'एष म आत्माऽन्तर्हृद-  
येऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्पपाद्वा द्यामाकाद्वा द्यामाकतण्डुलाद्वा' (३.१४.१) इत्युपा-  
सकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदात्मतयोपास्यस्य परमपुरःस्योपासनार्थमदस्थानमुत्तवा 'एष  
म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोके-  
भ्यस्सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाधयनादरः' (३.१४.१)

## श्रुतप्रकाशिका

लिन स्वाभाविकमिति ज्यायानिति । वृद्धशब्दस्य ज्यादेश ज्यायशब्दनिष्पत्तिः. 'ज्यच्च वृद्धस्य च' इति सूत्रं ननु  
'प्रशस्यश्च' इति तान्निष्पत्तिः । वृद्धिश्च परिमाणाधिक्यमिह विवक्षितम् ननु कालाधिक्यम् अत्राणीयस्त्वप्रतिसम्भया  
कारपरत्वाज्ज्यायशब्दस्य । अत उपासनार्थमेवेति । अतः पृथिव्यादिभ्याऽपि ज्यायस्त्वश्रवणादित्यर्थः । महत्तयाऽवग-  
तस्य वस्तुन उपाद्धयुक्तिपूर्वकमुक्त परिणामौपाधिकं—असम्भावितोपाधिकं परिमाण स्वाभाविकमिति न्याय इह शिक्षितो  
भवति । हृदयमल्पत्वापाधिभूत श्रुतं ननु ज्यायस्त्वोपाधि श्रुतः । पृथिव्यादयस्तदुपाधय इति नाशङ्कनीयं ततोऽपि ज्या-  
यस्त्वश्रवणात् नहि ततोऽधिकपरिमाणं तदुपाधिकं भवितुमर्हति अणीयस्त्वस्योपासनार्थं वमुपासनप्रकरणाविच्छेदेन  
स्वाभाविकमहत्त्वप्रपञ्चेन चोपपादयति तथार्हमिति । सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेति । सर्वात्मकं नोपास्यगुणतयोक्तम् ।  
तस्य वाक्यान्तरस्यत्वात् अतो लक्षणतो धर्मिनिर्देशः । तत्प्रयोजनं च शान्तिरूपाधिकारिविशेषणरुद्धिः, भगवदाम-  
कत्वमिह शास्त्रतोऽवगते रागद्वेषाद्यभावरूपा शमादिनिष्पत्तिस्त्यात् यथोच्यते—

सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये । परमात्मानि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुतः ॥

इति, शास्त्रजन्यज्ञानपूर्वकशमादिनिष्पाद्यमवोपासनं श्रुतम् 'तस्मादेव विच्छान्तो दान्त उपरतस्ति तिक्षुस्समाहितो  
भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति तस्माद्वोपासननिष्पाद्यशमं किंतु शमनिष्पाद्यमुपासनम् ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य  
शास्त्रादवगम्य रागद्वेषादिरहितस्सन् वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः, सर्वात्मकं ब्रह्मेत्यनेनोपक्रमस्याणीयस्त्वविरोधिव  
दर्शितम् । प्रकरणाविच्छेदद्योतनाय 'अथ खलु' इत्याद्युच्यते उपासनमनूद्येति । यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति विहि-

## गूढार्थसंग्रह

वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते । (मै.३) इत्युक्तेश्च पर्यालोचनेन बाह्यविषयशून्यत्वमेव तत्र विवक्षितम्,  
मन्वात्मविषयत्वव्यवच्छेदः । अतएव 'मनसैवानुद्वेष्ट्यम्' (१) इति श्रुत्युपपत्तिः ।

### श्रीभाष्यम्

इत्यन्तर्हृदयेऽवस्थितम्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दिश्य 'एष म आत्माऽन्तर्हृदय एत-  
द्रह' (छां.३.१४.१) इत्येवम्भूतं परं ब्रह्म परमकारुण्येनास्मदुल्लिख्यविषयाऽस्मद्भदये  
सन्निहितमितीदमनुसन्धानं विधाय 'एतमितःप्रेत्याभिसंभवितास्मि' (छां.३.१४.४) इति

### श्रुतप्रकाशिका

तद्दोषः 'दध्ना जुहोति' इत्यत्र दध्ना होमसाधनत्वविधानार्थं जुहोतिपदेनानूयते तथेति भावः । जगदैश्वर्यविशिष्टस्य-  
नेन 'तज्जलान्' इत्यस्यानुवादः । सर्वरूपगुणान् अद्वारगुणान् नहि ते प्रकृतिपुरुषद्वारकाः । निचार्यत्वादित्यस्यार्थ-  
माह—एवंभूतेति । सर्वकर्मत्वादिगुणानां द्विरुक्तिरुपास्ततया प्राप्यतया च हृदि स्थितेः । द्विरुक्तिर्हृदयस्थितिं शापनार्थं  
सौलभ्यानुसन्धानार्थं चेत्यर्थः । एवमत्र पूर्वोक्तो नरत्र च विभु वाभिधानादर्भकौकरवरूपोपाधिकथनाच्च मध्यगतमस्य वमौ-  
पाधिकमित्ययमर्थ उक्ता भवति ॥

### गूढार्थसङ्ग्रहः

उक्तञ्च शङ्कराचार्यैः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यत्र भाष्ये 'तद्ब्रह्मदर्शनसाधनमुच्यते मनसैव परमात्मध्यानसंस्कृतेन  
आचार्योपदेशपूर्वकचानुद्रष्टव्यमिति । अत्रानन्दगिरिः—'मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे कथं ब्रह्मणः वाङ्मनसातीतत्वश्रुतिरि-  
त्याशङ्क्याह—परमार्थेति । केवल मनो ब्रह्मविषयीकुर्वदपि श्रवणादिसंस्कृत तदाकार जायते । तेन द्रष्टव्यं तदुच्यते, अतएव  
वृत्तिव्याप्यं ब्रह्मेत्युपगच्छन्तीति भावः । अनुशब्दार्थमाह—आचार्येति' इति । यत्रापि (अ.सि.३) 'नच मनसैवानुद्रष्टव्यम्'  
इति तृतीयाश्रुत्यनुसारेण 'नमनुते' इत्यस्यैवापकमानोविषयतयाऽन्यथानयनसाम्यमिति वाच्यम् ; एवं साम्येऽपि मनसः  
करणत्वे साधिककल्पना । शब्दस्य करणत्वेऽल्पकल्पनेति विशेषादिति' इति । 'ननु मनसैवानुद्रष्टव्यमिथादाविव मनः  
करणनाप्रतिपादकस्य प्रकृतेरभावात् अनौपदेशिक शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वमिति चेन्न । 'तत्त्वौपनिदं पुरुषं पृच्छामि'  
इत्यादौ 'तत्र साधुः' इति तदन्यासाधुत्वेऽसति तत्र साधुत्वरूपसाध्वर्थविहिततद्धितश्रुत्याएव मानत्वात्' इति चोक्तम् । (अ.सि)  
तथाऽपि इदं विवरणकारमताभिनिवेशमूलकमेव । 'तत्त्वौपनिपद' इत्येतद्विवरणे उपनिषद्भाष्ये औपनिषदशब्दस्योप-  
निषत्त्वेऽपि विशेष इति शङ्कराचार्यैः विवृतम् । अत्र 'तत्रविदित इति च' (५.९.४३) इति पाणिनिस्मृत्याणामयमे-  
वार्थः वाचस्पतिनोक्त इति जिज्ञासाधिकरणे उक्तम् । 'तत्र साधुः' इति (४.४.९८) सूत्रं यन्प्रत्ययविधायकम् 'भक्ता-  
णाः' (४.४.१००) इत्यत्र णप्रत्ययोऽपि भक्तशब्दादेव नान्यस्मात्, तदुत्तरं सूत्रपट्क अण्विधानमेव नास्ति 'समा-  
नतीर्थे वासी' (१०७) इति सप्तमसूत्रे 'साधु'रिति निवृत्तमिति, काशिका तथैव .सि.कौमुद्यामपि अनन्तरं टक् टञ् टञ्  
यः, टः, इति प्रत्ययानां विधानेऽपि तेषां प्रत्यायानामत्रासम्भव एव । अनन्तरं साधुरिति शब्दस्य निवृत्तिः अतः  
'अधिगतः' 'विदितः' सू. 'विज्ञेयः' (उ) इति शङ्कराचार्यवाचस्पयुक्तमेव साधु । अतः औपनिषदशब्दश्रुतिः शब्दस्य  
साक्षात्कारकरणत्वेन कथञ्चिदपि मानम् । एव च 'यन्मनसा' इति श्रुतिः पूर्वोदाहृतशुद्धमनः प्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेनापक-  
मनः परमेवेति सर्वरूप्यस्तीकर्तव्यमिति दिक् । एवं च 'मनोमय' इति विशुद्धमनोवाक्यं वपरमिति सूक्तिः सर्वथा अप्र-  
कल्प्येति सिद्धम् ॥

'अर्भकौकस्त्वात्' इति सूत्रे 'विवाक्षितगुणोपपत्तेश्च' इत्यत्र दयासौलभ्यादिगुणा अपि विवाक्षिता इत्यभिप्रे-  
त्याह—एषमआत्मा इत्यादि अस्मद्भृदये सन्निहितमित्यन्तम् । 'हार्दानुगृहीतशताधिकया' इति सूत्रे हृदये स्थिति



## अथ अत्राधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

यदि परमात्मा न भोक्ता, एवं तर्हि सर्वत्र भोक्तृत्वा प्रतीयमानो जीव एव स्यादित्याशङ्क्याह—

### सू-९ अत्ता चराचरग्रहणात् (१.२.९)

कठवल्लीध्यासायते—‘यस्य ब्रह्म च क्षणं च उमे भवत ओदन. । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥’ (कठ.१.२.२५) इति । अत्रौदनोपसेचनसूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति सन्दिह्यते । किं युक्तम् ? जीव इति । कुत ? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वा-जीवस्यैव तत्सम्भवात् ॥

## अथ अत्राधिकरणम्

### श्रुतप्रकाशिका

अथोत्तराधिकरणसङ्गतिमाह—यदीति । —

### सू-९ अत्ता चराचरग्रहणात् (१.२.९)

कठेत्यादि । यत्र स इति, य-प्रकारविशिष्टः तं प्रकारं को वेदेत्यर्थः । विषयवाक्ये अत्तेत्यश्रवणादस्याऽश्रुतेरेतस्मिन्नाविषयत्वशङ्का परिहर्तुमाह—अत्रेति । यस्येति षष्ठीनिर्दिष्टसम्बन्धः ओदनोपसेचनसामर्थ्याददनीया तृभावलक्षणाविशेषपर्यवसितः तस्मादत्ता सूचित इत्यर्थः—‘अग्निरन्नादः’ इति श्रुतिप्रसिद्धिमस्यामुपनिषद्यग्नेः प्रस्तुतत्वचावलम्ब्याग्नेर्जीवः परमात्मेति शिरस्त्रय कल्पितं परैः । चित्याग्नेः प्रस्तुतत्वेन साक्षादग्निप्रस्तावाभादग्निप्रकरणस्य विच्छिन्नत्वादध्यात्मप्रकरणे विद्याङ्गकर्मोपयोगित्वमात्रविनाऽग्निवैभवप्रतिपादनायोगाच्च तत्परत्वाशङ्क्यायाम-दोऽर्थान् वममिप्रयत्ना भगवता भाष्यकारेण शिरोद्वय विचारकोटौ निवेशितम् । अत्ता जीवः उत परमात्मेति विचारः तदर्थमिदमन्तृत्व किं कर्मफलभोक्तृत्वरूप उत जगदुपसहर्तृत्वरूप किमत्र पूर्वप्रस्तुतब्रह्मप्रकरणे विच्छिन्नं ? नेति ‘ऋतं पिवन्तौ’ इति किं बुद्धिजीवौ निर्दिश्येते, उत उरजीवपरौ पिवन्तौ इति निर्देशः किं छत्रिवल्लक्षणया शब्दशक्त्या वा प्रयोज्यप्रयोजकविषयतया नेयः उतन? ‘तदुर्दर्शं’ ‘या प्राणेन’ इति परजीवयोर्दर्शनं किं लक्षणमापादयति उतनेति उपक्रमे ‘येऽयं प्रेत’ इति प्रश्नः किं जीवविषयः उत परविषय इति यदा जीवविषयः तदानीमुपक्रमविरोधेन ‘तं दुर्दर्शम्’ इत्यादिना ऋतपाननिर्देशस्य प्रयोज्यप्रयोजकविषयतापादनायोगात् ‘ऋतं पिवन्तौ’ इति वाक्यस्य बुद्धिजीवपरत्वेन ब्रह्मप्रकरणं विच्छिन्नमितीह प्रतिपन्नमन्तृत्व कर्मफलभोक्तृत्वरूपमिति अत्ता जीव इति फलितम् । यदा ‘येऽयम्’ इति प्रश्नः परविषयः तदानीमुपक्रमानुगुण्येन ‘तं दुर्दर्शम्’ इत्यादिना ऋतपाननिर्देशस्य प्रयोज्यप्रयोजकविषयतापादनोपपत्तेः, ‘ऋतं पिवन्तौ’ इति वाक्यस्य जीवपरमात्मपरत्वेन ब्रह्मप्रकरणविच्छेदामावादिह प्रतिपन्नमन्तृत्व जगदुपसहर्तृत्वरूपमेवेत्यत्ता परमात्मेति फलितम् भोक्तृत्वस्येति । ओदनोपसेचनसामर्थ्यावगतस्येति भावः । ततः किमित्यत्राह—जीवस्यैवेति । ‘सर्वभूतान्तरात्माऽपहृ-

## श्रीभाष्यम्

अनोच्यते—(अत्ता चराचरग्रहणात्) अत्ता परमात्मैव । कुतः ? (चराचरग्रहणात्) चराचरस्य कृत्स्नस्यात्तृत्वं हि तस्यैव सम्भवति । नचेदं कर्मनिमित्तभोक्तृत्वम् ; अपि तु जगज्जन्मस्थितिलयहेतुभूतस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्संहर्तृत्वम् ; 'सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (कठ.१.३.९) इत्यत्रैव तद्दर्शनात् । तथा च 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' (१.२.२५) इति वचनात्, 'ब्रह्म च क्षत्रं च' (१.२.२५) इति कृत्स्नं चराचरं जगदिहादनी यौदनत्वेन गृह्यते । उपसेचनं हि नाम स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुः । अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपलिच्यमानस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगतश्चराचरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते । ईदृशचादनमुपसंहार एव । तस्मादीदृशं जगदुपसंहारित्वरूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव ॥

## सू-१० प्रकरणाच्च (१.२.१०)

## श्रुतप्रकाशिका

पाप्मा 'न कर्मणा वर्धते नोकनीयान्' 'अनश्नन्नन्य' इति परस्य भोक्तृत्वं निषिद्धमिति भावः, तत्सम्भवात् कर्मफलभोक्तृत्वसम्भवात्, ब्रह्मक्षत्रशब्दवाच्यानां देहिना स्त्रीपुसात्मकत्वात्तद्रूपजीवानां परस्परभोक्तृभोग्यभावस्सम्भवति, जीवानां नित्यत्वादेव मृत्युवश्यत्वाभावात् मृत्युजीवस्य विधेयइत्यभिप्रायेण मृत्युपसेचनवादोऽपि सम्भवतीति भावः ॥

राद्धान्तमारभते अत्रेति । चराचरग्रहणादित्येतद्व्याचष्टे चराचरस्येति । कृत्स्नचराचरविषय वा कतिपयविषय वाऽस्तु, ततः किं जीववैलक्षण्यस्य उक्तं हि कर्मफलभोक्तृत्वरूपमिदमन्तु वमित्यत्राह—नचेदमिति । कृत्स्नचराचरविषय मन्तु च जीवस्यानुपपन्नमिति भावः । अन्तु च विष्णुः कृत्स्नं चराचरसंहर्तृत्वमिति कथमवगतमित्यत्र हेतुद्वयमाह—सोऽध्व नइति । प्रकरणे परमात्मनाचिपदश्रवणं प्रथमो हेतुः, द्वितीय हेतुमाह—तथा च मृत्युरिति । कथं चराचरस्यादनीयत्व- सिद्धिः मृत्युपसेचननिर्देशो हि मृत्युवश्यत्वाभावाभिप्रायस्सम्भवतीत्यत्राह—उपसेचनंहीति । यद्यप्युपसेचनशब्दो गौणपञ्च निर्वहः तथाऽपि साधारणाकारेणोपचारो न घटने, विशेषाकारसम्भवात् न ह्यभिर्माणक इत्युक्ते अग्निशब्दो द्रव्यत्वाभि- भिप्रायेण वर्जनीयः । मृत्युपसेचनं अवाधक इत्युक्ते विशेषाकारोपस्थापनं न स्यात् अवाधकत्वस्य लोष्टृणादिसाधारण-त्वात् स्वयमद्यमानत्वे सत्यन्यस्यादनहेतुत्वतु विशेषाकार इति तेनैवोपचारिकप्रयोगो युक्त इति भावः । साधारणाकार वि- हायान्तराकारेण गौणार्थो वर्णनीय इति न्यायोऽत्र व्युत्पादितः । परस्य जगत्सहोर मृत्युपेक्षाऽपि नास्तीत्यस्मदुक्त-वार्थ इति शङ्का परिहरन् फलितमाह—अतइति । कृत्स्नजगत्सहोर मृत्युपेक्षाभावेऽप्यत्र मृत्योरद्यमानत्व व्याप्तिसारस्य तद्द्वारकत्वचामप्रेतम् । एव मृत्युपसेचनसामर्थ्यात् ब्रह्मक्षत्रशब्दौ कृत्स्नचराचरप्रदर्शनार्थविति भावः । ततोऽपि किमित्यत्राह—ईदृशमिति । सूत्रार्थमुपसंहरति तस्मादिति । 'सोऽध्वन' इत्यादिवाक्ये विष्णोश्च्यमानत्वमृत्युपसे- चनत्वसामर्थ्यसिद्धचराचरादनीयत्वाच्च कृत्स्नजगदुपसंहर्तृत्वरूपमेवेदं भोक्तृत्वमिति नेदं कर्मनिमित्तं, अतः परमात्मै- वात्तेत्यर्थः ॥

## सू-१० प्रकरणाच्च (१.२.१०)

## श्रीभाष्यम्

व्यपदिश्यते, स्वाभाविकं महत्त्वं चाग्र्यं व्यपदिश्यते 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छां.३.१४.१) इति । अत उपासनार्थमेवाल्पत्व-  
व्यपदेशः । तथा हि 'सर्वे सत्त्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (३.१४.१) इति  
सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्यात्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन सर्वात्मकं ब्रह्मो-  
पासीतेत्युपासनं विधाय 'अथ सत्तु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन्लोके पुरुषो भवति त-  
थेतः प्रेत्य भवति' (३.१४.१) इति यथोपासनं प्राप्यरुद्धिमभिधाय 'स क्रतुं बुधीत' (३.  
१४.१) इति गुणविधानार्थमुपासनमनूय 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्सत्यसङ्कल्प  
आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवापयनादरः' (३.  
१४.१) इति जगदैश्वर्यविशिष्टस्य स्वरूपगुणांश्चोपादेयान् प्रतिपाद्य 'एष म आत्माऽन्तर्हृद-  
येऽणीयान् ग्रीहेर्वा यवाद्वा सर्पपाद्वा श्यामाकाढा श्यामाकतण्डुलाद्वा' (३.१४.१) इत्युपा-  
सकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदात्मतयोपास्यस्य परमपुरुषस्योपासनार्थमदस्याननुत्तवा 'एष  
म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोके-  
भ्यस्सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवापयनादरः' (३.१४.१)

## श्रुतप्रकाशिका

लित स्वाभाविकमिति ज्यायानिति । वृद्धशब्दस्य ज्यादेशे ज्यायश्शब्दनिष्पत्तिः 'ज्यच्च वृद्धस्य च' इति सूत्रं ननु  
'प्रशस्यश्च' इति तन्निष्पत्तिः । वृद्धिश्च परिमाणाधिक्यमिह विवक्षितम् ननु कालाधिक्यम् अत्राणीयस्त्वप्रतिषेधन्या  
कारपरत्वाज्ज्यायश्शब्दस्य । अत उपासनार्थमेवेति । अतः पृथिव्यादिभ्योऽपि ज्यायस्त्वश्रवणादित्यर्थः । महत्त्वाऽवग-  
तस्य वस्तुन उपादयुक्तिपूर्वकमुक्त परिणामौपाधिकं—असम्भावितोपाधिकं परिमाणं स्वाभाविकमिति न्याय इह शिक्षितो  
भवति । हृदयमल्पत्वापाधिभूतं श्रुतं ननु ज्यायस्त्वोपाधिः श्रुतः । पृथिव्यादयस्तदुपाधय इति नाशङ्कनीयं ततोऽपि ज्या-  
यस्त्वश्रवणात् नहि ततोऽधिकपरिमाणत्वं तदुपाधिकं मन्त्रितुमर्हति अणीयस्त्वस्योपासनार्थत्वमुपासनप्रकरणाविच्छेदेन  
स्वाभाविकमहत्त्वप्रपञ्चनेन चोपपादयति तथार्हमिति । सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेति । सर्वात्मकत्वं नोपास्यगुणतयोक्तम् ।  
तस्य वाक्यान्तरस्यत्वात् अनो लक्षणतो धर्मिनिर्देशः । तत्प्रयोजनं च शान्तिरूपाधिकारिविशेषणरिद्धिः, भगवदात्म-  
कत्वाहि शास्त्रतोऽवगते रागद्वेषाद्यभावरूपा शमादिनिष्पत्तिस्त्वात् यथोच्यते—

सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये । परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुतः ॥

इति, शास्त्रजन्यज्ञानपूर्वकशमादिनिष्पाद्यमेवोपासनं श्रुतम् 'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठिस्तुस्समाहितो  
भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति तस्मान्नोपासननिष्पाद्यश्शमः किंतु शमनिष्पाद्यमुपासनम् ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य  
शास्त्रादवगम्य रागद्वेषादिरहितस्सन् वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः, सर्वात्मकं ब्रह्मेत्यनेनोपक्रमस्याणीयस्त्वविरोधित्व-  
दर्शितम् । प्रकरणाविच्छेदद्योतनाय 'अथ सत्तु' इत्याहुच्यते उपासनमनूयेति । यथा 'अभिहोत्रं जुहोति' इति विहि-

## गूढार्थसंग्रहः

वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्णते । (मै.३) इत्युक्तेश्च पर्यालोचनेन बाह्यविषयज्ञान्यत्वमेव तत्र विवक्षितम्,  
नत्वात्मविषयत्वव्यवच्छेदः । अतएव 'मनसैवानुद्वेष्टव्यम्' (३) इति श्रुत्युपपत्तिः ।

### श्रीभाष्यम्

इत्यन्तर्हृदयेऽवस्थितम्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दिश्य 'एष म आत्माऽन्तर्हृदय एत-  
द्रह' (छां.३.१४.१) इत्येवम्भूतं परं ब्रह्म परमकारुण्येनास्सद्बुद्धिजीवयिषयाऽसुद्धदये  
सन्निहितमितीदमनुसन्धानं विधाय 'एतमित-प्रेत्याभिसंभवितासि' (छां.३.१४.४) इति

### श्रुतप्रकाशिका

तद्दोमः 'दध्ना जुहोति' इत्यत्र दध्ना होमसाधनत्वविधानार्थं जुहोतिपदेनानूयते तथेति भावः । जगदैश्वर्यविशिष्टस्येत्य-  
नेन 'तज्जलान्' इत्यस्यानुवादः । सर्वरूपगुणान् अद्वारकगुणान् नहि ते प्रकृतिपुरुषद्वाराकाः । निवार्यत्वादित्यस्यार्थं  
माह—एवंभूतेति । सर्वकर्मत्वादिगुणानां द्विरुक्तिरुपास्यतया प्राप्यतया च हृदि स्थितः । द्विरुक्तिर्हृदयस्थितिज्ञापनार्थं  
सौलभ्यानुसन्धानार्थं चेत्यर्थः । एवमत्र पूर्वोत्तरत्र च विभुताभिधानादर्भकौकस्यरूपोपाधिकथनाच्च मध्यगतमल्पवधौ-  
पाधिकमित्ययमर्थ उक्ते भवति ॥

### गूढार्थसङ्ग्रहः

उक्तञ्च शङ्कराचार्यैः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यत्र भाष्ये 'तद्ब्रह्मदर्शनसाधनमुच्यते मनसैव परमात्मध्यानसंस्कृतेन  
आचार्योपदेशपूर्वकचानुद्रष्टव्यमिति । अत्रानन्दगिरिः—'मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे कथं ब्रह्मणः वाङ्मनसातीतत्वश्रुतिरि-  
त्याशङ्क्याह—परमार्थेति । केवल मनो ब्रह्मविषयीकुर्वदपि श्रवणादिसंस्कृत तदाकार जायते । तेन द्रष्टव्यं तदुच्यते, अतएव  
वृत्तिव्याप्य ब्रह्मेत्युपगच्छन्तीति भावः । अनुशब्दार्थमाह—आचार्येति' इति । यद्यपि (अ.सि.३) 'नच मनसैवानुद्रष्टव्यम्'  
इति तृतीयाध्यायानुसारेण 'नमनुते' इत्यस्यैवापक्वमानोविषयतयाऽन्यथानयनसाम्यमिति वाच्यम् ; एव सांग्येऽपि मनसः  
करणत्वे ह्याधिककल्पना । शब्दस्य करणत्वेवल्पकल्पनेति विशेषादिति' इति । 'ननु मनसैवानुद्रष्टव्यमिन्यादाविव मनः  
करणताप्रतिपादकस्य प्रकृतेरभावात् अनौपदेशिक शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वमिति चेन्न । 'तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'  
इत्यादौ 'तत्र साधुः' इति तदन्यासाधुत्वेसति तत्र साधुत्वरूपसाध्वर्थविहिततद्विश्रुत्याएव मानत्वात्' इति चोक्तम् । (अ.सि.)  
तथाऽपि इदं निरणकारमतामिनिवेशमूलकमेव । 'तत्त्वौपनिषद' इत्येतद्विवरणे उपनिषद्भाष्ये औपनिषदशब्दस्योप-  
निषत्त्वेव विशेष इति शङ्कराचार्यैः विवृतम् । अत्र 'तत्रविदित इति च' (५.९.४३) इति पाणिनिसूत्रेणाण् अयमे-  
वार्थः वाचस्पतिनोक्त इति जिज्ञासाधिकरणे उक्तम् । 'तत्र साधु' इति (४.४.९८) सूत्रं यत्प्रत्ययविधायकम् 'भक्ता-  
णः' (४.४.१००) इत्यत्र णप्रत्ययोऽपि भक्तशब्दादेव नान्यस्मात्, तदुत्तरं सूत्रपट्क अण्विधानमेव नास्ति 'समा-  
नतीर्थे वासी' (१०७) इति सप्तमसूत्रे 'साधु'रिति निवृत्तमिति, काशिका तथैव .सि.कौमुद्यामपि अनन्तरं टक् टञ् दञ्  
य, ङः, इति प्रत्ययानां विधानेऽपि तेषां प्रत्यायानामत्रासम्भव एव । अनन्तरं साधुरिति शब्दस्य निवृत्तिः अतः  
'अधिगतः' 'विदितः' सू.विशेषः' (३) इति शङ्कराचार्यवाचस्प युक्तमेव साधु । अतः औपनिषदशब्दश्रुतिः शब्दस्य  
साक्षात्कारकरणत्वेन कथाञ्चिदपि मानम् । एव च 'यन्मनसा' इति श्रुति पूर्वोदाहृतशुद्धमनः प्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेनापक्व-  
मनः परमेवेति सर्वैरप्यङ्गीकर्तव्यमिति दिक् । एव च 'मनोमय' इति विशुद्धमनोवाह्य उपरमिति सूक्तिः सर्वथा अप्र-  
काश्येति सिद्धम् ॥

'अर्भकौकस्यात्' इति सूत्रे 'विवाक्षितगुणोपपत्तेश्च' इत्यत्र दयासौलभ्यादिगुणा अपि विवक्षिता इत्यभिप्रे-  
त्याह—एषमआत्मा इत्यादि अस्मद्भृदये सन्निहितमित्यन्तम् । 'हार्दानुगृहीतदशताधिकया' इति सूत्रे हृदये स्थिति



## श्रीभाष्यम्

यथोपासनं प्राप्तिनिश्चयानुसन्धानं च विधाय ‘इति यम्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति’  
(३.१.४.४) इत्येवंविधप्राप्यप्राप्तिनिश्चयोपेतस्योपासनकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्तीत्युपसंहृतम् ।  
अत उपासनार्थमर्थक्यौ तत्त्वमणीयस्त्वं च ॥

## सू-८ सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् १.२.८

जीवस्येव परम्यापि ब्रह्मणश्शरीरान्तर्धर्तित्वमभ्युपगतं चेत् तद्वदेव शरीरसम्बन्धप्र-  
युक्तसुखदुःखोपभोगप्राप्तिरिति चेत्-तन्न; ऐतुर्वैशेष्यात्-नहि शरीरान्तर्धर्तित्वमेव सुखदु-  
खोपभोगहेतुः; अपि तु पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वम्; तत्त्वपहतपाप्मनः परमात्मनो न  
सम्भवति । तथा च श्रुतिः ‘तयोऽन्यः पिप्पलं स्वाहृत्य नश्नन्नन्यो अभिचावशीति’ (मु.  
३.१.१) इति ॥

## सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरण समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

## सू-८ सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् १.२.८

शरीरान्तर्धर्ति व हृदयधर्ति च वैशेष्य विशेष. भोगप्रसङ्गने सुखग्रहण सासारिकसुखस्यादिमध्यावसानेषु तु क्षमि-  
श्रत्वेनापुरुषार्थपक्षनिक्षेपनिवन्धनं तथा च श्रुति शरीरान्तर्धर्तित्वेऽपि फलसम्बन्धासम्बन्धावाहेत्यर्थ — अधिकरणार्थं  
निगमनमसिद्ध अस्मिन्सूत्रे परस्माद-यस्य जीवस्यानभ्युपगम परस्य कर्मफलभोक्तृवत्प्रसङ्ग इति परिच्छेद्य परिहर्तुं वाभि-  
मानेन कैश्चिदेवमुक्तम् आत्माऽन्तराभावो यन्नन्यगतः तदा तन्निव घनचोद्यानुदयः अवगत वे किं शस्त्रादवगमः उता-  
स्मद्वाक्यात् प्रथमे शास्त्रसिद्धा मान्तराभाववत् परस्य भोक्तृत्वमावाऽपि शास्त्रसिद्धतया स्वीकृत्यः नान्यर्धजरतीयः याम्यम्  
द्वितीयेतु भ्रान्तिसिद्धगगनतलमलिनताविकल्पो गगनमिवापारमार्थिकभोक्तृवत् परमार्थमद्वितीय परमाः न नष्टृतीति ।  
तत्र प्रथम शिरोऽनभ्युपगमनिरस्त शास्त्र जीवपरयोरनन्यत्व प्रतिपादयतीति प्रतिवादिवाक्यात् आ माऽन्तराभावमवगम्यते  
तथासति परस्य जीववत् भोक्तृवत्प्रसङ्गादयाम्य जीवपरैक्य शास्त्र न प्रतिपादयितुं शक्नोतीति हि चोदयितुरभिप्रायः अतो  
नान्यर्धजरतीय अपरमार्थवान्न स्पृशतीति वचनव्यक्तिदूषणस्य दुष्परिहरतामवगमयति । जीववदुपभोक्तृवाहि चोदयित्रा  
आपादित जीवस्य च भोक्तृत्वमन्ते मिथ्या अना गगन मालि-यवत् परस्मिन्कल्पितं भोक्तृवत् न त स्पृशतीति वदता  
जीववत् भोक्तृत्वमभ्युपगत स्यात् नचाशमेदेन भोगव्यवस्था वस्तुनो निरशत्वात्, साशत्वेऽप्युपाधीना गत्वरतया घटे  
चलति नभस्यल्पत्ववत् सर्वप्रदेशैरौपाधिकदोषान्वयप्रसङ्गात् अतः परपक्षे भोक्तृत्वप्रसङ्गपरिहारोऽनुपपन्न — सर्वत्रेति  
सूत्र स्ववाक्यस्य हेतुपर तदनन्तरवाक्यस्य हेतुपर द्वितीयम् । तद्व्यतिरेकपर तृतीय उपसहस्यस्य हेतुपर चतुर्थं तत्र शङ्काविशेष  
परिहारपमनारसूत्रद्वयम् । सूत्रद्वयोक्तद्वयावस्थानप्रयुक्तचोद्यपरिहारपर तदनन्तरसूत्रद्वयमिति सूत्रसङ्गतिः ॥

## सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरण समाप्तम्

### गूढार्थसंग्रहः

दयामूलेति सूत्रकार एव स्पष्टीकरिष्यति । अस्मिन्सूत्रे अर्भकपदेन राजकुमारनयसूत्रनेन पुत्रस्य पितृदायभागवत् सर्वेषां पुत्राणामुपासकानां तरतमभावानापन्नमुक्तिपलं सिद्धमेवेति निश्चयः पूर्ववाक्यतात्पर्यविषय इति 'एतमितःप्रेत्याभिसंभविताऽसि' इति श्रुतौ विवाक्षितः । अत्र 'अभि' इत्यनेन पूर्वोक्तोपासनाविषयातिरिक्ताः सर्वे गुणाविभूत्यादयः 'समि'त्यनेन एतत्फलस्य कदाऽप्यविच्छेदः इ युमय विवाक्षितम् । भूषातोः प्राप्त्यर्थकत्वं शङ्कराचार्ये आनन्दतीर्थेश्चार्हं कृतम् । इति 'यस्य स्यादद्वा नविचिकित्साऽस्ति' इत्यत्रैव दृढाध्यवसायः अपेक्षित इति विवाक्षितम् उक्तरीत्या दृढाध्यवसायशून्यतया उपासनस्य तरतमभावानापन्नफलवादः परेषां नव्यानां च प्रवृत्तः । राजकुमारनयेन पुत्रस्यातारतम्येन दायघनलाभवत् उपासकानां मुक्तिलाम इति श्रीभावगतेऽप्युक्तम् । 'तत्तेऽनुकृपां प्रसमीक्षमाणः भुञ्जान एवाभिमृत्त विपाकम् । हृद्वाग्वपुर्मूर्तिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥' (१०.१४.८) इति । अत्र शुक्पक्षीयम्—'अत्र हृद्वाग्वपुर्मूर्तिस्ते नमः विदधत्' इत्यनेनाकल्प्स्यादिपञ्चपरिकरोक्तिः एव प्रकरणेन यो जीवेत इति दृष्टव्योक्तिः मुक्तिपदे अर्चिरादिना दायभागभवतीति जीवतः पुत्रादेः पितृदायभाक्त्वमिवेति भावः' इति ॥

एतेन 'उपासात्रैविध्यात्' इति पूर्वाधिकरणे शानाभिन्नमुपासनं यस्यापि 'सम आत्मेतिविद्यात्' इत्यत्रात्मविषयकं अस्मिन्नाधिकरणे तत्, जीवभिन्नात्मविषयकमेवेति त्रिवारमभ्यासेन जीवपरयोर्भेदस्यापनेन राजकुमारनयेनोपासनस्य तरतमभावानापन्नफलसाधनत्वव्यवस्थापनेन च निर्णीतम् । तेन उपासनमपरब्रह्मविषय गतिद्वारा तरतमभावानापन्नफलसाधकं ज्ञानं च निर्विशेषपरब्रह्मविषयकं गतिमन्तराऽत्रैव तरतमभावानापन्नैकरूपमुक्ति साधनमिति परेषां मतं श्रुतिः । पर्याविषय इति सूत्रकृता सम्यङ्निर्णीतं भवति ॥ मण्डनवाचस्पती ब्रह्मणः मानससाक्षात्कारविययत्वमेवाभ्युपगच्छतः अतः निशुद्धमनोप्राप्त्यवमव 'मनोमय' इत्यत्र विवक्षितमिति सुपूक्तम् । सुषुप्तौ मनसः लयसद्भावेनाहमर्थस्य नाशेऽपि प्राणस्य सद्भावेन उच्छ्वासाद्युपपत्तिं परे वदन्ति तदभिसन्धाय श्रुतिरेव प्राणशरीरइत्याह । 'मारूप' इत्यादि भास्वरूपत्वं दिव्यमङ्गलविग्रहवत्स्वरूपम् तेन गुणानां तात्पर्यविषयत्वं वदन् सूत्रकारः गुणा नोपासनविषयाः निर्विशेषस्यैव श्रुत्यभिप्रेतत्वं मिति परमतं श्रुत्यनभिप्रेतमिति स्थापयति । 'अर्भकौकस्त्वात्' इति सूत्रे एकस्यैवोपासनार्थत्वस्य सूत्रकृता वर्णनेन इतरेषां तात्पर्यविषयत्वं स्पष्टीकृतं भवति । 'एषम आत्मा' इत्यत्र यदात्मत्वं त्रिवारमभ्यस्त तदपि 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च' इत्यत्र तात्पर्यविषय एव ॥

'अर्भकौकस्त्वात्' इति सूत्रे एषम आत्माऽन्तर्हृदय इत्यादि परंब्रह्म हृदये सन्निहितमित्यन्तम् । अन्तर्यामिन्त्व दयामूलकमिति अर्भकौकस्त्वात् इत्यत्रार्भकशब्दः पुत्रपर इति 'द्वासुपर्णा' इति श्रुत्यनन्तरं ऋक्सहिताया—'पाकमत्राविवेश' 'तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद' (म.१.सू.१६४,म.२१,२२) इति श्रुतिद्वये अन्तर्यामिणः पितृव जीवस्य पुत्रवं च स्पष्टमभिहितमिति पूर्वमेव (जि.अ.७६४.पु) निरूपितम् ॥

इति सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम्



अथ वदोन्तसारः

## १-सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् (१.२.१)

‘सर्वं त्वत्विदम्’ (छा.३.१४.१) इति निर्दिष्टेन सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टं ब्रह्म परमात्मा ; कुतः ! प्रसिद्धोपदेशात् ‘तन्नलान्’ (३.१४.१) इति हेतुसर्गात्मकव्योपदेशादित्यर्थः । प्रसिद्धं हेतुतया व्यपदिश्यते । सकलैः पविषत्सु ब्रह्मैव हि जगज्जन्मलयजीवनहेतया प्रसिद्धं ‘यतो वा इमानि’ (तै.भृ.१) इत्यादिषु ॥

## सू-२ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च [१-२-२]

मनोमयवसत्यसङ्कल्पत्वादयो विवक्षितगुणाः ब्रह्मण्येवोपपद्यन्ते ॥

## सू-अनुपपत्तेस्तु न शारीरः (१.२.३)

दुःखमिश्रपरिमितसुखलवभागिनि शरीरेषु एषां गुणानां अनुपपत्तेर्न शारीरोऽयम् ॥

## सू-४ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च [१.२.४]

‘एतमितः प्रेत्याभिसंभविताऽस्मि’ (छा.३.१४.४) इत्यभिसंभाव्याभिसंभवितृत्वेन प्रस्तुतब्रह्मजीवयोर्व्यपदेशादभिसंभाव्यं ब्रह्म जीवादर्थान्तरम् ॥

## सू-५ शब्दविशेषात् (१.२.५)

‘एष म आत्माऽन्तर्हृदये’ (छा.३.१४.३) इति षष्ठ्या प्रथमया च जीवो ब्रह्म च व्यपदिश्यते । ततश्चार्थान्तरम् ।

## —६ स्मृतेश्च १.२.६)

अत्रापि प्रथमया निर्दिष्टः पुरुषोत्तम इति निश्चीयते । ‘सर्वचाह हृदि सन्निविष्टः’ (गी.१५.१५) इति हि स्मृतिः

## अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च १.२.७

‘एष म आत्माऽन्तर्हृदये अणीयान् ग्रीहेः’ (छा.३.१४.३) इत्यादिना अल्पायतनत्वात् स्वरूपात्पदस्य व्यपदेशाच्च नायं पर इतिचेन्न, उपास्यत्वाद्धेतास्तथा व्यपदेशः नतु स्वरूपात्पत्वेनाव्योमवत्-स्वरूपमहत्त्वचात्रैव व्यपदिश्यते ‘ज्यायान् पृथिव्याः ज्यायानन्तरिक्षात्’ (३.१४.३) इत्यादिना ॥

## सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् १.२.८

परोऽप्यन्तःशरीरे वसतिचेत्—जीववत् सुखदुःखोपभोगप्राप्तिरस्यादिति चेन्न, हेतुवैकल्यात् ; परस्याहि छन्दतो जीव रक्षायै शरीरान्तर्वासः ॥

इति वेदान्तसार.

अथ वेदान्तदीपः

## -१ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् [१-२-१]

छान्दोग्ये श्रूयते—‘ सर्वं एतद्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत, अथ खलु क्रतुमयोऽय पुरुष. यथा क्रतुर-  
सिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति, सकृन्तु कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरः ’ (छा.३.१४.१) इति । अत्र ‘ सर्वं  
एतद्विदं ब्रह्म ’ (३.१४.१) इति सर्वात्मकत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म, किं प्रत्यागात्मा, उत परमा वेति सशयः । प्रत्यागात्मेति  
पूर्वोक्तं, सर्वत्र तादात्म्योपदेशोहि तस्यैवोपपद्यते । परस्य तु ब्रह्मणः सकलदेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य समस्तहेयाकारं  
सर्वतादात्म्य विरोधादेव न सम्भवति । प्रत्यागा मनोहि कर्मनिमित्तो ब्रह्मादिस्तत्त्वपर्यन्तं सर्वभाष्य उपपद्यते । सृष्ट्यादि  
हेतु यश्च तत्तत्कर्मनिमित्तत्वेन सृष्ट्यादेरुपपद्यते । ब्रह्मशब्दोऽपि बृहत्त्वगुणयोगेन ‘ तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमज्ञ च जयते ’  
(मुण्डक.१.१.९) इतिवत्तत्रैव वर्तते । राद्धान्तस्तु—‘ तज्जलान् ’ इति ‘ सर्वं एतद्विदं ब्रह्म ’ (१.१४.१) इति तज्जन्म-  
स्थितिलयहेतुकं तदात्मकत्वं प्रसिद्धवन्निर्दिश्यमानं परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते । परस्माद्ब्रह्मण एव हि जगज्जन्मस्थितिलयाः  
प्रसिद्धाः ‘ सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेयेति, इदं सर्वमसृजत ’ (तै.आन.६) इत्यादिषु । तथा सर्वात्मकत्वं च जन्मादिह  
तु परस्यैव ब्रह्मणः प्रसिद्धम्, ‘ स-मूलास्तोम्येमास्तर्वा. प्रजास्तदायतनारस्त-प्रतिष्ठाः ’ (छा.६.८.६) ‘ ऐतदात्म्यमिदं  
सर्वम् ’ (६.८.७) इति । हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानात्मनश्च परस्य हेयाकरसर्वभूतात्मवमविरुद्धम् । ‘ य पृथिव्यातिष्ठन्-  
यस्य पृथिवी शरीरम्, (बृ.५.७.३) य आत्मनि तिष्ठन्-यस्या मा शरीर-सत आत्माऽ तर्क्यम्यमृतः ’ (५.७.२२, मध्य-  
न्दिनपाठः) इत्यादिना शरीरात्मभावेन सर्वात्मत्वोपपादनात् ; शरीरात्मनोश्च स्वभावव्यवस्थानात् । सर्वं ब्रह्मेति सामा-  
नाधिकरण्यनिर्देशश्च सर्वशब्दस्य सर्वशरीरके ब्रह्मण्येव प्रवृत्तेरुपपद्यते । शरीरवाचीहि शब्दः शरीरिण्यात्मन्येव पर्यव-  
स्यति ; देवमनुष्यादिशब्दवत् । सूत्रार्थस्तु—सर्वत्र ‘ सर्वं एतद्विदं ब्रह्म ’ (छा.३.१४.१) इति निर्दिष्टे वस्तुनि सर्वशब्द-  
वाच्ये सामानाधिकरण्येन तदा मतया निर्दिष्टं परब्रह्मैव । कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात् ‘ तज्जलान् ’ [३.१४.१) इति सर्वं  
मिदं ब्रह्मखलु ’ इति प्रसिद्धवत्तस्योपदेशात् सर्वात्मकत्वस्योपदेशाच्च । तदेव हि जगज्जन्मास्थितिलयहेतुत्वेन वेदान्तेषु  
प्रसिद्धम् ॥

## सू= विवक्षितगुणोपपत्तेश्च [१-२.२]

मनोमयत्वादिकास्तस्य सङ्कल्पमिश्रा विवक्षिता गुणाः परास्मिन्नेवोपपद्यन्ते ॥

## सू.३-अनुपपत्तेस्तु न शरीरः (१.१.३)

एतेषां गुणानाम् अनन्तदुःखमिश्रपरिमितमुत्पलवमार्गिणि अज्ञे कर्मपरवशे शरीरे प्रत्यागा मन्यनुपपत्तेश्च न शा-  
रीरं, अपितु परमेव ब्रह्म ॥



### सू-४ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च (१.२.४)

‘एतमिनः प्रेत्याभिसंभवितासां’ इति प्राप्यतयोपाशो निर्दिश्यते ; प्राप्तृतया च जीवः । अतश्च जीवाद-वदे-  
वेद पर ब्रह्म ॥

### सू-५ शब्दविशेषात् (१.२.५)

‘एष म आत्माऽन्तर्हृदये’ (छा.३.१४.३) इति शारीर्यपृथ्या निर्दिष्टः, उपास्यः प्रथमया । अतश्च जीवाद-वद-  
स्यः परमात्मा ॥

### सू-६ स्मृतेश्च [१.२.६]

‘सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्टो मत्तस्मृतिर्ज्ञानमपोहन च’ (गी.१५.१५) इति स्मृतेश्च । अतश्च जीवाद-वद-उपा-  
स्यः परमात्मा ॥

### अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चनेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च .१.२.७.

‘एष म आत्माऽन्तर्हृदये’ (छा.३.१४.१) इति अल्पस्यानत्वात् ‘अणीया-व्रीहेर्वा यवाद्वा’ (३.१४.१) इत्य-  
ल्पत्वव्यपदेशाच्च न पर ब्रह्मेति चेन्न, निचाय्यत्वादेव, एवमुपास्य वाद्वेतोरत्यायत्नत्वात्पव्यपदेशः न स्वरूपात्पवेन ‘ज्या-  
यान्पृथिव्याः’ (३.१४.१) इत्यादिना सर्वसंज्ञायामन्योपदेशात् । ज्यायसोऽप्यस्य हृदयायतनावच्छेदेनाल्पत्वानुसन्धान-  
नमुपपद्यते । व्योमवत् यथा महतोऽपि व्योमसूचीपथादिप्रत्यक्षत्वानुसन्धानम् । चशब्दोऽवधारणे । तद्वदेवेत्यर्थः ।  
स्वाभाविकं चास्य महत्त्वमत्राभिधीयत इत्यर्थः । ‘ज्यायान्पृथिव्याः ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिदो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः’  
(३.१४.१) इति ह्यनन्तरमेवोपदिश्यते ॥

### सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् .१.२.८.

यद्युपासकशरीरे हृदयेऽयमपि वर्तते ; ततस्तद्वदेवास्यापि शरीरप्रयुक्तसुखदुःखसम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न, हेतुवैशे-  
ष्यात् । नहि शरीरान्तरवर्तित्वमात्रमेव सुखदुःखोपभोगहेतुः ; अपितु कर्मपरवशत्वम् ; तत्त्वपहतपाप्मनः परमात्मनो न  
सम्भवति ॥

॥ इति वेदान्तदीपे सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणं समाप्तम् ॥



## अथ अधिकरणसाराध्यायः

अत्रायोगान्ययोगव्यपनयननयैर्नक्षपादत्रिपादी  
 भागारूढैर्मृदूपक्रमकठिनपरैः प्रायः आद्ये प्रसाद्वपम् ।  
 कृत्स्नाक्षेपोपशान्त्यै प्रथम इह ततः पाद उक्तस्त्रिपादी  
 काचित्कक्षेपपूर्वासिलजलहसमुन्मूलनाय प्रणीता ॥  
 अस्मत्प्रसृष्टरूपफुटतरचिदचिद्विद्वद्व्यवस्थाचिन्ता  
 भाष्ये दीपावतारेऽप्यभाषे नयगणैस्सम्प्रवृत्त्या त्रिपाद्याम् ।  
 अत्यन्तास्पष्टलिङ्गान्वितविषयमुशन्त्याद्यपाद तु केचित्  
 तत्रेदं तारतम्यं नियतनिजगले. कर्मतार्तीयमानैः ॥  
 पूर्वत्रासिद्धरूपैस्त्वमतिविरचितेर्नीतिभिः पूर्वपक्ष-  
 स्सिद्धैस्साधारणैरप्युपाधिनियमितैः प्रत्यवस्था द्वितीये ।  
 स्पष्टासाधारणत्वरूपरिपरमतानृत्तिकल्पैरथेति  
 न्यायैर्त्रिंशदत्र प्रतिचरणावभक्त्यन्वितान्वेषणीया ॥  
 विश्वं पादे द्वितीये वपुरिति कथयंश्चिन्त्यते वाक्यवर्गो  
 विश्वाधारस्स आत्मेत्यभिलपनपरस्तर्कणीयस्तृतीये ।  
 तुर्ये साहचर्यादिपक्षोदितपारपठनभ्रान्तिरुन्मूलनीये-  
 त्येव केचित्त्रिपादीं जगदुरयर्माप श्रोतृबुद्धेस्समाधिः ॥  
 यस्य प्राणशरीर स खलु हिततमोपास्तिकमप्रसक्त-  
 स्तस्मिन्जीवत्यशङ्कां जगदुपजनके सौति शाण्डिल्यविद्या ।  
 पूर्वन्यायाच्च युक्तन्दमनमिह महावाक्यतः प्रक्रमस्ये  
 त्युत्थाने प्रक्रमोक्ताऽनुगुणमिति महावाक्यमेकीकरोति ॥  
 अन्याख्यात्र भेद प्रथममाधिकृतिर्भाषिता किंनिमित्तं  
 विद्यैकत्वेऽनुवादः पर इह गुणविद्वदर्थमेवेति युक्तम् ।  
 सत्य ब्रह्मानुमत्य कचिदुपनिषदि कापि कल्प्ये विवादे  
 चिन्तैपोदाहृतिस्स्यात्परमतरचितेत्यर्थसिद्धिस्तु बोद्धव्या ॥  
 सर्वस्य कर्मभिस्त्वैर्जनिमति घटते ब्रह्मशब्दोऽत्र चैव  
 त्यल्पस्थानोऽल्पमानस्सुखतदितरभुज्जीवणेति चेन्न ।  
 तज्जत्यादेरनूक्तेर्विधगुणभिदा दर्शनात्सर्वतादे  
 रस्वारस्यादप्यणुत्व ह्युपाधिकृतमिहोपास्यते ज्यायसि स्यात् ॥

॥ इति सर्वत्र प्रसिद्धधिकरणसमाप्तम् ॥

## अथ अत्राधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

यदि परमात्मा न भोक्ता, पदं तर्हि सर्वत्र भोक्तृतया प्रतीयमानो जीव एव स्यादित्याशङ्क्याह—

### सू-९ अत्ता चराचरग्रहणात् (१.२.९)

कठवल्लीप्रास्तायते—‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उमे भवत ओदन. । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥’ (कठ.१.२.२५) इति । अत्रौदनोपसेचनसूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति सन्दिह्यते । किं युक्तम् ? जीव इति । कुत ? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वा-जीवस्यैव तत्सम्भवात् ॥

## अथ अत्राधिकरणम्

### श्रुतप्रकाशिका

अथोत्तराधिकरणसङ्गतिमाह—यदीति । —

### सू-९ अत्ता चराचरग्रहणात् (१.२.९)

कठेत्यादि । यत्र स इति, यत्प्रकारविशिष्टः त प्रकारं को वेदेत्यर्थः । विषयवाक्ये अत्तेत्यश्रवणादस्याऽश्रुतेरेतत्सूत्राविषयत्वशङ्का परिहर्तुमाह—अत्रेति । यस्येति पष्ठीनिर्दिष्टसम्बन्धः ओदनोपसेचनसामर्थ्याददनीया तृभावलक्षणविशेषपर्यवसितः तस्मादत्ता सूचितइत्यर्थः—‘अग्निरन्नादः’ इति श्रुतिप्रसिद्धिमस्यामुपनिषद्यग्नेः प्रस्तुतत्वचावलम्ब्याग्नेर्जीवः परमात्मेति शिरस्त्रय कलितं परैः । चित्याग्नेः प्रस्तुतत्वेन साक्षादग्निप्रस्तावाभादाग्निप्रकरणस्य विच्छिन्नत्वादध्यात्मप्रकरणे विद्याङ्गकर्मोपयोगित्वमात्रविनाऽग्निवैभवप्रतिपादनायोगाच्च तत्परत्वाशङ्कायाम-दोषान-वमन्प्रियता भगवता भाष्यकारेण शिरोद्वय विचारकोटौ निवेशितम् । अत्ता जीव. उत परमात्मेति विचारः तदर्थमिदमतृत्व किं कर्मफलभोक्तृत्वरूप उत जगदुपसहर्तृवरूप किमत्र पूर्वप्रस्तुतब्रह्मप्रकरणे विच्छिन्न ? नेति ‘ऋतं पिवन्तौ’ इति किं बुद्धिजीवौ निर्दिश्येते, उत उरजीवपरौ पिवन्तौ इति निर्देशः किं छत्रिवल्लक्षणया शब्दशक्त्या वा प्रयोज्यप्रयोजकविषयतया नेयः उतन ? ‘तदुर्दर्शं’ ‘या प्राणेन’ इति परजीवयोर्दर्शनं किं लक्षणमापादयति उतनेति उपक्रमे ‘येऽयं प्रेत’ इति प्रश्नः किं जीवविषयः उत परविषय इति यदा जीवविषयः तदानीमुपक्रमविरोधेन ‘तं दुर्दर्शम्’ इत्यादिना ऋतपाननिर्देशस्य प्रयोज्यप्रयोजकविषयतापादनायोगात् ‘ऋतं पिवन्तौ’ इति वाक्यस्य बुद्धिजीवपरत्वेन ब्रह्मप्रकरणं विच्छिन्नमितीह प्रतिपन्नमस्तृवं कर्मफलभोक्तृत्वरूपमिति अत्ता जीव इति फलितम् । यदा ‘येऽयम्’ इति प्रश्नः परविषयः तदानीमुपक्रमानुगुण्येन ‘तं दुर्दर्शम्’ इत्यादिना ऋतपाननिर्देशस्य प्रयोज्यप्रयोजकविषयतापादनोपपत्तेः, ‘ऋतं पिवन्तौ’ इति वाक्यस्य जीवपरमात्मपरत्वेन ब्रह्मप्रकरणविच्छेदाभावादिह प्रतिपन्नमस्तृवं जगदुपसहर्तृवरूपमेवेत्यत्ता परमात्मेति फलितम् भोक्तृत्वस्येति । ओदनोपसेचनसामर्थ्यावगतस्येति भावः । ततः किमित्यत्राह—जीवस्यैवेति । ‘सर्वभूतान्तरात्माऽपहृ-

## श्रीभाष्यम्

अत्रोच्यते—(अत्ता चराचरग्रहणात्) अत्ता परमात्मैव । कुतः ? (चराचरग्रहणात्) चराचरस्य कृत्स्नस्यात्तत्त्वं हि तस्यैव सम्भवति । नचेदं कर्मनिमित्तभोक्तृत्वम् ; अपि तु जगज्जन्मस्थितिलयहेतुभूतस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्संहर्तृत्वम् ; 'सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (कठ.१.३.९) इत्यत्रैव तद्दर्शनात् । तथा च 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' (१.२.२५) इति वचनात्, 'ब्रह्म च क्षत्रं च' (१.२.२५) इति कृत्स्नं चराचरं जगदिहादनी यौदनत्वेन गृह्यते । उपसेचनं हि नाम स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुः । अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपलिच्यमानस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगत्क्षराचरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते । ईदृशचादनमुपसंहार एव । तस्मादीदृशं जगदुपसंहारित्वरूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव ॥

## सू-१० प्रकरणाच्च (१.२.१०)

## श्रुतप्रकाशिका

पाप्मा 'न कर्मणा वर्धते नोकनीयान्' 'अनभ्रन्नन्यः' इति परस्य भोक्तृत्वं निषिद्धमिति भावः, तत्सम्भवात् कर्मफलभोक्तृत्वसम्भवात्, ब्रह्मक्षत्रशब्दाच्चात्रा देहिना स्त्रीपुसात्मकत्वात्तद्रूपजीवानां परस्परभोक्तृभोग्यभावस्तम्भवति, जीवानां नित्यत्वादेव मृत्युवश्यत्वाभावात् मृत्युर्जीवस्य विधेयइत्यभिप्रायेण मृत्युपसेचनवादोऽपि सम्भवतीति भावः ॥

राष्ट्रान्तमारभते अत्रेति । चराचरग्रहणादित्येतद्व्याचष्टे चराचरस्येति । कृत्स्नचराचरविषय वा कतिपयविषय वाऽस्तु, ततः किं जीववैलक्षण्यस्य उक्तं हि कर्मफलभोक्तृत्वरूपमिदमन्तु वमित्यत्राह—नचेदमिति । कृत्स्नचराचरविषय मन्तुव जीवस्यानुपपत्तमिति भावः । अन्तुव विष्णुकर्तृक चराचरसंहर्तृत्वमिति कथमवगतमित्यत्र हेतुद्वयमाह—सोऽध्व नइति । प्रकरणे परमात्मवाचिपदश्रवणं प्रथमो हेतुः, द्वितीय हेतुमाह—तथा च मृत्युरिति । कथं चराचरस्यादनीयत्व- सिद्धिः मृत्युपसेचननिर्देशो हि मृत्युवश्यत्वाभावाभिप्रायस्तम्भवतीत्यत्राह—उपसेचनंहीति । यद्यप्युपसेचनशब्दो गौणएव निर्वाहः तथाऽपि साधारणाकारेणोपचारो न घटने, विशेषाकारस्तम्भवात् न ह्यभिर्माणवक इत्युक्ते अग्निशब्दो द्रव्यत्वाभि- मिप्रायेण वर्जनीयः । मृत्युपसेचन अत्राद्यक इत्युक्ते विशेषाकारोपस्थापनं न स्यात् अत्राद्यकत्वस्य लोष्टृणादिसाधारण- त्वात् स्वयमद्यमानत्वेत्यन्यस्यादनहेतुत्वं तु विशेषाकार इति तेनैवोपचारिकप्रयोगो युक्त इति भावः । साधारणाकारं वि- हायान्तराकारेण गौणार्थो वर्णनीय इति न्यायोऽत्र व्युत्पादितः । परस्य जगत्सहोर मृत्युपेक्षाऽपि नास्तीत्यस्मदुक्त- वार्थ इति शङ्का परिहरन् फलितमाह—अतइति । कृत्स्नजगत्सहोर मृत्युपेक्षाभावेऽप्यत्र मृत्योरद्यमानत्व व्यष्टिसंहारस्य तद्दशरूपव्याप्तिप्रेतम् । एवं मृत्युपसेचनत्वसामर्थ्यात् ब्रह्मक्षत्रशब्दौ कृत्स्नचराचरप्रदर्शनार्थमिति भावः । ततोऽपि किमित्यत्राह—ईदृशमिति । सूत्रार्थमुपसंहारं तस्मादिति । 'सोऽध्वन' इत्यादिवाक्ये विष्णोश्च्यमाणत्वमृत्युपसे- चनत्वसामर्थ्यसिद्धचराचरादनीयत्वाच्च कृत्स्नजगदुपसंहर्तृत्वरूपमेवेदं भोक्तृत्वमिति नेदं कर्मनिमित्तं, अतः परमात्मै- वात्तेत्यर्थः ॥

## सू-१० प्रकरणाच्च (१.२.१०)



### श्रीभाष्यम्

प्रकरणं चेदं परस्यैव ग्रहणः ‘महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीनो न शोचति’ (कठ. १.२.२२) ‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवंप्र वृणुते तेन लभ्यंस्तस्यैव आत्मा निवृणुते तनूं स्वाम्’ (२३) इति हि प्रकृतम् । ‘क इत्या वेदयत्र सः’ (कठ. १.२.२५) इति हि तत्प्रसादादृते तस्य दुरवबोधत्वमेव पूर्वप्रस्तुतं प्रत्यभिधायते ॥

अथ स्यात् नायं ब्रह्मक्षत्रौदनसूचितः पुरुषोऽपहतपाप्मा परमात्मा ; अनन्तरं ‘ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्राविष्टौ परमे परार्धे । छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च प्रिणाचिकेताः’ (कठ. १.३.१) इति कर्मफलभोक्तुरेव सद्वितीयस्याभिधानात् । द्वितीयश्च प्राणो बुद्धिर्या स्यात् । ऋतपानं हि कर्मफलभोग एव , सच परमात्मनो न सम्भवति

### श्रुतप्रकाशिका

स्ववाक्यस्य हेतुः पूर्वमुक्तः प्राकरणिवहेतुरप्रोक्त्यने—अस्य सूत्रस्य ‘न जायते म्रियते’ इत्यादिवाक्यं विषयतया परैरुपात्तं, तदयुक्तम् । पित्रादिमरणस्यैव परमात्मनो हन्यमानस्य लोकप्रतिद्वयभावः तत्तिपेधायोपात्तः, एतत्स्वरूपेण ‘न जायते म्रियते वा कदाचित्’ इति भगवद्गीताप्रवचनेनास्य वाक्यस्य जीवपरत्वावगमात्, ‘उभौ तौ नावि-जानीतौ नायं हन्ति न हन्यते ।’ इत्यनन्तरमन्त्रोक्तहन्तृह-यताभ्रान्तेः परमात्माश्रयत्वायोगेन जीवपरत्वोपपत्तश्च अतो नायमात्मा ‘महान्तं विभुम्’ इत्यादिरेव विषयः—एकप्रकरणत्वं कथमित्यत्राह—कदर्थेति । तत्प्रसादादृते तस्य दुर-वबोधत्वस्य पूर्वोक्तस्य प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः ॥

कैश्चिदेवमुक्तम्—‘अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्’ इति परमा मनः शरीरंऽवस्थितिश्रवणात् ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च’ इत्यनेन श्लोकेन शरीरे हृदयप्रदेशे वा परस्य स्थितिरिति जिज्ञास्यते, अतएवाह ‘क इत्या वेद यत्र सः’ इति वचनं न पुनः कस्तं वेदेतीति तदनेन निरस्तं वेदितव्यं, प्रश्नानुगुणप्रतिवचनादज्ञेनात् । नन्वनन्तरमव-दश्यते ‘ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्राविष्टौ’ इतीति चेत्—सत्यं श्रूयते तत्र स्थानत्वेन किमुक्तम् । किं सुकृतस्य लोकः, उत गुहा, तत्र सुकृतस्य लोकः इति शरीरं वा अन्यद्वा उभयमपि शरीरसंबन्धिदेशविशेषो न भवतीति तन्नोत्तरं भवितुमर्हति । नच स्थानमात्रमेव सृष्टं ‘अशरीरं शरीरेषु’ इत्यनेनैव तत्सिद्धेः ; अथ गुहा स्थानत्वेन निर्दिष्टा साऽपि पूर्वमेव ज्ञातेति न प्रश्नोद्भवः ‘गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्’ इति हि श्रुतं ‘यत्र सः’ इत्येकवचनेन पृष्टे ‘पिवन्तौ’ इति द्विवचनोत्तरचानुचितम्, अतः ‘क इत्या वेद’ इति वाक्यस्य यथोक्त एवार्थः ॥

उत्तरसूत्रस्य शङ्कामाह—अथ स्यादिति । प्रकरणविच्छेदं दर्शयति । ऋतं पिवन्तायिति । लिङ्गाद्धि प्रकरणं दुर्बलम् ऋतपानाल्लिङ्गबलात् प्रकरणविच्छेदोऽत्र प्रतिपाद्यते, ‘यस्य ब्रह्म’ इत्यादि वाक्यपेक्षया ‘महान्तं विभुम्’ इत्यादि परमात्मप्रकरणविच्छेदो माभूत् ऋतपानान्वयवाक्यतु विच्छिन्नं स्यादिति शङ्कापरिहारार्थमनन्तरमिदं उक्तम् ‘महान्तम्’ इत्यादिवाक्यानां व्यवहितत्वाद्विच्छेदो युक्तः नतु ‘यस्य ब्रह्म च’ इत्यादिवाक्येनाव्यवहितस्य ‘ऋतपि वन्तौ’ इति वाक्यस्येतिभावः, द्वयोस्समप्राधान्यशङ्कापरिहारार्थं न द्वितीयस्य युक्तम् अत्र भोक्तृजावैव कथम् द्वितीयस्य च बुद्धिप्राणयोरन्यतरत्वं कथं कथं न परमात्मत्वमित्यत्राह—ऋतपानहीति । कर्मफलभोगएवेति । नहि सर्वं हर्तृत्वं नून्येन इति ऋतपानस्य निर्वाहान्तरं सुवचमितिभावः । ततः किमित्यत्राह—सचेति । भवदभिमतस्य कथं तत्सम्भव-  
नून्येन इति ऋतपानस्य निर्वाहान्तरं सुवचमितिभावः । ततः किमित्यत्राह—सचेति । भवदभिमतस्य कथं तत्सम्भव-

## श्रीभाष्यम्

बुद्धिप्राणयोरनु भोक्तुर्जीवस्योपकरणभूतयोर्यथा कथञ्चित्पानेऽन्वयस्सम्भवसीति तयोर-  
न्यनरेण सद्वितीयो जीव एव प्रतिपाद्यते, तदेकप्रकरणत्वात्पूर्वप्रस्तुतोऽप्ताऽपि स एव  
भवितुमर्हति इति । तत्रोच्यते—

## सू-११ गुहां प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात् [१.२.११]

न प्राणजीवौ बुद्धिजीवौ वा गुहां प्रविष्टावृतं पिवन्तावित्युच्येते ; अपि तु जीवपर-  
मात्मानौ हि तथा व्यपदिश्येते । कुतः ? तद्दर्शनात् । अस्मिन्प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहाप्रवे-  
शव्यपदेशो दृश्यते । परमात्मनस्तावत् 'तं दुर्दर्शं गृहमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।  
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ.१.२.१२) इति । जीवस्यापि

## श्रुतप्रकाशिका

त्यत्राह—बुद्धेति । यथाकर्तृचदुपकरणत्वेनान्वय इत्यर्थः, करणे कर्तृत्वोपचारात् पिवन्तावित्युक्तमिति भावः । तयोरन्य-  
तरेण सद्वितीयो जीवएवेति । अयमभिप्रायः यद्यपि प्रयोजककर्तरि परमात्मानि उपकरणभूतबुद्धिप्राणयो-  
न्यनरस्मिन्वा पिवन्ताविति निर्देशस्य क्लिष्टत्वं समानम्, तथाऽपि बुद्धिप्राणयोरन्यतरपरिग्रहो न्याय्यः प्रथममेव पिवन्ताविति निर्दे-  
शेन भोक्ता जीवः प्रतिपन्न इत्यविगीत, 'द्वितीयविशेषहि विप्रतिपत्तिः तत्र गुहावच्छिन्नत्वं सुकृतसाधने कदाचित् च सर्व-  
गतस्य परस्य स्वरसतो न सम्भवति । अप्रकाशप्रकाशरूपार्थपरच्छायातपशब्दाभ्यामाचिदन्तःकरणचेतोपस्थापनं युक्तं तत्र  
प्रथमतएवानेकैः पदैः स्वरसतः प्रतिपन्नस्य भोक्तुः प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वं यथा न विरुद्ध्यते तथा द्वितीयो वक्तव्यः  
द्वितीयस्य परमात्मने भोक्तुः प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वं विध्यत, उपकरणभूतान्तःकरणस्य द्वितीयत्वे भोक्तुः प्राधान्येन प्रति-  
पाद्यत्वं न विरुध्यत इति । ततः किमनुजीवभावस्त्यत्राह—तदेकेति ॥

## सू-११ गुहां प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात् [१.२.११]

अतं पिवन्ताविति निर्देशेऽपि गुहां प्रविष्टाविति सूत्रयनोऽयं भावः, द्वितीयस्य ऋतपानं पक्षद्वयेऽपि क्लिष्ट-  
बुद्धिप्राणयोरन्यतरपक्षएव छायातपनिर्देशो लोकशब्दनिर्देशश्च घटना, गुहाप्रवेशस्तु न कथञ्चिदपि घटते 'आत्मा  
गुहायां निहितः' 'यो वेद निहितं गुहायाम्' 'गुहाहितं गह्वरेष्ठम्' 'विधूयकविरेतदनुतिष्ठेत् गुहाशयम्'  
'पू प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य' इति परमात्मनो गुहाप्रवेशव्यपदेशप्रसिद्धिप्राचुर्यात् बुद्धिप्राणयोरन्यतरस्य तादृश-  
प्रसिद्धयभावाच्चैनं, एभिर्वाभिप्रायं हृदि निधाय सूत्रे प्रतिज्ञातपण्ड व्याचष्टे नप्राणजीवाविति । जीवपरमात्मानौहीति  
सूत्रे हि शब्दः सूत्रार्थस्य परमसाध्योपपादकत्वसूचक इति भावः । सूत्रे प्रतिशोपपादक हेतुत्वाच्च व्याचष्टे अस्मिन्निति ।  
परमात्मनस्तावदिति । गुहाप्रवेशव्यपदेशो दृश्यत इत्यन्वयः तं दुर्दर्शमिति । दुर्दर्शं, द्रष्टुमशक्यं कुतः ? गृहम तिरो-  
घायककर्मरूपाविद्यादिना तिरोहितत्वादित्यर्थः गुहाहितं हृदयवर्तिनं गह्वरेष्ठं आत्माऽन्तर्यामिण, परमव्योमनिलय वा,  
अध्यात्मयोगाधिगमेनेति परोपासनस्य जीवोपासनमङ्गत्वेन विधीयते जीवपरयोरुभयोरपि प्रकरणप्रतिपाद्यमानत्वात्  
जीवस्यापीति । गुहाप्रवेशव्यपदेशो दृश्यत इत्यन्वयः, अदितिशब्दस्य देवमातरि भूमौ च वेदप्रसिद्धेस्तस्यावृत्त्यर्थमेव.

## श्रीभाष्यम्

‘याप्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेर्मिथ्यजायत ॥’ (कठ. २.४.७) इति कर्मफलान्यस्तीत्यदितिर्जीव उच्यते । प्राणेन सम्भवति प्राणेन सह वर्तते । देवतामयी-इन्द्रियाधीनभोगा । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती-हृदयपुण्डरीकोदरघर्तिनी भूतेर्मिथ्यजायत-पृथिव्यादिभिर्भूतैस्सहिता देवादिरूपेण त्रिविधा जायते । एवं च सति ‘कृतं पिघन्ता’ (कठ१.३.१) इति व्यपदेशः ‘छात्रिणो गच्छन्ति’ इतिवत्प्रतिपत्तव्य । यद्वा प्रयोज्यप्रयोजकरूपेण पाने कर्तव्यं जीवपरयोरुपपद्यते ॥

## सू-१२ विशेषणाच्च [१.२.१२]

## श्रुतप्रकाशिका

यवशक्त्या जीववाचित्वं दर्शयति कर्मफलानीति । रुढार्थस्य गुहाप्रवेशासम्भवाद्योगपरिग्रह इतिभावः, कर्मफलशब्देन ऋणशब्दार्थोऽपि दर्शितो भवति, छात्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन निर्वाहे लाक्षणिकत्वं स्यादिति मुख्यकल्पानिर्वाहमाह—यद्वेति । मुख्यत्वेऽप्यस्वारस्यमात्रमस्ति लाक्षणिकत्वादपि तद्वरं शुद्धिप्राणयोरन्यतरपरत्वमतीवास्वरसं करणत्वेनहि तयोरन्वयः, परमात्मनस्तु ‘तत्प्रयोजको हेतु’ इत्युक्तप्रप्रियया प्रयोजककर्तृतायाः कर्तृत्वविशेषवाच्यत्वाच्च वे पिघन्ताविति निर्देशः स्वरस्य भावः । पिघन्ताविति निर्देशस्वारस्यमुपयोधेतनत्वं एव घटते उभौ गृह प्रविष्टौ इति निर्देशोहि न दण्डाद्वितीयपुरुषविषयः अपितु पुरुषद्वयविषयः, ‘ब्रह्माविष्टो वदन्ति’ इत्युक्तत्वाच्च जीवसद्वितीयपरमात्मपरत्वं युक्त एव निर्वाहद्वयेनापि प्रकरणविच्छेदकलिङ्गत्वेन पराभिमतस्य ऋणाना-न्वयस्य न्यायासिद्धिरुक्ता भवति, गत्यभावे यदमुख्यं तत्र द्वयोःप्रतिपत्तयोः प्रकरणानुगुणस्य ग्राह्यत्वं सजातीययोरेव द्विवचननिर्देशाहं वच्चेति न्यायद्वयमत्र शिक्षितम् ॥

## सू-१२ विशेषणाच्च [१-२.१२]

## गूढार्थसंग्रहः

## अथ अत्राधिकरणम्

‘अत्ता चराचरग्रहणात्’ पूर्वाधिकरणे भोक्तृशब्दाभावेऽपि तदज्ञापकशब्दसद्भावेन जीवत्वाशङ्काया हेत्वन्तरेण जीवो व्यावर्तितः । अत्रतु स्फुट भोक्तृत्व प्रतिपादने । ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदनः’ इति । अतो जीव एवात्र भोक्ता न परमात्मा इति शङ्कायामिदमधिकरणं प्रवृत्तम् ॥

अत्र ‘या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी’ इति वक्ष्यति । सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्’ इतिसूत्रे ‘तज्जलान्’ इत्यत्र सृष्टिलयौ प्रतिपादितौ । ‘इदं सर्वमसृजत’ इति ‘स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमप्रियत’ इति च सृष्टिलययोः उक्तिपूर्वकं बृहदारण्यके ‘सर्वं वा अस्तीति तददितेरदिति’ इति (बृ.३.२.५) इति निरुक्त्या भक्षको जीव एव तत्रापि विवाक्षितः । इत्यच्चादितिशब्दस्य योगार्थस्यास्फुटतया ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्र च’ इति विषयवाक्ये ओदनेपसेचनशब्दाभ्याम-तृत्व स्फुटं प्रतीयते । योगार्थस्तु पूर्वपक्षे विवाक्षित एव । तत्र योगार्थ एव विवाक्षित इत्यत्र नियामकत्वं इदमेव ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन’ इति पूर्वपक्षिण आशयः । तद्वाक्यस्य विषयवाक्यतयाऽप्यन्यासस्तु सिद्धान्ते अनुपाप्रियत इति धारणस्यैव प्राधान्यं नतु अतृत्वस्य इति सूत्रे अतृत्वमेव प्राधान्येन निर्दि-

### गूढार्थसंग्रहः

एभिः तात्पर्येण 'यस्य ब्रह्म च' इति वाक्यस्य विषयवाक्यतया भाष्ये उपादानम् 'या प्राणेन सम्भवति-या भूतेभिः व्यजायत' इति मन्त्रे 'व्यजायत' इत्यस्य सत्तात् जीव एव विवक्षितः । गृहदारण्यके तु 'अनुमप्रियत, यद्यदे वासुजन' इति सामान्यतउक्तया सर्वसंहारार्थधारणस्य विवक्षितत्वेन तस्य परमा मति संभवः जीवैव सम्भवः । सूत्रे चराचरशब्दश्रवणेन पदार्थद्वयघटितवाक्यस्यैव विषय व सूत्रकारसम्मतिमिति स्पष्टमवगम्यते । ब्रह्मक्षेत्रशब्दाभ्यां चराचराण्युपलक्ष्येते । मृत्योस्संहर्तृत्वेन व्यवहारात् स नात्र विवक्षित इति तात्पर्येण 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इत्युक्तम् । भक्षणदशाया उपकारकस्योपसेचनत्वेन व्यपदेशः मृत्योरपि संहारोपकारकत्वेन 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इति व्यपदेशः । चराचरशब्दयोः गमनयोग्यो जीवः तदितराचेतनश्चार्थः 'चरगतिभक्षणयोः' इति घातोः गत्यर्थकत्वेनेदम् । भक्षणार्थं वे भक्षणयोग्यत्वमचितः जीवस्य भक्षणयोग्यत्व नास्ति । अतएव 'न जायते म्रियते वा' इत्युत्तरं कोत्तिरस्ति न च छते । नित्याना जीवानामनुत्पत्तय परस्य कथं सम्भवतीति चेत् 'ब्रह्मजस्य देवमर्थाव्यम्' इति जीवेशशब्दप्रयोगेण शानद्वारकं भक्षण नैतु स्वरूपद्वारकम् । शानसङ्केचेनैव जीवस्य संहारकर्मतेत्यर्थः प्रतीयते सिद्धान्तेऽविरुद्धः कृत्स्नस्य ब्रह्मक्षेत्रपूर्वकस्य चराचरस्य जगतः इति भाष्यात् ॥

'प्रकरणाच्च' प्रकरणविच्छेदशङ्कानिरासार्थमिदं सूत्रमनुत्तरसूत्रानुवर्तने स्पष्टम् 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र कर्मफलभोक्तृत्वोक्तया पूर्वत्रापि कर्मफलभोक्तृत्वं विवक्षित इति पूर्वपक्षिण आशयः । एतत्पूर्वं 'न जायते' इत्यनन्तरं 'अणोरणीयान्' इति मन्त्रे 'वीतशोकः घातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः, महान्तं विभुमात्मानं मात्वा धीरो न शोचति' इति परमात्मप्रकरणमेवेति 'यस्य ब्रह्म च क्षत्र' इत्यत्र प्रकरणविच्छेदशङ्का नास्ति । 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्रापि प्रकरणविच्छेदो नास्तीत्युच्यते ॥

'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्युक्तया सुकृतफलभोक्तृत्वमेव प्रतीयते । अन्यतरस्य भोक्तृत्व सिद्धान्तेऽपि यथाकथाचनविधया उपपादनीयम् । अतो बुद्धेः प्राणस्य वा विवक्षा स्यादिति शङ्का 'गुहां प्रविष्टौ—तद्दर्शनात्' इति सूत्रे उक्तया बुद्धिप्राणयोः गुहाप्रवेशो नास्तीत्येवार्थः । 'तद्दर्शं—गुहाहितम्' 'अणोरणीयान्—गुहाया निहितः' इत्यत्र परस्य गुहाप्रवेश उक्तः । 'यद्द मध्वद वेद आत्मानं जीवमन्ति-कात्' इत्यत्र कर्मफलभोक्तारं जीव निर्दिश्य 'यः पूर्वं तपसा जात—गुहा प्रविश्य तिष्ठन्तम्' इत्यत्र 'या प्राणेन सम्भवत्यदिति देवता मयी । गुहा प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत' इत्यत्र च जीवसामान्यस्य गुहाप्रवेशोऽभिहितः । 'व्यजायत' इत्यत्र भूतैः प्राणिभिस्सह व्यजायत, प्राणिनश्च देहयोगेन नानाविधानुत्पादयामास, इति अदिति शब्दार्थः परमात्मा इत्यर्थः (रा. ती) श्रुतिपीडनमेव । 'यद्द मध्वद वेद आत्मानं जीवम्' इति पूर्वश्रुतिविरोधात् जीवपरयोः गुहाप्रवेशाभिधानेन परमात्मप्रकरणविच्छेदाभावात् परमात्मैव कटवच्छया प्रघातयेन विवक्षित इति नानुपपत्तिः अत्र 'द्वाभुपर्णा' इति श्रुतौ गुहात्वेन गुहाप्रवेशो न श्रुत इति भाष्ये तस्यागः । उपनिषद्भाष्ये 'इयदामननात्' इति सूत्रे च परैः जीवपरमात्मविषयत्वेनैव एतच्छ्रुतिद्वयं विवृतम् । एवमेतदधिकरणेऽपि 'ऋतं पिबन्तौ' इति मन्त्रः व्याख्यातः प्रथमम् । अनन्तरं 'अपरआह' इत्यनेन 'द्वाभुपर्णा' इति मन्त्रस्यान्यथाव्याख्याकरणेऽपि ग्रन्थस्थलत्रये जीवपरमात्मपरतयैव एतत्सूत्रव्याख्यानेन सा श्रुतिः जीवपरमात्मपरैव । अतएव (श) भाष्यव्याख्यानेषु सर्वेषु 'अपर आह' इत्युक्तिः 'कृत्वा चिन्तया' इत्येवोक्तम् । पूर्वाधिकरणे 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इति 'तजलान्' इति विशेषेण श्रुतमजनिलयोमयनिबन्धनएवाभेदव्यपदेशः सचोपादानोपादेयभावनिबन्धन इत्यर्थः ॥



### श्रीभाष्यम्

अस्मिन् प्रकरणे जीवपरमात्मानावेवोपास्यत्वोपासकत्वप्राप्यत्वप्राप्तत्वविशिष्टो सर्वत्र प्रतिपाद्यते । तथा हि—' ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचार्येमां शान्तिमस्यन्तमेति ' (कठ. १.१.१७) इति । ब्रह्मजज्ञो जीवः, ब्रह्मणो जातत्वात् शत्वाच्च । तं देवमीड्यं विदित्वा जीवात्मानमुपासकं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः । तथा ' यस्सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शक्यमहि ' (कठ.१.२.३) इत्युपास्यः परमात्मोच्यते । नचि-

### गूढार्थसंग्रहः.

' विशेषणाच्च ' इति सूत्रे एव एव न्यायः ' द्वासुपर्णां समुजा सखाया ' (मु.३.१.१) इत्येवमादिविधीति परैरुक्तम् । इयं च श्रुतिः मुण्डकश्वेताश्वतरयोः श्रूयते । ' द्वासुपर्णा ' ' ऋतं पिबन्तौ ' इत्यनयोरेकार्थत्वं उभयोस्सहोपादानेन जिज्ञासाधिकरणे भगवता सूचितम् । अत्र चायं सूत्रकाराशयः भगवतोऽभिप्रेतः । ' अत्ता चराचरग्रहणात् ' इति सूत्रे ' सर्वं सखिद ब्रह्म तज्जलानिति शान्तं उपसीत ' इत्यनोत्तसृष्टिस्थितिलयेषु लयकारणत्वं संहर्तृत्वरूपं प्रतिपादितम् । तत्र च ' प्रजापतिर्वा एकोऽग्रसृष्टिष्ठत् ' (मै.उ.२.६) इति श्रुतिरपि विवक्षिता । तेन संहर्तुः लयकालेऽभिप्रायः श्रुतिप्रतिपादितः सूत्रकृतो विवक्षितः । यथोक्तं तन्नैवोपनिषदि ' स नारमतैकः—ता अश्मेवाप्रबुद्धाः अप्राणाः स्याणुरिव तिष्ठमानाः अपश्यत् स नारमत साऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाम्यन्तरं विविशामि ' (मै.उ.२.६) इत्येवमभिप्रायेण निष्पन्नमेवार्थं ' गुहां प्रविष्टौ ' इति सूत्रे सूचयति सूत्रकारः ' द्वासुपर्णा ' इत्यादिऋक्संहिताश्रुतिप्रकरणे राजकुमारनयस्सूचित इति प्रागेव (७६४.पु) निरूपितम् । तेन कुमारे दयया ज्ञानसम्पादनाद्यर्थं शरीरे स्थितिरिति सिद्धयति ॥

' विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ' इति सूत्रे दयादीनामापि विवक्षा पूर्वमुक्ता । अत्र अतृत्वमुपक्रम्य गुहाप्रवेशाभिधानपूर्वकं ' विशेषणाच्च ' इति सूत्रे प्राप्यप्रापकभावस्यापि भाष्ये स्फुटमभिधानेन ज्ञानसङ्कोचः प्रलयकालं ज्ञानविकासश्च सृष्टावित्यर्थस्य ' ब्रह्मजज्ञम् ' इति श्रुतौ सूत्रेण ज्ञानविकासनिवन्धनदयागुणोपयोगविशदीकरणेन ' सोऽध्वनः पारमाप्रोति ' इत्यत्र प्राप्ते, ' शतचैका च ' इति मन्त्रे अर्चिरादेश्च प्रतिपादनेन गतिद्वारा प्राप्तेरेव विवक्षिततया तावत्पर्यन्तं दयाया उपयोगोऽपि सूचितः । एवमभिप्रेत्यैव सूत्रकृता ' हार्दानुगृहीतः ' इति वक्ष्यते । एतेन जीवपरयोर्भेदः श्रुतिसिद्धः अप्रकम्प्य इति ' गुहा प्रविष्टौ ' इति सूत्रे सूचयति । ' ऋतं पिबन्तौ ' इति श्रुतौ ' छायातपौ ' इत्यनेनाज्ञत्वसर्वज्ञत्वान्या जीवपरयोः व्यपदेशः । छायाशब्दः धर्मभूतज्ञानस्यान्तरुद्धोचतात्पर्यकः ' अश्मेवाप्रबुद्धा ' इति श्रुतौ ' प्र ' शब्देन धर्मभूतज्ञाननाशः नास्तीति सूच्यते । सङ्कोचे कर्मैव निमित्तिमिति सूचितम् । ' पिबन्तौ ' इति निर्देशः प्रयोज्यप्रयोजकभावोनेति भगवतैतोक्तम् । ' विशेषणाच्च ' इति सूत्रे ' विज्ञानसाराथिर्यात् ' इति श्रुतौ प्राप्यत्वप्राप्तत्वाभ्यां परमात्मजीवयोर्विशेषिताव सूत्रकृदभिप्रेतमिति भगवतैव स्पष्टीक्रियते । ' अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा ' ' पुरुषान्नपर किञ्चित् ' ' अव्यक्तात्तु परः पुरुषः ' इत्यादौ पुरुषशब्दे ' सयःपूर्वोऽस्मात् सर्वस्मा सर्वापाप्मन औषत् ' इत्यत्र लयकारणत्वकर्मक्षयहेतुव्या. पुरुषशब्दार्थत्वं यदुक्तं ' तत्त्वौपनिषद पुरुष—विज्ञानमानन्द ब्रह्म रातिर्दानु. परायणम् ' इत्यत्र मुक्तिफलदातृत्वमपि पुरुषशब्दार्थत्वेन यच्चाभिप्रेतं तत्सर्वमत्रापि विवक्षितम् । ' सवा अयं सर्वासु पूर्ण ' इत्यादौ सर्वान्तर्यामित्यपुरुषशब्दे विवक्षितमेव इति ' ऋतं पिबन्तौ ' इति मन्त्रे स्पष्टीकृतम् । अस्य सर्वस्य पर्यालोचनाया प्रलयकाले दयामूलको योऽयमभिप्रायः ब्रह्मणः स. मुक्तिकाले पूर्णधीविकासदानेन सपूर्णः अभवत् इति श्रुतितात्पर्याभिज्ञानां निर्मलतराणामुक्तम् ॥

इति अत्राधिकरणम्

## श्रीभाष्यम्

केतम्-नाचिकेतस्य कर्मणः प्राप्यमित्यर्थः । 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।' (१.३.३) इत्यादिनोपासको जीव उच्यते । तथा 'विज्ञानसारधिर्यस्तु मनः प्रग्रहवाचरः । सोऽध्वनः पारमामोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (कठ.१.३.९) इति प्राप्यप्राप्तारावभिधीयते जीवपरमात्मानौ । इहापि 'छायाऽऽतर्पा' (१.३.१) इत्यशत्वसर्वज्ञत्वाभ्यां तावैव विशिष्य व्यपदिश्येते ॥

अथ स्यात् 'येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' (कठ.१.१.२०) इति जीवस्वरूपयायात्म्यप्रश्नोपक्रमत्वात्सर्वमिदं प्रकरणं जीवपरमिति प्रर्तयते इति । नैतदेवम्, नहि जीवस्य देहातिरिक्तस्यास्तित्वनास्तित्वशङ्कयाऽयं प्रश्नः, तथासति पूर्ववर-द्वयवरणानुपपत्तेः । तथा हि पितुस्सर्ववेदसदक्षिणक्रतुसमाप्तिरेलायां दीयमानदक्षिणावै-गुण्येन क्रतुवैगुण्यं मन्यमानेन कुमारेण नचिकेतसा आस्तिकाप्रेसरेण स्वात्मदानेनापिपितुः क्रतुसादगुण्यमिच्छता 'कस्मै मां दास्यसि' (कठ.१.१.४) इत्यसृष्टपितरं पृष्टवता स्वनिर्वेध सृष्टपितृवचनान्मृत्युमदनं प्रपिष्टेन स्वसदनात्प्रोपुषि यमे तददर्शनात्तत्र तिस्रो रात्रीरपो-पुषा स्योपयामर्भाततत्प्रतिप्रधानप्रवृत्तमृत्युप्रदत्ते वरत्रये आस्तिक्यातिरेकात्प्रथमेन वरेण स्वात्मानं प्रति पितुः प्रसादो वृत्तः ; एतच्च सर्वं देहातिरिक्तमात्मानमजानतो नोपपद्यते । द्वितीयेन च वरेणोत्तीर्णदेहात्माऽनुभाव्यफलसाधनभूताग्निविद्या वृत्ता, तदपि देहात्मानभि-ज्ञस्य न संभवति । अतस्तृतीयेन वरेण यद्विदं व्रियते 'येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽह वराणामेष वरस्तृतीयः' (कठ.१.१.२०) इति ; अत्र परमपुरुषार्थरूपब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यविज्ञानाय तदुपायभूतपर-

## श्रुतप्रकाशिका

तत्तद्वाक्योदितविशेषान्तराणि च प्राप्यत्वप्राप्तृत्वोपास्यत्वोपासकत्वान्तर्भूतानीत्यभिप्रायणोपास्यत्वोपासक वप्राप्य व-प्राप्तृत्वविशिष्टावित्युक्तम् 'ब्रह्मजज्ञम्' इत्युपासक वदति 'शक्नेमहि उपासितुं प्राप्तुम्' इतिशेषः । आत्मानं रथिनमित्यादि । शरीराद्युपासनपरिकरसाहितो जीव उच्यते इत्यर्थः । इहापि 'ऋतु पितन्तौ' इति वाक्येऽपि अश-त्वसर्वज्ञ वाभ्यामित्यनेन 'ज्ञाहौ द्वौ' इति वाक्यं स्मारितम् । उदाहृतवाक्यैकार्थ्याच्छायातपशब्दयोरयमेवार्थः 'विशे-पणाश्च' इति सूत्रे छायातपस्वरूपविशेषणमपि विवक्षितमिति भावः । उत्तरत्र 'त्रयाणामेवचैवम्' इत्यादिसूत्रेण वक्ष्यमाणवेऽपि चोदस्य बुद्धिस्तयात् सुग्रहवाय त पूर्वकं परिहारमाह—अथ स्यादिति ॥

असिन्प्रकरणे जीवपरमात्मनोर्विशेष्यत्वमयुक्तम्, उपक्रमस्य जीवपरत्वादित्याह—येऽयमिति । परिहरति नैत-दिति । वरद्वयं किं ? तद्वरणानुपपत्तिः कथमित्यत्राह—तथाहीति । पितृप्रसादवरणस्याविद्यावरणस्य च प्रत्येकनिरपेक्षहे-तुवसूचनार्थं एतच्च सर्वम् । तदपीति द्विरुक्तम् । अत्रपरमेति । अत्र यदिदं व्रियते, यद्वरणं क्रियते तत्र वरण इत्यर्थः । मोक्षयाथात्म्यविज्ञानाय तदुपायभूतपरमात्मोपासनपरावरात्मतत्त्वजिज्ञासयेति । मोक्षशानाय मोक्षानुबन्धिजि-ज्ञासयाऽयं प्रश्न इत्यर्थः 'येऽयम्' इत्यादिप्रश्नवाक्ये मोक्षस्वरूपप्रश्नः कण्ठोक्तः, प्रतिवचनप्रकारेणोपासनादिप्रश्नश्चायं-सिद्ध इत्यवगम्यते, एव विभागशानाय विज्ञाय जिज्ञासयेति पृथगुक्तिः । मोक्षप्राप्तिप्रश्ने प्राप्यप्रापकप्राप्तृप्रश्नोऽन्तर्गत इति भावो दर्शितो भवति निर्विशयतापत्तिर्मोक्षेद्वाक्यार्थज्ञानस्योपायता स्यात्, उभयलिङ्गक प्राप्यचेत्तथा वेनोपासनमुपाय

## श्रीभाष्यम्

मात्मोपासनपरावरात्मतत्त्वजिज्ञासयाऽयं प्रश्नः क्रियते । एवं च 'येऽयं प्रेते' (१.१.२०) इति न शरीरवियोगमात्राभिप्रायम् ; अपितु सर्ववन्धविनिर्मोक्षाभिप्रायम् । यथा 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ.४.४.१२) इति । अयमर्थः मोक्षाधिकृते मनुष्ये प्रेते सर्ववन्धविनिर्मुच्यते तत्स्वरूपविषया वादिविप्रतिपत्तिनिमित्ताऽस्तिनास्त्यात्मिका येऽयं विचिकित्सा तदपनोदनाय तत्स्वरूपयाथात्म्यं त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्यां-जानीयाम्-इति । तथा हि बहुधा विप्रतिपद्यन्ते केचिद्वित्तिमात्रस्याऽत्मनस्स्वरूपोच्छित्तिलक्षणं मोक्षमाचक्षते । अन्ये वित्तिमात्रस्यैव सतोऽविद्यास्तमयम् । अपरे पापाणकल्पस्याऽत्मनो ज्ञानाद्यशेषवैशेषिकगुणोच्छेदलक्षणं कैवल्यरूपम् । अपरे तु अपहतपाप्मानं परमात्मानमभ्युपगच्छन्तस्तस्यैवोपाधिसंसर्गनिमित्तजीवभावस्योपाध्यपगमेन तद्भावलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते । त्रय्यन्तनिष्णातास्तु निखिलजगदेककारणस्याशेषहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया प्रकारभूतस्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्य परमात्मानुभवैकरसस्य जीवस्यानादिकर्मरूपाविद्यातिरोहितस्वरूपस्याविच्छेदपूर्वकस्वाभाविकपरमात्माऽनुभवमेव मोक्षमाचक्षते तत्र मोक्षस्वरूपं तत्साधनं च त्वत्प्रसादाद्विद्यामिति नचिकेतसा पृष्टो मृत्युस्तस्यार्थस्य दुरवयोधत्त्वप्रदर्शनेन विविधभोगवितरणप्रलोभनेन चैनं परीक्ष्य योग्यतामभिज्ञाय परावरात्मतत्त्वविज्ञानं परमात्मोपासनं तत्पदप्राप्तिलक्षणं मोक्षं च 'तंतुर्दर्शं गूढमनुप्राविष्टम्' (कठ.१.३.१२) इत्यारभ्य 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (कठ.१.३.९) इत्यन्तेनोपदिश्य तदपेक्षितांश्च विशेषानुपपदिदेशेति सर्वं समञ्जसम् । अतः परमात्मैवात्तेति सिद्धम् ॥

## इति अत्राधिरणं समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

इत्यात्, अतो मोक्षस्वरूपज्ञानं तदनुबन्धज्ञानोपेक्षम् । एव प्रश्नस्य शतेतरविषयत्वात् प्रतिवचनानुरूप्याच्च यथोक्त-  
एवार्थः । प्रेतपदस्योक्तार्थपरत्वे श्रुत्यन्तरसंवादं दर्शयति यथेति । 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इति श्रुतिः । कः पुनर्वाक्यार्थः, नहि मनुष्यमात्रस्य बन्धविनिर्मोक्षसम्भव इत्यत्राह—अयमर्थ इति । अस्तिनास्त्यात्मिका अस्तं नास्तीत्येवमादिरुपा, विद्यामिति पदस्य द्वितीयान्तकारकपदत्वशङ्कां निवर्तयन्त्याच्छेदं जानीयामिति । विप्रतिपत्तिं दर्शयति तथार्हाति ।  
कारणशेषकगुणप्रतिपादकवाक्यार्थविशिष्टमाह—निखिलजगदेककारणस्येत्यादि ।

अनुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्येति । स्वरूपशब्दो धर्मधर्मिणोऽसाधारणः तत्रेत्यादि । परावरात्मतत्त्वविज्ञानं, शातव्यवरावरा मतत्त्वम् उपदिश्येत्यन्वयः तदपेक्षितांश्च विशेषान् प्रणयामि विद्यार्दान् । अधिकरणार्थमुपसंहरति अत इति ।  
'अत्ता' इति सूत्रे स्ववाक्यस्य हेतुत्वः । प्राकराण्यपूर्ववाक्यस्य हेतुपरं द्वितीयम् । अनन्तरवाक्यशङ्कापरिहारपरं तृतीयम्, अनन्तरं च शब्दाप्रयोगः । उभयतनवाक्यस्य हेतुत्वमिति तृतीयसूत्रार्थोपपादकं चतुर्थमिति सूत्रसङ्गतिः ॥

'गूढं प्रविष्टौ' इत्यादिसूत्रद्वयमधिकरणान्तरं केचिदाहुः तदनुक्तम् । एकप्रकरणस्यावश्यकविशेषविषयाणामधिक-  
करणान्तरादान्तरावधारितानामुपजीव्यापजीवकभावेन परस्परान्वितार्थप्रतिपादकानां स्थानां विषयवाक्यभेदे सत्यपि मि

## श्रुतप्रकाशिका

प्राधिकरणत्वाभावात् । ईक्षत्यानन्दमयाधिकरणादिषु ' तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ' ' प्रतिष्ठाविरोधात् ' ' तद्वेतु  
व्यपदेशाच्च ' ' मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ' इत्यादीनां सूत्राणां पूर्वापरबहुवाक्यविषय वेऽप्यव्यवहितत्वात् परस्परौ  
पञ्जीयोनजीयकभावेनान्वितार्थपरतयाऽपि तैकाधिकरण्यम् । ' अदृश्यत्वादिगुणकः ' ' शुभ्याद्यायतनम् ' इत्यधि-  
करणयोस्तु एकप्रकरणस्यानेकवाक्यविषय वेऽपि भेद उपपद्यते, स्पष्टास्पष्टलिङ्गवाक्यविषय वेदेनैकसिद्ध्यति १ इह २५५ स्ते-  
दरजीवोपजीयकभावाच्च । नहि ' यस्मिन्मृगोपजीय ' इत्यादिवाक्यस्य परमा मपर वमह वादिगुणकस्याऽऽगत परतः  
परस्य च परमा मपरत्वापवादकम्, परप्रकरणत्वेऽपि तच्छेषवेनापरमा मप्रधानादिप्रतिपादनोपपत्तेः । अत उपजीव्योपजी-  
यकभावाभावादाधिकरणभेदः तत्र युक्तः, इहतु पूर्वावाक्यप्रतिपक्षम तृचं कर्मफलभोक्तृत्वरूपमित्यनन्तरवाक्येन प्रतिपक्षेति  
तस्यातुः परमा मगानुपपत्तेः अनन्तरवाक्यस्य परमा मपर वोपपादनमनुः परमा म वोपयुक्तमेव ॥

एवं एकप्रकरणस्य वाक्यविषयत्वे सत्यधिकरणान्तरपादान्तराव्यवहितत्वे चसति परस्परौपयुक्तार्थप्रतिपादकानां सूत्र-  
णामैकाधिकरण्यमेवाचितम् । अन्यथा ईक्षत्याधिकरणादिष्वप्येकैकाधिकरणस्य सूत्राणामधिकरणभेदकत्वेना प्रसञ्चेत् अतए-  
काधिकरण्ये स्थित एवावान्तरशङ्काविशेषपरिहारपर सूत्रद्वय व्याख्यातव्यम् व्याख्यात च भगवता भाष्यकारेण । सूत्रमङ्गी-  
चैकाधिकरण्य एवोपपद्यते एकास्मिन्सूत्रे हिशब्दपञ्चम्यन्तपदयोः श्रवणात् । गुहा प्रविष्टयोः भगवत्साधक पञ्चम्यन्तपदम् अतुः  
परमा मवोपपादकतां सूत्रार्थस्य दर्शयति हिशब्दः । सर्वगतस्य ब्रह्मणो गुहावच्छिन्न वायोगात् गुहागतौ बुद्धिजीवौ न  
परइति गुहांप्रविष्टाविति सूत्रसङ्घः पूर्वपक्ष इति योजनाऽनुपपन्ना, ' विकारशब्दान्नेतिचेत् ' ' जीवमुख्यप्राणलि-  
ङ्गान्नेतिचेत् ' ' सम्भोगप्राप्तिरितचेत् ' इतिवत् पूर्वपक्षानर्देशद्योतकभावात् ' अर्भकौकस्त्यात् ' इति पूर्वाधिक-  
रणसूत्रेण गुहावाच्छेदनिवन्धनशङ्कायाः परिहृतत्वाच्च । आ मानाविति प्रसङ्गाया हिशब्दोपपादिताया तद्दर्शनात् सूत्र-  
सङ्घस्य प्रतिशान्तरमध्याहर्तव्यम् गुहावच्छेदोऽपि परस्योपपन्न इति अनध्याहारेण योजनासम्भवतिचेत् सैववरम् । तस्मा-  
त्पञ्चम्यन्तपदोपपादितसौत्रार्थस्य परमसाध्योपपादक वद्योतकोहिशब्दः । अतश्च औचित्यात् कृतकरत्वात् सूत्रशैल्याच्च युक्त-  
मैकाधिकरण्य सूत्रचतुष्टयस्य । ' द्वासुपर्णा ' विति वाक्ये अत्रत्य-यायातिदेशश्चानुपपन्नः ' स्थित्यदनाभ्यां च ' इति  
सूत्रेण निरूपयिष्यमाणस्य तस्यैतन्न्यायसापक्ष वाभावात् । नचास्याधिकरणस्य तद्वाक्यसापेक्षत्वादह तत्प्रस्तावः, अस्याधि-  
करणस्यानन्यन्यायातिदेशसापेक्षवाक्यान्तरोपपाद्यत्वेऽन्यान्याश्रयप्रसङ्गात् । तस्य च वाक्यस्य बुद्धिजीवपरत्व भवदभिमतं  
तद्वह न वक्तव्यं प्रकृतानुपयोगात् ' ऋतपिबन्तौ ' इति वाक्यस्य जीवसद्वितीयपरमा मविषयत्वे वाक्यान्तरस्य बुद्धि-  
जीवपरत्व कथमुपपद्यते । तस्य च वाक्यस्य बुद्धिजीवविषयत्वं पूर्वं निरस्त निरसिष्यते च । अतो भाष्यसन्दर्शिता सर-  
गिरेव सार्धायसी ॥

इति अत्रधिकरणं समाप्तम्

अथ वेदान्तसारः

सू-९ अत्ता चराचरग्रहणात् (१.२.९)



‘ यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥ ’ (कठ.१.२.२५) इत्यत्र ओदनोपसेचनसूचितोऽत्ता परमपुरुषः ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितस्य चराचरस्य कृत्स्नस्य मृत्यूपसेचनत्वेन अदनीयतया ग्रहणात् ॥

### सू-१० प्रकरणाच्च (१.२.१०)

‘ महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ’ ‘ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः ’ (कठ.१.२.२२) इत्यादिना परस्यैव प्रकृतत्वात् स एवायम् ॥

### सू-११ गुहां प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात् [१.२.११]

अनन्तरम् ‘ ऋतं पिबन्तौ मुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे ’ (कठ.१.३.१) इत्यादिना जीवपरमात्मानावेव प्रयोज्यप्रयोजकभावेन कर्मफलाशनेऽन्वयादुपदिष्टौ, तयोरेवास्मिन्प्रकरणे गुहाप्रवेशदर्शनात् ‘ तं दृष्ट्वा गूढमनु-प्रविष्टं गुहाहितम् ’ (कठ.१.२.१२) इति परस्य ‘ या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती ’ (२.४.७) इति जीवस्य । कर्मफलादनादितिर्जीवः ॥

### सू-१२ विशेषणाच्च [१.२.१२]

जीवपरावेवहि सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे विशेष्येत ‘ न जायते म्रियते वा विपश्चित् ’ (कठ.१.२.१८) इत्यादौ जीवः ‘ अणोरणीयान्महतो महीयान् ’ (१.२.२०) ‘ महान्तं विभुमात्मानम् ’ (१.२.२२) ‘ नायमात्मा प्रवचनेन ’ (१.२.२३) ‘ विज्ञानसार्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परम पदम् ’ (१.३.९) इत्यादिषु परः ‘ त्रिपादस्यामृतं दिवि ’ (पुरुषसू.) ‘ अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृथेपु सर्वतः पृथेपु अनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेषु ’ (छां.३.१३.७) इति विश्वतः प्राकृतात् स्यानात् परं विष्णोः परस्थानमेवाहि संसाराध्वनः पारभूतं सुमुखिभिः प्राप्यम् ‘ परम पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ’ (पुरुषसू.) ‘ तदक्षरे परमे व्योमन् ’ (साम.उत्तर.२.२) ‘ क्षयन्तमस्य रजसःपराके ’ (तै.नारा.६.५) ‘ विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ’ (नारा.६.२) ‘ तेह नाक महिमानस्त्वचन्ते । यत्र पूर्वं साध्यास्तान्ति देवाः ’ (पुरुषसू.) इत्यादिसकलोपनिषत्प्रसिद्धम् ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

### सू-९ अत्ता चराचरग्रहणात् (१.२.९)

कटवल्लीध्यायायते—‘ यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥ ’ (कठ.१.२.२५) इति । अत्रोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता किं जीवः ? उत परमा मेति रंशयः । जीव इति पूर्वपक्षः कुतः ? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वात्, जीवस्यैव तत्त्वत्वात् । शब्दान्तस्तु—सर्वोपसंहारे मृत्युर्यस्योपसेचनमदनीयम् चराचरात्मकं

इत्थं जगदिनि तस्यैतस्यात्ता परमामैव । नचेद कर्मानिमित्तं भोक्तृ यम्, अपितु जग सुष्टिसितिलयलीलस्य परमा मनो  
बगदुपसहारि रूप भोक्तृ यम् । सूत्रार्थ — ब्रह्मश्रौदनस्यात्ता परमा मा, ब्रह्मश्रौदेन चराचरस्य कृत्स्नस्य जगतो  
महताम् । मृयूयमेचनोद्योदनो न ब्रह्मश्रौमात्रम्, अपितु तदुपलक्षित चराचरस्य कृत्स्नस्य जगदेव ॥

### सू-१० प्रकरणाच्च (१.२.१०)

‘महान्त विभुमा मान म वा धीरो नशोचति’ (कठ.१.२.२२) ‘नायमा मा प्रयत्नेन लभ्या न मेधया’  
(२३) इति परस्यैवार्थाद प्रकरणम्, अत्राश्वाय परमा मा ॥

### सू-११ गुहां प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात् [१.२.११]

नन्वनन्तरम् ‘जडविभुतो सुकृतस्य लोक गुहा प्रविष्टौ परमे परार्थे’ (कठ.१.३.१) इति द्वयोः कर्मफलादन-  
भवणात् परमा मनश्च कर्मफलादनानन्वयात् अतः करणाद्वितीयो जीव एव तत्रास्तेति प्रतीयते ; अतोऽत्रापि स एव  
जीवोऽत्ता मवित्तुमर्हतीत्याशङ्क्याह—गुहा प्रविष्टौ जीवा मपरमा मानौ, जीवद्वितीय परमा मैव तत्र प्रतीयत इत्यर्थः ।  
स्वयमनश्चतोऽपि परमा मनः प्रयोजकतया पानऽवयो विद्यते । जीवद्वितीय. परमा मेति कश्चिद्व्यभस्यते तद्दर्शनात् तयो-  
रेव ह्यस्मि प्रकरणे गुहाप्रवेशव्यपदेशो दृश्यते—‘त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम् । अप्यात्मयोगाधि-  
गमेन देव म वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ (कठ १.२.२२) इति परमा मनः ; ‘या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी।  
गुहा प्रविश्य तिष्ठ ती या भूतेभिर्व्यजायत’ (२ ४ ७) इति जीवस्य । कर्मफला यत्तीत्यदिति जीव ॥

### —१२ विशेषणाच्च [१.२.१२]

अस्मि प्रकरणे ह्युपक्रमप्रभृत्योपसहाराजीवपरमा मानावेवोपास्य वोपासक वप्राप्य वप्राप्तु वादिभिर्विद्वेद्येते ‘महान्त  
विभुना मान म वा धीरो नशाचति’ (१.२.२२) ‘विज्ञानसाराधिर्यस्तु मनः प्रग्रहवातर । साऽध्वनः पारमार्थोति तद्विष्णु  
परम पदम्’ (१.३.९) इत्यादयः, अत्राश्वात्ता परमा मा ॥

इति अत्राधिकरणम्

अथ अधिकरणसारावली

अत्ता सत्योदनादेर्भूतभुगिति कठश्रुत्यधीतोऽप्यसौ स्या  
न स्यान्मृत्यूपसिक्तस्थिरचरानिखिलप्रासतसहयोक्ते ।  
जीवाव्यावर्तन च प्रकरणविदित भोक्तृतोक्तिर्द्वयोस्तु  
प्रेर्यत्प्रेरकत्वप्रतिनियतरसाच्छत्रिनीत्याऽथवा स्यात् ॥  
सत्त्व स्याद्वत्त्यनश्नन् इति विभजनात्पैङ्गवधीतन्तुसत्त्व  
बुद्धि प्राणोऽथवेति स्वत इह पित्तोर्जीव एकस्तयोश्चेत् ।  
मैव जन्तौ सत्त्वश्रुतिरियमुचिता कर्म भुङ्त्वाऽप्यनश्नन्  
तत्प्रश्नप्रश्नमोऽन्याशय इदमपि चाभापि पूर्वापराद्यै ॥

॥ इ ति अ त्र धि क र णं स मा स म् ॥

## अथ अन्तराधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

सू—१३ अन्तर उपपत्तेः (१.२.१३)

## अथ अन्तराधिकरणम्

### श्रुतप्रकाशिका

सू—१३ अन्तर उपपत्तेः (१. .१३)

अत्र सङ्गतिः पूर्वोक्तया दिशा सिद्धेति न कण्ठोक्ता । ' गूढोऽत्मा न प्रकाशते ' ' तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम् ' ' क इत्था वेद ' इति च परमात्मा दुर्दर्शश्चेत् सुदर्शतया प्रसिद्धत्वेन निर्दिष्टो न परमात्मा भवितुमर्हतीति

## अथ अन्तराधिकरणम्

### गूढार्थसङ्ग्रहः

' अन्तर उपपत्तेः ' अन्तराधिकरणस्यायोगव्यवच्छेदपादान्तःपातितया जीवभिन्नः परमात्मैव नास्तीति पूर्वपक्षः । अन्तराधिकरणञ्च आनन्दमयाधिकरणशेषभूतम् अत्रतु प्राधान्येन अन्तरादित्यविद्यावाक्यमेव विषयः अन्तःशब्दस्य सूत्रे सत्त्वात् उत्तरत्र ' अन्तरिक्षिणि ' इति वाक्यस्य सत्त्वात् तस्यापि भाष्ये उपादानात् । अत्रतु जीवभिन्नपरमात्मा पूर्वपक्षे वर्तते एव । अथाप्यस्मिन्वाक्ये परमात्मभिन्नएव पूर्वपक्षे विषयः । अन्तरशब्दस्य चात्र प्रयोगेण चक्षुषि स्थितिः अन्तरशब्दघटितान्तर्यामिविद्यावाक्य एव ' यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरः ' इत्यत्र प्रतिपाद्यत इति तद्वाक्य प्रत्यभिज्ञापितम् कठोपनिषदि ' यस्तु विज्ञानवान् भवति—तस्येन्द्रियाणि वश्यानि । यस्त्वविज्ञानवान्—तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि ' इत्याद्यभिधाय योगोऽप्यभिहितः ' विद्यामेता योगविधिं च कृत्स्नम् ' इति च ज्ञानेन्द्रियेषु बाह्येषु वश्येषु चक्षुषएव प्राथम्येन यश्चक्षुषादि वश्यताऽनन्तरमेव योगसिद्धिः । ' यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' इत्यत्र दृशिघातोः समाधिर्विवक्षितः इति चक्षुषः श्रुतिस्तथा सिद्धाग्ते चक्षुष्यपरमात्मा र्चानमेव चक्षुषो वश्यत्वमिति सूत्रमत्राभिप्रेतमिति अधिकरणद्वैतस्यम् । कठोपनिषदि— ' शतचैकाग्रः—इत्यादौ ' तथोर्व्वमायन् ' इत्यत्र संग्रहेण प्रतिपादितायाः गतेः विस्तरेणाभिधानेन विद्योर्व्वोः सगुणब्रह्मविषयकत्वमेवेति निर्धारितं भवति । आम्न च द्राव्यसुदादीनां पूर्वमुक्तत्वेन आदित्याग्निमात्रयोरत्र विवक्षेति (आ.ती) उक्तनियमो न घटते ॥

' प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म ख ब्रह्म ' इत्युक्तमोक्तं ब्रह्म गतिवाक्यात् ' यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' इति वाक्यएव निर्णीतमिति गतिमात्रपरत्वं नास्य वाक्यस्य, अपितु ब्रह्मपरत्वं एतच्चात्परेणैव उपपत्तेः इत्युक्तम् । अत्रतु उपदेष्टारो बह्वरः । प्रथम अग्रय बहुधोपदिदिशुः तदुपदेशकाले ' आचार्यस्तुने गतिं यत्तवा ' इत्युक्तवान्मात्रं वर्तते ' यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' इत्येतद्वाक्यप्रतिपाद्यस्य प्रागनुगतेष्टपमा मपरत्वं निर्णयोऽपि न संभवति । गतिमात्रस्यैवोपदेशात् । ' य एषोऽक्षिणि ' इति प्रसिद्धयन्निर्देशेन प्रमाणान्तरप्रतिपाद्य एव प्रत्यक्ष इति प्रतीयते, प्रमाणं च श्रुतिरेवेति न नियमः । अतः प्रतिषिद्धस्याप्यत्र पूर्वपक्षे अवधारः, प्रतिषिद्धदर्शनः कूलद्रव्यालोकवदत्र विवक्षितमित्याचार्यपदैरुक्तम् ॥

## श्रीभाष्यम्

इदमामनन्तिच्छन्दोगाः—‘य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते । एष आत्मेति होवाच एतद-  
मृतमभयमेतद्ब्रह्म’ (छां.७.१.५.१) इति । तत्र सन्देहः—किमयमक्षयाधारतया निर्दिश्यमानः  
पुरुषः प्रतिविम्यात्मा, उत चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता देवताविशेषः, उत जीवात्मा, अथ परमा-  
त्मा इति । किं युक्तम् ? प्रतिविम्यात्मेति । कुतः ? प्रसिद्धवन्निर्देशात् ; ‘दृश्यते’ इत्यपरोक्षा-  
मिधानाच्च । जीवात्मा वा, तस्यापि हि चक्षुषि विशेषेण सन्निधानात्प्रसिद्धिरुपपद्यते ?  
उन्मीलितं हि चक्षुरुद्धीदय जीवात्मनश्शरीरे स्थितिगती निश्चिन्वन्ति । ‘रश्मिभिरेवोऽ-  
स्मिन्प्रतिष्ठितः’ (शृ.७.७.१) इति श्रुतिप्रसिद्ध्या चक्षुःप्रतिष्ठो देवताविशेषो वा ; एष्वेव  
प्रसिद्धवन्निर्देशोपपत्तेरेषामन्यतमः ॥

इति प्राप्ते प्रचक्षते—‘अन्तर उपपत्तेः’—अद्यन्तरः परमात्मा । कुतः ? ‘एष म आ-  
त्मेति होवाचेतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतं संयद्वाम इत्याचक्षते । एतं सर्वाणि वामान्य-  
मिसंयन्ति एष उ एव वामनि । एष सर्वाणि वामानि नयति । एष उ एव भामनिः एष  
हि सर्वेषु लोकेषु भवति’ (छां.७.१.५.३) इत्येषां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः ॥

## श्रुतप्रकाशिका

शङ्कया सङ्गतिः । त्रिषयादिक दर्शयति इदमित्यादि । किं अक्षयाधारतया निर्दिश्यमानः प्रतिविम्बचक्षुरधिष्ठातृजीवाना-  
मन्यतमः, उत परमात्मेति तदर्थं किमप्यमृततत्वादयो यथाकथञ्चिन्नेयाः, उत मुखाः ? ‘कं ब्रह्म’ इति प्रकृतमेव  
ब्रह्मेह किमुपासनस्यानगुणविधानार्थं निर्दिश्यते उत नेति, किं मध्यस्थामिविद्यया ब्रह्मप्रकरणं निश्चितम् उतन, किमग्नि-  
विद्या ब्रह्मविद्या, उतन ? किमग्निविद्याफलं ब्रह्मविद्याज्ञानानुगुणम्, उत नेति विचारः । यदाऽननगुणं तदाऽग्निवि-  
द्यायाः ब्रह्मविद्याज्ञानाभावेन ब्रह्मप्रकरणविच्छेदेन पूर्वप्रकृतब्रह्मण इह परमार्शाभावेनामृतत्वादीनाममुख्यतया प्रतिविम्बादि-  
ष्वन्यतम इति फलितम् । सिद्धान्ते यदाऽननुगुणं तदा अज्ञानेनाग्निविद्यायाब्रह्मविद्याप्रकरणविच्छेदकत्वाभावेन प्रकृतब्रह्म-  
ण इह परमार्शसंभवेनामृतत्वादीनां च स्वतःप्राप्तमुख्यत्वसिद्धेः परमात्मेति फलितम् । अपरोक्षप्रसिद्धिर्यौगिकप्रसिद्धिः—  
श्रुतिप्रसिद्धिश्चेति यथाक्रमं प्रतिविम्बजीवादित्यानामनुसन्धेयाः । यएष इति पदाम्ब्या प्रसिद्धवन्निर्देशः दृश्यत इत्यपरोक्षा-  
मिधानम् । अनेन सङ्गतिरभिप्रेता, सन्निधानात् सन्निधानावगमात् जीवस्य देहसन्निधेयश्चक्षुर्यवगमादित्यर्थः तदेव विवृ-  
णोति उन्मीलितंहीति । आस्मिन्कर्मण्यस्य सामर्थ्यं दृष्टमि युक्ते यथा तत्कर्म तत्सामर्थ्यसूचकमित्युक्तं भवति, एवमक्षिणि  
दृश्यत इत्युक्ते देहे जीवावस्थावं चक्षुरधीननिश्चयमित्युक्तं भवतीत्यर्थः उपक्रमानुगुणमन्यत्वेयं, तस्मादमृतत्वस्यद्वाम-  
त्वाद्युक्तिस्तुतिरूपा ‘एष आत्मेति’ इतीतिकरणचार्थात्तात्पर्ययोक्तम् । देवताविशेषः आदित्यः एष्वेव नतु परमात्मनि  
रादान्ते एषां गुणानामिति । निरुपाधिका अमृतत्वादयो न जीवादेषु सम्भवन्तीत्यर्थः एषामिति । उपक्रम-  
समेकं लिङ्गमुपरितनानेकगुणविरोधे दुर्बलम् अत एव च नामृतत्वाद्युक्तिस्तुतिरिति भावः । ‘इतिहोवाच, इत्यब्रवीत्

## गूढार्थसंग्रहः

नचैतद्वाक्ये ‘एष आत्मेति होवाच’ इत्युक्तधर्माः विरोधिनो भवन्ति । प्रजापतिविद्याया प्रतिविम्बविषयेऽपि  
तद्वाक्यसङ्गात्वात् । प्रतिविम्बपूर्वपक्षः न मुख्यः किंतु सम्भवाभिप्रायेण, वस्तुतस्तु जीवइति पूर्वपक्षः मुख्यः ‘एष आत्मे-  
तिहोवाच’ इत्यनेन प्रतिविम्बव्यावृत्तावपि जीवे तत्सम्भवः । ‘यएषोऽक्षिणि’ इति जीवस्य स्थितिचक्षुषा निर्णीयते ।



श्रीभाष्यम्

## सू-१४ स्थानादिव्यपदेशाच्च [१.२.१४]

चक्षुषि स्थितिनियमनादयः परमात्मन एव 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (बृ.५.७.१८) इत्येवमादौ व्यपदिश्यन्ते । अतश्च 'य एषोक्षिणि पुरुषः' (छां.४.१५.१) इति स एव प्रतीयते अतः प्रसिद्धवन्निर्देशश्च परमात्मन्युपपद्यते । तत एव 'दृश्यते' इति साक्षात्कारव्यपदेशोऽपि योगिभिर्दृश्यमानत्वादुपपद्यते ॥

## सू-१५ सुखविशिष्टाभिधानादेव च १.२.१५

श्रुतप्रकाशिका

इत्यादिध्वितिकरत्वमर्थपरमेव दृष्टमितिचानुसन्धेयम् उपपत्तेरक्षयन्तरः परमात्मेत्यन्वयः—यद्यद्यस्मिन् सर्पिरोदकं वृक्षिञ्चति वर्त्मनीव गच्छति इत्यर्थवादोक्तं सर्पिरोदकादिनिर्लेपत्वं हेतुं कृत्वा निर्लेपस्य परस्य निर्लेपचक्षुषि स्थितिरुपपन्नेति वक्तुमयुक्तम् । काचादिभिस्सलेषु चक्षुषि निर्दोषस्य पस्य स्थित्यनुपपत्तेश्च वक्तुं शक्यत्वात् ॥

## सू-१४ स्थानादिव्यपदेशाच्च [१.२.१४]

अनवस्थितेरिति व्यतिरेकस्य वक्ष्यमाणत्वात् 'चक्षुषि तिष्ठन्' इति श्रुत्यनुरोधेन स्थानशब्दः स्थितिपरतया व्याख्यातः, नतु प्रदेशपरतया । सौत्रस्यादिशब्दस्यार्थमाह—नियमनेति । आदिशब्दस्य नामरूपाव्ययपरत्वेन व्याख्या नमयुक्तं, जीवात्मनि सभवतस्तस्य परमात्मसाधकत्वाभावादिति भावः स्थितिनियमनादय इत्यादिशब्देन धारकादिरभिप्रेतः । अस्य हेतोस्सिद्धान्तसाधकत्वं दर्शयति अतश्चेति । अनेन सिद्धान्तसाधकहेतुं वदता पूर्वपक्षहेतोरन्यथासिद्धिश्च फलिता तामाह—अतःप्रसिद्धवदिति । श्रुतिप्रसिद्धत्वात् प्रसिद्धवन्निर्देशः पूर्वपक्षिणोक्तोऽस्मत्पक्षेऽपि सभवतीति पूर्वपक्षहेत्वन्तरस्य चान्यथासिद्धिं सूत्राभिप्रेतां दर्शयति ततएवेति । ततएव श्रुतिप्रसिद्धेरेव शास्त्रप्रतिपन्नं हि तत्त्वं योगिभिरुपास्यं च 'यत्तद्वेदयम्' इत्युक्त्या 'परिपश्यन्ति धीराः' इत्युक्तेः 'गूढोऽस्मा न प्रकाशते, दृश्यतेत्यप्रयया-बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इत्युक्तेश्च । अनोऽर्थतश्च शब्दतश्च श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेरिति भावः । यादसां समुद्रादिवत् स्थानिनः परमात्मनोऽक्षित्यानात् परिच्छिन्नत्वशङ्काव्युदासपरत्वं सूत्रस्यायुक्तम् 'अर्मकौकस्त्यात्' इति सूत्रेण तस्याःपरिहृततययाऽत्र शङ्काऽनुदयात् । अतस्साधकान्तरप्रदर्शनपरमिदं सूत्रं प्रसिद्धवन्निर्देशापरोक्षमिधानरूपपूर्वपक्षयुक्तिद्वयं चार्थापरिहृतम् ॥

गूढार्थसंग्रहः

तत्र 'अक्षिणि' इत्यत्र आक्षिणमित्तकदर्शनविषयो जीवः विवक्षितः । निमित्तसप्तभ्यपेक्षया अधिकरणसप्तभ्याः युक्तत्वेन श्रुत्या तत्र स्थितेः परिग्रह एव युक्तः इति तात्पर्येण चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता देवताविशेष इति तदाऽपि 'एव आत्मेतिहोवाच' इत्यादीनां संभव एव । एव प्राप्ते उच्यते—अन्तर उपपत्तेः ॥

## श्रीभाष्यम्

इतश्चायमक्षयाधार पुरुषोत्तमः—‘कं ब्रह्म स ब्रह्म’ (छां.४.१०.५) इति प्रकृतस्य सुख-  
विशिष्टस्य ब्रह्मणः उपासनस्थानविधानार्थं संयद्वाप्त्यादिगुणविधानार्थं च ‘य एषोऽक्षिणि  
पुरुषः’ (छां.४.११.१) इत्यभिधानात् । एवकारो नैरपेक्ष्यं हेतोर्द्योतयति ॥

नन्वग्निविद्यान्यवधानात् ‘कं ब्रह्म’ (छां.४.१०.५) इति प्रकृतं ब्रह्म नेह सन्निधत्ते ।  
तथा हि-अग्नयः ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म स ब्रह्म’ (४.१०.५) इति ब्रह्मविद्यामुपदिश्य ‘अथ  
हैनं गार्हपत्योऽनुशशास’ (४.११.१) इत्यारभ्याग्नीनामुपासनमुपदिदिशुः । नचाग्निविद्या  
ब्रह्मविद्याऽङ्गमिति शङ्क्यं वक्तुम् ; ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गततद्विरोधि सर्वायुः प्राप्तिस्तस्य-

## श्रुतप्रकाशिका

## सू—१५ सुखविशिष्टाभिधानादेव च १.२.१५

सुखाविशिष्ट सुखविशिष्ट ‘व्येकयोः’ इतिवत् ‘तद्गुणसारत्वात्’ इति न्यायेन धर्मभूतसुखाविशिष्टमिति  
वा ‘कं ब्रह्म स ब्रह्म’ इत्युक्तस्य ब्रह्मणः पुनरभिधानं किमर्थमित्यत्राह—उपासनस्थानेति । ‘एतदमृतमेतदभय-  
मेतद्ब्रह्म’ इति ब्रह्मशब्देन ‘कं ब्रह्म’ इत्युक्तस्य ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । एवकारप्रयोजनमाह—एवेति । पूर्वं  
सूत्रद्वयोक्त हेतुद्वय व्यतिरेकोक्तिसापेक्ष ‘अनवरित्यतेरसम्भवात्’ इतिहि वक्ष्यते । अयत्तु हेतु-व्यतिरेकोक्तिरपेक्षइति  
भावः । प्रकरणविच्छेद दर्शयश्चेदयति । नन्विति । कथमाग्निविद्यान्यवधानमित्यत्राह—तथाहीति । तर्हि अङ्गाङ्गि-  
भावेनाविरोध इत्यत्राह—नचेति । ‘फलवत्सन्निधावफल तदङ्गम्’ इति न्यायादिति भावः । अङ्गानामप्याङ्गिफला-

## गूढार्थसंग्रहः

अन्तरउपपत्तेः इति सूत्रे अन्तरशब्दोपादान एतद्विषयवाक्यस्य अन्तरशब्दघटितवाक्यवैलक्षण्यसूचनाय । तत्र विषयवाक्ये  
अन्तरशब्दप्रयोगेण विषयवाक्यपर्यालोचनेनैव सूत्रकारः इत्य प्राटङ्ग । तेनचायमर्थरसूच्यते अन्तरशब्दघटितवाक्ये चक्षुषि  
या स्थितिः प्रतिपाद्यते तस्याः दर्शनमेव यच्छब्दनिर्देशेन विषयवाक्ये विवक्षितमिति तच्चान्तर्यामिब्राह्मणवाक्य ‘यश्च  
क्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरः’ इत्यादि । अतएव सिद्धान्ते एतत्तात्पर्यानुरोधेन स्थानादिव्यपदेशाच्च इत्युक्तार्थनिर्णयाय ।  
उत्तराधिकरणप्रवृत्तिरिति सङ्गच्छते ॥

‘य एष आदित्ये पुरुषस्तोऽहमस्मि’ इत्यस्यात्र सद्भावेन आदित्याग्रयोरैक्यात् अग्निरिति पूर्वं पक्षः नवीनैराहतः  
आदित्यस्येव विद्युदादीनामपि तद्वाक्ये सद्भावेन तत्रादित्यस्यैव विवक्षितत्वमिति निर्णयो न सम्भवति । अत्र सूत्रे अन्तर  
शब्दप्रयोगेण ‘य एषोऽन्तरिक्षिणि’ इत्यस्य विषयवाक्यता न सम्भवतीति प्रागेवोक्तम् । नचान्तस्थत्वं रमणचेषुभय  
विवक्षितमिति सूत्रे अन्तरशब्दप्रयोग इति शङ्क्यम्, एवमप्रसिद्धार्थस्य कल्पनासम्भवात् । तथाहि ‘अन्तः’ ‘रः’ इत्येव  
कुतो न निर्देशः । अत्र उगादिप्रत्ययकल्पनया अन्तरशब्द-पुनरुक्तिप्रदर्शनमपि स्वसिद्धान्ताभिनिवेशमूलकमेव । अतः उक्त-  
भावेन पूर्वपक्षसिद्धान्तौ ॥

अत्र सूत्रे अक्षिशब्दाभावेऽपि अक्ष्यन्तरः इति भाष्यतु ‘श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च’ ‘सुखविशिष्टाभि-  
धानादेवच’ इति सूत्रद्वयपर्यालोचनाया उपकोसलविद्याया पूर्वोत्तरवाक्यानि बुद्धिस्थानि भवन्तीति तात्पर्येण ‘स्थानादिव्यप

## श्रीभाष्यम्

- विच्छेदादिफलश्रवणात् । उच्यते ' प्राणो ब्रह्म ' (छां.४.१०.५) ' एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म ' (४.१५.३) इत्युभयत्र ब्रह्मसंशब्दनात् ' आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता ' (४.१४.१) इत्यग्निवचनाच्च गत्युपदेशात्पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तन्मध्यगताग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति निश्चीयते ; ' अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास ' (४.११.१) इति ब्रह्मविद्याऽधिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च । किञ्च ' व्याधिभि परिपूर्णोऽस्मि ' (छां.४.१०.३) इति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तानाविधकामोपहतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादिभवभयोपततायोपकोसलाय ' एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या च (४.१४.१) इति समुचित्योपदेशान्मोक्षकफलात्मविद्याङ्गत्वमग्निविद्यायाः प्रतीयते । एवं चाङ्गत्वेऽवगते सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति गम्यते । नचात्र मोक्षविरोधिफलं किञ्चिच्छ्रूयते, ' अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योर्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च ' (छां.४.१३.२) इत्यमीषां फलानां मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात् । अपहते पापकृत्याम्-ब्रह्मप्राप्तिविरोधि पापं कर्मापहन्ति । लोकी भवति तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोति । सर्वमायुरेति ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्याविदायुरपेक्षितम् तत्सर्वमेति । ज्योर्जीवति व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्तिं जीवति । नास्यावरपुरुषाः क्षीयेन्ते-अस्य शिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि ब्रह्मविद एव भवन्ति । ' नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ' (मु.३.२.९) इति च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन श्रूयते । उपवयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च-वयम् अन्नयस्तमेनमुपभुञ्जाम-यावद्ब्रह्मप्राप्तिं विद्महेभ्यः परिपालयाम इति । अतोऽग्निविद्याया ब्रह्मविद्याऽङ्गत्वेन तत्तन्निधानविरोधात्सुखविशिष्टं प्रधानमेव ब्रह्मोपासनस्यानविधानार्थं गुणविधानार्थं

## श्रुतप्रकाशिका

विरुद्धफलमुपपद्यत इति शङ्कापरिहारार्थं ताद्विरोधीत्युक्तम् । प्रकरणाविच्छेदेन परिहरति उच्यत इति । उभयत्रोपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मसंशब्दनं अग्निविद्यायाः प्राक् ब्रह्मविद्याया असमाप्तिः ब्रह्मविद्याऽधिकृतस्याग्निविद्योपदेशस्तापत्रयातुरस्य तच्छान्त्यर्थमुभयोस्समुचित्योपदेशश्चेति हेतुचतुष्टयेनाङ्गाङ्गत्वमाह-प्राणो ब्रह्मेत्यादिना । ' अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास ' इत्यत्र एनामित्यन्वादेशेन ब्रह्मविद्याधिकृतत्वे तात्पर्यं सिद्धम् । शब्दतः प्रकृतस्यैव पुनःपरामर्शोऽन्वादेशः ननु यथाकथञ्चित् बुद्धिस्थमात्रपरामर्शः । अतएनमिति निर्देशदश्रुतब्रह्मविद्यस्यैवाग्निविद्याधिकारिवशापकः । समुचित्योपदेशादिति । समुच्चयशब्दोपदेशव्यतिरिक्तविशेषविवक्षया समसमुच्चयपरः । यद्वा सन्न-घमात्रपरः सन्न-ङ्गाङ्गिभावे पर्यवस्यति । परविरोधमभ्युपगम्य परिहरति एवंचेति । ' द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादस्स्यात् ' इति हि कर्ममीमांसासूत्रम् । अथ फलविरोध एव नास्तीत्याह-नचेत्यादिना । ज्योक् उच्यतः अनेन व्याध्याद्यनुपहतत्वं फलितम् तदाह-व्याध्यादिभिरिति । कुले ब्रह्मविदुपपत्तेः ब्रह्मविद्याऽनुगुणफलत्वं दर्शयति नास्येति । भुञ्जाम इति । ' भुज-पेल्लनाभ्यघहारयोः ' इति घृणोः ' भुजोनवरः ' इति ह्यात्मनेपदम् अतः परस्मैपदि-वादय घातुरवनायं इत्यर्थः । परिपालयाम इति । श्रुताश्रयशब्दार्थः परिणोपसर्गेण सूचितः विघ्ननिवारणपर्यन्तः किञ्चित्कारो ब्रह्मविद्या प्रत्यभिधिद्याया अङ्गावनिर्वाहके इत्यभिप्रायः ॥

### श्रीभाष्यम्

चोच्यते । ननु ' आचार्यस्तुते गतिं वक्ता ' (छां.४.५.९) इति गतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण गतिरेवोपदेद्येति गम्यते ; तत्कथं स्थानगुणविध्यर्थतोच्यते ? तदभिधीयते ' आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता ' [४.५.९) इत्यस्यायमभिप्रायः—ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोपुपि गुरो तदलाभादनाश्वासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वपरिचरणप्रीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतां चाग्निविद्यामुपदिश्य ' आचार्यद्विव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत् ' (छां.४.९.३) इति श्रुत्यर्थमालोच्य साधुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचार्य एवास्य संयद्वमत्वादिगुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशत्विति मत्वा ' आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता ' (४.१४.१) इत्यवोचन् । गतिग्रहणमुपदेद्यविद्याशेषप्रदर्शनार्थम् । अत एवाचार्योऽपि 'अहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो नःश्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते ' [छां.४.१४.३] इत्युपक्रम्य संयद्वामादिकल्याणगुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिकां च गतिमुपदिदेश । अतः ' कं ब्रह्म खं ब्रह्म ' [४.१०.५) इति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽग्राभिधानादयमक्ष्याधारः परमात्मा ॥

ननु च ' कं ब्रह्म खं ब्रह्म ' (छां.४.१०.५) इति परं ब्रह्माभिहितमिति कथमवगम्यते, यस्यैहाक्ष्याधारतयाऽभिधानं वृषे ; यावता ' कं ब्रह्म खं ब्रह्म ' (४.१०.५) इति प्रसिद्धाकाशलौकिकसुखयोरेव ब्रह्मसृष्टिर्विधीयत इति प्रतिभाति ' नाम ब्रह्म ' ७.१.५ ' मनो ब्रह्म ' ७.३.२ इत्यादिवचनसारूप्यात् । तथाह—

### श्रुतप्रकाशिका

उक्तहेतुभिरेकप्रकरणे स्थितेऽपि ब्रह्मणः पुनरवक्तव्यत्वमुक्तेन चोदयति नन्विति । स्थानगुणयोर्विधेयत्वेति हि तदर्थं पुनर्ब्रह्मणोऽभिधानं, तत्तु नास्ति पूर्वं तयोराचार्येण वक्ष्यमाणवाक्यनात्, अतस्स्थानादिपरवाक्यं न परमात्मविषयमित्यन्यपरमिदं वाक्यमित्यर्थः । परिहरति तदभिधीयतइत्यादिना । परिपूर्णोपदेशोऽनुपदेशो वा स्यात्, कथं विकृते पदेश इत्याद्यङ्का च परिहरन् स्थानगुणविध्यर्थतामुपपादयति आचार्यस्त्वित्यादिना । साधिष्ठशब्दः साधुतमत्वशब्देन व्याख्यातः । साधिष्ठमिन्न भावप्रधाननिर्देशइत्यर्थः गतिग्रहणमिति । उपदेद्यविद्याशेषमाचार्यो वक्तवति ' आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता ' इति वदतामभिप्राय इत्यर्थः । तदेवोपपादयति अतएवेति । सूत्रार्थे निगमयति अतइति । अतः उपकोसलत्रिपादपरिहारस्यापेक्षितत्वात् गुरुमुखात् श्रवणेन साधुतमत्वाय पुष्कलमुपदिष्टत्वाच्च गतिग्रहणस्य प्रदर्शनार्थवादित्यर्थः ॥

उत्तरसूत्रशङ्कामाह—ननुचेति । यावता प्रयुत वचनसारूप्यादिति । ' नाम ब्रह्म ' ' मनो ब्रह्म ' इत्यादिवत् दृष्टिविशेषणस्य ब्रह्मणः पश्चादुपादानं विशेष्यस्य प्रथमोपादानं च सारूप्यमभिप्रेतम् ' प्राणं च हास्मै तमाकाशं चोचुः ' इति प्राणाकाशशब्दभ्यां निगमितम् ननु ब्रह्मशब्देन ततोऽपि दृष्टिविधिरिति भावः तस्याप्युत्तरत्र परिहरिष्यमाणत्वात् ॥

### गूढार्थसङ्ग्रहः

देशाच्च ' अनयस्थितेरसम्भवाच्च नेतर. ' इति सूत्रद्वये अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्थितिरपि बुद्धिस्था । एवं च स्थित्यधिकरणसम्बन्धितवाक्यमेव विषयइति सूत्रसन्दर्भेण सूच्यते । तेन ' यएषोऽग्निनि प्ररूपो दृश्यत ' इत्यस्य विषयवाक्यत्वं निश्चितम् । ततश्च अक्षयन्तर.परमात्मा इत्युक्तिः युक्ता ॥



### गूढार्थसंग्रहः

अन्तरशब्देन अन्तरशब्दघटितवाक्यजन्य श्रौतदर्शनमेव ‘यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इत्यत्र विवक्षितमिति सूचनमात्रम् । इदानीन्तु तद्विस्तरेण निरूप्यते ‘स्थानादिव्यपदेशाच्च’ इत्यादौ । एवञ्च चक्षुरादिषु जीवस्य स्थानादिव्यपदेशः सर्वथा नैव सम्भवतीति सूच्यते । परैः ‘यः पृथिव्या तिष्ठन्’ इत्यादिनहुस्त्वनव्यपदेश उक्तः । आदिशब्दार्थं नामरूपमिति च । स्थानशब्दे पृथिव्यादिबहुस्थानविवक्षाऽङ्गीकारे तत्सहभवेन पठितानामर्थानां आदिशब्देनग्रहणं युक्तम् ननु नामरूपयोरित्यभिप्रेत्य भगवता चक्षुषि स्थितिनियमनादयः इत्यर्थः वर्णितः । ‘अनन्यस्थितेरसम्भवाच्च’ इति व्यतिरेकनिर्देशदशायां स्थितिशब्दस्यैव सूत्रे सत्त्वेन स्थानशब्दस्य भावे ल्युङन्तत्वेन स्थित्यर्थकं वामित्यर्थवर्णनं सूत्रकारासम्मतम् । स्थानार्थकत्वाङ्गीकारेऽपि सिद्धान्ते न काऽपि क्षतिः । स्थान आदिः येषां ते इतिविग्रहः बहुस्थानसम्बन्धकथनेनाभ्यासेन स्थितिरत्र विवक्षिता । एतेन ‘यआदित्ये’ ‘यश्चन्द्रमसि’ इत्यादीनां सर्वेषामुपपत्तिः । अत्र स्थानशक्तिः आत्मशक्तिश्च विवक्षितेति नव्यार्थस्तु स्थानशब्दस्य शक्तिपरत्वासम्भवेन सूत्रे नैव विवक्षितः ॥

‘सुखविशिष्टाभिधानादेवच’ इति । पूर्वसूत्रद्वयेन ‘यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इति वाक्यार्थो निर्णेतः अनेन सूत्रेणाग्नीनामुपदेशवाक्ये योऽर्थः स एवाक्षिवाक्येऽपि प्रतिपाद्य इति बोधितम् । इत्थमभिधानेन प्रकरणविच्छेदो नास्तीति पूर्वपक्षिसम्मतप्रकरणविच्छेदशङ्कानिरासः अनेन सूत्रेण क्रियते, प्रकरणविच्छेदबीजतु गतिमात्रमेवाचार्येणोपदेश्यमित्याशयेन उपक्रमोक्तार्थस्यैक्यं च न श्रुतम्, अतः एतद्वाक्यं यथाकथञ्चित् शक्यमित्याशयः अनन्यसूच्यते । ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म ख ब्रह्म’ इति सुखाविशिष्टं यत्पूर्वं प्रतिपादितं तस्यैवाक्षिवाक्येऽभिधानात् इति सूच्यते ॥

एतन् पूर्वसूत्रोक्तहेतुद्वयमन्तराऽपि पूर्वपक्षशङ्काऽनेनैव हेतुना निरस्ता भवतीत्येवकारार्थः । ‘सुखं च तद्विशिष्टं चेति सुखविशिष्टमित्यत्र विग्रहः सुखं यद्विशिष्टं तदभिधानादित्यर्थः । अयमाशयः । अत्र विशिष्टशब्दोपादानं ‘क ब्रह्म ख ब्रह्म’ इति वाक्यतात्पर्यानिर्णयार्थम् । एतेन ‘प्राणो ब्रह्म’ इतिवत् ‘क ब्रह्म ख ब्रह्म’ इत्यत्र कखशरीरत्वं न विवक्षितम्, किन्तु सुखं विशिष्टमेव विवक्षितम् । अयमाशयः । ‘प्राणो ब्रह्म’ इत्याद्युपदेशानन्तरं ‘विज्ञानाभ्याहं प्राणो ब्रह्मति क च वृत्तं ख च न विज्ञानमि’ इत्यत्र ‘प्राणो ब्रह्म’ इति वाक्यसमशीलं ‘क ब्रह्म ख ब्रह्म’ इति वाक्यमिति शङ्कया मुखशरीरकत्वस्य परमात्मन्यसम्भवेन प्रश्नः । तत्र प्रतिवचने ‘यद्वा क तदेव ख यदेव ख तदेव कम्’ इत्यभ्यासेन द्विरुक्त्या सुखमेदएव खशब्दार्थे विवक्षित इति प्रतीयते । खशब्दस्य नव्यामिमत्तज्ञानार्थकत्वं न प्रसिद्धम् किन्तु आकाशार्थकत्वं मेव । अन्ते ‘प्राणं चहासौ तदाकाशचोचुः’ इति प्राणशब्दसहचारेण आकाशशब्दस्य निर्देशात् । ‘प्राणा ऊचुः’ इत्यनन्तरवाक्यपर्यालोचनायां उपकोसलप्रश्नं बीजमपि सूचितम् । तद्वाक्ये प्राणशब्दाकाशशब्दयोः एकजातीयार्थकत्वस्यैव प्रसिद्धेः । अभ्यासेनोभयोरैक्यप्रतीत्या खशब्दस्याकाशार्थकत्वेन प्रसिद्धाकाशभेदो बोधित इति अपरिच्छिन्नार्थकेऽयं खशब्दः रूपकस्यैव सदृशभेदएव प्रतीयत इति प्राचीनालङ्कारिकसिद्धान्तः । इत्थं चाकाशसदृशभेदेन अपरिच्छिन्नसुखमित्यर्थः । ‘क ब्रह्म ख ब्रह्म’ इति कशब्दस्य प्रथमपाठेन सूत्रेऽपि मुखशब्दस्य प्रथमं प्रयोगः । सुखं च तद्विशिष्टं च इत्यर्थेऽपि अपरिच्छिन्नसुखमिति तात्पर्येण ‘यदेव ख तदेव कम्’ इति वाक्यप्रयोगः ॥

अग्न्युपदेशवाक्ये ‘प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म ख ब्रह्म’ इत्यत्र प्राणशब्दस्य कखशब्दयोश्च विजातीयार्थकत्वमुक्तम् । सुखविशिष्टाभिधानादेवच इति सूत्रे ‘यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इति प्रागुक्तब्रह्मण एव स्थानविधानं सद्यदाम्बादिगुणविधानं च । दृश्यते इत्युक्तेस्तु ध्यानानन्तरकालिकसमाध्यमिप्रायेणेति भगवतोक्तम् ॥



### श्रीभाष्यम्

अस्यायमभिप्रायः—न तावत्प्राणादिप्रतीकोपासनमग्निभिरभिहितम् जन्मजरामरणादि भवभयभीतस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मोपदेशाय प्रवृत्तत्वात् । अतो ब्रह्मेधोपास्यमुपदिष्टम् । तत्र प्रसिद्धैः प्राणादिभिस्समानाधिकरणं ब्रह्म निर्दिष्टम् ; तेषु च प्राणविशिष्टत्वं जगद्विधरणयोगेन वा प्राणशरीरतया प्राणस्य नियन्त्रित्वेन वा ब्रह्मण उपपद्यत इति 'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म' (४.१०.५) इत्युक्तवान् तथा सुखाकाशयोरपि ब्रह्मणः शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन विशेषणत्वम् ; उतान्योन्यव्यवच्छेदकतया निरतिशयानन्दरूपब्रह्मस्वरूपसमर्पणपरत्वेन वा तत्र पृथग्भूतयोदशरीरतया विशेषणत्वे वैषयिकसुखभूताकाशयोर्नियामकत्वं ब्रह्मणस्यादिति स्वरूपावगतिर्न स्यात् अन्योन्यव्यवच्छेदकत्वेऽपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपत्वं ब्रह्मणस्स्यादित्यन्यतरप्रकारनिर्दिधारयिष्या 'कं च तु खं च न विजानामि' [४.१०.५] इत्युक्तवान् । उपकोसलस्येवमाशयं जानन्तोऽग्नयः 'यद्वायुं कं तदेव खं यदेव रं तदेव कम्' (४.१०-५) यूचिरे । ब्रह्मणस्सुखरूपत्वमेवापरिच्छिन्नमित्यर्थः । अतः प्राणशरीरतया प्राणविशिष्टं यद्ब्रह्म

### श्रुतप्रकाशिका

ज्ञातत्वं 'कं च खं च' इत्यस्याज्ञातत्वं नोपपद्यते दृष्टिविधित्वेन सर्वस्य ज्ञातत्वादिति भावः । 'प्राणो ब्रह्म' इत्यस्य ज्ञातत्वे अन्यस्य ज्ञातत्वे च किं वैषम्यम् आकाशस्य मुखविशिष्टत्वं च कथमित्यपेक्षाया 'विजानाम्यहम्' इतिवाक्यस्याभिप्रायं विवृणोति आस्यायमिति । न तावदित्यादि । मुमुक्षोरुपदिष्टत्वात् प्रतीकोपासनव्युदासः मुमुक्षोः प्रतीकोपासनं न कर्तव्यमिति ज्ञानं पूर्वमेव संभवति, यथा मुमुक्षुपास्य ब्रह्मेति ज्ञानं संभवति वदत् । शरीरवाचिशब्दस्य शरीरपर्यन्ताभिधायित्वं च देवमनुष्यादिशब्देषु व्युत्पन्नमेव तथेत्यादि शरीरं च नियाम्यमिति लोकासिद्धत्वात् ज्ञातमेव 'यदेव आकाश आनन्दः' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मशब्देन विनाऽप्याकाशशब्दस्यानन्तविशेषणत्वेन प्रयोगदर्शनात्तस्य च महत्त्वोपस्थानेनैवानन्दविशेषणत्वोपपत्तेः ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नसुखरूपत्वप्रतीतिसंभवादेव विचार उपपद्यत इति भावः ॥

उपकोसलेत्यादि । 'यद्वायुं कं तदेव खं यदेव रं तदेव कम्' इत्यत्र न दृष्टिविधित्वं शङ्कनीयम्, तथा सति 'कं चतु खं च न विजानामि' इत्यस्योत्तरत्वायोगात् । न ह्यर्थान्तरदृष्टिविध्यज्ञानस्य दृष्टिविध्यन्तरमुत्तरं भवतीत्यभिप्रायः । एव 'कं चतु खं च न विजानामि' इत्यज्ञानवचनामुमुक्षोरुपादिष्टत्वादर्थान्तराज्ञानं प्रति दृष्टिविध्यन्तरस्योत्तरत्वायोगाच्च । 'यद्वायुं कम्' इत्यादिवाक्यस्य दृष्टिविधिपरत्वनुपपत्तेरन्योऽन्यव्यवच्छेदपरत्वं स्थितम् । 'अस्मद्विद्याचात्मविद्या च' इति अग्नीनां वचने पूर्वप्रकृतविद्यायाः आत्मविद्यात्वावगमाच्च ब्रह्मणो दृष्टिविशेषणत्वशङ्का निरस्ता । तथा सत्यस्य वाक्यार्थमाह—ब्रह्मण इति । निगमनवाक्यस्यार्थमाह—अत इति । उक्तहेतुर्दृष्टिविधिवायोगात् 'यद्वायुं कम्' इत्यादिवाक्ये कं खम् इति शब्दयोरन्योन्यव्यवच्छेदकत्वेनापरिच्छिन्नरूपब्रह्मपरं वायुपरं हारस्योक्तमानुगुण्यस्य न्याय्यत्वात् 'प्राणं च' इत्युपसहारवाक्यमुक्तार्थपरमित्यर्थः । 'प्राणं च' इति 'प्राणं ब्रह्म' इत्युक्तार्थस्य निगमनम् 'तदाकाशं च' इति 'यद्वायुं कम्' इत्यादिवाक्याधीनगमनम् । 'तदाकाशम्' इत्यत्र प्रकृतपरामर्शेना तच्छब्देन सुप्तरूपत्वमभिप्रेतम् । कस्योरन्योऽन्यव्यवच्छेदकत्वव्यवच्छेदकत्वे विशेषणयोरन्योऽन्यविशेषणविशेष्यभावस्याप्रामाणिकत्वात्तत्रानिष्टत्वम् अत्रतु प्रामाणिकत्वात् नानिष्टत्वमिति भावः, 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति वाक्यं प्रतिपाद्यं न सुप्तिविशिष्टं ब्रह्मेति शङ्कापरिहारायैहि 'अत एव च स ब्रह्म' इति सूत्रस्योक्त्या तस्याशङ्काया अनेन

## धीमाप्यम्

तदेवापरिच्छिन्नसुखरूपं चेति निगमितम् ' प्राणं हास्मै तमाकाशं चोचुः ' इति । अतः ' कं ब्रह्म स ब्रह्म ' [४.१०.५] इत्यत्रापरिच्छिन्नसुख ब्रह्म प्रतिपादितमिति परं ब्रह्मैव तत्र प्रकृतम् तदेव चानांक्ष्याधारतयाऽभिधीयत इत्यक्ष्याधारः परमात्मा ॥

## सू=१७ श्रुतोपनिषत्कगल्यभिधानाच्च [१.२.१७]

## श्रुतप्रकाशिका

परिहृतं वं दर्शयति अतःकंब्रह्मेति । ' यद्वाय कम् ' इत्यादिवाक्यस्यापारीच्छिन्नसुखरूपब्रह्मपरत्वाभिगमनवाक्यस्यापि तदनुगुणार्थत्वात् ' कं ब्रह्म स ब्रह्म ' इति वाक्ये ब्रह्मैव प्रकृतमित्यर्थः । ततः किमक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वइति शङ्काया सूत्रार्थस्याधिकरणार्थोपादकत्वं दर्शयति तदेव चेति । अन्यथा वाक्यभेदश्च प्रसजेत् सभक्त्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदोऽनुपपन्नइति भावः इतीति । ' कं ब्रह्म ' इति प्रकृतस्यैवाक्ष्याधारत्वप्रतिपादनादक्षिपुरुषः परमात्मेत्यर्थः ॥

## सू-१७ श्रुतोपनिषत्कगल्यभिधानाच्च (१.२.१७)

## गूढार्थसंग्रहः

इत्यत्र तादृशप्रश्नप्रतिवचनयोरभावेन विजानीयार्थ एव ब्रह्म इति स्थापनादेवेत्यर्थः सः प्राण क ए पुरुषशब्दाभिधेयः ब्रह्म पर ब्रह्म ' प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म ए ब्रह्म ' ' स एनान् ब्रह्म गमयति ' इति सर्वत्रापि पर ब्रह्मैवेत्यर्थः । अपारीच्छिन्नसुखरूपब्रह्मणो यदा विवक्षा तदाऽपारीच्छिन्नसुखरूप ब्रह्म शुद्धमेव पर ब्रह्म नापरमिति अपारीच्छिन्नसुखरूपस्य ब्रह्मणः अग्न्युपदेशवाक्ये विद्याशेषाचार्योपदिष्टगतिवाक्येऽपि विवक्षितत्वेन ज्ञानोपासनयोः तत्त्वातत्त्वाविषयकत्वेन भेदकल्पनमेतेन सूत्रकृता श्रुत्याशयविरुद्धमिति दर्शितं भवति ॥

एतेन ' स एनान् ब्रह्म गमयति ' इत्यत्र ब्रह्मशब्दार्थश्चतुर्मुखः गत्या चतुर्मुखसमापिगमनम् । गत्युक्तिः क्रममुत्तयर्थेति परेषा कल्पना सूत्रकृता निरस्ता भवति । ब्रह्मशब्दानां सर्वेषामकार्यत्वस्यैव युक्तं वात् । अत्रत्यानां ब्रह्मशब्दानां सर्वेषामर्थः ' स ब्रह्म ' इत्यत्र विवक्षितः । तेन ' स एनान् ब्रह्म गमयति ' इत्यत्र ब्रह्मशब्दस्यापि पूर्वोक्तब्रह्मशब्दसमानार्थकत्वमेव । एतादृशायाः अपारीच्छिन्नानन्दरूपब्रह्मविषयत्वेन सगुणनिर्गुणविभागस्यानुचिततया आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्राप्त् ' (४.९.३) इति श्रुत्यर्थस्य सर्वविद्यासु विवक्षिततया ब्रह्म अपारीच्छिन्नानन्दरूपमेवेति परेषा परापरब्रह्माविद्याविभागः सगुणनिर्गुणविभागपर्यवसितः श्रुतितात्पर्याविषय इत्येतेन निर्धारितं भवति ॥

' श्रुतोपनिषत्कगल्यभिधानाच्च ' ' अतएव च स ब्रह्म ' इति सूत्रे ध्यानज्ञानयोः तत्त्वातत्त्वाविषयकत्वासिद्धास्तस्य निरासेन ध्यानस्यापि दर्शनरूपतया विषयवाक्ये प्रतिपादनेन इन्द्रप्राधिकरणमारभ्य पूर्वाधिकरणेषु उपासनस्यैवाभिधानेन उपनिषत्सु सर्वासु ध्यानमेव विवक्षितमिति सिद्धत्वा तदनुराधेन परलक्ष्यविकल्पनमसंमतमित्याशयेन औपनिषदविद्यानिष्ठानां सर्वेषामुक्तान्त्यनन्तरपल एकरूपमेव विवक्षितमिति प्रदर्शनायेदं सूत्रमाख्यायां विद्यायामुपनिषच्छब्दो नास्ति अथापि ' आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्राप्त् ' इति वाक्यं वर्तते । इदं च वाक्यं नैतद्विद्यामात्रविषय इतरवि-



## श्रीभाष्यम्

श्रुतोपनिषत्कस्य अधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसन्धेयतया श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यमाना  
अर्चिरादिका गतिर्या तामपुनरावृत्तिलक्षणपरमपुरुषप्राप्तिकरीमुपकोसलायाक्षिपुरुषं श्रुत-  
वते 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिपोहरह आपूर्यमाणपक्षम्' (छां.४.१५.५) इत्यारभ्य  
'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवस एनान्ब्रह्म गमयत्येव देवपथो ब्रह्म पथ एतेन प्रति-  
पाद्यमाना इमं मानवमावर्ते नावर्तन्ते' (४.१५.५) इत्यन्तेनोपदिशति । अतोऽप्ययमक्षि-  
पुरुषः परमात्मा ॥

## श्रुतप्रकाशिका

श्रुतोपनिषत्केति व्याख्येय पदम् । समस्तमपि व्याख्यानार्थं ह्यस्य निर्दिष्टम् । उपनिषत्सु प्रतीकोपासनानाम-  
र्चिरादिगतिरहितानामपि विद्यमानत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं व्याचष्टे अधिगतेति । परमपुरुषशब्देन 'तत्त्वौपनिषदं पुरुषं  
विद्धि' इति श्रुतिस्मारिता । उपासनफलमर्चिरादिगतिः नतु श्रवणफलं तत्कथं श्रुतोपनिषत्कगतीत्युक्तमित्यत्राह—अनु-  
सन्धेयतयेति । तर्हि श्रुतब्रह्मण इति वक्तव्ये किमिति साधारणाधिकाक्षरश्रुतोपनिषत्कपदोपादानमित्यत्राह—श्रुत्यन्तर-  
प्रतिपाद्यमानेऽपीति छान्दोग्य एव प्रदेशान्तरे 'तद्य इत्थं विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धातपः' इत्युपासते तेऽर्चिषमभिस-  
भवन्तीत्यादिः वाजसनेयके—'यएवमेतद्विदुर्येचामी अरण्ये श्रद्धां सत्यम्' इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीत्यादिः ।  
कौषितकीनां पर्यङ्कविद्याया 'सोऽग्निलोकमागच्छति' तामभिप्रतिपाद्यमानेत्यर्थः । गतिचिन्तनस्य ब्रह्मविद्याङ्गत्वशापक  
श्रुत्यन्तरशापनार्थं श्रुतोपनिषत्कव्यपदेश इत्यभिप्रायः । अक्षिपुरुषस्याब्रह्मत्वे तत्क्रतुनयविरोध इत्यभिप्रायेणाह—अपुनरा-  
वृत्तीति । 'अर्चिषमेव' इत्यतः पूर्वं 'अथ यदुचास्मिन् शव्यं कुर्वन्ति यदुच न' इति वाक्यं तत्रास्मिन् इत्येक-  
वचनं जात्यभिप्रायम् 'तेऽर्चिषम्' इति बहुवचनानुरोधात् । पञ्चमिविद्योक्ता गतिरिहानूदिता अपुनरावृत्तिविधानार्थम्

## गूढार्थसंग्रहः

याविषयेऽपि एतद्वाक्यस्य सर्वेरापि विनियोगात् । आचार्याद्विदिता इत्यर्थ एव श्रुतशब्देन बोधितः । इत्थं च श्रुतोप-  
निषत्कशब्दः ब्रह्मविद्यासामान्यविषयः ॥

वेदान्तवाक्येषु परापरविद्यात्वेन परसम्भतासु सर्वास्त्रापि दर्शनं प्रतिपादितम् । 'यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' 'य-  
एषोऽन्तरादित्ये पुरुषो दृश्यते' इत्यादिपरसंमतसगुणविद्यावाक्ये 'दृश्यतेत्वग्रथया बुद्ध्या' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'  
'परात्परं पुरिशय पुरुषमीक्षते' 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति  
परसम्भतनिर्गुणविद्यावाक्येषु 'पुरुषमीक्षते' इत्यत्र 'परं पुरुषमभिध्यायीत' इति ध्यानम्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य  
दभोनव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र 'निदिध्यासितव्यः' इति 'तद्विज्ञानेन' इत्यत्र 'ओमित्येवा मान ध्यायथ'  
इति ध्यानं प्रतिपादितमिति सर्वत्र ध्यानेत्युक्त्वा ध्यानानन्तरसमाधौ दर्शनमेव सर्वत्र विवक्षितम् । सगुणनिर्गुणविद्याया-  
गम्य सर्वथाऽप्रामाणिकः । 'शतं चैका च' इति श्रुतिः परसम्भतनिर्गुणविद्यायां सगुणविद्यायां च वर्तते । 'हादांनुग्रहीतः'  
इति सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति । तत्र कठवल्त्युत्तनिर्गुणविद्यानिष्ठस्य गतिर्नास्त्येवेति कल्पनमसम्भतमेव । सद्विद्यायामेव उ-  
क्तास्तेः कथनात् सत्कान्तिपादे तद्वाक्यस्यैव विषयत्वात् सूत्रकाराभिमतवस्य परसंभतत्वेऽपि सद्विद्यानिष्ठस्य नोप्रा-  
प्तिरिति कल्पनवत् इदं कल्पनमप्यप्रामाणिकम् ।

धीमाप्यम्

सू-१८ अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः (१.२.१८)

प्रतिविम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्थानादमृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वस-  
श्रुतप्रकाशिका

सू-१८ अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः [१.२.१८]

अनवस्थितिरिति पद व्याचष्टे प्रतिविम्बादीनामिति । असम्भवादिति पद व्याचष्टे अमृतत्वादीनामिति ।  
असम्भवादित्यनेन अन्तरउपपत्तेरिति सूत्रार्थस्य व्यतिरेक उक्तः । अनवस्थितेरित्यनेन स्थानादिव्यपदेशाच्च इति  
गूढार्थसद्बहः

उपनिषच्छब्दः ब्रह्मविद्यावाचक इति सर्वसमतम् । 'आचार्याद्वैव विदिता विद्या साधिष्ठ प्रापत्' (छा.४.१.३) इति ब्रह्मवि-  
द्यायाः विशेषस्यापेक्षिते । विद्य प्रतिपादकग्रन्थेऽपि उपनिषच्छब्दः प्रयुज्यत ग्रन्थश्रवणं ग्रन्थार्थश्रवणमेव । श्रुतोपनिषत्केति  
सामान्यनिर्देशेन ब्रह्मविद्यासामान्यनिष्ठो विवक्षितः । 'तत्तुोपनिषद् पुरुषम्' 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इति श्रुत्यैकार्थ्येन  
'क ब्रह्म स ब्रह्म' 'यत्पुोऽक्षिणि पुरुषो हृदयत' 'एतद्ब्रह्म' इत्युपनिषत्पुरुषश्रवणमेव विवक्षितमिति ब्रह्मविद्यासामान्य-  
निष्ठ श्रुतोपनिष्कशब्दार्थः । एतेन ब्रह्मविद्यासामान्यनिष्ठस्य गत्यभिधानमत्र विवक्षितम् गतेरपुनरावृत्तिपर्यवसितत्वेन  
चशब्देनापुनरावृत्तिपर्यवसानमपि समुच्चीयते । अत्र पुरुषशब्दस्य बृहदारण्यकात्तनिर्वचनपर्यालोचनाया दयामूलका गतिरिति  
प्रतीयते, एतदर्थनाप्येण श्रुतोपनिषत्केत्यत्र 'अनुकम्पायाम्' (५.३.७६) इत्यनुकम्पायामेव कन् 'हार्दानुगृहीतदशताधि-  
क्या' (४.२.१६) इति वक्ष्यमाणसूत्रपर्यालोचनाया अनुकम्पायामत्र कन् सूत्रकृतो विवक्षित इति निर्णयसम्भवति ।  
अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तमन्तर्यामित्व दयामूलकमिति पूर्वमेव बहुत्र निरूपितम् । अन्तरउपपत्तेः स्थानादिव्यपदेशाच्च इ युक्तया  
अन्तर्यामिब्राह्मणार्थोऽत्र विवक्षित इति स्पुट सूत्रकृदाशयः । अतएव कटोपनिषदि छान्दोग्ये दहरविद्याया 'शत चैका-  
च' इति श्रुतेः पाठः सङ्गच्छते । 'क ब्रह्म स ब्रह्म' इत्यग्न्युपदेशवक्तव्यार्थः आचार्यादेवामिभिः श्रुतः स एव प्रथम-  
मुपदिष्टः । अनन्तरमाचार्येण सयद्ब्रह्म वादिगुणानामुपास्य स्थानस्य गतिद्वारा ब्रह्मप्राप्तेश्च प्रतिपादनेन गतिद्वारा प्राप्य  
ब्रह्म पर ब्रह्मैव नत्पर ब्रह्मेति निर्धारणेन 'आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापत्' इति सम्यक्प्रतिष्ठापितं भवति ।  
ब्रह्मविद्यासामान्यनिष्ठस्य गतेरविवक्षितत्वे पदान्तर विहाय श्रुतोपनिषत्क इति निर्देश एव व्यर्थस्यात् अतो न्य'र उक्ता  
योऽनुपादेयः ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः । 'अन्तर उपपत्तेः' । 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' । इत्युक्तार्थ एव व्यतिरेकेणात्र  
हृदीक्रियते । अत्र स्थितेरसम्भवाच्च इत्यनाभिधाय अनवस्थितेरित्युक्तया स्थितिर्विशेषव्यतिरेक एव विवक्षितः । 'यश्च  
शुवि तदृष्टम्' इत्यादौ नियमनार्थस्थितेरैवाभिधानेन स्थानादीत्यादिपदेन नियमनस्य विवक्षिततया च तादृशस्थितिरेव  
अत्र युपसर्गेण सूत्रकृतो विवक्षितः । स्थानादीनि पूर्वनिर्देशात् अत्रानवस्थाशब्दस्याप्रयोगेण अनवस्थितिशब्दस्यानवस्था  
परच नव्यसम्मत सूत्रकृतो नविवक्षितमिति प्रतीयते ॥

इति अन्तराधिकरणम्

## श्रीभाष्यम्

म्भवान्न परमात्मन इतरः छायादिःअक्षिपुरुषो भवितुमर्हति । प्रतिविम्बस्य तावत्पुरुषान्तरसन्निधानायत्तत्वाच्च नियमेनावस्थानासम्भवः । जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम् । देवतायाश्च ‘रदिमभिरेपोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः’ (वृ.७.५.१०) इति रदिमद्वारेणावस्थानवचनाद्देशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुष्यवस्थानम् । सर्वेषामेवैषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न सम्भवन्त्येव । तस्मादक्षिपुरुषःपरमात्मा ॥

## इति अन्तराधिरणं समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

सूत्रार्थस्य व्यतिरेको दर्शितः । इतरसूत्रोचहेतूनां व्यतिरेकोपपादनानपेक्षत्वाच्च व्यतिरेकश्चार्थसिद्ध इति वा व्यतिरेको न प्रदर्शितः । अवस्थानासम्भवौ प्रतिबिम्बादिषु दर्शयति प्रतिविम्बस्येत्यादिना । सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषइति । हृदीत्यर्थः । ‘शतचैका च हृदयस्य नाड्य’ ‘सन्ततं सिराभिः’ इत्युक्तप्रकारेण हृदयसम्बन्धनाडीसम्बन्धानीत्यर्थः एवविधे हृदि जीवस्यावस्थानम् ‘हृदिह्ययमात्मा’ इति श्रुतेरवगम्यते ॥

ननु नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्धनि स्थितम् ॥ इति श्रुत्या जीवस्य जागरावस्थायां नेत्रस्थितिरुच्यते नचेय श्रुतिः परमात्मविषया तस्य जागरस्वप्नसुषुप्तसम्भवात् । उच्यते नेत्रशब्दः सर्वेन्द्रियप्रदर्शनार्थः जाग्रतमित्युक्तत्वात् तदानीं सर्वेन्द्रियव्यापारदर्शनात् अणुपरिमाणस्य जीवस्य नेत्रमावह तित्वेति शब्दादिज्ञानानुरपत्तेः तत्र च स्थितत्वं नाम अधिष्ठातृत्वमात्रमुपलब्धम् अधिष्ठानस्यापि स्थाय्यावन्तर्भूतत्वात् । अणोस्तस्य युगपदेव तत्तादिन्द्रियाधिष्ठानानुपपत्तौ पश्यतश्शृण्वतो वा गमनादानोचितपादप्राप्त्याद्यधिष्ठानानुपपत्त्या सर्वेन्द्रियकन्दभूते हृदि स्थितस्य धर्मभूतज्ञानप्रसरणद्वारेणाधिष्ठातृत्वमिति ‘नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्’ इति श्रुतेरर्थ इत्यभिप्रायेण सर्वेन्द्रियकन्दभूत इत्युक्तम् । कण्ठे स्वप्नमिति कण्ठशब्दश्च कण्ठसमीपवर्तिनाडीविशेषपरः ‘आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति’ इति नाडीनां स्वप्नस्थानत्वश्रुत्यविरोधात् । इयं च श्रुतिस्वप्नविषया ‘यदा सुप्तस्वप्नं नश्यन्न पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इत्यनन्तरवाक्यस्य सुषुप्तिस्थानपरत्वात् । हृदयस्थमिति हृदयशब्दो हृदयपरमामपरः ‘सता सोस्य तदा सम्पन्नो भवति’ इति परमात्मनस्सुषुप्तिस्थानत्वावगमात् तत्र च सच्छब्दो हृदयस्यपरमामपरः ‘आभि प्रत्यनसृष्य पुरीततिशेते’ इति सुषुप्तौ हृदयागमभ्रवणात् । तुरीयशब्द उक्तात्यवस्थजीवपरः ‘तासां मूर्धनिमभिनिस्सृतैका । तयोर्धर्ममायन्’ इति चरमशरीरोक्तान्तावेव मूर्धसंघर्षवर्णादस्यान्तरे दृष्टव्यमावाद्य । अतो जीवस्य चक्षुष्यनवस्थितिरुपपद्यते रदिमद्वारेणेति । एतद्वादिद्वारकप्रासादशयनवद्रादिद्वारक चक्षुष्यवस्थानमित्यर्थः चक्षुष्यवस्थानं नाम चक्षुस्सम्बन्धित्वम् । यद्वा यथा विद्यानिष्ठइत्युक्ते तद्वशीकार उच्यते तथा चक्षुष्यवस्थानमपि तद्वशीकरण तन्निवर्तनं तच्च द्वारक अतो नावस्थितिरित्यर्थः । असम्भवमाह-सर्वेषामिति । जीवानां परमामोषात् नेनामयत्वामृतत्वादयो भवन्तीति तद्दद्यावृत्त्यर्थं निरुपाधिका इत्युक्तम् । अधिकरणार्थं निगमयति तस्मादिति । ‘अन्तर’ इति एते स्ववाक्यस्यहेतुरुक्तः श्रुत्यन्तरप्रदर्शनमुक्तेन स्ववाक्यस्यशङ्काविहारपरं द्वितीयसूत्रम् । स्ववाक्यस्य

## श्रुतप्रकाशिका

ज्ञायां परिहृताया प्राकरणिकपूर्ववाक्येन परमात्मपरवोपपादकं तृतीयम् । पूर्ववाक्यस्य ब्रह्मपरवोपपादकं चतुर्थम् । ततः  
पाश्चात्यवाक्येन साध्योपपादकं पञ्चमम् । पष्ठतु साध्यद्रष्टिज्ञे पूर्वसूत्रद्वयोक्तहेतुव्यतिरेकप्रदर्शकमिति सूत्रसङ्गतिः ॥

यादवप्रकाशयेतु—‘अन्तरउपपत्तेः’ इत्यादिसूत्रत्रयं छायापुरुषव्युदासपरं योजितम् । ततोऽपि प्रतिविम्बस्य  
जीवस्य च व्युदासपरत्वं युक्तम् । अमृतत्वामयत्वादीनां सर्वव्यावर्तनक्षमत्वात्तथाऽभ्युपगमाच्च । ‘अतएव च सत्रह्य’  
इति सूत्रस्य च वैयर्थ्यं प्रसजेत् अतएव छायानिराकरणहेतुभिरेव जीवोऽपि न भवतीतिहि योजितम् । पूर्वोक्तहेतवो  
जीवव्यावर्तनसमर्थाः नवा नचेत्तेरेवाक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वसाधनमनुपपन्नम् । तद्व्युदाससमर्थाश्चेत् तद्वेतूपादानादेव  
जीवव्यावृत्तिः सिद्धयतीति तदनुवादेन परमात्मत्वसाधनाय सूत्रान्तरप्रणयनवैयर्थ्यमेव स्यात् ‘प्राणो ब्रह्म’ इत्यादिवा-  
क्यस्य दृष्टिविधिपरत्वव्युदासेन सुगविशिष्टब्रह्मपरत्वसमर्थनं चापेक्षितम् । अपेक्षितविधेरनपेक्षितविधानं च दुर्बलम्, किंच  
यथेष्टव्यधिकरणादिषु ‘नाशब्दम्’ ‘आनन्दमय.’ ‘अन्त’ इति च परमात्मत्व साध्यं प्रतिज्ञायते तथा तच्छेष  
भूतव्यतिरेकप्रतिज्ञानं क्वचिन्नियते यथा ‘नानुमानम्’ इति अवान्तरशङ्काविशेषपरिहारः क्वचित् प्रतिज्ञायते यथा—  
‘विकारशब्दान्नेतिचेन्न’ इति । अतोऽस्मिन्वाधिकरणे ‘अन्तरउपपत्तेः’ इति सूत्रेण परमात्मत्वसाध्यप्रतिज्ञा यथा  
‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्’ ‘आकाशस्तद्विज्ञात्’ ‘प्राणस्तथाऽनुगमात्’ इत्यादिष्वदिद्यान्तर्वर्त्याकाशप्राणादीनु-  
द्दिश्य परमात्मत्व प्रतिज्ञातम् एवमन्तरशब्दमुद्दिश्य परमात्मत्व प्रतिज्ञातमितिहि स्वरसतः प्रतीयते अतो ब्रह्मणः प्रति  
प्रतिपाद्यत्वं न पुन प्रतिज्ञातव्यम् । इह च परमात्मत्वसाध्योपपादकतयोदाहृतस्य पूर्ववाक्यस्य परमात्मत्वशैथिल्ये शङ्किते  
तत्परिहाराय पूर्ववाक्यप्रतिपाद्यस्य परत्व प्रतिज्ञायते चेद्युज्यते प्रयोजनवत्त्वात् । तदभावात् पुनःप्रतिज्ञानं तन्मते विफलम्  
‘अन्तर’ इत्यात्ममात्रं प्रतिज्ञातं न परमा मेतिचेत् तत्सूत्रशैलीविरुद्धत्वादमृतत्वादधर्माणां जीवव्यावर्तनक्षमत्वाच्चानु-  
पपन्नं सुगविशिष्टस्येह प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिपरिहारपरम् अतएव च इति सूत्रमिति चेन्न ‘सुखविशिष्टाभिधानादेव च’  
इति सूत्रेणैव पूर्वत्रचात्र च ब्रह्मसद्वदनादीनां तत्प्रत्यभिज्ञोपपत्तीनां विवाक्षितत्वात् । नहि न्यायनिबन्धना मक सूत्रं  
प्रतिज्ञामात्रपरम् । छायापुरुषानिराकरणहेतुतयोक्तानाममृतत्वामयत्वादीनां आक्षिपुरुषे सुखविशिष्टब्रह्मप्रत्यभिज्ञाक वायो  
गात् प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिपरिहारपरत्वमयुक्तम्, प्रत्यभिज्ञोपपादनप्रकारश्चानुपपन्नः । पूर्ववाक्य ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म ख  
ब्रह्म’ इति प्राणस्य सुखविशिष्टाकाशस्यचेत्त्वात् श्रुत्यन्तरे दक्षिणवामयोरक्षोरिन्द्रशब्दवाच्यस्य प्राणस्य तत्प न्याय-  
स्थित्यनुगमात् वाक्यक्तिरूपपरमाकाशपत्नीकः प्राणोऽयमदि पुरुषः पूर्ववाक्योक्तं प्रत्यभिज्ञायत इतिहुक्तम् । वाङ्मयाशा-  
तस्य प्राणस्य वाङ्मयपत्नीकत्वायोगादिति श्रुतिव्याकौपस्य ज्योतिराधिकरणे दर्शिततयाऽस्यार्थस्यानुपपन्नं व स्फुटम् ॥

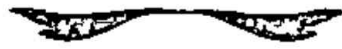
किंच इयं तावत् सूत्रकारशैली यत्सर्वेष्वधिकरणेषु एकस्मिन्नेव सूत्रे परमसाध्योऽर्थः प्रतिज्ञायते ‘स्थानादिव्य-  
पदेशाच्च’ इतीदमपि ‘यएपोऽन्तरिक्षिणि पृरूपो दृश्यत’ इति श्रुतौ चक्षुष्यवस्थानपरिहृत्यमानावव्यपदेशात् पर-  
मात्मत्वसाधकमिति व्याख्यात ततोऽप्यन्तर्यामिब्राह्मणविषयतया व्याख्यानं युक्तम् । उपजीव्यवाक्यादभ्युपजीव्यवाक्य-  
प्रावस्थात् ‘यएपोऽन्तरिक्षिणि’ इति वाक्यं ह्यन्तरादित्यत्रियातुल्ययोगक्षेमम् तत्र चू देहविशेषयोगाधीनजीववशङ्का  
निरस्ता । अतस्तत्रापि प्रसिद्धवर्तिदेशदृश्यत्वव्यपदेशाभ्यां जीवविषयत्वे शङ्किते अन्तर्यामिब्राह्मणादिकमेव शरणम् । अत  
एवज्ञादित्यान्वर्तितो जीवादव्यवसिद्धये ‘भेदव्यपदेशाच्चान्य.’ इति सूत्रं तद्विषयं प्रणीतम् । तत्र च नियन्तृवादि-  
मि.परमात्म व स्फुटम् । अत उपजीव्यवाक्यविषयतया व्याख्यानं युक्तम् । अन्तराधिकरणं अन्तर्यामिणः परमात्मत्वमे



## श्रुतप्रकाशिका

घनं चास्य सूत्रस्यान्तर्यामिब्राह्मणविषयतां द्योतयति प्रयुक्तेऽर्थे असिद्धिशङ्कापरिहारेहि यौक्तिकशैली । नच वाच्यं त्वदु-  
दाहृतवाक्यमप्युपपाद्यत्वादुर्बलमिति । तस्य वाक्यान्तरोपजीव्यत्वाभावात् तत्त्वत्वनुग्राहकन्यायमात्रापेक्षम् । अतो न्या-  
यानुगृहीतवाक्यान्तरसापेक्षवाक्यविषयत्वाद्वाक्यान्तरनिरपेक्षवाक्यविषयत्व परम् । 'श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च' इत्य-  
त्राक्षिपुरुषविद्याया गतिचिन्तनानुवादेभ्यः तदङ्गत्वमुच्यते इत्युक्तम् । तदर्थमुक्तम्, अक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वनिर्णयात्  
परमात्मोपासनस्यानुष्ठेयान्तरं प्रत्यङ्गत्वायोगात् गतिचिन्तनस्य सर्वपराविद्याङ्गत्वाच्च । गत्यनुवादस्य प्रयोजनं त्वपुनरावृत्ति  
विधानमित्युक्तम् । नन्वङ्गान्तरविधानम् । अनो यथोक्तार्थपराध्येव सूत्राणि ॥

## इति अन्तराधिकरणं समाप्तम्



## अथ वेदान्तसारः

## सू—१३ अन्तर उपपत्तेः (१.२.३)

'यएषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' (छा.१५.१) इत्यत्र अस्या-  
धारः परमपुरुषः निरुपाधिकामृतत्वाभयत्वसयद्ब्रह्मत्वादीनामसिद्धेर्वोपपत्तेः ॥

## सू—१४ स्थानादिव्यपदेशाच्च [१.२.१४]

'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (बृ.५.७.१८) इत्यादिना स्थितिनियमनादिव्यपदेशाच्चायं परः ॥

## सू—१५ सुखविशिष्टाभिधानादेव च १.२.१५

'कं ब्रह्म सं ब्रह्म' (छा.४.१०.५) इति पूर्वत्रास्यैव सुखविशिष्टतया अभिधानाच्चायं परः ॥

## सू—१६ अत एव च स ब्रह्म (१.२.१६)

यतस्तत्र भवभीताय उपके सत्येय ब्रह्मजिज्ञासवे 'कं ब्रह्म सं ब्रह्म' (छा.१.१०.५) इत्युपदिष्टः 'यदाव कं  
तदेव तम्' (१.१०.५) इति सुप्रसङ्गः अतस्तुतशब्दाभिधेय आकाशः परमेव ब्रह्म ॥

## सू—१७ श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च [१.२.१७]

श्रुतब्रह्मस्वरूपाणामधिगन्तव्याया अर्चिरादिगतेगतिपुरुषं श्रुयते 'तेऽर्चिर्मेवामिसंभवन्ति' (छा.४.१५.५)  
इत्यादिनाऽभिधानाच्चायं परमपुरुषः ॥

## अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः १.२.१८

परस्मादितरो जीवादिर्नाक्षयाधारः चक्षुषि नियमेन अनवस्थितेः अमृतत्वाद्यसम्भवाच्च ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

### सू-१३ अन्तर उपपत्तेः (१.२.१३)

छान्दोग्ये—‘यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेतिहोवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म’ (छा.४.१५.१) इत्यक्षयाधारः पुरुषः किं प्रतिर्चिन्नात्मजीवदेवताविशेषान्यतमः ? उत परमात्मेति सशयः । एष्वन्यतम इति पूर्वः पक्षः । कुतः ? ‘यएष दृश्यते’ इति प्रसिद्धमसाक्षात्कारनिर्देशात् । राद्धान्तस्तु—परमा मैवमक्षयाधारः पुरुषः अक्षिपुरुषसम्बन्धितया श्रूयमाणाहि निरुपाधिकात्मत्वामृतत्वामयत्वब्रह्मत्वसंयद्ब्रह्मत्वादयः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते । प्रसिद्धवचिर्देशश्च ‘यश्चक्षुषि तिष्ठन्’ (वृ.५.७.१८) इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धरूपपद्यते । साक्षात्कारश्च तदुपासनमिष्टाया योगिनाम् । सूत्रार्थस्तु अक्षयन्तर. परमात्मा सयद्ब्रह्मत्वादीनां गुणानामत्रैवोपपत्तेः ॥

### सू-१४ स्थानादिन्यपदेशाच्च [१.२.१४]

स्थान-स्थितिः, परमात्मन एव ‘यश्चक्षुषि तिष्ठन्’ (वृ.५.७.१८) इत्यादौ चक्षुषि स्थितिनियमनादीनां व्यपदेशाच्चाय परमात्मा ॥

### सू-१५ सुखविशिष्टाभिधानादेव च १.२.१५

‘प्राणो ब्रह्म कब्रह्म स ब्रह्म’ (छा.४.१०.५) इति सुखविशिष्टतया प्रकृतस्य परस्यैव ब्रह्मणोऽक्षयाधारतयोपास्यत्वाभिधानाच्चायं परमात्मा । एवकारोऽस्यैव हेतोर्नैरपेक्ष्यावगमाय ॥ ‘प्राणो ब्रह्म कब्रह्म स ब्रह्म’ इत्यत्र सुखविशिष्टं परमेव ब्रह्माभिहितमिति कथमिदमवगम्यते ? यावता नामादिव्यप्रतीकोपासनमेवेत्याशङ्क्याह—

### सू-१६ अत एव च स ब्रह्म [१.२.१६]

यतस्तत्र भवमीताद्योपकोसलाय ब्रह्मस्वरूपजिज्ञासवे ‘क च त्व स च नविजानामि’ (छा.४.१०.५) इति पृच्छते ‘यद्वा क तदेव स यदेव स तदेव कम्’ (छा.४.१०.५) इत्यन्योन्यव्यवच्छेदकतया अपरिच्छिन्नसुखस्वरूपब्रह्मत्वमिष्टाय ‘प्राण च ह्यस्मै तदाकाश वाचु’ (३.१०.५) इत्युक्तम् । अतएव सशब्दाभिधेयस्य आकाशोऽपरिच्छिन्नसुखविशिष्ट ब्रह्मैव ॥

### सू-१७ श्रुतोपनिषत्कगल्यभिधानाच्च (१.२.१७)

श्रुतोपनिषत्कैः अधिगतपरब्रह्मयाथाग्यै. ब्रह्मप्राप्तये या गतिर्चिन्नादिकाऽधिगत-न्यतयाऽवगता श्रुत्यन्तरे तस्याधेहाधिपुरुष श्रुततोऽधिगत-न्यतया ‘तेऽर्चिर्भवेन्नामैवभवन्ति’ (छा.४.१५.५) इत्यादीनामभिधानादक्षिपुरुषः परमात्मा

## अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः १.२.१८

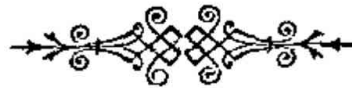
परमात्मन इतरजीवादिकः, तस्याक्षिण नियमेनावस्थितेः, अमृतत्वस्यद्वामत्वादीनां चासंभवान्न सोऽक्षयाधारः ॥

॥ इति वेदान्तदीपे अन्तराधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणसारावली

यद्वृत्तादेर्य एषोऽक्षिणि पुरुषइति श्रूयमाणोऽस्तु जीवो  
यद्वाक्ष्णोर्देयताऽर्कः प्रतिकृतिरथवा तत्र दृश्येति चेन्न ।  
एतद्ब्रह्मतदेवामृतमभयमिदं कं स्वमित्याद्यधीते  
स्संयद्द्वामत्वमुख्यैस्स्थितिनियतिबलादर्चिराद्युक्तितश्च ॥  
स्वातन्त्र्योत्तंसितासु श्रुतिषु न फलदस्यैव वेद्यत्ववादः  
कल्याणालोनादेरिव विधिवलतो वेदनस्यार्थवत्त्वात् ।  
तस्मादक्षयन्तरस्थः प्रतिकृतिपुरुषो युज्यते पूर्वपक्षे  
सेयं पूर्वापरास्वप्यधिकृतिषु यथासम्भव नीतिरूपा ॥  
पूर्वन्यायेऽग्निविद्या पुरत उपनता मध्यतस्मिन् तस्मा-  
त्तद्वन्न ब्रह्मविद्याऽनुगतिरिति भवेदक्षिविद्या ततोऽन्या ।  
मैवं विच्छित्तिरङ्गैर्न हि भवति मिता चाङ्गताऽनेकधाऽस्याः  
प्रोक्तं च ब्रह्मविद्याऽनुगुणमिह फलं प्राक्तु न ब्रह्मदृष्टिः ॥

॥ इति अन्तराधिकरणं समाप्तम् ॥



अथ अन्तर्याम्यधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

‘स्थानादिव्यपदेशाच्च’ (शारी.१.२.१४) इत्यत्र ‘यश्चक्षुषि तिष्ठन्’ (वृ.५.७.१८)  
इत्यादिना प्रतिपाद्यमानं चक्षुषि स्थितिनियमनादिकं परमात्मन एवेति सिद्धं कृत्वाऽक्षिणु-  
षम्य परमात्मत्वं साधितम् ? इदानीं तदेव समर्थयते-

अथ अन्तर्याम्यधिकरणम्

श्रुतप्रमाशिक्षा

उत्तराधिकरणसङ्गतिमाह—स्थानादीति ।

श्रीभाष्यम्

सू-१९ अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् (१.२.१९)

श्रुतप्रकाशिका

सू-१९ अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् [१.२.१९]

अथ अन्तर्याम्यधिकरणम्

गूढार्थसंग्रहः

एवमधिकरणत्रयेण जीवभिन्नपरमात्मन एव श्रुतितात्पर्यविषयत्व निर्धारितम् । बृहदारण्यके अन्तर्यामिब्राह्मणे 'सत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' मा.पा 'एषत आत्मा' (का.पा) इति चतुर्विंशतिवारं द्वाविंशतिवारं चाभ्यस्तवाक्येषु जीवपरयोर्भेद एव विवक्षितः नतु भेदः । तथासति 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति निषेधानुपपत्तेः । अतोऽन्यदार्तमिति प्रपञ्चमिच्छ्या नामिधानाच्चेत्याक्षेपनिरासेन सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणे 'शब्दविशेषात्' इत्यत्र 'एषम आत्माऽन्तर्हृदय' इति त्रिरभ्यस्तवाक्यवत् अत्रापि भेदएव विवक्षितः 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिरपि नात्मा-न्तरनिषेधादिपरमिति साधयति अन्तर्याम्यधिकरणे तेनान्तराधिकरणार्थः दृढीकृतो भवति ॥

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । भास्करभाष्ये अधिलोकशब्दघटित एव पाठो वर्तत इति स एव पाठः आहतः भगवता । 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयत' इत्यत्र काण्वमाध्यन्दिनपाठद्वय विवक्षितमिति सर्वसम्मतम् । 'अधिलोक, अधिवेद, अधियश' शब्दाः माध्यन्दिनपाठ एव वर्तन्ते । अधिदैवादिषु इत्युक्तौ काण्वपाठमात्रस्य सप्रहस्यमस्यात् । अधिलोकशब्दघटितपाठतु पाठद्वयमपि विवक्षितमिति निश्चयो भवतीत्यशयः ॥

नवीनैः 'अधिदैवादिषु' इत्यस्य 'तद्धर्मव्यपदेशात्' इत्यत्रान्वयः आहतः । 'अधिदैवादिप्रकरणेषु' इति लक्षणाभङ्गीकृत्यार्थ उक्तः । 'अधिदैवादिषु' इत्यस्यान्तर्यामीत्यत्रान्वये लक्षणाविरहेऽपि वैयर्थ्यमेव दोषः तदपेक्षया लक्षणेव युक्ता । 'तद्धर्मव्यपदेशात्' इत्यत्रान्वयेन अभ्यासः सिद्धयतीति चन्द्रिकायां स्पष्टम् । अधिदैवादिष्वन्तर्यामी इत्युक्तावपि अभ्यासस्फुट प्रतीयत एव । अन्तर्यामित्वस्याभ्यासः सर्वत्र यमयितृत्वमेव परमात्मधर्मः तेनाभ्यासेन यमयितृत्वस्य परमात्मधर्मताकथने अभ्यासस्य कथं त्यागः । 'य इमं च लोकं च परं च लोकं सर्वाणि भूतानि यमयति' इति एतत् प्रश्नः । एतेन वैयर्थ्याभावाल्लक्षणाङ्गीकारो विफलः । 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यदौ अन्तर्यामिणएव द्रष्टृत्वमुक्तम् । अदृष्टत्वं च 'य पृथिवी न वेद' इत्यादिना पूर्वमेवाभ्यस्तमिति सर्वैरदृष्टत्वमेव विवक्षितम् । तत्सहभावेन 'य इमं च लोकं' इत्यादिप्रश्नघटकपदानुपपत्तेन 'द्रष्टा' इत्यत्र सर्वद्रष्टृत्व विवक्षितः । एव च 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादावपि द्रष्टृशब्दैकरीत्यैव सर्वनियन्तुः सर्वद्रष्टृत्वस्य सर्वद्रष्टुः निषेध एव विवक्षित इतीदं सिद्धान्ते सङ्गच्छते । एतच्च 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयत' इत्यत्र निर्णेष्यते । पूर्वपक्षसिद्धान्तयुक्तयः भाष्य एव स्फुटाः । ताद्विस्तरस्तु तत्त्वमार्ताण्डे द्रष्टव्यः ॥

'हयवरट्' इति सूत्रमहामाष्ये 'रेफप्य परोपदेशे अनुनासिकिर्द्विवचनपरसवर्णप्रतिषेधः' इति वार्तिके अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो नवक्तव्यः रेफोष्मणा सवर्णा न सन्ति' इति वार्तिकोक्तानुनासिकपरसवर्णप्रतिषेध निरस्य



## श्रीभाष्यम्

काण्वामाध्यन्दिनाश्च वाजसनेयिनस्समामनन्ति-‘य.पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येव त आत्माऽन्तर्याम्यमृत. (बृ.५.७.३) इति । एवमम्बग्रन्तरिक्षवाय्वादित्यदिवचन्द्रतारकाकाशतमस्तेजस्सु देवेषु च तिष्ठन्तं तदन्तरभूतं तत्तद्वेद्यं तत्तच्छरीरकं तत्तद्यमयन्तं कश्चिन्निर्दिश्य

## श्रुतप्रकाशिका

विषय शोधयति काण्वा इत्यादिना । वेदयज्ञशब्दौ तदभिमानिदेवताविशेषपरौ गुणक्रियादेरद्रव्यतया शरीर-त्वायोगात् । अद्रव्यस्यापि शरीरत्वमनेनैव प्रयोगेण कल्प्यमिति चेन्न, अनन्यथासिद्धस्यैव प्रयोगस्य कल्पकत्वात् अभि

## गूढार्थसङ्ग्रहः

द्विर्वचनेऽपि प्रतिषेधो नवक्तव्य इत्यभिप्रेत्य ‘द्विर्वचनेऽपि । नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य । किं तर्हि निमित्तमिमौहरे द्विर्वचनस्य’ इति महाभाष्ये उक्तम् । अत्र प्रदीपः ‘हकारवत् रेफोऽपि नकार्य इत्यर्थः’ इति । शब्दकौस्तुभे ‘तत्र हकारग्र-हण दृष्टान्तार्थम् । तस्य यद्वहिर्भूततया यथा नद्विष्ये कार्यिता तथा यरन्तर्भूतस्यापि रेफस्येति’ इति स्पष्टम् । एवं च दृष्टा-न्ततया स्मार्तशब्दोपादाने अप्रसक्तप्रतिषेधरूपदोषः न सम्भवति । एव ‘नपृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि’ इत्यत्राप्रसक्तप्रतिषेध हिरण्योपहितत्वप्रतिपत्त्यर्थः यथा, तथा ‘य पृथिवी न वेद’ इति ‘यमात्मा न वेद’ इत्यस्य दृष्टान्त इत्युक्ती दुर्ज्ञेयत्वप्रतिपत्तिः फलं वर्तत इत्याप्यभाविप्रतिषेधो न दोषः । उभयत्र च शब्दोपादानेन दृष्टान्त बोधित्वेन युक्ता अन्यथा ‘नच’ इत्यत्र च शब्दवैयर्थ्यात् ‘शरीरश्च’ इत्यत्र च शब्देन स्मार्तसमुच्चयसम्भवात् ॥

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते इति ‘शब्दविशेषात्’ इति सूत्रे ‘एषम आत्माऽन्तर्हृदये’ इति पष्ठ्या भेदः पूर्वमेव निर्धारितः । परैरपि त सूत्रविवरण तथैव कृतम् । उपनिषद्भाष्येऽपि (श) श्रुतेः भेदाभिप्रायकत्वमेव परैरुक्तम् । त्रिवारमग्न्यस्त वाक्योत्तरीतिमेव द्वाविंशतिवारं (‘एषव आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’) चतुर्विंशतिवारं (‘सत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’) च पष्ठ्यभ्यासेन जीवब्रह्मणोर्भेदः अन्तर्यामिब्राह्मणे विवक्षित इति निश्चिनोति । ‘उभयेऽपि हि भेदेन’ इत्यत्र भाष्ये ‘शरीरश्च’ इति सूत्रघटकपदमभिप्रेत्य एन शरीरमित्यर्थो वर्णितः । सारदीपयोस्तु ‘अन्तर्याम्यधिदैव’ इति प्रथमसूत्रमभिप्रेत्य एनमन्तर्यामिणमिति विवृतम् अत्रैव भाष्यकृतोऽभिप्राय इति प्रतीयते । ‘अधिदैवाधिलोकादिषु’ इति काण्वमाध्यन्दिनपाठद्वयाविवक्षायास्सूत्रनेन अत्र ‘उभयेऽपि हि’ इत्यत्र काण्वमाध्यन्दिनपाठद्वयविवक्षादृढीकरणात् । किंच ‘सत आत्माऽन्तर्यामी’ ‘एषत आत्माऽन्तर्यामी’ इत्यादौ पष्ठ्या अन्तर्यामिणि जीवभेदस्यैव स्फुट प्रतिपादनादपि यथोक्त एवार्थः । ‘आत्मानमन्तरो यमयति’ इत्यत्रापि एवमेवार्थः ॥ यद्यपि परैः सूत्राणामर्थे जीवब्रह्मभेदपरतयेवा-भिधाय ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यादिश्रुतिरचन विरुध्यते । अत्राहि ‘प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्य द्रष्टार भोतार मन्तार विज्ञातारं चा मान प्रतिषेधति नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमतद्वचनमिति चेत्-न-नियन्त्रन्तराप्रकृतादविशेषधवणाद्य इत्युक्तम् ॥

तथाऽपि ‘सकारण करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः’ इत्यत्रैवात्राप्यप्रसक्तनिषेधः न पठते । ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यत्र समाना-यनियमस्य पूर्वमीमांसन्यायेन प्राचीनैरेव साधनात् । अत्र प्रभवः कपदानुसङ्गेन सर्वद्रष्टुरेव ‘अदृष्टो द्रष्टा’ इत्यत्रान्तर्यामिण एव सर्वद्रष्टृत्वाभिधानेन ‘अत’ इत्येतच्छब्दस्य सर्वनियन्तु सर्वद्रष्टृपरतया

## श्रीभाष्यम्

‘एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ (वृ.५.७) इत्युपदिश्यते । माध्यन्दिनपाठे तु ‘यस्सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्’ ‘यस्सर्वेषु वेदेषु’ ‘यस्सर्वेषु यज्ञेषु’ (वृ.५.७) इति च पर्यायाः । ‘यो विद्वानेन तिष्ठन्’ ५.७.इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने ‘य आत्मनि तिष्ठन्’ ५.७. इति पर्यायः । ‘स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ (वृ.५.२३) इति च विशेषः । तत्र संशय्यते—किमयमन्तर्यामी प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा ? इति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । युतः ? वाक्यशेषे ‘द्रष्टा श्रोता’ (५.७.२३) इति करणायत्तज्ञानताश्रुतेः । एवं द्रष्टृरेवान्तर्यामित्वोपदेशात्, ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (५.७.२३) इति द्रष्टृन्तरनिषेधाच्चेति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—‘अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्’ अधिदैवा-

## श्रुतप्रकाशिका

भानिदेवतापरत्वेनापि द्रव्यपरत्वमेवोचितमिति । सशयमाह—तत्रेति । प्रत्यगात्मशब्दः ऐश्वर्ययोगविशेषनिमित्तप्रकर्षानुवृत्तजीवपरः । समस्तचेतनाचेतनान्तर्यामिवेन श्रूयमाणस्यापि कथं जीवत्वशङ्कोऽन्यथानम् ? उच्यते—‘द्रष्टा श्रोता’ इत्यादिशब्देन करणायत्तज्ञानवत्ताप्रतीतिवत्त्वादमृतत्वादिलिङ्गानाम् । ‘आत्मनि तिष्ठन्’ इत्यादिव्यतिरेकनिर्देशस्य नियमनस्यचामुख्यत्वशङ्कयाऽधिकरणोक्त्यानमिति । किमन्तर्यामी जीवः उत परमा मेति प्रथमविचारः ! तदर्थम् ‘आत्मनि तिष्ठन्’ इत्यादिकं किं मुख्य उतामुख्यम् । तदर्थं द्रष्टृत्वं किं जीवस्यैव उतान्तर्यामिणोऽपि सम्भवति । तदर्थं ‘द्रष्टा श्रोता’ इति करणायत्तज्ञानत्वमुच्यते, उत रूपादिसाक्षाकार इति । तदर्थं रूपादिसाक्षाकर्ताचेत् द्रष्टृन्तरनिषेधः किं नोपपद्यते उतोपपद्यत इति विचारः । नोपपद्यत इति पूर्वपक्षः । उपपद्यत इति सिद्धान्तः । यदा निषेधोऽनुपपन्नः तदा द्रष्टृत्वादिकं करणायत्तज्ञानवत्त्वमिति तस्य जीवा मन्येव सम्भवादा मनि स्थित्यादिकममुख्यमित्यन्तर्यामी जीवस्यात्, यदा निषेध उपपन्नः तदा रूपादिसाक्षाकाररूपद्रष्टृत्वादेः परमात्मनि सम्भवेनात्मनि स्थित्यादीनां मुख्यतया नेयत्वादन्तर्यामी परमात्मेति फलितं स्यात् कुतश्चेति । प्रत्यगात्मनोऽप्यन्तर्यामिवेन श्रुतस्य कथं प्रत्यगात्मत्वमिति भावः ॥

तत्र जीवत्वे हेतुमाह—वाक्यशेष इत्यादिना । ज्ञानस्य करणाधीनत्वोक्त्या नियमनस्य च करणाधीनत्वमर्थसिद्धम् । परप्रेरणरूपस्य सङ्कल्पस्य मनःकरणकत्वदर्शनात् । करणायत्तज्ञानमस्तु, ततः किमन्तर्यामिणो जीवत्वस्येत्यत आह एतद्द्रष्टृरेवेति । तर्हि रूपादिसाक्षाकार एव द्रष्टृशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमस्तु, न करणायत्त ज्ञानमित्यत्राह—नान्योऽतोऽस्तीति । रूपादिसाक्षाकारस्य जीवपरयोस्साधारणत्वात् न स निषेद्धुं शक्यते करणायत्तज्ञानवत्त्वतु जीवस्यैवेति तदन्यस्य निषेद्धुं शक्यमित्यर्थः । प्रतिपर्यायं यच्छब्दावृत्त्यान्तर्यामिषट्पञ्चमवगम्यते ‘आत्मनि तिष्ठन्’ इति व्यपदेशः स्वे महिम्नि स्थित इतिवत् भवति । तदन्तरत्वं तन्नियन्तृत्वं च ‘आत्मेश्वरम्’ इतिवद्व्यापकनियामकवत् वतरामावाभिप्रायेणोच्यते ‘यमात्मा न वेद्’ इति ससृष्टेन निष्कृष्टस्वरूपाज्ञानमुच्यते इति नेयम् । यत्तु जीवविशेषान्प्रत्यन्तर्यामित्वं तत्तदवेद्यत्वादिकं, तदष्टमूर्त्यादेरेव तत्तद्गणाध्यक्षाणां जीवानां तत्तन्नियन्तृत्वेन सम्भवति । यद्वाऽदित्यत्र द्रष्टृसौ मण्डलपरो सर्वेषु देवेष्वित्यादिशब्दाश्च शरीरमात्रपराः ‘स आत्मा’ इति निर्देशः शिलापुत्रस्य शरीरमिति वत् स्यात्, स इति पदं ज्ञात्यभिप्रायम् तज्जातीयत्वमित्यर्थः उपक्रमेण ‘य इमं च लोकं परं च लोकम्’ इत्यत्र यच्छब्दो ज्ञात्यभिप्राय इति भावः

एवं प्राप्त इति । सूत्रे अधिदैवाधिलोकादिपदविहितेषु वाक्येष्वित्यनेन सर्वसूत्रेषु तत्तत्पदविहितवाक्यप्रतिपाद्यत्वं विप्रक्षितमिति गम्यते । अधिदैवाधिलोकपदद्वयोपादानस्य प्रयोजनमाह—

## श्रीभाष्यम्

धिलोकादिपदचिह्नितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्याम्यपहतपाप्मा परमात्मा नारायणः । काण्वपाठसिद्धेभ्योऽधिदैवादिमद्भ्यो वाक्येभ्योऽधिकान्यधिलोकादिमन्ति वाक्यानि माध्यन्दिनपाठे सन्तीति ज्ञापनार्थमधिदैवाधिलोकादिधित्युभयोरुपादानम् । तदेवमुभयेष्वपि वाक्येष्वन्तर्यामी परमात्मेत्यर्थः । कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात् ; परमात्मधर्मोऽस्य यदेक एव सन् सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा उद्दालकप्रश्न — ' य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति ' (वृ.५.७.१) इत्युपक्रम्य 'तमन्तर्यामि णं ब्रूहि' [५.७.१] इति । तस्योत्तरम् ' यः पृथिव्यां तिष्ठन् ' (५.७.३) इत्यारभ्योक्तम् । तदेतत्सर्वान्लोकान् सर्वाणि च भूतानि सर्वान्देवान् सर्वान्देवान् सर्वाश्च यज्ञानन्तःप्रविश्य सर्वप्रकारनियमनम् । सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्वं च सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पात्पुरुषोत्तमादन्यस्य न सम्भवति । तथा हि ' अन्तःप्रविष्टश्चास्ता जनानां सर्वात्मा ' (तै.आरण्यक.११.अनु.२०) ' तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्चत्यन्नाभवत् ' (तै.आनन्दवल्ली.६) इत्यादीन्यौपनिषदानि वाक्यानि परमात्मन एव सर्वस्य प्रशसितत्वं सर्वस्यात्मत्वमित्यादीनि वदन्ति । तथा सुबालोपनिषदि — ' नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः । चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः । श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणः ' (सुबाल.६.खण्ड) इत्यारभ्य ' अन्तश्शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद यस्यापश्शरीरम् ' (सुबाल.७.ख) यस्य मृत्युश्शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ' [७.ख) इति परस्यैव ब्रह्मणस्सर्वात्मत्वं सर्वशरीरत्वं सर्वनियन्तृत्वं च प्रतिपाद्यते । स्वाभाविकं चामृतत्वं परमात्मन एव धर्मः । नच परस्यात्मनःकर-

## श्रुतप्रकाशिका

काण्वेति । ततः किमित्यत्राह—तदेवामिति । माध्यन्दिनपाठे अधिलोकाद्यधिपर्यायश्रवणेन काण्वमाध्यन्दिनयोर्विषयभेदशङ्कायामुभयसाधारणब्रह्मपर्यायप्रदर्शनाधेनाधिदैवशब्देनोभयत्रैकविषयवप्रत्यभिज्ञानार्थं यूनपर्यायेऽपि पाठे अनुत्तमन्यतोप्राक्षामिति न्यायेनाधिकपर्यायपाठार्थविवक्षाज्ञापनार्थोभयपदोपादानमित्यर्थः । एकस्यैव सत्सर्वानियमन कथमवगतमित्यत्राह—तथाहीति । यः पृथिव्यामित्यादिकं तस्य प्रश्नस्योत्तरमस्तु, ततः किमित्यत्राह—तदेतादिति । नियाम्यापारिणतेऽमोघसङ्कल्पत्वे च सर्वनियमनायोगात् सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पादित्युक्तम् । सुबालोपनिषदि समानप्रकरणे ' पुरुष एवेदं सर्वम् ' इत्युक्तत्वादाह—पुरुषोत्तमादिति । पुरुषोत्तमस्यैव सर्वनियमनादिसंभवे श्रुत्यन्तराणि दर्शयति तथाहीति । परमात्मन एवेति । अत्र सर्वनियन्तृत्वादितरेषा नियाम्यकोटिनिवेशादस्यैवेत्यवधारणं फलितमिति भावः । एतद्वैशद्याय समानप्रकरणोक्तिं दर्शयति तथा सुबालोपनिषदीति । सूत्रविवक्षितं हेन्द्वन्तरचाह—स्वाभाविकं चेति । पूर्वपक्षयुक्तिं परिजिहीर्षन् दर्शनधर्मणादिशब्दानां करणायत्तज्ञानवाचि च किमर्थं सन् शब्दमिति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमं शिरःप्रतिवर्दति नच परस्येति । ' अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतदश्रोता अमतोमन्ता अविज्ञातो विज्ञाता ' इति वाक्ये आत्मसाक्षात्कारतदुपायभूतधर्ममननिदिध्यासनकर्तृत्वाहं प्रतीयते नतु रूपादिसाक्षात्कार इति शङ्का परिहृते परस्यात्मन इत्युक्तम् ॥

अत्रायमभिप्रायः श्रुत्यन्तरेषु ' नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्यीयाः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ' इति ' आत्मा या अरे द्रष्टव्यदश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यसितव्यः ' इत्यादयः ।

श्रीभाष्यम्

णायत्तं द्रष्टृत्वादिकम् ; अपि तु स्वभावत एव सर्वज्ञत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वाच्च स्वत एव । तथा च श्रुतिः ' पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जघनो ग्रहीता ' (वे. ३. १९) इति । न च दर्शनश्रवणादिशब्दाश्चक्षुरादिकरणजन्मनो ज्ञानस्य वाचकाः ; अपि तु रूपादिसा-

श्रुतप्रकाशिका

क्यैश्वर्यमनादिकर्तृत्वं परस्य प्रतिषिद्धं, तत्कर्मत्वं श्रुत तस्मादिह द्रष्टा श्रोता मन्ता विशतेति प्रतीयमानं परस्यामन श्रवणादिकर्तृत्वं तन्प्रतिषेधकश्रुतिविरुद्धम्, रूपादिसाक्षात्कर्तृत्ववत् ' पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः ' इत्यादिश्रुत्यन्तराव-  
गतम् । अतः श्रवणादिकर्तृत्वं प्रतिषेधकश्रुतिविरोधाद्रूपादिसाक्षात्कारविधायकश्रुत्यन्तरानुरोधाच्चेह श्रूयमाणाद्रष्टृदिशब्दाश्च रूपादिसाक्षात्कारवाचकाः न तु श्रवणमननध्यानतत्साध्यदर्शनपरा इति द्रष्टृत्वादिक न करणायत्तमिति रूपादिभिरपरोक्षव्य-  
वहारानुगुणसम्बन्धो न चक्षुराद्यपेक्ष इत्यर्थः । आदिशब्देन श्रोतृत्वादिक कर्मेन्द्रियकार्यगन्तृत्वग्रहीतृत्वादिक च विव-  
क्षितम् । करणशब्दश्च ज्ञानकर्मेन्द्रियसाधारणः । किंतर्हीत्याकाङ्क्षायामाह—अपित्विति । स्वभावत एवेति । द्रष्टृत्वा-  
दिकमिन्यन्वयः । स्वभावशब्दो धर्मपरः स्वरूपस्वभावशब्दयोस्समभिव्याहारदर्शनात् । एवकारश्चक्षुरादिकरणपेक्षा योगि-  
प्रत्यक्षहेतुभूतप्रवृत्तादृष्टोपेक्षा च व्यावर्तयति । अदृष्टेन्द्रियनिरपेक्षधर्मभूतज्ञानेनैव भवतीत्यर्थः । परमात्मेच्छासापेक्षमुक्त-  
नित्यसिद्धज्ञानव्यावृत्तिं दर्शयन्हेतुमाह—सर्वज्ञत्वादिति । स्वतएव सर्वज्ञत्वादित्यन्वयः स्वत एवेति । स्वशब्दस्वरूपपरः  
सत्ताप्रयुक्तत्वादित्यर्थः । एवकारस्त्वव्यतिरिक्तचेतनान्तरसङ्कल्पादृष्टचक्षुरादियुदासपरः ॥

यद्वा न करणायत्तं द्रष्टृत्वादिकमपि तु स्वभावत एवेति रूपादिसाक्षात्काराश्रय एव न करणपेक्ष, अपि तु सत्ताप्रयुक्त-  
मित्यर्थः । कुत इत्याह—स्वत एव सर्वज्ञत्वादिति करणानपेक्षसत्ताप्रयुक्तसर्वज्ञत्वादित्यर्थः । सामान्येनैश्वर्यज्ञानमात्रस्य  
हेतुमात्रनिरपेक्षत्वात् रूपादिविषयज्ञानविशेषाऽप्यदृष्टेन्द्रियरूपहेतुविशेषनिरपेक्ष इति यावत् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात् त्व च  
तदात्मक इति तद्विवाक्षितविशेषसिद्धये सामान्याकारयोगस्य हेतुतथोपन्यासः ग्रहीतृत्वगन्तृत्वादिषु कर्मेन्द्रियनैरपेक्षारहित्य-  
र्थमाह—सत्यसङ्कल्पत्वाच्च स्वत एवेति । तत्र प्रमाणं दर्शयति तथाचेति द्रष्टा श्रोता इत्यत्रोपाध्यनुत्तिपूर्वकदर्शनादि-  
श्रवणात् स्वत एव सिद्धम् निरुपाधिकत्वकण्ठोत्तिश्चास्तीति चार्थः ॥

यद्वा न केवलं ' यस्सर्वज्ञः, सत्यसङ्कल्पः ' इति सामान्यश्रुत्या तत्सिद्धिः विशेषविषयश्रुतिश्चास्तीति चार्थः ।  
यद्वा ' स्वाभाविको ज्ञानजलक्रिया च ' इति श्रुत्या करणनिरपेक्षोऽर्थसिद्धः तस्य स्वाभाविकत्वोक्तिबलात्तद्विशेषभूतदर्श-  
नश्रवणादेः करणनैरपेक्ष्यमापि सामान्यतसिद्धं ननुभय कण्ठे सचेत्यर्थः जघनं स्पर्शति दूरस्थसम्बन्धक्षमं, अतो च श्रुत्या-  
विरोधः । एव दर्शनश्रवणादेरर्थवशात् करणाधीनत्वकल्पनं श्रुतिविरुद्धमिति युक्तम् । अथ चक्षुः पश्यतीति व्याहृतं दर्शन-  
श्रवणादिशब्दानां करणायत्तज्ञानवाचि वादिति शङ्काया दर्शनश्रवणादिशब्दानां करणायत्तज्ञानवाचिता निषेध इति न च-  
दर्शनेति । सर्वप्रयोगानुगतं प्रवृत्तिनिमित्तमाह—आपत्तिरिति । एव च सति द्रष्टा श्रोता इति रूपशब्दयोरसाक्षात्कर्तृ-  
त्यर्थः, मन्ता ये मानसमननाख्याविचारविषयस्तथा साक्षात्कर्ता विज्ञाता बुद्ध्याभ्यवसेया ये तेषां साक्षात्कर्तृत्वार्थः तत्त-  
दिन्द्रियविषयसाक्षात्कारपरत्वात् प्रकरणस्य चक्षुरादिबाह्यकरणमने बुद्धिरूपान्तःकरणवृत्त्यविशेषाः साधारणाकारग्रहणवि-  
चारव्यवसायरूपाः तदाश्रयो जीव इति च मोक्षधर्मेऽर्माहतम् यथा—

चक्षुरालोकनायैव सशयं कुरुते मनः । बुद्धिरध्यवसायाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥

इति । ससारिचेतनज्ञानानां प्रतिनियतकरणसापेक्षत्वं, प्रमाणाप्रमाणरूप एव परोक्षापरोक्षरूपत्वं च भवति, परमा मनश्च



## श्रीभाष्यम्

क्षात्कारस्य । सच रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहितस्याभादिविज्ञानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरणजन्मा ; परस्य तु स्वत एव । ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (वृ.५.७.२२) इत्येवमपि पूर्ववाक्योदिताश्रियन्तुर्द्रष्टुरन्यो द्रष्टा नास्तीति वदति । ‘यं पृथिवी न वेद’ ‘यमात्मा न वेद’ (सुवाल.७.ख) इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलभ्यमान एव नियमयतीति यत्पूर्वमुक्तम्, तदेव ‘अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोता’ (वृ.५.७.२३) इति निगमय्य ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (५.७.२३) इत्यादिना तस्य नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निषिध्यते । ‘एष त आत्मा’ (५.७) ‘स त आत्मा’ (माध्यन्दिनपाठः) इति च त इति व्यतिरेकविभक्तिनिर्दिष्टस्य जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी न प्रत्यगात्मा भवितुमर्हति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

स्तकरण //दिनिरपेक्षाणि तत्तत्करणतत्तद्विषयादिसर्वपदार्थगोचराणि सम्यङ्निश्चयरूपाप्यपेक्षाभक्तानि ज्ञानानि भवन्तीति वैषम्यम् । करणाधीनत्व शब्द माभूत् तथाऽपि व्याप्तिवलात् परमात्मनोऽपि दर्शनश्रवणादयः करणैर्विना नोपपद्यन्त इति सिंहावलोकितकेनाशङ्क्य दर्शनादीनां करणापेक्षायाः कर्मवश्यत्वेन सोपाधिकत्वाच्चव्याप्तिरित्यभिप्रयन्नाह—तसचेति । कर्मवश्यस्यैव करणापेक्षा नत्वकर्मवश्यस्येत्यर्थः । उपाधस्तपधानुगतत्वं दर्शित कर्मतिरोहितेति परस्यत्विति । तुशब्दोऽकर्मवश्यत्वरूपवैलक्षण्यपरः । तेनापक्षवृत्तित्वं दर्शितं भवति । तर्हि द्रष्टृन्तरनिषेधः कथमुपपद्यत इत्यत्राह—नान्योऽत इति । तदेव विवृणोति यंपृथिव्यादिना । निगमय्येति । ‘अदृष्टो द्रष्टा पृथिव्यादिनियाम्यादृष्टस्तन्नियन्तृरूपद्रष्टा’ इत्युक्तार्थनिगमनमित्यर्थः । ‘य पृथिव्याम्’ इत्यादिपर्यायेषु द्रष्टृत्वमार्थं निगमनवाक्ये नियन्तृत्वमार्थं गर्भितं विशिष्टस्य प्रकृतत्वेति सामान्यनिर्देशावगतोऽपि इतरनिषेधः प्रकृताकारविशिष्टेतरविषयो दृष्टः यथाऽस्मिन्नामे देवदत्त एव पुरुषो नान्य इत्युक्ते न पुरुषमात्रं निषिध्यते, किंतु नैव विद्योऽन्यः पुरुषोऽस्तीति बुद्धिस्य स्वात्मन्यादिविशिष्टपुरुषान्तरं निषिध्यते अन्यथा प्रमाणविरोधात् । अतः ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यत्रातदशब्दस्वारस्यवशात् प्रकृतयथोक्तलक्षणं द्रष्टृन्तरं निषिध्यते, तत्तच्च परमात्मनाऽप्येवैवस्तदन्तरस्तन्नियामकः कोऽपि द्रष्टा नास्तीत्यर्थः स्यात्, अपवादाभावात् व्यतिरेकनिर्देशस्वारस्यसिद्धिमाह—एतद्वति । एत पादाद्याधिकरणे ‘इच्छाविशेषात्’ इति व्यतिरेकनिर्देशो हेतुतयोक्तः तस्य प्रदर्शनार्थत्वाच्चतुष्वपीत्यनेन व्यतिरेकनिर्देशो हेतुदत्तः ‘एतत्’ सर्वपर्यायानुवृत्तपठे निर्देशोऽत्र विवक्षितः, पर्यायविशेषस्य सप्तमीनिर्देशस्तु उभयेऽपीति सूत्रविप्रक्षित इति विशेषः ॥

## गूढार्थसंग्रहः

‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यत्रापि द्रष्टृशब्दस्य सर्वद्रष्टृ सर्वनियन्तृपरतया परमात्मनोऽन्यस्य सर्वनियन्तृ सर्वद्रष्टृत्वेन परमात्माऽन्यजीवसामान्यनिषेधस्यात्राशङ्क्यत्वात् । अतएव एतदुत्तरं ‘एतत् आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ इति वाक्यपाठद्वयेऽपि सङ्गच्छते । परमते ‘एतत् आत्माऽन्तर्यामी’ इति पाठस्यैवार्थमेव । ‘तमन्तर्यामिणं ब्रूहि’ इत्युपक्रमे प्रथम उपसंहारेऽपि प्रतिवचनस्यान्तर्यामिपर्यवसान एव सामञ्जस्यम् । परमते तु प्रश्नप्रतिवचनयोः उपाक्रमोपसंहारयोश्च वैरूप्यमवर्जनीयम् ‘अन्तर्यामी’ ‘उभयेऽपि हि भेदेन’ इति सूत्रयोः द्वाविंशतिवारं चतुर्विंशतिवारं नाम्यस्तथाकथनाभिव्यक्त्या ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यनन्तरम् ‘एतत् आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ इति पाठद्वयस्यैव वाक्ययोः विवक्षितत्वेन अन्तर्यामिणे अन्तर्यामिब्राह्मणतापर्यपर्यवसानं सम्बन्धाभिप्रायम् ॥

श्रीभाष्यम्

सू=२० नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च [१.२.२०]

स्मार्तं प्रधानम् । शारीरः जीवः । स्मार्तं च शारीरश्च नान्तर्यामी, अतद्धर्माभिलापात्-तयोरसम्भावितधर्माभिलापात् । स्वभावत एव सर्वस्य द्रष्टृत्वम्, सर्वस्य नियन्त्रित्वं सर्वस्यात्मत्वम् । स्वत एवामृतत्वं च तयोर्नसम्भावनागन्धमर्हति । एतदुक्तं भवति-यथा स्मार्तमचेतनं सर्वज्ञत्वनियन्त्रित्वसर्वात्मत्वादिकं नार्हति, तथा जीवोऽपि अतद्धर्मत्वात् इति अमीषां गुणानां परमात्मन्यन्वयः, प्रत्यगात्मनि व्यतिरेकश्च सूत्रद्वयेन दर्शितः ॥

निरपेक्षं च हेत्वन्तरमाह—

सू—२१ उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते (१.२.२१)

श्रुतप्रकाशिका

सू—२० नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च (१.२.२०)

अस्यार्थमाह-स्मार्तमित्यादिना । के पुनस्तदसमाविता धर्मा इत्याह-स्वभावत एवेति । प्रधानस्यान्तर्यामिचप्रसङ्गामावे किमर्थं सूत्रेण तन्निरसनमित्यत्राह—एतदुक्तमिति । पूर्वसूत्रे तद्धर्मा उक्ता आस्मिन्सूत्रे प्रकृतिपुरुषार्थयोरसमाविता धर्मा उक्ता इति सूत्रस्य पौनरुक्त्यमाशङ्क्य परिहरति अमीषामिति । निरपेक्षचेति । पूर्वं व्यतिरेकनिर्देशसापेक्षहेतुरुक्तः अयत्तु वक्ष्यमाणो निरपेक्ष इत्यर्थः ॥

सू-उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते [१.२.२१]

गूढार्थसङ्ग्रहः.

'नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च' इत्यस्मिन्नधिकरणे सूत्रम् 'नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च' इति द्युम्बाद्यधिकरणम् । अत्र सूत्रद्वयमप्यधिकरणद्वयऽपि एकरूप सिद्धान्ते, परैर्नव्यैश्च अतद्धर्माभिलापात् इत्यन्तमेकसूत्रम् 'शारीरश्च' इत्यादि 'उभयेऽपि भेदेन' इत्यन्तं पृथक्सूत्रमिति वर्णितम् । नानुमानमतच्छब्दात्, प्राणभृच्च इति पृथक्सूत्रे द्युम्बाद्यधिकरणे इतिचोक्तम् । द्युम्बाद्यधिकरणवदत्रापि शारीरश्चेति पृथक्सूत्रकरणं तन्मतरीत्या समाहितम् । एतत्परित्यज्य उत्तरसूत्रे शारीरश्चेत्यस्य योजनं मतद्वये नमनोहरम् ॥

'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।' अत्र भेदेन इति 'इत्यभूतलक्षणे' (२.३.२१) उपलक्षणवाचिपदान्तृतीया इति भेदस्योपलक्षणत्वं तेन न सार्वदिकत्वं भेदस्य मुक्तिदशायामविद्यमानत्वादिना न्यायरक्षामणिकारं अवादीत् । नैवनिर्णयस्तम्भवति । कदाचिदविद्यमानताया एतत्सूत्रविहिततृतीया अप्रतीतिः, लक्षणशब्दस्योपलक्षणार्थकं वासम्भवात् । महाभाष्यादिप्रामाणिकमन्त्रेऽप्यनुक्तेश्च । इत्यभूतशब्देन लक्षणशब्देन च उपलक्षणस्यैव ग्रहणमिति निर्णयो न सम्भवति । 'लक्षणेत्यभूताख्यान—' (१.४.१०) इत्यादिसूत्र इत्यभूतशब्देन विशेषणग्रहणस्य सर्वैरपि वैयाकरणैरङ्गीकारात् । अत्रापि

## श्रीमाप्यम्

उभये-माध्यन्दिनाः काण्वाश्च, अन्तर्यामिणो नियाम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैस्समम् एनं शरीरमपि विभज्याधीयते 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (वृ.५.७.२२) इति माध्यन्दिनाः, 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (५.७.२२) इत्यादि च काण्वाः परमात्मनियाम्यतया तस्माद्विलक्षणत्वेनैनमधीयत इत्यर्थः । अतोऽन्तर्यामी प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम् ॥

## इति अन्तर्याम्यधिकरणं समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

अत्रैकैकवस्तुषु परिपूर्णत्वेन नियन्तृतया स्थितिज्ञापनार्थं यच्छब्दावृत्तिः 'सम' इति व्यतिरेकनिर्देशो देवादिशब्दानां शरीरमात्रपरत्वं चास्वरसम् तच्चापवादाभावेऽनुपपन्नम् । आत्मशब्दस्य स्ववाचित्वे 'तिष्ठन्' इत्यादयोऽप्यस्वस्थाः 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इति काण्वपाठैकार्थ्यादात्मशब्दस्य स्ववाचित्वमयुक्तम् । प्रश्नवाक्यस्य चास्वारस्यमिति मिदा यच्छब्दावृत्तिरेकत्वेऽपि संभवतीति भावोऽनुसंधेयः । हिहेतौ, सहि भेदशब्दोऽत्र श्रूयत इत्यत्राह-परमात्मनियाम्यतयेति । भेदकधर्मश्रवणात् भेदेन व्यपदेशसिद्ध इत्यर्थः । न केवलं व्यतिरेकनिर्देशादीनामपवादाभावः, किंतु तदस्वारस्यापवादश्चास्तीति भावः । सुबालोपनिषदुक्तविशेषणैस्तदेकविषयतां स्मारयन्नाधिकरणार्थमुपसहरति अतइति ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

सूत्रघटक इत्थंभूतशब्देन विशेषणस्यापि ग्रहणसम्भवात् । भैरवमिश्रेण 'परेतु' इत्यादिमते बहूनां शब्दानां प्रकृत्यादिगणे पाठस्यानुचिततया वैशिष्ट्यमात्रं तृतीयार्थ इति विशेषणवाचिपदात् तृतीया उपपाद्यत इति पक्षस्योक्तः, व्युत्पत्तिवादे गदाधरेण विशेषणवाचिपदात्तृतीया । अतएव शायमानत्वेन लिङ्ग करणम् इत्युक्तेश्च, उपलक्षणवाचिपदात्तृतीया क्वचित्स्यान्नाम । तावता विशेषणवाचिपदा तृतीया नेति सिद्धान्तस्य स्थापनासम्भवाच्च ॥

शब्दशक्तिप्रकाशिकायां जगदीशेन 'घटेन शून्यो विधुरो रहित' इत्यादौ घटवाद्यवच्छिन्नप्रतियोगि वमेव शून्यत्वाद्यन्वयि तृतीयाऽर्थः इति 'इत्थंभूतलक्षणे' इति सूत्रोदाहरणं प्रदर्श्य अनन्तरं 'प्रकृत्यादिभ्यश्च' इति सूत्रान्यायुदाहरणानि प्रदर्शितानि । एवं भाट्टरहस्येऽपि 'इत्थंभूतलक्षणे' इत्यनुशासनात् 'जटाभिस्तापसः' इत्यादौ तृतीया । अत्र लक्षणत्वापरपर्यायं ज्ञाप्यत्वं तृतीयाऽर्थः । जटाज्ञाप्यतापसश्चवानित्यर्थः । लक्षणत्वं च विशेषणोपलक्षणसाधारणम् । तेन 'शमेन तारस, इत्यपि साधु' इति खण्डदेवेनोक्तम् ॥ 'भिन्नमेनमधीयते' इत्युक्तौ रङ्गरजतं जानाति रङ्गरजतं भूते इति वाक्यसमशीलताप्रमत्स्यात् तथा भ्रमनिरासाय 'भेदेनैनम्' इत्युक्तिः । 'इत्थंभूतलक्षणे' इति सूत्रे उपलक्षणवाचिपदादेव तृतीया नतु विशेषणवाचिपदादीति वैयाकरणसिद्धान्तसत्त्वे दीक्षितोक्तप्रकारः सङ्गतो भवेत् । न चैव अतः 'भेदेनैनम्' इत्यत्र भेदस्य विशेषणत्वेऽपि विशेषणवाचिपदात्तृतीया उपपद्यत इति दीक्षितोक्तिरनादरणीया ॥ भिन्नमेनमित्युक्तत्वा 'भेदेन' इत्युक्त्या भेदस्योपलक्षणत्वं बोध्यत इति परे स्वस्वमनीयानुरोधेन वर्णयन्ति । नायमर्थः सुत्रकृता विवक्षितः । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादेः परसंमतार्थकत्वं न श्रुतितात्पर्यानुगुणम् । तथासति 'नान्योऽत' इत्येतावतैवोपपत्तिसंभवे शेषाः क्वैवर्थात् द्रष्टादिशब्दानां प्रभानुगुण्येन प्रश्नवाक्यधरकपदानुपपत्तेर्नाप्यस्य सूत्रकृता सूचितत्वेन 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'

### श्रुतप्रकाशिका

अस्मिन्नाधिकरणे कैश्चिच्चतुर्धाविचारो दर्शितः, पृथिव्याद्यभिमानिदेवताविशेषो वा योगसिद्धो वा परमात्मा वा अर्थान्तरयेति । तत्रार्थान्तरमिति पक्षस्त्वसम्भवानिरस्तः ऐश्वर्यविशेषयोगस्य प्रकृष्टादृष्टजन्यत्वाविशेषात् देवतास्त्वेव योगसं-  
भवाच्च, शिरोऽन्तरभेदकल्पनं विफलम् । कार्यकरणवत्त्वं जीवत्वे हेतुतयोक्तं तदयुक्तम्, पृथिव्यादिवैकैकस्य शरीरत्वाव-  
गमाच्चश्रुरादीनां प्रत्येकं शरीरत्वावगमाच्च । तत्कृतजीवत्वशङ्काया आनन्दमयाधिकरणेऽप्युदस्तत्वाच्च तेन जीवत्वशङ्काऽनुद-  
यात् । भूतेन्द्रियादीनां सङ्घातरूपेण शरीरेणोपकरणोपकरणित्वलक्षणसम्बन्धोहि जीवत्वसाधकः । अदृष्टवश्रवणेन प्रधान-  
त्वशङ्काभ्युदासपरं द्वितीयं सूत्रं व्याख्यातम् । तच्चायुक्तम् 'अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोता' इत्यादिवाक्ये अदृष्टाश्रुतादि-  
पदानां द्रष्टृश्रोत्रादिपदन्तारितानामेव भूयमाणतया प्रधानपरत्वशङ्काऽनुदयात् । नष्टेकपदश्रवणेन वाक्यार्थनिर्धारणं पूर्व-  
पक्षेऽपि घटते । प्रधानस्य सर्वविकारकारणत्वेऽपि नियन्त्रित्वमुपचारतोऽपि नशक्यशङ्कम् । नहि घटादीन्प्रति मुक्तिकाया  
नियन्त्रित्वम् ॥

अतः स्मार्तोपन्यासो दृष्टान्ततयैव घटते । अतएव 'नच स्मार्तमतद्धर्मभिलाषाच्छारीरश्च' इत्येवमन्तमेकं सूत्रम्  
अन्यथाऽर्थवैधट्यात् वैधट्य च प्रधानशङ्काऽनुदय एव । पृथिव्यानियन्त्रणा जीवानामिवेश्वरस्यापि सर्वनियन्त्रिण्यन्तरा-  
पेशया अनवस्थायां प्रसक्तायां नियन्त्रिनियाम्ययोरभेदेन तत्परिहारइत्यपि दुरुक्तम् । अनवस्थाप्रसङ्गाभावात् । युक्तया कल्प-  
नायां ह्यनवस्थानं नश्रुत्याऽभ्युपगमे । श्रुतिश्च 'नतरसमश्चाभ्याधिकश्च इश्यत' इत्यादिनिर्णयान्तरं प्रतिषेधति । नचानवस्थाया  
भेदप्रयुक्तत्वादभेदेन तत्परिहार इतिवाच्यम्; श्रुतभेदनिबन्धनचोद्यस्य श्रुतविरुद्धाभेदकल्पनया परिहारानुपपत्तेः कयोरभेदः  
जलवत् पृथिव्यादेः परमात्मनश्च जडाजड्यारैक्याभावात् । नापि जीवेन, पृथिव्यादिवान्नियाम्यतयाऽवगतस्य तेनैव  
न्यायेन परमात्मनैक्यासंभवात् पक्षपातस्याहेतुकत्वाच्च । परमात्मसामानाधिकरण्यभेदनिषेधौद्धमयत्र समानौ । किंच पृथि-  
व्यादेस्त्वव्यतिरिक्तज्ञानप्रकाशत्वे ज्ञानस्यापि स्वव्यतिरिक्तज्ञानप्रकाशत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात् तत्परिहारार्थं जडाजड्यारैक्यं  
किं नस्यात् । ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेनानवस्थाऽनुदयात् मिथ्यासत्यजडाजडयोस्तयोस्त्वभावविरोधाच्चेतिचेत्, तर्हि सर्वनि

### गूढार्थसंग्रहः

इत्यत्रापि सर्वलोकरूपदुरन्तर्यामिणएव पूर्वमुपस्थितस्य द्रष्टृशब्दविवक्षाया अवर्जनीयतया तद्व्यतिरिक्तजीवस्य निषेधएव नसं-  
भवति । 'अत' इत्यत्र एतच्छब्दस्य अन्तर्यामिपरत्वात् । 'अतोऽन्यदार्तम्' इति वाक्ये मिथ्यात्वविवक्षाऽपि नसं-  
भवति इति प्रागेव जिज्ञासाऽधिकरणे (२४६.पु) निर्णीतम् । अतः परसंमतार्थो नात्र विवाक्षितः । किंतु शाण्डिल्य  
विद्यायां 'एषम आत्मा' इति त्रिवारमभ्यस्तवाक्ये षष्ठ्या भेदस्य 'शब्दविशेषात्' इति सूत्रोक्तस्य उपनिषद्भाष्ये  
परैरभिधानेन 'यमात्मानमन्तरो यमयति' इत्यत्रान्तर्यामयितुरेव 'सत आत्माऽन्तर्यामी' इति वाक्ये उपस्थितिरवर्जनीया  
यमयितृ वस्य पूर्वमभावेन तात्पर्यविषयतया तस्याग्रे कारणाभावेन 'सत आत्मा' 'एषत आत्मा' इति चतुर्विंशतिवारं  
त्रयोविंशतिवारमभ्यस्तवाक्येन आमासेन षष्ठ्या अभ्यासेन भेदस्यैव विवक्षायाः प्रत्याख्यानासम्भवेन तादृशभेदस्यैव  
'उभयेऽपिहि भेदेनैतम्' इत्यत्राभिप्रेतत्वं निर्णीयते । एवं तात्पर्यं तु 'ना-योऽतोऽस्ति' इति वाक्यानन्तर 'एषत  
आत्माऽन्तर्यामी' इति काण्वमाध्यन्दिनपाठद्वये सङ्गावेन युक्तमित्यापि निर्णीयते । अतश्च सगुणनिर्गुणविद्याविभागः  
शाण्डिल्य अन्तर्यामिविद्याद्वये कल्पयितुं न शक्यते ॥

इति अन्तर्याम्यधिकरणम्



### श्रुतप्रकाशिका

यन्तुरीश्वरस्याप्यात्मेश्वरतया नियन्त्रन्तराभावेनानवस्थित्यभावाद्देयाहंतदनर्हयोस्त्वभावविरोधाच्च न जीवेश्वरयोरेकत्वं युक्तम्  
धारणादावप्ययमनवस्थापरिहारोऽनुसन्धेयः ॥

किंच भेदोहि प्रतीयते, कथमभेदेनानवस्थापरिहारः । इत्थं-प्रतीयमानोऽपि भेदो मिथ्या, नच जडाजडयोरैक्य-  
प्रसङ्गः, नियाम्यपृथिव्यादिमिथ्यात्वाद्वि पृथिव्यादेः परस्य च भेदमिथ्यात्वं जीवपरयोस्तु स्वरूपैक्यात् भेदमिथ्यात्वं, अत  
एव च नानवस्थेतिचेत् स्यादेवानवस्था जीवपरैक्येऽपि पृथिव्यादिकंप्रति जीवस्येव तदेकीभूतस्यापि ब्रह्मणो नियन्त्रा-  
काङ्क्षाया निवारकाभावात् । यथा पृथिव्यादेर्जीवस्य च नियन्त्रनियाम्यभावमिथ्यात्वेऽपि तस्येश्वरंप्रति नियाम्यत्वमपरमा-  
र्थिकं संभवति, तथा जीवंप्रति नियन्त्रः परमात्मनोऽप्यपरमार्थनियन्त्रत्वादेवान्यं प्रत्यपरमार्थभूतनियाम्यत्वशङ्कां कोवार-  
येत् । नियन्त्रन्तरनिषेधकं प्रमाणं निवारकमितिचेत्-यदि प्रमाणबलादनवस्थापरिहारः, तर्हि नियन्त्रनियाम्यभावपरमा-  
र्थ्यमाश्रित्यैव सा परिह्रियता प्रमाणान्तराबाधेन निर्वाहे संभवति बाधाश्रयणायोगात् । अतएव ' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा '  
इत्यपि परमात्मैवाविद्याकल्पितभेदेन नियन्त्रा नियाम्यश्च भवतीति न पारमार्थिद्रष्टृन्तरनिषेधपरं किंतु नियन्त्ररूपद्रष्टृन्तर-  
निवारणपरं विशिष्टे प्रकृतेसतीतरनिषेधस्य तत्तुल्येतरविषयत्वदर्शनात् । कथं प्रमाणान्तराप्राप्तं नियन्त्रनियाम्यभावादिकं  
विधाय शास्त्रं तदेव प्रतिषेद्धुमलम् । कथमेकस्मिंश्चरीरे प्रत्यगात्मद्वित्वमितिचेत् काऽत्रानुपपत्तिः । बहुत्वे प्रत्यक्तव हीये  
तेतिचेत् किं प्रत्यगात्मद्वित्वमात्रेऽनुपपत्तिः, उतैकस्मिन् शरीरे, नप्रथमः सर्वेषामात्मनामहमिति प्रत्यक्तयैव स्वात्मानुभव  
दर्शनात् नद्वितीयः, एकस्मिन् शरीरे चक्षुराद्यभिमानिना देवानां प्राणसंवादे ' अहं श्रेयसे विचदाना ' इत्यनेकेष  
प्रत्यक्तवेन स्वात्माऽनुभवदर्शनात् । तत्र प्रत्यक्तवमेव सत्यं, भेदो मिथ्येतिचेत् ; भेदसत्यः, प्रत्यक्तवं मिथ्या किं नस्यात्  
उभयोरपि क्षबाधस्तुल्यः ' नेह नानाऽस्ति ' इत्यादिकं भेदबाधकमितिचेत् तर्हि ' तत्त्वमसि ' ' अयमात्मा ' इत्या-  
दिकं प्रत्यक्तवबाधकं किं नस्यात् परागर्थोद्दीर्घबुद्धिगोचरः । अयमिति निर्देशः प्रत्यक्तवाविरोधी, प्रत्यक्तवस्य प्रमाणसिद्धत्वा-  
दितिचेत् ' नेह नाना ' इत्यादिकमपि ततएव प्रमाणवशात् आत्मबहुत्वाविरोधि । अतो बहुत्वस्य परात्तवव्याप्यत्वामा-  
वाद्यातिशयस्तर्काभासोऽयम् । अतोऽन्तर्यामिविद्याया यथोक्त एवार्थः ॥

### इति अन्तर्याम्यधिकरणम्

### अथ वेदान्तसारः

### सू-१९ अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् (१.२.१९)

' यःपृथिव्या तिष्ठन् ' इत्यादिषु अधिदैवाधिलोकादिषुद्विहितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमपुरुषस्त्वान्तर-  
ावसर्वाविदितत्वसर्वशरीरकत्वसर्वनियन्त्रत्वादिपरमात्मधर्मव्यपदेशात् ॥

### सू- नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च १.२.२०

नायं प्रधानं जीवश्च, तयोरसंभावितसर्वाविदितत्वादिपरमाभिलापात् असम्भावनया यथा न स्मार्तम्, तथा  
त्वावोऽपीत्यर्थः ॥

गूढार्थसंग्रहः

(अधोनिर्दिष्टग्रन्थः ३९८.पुटे योज्यायेनाऽनुसन्धेयः)

काशिकायां च 'इत्यभूतलक्षणे' इति सूत्रे 'कश्चित्प्रकार प्रातः इत्यभूतः, तस्य लक्षणमित्यभू-लक्षण तद्वत्तृतीया विमक्तिः भवति अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राधीत्' इत्युक्तम्। अत्र पदमञ्जरी 'कमण्डलुना छात्रमद्राधीत्' इति छात्रोपाध्याययोगेच्छेदछात्रस्य हस्त कमण्डलुमन्वति कमण्डलुना छात्रोऽयं शातवन् इत्यर्थः एतत्पर्यालोचनायां काण्डलोक्त काले विद्यमानत्वेन विशेषणवाचकपदात्तृतीया भवतीति स्पष्टं विदुषाम्। 'ना-योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यत्र नियन्तुर्नियन्तरं निषिध्यत इति वृत्तिकारसामतार्थः श्रुत्याद्यानुगुण्येन युक्त इति पूर्वं जिज्ञासाऽधिकरणे (२४६.पु) विस्तरात् निरूपितम्। तेन (च) भाष्ये 'द्वौ द्रष्टारौ कथमुपपद्येते, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति द्रष्टृन्तरनिषेधकश्रुतिविरोधात् इत्याद्यद्वयाविद्याकालभेदप्रज्ञात् सर्वमुपपद्यते। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इत्यादिश्रुत्यैव तथा निर्णयात् इत्युक्तम्। एतच्छ्रुत्यर्थस्तु पूर्वमेव जिज्ञासाऽधिकरणे (४५५-८८६-८८७-८८८.पु) विस्तरेण निरूपितः। एवमत्र्यत्सारामृतं तेऽपि ॥

एतेन 'आत्मैवेवोपासीत' इति सूत्रिनब्रह्मविद्याविरचणरूपाया चतुरध्याय्या 'अनेन ह्येतत्सर्वं वेद' इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिपादपूर्वक 'ब्रह्मवा इदमग्र आसीत्' 'तदात्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मि' इति तस्मात्तत्सर्वमभवत्, इत्यभेदेनोपक्रम्य षष्ठाध्यायान्ते मैत्रीयीब्राह्मणे निगमनरूपे 'यत्रत्वस्य सर्वमाग्नेवाभूत् त केन क पश्येत्' इत्यादिन। अमेदेनैवोपाहारात् अध्यायचतुष्टयस्याभेदपरत्वे स्थित तदन्तर्गतस्य ब्रह्मलोकान्तरसूत्राप्रतिपादनपरस्य महाप्रकरणानुरोधेन तद्विरुद्धभेदपरताभावात्' इति अद्वैतसिद्धौ षड्विधतापर्यालिङ्गभङ्ग मधुसूदनसरस्वत्युक्तिर्निर्वहकाशा ॥

'यत्रत्वस्य सर्वमाग्नेवाभूत्' इत्यस्य ईशावास्यानुरोधेन परमतप्रतिकूलताया पूर्वमेव ग्रन्थद्वयेऽपि (गूढार्थसंग्रहे प्र.अ) साधनात् 'आत्मैवेवोपासीत' इति वाक्यघटितब्राह्मणोपक्रमस्य पुरुषशब्दस्य 'सवा अयं सर्वासु पृथुं पुरिशय' इत्युत्तरत्र क्रियमाणनिर्वचनानुसारं सर्वशरीर्यर्थकतया 'आत्मैवेवोपासीत' इत्यतः पूर्वं 'तद्वेद तत्सर्वव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याकृतं असौ नामावमिदं रूप इति स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' इत्यत्र पुरुषशब्दार्थस्य तदनुगुणोपमन्त्र-द्वयार्थसर्वं यातिः स्पष्टमुपपादनेन 'सयोत एकैकमुपास्त न सवेद' इति व्यापकव्याप्यवस्तुद्वये एकैकोपासननिन्दान्तरं 'आत्मैवेवोपासीत' इति वाक्यम् एतदनुसारेण 'अनेन ह्येतत्सर्वं वेद' इत्यत्र सर्वस्य आत्मन्त्र-द्वयार्था तःपातितया आत्मशब्दार्थपटनन सर्ववेदनमेव प्रियाक्षितम्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानकथैव नास्ति 'तदात्मानमेवावेदह ब्रह्मा स्म' इत्यत्र परमते आत्मन्त्र-द्वयस्य वैयर्थ्यमेव। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यत्र जीवान्तर्यामिब्रह्माभेद एव विवाक्षितः। सच जीवब्रह्माभेदस्य श्रुतितात्पर्याविषय एवैव सम्भवति। एवमङ्गीकार एव 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' इति वाक्यघटितकीर्षितकब्राह्मणैकरस्यम् इत्यादिकं बहुत्रोपपादितम्। अतः उपक्रमस्याभेदपरत्वमेव सिद्धम्। मैत्रीयीब्राह्मणमपि न परमतानुकूलमिति पूर्वमेव बहुत्र निरूपितम्। अतः बृहदारण्यकचतुरध्यायीभेदपरत्वेति सिद्धम्। एतेन 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनप्रकरणे 'अनेन ह्येतत्सर्वं वेद' इति उपक्रमात् जीवब्रह्माभेदएव वाक्यप्रमय इति मधुसूदनसरस्वत्युक्तिरपि पर्यालोचिता। विवरणादौ सर्वत्र षड्विधतापर्यालिङ्गानि न परेषामनुकूलानीति उपनिषत्सारे निरूपितम्। अतः द्वाविंशतिवारं चतुर्विंशतिवारं चाभ्यस्तवाक्यानुगोची भेदएव सूत्रकारतापर्याविषय इति दिक् ॥

इति अन्तर्याम्यधिकरणशेषः

## सू-२१ उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते १.२.२१

उभये काष्ठा माध्यन्दिनाश्च 'यो विशाने तिष्ठन्' (बृ.५.७.२२) 'य आत्मतिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा सवेद यस्यात्मा य आत्मानमन्तरो यमयति' (५.७.२२) इति प्रत्यगात्मनो भेदेन, एनमन्तर्यामिणमधीयते; अतः परएवायम्

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

## सू-१९ अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् [१.२.१९]

बृहदारण्यके—'पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीर यःपृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ.५.७.३) इत्यादिषु सर्वेषु पर्यायेषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी किं प्रत्यगात्मा ? उत परमात्मेति संशयः । प्रत्यगात्मेति पूर्वोपपत्तिः, वाक्यशेषे 'द्रष्टा...श्रोता...मन्ता' इति द्रष्टृवादिश्रुतः 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति द्रष्टृन्तरनिषेधाच्च । राद्धान्तस्तु—पृथिव्याद्यात्मपर्यन्तसर्वतत्त्वानां सर्वैः तैरदृष्टेनैव न निर्गुण निरुपाधिवासृतावादिषु च परमात्मन एव धर्म इत्यन्तर्यामी परमात्मा । द्रष्टृवादिषु रूपादिसाक्षाकारः । सच 'पश्यत्यक्षुः' (श्वे.३.१९) इत्यादिना परमात्मनोऽप्यस्ति । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ.५.७.२३) इति च जीवेनादृष्टान्तर्यामिद्रष्टृवत्, अन्तर्यामिणोऽप्यदृष्टद्रष्टृन्तरनिषेधपरः । सूत्रार्थः—अधिदैवाधिलोकादिपदाचिह्नितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मा, सर्वान्तरत्वं सर्वाविदेतत्त्वसर्वशरीरकत्वसर्वानियमनसर्वात्मकत्वामृतत्वादिपरमात्मधर्माणां व्यपदेशात् ॥

## सू-२० नच स्मार्तमतद्धर्माभिलाषाच्छारीरश्च (१.२.२०)

स्मार्त प्रधानम्, शारीरः प्रत्यगात्मा । स्मार्ते च शारीरश्च नान्तर्यामी, तयोरसम्भावितोक्तधर्माभिलाषात् । यथा स्मार्तस्याचेतनस्यासम्भावनया नान्तर्यामित्वप्रसक्तिः, तथा प्रत्यगात्मनोऽपीत्यर्थः ॥

## सू-उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते [१.२.२१]

उभये काष्ठा माध्यन्दिना अपि 'यो विशाने तिष्ठन्, य आत्मनितिष्ठन्' (बृ.५.७.२२) इति यतः प्रत्यगात्मनो भेदेन—एनम् अन्तर्यामिणमधीयते ; अतोऽयं तदतिरिक्तः परमात्मा ॥

॥ इति वेदान्तदीपे अन्तर्याम्यधिकरणं समाप्तम् ॥

### अथ अधिकरणसारायत्री

अन्तर्यामी म जीवो बहुविधकरणायत्तधीवृत्त्यनूक्ते-  
 नान्यो द्रष्टेतिचोक्तेरिति यदि न नियन्त्ररस्य व्युदासात् ।  
 द्रष्टृत्वाद्यं च तत्तद्विषयघटितधीरूपमीशेहि मुख्यं  
 तद्धर्मा. काण्यभाष्यन्दिनपाठितिगतास्तस्य चात्मा शरीरम् ॥  
 स्यान्नैस्यादत्र शाखाद्वयपरिपाठितावात्मविज्ञानशब्दा  
 वेकार्यावित्यकम्प्यन्तदपि कथयतो बुद्धिमेवेत्यपार्थः ।  
 लोकान्नायप्रासद्वयोरनुगमत इमौ चेतने ह्येकतानौ  
 वाचः केनापि नास्मिन्भवति च सत इत्यादिभिस्सामरस्यम् ॥

॥ इ ति अ न्त र्या म्य धि क र णं स मा स त् ॥



### अथ अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्

गूढार्थसमह.

(अन्तर्यामिन् ह्यने—‘य गृध्रिणी नवद’ ‘यमाना नवद’ ‘अदृष्टो द्रष्टा’ ‘ना-योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्येतत्प्र-  
 षट्क आत्माऽन्यनिषेधो न विवक्षितः सर्वान्तर्यामिण एव प्रश्नतस्यान्तर्याम्यन्तरानिषेध एव ता पर्यमिति ‘उभयेऽपि हि  
 भेदेनैव नमधीयते’ इत्यत्र निर्धारितम् । आद्यवर्गोऽपि ‘यत्तददृश्यम्’ इत्यत्र अदृश्यत्वादिधर्माणामभिधानेन उपक्रमे  
 एकभिधानेन सर्वविज्ञानप्रतिशया ‘पुरुष एवगुणैर्वर्णम्’ ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ इति मध्ये उपसहारे च निर्गुण-  
 काध्यमेव विवक्षितमिति आक्षेप परिहर्तुं तत्रापि सगुणमेव जीवभिन्न ब्रह्म विवक्षितमिति निर्धारयति अदृश्यत्वादिगु-  
 णको धर्मोक्तेरित्यादिना । अत्र सूत्र अदृश्यत्वादमान् धर्मोक्तेरिति वा ‘अदृश्य वादिक’ इति वाऽनाभिधाय ‘गुणक’ इति  
 निर्देष्टुं सूत्रकृतोऽयमाशयः यत्सगुणमेवात्र विवक्षितमिति । अदृश्य धर्मोक्तेरित्यनभिधाय आदिपदोपादानेन अभावरूपधर्म-  
 वत् भावरूपधर्माणामप्यत्राभिधानेन निर्गुणस्य नात्र विवक्षेति स्फुटं कृतम् । अत्र ‘अदृश्यमप्राप्तम्’ इत्यत्र नञः धर्म-  
 वानकपदसमभिव्याहृततया भेदवाचक उभय । एवमवापनिष्ठाप्यं शङ्कराचार्यैरुक्तया अत्र ‘विभु सर्वगतम्’ इत्यत्र  
 विभुत्व भवतीति विभु सर्वगत व्यापकमाकाशादिवत् इति (श.उ) भाष्य उक्तम् । ‘अनेन सर्वगतत्वमायाशब्दादिभ्यः’  
 इति सूत्र (श) भाष्य ‘आयामशब्दो व्याप्तवचनः’ इति चोक्तम् । इत्यत्र च ‘सर्वे समाप्तेऽपि ततोऽस्ति सर्वः’ इति  
 गीताद्यनुसारेण ‘पुरुष एवेदगुणैर्वर्णम्’ इत्यादावमदव्यपदेशः तत्र पुरुषशब्दार्थपर्यालोचनायामपि अभेदव्यपदेश उपप-  
 द्यते रीतिस्तु पूर्वमेवोक्ता । ‘यथा तदक्षरमधिगम्यते’ इत्यत्र अधिपूर्वकगमिष्ठातो. प्राप्त्यर्थकत्वमेव (शं.उ) भाष्ये उक्तम्  
 ‘परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्’ इत्युपसंहारस्य श्रुत्यर्थं ‘मुक्तोऽपसृप्य व्यपदेशाच्च’ इति सूत्रकार एव निश्चिनोति । ‘ब्रह्म  
 वेद ब्रह्मैव भवति’ इति न परसमनार्थं निश्चेदुमलीमति पूर्वमेव निरूपितम् । ‘कस्मिन्नु भगवो विशते सर्वमिदम्’  
 इत्यत्र सर्वाभेद एव बोध्यते । छान्दोग्ये सर्वाभेदसम्यगुपपादित सच सिद्धान्त एव ————— इति पूर्वमेव निरूपितम् ॥



## अथ अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू—२२ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः (१.२.२२)

आथर्वणिना अधीयते—' अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगो-  
त्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं त्रिभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनिं प-  
रिपश्यन्ति धीराः ' (मुण्डक.१.१.५) इति , तथोत्तरत्र ' अक्षरात्परतःपरः ' [६] इति तत्र

## अथ अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

॥ ६ ॥

सू—२२ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः (१.२.२२)

(अदृश्यत्वादिगुणकशब्देनाक्षर पुल्लिङ्गनिर्देनाक्षरात्परतः परश्च द्वयमपि विषयीक्रियत इत्यभिप्रायेण वाक्यद्वय विष-  
यतयोपाददानसंशयच दर्शयति अथेत्यादिना । अद्रेश्यमग्राह्य, इन्द्रियादृश्यमनुमानाद्यवेद्य चक्षुरदृश्यमिन्द्रियान्तरादृश्य  
या । यद्वा अद्रेश्यं शानेन्द्रियाविषय , अग्राह्यं पाण्यादिकार्यहानोपादानाद्यविषय । किमिहेति । अदृश्यत्वादिगुण  
काक्षरस्य प्रकृति वमक्षरात् परतः परस्य जीव वं च दृक्कथ्यते नतूमयोऽमयात्मक वम् उभयत्र वाक्यद्वयार्थं किमदृश्य  
त्वादिगुणकमक्षरात्परतः परश्च प्रधानपुरुषो उत परमा मेति विचारः । तदर्थं पृथिव्यादिसर्वा घट या दृष्ट दृश्य वादिक  
निषिध्यमान किं पृथिव्यादिसर्वा जीवमचेतनमेवाश्रयमुपस्थापयति उत नेति । किमूर्णनाभिदृष्टान्तोपादानमचेतनाश्रयोप

गूढार्थसङ्ग्रह

॥ ६ ॥ 'उपासात्रैविध्यात्' इति पूर्ववादान्ते योऽयमर्थ उक्तः स एव पूर्वाधिकरणेषु दयाऽदिगुणे पुत्रस्य दायभागवत्  
सुख्यनन्तर शरीर पुत्रपरिणालनार्थं विपुः स्थिते जीवमित्र परश्चानि साधनमुत्तेन अ तयामि व स्थ पनन तरतमभावापच  
फलशङ्कायाः असम्भवप्रदर्शनन अ तराधिकरणे अपारिच्छिन्नरूपरूपाद्रक्षानस्यैव सत्तिसाप्य ५ ब्रह्मप्राप्तिरूप पल र्थं  
ब्रह्मविद्यासाधारणमिति निर्णयेन जीवमित्र परज्ञानमुपासना मकमित्यर्थस्य दृढीकरणेन श्रुतेषु गुणनिर्गुणविद्याविभ ग  
कलनाया नावकाय इति अधिकरणप्रयेण साधियाम् ॥

अथ पर विद्या ज्ञानरूपा तद्विषयीभूत निगुण तदज्ञानस्यैव परमोष्ठ पलम् । अपराविद्या सगुणविद्या तस्य तरतम-  
भ वात्र पलान्त्यादिविभागेन श्रुतेषु निर्गुणा मनो विवक्ष्यते दर्शयर्थात्ते चनम तरा प्रागुक्तार्थो न घटत इति तत्पर्यालो  
चनमप्यभिप्रेत्य पूर्वाधिकरणे द्रष्टृत्वादिवर्माणामुक्तवत् अत्र पितृधर्माणानुत्तया प्रकृतौ स्वविकारगतधर्माभिप्रेत्य उपादान-  
योक्तिः स्वविकारसामान्यानादान वानि च घनैव । अनपवापक्रमे एकाविज्ञानन सर्वविज्ञानोत्तिरापि घटते । तदयाक्षर मुण्ड-  
कभुनो विशयनम् । प्रकृतिः उपादान तदाधिष्ठाता चेतना या उपादान भवतीति साङ्ग्या यर्थयन्तीति तदाधिष्ठाता ज घ  
एव ' दिव्यो लभूः पुत्रः ' इत्यत्र उपाधुत इति शङ्कानिरासमुत्तन सिद्धान्तमाह—अदृश्यत्वादिगुणको धर्मो  
क्तेरिति ॥

## मीमांस्यम्

साद्विद्यने-किमिहादृश्यत्वादिगुणकमक्षरमक्षरात्परतः परश्च प्रकृतिपुरुषौ । उतोभयत्र परमात्मैव इति । किं प्राप्तम् ? प्रकृतिपुरुषापिति । कुतः ? अस्याक्षरस्य ' अदृष्टो द्रष्टा ' (वृ.४.७.२३) इत्यादाविव न द्रष्टृत्वादिचेतनधर्म इह धृत्यते, ' अक्षरात्परतःपरः ' [मुण्डक.२.१.२] इति च सर्वस्माद्विकारात्परभूतादक्षरादस्मात्परः क्षेत्रज्ञसमष्टिपुरुषः प्रतिपाद्यते । एतदुक्तंभवति—रूपादिमत्स्थूलरूपाचेतनपृथिव्यादिभूताश्रयं दृश्यत्वादिं प्रतिदिध्यमानं पृथिव्यादिमजातीयसूक्ष्मरूपाचेतनमेवोपस्थापयति, तच्च प्रधानमेव । तस्मात्परत्वं च समष्टिपुरुषस्यैव प्रसिद्धम् । तदधिष्ठितं च प्रधानं महदादिविशेषपर्यन्तं विचारजातं प्रसृत इति

## श्रुतप्रकाशिका

स्थारक्यमुरचयति, उत नेति । ' किमक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ' इति विश्वशब्दश्चिदात्मकप्रपञ्चमुपस्थापयति उताचेतनमिति । अचेतनोपस्थापकत्वे स यूर्णनाभिदृष्टान्तस्य चाचिदाश्रयोपस्थापकस्योपबृंहकतया निषिध्यमानं दृश्यत्वादिकमचिदुपस्थापकमित्यदृश्यत्वादिगुणक प्रधानम्, परश्च जीवइति स्यात् । यदा विश्वशब्दश्चिदात्मकजगदुपस्थापकः तदोर्णनाभिदृष्टान्तस्य चाचेतनोपस्थापकतदुपबृंहकत्वान्निषिध्यमानं दृश्यत्वादिगुणकमपि नाचेतनोपस्थापकमित्यदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मा, परमात्मनश्च परान्तरासम्भवात् अक्षरात्परतः परश्च परमा मेति पलितम् । कुतइति । अदृष्टशब्दस्यार्हायौयतृजन्तपदविशेषणतया ' घातुसम्बन्धे प्रत्यया इति स्मृतिवशेनार्हार्थे विश्रान्तिरवगम्यते ' अद्रेश्यम् ' इत्यपि च पद कृत्यप्रत्ययान्न वादार्हार्थे तथाचादृश्यत्वादिक पूर्वाधिकरणे परमात्मधर्मतयाऽवगतमिति नाक्षर प्रकृतिः । अतएव अक्षरात्परतः परश्च न समष्टिपुरुष नहि परमात्मनोऽन्य र विद्यत इति शङ्कायामदृश्यत्वादिगुणकस्य प्रकृतिरुपस्थापयति अस्याक्षरस्येति । अन्तर्यामिविद्यायामपि न केवलं दृश्यं च परमात्म दसाधकं किंतु द्रष्टृत्वादिरुचिच, इह तु तस्माच्चिद्यामावाददृश्यत्वं नाचिद्व्यावर्तकमित्यर्थः । ' अदृष्टो द्रष्टा ' इत्यादिना सङ्गतिश्चाभिप्रेता । तथाऽप्यक्षरात्परतः परो न जीवः, न ह्यक्षरात्पर इयुक्तम् । किंतु ' परतः परइती ' ति शङ्काया तस्य समष्टिपुरुष वमुपपादयति सर्वस्मादिति । सर्वस्माद्विकारात् परभूतादक्षरादिति । समानविभक्तिनिर्देशस्वारस्यात् परतोऽक्षरादिति रामानाधिकरण्यादिति भावः । चेतनधर्मावशेषाश्रयणऽप्यदृश्यत्वं साधारणतया न निर्णायक, अतोऽनुकूलयुक्तिरुच्यते । दृष्टा तत्त्वतः नकारणवानुगुण इत्यग्राह-एतदुक्तमिति । तदन्यार्थकनञुपलक्षणा ब्राह्मणादयश्च दृष्टा हि ब्राह्मणादिऽत्यारम्भजातीयै क्षत्रियादौ वर्तन्ते, न तु श्वरादौ पश्यादौ वा । अबालाकृशशब्दादयः प्रत्यास्त्वावस्थान्तगाश्रये तस्मिन् दृष्टिर्न वर्तते, न तु धर्म्यन्तरे सन्निकृष्टवाचनस्य न्याय्यत्वात् । एवमदृश्यत्वादिगुणानां धर्मविशेषाकाङ्क्षायां निषिध्यमानं दृश्यत्वं चाचिदाश्रयत्वेनाचेतने प्रतिपत्ते तस्यैव सूक्ष्मावस्थयादृश्यत्वादौ च संभवति विजातीयधर्म्यन्तरकल्पने गौरवप्रज्ञात् त परवाश्रयणमुक्तमिति भावः ॥

दृश्यत्वादिनिषेधाद्रूपादिवदचेतनत्वमपि निवर्तत इत्यत्र ह—तच्चेति । न दृश्यत्वादिन्याय्यमचेतनत्वं मन आदौ व्यभिचारादिति भावः । अदृश्यत्वादिगुणकस्य प्रधानत्वसमर्थनमुपजीव्याक्षरात्परतः परस्य जीववमाह—तस्मादिति । ' यथोर्णनाभि ' इति चेतनदृष्टान्तः कथमित्यत्र ह—तदधिष्ठितंचेति । अनधिष्ठितत्वेऽपि दृष्टान्तोऽस्त ' यथा पृथिव्याम् ' इति चेतनसन्निविमात्रपेक्षया दृष्टान्तः ' यथासतः ' इति पूर्वपक्षमुपसहरति अतइति ॥

## श्रीभाष्यम्

सू-२३ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ (१.२.२३)

श्रुतप्रकाशिका

सू-२३ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ [१-२.२३]

गूढार्थसङ्ग्रह

उत्तरवाक्यप्रतिपाद्यमानधर्मा विवक्षिता । अत्र उपक्रमेण तापादानवस्य सर्वज्ञत्वादिगुणकएव प्रतिपादनात् सर्वज्ञत्वादि-  
गुणकभूतयोऽन्यक्षरब्रह्मैव न प्रकृतिर्न जीव निरुपाधिकसर्वज्ञत्वस्य जीवऽसम्भवात् । तस्य पराधीनमेव सर्वज्ञत्वमस्ति चेन्न  
सार्वादिहम्, ‘यदा पश्य-दिव्यम्’ इत्यत्र न-धविगमना तत्रमेव विद्वच्छब्दार्थज्ञानसाध्यसाभिधानात् । अत्र ‘अदृ-  
श्यत्वादिगुणक’ इत्युक्त्या सूत्रकृता परविद्यासु सर्वासु सगुणमेवोपास्यमित्यर्थं निरणायि ॥

इन्द्रप्राणाधिकरण ‘जानीहि, उपास्व’ इति शब्दाभ्यां उपासनज्ञानरूपमिति निर्णयवत् ‘तमेवैक जानथ’  
‘ओमित्यामान ध्यायथ’ ‘आनन्दरूप परिपश्यति धीरा’ ‘तस्मि दृष्टे परावर’ इत्यादिना ध्यानान्तरकालिकर-  
माधौ दर्शनरूपताप्रतिपादनेन ‘यद्भूतयानि परिपश्यति धीरा’ इत्युपक्रमोक्तार्थस्य निष्कर्षणपरविद्याया ध्यानान्-  
तरकालिकसमाधि ध्यानज्ञानरूपमवेति चार्थद्वयस्य अत्रापि निष्कर्षोऽवसयः । विशेषणभेदव्यपदे-  
शाभ्यां च नेतरौ ॥ अत्र परै ‘दिव्ये ह्यमूर्ते’ इति दिव्यत्वादिविशेषणन जीवभेद तत्रैव ‘अक्षरात्परत पर’  
इत्यत्र प्रकृतिभेदो विवक्षित इत्यर्थं इत्युक्तम् । अत्र ‘परभूतादव्याकृताक्षरापर’ इति सामानाधिकरण्येन पदानामर्थ-  
मङ्गीकृत्य मूलप्रकृतिभेद इत्युक्तम् । अक्षरात्परत पर इत्यत्र पञ्चम्यन्तपदोत्तरपरशब्दस्य पूर्वपञ्चमीप्रकृत्यप्रतियोगिकभेद-  
वद्भाषकवमेव व्युत्पत्तिरिति सिद्धम् । तदर्थस्यैव शीघ्रमुपास्यतरिति ‘अक्षरात्परत पर’ इति श्रुत्यर्थसिद्धौ प्रकृतिविक्षणजाव-  
वैलक्षण्यमेव तत्र विवक्षितमिति जीवभेदोपपन्नवमेव युक्तम् । एतच्च ‘परा पर-दिव्यम्’ इत्युत्तरश्रुतावपि परा पर-  
मिति शब्दप्रयोगेण प्रतीत्या तस्य जीवप्राप्यवकथनेन ‘नामरूपाद्विमुक्त परा परम्’ इति श्रुत्यानुपूर्व्यैव नामरूपादिषु  
त्वात् परस्यैव प्राप्यव तत्र विवक्षितमिति सिद्ध्याऽत्रापि जीवावधिका कथ एव विवक्षितः । सामानाधिकरण्यवत्तस्यै-  
मिथ्याग्रहेण वेदा-साररीत्या अक्षरभेदो जीवपर एव । अक्षरभूतमक्षर प्रकृति तद्वदजीवश्च परभूतमक्षर नामरूपविनि-  
र्मुक्त परिशुद्धात्मस्वरूपम् । कारणाभ्यां सत्त्वमात्रेण स्वरूपपरिणामो नैव गच्छति प्रकृते प्रलयकाले सदृशपरिणामाङ्गी-  
कारात् स्वरूपपरिणामशून्यत्वेन जीवस्तताऽपि परः । ब्रह्मस्य धर्मभूतज्ञानसङ्कोचविकासवत् क्षरकाण्येव निवेशः । धर्म-  
तज्ञानसङ्कोचशून्यं मुक्तस्तु अक्षरशब्दार्थ इति युक्तम् । अयमर्थः ‘क्षरस्तर्वाणि भूतानि कृत्स्नोऽक्षर उच्यते’ इत्यत्र  
विवक्षितं अतश्च मुक्तजीवपरतामवाप्तं विवक्षितम् ॥

एतन् ‘दिव्याह्यमूर्ते’ इत्यादिक जीवस्य मुक्तिकालिक समवस्थेति जीवपूर्वपक्षस्यापि निरासः । एतेन दिव्य-  
त्वामूर्तत्वादे जीवेऽसम्भवः । अत्र विशेषणादित्थेनैव जीवभेदसाधनं समवर्तीतमिति सिद्धम् । अत्र प्रथमयोजनायां प्रकृति-  
भिन्नजीवभेदस्य परमानि सिद्ध्या प्रकृतिभेदोऽपि सिद्धयतीत्यभिप्रेत्या भेदव्यपदेशस्योभयभेदभाषकव्यभाष्यस्य युक्तम् ।  
एव विशेषणेनैकविज्ञानं सर्वविज्ञानप्राप्तक्या प्रकृत्या व्यावृत्तिरित्यर्थाधिकरणादयोक्तः प्रकृत्याधिकरणेऽपि यदयमेव ॥

### श्रीभाष्यम्

विशिनष्टि हि प्रकरणं प्रधानाद्य पुरुषाद्य भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः । एवविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिगोपपादनादिभिः । तथा ताभ्यामक्षरस्य भेदश्च व्यपदिश्यते 'अक्षरात्परतः परः' (मुण्डक.१.२.१) इत्यादिना । तथा हि—'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाभयर्णाय ज्येष्ठपुत्राय ग्राह' (मु.१.१.१) इति सर्वविद्याप्रतिष्ठाभूता ब्रह्मविद्या प्रक्रान्ता ; परविद्यैव च सर्वविद्याप्रतिष्ठा ; तामिमां सर्वविद्याप्रतिष्ठां विद्यां चतुर्मुखाथर्वादिगुरुपरम्परयाऽङ्गिरसा प्राप्तां जिज्ञानुः 'शौनक्रो ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु.१.१.३) इति । ब्रह्मविद्यायास्सर्वविद्याऽश्रयत्वाद्ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीति कृत्वा ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्टम् ; 'तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च' (मु.१.१.४) इति । ब्रह्मप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये-ब्रह्मविषये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः तत्र परोक्षं शास्त्रजन्यं ज्ञानम्, अपरोक्षं योगजन्यम् ; तयोर्ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतमपरोक्षं ज्ञानम् तच्च भक्तिरूपापन्नम् 'यमेवैष पुण्ये तेन लभ्यः' (मु.३.२.३) इत्यत्रैव विशेष्यमाणत्वात् ; तदुपायध्यागमजन्यं त्रिवेकादिस्वाध्याससप्तकानुगृहीतं ज्ञानम्, तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (वृ.६.४.२२) इति श्रुतेः । आह च भगवान् पराशरः—तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्मचोक्तं महामुने । आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते' (वि.पु.६.५.६०) इति । 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादिना 'धर्मशास्त्राणि'

### श्रुतप्रकाशिका

विशेषणशब्द व्याचष्टे विशिनष्टिहीति । कस्माकिमित्यत्राह—प्रधानादिति । कथमेतित्यत्राह—एकेति । भेदव्यपदेशशब्दं व्याचष्टे तथेति । हेतुद्वय विवरणमुह—तथाहीति । न केवलं विशेष्यवाचिना ब्रह्मविद्याशब्देन विशेषणवाचिना सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति शब्देनापि ब्रह्मविषयस्य सिद्धमित्याह—परविद्यैवचेति । परब्रह्मविषया विद्या परविद्या, सर्वविद्याप्रतिष्ठा च सर्वविद्याऽश्रयत्वं ज्ञातव्ये ब्रह्मणि कृत्स्नज्ञातव्यान्तर्भावात् ब्रह्मज्ञाने कृत्स्नविषयज्ञानाय तर्भूतानीत्यर्थः । ब्रह्मजिज्ञासमानेन ब्रह्महि पृष्टव्यं 'कस्मिन् भगवः' इति प्रश्नस्य कथं ब्रह्मविषय इमित्यत्राह—ब्रह्मविद्याया इति । द्वे विद्ये इति विद्याद्वय भिन्नविषयत्वेन तद्व्याख्यातम् । तत्र कैश्चित् परविद्या परमा मविषया अर्थात्तत्सर्वविषयाचोपरिपश्येति, कैश्चि कर्मज्ञानमपरविद्या ब्रह्मज्ञान परविद्ये युक्तम् । कैश्चिदपरमाज्ञानमपरविद्या परमा मज्ञान परविद्ये युक्तं तद्व्याख्यानार्थं व्याचष्टे ब्रह्मप्रेप्सुनेति । ब्रह्मैव विषयश्चेत् द्वयोरापि कोमेद इत्यत्र ह—परोक्ष परोक्षरूपेति । तस्मैत्यादिः 'सतपोऽतप्यत, ओदनपाक पचति' इतिवत् 'द्वे विद्येतव्ये' इत्युक्तिः तत्र पलितमर्थमाह—उपादेयइत्यर्थइति । किं परोक्षं किमपरोक्षमित्यत्राह—तत्रेति । ब्रह्मैव विषयश्चेत् प्रथममेवाहमित्यत्राह—तयोरिति । उपायभूत, अव्यवहितोपायभूत तस्यापि निष्फलत्वमप्रत्यवाक्येनाद्यगम्यत इत्यत्राह—तच्च भक्तिरूपेति । तर्हि किं प्रथमेनेत्यत्राह—तदुपायश्चेति । साधनसप्तकं शास्त्रजन्यज्ञानं चोभयमभ्युपासना मकज्ञानस्य हेतुरिति यावत् । एतद्वैश्यायाह—आहचेति । अनेन विद्याद्वयस्य भिन्नविषयत्वोक्तिरुपवृहणविरुद्धेति दर्शितं भवति, विवेकाच्च उच्यते इत्यर्थः । यथोक्तं लक्षणे ज्ञानद्वयेऽपि किं वाक्यं किं विषयमित्यपेक्षायामागमोक्तं ज्ञानं तत्रेत्यादिवाक्येनोक्तमित्याह—तत्रेति । वेद एवाह ब्रह्मज्ञानहेतुः धर्मशास्त्रादिकीर्तनं किमर्थं न चात्रागमोक्तत्वं ज्ञानस्य शाब्दं प्रतीयत इत्यत्राह—



## श्रीभाष्यम्

तत्र दृष्टान्ता उपपद्यन्ते ' यथोर्णेनामिस्सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयस्सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ' (मुण्डक १.१.७) इति । अतोऽस्मिन्प्रकरणे प्रधानपुरुषाद्येव प्रतिपाद्यते इति ॥

एवं प्राप्ते घूम.—अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते अदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरात्परतः परश्च परमपुरुष एव ; कुतः ? तद्धर्मोक्तेः ' यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् ' [मुण्ड.१.१.९] इत्यादिना सर्वज्ञत्वादिकास्तस्यैव धर्मो उच्यन्ते ; तथा हि ' यथा तदक्षरमधिगम्यते ' [१.१.५] इत्यादिना अदृश्यत्वादिगुणकमक्षरमभिधाय ' अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ' (१.१.७) इति तस्माद्विश्वसम्भवं चाभिधाय ' यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ' (१.१.९) इति भूतयोनेरक्षरस्य सर्वज्ञत्वादिः प्रतिपाद्यते । तस्मात् ' अक्षरात्परतः परः ' (२.१.२) इति च प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं सर्वज्ञमेव परत्वेन व्यपदि-

## श्रुतप्रकाशिका

रादान्ते अदृश्यत्वेति । ' परात्परं पुरुषम् ' इति वाक्यं सारयति परमपुरुषइति । कस्य धर्मोक्तेरित्यपेक्षायां पूरयति तद्धर्मोक्तेरिति । न-वक्षरं प्रकृतिः, सर्वज्ञस्तु स्वसन्निधानात् प्रकृत्युपकारकं प्रकृष्टपुण्यो जीवस्तदवस्थोपलक्षितो मुक्तेनेति शङ्कायामाह—तथाहीति । तस्मादिति । अक्षरशब्दः प्रकृताक्षरपर इति भावः । भूतयोनेरक्षरस्येति । सर्वज्ञादेः धर्मिविशेषापेक्षायां प्रकृत एव धर्मो स्वीकार्यः, उपक्रमप्रतिपन्नपरित्यागेन अप्रतिपन्नकल्पनायोगात् ' भूतयोनिम् तस्मादेतत् ' इतिकारणप्रत्यभिज्ञानाच्च । अतः ' यस्सर्वज्ञः ' ' तस्मादेतत् ' यत्तच्छब्दौ प्रकृताक्षरविषयौ तद्व्याक्षरस्य कारणत्वमनूय सृष्टिस्थित्युपयोगित्वेन सार्वज्ञ्यादिविधीयत इत्यर्थः ॥

ननु भूतयोनिर्वलिङ्गप्रत्यभिज्ञानादपि ' अक्षरात्परतः ' इति श्रुतिप्रत्यभिज्ञानं प्रबलं पञ्चम्यन्ताक्षरपदवाच्यमिह प्रधानम् । अतस्तदेव ' यथा तदक्षरम् ' इत्यत्रापि प्रतिपाद्य अतस्तदनुवादेन सार्वज्ञ्यादिविधानमनुक्तमित्येव, केवलं श्रुतिप्रत्यभिज्ञानादपि ' येनाक्षरं पुरुषवेदं सत्यम् ' इति पूर्वोक्तं भूतयोनिर्वलिङ्गं दृष्ट्वा स्यात्-श्रुतिप्रत्यभिज्ञानं प्रबलं वात् । ननु ' भूतयोनिम् ' ' अक्षरात्सम्भवति ' इत्युपादानमुच्यते ' यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् ' इति निमित्तं वम् । अत्र लिङ्गानुगृहीतव्यमसिद्धम् । नचैतावता ' अक्षरात्परतः ' ' अक्षरं पुरुषम् ' इति इति श्रुतिप्रत्यभिज्ञानयोस्तु ह्यत्वम् ' अक्षरात्परतः ' इति प्रत्यभिज्ञानस्य ऊर्णनाभिदृष्टान्तानुगृहीतत्वेन प्रावल्यादिति नैवम् । ऊर्णनाभिदृष्टान्तस्याचिद्विशिष्टब्रह्मकारणत्वेऽप्युपपत्तेः, नचैतावता प्रत्यभिज्ञानयामुक्तं व ' अक्षरं पुरुषम् ' इति प्रत्यभिज्ञानस्य प्रथमं भाविनः प्रबलतया पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दस्य तदविरोधनं वर्णनीयत्वात् अतो भूतयोन्यक्षरमेव ' अक्षरं पुरुषम् ' इत्युच्यते पुरुषवाचकारणत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद्याक्षरशब्दवाच्यस्य एव सर्वज्ञत्वादिगुणकः तथास्त्विति ' अक्षरात्सम्भवति ' ' तस्मादेतद्ब्रह्म ' इति पञ्चम्योर्वैरूप्यं न स्यात् । निमित्तोपादानाभेदे सत्येव लोकविज्ञेनेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञं नमुन्दते ॥

अक्षरं न परमात्मा अक्षरादपि परस्य प्रतिपन्नवादित्यत्राह—पञ्चादिति । परत्वेन व्यपदिश्यते प्रथमान्तेन परशब्देन व्यपदिश्यत इत्यर्थः । प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकमिति । अदृश्यत्वादिगुणकत्वेन प्रकृतं वादितव्यं । अत्रापि न सर्वगतत्वेन पुरुषशब्दवाच्यत्वेन च प्रकृताह भूतयोन्यक्षरं ' अत्राणिपादम् ' ' नित्यं यिषु सर्वगतम्,

## श्रीभाष्यम्

इयते । अतः अक्षरात्परतः परः ’ (२.१.२) इत्यक्षरशब्दः पञ्चम्यन्तः प्रकृतमद्वयत्वादिगुण कमक्षरं नामिधत्ते, तस्य सर्वज्ञस्य विश्वयोनेस्तत्सर्वस्मात्परत्वेन तस्मादन्यस्य परत्वासम्भवात् । अतोऽत्राक्षरशब्दो भूतसूक्ष्ममचेतनं प्रुते ॥

इतश्च न प्रधानपुरुषौ—

श्रुतप्रकाशिका

‘तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्’ ‘येनाक्षरं पुरुषं वेद’ इति च अक्षरात्परतः परस्य ‘विद्यो ह्यमूर्तः पुरुषः’ इति रूपशब्दसामानाधिकरण्यदृष्टमूर्तशब्देनापाणिपाद यप्रत्यभिज्ञानात्, ‘स यास्याभ्यन्तरः’ इत्यनेन रवेरतत्त्वप्रत्यभिज्ञानाच्च भूतयोऽक्षरमेवाक्षरात्परतः परइत्यर्थः । सर्वज्ञस्य भूतयोन्यक्षरात्परत्वशङ्काऽपुडासाय भूतयोऽक्षरस्यैव सर्वज्ञ्यादिगुणत्वोपपादनं स्मारयति सर्वज्ञमेवेति । नन्वाक्षरशब्दार्थवैरूप्यपरिहाराय भूतयोऽक्षरात् सर्वज्ञं वादिगुणकः परइत्युपगन्तव्यमित्यत्राह—अतोऽक्षरादिति । प्रकृतमद्वयत्वादिगुणकमिति । अद्वयत्वादिगुणकमद्वयमेव ‘येनाक्षरं पुरुषम्’ इति पूर्वसिन्धुत्रिकृष्टे वाक्ये प्रकृतं, तदेव ‘प्रोवाच’ इति वक्तव्यतया प्रतिपादितमिति तस्यैव प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वमवगम्यते । अतोऽक्षरपुरुष एवाक्षरात्परतः परत्वेनोच्यत इत्युपेत्य, अन्यस्य प्रतिपाद्यत्वस्यार्थान्तरस्य प्रतिपादनायोगात् । अतोऽक्षरपुरुषो न पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दोक्तः अपिऽक्षरात्परतः परत्वेत्यभिप्रायः । अत इत्यभिप्रेतं हेतुं विवृणोति तस्येति । सर्वज्ञस्य विश्वयोनेरिति । ‘अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्’ ‘तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते’ इत्युभय कारणत्वप्रत्यभिज्ञानात् भूतयोऽक्षरमेव सर्वज्ञमिति न सर्वज्ञस्तदपेक्षया, परइत्यभिप्रायः । सर्वस्मात्परत्वेन तस्मादन्यस्य परत्वासम्भवादिति । भूतयोन्यक्षरमभिधायानन्तरमेव ‘यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्’ इति सामानाधिकरण्यापेक्षयापश्रमावगतं वादित्यर्थः । भूतयोऽक्षरादनन्यत्वेन सर्वज्ञस्य तत्परत्वात्सम्भवः सत्परमात्मघर्मोक्तिस्तीह परमात्मा प्रथमान्ताक्षरशब्दनिर्दिष्टस्य तद्वत्त्वमन्नात् पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दनिर्दिष्टस्य तदभावाच्चत्यर्थः, अक्षरशब्दयोर्मिन्नविषयत्वमुपपन्नम् आत्मत्वेन प्रकरणं ‘तपसा चीयते ब्रह्म’ ‘इतिहस्मयत् ब्रह्मविदो वदन्ति’ ‘तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते’ इत्यत्र ब्रह्मशब्दयोर्मिन्नविषयत्वदर्शनात् । यत्तु सामानविभक्तिनिर्देशस्वारस्यासामानाधिकरण्यमिति तत्र परशब्दस्य पञ्चम्यन्तपदसापेक्षत्वात् स्वार्थस्य न सामानाधिकरण्यम् । किञ्च परतोऽक्षरादिति ननिर्दिष्टं ‘अक्षरात्परतः परः’ इतिहि क्रमः तत्स्वारस्याच्च न सामानाधिकरण्यम् ॥

गूढार्थसंग्रहः

अत्रादिपदेनाद्वयत्वं यद्वाक्ये उपक्रान्तं तद्वाक्ये विवक्षितास्सर्वे गुणा विवक्षिता इत्यभावस्वरूपगुणमात्रविवक्षाऽप्राप्त्यर्थमादिपदमुक्तम् । तेन नित्यत्वविभुत्वभूतयानि वगुणारसगृहीताः । अत्र विकारगतद्वयत्वादिनिषेधेन द्वयत्वादेः प्रसक्तौ निषेधो वाच्य इति उपादानोपादेययोरभेदेनोपादाने द्वयत्वप्रसक्तौ तत्र तन्निषेधो युक्त इति प्रकृतिरेव विवक्षितेति पूर्वपक्षिण आशयः । ‘अवर्णमि’त्युक्तया प्रकृतिकार्यगतरूपादिशून्यत्वप्रतिपादनेन ‘अब्राह्मणमानय’ इत्यादाविव कार्यसजातीयस्यैव प्रतीतिरिति च एतत्तात्पर्यं च ‘रूपादिमत् स्थूलरूपं च’ इत्यादि भाष्यएव सूचितम् । अतश्च तद्वाक्ये प्रकृतौ आदिपदवाच्यधर्माणां मुख्यानां प्रकृतायसम्भवेन विवक्षा पूर्वपक्षिणो नैव समता । धर्मोक्तेः इत्यत्र एतद्वाक्यो-

## श्रीभाष्यम्

सू-२३ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ (१.२.२३)

श्रुतप्रकाशिका

सू-२३ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ [१-२.२३]

गूढार्थसङ्ग्रह

उत्तरवाक्यप्रतिपाद्यमानधर्मा विवाक्षिता । अत्र उपक्रमेण तापादानवस्य सवज्ञादिगुणकएव प्रतिपादनात् स-इ वादि-  
गुणक भूतया-यक्षर ब्रह्मैव न प्रकृतिर्न जीव निरुपाधिकसवज्ञ स्य जीवइत्यभवात् । तस्य पराधानमव सर्वज्ञ च तच्चन  
सार्वदिकम्, ‘यदा पश्य-दिव्यम्’ इत्यत्र न धविगमना तत्रमत्र विद्वच्छब्दाद्यज्ञानसाम्यस्याभिधानात् । अत्र ‘अद्व-  
यत्वादिगुणक’ इत्युक्त्या सूत्रकृता परिग्रहासु सर्वासु सगुणमेवापास्यमित्यर्थं निरणायि ॥

इन्द्रप्राणाधिकरण ‘जानीहि, उवाच’ इति शब्दाभ्यां उपासनं ज्ञानरूपमिति निर्णयवत् ‘तमेवैकं जानथ’  
‘ओमित्या मान ध्यायथ’ ‘आनं दम्प परिप यति धीरा’ ‘तास्म दृष्ट परावर’ इत्यादिना ध्यानान्तरकालिकस्-  
माधौ दर्शनरूपताप्रतिपादनेन ‘यद्भूतयानि परिपश्यति धीरा’ इत्युपक्रमोक्तार्थस्य निष्कर्षणं पराविद्यायाः पदानां  
न्तरकालिकसमाधि ध्यान ज्ञानरूपमवति चार्थद्वयस्य अत्रापि निष्कर्षोऽवस्य । विशेषणभेदव्यपदे-  
शाभ्यां च नेतरौ ॥ अत्र परै ‘दिव्ये ह्यमूर्त’ इति दिव्यं वादविशेषणं जीवभेदं तत्रैव ‘अक्षरात्परत पर’  
इत्यत्र प्रकृतिभेदा विवक्षित इत्यर्थं इत्युक्तम् । अत्र ‘परभूतादव्याकृताक्षरा पर’ इति सामानाधिकरण्येन पदानामर्थं  
मङ्गीकृत्य मूलप्रकृतिभेद इत्युक्तम् । अक्षरात्परत पर इत्यत्र पञ्चम्य तपदोत्तरपरशब्दस्य पूर्वपञ्चमीप्रकृत्यप्रतियोगिकभेद-  
वद्वाचकं वचनं व्युपत्तिसिद्धम् । तदर्थस्यैव शीघ्रमुप स्यतरिति ‘अक्षरात्परत पर’ इति श्रुत्यर्थसिद्धौ प्रकृतिवैलक्षण्यजाय-  
वैलक्षण्यमेव तत्र विवक्षितमिति जीवभेदवाचकं वचनं युक्तम् । एतदर्थस्य ‘परा पर-दिव्यम्’ इत्युत्तरश्रुतावाप परा पर-  
मिति शब्दप्रयोगेण प्रणीत्या तस्य जीवप्राप्य चकथनेन ‘नामरूपाद्ब्रह्म परा परम्’ इति श्रुत्यानुपूर्व्येन नामरूपादिमु-  
क्तात् परस्यैव प्राप्यं तत्र विवक्षितामिति सिद्ध्याऽत्राप जीवावधिका कष एव विवाक्षित । सामानाधिकरण्यं वक्तुं य-  
मित्याप्रहेतु वदा तस्यारीत्या च उरशब्दो जीवपर एव । अक्षरभूतमक्षरं प्रकृति तद्वद्विजयश्च परभूतमक्षरं नामरूपविनि-  
र्मुक्तं परिशुद्धा मस्वरूपम् । कारणा मना सत्त्वमोण स्वरूपपरिणामो नैव गच्छति प्रकृतं प्रलयकाले सहस्रपरिणामाङ्गी-  
कारात् स्वरूपपरिणामश्च येन जायस्तताऽप पर । वदस्य धर्मभूतज्ञानसङ्कोचविकासवन क्षरकाणवव निदेश । धर्म-  
तज्ञानसङ्कोचश्च युक्तस्तु अक्षरशब्दाय इति युक्तम् । अयमर्थः ‘क्षरसंघाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते’ इत्यत्र  
विवाक्षितं अतश्च मुक्तजीवपरत्वमवात्र विवाक्षितम् ॥

एतन् ‘दिव्याह्यमूर्त’ इत्यादिकं जावस्य मुक्तिकालकं सम्भवत्यत्र जीवपूर्वपक्षस्यापि निगमः । एतन् दिव्य-  
त्वामूर्तत्वादे जीवेऽसम्भवः । अत्र विशेषणादित्यननेव जीवभेदसाधनं सम्भवतीति सिद्धम् । अत्र प्रथमयाजनायां प्रकृति-  
भिन्नजीवभेदस्य परमात्मनि सिद्ध्या प्रकृतभेदाऽपि सिद्धयतीत्यभिप्रायः भेदव्यपदेशाभ्यां भेदसाधकं च भाष्यं उक्तम् ।  
एव विशेषणेनेकविज्ञानेन सवविज्ञानप्राप्तये प्रकृतं व्यावृत्ति इत्यर्थे अधिकरणादयोऽपि प्रकृत्याधिकरणेऽपि मध्येन ॥

### श्रीभाष्यम्

विशिनष्टि हि प्रकरणं प्रधानाद्य पुरुषाच्च भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः । एष विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिशोषपादनादिभिः । तथा ताभ्यामक्षरस्य मेदश्च व्यपट्टिश्यते 'अक्षरात्परतः परः' (मुण्डक.१.२.१) इत्यादिना । तथा हि—'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-मर्थाय ज्येष्ठपुत्राय ग्राह' (मु.१.१.१) इति सर्वविद्याप्रतिष्ठाभूता ब्रह्मविद्या प्रक्रान्ता ; परविद्यं च सर्वविद्याप्रतिष्ठा ; तामिमां सर्वविद्याप्रतिष्ठां विद्यां चतुर्मुखायर्वादिगुरुपरम्परयाऽङ्गिरसा प्राप्तां जिज्ञासुः 'ज्ञानको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु.१.१.३) इति । ब्रह्मविद्यायास्सर्वविद्याऽश्रयत्वाद्ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीति कृत्या ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्टम् । 'तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्य यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा च वापरा च' (मु.१.१.४) इति । ब्रह्मप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये—ब्रह्मविषये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः तत्र परोक्षं शास्त्रजन्यं ज्ञानम्, अपरोक्षं योगजन्यम् ; तयोर्ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतमपरोक्षं ज्ञानम् तच्च भक्तिरूपापन्नम् 'यमेवैव वृणुते तेन लभ्यः' (मु.३.२.३) इत्यत्रैव विशेष्यमाणत्वात् ; तदुपायश्चागमजन्यं निवेकादिस्वाध्याससक्तकानुगृहीतं ज्ञानम्, तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विधिदिषन्ति यक्षेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (वृ.६.४.२२) इति श्रुतेः । आह च भगवान् पराशरः—तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञाने च कर्मचोक्तं महामुने । आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते' (वि.पु.६.५.६०) इति । 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादिना 'धर्मशास्त्राणि'

### श्रुतप्रकाशिका

विशेषणशब्द व्याचष्टे विशिनष्टितीति । कस्माकिमित्यत्राह—प्रधानादिति । कैश्चैतित्यत्राह—एकेति । मेदस्यपदेशशब्दं व्याचष्टे तथेति । हेतुद्वय विवरीकृतम्—तथाहीति । न केवलं विशेष्यवाचिना ब्रह्मविद्याशब्देन विशेषणवाचिना सर्वविद्याप्रतिष्ठाभितिशब्देनापि ब्रह्मविषयत्व सिद्धमित्याह—परविद्यं वचेति । परब्रह्मविषया विद्या परविद्या, सर्वविद्याप्रतिष्ठा च सर्वविद्याऽश्रयत्वं ज्ञातव्ये ब्रह्मणि कृत्स्नज्ञातव्यान्तर्भावात् ब्रह्मज्ञाने कृत्स्नविषयज्ञानाभ्यान्तर्भूतानीत्यर्थः । ब्रह्मजिज्ञासमानेन ब्रह्महि प्रष्टव्यं 'कस्मिन् भगव' इति प्रश्नस्य कथं ब्रह्मविषय वामित्यत्राह—ब्रह्मविद्याया इति ॥

द्वे विद्ये इति विद्याद्वय भिन्नविषयत्वेन तैर्व्याख्यातम् । तत्र कैश्चित् परविद्या परमा मविषया अर्थात्तारविषयाचि-परविषयेति, कैश्च कर्मज्ञानमपविद्या ब्रह्मज्ञान परविद्ये युक्तम् । कैश्चिदपरमाऽज्ञानमपविद्या परमा मज्ञान परविद्येदुक्तं तद्व्यावृत्त्यर्थं व्याचष्टे ब्रह्मप्रेप्सुनेति । ब्रह्मैव विषयश्चेत् द्वयोरापि कोमेद इत्यत्र ह—परोक्षं परोक्षरूपेति । तस्मैत्यादिः 'संतपोऽतप्यत, ओदनपाकं पचति' इतिवत् 'द्वे विद्येतव्ये' इत्युक्तिः तत्र पलितमर्थमाह—उपादेयइत्यर्थइति । किं परोक्षं किमपरोक्षमित्यत्राह—तत्रेति । ब्रह्मैव विषयश्चेत् प्रथमनैवालमित्यत्राह—तयोरिति । उपायभूत, अव्यवहितोपायभूत तस्यापि निष्फलत्वमप्रत्यवाक्यनावगम्यत इत्यत्राह—तच्च भक्तिरूपेति । तर्हि किं प्रथमेनेत्यत्राह—तदुपायश्चेति । साधनसप्तकं शास्त्रजन्यज्ञानं चाभयमभ्युपासना मकज्ञानस्य हेतुरिति यावत् । एतद्वैशद्यायाह—आहचेति । अनेन विद्याद्वयस्य भिन्नविषयत्वोक्तिरपवृण्विदुदिति दर्शितं भवति, विवेकाच्च उच्यते इत्यर्थः । यथोक्तं तद्वैशद्यायाह—आहचेति । द्वेऽपि किं वाक्यं किं विषयमित्यपेक्षायामागमोक्तं ज्ञानं तत्रेत्यादिवाक्येनोक्तमित्याह—तत्रेति । वेद एवाहि महज्ञानहेतुः धर्मशास्त्रादिकीर्तनं किमर्थं नचात्रागमोक्तं ज्ञानस्य शाब्दं प्रतीयत इत्यत्राह—



## श्रीभाष्यम्

(मुण्च.१.१.५) इत्यन्तेन आगमोत्थं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुभूतं परोक्षज्ञानमुक्तम् । साङ्गस्य सेतिहासपुराणस्य सधर्मशास्त्रस्य समीमांसस्य वेदस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् । 'अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते' (१.१.५) इत्युपासनारथं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं भक्तिरूपापन्नज्ञानं 'यत्तदद्वैतमग्राह्यम्' इत्यादिना परोक्षापरोक्षरूपज्ञानद्वयविषयस्य परस्य ब्रह्मणस्त्वरूपमुच्यते 'अथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते च' (मु.१.१.७) इत्यादिना । यथोक्तस्वरूपात्परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरात्कृत्स्नस्य चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्योत्पत्तिरक्ता ; विश्वमिति वचनाच्चाचेतनमात्रस्य 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजापते । अन्नात्प्राणो मनस्सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥' (१.१.८) इति ब्रह्मणो विश्वोत्पत्तिप्रकार उच्यते ; तपसा ज्ञानेन 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (१.१.९) इति वक्ष्यमाणत्वात् ; चीयते-उपचीयते ; 'बहुस्याम्' (छां.६.२.३, तै.आन.६) इति सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन ब्रह्म सृष्ट्युन्मुखं भवतीत्यर्थः । ततोऽन्नमभिजायते-अद्यत इत्यन्नम्, विश्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यभूतं भूतसूक्ष्ममव्याकृतं परस्माद्ब्रह्मणो जायत इत्यर्थः ; प्राणमनःप्रभृति च स्वर्गापवर्गफलरूपसाधनभूतकर्मपर्यन्तं सर्वं विकारजातं तस्मादेव जायते । 'यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्' (मु.१.१.९) इत्यादिना सृष्ट्युत्पत्तिप्रकारभूतं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिकमुक्तम् । सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पात्परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरादेतत् कार्याकारं ब्रह्म नामरूपविभक्तं भोक्तृभोग्यरूपं च जायते । तदेतत्सत्यम्' (मु.१.१.१) इति परस्य ब्रह्मणो निरुपाधिकसत्यत्वमुच्यते । 'मन्त्रेषु कर्माणि कथयो यान्यपश्यन्तानि त्रेतायां बहुधा सन्तानि । तान्याचरत नियतं सत्यकामाः' (१.२.१) इति सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिकल्याणगुणाकरमक्षरं पुरुषं स्वतस्सत्यं कामयमानास्तत्प्राप्तये फलान्तरेभ्यो विरक्ता क्रम्यजुस्सामा

## श्रुतप्रकाशिका

साङ्गस्येति । उपरिपरस्यागमस्य तज्ज्ञानहेतुत्वादपराविधेयमुक्तमित्यर्थः । 'तत्रापरा ऋग्वेद' इत्यादिवाक्यस्य आगमोत्थज्ञानविषयत्वपूर्वोक्तोपबृंहणवचनेन 'द्विधा ज्ञानं तथोच्यते' इत्यनेन स्पष्टीकृतम् । 'अथ' इत्यादिवाक्यस्य विधेयकज्ञानविषयत्वमाह-अथेति । उक्तमित्यन्वयः 'यत्तत्' इत्यादिवाक्यस्य विषयमाह-यत्तदिति । यथोर्णनाभिरिति । भूतयोनिविवरणमित्यर्थः । 'तपसा चीयते' इत्यादिक व्याचष्टे ब्रह्मण इत्यादिना । विश्वस्य भोक्तृवर्गस्य इत्यनेनैतद्वाक्यस्य सत्यशब्दो व्याख्यातो भवति, सत्यशब्दवाच्यस्य भोक्तृवर्गस्यत्यर्थः, फलसाधनभूतकर्मपर्यन्तमिति । 'लोकाः स्वर्गादयः' 'कर्मसु चामृतं कर्मस्वायत्तममृतम् अमृतत्वसाधनभूतं कर्म' इत्यर्थेति भावः । पुनस्वर्गाभिधानपौनरुक्त्यमाशङ्क्य ह-यस्सर्वज्ञ इति । यथा 'दध्ना जुहोति' इति वाक्ये जुहोतिपदेन 'आग्निहोत्र जुहोति' इति विहितं होममनूय दध्नात्साधनं विधीयते तथा कारणानुयादेन सर्वज्ञ्यादिगुणविधानमित्यर्थः । भोक्तृभोग्यरूपं च जायते इत्यनेनाप्रशब्दो व्याख्यातो भवति । 'अद्यतेति च भूतानि' इति प्रशब्दनिर्बन्धनम् । द्वितीयलक्षणांमाह-तदेतत्सत्यमित्यादिना । परत्वेति । कारणवशाद्धेतुदोषस्यावृत्त्यर्थमुक्तमित्यभिप्रायः । मन्त्रेष्वित्यादि । केचित्सत्यकामपदं चतुर्मुखलोककामपरं व्याचक्षत इति तद्व्युदाहार्यमाह-सार्वज्ञ्येति । कर्मानामाया वक्ष्यामि गुणाकरममुक्तम् । अक्षरपुरुष स्वतस्सत्यं कामयमाना इति । 'तदेतत्सत्यम्' 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' पुनश्च 'तदेतत्सत्यम्' इति पूर्वोक्तयोर्ब्रह्मवाचिभेदेन प्रयुक्तसत्यशब्देकाव्यादिति भावः । ददुधेति अक्षरं ११९७

## श्रीभाष्यम्

धर्मेषु कविमिदंशानि वर्णाश्रमोचितानि त्रेताग्रेषु बहुधा सन्ततानि कर्माण्याचरतेति 'एषधः पन्थाः' (१.२.१) इत्याभ्य 'एषधःपुण्यस्सुष्ठुतो ब्रह्मलोकः' (मु.१.२.६) इत्यन्तेन कर्मानुष्ठानप्रकारं, श्रुतिस्मृतिचोदितेषु कर्मस्वेष्टतरकर्मवैधुयेंऽपीतरेषामनुष्ठितानामपि निःफलत्वम् अथवाऽनुष्ठितस्य चाननुष्ठितसमत्वम् अभिधाय 'श्रुत्याहेते अष्टदा यशरूपा अष्टादकमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति' (१.२.७) इत्यादिना फलामिसन्धिपूर्वकत्वेन ज्ञानविधुरतयाचावरं कर्माचरतां पुनरावृत्तिमुपवा 'तपश्चदे ये त्युपयसन्ति' (मुण्डक.१.२.११) इत्यादिना फलामिसन्धिरहितं ज्ञानिनाऽनुष्ठितं कर्म ब्रह्मप्राप्तये भवतीति प्रशम्य 'परीक्ष्य लोकान्' (१.२.१२) इत्यादिना वेचलकर्मफलेषु विरक्तस्य यथोदितकर्मानुगृहीतं ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतं ज्ञानं जिज्ञासमानस्य च आचार्योपसदनं विधाय 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्' (२.१.१) इत्यादिना 'सोऽविद्या ग्रन्थि विकिरतीह सोम्य' (२.१.१०) इत्यन्तेन पूर्वोक्तस्याक्षरस्य भूतयोनेः परस्य ब्रह्मणः परमपुरुषस्यानु-

## श्रुतप्रकाशिका

भेदेन त्रेता आग्निप्रथ 'अग्निप्रथमिदं त्रेता' इति नैघण्टुकाः आचरतेतीति । उच्यत इति पूर्ववाक्यादनुपपन्नः एष- इत्यादि । एकतरकर्मवैधुर्नैपीतरं निष्फलत्वमित्यनेन 'यस्याप्रहोत्रमदर्शपूर्णमासमनाग्र्येणमतिथिर्जितं च अहुतमवैश्वदेवम्' इत्यस्यार्थोऽभिप्रेतः अथवाऽनुष्ठितस्याननुष्ठितसमत्वचेत्यनेन 'अश्रद्धया अविधिना हुतमासेत्तमात्तस्य लोकान् हिनस्ति' इत्यस्यार्थ उक्तः । इदं च निष्फलाघनकर्मविषयमुक्तम् 'प्लुवाहेते अष्टदा' इति तत्प्रकरणत्वात् 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इति मोक्षसाधनकर्मणा यथोक्तविपरीतत्वप्रतिपादनाच्च प्लुवाहेतइत्यादि । अष्टादशोक्तम् 'अष्टादशरमृ युक्त श्रुतेरापि प्रदर्शनार्थमिदं श्रुतिस्मृतिचोदित कर्मैत्यर्थः । यदा षोडशविंशतीयजमानरूपाष्टादशपुरुषेषु विहितम् । यदा 'नवग्राम्यान्पशूनालभते नवारण्यान् उभयान्पशूनालभते' इति श्रु युक्ताष्टादशपशु हविष्क कर्मैति । यशश्चन्दः कर्मसामान्यवाची यद्यु पुरुषपु रमृतिविहितमवर कर्म फलामिसन्धिस्त एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति ते पुरुषा जरामृत्यु आपेयान्तीत्यन्वयः । ब्रह्मप्राप्तये भवतीत्यनेन 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रा मृतसपुर्षोऽव्ययात्मा' इत्यस्यार्थ उक्तः । 'परीक्ष्य लोकान्' इत्यादिवाक्य गुरूपसत्तिविषयनियमविधिः अन्य न्यायसिद्धार्थानुवादरूपम् ॥

तृतीयखण्डार्थमाह-तदेतत्सत्यंयथेत्यादिना । भूतयोन्यक्षरस्याक्षरापरतः परस्यचानन्यत्वसिद्धयै प्रथमतृतीयखण्डयोरैक र्थप्रत्यभिज्ञावैश्वदेवप्राप्त्यानि दशयति पूर्वोक्तस्येत्यादिपदैः पूर्वोक्तस्यैव प्रतिपाद्यत्वात्पादकानि षट् तद्वर्णानि 'तदक्षरमधिगम्यते' 'भूतयोनिं परिपश्यन्ति' 'तथाक्षराद्विधास्सोम्यभावा प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति' इति वाक्ययोरैकविषयव दार्शित अक्षरस्य भूतयोनेरिति 'तपसा चीयते ब्रह्म' 'तपो ब्रह्म परामृतम्' इत्यनयो रैककण्ठ्य दार्शित परस्य ब्रह्मण इति 'तस्मादेतद्ब्रह्म' इत्यवगतकार्यब्रह्मव्युदासार्थः परशब्दः 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यनयोरेकविषय वाभिप्रायेण परमपुरुषस्यैवमुक्तम् । तत्र 'यस्मात्परं नापरमस्ति' इत्युक्तसामान्यविकाराहित्यसूचनायः परमशब्दः । अक्षरपुरुषशब्दाभ्या 'येनाक्षरं पुरुषम्' इति द्वितीयखण्डकार्ये च दार्शितमवाति अत्रहि 'अक्षराद्विधास्सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति' इत्युक्त्या 'दिव्योऽहमूर्तं पुरुषः सखा क्षम्यन्तरः' इति, प्रकृतकारणाक्षरपरमर्शितच्छब्देनाक्षरापरतः परस्य सामानाधिकरण्यात् भूतयोन्यक्षरमेवाक्षरा परतः

## श्रीभाष्यम्

यत्तैस्त्वरूपगुणैस्सह सर्वभूतान्तरात्मनो विश्वशरीरत्वेन विश्वरूपत्वम् तस्माद्विश्वसृष्टिं च विस्पष्टमभिधाय 'आविस्सन्निहितम्' (मु.२.२.१) इत्यादिना तस्यैवाक्षरस्याव्याकृतात्पर्यतोऽपि पुरुषात्परभूतस्य परस्य परव्योम्नि प्रतिष्ठितस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य हृदयगुहायामुपासनप्रकारम् उपासनस्य च परमक्तिरूपत्वमुपासीनस्याविद्याविमोक्तपूर्वकं ब्रह्मसमं ब्रह्मानुभवफलं चोपदिश्योपसंहृतम् ।

## श्रुतप्रकाशिका

पर इत्यवगम्यते नाह तस्मादक्षरात्पर इत्युक्तम् । अपिचक्षरा पर इति पश्चादपि 'न तस्माज्जायते प्राण' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' 'तस्मादग्निस्समिधश्च सूर्यः' इति इत्यारभ्य 'अतःसर्वा ओषधय' इत्यन्तेषु वाक्येषु तमेव तदेतच्छब्दैः परामृश्य 'एतेषु भूतेषु तिष्ठते ह्यन्तरात्मा' इत्युक्त्वा 'पुरुष एवेदगँसर्वम्' इत्याभिधानात् भूतवान्क्षरब्रह्मशब्दवाच्यः पुरुष एवाक्षरात्पर इति प्रतीयते अनुक्तैस्त्वरूपगुणैरित्यनेन 'दिव्योह्यमूर्तं पुरुष' इत्याशुक्ताः । द्रव्यत्वामूर्तत्वविभुवादयो गुणा विवक्षिताः । विश्वरूपत्व विश्वकारत्वम् । तदेव विश्वशरीरशब्देन विशेषितम्, तदुपपादक सर्वभूतान्तरात्मतेयीत पदम् । अतःप्रविश्य नियन्तृत्वादस्य विश्व शरीरतया प्रकारइत्यर्थः अनन 'पद्भ्यां पृथिवीहोष' 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' 'एतेषु भूतेषु तिष्ठते ह्यन्तरात्मा' 'पुरुष एवेदगँसर्वम्' इति श्रुत्ययोऽनुसंहितः । तस्माद्विश्वसृष्टिचेत्यनेन 'तस्मादग्निस्समिधश्च सूर्यः सोमःपर्जन्य ओषधय' इत्याद्यर्थ उक्तः । विस्पष्टमित्यनेन, प्रथमतृतीयखण्डयोः पौनरुक्त्यपरिहारः, पूर्वोक्तसृष्टिप्रपञ्चनपरत्वाच्चपुनरुक्तिरित्याभिप्रायः ॥

चतुर्थखण्डार्थमाह—आविरिति । आविस्सन्निहितम् योगिनामपरोक्ष सन्निहितम् । तस्यैव प्रथमतृतीयखण्डप्रतिपादितस्य अव्याकृतादिति । 'अक्षरात्परत परस्य' इति तृतीयखण्डप्रतिपादितस्येत्यर्थः 'तदेतदक्षरं ब्रह्म' इति वाक्यमभिप्रयन्नाह—परस्य ब्रह्मण इति । 'यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्यैव माहिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरेहोष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥' इत्यस्यार्थमाह—परमव्योम्नि प्रतिष्ठितस्येति । 'यस्यैव माहिमा भुवि' इति लीलाविभूत्यन्वय उक्तः । दिव्ये व्योम्नीति त्रिपादिभूतिरुक्ता । ब्रह्मपुरे इति शब्दः 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्' इतिवन्नकर्मधारय ब्रह्मपुर आत्मा प्रतिष्ठित इति व्यतिरेकनिर्देशात् 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इतिवाच हृदि निधायह—अनवधिकातिशयेति । हृदयगुहायामुपासनप्रकारमिति । 'एतद्योवेद निहित गुहायाम्' इति पूर्वखण्डावसाने हृदयगुहायामुपासन विहितम् 'तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्व्यसोम्य विद्धि' इत्यारभ्य 'प्रणो धनुश्शरो ह्यात्मा' 'आत्मानमराणि कृत्वा' इत्यादिमेरुपासनस्य प्रकार उक्त इत्यर्थः । हृदयगुहासम्बन्धुपासनस्यैव प्रकारोपदेशोऽयं नतूपासनान्तरस्येति इदमप्रगतम् । 'गुहाचरन्नाम महत्पदम्' 'प्रतिष्ठितोन्तर्हृदये सन्निधाय' 'पद्मकोशप्रतीकाशं सुपिर चाप्यधोमुखम् । हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्' इति चतुर्थखण्ड एव तस्योपासनस्य हृदयगुहासम्बन्धित्वावगमात् । पाठक्रमादर्थक्रमस्य प्रगल्भत्वात् ॥

षष्ठखण्डे प्रतिपन्नमर्थमाह—उपासनस्यचेति । 'यमेवैष घृणुते तेन लभ्यः' इतिहि तत्रोक्तम् । अर्थक्रमेण तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परमं साम्यमुपैति' इति पञ्चमखण्डस्यवाक्यं हृदि निधायह—ब्रह्मसममिति । भोगमात्रेण साम्यमित्याह—ब्रह्मानुभवफलमिति । अविद्याविमोक्तपूर्वकमित्यनेन 'पुण्यपापे विधूय' इत्य

## श्रीभाष्यम्

अत एव विशेषणादभेदव्यपदेशाच्च नास्मिन्प्रकरणे प्रधानपुरुषो प्रतिपाद्यते ॥

भेदव्यपदेशोऽपि हि ताभ्यां परस्य ब्रह्मणोऽत्र विद्यते ' दिव्योह्यमूर्तपुरुषस्सदाह्याभ्य-  
न्तरो ह्यजः । अप्राणोह्यमनाश्शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ' (२.१.२) इत्यादिभिः अक्षरादव्या-  
कृतात्परो यस्समष्टिपुरुषः तस्मादपि परभूतोऽद्वयत्वादिगुणकोऽक्षरशब्दाभिहितः परमा-  
त्मेत्यर्थः । अश्नुत इति वा, न क्षरतीति वाऽक्षरम् । तदव्याकृतेऽपि स्वविकारव्याप्त्या वा  
महदादिवक्ष्यामान्तराभिलाषयोग्यक्षरणाभावाद्वाऽक्षरत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ॥

## श्रुतप्रकाशिका

ननु पञ्चमखण्ड साध्यापत्तिरूपस्सगुणमोक्ष उक्तः ' वेदान्तविज्ञाने ' इति मन्त्रेण तस्य क्रमोपपत्तिरुक्तम् ' परे  
ऽव्यये सर्वैक्यमवतिष्ठति ' इति परममोक्षस्यैक्यापत्तिरुक्तम् ' यथा नद्य ' इति विशेषप्रहाणमुक्तम् । ' ब्रह्मैव  
भवति ' इत्येक्यापत्तिनिगमनमिति । नैवम् । तथाहि ' सर्वमेवाविशन्ति ' इति निर्गुणप्राप्तिः सर्वशब्दस्य निर्गुणवा-  
चिवाभावात् किंतु ब्रह्मविभूतिभूतवाद्वाप्यसम्स्तजगदनुभवोक्तिः ' ते सर्वग सर्वतः प्राप्य धीरा ' इति स्वस्य  
ब्रह्मणः प्राप्तवृत्त्यात् सर्वशब्दस्य सर्वशब्दवाच्यस्य ब्रह्मव्याप्यविभूतिवाच्यमाद्य । ' वेदान्तविज्ञाने ' इतितु वाक्य  
चरमशरीरावसाने ब्रह्मप्राप्तिप्रपादकमिति लक्ष्यते ' गता कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा ' इति मन्त्रश्च मुक्तपरित्यक्तदेहिन्द्रिय  
तदभिमानिदेवतादीनामितरचेतनाचेतनवत्प्रत्ये परमात्मनिलयपरः ननु मोक्षपरः, मुक्तौ कलाशब्दोक्तभूतेन्द्रियाणां परमा-  
त्मनैक्यापत्त्यभावात् । पृथिव्यादिषु लयएव परमात्मनि लय इति चेत् अमुक्तदेहस्यापि पृथिव्यादिषु लयादस्य वाक्यस्य  
मुक्तविषयत्व न स्यात् । एकस्मिन्मुक्तसत्यग्राहिदेवताश्च न परमात्मनि लीयन्ते अतश्चेद वाक्य नमुक्तस्य परमात्मैक्याप-  
त्तिपरम् ' यथा नद्य ' इतितु वाक्य मुक्तस्य ब्रह्मप्राप्तेः कर्मकृतनामरूपप्रहाणपूर्वकवपरम् । ' ब्रह्मैव भवति ' इति  
पूर्वोक्तसाध्यापत्तिनिगमनपरम् । ब्रह्मपर्यन्तस्वात्माविर्भावपर वा अतो यथोक्त एवार्थः ॥

एव सौत्रहेतुद्वये विशेषणं प्रपञ्चनम् । उपपादितं हेतु हे वन्तरेण सहानुवदन् साध्यार्थेन घटयति अतएवमिति ।  
भेदव्यपदेशस्योपादानं तस्य प्रपञ्चनाकाङ्क्षाजननार्थम् । भेदव्यपदेश प्रपञ्चयति भेदव्यपदेशोऽपिहीति । अक्षरशब्दस्या-  
व्याकृतवाचि व कथमित्यपेक्षाया ' प्रोक्षणीयव्यसयोगात् ' इति न्यायमभिप्रेत्यावयवशक्तिं दर्शयति अश्रुतइति । अश्रुत  
इत्यवयवार्थः किमव्याकृतेः सम्भवतीत्यत्राह-अव्याकृतेऽपीति । स्वविकारव्याप्येति । कार्याकारेण विकृतमश्रु विकृता-  
दन्य कारणांशः सूक्ष्मतया व्याप्नोतीत्यर्थः । अतएवेदमप्यसदर्थद्वयं नादृङ्नीयं यदुच्यते, इहायं सर्वैकशब्दः कस्मिंश्चि-  
द्देवताविशेषे रुद्धः ननु यागिकः, अन्यथा सर्वविच्छेदोपपन्नत्वात् तस्मात् ब्रह्मण उपपत्तिरश्रुयते ' तस्मादेतद्ब्रह्म नाम-  
रूपमिदं च जायते ' इति, इह ब्रह्मशब्दवाच्यश्च परमपुरुष ' येनाक्षरं पुरुष वेद सत्यं प्रोवाचतां तत्त्वतो ब्रह्म  
विद्याम् ' इति । ' पुरुष एवेदं सर्वं तपो ब्रह्म परामृतम् ' इति ब्रह्मपुरुषशब्दयोरकविषयत्वावगमादिति, तत्र  
पुरुषशब्दशब्दयोस्सामानाधिकरण्यादक्षरस्य भूतयोनिवश्रवणात् पुरुष उपादानं अक्षरात्परतः परश्च सर्वविद्यादियोगात्  
मिच्छे, एव च ' अक्षरात्सम्भवति ' ' अक्षरात्परतः ' इति अक्षरशब्दयोर्विरुपायता च न स्यादिति । तत्र तावन्नि-  
मित्तोपादानभेदोऽनुपपन्नः तथासति निमित्तान्तरस्य स्थित्येन ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानानुपपत्तेः । नच कार्यविध्यतया  
सर्वशब्दसङ्कोचात्तिमित्तान्तरस्य युपपत्तिः, उपादानभूतस्यैव ब्रह्मणो निमित्तवत्त्वदत्ता निमित्तान्तरे च निवेद्यता वाक्यानां  
भूयस्त्वात् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानचोपक्रमावगतं वा प्रवृत्तम् । अक्षरपुरुषस्य ' तस्मात्परं नापरम् ' इति



### श्रुतप्रकाशिका

समाख्यधिकनिषेधश्च उपक्रमादगतः तेन तन्मेरकं निमित्तान्तरमनुपपन्नम् । अस्यामेवोपनिषदे ' रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ' इति रुक्मवर्णपुरुषस्यैव कर्तृत्वयोनिव्यवधानाय ननिमित्तोपादानभेदः । अत्रादिप्रत्यक्षकारणवदस्य भिन्नानाद्य न सर्वशब्दपुरुषयोर्भेदः ' यत्सर्वज्ञसर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते इति सर्वज्ञस्य तथा च श्रूयते ' तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ' इति ब्रह्मणश्च तथाच श्रूयते ' तपसा चीयते ब्रह्म ' ' यस्य ज्ञानमयं तपः ' इति तपशब्दवाच्यज्ञानवत्त्व सर्वज्ञस्य ब्रह्मणश्चावगम्यते । ब्रह्मपुरुषशब्दयोश्चैकविधयत्वं दर्शितम् । एवं सर्वज्ञशब्दवाच्यस्य ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टपुरुषस्य चाज्ञादिकारणवत्तदुपयोगिसर्वज्ञादिगुणयोरनान्यत्वाभिहितोपादानभेदो विवक्षितः । तदभेदे च सति ' तथाऽक्षरात्संभवति ' ' तस्मादेतद्ब्रह्म ' इति पञ्चम्यैर्वैरूप्यं च नस्यात् ' ब्रह्मवन्नं ब्रह्मसं वृक्ष आसीत् ' इति श्रुत्यन्तराविरोधश्च स्यात् ' तपसा चीयते ' ' यत्सर्वज्ञः ' इति मन्त्रयोः प्रतिपन्नस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणश्च कारणतयाऽनन्यत्वात् मिथः कार्यकारणभावशङ्का निरस्ता ॥

किञ्च अस्यामुपनिषदि अक्षरब्रह्मशब्दौ कारणे कार्ये च प्रयुक्तौ, ' अक्षरात्संभवति ' ' अक्षरात्परतः परः ' ' तपसा चीयते ब्रह्म ' ' तस्मादेतद्ब्रह्म ' इति । तत्र पुरुषशब्दसमानाधिकरणाय अक्षरब्रह्मशब्दौ किं कारणविषयौ उत कार्यविषयौ इति विशये ' नास्त्यकृतः कृतेन ' इत्युक्त्वा ' येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाचतां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां इत्युक्तत्वात् कारणविषयाविनि निश्चीयते ततश्च कारणपुरुषादन्यस्य परत्वासम्भवात् भूतयोन्यक्षरमेवाक्षरात्परतः परः । किञ्च ' येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच ' इत्यक्षरपुरुषस्य वक्तव्यवप्रतीतेः तस्यैव प्राधान्यात्, स एवाक्षरात्परतः परश्च भवितुमर्हति अन्यस्य प्रतिपाद्यत्वं प्रतिज्ञायार्थान्तरप्रतिपादनस्य घातात् भूतयोन्यक्षरधर्माणां अक्षरात्परतः परे दर्शनात्, तस्य च स इति प्रकृताक्षरानुरूपपरामर्शितच्छब्दसामानाधिकरण्यं चाक्षरात्परतः परएवाक्षरपुरुषः । किञ्च यथा भूतयोन्यक्षरस्य पुरुषत्वं ' अक्षरं पुरुषम् ' इति पुरुषशब्दसामानाधिकरण्यादवगम्यते, तथा अक्षरात्परतः परस्य च पुरुषत्वम् ' दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः ' इति पुरुषशब्दसामानाधिकरण्यादवगम्यते इति तयोरनन्यत्वासिद्धिः । ब्रह्मशब्दवाच्याक्षरपुरुषादन्यः सर्वज्ञ इह प्रतिपाद्यते चेत् ' स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् ' इत्युपक्रमविरोधश्च स्यात्, अक्षरपुरुषादपरसर्वज्ञश्चेत् ' अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ' इत्यक्षरविद्यायाः परविद्यात्वकथनं विरुध्येत । अक्षरपुरुषः परमकारण न चेत् ' उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः ' ' परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ' इति परमपुरुषस्योपास्यत्वप्राप्त्यन्तश्चरणविरोधः, परमकारणस्यैव ह्युपास्यत्वप्राप्त्यर्थे वेदान्तप्रसिद्धे, परमकारणत्वेदक्षरपुरुषस्तस्यादन्यस्य परत्वमनुपपन्नम्

सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः ' इति कारणान्तराविरोधतन्त्रनिषेधात् । यच्च सति सर्वज्ञशब्दरूढ्यनुगुणं नपुरुषशब्दोऽनेयः, अपितु पुरुषशब्दरूढ्यनुगुणं सर्वज्ञशब्दोऽनेयः, तत्तच्च तस्य पशुपतिपरत्वमयुक्तम् ' दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः ' ' रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषम् ' ' परात्परं पुरुषम् ' इत्यादिवाक्यानां ' आदित्यवर्णं तमसस्तुपारे ' ' त्रिपादस्यामृतं दिवि, पुरुष एवेदगैः सर्वम् ' इति पुरुषनायणोत्तरनारायणैकाग्र्यप्रतीतेः ' नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मम् ' इत्यनेन ' अणोरणायान्महतो महीयान् ' इति कठवल्लीयैकाग्र्यावगमात्तत्र च ' सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम् ' इति श्रवणाच्च ' पद्मकोशप्रतीकाशम् ' ' पुरुष एवेदगैः सर्वम् ' इति नारायणानुवाकसुबालोपनिषदेकाग्र्यावगमाच्च परमपुरुषपरत्वसिद्धिः । ब्रह्मरूपयोः नारायणसुख्यत्वाद्विश्रुतिविरोधश्चाऽन्यथा स्यात्, अतरसर्वज्ञशब्देन सर्वेषां धर्मिणां ज्ञातृवमुक्तम् सर्वविच्छेदस्तु तत्तद्वस्तुगतसर्वप्रकारवेदित्वपरः, धर्मिमात्रज्ञानादपि तद्वस्तुप्रकारकारण्यज्ञानाह ज्ञातुः प्रकृतिपादक इति श्रुत्याऽपि

मीमांस्यम्

## सू-२४ रूपोपन्यासाच्च [१.२.२४]

श्रुतप्रकाशिका

सर्वेषां संभवति, सङ्घशुसंप्रयोग एव तद्वतशाखापत्रपल्लवव्यादिशानं हृद्दृढयाग्निरिव र भवति यद्वा सर्वं वि-  
तीति सर्ववित् सर्वस्वामीत्यर्थः, लब्धघनो हि घनस्वामी भवति । अतः सर्वशब्दादिगुणको निमित्तोपादानभूतः सर्वसा-  
त्परः परमपुरुष एव ॥

## सू-२४ रूपोपन्यासाच्च [१.२.२४]

गूढार्थसङ्ग्रहः

'कस्मिन् मग्नो विशाते सर्वपिदं विशात भवति' इति एतदुपनिषदुपक्रमः । अनन्तरम् 'अथ परा यया तदक्षरम्  
धिगम्यते' इति । अत्रोपक्रमोत्तप्रतिरेव 'नामरूपादिमुक्तः परापर पुरुषमुपैति' इत्यत्र विशदीकरणेन जीवमित्यपरैव  
विवक्षायाः सिद्ध्या एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिशयां सर्वशब्दे जीवोऽपि विवाक्षित इत्यङ्गीकरणीयम् । अतश्च श्रुत्यन्तरो-  
क्तदिशेवात्रापि उपक्रमप्रभृति सर्वविशेषणपरिशीलनेन भेदव्यपदेशेन च प्रकृतिजीवव्यावृत्ति विवक्षा सिद्ध्यतीत्युभय-  
उभयव्यावृत्तिः सङ्गतेति ॥

'रूपोपन्यासाच्च' इति । 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिशश्चोत्रे वाग्विष्णुताश्च देवाः । वायुः प्राणो हृदय  
विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीहोष सर्वभूतान्तरात्मा' (मु.२.१.४) इत्यत्र सर्वभूतशरीरेणः औपनिषदपुरुषस्यैव रूपं प्रतिपाद्यते  
त्रैलोक्यशरीरकेन त्रिषु लोकेषु विद्यमानानां पदार्थानां मूर्ध्वादिना रूपेण कृतम् । एतावन्मात्रेण रूपं कल्पितम् पर-  
मार्थविधायिणे नेयं श्रुतिरिति न भ्रमितव्यम् । मट्टपादैः 'सिंहो देवदत्तः' इत्यत्र आरोपनिराकरणपूर्वकसदृशाभेदस्यैव  
व्यवस्थापनया गुणवादजै सूत्रपयालोचनया च वेदे न कुत्राप्यारोपः अङ्गीकरणीयः । तथासति वेदाप्रामाण्यप्रसङ्गात् अतश्च  
सादृश्यनिबन्धन एव 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिव्यपदेशः । प्राचीनैरालंकारिकैः रूपकस्यैव सदृशाभेद एव प्रतीयत इत्यङ्गी-  
कारात् अनन्तर तादृश्यप्रतीत्यङ्गीकरणेन विच्छित्तिविशेषणालंकारविशेषपादनेऽपि रूपेण तदपेक्षामात्रेण नानुपपत्तिः । नवीनैः  
दीक्षितादिभिः रूपकस्यैव आहार्याभेदशब्दबोधसिद्धान्तस्थापनमद्वैतिसंमतस्य वेदे अभ्यासे सामानाधिकरण्यास्य साधना-  
भिनिवेशमावेदयति । अख्यातिवादे तु अनुपपत्तिरेव नास्ति । लोकत्रयव्यापकस्य परमात्मनः विग्रहपरिमाणानुरोधेन देश-  
विशेषावच्छेदेन शरीरावयवानां प्रतिपत्तिसौकर्याय तत्तद्देशस्यभूतानां मूर्ध्वादिरूपेण कृतमिति । अयमर्थः सर्वार्थसिद्धि-  
भावप्रकाशे तृतीयसंयुते निरूपितः ॥

'अद्वैतवादिगुणको धर्मोक्तेः' इत्युपक्रमसूत्रम् । 'रूपोपन्यासाच्च' इत्यन्तिमसूत्रम् । अत्रचायमाशयः  
निर्गुणत्वश्रुतिवत् अशरीरत्वश्रुतिरपि वर्तते । निर्गुणश्रुतौ 'यत्तदद्वैतमग्राह्यमवर्णम्' इत्युक्त्या येषां गुणानामङ्गीकारे  
धर्मिणोऽनित्यत्वप्रसक्तिः न तद्वद्वा अङ्गीकरणीयाः तद्गुणनिषेधपरा निर्गुणश्रुतिः 'नित्यं त्रिषु सर्वत्र ह्यसूक्ष्मम्' इत्यु-  
क्तगुणानामङ्गीकारे न विरोधः । एव हेयगुणनिषेधसहपठित 'अचक्षुश्चोत्र' 'अपाणिपाद' शब्दप्रतिपन्नचक्षुश्चोत्र  
पाणिपादनिषेधोऽपि कर्ममूलकतन्निघपरः । 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी' इत्युक्तचक्षुरादिकतु न कर्ममूलकमिति न विरोधः । अय-  
मर्थः अधिकरणोपक्रमोपसंहारसूत्राभ्यां सूत्रकृता पर्यालोचित एव ॥

अद्वैतवादिगुणकाधिकरणं समाप्तम्

## श्रीभाष्यम्

‘ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्चोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ’ (मु.२ १.४) इतीदृशं रूपं सर्वभूतान्तरात्मनः परमात्मन एव सम्भवति ; अतश्च परमात्मा ॥

## अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरण समाप्तम्

## श्रुतप्रकाशिका

सर्वभूतान्तरात्मन इति । सर्वभूतान्तरात्मसम्बन्धितयाच्यमानमीदृश रूपं परमात्मन एव सम्भवतात्यर्थः ॥

निर्विशेषवाद तावदिदं सूत्रत्रयमनुपपन्नम् । अभावरूपाणामप्यदृश्यत्वादीनां गुणव्यवहारात् सर्वशब्दादिधर्मव्यवहाः च प्रथमसूत्रं विरुद्धम् । व्यावर्तकधर्मापरमाध्यै व्यावृत्त्यपरमाध्यात् भूतयोन्यक्षरस्य प्रधानव्यावृत्त्यासिद्धेश्च । भेदमिध्यात्वे भेदव्यपदेशेन परमात्मत्वसाधनमप्ययुक्तम् । शरीराद्विशिनष्टि प्रधानाद्भेद व्यपदिशतीति द्वितीयसूत्रार्थवर्णनमप्यनुचितम् विशेषणभेदव्यपदेशयोरेकैकस्यैव शरीरप्रधानव्यावर्तनक्षमत्वात् । दिव्यत्वामूर्तत्वपुरुषावाद्योहि कारणेन प्रधानस्यापि न सम्भवन्ति ‘ अक्षरात्परत पर ’ इति जीवव्यावृत्तिरापिहि प्रतीयते ‘ सकारणकरणाधिपाधिप ’ इति अक्षरात्परोहि जीवः, विशेषणशब्दस्य ‘ दिव्योह्यमूत ’ इति श्लोकोक्तार्थमात्रविषयवचनयुक्तं सङ्कोचक्राभावात् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानाभिधानादीनां भूतयोन्यक्षरस्य चिदचिद्व्यावृत्तिपरकत्वाद्दिशेदप्यशब्देन वस्तु युक्तम्, ननु धर्मशब्देन नष्टेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानाभिधानं नाम परमात्मगतो धर्मः । अतस्तादृशं विशेषणजातं द्वितीयसूत्रेण विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रथमेन ‘ रूपोपन्यासाच्च ’ इति सूत्रस्य ‘ पुरुषएवेदम् ’ इति वाक्यप्रतिपन्नसर्वात्मकत्वप्रतिपादनपरत्ववर्णनमनुपपन्नम्, पूर्वसूत्रयोरन्यतरविवक्षितैकविज्ञाननिबन्धनसर्वविज्ञानान्तर्गतत्वात् सर्वात्मभावस्य । नच त्रैलोक्यशरीरहिरण्यगर्भोत्पत्तिः ‘ अग्निर्मूर्धा ’ इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्या अजायतेत्यध्याहारप्रसङ्गात् ‘ एतस्माज्जायते प्राण ’ ‘ तस्मादग्निस्सामिधश्च ’ इति प्रकरणवशादध्याहार इति चेन्न, अवान्तरप्रकरणस्य भूतयोन्यक्षरविषयमहाप्रकरणविरोधे दुर्बलत्वात् सर्वरूपान्तरात्मवालिङ्गवाधितत्वाच्च । तद्धि परमकारणस्य लिङ्गं ननु कार्यस्य नच कारणस्य विग्रहवत्त्वानुपपत्त्या हिरण्यगर्भपरत्वाश्रयण अनन्तर वैश्वानराधिकरण एव त्रैलोक्यशरीरकस्य परमात्मताया उपपादयिष्यमाणत्वात् । यस्यामिरास्यं द्यौर्मूर्धा ’ इत्यादिस्मृतिप्रसिद्धं च भगवतः त्रैलोक्यशरीरस्य यदि कचिद्विरण्यगर्भस्य त्रैलोक्यशरीरत्वमवमभ्यते तदानीमापि परमात्मा मकत्वेनैव तस्मै तथात्ववर्जनीयं ‘ सृष्टिं तत्करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजायते ’ ‘ तवान्तरात्मा मम च येचान्ये देहिसङ्निता ’ इति चतुर्मुखास्य भगवदनुपवेशतदन्तरात्मत्वावगमात् । अतः परमात्मन एव त्रैलोक्यशरीरवम् ‘ अग्निर्मूर्धा ’ इत्यादिना अभिधीयते । अतस्तुत्राणां यथोक्त एवार्थः ॥

## अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरण समाप्तम्

अथ वेदान्तसारः

सू—२२ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः (१.२.२२)

‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तददृश्यम्’ इत्यारभ्य (मु.२.१.२.) ‘यद्भूतयोर्नि परिपश्यन्ति धीराः’ (मु.२.१.४) ‘अक्षरात्परत.पर.’ इत्यादौ प्रधानात् प्रत्यगात्मनश्च अर्थान्तरभूतः परमात्मा प्रतिपाद्यते, ‘यत्सर्वज्ञस्सर्ववित्’ (मु.१.१.९) इत्यादिधर्मोक्तेः ॥

सू—२३ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरी (१.२.२३)

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानरूपविशेषणव्यपदेशाज्जप्रधानम् ‘अक्षरात्परत.पर’ (मु.२.१.२.) इति प्रधानात्परत. प्रत्यगात्मनोऽपि पर इति भेदव्यपदेशात् न प्रत्यगात्मा च । अथवा सामानाधिकरण्येन परतोऽक्षरात् पञ्चविंशकात्पर इति भेदव्यपदेशः ॥

सू—२४ रूपोपन्यासाच्च (१.२.२४)

‘अग्निर्मूर्धा’ (मु.२.१.४) इत्यादिना त्रैलोक्यशरीरोपन्यासाच्च ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

सू—२२ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः (१.२.२२)

आथर्वणे—‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तददृश्यम्’ (मु.१.१.५) इत्यारभ्य ‘यद्भूतयोर्नि परिपश्यन्ति धीराः’ (१.१.६) ‘अक्षरात्परत पर’ (मु.१.२.१) इत्यादौ कि प्रधानपुरुषौ प्रतिपाद्येते? उत परमात्मैवेति सशयः । प्रधानपुरुषाविति पूर्व पक्षः । पृथिव्याद्यचेतनगतदृश्यत्वादीना प्रतिषेधात्तज्जातीयाचेतनं प्रधानमेव भूतयोन्यक्षरमिति प्रतीयते । तथा ‘अक्षरात्परत परः’ (मु.२.१.२) इति च तस्याधिष्ठाता पुरुष एवेति । राद्धान्तस्तु—उत्तरत्र ‘यत्सर्वज्ञस्सर्ववित्’ (मु.१.१.९) इति प्रधानपुरुषयोरसम्भावित सार्वज्ञ्यमभिधाय ‘तन्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते’ (मु.१.१.९) इति सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पाज्जगदुत्पत्तिश्रवणात्पूर्वोक्तमदृश्यत्वादिगुणकभूतयोन्यक्षरम् ‘अक्षरात्परत परः’ (मु.२.१.२) इति च निर्दिष्टं तदक्षरं परं ब्रह्मैवेति विज्ञायते । सूत्रार्थस्तु—अदृश्यत्वादिगुणक. परमात्मा, सर्वज्ञत्वादि तद्वर्णोक्तेः ॥



सू—२३ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ (१-२.२३)

विशिनष्टिहि प्रकरण प्रधानाद्भूतयोन्यक्षरं एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानादिना ? तथा 'अक्षरात्परतः पर' (मु.२.१.२) इति ; अक्षरात् अव्याकृतात् परतोऽवस्थितात्पुरुषात् पर इति पुरुषाच्चास्य भूतयोन्यक्षरस्य भेदो व्यपदिश्यते अतश्च न प्रधानपुरुषौ ; अपितु परमात्मैवात्र निर्दिष्टः ॥

सू—२४ रूपोपन्यासाच्च (१ २.२४)

'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिना समस्तस्य चिदचिदात्मकस्य प्रपञ्चस्य भूतयोन्यक्षररूपत्वेनोपन्यासाच्चा यमदृश्या त्वादिगुणकः परमात्मा ॥

॥ इति वेदान्तदीपे अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ अधिकरणसारावली

दृश्यत्वादेर्निषेधो विकृतिमतिभवत्यक्षरे सन्निकर्षात्  
पञ्चम्युक्ताक्षरं तत्तदवधिकपरः पञ्चविंशोऽस्तु मा भूत् ।  
सर्वज्ञत्वादिदृष्टेः प्रथमसमुदितं त्वक्षरं त्रय शुद्धम्  
पश्चादुक्तं तु जीवादिकमवधितया भेदतस्तत्परोक्तेः ॥

॥ इति अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ वैश्वानराधिकरणम्

गूढार्थसंग्रहः

पूर्वाधिकरणान्तिममूत्रे विषयवाक्ये त्रैलोक्यशरीरकत्वं परमात्मनो रूपमित्युक्तम् । त्रैलोक्यशरीरकत्वस्यैव प्रादेशिकत्वमपि प्रतिपाद्यते । त्रैलोक्यशरीरकत्वं प्रादेशिकत्व च परस्परविरुद्धम् । अतः नेदं परमात्मनो रूपम्, अपितु कल्पितमेव । 'वैश्वानरस्य को न आत्मा किं ज्ञेयं आत्मानमेव नोद्गृहीत्युपक्रमे प्रश्ने बहुर्थसाधारण-  
वैश्वानरशब्दप्रयोगेण प्रतिपद्यतेऽपि तस्यैव निर्देगेन इदं परमात्मनो रूपमिति निर्णयो न सम्भवतीति श्रुतिवाक्येनैव सूच्यते इति शङ्काया वैश्वानराधिकरणं प्रवृत्तम् । अस्मिन्नधिकरणे द्युर्मूर्धत्वादिपरमात्मनो रूपमिति निर्णये

‘रूपोपन्यासाच्च’ इति सूत्रोक्त रूप परमात्मन एवेति सिद्धयति । तेनादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणे अदृश्यत्वादि गुणरूपरमात्मविषया या विद्या सा निर्गुणविद्या, वैश्वानरविद्यातु सगुणविद्येति परसमतार्थोऽपि न श्रुतौ विवक्षित इति सूत्रकृता निर्धारितं भवति ॥

‘तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरक्ष्योपनिशां तद्व्यपदेशात्’ इत्यादौ वैश्वानरविद्याघटक ‘तद्यथेपीकातूलम्’ इति श्रुत्यर्थस्य परविद्यासामान्यविषयत्वं व्यवस्थाप्य तदनन्तराधिकरणेऽप्ययमेवार्थं प्रतिष्ठापितम् । इत्थं च परविद्यासामान्यं प्रायश्चित्तरूपमेव कर्मक्षयफलकं च । तत्र सगुणनिर्गुणविद्याविभागं न सूत्रकृत्सम्मतम् । अत्र सूत्रेषु प्रथमसूत्रे साधारणशब्दो निर्दिष्टः अतएव न देवताभूतश्च इति सूत्रे देवताभूतयोः पूर्वपक्षे प्राप्तिस्सूचिता । ‘शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेतिचेत्’ इत्यत्रान्तःप्रतिष्ठानवत् जाठराग्निरपि पूर्वपक्षे प्राप्तिस्सूच्यते । अतः देवताभूतं तृतीयपरमात्मसाधारणत्वाद्वैश्वानरशब्दस्य अर्थनिर्णयो न सम्भवति । साधारणशब्दप्रयोगानुरोधेनैव ‘शक्यनिर्णयत्वा शक्यनिर्णयत्वं’ कोटिरसशयं भाष्ये प्रतिपादितम् ॥

अथ वैश्वानराधिकरणम्

सू—२१ वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् (१.२.२५)

इदमामनन्ति छन्दोगाः—‘आत्मानमेवेम वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येपि तमेव नो ब्रूहि’ (छुण्डक. २.१.४) इति प्रक्रम्य ‘यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिधिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते’ (छां ५.१८.१) इति । तत्र सन्देहः—किमयं वैश्वानर आत्मा, परमात्मेति शक्यनिर्णयः, उत

अथ वैश्वानराधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

सू—२५ वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् (१.२.२५)

विषयमाह—इदमिति । अध्येपि ‘इक्सरणे’ सरसि उपास्त इत्यर्थः । यद्वा ‘इण्गर्तो’ गत्यर्थानुषङ्गार्थाः अगच्छसीत्यर्थः । यद्यपि ‘कोन आत्मा किं ब्रह्म’ इत्यात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रमादुपसंहारस्य च तदनुगुण्येन नेयत्वान्न सन्देहोदयः तथाऽपि समानप्रकरणे वाजसनेये अग्निवैश्वानरशब्दाभ्यामुपक्रमान् सशय-

गूढार्थसंग्रहः

वैश्वानरः परमात्मा साधारणशब्दस्य विशेषात् । विशेषशब्दार्थ इतरव्यावृत्तिः व्यावर्तकहेतवः अस्यामेवोपनिषदि वर्तन्ते इति तात्पर्येण तदुक्तम् । कैकयेन यजे ऋत्विग्वरणार्थं प्रार्थने कृतेऽपि ध्याशाविरह-सूचनमुत्प्रेतं ब्रह्मज्ञानं प्रशस्त्यैव करणेन मुमुक्षुत्वप्रपणना निवृत्तम् । तेन मुमुक्षुपृच्छ्यमानत्वं ‘को न आत्मा किं ब्रह्म’

## श्रीभाष्यम्

न इति । किंप्राप्तम् ? अशक्यनिर्णय इति । कुतः ? वैश्वानरशब्दस्य चतुर्थ्यर्थेषु प्रयोगदर्शनात् जाठराग्नौ तावत् 'अयमग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैव घोषोभवति यावदेतत्कर्णावपिधाय शृणोति सयदोत्कमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति' (बृ. ७.९.१.) इति महाभूततृतीये च 'त्रिधस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानर केतुमन्हामकृष्वन्' (ऋ.मं १०.८८.१२) इति ; देवतायांच 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हिकं भुवनानामभिप्रीः' (यजु. का. १.५.११) इति । परमात्मनि च 'तदात्मन्येव हृदयेऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्' (अष्टक. ३. प्रश्न ११. अनु. ८) इति, 'स एष वैश्वानरो त्रिधरूपः प्राणोऽग्निरुदयते' (प्रश्न. १. ७) इति च । वाक्योपक्रमादिपूपलभ्यमानान्यपि लिङ्गानि सर्वानुगुणतया नेतुं शक्यानीति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

साधारणशब्दस्य सूत्रस्थत्वनिग्रन्धनं । ननु, प्रयोगसाधारण्यहि वैश्वानरशब्दस्य साधारणत्व अक्षरशब्दोऽपिहि प्रकृतिपुरुषेश्वरसाधारणः प्रयुज्यते 'अक्षरात्परतःपरः' 'क्षर प्रधानममृताक्षर हरः' 'यया तदक्षरमविगम्यते' इत्यादि । ततश्च 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' इत्यापि शक्यनिर्णयत्वाशक्यनिर्णयत्वे सदेहविषयतया वक्तव्ये तथा च न कृत, किंतु प्रधानं वा जीवो वा परमात्मा वेति विचार कृत इहापि तथैव सशयो वक्तव्य इति, वम् तत्रहि प्रयोगसाध्यातिरिक्त प्रकृतिपुरुषयोरन्यतरविषयत्वनिर्धारक पूर्वपक्षहेतुर्विद्यते । अतस्तथा सदेहो उपपद्यते, इहतु प्रयोगसाध्यास्यैव पूर्वपक्षहेतुत्वात्तस्य च जाठरभूततृतीयदेवतास्वन्यतम निर्धारकत्वाभावात्तस्य परमात्मलिङ्गादर्शने तद्विषयत्वनिर्णयप्रतिबन्धनत्वात् त्रेताकल्पनादीनामनिर्धारकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च, शक्यनिर्णयत्वा शक्यनिर्णयत्वे सशयविषयतयोक्ते ॥

## गूढार्थमग्रहः

इति प्रश्ने आत्मब्रह्मणोरैक्यं भेदो वा इत्यर्थनिर्णयोऽपि प्रष्टुणा नास्तीति सूच्यते । 'यस्त्वेतं प्रादेशमात्रमभिनिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्त' इति केकयप्रतिवचने ब्रह्मशब्दस्याने वैश्वानरशब्दप्रयोगेण ब्रह्मशब्दसामानाधिकरण्येन निर्देशेनच वैश्वानरशब्दार्थं ब्रह्म । स एवात्मा इत्यर्थं सिद्ध । तेन ब्रह्मशब्दोऽपि एको हेतुः, आत्मान्शब्दार्थ-सर्वान्तर्यामित्वस्यैव 'अग्निर्मूर्धा' इति श्रुतौ 'एष सर्गमूतान्तरात्मा' इति मुण्डके स्पष्टमुक्तस्य आत्मशब्दे विवक्षिततया द्युमूर्धत्वाद्युक्तसर्गमूतान्तर्यामित्वविशदीकरणार्थत्वस्य अत्रात्मशब्दे विवक्षितत्वेन सर्वान्तर्यामित्वमेको हेतुः । एतज्ज्ञानस्य 'तद्यथेपीकातूलम्' इत्यादिना सर्गपापदाहकत्वमुत्तरत्र वक्ष्यत इति एते हेतवः । एतैर्हेतुभिः वैश्वानरशब्दस्य साधारण्यमपि परमात्मेतरगोधकत्वव्यावृत्त्या वैश्वानर परमात्मा इति सूत्रार्थः ।

## श्रीभाष्यम्

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्—वैश्वानरः परमात्मा, कुतः साधारणशब्दविशेषात् । विशेष्यत इति विशेषः

साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वादित्यर्थः । तथा हि 'औपमन्यवाद्यः पञ्चमे महर्षयरममेत्य को न आत्मा किं ब्रह्म' (छां. ५. १. १) इति निचार्य 'उद्दालको ईन भगवन्तोऽयमारुणिस्मम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम' (५. १. २) इत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानमवगम्य तमभ्याजग्मुः । स चोद्दालक एतान् वैश्वानरात्मविज्ञानमिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृत्स्नवेदितुं मत्वा 'तान् होवाचाश्चपतिर्न भगवन्तोऽय केरुयस्मम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम' (छां. ५. १. ४) इति । ते चोद्दालकपुष्टास्तमश्चपतिमभ्याजग्मुः । स च तान्महर्षीन् यथाहं पृथगभ्यर्च्य 'न मे स्तेनः' (छां. ५. १. ५) इत्यादिना 'यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि' (५. १. ५) इत्यन्तेनात्मनो व्रतस्यतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव तत्रविद्धिरपि प्रतिपिद्धपरिहरणीयतां निहितकर्मवर्तव्यतां च प्रज्ञाप्य 'यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तारद्भगवद्भयो दाम्यामि वमन्तु भवन्तः' (छां. ५. १. ५) इत्युच्यते । ते च मुमुक्षवो वैश्वानरमात्मान

## श्रुतप्रकाशिका

न्येयमिति सशयलक्षणाप्रामाण्य पूर्वपक्षित स्यात् तच्चायुक्त, प्रथमे काण्डे वेदप्रामाण्यस्य समर्थितत्वमुप जीयारब्धत्वाच्छारीरकस्य । अतोऽर्थविशेषपरत्वं पूर्वपक्षीकर्तव्यम् नत्वशक्यनिर्णयत्वम् । नैवम् । चतुर्ध्वर्थेष्वन्यत मानिर्धारणेऽपि मर्यादा कस्मिंश्चिदर्थे प्रमाणमेवेदमिति सामान्यतः प्रामाण्यनिश्चयस्थानपोद्यत्वात् । तद्धि नित्यनिर्दोषा वाक्यतया स्थापितम्—'त्रिविशब्दस्य मन्त्रत्वे स्वभावस्सात्' इति न्यायेन प्रामाण्यसिद्धिः । किमयं वैश्वानरात्मा परमात्मेति शक्यनिर्णयः ? उत, तदर्थमात्मब्रह्मशब्दोपक्रमो वैश्वानरस्य ब्रह्मभावमवगमयति नेति ? तदर्थमग्निशब्द सामानाधिकरण्य, त्रेताकल्पात् प्राणाहुत्याधारकत्वादि, किं वैश्वानरस्य ब्रह्मभावविरोधानि उत नेति ? किं 'एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इत्यग्निशब्दोऽग्निमात्रपरः, उतामन्त्रवक्ष्यपरमात्मपरः इति । अग्निशब्दस्याग्निमात्रपरत्वे अग्नि शब्दमामानाधिकरण्यादीनां ब्रह्मभावविरोधितया आत्मब्रह्मशब्दोपक्रमस्यापि ब्रह्मभावावगमनत्वाभावेनाशक्यनिर्णय इति पूर्वपक्षः । अग्निशब्दस्य परमात्मपरत्वे अग्निशब्दसामानाधिकरण्यादीनां ब्रह्मभावविरोधितया आत्मब्रह्मशब्दोपक्रमस्य ब्रह्मभावावगमनत्वोपपत्तेर्वैश्वानर परमात्मेति शक्यनिर्णय इति राद्धान्तः । वैश्वानरशब्दस्य चतुर्ध्वर्थेष्विति । जीवपर- साधारणात्मशब्दसद्भावेऽप्यात्मशब्दस्य वैश्वानरमात्मानमिति वैश्वानरशब्दविशेषितत्वावैश्वानरशब्दस्य च जीवमात्रे



## श्रीभाष्यम्

न इति । किंप्राप्तम् ? अशक्यनिर्णय इति । कुतः ? वैश्वानरशब्दस्य चतुर्ष्वर्थेषु प्रयोगदर्शनात् जाठराग्नौ तावत् 'अयमग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषोभवति यावदेतत्कर्णावपिधाय शृणोति सयदोत्क्रामिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति' (वृ. ७.९.१.) इति महाभूततृतीये च 'निश्वसा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानर केतुमन्हामकृष्वन्' (ऋ.सं १०.८८.१२) इति ; देवतायांच 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा द्विकं भुवनानामभिथीः' (यजु का.१.५.११) इति । परमात्मनि च 'तदात्मन्येव हृदग्येऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्' (अष्टक ३. प्रश्न ११.अनु.८) इति, 'स एष वैश्वानरो निश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते' (प्रश्न. ७) इति च । वाक्योपक्रमादिपुपलभ्यमानान्यपि लिङ्गानि सर्वानुगुणतया नेतुं शक्यानीति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

साधारणशब्दस्य सूत्रस्थित्वनिबन्धनं । ननु, प्रयोगसाधारण्यहि वैश्वानरशब्दस्य साधारणत्वं अक्षरशब्दोऽपिहि प्रकृतिपुरुषेश्वरसाधारणं प्रयुज्यते 'अक्षरात्परतःपरः' 'क्षर प्रधानममृताक्षर हरः' 'यया तदक्षरमधि गम्यते' इत्यादि । तन्मर्थ 'अक्षरममृरान्तधृतेः' इत्यादिपि शक्यनिर्णयत्वाशक्यनिर्णयत्वे मदेहविषयतया वक्तव्ये तथा च न कृत, किंतु प्रधान वा जीवो वा परमात्मा वति विचार कृत इहापि तथैव सशयो वक्तव्य इति, वम् तत्रहि प्रयोगसाधाप्यातिरिक्त प्रकृतिपुरुषयोरन्यतरविषयत्वनिर्धारक पूर्वपक्षहेतुर्विद्यते । अतस्तथा सदेहो उपपद्यते, इहतु प्रयोगसाधाप्यस्यैव पूर्वपक्षहेतुत्वात्तस्य च जाठरभूततृतीयदेवतास्वन्यतम निर्धारकत्वाभावात्तस्य परमात्मलिङ्गादर्शने तद्विषयत्वनिर्णयप्रतिबन्धकत्वात् त्रेताऋत्पनादीनामनिर्धारकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च, शक्यनिर्णयत्वा शक्यनिर्णयत्वे सशयविषयतयोक्ते ॥

## गूढार्थमग्रहः

इति प्रश्ने आत्मब्रह्मणोरैक्य भेदो वा इत्यर्थनिर्णयोऽपि प्राप्नुया नास्तीति सूच्यते । 'यस्त्वेतं प्रादेशमात्रममि विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्त' इति केरुयप्रनिवचने ब्रह्मशब्दस्थाने वैश्वानरशब्दप्रयोगेण ब्रह्मशब्दसामानाधिकरण्येन निर्देशोऽच वैश्वानरशब्दार्थं ब्रह्म । स एवात्मा इत्यर्थं सिद्ध । तेन ब्रह्मशब्दोऽपि एको हेतुः, आत्मानशब्दार्थ-सर्वान्तर्यामित्वस्यैव 'अग्निर्मूर्धा' इति श्रुतौ 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति मुण्डके स्पष्टमुक्तस्य आत्मशब्दे विवक्षिततया द्युमूर्धत्वाद्युक्तसर्वभूतान्तर्यामित्वविशदीकरणार्थत्वस्य अत्रात्मशब्दे विवक्षितत्वेन सर्वान्तर्यामित्वमेको हेतुः । एतज्ज्ञानस्य 'तद्यथेपीकातूलम्' इत्यादिना सर्वपापद्राहकत्वमुत्तरत्र वक्ष्यत इति एते हेतवः । एतैर्हेतुमि वैश्वानरशब्दस्य साधारण्यमपि परमात्मेतरमोक्षकत्वव्यावृत्त्या वैश्वानर परमात्मा इति सूत्रार्थः ॥

## श्रीभाष्यम्

एव प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्—वैश्वानरः परमात्मा, कुतः  
साधारणशब्दविशेषात्। विशेष्यत इति विशेषः

साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वादित्यर्थः। तथा हि  
'औपमन्यवादयः पञ्चमे महर्षयस्समेत्य को न आत्मा किं ब्रह्म' (छां. ५. १. १) इतिविचार्य  
'उद्दालको ऽनै भगवन्तोऽयमारुणिस्मम्प्रतीममात्मान वैश्वानरमध्येति त हन्ताभ्यागच्छाम  
(५. १. २) इत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानमवगम्य तमभ्याजग्मुः। स चोद्दालक  
एतान् वैश्वानरात्मनिज्ञामूनभिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृत्स्नवेदित्वा मत्वा 'तान् होवाचाश्मपतिर्नि  
भगवन्तोऽय केकयस्सम्प्रतीममात्मान वैश्वानरमध्येति त हन्ताभ्यागच्छाम' (छा. ५. १. ४)  
इति। तेचोद्दालकरूपेणैवमश्वपतिमभ्याजग्मुः। स च तान्महर्षीन् यथाहं पृथगभ्यर्च्य  
'न म स्तेनः' (छां. ५. १. ५) इत्यादिना 'यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि' (५. १. ५)  
इत्यन्तेनात्मनो प्रतस्थतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव प्रलविद्धिरपि प्रतिपिद्धपरिहरणीयतां  
निहितकर्मकर्तव्यता च प्रज्ञाप्य 'यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तारुद्रगवद्भयो  
दास्यामि वसन्तु भवन्तः' (छा. ५. १. ५) इत्युच्यते। ते च मुमुक्षवो वैश्वानरमात्मानं

## श्रुतप्रकाशिका

नन्वेवमिति सशयलक्षणाप्रामाण्य पूर्वपक्षित स्यात् तच्चायुक्त, प्रथमे काण्डे वेदप्रामाण्यस्य समर्थितत्वमुप  
जीयारवत्त्वाच्छारीरकस्य। अतोऽर्थविशेषपरत्वं पूर्वपक्षीकृतं यम् नत्वशक्यनिर्णयत्वम्। नैवम्। चतुर्ष्वर्थेष्वन्यत  
मानिर्धारणेऽपि सर्वथा कस्मिंश्चिदर्थे प्रमाणमेवेदमिति सामान्यतः प्रामाण्यनिश्चयस्यानपोद्यत्वात्। तद्धि नित्यनिर्दोषा  
वाक्यतया स्थापितम्—'त्रिविशब्दस्य मन्त्रत्वे स्वभावस्स्यात्' इति न्यायेन प्रामाण्यमिद्धि। किमयं वैश्वानरात्मा  
परमात्मेति शक्यनिर्णयः? उत, तदर्थमात्मत्रयशब्दोपक्रमो वैश्वानरस्य ब्रह्मभावमवगमयति नेति? तदथमग्निशब्द  
सामानाधिकरण्यं, त्रेताकल्पेन प्राणाहुत्याधारकत्वादि, किं वैश्वानरस्य ब्रह्मभावविरोधीति उत नेति? किं  
'एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इत्यग्निशब्दोऽग्निमात्रपरः, उताग्रववस्थपरमात्मपरः? इति। अग्निशब्दस्याग्निमात्रपरत्वे अग्नि  
शब्दसामानाधिकरण्यादीना ब्रह्मभावविरोधिनया आत्मत्रयशब्दोपक्रमस्यापि ब्रह्मभावावगमकत्वाभावेनाशक्यनिर्णय इति  
पूर्वपक्षः। अग्निशब्दस्य परमात्मपरत्वे अग्निशब्दसामानाधिकरण्यादीना ब्रह्मभावविरोधितया आत्मत्रयशब्दोपक्रमस्य  
ब्रह्मभावावगमकत्वोपपत्तेर्वैश्वानर परमात्मेति शक्यनिर्णय इति सिद्धान्तः। वैश्वानरशब्दस्य चतुर्ष्वर्थेष्विति। जीवपर-  
साधारणात्मशब्दसद्भावेऽप्यात्मशब्दस्य वैश्वानरमात्मानमिति वैश्वानरशब्दविशेषितत्वावैश्वानरशब्दस्य च जीवमात्रे

श्रीभाष्यम्

जिज्ञासमानास्तमेवात्मानमस्माकं ब्रह्मीत्यवोचन् तदेवेदं 'को न आत्मा किं ब्रह्म' (५.११.२) इति जीवात्मनामात्मभूतं ब्रह्म जिज्ञासमानैस्तज्ज्ञमन्विच्छद्भिर्वैश्वानरात्मज्ञसकाशमागम्य पृच्छयमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते, आत्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम्य पश्चात्सर्वत्रात्मवैश्वानरशब्दाभ्यां व्यवहाराच्च ब्रह्मशब्दस्थाने निर्दिश्यमानो वैश्वानरशब्दो ब्रह्मैवाभिधत्त इति विज्ञायते । किञ्च 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति' (५.१८.१) 'तद्यथेपीका तूलममौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (५.१४.३) इति वक्ष्यमाणं वैश्वानरात्मविज्ञानफलं वैश्वानरात्मानं परं ब्रह्मेति ज्ञापयति ॥

इतश्च वैश्वानरः परमात्मा—

सू. २६—सूर्यमाणमनुमानंस्यादिति (१-२-२६)

धुप्रमृति पृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूपमिहोपदिश्यते । तच्च श्रुतिस्मृतिषु परमपुरुषरूपतया प्रसिद्धम् । तदिह तदेवेति स्मर्यमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमपुरुषत्वे अनुमानं लिङ्गमित्यर्थः ; इतिशब्दः प्रकारवचनः ; इत्थं भूतं रूपं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात् । श्रुतिस्मृतिषु हि परमपुरुषस्येत्यं रूपंप्रसिद्धम् । यथा अथर्वणे अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्चोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्रमस्य पद्भ्यां पृथिवीत्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मु.१.१४) इति । अग्निरिह द्युलोकः, 'अपी वै लोकोऽग्निः' (घृ.८.२.९) इति श्रुतेः । स्मरन्ति च मुनयः 'द्यां मूर्धानं यस्य धिवा वदन्ति त्वं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे । दिशश्चोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता' इति, 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा सं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशश्चोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः' (भारते शान्तिपर्व राजधर्म) इति च । इह च धु प्रमृतयो वैश्वानरस्य मूर्धाधवपक्षेऽन्येनोच्यन्ते । तथा हि तैत्तिरीयमन्यवप्रमृतिभिर्महर्षिभिः 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं

## श्रुतप्रकाशिका

श्रुतप्रकाशिका  
प्रयोगमात्रादिदृष्टं जीवमिष्यन्तश्च न संभवति, न हि गोशब्दविशेषितस्य चतुष्पाच्छब्दस्याभादिपरत्वमज्ञानमत्र इत्य-  
विप्राप्तेः परमपितृत्वमुक्तिः । विश्वम्मा अतिमिति विश्वस्यै भुवनाय विश्वभुवनोपकारार्थं वैधानरं नानाभूतवृत्तिम् ।  
सम्भक्तित्यविभागेनाह- तत्र सन्देह इति । शक्यनिर्णयाशक्यनिर्णयन्ते सन्देहगिरसीदृते । तत्र  
अन्तां फेत्तु आदित्यम् अदृश्यम् इत्यर्थः । वैधानरस्येति । मुमतिः शोभनमतिः मुमती स्वाम तद्विषयभूतस्याम ।  
अमिता धीर्यस्य गोऽभिदधीः 'श्रियमिच्छेद्भूताशनात्' इत्युक्तत्वात् । हिकमित्यव्ययम् । प्रयोगमात्रमव्यय-  
रिक्तम् । वैधानिकमनादिप्राप्तमज्ञानमिष्यन्तं न प्रतीयमानेषु कथं शक्यनिर्णयत्वात्तदभासमन्तेति हित्वाह—

### श्रीभाष्यम्

सम्मत्यप्येति तमेवनो ब्रूहि' (छां.५.११.६) इति पृष्टः केकयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षुर्विशेषप्रश्नान्यथाऽनुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः किञ्चित् 'ज्ञातं किञ्चिदज्ञातमिति विज्ञाय ज्ञाताज्ञातांशुभृत्सया तानेकैकं पप्रच्छ । तत्र 'औपमन्यवकं त्वमात्मानमुपास्स' (५.१८.१) इति पृष्टे 'दिवमेव भगवो राजन् (५.१२.१) इति तेन चोक्ते दिवि तस्य पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिनिवर्तयन्वैश्वानरस्य द्यौर्मूर्धेति चोपदिशंस्तस्या वैश्वानरांशभृताया दिवः सुतेजा इति गुणनामधेयं प्राचिरूपत् । एवं सत्ययज्ञादिभिरादित्यवाग्वाकाद्यापृथिवीनामेकैकेनैकैकमुपास्यमानतया कथितानां विश्वरूपः पृथग्वर्मा बहुलो रयिः इत्येकैकगुणनामधेयानि वैश्वानरात्मनश्चक्षुः प्राणसन्देहवस्तिपादावयवत्वं चोपदिष्टम् । सन्देहो मध्यकाय उच्यते । अत एवंभूतद्वयमूर्धत्वादि-विशिष्टं परमपुरुषस्यैव रूपमिति वैश्वानरः परमपुरुष एव ।

पुनरप्यनिर्णयमेवाशङ्क्य परिहरति —

सू—२७ शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्नतथादृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते (१.२.२७)

### श्रुतप्रकाशिका

वाक्योपक्रमेति । कालानिर्णयं तेनारूपं सर्वत्र सम्यगिति । ब्रह्माग्निशब्दौ मिथः प्रतिबन्धकत्वादिनिर्धारकौ । अत्रादनारूपं फलं च सर्वत्रोपपन्नमित्यभिप्रायः ॥

एवं प्राप्तेइति । 'साधारणशब्दविशेषात्' इत्येतद्व्याचष्टे विशेष्यतइति विशेषइति । नेदं विशेषशब्दस्य प्रत्ययार्थव्याख्यानम् अपितु 'साधारणशब्दविशेषात्' इति समासान्तर्गतपष्ठीव्याख्यानम् । कर्मणि पष्ठी नतु कर्तरीत्यर्थः । विशेष इति कृदन्तं पदं कर्मार्थपष्ठीनिमित्तमित्यभिप्रायेण विशेषपदोपादानम् । यद्वा विशेष्यत इति विशेष इति घञ् कर्मार्थतामाह—साधारण शब्द एव विशेष इति कर्मधारयः । किं केन विशेष्यत इत्यत्राह—

### गूढार्थसङ्ग्रहः

'सर्गमाणमनुमानंस्यादिति' अत्र सर्गमाणमिति नपुंसकनिर्देशेन 'रूपोपन्यासाच्च' इति सूत्रोक्तं रूपं मेव विवक्षितं इति सूच्यते । अत्र पूर्वाधिकरणे मुण्डकश्रुतिविमक्षा नमीनानामपि सम्मता । अत्र छान्दोग्यस्यैश्वानरविद्याविवक्षितेति च । एवं स्थिते पूर्वाधिकरणे रूपं स्वमवर्णं विवक्षितम् । अत्रतु 'अह वैश्वानरो भूवा' इत्युक्त्यैश्वानरत्वमित्युक्तिः नलगाति । 'स्मृतेश्च' इति लघुसाधारणेनैव तदर्थप्राप्तिसम्भवात् ।



## श्रीभाष्यम्

यदुक्तं वैश्वानरः परमात्मेति निश्चीयत इति, तन्न 'शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च' जाठरस्याप्यग्नेरिह प्रतीयमानत्वात् । शब्दस्तावदाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे 'स एषोऽग्निर्वैश्वा-

## श्रुतप्रकाशिका

सू—२६ स्यर्पमाणमनुमानं स्यादिति (१.२.२६)

साधारणस्येति । धर्मशब्दो लिङ्गपरः विशेष्यमाणत्वादिति फलितार्थ उक्तः, नामिधानिकः के पुनरसाधारणः धर्म इत्यत्राह—तथाहीति । 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति किंशब्दद्वयमात्मत्वब्रह्मत्वयोर्द्वयोरपि ज्ञातव्यत्वमि-  
प्रायम् । आत्मब्रह्मशब्दवाच्यधर्मैकत्वानेकत्वजिज्ञासया वा किं शब्दद्वयप्रयोगः । विषयवाक्ये 'न मे स्तेनः' इत्यादेः प्रयोजनमाह—आत्मनइति । फलितानि साधकलिङ्गानि दर्शयति तदेवमिति मुमुक्षुभिः पृच्छ्यमानत्वमात्मत्वं ब्रह्मत्वं ब्रह्मशब्दस्थाने वैश्वानरशब्दप्रयोगः फलविशेषनिर्देशश्च वैश्वानरस्य परमात्मत्वसाधकलिङ्गानीत्यर्थः । द्युमूर्धत्वादि-  
विशिष्टरूपधर्मस्यास्मिन्सूत्रेऽनुक्तिस्तस्यानन्तरसूत्रोक्तत्वात् ॥

स्यर्पमाणशब्दस्य विशेष्यं दर्शयन् सूत्रं व्याचष्टे द्युप्रभृतीति । लिङ्गमित्यर्थ इति । अनुमानशब्दः करणार्थं ल्युङन्तः 'श्रुतिलिङ्गवाक्येत्यादिसूत्रपठितलिङ्गपरश्चेति भावः । अनुमानशब्देन हेतुत्वसिद्धेरिति शब्दवैयर्थ्य-  
मित्यत्राह—इतिशब्दइति । इतिशब्दार्थेनान्वितं वाक्यार्थमाह—इत्यमिति । परमपुरुषरूपत्वेन प्रसिद्धिं दर्शयति श्रुतीति । परमात्मपरत्वेन साधितत्वात् 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिवाक्यमुदाहृतम् । इह द्यौर्मूर्धत्वेन श्रूयते उदाहृतवाक्ये 'अग्निर्मूर्धा' इति । तत्कथमैकार्थ्यमित्यत्राह—अग्निरिहेति । परमात्मनस्तथाविधरूपवत्त्वे स्मृतिमुदाहरति सरन्तिचेति । 'यस्याग्निरास्यम्' इत्यत्राग्निशब्दः प्रसिद्धाग्निपरः, द्यौर्मूर्धा इति पृथगुक्तेः श्रुतिस्मृतिष्वभिज्ञातस्य रूपस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वं दर्शयति इहचेति । नन्वत्र 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादाविव द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तानां मूर्धादिपादान्तावयवत्वेन संभूयोपदेशो न दृश्यत इति शङ्कायां विप्रकीर्णप्रतिपादनहेतुमाह—तथाहीति । विशेष प्रश्नान्यथाऽनुपपत्त्येति । नह्यात्मब्रह्मादिशब्दैः प्रश्नःकृतः वैश्वानरशब्देनहि प्रश्नः । अनेन द्युप्रभृतीनाम-  
पूर्वनामनिर्देशहेतुश्चोक्तो भवति अज्ञाताशः सर्वोऽप्युपदेष्टव्यः । गुणनामधेयानीति । द्यौर्नक्षत्रादितेजस्विनीति सुतेजाः प्रकाशकस्यादित्य विश्वं रूपं प्रकाश्यं, तस्मात् आदित्यो विश्वरूपः, वायुर्वि विधगतिस्वभावत्वात् पृथग्वर्त्मा आकाशो भूतान्तरेभ्यो महत्त्वात् बहुलः आपो वेगवत्त्वाद्रयिः रयोहि वेगः इकारान्तत्वं छान्दसं रैरूपघनप्राप्तिहेतु-  
त्वाद्रयिः । पृथिवीप्राप्याधारत्वात् प्रतिष्ठेति भावः । श्रुतिस्थं सन्देहशब्दं व्याचष्टे सन्देहो मध्यकायइति । मध्यं हि पूर्वापराशसाधारण्यात् कुत्रानुप्रविष्टमिति सन्दिह्यते, एतज्ज्ञापयितुं मध्यकाय इति व्याख्यातं न तु नाभिरिति, गुणनामधेयानीत्यनेनान्यदपि प्रयोजनं फलितं, न केवलं नामधेयानि, अपितु गुणनामधेयानि । तच्चद्रुणकृत्यं मूर्धादित्वेनोपदिष्टानां द्युप्रभृतीनामनुसन्धेयमित्यर्थः ॥

## श्रीभाष्यम्

नरः ' [प्रश्न १.७] इति वैश्वानरसमानाधिकरणतयाऽग्निरिति श्रूयते ; अस्मिन्प्रकरणे च ' हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ' (छां. ५.१८.२) इति वैश्वानरस्य हृदयादिस्थ-  
स्याग्नित्रयकल्पनं क्रियते । ' तद्यद्भूतं प्रथममागच्छेत्तद्वोमीयं स यांप्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां

## श्रुतप्रकाशिका

अत्रायमभिप्रायः वाजसनेयके मूर्धभूतायादिवोऽधिष्ठानत्वमुक्तं नतु सुतेजस्त्वम् । चक्षुर्भूतस्यादित्यस्य  
सुतेजस्त्वमुक्तं नतु विश्वरूपत्वं । न चैतावता विद्याभेदः तत्तन्नामधेयोपस्थापितगुणेष्वेव तात्पर्यसंभवात् । अतीत्य

## गूढार्थसंग्रहः

अतः ' सूर्यमाणम् ' इत्यत्र मुण्डकश्रुतौ प्रागुक्तं रूपमस्या विद्याया द्युमूर्धत्वादेरुक्त्या स्मृतिपथमारोहति । पूर्व-  
ज्ञातार्थस्यैवैतच्छ्रुतौ बोधनेन सूर्यमाणमित्युक्तिः पूर्व द्युमूर्धत्वादेः ज्ञातत्वात् ज्ञातार्थबोधिकेयं श्रुतिरिति तात्पर्येण  
सूर्यमाणमित्युक्तम् । अत्र प्रत्यभिज्ञायमानम् इति भाष्ये उक्तम्, अत्रापि तद्वोधकशब्दप्रमाणसद्भावात्  
संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । अस्यामुपनिषदि द्युमूर्धत्वाद्यभावेऽपि ययाकयाचनविधया प्रागुक्तश्रुत्यर्थस्मृतौ सा  
स्मृतिमात्रमेव स्यात् नतथाऽत्र वर्तते अपितु मूर्धत्वादिवोधकशब्द एव वर्तते ' तदेवेदम् ' इति ' प्रत्यभिज्ञायमानम् '  
इति भाष्यम् तत्र तच्छब्दे पूर्वसूत्रोक्तार्थस्मृतिः इदम् इत्यनेन दिवः मूर्धत्वं तच्छ्रुतिप्रतिपाद्यं विवक्षितम् । अतः  
संस्कारशब्द उभयजन्यज्ञानस्यापि संस्कारजन्यत्वानपायात् नानुपपत्तिः ॥

सिद्धान्ते प्रत्यभिज्ञा एकं ज्ञानं विभिन्नं वेत्यन्यदेतत् । अतश्च पूर्वश्रुत्युक्तमत्र प्रत्यभिज्ञायत इत्यर्थः ।  
सूत्रद्वयेन श्रिद्धान्तयुक्तिः प्रदर्शिता । पूर्वपक्षोक्तानुपपत्तीना स्फुट परिहार प्रदर्शितः । तदुक्तयोऽपि निन्दिताः ।  
इदानीं पूर्वपक्षिसम्मतश्रुतीना समाधानमाह—' शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा दृष्ट्युपदेशाद-  
सम्भवात्पुरुषमपिचैनमधीयते इति । शब्दशब्दः साधारणशब्द पर एव । आदिशब्दार्थः अग्नेस्त्रेधा-  
परिकल्पनप्राणाहुत्याधारत्वादिः । अन्तः प्रतिष्ठानान्तहेतुत्रयं जाठराग्निपरिग्रहे विशेषहेतुरूप भवतीति तात्पर्येण  
साधारणशब्दः जाठराग्निसाधारणशब्द एव भाष्यादावुपात्तः । तथा दृष्ट्युपदेशात् इति पूर्वपक्षे जाठराग्निरेवात्र  
विवक्षितः नतु परमात्मा इत्यर्थस्यैव विवक्षितत्वेन तथा दृष्ट्युपदेशेन प्रागुक्तहेतव उपपद्यन्त इति ' तथा '  
इत्यस्य जाठराग्निप्रकारेणेत्यर्थः । सर्वभूतान्तरात्मन्विशदीकरणार्थतया दिवं प्रस्तुत्य दिवो मूर्धेत्याद्युक्तेः  
सर्वभूतान्तरात्मत्वे जाठराग्न्यन्तर्यामित्वमपि वर्तत इत्यभिप्रायस्य अग्न्यन्तर्यामिपरतया

## श्रीभाष्यम्

जुहुयात्प्राणायस्वाहा’ (छां. ५.१९.१) इत्यादिना प्राणाहुत्याधारत्वं च वैश्वानरस्यावगम्यते ।  
तथा वैश्वानरस्यास्मिन्पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठानं वाजसनेयिनस्समामनन्ति ‘स योऽतमेवमग्निं  
वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद’ (५.१९.१) इति । अतोऽग्नि-

## श्रुतप्रकाशिका

स्थितत्वं हि दिवोऽधिष्ठानत्वं तच्च सर्वोत्कृष्टत्वं तच्च नक्षत्रादितेजश्शालित्वरूपमित्येकगुणत्वेन फलितमित्यविरोधः ।  
आदित्यस्य च सुतेजस्त्वफलरूपं विश्वरूपत्वं तद्धि विश्वनिरूपकत्वं विश्वप्रकाशकत्वम् । अतोऽनर्थान्तरतया फलितं  
अतो न विद्याभेद इति, एतदभिप्रायेण गुणनामधेयानीत्युक्तम् । परमात्मनस्त्रैलोक्यशरीरत्वविषयं ‘द्यां मूर्धानम्’  
इत्यादिस्मृतिवचनं स्वमूलत्वेन वैश्वानरविद्यायाः परमात्मविषयत्वं कल्पयतीति व्याख्यानमनुपपन्नम्, स्मृतिवचनं हि  
स्वमूलत्वेन श्रुतिं कल्पयति नतु वैश्वानरविद्यामेव कल्पयितुं प्रभवति । श्रुत्यन्तरसम्भवेन कल्पकस्यान्यथासिद्धत्वात्  
अस्ति हि ‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ’ इत्यादिश्रुतिस्तन्मूलतया समाज्यमाना तस्मादाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामैकार्थ्यं  
प्रत्यभिज्ञानमेवास्मिन् सूत्रे हेतुतया विवक्षितम् । स्मर्यमाणशब्दश्च प्रत्यभिज्ञायमानोपस्थापकः तर्कपादे  
‘अनुस्मृतेश्च’ इत्यत्रानुस्मृतिशब्दस्य प्रत्यभिज्ञापरत्वेन सूत्रकारैः प्रयुक्तत्वात् ।

उत्तरसूत्रमवतारयति पुनरपीति । अर्थचतुष्टये प्रयोगसाधारण्यादनिर्णयः पूर्वमुक्तः । इदानींतु विशेष-  
धर्माणां ब्रह्मशब्दादीनां तत्तदनु रूपविशेषकाच्छब्दादेः प्रतिरोधादनिर्णयो विवक्षितः ।

सू—२७ शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि  
चैनमधीयते (१.२.२७)

नेतिपदं व्याचष्टे यदुक्तमित्यादिना । श्रुत्यन्तरस्थहेन्दोरुभयोर्दूरस्थत्वाच्चौ कण्ठोक्तौ एतत्प्रकरणस्थमग्नित्रयकल्पनं  
प्राणाहुत्याधारत्वं चादिशब्दोपात्तं सन्निकृष्टत्वात् । एतदभिप्रायेण वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे वाजसनेयिनं  
स्समामनन्तीति चोक्तं, अस्मिन्प्रकरणे चेति । चशब्देन वाजिनामप्यस्तीति सूचितम् अग्नित्रयकल्पनं  
क्रियत इति । अग्नित्रयकल्पनेन होमाधारत्वमात्रं फलितं होमाधारत्वविशेषमाह—तद्यद्भक्तमिति ।  
अग्निशब्दनिर्देशमहिमन्तः प्रतिष्ठानं विवक्षितम् ; अन्तःप्रतिष्ठत्वमात्रं हि परस्यापि संभवति  
‘स योऽहं तमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद’ इति हि श्रूयते, उक्त-  
हेत्यनुक्रमेण पूर्वपक्षत्वेन शङ्कितमर्थमुपसहरति अत इति । ‘शब्दादिभ्यः’ इत्यादिमूलकं जाठरशङ्काभावरम् ।

१  
श्राभाष्यम्

पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिन ‘ स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष ’ इति, नहि जाठरस्य केवलस्य पुरुषत्व ? परमा मन एव हि निरुपाधिक पुरुषत्वम् यथा ‘ सहस्रशीर्षा पुरुष पुरुष एवेदं सर्वम् ’ (पुरुषसू.) इत्यादौ ॥

सू-२८ अत एव न देवताभूतं च (१.२.२८)

श्रुतप्रमागिका

इत्यभिप्रायेणाह-पुरुषमपिचेति । पुरुषत्व पुरुषशब्दवाच्यम् निरुपाधिकमिति जीवस्य पुरुषशब्दवाच्यं च ‘ द्वाविमौ पुरुषौ लोके ’ ‘ प्रधानपुरुषावेता ’ इत्यादौ प्रधानादपदा रस भय हास्य र वाद्युपाधिनाऽश्रीयते । अतः पुरुषशब्दवाच्यं च परमा मन एव निरुपाधिकम् । अत्र जाठरस्य पुरुषत्व दूरतो निरस्तमिति भावः । ‘ स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष ’ इति प्राप्तद्वन्निर्देशात्तस्य च प्राप्तप्रमाणसापक्षवान्, परमा मन एव निरुपाधिकपुरुषत्वविषया प्रमाणतः प्रसिद्धिं दशयति यथेति । आग्रशब्द अनात्मनादालङ्घनस्य जाठरविषयवसाधक शङ्कितं तत्र पुरुषशब्दस्यैव क्यशरीरसम्भवरूपत्वात् । अतः च परमा मविषयवसाधकमुक्तम् । तत्र तथा द्रष्टुपदेशात् इत्यनेनाग्निशब्दलिङ्गत्रययोरपि सिद्धिर्दर्शिता । असम्भवलिङ्गपुरुषशब्दयोग्यतासिद्धयः प्राप्त्य सिद्धम् । अतएव ‘ पुरुषमपिचैनमधीयते ’ इति सूत्रस्य नान्त प्रतिष्ठानमात्रपरिहारस्य तथा द्रष्टुपदेशात् तन्मैवाह प्रतिष्ठानस्य ह्यन्तराणां च यद्विदेर्देशं तत्वादसम्भवेतौ च सति अन्न प्राणानस्य दुर्बलवाचिर्निरुपाधिकपुरुषत्वश्रवणसति ह्यन्नराणामपि दुर्बलवाच्यः । अतो यथोक्तवेत्त शङ्कापरिहारौ ॥

सू-२८ अत एव न देवताभूतं च (१.२.२८)

जाठरप्रसिद्धशङ्का पूर्वसूत्र परिहृता, तद्व्यतिरिक्तायद्वयशङ्काऽत्र परिह्रियते । देवताभूततृतीययाजाठरवत् परिष्ठितं नामनात् त्रैलोक्यशरीरवोपपत्तिं देवताया अधिगताया त्रैलोक्यशरीरं महाभूततृतीयस्य च त्रिवृत्तस्य त्रैलोक्यरूपेण पारणतं यात् समुदितस्य चावाप्राथम्यादयो मूषपादाद्यवयवस्युः । अतस्त्रैलोक्यशरीरवक्त्वनापपत्तिरित्यसम्भ

गूढार्थसंग्रहः

अग्निप्रकारकमेतत् ज्ञानं प्रवर्धितामा । दृष्टशब्दप्रयोगः श्रुतस्य न तत्प्रयोगः, असम्भवात् इत्यनेन प्रागुक्तार्थस्य सर्वस्य जाठरागारसम्भवः । सर्वा ज्ञानाव च ब्रह्म तन् न सम्भवति । एव पुरुषत्वमपि न सम्भवति ‘ स य पूर्वोऽस्मान् सर्वस्मात् सर्वावाप्स्यन् औषत् ’ इति प्राणसंयमके पुरुषत्वार्थान्तरात् (तृ) पुरुषत्व सर्वपापदाहकत्वं ‘ तद्यथेयीका तूलम् ’ इति ब्रह्मविद्यानिष्ठाया सत्पापदाहभ्रमणा उक्तं ब्रह्म तन्निर्देशेन वाजसनेयिक ‘ स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष ’ स्याद्वैश्वानरो पुरुषविषयः पुरुषस्य प्रागुक्तत्वं (१) पद्यग्रन्थे १० ६ १ ११ ‘ त यौपनिषत्पुरुषम् ’ विश्वानमात्रं द-परायणम् ’ इत्यादिनाऽस्यान्वयः । अतः च द्रष्टुपदेशात् तद्व्यतिरिक्तस्य ह्यन्तराणां च यद्विदेर्देशं तत्वादसम्भवेतौ च सति अन्न प्राणानस्य दुर्बलवाचिर्निरुपाधिकपुरुषत्वश्रवणसति ह्यन्नराणामपि दुर्बलवाच्यः । अतो यथोक्तवेत्त शङ्कापरिहारौ ॥

‘ अतएव न देवताभूतं च ’ चतुर्थेन जाठराग्रसारं व्याख्यातं बाध्यते ॥



## श्रीभाष्यम्

एतदुक्तं भवति यथा वैश्वानरशब्दस्साधारणोऽपि परमात्मासाधारणधर्मविशेषितो विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन परमात्मानमेवाभिदधाति ति स्थीयते ; एवमग्निशब्दोऽप्यग्रनयनादिना येनैव गुणेन योगाज्ज्वलने वर्तते तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य काष्ठागतस्य परमात्मनि सम्भवादस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारणधर्मविशेषितः परमात्मानमेवाभिधत्त इति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

अध्यणन्तो वा तयोरपत्यार्थत्वात् परमात्मनश्च विश्वानरसशक्तम् कश्चिदपत्यपत्यवाभावात् विश्वानरशब्दस्य पुरुषसमष्टिवाचकत्वेऽपि तदत्यन्तायोमात् विदाद्यजन्तवक्रध्यर्णव चायुक्तम् । अतो गुणानुरयोगो वक्तव्यः, न वैश्वानरशब्दस्य न केन गुणेन वृत्तिः तद्वदग्निशब्दः केन वर्तते । तेन तस्य परमात्मन्यव्यवधानेन वृत्तिः कथमित्यत्राह-एतदुक्तमिति नेतृत्वादिनेति । आदिशब्देन विश्वैर्नरैर्नैव प्राप्यत्वं विवक्षितम् अग्रनयनादिनेति । आदिशब्देन अग्रदेन प्राप्यत्वं विवक्षितम्, यथा निराहुः ‘वैश्वानर कस्मात् विश्वान्नराग्रणीत विश्वएनं नरानयन्ति’ इति वा विश्वानर एववैश्वानरः राक्षसो वायस इतिवत् रक्षएवहि राक्षसः वयएवहि वायसः यथाचाग्निः कस्मात् अग्रणीभवति अग्र नीयते अग्रनयति नमयति सन्नमनोक्तौ प्रसन्नो भवतीति स्थूलादृष्टिविधिरिति । अव्यवधानमाह तस्यैवेति । काष्ठागतस्येति । अग्निशब्दावयवार्थस्य ब्रह्मणि पुष्कलत्वात् ब्रह्मशब्दरूढिर्न त्याज्या ब्रह्मशब्दावयवार्थपौष्कल्यस्यावयवसम्भवादिति शब्दसिद्धिरिति भावः । परमात्मासाधारणधर्मविशेषित इति । उपक्रमाद्यानुगुण्याच्च ब्रह्मशब्दः प्रबलः अग्निशब्दस्तु तदनुगुणार्थो नेय इति भावः ॥

नन्वग्निशरीरकतयाऽनुसंधाने साक्षादेवाग्रनयनादिगुणकत्वानुसंधाने च विद्याभेदरसात् । नच वाच्यमेकस्यामेव विद्यायामेकस्मिन्कर्मणि ग्रीहियवयोरिव अग्निशरीरकत्वस्याग्रनयनादिगुणकत्वस्य च विकल्पेन प्राप्तिः, विकल्पश्चाप्यस्तुल्यत्वत्वादवर्जनीयः, अग्निशरीरकत्वपरिग्रहे रूढ्यपरित्यागादविलम्बः अर्थानुपपत्त्या परमात्मपर्यन्तं वानिर्णय इति विशेषप्रतिपत्तिर्विचिन्विता, अग्रनयनादिगुणकत्वपक्षे रूढ्यार्थानुपपत्त्याऽवयवार्थप्रतिपत्तिर्विलम्बिता, अद्वयत्वेऽस्तुल्यत्वत्वादिगुणस्य विशेषप्रतिपत्तिरविवलविता, गुणस्याद्वारकतयाऽन्वयसम्भवात् । अतः पक्षद्वयेऽपि विलम्बाविलम्बकर्मणि तुल्यत्वव्यभिचि विकल्प इति । एकैवैव वाक्येन वैकल्पिकार्थद्वयविधानानुपपत्तेः । ग्रीहियवयोर्हि वाक्यभेदेन प्राप्तिः नाभ्युपगते, नात्र विद्याभेदप्रसङ्गः, अस्य सूत्रस्य ब्रह्माग्निशब्दयोस्तुल्यताप्रतिषेधपरत्वेनोपास्याकारवाभावात् । तथाहि ब्रह्माग्निशब्दयोर्द्वयोरपि रूढ्यार्थद्वयाविरोधेन निर्वाहः पूर्वमुक्तः रूढ्यार्थविरोधाभ्युपगमेनान्यतः स्य यौगिकत्वेऽपि न ब्रह्माग्निशब्दयोस्तुल्यत्वादशक्यनिर्णय-व वाच्यम् उपक्रमाद्यानुगुण्यादाग्निशब्दावयवार्थस्य ब्रह्मणि पुष्कलत्वाच्च ब्रह्मशब्दावयवत्वात्तद्विपरीतोऽग्निशब्दो दुर्बलवाद्यौगिक इति हि वृत्तान्तर्यम् ॥

एवं वा अस्य विद्यायामग्निशरीरत्वानुसंधानमेव सूत्रकारमतं ‘तथा दृष्ट्युपदेशात्’ इति दर्शितम्, अग्निमिन्द्रसामाग्नेयं परमात्मपरतया तात्पर्यलिङ्गैरवगतेषु प्रकरणेष्वर्थान्तररूपादानां परमात्मपरत्वेऽद्वयत्वनिर्णयः तदवयवशक्त्या साक्षादेव तत्परत्वं वर्णनीयमित्येव रूपं नेतृप्रकरणविशेषमाश्रीदयम् । अस्य च न्ययस्य साक्षात्निर्णयः तदवयवशक्त्या यत्र कचिदुक्तव्यत्वेति अत्र परमात्मपर्यन्त-वनिर्वाहप्रसङ्गादिहाभ्युपगमि, नन्वेतद्विद्यायां असाधारणत्वात् । अतः तद्वयवशक्त्या साक्षात्तया व्याख्यातः । सामान्येनोपार्जयस्य न्यायस्येहाप्युपजीव्यत्वादिद्याभेद इति नेतृ, निःसिद्धिशेषः

## श्रीभाष्यम्

‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानम्’ (छां ५.२४.१) इत्यपरिच्छिन्नस्य परस्य  
ग्रहणो दुप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कथमुपपद्यते तत्राह—

## सू-३० अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः (१.२.३०)

उपासकामिव्यक्त्यर्थं प्रादेशमात्रत्वं परमात्मन इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । ‘द्यौर्मूर्धा आदित्यश्चक्षुः, वायुःप्राणः, आकाशो मध्यमाय’, आपो वस्तिः पृथिवी पादौ’ इति  
दुप्रभृतिप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कुत्स्नमभिव्याप्तत्वं विगतमानस्य ह्यभि  
व्यक्तेरेव हेतोर्भवति ॥

मूर्धप्रभृत्यत्रयवन्निशेषेः पुरुषप्रधत्वं परस्य ग्रहणः किमर्थमिति चेत्—तत्राह—

## श्रुतप्रकाशिका

साधारणलिङ्गान्त्रिषु वाक्येषु तच्छरीरकमाश्रयणस्य यथा ॥ १८ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥  
अत्र च जाटारलिङ्गान्युपपन्ने अत्रैव हि सूत्रम् । तथा नष्टपुण्ड्रेशात् इति स्वमासक्तवान् यथा न द्वितीयायति कृत्वा  
अनयातादीनां ब्रीहिशेषं च निःशतं तदजाटारलिङ्गं भावनं तादृशेष्टत्वात्समवऽपि परमा मपरं च सिद्धयतीत्यन्वारह्यं तर्हि  
जैमिनिमतम् । अतो नविद्याभेदः —उत्तरसूत्रशङ्कामाह—यस्त्वेतामिति ।

## सू-३० अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः (१.२.३०)

परिच्छिन्नं च महाभूततृतीयदेवतयोरत्र समवताति शङ्कापरिहारार्थमिदं सूत्रम् । अभिव्यक्त्यर्थं बुद्धिसौकर्यायेत्यर्थं  
परिच्छिन्नमेहि बुद्धिसौकर्यं स्यात्, उक्तमर्थं विवृणोति द्यौर्मूर्धेत्यादिना । दुप्रभृतिप्रदेशेत्यादिना प्रादेशमात्रशब्दो  
‘यश्चातः’ अभिविमानम् इत्यत्राभिप्रायः व्याचष्टे कुत्स्नमभिव्याप्तवदिति । विमानशब्दः व्याचष्टे विगतमानस्येति ।

उत्तरसूत्रस्य शङ्कामाह—मूर्धप्रभृतीति । प्राकृतमूर्धादिद्रव्यावयववमप्राकृतरूपस्य परमा मनो न समवति अपि  
तु देवताया एव समवतीत्यभिप्रायः ।

## गूढार्थसङ्ग्रहः

शब्दानां परमा मपरं वमत्र सूत्रे उच्यते । वैश्वानरशब्दनिर्देशः विश्वपा नराणां नेतृत्वेन अतो वैश्वानरविद्याया वैश्वानर  
शब्दप्रयोगे निदानमपि सूचितम् । द्युमूर्धत्वादिभिः सर्वभूतान्तर्यामिन्वाविवशदीकरणेन तदनुगुणसर्वभूतफलदातृत्वमप्यत्र  
प्रतिपाद्यते इति सर्वभूतफलदातृत्वत्रोपनायैव शब्दान्तरिहाय वैश्वानरशब्दप्रयोगः । अत्र जैमिनिशब्दप्रयोगेण देवता-  
न्तर्यामिण एव सर्वत्र फलदातृत्वमित्येव जैमिनेरभिमतमिति बोध्यते ॥

‘अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः’ एतावता साधारणशब्दस्य परमात्मनि मुख्यता रूढियोगाभ्यां प्रतिपादिता ।  
परमा मपरत्वे द्युमूर्धत्वाद्युक्तप्रादेशिकं च विदध्यत इति पूर्वमुक्ते समाधानं नोक्तम् अनन्तरसूत्रे समाधानमुच्यते ॥

श्रीभाष्यम्

सू-३१ अनुस्मृतेर्वादरिः (१.२.३१)

तथोपासनार्थमिति वादरिराचार्यो मन्यते । ‘ यस्त्वेवमस्मिन्निमानमात्मानं वैश्वानर-  
मुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमस्ति ’ (छां.५.१८.१) इति ब्रह्मप्रा-  
तयेहुपासनमुपदिश्यते । एतमेवमिति—उक्तप्रकारेण पुरुषाकारमित्यर्थः । सर्वेषु लोकेषु  
सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु वर्तमानं यदन्नं भोग्यं तदस्ति सर्वत्र वर्तमानं स्यत एवानवधि-  
कातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्यैरात्मभिः प्रत्येकमनन्यसाधारणमन्नं  
भुज्यते, तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यते ॥

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथं तर्ह्युप-प्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः यावता जाठराग्निप-  
रिग्रह एवैतदुपपद्यत इत्यत्राह—

सू-३२ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति [१.२.३२]

श्रुतप्रकाशिका

सू-३१ अनुस्मृतेर्वादरिः (१.२.३१)

प्राकृतमूर्धाद्यवयवत्वासम्भवपरिहारार्थं वाग्भिप्रायेण सूत्रं व्याचष्टे तथेत्यादिना । अनुस्मृति उपासनं, उपासनार्थं पुरुष-  
निषयत्वमित्यर्थः । कथमुपासनार्थत्वं बुद्ध्याहो हार्थत्वं किं न स्यादित्यत्राह—यस्त्वेतमिति । उदाहृतवाक्ये पुरुषविषय-  
मुपास्याकारतया न प्रतीयत इत्यत्राह—एतमेवमिति । अत्र मुक्तिपत्रगानिश्चन्दः क इत्यत्राह—सर्वेष्विविति । अन्नश-  
ब्दस्य प्रसिद्धाक्षरपरत्वानुपपत्तिमाह—यत्त्विति ।

एवं परमात्मनो व्युत्पत्तिप्रदेशसम्बन्धस्याभावात् पुरुषविषयत्वं प्रयोजनमुखेन भूततृतीयदेवताव्यु-  
दासःकृतः । अथोत्तरमात्रस्य जाठरशङ्काव्युत्पत्तेरिति दर्शय तदवतारयति यदीति । यावता प्रयुतेत्यर्थः —

गूढार्थसङ्ग्रह

‘ अभिव्यक्तेरित्यादमरथ्यः ’ ‘ अनुस्मृतेर्वादरिः ’ इति सूत्रद्वयस्यैव एकार्थनिर्णयः । ‘ अभिव्यक्तिः ’ अनु-  
स्मृतिश्च शब्दं सर्वव्यापकस्य ज्ञानमयं न स भवति, दर्शयितुं शक्नुमि मीयेत्यत्राभावेन सर्वव्यापकत्वं नास्तीति  
नभ्रमितव्यम् । अभिव्यक्त्यर्थे परिमितं भेदित्वमित्यादिभिर्वाच्यम् । एतेन प्राच्यमिदं रूपं दत्तं पुरुषं भवति ।  
‘ अनुस्मृतेर्वादरिः ’ इति, अनुस्मृतेः साक्षात्पुनस्तुत्यायमानं स्मृतिरित्यर्थः । अत्र च व्यानकस्येव इति च मुक्तिपत्र-  
धनीभूतव्यानमिदमत्र कार्यमिति तात्पर्येणैवमुक्तिः । एतन्ममिदमन्वाये । ‘ उपासनं स्यत् प्रयानुस्मृतिः ’ (१-१)  
इति, यावोपासनावाक्ये ‘ अनु ’ शब्दप्रयोगः ।

‘ शब्दादिभ्यः ’ इति सूत्रं ‘ साधारण’शब्देन परिमितव्यपदेशनं च परमात्मन इत्येव सर्वेषां प्राप्तिः याव-  
त्तत्वा सा एतावता निवारिता भवति अत्रैवमर्थवदित्यर्थेन प्राच्यमुपासना-शब्दः प्रविष्टः न च जाठराग्नौ हेतवः एतदुच्यते  
निमित्तं नोक्तमिति तात्पर्येण तत्रैव ज्ञानदर्शनादयः । ‘ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ’ इति सूत्रम् । एवं

## श्रीभाष्यम्

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य सुप्रभृतिपृथिव्यन्तशरीरस्य समाराधनभृतायाः  
उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वरुम्पादनमायामुरःप्रभृतीनां वेदित्वाद्यप  
देश इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथा हि परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्नि-  
होत्रसम्पत्तिं च दर्शयतीत्यं श्रुतिः । ‘स य इदमग्निद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य  
भस्मनि जुहुयात्तादृकत्वात् अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु  
सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु हुतं भवति तद्यथेपीकृतलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः  
प्रदूयन्ते’ (छां.५.२४.१) इति ॥

सू—३३ आमनन्ति चैनमस्मिन् [१.२.३३]

श्रुतप्रकाशिका

सू—३२ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति [१.२.३२]

कस्य सर्पत्ति सा च कीदृशीत्यपश्यामाह—अस्येति । सर्पत्ति रपादन, अस्मिन् तत्कल्पेन ‘तथाहि दर्श-  
यति’ इति सूत्रलण्ट व्याचष्ट तथेति । परमात्मोपासनोचिमेव फलमिति । अग्निहोत्रसपत्तेः परमात्मसमाराधना-  
र्थत्वं, ‘तस्य सर्वेषु लोकेषु’ इत्याद्युक्त फलप्रदेश एव शापयतीति भावः । सयइदमिह्यादि । इदमग्निद्वान् इदमुरः  
प्रभृतीनामग्निहोत्रप्रकरणतामजानन् यः अग्निहोत्रं प्राणाहुतिं जुहोति अनुतिष्ठतीत्यर्थः ‘एतदेवविद्वान्’ इत्याप्यव-  
मर्थः ‘सर्वेष्व्वात्मसु हुतंभवति’ इति सर्वात्मकभगवदानाधनेन स्वसमाराधितं भवतीति हुतप्रकरोक्तिः । अस्याग्निहो-  
त्रस्य परमात्माराधनत्वज्ञापनार्थं तदङ्गकपरोपासनफलं दर्शयति तद्यथेपीकेति ॥

परस्यात्मनो सुप्रभृतिशरीरकत्वा युतम् उपासकस्य मूर्ध्नाद्यवयवानामेव सुप्रभृतिवनोपासनविधानादिति शङ्क-  
यामाह—

गूढार्थसंग्रह

‘साक्षादप्यविरोधं जैमिनि’ इत्यत्र अग्निशब्दस्य यागन परमात्मपरत्वमुक्तम् । तत्र अपिशब्देन रुढ्या परममपरव  
जैमिनेरभिमतमिति दर्शितम् । सोऽर्थः पूर्वोक्तैर्बीजप्रदर्शनन विशदीक्रियते । ‘सपत्तेः—प्राणाहुतेरग्निहोत्रवसम्पत्यर्थं  
‘उरएव वेदिः’ इत्याद्युपदश । तेनाग्निं त्रधा परिकल्पनमुपपन्नम् । एतन् प्राणाग्निहोत्रे परम् । मन एवागध्यवम् अतः  
स्थितिः जाठराग्नौ वर्तते तच्छरीरकपरमात्मनोऽपि वर्तते । ‘यए मंत्र विद्वानन्नमत्ति’ इति । अत्र व्यक्तीनां भेदेऽपि  
तत्तदन्तर्यामिण एकत्वात् पूर्वभूतांतरा मन्त्रस्य सुमूर्ध्नादिभिः प्रकाशनेन प्राणाग्निहोत्रसम्पादनस्य यत्फलं तदपिपोषितं  
भवति । अनएव चण्डालेभ्यः अपशेषदानेऽपि आमनि हुतं भवतीत्युक्तिः सङ्ग-उक्त । जाठराग्निपरिकल्पने यत्फलं तदेव  
सुमूर्ध्नादिकल्पनेऽपि बोधितं भवतीत्युत्तरसोऽप्युच्यते—‘आमनन्ति चैनमस्मिन्’ इति । ‘एनम्’ इत्यन्वादेशन  
पूर्वोक्तार्थस्यैव विवक्षितत्वेन सुमूर्ध्नादिनिर्दिष्टपरमात्मनमत्र अस्मिन्नुपासकशरीरे आमनन्तीति सूत्रार्थः । ‘तस्य हवा  
एतस्यात्मनः वैश्वानरस्य मूर्ध्वं मुतेजा.’ इति श्रुती तस्य हवा’ इत्युपासको विवक्षितः । अस्य मूर्ध्वं आत्मनो



## श्रीभाष्यम्

एतं परमपुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरमस्मिन्नुपासकशरीरे प्रणाहुत्याधारत्वाय आमनन्ति च ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानस्य मूर्धैव सुतेजाः’ (५.१८.२) इत्यादिना । अयमर्थः ‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिनिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते’ (छां.५.१८.१) इति त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय ‘सर्वेषु लोकेषु’ (५.१८.१) इत्यादिना ब्रह्मप्राप्तिं च फलमुपदिश्य अस्योपासनस्याङ्गभूतं प्राणाग्निहोत्रं ‘तस्य ह वा एतस्य’ (छां.५.१८.२) इत्यादिनोपदिशति ; यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयव-भूतान्नद्यादित्यादीन् सुतेजो विद्वरूपादिनामधेयानुपासकशरीरे मूर्धादिपादान्तेषु सर्पा-दयति । मूर्धैव सुतेजाः उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता द्यौरित्यर्थः । चक्षुर्विद्वरूपः आदित्य इत्यर्थः । प्राण पृथग्वर्त्मा वायुरित्यर्थः । सन्देहो बहुलः उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः । पृथिव्येव पादौ अस्य पादावेव तत्पादभूता पृथिवीत्यर्थः । एवमुपासकः स्वशरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानरं सन्निहितमनुस-

श्रुतप्रकाशिका

## सू—३३ आमनन्ति चैनमस्मिन् (१.२.३३)

एवमितिपद व्याचष्टे द्युमूर्धत्वादीति । अन्वादेशविपर्ययोपदेश, उन्वादेश, अन्वारयनम् । तस्मादेनमिति पदमुक्तधर्मोपेतमुक्तधर्मिण परामृशतीतिभावः । उपासकशरीरं द्युमूर्धं वाद्यनुसन्धानं परमात्मनो द्युमूर्धं वादेनविरोधि उभयस्यापि विहितत्वात् । अत्र उपासकशरीर एव द्युमूर्धं वाद्यवयववत्त्वमित्यवधारणकत्वनमुक्तमित्यर्थः । एनमित्यत्र गर्भितमर्थं विवृण्वन्नभयस्य विहितवमुपपादयति अयमर्थ इत्यादिना । ब्रह्मप्राप्तिं च फलमुपदिश्येति । पल्लवसन्निधाव-फलतदङ्गमिति न्यायात् ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वेनोक्तस्य वैश्वानरोपासनस्य प्राणाग्निहोत्रमङ्गमित्यभिप्रायः । कथं प्राणाग्निहोत्रस्याफलं ? ‘अथ य एतदेवं विद्वान्’ ‘तत्पथेपीकितूलम्’ इत्यादिना तस्मिन् फलं श्रूयत इतिचेन्न, प्राणाहुतिमात्रस्य सर्पापानिवृत्तिपूर्वकापरिच्छन्नफलहेतुत्वायोगात् अङ्गभूतस्यापि प्राणाग्निहोत्रस्याङ्गिद्वारा मुक्तिरेव पलमिति शापयितुं ‘यस्त्वेतमेवम्’ इत्यादिनोक्तवैश्वानरोपासनपलान्तर्गतानधनिवृत्त्यंशस्यात्तयाऽङ्गिपलविरोधिपलाभवेन ‘तस्य ह वा’ इत्यादिवाक्यप्रतिपक्षस्याङ्गभाष्यानपोदितत्वात् । ‘तस्य ह वा’ इत्यादिवाक्यस्यार्थमाह—य पूर्वमिति । अथांतरवाक्यानि प्रत्येकं व्याचष्टे मूर्धेत्यादिना । आधिकरणार्थप्रतिपात्तसौकर्याय पूर्वसूत्रविषयवाक्यायैव कमप्राप्तमेतत् सूत्रैव सङ्गतमुपन्यस्यति एवमित्यादिना । अधिकरणार्थमुपसहर्षति अतइति ॥

## गूढार्थसंग्रह

वैश्वानरस्य मूर्धो इति ध्रुत्यर्थेन उपासकशरीरेऽपि मूर्धादिपादान्तानुरन्धानं प्रदर्शितं भवति । एतेन ‘निष्ठाप्यत्यादेवं व्योमयज्ञ’ इतिगूढे अत्यन्तानुलोक्ति-विभो रथागनाशयति । यदुक्तं तन्वातमात्रार्थम् अस्मिन् इति शेषोपन्यासो गीते ततोऽप्यधिकपरिमाणमूर्तिकथनमिति निष्पन्नम् ॥

इति वैश्वानराधिकरणं समाप्तम्

## श्रीभाष्यम्

न्याय स्वकीयान्युरोलोमहृदयमन आस्यानि प्राणाहुत्याद्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य  
वेदिर्वाहिर्गार्हपत्यान्वाहार्यपचनाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिवर्त्य प्राणाहुतेऽग्नि-  
होत्रत्वं परिकल्प्येवंविधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति 'उर एव वे-  
दिलोमानि वाहिर्हृदयंगार्हपत्यः' (छां.५.१८.२) इत्यादिनोपादिश्यते । अतः परमात्मा पुरुषो-  
त्तम एव वैश्वानर इति सिद्धम् ॥

## इति वैश्वानराधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

अभिव्यक्तिरनुस्मरणीयत्वं द्युप्रभृतिषु मूर्धत्वादिसपादनं मस्तकचुवुकांतराळ परस्य स्थितं जांचालश्रुत्या प्रतिपादन-  
मिति अभिव्यक्तेरित्यादिसूत्रचतुष्टयार्थ इतरेकतः । तन्मते सूत्राणां परिहर्णीयशङ्काया अभावाद्वैयर्थ्यमेव स्यात् । अतो  
यथोक्त एवार्थः ॥

## इति वैश्वानराधिकरणम्



## अथ वेदान्तसारः

## सू-२५ वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् [१.२.२५]

'आमानमेवेमं वैश्वानरम्' (छा.५.११.६) इत्यादौ वैश्वानरः परमात्मा, जाठराग्निश्चादिषु साधारणसाधारण-  
नरशब्दस्य अस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारणेः सर्वात्मकत्वब्रह्मशब्दादिभिर्विशेष्यमाणत्वात् ॥

## सू-२६ स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति [१.२.२६]

द्युलोकप्रभृतिषु विद्यमानं रूपम् 'अग्निर्मूर्धा' (मुण्डक.१.२.४) इत्यादिपूक्तम्, अत्र प्राप्तयामिदं-  
मात्रमेव अनुमानम्-लिङ्गमित्यर्थः ॥

सू-२७ शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्नतथा दृष्ट्युपदेशात्  
स्मृत्वात्पुरुषमपि चैनमधीयते [१.२.२७]

'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' (पुरुषसूक्तम्) इति अग्निशब्दमामानाधिकरण्यात् प्राणाहुत्याद्याधारस्य  
प्रतिष्ठितम्' इत्यादेश नाय परमात्मेति चेत्-नैतत् जाठराग्निशरीरकत्वेनोपास्यत्वोपदेशात् वेदान्त-  
सारः

त्वाद्यसम्भवाच्च । ' स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यः पुरुषः ' इत्येनं वैश्वानरं पुरुषमप्यधीयते वाजिनः । निरुपाधिकपुरुषशब्दस्य परमात्मनि नारायण एव, 'सहस्रशीर्षम्' इत्यारभ्य 'विश्वमेवेदं पुरुषम्' (पुरुषसू.) इत्यादिषु प्रसिद्धः ॥

सू-२८ अत एव न देवताभूतं च (१.२.२८)

यतोऽयं वैश्वानरः त्रैलोक्यशरीरः पुरुषशब्दनिर्दिष्टश्च, ततोऽयं नोपगच्छत्यदेवता तृतीयमहाभूतञ्च ॥

सू-२९ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः (१.२.२९)

नावश्यमाग्निशरीरकत्वेन उपास्यत्वायेदमग्निशब्दसामानाधिकरण्यम्, अग्रनयनादियोगेन परमात्मन्येवाग्निशब्दस्य साक्षादवृत्तेस्तसामानाधिकरण्याविरोधं जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥

सू-३० अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः (१.२.३०)

'यस्वेतमेवं प्रादेशमात्रम्' (छा.५.१८.१) इत्यनवच्छिन्नस्य द्युप्रभृतिपरिच्छिन्नत्वम् उपासकाभिव्यक्त्यर्थमिति आश्मरथ्यः ॥

सू-३१ अनुस्मृतैर्बादरिः (१.२.३१)

द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तानां मूर्धादिपादान्तावयवत्वकल्पनं तथाऽनुस्मृत्यर्थं ब्रह्म प्रतिपत्तय इति बादरिः ॥

सू-३२ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति [१.२.३२]

'उर एव वेदेल्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः' (छा.५.१८.२) इत्यादिना उपासकहृदयादीनां वेद्यादिवत्कल्पनं विद्याङ्गभूतायाः प्राणाहुतेः अग्निहोत्रत्वसम्पादनार्थमिति जैमिनिः । दर्शयति च श्रुतिः—'य एतदेव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (५.२४.२) इति । एते पञ्चास्वीकृताः । पूजार्थमाचार्यग्रहणम् ॥

सू-३३ आमनन्ति चैनमस्मिन् [१.२.३३]

एनं—परमात्मानम्, अस्मिन्—उपासितृशरीरे प्राणाहुतिवेत्तायामनुष्ठानार्थं 'तस्य हवा एतस्य...मूर्ध्वं तु तेजाः' (छा.५.१८.२) इत्यादि आमनन्ति च ; उपासकस्य मूर्धादिरेवास्य परमात्मनो मूर्धादिगित्यर्थः ॥

इति वेदान्तसारः

११ ।

अथ वेदान्तदीप

## सू—२५ वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् [१.२.२५]

छादोग्य—‘आत्मानमेवेम वैश्वानर सम्प्रत्यक्ष्यपि तमव नोब्रूहि’ (छा ५ ११ ६) इत्यारम्भ ‘यस्वेतमेव  
।देशेमात्रमभिप्रिमानमामने वैश्वानरमुप स्त’ (५ १८ १) इत्यत्र किमय वैश्वानर परमात्मेति श्रवयनिणय उत नेति  
शय ! अश्रवयनिर्णय इति पूर्वं पञ्च, वैश्वानरशब्दस्य जाठराग्नौ महाभूततृतीये देवताविशेषे परमा मनिच वैदिकप्रयोग  
शेनात्, आसिन्प्रकरण सर्वेषां लिङ्गापल चेश्व । राद्धा तस्मिन्—‘कान आत्मा किं ब्रह्म’ (५ ११ १) इति सर्वेषां  
जीवानामामभूत ब्रह्म ।कनिति प्रथम त, उत्तरत्र च ‘आ मान वैश्वानरम्’ (५ ११ २) इति ब्रह्मशब्दस्याने सर्वत्र  
वैश्वानरशब्दप्रयोगाच्च वैश्वानर मा सर्वेषां जीवानामामभू । पर ब्रह्मति विज्ञायते । सूत्रार्थ—वैश्वानरशब्दनिर्दिष्ट पर  
मा वैश्वानरशब्दस्यानकार्यसाधारणस्य अप्यस्य प्रकरणे परमा मार।धारणं द्वेदणैस्त्वां म वादिभिः चिद्विद्यमानात् ।  
वेद्येभ्यत इति विशेष ॥

## सू—२६ सूर्यमाणसनुमानं स्यादिति (१.२.२६)

सूर्यमाणम्—प्रत्यभिज्ञायमानम्, अनुमीयतऽननत्यनुमानम् इतिशब्द प्रकारवचन, इ यरूप सूर्यमाण वैश्वान  
रस्य परमा म वऽनुमान स्यात्, द्युप्रभृतप्रायव्य तमवयवावभागेन वैश्वानरस्य रूपमिहापदिष्टम् ‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषी  
वन्द्रक्ष्यौ’ (मुण्डक २ १ ४) ‘आं मूर्धान यस्य विप्रा वदा । (छा ५ १७ २) इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्ध परमपुरुषरूपमिह  
प्रत्यभिज्ञायमान वैश्वानरस्य परमा म व ।लङ्ग स्यादित्यर्थः ॥

## सू—२७ शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा दृष्ट्युपदेशाद- सम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते (१.२.२७)

अनिर्णयमाशङ्क्य परिहरति—शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च इति । शब्दस्तावत् वाजिना वैश्वानरविद्याप्रकरणे  
‘स एषोऽग्निर्वैश्वानर’ (छा ५ १८ २) इति वश्वानरसमानाघकरणेऽग्निशब्द । आस्य प्रकरणे च ‘हृदय ग हं  
‘स्य’ (५ १८ २) इत्यारम्भ वैश्वानरस्य हृदयादिस्थानस्याग्नित्रयपरिकल्पन प्राणाहुत्याधार वचन्यादि प्रतीयत वाजिना  
मपि ‘सया ह वै तमेयमग्निं वैश्वानर पुरुषविध पुरुषऽ त प्रतिष्ठत वद’ इति वैश्वानरस्य शरीरा त्प्रतिष्ठित व प्रतीयत  
अत एतैर्लिङ्गैर्वैश्वानरस्य जात्राप्रतीतनाय परमा मति श्रवयनिणय इति चत्—त्त, तथा दृष्ट्युपदेशात् दृष्टि उपा-  
सन तथापासनोपदेशादित्यथ, जाठराग्नशरीरतया वैश्वानरस्य परमा म न उपासन ह्यत्रापदिश्यत अयमग्निर्वैश्वानर पु  
रुषऽन्तःप्रतिष्ठित इत्यादौ । कथमवगम्यत इतिचेत् असम्भवात् कवलजाठराग्नैल्लोक्य-शरीरवाद्यसम्भवात् । पुरुषमपि  
चैनमधीयते चशब्द प्रसिद्धौ वाजिनस्तत्रैव ‘स एषोऽग्निर्वैश्वानरो य पुरुष (पुरुषसू २) इति एन वैश्वानर पुरुष  
माप ह्यधीयते । पुरुषश्च परमा मेव ‘पुरुष एवदगुँसर्वम्’ ‘पुरुषान्न पर किञ्चित्’ (कठ ३ १ १) इत्यादिषु प्रसिद्धे ॥

## सू—२८ अत एव न देवताभूत च (१.२.२८)



यतस्त्रैलोक्यशरीरोऽसौ वैश्वानरः यतश्च निरुपाधिकपुरुषशब्दनिर्दिष्टः ; अतएव नाम्नाख्या देवता, महभूत-  
तृतीयश्च वैश्वानरश्चक्रीयः ॥

### सू-२९ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः (१.२.२९)

अग्निशरीरतया वैश्वानरस्योपासनार्थमग्निशब्दसामानाधिकरण्यानिर्देश इत्युक्तम् । विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना  
संबन्धेन यथा वैश्वानरशब्दः परमात्मनि वर्तते, तथैवाग्निशब्दस्यापि अग्रनयनादिना योगेन साक्षात्परमात्मनि वृत्तौ  
न कश्चाद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥

### सू-३० अभिव्यक्तेरित्याहमरथ्यः (१.२.३०)

‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिव्यक्तमात्मनो वैश्वानरम्’ (छां.५.१८.१) इति द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसामान्य-  
न्या मात्रया परिच्छिन्नत्वमनवच्छिन्नस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य कथमुपपद्यत इत्यत्राह—अनवच्छिन्नस्यैव परमात्मनः उपा-  
सनाभिव्यक्त्यर्थे द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तपरिच्छिन्नत्वमिति आहमरथ्य आचार्यो मन्यते ॥

### सू-३१ अनुस्मृतेर्वादरिः (१.२.३१)

द्युप्रभृतिप्रदेशावच्छेदेनाभिव्यक्तस्य परमात्मनो द्युम्वादित्यादीना मूर्धाद्यवयवकल्पनं किमर्थमिति चेत् तत्राह—  
अनुस्मृतिः उपासनात् ब्रह्मप्राप्तये तथोपासनार्थे मूर्धप्रभृतिपादान्तदेहपरिकल्पनमिति वादरिराचार्यो मन्यते ॥

अथ वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्य उपादिष्यते चेत् ‘उर एव वेदिलोमानि चर्हिर्हृदय नार्हपत्यः’  
(५.१८.२) इत्यादिना उपासकशरीरावयवानां गार्हपत्यादिपरिकल्पनं किमर्थमित्यत्राह—

### सू-३२ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति [१-२.३२]

वैश्वानरविद्याङ्गभूतायाः उपासकेरहगहः क्रियमाणायाः प्राण हुतेर्ग्रहोत्र वसन् दन् द गार्हपत्यादिपरिकल्पनमिति,  
जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथाहमिहोत्रसगतिमेव दर्शयतीत्युक्तिः प्राणाहुतिं विधाय ‘अथ य एव विद्वानमिहोत्रं  
शुहोति’ (छां.५.२४.२) इति । उक्तानामर्थानां पूजितत्वादख्यापनायाचार्यग्रहणम् ॥

### सू-३३ आमनन्ति चैनमस्मिन् (१.२.३३)

एनं परमपुरुषं वैश्वानरं द्युम्वादिदेहम् अस्मिन्नुपासकदेहे प्राणामिहोत्रेणाराध्यत्वाय आमनन्ति हि ‘तस्य हवा  
एतस्य वैश्वानरस्य मूर्धेव हुतेजाः’ (छां.५.१८.२) इत्यादिना । उपासकमूर्धादिपादान्ता एव द्युप्रभृतयः परमपुरुषस्य  
मूर्धादय इति प्राणामिहोत्रयेल्लयामनुसंधेया इत्यर्थः ॥

॥ इति वेदान्तदीपे वैश्वानराधिकरणं समाप्तम् ॥

## अथ अधिकरणसारावली

स्वर्लोकादित्यग्राव्यम्बरसलिलमहीरूपमूर्धादिफलतया  
 ध्येयो वैश्वानरात्मा स्थिरबहुविशयश्शब्दलिङ्गादिसाम्यात् ।  
 मैवं ब्रह्मेत्यधीतेर्भुवनतनुतया योगतस्त्वग्निशब्दो  
 वैशिष्ट्याद्वा त्रियाङ्ग स्वयंपुत्रि परधीर्गाह्यत्यादिधीश्च ॥  
 अन्यस्मिन्नन्यदृष्ट्या न भवति त्रिदुषां क्वापि निश्चयेयसाप्ति-  
 स्तस्माद्वैश्वानरोऽसौ न पर इति फलं त्वन्नसिद्ध्यादि मैवम् ।  
 ब्रह्मेव ह्यन्यदृष्टयन्वितघटितमिह ब्रह्मशब्दाद्यभावात्  
 सर्वाध्वंस उक्त फलमपि परमं ब्रह्म च व्याप्तमन्नम् ॥  
 त्रिपत्रोपासितृणां मितहृदयगुहाऽक्ष्यन्तरश्चिन्त्य उक्तो  
 त्रिध्वान्तर्यामितादेर्विपुलपरिमितश्चिन्तनीयस्त्रयेऽथ ।  
 पदसु ब्रह्मात्मशब्दो पुरुषपदमपि क्षेत्रज्ञप्रपञ्च-  
 व्यावृत्ते र्विष्वहेतौ प्रकरणनियमाद्यामवृत्त्या नमन्ति ॥  
 तज्जत्वादेर्हि सर्वे जगदभिगदित ब्रह्मभावेन पूर्वम्  
 सर्वान्तर्यामिता च प्रभ्रितुरुदिता सर्वतद्देहता च ।  
 तस्माद्विद्वेक्यवाटप्रभृतिबहुवधापार्थक्यभ्रम्यमाण-  
 क्षुब्धक्षीणोत्तिजाल नितिलमिह नयैस्सूत्रकारो निरास ॥  
 स्वाधीनाशेषसत्तास्थितियतनतया सर्वभावेन तिष्ठन्  
 प्रस्ताशेषोऽक्षिणित्यस्थितिरसिलतनु कल्पिताग्रधादिगात्र ।  
 स्वर्लोकाद्यङ्गवैश्वानरपदत्रिपयो लक्षणस्यादिमस्य  
 प्रोक्त पादे द्वितीये श्रुतिनिकरशिरश्शेखर श्रीनिवास ॥

॥ इ ति वै श्वा न रा धि क र णं स मा त्त म् ॥



श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

अथ शुभ्वाद्यधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू=१ शुभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् (१-३-१)

अथ शुभ्वाद्यधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

सू=१ शुभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् (१-३-१)

गूढार्थसंग्रहः

अथ शुभ्वाद्यधिकरणम्

‘शुभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्’ इति । पूर्वं अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणे परविद्यायाः सगुणविषयत्ववत् विग्रहविशिष्टविषयत्वमपि प्रसाध्य वैश्वानरविद्याया अवयवावयविनोऽन्वयोरुपास्याद्योक्त्या तत्र कल्पना प्रतीत्या रूपस्य कल्पितत्वे पूर्वं परविद्याया अपि कल्पितविषयत्वमिति भ्रान्तिस्थ्यात् इत्युभयत्रापि रूपमकल्पितमेवेति निर्धारणाय छान्दोग्यस्य वैश्वानरविद्याविचारः कृतः, इत्थं च (परविद्याविषयस्यानुवृत्त्यभावे अदृश्यवाधिकरणसिद्धान्त एव समीचीनो न भवेदित्यभिप्रेत्य तृतीयपादोपक्रम एव मुण्डकश्रुतिवाक्यविचारपूर्तिः । क्रियते ॥)

तत्र प्रकृतिः जीवश्चेति उभयोरपि पूर्वपक्षकोटौ निवेशः । ‘विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ’ इति सूत्रे उभयोस्समप्राधान्येन निर्देशात् ‘अदृश्यत्वादिगुणक’ इत्यनेन उपक्रमवाक्यविचाररूपस्य तदधिकरणस्य स्पष्टम् । तत्र तु ‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’ इत्यक्षरशब्दश्च्युतः । तेन ‘अक्षरात्परतः परः’ इति वाक्यविचारोऽपि अवश्यकर्तव्य आपातितः । अतस्तद्वाक्यार्थनिर्णयाय प्रकृतिजीवयोः रम्योः पूर्वपक्षे निवेशः तादृशस्य तत्र विवक्षितः, उपक्रमस्य परमाक्षरत्वेऽपि मध्यवाक्यानां जीवपरत्वं सम्भवत्येव । (‘शुभ्वाद्यायतनम्’ इत्यनेन ‘यास्मिन्द्यौ’ इति श्रुतिविरहितवाक्ये नाडीसंघबहुधाजायमानत्वयोः प्रतिपादनेन तयोः जीवलङ्घ्यतायाः स्पष्टत्वात् । अयमर्थः परेषां नवीनानां समतः । वायोः नात्र विवक्षा सम्भवति । वायो. नाडीसंघबहुधाजायमानवयोः प्रसिद्धिविरहात् । नवीनमने ‘प्राणानां प्राणिरसि’ इत्यत्र पञ्चवृत्तिप्राणाविवक्षासम्भवेऽपि सर्वधारकत्वस्य कथनेन रूद्रपूर्वः शोऽपि नावसरमहति प्रकृतेस्तु शुभ्वाद्यायतनमिति सूत्रपदकपदेन पूर्वपक्षे विन्यासस्यावकाशो नास्ति ॥)

‘मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च’ इत्यनन्तर ‘नानुमानमतच्छब्दात्प्राणमृद्य’ इति सूत्रनिर्देशेन मुक्तोपसृप्यत्वस्य तत्र असम्भवादेव प्रकृतेः पूर्वपक्षे प्राप्तिवृत्तनं न सम्भवति । मुक्तोपसृप्यत्वस्यायोगात् । अन्यथा

### गूढार्थसङ्ग्रहः

'नच स्मार्तम्' इत्यादियदेव प्रथममेव 'नानुमानम्' इत्याद्यापि स्यात् । अन्तर्यामिविद्याया 'य पृथिवी न वेद' इत्युक्तेः यथा पृथिव्यादेः आमनो वेदनासम्भवे दृष्टान्तता तद्वत् 'नानुमानम्' इत्यत्र प्रकृतेरपि दृष्टान्तत्वमेव विवक्षितम् । तत्र वेदनासम्भवे दृष्टान्तः, अत्र तु मुक्तप्राप्यत्वविरहे दृष्टान्तः विषयवाक्ये 'ओतम्' इति निर्देशेन 'वायुना गौतमसन्दर्भानि' इति वायुना सङ्घट्टत्वप्रतीत्या अत्रापि तद्व्यावृत्तार्थप्रतीत्या वायोः पूर्वपक्षे निवेशइति शङ्का सम्भाव्यते । तत्रैव नाडीसम्बन्धबहुधाजायमानत्वयोः प्रतिपादनेन तयो वायावसम्भवः स्पष्टः । ओतशब्दनिर्देशेन आम-शब्दार्थं अन्तर्बाह्यव्याप्तिरुक्तम्भनेन 'यस्मिन्नास्ति देवदत्तस्तमानय' इत्यादौ यथा आनयनकर्मत्वं देवदत्ते नास्ति तथा ज्ञानकर्मत्वं नात्र विवक्षितमिति परोक्षिर्निर्वकाशेति व्यञ्जितम् ॥

गीताचार्यश्च 'भूमिरापोऽनलो वायु' इत्यादिना चतुर्विंशतितत्त्वानि पञ्चविंश जीवत्वाभिधाय 'मत्तपर नान्यकिंचिदस्ति' इत्यत्र परमात्मोपेक्षया परतत्त्वस्य निषेधेन परतत्त्वसत्त्वावेदनपूर्वकं 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगण इव' इत्युक्त्या तद्दृष्टान्तस्य श्रुतौ विवक्षायाः सिद्ध्या यस्मिन्सूत्रे मणिगणा ओतास्तदानयेत्यादौ मणिगणान् विहाय सूत्रानयनं न प्रामाणिकसमतमिति तद्वदेवात्रार्थो विवक्षित इति प्रतिभाति ॥

(तत्राप्यात्मन्यन्वयप्रयोगेण अन्तर्बाह्यस्य व्याप्तत्वस्य परमात्मनि बोधनं परमा माघेयभूतानां पदार्थानां त्यागएव न सम्भवति । किंच परोदाहृतदृष्टान्ते 'आङ्पूर्वो नीङ्' घातु । तत्र विशिष्टनयनासम्भवः प्रत्यक्षसिद्धः यस्मिन्नास्ति देवदत्तः त पश्येति प्रयोगे देवदत्ताविशिष्टसन्दर्शनं यथा प्रतीयते तद्वदत्रापि । गीतोपबृहणेन 'यस्मिन्सौ पृथिवी' इति श्रुतौ च शब्देन जीवस्य विवक्षया सजीवप्राकृतसर्वाधारव विवक्षितम् । एव 'समूलास्सोम्येमा सर्वाः प्रजाः सदायतनास्सप्रतिष्ठाः' इति छा मुत्यानुगुण्यादपि । 'स्वशब्दात्' इत्यस्य स्वबोधकशब्दादित्यर्थः । स्वबोधकः आम-शब्द एकः, 'अमृतस्यैव सेतुः' इति वाक्यप्रतिपादयितुं परब्रह्मासाधारणया तद्वाक्यस्यापि परमात्मबोधकत्वम् । सेतुशब्दश्च नधारकार्थकः अमृतशब्दस्य परमात्मपरत्वे स्वधारकत्वासम्भवात् मुक्तपरवऽपि धारकत्व न स्वरसम् । जीवपरवेऽपि 'यस्मिन्सौ' इति वाक्य एव सप्तम्या गीताऽनुरोधेन जीवधारकत्वस्यापि प्रतीत्या अत्र धारकवोत्तेर्वैपल्यात् । अत्र सेतुसादृश्यात् एकस्मिन्देशे स्थितस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुवरूपघर्ममादाय देशान्तरस्थप्राप्तिहेतुवरूपघर्ममादाय देशान्तरस्थप्राप्तिहेतुवेन 'अमृतस्यैव सेतुः' इत्यनेन मुक्तिहेतुवमेव प्रतिपाद्यत इति निर्णयस्सम्भवति । ज्ञान इतरवाग्विमोक्षयोः एतच्छब्देन विवक्षा न समीचीना । 'यदेतज्ज्ञानं सदसद्वरूपं परं विज्ञानात् यद्वरिष्ठं प्रजानाम्' (मु. २. २) 'तदेतक्षरं ब्रह्म' 'तदेतत्सत्यम्' 'तदमृतम्' इति पूर्वं 'स एषोऽन्तश्चरते, दिव्ये ब्रह्मनुरेक्षेणः' इति उत्तरत्र विद्यमानानां बहूनां परमात्मपरतायाः परेषामपि समतात्वात् । 'अमृतस्यैव सेतुः' इत्यनभिधाय 'सेतु'रित्युक्तेरिदमेव बीजम् । सेतुः नदीकूलान्तरगतस्य पुंसः यथा कूलान्तरप्रापकः तद्वत् परमात्मा प्रकृतिमण्डलस्य जीवस्य प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वस्य स्वप्रापक इति सूचनायैव सेतुशब्दप्रयोगः, अमृतशब्दश्च परमात्मपरः । एतदनन्तरश्रुतौ 'ओमित्येवात्मानं ध्यायथ' 'स्वस्तिवपाराय तमसपरस्तात्' इति उपसहारे च 'तरति शोकः—अमृतो भवति' इति श्रूयते ॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमे 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिष्ठाति' इति द्वितीये 'योगनिरूपणावसरे' 'ब्रह्मोद्गुपेने प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' इति 'अमृतस्य परसेतुं दग्धेधनमिवानलम्' इति षष्ठे च श्रूयते । अस्यामुपनिषदि 'स्रोतांसि सर्वाणि' इत्युक्त्या प्रागुदाहृतज्ञानानां सर्वेषामपि स्रोतस्त्व प्रतिपादितम् । तत्र उदुपसादृश्यं ब्रह्मणि षष्ठे सेतुसादृश्यं च स्पष्टम् । द्वितीयोक्तदिशा षष्ठेऽपि प्रकृतिस्रोतस्तरणमव सेतुना विवक्षितमिति श्रुति तात्पर्यं व्यक्तम् ॥



### श्रुतप्रकाशिका

एवं स्वप्नजीवल्लिङ्गकानि वाक्यानि परमात्मपरत्वेन निर्णीतानि । अथ स्वप्नजीवल्लिङ्गकानि विचार्यन्त इति पाद-  
सङ्गतिः । पूर्वस्मिन्नधिकरणे श्रुत्याध्यादिसंयान्धनः परमात्म्यमुक्तम् । श्रुत्याध्यादिसंयान्धनं परमात्म्यतिरिक्तस्यापि  
दृश्यत इति शङ्कयाऽनन्तराधिकरणारम्भ इत्ययान्तरसङ्गतिः । यदा 'अदृश्यत्वादि गुणक' इत्याधिकरणे त्रैलोक्यव्य-  
पत्त्येन परमात्म्ये साधने तच्छरीरकामपरमात्मनोऽपि दृश्यत इति शङ्कया धैर्यान्तराधिकरणे प्राप्तम् । अथास्यामेवो-  
पनिषदि कतिपयवाक्यानां परमात्म्यतिरिक्तपरमशङ्कायामदृश्यत्वादिगुणकचित्तनस्यासमाप्तिमुक्त्या तृतीयपादाद्याधिकरणा-  
रम्भ इत्ययान्तरसङ्गतिः । अत्र निरसनीयजीवल्लिङ्गानां स्वप्नत्वादिसमधिकरणमदृश्यत्वादिगुणकनिरूपणापृथक्कृत्य तृतीय-  
पादे निवेशितम् पादभेदस्य स्वप्नस्वप्नजीवल्लिङ्गतानिबन्धनत्वात् ॥

### गूढार्थसङ्ग्रहः

एतत्तात्पर्येणैव गीतायम्—' मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामतां तरन्ति ते ' इत्युक्तम् । विश्वमायानिवृत्तिरपि प्रकृति-  
संभवागतिक्रमेण पूर्वदेशनिवृत्तिरेव । अन्ते प्रकृतिमण्डलावसाने इत्यर्थः । तदनुसारेण मुण्डकश्रुतावपि ' तरति शोक-  
तरति पाप्मानम् ' इत्यत्र ' स्वस्तिवः पाराय तमसःपरस्तात् ' इति पूर्वश्रुत्यनुसारेण शोकपाप्मद्वयोः शोजनकपाव-  
नकद्रव्येभ्योऽपि प्रयोगेण च शोकपापहेतुतामान्यतरणमेव विवक्षितमित्यपि प्रतीयते । ' अमृतस्यैव सेतुरिति श्रुत्यनन्तर-  
श्रुतौ ' स्वस्तिवः पाराय तमसःपरस्तात् ' इत्युक्त्या इत्यमेव श्रुतितात्पर्यं निर्णयते ॥

एवमर्थविवक्षा ' मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात् ' इत्यत्र उपसृप्यपदेन दृढीक्रियते । समीपप्राप्तिरेव ' उपसृप्य ' इत्यत्र  
विवक्षिता । तत्रच ' नामरूपादिमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ' इति श्रुतिरेवाभिप्रेता । ' उपैति ' इत्यत्र उपपूर्वक  
' इण्गता ' इति घातुः । अत्रतु उपपूर्वक ' सुषिगता ' इति घातुः एवमर्थविवक्षा ' शुभ्याद्यायतनम् ' इत्यत्रायतन-  
शब्देन उक्तभिप्रेता भवति । ' सम्मूलास्योभ्येमाः—सदायतनाः ' इति सद्विद्यायां ' सदायतना ' इत्यत्र उक्तार्थ एव  
अत्र विवक्षित इति सूचनायात्र आयतनशब्दप्रयोगः । तेन च ' तस्य तावदेव चिर यावन्नविमोक्षेऽथ संपत्स्यते ' इत्यु-  
क्तं यत्फलं तदेव ' भोगेनवितरे क्षपयित्वा अथ संपत्स्यते ' इत्यत्रोभिप्रेतम् ॥

अथ शब्दार्थव्यवधानसहानन्तर्यस्य सद्विद्योक्त उक्तान्ति श्रुत्यन्तरोक्तगत्योः पादद्वयेन कथनपूर्वकं ' अस्माच्छरी-  
रात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य ' इति छान्दोग्यान्तिमाध्यायगतवाक्यार्थनिर्धारणकरणेन ' सम् ' इति रूपसम्पत्तिरेव ' अथ  
संपत्स्ये ' इत्यत्र विवक्षितेति सूत्रकृता निर्धारितं भवति । अतश्च तादृश्येव उपसंपत्तिरत्र विवक्षितेति सूत्रकाराशयः ॥

' अस्माच्छरीरात्समुत्थाय ' इति श्रुतिः ' यावन्नविमोक्षे ' इत्यत्र शरीरमोक्षमपि सूचयति ' सम् ' इति संपत्तिप्रति-  
बन्धकसामान्यविनिर्मुक्त्याभिप्रेति इति श्रुत्योर्द्वयोरनुसृत्य स्फुटं प्रतीयते । ' यावन्नविमोक्षे ' इत्यत्र मुक्तेरुक्त्या मुक्त-  
स्यैव संपत्तिविवक्षितेति प्रतीयते । सा च संपत्तिः दहरविद्याया गतिवाक्यानन्तरं ' अस्माच्छरीरात्समुत्थाय ' इति  
वाक्येन समानानुपूर्विकप्रजापतिविद्यागतश्रुतौ ' शरीरात्समुत्थाय ' इत्यत्र उक्तान्ते ' सम् ' इत्यनेन पुनः स्मूलशरीर-  
प्राप्त्यभावसूचकसूक्ष्मशरीरविगमपर्यवसानस्य च विवक्षितत्वेन ' उपसंपद्य ' इत्यत्र उपैति शब्दविन्यासेन च प्रागुक्तसम्प-  
त्तिरेव विवक्षितेति निश्चयः । एवं च ' सदायतनाः ' इतिवत् ' शुभ्याद्यायतनम् ' इति शब्दप्रयोगेण ' मुक्तोपसृप्य  
इति सूत्रविन्यासेन सद्विद्यायामपि मुक्तोपसृप्यत्वं विवक्षितमिति सूचितम् । परैः ' यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि  
स्थिताः । —समभ्रुते ' इति श्रुतिमुपादाय तत्रोक्तप्राप्तिविवक्षितेति वर्णितम् । अत्र ' उप ' इत्युपसर्गजलेन ' अयमर्थो न  
विवक्षित इति स्फुटं निर्मत्तराणाम् ॥

## श्रीभाष्यम्

आथर्वणिका अधीयते 'यस्मिन्ध्याः पृथिवी चान्तर्दिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः । तमे वैकं जानयात्मानमन्या चाचो विमुञ्चय अमृतस्यैव सेतुः' (मुण्डक.२.२.५) इति । तत्र संशयः किमयं शुपृथिव्यादीनामायतनत्वेन श्रूयमाणो जीवः उत परमात्मा-इति । किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः 'अराइव गयनाभौ संहता यत्र नाड्यस्म एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः' (२.२.६) इति परस्मिन् श्लोके पूर्ववाक्यप्रस्तुतं शुपृथिव्याद्यायतनं यत्र इति पुनरपि सतन्म्यन्तेन परादय तस्य नाट्याधारत्वमुपस्था पुनरपि 'स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः' (२.२.५) इति तस्य बहुधा जायमानत्वं चोच्यते ; नाडीसन्धयो देवादिरूपेण बहुधा जायमानत्वं च जीवस्यैव धर्मः । अस्मिन्नपि श्लोके 'ओतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः' (२.२.६) इति प्राणपञ्चकस्य मनसश्चायतनत्वमुच्यमानं जीवधर्मण्य । एवं जीवत्वे निश्चिने सति शुपृथिव्याद्यायतनत्वादिकं यथाकथञ्चित्सङ्गमयितव्यम् इति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

(आध्यायनमिष्येतावति वक्तव्येऽपि शुभ्रादीः पुक्तेरयभावः ऊर्ध्वा अपराश्चेति कोटिद्वयान्तर्गता लोकाः । इदं शं-  
नाथौ शुभ्रशब्दाविति । विषयमाह आथर्वणिका इति । तत्रेति । किं शुपृथिव्याद्यायतन जीवः उत परमा मेतितिचारः  
तदर्थं 'यस्मिन्ध्याः' इत्यादिवाक्यजात किमदस्यत्वादियुगकप्रकरणान्निन्न उनाभिन्नम् । तदर्थं मनःप्राणादिसन्धः  
किमुपक्रमोपकरणित्वलक्षणः उनाधारायेयभावलक्षणः तदर्थं शुपृथिव्याद्यायतनत्वामृतसेतु वादिधर्माः, किं कर्मफलान्तर्जो-  
वस्य सम्भवात् ? उत अनश्न इति । यदा कर्मफलान्तर्जोवस्य सम्भवन्ति तदा मनआदिसन्धस्य करणतद्वत्तारुपर्या  
तस्य प्रकरणविच्छेदकत्वेन शुभ्राद्यायतन जीवस्यात् । यदाऽमृतसेतु वादयोऽनश्नतो धर्माः तदा मनआदिसन्धस्य  
आधारायेयभावरूपेण परप्रकरणाविच्छेदाद्शुपृथिव्याद्यायतन परमात्मेति पलित स्यात् 'अराइव' इत्यादेरनन्तरश्लो-  
कस्य शुभ्राद्यायतनप्रियत्वं दर्शयन् जीवल्लिङ्गमाह—पूर्ववाक्येति । लिङ्गान्तरमाह—पुनरपि सपपञ्चति । तत् कि-  
नित्यमाह—नाडीसन्ध इति । नाडीनामिन्द्रियसन्धित्वेन जीवस्य शानप्रसरद्वत्वात् 'ताभिः प्रत्ययसृप्य पुरीतति  
शेते' 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमोत विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' इत्यादिश्रुतिभिर्जीवस्य नाडीसंयोगप्रसिद्धेश्च तत्स-  
न्धो जीवल्लिङ्गमिति भावः ॥

देवादिरूपेणेति बहुधा शब्दविवरण अन्तरादित्यत्रिचायामकर्मकृतस्वेच्छागृहीतदिध्यविग्रहयोगारुमार्थितः, ननु  
देवादिसंजातीयरूपैर्बहुधा जायमानः बहुधा शब्दार्थ इति सूत्रकारेण निरूपितम् । अतस्तस्य जीवत्वशङ्का युक्तेति भावः  
'यस्मिन्ध्याः' इति पूर्वश्लोक जीवपर दर्शयति अस्मिन्नपीति । ननु कथं मनः प्राणसन्धस्य जीवत्वसाधकतयोप-  
न्यासः स हि परस्य सम्भवतीति 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इत्यत्रोक्तम् सत्य तथाऽपि मनःप्राणैरुपकरणोपकरणित्वलक्षण-  
सन्धस्य स्वरसतःप्रतीनेस्तस्य चापवादाभावे सति कार्यकरत्वेन प्रागुक्तनिर्वाहायोगाच्च युक्ता इति । अतो नाडीसन्ध-  
बहुधाजायमानत्वमनःप्राणाधारत्वजीवल्लिङ्गैः पूर्वपक्षोक्त्यान युक्तम् । तत्रैव श्लोके शुपृथिव्याद्यायतनत्वरूपपरमा मल्लिङ्ग-  
दृश्यत इत्याह—एवं जीवत्वे निश्चितइति । द्वयोरपि जीवपरयोर्लिङ्गप्रतिभासेन विरोधाद् यत्तदलिङ्गभेदेऽदस्यभाविनि  
यादिल्लिङ्गोत्तरश्लोकप्रतिपक्षलिङ्गद्वयानुगुण्य तद्विज्ञानुसारिण्यर्थनिर्णये कर्तव्यसतीत्यर्थः । यथान्धञ्चित्सङ्गमयितव्य  
मिति । जीवस्य शुपृथिव्याद्याधारत्व स्वरूपेण वा कर्मद्वारा वा मुक्तानस्याया विकसितेन शानेन वा सम्भवतीति भावः ।

## श्रीभाष्यम्

एवं प्राप्ते प्रचक्षते—‘ शुभ्याद्यायतनं स्वशब्दात् ’ शुभ्याद्यादीनामायतनं परं ब्रह्म ।  
 कुतः ? स्वशब्दात्-परब्रह्मासाधारणशब्दात् । ‘ अमृतस्यैव सेतुः ’ (मु.२.२.५) इति परस्य  
 ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दः । ‘ तमेवं विद्यानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ’  
 (पुरुषसू.) इति सर्वत्रोपनिषत्सु स एवामृतत्वप्राप्तिहेतुश्च्युते । सिनोतेश्च चन्धनार्थत्वात्  
 सेतुः अमृतस्य प्रापक इत्यर्थः । सेतुरिव वा सेतुः नद्यादिषु सेतुर्हि कूलस्य प्रतिलम्भकः-  
 संसारार्णवपारभूतस्यामृतस्यैवप्रतिलम्भक इत्यर्थः । आत्मशब्दश्च निरुपाधिकः परस्मिन्-  
 ब्रह्मणि मुख्यवृत्तः, आगोतीति छात्मा ; स्वेतरसमस्तस्य नियन्त्रित्वेन व्याप्तिस्तस्यैव सम्भ-  
 वति । अतस्सोऽपि तस्यैव शब्दः । ‘ यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् (मु.२.२.७) इत्यादयश्चोपरितनाः  
 परस्यैव ब्रह्मणशब्दाः । नाड्याधारत्वं तस्यापि सम्भवति ‘ सन्ततं सिरामिस्तुल्यवत्याकोश  
 सन्निभम् ’ इत्यारभ्य ‘ तस्यादिशाखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ’ (तै.नाराणे.१३.अनु)  
 इति श्रवणात् । ‘ बहुधा जायमानः ’ (मु.२.२.६) इत्यपि परस्मिन् ब्रह्मणि सङ्गच्छते ‘ अ-  
 जायमानो बहुधा विजायते । तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम् ’ (पुरुषसू.) इति देवादीनां  
 समाश्रयणीयत्वायतत्तज्जातीयरूपसंस्थानगुणकर्मसमन्वितः स्वकीयं स्वभावमजहदेव स्वे-  
 च्छया बहुधा विजायते परः पुरुष इत्यभिधानात् । एवं स्मृतिरपि ‘ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा  
 भूतानामीश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ’ (गी.४.६) इति ।  
 मनःप्रभृतिजीवोपकरणाधारत्वं च सर्वाधारस्य परस्यैवोपपद्यते ॥

इतश्च परमपुरुषः-

## सू-२ मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च [१.२.२]

## श्रुतप्रकाशिका

शुभ्याद्यादीनामित्यादि । सेतुशब्दस्य सलिलनिरोधकं प्रसिद्धत्वेनामृतस्य निरोधकत्वप्रसङ्गेन रुढार्थानुपपत्तौस्त्याम-  
 स्वारस्यसाभ्यात्तमुभयथा व्याचष्टे सिनोतेरिति, सेतुरिवयेति च । प्रथमनिर्वाहे रुढिपरित्यागादस्वारस्यं द्वितीयेत्वगत्य,  
 रुढ्ययगतगुणयोगपरत्वादस्वारस्यम् । गुणयोगफलितमर्थमाह-संसारेति । इयेनसाहचर्याद्यगे इयेनशब्दवत् सेतुसाह-  
 चर्यापरमात्मनि सेतुशब्दः । विहङ्गयागयोर्हि निपत्यादानम् । ‘ अन्तःप्रविष्टशब्दास्तजानानां सर्वात्मा ’ इति श्रुत्यनु-  
 सारेणात्मशब्दं व्याचष्टे आत्मशब्दश्चेति । आत्मशब्दो न व्याप्तमात्रवाची, किंतु व्याप्तविशेषवाची योगरुढत्वात् नहि  
 गगनादिव्याप्तशब्दप्रयोगः अतो नियन्त्रुरूपव्याप्तविशेषवाचीत्यर्थः । ‘ अमृतस्यैव सेतुः ’ ‘ आत्मानम् ’ ‘ यस्सर्वज्ञ-  
 स्सर्ववित् ’ इत्यादयः स्वशब्दा इत्यर्थः । परोक्षहेतुनिर्वाहमाह-नाड्याधारत्वमित्यादिना । नाड्याधारत्व हृदयद्वारा  
 परमात्मनस्सम्भवतीत्यर्थः । अजायमानइति । जन्मनो हेतुविशेषः फलविशेषश्चेतिभावः । तद्वैशद्यायाह-स्मृतिरपीति ।

## सू-२ मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च (१.३.२)

नामरूपप्रहाणमात्रं प्रलयदशायामप्यस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं विधूतपुण्यपापत्वपूर्वकत्वं नामप्रहाणस्य दर्शयितुं श्रुति-  
 वाक्यद्वयोपादानम् । उपात्तश्रुतिवाक्ये बन्धामुक्त इति शब्दस्याश्रुतत्वा-मुक्तिप्रतिपादनं दर्शयति—

### श्रीभाष्यम्

अयं शुद्धिचिन्त्याधायतनभूतः पुरुषः संसारवन्धनमुपतैरपि प्राप्यतया व्यपदिश्यते  
'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय  
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु.३.१.३) 'यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति  
नामरूपे विहाय । तथा विद्वानामरूपादिमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु.३.२.८)  
इति । संसारवन्धनादिमुक्ता एव हि विधूतपुण्यपापा निरञ्जना नामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताश्च  
पुण्यपापनिवन्धनाचित्संसर्गप्रयुक्तनामरूपभाष्यमेव हि संसारः । अतो विधूतपुण्यपापै-  
निरञ्जनैः प्रकृतिसंसर्गरहितैः परेण ब्रह्मणा परमं साम्यमापन्नैः प्राप्यतया निर्दिष्टो शुद्धि-  
चिन्त्याधायतनभूतः पुरुषः परं ब्रह्मैव ॥

परब्रह्मासाधारणशब्दादिभिः परमेव ब्रह्मेति प्रसाध्य, प्रत्यगात्मासाधारणशब्दाभा-  
वाच्चायं पर एवेत्याह—

### सू-३ नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च (१.३.३)

#### श्रुतप्रकाशिका

संसारवन्धनादिति । वाक्यद्वयोक्तविशेषणान्याह—विधूतेति । मुक्त्यमुपपादयति पुण्यपापेति । वाक्यद्वयोक्तविशेष-  
णानि विशदीकृत्यन् सूत्रार्थपरमसाध्येन धृत्यति अतइति । निरञ्जनशब्दव्याख्यानं प्रकृतिसंबन्धरहितैरितिपदम् ॥ परमं  
साम्यमिति । येन गुणेन साम्यं तस्यापरिच्छिन्नत्वं परमसाध्यं नतु सर्वथा साम्यम् ॥

उत्तरसूत्रमवतारयति परब्रह्मेति । पूर्वमन्वय उक्तः, अथ तद्वाक्यार्थं व्यतिरेक उच्यत इत्यर्थः—

### सू-३ नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च (१.३.३)

सूत्रसङ्गतेर्बुद्धिस्यत्वाय प्रथमं सङ्गच्छमानं सूत्रस्य वाक्यार्थमाह—यथेति । मुक्तोपसृप्यत्वेऽभिहिते प्रधानशङ्का  
नुदयेन तस्य व्युदसनीयत्वाभावात्तदुपन्यासो दृष्टान्तत्वेतिभावः । किमत्र प्रधानोपस्थापकं पदमित्याकाङ्क्षाया व्याख्येयं  
पदं व्याचष्टे अनुमीयतइति । 'कृत्यस्युदो बहुलम्' इति बहुलप्रहणात् कर्मणि व्युदितिभावः । अनुमानेति ।  
'शेष' इत्यण्प्रत्यये आदिशब्दौ च गत्यामानुमानमितिरूपं भवति तद्व्यतिरिक्तवाचिशब्दादिति प्रतीतिशङ्कानिवृत्त्यर्थं  
'अतच्छब्दात्' इति पदं व्याचष्टे तद्वाचीति । अर्थाभावे यदव्ययमिति न सूत्रोपादानं अपि वर्थोपादानं, सूत्रस्य  
क्षारीयत्वात् । अयमभिप्रायः । 'अतच्छब्दात्' इति बहुमीहिस्तावदनुपपन्नः । तदा तच्छब्दरहितादिति स्यत् ; ततश्च  
विशेषणान्तरं हेतुनयाऽन्वेष्टव्यम् तच्चानुपलम्बहतम् । तत्पुरुषत्वे न अस्तत्पदेन शब्दपदेन वा समानस्यात् । तत्र प्रथमे  
वचः इत्यपेक्षया प्रकृतात्परमात्मनोऽन्यत्प्रधानं जीवो वा यद्यसच्छब्दार्थः तथा प्रधानपुरुषवाचिशब्दादिभिरुक्तं स्यात्  
तत्रासिद्धिः प्रतिज्ञातार्थविरोधश्च स्यात् । असःप्रधानादिव्यतिरिक्तः परमा मा चेत् तद्वाचिशब्दादिभिरुक्ते 'स्वशब्दात्'  
इत्यनधिकारार्थत्व स्यात् । तथा च सात नानुमानमत एव प्राणभृच्च इत्यार्जवेन शक्ये सूत्रप्रणयने कुटिलोक्तिर्विपत्त्या  
स्यात् । न प्रसक्तच्छब्दपदेन समासपक्षेऽपि तद्वाचिशब्दव्यतिरिक्तशब्दादिभिरुक्तं स्यात् । तदा तच्छब्दः प्रधानजीवपरमे-



## गूढार्थसङ्ग्रहः

(इयं च श्रुतिः कठोपनिषदि वर्तते । एवं बृहदारण्यकेऽपि कठे 'शतवैका च' इति श्रुतिः या वर्तते सैव दहर विद्यायामपि उपलभ्यते । मुक्तिरूपफलस्य उपसर्पतिवाक्यविवक्षितस्य सूत्रकारेण निर्धारणेन 'हार्दानुगृहीतशताधिक्या' इत्युक्तश्रुत्यर्थस्यैव च प्रतिपादनेन उपसंपत्तिः तादृशश्रुत्युक्तगमनानन्तरकालिक्येवेति निर्णयः सम्भवति । एव च तादृश्य उपसर्पतिरेव 'परात्परं पुरुषमुपैति' इत्यत्र विवक्षितेत्यभिप्रेत्य 'मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च' इति सूत्रम् । तदनेन सूत्रद्वयेन मुक्तिहेतुत्वं मुक्तप्राप्यत्वं जीवेऽसमाधितमिति प्रतिपादितं भवति । 'तत्त्वोपनिषद पुरुष, विज्ञानमानन्द ब्रह्म रातिर्दातुः परायण तिष्ठमानस्य तद्विदः' इत्यत्रैकेनैव परायणशब्देन कर्मविद्याफलहेतुत्वस्य प्रतिपादनेन कर्मफलहेतुत्व यथा प्रीतिद्वारक तद्वत् विद्याफलहेतुत्वमपीत्यर्थः व्यक्तः ॥

तत्र 'परायणम्' इत्यनेन ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वस्य परमात्मनि प्रतिपादनेन विद्याया अपि प्रीतिद्वारा तद्वेतु वमभिप्रेतम् कर्मक्षयोत्तर ब्रह्मप्राप्तिः सद्बिद्यायामेतदधिकरणविवक्षितविद्याया च स्फुटा । उपनिषदि पुरुषशब्दः कर्मदाहकपरः । ब्रह्मशब्दः बृहत्तीति व्युत्पत्त्या ब्रह्मप्राप्तिहेतुपरः, एतदुभयहेतुत्व परमात्मनः विद्याजन्यप्रीतिद्वारकमेव । इत्यमर्थविवक्षाया औपनिषदत्वमपि पुरुषस्य सङ्गतं भवति । 'उपनिषद भो ब्रूहि उक्तातुपनिषत् ब्राह्मी वावत उपनिषदमब्रूम' इति तलवकारोपनिषदि श्रूयते । अत्र 'षदल् विशरण' इति घात्वर्थविद्याविशरणहेतु व ब्रह्मविद्याया विवक्षितमिति वाचस्पतिना भामत्यामुक्तम् । प्रागुदाहृतश्रुतिषु कर्मक्षयस्य प्रतिपादनेन कर्मविशरणहेतुत्व पुरुषशब्दार्थहेतुभूत विवक्षितमित्येव युक्तम् । एव तत्रैवोपनिषदि 'उपनिषद भो ब्रूहि' इत्याद्युत्तर 'योवा एतामेव वेदापहत्य पाप्मानम्' इत्यत्र पापक्षयस्याभिधानेन उपनिषच्छब्दे पापक्षयहेतुत्व प्रतिपादितम् । एव 'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्' इति पूर्वश्रुतौ विद्याया ब्रह्मप्राप्तिहेतु वप्रतिपादनेन 'ब्राह्मी ववात्र उपनिषद अब्रूम' इत्यत्र ब्रह्मविषयिणी ब्रह्मप्रापिका च उपनिषदमित्येवार्थो विवक्षित इति । 'षदल् विशरणगत्यवसादनेषु' इति घातो गत्यर्थकत्वेन उपनिषच्छब्दे ब्रह्मप्राप्तिहेतुभूतत्वमपि विवक्षितमित्यर्थद्वयस्यापि विवक्षणेन 'औपनिषद पुरुषम्' 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादौ ब्रह्मप्राप्तिहेतु वस्य विद्याया अभ्युक्ततया कर्मक्षयब्रह्मप्राप्त्येतदुभयहेतुब्रह्मविद्याविषयएवोपनिषदपुरुष । स एव पराविद्यासामान्यविषयइत्यर्थः सूत्रद्वयेन सूत्रकृता व्यञ्जितो भवति ॥

एतत्सूत्रद्वयानन्तरं 'नानुमानम्' इति सूत्रनिर्देशेन सूत्रद्वयोक्तहेतुद्वयस्यानासम्भवं प्रतिपादितम् । तत्र प्रथमसूत्रे 'स्वशब्दात्' इत्युक्तया तद्व्यतिरेकः 'अतच्छब्दात्' इत्यनेनाभिहितः । अन्तर्याम्यधिकरणेन 'तद्धर्मव्यपदेशात्' इति पूर्वसूत्रे सत्वेन व्यतिरेकः 'अतद्धर्माभिलाषात्' इत्यनेनोक्तः । तावताऽपि पूर्वसूत्रोक्तमुक्तोपसृप्यत्वामादोऽप्यत्र विवक्षितः । तद्धर्मप्रतिपादकशब्दाभावस्याप्यतच्छब्दात् इति सामान्यतो निर्देशेन शब्दशब्दस्य वाक्यपरत्वस्यापि सम्भवेन वाक्यप्रतिपाद्यधर्मविवक्षा सम्भवतीति पूर्वसूत्रोक्तहेतुव्यतिरेकोऽपि प्रतिपादितः ॥

'नानुमानम्' इति पूर्वसूत्रेण लिङ्गेन जीवो नात्र विवक्षित इत्युक्तम् । 'भेदव्यपदेशात्' इत्यत्र जीवाभिस्त्येन 'यस्मिन्धीः' इति श्रुतिपण्डानन्तरपण्डे हेतुत्वमुक्तम् इति तेन जीवस्य नात्र विवक्षेयुच्यते । अत्र 'भेदव्यपदेशात्' इत्युक्तया भेदत्वेन भेदबोधकशब्दस्य सत्वे स एव सूत्रकृताऽपर्यविषय इति शास्त्रेयभावेन 'तमेवैकं जानय' इत्यत्र भेदव्यपदेशः विवक्षित इति परोक्षार्थो न युक्तः । सर्वत्रप्रसिद्धधिकरणे 'कर्मकर्तृव्यपदेशात्' इत्यनन्तरं 'भेदव्यपदेशात्' इति विन्यासेन कर्मकर्तृव्यपदेशाभिप्रेतभेदव्यपदेशस्य प्रतिपादनेन तत्र शाण्डिल्यविद्याया भेदत्वेन भेदबोधक शब्दाभावेन पष्ट्या भेद उपपादितः । यत्रतु विद्यायां सर्वथा भेदव्यपदेशः इत्यनेन दृश्यते, तत्र

### गूढार्थसङ्ग्रहः

कर्मकृतं भागनिबन्धनभेदव्यपदेशः विवक्षित इति स्यान्नाम । नचात्र तथा वर्तते । एतेन शाण्डिल्यविद्या सगुणविद्या इय निर्गुणविद्येति कल्पनाऽपि सूत्रकारासम्भवा । अत्र 'शुष्ट यदा पश्यति' इति श्रुत्यनुसारेण 'तमेवैक जानथ' इत्यत्र सामान्यतः शानमात्रोक्तावप्येतदुत्तरम् 'ओमित्येवा मानं ध्यायथ' इति तद्विशानेन परिपश्यन्ति घोराः 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति श्रुतिप्रमपर्यालोचनाया शान ध्यानरूप तत्परिणामसमाधिरपि अपरोक्षज्ञानरूपा तस्य कर्म-क्षयः पश्यन् इत्युक्तावपि 'मिथ्ये हृदयग्रन्थिः' इति वाक्यमात्र मनसि निधाय अविद्यानिवृत्तिरेव परममिति मण्डनसुरे श्वरादयो वदन्ति । तच्च दृष्टद्वारक इति च । तन्मते अविद्यानिवृत्तः चरमवृत्तिरूपत्वेन साध्यसाधनभावस्यानङ्गीकारात् श्रुतिस्वरस्य दुर्लभम् ॥

कर्मक्षयसहभावेन 'तस्मिन्दृष्टे' इत्युक्त्या दर्शनस्य कर्मक्षय एव परममिति स्फुटम् । तेन विद्यायाः प्रायश्चित्तरूपत्वं दर्शितं भवति । 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रे 'शुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशम्' इति श्रुतेर्विवक्षितत्वेन अविद्याप्रहेतुकेशत्वविशिष्टस्य अनवधिकमहिमवतः शानस्य प्रीतिद्वारकशोकनिवृत्तिः प्रतिपाद्यते । एतेन अदृष्टद्वारकं परमं प्रदर्शितम् । कर्मक्षयः पूर्वम् तन्निमित्तशोकक्षयः अत्र इत्यमेव श्रुतितात्पर्यस्य 'तरति शोक तरति पाप्मानम्' इति मुण्डकोपसहारे प्रतिपादनेन 'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' इत्यत्र 'मिथ्ये हृदयग्रन्थिः' इति श्रुतौ सर्वसाधारण-मेवैव ग्रन्थिर्विनिवृत्तेति वर्णनेन 'ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र 'एव'शब्दः इवार्थकः । 'परमसाध्यमुपैति' इत्युक्तसाध्य-विनिवृत्तिमिति सूत्रेण च निर्णीतं भवति । भावप्रकाशे तृतीयसम्पुटे (११३) पुटादावयमर्थो विवृतः ॥

'प्रकरणात्' प्रथमसूत्रद्वये उपक्रमोपसंहारयोः 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' परापर, पुरुषमुपतिदिव्यम् इति सूत्रेण पश्यत्यन्यमीश—वीतशोकः' इति श्रुत्युक्तार्थस्य च 'तरति शोक तरति पाप्मानम्' इत्युपस-मापक्रमप्रभृति उपसंहारपर्यन्त परमात्मप्रकरणमिति निर्धारितम् । मध्ये नाडीसन्ध्यादु ध्यायान्-अप्रान्तरप्रकरणेन तत्र जीवविवक्षा शङ्का । तत्रैव स्रष्टे परमात्मासाधारणधर्मशब्दयोस्त्वत्वेन तदनन्त-स्रष्टे जीवभिज्ञेशज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वप्रतिपादनेन 'तमेवैक जानथ' इत्यत्र पूर्वपक्षसमतजीवज्ञान जीवभिज्ञेशज्ञानमेव विवक्षितमिति निर्णयेन अप्रान्तरप्रकरण नास्तीति निर्धारितम् ॥

'स्थित्यदनाभ्या च' । स्थित्यदनाभ्यां च इति सूत्रस्यान्ते विन्यासेन 'गुहा प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात्' इति जीवपरमात्मानावव विवक्षिताविति निर्णीतम् । अत्र 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इति मुण्डकोपनिषदर्थ-निरूपणमुपक्रम्य 'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरो' इत्यत्र भेदव्यपदेशो यउक्तः तस्यैव भेदव्यपदेशस्य 'भेद-व्यपदेशात्' इति सूत्रे अभिधानेन मुण्डकोपनिषदि जीवभिन्नपरमा मेव महाप्रकरणे विवक्षितः अवाप्तरप्रकरण नास्त्ये-वेति निर्णय कृत्वा 'स्थित्यदनाभ्यां च' इति सूत्रे कर्मवश्यत्वतदभावयोरुभयोः प्रतिपादनेन जीवभेदः परमात्मनिषाधितः एव मुक्तिपर्यन्तमाविद्यको भेदइति भ्रमनिरासाय 'मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च' इति सूत्रेण परमते मुक्तप्राप्त्यत्वायोगेन प्राप्यत्वप्राप्त्य वरूपमुक्ति कालिकधर्मद्वयेन मुक्तौ जीवपरभेदः तात्त्विकइति समर्थनेन पराविद्यासामान्य जीवभिन्नसगुणपरब्रह्म विषयकमिति सूत्रकृदाशयः स्फुट निर्मत्तराणाम् ॥

इति शुभाचार्यधिकरणं समाप्तम्

## श्रीभाष्यम्

यथाऽस्मिन्प्रकरणे प्रतिपादकशब्दाभावात्प्रधानं न प्रतिपाद्यम् ; एवं प्राणभृदपीत्यर्थः अनुमीयत इत्यनुमानं परोक्षतः प्रधानमुच्यते, अनुमानप्रसिद्धत्वादानुमानमिति वा ; अतच्छब्दात् तद्वाचिशब्दाभावादित्यर्थः । ‘अर्थाभावे यदव्ययम्’ इत्यव्ययीभावः ॥

इतश्चायं न प्रत्यगात्मा—

## सू-४ भेदव्यपदेशात् (१.३.४)

‘समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-  
मस्य महिमानमिति वीतशोकः’ [श्वे.४.७, सु.३.१.२] इत्यादिभिर्जीवाद्द्विलक्षणत्वेनायं व्यप-  
दिष्यते । अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानश्शोचति जीवः ; अयं यदा स्वस्मादन्यं  
सर्वस्येशं प्रीयमाणम् अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निखिलजगन्नियमनरूपं पश्यति तदा  
वीतशोको भवति ॥

## श्रुतप्रकाशिका

तद्वाचिशब्दादित्युक्तं भवति तत् ‘स्वशब्दात्’ इत्यनधिकार्यं तच्छब्दः परमात्मपरश्चेत् तद्वाचिशब्दव्यतिरिक्तदि-  
हेतुः प्रतिज्ञातार्थविरुद्धस्यात् । अतः पारिशेष्यादर्थभावेऽव्ययीभाव इति ॥

‘इतश्चायं न प्रत्यगात्मेति । प्राणभृत्प्रतिषेधकसूत्रानन्तर्यामिन्दनन्तःसूत्रस्यापि प्राणभृत्प्रतिषेधस्तथा इत्यर्थः  
अयंशब्दो शुभ्वाद्यायतनात्मविषयः मुक्तोपसृप्यसूत्रविषयवाक्ये ‘पश्यते रुक्मवर्णम्’ इत्युक्तं ‘जुष्टं यदापश्यति  
इति तत्तुल्यार्थतया बुद्धिस्थवाक्यान्तरप्रतिषेध हेतुमाह—

## सू-४ भेदव्यपदेशात् (१.३.४)

‘समाने वृक्षे’ इति मन्त्रे अस्य शब्दार्थो भेदव्यपदेशशब्देन । अथस्य शब्दस्य शुभ्वाद्यायतनविषय-  
कथमिति शङ्काया मन्त्र व्याचष्टे अनीशयेति । स्त्रीलिङ्गसामर्थ्यात् प्रकृतेर्विशेष्यत्वमुक्तम् । अस्य शब्दसामर्थ्यस्य  
प्रतियोगिन् निर्दिशति स्वस्मादिति । ईशशब्दसामर्थ्यप्राप्तमीशितस्य मानांतरानुगोचेनाह— सर्वस्येति । जुष्टं  
व्याचष्टे प्रीयमाणइति । आदिकर्मणिक इतिभावः । समुच्चैतव्यसामर्थ्यप्राप्तशब्दइत्यभिप्रायेणाह—महिमं नैवेति ।  
इतिशब्दार्थमाह—निखिलजगन्नियमनरूपमिति । इतिशब्दो बुद्धिस्थप्रकारपरः ईशशब्दभ्रवणाद्वियमनरूपप्रकारो बुद्धि-  
स्थइति भावः । यत्तदोर्नित्यसंख्यादाह—तदेति । इतिशब्दः कालमध्यन्धरूपप्रकारवाची अतस्तदर्थस्तदाशब्दनिर्दिष्टो-  
वा स्यात् । द्रष्टृत्वसमानाधिकरणं मुख्यमानवादिषु दृश्यत्वसमानाधिकरणं जुष्टं वादिकं न्ययं न पश्यतिशङ्कीयं बुद्धि-  
‘तमेवैकं जानथ’ इति श्रुत्यया निर्दिष्टं शुभ्वाद्यायतनमात्मनमन्यशब्दवाच्यत्वेन प्रत्यभिज्ञायन्ती तस्य जीवस्य  
धारयतीति वाक्यार्थः ॥

द्वितीयचतुर्थसूत्रविषयाभ्यां ‘यदा पश्य, पश्यते’ ‘जुष्टं यदा पश्यति’ इति वाक्याभ्यामप्यप्यदिशु-  
विषयस्य ‘यद्भूतयोर्नि पारिपश्यन्ति’ इति वाक्यस्य समानार्थत्वाद्बुद्धिप्रकरणमेव हेतु स्थित्यदनाभ्यां पूर्वमेवाह—

श्रीभाष्यम्

सू-५ प्रकरणात् (१.३.५)

प्रकरणं चेदं परस्य ब्रह्मण इति 'अदृश्यत्वादिगुणको-धर्मोक्तेः' इत्यत्रैव प्रदर्शितम् । नाडीमन्यन्वचदुधाजायमानन्यमनः प्राणाधारत्वेऽथ प्रकरणविच्छेदाशङ्कामात्रमत्र पर्यहारम्

सू-६ स्थित्यदनाभ्यां च (१.३.६)

'ह्यसुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपश्यताते । तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-  
नश्नन्नन्यो अभिचारुदीति' (श्वे.४.६, मु.३.१.१) इत्येकस्य कर्मफलादनम्, अन्यस्यच कर्म  
फलमनश्नत एव दीप्यमानतया शरीरान्तस्थितिमात्रं प्रतिपाद्यते । तत्र कर्मफलमनश्नदीप्य  
मान एव सर्वज्ञोऽमृतसेतुस्सर्वात्मा शुभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हति, न पुनः कर्मफलमनदन  
प्रत्यगात्मा । अतो शुभ्वाद्यायतनं परात्मेति सिद्धम् ॥

शुभ्वाद्यधिकरणं समाप्तम्

श्रुतप्रकाशिका

सू-५ प्रकरणात् (१.३.५)

भाष्ये अस्य सूत्रस्य साध्यनिर्देशमात्रः प्रकरणाख्यस्य हतोः प्राणभृत्प्रतिक्षेपे परमात्मसाधने च सामर्थ्यात् पूर्वत्रो  
त्तरत्रचान्वयो भविष्यतीत्यभिप्रायनिवन्धनः उत्तरसूत्रव्याख्यानेऽप्युभयमपि साध्यत्वेन निर्दिश्यते अदृश्यत्वादि इत्यस्मि-  
न् अधिकरणे 'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ' इति सूत्रव्याख्यानानुसारे तथाहीत्यादिनोपसंहृतमित्यन्तेन भाष्येण  
प्रकरणस्य परब्रह्मपरत्वं प्रतिपादितमित्यर्थः पूर्वमेवास्य प्रकरणस्य परमात्मपरत्वं साधितं चेत् किमेतदधिकरणारम्भेणेत्यत्राह  
नाडीसंयन्धेति । प्रकरणस्य लिङ्गेन बाधः पण्डित इत्यर्थः, नाड्याधारत्वं तस्यापि संभवतीत्यादिना भाष्येणास्याधिक-  
रणस्य लिङ्गत्वं ह्यारिहारपरत्वाह दर्शितम् ॥ अनुक्त प्रधानभूत हेतुमाह-

सू-६ स्थित्यदनाभ्यां च (१.३.६)

'अल्पाक्षतरम्' इति स्थितिशब्दस्य पूर्वनिपातः 'अभ्यर्हितं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्' इति वा, अभ्यर्हितत्वं पर-  
मात्मप्रत्यभिज्ञानेन प्रकरणाविच्छेदहेतुत्वात् स्थितेः भाष्ये श्रुतिप्रमाणेन व्याख्यातम्, न पुनः सूत्रार्थेण अस्मिन्ने जात-  
स्यापि प्रस्तुतत्वात् 'यस्मिन्धौः' इति मन्त्रोऽपि तत्प्रतिपादकस्यात्, अत्रादनशब्दवाच्यमोगोपकरणमनःप्राणसम्बन्ध-  
दर्शनादित्यत्राह-तत्र कर्मफलमिति । सर्वज्ञोऽमृतसेतुरित्यादिविशेषणाणि प्राकरणीकतयोक्तानि । उभयोः प्रस्तुतत्वेऽपि  
सर्वज्ञादिसमानाश्रयत्वात् स्वययोग्यत्वमनःप्राणसम्बन्धादेः परमात्मन्यमुख्यत्वाभावाच्च शुभ्वाद्यायतनत्वं परमात्ममर्म  
इत्यर्थः । जीवान्वययोग्यत्वमाह-न पुनारिति । कर्मफलमनश्निति, कर्मफलमनदन्निति चसायैह वनुवादः । (शोचन्



## गूढार्थसङ्ग्रहः

(इयं च श्रुतिः कठोपनिषदि वर्तते । एवं बृहदारण्यकेऽपि कंठे ' शतं चैका च ' इति श्रुतिः या वर्तते सैव दहर विद्यायामपि उपलभ्यते । मुक्तिरूपफलस्य उपसंपत्तिवाक्यविवक्षितस्य सूत्रकारेण निर्धारणेन ' हादांनुग्रहीतश्शताधिकया ' इत्युक्तश्रुत्यर्थस्यैव च प्रतिपादनेन उपसंपत्तिः तादृशश्रुत्युत्तगमनानन्तरकालिक्येवेति निर्णयः सम्भवति । एवं च तादृशमुपसंपत्तिरेव ' परायणं पुरुषमुपैति ' इत्यत्र विवक्षितेत्यभिप्रेत्य ' मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च ' इति सूत्रम् । तदनेन सूत्रद्वयेन मुक्तिहेतुत्वं मुक्तप्राप्त्यत्वं जीवेऽसंभावितमिति प्रतिपादितं भवति । ' तत्रौपनिषद पुरुष, विज्ञानमानन्द ब्रह्म रातिर्दातुः परायण तिष्ठमानस्य तद्विदः ' इत्यत्रैकेनैव परायणशब्देन कर्मविद्याफलहेतुत्वस्य प्रतिपादनेन कर्मफलहेतुत्वं यथा प्रीतिद्वारकं तद्वत् विद्याफलहेतुत्वमपीत्यर्थः व्यक्तः ॥

तत्र ' परायणम् ' इत्यनेन ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वस्य परमात्मनि प्रतिपादनेन विद्याया अपि प्रीतिद्वारा तद्वत्त्वमभिप्रेतम् कर्मक्षयोत्तरं ब्रह्मप्राप्तिः सद्विद्यायामेतदधिकरणविवक्षितविद्यायां च स्फुटा । उपनिषदि पुरुषशब्दः कर्मदाहकपरः । ब्रह्मशब्दः बृहदतीति व्युत्पत्त्या ब्रह्मप्राप्तिहेतुपरः, एतदुभयहेतुत्वं परमात्मनः विद्याजन्यप्रीतिद्वारकमेव । इत्यमर्थविवक्षाया औपनिषदत्वमपि पुरुषस्य सङ्गतं भवति । ' उपनिषदं भो ब्रूहि उक्तातुपनिषत् ब्राह्मी वाचत उपनिषदमब्रूम ' इति तल्लकारोपनिषदि श्रूयते । अत्र ' पदल्ल विशरण ' इति घात्वर्थविद्याविशरणहेतुत्वं ब्रह्मविद्याया विवक्षितमिति वाचस्पतिना भाष्यत्यामुक्तम् । प्रागुदाहृतश्रुतिषु कर्मक्षयस्य प्रतिपादनेन कर्मविशरणहेतुत्वं पुरुषशब्दार्थहेतुभूत विवक्षितमित्येव युक्तम् । एव तत्रैवोपनिषदि ' उपनिषदं भो ब्रूहि ' इत्याद्युत्तरं ' योवा एतामेव वेदापहत्य पाप्मानम् ' इत्यत्र पापक्षयस्याभिधानेन उपनिषच्छब्दे पापक्षयहेतुत्वं प्रतिपादितम् । एव ' आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ' इति पूर्वश्रुतौ विद्याया ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वप्रतिपादनेन ' ब्राह्मी वाचत उपनिषदं अब्रूम ' इत्यत्र ब्रह्मविषयिणी ब्रह्मप्राप्तिका च उपनिषदमित्येवार्थो विवक्षित इति । ' पदल्ल विशरणगत्यवसादनेषु ' इति घातोः गत्यर्थकत्वेन उपनिषच्छब्दे ब्रह्मप्राप्तिहेतुभूतत्वमपि विवक्षितमित्यर्थद्वयस्यापि विवक्षणेन ' औपनिषद पुरुषम् ' ' विज्ञानमानन्द ब्रह्म ' इत्यादौ ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वस्य विद्याया अप्युक्ततया कर्मक्षयब्रह्मप्राप्त्येतदुभयहेतुब्रह्मविद्याविषयएवौपनिषदः पुरुषः । स एव पराविद्यासामान्यविषय इत्यर्थः सूत्रद्वयेन सूत्रकृता व्यञ्जितो भवति ॥

एतत्सूत्रद्वयानन्तरं ' नानुमानम् ' इति सूत्रनिर्देशेन सूत्रद्वयोक्तहेतुद्वयस्यात्रासम्भवं प्रतिपादितः । तत्र प्रथमसूत्रे ' स्वशब्दात् ' इत्युक्त्या तद्व्यतिरेकः ' अतच्छब्दात् ' इत्यनेनाभिहितः । अन्तर्याम्यधिकरणेन ' तद्धर्मव्यपदेशात् ' इति पूर्वसूत्रे सत्वेन व्यतिरेकः ' अतद्धर्माभिलापात् ' इत्यनेनोक्तः । तावताऽपि पूर्वसूत्रोक्तमुक्तोपसृप्यत्वाभावोऽप्यत्र विवक्षितः । तद्धर्मप्रतिपादकशब्दाभावस्याप्यतच्छब्दात् इति सामान्यतो निर्देशेन शब्दशब्दस्य वाक्यपरत्वस्यापि सम्भवेन वाक्यप्रतिपाद्यधर्मविवक्षा संभवतीति पूर्वसूत्रोक्तहेतुव्यतिरेकोऽपि प्रतिपादितः ॥

' नानुमानम् ' इति पूर्वसूत्रेण लिङ्गेन जीवो नात्र विवक्षित इत्युक्तम् । ' भेदव्यपदेशात् ' इत्यत्र तु जीवमित्रस्यैव ' यस्मिन्धीः ' इति श्रुतिपण्डानन्तरपण्डे हेतुत्वमुक्तम् इति तेन जीवस्य नात्र विवक्षेत्युच्यते । अत्र ' भेदव्यपदेशात् ' इत्युक्त्या भेदत्वेन भेदबोधकशब्दस्य सत्वे स एव सूत्रकृत्तात्पर्यविषय इति शास्त्रज्ञभावेन ' तमेवैकं जानथ ' इत्यत्र भेदव्यपदेशः विवक्षित इति परोक्षार्थो न युक्तः । सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणे ' कर्मकर्तृव्यपदेशात् ' इत्यनन्तरं ' भेदव्यपदेशात् ' इति विन्योसेन कर्मकर्तृव्यपदेशमित्रभेदव्यपदेशस्य प्रतिपादनेन तत्र शाण्डिल्यविद्यायां भेदत्वेन भेदबोधक शब्दाभावेन पष्ठ्या भेद उपपादितः । यत्र तु विद्याया सर्वथा भेदव्यपदेशः इत्यत्र नैव दृश्यते, तत्र

### गूढार्थसङ्ग्रहः

कर्मकर्तृभावनियन्धनभेदव्यपदेशः विवक्षित इति स्यान्नाम । नचात्र तथा वर्तते । एतेन शाण्डिल्यविद्या सगुणविद्या इयं निर्गुणविद्येति कल्पनाऽपि सूत्रकारासम्भवा । अत्र 'ब्रुष्टं यदा पश्यति' इति श्रुत्यनुसारेण 'तमेवैकं जानय' इत्यत्र सानान्यतः शानमात्रोक्तावप्येतदुत्तरम् 'ओमित्येवात्मानं ध्यायय' इति तद्विशानेन परिपश्यन्ति धीराः 'धीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावेर' इति श्रुतिप्रमपर्यालोचनाया शान ध्यानरूप तपरिणामसमाधिरपि अपरोक्षज्ञानरूपा तस्य कर्म क्षयः कर्म इत्युक्तावपि 'मित्रे हृदयग्रन्थिः' इति वाक्यमात्र मनसि निधाय अविद्यानिवृत्तिरेव फलमिति मण्डनसुरे श्वरादयो वदन्ति । तच्च दृष्टद्वारक इति च । तन्मते अविद्यानिवृत्तः चरमवृत्तिरूपत्वेन साध्यसाधनभावस्यानङ्गीकारात् श्रुतिस्वारस्य दुर्लभम् ॥

कर्मक्षयसहभावेन 'तस्मिन्दृष्टे' इत्युक्त्या दर्शनस्य कर्मक्षय एव फलमिति स्फुटम् । तेन विद्यायाः प्रायश्चित्तरूपत्वं दर्शितं भवति । 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रे 'ब्रुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' इति श्रुतेर्विवक्षितत्वेन अविद्याग्रहेषु केशः प्रविशिष्टस्य अनवधिकमहिमवतः शानस्य प्रीतिद्वारकशोकनिवृत्तिः प्रतिपाद्यते । एतेन अदृष्टद्वारक फल प्रदर्शितम् कर्मक्षयः पूर्वम् तन्निमित्तशोकक्षयः अत्र इत्यमेव श्रुतितात्पर्यस्य 'तरति शोक तरति पाप्मानम्' इति मुण्डकोपसहारे प्रतिपादनेन 'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' इत्यत्र 'मित्रे हृदयग्रन्थिः' इति श्रुतौ सर्वसाधारणरूपेणैव ग्रन्थिर्विवक्षितेति वर्णनेन 'ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र 'एव'शब्दः इवार्थकः । 'परमसाम्यमुपैति' इत्युक्तसाम्यमेव विवक्षितमिति सूत्रेण च निर्णीतं भवति । भावप्रकाशे तृतीयसम्पुटे (११३) पुटादावयमर्थो विवृतः ॥

'प्रकरणात्' प्रथमसूत्रद्वये उपक्रमोपसहारयोः 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते' परापरपुरुषमुपैतिदिव्यम् इत्यर्थस्य 'ब्रुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्—वीतशोकः' इति श्रुत्युक्तार्थस्य च 'तरति शोक तरति पाप्मानम्' इत्युपसहारेऽपि प्रतिपादनेनोपक्रमप्रभृति उपसहारपर्यन्त परमात्मप्रकरणमिति निर्धारितम् । मध्ये नाडीसङ्घबहु छाज्यामानत्वयोरभिधानेन अन्तरप्रकरणेन तत्र जीवविवक्षा शङ्का । तत्रैव खण्डे परमात्मासाधारणधर्मशब्दयोस्त्वत्वेन तदनन्तरखण्डे जीवभेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वप्रतिपादनेन 'तमेवैकं जानय' इत्यत्र पूर्वपक्षसमतजीवज्ञान जीवभेदज्ञानमेव विवक्षितमिति निर्णयेन अन्तरप्रकरण नास्तीति निर्धारितम् ॥

'स्थित्यदनाभ्यां च' । स्थित्यदनाभ्यां च इति सूत्रस्यान्ते विन्यासेन 'गुहा प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात्' इति जीवपरमात्मानावयव विवक्षिताविति निर्णीतम् । अत्र 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इति मुण्डकोपनिषदर्थ निरूपणमुपक्रम्य 'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ' इत्यत्र भेदव्यपदेशो यउक्तः तस्यैव भेदव्यपदेशस्य 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रे अभिधानेन मुण्डकोपनिषदि जीवभिन्नपरमामैव महाप्रकरणे विवक्षितः अन्तरप्रकरण नास्त्येवेति निर्णय कृत्वा 'स्थित्यदनाभ्यां च' इति सूत्रे कर्मवक्ष्यत्वतदमावयोरुभयोः प्रतिपादनेन जीवभेदः परमात्मनि साधितः । एव मुक्तिपर्यन्तमाविद्यको भेदइति भ्रमनिरासाय 'मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च' इति सूत्रेण परमते मुक्तप्राप्त्यवयवयोगेन प्राप्यत्वप्राप्त्यवरूपमुक्ति कालिकधर्मद्वयेन मुक्तौ जीवपरभेदः तात्त्विकइति समर्थनेन परविद्यासामान्य जीवभिन्नसगुणपरब्रह्म विषयकमिति सूत्रद्वयार्थः स्फुट निर्मलराणाम् ॥

इति शुभाचार्यधिकरणं समाप्तम्

### श्रुतप्रकाशिका

इत्यनेन ‘ भेदव्यपदेशात् ’ इति शीघ्रहेतोरित्यान्वयोऽभिप्रेतः ‘ शोचति सुखमानम् ’ इति हि तद्विषयवाक्यम् । तदपि प्रत्यगात्मपरत्वप्रतिषेधद्वारा परमात्मपरत्वसाधकम् । अतरेकस्यान्वयशेषादिति भावः । अस्मिन् सूत्रे परमात्मपरत्वं श्रुत्या साध्यं प्रत्यगात्मपरत्वप्रतिषेधपरत्वाच्च इति नवाक्यभेदः ‘ अभिचाकशीति ’ इति परस्य दीप्यमानत्वाद् हि मन्त्रस्य ता पर्य-मवगम्यते जीवस्यानुत्पत्त्य तदुपयोगितया प्रतीयते ॥

ननु कथं ‘ द्वासुपर्णा ’ इति मन्त्रस्य जीवपरमात्मभेदपरत्वं, अन्तःकरणजीवपरोक्षस्य मन्त्रः पौञ्जिष्टस्य ब्राह्मणे-नास्य मन्त्रस्य तथा व्याख्यातवत् । तथा हि ‘ तयोरन्यपिप्पल स्याद्वृत्ति ’ इति सूत्रं ‘ अनभ्रन्नन्यो अभिचाकशीति ’ इति अनभ्रन्नन्यो अभिचाकशीतिः । तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ इत्यत्र ‘ स्याद्वृत्ति ’ इत्येतदन्तस्य वाक्यस्य सत्त्वपरत्वं ‘ अन-भ्रन् ’ इत्यादेः क्षेत्रज्ञपरत्वं च प्रतीयते । नच सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दौ जीवपरमात्मपरत्वमिति वाच्यम् ; तयोश्चान्तयोः अन्तःकरणजीवपरतया प्रसिद्धत्वात् ‘ तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति अथ योऽयं शरीर उपद्रष्टा सक्षेत्रज्ञ तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ ’ इति सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोः अन्तःकरणजीवशब्दाभ्यां पौञ्जिष्टस्यैव व्याख्यातत्वाच्च, येन पश्यतीति करणत्वप्रतीतिरसत्त्व-अन्तःकरण स्वप्नद्रष्टृत्वाच्च क्षेत्रज्ञो हि जीवः । अतोऽयं मन्त्रोऽन्तःकरणजीवपर इति । उच्यते—नन्तः जीवपरमात्मपरत्वस्य मन्त्रस्यापनदिदं शक्यते, अनेन तु मन्त्रेण तुल्यार्थतया प्रत्यभिज्ञायमाने ‘ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न ’ इत्यनन्तरे मन्त्रे जीवपरयोः प्रतिपत्त्यादस्य मन्त्रस्य तदैकार्थ्याच्च ‘ समानं वृक्षं परिपश्यजाते ’ ‘ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न ’ इति तयोरेकार्थ्ये हि प्रतीयते । ‘ समाने वृक्ष ’ इति मन्त्रे च नुदयो जीवः अन्तःकरणस्य पुरुषशब्दवाच्यत्वाभावात् ‘ शोचति सुखमानम् ’ ‘ पश्यति वीतशोकः ’ इति पदानामस्वारस्यप्रसङ्गाच्च, अन्यथा परमात्मा ईशशब्दोक्तं वातं, स्वविषयशानेन वीतशोकत्वे हेतुत्वाच्च ॥

न केवलमनन्तरमनैकार्थ्यात् ‘ द्वासुपर्णा ’ इति मन्त्रस्य जीवपरमात्मपरत्वं किंतु ‘ स्याद्वृत्ति अनभ्रन्नन्य ’ इति भोक्तृत्वाभोक्तृत्वश्रवणाच्च तदवसीयते, चक्षुश्श्रोत्रादीनां द्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिवदन्तःकरणस्यापि करणत्वादेव भोक्तृत्व-हि न संभवाति, जीवस्य च वृक्षशब्दोक्तदेहपरिध्वङ्गदशायाप्तिवानश्रवमापे नोपपद्यते । तर्हि पौञ्जिष्टश्रुते कोऽर्थः, उच्यते—सत्त्व ब्रह्मजीवः ‘ द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्मीतु जन्तुषु ’ इति नामानुशासनाजन्तुपरत्वावगते, जन्तुश्च चेतनः ‘ प्राणीतु चेतनो जन्मो जन्तुजन्मशरीरिण ’ इति नामपाठात् ‘ वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ’ इति प्रयोगात् नतदस्ति पृथिव्यां या दिवि देवेषु वा पुनः । सत्त्वं प्रकृतिर्जैर्मुक्तं यदेभिस्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

इति दर्शनाच्च । क्षेत्रज्ञशब्दश्चात्र परमात्मपरः अर्थान्तरप्रसिद्धाकाशप्राणादिशब्दवदर्थानुपपत्त्या परमात्मपरत्वोपपत्तेः । ‘ विष्णोर्नामहसस मे ’ इत्युपक्रम्य ‘ क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ’ इति प्रयोगात् क्षेत्रज्ञानातीत्यवयवार्थस्य तस्मिन्नेव पुष्कलत्वाच्च । मोक्षधर्मः—

तत्तत्सैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा । प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठ क्षेत्रज्ञ निर्गुणात्मकम् ॥

सर्वावासं वासुदेव क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः । इति । तत्रैव विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिक

एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् । क्षेत्राणि च शरीराणि ज्ञानानि च शुभाशुभे ॥

तानि वेत्ति सयोगात्मा तत् क्षेत्रज्ञं उच्यते । इति प्रयोगात्, तत्रैव कपिलसुरिषवाद् ‘ ज्ञानानामासुरे

क्षेत्रे क्षेत्रज्ञो द्रष्टा शुचिरुपेक्षकः । ज्ञातृको बुध्यमाना प्रतिबुद्धयोः परममृतं विदित्वा निरवयवमनाभयमस्मा-द्बहु खाद्विमुच्यत एव ’ इति बुध्यमाना प्रतिबुद्धशब्दाभिहित-क्षेत्रज्ञो, परस्य क्षेत्रज्ञशब्देनाभिधानात्, तत्रैव

### श्रुतप्रकाशिका

पञ्चविंशतितत्त्वानि वर्गशब्देनोक्तत्वा 'एतस्माद्वर्गादपवृत्तोऽपवर्गदः क्षेत्रज्ञश्चुचिरूपेक्षको बुद्धयमानाप्रतिबुद्धयोः परस्तात्' इति तत्रैव 'अन्यदुदकमन्यत्पुष्करपणं तथाऽन्यत् क्षेत्रमन्य पुरुषः पञ्चविंशकः अन्यश्चास्मात् क्षेत्रज्ञः' इति, पुनश्च तत्रैव 'एवमासुरे अन्यद्वन्यमन्य पुरुषः पञ्चविंशतितत्त्वमन्योऽस्मात्क्षेत्रज्ञः' इति, पञ्चविंशपरस्मिन् क्षेत्रज्ञशब्दप्रयोगात् । सनत्कुमारनारदसंवादे च—

पश्य पश्यति पश्यन्तमपश्यन्तं च पश्यति । पश्यन्तं पश्यपश्यत्यात् पश्यापश्ये न पश्यत ॥  
इति श्लोकमुत्तरा 'प्रकृतिं क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं चापरः क्षेत्रज्ञपञ्चविंशकोऽपश्यति नतु पञ्चविंशकः क्षेत्रज्ञश्च प्रकृतिर्ना परक्षेत्रज्ञं पश्यति' इति प्रयोगाच्च, अत्रह्य मशब्दवत् क्षेत्रज्ञस्य जीवपरसाधारणस्य पञ्चविंशतिकपरशब्दविशेषतस्तस्य जीवपरमात्मविषयत्वदर्शनाच्च,

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोतितु कर्माणि स भूतात्मेति चोच्यते ॥

इति मानवप्रयोगाच्च 'येन स्वप्नं पश्यति' इत्यत्र येनेतीत्यभावे तृतीया, येन निश्चिष्टः परमात्मा स्वप्नं पश्यतीत्युच्यते, तत्र 'काठिन्यवान्यो विमर्ति' इति पृथिवीद्वारा काठिन्यवत् स्वप्नद्रष्टृत्वं जीवद्वारा परमात्मविशेषणं भवतीति न विशेषः । शारीरशब्दश्च 'तस्यैव एव शारीर आत्मा' इतिवदत्रैव स्वव्यतिरिक्तसमस्तचिदचिच्छरीराङ्गे परमस्य पश्यने । 'उपद्रष्टा' इति निरुपाधकद्रष्टृत्वं च तस्यैवोपपद्यत, एव शारीर उपद्रष्टेति पदद्वयेन परस्य क्षेत्रज्ञशब्दवाच्यत्वं सुस्पष्टादितं भवति । अतो 'द्वासुपर्णेति' मन्त्रो जीवपरमात्मपरः अधिकरणार्थमुपसहरति अतश्च ॥

इह कैश्चिदेव पूर्वपक्षितम् । सुम्वाद्यायतनस्य सेतुत्वश्रवणात् सेतोश्च पारवत्त्वेन परस्य च 'अनन्तमपारम्' इत्यपारत्वश्रवणात् सुम्वाद्यायतन प्रधान वायुर्वा जीवो वा स्यात् एषा धारक वयोगादिति । तदुक्तम् । पारवदर्थोपस्थापकस्य सेतुत्वव्यपदेशस्य पूर्वपक्षहेतोरस्मिन्नाधिकरणे परिहृतत्वे सत्युत्तरत्र 'परमतस्सेतून्मानसम्वन्धभेदव्यपदेशेभ्यः' इत्यधिकरणे सेतुत्वव्यपदेशस्य पूर्वपक्षहेतुत्वेनोपन्यासायोगात् । नहि परिहृतस्य हेतोः पुनःपरिहागे न्यायः कृतकरवापत्तेः । अत्र सेतोपरिच्छिन्नत्वं पूर्वपक्षशङ्कावर्जितम्, तत्रतु कूलान्तरप्रापकत्वमिति मुख्यभेदोऽस्तीति चेन्न । कूलान्तरप्रापकत्वं सेतोः कूलावधिकृतानिवन्धनमिति परिच्छिन्नत्वं परिहृते तस्यापि परिहृतत्वात् । परिहारहेतुसाध्यश्च, विधरणार्थतयव ह्युभयत्र परिहारः । अत उत्तरत्र पूर्वपक्षवर्जितयोपन्यासान्यथाऽनुपपत्त्या आस्मिन्नाधिकरणे सेतुत्वव्यपदेशस्यकारणं न पूर्वपक्षवर्जितं तथा विवक्षितः प्रधानवायोदेशङ्कावानुपपन्ना । 'तमेवैकं जानथात्मानम्' इत्या मशब्दश्रवणात् 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इत्यत्र आत्मशब्दस्य अचिद्व्यावर्तकतोपपादनाच्च अचेतनशङ्कोत्थानासम्भवात् । स्वशब्दस्य 'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति सद्विद्यावाक्यविषयत्वं चायुक्तम्, अपक्षधर्मात्वात् सद्विद्यावाक्यहि नात्र श्रूयते । इह तद्वैकार्यं हेतुत्वा विवक्षितमिति चेत् तर्हि विगीतस्य हेतुनयोपन्यासो न घटते । सुपृथिव्यायतनप्रतिपादकवाक्यस्य परमात्मप्रतिपादकवाक्यान्तरैकार्थ्यं हि पूर्वपक्षिणो विमतिपदम् । द्वितीयसूत्रस्य च 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति श्रवणाद्वाग्विमुक्तैश्वर्यत्वव्यपदेशपरत्वमयुक्तम् 'नामरूपाद्विमुक्तं परात्परं पुरुषमुपैति' इति वाक्यस्यविमुक्तिशब्दार्थस्य उपैतिशब्दार्थस्य च स्वरसत्प्रत्यभिज्ञापकत्वाभ्युत्तोपस्यव्यपदेशस्य । 'विमुञ्चथ' इति श्रुतस्य वाक्यकर्मकस्य मुचिष्ठानोः प्रत्ययपरिणामेन अवाक्यकर्मकमुक्तप्रत्यभिज्ञानं ह्यस्वरसम्, उपस्यशब्दस्य शेषवाचित्वं च स्वारसिकम् । स्वारसिकार्थानुपपत्त्यभावे अस्वरसायौचित्यातिशयाभावेवाऽस्वरसार्थस्वीकारोऽनुपपन्नः, 'प्राणभृच्च' इति सूक्ष्मवृत्तवक्त्वनं च युक्तम् हृदयपण्याभावात् उभयव्यावर्तकहेतुपादानवतैकेन सूत्रेणैवोभयमुदासदर्शनाच्च । यथा 'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ'



### श्रुतप्रकाशिका

‘अतएव नदेयताभूतं च’ इति च उपरितनस्योचहेतूनां ‘नानुमानम्’ इति प्रतिशायामनन्वयात् पृथग्योगकरणमिति चेन्न । नानुमानमित्युपादानस्य दृष्टान्तार्थं वात् दृष्टान्तार्थत्वाभावेऽपि जीवव्यावर्तकानामुत्तरस्य हेतूनां किंपुनरन्यायेन प्रधानव्यावर्तकत्वात् । ‘भेदव्यपदेशात्’ इति सूत्रस्य च ‘तमेवैकं जानथ’ इति वाक्यविषयत्वादपि ‘जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्’ इति वाक्यविषयत्वमुचितं व्यवदेशशब्दस्वारस्यात् । कर्मकर्तृभावो हि भेदगमकः, अन्यशब्दश्च भेदाभिधायकः ॥

‘द्वासुपर्णा’ इति वाक्यस्य च बुद्धिजीवपरत्वपक्षोऽनुपपन्नः, ‘प्राणभृश्च’ इति जीवव्यावृत्तिरिति प्रतिशाय बुद्धि-व्यावृत्त्युपपादनस्यासङ्गतत्वात् । जीवस्योपाधिव्यवच्छेदविरहितः परमात्मा भवतीति नासङ्गतिरिति चेन्न, वृक्षशब्दविवक्षितदेहोपाधिपरिवृत्त्येच्छायानश्रतोऽयस्य स्थितेहेतुतयोपन्यासायोगात् ‘अनश्रन्’ इत्यनेन प्रतीयमानस्याप्युपाधिपरिवृत्तस्यापारमार्थ्यं विवक्षितमिति चेत् तदनेन वाक्येन अपरमार्थोपाध्यवयो न प्रतिषिद्धस्यात् किं त्वनुमतस्यात् । शुभ्वाचयतनं न प्राणभृत् स्थित्यदनाभ्यामित्युक्ते परमार्थतोऽनश्रत्तया स्थितरपरमार्थतोऽसृत्वाच्चेत्युक्तं भवति, अपरमार्थोपाध्यवच्छिन्नात्मवमेव हि त्वन्मते जीवत्व ततश्च जीवव्यावृत्तिरिति प्रतिशाय जीवव्याविरुद्धतमुपपादकहेतूपन्यासो न घटते । उपाधिमिथ्यात्वमेवाधिकरणप्रतिपाद्यमिति चेत् तर्हि स्वशब्दमुत्तेजसस्पृश्यत्वभेदव्यपदेशादिहेतवो न घटन्ते, तेषां मिथ्यात्वसाधकत्वाभावात्, भवत्येव विश्वमिथ्यात्वस्य प्रथमाधिकरणसिद्धत्वेन इहोपाधिमिथ्यात्ववर्णनवैयर्थ्याच्च । ‘द्वासुपर्णा’ इति मन्त्रार्थस्य च हेतुवोक्तिरयुक्ता, अत्रोपाधिमिथ्यात्वाप्रतीतिः । नहोऽवृक्षाधिरुदयोः पक्षिणोर्मिथो विरुद्धाकारयोर्भेदोऽभिहिते वृक्षमिथ्यात्वमुक्तं भवति ॥

अदपि कैश्चिदुपेक्षितम् ‘शुभ्वाचयतनम्’ इत्यादिसूत्रद्वयमात्मविषयत्वप्रतिपादकं ‘नानुमानमतच्छब्दात्’ इति प्रधानव्युदासपरम् ‘प्राणभृश्च’ इति सूत्रं जीवव्यावृत्तिपरम्, अन्यसूत्रत्रयं मुक्तव्युदासकमिति, तदयुक्तम् । तथाहि आद्यस्य सूत्रद्वयस्य निरसनीयशङ्काऽमावात्तप्रणयनवैयर्थ्यस्यात् । न च तृतीयसूत्रं प्रधानव्यावृत्तिपरम् मुक्तेऽपस्पृश्यतया न्यपदिष्टस्मात्तएव जीवादपि व्यावृत्तस्य प्रधानत्वशङ्काऽनुदयात् । अत आनुमानोपादानं दृष्टान्तार्थं । अतएव पृथग्योगकरणचानुपपन्नमित्युक्तम् अतस्तृतीयसूत्रं व्यतिरेकेण जीवव्यावृत्त्युपपादनपरम् ‘तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः, आनन्दरूपममृतं यद्विभाति’ ‘तद्यदात्मविदो विदुः’ इति भेदव्यपदेशेन मुक्तव्यावृत्तिपरं चतुर्थसूत्रमित्यप्युक्तम्, मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यत्वं मुक्तव्यावर्तकं, न वा । प्रथमे ‘तमेवैकं जानथ’ इति वाक्यादेव मुक्तव्यावृत्तिरिति चेत् । ‘भेदव्यपदेशात्’ इति वाक्यान्तरविषयसूत्रप्रणयनवैयर्थ्यम्, द्वितीये सूत्रेण वैयर्थ्यं ‘तमेवैकं जानथ’ इति वाक्योदितज्ञातृज्ञेयभावः ‘परिपश्यन्ति’ इत्यादिवाक्योद्गृह्यमावस्थापि मुक्तव्यावर्तनासामर्थ्यात् अतो यथोक्त एव सूत्राणामर्थः ॥

इति शुभ्वाचधिकरणम्



अथ वेदान्तसारः

सू=१ शुभवाचायतनं स्वशब्दात् (१-३-१)

‘यस्मिन्धौःपृथिवीचान्तरिक्षम्’ (मु.२.२.५) इत्यादौ शुभवाचायतनायतनम् आधारःपरमपुरुषः । ‘तमेवैकं जानया मानम्’ (श्वे.४.७) इत्या मशब्दात् । निष्वाधिकात्मनाहि परमपुरुषस्यैव । ‘अमृतस्यैव सेतुः’ (मु.२.२.५) इति तदेव द्रव्यमिति ‘बहुधा जायमानः’ (२.२.६) इति परन्व ननिवारयति ; ‘अजायमानो बहुधा विजायते’ (पुरु-  
षसूत्रे.२१) इति कर्मभिरजायमानस्यैव आश्रितत्वात्सत्यात् छन्दतो जननं तस्यहि श्रूयते ॥

सू-२ मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च [१.३.२]

‘तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ (मु.३.१.३) ‘तथा विद्वान्नामरूपादिमुक्तः परात्परं पुण्यमुपैति दिव्यम्’ (३.२.८) इति च पुण्यपापविनिर्मुक्तानां प्राप्यतया व्यपदेशाच्चाय परः ॥

सू-३ नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च (१.३.३)

यथा न प्रधानमतच्छब्दात् तथा न प्राणभृदपीत्यर्थः ॥

सू-४ भेदव्यपदेशात् (१.३.४)

‘अनीशया शोचति सुहृमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्’ (मु.३.१.२) इत्यादिना प्रत्यगात्मनो भेदेन व्यपदेशाच्चाय परः ॥

सू-५ प्रकरणात् (१.३.५)

‘अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते’ (मु.१.१.५) इत्यादिपरस्यहीदं प्रकरणम् ॥

सू-६ स्थित्यटनाभ्यां च (१.३.६)

‘तयोऽन्यविषयस्य म्यादात्ति अनश्रतयोऽभिचाकृशाति’ (मु.३.१.१, श्व.४.६) इति जीवस्य कर्मफलादनम-  
मिथाय अनश्रतो दीप्यमानस्य स्थित्यभिधानाच्चाय परमात्मनः ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

सू=१ शुभवाचायतनं स्वशब्दात् (१-३-१)

आथर्षणे 'यस्मिन्धोः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैक जानयाऽमानमन्यावानो विमुञ्चथ  
अमृतस्यैव सेतुः' (मु.२.२.५) इत्यत्र शुभ्रधिव्यादीनामायतनं किं जीवः ? उत परमात्मेति संशयः । जीव इति पूर्वः  
पक्षः, मनःप्रभृतीन्द्रियाधारत्वमुक्तं, उत्तरत्र नाडीसम्बन्धात् जायमानत्वमुक्तम् । गढान्तरस्तु निरुपाधिका म वामृतसेतु-  
त्वयोः परमावधर्मयोश्च श्रवणा-परमात्मैवायम् । सर्वे नियन्तृतया अभोतीति ह्यात्मा ? अमृतस्य प्रापकतया सेतुश्च स एव  
नाडीसम्बन्धः बहुधा जायमानव्यञ्ज । 'सन्नतं सिराभिस्तुल्यध्वन्या कोशसल्लिभम्' (ते.नारायणोपनिषत्.६.११) 'अजा  
यमानो बहुधा विजायते' (पुरुषसूक्त.२१) इत्यादिषु सर्वसमाश्रयणीयत्वायाजह स्वभा-सैव परमात्मनोऽपि दृश्यत इति ।  
सूत्रार्थस्तु—शुभ्रधिव्यादीनामायतनं परमात्मा स्वशब्दात् ॥

### सू-२ मुक्तोपसृप्य व्यपदेशाच्च (१.३.२)

'तदा विद्वान् पुण्यशोपे विधूय निरञ्जनः परम साम्यमुपैति' (मु.३.१.३) 'तथा विद्वान्नामरुणद्विमुक्तः परा  
त्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (३.२.८) इति च बन्धान्मुक्तस्य प्राप्यतया व्यपदेशाच्च येन परमात्मा ॥

### सू-३ नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च (१.३.३)

नानुमानम् अनुमानगम्यं प्रधानम् यथा तद्वाचिशब्दाभावात्तदिह न गृह्यते तथा प्राणभृदपीत्यर्थः । अत्राप्य  
परमात्मा ॥

### सू-४ भेदव्यपदेशात् (१.३.४)

'अनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' (मु.३.१.२, श्वे.४.७) इत्यादिना जीवान्भेदेन  
व्यपदेशाच्च येन परमात्मा ॥

### सू-५ प्रकरणात् (१.३.५)

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु.१.१.५) इत्यादिना परमात्मन एव प्रकृतं वत् ॥

### सू-६ स्थित्यदनाभ्यां च (१.३.६)

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु.३.१.१, श्वे.६.४) इति कर्मफलमनश्नतः परमात्मनो  
दीप्यमानतया स्थितेः, जीवस्य कर्मपरवशतया तत्फलादनाच्च, परमात्मनो जीवान्भेदावगमात् । अमृतसेतुः शुभ्राद्यायतन  
न जीवः । 'अदृश्यत्वादियुगलः' (शारी. १.२.२२) इत्यनेन परमात्मत्वे स्थापितेऽपि नाडीसम्बन्धबहुधा जायमानत्वात्  
ज्ञात्, याऽवान्तरप्रकरणविच्छेदशङ्का सा निराकृता 'शुभ्राद्यायतनम्' इति वैश्वानरस्य त्रैलोक्यशरीरत्वादिना परमा  
त्वनिर्णय इति मध्ये वैश्वानरविद्यातरूपिणा ॥

॥ इति वेदान्तदीपे शुभ्याद्यधिकरणं समाप्तम् ॥

## अथ अधिकरणसारावली

स्पष्टैर्जीवादिलिङ्गैर्युतमिह हि यच्चस्साध्यते ब्रह्मनिष्ठं  
 मध्येऽत्राधिक्रियोक्तिस्त्रिषु किमिति न तत्तत्प्रसङ्गाच्चदुष्यते ।  
 किञ्चास्यामर्धलौकायतिकनिरसनं प्रस्तुतार्थोपयुक्तं  
 ब्रह्मोत्कर्षश्च सिद्धयेद्गलतिदिविपदां कारणैष्यभ्रमश्च ॥  
 न्यायास्सप्तैव साक्षात् परविषयतया सङ्घटन्तेऽत्र पादे  
 सर्वाधारस्स आत्मा स्वमहिमनिलयस्तत्र तात्पर्यभूमिः ।  
 तत्सिद्धये शासनाद्यं कथितमिह मिथस्स्यूतमालोचनीयं  
 सर्वेशत्वं च पष्ठप्रमितनयमितं पश्चिमन्यायरक्ष्यम् ॥  
 सिद्धं प्रागेव मुण्डोपनिषदि परमं ब्रह्म तद्धर्ममेदै-  
 र्मदोषं चेत्यकाण्डे किमिति पुनरिमां पिष्टपेपं पिनष्टि ।  
 सत्यं क्षेत्रज्ञवर्मः पटुमिरुपनता प्रक्रियामेदशङ्का  
 प्रत्याप्य प्रत्यमिश्रामपुनरुदयमुन्मूल्यते शब्दपूर्वः ॥  
 यस्मिन्नेतं मनोऽन्यैस्सह करणगणैर्जायते यश्च नाना  
 नाड्याधारश्च योऽन्तश्चरति सकरणी कर्मभोक्तेति चेन्न ।  
 विश्वाधारात्मभावादमृतवितरणान्मुक्तसृष्यत्ववादात्  
 प्रागुक्तप्रक्रियैक्यादनशनसहितात् काशनाद्यान्यसिद्धेः ॥  
 व्याप्ते तत्राक्षमोतं यदि किमिह ततो जन्मचास्येच्छयोक्त-  
 त्वाडीचक्रस्य नाभिर्भवति च स परो हार्दरूपेण तिष्ठन् ।  
 निष्कम्पव्यापिनोऽन्तश्चरणमपि शुभैर्विग्रहैरस्ति लोके  
 सौवालान्नातवद्वा चरणमिदमपि स्यादधिष्ठानमात्रम् ॥

॥ इ ति शु भ्वा द्य धि क र णं स मा ष्ट म् ॥





## अथ भूमाधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

## सू-७ भूमासम्प्रसादादद्ध्युपदेशात् [१.३.७]

इदमामनन्ति छान्दोगा — 'यत्र नान्यत्पदयति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पदयत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' (छां.७.२४.१) इति । अत्रायं भूमशब्दो भावप्रत्ययान्तो व्युत्पाद्यते । तथा हि पृथ्वादिषु बहुशब्दः पठ्यते ततः 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (अष्टाध्याय्यां.५.१.२२२) इति इमनिचप्रत्यये कृते 'वहोर्लोपो भूच वहोः' [६.४.१५८] इति प्रकृतिप्रत्ययोर्विकारे भूमेति भवति । भूमा बहुत्वमित्यर्थः । अत्र चायं बहुशब्दो वैपुल्यवाची न सङ्ख्यावाची ; 'यत्रान्यत्पदयति तदल्पम्' (शारी.१.२.२२) इत्यल्पप्रतियोगित्वश्रवणात् । अल्पशब्दनिर्दिष्टधर्मिप्रतियोगिप्रतिपादनपरत्वादेव

## अथ भूमाधिकरणम्

### श्रुतप्रकाशिका

## सू-७ भूमासम्प्रसादादद्ध्युपदेशात् [१.३.७]

परमात्मप्रकरणाविच्छेदेन परमात्मपरत्व साधितम्, तर्हि जीवप्रकरणाविच्छेदेन जीवपरत्वमिति शङ्कोत्थानात् सङ्गतिः । इयं प्रमाणद्वारिकापूर्वं 'ओतं मनस्सहप्राणैश्च सर्वैः' इति प्राणसंवाग्निनः परमात्मवमुक्तम्; अत्र प्राणसंवाग्निन एव हि सायोग्यवश्रवणाजीवत्व प्रतीयत इत्यर्थद्वारादसङ्गतिः । विषयमाह—इदमिति । भूमशब्दस्य रुढितोऽयवशत्तया वा जीवपरमा मोऽस्यापकत्वसम्भवेहि प्रत्यगात्मा वा परमात्मा वा भूमशब्दवाच्य इति सशयोदयः, अन्यथा भूमशब्दस्य कोऽर्थ इति हि वक्तव्यम् अतो विशेषविषयसंशयसंभवप्रदर्शनाय भूमशब्दव्युपत्तिप्रकारमनुसरन्विचारविषयसंशयोर्षिद्धिं दर्शयति अत्रायंभूमशब्दइति । भावप्रत्ययान्तत्वमुपपादयति तथाहीति । आकृतिगणत्वव्यावृत्त्यर्थं पठ्यत इत्युक्तम् । वहोरित्यादि । बहुशब्दात् परस्य प्रत्यस्यादेरचो लोपः 'आदे.परस्य' इति सूत्रवशात् बहुशब्दस्य भूशब्दादेशश्चेत्येव प्रकृतिप्रत्ययोर्विकारः । 'वहव पुरुषा राजश्रुताहो एक एवनु' 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवने 'बहुषु बहुवचनम्' इति सङ्ख्यायामपि प्रयोगो दृश्यते 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यत्' इति वैपुल्येऽपि प्रयोगोऽस्ति, तस्मात्सङ्ख्यायावृत्त्यर्थमाह—अत्रचायमिति । कथं वैपुल्यपरत्वमित्यत्राह—यत्रान्यदिति ॥

ननु सङ्ख्यावाचिशब्दप्रतियोगित्वादल्पशब्दोऽपि सङ्ख्यापरस्यत्वात् । नैवम् । बहुशब्दस्य सङ्ख्याविपुलत्वयोः प्रयोगदर्शनादल्पशब्दस्य सङ्ख्यायां प्रयोगदर्शनाच्चानन्यथासिद्धाल्पशब्दानुगुणार्थो बहुशब्द इति । धर्मिपरत्वमुपपादयति—अल्पेति । धर्मवाचिभूमशब्दप्रतियोगित्वादल्पशब्दोऽपि धर्मपरस्यदिति चेन्न, तत्रापि धर्मिवाचिपठ्यन्तशब्दान्तराभावात् 'यत्र नात्पदयति' इति श्रुतेश्च । नहि धर्ममात्रे शाते धर्मिस्वरूपं ज्ञातं भवतीति । एव सिद्धमर्थमाह—

## श्रीभाष्यम्

धर्मिपरश्च निधीयते ; न धर्ममात्रपरः । तदेवं भूमेति विपुल इत्यर्थः । वैपुल्यविशेष्यद्येहा-  
त्मेत्यवगतः ' तरति शोकमात्मवित् ' [छां.७.१.३] इति प्रक्रम्य भूमविज्ञानमुपदिश्य ' आत्मो  
वेदं सचेम् ' (७.२५.२) इति तस्यैवोपसंहारात् ॥

अत्र संशय्यते किमयं भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा इति । किं युक्तम् ?  
प्रत्यगात्मेति । कुतः ? ' श्रुतं होवमेव भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मवित् ' (छां.७.१.३)  
इत्यात्मजिज्ञासयोपसंक्षेपे नारदाय नामादिप्राणपर्यन्तेपूषास्यतयोपदिष्टेषु ' अस्ति भगवो  
नाम्नो भूयः ' (७.१.५) ' अस्ति भगवो वाचो भूयः ' (७.२.२) इत्यादयः प्रश्नाः, ' वाग्वाच  
नाम्नो भूयसी ' ' मनो वाच वाचो भूयः ' [छां.७.३.१, ७.३.१] इत्यादीनिच प्रतिवचनानि,  
प्राणात्पर्यन्तेषु दृश्यन्ते ; प्राणेतु नयद्याम. अतः प्राणपर्यन्त एवायमात्मोपदेशः इति प्रती-  
यते । तेनेह प्राणशब्दनिर्दिष्टः प्राणसंहचारी प्रत्यगात्मैव ; न वायुविशेषमात्रम् । ' प्राणो  
ह पिता प्राणो ह माता ' (छां.७.१.५.१) इत्यादयश्च प्राणस्य चेतनतायवगमयन्ति ; ' पितृहा  
मातृहा ' [७.१.५.२] इत्यादिना सप्राणेषु

## श्रुतप्रकाशिका

तदेवमिति । वैपुल्यविशेष्यः कइत्याकाङ्क्षायामाह—वैपुल्येति । कथमात्मनो विशेष्यत्वमित्यत्राह—तरतीति । उपक्रमो-  
पसंहारयोरात्मशब्ददर्शनादित्यर्थः । अत्रेति । किं भूमा प्रत्यगात्मा ? उत परमात्मा । तदर्थं किं प्राणशब्दनिर्दिष्टे प्रत्य-  
गात्मनि प्रश्नप्रतिवचनसमाप्त्या भूमशब्दस्तत्र पर्यवसितः उतातिरिक्तविषयः किं । ' एतदुवा अतिवदति यस्सत्ये-  
नातिवदति ' इति प्राणातिवादिनोऽङ्गतया सत्यवचन विधत्ते, उत सत्यशब्दवाच्यपरोपासकस्यातिवादेव वर्दति ?  
किमस्मिन्वाक्ये प्राणातिवादिनः प्रत्यभिज्ञाऽस्ति तेनेति । तुशब्दः किं प्रत्यभिज्ञाविरोधी, नेति, यदा तुशब्दः प्रत्यभिज्ञा-  
विरोधी न भवति तदा प्राणानिवादिनः प्रत्यभिज्ञाऽसम्भवात् ' एतदुवा ' इति वाक्य तदङ्गभूतसत्यवचनविधिपरमिति  
प्राणातिरिक्तवस्तुभावात् भूमशब्दः प्राणे पर्यवसित इति भूमाप्रत्यगामेति पूर्वपक्षः । यदा तुशब्दः प्रत्यभिज्ञाविरोधी  
भवति तदा प्राणातिवादिनः प्रत्यभिज्ञानाभावेन ' सत्येनातिवदति ' इति वाक्यस्य सत्योपासकातिवदनपरत्वेन प्राणा-  
तिरिक्तवस्तुसद्भावेन प्रश्नप्रतिवचनसमाप्तायापि भूमशब्दस्य प्राणपर्यवसितत्वाभावात् भूमा परमा मेति राद्धान्तः तेनेति ।  
तेन आत्मजिज्ञासया प्रश्नान्ते प्रकरणे प्राणपर्यन्तोपास्योपदेशेन हेतुनेत्यर्थः । प्राणशब्दः कथमात्मनि वर्तत इत्यत्राह—  
प्राणसहचारीति ॥

इतरव्याख्यातृषु कैश्चित्पञ्चवृत्तिः प्राणः प्राणशब्दवाच्यइत्युक्तत्वा तत्प्रकरणाविच्छेदेन भूमा प्राण इति पूर्वपक्षं  
कृत्वा प्रकरणविच्छेदेन भूमा परमात्मेत्युक्तम् । कैश्चित्पञ्चवृत्तिप्राणस्य प्राणशब्दवाच्यत्वाच्चत्वमभ्युपगम्य पूर्वपक्षे सि-  
द्धान्ते च तत्प्रकरणविच्छेदं वदद्भिः भूमा प्रत्यगामेति पूर्वपक्षं कृत्वा परमात्मेति सिद्धान्तितम् । तदुभयमाशङ्क्याह—  
न वायुविशेषमात्रमिति । उपरान्तस्यात्मोपदेशस्य प्राणपर्यन्तत्वसिद्धेः प्राणस्यचात्मत्वयोगादिति भावः । हेत्वन्तरमाह  
प्राणोहेति । नहि केवल देहस्य वायुविशेषस्य वा पितृत्वादिक वेदान्तिषु कश्चिदभ्युपगच्छति । हेत्वन्तरमाह—पितृहेति  
अत्र प्रकरणे सप्राणेषु हिंसके हिंसानिमित्तोपक्रमेणवचनं दृश्यते । अप्राणेषु हिंसके हिंसानिमित्तोपक्रमेणवचनं दृश्यते, च  
लोके सजीवनिर्जीवशरीरयोर्वमर्दाकारिपूषकोशतदभावौ दृश्यते, नहि निष्कृष्टात्मनः केवलस्य शरीरस्य वा हिंस्रत्वं—अपि  
क्वचिद्विशिष्टस्यैव चेतनस्य—तस्मात्सप्राणनिष्प्राणविषयापमर्दतदभावयोः सजीवनिर्जीवशरीरोपमर्दनिमित्तहिंसातदभावश्च.

## श्रीभाष्यम्

पितृप्रभृतिपूषमर्दकारिणि हिंसात्मकरत्यनिमित्तोपक्रोशवचनात्तेष्वेव विगतप्राणेष्वत्यन्तोऽम-  
 र्दकारिण्यप्युपक्रोशाभाववचनाच्च हिंसायोग्यश्चेतनएव प्राणशब्दनिर्दिष्टः । अप्राणेषु स्थाव-  
 रेष्वपि चेतनेषूपमर्दभावाभावयोर्हिंसातभावदर्शनादयं हिंसायोग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्य-  
 गात्मैवेति निश्चीयते । अत एव च अरनामिदृष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राणशब्दनिर्दिष्टः पर इति  
 न भ्रमितव्यम्, परस्य हिंसाप्रसङ्गाभावात्, जीवादितरस्य तद्भोग्यभोगोपकरणभूतस्य  
 कृत्स्नस्याचिद्वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनामिदृष्टान्तोपपत्तेश्च । अयमेव च  
 प्राणशब्दनिर्दिष्टो भूमा ; ' अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः ' इति प्रश्नस्य ' अदो वाच प्राणाद्भूयः  
 इति प्रतिवचनस्य चाभावाद्भूमसंशब्दनात्प्राणप्राणप्रकरणस्याविच्छेदात् । किञ्च प्राणवेदि-  
 नोऽतिवादित्वमुक्त्वा तमेव ' एष तु वा अतिवदति ' (छां.७.१६) इति प्रत्यभिज्ञाप्य ' य-  
 ससत्येनातिवदति ' (७.१६) इति तस्य सत्यवदनं प्राणोपासाङ्गतयोपदिश्य उपादेयस्य स-  
 त्यवदनस्य शेषितया पूर्वनिर्दिष्टप्राणयाथात्म्यविज्ञानं ' यदा वै विजानत्यथ सत्यं वदति ' (७.१७) इत्युपदिश्य तत्सिद्धयर्थं च मननश्रद्धानिष्ठाप्रयत्नानुपदिश्य तदारम्भाय च प्राण्य-  
 भूतप्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मस्वरूपस्य सुखरूपताज्ञानमुपदिश्य तस्य च सुखस्य विपुलता,  
 ' भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः ' (छां.७.२३.१) इत्युपदिश्यते । तदेवं प्रत्यगात्मन एवावि-  
 द्यावियुक्तं रूपं विपुलसुखमित्युपदिष्टमिति ' तरति शोकमात्मवित् ' (७.१.३) इत्युपक्र-  
 माविरोधश्च । अतो भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा,

## श्रुतप्रकाशिका

णादिसाकर्मत्वं प्राणशब्दवाच्यस्य जीवत्वसाधकमित्यर्थः । उपक्रोशतदभावौ पञ्चश्रुतिप्राणवत्तद्रहितत्वनिवन्धनौ स्यातां  
 नतु सजीवत्वानिर्जावत्वकृतावित्याह—अप्राणेष्विति । स्थावरेष्वपि चेतनोऽप्येति । ' ओषधिवनस्पतयो यच्च कि-  
 ञ्चित् प्राणभृत् स आत्मानमाविस्तरां वेद ' ' शरीरजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः ' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः  
 स्थावराणां ज्ञातृत्वकर्मफलभोक्तृत्वावगमात्तेषां चेतनत्वं वेदान्तान् स्मृतिवचनानि च प्रमाणयद्भिरभ्युपेत्यमिति भावः ।  
 प्रक्रान्तस्यात्मोपदेशस्य प्राणपर्यन्तत्वं मातृत्वपितृत्वादिकं हिंसायोग्यत्वे चेति तृतीय जीवत्वसाधकं पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते तु पितृ-  
 त्वादिकं हिंसाकर्मत्वं च द्वयमेव जीवत्वसाधकमिति मिदा । अरनामिदृष्टान्तपूर्वकसर्वाधारत्वापन्यासेन प्राणशब्दनिर्दि-  
 ष्टः परमात्मेति प्रतीयत इत्यत्राह—अतएवेति । दृष्टान्तादीत्यादिशब्देन धारकत्वम् । प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य मुख्यप्राणत्व-  
 शङ्कानिरासहेतुरेव परमात्मत्वशङ्काया अपि निरासहेतुरिति सूचयत्येवकारः । कुत इत्यत्राह—परस्येति । हिंसायाऽभावो  
 मुक्तस्याप्यस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं हिंसाप्रसङ्गाभावादित्युक्तम् । तर्ह्यरनामिदृष्टान्तः कथमित्यत्राह—जीवादितरस्येति । एवं  
 हिंसायोग्यत्वं पञ्चश्रुतिप्राणात् परमात्मनश्च व्यावर्तकमित्युक्तं भवति । एवं जीवः प्राणशब्दवाच्योऽस्तु, ततः किं भूम-  
 विशिष्टस्य जीवत्व इत्यत्राह—अयमेव चेति । प्रकरणाविच्छेदं हेतुमाह—अस्ति भगव इति । प्रश्नप्रतिवचनाभावः प्रकरणा-  
 विच्छेदहेतुः, तदविच्छेदो भूमविशिष्टस्य जीवत्वहेतुरित्यर्थः । तुशब्दस्य प्रकरणविच्छेदकत्वमशङ्कयाह—किंचेति । एष  
 तुवा अग्निहोत्री यस्सत्यं वदति ' इत्यत्र अग्निहोत्रवित् प्राणातिवादिनः प्रत्यभिज्ञानात्तस्यैव तदङ्गतया तस्य कथन-  
 मुक्तमित्यर्थः । कथं जीवस्वरूपस्य विपुलसुखत्वं तद्धि शोकप्रचुरमित्यत्राह—अविद्यायुक्तं रूपमिति । उपक्रमे ' तरति  
 शोकमात्मवित् ' इति शोकाविष्टत्वं जीवत्व प्रतिपन्नम् तत्कथं विपुलसुखमित्यत्राह—उपक्रमाविरोधश्चेति । व-धोहि

## श्रीभाष्यम्

यत एवं भूमिगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा अत एवाहमर्थे प्रत्यगात्मनि 'अहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठान्' (छां.७.२५.१) इत्यारभ्य 'अहमेवेदं सर्वम्' (७.२५.१) इति प्रत्यगात्मनो वैभवमुपदिशति । एवं प्रत्यगात्मन्वे निश्चिते सति तदनुगुणतया वाक्यशेषो नेतव्य इति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—(भूमा संप्रसादादधुपदेशात्) भूमिगुणविशिष्टो न प्रत्यगात्मा अपितु परमात्मा, कुतः ? संप्रसादादधुपदेशात् ; संप्रसादः प्रत्यगात्मा, 'एव संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां.८.१२.२) इत्युपनिषत्प्रसिद्धेः । संप्रसादात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया भूमिविशिष्टस्य सत्यशब्दाभिधेयस्योपदेशादित्यर्थः । सत्यशब्दाभिधेयं च परं ब्रह्म । एतदुक्तं भवति—यथा नामादिषु प्राणपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वाधिकतयोत्तरोत्तराभिधानात्पूर्वभ्य उत्तरेषामर्थान्तरत्वम्, एवं प्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मनोऽधिकतया निर्दिष्टसत्यशब्दाभिधेयस्तस्मादर्थान्तरभूत एव ; सत्यशब्दनिर्दिष्ट एव भूमेति सत्यार्थं परं ब्रह्मैव भूमेत्युपदिश्यते इति । तदाह वृत्तिकारः—  
'भूमा त्वेनेति भूमा ब्रह्म, नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशात्' [वृत्तिः] इति ।

## श्रुतप्रकाशिका

शोकः, मुक्तस्वरूप त्रिपुलसुखमित्यर्थः अहशब्दनिर्देश च हेतुमाह—यतएवमिति । कथमहशब्दनिर्देशः प्रत्यगात्मवसाधक इत्याह—अहमर्थे प्रत्यगात्मनीति । अहमर्थस्य प्रत्यगात्मत्वादित्यर्थः तदनुगुणतयेति । स्वमहिमप्रतिष्ठितवादिपराणि वाक्यान्वस्वरसंयोजनीयानीत्यर्थः ॥

सूत्र व्याचष्टे भूमेति । शुद्धस्वरूपाभिप्रायेण सूत्रे संप्रसादनिर्देशः कृतः । संप्रसादशब्दस्य प्रत्यगात्मपरत्वं कथमित्याह—एवमिति । हेतुवाचिपदेषु संप्रसादशब्दो व्यख्यातः । पदान्तरद्वयव्याचष्टे सम्प्रसादादिति । नहि प्राणकथनानन्तरं भूमिविशिष्टस्याधिकत्वं श्रूयत इत्याह—सत्यशब्दाभिधेयस्येति । सत्यशब्दात् पश्चात्प्रकरणविच्छेदाभावेन त्र्यशब्दवाच्य एव भूमिविशिष्ट इति भावः । भूमिविशिष्टसत्यशब्दाभिधेयोऽस्तु ततः किं तस्य भूमः परमात्मत्वसिद्धेः इत्याह—सत्यशब्दाभिधेयेति । सत्यशब्दाभिधेयस्य तु शब्दोपेतातिवादिशब्देनाधिकतयोपदेशोऽस्तु, आधिक्यस्य च प्राणशब्दवाच्यजीवप्रतियोगि च कथम् नहि 'मनो वाय वाचो भूयः' इत्यादिवत् पञ्चम्यन्तः प्राणशब्दश्च्युतः अतोऽसत्यस्य प्राणशब्दवाच्यजीवाद्यन्तरत्वं, अपितु पूर्वनिर्दिष्टाया आशाया आधिकतयोपदिष्टः प्राण एव सत्यशब्दवाच्यः त्रिशुद्धप्रत्यगात्मस्वरूपस्यापि 'सत्यचानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादाविव सत्यशब्दवाच्यत्वं सम्भवेदित्याह—एतदुक्तमनतीति । पूर्वनिर्दिष्टादूर्ध्वमभिधानं हि पूर्वनिर्दिष्टप्रतियोगितयोत्तरोत्तरेषामधिकतयार्थान्तरत्वे हेतुः, तस्य हेतोः संपक्षेप्यति दर्शयति यथेति । एवमन्वेन हेतुरभिप्रेतः । उत्तरोत्तरनिर्दिष्टानां पूर्वपूर्वनिर्दिष्टादधिकतयाऽर्थान्तरप्रतिपादनप्रकरणवात् प्राणशब्दनिर्दिष्टादूर्ध्वं निर्दिष्टसत्यशब्दवाच्यस्तस्मात् प्राणादधिकतयाऽर्थान्तरभूत एवेत्यर्थः । ततः किं भूमशब्दवाच्यस्य परमात्मत्व इत्याह—सत्यशब्देति । अनेन पूर्वं सूत्राश्रयोजनायामुक्तस्य सत्यशब्दाभिधेयस्येति पदस्याभेदायो विवृतो भवति तदाहेति । पूर्वनिर्दिष्टादधिकतयोत्तरोत्तरनिर्देशप्रकणवात् प्राणशब्दवाच्यजीवादूर्ध्वमुक्तः त्र्यशब्दवाच्य उपास्यो भूमा ततोऽधिक परब्रह्मेति वृत्तिकारग्रन्थस्यार्थः 'आत्मन ऊर्ध्वम्' इत्यनेन प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य जीवात्मत्ववृत्तिकाराभिमतमननुपञ्चवृत्तिप्राणपरत्वमित्यवगतं अतः प्राणशब्दवाच्यस्य जीवत्वमाभित्यैव पूर्वपक्षसि-



## श्रीभाष्यम्

प्राणशब्दनिर्दिष्टादधिकतया सत्यस्योपदेशः कथमवगम्यत इति चेत्—‘स चा एष एव पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति’ (छां.७.१५.४) इति प्राणविदोऽतिवादित्वमुक्त्वा ‘एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति’ (७.१६.१) इति सत्यवेदित्वेनातिवादिनं तुशब्देन पूर्णस्मादतिवादिनो व्यावर्तयति । अत एव ‘एष तु वा अतिवदति’ (७.१६.१) इत्यत्र प्राणातिवादिनो न प्रत्यभिज्ञा । अतोऽस्यातिवादिनिमित्तं सत्यं पूर्वातिवादित्वनिमित्तात्प्राणादधिकमिति विज्ञायते ॥

ननु च प्राणवेदिन एव सत्यवदनमङ्गत्वेनोपदिष्टम्, अतः प्राणप्रकरणाविच्छेदइत्युक्तम् । नैतद्युक्तम्—तुशब्देन ह्यतिवाद्येवान्यः प्रतीयते, ननु तस्यैवातिवादिनस्सत्यवदनाङ्गविधिपृतामात्रम् । ‘एष तु वा अग्निहोत्री यस्सत्यं वदति’ इत्यादिष्वग्निहोत्रयन्तराप्रतीतेः, प्रतीतस्यैवाग्निहोत्रिणस्सत्यवदनाङ्गविधानमिति क्लृप्ता गनिराश्रीयते ; अत्रत्वतिवा-

## श्रुतप्रकाशिका

द्वान्तवर्णनं वृत्तिकाराभिमतमिति शापन वृत्तिकारग्रन्थोपादानपरम् । एवमधिकनयोपदेशसिद्धवकारेण सत्यस्य प्राणादधिकतयाऽर्थान्तरत्वमुक्तम् ॥

अथ प्राणप्रतियागिकत्वार्थान्तरत्वेतुत्वेनोक्तोऽधिकतयोपदेश एव कथं ? सत्यवचनहि प्राणोपासनाङ्गत्योपदेशमिष्युक्तमिति पराभिप्राये शङ्कते—प्राणशब्देति । तुशब्देन प्रकरणविच्छेदाङ्गाङ्गविधिरिति प्रतिवदति सधा एषइति । व्यावर्तयति अधिकतया व्यावर्तयतीत्यर्थः । पूर्वनिर्दिष्टादुत्तरनिर्दिष्टस्याधिकत्वोपदेशपरप्रकरणवादिति भावः । उपासकाधिक्यात्तन्निमित्तोपास्याधिक्यं वक्तुं तुशब्दस्वारस्येनोपासकवैलक्षण्यमुक्तम्, तुशब्दोऽसङ्ख्यचितवृत्तिः घर्मघर्मिणोरविशेषेण भेदकः ॥

ननु कथं तुशब्दस्वारस्यादतिवाद्यन्तरप्रतिपत्तिः एतच्छब्दसामर्थ्येन पूर्वातिवादीहि प्रत्यभिज्ञायते इत्यत्राह—अत एवेति । प्रकृतप्रकारेण्यमाणसाधारण एतच्छब्दः नायमेकान्ततः प्रकृतमभिनिविशते, पाश्चात्ययद्वृत्तप्रतिनिर्देशरूपवाचनार्थे प्रकृतपरः तुशब्दस्वारस्य च प्रकरणविच्छेदकम्, अतः पूर्वातिवादिनः प्रत्यभिज्ञा नास्तीत्यतिवद्यन्तरप्रतिपत्तिमत्यर्थः अतिवाद्यन्तरप्रतिपत्तिरस्तु, ततः किं सत्यस्य प्राणशब्दवाच्यादधिकत्वइत्यत्राह—अतोऽस्येति । तुशब्दः पूर्वातिवादिनोऽतिवाद्यितोपास्यान्तरविशिष्टमेवातिवाद्यन्तरमिनत्ति स्वीपास्य वस्त्वाधिक्यं ह्यतिवदननिमित्तं अतः प्राणातिवादिनोऽतिवदननिमित्तात्तदुपास्यात् प्राणादपि तदुत्तरवाक्यानिर्दिष्टस्य सत्यातिवादिनोऽतिवदननिमित्तं तदुपास्य सत्यमधिकमित्यर्थः ॥

१. अग्निहोत्रिवाक्यदृष्टान्ते तुशब्दस्य व्यभिचार इति निघायातिवाद्यन्तराप्रतिपत्तिमुखेन चोदयति ननु चेति । परिहरति नैतद्युक्तमिति । अग्निहोत्रवैषम्यं वक्ष्यस्तुशब्दस्वारस्यादतिवाद्यन्तरप्रतिपत्तिमाह—तुशब्देनेति । अग्निहोत्रिवैषम्यदृष्टान्तादाद्यान्तिकस्य सत्यातिवादिवाक्यस्य वैषम्यं वक्ष्यते तुशब्दस्वारस्यानिमाह—एषत्विति । अग्निहोत्रयन्तराप्रतीतेरिति । अतिवादिस्थानीयोऽग्निहोत्री उपासनस्थानीयमग्निहोत्रं द्रव्यदेवतास्थानीयमुपास्यम् । अत्र अग्निहोत्रयन्तराप्रतीतिरग्निहोत्रान्तराप्रतीतः साच द्रव्यदेवताविशेषाप्रतीतिः, साच सत्यवचनशब्दस्य दृढ्यादिद्रव्यदेवताविशेषोपस्थापनासामर्थ्यात् एवमग्निहोत्रयन्तरसमर्पकशब्दाभावात्तत्र तुशब्दस्वारस्य भग्नमित्यर्थः । इहापि तर्ह्यतिवाद्यन्तराप्रतीतिरग्निहोत्रिन्यायो भवतीत्यत्राह—अत्रत्विति । अत्रत्वतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तमुपासनान्तरं तद्वैतभूतमुपास्यान्तरं च प्रतीयते, ॥

श्रीभाष्यम्

घन्तरत्यनिमित्तं सत्यशब्दामिधेयं परं ग्रह्यं ॥ तीयते । सत्यशब्दश्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.आन.१.अनु) इत्यादिषु परस्मिन्प्रत्ययि युक्तः ; अतस्तन्निष्ठस्यातिवादिनः पूर्वसादृश्याच्च कृत्यं सम्भवतीति वाक्यस्वरसत्तिद्वयमन्यत्वं न वाचितव्यम् । अतिवादित्वं हि घस्वरान्तरात्पुरुषार्थतयाऽतिश्रान्तस्योपास्यवस्तुयादित्वम् ; नामाद्याशापयन्तोपास्यवस्तुतिश्रान्तस्योपास्यशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मवादित्वात्प्राणविदोऽतिवादित्वम् ; तस्यापि साऽतिशय-पुरुषार्थत्वात्तिशयपुरुषार्थतयोपास्यपरग्रह्यादिन एव साक्षादतिवादित्वमिति 'एषतु वा अतिवदति यस्सत्येनातियदति' (छां.७.१६.१) इत्युक्तम् । सत्येनेतीत्यंभूतलक्षणे तृतीया ; सत्येन परेण ब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतित्यर्थः । अत एवैवं शिष्यः प्रार्थयते 'सोऽहं भगवः सत्येनातियदानि' (७.१६.१) इति ।

श्रुतप्रकाशः ।

तत्समर्पणसमर्पणस्य सत्यशब्दस्य सद्भावात्तुशब्दस्वारस्यं न भङ्गनीयम् । अतः अतिवाद्यन्तरं सिद्धमित्यर्थः किञ्च नपरं द्रव्य-देवतोपस्थापकशब्दाभावादिमिहोपान्तराप्रतीतिः, किंतु कर्मस्वरूपोपस्थापकशब्दाभावाच्च नहि जुहोत्यादिपदान्तरं श्रूयते । नच श्रूयमाणो वदतिशब्दो जुहोत्यर्थः । अतश्चाभिहोत्रांतराप्रतीतेरभिहोत्रशब्दसजातीयव्यतिरिक्तमन्मानः इष्टमेवाभिहोत्रमवलम्बते इह तु न परमुपास्यान्तरसमर्पणसमस्त्यशब्द एव 'सत्यंत्येव विजिज्ञासितव्यम्' इत्युपासनांतरोपस्थापक-शब्दश्च श्रूयते, अत उपासनान्तरप्रतीतिरुपासकान्तरप्रतीतिः सद्भावादतिवादिशब्दसादृश्यो भवितुमर्हतीति तुशब्दस्वारस्यं न भङ्गनीयम् अतः प्रकरणविच्छेद इति चाभिप्रायः । तुशब्दस्य घर्मिभेदकत्वेतिद्वे सत्यशब्दस्योपास्यांतरसमर्पकं च सत्यशब्दस्योपास्यान्तरसमर्पकत्वे तुशब्दस्य घर्मिभेदकत्वमित्यन्योऽन्याश्रयमाशङ्क्य सत्यशब्दस्योपास्यान्तरपरवप्रसिद्धिं दर्शयति सत्यशब्दश्चेति । ततः किनित्यपेक्षायां तुशब्दस्वारस्यफलितमर्थमाह— अतइति । नहि तुशब्दस्य घर्मिभेदक-त्वस्वारस्य सत्यशब्दोक्तं सत्यशब्दस्योपास्यान्तरसमर्पणसमस्त्य श्रुतिरिति न तु शब्दापेक्षम् । सत्यशब्दस्य न जीवपरसाधारण्य परस्यैव निरुपाधिकसत्त्वात् । साधारण्येऽपि विलक्षणोपास्यवाचकत्वमपि सम्भवति, तथासति न तुशब्दस्वारस्य-मङ्गः अतोऽन्योऽन्यसापेक्ष वाभावात्तान्योऽन्यश्रय इत्यभिप्रायेण पूर्वसादृश्याच्च सम्भवतीति वाक्यस्वरसत्तिद्वयमन्यत्वं न वाचितव्यमित्युक्तम् । प्राणोपासकस्यासाधारण्यमतिवादित्वं नातिवाद्यन्तरं सहते, अतोऽतिवादिशब्दस्वारस्यार्थं तुशब्दस्वा-रस्यमङ्ग इत्यत्राह—अतिवादित्वमर्हतीति । नहि प्राणातिवादिन्येवातिवादिशब्दो रूढः—

कल्लप्ताऽवयवशक्त्यैव लब्धे स्वार्थावबोधने । नष्टाऽवयवनामत्वं प्रत्याचष्टेहि सूत्रकृत् ॥

इति दर्शितात् । 'प्रोक्षणीष्वर्थसयोगात्' इति सूत्रितात् प्रोक्षणीनयादवयवशक्त्या स्वार्थावबोधे सम्भवति रूढिकल्पनायोगात् । अतो न प्राणानिवादिन्येवानिवादिशब्दस्वारस्यमित्यर्थः । अतिश्रान्तस्योपास्य वस्तुवादिव्यतिवादित्वादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमितीममर्थं प्राणातिवादिनि दर्शयति नामादीनि । अस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य परमात्मोपासक एव पुष्कलत्वात्तस्मिन्नेव अतिवादिशब्दा मुख्य इति 'यस्सत्येनातियदति' इति वदत आचार्यस्याभिप्रायइत्याह—तस्यापीति । तुशब्दस्यातिवादिशब्दस्योपास्यस्याप्यस्मिन् एव स्वारस्यमितिभावः । सत्यमुपास्यचेत् 'सवा एष एवं पश्यन्' इति वत् सत्यं पश्यन्नतिवदतीति वक्तव्यम् न तु सत्येनेतीति शङ्कायां तृतीयायां अर्थमाह—सत्येनेति । सत्यवचनपक्षेव तृतीयाऽनुपपत्तिः उपसर्गवैयर्थ्येनेति भावः । उपास्यान्तरं नमुष्णयति अतएवैवमिति । अतएव सत्यशब्दस्योपास्यान्तरं

## श्रीभाष्यम्

आचार्यश्च 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (७.१६.१) इत्याह । 'आत्मनः प्राणः' (७.२६.१) इति च प्राणशब्दनिर्दिष्टस्यात्मन उत्पत्तिरुच्यते । अतः 'तरति शोकमात्मदित्' (७.१.३) इति प्रकान्त आत्मा प्राणशब्दनिर्दिष्टादन्य इति गम्यते ॥

यदुक्तम्—'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति प्रश्नस्य 'अदो वाच प्राणाद्भूयः' इति प्रतिवचनस्यचादर्शनात्प्रकान्त आत्मोपदेशः प्राणोपदेशपर्यवसानो गम्यत इति ; तदुक्तम् ; नहि प्रश्नप्रतिवचानाभ्यामेधार्थान्तरत्वं गम्यते ; प्रमाणान्तरेणापि तत्सम्भवात् । उक्तञ्च प्रमाणान्तरम् । 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इत्यपृच्छतोऽयमभिप्रायः—नामादि-  
प्राणापर्यन्तेष्वचेतनेषु पुरुषार्थभूयस्तया पूर्वपूर्वमतिक्रान्तेष्वचेतनेष्वप्युत्तरोत्तरेष्वपि तत्तद्वेदिन आचार्येणातिवादित्वं नोक्तम् ; प्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मयाथात्म्यवेदिनस्तु पुरुषार्थभूयस्त्वातिशयं मन्वानेन 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति' (छां.७.१५.४) इति अतिक्रान्तवस्तुवादित्वमुक्तम् । अतोऽत्रैवात्मोपदेशस्मात् इति मत्वा शिष्यो भूयो न पप्रच्छ । आचार्यस्त्वदमपि साऽतिशयं मत्वा निरतिशयपुरुषार्थभूतं सत्यशब्दाभिधेयं परं ब्रह्म 'एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति' (७.१६) इति स्वयमेवोपचिक्षेप । शिष्योऽपि परमपुरुषार्थरूपे परस्मिन्ब्रह्मण्युपक्षिप्ते तत्स्वरूपतदुपासनयाथात्म्यबुभुत्सया 'सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदानि' (७.१६) इति प्रार्थयामास । ततो ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्वसिद्धये ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनम् ,

## श्रुतप्रकाशिका

त्वादेव 'सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदानि' इति शिष्यः प्रार्थयते नतु प्राणेनातिवदानीत्यर्थः आचार्यश्चेति । 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याह—नतु प्राण एवेतीत्यर्थः ॥

यद्वा अतिवादिशब्दस्य यौगिकत्वमुपपादयति अतएवैवमिति । अतिवादिशब्दस्य यौगिकत्वादेर्वाह 'अतिवदानी'त्याख्यातनिर्देश इत्यर्थः । यद्वा अतिक्रान्तस्वोपास्यवस्तुवादित्वस्यैवातिवादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वादेर्वाह शिष्यप्रार्थनमित्यर्थः । अयमर्थः पूर्वोक्तार्थफलं आचार्यश्चेति । अतएवेत्यनुषङ्गः । अतिक्रान्तस्वोपास्यवस्तुवादित्वस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वादेर्वाह सत्यशब्दाभिधेयं 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इत्युपास्यतयोक्तमित्यर्थः ॥

किञ्च सत्यवचनमङ्गतया विहितचेत् सत्य संपाद्यमित्युक्तं स्यात्, तदानीं विजिज्ञासितव्यशब्दास्वारस्य भवेत् सत्यं विजिज्ञासितव्यं वचनार्थं शातव्यमित्यर्थं इति चेत् अभ्यहारप्रसङ्ग इति भावः । सूत्राभिप्रेतेन हेत्वन्तरेणाप्यधिकतयोपास्यान्तरत्वमुपपादयन् संप्रसादादध्युपदेशं विवृणोति आत्मन इति । पूर्वपक्षयुक्तिमनुवदति यच्चिति । परिहर्गति तदयुक्तमिति । उक्तचेति । प्रश्नप्रतिवचनेहि लिङ्गं तदभावेऽपि तुष्टदश्रुतेरा मनः प्राणो वसिष्ठ इति प्रमाणान्तरमुक्तमित्यर्थः । तत्र प्रश्नाभावः किं निबन्धन इत्याह—अस्तीति । तुष्टपार्थभूयरातिशयं मन्वानेन आत्मोपदेशस्य तत्पर्यन्तत्वं मन्वानेनेत्यर्थः स्वयमेवोपचिक्षेपेति । भगवद्गीतायामपि 'तस्माद्योगी भवार्जुन' इति जीवामयोगं परिसमाप्य—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

इति परमात्मोपासनं भगवानेष सुपाक्षितवान् तद्वदिति भावः, ततो ब्रह्मेति । ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तेत्यनेन 'यदायैवि-

श्रीभाष्यम्

सत्यत्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (८.१६) इत्युपदिश्य तदुपायभूतं ब्रह्ममननम् 'मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या' (७.१८) इत्युपदिश्य श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वात्मनस्य मननोपदेशेन श्रवणमर्थसिद्धं मत्वा श्रवणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धाम् 'श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या' (६.१९) इत्युपदिश्य तदुपायभूतानां च तन्निष्ठां 'निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्या' (७.२०) इत्युपदिश्य तदुपायभूतां च तदुद्योगप्रयत्नरूपां कृतिमपि 'कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या' (छां.७.२१) इत्युपदिश्य श्रवणाद्युपक्रमरूपश्रुतिसिद्धये प्राप्यभूतस्य सत्यशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणस्सुखरूपताज्ञातव्येति 'सुखत्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छां.७.२२) इत्युपदिश्य निरतिशयविपुलमेव सुखं परमपुरुषार्थरूपं भवतीति तस्यैव ब्रह्मणस्सुखरूपस्य निरतिशयविपुलताज्ञातव्येति 'भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः' (छां.७.२३) इत्युपदिश्य निरतिशयविपुलसुखरूपस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सभूमा' [छां.७.२४.२] इति । अयमर्थः—अनवधिकातिशयसुखरूपे ब्रह्मण्यनुभूयमाने ततोऽन्यत्किमपि न पश्यत्यनुभ-

श्रुतप्रकाशिका

जानात्यथ सत्यं वदति' इत्यस्य वाक्यस्यार्थ उक्तो भवति, विजानातिशब्दः साक्षात्कारपरः, नतु शास्त्रजन्यज्ञानपरः 'यदायै मनुतेऽथ विजानाति' इति जानात्यर्थस्य मननसाध्यत्वावगमात् 'सत्यं वदति सत्यमतिवदति' इत्यर्थः अतिवादस्य प्रकृतत्वात् यदा ब्रह्मसाक्षात्करोति तदाऽतिवदति, तस्मादतिवादिबन्निमित्ततः साक्षात्काराय तदुपायभूतं सत्योपासनं कुर्यादित्यर्थः । श्रवणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धामिति । श्रवणमननानिदिध्यासनप्राप्तिविषयोहि ब्रह्म तद्विषयश्रद्धा च तच्छ्रोतुं मनुते द्रष्टुं प्राप्तुं च भवति, तत्र श्रवणोपायभूता श्रद्धामित्यनेन श्रोतुं श्रद्धा विवक्षिता । श्रद्धा त्वरा तदुपायभूतां च तन्निष्ठामिति । तास्मिन् ब्रह्मणि निष्ठा तन्निष्ठा ब्रह्मैव श्रोतव्यं नान्यदिति व्यवसायो निष्ठा श्रोतव्यत्वं निश्चयेहि श्रोतुं त्वरा भवति तदुद्योगप्रयत्नरूपां कृतिमिति । उद्योगशब्दवाच्यप्रयत्नरूपा कृतिमित्यर्थः, साच श्रोतव्यान्तरेषु हेतवानुमन्धानेन मनसो नियमनरूपा अन्यासिन्नुपादेयबुद्ध्या प्रवणमनस्कस्यहि ब्रह्मैव श्रोतव्यं नान्यदित्यध्यवसायो न भवति । श्रवणादीति । जिज्ञासितस्य पुरुषार्थत्वे तस्य निरतिशयत्वे च ज्ञातव्यं मनसस्सातिशयपुरुषार्थान्तरवैमुख्यकरणं सभजतीत्यभिप्रायः । निरतिशयपुरुषार्थत्वावगमश्च शास्त्रादेवापातप्रतीतिदशाया भवति यादृच्छिकसज्जनसंवादादिना च सिद्धयति । 'यदायै श्रद्धात्यथ मनुते यदायै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धयति यदायै करोत्यथ निस्तिष्ठति' इति मनज्ञादीनां श्रद्धाद्यानन्तर्यश्रवणात् भाष्य तेषामुपायोपेयभाव उक्तः 'यदायै सुखं लभते' इति श्रुतौ लभशब्दो बुद्धिवाची, लभतः प्राप्त्यर्थत्वादित्यभिप्रायेण सुखरूपता ज्ञातव्ये युक्तम् । नहि श्रवणदेः पूर्वमेव निरतिशयसुखप्राप्तिरुपपद्यते । सत्यव्यतिरिक्तविषयाणि जिज्ञासितव्यपदानि सपाद्य ववाचीनि 'यत्र नान्यत्' इति वाक्येऽन्यदर्शनश्रवणादिनिषेधात् दृश्यमिथ्या वशङ्का स्मादिति तदुत्पदासाय तस्यैव वाक्यस्येमाह—अयमर्थ इति । उच्यते भावाद्नुभूयमान इत्यध्याहारः कृतः नहि ब्रह्मसद्भावादुदुःखरूपवत्त्वन्तरादर्शनं भवति, ततोऽन्यत् सुखरूपात् ब्रह्मणोऽन्यत्, न पश्यति दुःखरूपं तदव्यतिरिक्तं च किञ्चिदपश्यतीत्यर्थः 'यौवै भूमा तत्सुखम्' इत्युक्तं निरतिशयसुखरूपब्रह्मलक्षणे परत्वाद्वाक्यस्य तत्र दुःखदर्शनाभावहेतुर्नवधिकातिशयसुखरूपत्वम् । अनवधिकातिशयसुखरूपत्वाद्दुःखं न पश्यतीत्यर्थः अन्यदर्शनाभाव हेतुमाह—ब्रह्मस्वरूपेति । कृत्स्नस्य वस्तुजातस्येति । स्वरूपान्तर्गताः ज्ञानादिगुणाः विभूत्यन्तर्गते जगदितिलमित्याभिप्रायः । अभिप्रेते हेतुसमुच्चयार्थश्च शब्दः,



## श्रीभाष्यम्

यिता, ब्रह्मस्वरूपतद्विभूत्यन्तर्गतत्वाच्च कृत्स्नस्य यस्तुजातस्य; अत ऐश्वर्यापरपर्यायविभूति-  
गुणविशिष्टं निरतिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवन् तद्व्यतिरिक्तस्य यस्तुनोऽभावादेव किमप्यध्य-  
न्नपश्यति; अनुभाव्यस्य सर्वस्य सुखरूपत्वादेव दुःखं च न पश्यति, तदेवहि सुखं यदनुभू-  
यमानं पुरुषानुकूलं भवति ॥

ननु चेदमेव जगद्ब्रह्मणोऽन्यतयाऽनुभूयमानं दुःखरूपं परिमितसुखरूपं च भवत्कथ-  
मिव ब्रह्मविभूतित्वेन 'तदात्मकतयाऽनुभूयमानं सुखरूपमेव भवेत् । उच्यते-कर्मवश्यानां  
क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणोऽन्यत्वेनानुभूयमानं कृत्स्नं जगत्तत्त्वमनुरूपं दुःखं च परिमितसुखं च  
भवति । अतो ब्रह्मणोऽन्यतया परिमितसुखत्वेन दुःखत्वेन च जगदनुभवस्य कर्मनिमित्तत्वा

## श्रुतप्रकाशिका

ननु यत्रेतिपद ब्रह्मपरम् ननु विभूतिपरम् । नच तद्विषय पदान्तरमस्ति अतो ब्रह्मस्वरूपतद्विभूत्यन्तर्गतत्वादित्य-  
युक्तम् । अस्तुवां तद्वाचिशब्दः ' नान्यत्पश्यति ' इत्ययुक्तम् । विभूतिर्हि ब्रह्मणोऽन्येति शङ्कायामुक्तं विवृणोति—  
अतप्रेश्वर्येति । अतः ब्रह्मणस्सुखरूपतायाः कृत्स्नविभूतेस्तदन्तर्भावस्य च प्रामाणिकत्वात् विभूतिविषयो गुणः विभूतिगुणः  
सएव ऐश्वर्यापरपर्यायं नियमनं तद्विशिष्टं ब्रह्म नहीशितव्यज्ञानविनैश्वर्यविशिष्टानुभवसम्भवः निरूपकेण विना निरूप्य-  
ज्ञानायोगादिति भावः । यद्वा अत्रैवोपनिषदि ' स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः ' इति स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति यदिवा  
न महिम्नेति गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्य दासभार्य क्षेत्राण्यायतनानि नाहं ब्रवीम्यन्योऽहान्यस्मिन्प्रति-  
ष्ठितः इति श्रूयते अत्र ' स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित ' इत्युक्ते हस्त्यादीनां नियाम्यादीनां महिमशब्दवाच्यत्वात् तत्प्रति-  
ष्ठितत्वशङ्काया ' यदिवा नमहिम्नि ' इति हस्तिहिरण्यादिमहिमनिष्ठत्वं निषिद्धं तदेव शङ्काबीजमुपन्यस्य व्युत्स्यति 'गो  
अश्वम् ' इत्यादीनां ' अस्य महिमानमिति घटितशोकः ' ' एतां विभूतिं योगं च ' इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु परमा-  
त्मनो महिमवत्त्वावगमादिह न महिमनिषेधः अपितु विभूतिरूपमहिमप्रतिष्ठितत्वनिषेध इत्यवगम्यते । अतो महिमविभू-  
त्यादिशब्दाश्च न स्वरूपमात्रपराः ' विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम् ' इत्यैश्वर्यपर्यायत्वादिति महिमापह्नवशङ्काव्युदासीयैश्वर्यापरपर्याय-  
येत्युक्तम् । इदानीं विभूतिरेव गुणः गुणशब्दो विभूतेरपृथक्सिद्धयभिप्रायः । विभूत्या गुणैश्चेति वाऽर्थः विभूतिगुण-  
विशिष्टेति । यच्छब्द एव ब्रह्मविशिष्टपर इति भावः । पूर्वं विभूत्यन्तर्गतत्वादिति अन्वयेऽतदुक्तः व्यतिरेकरूपं हेतुमाह  
तद्व्यतिरिक्तस्येति । विशिष्टब्रह्मणोऽन्यदर्शनं निषिध्यते नत्वन्यदर्शनमित्यर्थः । विभूतिविदिष्टं ब्रह्मानुभाव्यं चेद्विभूते-  
दुःखरूपत्वदर्शनाद्दुःखादर्शनमनुपपन्नमित्यत्राह—अनुभाव्यस्येति । सर्वस्य सर्वविभूतिकस्येत्यर्थः पूर्वाभिप्रेतादेव हेतो-  
रित्येवकाराभिप्रायः । सर्वस्य सुखरूपत्वं कथं आत्मगुणविशेषोहि सुखमित्यत्राह—तदेवहि सुखमिति । अनुकूलत्वंनाम  
स्वतद्वत्त्वं तच्चानिष्टनिवृत्तिरूपतयेष्टसाधनतया च विनापीष्टत्वम् ॥

अनुभवविरोधेन चोदयति ननुचेति । नह्येकमेकदैव सुखदुःखात्मकविरुद्धस्वभावाल्लङ्घितमिति उच्यते, नहि  
निम्नपत्रकं कस्यचिन्मधुरं भवति, नच सर्पः कस्यचिदनुकूलबुद्धिबोध्यो भवति नच जगतश्चक्षुः दुःखपरत्वमपहोर्षं  
तस्य सर्वैर्युगन्तव्यत्वात् । इतरथा तज्जिहासया ब्रह्मजिहासानुपपत्तेः, अतःपरिशेषात् सुखरूपत्वमेव त्यक्तमित्यभिप्रायः  
स्वतोऽपरिच्छिन्नसुखरूपस्याव्युपाधितोऽन्यथारूपसम्भवात्विरोध इति परिहरति उच्यत इति । कर्म तात्तिरोधानकृतमब्रह्मा-  
त्मकत्वज्ञानं चोपाधिः । ततः किमित्यत्राह—अतो ब्रह्मण इति । स्वतो मधुरस्यापि दोषसंघादननुकूलत्वं अनुकूलबु-

## श्रीभाष्यम्

त्कर्मरूपाविद्याविमुक्तस्य तदेव जगद्विभूतिगुणविशिष्ट-ह्यानुभवान्तर्गतं सुखमेव भवति । यथा पित्तोपहतेन पीयमानं पयः पित्ततारतम्येनाल्पसुखं विपरीतं च भवति ; तदेव पयः पित्तानुपहतस्य सुखायैव भवति ; तथैव राजपुत्रस्य पितुर्लीलोपकरणमतथात्वेनानुसन्धीयमानं प्रियत्वमनुपगतं तथात्मानुसन्धाने प्रियतमं भवति ; तथा निरतिशयानन्दस्वरूपस्य ह्यणोनवधिकातिशयासङ्गयेयकल्याणगुणाकरस्य लीलोपकरणं तदात्मकं चानुसन्धीयमानं जगद्विरतिशयप्रीतये भवत्येव । अतो जगदैश्वर्यविशिष्टमनवधिकातिशयसुखरूप-ह्यानुभवंस्ततोऽन्यत्किमपि न पश्यति ; दुःखं च न पश्यति । एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः— 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्यान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुनआत्मानन्द-स्वस्वराड्भवति' तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्तेक्ष्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति' (छां.७.२५.२) इति । स्वराड्कर्मवश्यः । अन्यराजानः कर्मवश्याः । तथा 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् । सर्वे ह पश्यःपश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश' [७.२६.२) इति च । निरतिशयसुखरूपत्वं च ह्यणः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (शारी.१.१.१२) इत्यत्र प्रपञ्चितम् । अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य सत्यशब्दाभिधेयस्य ह्यणो भूमेत्युपदेशाद्भूमापरं ह्य ॥

## सू—८ धर्मोपपत्तेश्च (१.३.८)

## श्रुतप्रकाशिका

द्वयविषयस्य केनचित्सम्बन्धित्वज्ञानादनुकूलत्वे च दृष्टान्तद्वयमाह—पित्तोपहतेनेति । दाष्टान्तिकेऽपि तादृक्त्वमाह—तथेति । 'यत्र नान्यत्' इति वाक्यस्यार्थं निगमयति अतइति । एतत् औपाधिकदुःखरूपतायास्तद्विगमेऽनवस्थानं सया एषइति । रत्यादिशब्दानां प्रीतिपरत्वे व्यधिकरणबहुव्रीहिः, अनुकूलविषयपरत्वे साक्षाद्बहुव्रीहिः आत्मशब्दो विभूतिगुणविशिष्टप्रज्ञपरः । रतिः स्वकचन्दनादिजन्या प्रीतिः, क्रीडा, उद्यानादिजन्या मिथुन स्त्रीसभगा । आनन्दः विभूतिजन्या । एव सर्वविद्यमुत्तानुभव उक्तः 'स्वराड्भवीत' 'अन्यराजानस्तेऽक्ष्यलोकाः' इति च परमामप्रति-क्षेपः प्रतीयत इत्याशङ्क्याह—स्वराडिति । अन्यराजानः स्वराडिति पदद्वयेन उपाधितद्विगमौ दर्शितौ । दुःखरूपतया प्रतिपन्नस्यापि स्वतःसुखरूपत्वे श्रुतिमाह—नपश्यइति । सर्वे पश्यति न तत्र दुःखरूपतां पश्यति, सुखरूपतामेव पश्यतीत्यर्थः । उदाहृतवाक्ये विभूत्यादिविशिष्टस्यानन्दरूपत्वमस्पष्टमिति तद्वैशद्यायाह—निरतिशयेति । 'तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति यद्वै तत्सुकृतं रसोयै सः रसगुह्येवायं लब्धवानन्दी भवति' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्वयेव रत्नत्वमानि भूतानि जायन्ते' इति च वाक्येषु कार्यकारणावस्थविभूत्यादिविशिष्टस्यैव आनन्दत्वाह स्फुटतरम् । सूत्रार्थमुपसहरति अतइति ॥

## सू—८ धर्मोपपत्तेश्च (१.३.८)



## श्रीभाष्यम्

सा चाम्बरान्तधृतिरस्याक्षरस्य प्रशासनादेव भवतीत्युपदिश्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि मर्याद्वन्ममसां विधृता तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि चावापृथिव्यां विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा क्रतवस्संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति' [वृ.५.८.९] इत्यादिना । प्रशासनम्-प्ररूपं शासनम् । नचेदं स्वशासनाधीनसर्ववस्तुविधरणं वदमुक्तोभयावस्थ स्यापि प्रत्यगात्मनस्सम्भवति । अतः पुरुषोत्तम एव प्रशासित्रक्षरम् ॥

## सू-११ अन्यभावव्यावृत्तेश्च (१.३.११)

## श्रुतप्रकाशिका

## सू-१० सा च प्रशासनात् (१.३.१०)

ननु नात्राम्बरान्तधृतेः परमा मप्रशासनाधीनत्व साक्षाच्छ्रुतिमिति शङ्कां परिजिहीर्षन् कतिपयवस्तुशासनस्य जीवेऽपि समवातद्व्यावृत्तिं च दर्शयन् प्रशासनशब्द व्याप्य प्रकृष्टमिति । क्वचिदप्यप्रतिहतत्वेन विषयप्रकर्षाच्छासनस्य प्रकर्षः प्रकर्षस्य निवारकाभावाच्छासनस्याभ्यास विषयत्वमपि सिद्धयतीति हृदयम् । ततः किमित्यपेक्षया प्रकृतेः परमा मप्रशासनकर्मत्वे हेत्वन्तरं च द्योतयन्तीव्यावृत्तिसिद्धिं दर्शयति । नचेदंशमिति । स्वशासनाधीनसर्ववस्तुविधरणमिति । अयमभिप्रायः, न केवलं शासनप्रकर्षादनपोदिताप्रकृतेः प्रशासनकर्मत्वसिद्धिः, किंतु 'सर्वस्य वशी सर्वस्ये शानः सर्वस्याधिपतिस्तर्धामद् प्रशास्ति' इत्यादिश्रुत्यन्तरेषु शासनकर्मोपस्थापकसर्वशब्दासङ्कोचाच्च तासिद्धिः ॥

किंच सत्यशब्दनिर्वचनं 'तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सत्यमिति तद्यत्सत्तदमृतं अथ यत्तितन्मर्त्यं अथ यद्य तेनोभौ यच्छति' इति मर्त्यशब्दवाच्याच्चेतनस्य तन्नियाभ्यत्व च प्रतीयते । मर्त्यशब्दोऽहवयववक्ष्यया पूर्वं पूर्वावस्था(त्य)माप्यचेतने वर्तते, नशरीरमात्रे । चावापृथिवीत्यादीनां तन्नियाभ्यत्वाभावप्रसङ्गात् । किंच 'यस्याव्यक्तशरीरम् यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युदशरीरम्' इति प्रधानस्य परशरीरत्वश्रवणादत्यन्तानियाभ्यस्यैव शरीरवाच्यं नित्यमव्यक्तसिद्धिः । इह च 'कस्मिन्नु रस्यकाश ओतप्रोतश्च' इति पृष्ठे 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इत्यारभ्य 'एतस्मिन्नु रस्यक्षरे गार्ग्याकाश ओतप्रोतश्च' इत्यक्षरेणाव्यावृत्तस्य धारणं श्रूयते । अतश्चासनस्य प्रकर्षाच्छ्रुत्यन्तरेणु प्रहाचांम्बरान्तधृतिरपि प्रशासनाधीनेति औत्रशब्दोऽहवयवतया हेतुवाचीत्यभिप्रायेणाह—अतइति । अम्बरान्तधृतिः प्रशासनादेव सिद्धयतीति यतः तत एवेत्यर्थः 'प्रशासितार सर्वेषां' 'विद्यात्तु पुरुषंपरम्' इति 'उत्तमःपुरुषस्त्वन्यः' इत्यादिवचनाभिप्रायेण पुरुषोत्तम एव प्रशासित्रक्षरमित्युच्यते ॥

एवं प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तौ सूत्रद्वयेन पृथगुपपादितौ । अथैकसूत्रेण प्राकराणिकचरमवाक्यविषयेणोभयव्यतिरेकमाह—

## सू-११ अन्यभावव्यावृत्तेश्च (१.३.११)

व्याख्यायते—निवर्त्यते । निवर्तकधर्मः प्रतिपाद्यतइत्यर्थः । ततश्च सूत्रस्य व्यावृत्तिशब्दो व्यावर्तकधर्मपर इति दर्शितस्यात्, तेन विषयवाक्यानुगुण्य सूत्रस्य स्यात् तत्र ह्यन्यनिवर्तकधर्मो द्रष्टृत्वादिरवगम्यते । द्वितीययोजननाया अपेक्षित-



## श्रीभाष्यम्

अन्यभावः—अन्यत्वम्, प्रधानादिभावः । अस्याक्षरस्य परमपुरुषादन्यत्व वाचयद्देवे व्यावर्त्यते ' तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टुं श्रुतं श्रोत्रमते मन्त्रविज्ञातं विज्ञातं नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं, नान्यदतोऽस्ति श्रोतुं, नान्यदतोऽस्ति मन्तुं, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातुं एतस्मिन्नु सत्त्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च (वृ ५८ ११) ' इति । अत्र द्रष्टृत्व श्रोतृत्वाद्युपदेशादस्याक्षरस्याचेनभूतप्रधानभावो व्यावर्त्यते, सर्वैरदृष्टस्यैव सतस्सर्वस्य द्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च प्रत्यगात्मभावो व्यावर्त्यते । अत्र इयमन्यभावव्यावृत्तिरस्याक्षरस्य परमपुरुषता द्रढयति । एव वाऽन्यभावव्यावृत्तिरन्यस्य सद्भावव्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति ' यथैतदक्षरमन्यैदृष्टं सदन्येषां द्रष्टुं च सत्स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्याधारभूत एवमनेनादृष्टमेतन्म्य द्रष्टुं च

## श्रुतप्रकाशिका

त्वात् ' नान्यदतोऽस्ति ' इत्यादिकमुदाहृतम् । अस्मिन्नाक्षरे प्रधानव्यावृत्तिसिद्धिं दर्शयति अत्रेति । अत्र ' अदृष्टम् ' इति वाक्ये द्रष्टृदिशब्दा रूपशब्दप्रभृतिबाह्याक्षविषयाणां मन्त्रव्याख्यवसेयाद्य तत्करणविषयाणां च साक्षात्कर्तृवाचकशासनस्य शासितव्यवस्तुदर्शनसाक्षात्त्वात् ' नदृष्टेद्रष्टारम् ' ' नश्रुतेश्रोतारम् ' ' नमतेर्मन्तारम् ' इत्यादिना परश्रवणमननत्वादिकर्तृवनिषेधेन तेषामयोग्यत्वात् ' पश्यत्यक्षुरस्सृष्ट्णोत्यकर्ण ' इति रूपादिसाक्षा कर्तृवश्रवणश्च जीवव्यावृत्तिं दर्शयति सर्वैरिति । सर्वे यागिभिः सर्वस्येति । रूपतदाश्रयादिष्वैकैकवर्गका स्यपरस्त्वशब्द, अस्यासङ्कुचितवृत्तितया द्रष्टृशब्देन सर्वसाक्षा कारस्याभिहितत्वसत्यादिशब्दापात्तश्रातृवादीनां निर्विषयवप्रसङ्गात् । सर्वैरदृष्टं वाच्यमात्रं प्रधानादीनामपि सम्भवतीति तद्व्यवृत्त्यर्थमदृष्टस्यैव सतस्सर्वस्य द्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च युक्तम् । अदृष्टत्वादिविशेषितं द्रष्टृत्वादिकं प्रत्यगात्मव्यावर्तकमित्यर्थः । प्रत्यगात्मनस्सर्वे प्रत्येक स्वस्वाहप्रत्ययवद्या रूपादिविज्ञातारश्च, परस्तु रूपादिज्ञानवेलाया यागिभिरपि स्वस्वरूपवद्रूपादिवच्च न ज्ञायत । निष्ठान्तैः पदैः तत्तद्विषयप्रतिपात्तिवज्ज्ञायां परमात्मनोऽनवगतत्वं विवाक्षितम् । अश्रुतशब्दश्रवणदशायामज्ञातं अमृतं स्याणुपुरुषार्थविचारदशायामाद्विषयपदप्रतिपक्षम् अविज्ञातं अभ्यवसायदशायामघटादिव स्वस्वरूपवच्चानवगतम् । अतएवाहि विशेषितं द्रष्टृत्वादिकं परमात्मासाधारणम् । यद्वा रूपशब्दाद्यर्थवेदिभिस्सर्वैरेवेद्यं न विशेषितं तत्तदर्थद्रष्टृत्वं समुच्चल्य चिदच्छिन्नावर्तकमित्यर्थः ' अन्यभावव्यावृत्ते ' इत्युक्तं हतो रसाध्याविशिष्टत्वशङ्का च शमयन्निगमयति अतइति । इयं व्यावर्तकधर्मावयवरूपा व्यावृत्तिरपरमपुरुषस्य साधयति अतस्साध्याविशिष्टत्वं युदासः । अस्या योजनाया प्रधानपुरुषव्यावर्तकधर्मवाचिवाक्यानि विषयीभूतानीति चिदच्छिन्नावृत्तिरुक्तोक्तस्यात् चशब्दउत्तरेणमुच्चय ॥

मुलान्तरेण सूत्रं याजयति एवमेति । अक्षरार्थमाह—अन्यस्येति । ' नान्यत् ' इत्यादिवाक्यस्य सूत्रविषयवद्दि निधाय तस्यार्थमाह—यथैतदिति । यथास्मिन्नाक्षरे देवदत्त एव पुरुषो नान्य इत्युक्ते न पुरुषमात्रनिषेधो अपि तु प्रस्तुततुल्यपुरुषान्तरनिषेधस्यात् । पुरुषान्तराणां प्रमाणसिद्धतया निर्देयुमशक्यं वात्, एवमिहापि द्रष्टृत्वाद्युपदेशात् प्रमाणिकं वात् प्रकृतवृत्त्यद्रष्टृदिनिषेधपरमिदं वाक्यमिन्त्यामप्रायणं प्रकृतगुणां विशिष्टं वक्तुम् । आधारभूतमिति । समस्तस्य प्रशासनेनाधारभूतमित्यर्थः । निषेधविषयं दर्शयति एवमिति । एतस्य अक्षरस्य आधारभूतं प्रशासनं न धारकम् । एव परमात्मनो नियन्तृतया आधारभूतद्रष्टृन्तराभावादधिकनिषेधपरमिदं वाक्यं व्याख्यातम् । एव वा एतस्मैतिपदं व्यतिरिक्तस्य समस्तस्येति पदप्रवृत्तौ परम् अक्षरादन्यत् समस्तजगतः प्रशासनं न धारकं तनादृष्टं द्रष्टुं नास्तीत्यर्थः । तदा समनिषेधपरा वाक्यशेषस्यात् ॥

## श्रीभाष्यम्

सदेतस्याधारभूतमन्यघ्नास्तीति वदन् ‘नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ’ (५.८.११) इत्यादिव्याख्यशेषोऽन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्नस्याक्षरस्य प्रधानभावं प्रत्यगात्मभावं च प्रतिषेधति । किञ्च—  
‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रधाने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वार्यत्ताः’ (बृ.५.८.९) इति श्रौतं स्मार्तं च यागदानहोमादिकं सर्वं कर्म यस्याशया प्रवर्तते तदक्षरं परब्रह्मभूतः पुन्योत्तम एवेति निश्चायते । अपि च ‘यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिलोके जुहोति यजते तपस्तप्यते वह्निं वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्धवाति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रति स कृपणः अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रति स ब्रह्मणः’ (बृ.५.८.१०) इति यदज्ञानात्संसारप्राप्तिः ज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिस्तदक्षरं परं ब्रह्मेवेति सिद्धम् ॥

## इति अक्षराधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

ननु ‘नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ’ इति वाक्य द्रष्टृणा पुरुषाणां ब्रह्मतादात्म्येन अतदात्मकत्वानिषेधपरं किं न स्यात् । नैकैकविधानस्याप्रकृतत्वात् ऐक्यविधिशेषोहि भेदनिषेधः व्यतिरेकस्यान्वयशेषत्वात् । यदि क्वचिदैक्यविधानामावेऽपि भेदनिषेधसम्भवति, तत्र तु निर्वाहान्तरासम्भवादभ्युपगन्तव्यः, इहतु गत्यन्तरसम्भवादैक्यविद्वधभावे भेदनिषेधपरत्वाश्रयणमयुक्तम् । किञ्च ‘कस्मिन्नु खल्वकाश ओतश्च प्रोतश्च’ इत्युपक्रम्य ‘एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च’ इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां प्रकरणस्य परमात्मनो विधारकताप्रतिपादनपरत्वमवगम्यते, नतवैयपरं वा धारकं वा अभिहिते तस्यापि धारकान्तरशङ्का स्यात्, लोके धारकाणामपि धार्यत्वदर्शनात् यथा कारणानामपि कार्यत्वदर्शनेन परमात्मनोऽपि जगत्कारणत्वेनान्यकार्यत्वशङ्काया तद्व्यावर्तनेन परमकारणत्वसिद्धये ‘सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः’ इति कारणान्तरनिषेधः परमकारणत्वापेक्षितत्वात् क्रियते, एवमिहापि परमात्मनः परमाधारत्वसिद्धये धारकत्वनिषेधोऽपेक्षितः । भेदनिषेधस्तु प्रकृतार्थानिषेधितः अपेक्षितविधेरनपेक्षितविधानदौर्बल्यमविशीतम् । किञ्च ‘नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ’ इति द्रष्टृ श्रोत्रादीनां पृथक्पृथक्भेदनिषेधश्च विफलः । द्रष्टृत्वश्रोतृत्वसम्भवात् यथा ‘तदेवामिस्तद्वायु’ ‘ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः’ इत्यादिः श्रुतिवायुज्योतिर्भुवनगिरिदिगादीनामन्योऽयमिन्नजातीयतया तेष्वन्यतमस्य ब्रह्मा मन्त्रोपदेशोऽपि तदन्यस्य ब्रह्मा मन्त्रविरुद्धश्च इत्येकं ब्रह्म मन्त्रोपदेशसफलम् । एव द्रष्टृश्रोतृमन्त्रादीनां भिन्नजातीयत्वात् पृथक्भेदनिषेधवैयर्थ्यम्, न च वाक्यम् ‘ब्रह्मदाशा ब्रह्म दासा’ इत्यादौ दाशश्च दासत्वकितवत्त्वादिसम्भवेऽपि पृथक्तादात्म्योपदेशवादिहाप्युपपद्यत इति । दाशेभ्यो भिन्नजातीयानामपि दासकितवादीनां सम्भवेन धुनिवाक्यस्यपदानां तद्विषयव्यपत्तेः अन्यथा तत्रापि वैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । अत इदं वाक्यं प्रकृततुल्यद्रष्टृन्तरनिषेधपरम् । अन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्निति । सूत्रस्यैरन्यभावव्यावृत्तिशब्दैः श्रुतिवाक्यस्या अन्यदास्तिनेतिशब्दाः प्रत्यभिज्ञास्यन्त इति भावः । व्यावर्तयन्नित्यन्तेनाक्षरार्थ उक्तः । फलितमाह अस्याक्षरस्येति । अस्या योजनाया सूत्राक्षरानुरूप्यं दर्शितम् । नियन्तृरूपधारकान्तरराहित्यमेव कण्ठोक्तं भवति चिदचिन्मातृत्तिरर्थमिच्छा स्यात् । चशब्दः पूर्ववन्नोक्तसमुच्चयपरः, अपित्वनुक्तसमुच्चयपर इत्यभिप्रायणं चशब्दार्थमाह—किं (गूढार्थसमूह—‘ब्रह्मणा अण्यत’ इति ब्राह्मण इत्यर्थमभिप्रेत्य ‘यज्ज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिः’ इति भाष्यम् ।)

## श्रुतप्रकाशिका

चेति । ‘अन्वायत्ता’ इति पदं देवमनुष्यपितृसाधारणम् । अन्वायत्ता अनुवशा इत्यर्थः । द्वितीयात्तपदानां प्रश-  
सन्तीत्यनेनान्वयः वाक्यप्रतिपन्नार्थस्य परमा मल्लिङ्गता दर्शयति श्रौतं स्मार्तं चेति । अन्तशब्दसमवेतव्यं हेतुं त्रमाह—  
अपि चेति । उदाहृतवाक्यसिद्धं हेतुं वदन्नधिकरणार्थमुपसहरति यदज्ञानादिति ॥

‘नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ’ इति वाक्यस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तद्रष्टृमात्रनिषेधपरं वमयुक्तं, तथासति हि ब्रह्मैव द्रष्टृ ना-  
दि युक्तं स्यात्, तं परमतं विरुद्धं ब्रह्मणो द्रष्टृवानभ्युपगमात् । तन्मतनैतदक्षरं द्रष्टृमिति हि वक्तव्यम् । यदि द्रष्टृमिथ्या-  
मात्रपरम् तदा अतोऽन्यदिति निर्देशवैयर्थ्यं द्रष्टृनास्त्येतावता तामिथ्या वसिद्धे । ननु ब्रह्मैव द्राष्टृत्वार्थः, ततश्च ब्रह्मणि  
द्रष्टृणा कल्पितव्यं सिद्धयतीति च न अयमेव पुरुषः नातोऽतोऽस्ति पुरुष इत्युक्तं पुरुषवमस्मि कल्पितमित्यर्थाप्रतीतिः ।  
एतच्च पुरुषान्तरनिषेधाहि प्रतीयते, अतो ब्रह्मणोऽन्यो द्रष्टृवर्गो मिथ्येत्यर्थः इति चेन्न ‘अदृष्टं द्रष्टृ’ इति पूर्ववाक्य-  
ब्रह्मणश्च द्रष्टृवप्रतिपादनात् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यैव द्रष्टृत्वमिति वक्तुमयुक्तत्वात् द्रष्टृमिथ्या वक्ष्यमाणोऽपि मिथ्या वप्रसङ्गात्,  
तस्मिन्परिजिहार्थितसति ‘अदृष्टं द्रष्टृ’ इति पूर्ववाक्यप्रतिपाद्यस्याब्रह्म वप्रसङ्गाच्च । ब्रह्मणा द्रष्टृ वऽपि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वा  
भावात्तमिथ्या वमिति चेत् तर्हि परमार्थतो ज्ञातुं वमभ्युपगतं स्यात्, यत्तु भास्करेणोक्तं प्रधानव्यावृत्तिरननं सूत्रेण क्रियत  
प्रधानस्य शासितृ वसम्भवोऽपि द्रष्टृत्वाभावात् प्रधानव्यावृत्तिरिति तदयुक्तं द्रष्टृविशेषो हि प्रशासितः । शिंशुषा वसम्भवोऽपि  
वृक्ष वसम्भववत् प्रशासितृ वसम्भवोऽपि दृष्ट वसम्भवः कथमुक्तं । प्रधानस्य श्वर वसम्भवेऽपि क्षेत्रज्ञं व नरुमवेतीत्य-  
नुमत्तं कावचीति ॥

## इति अक्षराधिकरणम्

## गूढार्थसंग्रहः

## अथ अक्षराधिकरणम्

‘अक्षरमम्बरान्तधृते’ इति ‘सर्वधर्मोपपत्तेश्च’ इत्यत्र कारणवस्य विवक्षितं वेन तत्र धारकवमभ्युक्तं भवतीति  
पूर्वाधिकरणे स्थापितं भवति । अत्र परमा मव्यतिरिक्तस्य धारक व भवतीत्याक्षेपः । प्रकृतं स्वकार्यधारकं च गीतायाम्  
‘यद्यत् धायते जगत्’ ‘एतदानीं भूतानि मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिं सूयत सत्त्वाक्षरम्’ इत्यादायुक्तम् । अम्बरान्तध-  
‘अम्बरं परतः परं’ इति श्रुतौ प्रकृतौ प्रयुक्तं । ‘नक्षरतीत्यक्षरम्’ इति व्युत्पत्त्या स्वापादानपरिणामरूपविभागाच्च य-  
वस्य महत्तवादायसम्भवनं प्रकृतौ सभवात् तत्तत्पर्येणाक्षरशब्दः प्रयुक्तः । ‘अस्थूलमनणु’ इत्यादिना स्वकायवैल-  
क्षण्यमेव प्रतिपाद्यते । अत्राम्बरशब्दस्य परमा मपरं व ‘नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ’ इत्येकमवाद एव पर्यवसानं स्यात् ।  
अनिमवाक्यस्य परमामपरं वमस्तु वा भावाः । उपक्रमस्य प्रकृतिपरं वमव स्यात् । अतएव ‘आकाश एव तदोक्तं च  
प्रोक्तं च’ इत्याकाशास्य धारक वमभिधाय तद्धारक वमम्बरमभिधायतः । पूर्वोक्तस्य स्वधिकारधारक वमाकाशस्याभिप्रेतम्  
आकाशव्यापि प्रकृतिविकारं वनं प्रकृतस्य सत्त्वाक्षरस्य युक्तमित्यर्थं पूर्वापक्षेण आशयः । ‘ओत’ इति शब्दश्च ‘यत्  
तत्तु तान्’ इति धातोर्निधाय । ‘प्रातः दीपयन् तिर्यक्पन् तं पुण्याति कारणव्याप्तं कार्यं प्रतिपाद्यत इति परेऽपि  
वर्णितम् । ‘अक्षरमम्बरान्तधृते’ इति मदान्तसूत्रमेव । सूत्रे ‘अतः’ शब्दाददेशेन अम्बरधारकत्वमात्रं भूतौ न निव-  
र्तितम् । ‘कास्यस्तु गच्छाकाश आनन्धः प्राग्वहः’ इति वाक्यापूर्वं आकाशधारकधारक वस्य आकाशेऽभिधाय तत्र स्वा-  
देयताधारक व तत्रातितापि सुमयमभावात् ॥

गूढार्थसंग्रहः

एवं न आकाशधारक्यमात्रमिधानेऽपि आकाशपूर्वीकारधारवस्थानभिधानेन न्यूनता । नच ते विकाराः न  
स्वीतीति विनिर्वादेऽयुक्तः । मनुष्यान्वय्यादिस्मृतौ स्पष्टमहत्त्ववादीनां प्रतिपादनात् भगवद्गीतायामपि तादृशार्थ-  
स्पष्टत्वात् । ' इतरेषां चानुपलब्धेः ' इति श्रुत्यं महत्त्ववादीनामनुपलब्धेः इति परेषां चैवर्णनेन तु महाभारते ' अथ चतुर्वि-  
धविचरानि स्वरूपावसेर ' यथा श्रुतिनिदर्शनम् ' इत्युक्त्या (हर्षाक्षरोरत्नभूषणदीपितौ १६७.पु) महत्त्ववादीनां भीतान्  
मन्त्रस्याभ्युपेयम् ॥

एवं च स्वधिकारसामान्यधारकचेष्टवश्यः प्रतिपिपादयिष्यति अक्षरशब्दाग्राह्येन परमात्मन्येव ६ ईदृशं सु-  
 क्तवत्या मुण्डकधुरी तस्यैव स्यात्तत्र शुभ्राद्यायतन-यस्य पूर्वं प्रज्ञाणि प्रतन्वादोपक्रमे समर्थनेन 'यदुध्वे' गार्गि 'दिनो'  
 यदाकिञ्चिन्मयाः' इत्यादिपूर्वांशु युक्तमित्येवधारक-वस्तुमीप ततएव सिद्धेः प्रकृतेरपि परमात्मकायत्वेन 'मयि' सर्वमिदं'  
 प्रोक्तम्' इति गीतांशवृहन्नातुराधन च अभ्यस्यन्तः अराधिभूताकाशपरम्परायां अराधिभूता प्रकृतिरेव निवक्षिता इति  
 सुखयः निर्णोतो भवति । एवमङ्गीकारे उपक्रमोपसंहारयोरैकरस्यमपि सम्भवति । 'नाभ्यदतोऽस्ति द्रष्टु' इति सुत्यर्थश्च  
 'अन्यमायव्यावृत्तेश्च' इत्यत्र विचारयिष्यत ॥

‘भूमिरापोऽनलो वायुः श्वमनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयमे मित्रा प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमित्सर्वं यामा’  
इत्यादिगीताया प्रकृत्यपेक्षया जीवस्य परमप्रतिपादनेन ‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशाने गार्गि—तिष्ठतः’ इति धारकत्वस्य  
विशदीकरणवास्योक्तप्रशासनाधीनधारकत्वस्य प्रकृतापसम्भवेऽपि जीवे तत्सम्भयति अक्षरशब्दः प्रकृत्यपेक्षया जीवे  
मुख्यः । तस्य स्वरूपपरिणामाभावात् । ‘क्षर प्रधानममृताक्षर हरः’ इत्यत्र जीवेऽप्यक्षरशब्दप्रयोगात् । बद्धजीवापेक्षया  
मुक्तजीवे ततोऽपि मुख्योऽक्षरशब्दः । घर्मभूतज्ञानरुद्धोचस्याभावेन स्वभावान्यथाभावरूपपरिणामस्याप्येभावात् । मुक्तस्य  
सत्यसङ्ख्यत्वाविर्भावेन स्वशासनाधीनधारकत्वमपि संभवतीत्याशङ्काया—‘साच प्रशासनात्’ इति ॥

शाङ्कितोऽमशब्दार्थनिष्कर्षे विहाय शशङ्के । सूत्रकारश्च श्रुतिष्यकप्रशब्द निर्दिशन् प्रशासनं मुक्तजीवेऽपि न सभ-  
वतीति सिद्धान्तयति । शासनं प्रकर्षश्च द्वितीयः, अन्यानर्घान्तरूप एकः सच मुक्तस्यापि न सभवति, अन्यश्च सर्वसव-  
न्धिवरूपः सर्वजगद्धारणहर्तुभूतशासनतु मुक्तस्य न सभवति । ' जगद्व्यापारवर्जम् ' इतिसूत्रे तथा स्थापयिष्यमाण-  
त्वात् । एतत्तात्पर्येणैव गीतायाः प्रथमतः प्रकृतिजीवोभ्यधारकं च प्रतिपाद्य परमात्मन एव सर्वधारकं च प्रतिपाद्यत । एव  
बद्धमुक्तव्यावृत्त्यङ्गीकारे जीवमद- अङ्गीकृतो भवति सच श्रुतौ निषिद्धः ' नाऽन्यदतोऽस्ति द्रष्टु ' इत्यादिना द्रष्टु-  
न्तरनिषेधात् यत्तन्मन्त्राभिप्रायेण प्राक्सूत्रकृता ' उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ' इति ' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा ' इति श्रुति-  
संवेदपि अन्तर्यामिन् द्रष्टव्यस्य जीवमित्रपरमात्मपरव प्रतिपादितम् । तत्र जीवपरमात्मभेदस्य प्रतिपादनेऽप्यत्र जीवपरमात्मे-  
भेदस्याप्रतिपादनेन अत्र एकस्यैवात्मनः श्रुतिनिषिद्धिः सति स्फुटं अन्तर्यामिन् चिक्कणसूत्रमपि अधिष्ठाकारिकभेदपरमेष्ठस्य  
' अश्रुतमणु ' इत्यादिना निषेधसंज्ञेनैव वाक्यप्रशस्त्या निषेधेऽप्येव निषिद्धित्वेन अत्रैकमवादेऽपि श्रुतौ तत्रापि  
तथैव इत्याक्षेपपरिहारायाह— ' अन्यभावव्यावृत्तेश्च ' इति ॥

धारकत्वेन शासकत्वेन च पूर्वं ब्रह्मण प्रस्तुततया 'अदृष्टो द्रष्टा' इति पूर्वकर्मवाचिपदाभावेन पूर्वं धारकत्वेनानां सर्वेषां पदार्थानां कर्मत्वेन प्राप्या पूर्वाकथोक्तार्थस्य अत्रासत्वेन उक्तव्यतिरेकेण दृढीकरणं स्यात् अत्राभिप्रेतत्वेन धारकत्वेन शासकत्वेन चोपस्थितसर्वद्रष्टुः अदृष्टत्वादिविशेषिणानामन्यस्य सद्भावएव व्यावर्त्यतया विवक्षित इति सूत्रकाराशयः सूत्रमपनिर्देशेन गार्थ-द्वन्द्व-दाम्भ्याच ज्ञायत इति स्फुट निर्मलसराणां विदुषाम् ॥

इति अक्षराधिकरणम्



अथ वेदान्तसारः

### सू-९ अक्षरमम्बरान्तधृतेः (१.३.९)

‘ एतद्वैतदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु ’ (वृ.५.८.८) इत्यादिना अभिहितमक्षरं परब्रह्म अम्बरान्तधृतेः । ‘ यदूर्ध्वं गार्गि दिवः ’ (५.८.७) इत्यारभ्य सर्वविकाराधारतया निर्दिष्ट आकाशः ‘ कस्मिन्नोतश्च ’ (५.८.७) इति पृष्ठे ‘ एतद्वै तदक्षरम् ’ (५.८.८) इति निर्दिष्टस्याक्षरस्य वायुमदम्बरान्तधृतेः सर्वविकाराधारे ह्यया व द्यौ वायुमदम्बरान्तकारण प्रधानम् ; तद्वारक परब्रह्म ॥

### सू-१० सा च प्रशासनात् (१-३-१०)

सा च धृतिः ‘ एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासते गार्गि ’ (वृ.५.८.९) इत्यादिना प्रकृष्टाश्रया क्रियमाणा श्रूयते । अत इदमक्षरं प्रत्यगात्मा च न भवतीत्यर्थः ॥

### सू-११ अन्यभावव्यावृत्तेश्च (१.३.११)

अन्यभावः—अन्यत्वम् ‘ अदृष्टं द्रष्टुं ’ (५.८.११) इत्यादिना परमात्मनोऽन्यत्व ह्यस्याक्षरस्य व्यावर्तयति वाक्य शेषः । अतश्च परएव ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीप

### सू-९ अक्षरमम्बरान्तधृतेः [१.३.९]

वाजना गार्गिप्रश्ने ‘ सहोवाचैतद्वै तदक्षर गार्गि ब्राह्मणा आर्भयद-त्यस्थूलमनण्वहस्वदीर्घमलोहिमस्नेहमच्छायम् (वृ.५.८.८) इत्यत्राक्षरशब्दनिर्दिष्ट प्रधानम्, जीवो वा उत परमा मा इति सशयः । प्रधानम् जीवोवा न परमा मा- इति पूर्वपक्षः । ‘ कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च ’ (५.८.७) इत्युक्ते आकाशाधारतयोच्यमानमक्षरं प्रधानम्, जीवो वा ; प्रधानस्य विकाराधारत्वात् जीवस्याचिद्वस्वाधारत्वात् ; न परमा मा इति । रादान्तस्तु—‘ यदूर्ध्वं गार्गि दिवः ’ (५.८.७) इत्यारभ्य, कालत्रययतिनः कृत्स्नस्याधारतया निर्दिष्ट आकाशोऽव्यावृत्तेः, न वाऽमानावाऽऽ । तत रश्मात् ‘ कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च ’ (५.८.७) इति पृष्ठे तदाधारतयोच्यमानमेतदक्षरं न प्रच-न भविष्य-मर्हति ; नापि जीवः ‘ एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचिन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत ’ (५.८.९) इत्यारभ्य प्रशा-सना सर्वाधारत्वधृतेः । सूनार्थस्तु ‘ एतद्वै तदक्षर गार्गि ’ (५.८.८) इति निर्दिष्टमक्षरं परमा मा, अम्बरान्तधृतेः अम्बर वायुमान,काशः, अम्बरान्तः—अम्बरपारभूतम् अम्बरकारणमिति यावत् ; कारणापत्तिरेवाह कार्यम्यान्तः । सनाम्बरान्त-अव्यावृत्त प्रधानम् तस्य धृतेः धारणात् । अव्यावृत्तस्यापि धृतेरक्षरं परमा मैवेत्यर्थः ॥

## सू—१० सा च प्रशासनात् (१.३.१०)

सा च अम्बरान्तधृतिः 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याच्च द्रमसौ' (वृ.५.८.९) इति प्रशासनात्  
भूयते । प्रशासनम्—प्रकृष्ट शासनम् अप्रतिहताशा । नचाप्रतिहताशया वृत्तस्य चिदचिदात्मकस्य जगता धृतिर्जावे  
उपपद्यते ; अतो नजीवः ॥

## सू—११ अन्यभावव्यावृत्तेश्च (१.३.११)

अन्यभाव —अन्यत्वम् अस्याक्षरस्य परमपुरुषादन्य व व्यावर्तयति वाक्यशेषे 'अदृष्ट द्रष्टृ' इत्यादिना सर्वे  
दृष्टमनदक्षर सर्वस्य द्रष्टृत्वादिप्रधानजीवासम्भावनीयार्थप्रतिपादनात् ॥

इति वेदान्तदीप

अथ अधिकरणसारावली

प्रख्याताकाशपूर्वस्वविवृतिवहनादक्षरारण्यं प्रधान  
तस्याप्याकाशतोऽन्तो धृतनिखिलजगत् क्षेत्रितत्वं तु तत्स्यात्  
मैव द्रष्टृत्वपूर्वैरनितरनियतैश्चासनायत्तधृत्या  
किञ्च द्रष्टृन्तरस्य व्युदसनमिह तत्तुल्यतद्द्रष्टृपोहः ॥

॥ इति अक्षराधिकरणं समाप्तम् ॥



## अथ ईक्षतिकर्माधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू-१२ ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः (१.३.१२)

आथर्वणिकास्सत्यकामप्रश्नेऽधीयते= 'य पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एव ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ' (प्रश्न.५.५) इति । अत्र ध्यायतीक्षतिशब्दाद्येऽविषयौ ध्यानफलत्वादीक्षणस्य 'यथा क्रतुरसिलोके पुरुषः ' [छां३.१४.१) इति न्यायेन ध्यानविषयस्यैव प्राप्यत्वात् 'परं पुरुषम्' (प्रश्न.५.१) इत्युभयत्र कर्मभूतस्यार्थस्य प्रत्यभिज्ञानाच्च ॥

तत्र संशय्यते-किमिह 'परं पुरुषम्' इति निर्दिष्टो जीवसमाप्तिरूपोऽण्डाधिपतिश्च

## अथ ईक्षतिकर्माधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

सू-१२ ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः (१.३.१२)

(अत्र स इत्युक्तिरसिद्धौदेः सर्वाधिकरणेषु साध्यप्रतिज्ञानुवृत्त्यर्थः । यथा प्रथमपादे भेदव्यपदेशाच्चान्य इत्यन्य शब्दोक्तिः । यथा च द्वितीये 'अतएव च सन्नद्धा' इति ब्रह्मशब्दोक्तिः, यथा चतुर्थे 'वदसीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रक रणात्' इति प्राज्ञशब्दोक्तिश्च । तद्वत् पूर्वे 'अदृष्ट द्रष्टृ' इति परमात्मनो द्रष्टृत्वमुक्तम् तर्हीक्षतिकर्म वेनोक्तो न पर मात्मेति शङ्कया सङ्गतिः । यद्वा पूर्वाधिकरणे अर्थविशेषनाकाशशब्दस्य अन्तरिक्षशब्दस्य तथाऽन्तरिक्षशब्दस्य नदृष्ट-न्तरेण निर्वाहस्त्वच इति शङ्कया सङ्गतिः । यद्वा आकाशशब्दस्य अन्तरिक्षपरवत् ब्रह्मलोकशब्दस्य नान्यथा निर्वा-होऽस्तीति शङ्कया सङ्गतिः । 'ससामभिरुन्नीयते' 'एतस्मात्सामगायत्रास्ते' इतिवत् सामगानसीहेतुरित्यर्थः, यद्वा सात्वतादियुक्तेरातिवाहिकैरुन्नीयत इत्यर्थः । परैरेक्षतिकर्मणः परमात्मनो व्यपदेशादप्युक्तो हि ईक्षतिकर्म इति वद-कृत्वा एकविषयतया सिद्धान्त उक्तः । तदनुपपत्तमित्यभिप्रायेणाह--अत्र ध्यायतीति । यथोपासनफलप्राप्तिर्न्यायात् ध्यायति कर्मैवेक्षतिकर्म । एकत्र पर पुरुष, अन्यत्र 'परात्पर पुरुषम्' इति च, अतो नविषयवयमित्यत्राह-परपुरु-षमिति । यत्र पञ्चम्यन्त पद नास्ति तत्राप्यर्थसामर्थ्यात्तत्राप्नोतीति भावः ॥

यादवप्रकाशयेत् जीवोहि ध्यातव्यः, तस्मात्पर ईक्षितव्यस्तु मुक्तजीव इति पूर्वादिभ्यः, तदप्यननायुक्तमिति दर्शितम् अभिध्यातव्याजीवात् परो मुक्तजीवइत्युक्ते बद्धजीवो ध्यातव्य इत्युक्तं स्यात् बद्धात्तु जीवध्यानात्तु स एव प्राप्तिरित्यनुपपन्नम् । तस्माद्ध्यायतीक्षत्योद्भवोऽपि चतुर्मुखाविषय वदेव पूर्वपक्षि कर्तुं युक्तम् । रुदयमाह--तत्रेति । किं ध्यायतीक्षतिकर्म चतुर्मुखः ? उत परमात्मा तदर्थं शान्त राजरत्नादयः किं मुख्याः ? उताख्याः, तदर्थं किं जीवघन शब्देन चतुर्मुख्यतिरिक्तस्य ग्रहणं उत तस्यापि ग्रहणमिति । कमत्र ब्रह्मलोकशब्दश्चतुर्मुखं स्वानपरं ? उत पराध्यामपरः, किमीक्षतिकर्मविषये धाक्ये 'यत्तत्त्वययो वेदयन्ते' इति वैष्णव पद प्रत्यभिज्ञाप्यते । नेति यदा प्रत्यभिज्ञानाद्यम-

## श्रीभाष्यम्

चतुर्मुखः, उत सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः इति । किं युक्तम् ममपेक्षेत्र इति । कुतः ? 'सयोहवै तद्गवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोहकारमभिधायीत कतमं वाच सतेन लोकं जयति' (प्रश्न.५.१) इति प्रक्रम्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकप्राप्तिमभिधाय द्विमात्रमुपासीनस्य अन्तरिक्षलोकप्राप्तिमभिधाय त्रिमात्रमुपासीनस्य प्राप्यतयाऽभिधीयमानो ब्रह्मलोकोऽन्तरिक्षात्परो जीवन्ममाष्टिरूपस्य चतुर्मुखस्य लोक इति विज्ञायते । तद्गतेन चेक्ष्यमाणस्तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव । 'एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्' (प्रश्न.५.१) इति च देहेन्द्रियादिभ्यः परादेहेन्द्रियादिमिस्सह घनीभूताज्जीवघनपुरुषाद्ब्रह्मलोकवासिनरसमष्टिपुरुषस्य चतुर्मुखस्य परत्वेनोपपद्यते । अतोऽत्र निर्दिश्यमानः परः पुरुषस्समष्टिपुरुषश्चतुर्मुख एव । एवं चतुर्मुखत्वे निश्चिते अजरत्वादयो यथाकथञ्चित्तन्व्याः ॥

इति प्राप्ते प्रचक्षमहे—'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः' ईक्षतिकर्म सः परमात्मा । कुतः ? व्यपदेशात् व्यपदिश्यते हीक्षतिकर्म परमात्मत्वेन । तथाहि ईक्षतिकर्मदिपयतयोदाहृतेऽश्लोके 'तमोह्वारेणैवायननान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं च' (प्रश्न.५.७) इति । परं शान्तमजरममृतमभयमितिहि परमात्मन एवैतद्रूपम् 'एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म' (छां.४.१५.१) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः । 'एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्' (प्रश्न.५.५) इति च परमात्मनएव व्यपदेशः ; न चतुर्मुखस्य तस्यापि जीवघनशब्दगृहीतत्वात् । यस्यहि कर्म निमित्तं देहित्वं स जीवघनइत्युच्यते ; चतुर्मुखस्यापि तच्छ्रूयते 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्णम्' (श्वे

## श्रुतप्रकाशिका

वात् ब्रह्मलोकशब्दस्य चतुर्मुखलोकपरत्वं यदाच जीवघनशब्देन चतुर्मुखस्याग्रहणं तदा शान्तवादीनामसुरयवादायायतीक्षतिकर्मचतुर्मुखात् । यदा वैष्णवपदप्रत्यभिज्ञानेन ब्रह्मलोकशब्दः परमव्योमवाची, यदा च जीवघनशब्देन चतुर्मुखस्यापि ग्रहणं तदानीं शान्तवाजरवादीनां मुख्यत्वादायायतीक्षतिकर्मपरमा मेति सिद्धान्तः । चतुर्मुखस्येति । भूयन्तरिक्षप्रमप्राप्तश्चतुर्मुखलोकइत्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—तद्गतेनचेति । 'जीवघनात् परात्परम्' इति निर्देशः कथमुपपन्न इत्यत्राह—एतस्मादिति । जीवघनपरशब्दयोस्सामानाधिकरण्येनोपपद्यत इत्यर्थः । ब्रह्मणस्समष्टिपुरुषत्ववैवर्तिर्यग्भावात्प्रपेक्षया अजरत्वादयो यथाकथञ्चित्तन्व्याइति । चिरकालस्यायित्वाभिप्रायेण वा चतुर्मुखस्मैव परिशुद्धावस्थस्वरूपपरत्वेन वा निर्वाह इतिभावः । अतएवोक्रमे 'परचापरं च' इति निर्देशश्च कृतनिर्वाहः ॥

सिद्धान्ते परमात्मन एवैतद्रूपमिति । एतद्रूपं नपुसकान्तशब्दनिर्दिष्ट स्वरूपम् । चतुर्मुखपरवाहं पुष्टिक्कान्तता स्यात् । यदा एतद्रूपम् एतद्वाक्यप्रतिपादित रूपम् । एवमर्थद्वयेऽप्यनुगुणं श्रुत्य तत्स्वाक्यमाह—एतदमृतमिति । अनेन सइति सौत्रपदस्य प्रयोजनं दर्शितं भवति अधिकारादेव साध्यप्रतिशासिद्वैस्तस्य प्रयाजनहि वक्तव्यम् 'शान्तमजरममृतमभयम्' इति व्यपदेशस्य कथं परमात्मसाधकत्वमित्यपेक्षया श्रुत्यन्तरेषु परमात्मनः तादृक्त्वेन प्रसिद्धेरिति वक्तव्यम् । अतस्तथात्वेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धत्वात्तन स इति पदस्य प्रयोजनमिति । व्यपदेशशब्दोपवक्षितं हे वन्तरमाह—एतस्मादिति । कथं चतुर्मुखस्यैतद्रूपपदशासभव इत्यत्राह—तस्यापीति । कथं तस्य जीवघनशब्दगृहीतत्वमित्यत्राह—यस्यहीति । कर्मकृतदेहं दर्शयति चतुर्मुखस्यापीति । सशरीरत्वादवाहि चतुर्मुखमितिभावः ॥



## श्रीभाष्यम्

६.१८] इत्यादौ । यत्पुनरुक्तमन्तरिक्षलोकस्योपरि निर्दिश्यमानो ब्रह्मलोकश्चतुर्मुखलोक इति प्रतीयते, अतस्तत्रस्थश्चतुर्मुख इति ; तदयुक्तम् । ' यत्तच्छान्तमजरममृतमभयम् ' (प्रश्न. ५.७) इत्यादिनेक्षतिकर्मणः परमात्मत्वे निश्चिते सति ईक्षितुः स्थानतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोको न क्षयिष्णुश्चतुर्मुखलोको भवितुमर्हति । किञ्च ' यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्तसामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् ' (५.२) इति सर्वपापविनिर्मुक्तस्य प्राप्यतयोच्यमानं न चतुर्मुखस्थानम् । अत एव चोदाहरणश्लोके इममेव ब्रह्मलोकमधिकृत्य श्रूयते ' यत्तत्कवयो वेदयन्ते ' [सुवाल. ६ ख] इति । कवयः सूरयः । सूरिभिर्दृश्यं च वैष्णवं पदमेव ' तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः ' (प्रश्न. ५.२) इत्येवमादिभ्यः । नचान्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः मध्ये स्वर्गलोकादीनां बहूनां सद्भावात् । अतः ' एतद्वै सत्य काम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायनेनैकतरमन्वेति ' (सुवाल. ६. ख] इति प्रतिवचने यदपरं कार्यं ब्रह्म निर्दिष्टं तदैहिकामुष्मिकत्वेन द्विधा विभज्यैकमात्रं प्रणवमुपा-

## श्रुतप्रकाशिका

ननु कथं ' यो ब्रह्माणम् ' इति श्रुत्या चतुर्मुखदेहस्य कर्मनिमित्तत्वावगमः न ह्यत्र कर्मसम्बन्धः श्रूयते । उच्यते— कारणवाक्येषु ' ब्रह्म या इदमेक एवाग्र आसीत् ' इत्यारभ्य ' यान्यन्यानि देवक्षत्राणी इन्द्रो वरुणस्सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः ' इति सृज्यतया श्रुतानामिन्द्रवरुणसोमयमादीनां कर्मवश्यं वमवतिष्ठते, एवमेव चतुर्मुखस्याप्यपवादश्रुत्यभावात्सृज्यत्वेन स्वतः प्रसाकर्मवश्यं वमवतिष्ठत इति आदिशब्देन ' यो वै वेदांश्च प्राहिणोति तस्मै ' इति पादोऽपि विवक्षितः । तेनोपदेशसापेक्षज्ञानप्रसरतया सङ्कुचितज्ञानवत् स्वतः प्राप्त इन्द्रविरोचनादीनामुपदेशसापेक्ष तयाहि सङ्कुचितज्ञानत्वावगमः । भगवत्स्मान्दीपनिप्रमृतिगुरूपदेशसापेक्षवत् लीलावचनैर्पोतवान्न ज्ञानसङ्कोचसाधक इन्द्रविरोचनादीनामिव चतुर्मुखस्याप्यपवादरहितमुपदेशसापेक्षं सङ्कुचितज्ञान वसाधकमिति तेनापि सङ्कोचकर्मसम्बन्ध सिद्धिः । एव सृज्यावाहुपदेशसापेक्षज्ञानप्रसरत्वाच्च कर्मवश्यं चतुर्मुखस्य जीवधनशब्दगृहीतत्वासिद्धिः ॥

यत्पुनरित्यनूदित पूर्वपक्षहेतु परिहरति तदयुक्तमिति । परमात्मलोकत्वे हेतुत्रयमाह— यत्तदित्यादिना । कथं यत्सूरय इति । कवयः कान्तदर्शिनः अकर्मवश्यत्वादसङ्कुचितज्ञानाः । सूरयश्च ज्ञानाधिकाः प्रसिद्धाः अतोऽर्थवशात् प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—सूरिभिरिति । एवमादिभ्य इति । आदिशब्देन ' तद्विष्णोः विषयः ' ' यत्र ऋषयः प्रथमजा येषुराणाः ' ' यत्र पूर्वे साध्यास्सन्ति देवाः ' इत्यादिवाक्यानि विवक्षितानि, अत्रास्मादिभिर्निश्चितपरमात्मभावस्य स्थानत्वात्, सर्वकर्मविनिर्मुक्तस्य प्राप्यस्थानत्वात्, सूरिभिर्दृश्यं प्रत्यभिज्ञानाच्च न चतुर्मुखलोक इत्यर्थः । लोकक्रमप्रत्यभिज्ञानभङ्गस्यास्वरसत्त्वमाशङ्क्याह—नचेति । उस्वारस्य तु स्यामित्यर्थः ॥

ननु नास्माकं व्यवहितत्वादस्वारस्य अन्तरिक्षशब्दस्य ब्रह्मलोकादवाचीनलोकानां प्रदर्शनार्थत्वात् । ब्रह्मलोकश्च प्राकृतलोकद्वयसाहचर्यात् प्राकृतलोक एव स्यादित्यत्राह—अत एतद्वै सत्यकामेति । अतः उदाहृतबहुवाक्यस्वारस्यानुगुण्यत् ' परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः ' इति सागानाधिकरण्यं वाच्यत्वाच्चकभाषानिवन्धन ओङ्कारवाच्यं परापररूपं ब्रह्मेति या परापररूपब्रह्मवाचक ओङ्कार इति वाऽर्थः, अनन्तर एतेन एकतरमिति पदाभ्यामोङ्कारस्य ब्रह्मणश्च निर्देशात् । अयनेन उपायभूतेन एकतरं कारणकारणब्रह्मणोरन्यतरत्वं यदपरं कार्यं ब्रह्मेति । चतुर्मुखलाकस्यापरब्रह्मशब्दवाच्यत्वमेव

## श्रीभाष्यम्

सीनानामैहिकं मनुष्यलोकावाप्तिरूपं फलमभिधाय द्विमात्रमुपासीनानामामुष्मिकमन्तरिक्षशब्दोपलक्षितं फलंचामिधाय त्रिमात्रेण परब्रह्मवाचिना प्रणवेन परं पुरुष ध्यायतां परमेव प्रत्य प्राप्यतयोपदिशतीति सर्वे समञ्जसम् । अत ईक्षतिकर्म परमात्मा ॥

## इति ईक्षतिकर्माधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

युक्तं ननु परब्रह्मलोकं च 'कार्यं वादरि' 'कार्यालये' 'परं जैमिनि.' इति तस्य कार्यलोकत्वव्यपदेशात् ततः पृथगपरब्रह्मव्यपदेशाच्चति दर्शितं कार्यब्रह्मशब्देन ऐहिकामुष्मिकत्वेन द्विधा विभज्येति । उपरि पृथक्पल्लवेन कीर्तनादिभागाऽभिप्रेत इत्यर्थः परापरशब्दयोः कारणकार्यपरत्वात् कार्यलोकस्य प्राकृतं व सिद्धमिति कारणब्रह्मलोकस्याप्राकृतत्वं मन्त्रादिवादेव सिद्धम् । अतः प्रकृताप्राकृतरूपेण प्राप्यलोकविभागः, प्राकृतेऽप्यैहिकामुष्मिकरूपेण विभागश्च श्रुत्यप्रेतः, उपरि पृथक्पल्लवेन कीर्तनाविशेषात् । अत ऐहिकामुष्मिकविभाकेति, प्राकृताप्राकृताविभागस्य प्रदर्शनार्थत्वं माह-आमुष्मिकमिति । चतुर्मुल्लोकस्याप्यन्तरिक्षशब्दोपलक्ष्यत्वे सङ्ग्राहकमामुष्मिकं वमस्ति चतुर्मुल्लोकव्यतिरिक्तोपलक्षणं सङ्ग्राहकाकारो नास्तीति वैषम्यमभिप्रेतम् । अन्तरिक्षशब्दोपलक्षितमिति । उपलक्षणतया व्यवधानपरिहारस्तुल्यः, सङ्ग्राहकलाभोद्वाधिक इति भावः । परं पुरुष ध्यायतामिति 'परं पुरुषमभिधायीत' इति वाक्यं स्मारितेन चतुर्मुल्लोकप्राप्तेस्तत्क्रतुन्यायविरोधस्तुचितः । परमेव ब्रह्मेति । चतुर्मुल्लोकस्य प्राप्यत्वं 'परात्परं पुरिशयं पुरुषमाक्षते' इति पल्लवचनस्य पुद्गलशब्दविरोध एव काराभिप्रेतः । एव कार्यब्रह्मान्तर्गतस्य चतुर्मुल्लोकस्य ततः पृथक्करणं परब्रह्मशब्दाविषयस्य तस्य परमात्मप्राप्तौ प्राप्यत्वाश्रयणं तत्क्रतुन्यायविरोधं फलवचनविरोधश्चैक्यनेकयुक्तिभिः प्राकृतलोकादयसाहचर्यं निरस्तं आदावेव 'परचापरं च' इति प्राप्यविभागस्याभिहितत्वात् प्राकृतसाहचर्ययुक्तिरपक्रमोन्मूलिता च युक्त भवति । सर्वसमञ्जसमिति । परपञ्चस्थानुपपत्तयस्त्वपक्षे न सन्ति, उपलक्षणतया व्यवधानपरिहारसमानः 'अजरमभम्' 'परात्परं पुरिशयं पुरुषम्' 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुक्त' 'यत्तत्कवयो देयन्ते' इत्यादीनि च वाक्यानि स्वरसानीति वैषम्यमित्यर्थः, अधिकरणार्थमुपसहरति-अत इति ॥

## इति ईक्षतिकर्माधिकरणम्

## गूढार्थसङ्ग्रहः

## अथ ईक्षतिकर्माधिकरणम्

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्स 'अथ' इति निर्देशेन बहवोऽर्थान् सूच्यन्ते । ध्यायतीक्षतिकर्मविषयवनेष्वस्य पुरुषस्य श्रूयत इत्युभयोरभेद इति, सङ्गतिराप सूचिता भवति । 'शुभ्वाद्यायतनम्' इति पादोपक्रमधारकत्वरूपमाधारवयदुक्तं तत्पूर्वाधिकरणे प्रशानाधीनमेवति निर्णीतम् । एतेन प्रशासिताधारकश्च एकएवेदुक्तं भवति शासिता नियामकश्चेत्यादयः पर्यायशब्दाः । अन्तर्याम्यधिकरण एव शरीरिशरीरभावनिर्देशपूर्वकं शरीरान्नर्वाङ्मनः नियामकत्व

## गूढार्थसङ्ग्रहः

प्रतिपादितम् । अक्षराधिकरणेऽपि ओतप्रोतभावेन पदार्थानामसुत्तया अविभागस्य ततःसिद्धत्वा शरीरशरीरिभावो दृढी-  
कृतो भवति ॥

अत्र पुरुषशब्दस्य 'पुरिशयम्' इति विग्रहप्रदर्शनेन सर्वशरीर्यर्थकतया सर्वनियामकत्वरूपं प्रशासितृ व प्रति-  
पाद्यते । इदं च जीवे न संभवतीति पूर्वाधिकरणे निरूपितम् । हिरण्यगर्भेतरजीवानां तदसम्भवेऽपि हिरण्यगर्भस्य जीव-  
समाधिभूतस्य व्यष्टिसृष्टिकर्तृत्वस्य सिद्धान्तसिद्धतया स एवात्र विवक्षित इति पूर्वपक्षः । अयमर्थः 'समाष्टिक्षेत्रज्ञः' इत्यादि  
भाष्यसूतया सूच्यते । एतेन 'स' इत्यनेन अधिकरणद्वयनिर्णीतः परमात्मैवेत्युक्तं भवति । एवं स इति निर्देशेन निर्वि-  
शेषस्यात्र विवक्षा नास्ति, चतुर्मुखलोके निर्विशेषपरब्रह्मध्यानस्य, तरतमभावापन्नमेव फलम् । अपरब्रह्मप्राप्तिरेव ब्रह्मप्राप्ति-  
विवक्षिता । ध्यानं अतत्त्वापरब्रह्मविषयक ईक्षणं तु तत्त्वपरब्रह्मविषयम् । तत्र विचारेणैव निर्विशेषपरब्रह्मविषयया ईक्षणेन  
पुरुषमीक्षत इति फलनिर्देशः ब्रह्मलोक प्राप्तिस्तस्य क्रममुक्तिरेव विवक्षिता इति परेषां प्रक्रिया ॥

नायमर्थः श्रुतिसूत्रयोः विवक्षितः 'स' इति पुलिङ्गनिर्देशेन 'परात्पर पुरिशयम्' इति वाक्ये पुलिङ्गान्तवि-  
शेषणविशेष्यशब्दैः निर्दिष्टं विवक्षितम् । तत्र च ध्यानवाक्योक्तवैलक्षण्यापेक्षया ईक्षतिवाक्यवैलक्षण्यं वर्तते । तेन च सामान्यतः  
अर्थः ध्याने, अर्थवैशद्यमीक्षणे स्फुटम् । तेनानन्तत्त्वस्य सर्वविद्याऽनुयायित्वेन सर्वशरीरत्वरूपतया सामान्येन सर्वेषा-  
मुपासनाविषयत्वं संभवति । उपासनाविषयातिरिक्तविषयानुभवएव नास्तीति सूचनेन यथाक्रतुन्याय परसम्मतार्थो न  
विवक्षित इति सिद्धयति । यथाक्रतु-यायार्थश्च सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरण सूत्रकारैरेव निर्धारित इति पूर्वमेवोक्तम् ।  
एवमीक्षणकर्मणि परात्परत्वस्य पुरिशयत्वस्य च प्रतिपादनेन 'सर्वोऽसु पूर्णं पुरिशयः' इति बृहदारण्यकश्रुत्यनुसारेण  
अत्रापि सर्वशरीरेण एवेक्षण औपनिषदपुण्यस्यैवेदमीक्षणम् । अत्र सर्वेऽर्थाः विशेषणतया प्रविष्टाः । अत्र निर्विशेषस्य  
विशेषणद्वयप्रतिपाद्यधर्माविषयकस्य ईक्षणं न भवितुमर्हति । एतेनापूर्वत्वं नास्तीति शङ्काऽपि प्रयुक्ता । ब्रह्मलोकं प्राप्ताना-  
मेतादृशविशेषणस्यार्थसिद्धत्वासम्भवात् । 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते-ससामभिरुज्जीयते ब्रह्मलोकम्' इति श्रुति-  
क्रमः । अत्र पापविमोक्तानन्तरं ब्रह्मलोकप्राप्तिः श्रूयते । द्विमात्रेणोपासकस्य पुनरावृत्तिः पूर्वमुक्ता तेनैव त्रिमात्रेणोपास-  
कस्यापुनरावृत्तिः सिद्धा । एतेनापुनरावृत्तिफलकोपासनकर्मभूतः ईक्षणकर्मभूतस्स एवेति प्रतिपादनं सिद्धम् ॥

'अश्वइव रोमाणि विधूय पात्रं-ब्रह्मलोकमभिसंभवानीति' छान्दोग्ये अपुनरावृत्तिश्रुतेः पूर्वं पाठिता । तत्र पाप-  
विनिर्मुक्तः ब्रह्मलोकप्राप्तिश्चेत्युभय प्रतिपादितम् । तत्र 'अकृतम्' इति विशेषणेन ब्रह्मलोकस्य नित्यत्व सिद्धम् । तेन  
'ससामभिरुज्जीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यत्र प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वं ब्रह्मलोक एव विवक्षितः, न पुनरसत्यलोक इति सिद्धयति ।  
उपक्रमे 'प्रायणान्तमोक्षारमाभिध्यायीत कतमं वाव सतेन लोकं जयति' इति प्रश्नः । 'ऋग्मिरेतं यजुर्नन्तरिक्षं ससा-  
मभिः यत्तं कवयो वेदयन्ते' 'तमोक्षारेणायतनेनान्वेति विद्वान्-परंचेति' इत्युपसंहारे 'ऋग्मिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षम्'  
इत्यत्र लोकवाचिशब्द उपात्तः । 'ससामभिः' इत्यत्र तु लोकवाचिशब्दे नोपात्तः तत्र चेदमेव बीजम् । 'ब्रह्मलोकम्'  
इत्यत्र ब्रह्मसन्निधिलोकस्य पूर्वमभिधानेन ताद्विषयकब्रह्मनिर्धारणे ब्रह्मलोकोऽपि निर्धारितो भवति । 'ब्रह्मलोकम्' इत्यत्र  
चतुर्मुखलोको न विवक्षितः । ब्रह्मशब्दस्य तत्रामुख्यत्वात् परब्रह्मणः लोके प्राप्तिः न भवतीति न भ्रमितव्यम् । तल्लोकत-  
दनुभवितृपुरुषाणां सत्त्वात् इत्यभिप्रायेण 'यत्तं कवयो वेदयन्ते' इत्युक्तम् अत्र 'तेनानन्तरमं स्थानं यद्वे पश्यन्ति सूरयः'  
इति वचनोपरगृहिता 'ताद्विधोः परम पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इति श्रुतिमूलमिति प्राक् (१.१.१.सू.४.पु.) उक्तम् ।  
'तमोक्षारेणायतनेनान्वेति विद्वान्' इत्यत्रोक्षारस्य परसम्मतरीत्या ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधकस्य परम्परया परब्रह्मप्राप्तिसाधकं च

### गूढार्थसङ्ग्रह

न विवक्षितम् । तथा वाक्यस्यात्र विरहात्, 'तमोङ्कारेणायतनेनान्वेति विद्वान्' इत्येकमेव वाक्यम् । इदं च ब्रह्मलो-  
कसाधकत्वेन पूर्वं नापात्तम् 'स एतस्मात्' इत्येव वाक्यसत्त्वात् । 'त्रिमात्रेण' इत्यादौ परपुरुषाभिध्याने करणत्वेन  
पूर्वं निर्देशः त्रिमात्रेण परमपुरुषाभिध्यान एवेदं पलम् । 'एतेनायतनेनैकत्वमन्वेति' इत्युपक्रमे वर्तते, अथापि 'ऋग्मि-  
रेतम्' इत्यत्र प्रणवस्याकथनेन सामसम्प्रतिवाक्यानन्तरमेव प्रणवस्यकथनात् 'यत्तं कवयो वेदयन्ते' इत्यत्र यत्कर्म  
भूतं तदेव 'यत्तच्छान्तमजरमभय परं च' इति निर्दिष्टम् अत्र परपुरुषनिर्देशेन 'परं पुरुषमभिध्यायीत' इति ध्यानस्य  
इदं फलमिति सूच्यते । एव तत्र करणत्वेन निर्दिष्टस्योङ्कारस्य उपायद्वारा प्राप्तौ करणत्वमत्रोक्तं भवति । इति क्रममुक्तेः  
न कथञ्चिदप्यत्रावकाशः ॥

'मान्धवर्णिकमेव च गीयते' इति सूत्रे 'सत्यं ज्ञानम्' इति मन्धवर्णोदितब्रह्मण 'ॐ स्माल्लोका प्रेत्य, एत-  
त्सामगायत्रास्त' इति वाक्ये गानकर्म च विवक्षितमिति तात्पर्येण 'गीयते' इत्युक्तम् । तेनच पल्लदशाभाविगानं वर्तते  
इति ब्रह्मप्राप्ते 'ससामभिर्दृष्टीयते ब्रह्मलोकम्' 'ससामभिर्भ्यस्तं कवयो वेदयन्ते' 'यत्तच्छान्तमजरमभय परं चेति'  
इत्युत्तरत्र सामभिर्दृष्टयनस्यात्यन्तानुरूप्यं स्फुटं निर्मलसराणाम् ॥

अत्र च निर्विशेषकथा नास्त्येव 'स' इति पुल्लिङ्गनिर्देशेन 'य. पुनरेत त्रिमात्रेणोमित्यनेन—अभिध्यायीत' इती-  
ति कर्माभिध्यायतिकर्मणः उपासने प्रणवस्य करणत्वमेव विवक्षितमिति एतत्फलनिरूपणपरे 'एतेनान्वेति विद्वान्' इत्यु-  
पसहारेऽपि तृतीयानिर्देशः । प्रतिवचनोपक्रमे 'सयद्येकमात्रम्' इत्यत्र द्वितीयानिर्देशः यथापि वर्तते । तत्पूर्ववाक्ये 'एते-  
नैवायतनेन' इति तृतीयानिर्देशेन प्रणवस्य करणत्वप्रतिपादनेन करणभूतप्रणवस्य ध्यानमेव विवक्षितम् । 'सयाहवै-  
तन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत कर्तव्यं वाच सतेन लोकं जयति' इति प्रश्नवाक्ये कर्मतया निर्देशः, प्रणवस्य अथापि  
'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इत्यत्रापि प्रणवब्रह्मणोरभेदो निर्दिश्यते । नैतावन्मात्रेण भेददृष्टिरत्र विव-  
क्षिता । अत्र 'कर्तव्यं वाच सतेन लोकं जयति' इति प्रश्नस्य 'ससामभिर्दृष्टीयते ब्रह्मलोकम्' इति यत्फलं प्रदर्शितं तत्  
ध्यानस्य परमफलमेव । अन्यथा प्रश्नप्रतिवचनयोरनानुरूप्यं स्यात् । परमफलं वे निर्णीते अमेददृष्टिरूपत्वेन अत्रोपासन-  
विवक्षितमिति शङ्का नोदेति प्रणवकर्मकमुपासनं कथमिति विचारः प्रणवकर्मकपारम्परविषयकोपासनस्य उभयब्रह्मणो-  
ङ्काराभेदनिर्देशः ताव्यवाचकभावनिवन्धनं ओङ्कारवाच्यपरमं पल्लं ब्रह्मत्यर्थः । कोशादिषु तच्छब्दवाच्यत्वात्तात्पर्येण समा-  
नाधिकरणनिर्देशा दृश्यते । अयमर्थः मञ्जूषाया नामागेशेनाङ्गीकृतः, वाच्यवाचकयोः समानाधिकरणनिर्देशेन प्रणववा-  
च्यत्वेन पुरुषस्योपासने प्रणवस्याप्युपासनकर्मत्वं सम्भवतीत्यनुपपत्तिर्नास्तीति सिद्धान्तितं भवति । अतश्च इयं विद्या न  
निर्विशेषविषयिणी, अपितु सविशेषविषयिण्येवेति सूत्रकारसिद्धान्तः ॥

अत्रोपासनाविधानेन अमेदोपासनं विवक्षितमिति परेषा प्रक्रिया । 'परचापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इति वाक्यं कोश-  
वाक्यतुल्यमिति पूर्वमत्रोक्तम् । निर्विशेषस्य शुद्धस्योपासनमिति परेषा प्रक्रिया उपनिषत्सु नैव विवक्षिता, 'तत्त्वमसि'  
'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येतदेव महावाक्यं प्रधानभूतम् । तत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' इति 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इति  
वाक्यघटकम् 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इत्युपासिधातुर्तते । तत्र तत्त्वज्ञानमुपासना मकमेवेति स्फुटम् । 'तत्त्वमसि'  
इत्यत्र नवकृत्य, अभ्यासो वर्तते अभ्यासश्च तात्पर्यलिङ्गान्तर्भूतः, तेनैव जीवब्रह्मणोरैक्यं विवक्षितमिति परेषा प्रक्रिया ।  
अत्रमेवाभ्यासः, ज्ञानावृत्तितात्पर्यक इति 'आवृत्तिरसकृद्गुणदेशात्' इत्यत्रोक्तम् । मन्दाधिकार्याभिप्रायेण ज्ञानावृत्त्यभि-  
धानमिति तन्मतम् इदमेव विचित्रतरम् । उत्तराधिकारितात्पर्येण जीवब्रह्मणोरैक्यं तन्मध्ये मन्दाधिकारितात्पर्येणावृत्त्यभि-  
धानमिति अतः आवृत्त्याभिधानेनैव सद्विद्या उपासनमेव विदधातीति युक्तम् । प्रतर्दनाविद्यायां ज्ञानोपासनवाचिशब्द-  
द्व-



## गूढार्थसंग्रहः

यप्रयोगेण उपासनं ज्ञानमेव विवाक्षितमिति उपनिषत्तात्पर्यं पूर्वं साधितम् इत्युपासनं क्रममुक्तिफलकमिति सिद्धान्तः न श्रुतिसूत्रानुगुणः ॥

सूत्रे 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्' इत्यत्र यद्यपि 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रान्तर इवेक्षतिकर्मण एव व्यपदेशः इत्यर्थस्त्वरसतः प्रतीयते । 'परमेव ब्रह्म इहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते । कस्मात् ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्' इत्यत्र (शं)भाष्यम् अथापि सूत्रघटकरदैरेव पक्षसाध्यादेः प्रतीतौ ताद्विहायाध्याहारोनुचितः । अतः 'ईक्षतिकर्म' इत्यत्र सूत्रे 'ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्' इत्यत्र समासानङ्गीकारः । 'भेदव्यपदेशात्' इत्यादिवत्तु निर्देशेष्वपि समासानङ्गीकारो नैव घटते । तत्र सर्वत्रापि बाधकं वर्तते समासानङ्गीकारे 'भेदव्यपदेशात्' इति विन्यासासिद्धेः । अत्र न तथा बाधकम् अतः 'ईक्षतिकर्म' इति पृथक्पदमेव, परमते ईक्षतिकर्म परमात्मा ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् इत्युत्तरनपेक्षिता ईक्षतिकर्म परमात्मा व्यपदेशात् इत्येतावतैव तदर्थस्य सिद्धेः । यद्यपि 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' इत्यत्रान्यः भेदव्यपदेशादित्युक्तिः व्यर्थेति शङ्का स्यात् । तत्र 'अन्य' इत्युक्त्या 'विज्ञानं...अन्योऽन्तर आत्मा' इत्यत्र श्रुतौ यद्यन्यत्वं तत् 'यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' इति श्रुतौ साध्यते, अतः शब्दद्वयमावश्यकम् । 'परात्परं पुरिशयम्' इत्येकमेव वाक्यमिति ईक्षतिकर्मव्यपदेशो नात्र विवाक्षितः ईक्षतिकर्मणः परमात्मत्वे ईक्षतिकर्मव्यतिरिक्तबहुधर्मव्यपदेश एवात्र हेतुः विवाक्षितः । 'स' इति सामान्यतो निर्देशेनात्र पुरुषशब्दो निर्देशेन उपनिषद्मु प्राधान्येन तात्पर्यविषयभूतः 'तत्त्वोपनिषदं पुरुषम्' इति श्रुत्या निर्धारितः सर्वान्तर्यामी पुरुषोऽत्र विवाक्षितः । स एव परःपुरुष इति तच्छब्देन लभ्यते । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्' इत्यत्र ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टः आपनिषदपुरुषस्यैव ब्रह्मत्वं विद्यासामान्यफलदातृत्वं च तत्र विवाक्षितम् । तेन एतद्विद्याफलमपि अदृष्टद्वारकमिति सिद्धम् । एतेन 'ससाममिः—ब्रह्मलोकम्' इत्यत्र ब्रह्मशब्दः 'यत्तच्छान्तमजरममयं परं चेति' इत्यत्र परशब्दश्चैकार्थिकः । अत्र परशब्देन पूर्वं श्रुतिवाक्ये पुरुषशब्दसदृशत्वेन पठित परशब्दार्थस्यैव विवाक्षितत्वेन तदर्थः पुरुषशब्दार्थ एव । पुरुषशब्दपरशब्दयोः परमात्मन्येव मुख्यतया एकत्र मुख्यार्थग्रहणे करणमात्रेण पुरुषस्यैव ब्रह्मलोके प्राप्तिव्यपदेशादिति तात्पर्येण उपायप्रभृतिफलदशापर्यन्तवाक्यपर्यालोचनेन व्यपदेशशब्दः प्रयुक्तः । अतः ईक्षतिकर्मणः उपनिषत्तात्पर्यविषयपरमात्मत्वमेव । तस्य ओङ्कारवाक्यव्यपदि श्रुतिषु प्रसिद्धमिति श्रुततात्पर्यं निर्मलराणां स्फुटम् ॥

बहुभवनतात्पर्येण कर्मशब्द इत्यपि न त्रियाशब्दनिर्देशादिति तदर्थसम्भवात् । घातुघातार्थान्यतरशेषकपदसमन्विताहुतकर्मशब्दस्य तद्भावार्थकर्मशेषकद्वितीयादिप्रयोजकशेषकत्वं न्यायसिद्धम् । किंच ईक्षणादिशब्दपदेनात् इति निर्देशेनापि तदर्थसिद्धेः । स्वहृत्तातिरिक्तेष्वनामायात् ईक्षणकर्मव्यपदेशो न स्यादिति शङ्का विशेषवलाजिवाकर्तृभाव इति दर्शयितुं न, (व्यासनीपि, च) कर्तृशब्दप्रयोगेणापि तथाऽर्थसिद्धेरसम्भवे कर्मशब्दनिर्देशः विलम्बितार्थप्रतीतिरिति निर्णयः । इति पद्यम् ॥

इति ईक्षतिकर्माधिकरणम्

अथ वेदान्तसारः

## सू-१२ ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः (१.३.१२)

‘ यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत ’ (प्रश्न.५.५) इत्यारभ्य ‘ स एतस्माज्जीवधना-  
परापरं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ’ (५.५) इत्यत्र ध्यायतीक्षतिकर्म सः प्रशासिता परमात्मा इत्यर्थः, उत्तरत्र ‘ तमो-  
ङ्कारेणैवायनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं च ’ (५.७) इति परमपुरुषासाधारणाधर्मव्यपदेशात् ‘ यत्त-  
कवयो वेदयन्ते ’ (५.७) इति तदीयस्थानस्य सूरिभिर्द्देश्यत्वव्यपदेशाच्च ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

## सू-१२ ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः (१.३.१२)

(आथर्वणिकानां सत्यकामप्रश्ने ‘ यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत ’ (प्रश्न.५.५) इत्या-  
रभ्य ‘ स एतस्माज्जीवधनापरापरं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ’ इत्यत्र ध्यायतीक्षतिकर्मतया व्यप-  
दिष्टः परं पुरुषः किं हिरण्यगर्भः ? उत परब्रह्मभूतः पुरुषात्तम इति सशयः । हिरण्यनर्भ इति पूर्वपक्षः । पूर्वत्रैकमात्रं  
प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकप्राप्तिं फलम् द्विमात्रमुपासीनस्यान्तरिक्षलोकप्राप्तिश्च फलमभिधाय, अनन्तरं ‘ यः पुनरेतं त्रि-  
मात्रेण ’ (५.५) इति त्रिमात्रं प्रणवमुपासीनस्य फलत्वेनोच्यमानब्रह्मलोकस्य पुरुषक्षेणकर्मभूतश्चतुर्मुख एवेति विशायते ।  
मनुष्यलोकान्तरिक्षलोकसाहचर्याद्ब्रह्मलोकोऽपि क्षेत्रश्लोक इति निश्चयात् । राद्धान्तस्तु ‘ परापरं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ’ (५-  
५) इतीक्षतिकर्मतया निर्दिष्टपुरुषविषये श्लोके ‘ तमोङ्कारेणैवायनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं च ’  
(५.७) इति निरुपाधिकशान्तत्वामृतत्वादिव्यपदेशा परमाभेदायमिति निश्चीयते । एव परमात्मत्वे निश्चिते ब्रह्मलोकश-  
ब्दश्च तत्स्थानमेवाभिदधातीत्यवगम्यत । ताद्विषयतयोदाहृतं च श्लोके ‘ यत्तं कवयो वेदयन्ते ’ (५.७) ‘ ताद्विष्णोऽम्भ-  
रमपदं सदा पश्यन्ति सूरयः ’ (सुबाल.६.२२) इत्येवमादिभिः सूरिभिर्द्देश्यत्ववचनं तदेव द्रष्टव्यम् । सूत्रार्थस्तु— ईक्षति  
कर्मसः परमात्मा ध्यायतीक्षत्योरेकाविषयत्वेन ध्यायतिकर्माऽपि स एवेत्यर्थः, व्यपदेशात् ताद्विषयतया ‘ शान्तमजरममृत-  
मभयं परं च ’ इति परमात्मधर्माणां व्यपदेशात् ॥

इति ईक्षतिकर्माधिकरणम्

अथ अधिकरणसा रावञ्ची

लक्ष्मीभूतोऽयमेकः खलु पुरुष इह ध्यायतेरीक्षतेश्च

क्षेत्रज्ञस्सोऽयमण्डाधिप इतरपरस्त्वन्यजीवात्परोऽसौ ।

नो चेद्भौगादिभोगप्रकरणविहितिवोभवीतीत्ययुक्तं

तस्मिन्शान्तामृतत्वप्रभृतिपरगुणव्याप्यनूक्तयोर्योगात् ॥

नन्वत्रोद्धारमात्रात्रयफलगणनारूढभूम्यन्तरिक्ष  
प्रत्यासस्या निवासस्सरसिजवसतेर्ब्रह्मलोकोऽस्तु मैवम् ।  
पापोन्मुक्तेन लभ्यो ह्ययमिह कथितस्सूर्यसम्पत्तिपूर्व  
सोढव्यो मध्यलोकैर्व्यवधिरिति समस्तसमाधानमार्गः ॥

॥ इ ति ई क्ष ति क र्मा धि क र णं स मा प्त म् ॥

अथ दहराधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू-१३ दहर उत्तरेभ्यः [१.३.१३]

इदमामनन्तिछान्दोगाः-‘ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम दहरोऽस्मि-  
न्नन्तर आकाशस्तस्मिन्त्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाच विजिज्ञासितव्यम् ’ (छां.८.१.१) इति । तत्र  
सन्देहः किमसौ हृदयपुण्डरीकमध्यवर्ती दहराकाशो महाभूतविशेषः, उत प्रत्यगात्मा अथ  
परमात्मा इति । किं तावद्युक्तम् ? महाभूतविशेष इति । कुतः ? आकाशशब्दस्य भूताकाशे

अथ दहराधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

सू-१३ दहर उत्तरेभ्यः [१.३.१३]

पूर्वाधिकरणे ‘ परात्परं पुरिशयं पुरुषम् ’ इत्युक्तस्य परमात्मत्वं साधितम्, अत्र पुरिशयस्याकाशशब्दवाच्य-  
स्यापरमात्मत्वं निरस्यते इति सङ्गतिः । पूर्वं ब्रह्मलोकशब्दस्य परमात्मस्थानपरत्वमुक्तं तद्विहापि ब्रह्मलोकशब्दब्रह्मपुर-  
न्दयोरस्थानपरत्व स्यादिति शङ्कया सङ्गतिः । पूर्वश्रान्तरिक्षशब्दस्य प्रसिद्धान्तरिक्षपरत्व व्यावर्तितम् एवं दहराकाशश-  
ब्दस्य प्रसिद्धाकाशादन्यपरत्वमुच्यते इति सङ्गतिः । तर्हि ‘ अक्षरमन्वयान्तर्धृतेः ’ इत्यस्यानन्तर दहराधिकरणं प्राप्तं,  
उभयत्राकाशशब्दस्य विषयवाक्येषु श्रुतत्वात् ‘ ईक्षतिकर्म ’ इत्यधिकरणं दहराधिकरणानन्तर्यमहति तत्रत्यन्तरिक्षशब्दश-  
यते, नवाकाशशब्द इति चेन्न अक्षरेक्षतिकर्माधिकरणयोराकाशान्तरिक्षशब्दवाच्यादर्थान्तरस्य परमात्मत्वनिर्णयेन परपरस-  
क्त्यतिशयात् दहराधिकरणेवाकाशशब्दवाच्यस्यैव परमात्मत्वं विवक्षितमित्यस्य पूर्वाधिकरणद्वयानन्तरत्वं युक्तम् । विष-  
यादिकं दर्शयति इदमित्यादिना । परस्मिन्नन्वेष्टव्यान्तरप्रतीत्यनुपपत्तेः पञ्चान्तरद्वयेऽप्युपमानोपमेयभावः अनुपपत्तेः  
संशयः । किं दहराकाशो भूताकाशः ? उत जीवः अथ परमा मेति तदर्थमन्वेष्टव्यान्तरनिर्देशः किं दहराकाशस्य परमा-  
त्मत्वविरोधी, उत न, ‘ तस्मिन्त्यदन्तः ’ इति निर्देशः किं दहराकाशस्य गुणजातविषया उतार्थान्तरपरः ‘ एष आत्मा ’

## श्रीभाष्यम्

ग्रहणि च प्रसिद्धत्वेऽपि भूताकाशे प्रसिद्धिप्रकर्षात्, 'तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' (८.१.१) इत्यन्वेष्टव्यान्तरस्याधारतया प्रतीतेश्च ॥

इत्येवमात्रेऽभिधीयते- 'दहर उत्तरेभ्यः' दहराकाशं परं ग्रहं, कुतः? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः' (छां.८.१.५) इति निरुपाधिकात्मत्वमपहतपाप्मत्वादिकं सत्यकामत्वं सत्यसङ्कल्पत्वं चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणाः दहराकाशं परं ग्रहेति ज्ञापयन्ति । 'अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छां.८.१.६) इत्यादिना 'यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते' [८.२.१०] इत्यन्तेन दहराकाशवेदिनस्सत्यसङ्कल्पत्वप्राप्तिश्चोच्यमाना दहराकाशं परं ग्रहेत्यवगमयति । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छां.८.१.३) इत्युपमानोपमेयभावश्च दहराकाशस्य भूताकाशत्वे नोपपद्यते । हृदयावच्छेदनिवन्धन उपमानोपमेयभाव इति चेत् तथासनि हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादिसर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते ॥

## श्रुतप्रकाशिका

इति वाक्योक्तमपहतपाप्मत्वादिकं किं प्रजापतिवाक्योक्तजीवधर्मः? उतन! जीवधर्मत्वेऽपहतपाप्मत्वादिश्रुतिस्वारस्य मस्ति नेति विचारः । यदा 'तस्मिन्यदन्त' इति निर्देशोऽर्थान्तरपरं तदाऽन्वेष्टव्यशब्दस्य गुणविषयवाभावेन दहराकाशस्य भूताकाशत्वस्यात्, 'एष आत्मा' इति वाक्योक्तगुणाष्टकस्य प्रजापतिवाक्योक्तजीवधर्मत्वे स्वारस्य मस्ति तदानां 'एष आत्मा' इति वाक्यस्य जीवविषयतया दहराकाशो जीवस्यादिति पूर्वपक्षे परलप्लिभावः । यदा 'तस्मिन्यदन्त' इति गुणजातविषयोक्तिः तदाऽन्वेष्टव्यशब्दस्य गुणजातविषयवादहराकाशो भूताकाशातिर्गच्छ इति स्यात् यदा 'एष आत्मा' इति वाक्यस्य प्रजापतिवाक्योक्तजीवधर्मविषयत्वे स्वारस्य नास्ति, तदा स्वरसतो गुणाष्टकविशिष्टपरमात्मप्रतिपादकतया दहराकाशः परमात्मा स्यादिति राद्धान्ते परलप्लिभावः । आकाशशब्दस्य क्वचित्परमात्मपरवदृष्टमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रसिद्धिप्रकर्षादियुक्तम् । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिभिरस्याकाशस्य परमात्मगुणेषु श्रूयमाणेषु समुक्तं प्रसिद्धिप्राप्त्युक्तं भूताकाशत्वेन प्रत्यवस्थानमित्यत्राह—तस्मिन्यदन्तरिति । एतच्चोत्तरप्राथम्यादित्यादिना व्यक्तीमविध्यति ॥

राद्धान्तमाह—एवमाप्तइति । नहि परमात्मधर्माणामुत्तरवाधरत्वादिकमस्ति, तस्मादेतदुत्तरत्वं चावयद्वाक्यमि-  
त्याह—वाक्यगतेभ्य इति । उत्तरेभ्य इत्युक्ते चतुर्थ्यन्तत्वशङ्का माभूदिति पञ्चमीकुटीकरणाय हेतुभ्य इत्युक्तं 'पट्टी-  
हेतुप्रयोग' इति नियमः प्रयोजनतया हेतुत्वविवक्षायां न सर्वदा यथा 'अल्पस्य हेतोर्वहुहातुमिच्छन्' इति, उत्तर-  
वाक्यगतेहेतुदर्शयति एष इत्यादिना । निरुपाधिकत्वमिति । जीवस्यापि व्यावर्तनक्षममात्मत्वमित्यामेप्रायेण निरुपाधि-  
कशब्दः देवादिकतिपयशरीरविशेषानवच्छिन्नत्वं निरुपाधिकत्वम् । अपहतपाप्मवादेरपि निरुपाधिकत्वमभिप्रेतम्, यदा  
आकाशस्यापि स्वकार्यव्याप्तया यौगिकआत्मशब्दोपपन्न इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थो निरुपाधिकशब्दः । यौगिकवाश्रयणं चक्षिष्टम्  
स्वतन्त्रशरीरप्रतिसन्धाननियन्तृरूपव्याप्तारि ह्यात्मशब्दप्रयोग इति भावः । अपहतपाप्मवादिकमित्यादिशब्देन सत्यकामवा-  
दिग्रहणे वाक्येऽपि गुणानां विधिनिषेधरूपेण द्वैविध्यज्ञापनाय सत्यकामवादेः प्रयोजनम् ।



## श्रीभाष्यम्

ननु च दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽपि चाह्याकाशोपमेयत्वं न सम्भवति ' ज्यायान्पृथिव्याज्यायनन्तरिक्षात् ' (छां.३.१४.३) इत्यादौ सर्वस्माज्ज्यायस्त्वश्रवणात्-नैवम् दहराकाशस्य हृदयपुण्डरीकमध्यवर्तित्वप्राप्ताल्पत्वनिवृत्तिपरत्वादस्य चाक्षयस्य ; यथा अधिकजवेऽपि सवितरि ' इषुवद्गच्छति सविता ' इति वचनं गतिमान्द्यनिवृत्तिपरम् । अथस्यात् ' एष आत्माऽपहतपाप्मा ' (छां.८.१.५) इत्यादिना दहराकाशो न निर्दिश्यते ' दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् ' (८.१.१) इति दहराकाशान्तर्धर्तिनस्ततोऽन्यस्यान्वेष्टव्यत्वेन प्रकृतत्वादिह ' एष आत्माऽपहतपाप्मा ' (८.१.५) इति तस्यैवान्वेष्टव्यस्य निर्देष्टुं युक्तत्वात् ; स्यादेतदेवम्, यदि श्रुतिरेव दहराकाशं तदन्तर्धर्तिनं च न व्यभाक्ष्यत् ; व्यभाक्षीत् सा तथा हि ' अथ यदिदमस्मिन्नब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् ' (८.१.१) इति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सन्निहितपरब्रह्मणः पुरत्वेनोपासकशरीरं निर्दिश्य तन्मध्यवर्ति च तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो वेदमतयाऽभिधाय सर्वज्ञं सर्वशक्तिमाश्रितवात्सल्यैकजलधिमुपासकानुग्रहाय तस्मिन् वेदमनि सन्निहितं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देन निर्दिश्य तदन्तर्धर्तिचापहतपाप्मत्वस्वभावतो निरस्तनिखिलहेयत्वसत्यकामत्वादि

## श्रुतप्रकाशिका

नोपमेयभावो न संघटत इत्यर्थः, उपमानोपमेयभावस्य हृदयावच्छेदनिबन्धनत्वमाशङ्क्य परिहरति हृदयेत्यादिना । अतएवेदमपि नाशङ्कनीयम् ' रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ' इति बहुमानशून्यताशपनपरं वाक्यमिति । यावच्छब्दानुपपत्तेः अंशभेदोक्तेश्च । न्यूनपरिमाणस्येव अधिकपरिमाणस्यापि न मध्यमपरिमाणेन साधर्म्यं युक्तमिति चोदयति-ननुचेति । अ-न्यूनपरिमाणत्वमात्रं साधर्म्यमिति परिहरति नैवमिति । अथस्यादिति । यद्यपि ' यावान्वा अयमाकाशः ' इति मध्यगतवाक्यस्याकाश एव प्रथमतया निर्दिष्टत्वादासन्नत्वाच्च एष इति परामर्शनीयः, तथाऽप्युत्प्रेम ' तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् ' इत्यन्वेष्टव्यतया प्राधान्येनावगतत्वात् ' आत्मावा अरे द्रष्टव्यः ' ' सोऽन्वेष्टव्यः ' इत्यादिष्वात्मनोऽन्वेष्टव्यत्वनिश्चयादिहाप्यन्वेष्टव्यस्य तदन्तर्धर्तिन आत्मत्वावगमात् ' एष आत्मा ' इति तदन्तर्धर्तिनोऽन्वेष्टव्यस्यात्मनः परामर्शः, अत आत्माऽधिकरणतयाऽवगतत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वाद्युपपत्त्यनुरोधेन भूताकाशएव दहराकाश इत्यर्थः । पूर्वपक्षेऽन्वेष्टव्यान्तरस्याधारतया प्रतीतिश्चेत्यनेन वाक्येनाभिप्रेतोऽर्थ इहाथस्यादित्यादिना कण्ठे चो भवति । परिहरति स्यादेतदिति ब्रह्मपुरशब्दार्थमाह—उपास्यतयेति । न केवलं ब्रह्मणस्सर्वव्यापिवा-च्छरीरेण साधारणं सम्बन्धमात्रं अपितुपासनस्यानभूतहृदयाधारत्वात् संबन्धविशेषश्च विद्यते, ब्रह्मशब्दश्च परास्मिन्मुख्यः अतो ब्रह्मपुरं शरीरमित्यर्थः

अत्रेदमप्यर्थसिद्धं दहराकाशो जीव इति पूर्वपक्षस्य साधकतया ब्रह्मपुरशब्दनिर्देशः परिरुक्तः—तदयुक्तमिति । कथं उच्यते ब्रह्मणस्सर्वविकारसाधारणतया, दसाधारणेन ध्येयपदस्य युक्तत्वात् जीवस्य भोगोपकरणतया सम्बन्धविशेषसद्भावाज्जीवशरीरमेव ब्रह्मपुरमिति ताद्विधेयपुराधिपो जीव इति शङ्कितं, तदयुक्तम् मुख्यार्थस्य स्वतो प्राप्त्वात् परमात्मन उपास्यत्वाय शरीरान्तरस्यानस्य ' निचाप्यत्वादेवम् ' इत्यत्र दर्शिततया संबन्धविशेषसद्भावाच्च जीवसाधकत्वद्वयाऽनुधानादिति । अत्रपरिमाणमित्यनेन ' दहरं पुण्डरीकम् ' इत्यत्र दहरशब्दो व्याख्यातो भवति । सत्यकामस्य दह-

### श्रीभाष्यम्

स्वाभाविकानवधिकातिशयकल्याणगुणजातं च ध्येयं 'तदन्वेष्टव्यम्' [८.१.१] इत्युपदिश्यते । अत्र 'तदन्वेष्टव्यम्' इति तच्छब्देन दहराकाशम्, तदन्तर्वर्तिगुणजातं च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते ; 'यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम' (८.१.१) इत्यनूद्य तस्मिन्दहरपुण्डरीकवेदमनि यो दहराकाशः, यच्च तदन्तर्वर्तिगुणजातं तदुभयमन्वेष्टव्यमिति विधीयत इत्यर्थः । दहराकाशशब्दनिर्दिष्टस्य परब्रह्मत्वं 'तस्मिन्यदन्तः' इति

### श्रुतप्रकाशिका

सत्त्वसिद्धान्तानुगानाह—स्वाभाविकेति । ननु आकाशशब्दवाच्यस्य गुणि वेन तस्य ध्येयत्वं वक्तव्यं तेन विना गुणध्यानायोगात् तच्छब्दस्य तदन्तर्वर्तिपरत्वात्ताकाशमभिधायित्वम् । गुणिनो ध्येयत्वे कथिते गुणानां ध्येयत्वमर्थसिद्धं स्यात्, ननु गुणानां ध्येयत्वे कथिते गुणिनोऽन्तर्भावः । अतोन्वेष्टव्यमितिपदं गुणिपरम् नतु गुणपरमित्यत्राह—अत्रेति । तच्छब्दएवोभयपरामर्श इत्यर्थः ॥

ननु यच्छब्दनिर्दिष्टहि तच्छब्देन परामृश्यते । यच्छब्दस्त्वन्तर्वर्तिपरः नाकाशपरः तत्कथमुभयपरामर्शित्वं तच्छब्दस्येति शङ्कायामस्य वाक्यस्य परोक्तार्थपरत्वं च व्युदस्यन् तच्छब्दस्य उभयपरामर्शित्वमाह—यदिदमस्मिन्निति । तस्मिन्दहरपुण्डरीकवेदमनि यदन्तर्गतं दहराकाशाख्यं वस्तु तदन्वेष्टव्यमिति परैरुच्यते, तद्व्युदस्यति यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदमेत्यनूद्येत्यादिना । अयमर्थः यदिदं दहरं पुण्डरीकं वेदमस्मिन्दहराकाश इति दहराकाशस्य पुण्डरीकवेदमाधारत्वस्योक्तं वात् पुनरपि 'तस्मिन्यदन्तः' इति आकाशस्य पुण्डरीकवेदमाधारत्वकथनवैयर्थ्यं स्यादिति, 'तस्मिन्यदन्तः' इति सगुणविषयत्वेतु नवैयर्थ्यं पूर्वमनुक्तत्वात् अतोऽपेक्षितविधेरनपेक्षितविधानं दुर्बलम् । अत्र दूषणान्तराण्यप्यभिप्रेतानि । अव्यवहितदहराकाशं विहाय व्यवहितपुण्डरीकवेदमपरामर्शोऽनुपपन्नः । किंच पुल्लिङ्गशब्दनिर्दिष्टस्य दहराकाशस्य यदिति नपुंसकलिङ्गान्तपदेन परामर्शानुपपत्तिश्च । 'तस्मिन्यदन्तः' इति वाक्यं दहराकाशस्य पुण्डरीकवेदमाधाराकत्वप्रतिपादनपरचेत् अनन्तरवाक्यस्य तदोक्षेपरतया व्याख्यानपाटुपदम् । परमा मनोऽन्तर्वर्ति तत्कारणं सूक्ष्मं किमपि न स भवतीति 'किं तदत्र विद्यते' इति वाक्येनाक्षिप्यास्य द्यावापृथिव्यादिकार्यस्य तदन्तर्वर्तितया समाधानमितिहि परैर्वर्ण्यते दहराकाशः पुण्डरीकवेदमवर्तीत्युक्ते किमत्राक्षेप्यम् । तथा 'अस्मिन्कामास्समाहिताः' 'अथ यद्वात्मानमनुविद्य ब्रजन्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति गुणानां तदन्तर्वर्तित्वमुक्तत्वात् गुणगुणिनोरुभयोरप्युपासनतत्फलप्रतिपादकोपरितनवाक्यस्वारस्यभङ्गश्च भवेत् । अतः परोक्तार्थोऽनुपपन्न इत्यभिप्रायः ॥

'दहरोऽस्मिन्' इति वाक्यं व्याचष्टे तस्मिन्दहरेति । पुल्लिङ्गयच्छब्दाध्याहारेण योजनं या यच्छब्दद्वयनिर्दिष्टमुभयं तच्छब्देन प्रतिनिर्दिश्यत इत्यभिप्रायेण यो दहराकाशः यच्च तदन्तर्वर्तिगुणजातं तदुभयमपि युक्तम् । यद्वा पुल्लिङ्गयच्छब्दानध्याहारेण 'दहरोऽस्मिन्' इत्यादेरेकवाक्यं व मन्वान आह—तस्मिन्दहरेति । श्रुतिवाक्येऽन्तर्दोऽन्तर्वर्तिपरः । अस्मिन्वर्तमानो दहराकाशस्तदन्तर्वर्ति च यत्तदुभयमन्वेष्टव्यमिति वाक्यस्यार्थ इत्यर्थः, 'त्यदादीनि सर्वे नित्यम्' इति पुल्लिङ्गनपुंसकलिङ्गयोर्यच्छब्दयोरेकशेषः 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवचनान्यतरस्याम्' इति नपुंसकभावमेकवचनान्तत्वं च । तस्मादाकाशतदन्तर्गतान्वेष्टव्यगुणपरं पुनपुंसका तयच्छब्दद्वयार्थविषयं तदिति पठितं स्यात् प्रायः । एव 'तदन्वेष्टव्यम्' इति तत्पदेनैवा मनोऽप्युक्तत्वादन्वेष्टव्यतया प्राधान्यावगतिरन्वेष्टव्यस्या मत्प्रसिद्धिश्चेत्यप्यत्रेति चोद्यपरिहारसिद्धिः । दहराकाशेति । विवक्षितार्थस्य प्रामाणिकत्वेऽपि हि क्लृप्तनिर्वाह उपपद्यते, तस्माद्दहरा-

## श्रीभाष्यम्

निर्दिष्टस्य च तद्गुणत्वम्, तच्छब्देनोभयं परामृश्योभयस्याप्यन्वेष्टव्यतया विधानं च कथं भवगम्यत इति चेत्—तद्वहितमनाश्रयण—‘यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदयआकाशः’ (छां.८.१.३) इति दहराकाशस्यातिमहत्तामभिधाय ‘उभे अस्मिन्धावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभा-वग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युघ्नक्षत्राणि’ (८.१.३) इति प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वजगदाधारत्वमभिधाय ‘यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्’ (८.१.३) इति पुनरप्यस्मिन्निति तमेव दहराकाशं परामृश्य तस्मिन्नस्योपासकस्येह लोके यद्भोग्यजातमास्ति, यच्च मनोरथमात्रगोचरमिह नास्ति, सर्वं तद्भोग्यजातमस्मिन्दहराकाशे समाहितमिति निरतिशयभोग्यत्वं दहराकाश-

## श्रुतप्रकाशिका

काशस्य परब्रह्मत्वे तदन्तर्वर्तिनो गुणजातत्वे तयोरन्वेष्टव्यत्वे च प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः । प्रतिवाक्ति तद्वहितेत्यादिना । ‘तदन्वेष्टव्यम्’ ‘यावान्वा अयमाकाशः’ इति वाक्ययोर्मध्ये ‘किं तदत्र विद्यते’ इति वाक्यं भूयते, परमात्मनोऽन्तर्वर्तिनः कस्याचिदसम्भवात् ‘किं तदत्र विद्यते’ इति वाक्यमाक्षेपपरमिह स्यादुपरि । प्रश्नरामिदवाक्यमित्युचितम् बुभुक्षाख्यापनमात्रं प्रश्नः । अनुपपत्त्युद्घाटनेनार्थाक्षेपपूर्वक परिहारबुभुक्षाख्यापनं चोद्यम् । बुभुक्षितपरिहारेण वक्राप्रतिषेधःप्रतिषेधः ‘कुतस्तु खलुसोम्य’ इतिवत् । न प्रतिक्षेपपरमिदं परिहारस्य वक्ष्यमाणत्वात्, न केवलः प्रश्नः अनुपपत्तेर्विद्यमानत्वात् । सर्वान्तरस्य परमात्मनोऽन्तर्भूत तत्त्वान्तरमसम्भावितम् अनुपपत्त्युद्घाटनमुखेनाक्षेपस्य कण्ठोक्तय भावान्नकेवलं चोद्यमित्युचितम् । अतो विनश्यं प्रकाशयता शिष्येणानुपपत्तिमभिप्रेत्य तामस्फुटं ब्रुवता बुभुक्षाख्यापनं क्रियतइति प्रश्नवाक्यतुल्य फलतश्चाद्यपरमिदं वाक्यम् । तच्छब्दनिर्दिष्टयोराकाशतदन्तर्वर्तिनोरन्तर्वर्तिविशेषानवगामदुक्तानुपपत्तिगर्भस्तदन्तर्वर्त्यशाविषयः प्रश्नः ‘किं तदत्र’ इति । ‘सद्भूयात् आचार्यो ब्रूयात्’ इत्यर्थः प्राकरणिकानामिदमेतच्छब्दानामाकाशपरामर्शपरत्वात् तस्याव्यवहितत्वशापनार्थं शब्दतोऽर्धतश्चाकाशस्य प्राधान्यशापनार्थं च ‘यावान्वाअयम्’ इत्यादिप्रदर्श्यते । इदं वाक्यं दहराकाशस्याल्पत्वनिवृत्तिपरमित्यभिप्रायेणातिमहत्तामित्युक्तम् । प्रकृतमेवेति । अन्तर्वर्त्यत्वेष्टव्य आकाशशब्दव्यवहितत्वात्तदशब्दविषय इतिभावः । दहराकाशस्यानुगत्यविच्छेदं दर्शयति तमेवेति । अथेति व्याख्येयम् उपासकस्येति, व्याख्यानम् । इदंशब्दध्वन्यन्तोबुद्धिस्वरूप इत्यर्थः । अन्वेषणविज्ञिज्ञासयोः कर्तृत्वेन उपासकोहि बुद्धिः । अथेहास्ति नास्तीति अस्तित्वनास्तित्वोत्पत्तियोगिकवाच्यमाटनन्तरं चोदायितुरनुभाषणवाक्ये ‘सर्वेच कामाः’ इत्यनुभाषणान्छब्दे भोग्यजातपर इत्यभिप्रायः । फलितमर्थमाह—निरतिशयभोग्यत्वमिति । यथा समुद्र गोष्पदपल्लवादीनामन्तर्भाववचनात् समुद्रस्यानवधिक्जलौघव सिद्धयति, एवं ‘सर्वं तदस्मिन्समाहितम्’ इत्यनेन निरतिशयभोग्यत्वावितिर्त्यर्थः ॥

ननु कथमस्य वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमाश्रीयते जीवभोग्यवस्तुनामाधारत्वमुक्तं किं न स्यात् । उच्यते—अन्येति पदं तावत् ब्रह्मपरं यच्चास्य नास्ति सर्वमस्मिन्समाहितमिति व्याघातात् । नच जीवमात्रपरं—जीवविशेषस्योपासकस्य बुद्धिस्तत्त्वात् । उपासकस्य स्वर्गपदशादिकं न भोग्यमिति तदाधारत्वकथनमनुपपन्नम् । तस्य च ब्रह्मव प्राप्यं तस्यापरिच्छिन्नमितरफलान्तवत्त्वेहैवानान्तरमुच्यते अतो निरतिशयभोग्यतापरत्वम् । अन्वेष्टव्योपमुक्तत्वाच्च निरतिशयभोग्यतापरत्वमुक्तम् । नन्यानन्दत्वस्य स्वरूपनिरूपकधर्मतया सर्वविद्याऽनुयायिवादर्थसिद्धिमिति निरतिशयभोग्यत्वं न पृ२१.१५५ ।

## श्रीभाष्यम्

ममिधाय तस्य दहराकाशस्य देहावयवभूतहृदयान्तर्वर्तित्वेऽपि देहस्य जराप्रघ्वंसादौ सत्यपि परमकारणतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निर्विकारत्वमुक्त्या ततएव 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्' (८.१.५) इति तमेव दहराकाशं सत्यभूतं ब्रह्माख्यं पुनं निखिलजगदावासभूतमित्युपपाद्य 'अस्मिन्कामास्ममाहिताः' (८.१.५) इति दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य काम्यभूतांश्च गुणान्कामा इति निर्दिश्य तेषां दहराकाशान्तर्वर्तित्वमुक्त्वा तदेव दहराकाशस्य काम्यभूतकल्याणगुणविशिष्टत्वं तस्यात्मत्वं च 'एष आत्मऽपहतपाप्मा' [८.१.५] इत्यादिना 'सत्यसङ्कल्पः'

## श्रुतप्रकाशिका

नैवं स्वरूपनिरूपकस्य सत्यत्वस्यात्र पृथगुक्तावात्, अपेक्षितेष्वर्थेषु अनुक्तस्य ह्यन्यतोपपत्त्यत्वं न तूक्तपरित्यागेनान्यतोऽप्राप्त्यत्वं युक्तम् । अतो वयोक्त एवार्थः, 'अथ तच्चेद्ब्रूयुः' इत्यादिचोद्यपरिहारवाक्यानामर्थे हृदि निधयाह—तस्य दहराकाशस्येति । 'अस्मिन् यदपि ब्रह्मपुरं सर्वं समाहितं सर्वाणि भूतानि सर्वे च कामाः यदेनं जरायाप्नोति प्रघ्वंसेवेवा किं ततो विशिष्यते' इति वाक्यम् । 'किं तदत्र विद्यते' इति प्रश्नस्य प्रतिवचनम् 'अस्मिन्कामास्ममाहिताः' इति वक्ष्यते ; मध्ये चोद्यान्तरामिदमुच्यते शरीरान्तर्वर्तिनि दहराकाशे सर्वे चावापृथिव्याद्यादिषु स्थितेष्वेव प्रघ्वंसे तदन्तर्गतस्याकाशस्यापि हृदपुण्डरीकस्येव प्रघ्वंससम्भवात् तस्य चावापृथिव्याद्याश्च अयमनुपपन्नः, देहप्रघ्वंसेऽपि चावापृथिव्याद्यवस्थानात् अस्मिन्नादेव निरतिशयभोग्यत्वं चानुपपन्नमिति । एव चोद्योत्थानबीजं सूचयति देहावयवभूतहृदयान्तर्वर्तित्वेपीति । 'यदेनं जरायाप्नोति' इत्येतच्छब्दः पूर्वप्रकृतं व्यवहितमपि ब्रह्मपुराख्यं शरीरं परामृशति जराभिस्पर्शाभिधानात्, न तु तदन्तर्वर्तिपरामर्शः, तस्य सत्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यभिप्रायेण देहावयवेषु युक्तं चोद्यपरे श्रुतिवाक्ये 'सर्वं समाहितम्' इति चावापृथिव्याद्युपलक्षितभोग्यभोगोपकरणभोगस्यानाधारत्वमनूदितं सर्वाणि भूतानीति सूर्याचन्द्रमौनक्षत्रोपलक्षितभोक्तृवर्गाधारत्वमनूदितं 'सर्वे च कामाः' इति निरतिशयभोग्यत्वमनूदितम् । पुरोवादिक्त्यानुगुणत्वादनुवादिवाक्यस्य ॥

ननु सर्वशब्दसङ्कोचेन जीवभोग्याधारपरमिदं वाक्यं मुख्यवोपपत्तेरिति । नैवम् अमुख्यत्वं सोढव्यम्, प्रथमश्रुतं सर्वशब्दसङ्कोचस्यायुक्तत्वात् पुरोवाद्यानुसृत्यसिद्धे, रूपासकफलस्य निरतिशयतया वक्ष्यमाणत्वा अनुगुणत्वाच्च । नच गुणाष्टकवियोऽयं चोद्यवाक्यस्य कामशब्दः 'अस्मिन्कामाः' इति तस्य वक्ष्यमाणस्य पूर्वमुक्तत्वायोगादुक्तानुभाषणरूपत्वाच्च । वाक्यस्य, अतः 'सर्वे च कामाः' इति निरतिशयभोग्यत्वानुवादः 'नजीर्यति नहन्यते' इत्यनेन प्रतिवचनप्रत्ययेनार्थसिद्धमकारमाह—परमकारणतयाऽतिसूक्ष्मत्वेनेति । कार्याद्व्याख्यादेः कारणमाकाशादिकं सूक्ष्मं, ततएव वाय्वादिविकारेऽप्याकाशस्य न तादृशविकारसंभव इति तत्कारणतत्त्वान्तरा मनो निरतिशयसूक्ष्मवर्तिनिकारद्वैतभावः । ततएवेति । श्रुतिवाक्यस्य सत्यशब्दस्य निर्विकारत्वमर्थः इति भावः । षष्ठीतत्पुरुषव्यापृत्त्यर्थमाह—ब्रह्माख्यमिति सत्यशब्दसामानाधिकरण्यान्नप्राकृतशरीरमित्यभिप्रायः । पुरश्चन्दविषयवहेतुं गुणमाह—निखिलजगदिति । 'सत्यं ब्रह्मपुरम्' इत्यन्तमवान्तरचोद्यपरिहारपरं 'अस्मिन्कामाः' इति प्रथमचोद्यप्रतिवचनम् । दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्येति । अव्यवहितैतत्सत्यं ब्रह्मपुरमित्यादिशब्दोपस्थापितत्वादस्येति भावः । गुणानां कामशब्दवाच्यत्वमुपपादयति । काम्यभूतानिति । अयवशक्त्येत्यर्थः । समाहिता इति पदस्यार्थमाह—दहराकाशान्तर्वर्तित्वमिति । एव दहराकाशस्य कामवैशिष्ट्यमुक्तम् । तदेवेति । को दहराकाशः सचकैः, कामैर्विशिष्ट इत्यपेक्षायां 'एष आत्मा' इति वाक्यगुण



## श्रीभाष्यम्

इत्यन्तेन स्फुटीकृत्य ' यथा ह्येवेह प्रजा अन्वादिशन्ति ' (८.१.५) इत्यादिवाक्ये ' तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ' (८.१.६) इत्यन्तेन तद्विदं गुणाष्टकं तद्विशिष्टं दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं चाविदुषामेतद्व्यतिरिक्तमोग्यसिद्धये च कर्मकुर्वतामन्तवत्फलावाप्तिमसत्यसङ्कल्पवच्चामि प्राय ' अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ' (८.१.६) इत्यादिना दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं तदन्तर्वर्तिनश्च काम्यभूतानपहतपाप्मत्वादिकान्गुणान्विजानतामुदारगुणसागरस्य तस्य परमगुणस्य

## श्रुतप्रकाशिका

विशेषविशिष्टवर्तिविशेषप्रतिपादकमित्यर्थः । ' अपहतपाप्मा ' इत्यादिवाक्ये सत्यकामशब्दो नकामनायास्तत्त्वपरः अमोघाशावस्य सत्यसङ्कल्पशब्देनापि सिद्धत्वात् । नापि भोगानां सत्यत्वपरः, इच्छाविशेषवाचकतया व्युपगम्य कामशब्दस्य भोगवाचित्वाभावात्, नापि काम्यन्त इति व्युत्पत्त्या गुणमात्रपरः कतिपयगुणान्तराणां पृथगुक्त वास्तव्यं चित्तव्यवार्थसम्भवे गोबलीवर्दन्यायेनानुक्तगुणविषयतयाऽसङ्कोचायोगाच्च अतो मोग्यभोगोपकरणभोगस्यानुरूपं नित्याः काम्या अस्य सन्तीत्युच्यते ' तदक्षरे परमे व्योमन् ' इत्युक्तनित्यविभूतिविशिष्टत्वं सत्यकामशब्दार्थः । स्फुटीकृत्येति । आकाशितगुणगुणिविशेषप्रदर्शनं स्फुटीकारः । गुणगुणिनोरुभयोरप्युपास्यत्वं फलवाक्ये दर्शयिष्यमध्यगतवाक्यानामर्थं वदति, यथाह्येवेति । ' यथाह्येवेह प्रजा अन्वादिशन्ति यथाऽनुशासनं यंयमन्तममिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति तद्यथेह कर्मचितो लोकः ' इत्यादि प्रथमस्य यथाशब्दस्य तथोपजीवन्तीत्यन्वयः । इह लोके प्रजाः यथाऽनुशासनं, राजशासनं यथा तथा अन्वादिशन्ति लभन्ते किमित्यत्राह—य यमन्तमिति, अन्तः परसाधनानुष्ठानावसानमावित्वात् ययमन्तं फल क्षेत्रजनपदादिकप्रति आमिकामाः अभ्यर्थिनो भवन्ति तत्तत्फलं तथोपजीवतीति, लौकिकराजसेवादिवृत्त्या लौकिकफलभोगाशुते । तस्य क्षयित्वमाह—तद्यथेह कर्मचितो लोकः इति । अलौकिकफलस्यापि तद्वत्क्षयित्वमाह—' एवमेवामुत्र ' इति दहराकाशतद्गुणानुपासकानामन्तवत्फलभाक्त्वमाह—' तद्यइहात्मानमनुविद्य ' इत्यादिवाक्येन अननुविद्य अनुपास्य ब्रजन्ति परलोकमिति शेषः । भार्य कर्मकुर्वतामिति । ' तद्यथेह कर्मचितः ' इत्यादिश्रुत्यर्थोऽभिप्रेतः । अकामचारशब्दार्थमाह—असत्यसङ्कल्पत्वचेति । अनाविर्भूतगुणाष्टकत्वं विवक्षितम् । अथ यइहात्मानमनुविद्येति । अत्रात्मानमेताश्च सत्यान्कामानिति दहराकाशतदन्तर्वर्तिशब्दार्थानुवादः ' कामचारोभवति इति सत्यसङ्कल्पत्वपर्यन्तगुणाष्टकाविर्भावो विवक्षितः । ' एतांश्च सत्यान्कामान् ' इति वाक्ये कामशब्दोऽपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकपरः, नतु सत्यकामपदोक्तकामपरः ' एतांश्च ' इत्येतच्छब्दस्य प्रकृतगुणविषयतया कामशब्दस्य काम्यन्त इत्यवयवशक्त्या धृत्युपपत्तेः ' अस्मिन्कामास्समाहिताः ' इति वाक्यस्यकामशब्दैकार्थ्याच्च, सत्यशब्दविशेषितं व प्राप्तं निर्विशेषणकामशब्दार्थप्रत्याभिज्ञाविरोधि, सत्यकामपदवाच्यप्रत्यभिज्ञापकं चेत्तत्र तत् पूर्वं श्रुतस्यैतच्छब्दस्य प्रकृतगुणपरामर्शक्षमतया पञ्चाश्रुतस्य सत्यशब्दस्य तदनुविधायित्वात् ' तइमे सत्याःकामाः ' इति प्रकृतानां कामानां सत्यशब्दविशेषितत्वाच्च अनेन श्रुत्यर्थोपपासनं पूर्वप्रस्तुतशङ्कायाः परिहृतत्वं दर्शयति अतो दहराकाशइति ॥

ननु उपक्रमानुगुणमुपसहारो वर्णनीयः तच्च यमुपसहारानुगुणमुपक्रमार्थवर्णनमिति चेन्न, उपक्रमावगतस्य तदन्तर्वर्तिनोऽन्वेष्टव्यत्वस्य बाधामावात् उपसहारावगतस्य आमनोऽन्वेष्टव्यत्वस्य उपक्रमे विवक्षितत्वमात्रं ह्युक्तम्, नतु उपक्रमावगतप्रहाणम् । ननुपक्रमवाक्यमन्तर्वर्तिन एवान्वेष्टव्यत्वपरस्यात् आमनोऽन्वेष्टव्यत्वतु उपसहारवाक्यादेवावगतस्य

श्रीभाष्यम्

प्रसादादेव नवैकामाधातस्सत्यसद्व्युत्पत्ता चोच्यते । अतो दहराकाशः परं ब्रह्म, तदन्त-  
र्धर्तिचापहतपाप्मत्वादिकाम्यगुणजातम् तदुभयमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यमिति चोच्यत इति  
निष्चीयते । तदेतद्वाक्यकारोऽपि स्पष्टयति 'तस्मिन्त्यदन्तरिति कामव्यपदेशः' (वाक्य-  
कारः) इत्यादिना । अत एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाशः परमेव ब्रह्म ॥

सू-१४ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिंगं च (१.३.१४)

इतश्च दहराकाशः परं ब्रह्म 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चर-  
न्तो नविन्देयुरेवमेवेमास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्येतेनहि प्रत्युदाः  
(छां.८.३.२) इति एतमिति दहराकाशं निर्दिश्य तत्राहरहस्सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनम् गन्त-  
व्यस्य तस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशश्च दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयतः । कथ-  
मनयोरस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमित्यत आह-तथा हि दृष्टम् इति । परस्मिन्ब्रह्मणि सर्वेषां  
क्षेत्रज्ञानामहरहस्सुषुप्तिकाले गमनमन्यत्राभिधीयमानं दृष्टम्- 'एवमेव सल्लु सोभ्येमा-  
स्सर्वाः प्रजास्सति सम्पद्य न विदुस्सति सम्पत्स्यामहे इति' [६.९.२] 'सत आगम्य न  
विदुस्सत आगच्छाम इति' (६.९.२) इति च । तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि दृष्टः  
'एष ब्रह्मलोकः संप्राडिति होवाच' (७.१०.२) इति । माभूदन्यत्र ब्रह्मणि गमनदर्शनम् ।  
एतदेव तु दहराकाशे सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल इव निरस्तनिखिलदुःखानां सुषुप्तिका-

श्रुतप्रकाशिका

किं द्विष्टनिर्वाहेणेति चेन्न फलवाक्यगतोपासनानुवादस्य पुरोवाद्स्यैव रूपताया अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वात् । नह्यप्राप्तं गुण्य-  
पासनमनुवादितुं शक्यम् । नच 'अथ यद्वात्मानम्' इति वाक्यं निशिष्टविधिपरं, गुणाशस्य प्राप्तत्वात् नापि गुणा-  
नुवादेन गुण्युपासनेविधायक उभयानुवादनं फलप्रतिपादनपरत्वात् । अतोप्राप्तस्यानुवादायोगात् फलवाक्यानुदितस्य  
गुण्युपासनस्य गुणोपासनस्यैव 'तदन्वेष्टव्यम्' इति वाक्येनैव विहितत्वमवश्याभ्युपगन्तव्यमिति दहराकाशगुणाष्टक्ये-  
रनयोरभ्युपासनं 'तदन्वेष्टव्यम्' इति विहितम् । अथान्तर्वर्तिनः कामत्वं संप्रदायतो द्रढयति तदेतदिति । सूत्रार्थ-  
मुपसंहरति अतएतेभ्य इति ॥

सू-१४ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिंगं च (१.३.१४)

'अहरहर्गच्छन्ति' इति सुषुप्तौ गमनं विवक्षितं, तच्च पृथक्प्रतिपात्तिव्यवहारानर्हताया स्थितिः । निर्गमनं पृथक्प्र-  
तिपाद्यर्हतागतिः कथमनयोरिति । कथं श्रुतिषु परमात्मघर्मत्वेन अन्वयदर्शनाद्वा जीवादिप्रतिपादकवाक्येष्वदर्शनेन  
जीवादिष्वसंभावितत्वाद्वा गतिशब्दयोः परमात्मसाधकत्वमित्यर्थः । 'तथाहि दृष्टम्' इति सूत्रखण्डे परमात्मपरसपक्ष-  
भूतवाक्येष्वन्वयदर्शनपरं व्याचष्टे तथाहीति । गतेऽश्रुत्यन्तरप्रसिद्धिं दर्शयति परस्मिन्निति । शब्दस्यान्यत्र प्रसिद्धिं  
दर्शयति तथेति । 'लिङ्गं च' इति सूत्रखण्डे जीवादिप्रतिपादकविषयभूतवाक्येष्वदर्शनरूपव्यतिरेकाद्गतिशब्दयोरसा-  
ध्यसाधकत्वपरं व्याचष्टे माभूदिति । तत्र गतेः श्रुत्यन्तरेऽन्वयदर्शननैरपेक्षेण साधकत्वमाह-एतदेव इति । श्रूय

## श्रीभाष्यम्

ऽवस्थानं श्रूयमाणस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम् ; तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च समानाधिकरणवृत्त्या ऽस्मिन्दहराकाशे प्रयुज्यमानोऽस्य ब्रह्मत्वे प्रयोगान्तरनिरपेक्षं पर्याप्तं लिङ्गमित्याह—लिङ्गं च इति । निपादस्थपतिन्यायाच्च पष्ठीसमासात्समानाधिकरणसमासो न्याय्यः ॥

अथवा ' अहरहर्गच्छन्त्यः ' [छां.८.३.२] इति न सुषुप्तिविषयं गमनमुच्यते ; अपित्वन्तरात्मत्वेन सर्वदा वर्तमानस्य दहराकाशस्य परमपुरुषार्थभूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानाः तमजानत्यस्तं न विन्दन्ति—नलभन्ते ; यथा हिरण्यनिधिं निहितं तत्स्थानमजानानास्तदुपरि सर्वदा वर्तमाना अपि न लभन्ते, तद्वदित्यर्थः । सेयमेवमन्तरात्मत्वेन स्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्नियमितानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिरस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति । तथाह्यन्यत्र परस्य ब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य स्वनियाम्याभिस्त्वस्मिन्वर्तमानाभिः प्रजाभिरवेदनं दृष्टम् । यथा अन्तर्यामि-

## श्रुतप्रकाशिका

माणमिति । निधिदृष्टान्तसचिवमिति भावः । ' तद्यथा ' इत्यादेर्वाक्यस्योदाहृतत्वादत्र निधिदृष्टस्य श्रुतत्वादिनिदृष्टान्तावगतपरमपुरुषार्थमावस्येति योजनान्तरेऽनन्तरमेवोच्यमानत्वाच्च । निधिदृष्टान्तश्च परमपुरुषार्थवशात्कः, अतो दृष्टान्तानुगृहीमहरहर्गमनमेकं पर्याप्तं लिङ्गमित्यर्थः शब्दस्य च न्यायविशेषानुगृहीतस्य श्रुत्यन्तरेऽन्वयनिरपेक्षं साध्यसाधकत्वमाह—तदा ब्रह्मलोकेति ॥

ननु कथं ब्रह्मलोकशब्दस्य समानाधिकरणवृत्तिर्वागमः व्यधिकरणवृत्तावापि तदेवाहि शब्दरूपमिति शङ्काया विद्वक्षितमनुग्राहकं दर्शयति निपादेति । ' एतया निपादस्थपतिं याजयेत् ' इत्यत्र कर्मधारयपरिग्रहे निपाद्यजातीयस्य पतेराग्निविद्ययोरसम्भवेन स्वतो निराधिकारत्वात् पष्ठीसमासपरिग्रहे च त्रैवर्णिकान्तर्भूतस्थपतिव्यतिरेकापि निपादस्थपतिशब्दनिर्वाहसम्भवात् पष्ठीसमासपरिग्रहेणाप्युद्वाधिकरणन्यायानुरोधो युक्त इति प्राप्तेऽभिहितं ' स्थपतिर्निपादस्याच्छब्दसामर्थ्यात् ' इति । अयमर्थः पष्ठीसमासपक्षे निपादसम्बन्धविशेषोऽभिधेयः, कर्मधारयपक्षे निपादवविशिष्टः, तत्र पृथ्या अश्रवणाभिपादप्रातिपदिकेन विभक्तयर्थो लक्षणीयः । नन्वेदं युक्तम् श्रौतार्थपरिग्रहे विरोधाभावात् नचाग्निविद्याराहित्यं दोषः, द्रव्यप्रदेतदुपयोग्यग्निविद्ययोरपि यथाकथञ्चिदार्जमस्य विध्यनुमत्तिसंभवत् तस्मात्कर्मधारय एव न्याय्य इति । एतन्न्यायानुगृहीतो ब्रह्मलोकशब्दः श्रुत्यन्तरेऽन्वयनिरपेक्षः परमात्मत्वसाधक इत्यर्थः । तर्हि ' सुसामभिरग्नीयते ब्रह्मलोकम् ' इत्यत्र कथं ब्रह्मलोकशब्दस्य वैयधिकरण्यम्, उच्यते नयतिः प्राप्तिवचनः नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः प्राप्तिर्नाभानुभवः, सच ' परात्परं पुरुषमीक्षते ' इत्युक्तः अतो ब्रह्मानुभवः पुनर्न वक्तव्य इति ' उन्नीयते ' इत्युपूर्वनयतिरूपारिखितप्राप्तिवाची, न बुद्धिवाची प्राप्यश्च लोक इति वैयधिकरण्यम् अत्र तु तादृशानुपपत्त्यभावात् सामानाधिकरण्यमिति—ब्रह्मलोकशब्दस्य चतुर्मुखलोपपत्त्यशङ्कानियतकालेकमहरहर्गमनं, नहि प्रजाःप्रत्यहं चतुर्मुखं गच्छन्तीति दर्शयाम् ' लिङ्गं च ' इति सूत्रसङ्गमन्वेष्ट्याख्यातम् । तदानीं गतिशब्दयोः परस्परव्याप्योपपादकभावेन समुचित्य परमात्मत्वसाधकत्वं स्यात्, नन्वेकैकस्य, ततोऽपि परंपर्येकं पर्याप्तलिङ्गमिति सिद्धिरित्याभिप्रायेण तदनावृत्त्यैव व्याख्यातम् ॥

गतिशब्दमात्रस्य योजनान्तरमाह—अथयेति । पूर्वयोजनाया दृष्टान्तप्रयोगैरिशब्दान्वयः, अत्र तु दार्ष्टान्तिकेऽपि दहराकाशस्योपरीति । धर्मैक्याभिप्रायेणैवमुक्तम् अन्तरा मतया स्थितयेन द्वाघारः ननु उपासकानुग्राहकतया स्थितयेन उपरिस्थमियमितानामीति । अस्मिन्प्रकरणे सत्यशब्दनिबन्धनापगताहं चेतनाचेतनयोर्निबन्धनं परस्य ' यथात्मान-

## श्रीभाष्यम्

ब्राह्मणे 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद् यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरोऽयमयति' (वृ.५.७.२२.मा,पा) 'अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्चोता' [५.७.२२] इति च । मा भूदन्यत्र दर्शनम् ; स्वयमेव त्रियं निदिष्टान्तावगतपरमपुरुषार्थभावस्यास्य हृदयस्थस्योपरि तदाधारतयाऽहरहस्सर्वदा सर्वासां प्रजानामजानतीनां गतिरस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम् ॥

सू—१५ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः [१.३.१५]

'अथ य आत्मा' (छां.८.४.१) इति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य 'स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्मेदाय' [८.४.१] इत्यस्मिन्नगद्विधरणं ध्रुयमाणं दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति ; जगद्विधरणं हि परस्य ब्रह्मणो महिमा, 'एष सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्मेदाय' (वृ.६.४.२२) इति, 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसो विधृतौ तिष्ठतः' (१.८.९) इत्यादिभ्यः । सचायं तस्य परस्य ब्रह्मणो धृत्यारयो महिमाऽस्मिन्दहराकाश उपलभ्यते ; अतो दहराकाशः परंब्रह्म ॥

सू—१६ प्रसिद्धेश्च (१-३-१६)

आकाशशब्दश्च परस्मिन्नि प्रसिद्धः 'कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेव आकाशआनन्दो न स्यात् (तै आन.७) 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छां.१.९.१) इत्यादिषु अपहृतपाप्मन्यादिगुणसनाथाप्रसिद्धिः भूताकाशप्रसिद्धेर्वलीयसीत्यभिप्रायः ॥

एवं तावद्दहराकाशस्य भूताकाशत्वं प्रतिक्षिप्तम् । अथेदानीं दहराकाशस्य प्रत्यगात्मत्वमाशङ्क्य निराकर्तुमुपक्रमते—

धृतप्रकाशिका

मन्तरो यमयति' इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धचेत्यभिप्रेतम् । अस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गमिति लिङ्गमित्येवार्थः ॥

सू—१५ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः (१.३.१५)

अस्य परमात्मनः महिमा धृतिः—तस्यास्मिन्दहराकाशे उपलब्धेरित्यर्थः । धृतिः—विधृतिः, अतो दहराश.परं ब्रह्मेति । भूताकाशादन्यत्वे तात्पर्यम् भूताकाश प्रतिक्षिप्तमिति हि वक्ष्यते । स एव वस्तुगत्या परमात्मेति परब्रह्म युक्तम् ॥

सू—१६ प्रसिद्धेश्च (१.३.१६)

प्रसिद्धिप्राप्त्यर्थं भूताकाश इत्यत्राह—अपहृतेति । पूर्वसूत्रचतुष्टयकृत्य वदधुत्तरेषां सूत्राणां कर्तव्यमाह—एवं तावदिति । पूर्वोक्तहेतूनां स्वरसतो जीवव्यावर्तनक्षम वेऽपि वक्ष्यमाणशङ्काप्रतिषेपानन्तरमेव स्वरस्यज्ञानपोषकत्वमिति ।



## श्रीभाष्यम्

## सू-१७ इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् (१.३.१७)

यदुक्तं वाक्यशेषवशाद्दहराकाशः परं ह्येति, तदयुक्तम् वाक्यशेषे परस्मादितरस्य जीवस्यैव साक्षात्परामर्शात् 'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच एतदतममभयमेतद्गृह्य' (८.३.५) इति । यद्यपि 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः' (८.१.१) इति हृदयपुण्डरीकमध्यवर्तितयोपदिष्टस्याकाशस्योपमानोपमेयभावाद्यसम्भवाद्भूताकाशत्वं न भवति तथाऽपि वाक्यशेषवशात्प्रत्यगात्मत्वं युक्तमाश्रयितुम् । आकाशशब्दोऽपि प्रकाशादियोगाज्जीव एव वर्तिष्यत इति चेत् अत्रोत्तरं नासम्भवात् इति । नायं जीवः ; न ह्यपहतपाप्मत्वादयो गुणा जीवे सम्भवन्ति,

## सू-१८ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु (१.३.१८)

उत्तरात्-प्रजापतिवाक्यात् जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुणयोगो निश्चीयत इति चेत् एतदुक्तं भवति । प्रजापतिवाक्यं जीवपरमेव, तथा हि 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो

श्रुतप्रकाशः ॥

अतो भूताकाशव्युदसने तात्पर्यमिति भावः । तत्परत्वे व्युदस्य हेत्वन्तरेण जीवपरत्वमाशङ्क्ये तत्तद्देव तन्निरासः क्रियतेऽनन्तरसूत्रेण । उपक्रम इत्यनेन अनन्तरसूत्रं नाधिकरणान्तरमिति सूचितम्, अविच्छेदप्रतीतिः ॥

## सू-१७ इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् (१.३.१७)

इतरशब्दस्य प्रतिसर्वाधिसापेक्षवादाह-परस्मादिति । जीवस्येति । दहराकाशस्य परमोऽयं दहरोऽपि अस्य वाक्यस्य जीवपरत्व संप्रतिपन्नमिति एवकाराभिप्रायः । साक्षात्परामर्शादिति । न जीवसर्वाधिरङ्गद्वारा परमर्शः, किंतु तद्वाचकशब्देन परामर्शः तस्मादित्यर्थः 'अथ य एष' इत्येतच्छब्दो हि प्रकृतपरामर्शः ; अतः पूर्ववाक्येष्वपि जीव एव प्रतिपाद्यत इति परामर्शशब्दाभिप्रायः । जीवपरामर्शरूपाणि तदन्तर्देत्यं दृष्टव्यान्तरप्रतीतिश्च जीवस्य हेतुगुणसंघेयः । अणोर्जीवस्य विपुलतरप्रसिद्धाकाशोपमेयवसर्वाधारवाचनुपपत्तेर्भूताकाशप्रतिक्षेपयुक्तिमिरेव जीवत्वशङ्का प्रतिक्षिप्तेत्यत्राह-यद्यपीति । उपमानोपमेयभावाद्यस्वारस्य वाक्यशेषवशात्सोदव्यमिति भावः । न ह्यपहतेति । परामर्शान्यथासिद्धेर्ष्यमाणत्वादपहतपाप्मत्वादिश्रुतिस्वागम्यमनयोदितमिति भावः ॥

## सू-१८ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु (१.३.१८)

सूत्रे शङ्कातण्डस्याश्रयार्थमाह-उत्तरादिति । उत्तरवाक्यानुसारेण दहरवाक्येऽपि जीवस्येति निश्चीयत इत्यर्थः किमिदं प्रजापतिवाक्यं तत्तदपहतपाप्मत्वादिः प्रतीतोऽपि परमात्मन एव स्यादित्यत्राह-एतदुक्तमिति । जीवपरमेवेति 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यनेन परमात्मपरत्वं न शङ्क्यम् तदुक्तिः प्रासङ्गिकीति भावः ।

श्रीभाष्यम्

विन्यायदेशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्परसोऽन्नेष्टयस्सविजिज्ञासि-  
तव्यस्ममर्थोश्च लोकानाप्नोति सर्वोश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छां.८.७.१)  
इति, प्रजापतिवचनमतिथरूपेणोपश्रुत्याऽन्वेष्ट्यात्मस्वरूपजिज्ञासया प्रजापतिमुपसेदुषे  
मघवने प्रजापतिर्जागरितस्वप्नुपुतयवस्थं जीवात्मानं सशरीरं क्रमेण शुश्रूषुयोग्यतापरीचि-  
क्षिपयोपदिश्य तत्रतत्र भोग्यमपश्यते परिशुद्धात्मस्वरूपोपदेशयोग्याय तस्मै मघवते 'मघ-  
वन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं श्रुत्वा तदस्यामृतम्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्' (८.१२.१)  
इति शरीरस्याधिष्ठानतामात्मनश्चाधिष्ठातृतामशरीरस्य च तस्याऽतत्त्वस्वरूपतां चोक्त्वा  
'न ह वै मशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं चायं सन्तं न प्रियाप्रिये  
स्पृशत.' (८.१२.१) इति कर्मरन्ध्रशरीरयोगिनस्तदनुगुणसुखदुःखभागित्वरूपानर्थं तद्वि-  
मोक्षे च तदभावमभिधाय 'एवमेवैष संप्रसादोऽसाच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपस-

श्रुतप्रकाशिका

मघवतइति । यथापि विरोचनोऽपि प्रजापतिमुपासदत् तथाऽपि छयापुरुषाधिगममाऽतृप्ततया अपक्रान्तः अतस्तदनुक्तिः  
इन्द्र एनाथंनस्त्वबुभुक्षया स्थितइति सन्निध्यत्वात्तन्निर्देशः । अष्टमस्कस्यार्थे संक्षेपेणाह-जागरितेति । 'नाहमत्र  
भोग्यं पश्यामि' इत्यस्यार्थमाह-तत्रतत्र भोग्यमपश्यत इति । 'य आत्मा' इत्यादिप्रजापतिवाक्ये परिशुद्धजी-  
वस्वरूपाभिप्रायम् । तच्छ्रुत्वा पश्चादुपसन्नयोरिन्द्रविरोचनयोः प्रजापतिरुपति 'य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यत' इतिदिशा  
नेहातिपुरुषः परमात्मा 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपसन्नयुक्तमादवस्थाऽभिधानात् नचेह जीवस्या-  
क्षिणिस्यतिरुपादिश्यते, किंतु अविकाराभ्यां जीवस्य स्थितिगती निश्चीयेत अतोऽक्षणाः जीवस्थितिगतिरूपकत्वाद्दक्षिणि  
दृश्यत इत्युक्तम् अस्मिन्कर्मण्यस्य सामर्थ्यं दृष्टमिति वत् । ततश्च गृहे स्थित्वा निर्गच्छन् पुरुषो यथा गृहादन्यः एवं  
शरीरे स्थितिगतिमानात्मा देहातिरिक्त इत्युक्तं भवति । 'अमृतम्' इति निरतिशयस्वरूपवत् 'अभयम्' इति दुः-  
खानभिन्नत्वम् 'ब्रह्म' इत्यसङ्कुचिज्ञानतया बृहवं ब्रह्मात्मकं व वीजं, एव प्रजापतिहृदयानभिज्ञानेन छायापुरुष उप-  
दिष्टो मन्वा पुनःपप्रच्छतुः 'कतम एषः' इत्यादिना सर्वेष्वेतेषु नेत्रादिस्थानेषु परिख्यायते कतमएष इत्यर्थः । पुन  
आश्रुरदेहस्यानामन्वामिदतयाऽवमासनादन्वयव्यतिरेकाम्यान्व दर्शयितुमुदशरात्रब्राह्मणेन केवलदेहस्य वसनाभरण चलकृत-  
देहस्य च छायादर्शने प्रजापतिनियोगस्तयोस्तद्दर्शनोत्तम् । यथा वसनाभरणादिरन्वयव्यतिरेकाम्यामना मा, एवंचाशु-  
य याद्विदङ्कारगोचरत्वाच्च, देहो नास्मेति प्रजापतेरभिरन्ध्र । विरोचनो पक्ववक्ष्यायत्वात्तावता तृप्तो जगाम । इन्द्रस्तु  
प्रजार्थं रमिसन्धिमजानन्नपि देहस्यामृतत्वाभ्य वानुपपत्तिं दृष्ट्वा 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' इति पुनरुपस्थात् प्रजा-  
पतिस्तु जाग्रदशाया वसनादीनामिव जीवाच्छरीरस्यापगमाभाव द्यव्यतिरेको दुर्दर्श इति मन्वा स्वाप्नदेहाभिमानेन आत्मन  
दशय नदेहव्यापारेकस्य स्वरगमत्वात् स्वप्नावस्थामुपदिदेश । तदभिप्रायानभिज्ञ इन्द्रस्त्वममृतत्वाभ्यवानुपपत्तिं जनन्  
'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' इत्युपासदत् बाह्याभ्यन्तरदेवत्वमनुध्यत्वरगोपेपाद्यौपाधिकं वाकालुपदिष्टेण स्वयंप्रकाश-  
मागान दर्शयितुं सुपुतयवस्थामुपादिशत् । तदानीमपीन्द्रस्तदभिप्रायाज्ञानेनामृतत्वाभ्यवानुपपत्त्या 'नाहमत्रभोग्यं  
पश्यामि' इत्युपसन्नोऽभूत्, एवमनतिस्पृष्ट गहनमुपदिशतः प्रजापतेस्तात्पर्यमुक्तं शुश्रूषुयोग्यतापरीचिक्षिपेति 'मघ-  
वन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना निष्कृष्टात्मस्वरूप स्पृष्टतरमुपादिशत् । तदुपदेशप्रकारमाह-शरीरस्याधिष्ठान  
तामित्यादिना । अथ मुक्तयवस्थोपदेश दर्शयति एवमेवैषसंप्रसादइति ॥

## श्रीभाष्यम्

पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां. ८.१२.२) इति जीवात्मनस्वरूपमेव शरीरविद्युक्तमुपदिदेश  
' स उत्तम-पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा शातिभिर्वा नोपजन्तं  
स्मरन्निदं शरीरम् ' [८.१२.३] इति,

## श्रुतप्रकाशिका

एवमित्यादिकमुपपदानस्यायमभिप्रायः, ' अस्माच्छरीरात् ' इत्यादिवाक्यस्य परोक्षार्थो दार्ष्टान्तिकवाक्यानु-  
गुण-वादिदोषविध्वस्त इति तथाहि शरीरात्समुत्थान नाम श्रवणमननध्यानभ्यासरूपविधेयः । स्वेन रूपेणाभिनिष्प-  
त्तिर्नाम प्रपञ्चविलापको घृतिरूपसाक्षात्कारः, तेन परज्योतिर्भवति ' उपसम्पद्य ' इति निर्देशो मुखं व्यादाय स्वमितीति  
वदिति केचिद्व्याचक्षते । तदयुक्तम् समुत्थानशब्दस्य विवेकवाचित्वाभात् शरीरवपयो विवेक इति चेन्नश्रमी न घटते  
तस्य द्वितीयार्थत्वाभावात् । शरीरादात्मनो विवेकश्चेदात्मनामित्यावाहारः ' तयोर्ध्वमादन्नमृतस्वमेति ' इत्यादिश्रुत्य-  
न्तरैकार्थ्यप्रत्यभिज्ञाविरोधश्च शरीराभिमानादुत्थानमिति चेत् शरीरशब्दस्य लक्षणा । शरीरादात्मन उच्यते न विदिते चेत्  
सशरीरस्य तत्सम्भवान्मोक्षस्य चाशरीरतालक्षणत्वादस्य वाक्यस्य मोक्षविषयत्वं न स्यादिति चेत् अचिरादिमार्गात्मनस्य सूक्ष्म-  
देहसापेक्षत्वात्तेन गतवतएव सवासनसर्वहयप्रहणाद्य मुख्यार्थपरत्वे कृतेय मुक्तिदिष्यदोपपत्तेः । त्वदन्तर्दृष्टदिवक्ष-  
तक्रमत्वं च क्लिष्ट गत्यमवद्योतक ' सम्पद्याविर्भावः ' इति सूत्रविरोधश्च, नद्याविर्भूय सम्पत्तिरिति सूत्रम् । भेदप्रवि-  
ल्यातिरेकेण परज्योतिर्भावात्मकार्यान्तरासम्भवात् ' परज्योतिरुपसम्पद्य ' इति निर्देशवैयर्थ्यं च परज्योतिर्भावो नाम  
न घर्मान्तर निर्विशेषवस्तु-युपपद्यते नद्याविर्भवति ननु परज्योतिर्भावो नाम अद्वितीयत्वम् । तेन निर्वर्तकज्ञ नसाद्वितीय-  
त्वव्युदास इति चेन्न संपत्तिशब्दस्येतरनिघृतिवाचित्वाभावात् । नहि घटा भवतीत्युक्ते दण्डचक्रादिद्वितीयादिष्वपि रक्षा  
भवति उपास्यतेऽसकर्मकत्वप्रतीतिस्वारस्याविरोधश्च । अस्य वाक्यस्यैवमर्थपरत्वे दृष्टान्तोपस्थापकपूर्वक वयादिरेकस्य स्यात्  
पूर्वादि ' अशरीरं वायु सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ' इत्युक्त्वा ' अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयितुः ' इति  
वाद्यादीनां कर्मकृतशरीराभावेन प्रियाप्रियानन्वय दर्शय वा ' तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परज्योतिरुप-  
सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ' इत्युक्तम् । नहि वाद्यादीनामाकाशात्समुत्थाननाम विवेकजनरूपं, आपतु स्थितिवेद्याया  
स्वकार्यकरणायोर्ध्वदेशोऽभिवृद्धिः । परशब्दो वाद्यादीनां कारणवस्तुवाची । ज्योतिरशब्दस्तु कारणानां कार्योपादनद्वारेण  
तदभिधत्तिहेतुतया प्रयुक्तः वाद्यादीनिच स्वकारणद्रव्यमुपगम्य कार्यवस्था हिवा कारणरूढेन रूपेण निशिष्टानि भवन्ति  
वायुह्यावद्वह्निप्रवहादिरूपेण सप्तविधत्व हिवा वायु वमात्रेणावतिष्ठते । विद्युच्च विद्युत्व हिवा तेजस्येन अश्रुतानि नूना-  
भ्रानादिप्रहाणेन स्वकारणभूतरूपेण एवं जीवश्च मार्गविशेषेण गत्वा परब्रह्मप्राप्य स्वकार्यवस्थाप्रहाणेन परमाऽद्वैतरूपे  
णाविर्मयतीत्येवमर्थसतिहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवाक्यसामञ्जस्य भवति ॥

अस्य वाक्यस्य सुपुंल्लिख्यत्वेऽप्युक्तदूषणानतिघृत्तिरनुसंधेया । यतः ' अस्माच्छरीरात् ' इति वाक्यं न  
मुक्तस्य जीवस्य स्वरूपैक्यप्रतिपादकम्, अतएव ' नासम्भवात् ' इति सूत्रकारेण भेदनिर्देशो न जीवपरयोर्वास्तवो-  
दाभिप्रायः, अपितु व्योम्निमालि-यादिकमिव परस्मिन्निष्ठाकल्पितजीवभावमनेतुं जीवरूपवैलक्षण्यप्रियाय इति तादृ-  
शिरस्तम् जैवस्वरूपमपानेनीयार्थेन निर्देशो किं पलम् यावद्भेदनिर्देश न ईश्वरस्याऽस्मिन्निष्ठाप्रतिपत्तौ न तावत्तदेक्यावतिः पुर-  
यार्थस्यात् आस्तद्रूपावत्तेः पुरयार्थवाय तस्यासंसारिवप्रतिपत्तये भेदनिर्देश इति चेत् तर्हि पञ्चादिर्वादिर्नैव दन्त-  
नेन तस्य संसारितया तदेक्यावत्तरपुरयार्थत्व को वारयेत् । अत्रिष्टानिष्टानो तत्कल्पितापुरयार्थस्य निर्देश इति चेत् --

### श्रीभाष्यम्

प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वं, निवृत्ततिरोधानस्य परंज्योतिरपसपक्षस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलोके यथेष्टभोगावाप्तिम् ' प्रियाप्रियावियुक्तकर्मनिमित्तशरीराद्यपुरुषार्थानुसन्धानचामिधाय ' स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिन्शरीरे प्राणो युक्तः ' (८.१२.३) इति यथोक्तस्वरूपस्यैव संसारदशायां कर्मतन्त्रं शरीरयोगं युग्यशकटयोगदृष्टान्तेनाभिधाय ' अथ यत्रैतदाकाशमनुनिषण्णं चक्षुस्मन्चाक्षुषः पुण्यो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिध्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् । अथ यो वेदेदं मन्यानीति स आत्मा मनोऽस्य देवं चक्षुः ' (८.१२.४,५) इति चक्षुरादीनां करणत्वं रूपादीनां श्रेयस्त्वमस्य चक्षात्त्वं प्रदर्श्य तत एव शरीरेन्द्रियेभ्योऽस्य व्यतिरेकमुपपाद्य ' स वा एव एतेन

### श्रुतप्रकाशिका

पुरुषार्थप्रतिपत्तेर्जीववैलक्षण्यप्रतिपत्तिमूलकत्वाद्वैलक्षण्यस्याविधानिष्टत्वात् निवृत्तः पुरुषार्थव्यतिरेकमपि निवर्तेत अन्विष्टत्वात् अभिरूपताबुद्धौ निवृत्ताया तास्मान् स्पृहणीयत बुद्धनिवृत्तवत् । ततश्च तद्भावापत्तिः पुरुषार्थ एव स्यात् ॥

किंच एक्यमुपदिदिधोर्भेदवाटमुत्तेन असंसारि व दर्शयतः प्रतारकत्वं च स्यात् भेदवाटोऽनुवाटरूपः प्रतिषेधार्थं क्रियत इतीदमत्यन्तमयुक्तम् जीवपर्योर्नियन्तृनियाम्यतादिलक्षणभेदस्य लौकिकत्वात् । अतश्च्युतिस्त्रासाङ्गस्यैव मृषावादिना स्थितम्—' सत्तम पुरुष ' इति शब्देन परमात्मपरवशङ्कया तत्परिहायाह—प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वमिति । जीवस्य प्राप्यतया पुरुषोत्तमप्रसङ्गः, नतु प्रकरणप्रतिपाद्यत्वमिति भावः । ' सत्तम पुरुष ' इति यदुपसर्गणेन स उपसदनीयः पुरुष उत्तम इत्यर्थः । ' सतत्र पर्येत ' इति, स. उपसम्पत्ता तत्र परमात्मान पर्येति त परितोऽनुभवति । यद्वा अनुसञ्जाति ' कामरूप्यनुसञ्चरन् ' ' येनयेन धाता गच्छति ' इति श्रुत्यन्तरात् ॥

ननु य उपसम्पत्ताभिनिष्पद्यत सत्तम पुरुष इति तच्छब्देन प्रथमानिर्दिष्टप्रवृत्तपरामर्शस्वारस्यात्, ' स तत्र पर्येति ' इत्यनन्तरयाक्यस्य प्रथमोक्त-छन्देनैकार्थव्यपत्तिश्च । नैवम् उ उपसत्त्याभ्यापि इकृते व त । इत्यनिर्दिष्टेतर नियमत्वे तच्छब्दस्वारस्याभावेऽप्युत्तमपुरुषशब्दयोरुभयोरपि स्वारस्याच्च । ननु उत्तमपुरुषशब्दो जीवेश्वरसाधारण पुरुषव मपिहि भगवत्येव स्वरसिद्धिः । कवल एक्यचनान्त पुरुषशब्दोऽपिहि भगवत्येव स्वासः ' कुत उत्तमः पुरुषशब्दः ' ' उत्तम पुरुषस्त्यन्यः ' इति स्मृत्यर्थस्य शङ्किते प्रत्यभिज्ञानाच्च एव चसति ' सतत्र ' इति रत्तम्यन्तच्छब्दस्यात्य गिहितोत्तमपुरुषपरामर्शो व न स्यात् नतु व्यवहितपरज्योतिः परामर्शस्वारस्यम् । ननु ' सत्तम पुरुष ' इति मुक्तस्य ब्रह्मात्मकत्वपर स्यात् तदा तच्छब्दस्वारस्यच स्यात्, प्रवृत्ताप्रहाणात्, नैव ' सतत्र ' इत्यनन्तरयाक्ये स इति पदस्य वैय पकरणेन जीवपरामर्शो रीतभेदेनास्वारस्यापातात् । तदपि पद स्थानाधिक्यमपि विवेच्य तन्नेत पदमात्मनो वैयर्थ्य- करणनोपादानात् । तत्र इति पदस्य स्व स्मजित्यर्थोऽपि कृष्टः, अतो यथात्तायावप्य ' सत्तम पुरुष ' इति वक्ष्यम् । ' नोपजनं स्मरन् ' इत्यर्थार्थमाह—प्रियाप्रियोति । अनुभूतस्याह साण पृथग्ब्रह्मात्मकतया दुरतात्मकेन हनुभूतम् न तथा स्मरति कुतस्य भगवदात्मकेन अनुभव्यवादित्यर्थः । प्रयोग्य युग्य आचरण शकट ' अथ यत्रैतत् ' इत्यादिश्रुतेरर्थमाह—चक्षुरादीनामिति । आकाश प्रकाशकम् आलोकादि प्रकाशमान रूप वा प्रकाशयति यत्र चाक्षुष- चक्षुरूपकारकः तत्फलितमर्थमाह—ततएवेति ।



## श्रुतप्रकाशिका

तदत्र ' इति वैयधिकरण्येन प्रश्नस्य ' एष आत्मा, परमाकाशशरीरक आत्मा, ' इति सामानाधिकरण्येनोत्तरम् ततश्च तदन्तर्वर्तिव फलितमिति चेन्न वैयधिकरण्येन, प्रश्नस्य वैयधिकरण्येन प्रतिवचने सम्भवति, सामानाधिकरण्येन, प्रतिवचन-कल्पनायोगात् ॥ असम्भवेहि तथा निर्वाह उपपद्यते, न केवल परमाकाशशरीरस्य हृदयान्तर्वर्तिव एतत्प्रकरणपर्यालोचन विद्वद्भ्यः सन्नादप्रमाणान्तराभावविध्वस्त च ' यो वेद निहितम् ' इति वाक्यमनर्थोक्तिद्वयम् ॥ ' परमे व्योमन् सोऽश्रुते ' इत्यन्वयसम्भवात् शाण्डिल्यविद्याया च ' आकाशात्मा ' ' एषम् आत्माऽन्तर्हृदये ' ' इत्यादिवर्तयैराकाशवत्सूक्ष्मस्वच्छव्यापिस्वरूपस्य हृदि वर्तमानत्वमुच्यते इत्यन्यथास्तिद्वयम्, अतोऽनुपपन्नमिदम् ॥

## इति दहराधिकरणम्

## अथ दहराधिकरणम् ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

॥ ' दहर उत्तरेभ्यः ' सृजतिः श्रुतप्रकाशिकायामेवोक्ता । अत्र दहर, उत्तरेभ्य इति पदच्छेदः सिद्धान्ते परमे च समतः । दहरे उत्तरेभ्य इति नवीनाना पदच्छेदः, नन्यमते, दहरे भूताकाशे विद्यमान, परमा मा इति, ' तस्मिन् यदन्तः ' इत्यत्र अन्तदशब्दार्थः, परमा मा । अत्र दहरे इति विग्रहकरणमात्रेण श्रुतौ दिवार प्रयुक्तयोर्दहरशब्दयोर्मध्ये प्रथमदहरशब्दार्थं न विवक्षितः, द्वितीयदहरशब्दार्थ एव विवक्षित इत्यत्र किं गुमकम्, इति विचारे ' तस्मिन् यदन्तः, स्तदन्वेष्टव्यम् ' इत्यन्तर्विद्यमानस्यान्वेयत्वप्रतिपादनमेव । द्वितीयदहरशब्दार्थ एव दहरे इति सप्तम्यन्तस्य विवक्षा-गुमकम् ॥

अत्र ' किं तदत्र विद्यते—विजिज्ञासितव्यम् ' इति प्रश्नस्य अन्वेष्टव्यं जिज्ञासितव्यशब्दघटनेन प्रतिवचनं पूर्वं नोक्तमिति, ' एष आत्माऽपहतपाप्मा ' इति वाक्य ' उत्तरेभ्य ' इत्यत्र विवक्षितमिति नवीनानामाशयः प्रतीयते । ' तदन्वेष्टव्य, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ' इत्यत्र विधि । मुक्तिपर्यन्तपलपरम्परया उत्तरत्र प्रतिपादनेन एतद्विद्याया-रसमाप्तिः समजनि ' अस्मिन् कामारसमाहिता, ' ' एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमुक्त्युः ' इत्युत्तरवाक्यम् । तत्र ' अस्मिन् ' इत्यत्र ' एष आत्मा ' इति वक्ष्यमाणः आत्मैव विवक्षितः । तत उत्तर ' तच्च इहात्मानमनुविद्य प्रजन्ति-इत्यत्र वेदनाभावे फलभावः, ' य इहात्मानमनुविद्य प्रजन्ति ' इत्यत्रात्मनः कामानोच वेदनस्य फलश्रुतम् । आमतद्वृत्ति-धर्मयोः समुच्चित्य ज्ञानस्य फलाभिधानेन विदि घातुप्रयोगेण ' तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ' इत्यत्र आमतद्वृत्तिधर्मोणां समुच्चित्य ज्ञानस्यैव विधिरिति स्पष्ट निर्मत्तराणां विदुषाम् ॥

॥ एष च ' य इहात्मानमनुविद्य—कामचारो भवति ' इति वाक्ये आमतद्वृत्तिधर्मोणां समुच्चित्य ज्ञानस्य फल निरूपणेन अत्रापि परमात्मतद्वृत्तिधर्मयोः समुच्चित्य वेदनमेष विवक्षितम् । ' अस्मिन् कामारसमाहिताः ' ' एष आत्मा ' इति वाक्ये अपहतपाप्मत्वादीनां कामनाविषयत्व घटत इति नवीनानामपि समतम् । अतः तत्र ' सत्यान्कामान् ' इत्यत्र एतत्कर्मवाक्यगतपित्रादेः न कामशब्दार्थं व परोक्षरीत्या (ब्र.वि) श्रुतम् । ' अस्मिन् कामारसमाहिताः ' ' एतान् सत्यान्कामान् ' इति वाक्ये ब्रह्मवृत्तिकामा एव विवक्षिता । ' एतस्य ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः ' इति धर्मिणि सत्यशब्दप्रयोगेण तद्वृत्तिधर्मोन्वेष्टव्यपहतपाप्मत्वादियु तद्वदेव सत्यशब्दप्रयोगेण च धर्मिण तद्वृत्तिधर्मोणां च सत्यात्वमेकरूपं वर्तते इति बोधितम् ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

समुच्चित्योपासनावार्त्तं 'उभे अस्मिन्त्यावापृथिरी' इत्यादिना पूर्वोक्ता पृथिव्यादय 'सयेदि पितृलोककामो भवति' इत्यादिना वक्ष्यमाणविप्रादयश्च विवक्षिता इति परोक्तिर्नादरणीया । पृथिव्यादीनां कामनाविषयत्वेनानुक्ते । केचिन्परमा मकामनोविषय यमप्रानुत्तमाप विप्रादिर्जीवकामनाविषयत्वमिति कल्पनमपि न श्रुतिवाक्यानुगुण्यम् 'एतांश्च' इत्यनेन परेषा विवक्षितार्थान्मासम्भवति । 'एतां कामान्' इति पदद्वयवैयर्थ्यमेव । सिद्धा तनु धर्मिवत् धर्माणा मपि कामनाविषय यर्त्तन इति धोषनाय कान्दशब्दप्रयोगः ) इत्य कामनाशब्दप्रयोगः तैत्तिरीयऽपि दृष्टेः । "सोऽश्रुते सर्वेन्द्रकामान्सह ब्रह्मण विवक्षितति" तत्र धर्मेषु कामनाभावं धर्मिणि कामना समनतीति धर्माणामव प्राप्ता य बोधः पितु 'सहे'ति ब्रह्मण अप्राप्त्यापनिर्देशः ॥

एवमानन्दमयब्रह्मविद्यायां 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति निर्देशऽपि गुणानामुक्तप्राप्ता यावैवक्ष्येयवति भाष्य एव व्यक्तम् । एतन् 'दहरोऽस्मिन्नन्तर' व्यमिति वाक्येऽपि उत्तरैतद्वाक्यानुशेषेन समुच्चित्योपासनविवक्षाया परेषा मपि समततया समुच्चित्योपासन विवक्षिते अन्तस्यपदार्थानामुपासनविधान गुणानामुक्तप्राप्ता यविवक्षैव मूलमिति सिद्धान्ते कामशब्देन सूचितं भवति । परमते तस्य वैयर्थ्यमव, अतः 'अस्मि कामारसमाहिता' 'एतांश्च सत्यां कामान्' इत्यु मयत्र कामशब्दानिर्देशेन 'अस्मि कामा' इति सप्तम्यन्तनिर्देशेन च सप्तम्य गुणानां प्राधान्यविवक्षयैव 'तास्मि यदन्त' इत्यन्तशब्दार्थप्रधाननिर्देशः । 'तास्मि यदन्तस्तदन्तरव्यम्' इति वाक्य तन्त्रशब्दस्य तद्वृत्ति विविदिष्टस्य अन्तरव्य तावोपनार्यं च समुच्चित्योपासन सिद्धान्त एवमि तापर्थेणोत्तरवाक्यानुसारण च माध्योक्तार्थ एव युक्तः ॥

'नवीनमतेऽपि 'य आ माऽपहतपाप्मा' इति वाक्यस्यात्तरवाक्यतया उपादाननात्र अपहतपाप्म वाटिगुणविशिष्टा पोसनस्यैवोक्तया 'तद्य इहा मानमनुविद्य प्रज त्यताश्च सत्या कामान्' इत्यत्र समुच्चित्योपासनस्य स्पष्टमुक्तया गुणविशिष्ट गुणुपासनमेव 'तस्मि यदन्त' इत्यत्र विवक्षितमिति वा यम् एवस्थित 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मि यदन्त' इत्यन्तशब्दस्य 'इति वाक्येन श्रुत्य तगानुशेषेन भूताकाशस्य परमापोपासनमव विवक्षितमित्याभ्यस्त्य अन्तरव्य इत्यन्तशब्दोपरमा मेनि निर्णयाऽपि निरवकाशः । समुच्चितापासनपूर्वक 'अस्मि कामारसमाहिता' इति वाक्य 'अस्मिन्' इति सप्तम्यन्तेन 'तस्मि यदन्त' इत्येतद्वाक्यार्थसमाप्त एवानापि वाक्यार्थ इति स्फुट प्रतीत्या तथा विवक्षाऽङ्गीकारे दाया मावात् । श्रुत्य तरादस्याश्रुत वैलक्षण्यमपि प्रतीयत 'अथ यदिदमस्मिन्नन्तर दहर पुण्डरीक व म' इत्यनेन 'गङ्गा प्रतीत्या राजा प्रतीयते । अतएव 'यथाऽनुशासनम्' इत्युत्तरत्र राजशासनकीर्तनमपि सूचितम् । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने' (वृ) इति श्रुत्य तरानुगुण च 'दहर पुण्डरीक व म' इति वेदमशब्दान्तरं राजगृहता पर्येण, एवमर्थस्य विव क्षितवेन नवीनोदाहृतश्रुत्य तरैकार्थे नैव विवक्षितमिति प्रतीयत इति भूताकाशस्य न 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाश' इत्यत्र विवक्षा । एतन् 'दहरे' इति पद-उदाऽपि न सूत्रकाराभिमत । तथा श्रुत्यभावात् प्रथमा ततयैव दहरशब्दस्य स वात् 'अल्पश्रुते' इति सूत्र 'अमर्कौकरवात्' इति सूत्रेण 'निचाय्य वात्' इत्युक्तार्थस्य विवक्षा नवीनान मपि समा । तत्र 'अमर्कौकरवात्' इत्यत्र आकर्श द गृहवाची । तत्र अमर्क आक अल्पपरिमाण इत्यकाऽप्य । 'अल्पौकरवात्' इत्यनेनैव तथाऽर्थसम्भव एव निर्देशयैयथा यथापुपपत्त्या अमर्कस्य यदाक तदव परमा मन आक इत्यर्थस्य सूत्र बोधोविवक्षित वेन शाण्डिल्यविद्यावाक्यवत् अत्रापि हृदयरूपाल्पपरिमाणदेशसम्भव यस्य एतन्म त्र परमा मात प्रातपादनैव जीवस्य हृदयसम्भवस्य श्रुतिपूतया तत्रैव परमा मनाऽपि हृदयसम्भवस्य प्रतिपादनस्या प इ सम्भव ता पदस्य हृदयस्य अन्तर्गत तदनुसायेवार्थः । एतेन आकाशशब्दार्थस्य परमा मव श्रुतौ विवक्षितमिति सिद्धम् ॥

## श्रीभाष्यम्

अतो दहराकाशोऽनाघ्राताविद्याद्यनेपदोपगन्धः स्वाभाविकनिरतिशयज्ञानवलैश्वर्यवीर्यशक्तिजः प्रभृत्यपरिमितोदारगुणसागरः पुरुषोत्तम एव । प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टस्तु ' घ्नन्ति त्वेयैर्न विच्छादयन्ति (छां.८.१०.२) इत्येवमादिभिरवर्गैतकर्मनिमित्तदेहपरिग्रहः पश्चात्परं ज्योतिरुपसम्पद्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वस्वरूप इति न दहराकाशः ॥

## सू-२१ अनुकृतेस्तस्य च (१.३.२१)

तस्य दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः, अनुकारात् अयमपहतपाप्मत्वादिगुणको विमुक्तबन्धः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः । तदनुकारः तत्साम्यम् । तथा हि प्रत्यगात्मनो विमुक्तस्य परब्रह्मानुकारश्चक्ष्यते ' यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परमं साम्यमुपैति ' [मु.३.१.३] इति । अतोऽनुकर्ता प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टः । अनुकार्यं ब्रह्म दहराकाशः ॥

## सू-२२ अपि स्मर्यते (१.३.२२)

संसारिणोऽपि मुक्तावस्थायां परमसाम्यापत्तिलक्षण परब्रह्मानुकारः स्मर्यते ' इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ' (गी.१३.२) इति । केचित् ' अनुकृतेस्तस्य च ' ' अपि स्मर्यते ' इति सूत्रद्वयमधिकरणान्तरं

## श्रुतप्रकाशिका

अन्यत्वं स्फुटयति अतोदहरेति । यद्वा इह वाक्यशेषसहकृतात्प वस्तुत्वेत्येव ' स्वाभाविकमित्यधिका शङ्का । सा हि शाब्दित्यविद्याया वाक्यशेषसहकृतात्प वस्तुत्वं प्रकरणरूपवाक्यशेषापेक्षयाऽपहतपाप्मत्वादिलिङ्ग प्रबलमित्यधिकः परिहारः, वस्तुसामर्थ्यं दर्शयति अनाघ्रातेत्यादिना । अत्र ज्ञानशक्त्यादयस्सत्यसङ्कल्पवफलिवाहुताः ॥

एवमुपक्रमोपसंहारनिर्वाहः प्रमाणान्तरेण परमात्मा मनोरपहतपाप्मत्वादीनां स्वाभाविक वा स्वाभाविकवैरिदे द्युपपद्यते अन्यथा ' अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम् ' इति न्यायादहरवाक्येऽपि मुक्तावस्थस्य गुणाष्टकान्वयो विवक्षितस्यादिति शङ्कायामाह—

## सू-अनुकृतेस्तस्य च (१.३.२१)

तथाभूतस्य तथाभावाभिनयशङ्काप्रतिक्षेपार्थमाह—तदनुकारस्तत्साम्यमिति । तददृष्टान्तिहानुकारो विवक्षितः तेन तन्मूलभूत गुणसाम्यमपि लक्षितं भवति । सोऽयं ' स्वच्छन्दवृत्तिरूपस्तदनुकारश्चक्ष्यते ' इत्युक्तं गुणसाम्योपलक्षणार्थम्—

## सू-२१ अपि स्मर्यते (१.३.२२)

' साम्यमुपैति ' इत्युक्ते केन धर्मिणा साम्यमित्यपेक्षापूर्णा ' मम साधर्म्यमागता, ' इति वचनमुपाश्रित्य, परेऽनुक्तमधिकरणभेदमनूय दूषयति केचिदित्यादिना । भारूपवधवणात् प्राकृतज्योतिरुच्छान्निवृत्त्यर्थमधिकरणसाम्ये

श्रीभाष्यम्

‘ तमेव भान्तमनुमाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभोति ’ (मुं १.२.१०) इत्यस्याश्रुतेः परब्रह्मपरत्वनिर्णयाय प्रवृत्तं वदन्ति । तत्तु ‘ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ’ (शारी.१.१. २२) ‘ शुभ्याद्यायतनं स्वशब्दात् ’ (१.३.१) इत्यधिकरणद्वयेन तस्य प्रकरणस्य परब्रह्मविषय-  
त्वात्प्रतिपादनात् ‘ ज्योतिश्चरणाभिधानात् ’ (१.६.२५) इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणो भारूप-  
त्वावगतेश्च पूर्वपक्षानुत्थानादयुक्तम्, सूत्राक्षरैरूप्यं च ॥

इति दहराधिकरणम्

श्रुतिप्रकाशिनः

युक्त इत्यत्राह-ज्योतिश्चरणाभिधानादित्याष्विति । एकप्रकरणस्थानेकाधिकरणनिरूप्य व ह्यधिकारद्वयात् सत्यमुचितं  
अत्र तदभावादयुक्तमन्यभिप्रायः । ह वन्तरमाह-सूत्राक्षरेति । अनुकृतिरनुमानमिति हि परैरुक्तम् तदयुक्तम्, करोतिभ्यो  
रेकार्थं नामावात् ‘ तस्य च ’ इति श्रुतिप्रतीकोपादानमिदं युक्तम् तदयुक्तम् ‘ यदेव विद्येय ’ इतिवदितिकरणाभावात्  
तस्यानुकृतेरित्यन्वये स्वारासिबेऽपि तदग्रहणेनार्थवर्णनं च क्लिष्टम् । यादवप्रकाशयेतु ‘ अनुकृति अनुशब्दस्य करणम्  
इत्युक्तम् तदयुक्तं, यथा ‘ स्व रूप शब्दस्याशब्दसङ्गा ’ इति परिभाषासिद्ध व्याकरणे शब्दस्वरूपोपाद न एवमस्म  
-च्छब्दे परिभाषाया अभावाच्छब्दस्वरूपविवक्षायामिति करणस्य दर्शितं वाच्यं ‘ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ’ ‘ आकाशस्तस्मि  
न्नात् ’ इत्यादिभिर्वच प्रतिपाद्यमाणमात्रं च शब्दवैयर्थ्यं चेति दूषणद्वयं सर्वसाधारणमभिप्रेतम् ॥

दहराकाशो भूताकाशः तदन्तर्वर्ती जीव इति पूर्वपक्ष कृत्वा दहराकाशं परमाकाशं, तदन्तर्वर्ती परमात्मैति  
सिद्धान्तितम् । तत्र तावत्पूर्वपक्षस्थितिरनुपपत्ता, भूताकाशान्तर्वर्ति वस्य जीवासाधारण वाभावात् ‘ यस्य वायुशरीरम् ’  
‘ य आकाशे तिष्ठन् ’ ‘ यस्याकाशशरीरम् ’ इत्यन्तर्यामिब्राह्मण भूताकाशान्तर्वर्तिन परमात्मनिश्चयात् सिद्धान्ते च  
‘ किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम् यद्वायु विजिज्ञासितव्यम् ’ इति प्रश्नस्य प्रतिवचनसामञ्जस्य न भवति । नता-  
वत् ‘ उभे अस्मिन्वावापृथिवी ’ इत्यादिवाक्योक्त्यावापृथिव्यादिकं तदन्तर्वर्तीति प्रतिवचनं युक्तम्, तस्य विजि-  
ज्ञास्यत्वाभावात् न ह्यन्तर्वर्तिमात्रविषय प्रश्नः, किंतु उपास्यभूता तदन्तर्वर्तिविषय ‘ अस्मिन्कामारसमाहिता ’ इति च  
नोत्तरम्, अस्मिन्नितिपदं तावत् प्रकृतब्रह्मपुरविषयम् ‘ एतत्सत्य ब्रह्मपुरमस्मिन्कामारसमाहिता. ’ इति हि श्रूयते,  
परमाकाश एव ब्रह्मण पुर शरीरस्य ब्रह्मपूरत्व तत्सम्बन्धादौपचारिकमिति पृथीतं पुनश्च वदन्निब्रह्मपुरशब्दो दहराकाश-  
सदृशपरमाकाश पर इति व्याख्यात तदन्तर्वर्तीति परमाकाशनिर्देशस्तथा ॥

एव च सति कामशब्दः किं परमात्मपरः, उत तद्गुणपरः, उत धावापृथिव्यादिपरः न प्रथमं अनुवचनान्तत्वात्,  
‘ आत्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येताश्च सत्यान्कामान् ’ इति भेदनिर्देशाच्च । न द्वितीयः परमात्मगुणाधारतया प्रतीयमा-  
नस्य पुरमात्मवापत्तौ, अस्मदीयपक्षपरिग्रहस्यात् नहि परमात्मगुणानां धर्मो परमाकाशः । न तृतीयः, उपास्यरूपतदन्तर्व-  
र्तिप्रभस्योत्तरत्वायोगात् अन्तर्वर्तिप्रभस्योत्तर ‘ एष आत्मा ’ इति वाक्यमिति चेन्न एकवचनान्तस्यैतच्छब्दस्य ब्रह्मपुर-  
विषयत्वेन तदन्तर्वर्तिविषयत्वायोगात् । परमाकाशशरीरः परमात्मैवेतच्छब्देन परं सूच्यत इति चेत् । तदप्ययुक्तम् परमा-  
काशान्तर्वर्तिविषयप्रश्नप्रतिवचनस्य परमाकाशविशिष्टविषय वायोगात्, नहि ग्रहविशिष्टस्य ग्रहमधिकरणम् । एष इतिपदं  
न प्रकृतविषय किंतु बुद्धिस्थानविषयमिति चेत् प्रकृतपरामर्शं वस्वारस्यभङ्गः । सच प्रकृतपरामर्शं वसम्भवेऽनुपपन्नः, ‘ किं



## श्रुतप्रकाशिका

तदत्र ' इति वैयधिकरण्येन प्रश्नस्य ' एषआत्मा, परमाकाशशरीरक आत्मा,' इति सामानाधिकरण्येनोत्तरम् ततश्च तदन्तर्वर्तित्वं फलितमिति चेन्न वैयधिकरण्येन, प्रश्नस्य वैयधिकरण्येन प्रतिवचने सम्भवति, सामानाधिकरण्येन प्रतिवचन- कल्पनायोगात् । अत्र सम्भवेहि तथा निर्वाह उपपद्यते, न केवलं परमाकाशशरीरस्य हृदयान्तर्वर्ति व एतत्प्रकरणपर्यालोचन विरुद्धम् सत्त्वादप्रमाणान्तराभावविध्वस्त च ' यो वेद निहितम् ' इति वाक्यमन्यथा सिद्धम् । ॥ १ ॥ परमे व्योमन् सो ऽश्रुते ' इत्यन्वयसम्भवात् शाण्डिल्यविद्याया च ' आकाशात्मा ' ' एषम आत्माऽन्तर्हृदये ' इत्यादिवाक्यैराका- शवत्सूक्ष्मस्वच्छव्यापिस्वरूपस्य हृदि वर्तमानत्वमुच्यते इत्यन्यथा सिद्धम्, अतोऽनुपपन्नमिदम् ॥

इति दहराधिकरणम्

अथ दहराधिकरणम् ।।

गूढार्थसङ्ग्रह

‘दहर उत्तरेभ्यः’ सङ्गतिः श्रुतप्रकाशिकायामेवोक्ता । अत्र दहर उत्तरेभ्य इति पद-छेदः सिद्धात्ते परमते  
च समतः । दहर उत्तरेभ्य इति नवीनानां पद-छेदः, न व्यभते, दहरे भूताकाशे विद्यमानः परमा मा इति, तस्मिन्-  
दन्तः इत्यत्र अन्तदश-दार्थं परमा मा । अत्र दहरे इति विग्रहकरणमात्रेण श्रुतौ द्विवारं प्रयुक्तयोर्दहरशब्दयोर्मध्ये  
प्रथमदहरशब्दार्थं न विवक्षितः, द्वितीयदहरशब्दार्थं एव विवक्षित इत्यत्र किं गमकम्, इति विचारे ‘तस्मिन् यदु-  
क्तदन्वेष्टव्यम्’ इत्यन्तर्विद्यमानस्यान्वेष्टव्यप्रतिपादनमेव । द्वितीयदहरशब्दार्थं एव दहरे इति सूत्रस्य-तस्य विवक्षा-  
गमकम् ॥

अत्र किं तदत्र विद्यत—विजिज्ञासितव्यम्' इति प्रश्नस्य अदृष्टव्यं जिज्ञासितव्यशब्दघटनेन प्रतिषेधेन पूर्व नोक्तमिति, 'एष आत्माऽपहृतपाप्मा' इति वाक्य 'उत्तरेभ्य' इत्यत्र विवक्षितमिति नवीनानामाशयं प्रतीयते । 'तदन्वेष्य, तद्वाप विजिज्ञासितव्यम्' इत्यत्र विधिः । मुक्तिपर्यंतपरम्पराया उत्तरत्र प्रतिपादनेन एतादृशाया- रसमाप्तिं समजनि 'अस्मिन्कामारसमाहिता' 'एष आत्माऽपहृतपाप्मा विजरो विमृशु' इत्युत्तरवाक्यम् । तत्र 'अस्मिन्' इत्यत्र 'एष आत्मा' इति वक्ष्यमाण आत्माव विवक्षितः । तत उत्तर 'तद्य इहा मानमनुविद्य ब्रजन्ति' इत्यत्र वेदनाभावे फलाभावे 'य इहा मानमनुविद्य ब्रजन्ति' इत्यत्रामन कामानां च वेदनेन फलमुक्तम् । आमतद्वृत्ति- धर्मयोः समुच्चित्य ज्ञानस्य फलाभिधानेन विदि धातुप्रयोगेण 'तस्मिन् यदन्तस्तद वेष्टव्यम्, तद्वाप विजिज्ञासितव्यम्' इत्यत्र आमतद्वृत्तिधर्माणा समुच्चित्य ज्ञानस्यैव विधिरिति स्पष्टं निर्म सराणां विदुषाम् ॥

१) एष च 'य इहाप्मानमनुविद्य—कामचारो भवति' इति वाक्ये वा मतदृष्टिधर्माणां समुच्चित्य ज्ञानस्य फल निरूपणेन अत्रापि परमा मतदृष्टिधर्मयो समुच्चित्य वेदनमेव विवक्षितम् । 'अस्मिन्कामिस्समाहितो' 'एष आ मा' इति वाक्ये अपहतपाप्मत्वादीनां कामनायिपयत्वं वर्तत इति नवीनानामपि मतम् । अत एव 'सत्या-कामान्' इत्यत्र एतत्कलेवाक्यगतपित्रादेः न कामशब्दार्थं न परोक्षरीत्या (न वि) लुप्तम् । अस्मिन् कामास्समाहिता । 'एताश्च सत्या-कामान्' इति वाक्यं ब्रह्मदृष्टिकामाएव विवक्षिता । 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामा' इति धर्मिणि सत्यशब्दप्रयोगेण तद्वर्तधर्मोऽप्यपहतपाप्मत्वादियु तद्वदेव सत्यशब्दप्रयोगेण च धर्मिण तद्वृत्तिधर्माणां च सत्यत्वमेव रूपं वर्तत इति बोधितम् ॥

## गुणार्थसंग्रहः ।

समुच्चित्तोपासनावार्यम् । 'उभे' अस्मिन्वावापृथिव्या । 'इत्यादिना पूर्वोक्ताः पृथिव्यादयः' । 'संवेदि' पितृलोककामो भवति । 'इत्यादिना संश्रयमाणेविश्रादयश्च विवक्षिता' इति परोक्तिर्नादरणीया । 'पृथिव्यादीनां कामेनाविषयत्वेनानुचेः' । 'केषांविश्रामात्मकामेनाविषयत्वमश्रानुक्तमपि विश्रादिजीवकामनाविषयत्वेमिति कल्पनमपि न श्रुतिवाक्यानुसृत्यम्' । 'एतां' इत्यनेनैव परेषां विवक्षितार्थेऽप्यसंभवति । 'एतान् कामान्' इति पदद्वयवैयर्थ्यमेव । सिद्धान्ते तु धर्मिवत् धर्माणां मपि कामेनाविषयत्वं वर्तते इति बोधनेयं कामशब्दप्रयोगः । इयं कामनाशब्दप्रयोगः तैत्तिरीयेऽपि वर्तते । 'सोऽक्षुते सर्वान्धमानसह ब्रह्मणो विप्रश्निति' । 'तत्र धर्मेषु कामनाभावे धर्मिणि कामना' संभवतीति धर्माणांमिव प्राधान्यं बोधायितुं 'सह' इति ब्रह्मणः अप्राधान्यनिर्देशः ॥

एवमानन्दमयब्रह्मविद्यायां 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति निर्देशेऽपि गुणानामुक्तप्राधान्याविवक्षयति । 'अर्थे' एव व्यक्तम् । एतेन 'दहरोऽस्मिन्नन्तर... इत्यमिति' वाक्येऽपि उत्तरेतद्वाक्यानुरोधेन समुच्चित्तोपासनविवक्षायाः परेरीः मरि समततया समुच्चित्तोपासने विवक्षिते अन्तस्त्वपदायानामुपासनविधाने गुणानामुक्तप्राधान्यविवक्षैव मूलमिति सिद्धान्ते कामशब्देन सूचितं भवति । परमते तस्य वैयर्थ्यमेव, अतः 'अस्मिन्कामासमाहिताः' । 'एतां सत्यान्कामान्' इति मयत्र कामशब्दानिर्देशेन 'अस्मिन्कामाः' इति सप्तम्यन्तनिर्देशेन च सप्तम्येऽगुणानां प्राधान्यविवक्षयैव 'तस्मिन्त्यदन्त' इत्यन्तश्चन्द्रार्थप्रधानकनिर्देशः । 'तस्मिन्त्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इति वाक्ये तच्छब्दस्य तद्वृत्तिविवक्षितत्वात् 'अन्वेष्टव्यं' तावोपनार्यये समुच्चित्तोपासनं सिद्धान्त एवेति तात्पर्येणोत्तरवाक्यानुसारेण च माध्योक्तार्थ एव युक्तः ॥

'नवीनमतेऽपि' 'य आत्मोऽपहृतपांमा' इति वाक्यस्यान्तरवाक्यतया उपादानेनात्र अपहृतपाप्मत्वादिसुगुणविशिष्टोपासनस्यैवोक्त्या । 'तय' इहात्मानमनुविद्य प्रजन्त्येतां सत्यान्कामान्' इत्यत्र समुच्चित्तोपासनस्य स्पष्टमुक्त्या गुणविशिष्टोपासनेष्वप्युपासनमेव 'तस्मिन्त्यदन्तः' इत्यत्र विवक्षितमिति वाच्यम् ; एवंस्थिते 'दहरोऽस्मिन्नन्तर' आकाशस्तीति निर्देशः । 'सुदन्वेष्टव्यम्' इति वाक्येन श्रुत्यन्तरानुरोधेन भूताकाशस्य परमात्मोपासनमेव विवक्षितमित्यादिप्रत्यक्षेण 'अन्वेष्टव्यं' परमात्मैति निर्णयोऽपि निरवकाशः । समुच्चित्तोपासनपूर्वकं 'आस्मिन्कामासमाहिताः' इति वाक्ये 'आस्मिन्' इति सप्तम्यन्तेन 'तस्मिन्त्यदन्तः' इत्येतद्वाक्यार्थसमान एवात्रापि वाक्यार्थ इति स्फुट प्रतीत्या तथा 'विवक्षाऽङ्गीकारं दाया' भावात् । श्रुत्यन्तरादस्याश्रुतेः वेलक्षण्यमपि प्रतीयते । 'अथ यदिदमस्मिन्नन्तरपुरे दहरे पुण्डरीकं वेदम्' इत्यनेन नगर-प्रतीत्या राजा प्रतीयते । अतएव 'यथोऽनुशासनम्' इत्युत्तरत्र राजशासनकीर्तनेमपि संज्ञितम् । 'एतस्य या अक्षस्य मशासने' (वृ) इति श्रुत्यन्तरानुगुणं च । 'दहरे पुण्डरीकं वेदम्' इति वेदमशब्दानिर्देशः राजगृहतापयेण, एवमयस्याविवक्षितत्वेन नवीनोद्बुद्धश्रुत्यन्तरेकाग्र्ये नैव विवक्षितमिति प्रतीयते इति भूताकाशस्य न 'दहरोऽस्मिन्नन्तर' आकाशः इत्यत्र विवक्षा । एतेन 'दहरे' इति पदच्छेदेऽपि न सूत्रकाराभिमतः । तथा श्रुत्यभावात् प्रथमान्ततयैव दहरशब्दस्य सत्वात् 'अल्पश्रुतेः' इति सूत्रे 'अर्भकौकस्वात्' इति सूत्रेच निचाय्यत्वात् । इत्युक्तार्थस्य विवक्षा नवीनानामपि समता । तत्र 'अर्भकौकस्वात्' इत्यत्र ओकशब्दः गृहवाची । तत्र अर्भकः ओकः अल्पपरिमाणः इत्येकोऽर्थः । 'अल्पोकस्वात्' इत्यनेनैव तथाऽर्थसम्भवे एव निर्देशनैवस्यान्यथापुपत्त्या । अर्भकस्य यदोक्तः तदेव परमात्मन ओकः इत्यस्य सूत्र-कृतोविवक्षितत्वेन शाण्डिल्यविद्याविवक्षयत् अत्रापि हृदयरूपाल्पपरिमाणदेशसम्बन्धस्य एतन्मन्त्रे परमात्मनि प्रतिपादनेन जीवस्य हृदयसम्बन्धस्य श्रुतिपूतया तत्रैव परमात्मनोऽपि हृदयसम्बन्धस्य प्रतिपादनस्यापि इत्येव तात्पर्यमवबोधम् । अतएव तदनुवायेवार्थः । एतेन आकाशशब्दार्थस्य परमात्मत्वे श्रुतौ विवक्षितमिति सिद्धम् ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

तत्र सर्वप्रसिद्धयधिकरणे [ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ] इति सूत्रे गुणानामभिधानेऽपि अपहृतपाप्मत्वादियु-  
 णानां प्राधान्येन विवक्षा सूत्रकृदभिप्रेत इति सिद्धयति । एतेन राजकुमारनयस्य द्रमिडाचार्यसंमतस्य श्रुतिसूत्रतापर्यविषयस्य  
 सिद्धा । अतएव अपहृतपाप्मत्वादियुणानां जीवेऽपि संभवः जीवस्य ज्ञानानन्दाद्याविर्भावश्चात्र नश्यमाणः राजकुमार-  
 न्यायमुपोद्बल्यति । तदेतत्सर्वमभिसन्धायैव 'उत्तरेभ्यः' इति बहुवचननिर्देशः । एतमेव सर्वमभिप्रेत्याचार्यपादैः 'दहर-  
 कुहरे देवास्तिष्ठन् निषद्वरदीर्घिका निपतितनिजापत्यादिः सावतीर्णपितृकमात् । धमनिमिह नस्तस्मिन्काले स एव शताधिकः ।  
 मकृतकपुरप्रस्थानार्थं प्रवेशयति प्रभुः ॥' इत्यनुगृहीतम् । 'दहरविद्यायां' 'शतं चैका' च 'इति श्रुतीः मूर्धन्यनाड्या  
 गमनं वक्ष्यते । 'हार्दानुगृहीतशताधिकया' इति सूत्रम् । अत्र 'यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरेऽमुण्डरीकं वेदम  
 दहरेऽस्मिन्नन्तर आकाशः' इति सर्वज्ञतद्दयवर्तित्वमेव प्रतिपादयति । तेन 'सर्वभूताधिवासं मां... सर्वा-  
 नुमाहकत्वेन' इति श्रुत्युक्तार्थः अत्रापि विवक्षित इति प्रतीयते । भूतेषु वासस्य सर्वानुमाहकत्वोक्त्या एतच्छ्रुत्यनुसारेणैव  
 'हार्दानुगृहीत' इति सूत्रकृदुक्तिश्च । ईक्षतिकर्माधिकरणे ध्यानस्य यत्फलं तदपि सर्वेषां सममेव, ननु तत्रतममावापनं,  
 नापि क्रममुक्तिफलकमित्यपि सिद्धयति । एवं 'ससामभिः... ब्रह्मलोकम्' इत्यत्र ब्रह्मलोकोऽपि न चतुर्मुखलोकः प्राप्यब्र-  
 ह्मणि पुरुषशब्दप्रयोगात् 'एष सप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परयोतिरुपसंघ' इत्यादौ 'उत्तमः पुरुषः' इत्यत्र  
 उत्तमपुरुषशब्दप्रयोगेण 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इत्युक्तान्तिपूर्वकगमानस्याभिधानेन 'जहन्तीदृक्' इति क्रिया  
 प्रतिपादनेन च प्राप्यब्रह्मलोकः परब्रह्मलोक एव नापरब्रह्मलोक इति निश्चयसम्भवात् ॥  
 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति स्वरूपाविर्भावस्य ज्ञानानन्दादिसाम्यपर्यवसिताया सिद्धान्तविषयमागतया  
 भूमाविद्यायां 'सर्वेह पश्यः पश्यति इत्युपक्रमदर्शनं मुक्तिफलकमेव । प्रश्नोपनिषदापि 'सर्वेशः' इति श्रुतस्य  
 सर्वशब्दं द्वेधा प्रतिपाद्यत इति ईक्षतिकर्माधिकरणे सोऽर्थो विवक्षितः । 'परापरं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इत्यत्र सर्वेश-  
 रीरि पुरुषेक्षणं सर्वेक्षणमन्तरा न घटन इति तत्रापि सर्वसाक्षात्कारो विवक्षितः ॥  
 एतेन शुभ्वाद्यधिकरणे परमसाम्यश्रुतेः सर्वविषयज्ञानानन्दवत्त्वेन साम्यपरत्वमधिकरणचतुष्टये विषयदायकश्रुतिः  
 पर्यालोचनायां निर्मसैरेवश्यमङ्गीकरणीयमिति सिद्धम् । ततश्च दहरविद्यासगुणविद्या भूमविद्या निर्गुणविद्येति तेषां  
 कल्पना निरवकाशा ॥

'गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च' 'य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सर्वान्कामान् तेषां सर्वेषु लोके-  
 ष्वकामचारो भवति' 'य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्काम् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यत्र धर्म-  
 धर्म्यभयवेदनतदभावयोः फलभेदः प्रतिपादितः । तत्रोभयवेदनस्य ध्यानपर्यवसितस्य मुक्तिः फलमिति पूर्वमभिहितम् । अत्र  
 वेदनस्य संभावनासत्त्वेऽपि वेदनप्रतिषेधकसद्भावात् वेदनं न सुलभमिति मनसि निधाय वेदनस्य संभावितवभावयोक्त-  
 हेतुनाऽपि परमात्मपरत्वं दहराकाशस्य सिद्धयतीत्याह—गतिशब्दाभ्यामिति ॥

'एवमेवेमांस्सर्वाः प्रजाः—अनुतेनाह प्रयूढाः' इति श्रुतिः । 'त इमे सत्याः कामाः' इति तत्रैव श्रुतिः । इदं  
 च श्रुतिद्वयं धर्मिणां धर्माणां च कर्मणा प्रतिबन्धके ज्ञानाभावपरम् । 'सर्वाः प्रजा अहरहं गच्छन्त्यः' इति वेदनस्य संभा-  
 वित्वप्रदर्शनपरम् । गमनं च नाडीपूर्वकपुरीतदेशगमनकालिकम् । 'तामिः प्रत्यक्स्य पुरीततिष्ठते' इत्यस्य 'तद-  
 भावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' इत्युपपादयिष्यमाणत्वात् । 'ब्रह्मलोकम्' इत्यत्र लोकशब्दः 'लोकदर्शने' इति  
 भावना निष्पन्नः साक्षात्कारयोग्यपरः । योग्यता च सुषुप्ती इन्द्रियाणां विषयान्तर्गतसङ्केतव इन्द्रियाणां विषयान्तर्गतसङ्केत-  
 नाभावमात्र न ब्रह्मसाक्षात्कारसाधकं भवति, कर्मरूपप्रतिषेधकसद्भावात् कर्म च भगवन्निग्रहरूपम् भगवत्साधनानुरोधे



गूढार्थसमष्टिः

नैव वनंत एव भगवदनुग्रह इति पूर्वे • यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशति यथाऽनुशासनम्’ (छां ८.६.५) इदमुक्तम्, शासनानुशक्तिश्च धर्मधर्म्यविषययेदनसत्त्वएवेति भगवन्निग्रहरूपकर्मसद्भावेनैव साक्षा कारमाव । एवमर्थविरोधस्यापि उक्तौ । ‘एष सप्रसादाऽस्माच्छरीरा समुत्थाय परज्योतिरुपसपद्य स्वप्न रूपणाभिनिष्पद्यते’ इति कर्मसम्बन्धिनिर्मुक्तस्य अप्राकृतदेशविशेष दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टसम्पत्तिकाले वक्ष्यमाणस्य साक्षा कारस्यच वैलक्षण्य प्रतिपादितं भवति एतेन सुषुप्तिकालिकगुप्तेनस्य मुक्तिकालिकगमनस्य च विशयः श्रुतौ प्रातर्पादिता भवति । तेन यथा सुषुप्तिकाले परमामगमने तु स्वाभावमात्रम्, शान्तानन्तरकालिकगमनकाले स्विस्सुप्तसाक्षा कारोऽपि । एवमन्वाद्यन श्रुतौ लोकशब्देन प्रतीयते श्रुतिः ब्रह्मलोकशब्द ब्रह्मशब्दपर्यवसित इत्युभय ‘गतिशब्दस्याम्’ इत्यत्र विवक्षितम् । ‘तथ ही’ति पद पूर्वोक्तार्थोपपादकएवोत्तरम् य इति बोधकम् । अतएव ‘दृष्टं लिङ्गं च’ इति गतिशब्दरूपार्थद्वयमेवाभिप्रेति । ‘दृष्टं’मिति पदोपादानत्वं श्रुत्यन्तरोक्तवतात्पर्येण दाशघातो श्रुत्यन्तरबोधता पर्येण सूत्रे प्रयोगात् । श्रुत्यन्तेर ‘सता सोभ्य तदा सपञ्चो मुवृति’ इति ब्रह्मगमनस्यैव प्रतिपादनेन ‘अहरहर्गच्छत्य एत ब्रह्मलोकम्’ इत्यत्रापि ब्रह्मगमनमव विवक्षितम् । न ब्रह्माधिकरणदेशगमनम् । ‘लिङ्गं च’ गमन शब्दश्च युभयमपि दहरस्य परमा म वे लिङ्गं च भवतीत्यर्थः ॥

१. ‘धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे’ सूत्र अस्य युक्तेरेवमाशयः । अस्य पूर्वमक्षरवाक्ये प्रतिपक्षस्य परमात्मनोऽपि धृति महिम्नरूपा तस्यास्मिन्नुपलब्धिरित्यर्थः । एतेन अक्षरवाक्यविषयभूत दहरवाक्यविषयभूत वैकल्ये च एकत्र सगुणरूपमन्यत्र निर्गुणरूपं च नास्तीति सूच्यते । ‘धृतेश्च’ इत्यनभिधाय ‘धृतेश्च महिम्नः’ इत्यभिधानेन धृतिरूपम् हिमा तदतिरिक्तमहिमा च इति स्वशब्देन समुच्चीयत धृतिः शासनाधीना अधराधिकरणे निर्णीता । एव च स्वभावमक कवया बहन्निर्काल तथाऽय परिमुह्यमाना । दवस्यैव महिमा तु लोक यनद आभ्यते ब्रह्मचक्रम्’ इति श्रुत्युक्तार्थप्रकाशनेन सृष्ट वक्ष्यमाणसूत्रात्प्रयाजनव्यतिरेकेण स्वभावरूपं च न श्रुतौ विवक्षितमित्यर्थोऽपि सूचिता भवति । अयमिदमात्मा सत्तेष्विष्टुति’ इत्यत्र धारण प्रतिपाद्यत । लोकासम्भेदकर धारण ‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन’ इत्यक्षरविशया धारण तदातिरिक्तमहिमाचेति महिमद्वय प्रतिपादितं भवति । एव बृहदारण्यक पृष्ट ‘एष भूताधिपतिरेषेत्तु’ तदातिरिक्तमहिमद्वय प्रतिपादितम् । अत्र महिमशब्दप्रयोगण वाक्यत्रयेऽपि महिमवान् राजा प्रतिपादित इति पिरब्रह्मणः राज्ञोऽपि प्रतिपादितम् ॥

२. एष सूत्रे दहरशब्दवाच्यं च परमा मनस्साक्षितम् । अय जीवस्यापि तत्र प्रकरण प्रतिपादनं कृतो न भवतीति शङ्कायामाहन्त इत्येत्यादि । सः इतरएव इतरपरामर्शादिति चेन्न असम्भवात् अपहृतपाप्मवयोग्य वेऽपि जीवस्य अपहृतपाप्मत्वादिक न समवतीत्यत्र जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थावत जीवस्य कर्मपरवशं च न अपहृतपाप्म वाचकसम्भव पूर्वमुक्तः, अत्र ‘दहर उत्तरम्यः’ इति प्रथमसूत्रम् । एतेन दहरविद्यावाक्यमव विषय इति स्पष्टं बाधितं भवति । ‘इतरपरमर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्’ इति सूत्रे ‘एष सप्रसादाऽस्माच्छरीरा समुत्थाय परज्योतिरुपसपद्य स्वप्न रूपणाभि निष्पद्यते’ इति वाक्य विषय इति सर्वैरभ्युपगतम् । एवमभ्युपगम दहरविद्यावाक्यार्थपूर्तिरिदानीमव सम्भजनीयात सर्वैरभ्युपगतं भवति ॥

एतदनन्तरम् ‘उत्तराच्चेदाविभूतस्वरूपस्तु’ इति सूत्र उत्तरशब्दन कस्योपादानमिति च तनीयम् । तत्र सूत्रक्रमपर्यालोचनायां दहरवाक्यात्तरवाक्यामित्येव प्रतीयत, तत्र प्रजापतिविद्यावाक्यमेव भवतीति ‘उत्तरात्’ प्रजापतिवाक्यात् इदमुक्तम् ‘एषम आ मा’ इति वाक्य एवान्ते ‘इतिह प्रजापतिश्चाप’ इति खलूपक्रम इति सूत्रस्वारस्य सिद्धांते ।



## गूढार्थसंग्रहः

परमते प्रजापतिविद्यायामुत्तरम् 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति वाक्यस्य विषयत्वे जीवब्रह्मणोरभेद-  
स्यैव प्रतिषिद्धादिति तत्त्वेन 'तदर्थस्य सूत्रे अकथनं कुतः' । तत्र बीजं किं ? प्राथमिकवाक्यपरित्यागे वा किं बीजम् ?  
'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति सिद्धान्तं युक्तिप्रदर्शनमपि जीवब्रह्मणोरभेदेन स्वरूपम् ॥

नव्यमते 'जज्ञः क्रीडन्ममाणः' इति वाक्यस्य विषयत्वकल्पनं न सूत्रकाराशयानुगुणम् । 'दहरविद्यावानयोत्तर-  
वाक्यसामान्यत्यागस्य' निर्वाजत्वात् । जज्ञणादिसूत्रकपदामावाशः । जज्ञणादेः जीवमहिमरूपेणामावाशः । एतेन नव्यमते  
असंभवनिराकरणं न संभवति । सिद्धान्ते तु अपहृतपाप्मत्वादिसं- साध्याप्रतिषिद्धवाक्यसम्भवात् असंभवनिराकरणम् ।  
आत्मसुन्दरस्य परमात्मनि प्रसिद्धया परमात्मपरमिदं वाक्यमिति नवीनानामाशयः । एवमेङ्गीकोर 'अथ यो वेदेदं  
जिघ्राणीति संआत्मा गन्धाय प्राणम्' इत्यादीनां बहूनां वाक्यानां गौणार्थकल्पनाप्रसङ्गात् । सूत्रकृतोऽपि नायमर्थस-  
म्मतः । 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इत्यत्र 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति संआत्मा' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वाच्च । नवीनैरप्यपेक्ष-  
तपाप्मत्वादयः मुक्तजीवोऽप्यङ्गीक्रियन्ते । एवं 'अनुकृतेस्तस्य च' इति सूत्रकृत् नवीनाभिमतार्थः परामिमतायैव  
नैव संमतः । छान्दोग्यवाक्यायनिर्धारणाप- यसंभवे तत्परित्यज्य पृथगधिकरणविषयवाक्यकल्पनायाः अन्याय्यत्वात् ।  
सूत्रस्वरूपविरोधाच्च । तमेव मान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतिर्मतद्वयेऽपि विषयतयोपपत्ता । अत्र यदि विषयवाक्यत्वं  
सूत्रकृतमभिमतमविष्यत् तदा 'अनुमानात्तस्य च' इत्येव सूत्रमकरिष्यत् । अनुकृतिः अनुकार इत्यादयः सहस्रधर्म-  
वद्वेषकोऽद्यन्दाः । 'दहरविद्यायां परमात्मनि अपहृतपाप्मत्वादिप्रमाणमिधायः' परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्प-  
द्यते' इति मुक्तस्यापि तद्वर्माविर्भावकथनेन 'य आत्माऽपहृतपाप्मा' इत्यादिना तानेव धर्मान्विशिष्यामिधाय जाग्रत्स्वप्न-  
सुषुप्तयवस्थानिरूपणानन्तरं जीवस्वरूपनिर्धारणपूर्वकः । एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्ममुखाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य 'स्वेन  
रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इत्याद्यभिधानात् (नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्यावरजज्जन्मम् । ऋते तमेकं पुण्यं वासु-  
देवं सनातनम्' । 'भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि । निरुपाधी च वर्तते वासुदेवे सनातने' इति स्मृतिद्वयेन  
क्ष) । एवमेभिधानेन पूर्वपरमात्मगतत्वेनोक्तानां हि जीवोऽङ्गीकारसंभवति । स्वगतधर्मसम्बन्धः परमात्मसम्बन्धः पूर्व  
दहरवाक्यैरेवं सिद्धः । 'स उत्तमः पुरुषः' इति वाक्यतुः 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः' इति प्रागुक्तं दहराकाशभेदो-  
घनार्थः प्राप्यस्य परत्वोक्त्या अनन्तरं तस्यैव उत्तमशब्देन निर्देशोचित्यात् । अविशेषण सर्वद्वयान्तर्वर्तित्वस्य प्रति-  
पादने पुरुषशब्दार्थस्यापि प्रतिपादनप्रायत्वात् । पुरुषशब्दार्थो वासुदेवः । 'यद्भूतेषु वसत्यपि सर्वानुग्राहकत्वेन' इति  
ब्रह्मविन्दुरोषेन 'नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्यावरजज्जन्मम्' । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम्' । 'भगवानिति शब्दो-  
ऽयं तथा पुरुष इत्यपि । निरुपाधी च वर्तते वासुदेवे सनातने' इति स्मृतिद्वयेन च सर्वद्वयपुण्डरीके स्थितेर्निष्पद्येन  
राजकुमारनयेन राजपुत्राणामन्तरेण भूतानां राजसमानभोगवत्, अत्राप्यपहृतपाप्मत्वादिशानानन्दाद्यनन्तसर्वगुणसाम्यं  
संभवतीत्याशयः सूत्रकृतुरिति निर्मलसराणां स्फुटम् । इममर्थं गीताचार्योऽभिप्रेतीति सचयति-अपिस्मर्यत इति ॥

इति दहराधिकरणम्

अथ वेदान्तसारः

सू-१३ दहर उत्तरेभ्यः [१.३.१३]

‘अथ यदिदमस्मिन्नक्षपुः दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः तस्मिन् यद-तस्तद-वेष्टव्यं . स्रद्धाव विनिश्चितव्यम्’ इत्यत्र दहराकाशशब्दनिर्दिष्टः परमात्मा, उत्तरेभ्यः वाक्वगतेभ्यः तदसाधारण्येभ्यः । उत्तरत्र दहराकाशस्य सर्वाधारतयाऽपि महत्त्वमभिधाय, अतस्तस्य ब्रह्माख्यपुरुषमिति निर्दिश्य तस्मिन् ब्रह्माख्ये दहराकाशे कामा स्ममाहिता इत्युक्ते कोऽयं दहराकाशः ? के च कामाः ? इत्यपेक्षायाम् ‘एष आत्मा अपहतपाप्मा’ (छा.८.१.५) इत्यत्रेभ्यः ‘सत्यकामसत्यसङ्कल्पः’ (८.१.५) इत्यन्तेन दहरोकाश आत्मा, ‘कामाश्च अपहतपाप्मात्वादयः तद्विशेषण गुणा इति हि शपयति । ‘दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यद-तस्तद-वेष्टव्यम्’ (८.१.१) इत्यत्र दहरोकाशस्तदन्तर्बर्ति च यत् तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युक्तमिति विशयायते । ‘अथ यद्दहोमानुमनुविद्यं ब्रजन्त्येतांश्च सत्याकामान्’ इति व्यज्यते

सू-१४ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङं च (१.३.१४)

‘एवमेवेमास्सर्वा प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एत ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति’ (छा.८.३.२) इत्यहरहस्सर्वासां प्रजानाम् जानतीनां दहराकाशोपरि गतिः वर्तनम्, दहराकाशसमानाधिकरणो ब्रह्मलोकशब्दश्च दहराकाश पर ब्रह्मति शपयति तथाह्यन्यत्र सर्वासां परमात्मोपरि वर्तमानत्वं दृष्टम्, ‘तस्मिन् लोकादिश्रुतास्सर्वे’ (कठ.२.६.१), ‘तदक्षरे परमे प्रजाः’ (नारायण.६.१.३) इत्यादौ । ब्रह्मलोकशब्दश्च ‘एष ब्रह्मलोक’ (बृ.६.३.३३) इत्यादौ । अन्यत्र दर्शनाभावोऽपि इदमेव पर्याप्तम् अस्य परमात्मत्वे लिङ्गम् यद्दहराकाशोपरि सर्वस्य वर्तमानं वम् ब्रह्मलोकशब्दश्च ॥

सू-१५ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः (१.३.१५)

‘अथ य आत्मा सत्सुर्विधृति’ (छा.८.४.१) इति जगद्धृते परमात्मनो महिम्नोऽस्मिन् दहराकाशे उपलब्धे भावपरः ; साहि परमात्ममहिमा, ‘एष सत्सुर्विधरणः’ (बृ.६.४.२२) इत्यादिश्रुतेः ॥

सू-१६ प्रसिद्धेश्च (१-३-१६)

आकाशशब्दस्य ‘यदेव आकाशे आनन्दः’ (तै.आनिन्द ७.३) इति परमात्मन्यपि प्रसिद्धेश्चाय पर, सत्यस- ह्य वादिगुणबृन्दोपबृहिता प्रसिद्धिः भूताकाशप्रसिद्धेर्वर्तीयसीत्यर्थः ॥

सू-१७ इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् (१.३.१७)

‘अथ यदपसम्प्रसादः’ (छा.८.३.४), इतीतरस्य जीवस्य परामर्शात् प्रकृताकाशस्य इति चेत्-नेतत् वक्ष्यु- शानां तत्रासम्भवात् ॥

## सू-१८ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु (१.३.१८)

उत्तरत्र 'यथात्मा अपहतपाप्मा' (छा.८.७.१) इति जीवस्य अपहतपाप्मवादिश्रवणासासम्भव, चारित स्वप्नसुषुप्ताद्यवस्थासु वर्तमानत्वात् सा हि जीव इति चेत्—नैतत् आविर्भूतस्वरूपस्तु कर्मरन्ध्रशरीरस्वर्वाध्वन तिरोहि- तापहतपाप्मत्वादिकः पश्चात् पर ज्योतिरूपसपत्त्याविर्भूतस्वरूपः तत्र अपहतपाप्मवादिगुणो जीव प्रतिपादित । दह- राकाशस्तु अतिरोहितकल्याणगुणसागर इति नाय जीवः ॥

## सू-१९ अन्यार्थश्च परामर्शः [१-३-१९]

'अस्माच्छरीरा समुत्थाय परज्योतिरूपसपद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते' (छा.८.३.४) इति जीवामनो दह्य- काशोपसपत्त्या स्वरूपाविर्भावापादनरूपमाहात्म्यप्रतिपादनार्थोऽत्र जीवपरामर्शः ॥

## सू-२० अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् (१-३-२०)

अल्पस्यान वस्वरूपाल्पत्वश्रुतेर्नाय परमा मेति चेत्—अत्रोत्तरमुक्तम् 'निचाय्यत्वादेष व्योमवच्च' (शां.१.२७) इति ॥

## सू-अनुकृतेस्तस्य च (१.३.२१)

तस्य दहराकाशस्य परज्योतिष, अनुकरणश्रवणाच्च जीवस्य न जीवे दहराकाशः 'स तत्र पर्यति जस्य क्रीडन् रममाणः' (छा.८.१२.३) इत्यादिस्तदुपसपत्त्या स्वच्छन्दश्रुतिरूपस्तदनुकारश्रवते ॥

## सू-२१ अपि स्मर्यते (१.३.२२)

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता । सर्वेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥' (गी. १४.२) इति

इति वेदान्तसार

अथ वेदान्तदीप.

## सू-१३ दहर उत्तरेभ्यः [१.३.१३]

छांदोग्ये—'अथ यदिदमग्निन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वक्ष्ये दहराऽस्मिन्नन्तरं आकाशस्तस्मिन् यदस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा.८.१.१) इत्यत्र हृदयपुण्डरीकमध्यवर्ती दहराकाशश्रूयमाण किं भूताकाश ! उत जीव अथ परमात्मा—इति सशय । प्रथम तावद्भूताकाश इति युक्तमाश्रयितुमिति पूर्वं पक्ष, आकाशशब्दस्य भूताकाशे प्र सिद्धिप्राप्त्युत्ता आकाशान्तर्वर्तिनोऽयन्त्रान्वेष्टव्यताप्रतीतिश्च । रादान्तरस्तु—'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्' इति चादिते 'यावान्वा अयमाकाशः' (८.१.२,३) इत्यारभ्य 'एतत्सत्य ब्रह्मपुरम्' (८.१.५) इत्यन्तेन दहराकाशस्यातिमहत्त्व-

सर्वाभ्यवाजरन्वसत्य वाद्यमिवाय, 'अस्मिन्कामासमादिताः' (छा.८.१.५) इत्यकाशान्तर्वर्तिनोऽन्वेष्टव्याः कामा इति प्रतिपाद्य, कांऽयं दहराकाशशब्दनिर्दिष्टः ? के तदाश्रयाः कामाः ? इत्यपेक्षायां 'एष आत्माऽपहतपाप्मः' इत्यारम्य 'सत्यमद्वयः' (८.१.५) इत्यन्तेन आकाशशब्दनिर्दिष्टः आत्मा, कामाश्चापहतपाप्म वादस्वद्विष्टेऽप भूता इति प्रतिपादयद्राक्यमपहतपाप्मत्वादीविशिष्टपरमात्मानमाह । उपक्रमेचावेष्टव्यतया प्रतिपात आकाशः आत्मा, एतद्विशेषण-भूताः अपहतपाप्मत्वादयः कामा इति वाक्यं ज्ञापयत् 'अथ यद्वा मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च कृत्यान्का न रेण कर्षेण लोकेषु कामचारो भवति' (८.१.६) इत्युपसहरति । अतोऽयं दहराकाशोऽपहतपाप्मत्वादिविशिष्टः परमात्मा इति निर्दिष्टायते, न भूताकाशादिति । एतदस्मिन्वाक्ये 'अथ य एष संप्रसादोऽस्मात्तरीरा रुमुत्थाय' (८.१.४) इति प्रत्यगात्मप्रतीतिः, तस्योत्तरत्र प्रजापतिवाक्येऽपहतपाप्मत्वादिगुणक बाधगमात्, प्रत्यगात्मैव दहराकाश इति पूर्वपक्षी मन्यते । रादान्तीनु प्रत्यगात्मा कर्मपरवशतया जागरितस्वप्नसुषुप्तयाद्यवस्थाभिः तिरोहितापहतपाप्मत्वादिकः परमात्मानमुपसंगच्छः तद्वर्मादादाविभूतगुणकः प्रजापतिवाक्ये प्रतिपादितः । दहराकाशशब्दतिरोहित निरपेक्षत्वात् । दहराकाशः प्रत्यगात्म-न्यसम्भावनीयजगद्विधरणसमस्तचिदचिदस्तुनियन्नाद्यनन्तगुणकः प्रतिपन्न इति नाय प्रत्यगात्मा दहराकाशः अपि तु परमात्मैवेति मन्यते । सूत्रार्थम्—दहराकाशः परब्रह्म, उत्तरेभ्यः उत्तरवाक्यगतेभ्योऽपहतपाप्मत्वादिपरमात्मासाधारण धर्मेभ्यो हेतुभ्यः ॥

### सू-१४ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिंगं च (१.३.१४)

अस्मिन्दहराकाशे सर्वासां प्रजानामजानतीनामहरया गतिश्श्रूयते, यश्च दहराकाशावमर्शरूपैतच्छब्दसामानाधिकरणतया प्रयुक्तो ब्रह्मलोकशब्दः, ताम्या दहराकाशः परब्रह्मेत्यवगम्य, 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितंक्षेत्रं उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एत ब्रह्मलोकं न विन्देयुर्नृतेनहि प्रयूदाः' (छा.८.३.२) इति, तथाहि दृष्टम्—तथाह्यन्यत्र परस्मिन्ब्रह्मण्येवरूपा गमनं दृष्टम्—'एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सति सद्य न विदुस्सति सम्पत्स्यामह इति' (६.८.२) इति ; 'सत आगम्य न विदुस्सत आगच्छाम इति' (६.१०.२) इति । तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मण्येव दृष्टः 'एष ब्रह्मलोकस्समाहित इति होवाच' (बृ.६.३.३३) इति । किञ्च—माभूदन्यत्र दर्शनम् अस्मिन्प्रकरणे सर्वासां प्रजानां श्रूयमाणमहरहर्गमनं, ब्रह्मलोकशब्दश्च दहराकाशः परमात्मैवे पर्याप्तं लिङ्गम् । चशब्दोऽयधारणे एतदेव पर्याप्तमित्यर्थः ॥

### सू-१५ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः [१.३.१५]

अस्य धृत्याख्यस्य परमात्मनो महिम्नः अस्मिन्दहराकाशे उपलब्धेरय परमात्मा धृतिः—जगद्विधरण परमात्मनो महिमेत्यन्यत्रावगम्यते । 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विरुण एषा लोकानामसम्मेदाय' (बृ.६.४.२२) इति । सान्नास्मिन्दहराकाशे उपलब्धते 'अथ य आत्मा ससेतुर्विधृतिरेषा लोकानामसम्मेदाय' (छा.८.४.१) इति

### सू-१६ प्रसिद्धेश्च (१.३.१६)

'कोह्येवान्या कः प्रप्यात् । यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै.आनन्द.७) 'सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुपचन्ते' (छा.१.९.१) इत्यादिव्याकाशशब्दस्य परस्मिन् ब्रह्मणि प्रसिद्धे । आकाशशब्द एव परमात्मधर्मविशेषितो भूताकाशशब्दा निवर्तयतीत्यर्थः ॥



### सू-१७ इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् (१.३.१७)

परमात्मन इतरः जीवः ; 'अथ यद्य सप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय' (छा.८.३.४) इति जीवपरामर्शोऽप्यदहराकाश इति चेत्—तत्र, पूर्वोक्तानां गुणानां तास्मिन्नसम्भवात् ॥

### सू-१८ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु (१.३.१८)

उत्तरात् प्रजापतिवाक्यात्, अपहतपाप्मत्वादिगुणको जीवोऽवगम्यत इति चेत्—तत्र, जागरिताद्यवस्थाभिरनादिकालप्रवृत्ताभिः पुण्यपापरूपकर्ममूलाभिः तिरोहितगुणकः परब्रह्मोपासनजनिततदुपसम्पत्त्याऽऽविर्भूतस्वरूपोऽसौ जीवः तत्र प्रजापतिवाक्येऽपहतपाप्मत्वादिगुणकः कीर्तितः । दहराकाशस्य तिरोहितस्वरूपाऽपहतपाप्मत्वादिगुणक इत्यस्मिन् दहराकाशे न जीवशङ्का ॥

### —१९ अन्यार्थश्च परामर्शः [१.३.१९]

'अस्माच्छरीरा समुत्थाय परव्यातिरूपसपद्य खन रूपेणाभिनिपद्यते' (छा.८.३.४) इति परव्यातिरूपस्य दहराकाशोपसपत्त्याऽस्य जीवस्यानृततिरोहितस्वरूपस्य स्वरूपाविर्भावो भवतीति दहराकाशस्य जगद्विघटनादिविजावस्वरूपाविर्भावापादनरूपसम्पत्तिशेषप्रतिपादनार्थो जीवपरामर्शः ॥

### सू-२० अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् [१.३.२०]

'दहरोऽस्मिन्' (छा.८.३.१) इत्यल्पपरिमाणश्रुतिरारागोपमितस्य जीवस्यैवोपपद्यते, न तु सर्वसंज्ञयायसौ—ब्रह्मण इति चेत् तत्र यदुत्तरं वक्ष्ये तत्पूर्ववोक्तम् 'निचाय्यत्वात्' (शारी.१.२.७) इत्यनेन ॥

### सू-२१ अनुकृतेस्तस्य च (१.३.२१)

अनुकृतिः अनुकारः तस्य परमात्मनोऽनुकाराद्वि जीवस्याविर्भूतस्वरूपस्यापहतपाप्मत्वादिगुणकत्वम्, अतोऽनुकृत्य जीवादनुकार्यः परब्रह्मभूतो दहराकाशोऽर्थान्तरभूत एव । तदनुकारश्च त सांभवापत्तेः श्रूयते 'यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णे कर्नारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु.३.१.३) इति ॥

### सू-२२ अपि स्मर्यते (१.३.२२)

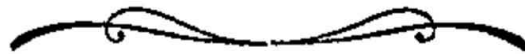
स्मर्यत च तदुपासनात्तत्सांभवापत्तिरूपानुकृतिर्जीवस्य 'इदं ज्ञानमुपाभित्य मम साधर्म्यमागता । तर्गोऽपि नोपाजयन्ते प्रलये न व्यथान्ति च' (गी.१४.२) इति ॥

इति वेदान्तदीप

## अथ अधिकरणसारायत्री

दहं हृत्पुण्डरीके गगनममिहितं तत्तिरीयश्रुतौ य-  
च्छन्दोगैस्तत्र गीतं यदपि च दहराकाश इत्येतदेकम् ।  
भूताद्यं तत्प्रसिद्धैर्महिमत इति न प्रत्यनीकैरकैः  
श्रौती च स्यात्प्रसिद्धिर्भगवति यलिनी लिङ्गयर्गस्सनाथा ॥  
वाह्याकाशश्च यावानयमपि हि तथेत्येतमङ्घ्रिप्रमीशे  
सत्यात्मप्राणशब्दा नभसि न कथमप्यन्वयं प्राप्नुवन्ति ।  
कामाधारश्च योऽसौ समगणि दहराकाशवाचाऽत्र नित्य-  
स्तस्यैव ह्येष आत्मेत्यनुवदनमतस्तद्गुणाश्चिन्त्यकामाः ॥  
सर्वेशाधारतोक्तया भवतु च हृदयव्योम तद्वाज्यधीतं  
छान्दोग्यस्थो निषादस्यपतिनयपदं मह्यलोकादिशब्दः ।  
आपस्तम्बश्च वैभाजनपुरमयद्वह्नौ सर्वात्मभूतं  
पूस्तस्य प्राणिनस्स्युस्तदपि तदपि हि स्यात्पुरं सर्ववासात् ॥  
जीवस्तर्ह्येष आत्मा गुणगणघटनात्तत्परामर्शदृष्टे  
रूपत्वाग्रक्तित्थेदसदनुपधिकात्सत्यसङ्कल्पतादेः ।  
विश्वैकाधारतादेरपि स खलु परोडाहृतौपाधिकी स्यात्  
प्राजापत्यात्तु वाक्यात्परममदशया तद्गुणोक्तिर्विसुफले ॥  
दह्याकाशोऽप्यवर्गप्रद इति गदितुं सम्प्रसादोक्तिरत्र  
प्रज्जिपत्ये तु वाक्ये परपरिपठनं प्राप्य निष्कर्षणार्थम् ।  
आकांक्षाद्यस्तदेवं परतदितरयोरन्विते वाक्ययुग्मे  
युक्तान्यान्योन्वयाधप्रभृतिकमिह तत्सामरस्यं हि सौम्रम् ॥

॥ इ ति द ह रा धि क र णं स मा ष्ट म् ॥



## अथ प्रमिताधिकरण

श्रीभाष्यम्

सू-२३ शब्दादेव प्रमितः [१.३.२३]

कठवल्लीषु श्रूयते- 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मानि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ' [कठ.२.४.१२] 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाय स उ श्वः । एतद्वै तत् ' (२.४.१३) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानानां हृदये सन्निविष्टः । तं स्वच्छरीरात्प्रवृहेन्मुखादिर्घषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतम् ' (कठ.२.३.१७) इति । तत्र सन्दिह्यते किमयमङ्गुष्ठमात्रप्रमितः प्रत्यगात्मा उत परमात्मा-इति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? जीवस्यान्यत्राङ्गुष्ठमात्रत्वश्रुतेः- 'प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः । अङ्गुष्ठमात्रो रावितुल्यरूपः सङ्कल्पादङ्गारसनन्वितो यः'

## अथ प्रमिताधिकरणम्

सू-२३ शब्दादेव प्रमितः (१.३.२३)

श्रुतप्रकाशिका .

'अल्पश्रुतोरिति चेत्' इत्यत्राल्पपरिमाणत्वं भगवत इत्युक्तम्, अथाल्पपरिमाणत्वविशेषः परमात्मवर्तितरिक्तस्य दृश्यत इति शङ्कया सङ्गतिः 'शुक्रममृतम्' इत्यन्त विषयवाक्यमुपाददानस्यायं भावः, अङ्गुष्ठप्रमितत्वमात्रं श्रुतं, न तु स्थानावशेषः न चोपासनम् अतः परमात्मपरत्वानादरेण जीवपरत्व शङ्कयत् इति पूर्वपक्षं केचिदाहुः । तदाहु- 'सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इत्यन्तरवाक्ये स्थानोपासनावगमात् तदनवगमस्य हेतुत्व-कथनायोगादिति परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमितत्वानुपपत्तेर्जोदस्य सर्वेशान्वानुपपत्तेश्च सशयः । अङ्गुष्ठप्रमितः किं प्रत्यगात्मा उत परमात्मेति । तदर्थमीशानत्व किं देहेन्द्रियाद्येष्व उत सर्वोपेक्षमिति । उपक्रमावगत प्रमितत्वं किमीशानत्वलिङ्ग-स्वारस्यविरोधि उत आविरोधीति ? तत्प्रमितत्वं किं जीवे समञ्जसम् उतोभयत्रासमञ्जसमिति । यदा जीवे समञ्जस-तदानीं स्वसामञ्जस्यसिद्ध्यर्थमुपक्रमावगत प्रमितत्वमीशानत्वलिङ्गस्वारस्यविरोधीतीशानत्वस्य देहेन्द्रियाद्येष्व वादङ्गुष्ठप्र-मितो जीव इति पूर्वपक्षः । यदोभयत्र प्रमितत्वमसमञ्जसं तदा प्रत्यगात्मन्यपि स्वारस्यासिद्धेस्तदर्थमीशानत्वलिङ्गस्वार-स्यानुपरोधकत्वादीशानत्व सर्वोपेक्षमिति अङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मेति राद्धान्ते फलपलिभावः । कृत्वा चिन्तेय परमात्मनो-ऽन्यत्राङ्गुष्ठप्रमितत्वश्रवणाभावमभ्युपगम्यानेनैव वाक्येनाङ्गुष्ठप्रमितत्वं किं सिद्ध्यति सत नेति चिन्तयेत् ? अन्यत्राङ्गुष्ठप्र-मितत्वं भगवतः श्रूयते, श्वेताश्वतरे 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । हृदामर्नापा मनसाऽभिकल्पो यएनं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इति तैत्तिरीये च 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः । ईशस्सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वमुक्' इति अन्तरात्मत्व मोक्षप्रदत्वं सर्वस्य जगत ईशत्वमपि हि तत्र श्रु-म् । यदा सर्वजगच्छब्दादिकमपि क्लिष्टं कृत्वा तावपि मन्यौ विद्यादास्पदीकृतौ, तदानीं नृकृत्वा चिन्तेयम् ॥

### श्रीभाष्यम्

(श्व.५.८.७) इति । नचान्यत्रोपासनार्थतयाऽपि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वं श्रूयते । एवं नि-  
श्चिते जीवत्वे ईशानत्वं शरीरेन्द्रियभोग्यभोगोपकरणापेक्षयाऽपि भविष्यति ॥

इति प्राप्ते घृमः 'शब्दादेव प्रमितः' अङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मा ; कुतः ? 'ईशानो भूतभ-  
व्यस्य' (षट्.२.४.१३) इति शब्दादेव । नच भूतभव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य  
जीवस्योपपद्यते ॥

कथं तर्हि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यत्राह—

सू—२४ हृदयेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् (१.३.२४)

१११

परमात्मन उपासनार्थमुपासकहृदये वर्तमानत्वादुपासकहृदयस्याङ्गुष्ठमात्रप्रमाणत्वात्तद-  
पेक्षयेदमङ्गुष्ठप्रमितत्वमुपपद्यते, जीवस्याप्यङ्गुष्ठप्रमितत्वं हृदयान्तर्वर्तित्वात्तदपेक्षमेव; तस्या  
रात्रमात्रत्वश्रुतेः । मनुष्यणामेवोपासकत्वसम्भारनया शास्त्रस्याधिकारत्वान्मनुष्यहृदस्य

श्रुतप्रकाशिका

ननु जीवस्याप्याराप्रमात्रस्याङ्गुष्ठमात्रत्वममुख्यम् अत उपासनार्थमिति निर्वाह्यम् । तत्परमात्मपरत्वेऽपि सम्भवति  
उपासनार्थमन्यपरिमाणं य परस्यापि हि श्रुतम् । तं कथं जीवत्वशङ्क्यत्राह—नचेति । प्राणाधिपस्य स्वकर्मवश्यस्याङ्गुष्ठ-  
मात्रत्वमनुपपद्यमपि हि श्रुतं नतु परमात्मन अतो जीवस्य बुद्धिस्य वात्तस्य प्रतिपाद्यवशङ्केत्यर्थः । ईशानत्व कथमित्य-  
त्राह—एवंनिश्चितइति ॥

रादान्ते ननु भूतभव्यस्येशान इति वाक्यं तच्च प्रमितत्वालङ्घ्यादुदुर्बलम् ईशानशब्दस्यैव शब्दशब्देन विवाहित-  
त्वात् ईशानशब्दस्य देहेन्द्रियाद्यपेक्षया सङ्काचस्य अनुपपत्तिस्फारणार्थमीशानो भूतभव्यस्येति शब्दादेवेति भूतभव्यश-  
ब्दोपादानम् । किमीश्वरः किं जीव इति विचारे नेधरसम्भारवलिङ्गान्निरूप्य, किं वीश ववादिशब्दादेवेत्येवकाराभिप्रायः ।  
यदा पूर्वरक्षयमिन्द्रियाया ईशानशब्दादयथासिद्धेः प्रतिक्षेप एवकाराभिप्रायः । तं दर्शयति नच भूतभव्यस्येति ।

उत्तरसूत्रस्य शङ्काभाह—कथं तर्हीति ।

सू—२४ हृदयेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् (१-३-२४)

वर्तमान वादित्यध्याहारेण योजना यदा 'हृदि' इति विषयसप्तमी हृदिपयापेक्षयेति सूत्रार्थे वक्तव्यमर्थसिद्धमर्थमह  
वर्तमानत्वादिति । यदपेक्षया परस्य अङ्गुष्ठप्रमितत्वव्यवहारः तस्य हृदयस्य त परिमाणं—हृदयस्येति । अङ्गुष्ठ-  
मात्र तस्याप्याराप्रमात्रस्यमुपपद्यते तुल्य कथितं परमात्मपरिग्रह इत्यत्राह—जीवस्यापीति । अङ्गुष्ठप्रमितस्य जीव वक्ष्ये अङ्गुष्ठप्र-  
मितेशानशब्दयोर्मयारण्यस्वारस्य परमात्मत्वपक्षेऽङ्गुष्ठप्रमितशब्दस्यैकस्यैवास्वारस्यमितिभावः ; रात्रुरगार्दीनामनङ्गुष्ठवेन  
हृदयानां तत्तदङ्गुष्ठप्रमितं यामात्रादङ्गुष्ठप्रमितत्वमननुयायीति शङ्काया 'मनुष्याधिकारत्वात्' इति पदं व्याप्ये मनु-  
ष्याणामेवेति । अत्र ह्यङ्गुष्ठमिति वक्ष्य जीव वक्ष्युपगम्यैव जीवस्य परमात्मैक्योपदेशपरतया प्रकरणस्य परमात्मप्रतिपादकं व-  
युपरिक्तं तदयुक्तं जीव वेश्वरवयोदभयोगपि कल्पितं वायुपरगमात् सर्पभूदलनयोरिव कान्पनिकयोरर्थयोरिवयोपदेशोप



## श्रीभाष्यम्

च तत्तदंगुष्ठप्रमितत्वात्खरतुरंगभुजगादीनामंगुष्ठप्रमितत्वेऽपि न काश्चिदोपःस्थितं तावदुत्तरत्र समापयिष्यते ॥

इति प्रमिताधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

पक्षेः, जीवत्वेशनत्वाद्यनादरेण वस्तुमात्रैक्यपरत्वे ईशानादिशब्देनां लक्षणिकत्वप्रसङ्गात्—प्रासङ्गिकार्थस्य निरूपयिष्यमाणत्वं बुद्ध्वाह—स्थितं तावदिति ॥

इति प्रमिताधिकरणम्

अथ प्रमिताधिकरणम्

गूढार्थसंग्रहः

‘शब्दादेव प्रमितः’ दहराधिकरणे दहरशब्दः अल्पवचनः । ‘अल्पश्रुतोरिति चेत्’ इत्युत्तरसूत्रेऽप्यस्यैव एव प्रयुक्तः तत्र च उत्तरवाक्यानुरोध्यर्थानुरोधेन परमात्मत्वं साधयितुं शक्यम् । ‘अङ्गुष्ठमात्र’ इत्यत्र परिमाणवाचि शब्द एव वर्तते, अत्र परिमाणविशेषबोधात् तादृशित्वं बोध्यत इति अङ्गुष्ठमात्र इत्यत्र जीव एव विवक्षितः । ‘य इदं मध्यमं वेद आत्मानं जीवमन्तिषात् । ईशानं भूतमव्यस्य’ इति भूतमव्येशनत्वोक्त्या अत्रापि स एव विवक्षित इति युक्तम् । अणोजीवस्याङ्गुष्ठमात्रत्वं अप्रसिद्धमिति शङ्क्यम् । ‘प्राणाधिपरस्वरति स्वकर्मभिः अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः’ इत्याङ्गुष्ठमात्रं जीवं प्रस्तुत्य ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः’ इति जीवस्यानस्य तात्त्विकं परिमाणं प्रस्तुत्य जीवस्य ‘बालाग्रशतमागस्य’ इत्यादिना तात्त्विकाणुरिमाणनिरूपणात् । सर्वगतस्य परस्य तात्त्विकपरिमाणं रज्जुतम । ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा’ इत्यपि जीवपरमेव । तत्र जनशब्दः जनिमदचेतनजीवपरः । हृदयस्याङ्गुष्ठपरिमाणत्वेन तत्र स्थितत्वेन जीवस्याङ्गुष्ठमात्रत्वम् इति शङ्कायां ‘शब्दादेव प्रमितः’ इति ॥

अथ प्रमितशब्देन ‘अङ्गुष्ठमात्र’ इति श्रुतिः प्रत्याभिधायते । तत्र प्रमाणे मादृच्प्रत्ययः अङ्गुष्ठपरिमाणत्वेन श्रुतः परमात्मा शब्दादेव । प्रमितत्वं लिङ्गम् । ‘ईशानो भूतमव्यस्य’ इति वाक्यं, यस्यात् लिङ्ग प्रथममिति पूर्वपक्षिणमाशयः सिद्धान्तिनस्तु अयमाशयः शब्दपदं वाक्यपरमेव श्रुतेत्यात्र विपक्षितत्वे श्रुतेरेवेति ज्ञेयात् । एवकारस्तु यत् पूर्वपक्षिणः दुर्बलप्रमाणनोपपद्यत तस्मादेवेत्येवकाराभिप्रायः । प्रमितशब्दः नैकवचनः, सिद्धान्तप्राप्त्युपनायनिकार्थश्च प्रमितशब्दः आवर्तन प्रमितः वाक्यादेव प्रकरणेन मित इत्यर्थः, प्रकर्मण्य स्वरूपतः गुणतश्च स्वरूपतः प्रकर्मः गुणतः प्रकरणेनापकः । ‘महान्तं विभुनामन्मानं मन्या भीरो नमोचति । ईशानो भूतमव्यस्य’ इति वाक्यम् तत्र महत्याणुपयोः जीवेऽनेभ्यश्चात् तदुभय परमात्मगतमेव । महत्त्वं गुणनिर्वन्धनम विभुस्य स्वरूपानन्वयनम् । ‘मध्यमं जीवम्’ इति कर्मण्यल्लेखेन जीवो निर्दिष्टः अन्तिकशब्दप्रयोगसार्थकताय नान्यदे जीवमन्तिकम्यमीकानं चेति विवक्षितम् । ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः मध्यमाग्नेनि निवृत्तिः’ इत्यत्र वाक्ये मध्ये शरीरमध्ये आत्मानि जीवे निवृत्तीत्यर्थः । एतेन अन्तिकशब्दार्थः प्रकर्मण्यतः ॥

कठोपनिषदेय ‘तमात्मस्य देऽनुपरयन्ति भीमाः’ इति वर्तते । ‘तमात्मस्य’ इति वाक्यमादस्तुते आत्मनो, स्वात्म नारायणीम्यत इत्यत्र ‘यद्य विचित्रगणस्य दहते भुरोऽपरि मा । अन्तर्बहिः सार्वभौम’ इत्युक्ता जीवो-

### गूढार्थमद्भुतः

अपि विवक्षितः । जीवव्याप्यस्यतिरापि निवर्धिता, अत्र जीवं व्याप्य स्थितो यः स एव प्रमितो भवति, एतेन विभुः सभ्य गुणगदित भवति । गुणनिवन्धनप्रकर्षस्तु असङ्कुचितभूतमभ्युपगम्यमानत्वात् । अतः पूर्वपक्षिन्निर्द्वापेक्षया सिद्धान्तिसमस्तान् विप्रवर्तयति तद्वाचक वमस्यायातम् । किंच पूर्वपक्षिणोऽपि लिङ्ग तद्व्यति स्मिन् अङ्गुष्ठपरिमाणे स्यादित्येव वचनं वाच्यं । अत्र शब्दशब्दोपादानं कुत इति चेत् ईमानशब्दस्य श्रुतिरिति चेत् चेन्नार्थः । एतदर्थं चार्थबोधकानां स्वार्थसंबन्धोपस्थापकपदस्य वे तस्यैवार्थस्य इति द्युपास्यते । लिङ्गापेक्षया श्रुतेः प्राबल्यप्रयोजकं यत् शीघ्रोपास्यते तदत्र न समवतीति श्रुतेः प्राबल्योपपादानं न समवति । एवमीशानशब्दस्य ‘ प्राध्वनीध्वयसंयोगात् ’ इति न्यायेन यौगिकत्वेनैव शब्दोऽपि प्रयोगोपपत्तिः । पृथक्पक्षिणोऽपि ननु चेत् चेत् चेन्नार्थैव शब्दशब्दप्रयोगः ।

अत्र अङ्गुष्ठमात्रबोधकपरिमाणबोधककटवल्लीस्य वाक्यस्यार्थविषय इति स्फुटं निर्मातराणाम् । कटवल्लीप्राग्भाष्ये ‘ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । तस्माच्छरीरात्प्रवृत्तं मुखादिबेदीका धेयेण ’ इति श्रुतिरप्यस्मिन्नाधिकरणे विवक्षिता । हृदयेष्वपि अङ्गुष्ठप्रमितं वर्मित्युत्तरसूत्रे इदं वाक्यं विषयतया परैरप्युदाहृतम् । अत्र ‘ जनानां हृदये सन्निविष्टः ’ इत्युक्त्या उपवृहणानुसारेण ‘ अर्भकौकरोवात् ’ इति सूत्रेणैव अनुसारेण ‘ द्वापुर्णा ’ इत्यादिभ्यनुसारेण तत्रैव पुरुषशब्दार्थासङ्कुचितार्थानुसारेण च जनशब्द जीवानामपि विवक्षितत्वेन ‘ स्वाच्छरीरात्प्रवृत्तं ’ इत्यत्र अनेतनवधत्तनचेतनविववधाया अपि प्रत्याख्यानसम्भवनं मेदज्ञानमेव प्रतिपादितमिति अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः जीवब्रह्माभेदपरैरिति परमायोक्तिः श्रुतिसूत्रता पर्याप्तनुगुणा ॥

‘ हृदयेष्वपि मनुष्याधिकारत्वात् ’ परमा मात्र अङ्गुष्ठमात्रवमुपपादयितुं प्रवृत्तामिदं सूत्रं जीवस्यापि अङ्गुष्ठमात्रमेतन्निवन्धनामिति स्यापयति परमात्मा हृदयेष्वपि प्रमित इति सूत्रार्थः । सरतुस्महदायानामनगुष्ठप्रमितत्वेन ‘ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः ’ इति श्रुत्युपपत्तिः कथमित्यनाह— ‘ मनुष्याधिकारत्वात् ’ इति । अयमाशयः— जीवपरमात्मानोऽङ्गुष्ठपरिमाणस्य हृदयेष्वपि स्थानम् सर्वगतोऽपि परमात्मा सर्वान्तर्यामी हृदयदेशेऽपि तिष्ठति । स्वसमीपवर्तिजीवप्रतिबोधनार्थं, तत्र मनुष्याणामिव विवेकज्ञानात्पलायनविशेषलभेच्छया प्रवृत्तिः । परमा मनः सौलभ्यविशेषानुसन्धानेनातन्नाध्यवसायः ‘ इति यस्य स्याददा नविचिकित्साऽस्ति ’ इति शाण्डिल्यविद्यायाहुक्तः ॥

शाण्डिल्यविद्यायाम्— ‘ अर्भकौकरोवात् ’ इति सूत्रे हृदयस्थितत्वाप्येव वाच्यं तदव ताप्ये दहरविक्षायापि ‘ अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ’ इत्यत्र स्फुटम् तत्सर्वमस्मिन्सूत्रे दृढीक्रियते । जीवपरयोक्तव्यो, हृदयस्थितेऽत्र विवक्षितत्वेन ‘ अर्भकौकरोवात् ’ इत्यर्भकस्य यदोकः तद्देवोक्तः सूत्रवृत्तौ विवक्षित इति निर्धार्यते । कर्माधीनशरीरवान्जीवः कर्मानधीनस्वेच्छासङ्कल्पितदयामूलकशरीरसम्बन्धमात्रपरमात्मा । जावस्य धर्ममूलकशरीरसम्बन्धविरहदशायामेव निरतिशयं सुखम् । अङ्गुष्ठप्रमितश्रुतौ पुपपशब्ददश्रुयते । पुरुषशब्दश्च सर्वशरीरवाचकः । एव सर्वपापदाहकत्वस्यापि अत्र ‘ जनानां हृदये ’ इत्यत्र जनशब्दः चेतनपरः चेतनानामात्रासभूते चेतनोच्चावनेच्छया वर्तते इति ‘ रम् ’ इत्युपसर्गविशिष्टं रुचिबिष्टः इत्यत्र पूर्वार्थतात्पर्यम् तत् स्वोच्चावनेच्छया स्वस्य ज्ञानादिसम्पादनार्थं स्वसन्निहितं परमात्मानं परमात्मना अन्यभूता स्वस्मात् पृथक्पृथक्वात् एव पृथग्ज्ञानेति स्वस्य सर्वपापनाशो भवति । कर्मनिरपेक्षशरीरसम्बन्धिनः परस्य कर्माधीनशरीरसम्बन्धवतः सस्माद्देदशाने स्वीयपापनिवर्तकत्वमन्तर्भवत्येव । एव निश्चयवतो मनुष्या एव, एव निश्चयपूर्वकं स्वशरीरसम्बन्धप्रयोजककर्मनाशेच्छया परमात्मोपासनाधिकारिण मनुष्या एव भवन्ति । मनुष्याधिकारवाञ्छास्य हृदयपरिमाणोक्तिस्तद्वृत्ता । अत्राधिकारशब्दार्थपलायनत्वसम्मानाधिकरणं सामर्थ्यम् । पलायित्वं जीवब्रह्माभेदे न घटते । एतच्छ्रुत्या—

## श्रीभाष्यम्

च तत्तदंगुष्ठप्रमितत्वात्तरत्तरगुणजगदीनामगुष्ठप्रमितत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः स्थितं तावदु-  
त्तरत्र समापयिष्यते ॥

इति प्रमिताधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

पक्षेः, जीवत्वेशानाद्यनादरण वस्तुमात्रैक्यपरवे ईशानादिशब्दानां लक्षणैक्यप्रसङ्गात्—प्रासङ्गिकार्थस्य निरूपयि-  
ष्यमाणः । बुद्ध्याह—स्थितं तावदिति ॥

इति प्रमिताधिकरणम्

अथ प्रमिताधिकरणम्

## गूढार्थसंग्रहः

‘शब्दादेव प्रमितः’ दहराधिकरण दहरशब्द अल्पवचनः । ‘अल्पश्रुतोरिति चेत्’ इत्युत्तरसूत्रेऽप्यल्पशब्द-  
एव प्रयुक्तः तत्रच उत्तरवाक्यानुरोधार्थानुरोधेन परमात्मत्व साधयितुं शक्यम् । ‘अङ्गुष्ठमात्र’ इत्यत्र परिमाणवाचि-  
शब्दः एव वर्तते, अत्र परिमाणविशेषबोधात् तादृशिष्ट बाध्यः इति अङ्गुष्ठमात्र इत्यत्र जीव एव विवक्षितः । ‘य इद-  
मभ्यद वेद आत्मान जीवमन्तिकत्वात्’ इति भूतमभ्येशानत्वोक्त्या अत्रापि स एव विवक्षित इति  
युक्तम् । अणोर्जीवस्याङ्गुष्ठमात्रव अप्रसिद्धमिति शङ्क्यम् । ‘प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः’  
इत्यङ्गुष्ठमात्र जीव प्रस्तुत्य ‘अङ्गुष्ठमात्र पुरुषः’ इति जीवस्थानस्य तात्त्विक परिमाण प्रस्तुत्य जीवस्य ‘बालाग्रशतमा-  
गस्य’ इत्यादिना तात्त्विकाणुपरिमाणनिरूपणात् । सर्वगतस्य परस्य तादृक् परिमाणं रुद्धम् । ‘अङ्गुष्ठमात्र पुरुषोऽन्त-  
रात्मा’ इत्यपि जीवपरमेव । तत्र जनशब्दः जनिमदचेतनजीवपरः । हृदयस्यागुष्ठपरिमाणत्वेन तत्र स्थितत्वेन जीवस्या-  
गुष्ठमात्रवम् इति शङ्कायां ‘शब्दादेव प्रमितः’ इति ॥

अत्र प्रमितशब्देन ‘अङ्गुष्ठमात्र’ इति श्रुतिः प्रत्यभिज्ञायते । तत्र प्रमाणे मात्रानूप्रत्यय अङ्गुष्ठपरिमाणवत्तु श्रुत-  
परमा मा शब्दादेव । प्रमितत्वं लिङ्गम् । ‘ईशानो भूतमभ्यस्य’ इति वाक्य, वाक्यात् लिङ्ग प्रबलमिति पूर्वपक्षिण आशयः  
सिद्धातिनस्तु अयमाशयः शब्दपद वाक्यपरमेव श्रुतेरपि विवक्षितं श्रुतेरिति ब्रूयात् । एवकारस्तु यत् पूर्वपक्षिणः  
दुर्बलप्रमाणनाप यस्त तस्मादवेत्यवकारामिप्रायः । प्रमितशब्द नैकर्थकः, सिद्धान्तयुक्ति सूचनायानेकार्थश्च प्रमितशब्दः  
आवर्तत प्रमित वाक्यादेव प्रकषण मित इत्यर्थः, प्रकर्षश्च स्वरूपतः गुणतश्च स्वरूपतः प्रकर्षः गुणतः प्रकर्षसाधकः ।  
‘महान्त विभुमामात्मान मया धीरो नशाचति । ईशानो भूतमभ्यस्य’ इति वाक्यम् तत्र मह वाणु वयो, जीवसंभवात्  
तदुभय परमा मगतमत्र । महत्त्वं गुणनिबन्धनम् विभुत्वं स्वरूपनिबन्धनम् । ‘मभ्यद जीवम्’ इति कर्मफलहेतुत्वेन जीवो  
निर्दिष्टः अतिकशब्दप्रयोगसार्थतयाय मभ्यद जीवमन्तिकस्यमीशान चेति विवक्षितम् । ‘अङ्गुष्ठमात्र पुरुषः’ मध्य आ-  
त्माने तिष्ठति’ इत्यत्र वाक्य मध्य शरीरमध्ये आत्मानि जीव तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन अन्तिकशब्दार्थः प्रकटयितः ॥

कठोपनिषदेव ‘तमा मस्य येऽनुपश्यन्ति धीराः’ इति वर्तत । ‘तमा मस्यम्’ इति वाक्यमभ्यस्यते श्रेताश्रिते-  
र्याप्य नारायणस्थितः’ इत्यत्र ‘यद्य किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च त सर्वम्’ इत्युक्त्या जीवो-

अथ वेदान्तदीपः

## सू-२३ शब्दादेव प्रमितः (१.३.२३)

कटग्रहीत्याग्रायते—‘अद्भुष्टमात्रः पुरुषो मध्य आ मनि तिष्ठति । ईशानो भूतमव्यस्य न ततो दिशुगुप्सते । एतदे तत् ’ (कठ.१.४.१२) उत्तरत्र च ‘अद्भुष्टमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ’ (२.४.१३) तयोपरिष्ठात् ‘अद्भुष्ट-  
मात्रः पुरुषोऽन्तरा मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ’ (२.६.१७) इति । अत्राद्भुष्टप्रमितो जीवा मा, उत परमा-मेति  
संग्रहः । जीवानेति पूर्वः पक्षः, अन्यत्र स्वीकृतस्वधर्माभावे पुरुषे अद्भुष्टप्रमितवद्भुतेः ‘प्राणाधिपारश्चरति स्वकर्मभिः,  
अद्भुष्टमात्रो रवितृष्यरूपः ’ (श्र.५.७.८) इति । रादान्तरतु—तत्र ‘स्वकर्मभिः’ इति जीवभावनिश्चयवदत्रापि ‘ईशानो  
भूतमव्यस्य ’ (कठ.२.४.१२) इति भूतमव्येति तृत्वदर्शनात् परमा-मेव इति । सूत्रार्थस्तु शब्दादेव प्रमितः अद्भुष्टप्र-  
मितः परमा-मेव, ‘ईशानो भूतमव्यस्य ’ इति परमा-मयाचिशब्दात् ॥

## सू-२४ हृदयपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् (१-३-२४)

कथमनवच्छिन्नस्य परमा-मनोऽद्भुष्टप्रमितवदित्याशङ्क्याह—

उपासनार्थमुपासकहृदये वर्तमानत्वात् उपासकहृदयस्याद्भुष्टमात्रत्वात् तदपेक्षयदमद्भुष्टप्रमितवत् । मनुष्याणामेवो-  
पासकत्वसम्भावनाया मनुष्यानाधिकृत्य प्रवृत्तत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयापेक्षयदुक्तम् । स्थित तावदुत्तरत्र समापयित्वा ॥

इति प्रमिताधिकरणम्



अथ अधिकरणसारावली

प्राणेशोऽद्भुष्टमात्रः कचिदनुकथितस्सञ्चरन् कर्मभिः स्वै-  
रन्यत्राद्भुष्टमात्रं पुरुषमपि यमो निश्चक्रेपति दृष्टम् ।  
तस्मादेतत्प्रमाणप्रमितमुपनिषज्जीवमाहेत्ययुषत  
वाक्यस्थेशानतादेर्नरहृदयपरिच्छित्तितस्तद्धि मानम् ॥  
नह्यद्भुष्टप्रमाणं हृदयमखिलजन्त्वाश्रयन्तत् परस्मिन्-  
व्याप्ते तन्मानतोक्तिः कचिदिति मनुजाधिक्रियोक्तिप्रसङ्गे ।  
सूत्रद्वन्द्वद्वयान्तस्त्रिमिरधिकरणैश्चिन्त्यते तद्विशेष-  
स्तार्तीयैस्स्थापनीयात्वयजिगमिपिता सेतिवर्तव्यताऽत्र ॥

॥ इ ति प्र मि ता धि क र णं स मा स म् ॥



## गूढार्थसङ्ग्रहः

‘प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः सङ्कल्पमात्रो रविस्तुल्यरूपः’ इत्युत्तरवाक्यता पर्यमपि प्रकाशितम् । ‘नैव स्त्री’ नपुमं नैव । इत्युत्तरश्रुत्यर्थ एव मनुष्यशब्दे विवक्षितः । कर्ममूलकमनुष्यशरीरसम्बन्धवान् एव शानवत् शरीराद्विवेकः वर्तते एव ॥

यद्यपि परैः ‘शास्त्रीयतु व्यवहार’ यद्यपि बुद्धपूर्वकारी नाविदि वाऽऽमनः परलोकासम्बन्धमधिष्ठियते तथाऽपि अशनायात्रतीतत्वज्ञानमनपेक्षित बाधक च’ इत्युक्तम् । सचार्थः ‘सञ्चान्त्याय कल्पते’ इति श्रुतिसन्दर्भेणैव पर्यालोचितः, कर्ममूलकशरीरसम्बन्धदशाया अशनायाऽऽदिसत्त्वेऽपि ‘सञ्चान्त्याय कल्पते’ इति नाविदित्वात् । किञ्च अशनायात्रतीतत्वस्य नविरोधः, पूर्वोक्तार्थस्य सर्वस्य पर्यालोचने छान्दोग्यकठवल्लीवाक्ययोस्मयोरेकार्थता पर्य स्फुर्यते । ‘आत्मानं रथिनं विद्धि’ इत्यादिना इन्द्रियवशीकरणार्थं बुद्धेरपि सारथित्वोक्तावापि बुद्धेरपि परमात्माधीनत्वस्य पुरुषशब्दतात्पर्यपर्यालोचनया सिद्ध्या सारथि परमात्मैव भवति । ‘छान्दोग्यतु’ सयथा प्रयोग्य आचरणे युक्त’ इत्यनर्जीवस्य कठवल्लभा भिवं रथि व निर्दिष्टम् । परमात्मा सारथित्वेनेति सङ्क्षेपविस्तरप्रक्रियया उभयोरत्रैव तत्पर्यम् ॥

छान्दोग्येऽपि ‘अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिपद्यते’ इति श्रूयते, तदानुगुण्येन अशनायात्रतीत वागस्याऽपि कर्ममूलक शरीरसम्बन्धविगमकालिक्येव । सूत्रकारोऽप्युपनिषद्द्वयस्य ऐक्यस्यमभिप्रेत्यन् ‘हार्दां नुगृहीतश्चताधिकया’ इति वक्ष्यति । एव परमात्मन हृदयदेशे स्थिते स्वापकारार्थतया ये निश्चिन्वन्ति मनुष्यधैरिया तेषां तरतमभावानापन्न फलमेवेति शाण्डिल्यविद्यायामेव निर्णीतम् ॥

॥ ११ ॥ १२ ॥

## इति प्रामिताधिकरणम्

## अथ वेदान्तसारः

## सू-२३ शब्दादेव प्रमितः (१, ३, २३)

‘अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतमन्यस्य’ (कठ. २. ४. १२) इत्यादौ अङ्गुष्ठप्रमितं परमात्मा ‘ईशानो भूतमन्यस्य’ (२. ४. १२) इति सर्वेश्वरत्ववाचिशब्दादेव ॥

## सू-२४ हृदयपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् [१. ३. २४]

अनवच्छिन्नस्यापि उपासकहृदि वर्तमानत्वापेक्षमङ्गुष्ठप्रमितं वम् । मनुष्यानामेवोपासनसम्भावनायां तादृश्य बाधः, शास्त्रस्य मनुष्यहृदयोपेक्षयेदमुक्तम् । स्थित तावदुत्तरत्र समापयिष्यते ॥

## इति वेदान्तसारः

अथ पैदान्तदीपः

## सू-२३ शब्दादेव प्रमितः (१-३-२३)

कटयधीष्ठायाते—'अद्भुष्टमात्रः पुरुषो मय्य आ मनि तिष्ठति । ईशानो भूतमध्यस्य न ततो विद्युपुष्ते । एतदे तन् ' (कठ.१.४.१२) उतरथ च 'अद्भुष्टमात्रःपुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ' (२.४.१३) तयोपरिष्ठात् 'अद्भुष्ट मात्रःपुरुषोऽन्तरा मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ' (२.६.१७) इति । अत्राद्भुष्टप्रमितो जीवा मा, उत परमा मेति शयः । जीवात्मेनि पूर्वःपक्षः, अन्यत्र स्वीकृतस्य जीवमाने पुरुषे अद्भुष्टप्रमितवधुतेः ' प्राणाधिपश्चरति स्वकर्मभिः, अद्भुष्टमात्रो रविदृश्यरूपः ' (शे.५.७.८) इति । राटान्तस्तु— तत्र 'स्वकर्मभिः' इति जीवमायनिःक्यवदत्रापि 'ईश नो भूतमयस्य ' (कठ.२.४.१२) इति भूतमध्येति त्वदर्शनात् परमा मेव इति । सूत्रार्थस्तु शब्दादेव प्रमितः अद्भुष्टप्र-मितः परमा मेव, ' ईशानो भूतमयस्य ' इति परमा मत्राचिशब्दात् ॥

## सू-२४ हृदयपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् (१-३-२४)

कथमनवच्छिन्नस्य परमा मनोऽद्भुष्टप्रमितेति चेत्त्याशङ्क्याह—

उपासनार्थमुपासकहृदय वर्तमानत्वात् उपासकहृदयस्याद्भुष्टमात्रत्वात् तदपक्षयदमद्भुष्टप्रमितत्वम् । मनुष्याणां को पासकत्वसम्भावनाया मनुष्यानांघट्य प्रवृत्त वाञ्छाम्रस मनुष्यहृदयापक्षयदमुक्तम् । स्थित तादृशस्य रमापदिदं ॥

इति प्रमिताधिकरणम्



अथ अधिकरणसारावली

प्राणेशोऽद्भुष्टमात्रः कचिदनुकथितस्सञ्चरन् कर्मभिः स्वै-  
रन्यत्राद्भुष्टमात्रं पुरुषमपि यमो निश्चक्रेति दृष्टम् ।  
तस्मादेतत्प्रमाणप्रमितमुपनिषद्गीतमाहेत्युपत-  
वाक्यस्थे शानतादेर्नरहृदयपरिच्छित्तितस्तद्धि मानम् ॥  
नह्यद्भुष्टप्रमाणं हृदयमसिलजन्त्वाश्रयन्तत् परस्मिन्-  
व्याप्ते तन्मानतोक्तिः कचिदिति मनुजाधिक्रियोक्तिप्रसङ्गे ।  
सूत्रद्वन्द्वद्वयान्तस्त्रिमिरधिकरणैश्चिन्त्यते तद्विशेष-  
स्तार्तीयैस्स्थापनीयात्वयजिगमिपिता सेतिवर्तव्यताऽत्र ॥

॥ इ ति प्र मि ता धि क र णं स मा त म् ॥



## अथ एतद्गर्भे देवताधिकरणम्

### श्रीभाष्यम्

## सू-२५ तदुपर्यपि वादरायणस्सम्भवात् (१.३.२५)

परस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठप्रमितत्वोपपत्तये मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशास्त्रमित्युक्तम् । तत्र सङ्गेनेदानीं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावद्युक्तम् ? नास्ति देवादीनामधिकार इति । कुतः ? सामर्थ्याभावात्, न ह्यशरीराणां देवादीनां विवेकविमोकादिसाधनसत्तकानुगृहीतब्रह्मोपासनोपसंहारसामर्थ्यमस्ति । न च देवादीनां सशरीरत्वे प्रमाणमुपलभामहे । यद्यपि परिनिष्पन्नेऽपि वस्तुनि व्युत्पत्तिसम्भावनया वेदान्तवाक्यानि परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवन्ति, तथाऽपि देवादीनां विग्रहवत्प्रतिपादनपरं न किञ्चिदपि वाच्यमुपलभ्यते । मन्त्रार्थवादास्तु कर्मविधिशेषतयाऽन्यपरत्वाच्च देवादिविग्रहसाधने प्रभवन्ति । कर्मविधयश्च स्वापेक्षितोद्देश्यकारकत्वात्तिरेकि देवतागतं किमपि न सा

## अथ एतद्गर्भे देवताधिकरणम्

### श्रुतप्रकाशिका

## सू-२५ तदुपर्यपि वादरायणस्सम्भवात् [१-३-२५]

प्रसङ्गासङ्गतिमाह—परस्येति । ‘मनुष्याधिकारत्वात्’ इत्यत्र मनुष्यशब्देन तिर्यङ्मात्रं व्यावर्तितं, उत देवादिरपीति बुभुक्षया सङ्गतिरित्यर्थः । किं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारोऽस्ति ? नेति विचारः । तदर्थं किं तेषां साङ्गब्रह्मविद्योपसंहारसामर्थ्यमस्ति, नेति तदर्थं किं तेषां विग्रहवत्त्वं सम्भवति नेति, किं तद्विग्रहप्रतिपादनमन्त्रार्थवादानां तत्परत्वं सम्भवति नेति, किं मन्त्रार्थवादानां अनुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरं च विग्रहादिविवक्षाविरोधि, उत नेति किं विग्रहादिमत्त्वमनुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुत्योपयोगि, नेति यदाऽनुपयोगि तदाऽनुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरत्वस्य विग्रहादिविवक्षाविरोधितया मन्त्रार्थवदानां देवताविग्रहादिपरत्वाभावेन देवानां विग्रहविग्रहेण सामर्थ्याभावात्तदनधिकार इति फलितम् यदोपयोगि तदाऽनुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरत्वस्य विग्रहादिविवक्षाऽनुगुणतया मन्त्रार्थवादानां तत्परत्वेन देवानां विग्रहवत्त्वोक्त्या साङ्गब्रह्मविद्योपसंहारसामर्थ्यादस्ति ब्रह्मविद्याधिकार इति फलितम् । सामर्थ्याभावादिति । अर्थिवाभावस्याप्युपलक्षणमेतत् । सामर्थ्याभावमुपपादयति नहीति । उपसंहारः, अनुष्ठानं अशरीरं च कथमित्यत्राह—नचेति । वेदान्ताः प्रमाणं स्युरित्यत्राह—यद्यपीति । प्रयोजनपर्यवसायितैयवीह शब्दस्य प्रामाण्यं तत्र पूर्वभागवच्च सा प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं प्रयोजनपर्यवसानात् तत्र तात्पर्यं, ब्रह्मणः पुरुषार्थरूपतया तत्र वेदान्तानां तात्पर्यं देवादीनां विग्रहेषु तथात्वाभावात्तत्पर्यमित्यर्थः, पूर्वभागे मन्त्रार्थवादास्तत्र प्रमाणमित्यत्राह—मन्त्रार्थवादास्तिष्ठति । मन्त्रार्थार्थवादाभ्येत्यर्थः । अन्यपरत्वादिति । अनुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुत्योऽन्यपरत्वादित्यर्थः, मासौ सीदन्यपरेण मन्त्रार्थवादेन देवताविग्रहादि किं कर्मविधिमिस्त्वेव से स्यति, कर्मणो द्रव्यदेवतानिरूप्यत्वात् क्षणश्चक्षितः कर्मणः कालान्तरमाविपलसाधनं धर्मिर्वाहाय देवतैश्वर्यस्योपेक्षितत्वाच्छ्रुतहानेनाश्रुतापूर्वकत्वं नयोगाद्येतत् आह—कर्मविधयश्चेति ॥

## श्रीभाष्यम्

धयन्ति । अत एव तासामर्थित्वमपि न सम्भवति । अतस्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावाद्देवादीना-  
मनधिकार इति ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—‘तदुपर्यपि यादरायणस्सम्भवात्’ तदुपर्यपि तत् प्रलोपासनं  
उपरि देवादिष्वपि, संभवतीति भगवान् यादरायणो मन्यते, तेषामर्थित्वसामर्थ्ययोरस-  
म्भवात् । अर्थित्वं तावदाध्यात्मिकादिदुर्विषहदु र्यामितापात्परस्मिन्प्रह्मणि च निरस्तनि-  
सिलदोषगन्धेऽनवधिकातिशयासङ्गयेयकल्याणगुणगणे निरतिशयभोग्यत्यादिज्ञानाद्य स-  
म्भवति । सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया सम्भवति । देहेन्द्रियादिमत्त्वं च प्रह्मा-  
दीनां सकलोपनिषत्सु सृष्टिप्रकरणेषूपपासनप्रकरणेषु च ध्रूयते । तथा हि ‘सद्येव सोम्येदमग्र  
आमीत्’ ‘तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत’ (छां.६.२.१,२) इत्यारभ्य सर्वम-  
चेतनं तेजोवत्तन्मुखावस्थ्याविशेषवद्वाक्यत्वं ‘अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रदिश्य नामरूपे व्याक-  
रवाणि’ (छां.६.३.२) इति सङ्कल्प्य प्रह्लादिस्वावरान्तं चतुर्विधं भूतजातं तत्तत्कर्मोचित-  
शरीरं तदुचितनाममाफ्चायमकरोदित्युक्तम् । एवं सर्वत्र सृष्टिवाक्येषु देवतिर्यह्यनुप्य-  
स्यावरात्मना चतुर्विधा सृष्टिराम्नायते । देवादिमेदंश्च तत्तत्कर्मानुगुणब्रह्मलोकप्रभृतिचतु-  
र्दशलोकस्यफलभोगयोग्यदेहेन्द्रियादियोगात्तः, आत्मनां स्वतो देवादिस्वाभावात् । तथा  
‘तद्धोमये देवासुरा अनुषुबुधिरे ते होचुः इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रववाज विरोचनोऽसु-

## श्रुतप्रकाशिका

अथमभिप्रायः यद्यपि देवतावत्सु यागहोमादिकर्मसु देवतैश्वर्याङ्गीकारेणापि परप्रदत्तनिर्वाहसम्भवः, तथाऽपि दोष-  
तपःप्रभृतिषु देवतानामभावात् कल्पनीयमेवापूर्वं तथा च समानन्यायतया यागहोमादावप्यपूर्वमेव कल्प्यता किमर्धवै-  
शेषेन । किंच तत्रैव कल्पे सर्वकर्मफलभोगनियमाभावाद्देवतानां सृष्टिप्रलयाभ्युपगमाच्च परप्रदातुरभावात् तेषां कर्मणां  
नैकान्यमेव स्यात् । अथ तत्तद्देवताशरीरकः परमात्मा तत्तत्कर्माभिरारोपितो नित्यैश्वर्यतया परप्रद इति मतं, तथाऽपि  
प्रतिमाप्रतिमेयन्यायस्यात्, यथा प्रतिमोद्देशिभिरुपचारैर्देवताप्रीतिः एव देवतोद्देशिभिर्द्रव्यत्यागैः परमात्मप्रीतिरस्यात् ततश्च  
प्रतिमाया इव देवताया अप्युद्देश्यकारकत्वमात्रं विवक्षितं नैश्वर्यमपीत्यनपोक्षितम् देवतैश्वर्यं न कल्प्यमिति । उत्तरोपजीवने-  
नार्थि नामावमाह—अतएवेति । यतएव न विग्रहवत्त्वं देवतानां, अतएवार्थित्वमपि न सम्भवति, दुःस्य ताजिहासायाश्च  
देहसम्बन्धमूलवादार्थित्वस्य दुःस्य ताजिहासारूपत्वाच्चेत्यर्थः । एवं प्राप्तइति । अक्षरार्थमाह—तदुपर्यपीति । अर्थित्वमुपपा-  
दयति अर्थित्वमिति । सामर्थ्यमुपपादयति सामर्थ्यमपीति । पटुतरशब्दो मनुष्यदेहादपि पटु वातिशयपरः । प्रमाणाकां  
क्षयामाह—देहेति । तत्त्वोद्देशप्रधानमन्त्रत्रक्षणरूपवेदभागाउपनिषदः ताश्च द्विविधा तत्त्वपरा उपासनपराश्चेति, उभयो-  
रपि तासु देवतानां विग्रहादिमत्त्वमवगम्यत इत्यर्थः । कानि तत्त्वप्रतिपाकवचांसि कथंतेर्विग्रहवत्त्वप्रतिपादनमित्यत्राह—  
तथाहीति । सदेवेत्यादि । नामरूपव्याकरणस्य कण्ठोक्त्या नामरूपाणां चातुर्विध्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात्तानामरूपव्याकरण-  
धुनैव देवताविग्रहवत्त्वं सामान्येन सिद्धमित्यर्थः । ‘इन्द्रो वरुणरसोमो रद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः’ ‘नारा-  
यणाद्ब्रह्मा जायते’ इत्यादीनि विशेषोक्तिमन्ति च वाक्यान्वयमिप्रेतानि । चतुर्विधसृष्टिराम्नाता भवतु ततः किमित्यत्राह—  
देवादीति । उपासनदशायां परमकारणभूतस्योपास्यस्य लक्षणत्वेन प्राप्यदशायां प्राप्यविशेषणत्वेन विग्रहादिमत्त्व सिद्ध-  
मित्यर्थः । उपासनप्रकरणेषु दर्शयति तथेति । कर्मविशेषोपत्तेनापि सिद्धयतीत्याह—कर्मविधीत्यादिना । तत्र प्रथमं



## श्रीभाष्यम्

राणां तौ हासोवदानाद्येव समित्पाणी प्रजापतिमकाशमाजग्मतुः ' (छां.८.७.२) ' तौ ह  
 द्वाविंशतं वर्षाणि प्रत्यचर्यमूपतुः तौ ह प्रजापतिरुवाच (८.७.३) इत्यादिना स्पष्टमेव शरीरे  
 न्द्रियवर्यं देवादीनां प्रतीयते । कर्मविधिशेषभूतमन्त्रार्थधादेरपि ' यज्ञहस्तःपुरुन्दरः '  
 (अष्टक.२.प्र.६.अनु.७.पं.३४) ' तेनेन्द्रो यज्ञमुदयच्छन् ' (फाण्ड.२.प्र.४.अनु.१२) इत्यादि-  
 मिःप्रतीयमानं विग्रहादिगर्थं प्रमाणान्तराविरुद्धं तत्प्रमेयमेव । नचानुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तु-  
 तिपरत्वाभ्यां प्रतीयमानार्थान्तराविग्रहा शक्यते वक्तुम्, स्तुत्यानुपयोगित्वात्तेन विना  
 स्तुत्यानुपपत्तेः । गुणकथनेन स्तुतित्वम् । गुणानामसद्भावे स्तुतित्वमेव हीयेत । नचा-  
 सता गुणेन कथितेन प्ररोचना जायते । अतः परंपरोचयत्तो गुणसद्भावं बोधयन्त्येवार्थ-  
 वादाः । मन्त्राश्च कर्मसु विनियुक्तास्तत्र तत्र किञ्चित्कस्यायानुष्ठेयमर्थं प्रकाशयन्तो देवता-  
 दिगतविग्रहादिगुणविशेषमभिधत्त एव तत्र किञ्चित्कुर्वन्ति, अन्यथेन्द्रादिस्मृत्यनुपपत्तेः ।  
 नच निर्विशेषा देवता धियमधिरोहति ।

## श्रुतप्रकाशिका

एव सिद्धवस्तुनि तापर्यसमस्य फलत्वेन सिद्धिरुक्ता, अथ सावकत्वप्रकाशकहेतुतया ' फलमतुपपत्तेः ' इत्यत्र  
 फलसाधनत्वेनेति त्रिधा विभागः । ' आदित्यो यूपः ' इत्यादिव्यापृत्यर्थमाह—प्रमाणान्तराविरुद्धमिति । अन्यपर-  
 त्वमन्य निरस्यति नचेत्यादिना । स्तुत्यानुपयोगित्वादिति । आदिशब्देनानुष्ठेयार्थप्रकाशनं मन्त्रकृत्य गृह्यते मन्त्रार्थ-  
 विदेशियुद्देश अनुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरत्वाभ्यामित्यनुद्देशेचावगतत्रयोऽत्र परित्यक्तः, तत्र कारण मन्त्रैरपि क्वचित्श्रुत-  
 दर्शनेन स्तुतेर्व्यापकत्वम् । दृश्यतेहि मन्त्रैस्तुतिः ' नभिरिन्द्रत्वदुत्तरो न ज्यायोऽस्ति वृत्रहन्, ' तथा ' अहंन्वि-  
 भर्षि सायकानि धन्वन्नहंन्निष्क यजतं विश्वरूपम् । अहंन्निदन्दयसे विश्वमध्मुयं नया ओजीयो रुद्रत्वदस्ति  
 इत्यादिभिः ' अहंन्विभर्षि ' इत्यादिमन्त्रस्य स्तुतिपरत्वं ब्राह्मणेनैवावगम्यते ' अहंन्विभर्षि सायकानि धन्वेत्याह ।  
 स्तौत्येवैनमेतत् ' इति । तेनविना, प्रतीयमानार्थेन विना । तत्र स्तुत्यनुपपत्तिं विवृणोति गुणकथनेनेति । व्यतिरे-  
 केणोपपादयति गुणानामिति । स्तुतित्वमेव हीयेतेति । प्ररोचकत्वमेव हीयेतेत्यर्थः । शेषभूतस्य शेषिणप्रति किञ्चि-  
 त्कारोऽपेक्षितः, सनसिद्धयतीति यावत् ॥

ननु यदि गुणकथनेन स्तुतित्वं तथासति गुणकथनाभावे स्तुतिरवहानिरस्यात्, न गुणानामसद्भाव इत्यत्राह—  
 नचासतेति । अनेन ' नासता स्तुतिरुपपद्यते ' इति द्रविडभाष्यं सार्थते । अर्थप्रकाशनानुपपत्तिं विवृण्वन्मन्त्राण-  
 विग्रहादिमन्त्रे प्रामाण्यमुपपादयति मन्त्राश्चेत्यादिना । द्रव्यदेवतेहि कर्मनिरूपिके एतद्देवत्वमिदं कर्मेति प्रतिपत्तौ देवता-  
 विशिष्टत्वेनहि कर्मप्रतिपत्तिः ' यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वपट्करिष्यन् ' इति देवता ध्यातव्येति  
 श्रूयते, देवताचेदृशीत्येव प्रतिपत्त्यया निर्विशेषवस्तुनः प्रतिपत्तुमशक्यत्वात् । इन्द्रादिकं च न बुद्ध्याः स्वरूपस्य वि-  
 द्यते अतो विग्रहादौ विवक्षितत्वम् । प्रतीतेरात्मनमात्रमपेक्षितम्, नार्थसद्भावं इतिचेन्न नह्यतस्मिन्स्तद्वादि, फलाय  
 विधीयते अपितु यथाऽवास्थितकर्मस्वरूपबोधनहि क्रियते तस्मादनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वसिद्धयर्थं मन्त्राणां विग्रहादिमन्त्रे च  
 प्रामाण्यमस्त्येवेत्यर्थः । अर्थसद्भावाभावेऽपि प्ररोचनादृश्यत इतिचेन्न इष्टसाधनत्वाभावेऽपि बालातुरादिषु विप्रलम्भवा-  
 त्यानां प्रवृत्तिहेतुत्वं दृश्यत इति विधिवाक्यस्याप्ययथार्थवप्रसङ्गात् । अपौरुषेयतया निर्दोष विधिवाक्य निरुपकारिण्य

## धीमाप्यम्

तत्र प्रमाणान्तराप्रतान्गुणान् स्वयमेव बोधयित्वा तैः कर्म प्ररोचयन्ति ; गुणविशिष्टं वा प्रकाशयन्ति ; प्रतान्गुणान् तैः प्ररोचनप्रकाशने कुर्वन्ति ; विरुद्धत्वे तु तदाचिभिश्चैव विरुद्धान्गुणान् लक्षयित्वा कुर्वन्ति । कर्मविधेश्च द्रवताया ऐश्वर्यमपेक्षितमेव । कामिनः कर्तव्यतया कर्म विधीयमानं मयं क्षणप्रध्वंसि कालान्तरभाविनः फलस्य स्वर्गादेस्साधकमपे-

## धुतप्रकाशिका

निनि वाचाप्यमिति चेत्, तर्हि मन्त्रार्थवादानामप्यपेक्षेयत्वा निरूपकविषयत्वादतस्मिन् दृष्टविधानपरवामावाद्य स्वार्थे प्रामाण्यमस्तीति भावः ॥

एवमर्थसिद्धाप्रदर्शनेन प्रयोगप्रकारोऽर्थसिद्धः, विमता इन्द्रादिशब्दाः स्वरूपातिरिक्तपदार्थप्रतीतिहेतवः अपारिभाषिकेति चेन्न बोधकत्वादिदोषवाक्यस्य त्रिधाविषयवत् । विमता चतुर्थी प्रकृत्यतिरिक्तार्थनिष्ठस्वार्थ अपारिभाषिकशब्द-स्य विमक्ति-वात् 'दध्ना' इति विमक्तिवत् । विमता सप्रदानकारकबुद्धिश्चातिरिक्तविषया कारकबुद्धित्वात् करणकारकबुद्धियत् । विमता मन्त्रार्थवादाः प्रतीयमानार्थे प्रमाणानि साधकवाचकागोचरार्थबोधकत्वात् विधिवाक्यवत् विमत-शब्देन 'आपो वै शान्ताः' 'आदित्यो यूय' इत्यादि व्यावृत्तिः । विमतानि पदानि मुख्यार्थसंसर्गे प्रमाणानि, साधकवाचकागोचरार्थप्रतिपादकवाक्यस्य वात् विधिपदवत् विमतानि पदानि परमार्थभूतप्रतीयमानार्थसंसर्गाणि साधक-वाचकागोचरार्थप्रतिपादकवाक्यस्य वात् विधिपदवत् । मन्त्रार्थवादानां वाक्यवमसिद्धम् प्रवर्तकार्थनवबोधनं अतः पदशब्दवाच्या अर्थवादा इति वाच्यम् ; अर्थवादाः न पदशब्दवाच्या तिङ्कारकपदरुद्धात्वात् विधिवाक्यवत् । अर्थवादाः प्रमाणभूतवाक्यरूपाः साधकवाचकागोचरसंसर्गप्रत्यायकतिङ्कारकपदार्थकत्वात् विधिवाक्यवत् विमतामन्त्रार्थ-वादाः प्रतीयमानार्थविषयान्विताः, साधकवाचकागोचरार्थत्वे सति हि विधिनैकवाक्य वात् प्रयाजादिवाक्यवत्, न च प्रव-र्तकवाक्यप्रमुखाधिरिति वाच्यम् ; साधकारविधिवाक्यत्वेन तस्यापि संपादिकप्रसङ्गात् । प्रयाजादिनिधीनामविधिश-तार्थेऽनुष्ठाननिरोधात् साधकारविधिवाक्यत्वं न विवक्षितार्थत्वे प्रयोजकमिति चेत्—अनुष्ठानस्य प्रामाण्यवत्याहि रक्ष-यस्थानिष्ठता एवमपरादाभावात् स्वतःसिद्धयतः प्रमाणभावस्य भङ्गप्रसङ्गात् प्रवर्तकवाक्यस्य प्रयोजकम् । तस्मात्ति-रिक्तवाचिको हेतुः विगीता अर्थवादाः परमार्थस्वार्थोपस्थापकाः निरूपकपुरुषप्ररोचक वात् रसायनादुप्युताप्रतिपदकवाक्य-वत् कारणदोषसाधकप्रत्ययविरहितत्वाद्वा स्वर्गयागयोः साध्यसाधनभावप्रतिपादकवाक्यवत् । विमता मन्त्रार्थवादा प्रतीय-मानार्थे प्रमाणानि विद्वत्पक्षितार्थसमर्पकत्वात् 'छागस्य यपाया' इति मन्त्रवत् रात्रिसत्त्वार्थवादवच्च । विमता प्राश-स्यनुदि प्राशस्यहृत्भूताभ्यारमार्थनिबन्धना, निरूपकपुरुषाभ्यारप्राशस्तुतिवत् औषधीविषयप्रकारस्तुतिवदिति च 'आपो वै शान्ताः' 'आदित्यो यूय' इत्यादिषु प्रमाणान्तरसिद्धस्य तद्विरुद्धार्थस्य चाप्युच्यमानं च चरन् प्रामाण्य-मिति शङ्कयामाह—तत्र प्रमाणान्तरेति । बोधयित्वा विधाय प्ररोचयन्ति, अर्थवादा प्ररोचयन्ति । तत्राप्रकाशयन्ति, लक्षयित्वा कुर्वन्तीति । प्ररोचनप्रकाशने कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

ननु विद्वदपेक्षितार्थे हि ता पर्यं द्रवताविग्रहादेर्विद्वद्यपेक्षितत्वं कथमित्यत्राह—कर्मविधेश्चेति । 'फलमत उपपत्तेः इत्यधिकरणागो बुद्धिसौकर्यार्थमत्र सङ्गमस्य कथ्यते, न चेतदधिकरणासाधारणार्थं या असाधारणस्तु साधकत्वात् प्रत्येकप्रकाश-कमितिद्वयप्रतीयमानार्थे प्रामाण्यमस्तीत्यमर्थः, स च पूर्वमेवोक्तः बुद्ध्यादेर्द्वारादिवाक्यत्वमिति न द्वारकम् ।

## श्रीभाष्यम्

क्षते । मन्त्रार्थवादयोश्च ' वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति सपवैनंभूतिं गमयति ' (यजु.का.१.प्र.अनु.१.पं.१) ' यदनेन हविषाऽशास्ते तदद्यात्तदध्यात्तदस्मै देवा राधन्ताम् ' (अष्टक.प्र.२) इत्यादिषु देवतायाः कर्मणाऽऽराधितायाः फलदायित्वं तदनुगुणं चैश्वर्यं प्रतीयमानमपेक्षितत्वेन वाक्यार्थं समन्वीयते । देवपूजामिधायिनो यजिघातोश्च यागाख्यं कर्म स्वाराध्यदेवताप्रधानं प्रतीयते । तदेवं कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया वाक्यादेव विध्यपेक्षितं सर्वमवगतमिति नापूर्वादिकं व्युत्पत्तिसमयानवगतं कर्मदि धिष्वभिधेयतया कल्प्यतयावाऽऽश्रयितव्यम् । तथा सङ्कीर्णब्राह्मणमन्त्रार्थवादमूलेषु धर्मशास्त्रेतिहासपुरा-

## श्रुतप्रकाशिका

दित्यत्राह—वायुर्वा इति । श्रुतहानमश्रुतकल्पनं चानुपपन्नं रात्रिषु त्रादिष्विवेति भावः । वाक्यार्थं समन्वीयत इति । आर्थवादिकार्यानां श्रूयमाणत्वात्तद्विशिष्टे वाक्यतापर्यमिति निश्चितमिति रक्तः पटो भवतीतिवदुक्त्यापि ताकाङ्क्षत्वेन विधिर्नैकवाक्यतया समन्वयोऽर्थवादानामिति भावः । यत्र वाक्यशेषवशादपेक्षितदेवताप्रीतिद्वारकत्वं न सिद्धयति, तत्रापि यजि सामर्थ्यात्तत्सिद्धयति अर्थवादामवेऽपि विधिसामर्थ्यात् श्रुतिरिवेत्याह—देवपूजामिधायिन इति । न च ' यजदेव पूजा सङ्गतिकरणदानेषु ' इति शाब्दिकानां स्मरणं भ्रान्तिमूलमिति वाच्यम् विध्यपेक्षितार्थसमर्पकतया स्वार्थं प्रमाणभूतत्वा-न्मन्त्रार्थवादानां अस्य स्मरणस्य तन्मूलत्वापपत्तेः, विमतो विधिप्रत्ययः चेतनप्रीत्यतिरिक्तं फलसाधनकल्पननिराकाशः, चेतनप्रीत्यतिरिक्तं फलसाधनवाचकत्वकल्पननिराकाशश्च कृतिसाध्यचेतनप्रीत्यवगमकवाक्यस्यत्वात् राजानं सेवतेति वाक्यस्य विधिप्रत्ययवत् विमतशब्देन जुहुयादित्यादिव्यावृत्तिः । जुहुयादित्यादिषु विधिप्रत्ययेषु विधिप्रत्ययत्वाल्लेनेन पूर्वोक्तसाध्यद्वयं समर्थनीयम् तदेवमिति । कृत्स्नशब्देन मन्त्रार्थवादविधयो विवक्षिता । वाच्यपूर्ववादपक्षे अश्रुतकल्पनं नास्तीति चेन्न वाच्यत्वस्यापि कल्प्यमानत्वात् कल्प्यापूर्ववादे अपूर्वमेव कल्प्यं वाच्यपक्षे वाच्यं वमपि कल्प्यमित्याभिप्रायेण व्युत्पत्तिरुपपन्नमवगतीमव्युत्तम् । तथेत्यादि । ब्राह्मणशब्देन विध्युद्देशग्रहणं विध्यर्थवादमन्त्ररूपेण विभागवतास्मदादिभिर्नधी तासु अधीतासु च शाखासु तत्राप्यन्यतरप्रकरणेषु प्रसङ्गादनुपपत्तिः । भगवता व्यासेन व्यस्येध्वव्यस्तेषु च वदभागेषु विप्रकीर्णानां वाक्यानामर्थः इतिहासादिषु सङ्कल्प्यं कथ्यन्त इति भावः । सङ्कीर्णशब्देन नित्यानुमेयश्रुतिमूलवोपपन्नत्वा-खामूलव्युदासः तदुभयमपि ह्यनुपपन्नम् । तत्र यस्तावन्नित्यानुमेयतयाऽविमतो वर्णसमुदायः स किं वर्णमात्ररङ्गात् ; उतानुपूर्वीविशेषविशिष्टः प्रथमेकचटपदिवदर्थवबोधकं वामावेन वाक्यत्वाभावाद्वाक्यार्थशेषत्वरूपवेदत्वादिः स्मृतीनां वेदमूलं न स्यात् । द्वितीये नित्यानुमेयं न व्याहृतं स्वतः क्रमरहितानां वर्णानामुच्चारणेन विना आनुपूर्वी विशिष्टविशि-त्वायोगात् उच्चारणयोग्यताऽस्तीति चेन्न उच्चारणयोग्यतानामप्युत्तरवागिन्द्रियपुराबुद्धिस्थितिः, सच्च योग्यता किं वर्णमात्र-गता उतानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णगता । न प्रथमः वर्णमात्रस्यार्थानवबोधकतया स्मृतेर्निर्मूलत्वप्रसङ्गात्, सत्यामानुपूर्व्या स्मृतिप्रतिपत्तार्थवबोधनक्षमत्वं वर्णेष्वस्तीति चेत् तेष्वेव वर्णेष्वानुपूर्व्यन्तरेति चेत्त्यवन्दनकर्तव्यताद्यर्थवबोधनक्षमं वक्ष्य-स्तीति बुद्धस्मृतेरापि वेदमूलत्वप्रसङ्गः वेदब्राह्मणतया सप्रतिपत्तत्वात्तस्याः वेदमूलत्वानुमानशङ्कोदय इति चेत् ऋग्वेदस्य वेदमूलत्वप्रसङ्गः प्रवर्तकार्थपरत्वाभावात् वेदमूलत्वानुमानमिति चेत् ' कार्या सैकतली नहंसमिथुनस्रोतोयदामा-लिनी ' इति वाक्यस्य वेदमूलत्वप्रसङ्गः । आनुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णगतायोग्यतेत्यप्युक्तम् । पूर्वं केनचिदुच्चारितत्वाभावा-दानुपूर्व्यसिद्धेः, ततश्चानुपूर्वीविशिष्टतारूपवेदत्वं दूरेणास्ति इति । आनुपूर्वीविशेषोच्चारणयोग्यं च वर्णानामनादीति

## श्रीभाष्यम्

जेषु ब्रह्मादीनां देवासुरप्रभृतीनां च देहेन्द्रियादयस्स्वभावमेदाः स्थानानि भोगाः कृत्यानि

## श्रुतप्रकाशिका

चेत् तच्चैत्यवन्दनप्रतिपादनानुगुणानुपूर्व्या अपितुल्यम् अतस्तत्रापि वेदमूलत्वं स्यात् कर्तुंसामान्याभावात् तत्र वेदमूलत्वानुमानं श्रुतिस्मृत्यर्थयोस्तुल्यतया कर्तुंसामान्यात् स्मृतेर्वेदमूलत्वानुमानमिति चेत् माभूत्कर्तुंसामान्यं तेन मन्वादिस्मृतीनां वेदमूलत्वेऽनुमिते तुल्यन्यायतया आप्नितं वेदमूलत्वं को वारयेत् स्वावगतार्थप्रतिपादनानुगुणानुपूर्वी विशेषेणानादिसंघयोग्यवर्णास्तिवृत्तानहि सर्वत्र समान तज्ज्ञाननियमो बुद्धादीनां प्रघनिर्माणदशायानास्तीति चेत् तज्ज्ञानपूर्वकमेवेदानीं रघ्यातृणानि गणयेत् स्वर्गकाम इ युक्तस्य वाक्यस्य वेदमूलत्वप्रसङ्गः ॥

नन्येनेनैव स्मृत्यवगतार्थविशेषेणावच्छिन्नानुपूर्वीविशिष्टानां वर्णानां वेदत्वमिति चेन्न मन्वादिवाक्यस्य अपि तदर्थवच्छिन्नानुपूर्वीविशिष्टवर्णसमुदायात्मकतया वेदत्वप्रसङ्गेनानुमेयान्तराभावाच्चित्यानुमेयश्रुतिमूलवाचिद्वेः । अतो नित्यानुमेयश्रुतिमूलत्वमनुपपन्नं उत्सन्नशास्त्रामूलवपक्षेऽप्यधीयमानशास्त्रास्त्रेव प्रमादाकतिपयवाक्यानां कचिक्कचिद्देशे प्रलीनवाचनमूलाः स्मृतयः प्रणीता इत्यप्युक्तम् । पदवाक्यसङ्ख्यानियमेन बहुभिरभ्येतुमिरसालितमधीयमानत्वात् कतिपयवाक्यानां प्रणीतत्वानुपपत्तेः । स्मृतीनां मूलभूतशास्त्राकार्येण काचिदुत्सन्ना तन्मूला स्मृतय इत्यप्युक्तम् । तथाहि शास्त्राया उत्सादो नाम किं कतिपयदेशेष्विदानीमधेतृविरहः उत सर्वदेशेष्वप्यधेतृविरहः । प्रथमः कल्पोऽभ्युपगतः । न द्वितीयः, तपःप्रणवाधिगतसार्वज्ञ्यादीनां व्यासादीनां तत्तच्छास्त्राविशेषाभिधाना तदध्ययनपरित्यागे कारणाभावात् स्वशिष्याध्यापनसमवाच्च । नचेदानीं तं शिष्यशुद्धिमाध्यादिदानीं तदध्यापनासम्भवः, बहुशास्त्राध्ययनासामर्थ्येऽप्यस्मदादेरिव तत्तदेकशास्त्राध्ययनसमर्थशिष्यसम्भवात् । अतः प्राचीन एव पक्षः परिशिष्यते अतः स्मृतीनां सङ्कीर्णवेदाभागमूलत्वमेव युक्तम् स्मृतिमूलभूतवेदभागसद्भावे स्मृतिप्रणयनवैयर्थ्यमिति चेन्न तच्छास्त्राध्येतृपुरुषविरहितदेशेषु तद्युक्तदेशेष्वपि बहुशास्त्राध्ययनधारणतदर्थनिरूपणनिर्णयासमर्थपुरुषेषु च सफलत्वात् अतः स्मृतीनां सङ्कीर्णवेदभागमूलत्व युक्तम् कर्मविधेश्च इत्यादौ भाष्ये इदमर्थासिद्धं यदुक्तं यागादौ दानादौ चार्थवैरूप्याश्रयणार्थवैशसमिति तदसत् सर्वत्राप्यपूर्वकल्पनानभ्युपगमात् । नच फलसाधनतानुपपत्तिः कर्मोपजनितप्रीतिः परमात्मन एव तत्सिद्धेः, 'वासो ददाति । सर्वदेवत्यं यै वासः, सर्वा एव देवताप्रीणाति' इत्यादिभिर्दानादीनामापि देवताप्रीतिहेतुत्वावगमाच्च । नच परमात्मप्रीत्या फलसम्भवे देवतैश्वर्योपयोगः प्रधानावान्तरापूर्वकल्पनान्यायस्यात्रापिष्टत्वात् । यथाहि पूर्वापरभूतानामङ्गप्रधानरूपाणामनेकेषां कर्मणा योगपद्याभावादवान्तरापूर्वद्वारा परमापूर्वनिष्पत्तिरङ्गीक्रियते, एवमेष तत्तत्कर्मजनितप्रीत्यतिशयाभेदे देवताभिः परमात्मम्यखण्डैकप्रीतिजननमातिष्ठामहे । इदमेव च देवतायाः फलदानानुगुणमैश्वर्यं यत्फलप्रदे परमात्मनि स्वप्रीतिद्वारा प्रीतिजननं, उक्तं हिमगवता 'यो यो यांयां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति' इत्यारभ्य 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्दितान्' इति । तेन फलोपभोगस्यानियतकालत्वेऽपि न दोषः ॥

नचैवं सति प्रतिमाप्रतिमेयन्यायेन देवताप्रीतिरनाख्येया 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद्वपद्वक्-रिष्यन्' 'साक्षादेव देवताप्रीणाति' 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति' 'स एनं वृत्ता आयुषा तेजसा वर्चसा श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन च तर्पयन्ति' 'येचैव देवास्सारययायानो येच प्रातर्या-षाणः तानेवोभयांस्तर्पयति त एनं वृत्ता प्रजया पशुभिस्तर्पयेयुः' इति देवतातृप्तेः श्रुतत्वाच्च ग्रहणानुपपत्तेः । 'पितरि



## श्रीभाष्यम्

चेत्येवमादयस्तुव्यक्ता प्रतिपाद्यन्ते । अतो विग्रहादिमत्त्वाद्देवानामप्यधिकारोऽस्त्येव ॥

## श्रुतप्रकाशिका

प्रीतिमापन्ने सर्वास्तुष्यन्ति देवता. ' इति न्यायात् भृत्यप्रीणने भूभृत्प्रीणन-न्यायाच्च देवताप्रीतिः परमात्मप्रीतिर्हेतुवोपपत्तिश्चेति । सूत्रार्थमुपसहरति अत इति ॥

ननु कथं देवतानां ब्रह्मविद्याऽधिकारः न ह्यत्रैवर्णिकानां । तेषामुपनयनाभावेन अध्ययनसिद्धत्वाध्यायलब्धविद्येव न च तेषां विद्याङ्गभूतकर्मानुष्ठानयोग्यत्वं अग्निनिष्पत्त्यनुपपत्तेः । ' वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यथा-दधीत शरीद वैश्य आदधीत ' इति त्रैवर्णिकविषयाधानविधिः कथं देवानधिकरोति, अन्यार्थेयस्यानधिकारोऽधिकरणसिद्धः, देवानां देवर्षीणां च मूलभूतश्रुत्यन्तराभावादत्रार्थेयतयाचानधिकारः । अग्नीन्द्रादीनामग्नीन्द्रादिदेवताभावाद्ग्रन्थाद्युद्देशेन हविः प्रक्षेपानुपपत्तिश्चेति । उच्यते न तावदुपनयनाभावात्साङ्गविद्यानधिकारः । तस्याध्ययनाङ्गत्वात्, यज्ञादिकर्मब्रह्मोपासनयोरङ्गत्वाभावात् अध्ययनाभावेऽपि देवतानां श्रुतप्रकर्षेण पूर्वजन्मविशेषाधीतत्वाध्यायतदर्थस्मरणोपपत्तेश्च पिशाचादयोऽपिहि पूर्वजातिं स्मरन्ति, किं पुनर्देवा देवर्षयश्च ? न चोपनयनदिव्यद्विधाकर्मणोरनधिकारः — शूद्रादीनामपि उपनयनरिहप्रयुक्तत्वाभावादनधिकारस्य, सखलु तेषां सामर्थ्याभावानुद्गीतशास्त्रनिषेधप्रयुक्तः । देवतानां हिविद्याकर्मणां न क्वचित्प्रतिषिद्धे प्राक्तनशानाप्रमोषा सामर्थ्ये च स्थितम्, न च त्रैवर्णिकत्वादत्रार्थेयतयाचानाभावादनधिकारः । मनुष्यकर्तृकाधानस्यैव त्रैवर्णिकत्रयार्थेयधिकारित्वनियमात् किमत्र नियामकमिति चेत् । देवाः सत्रमासत ' विश्वसृज. प्रथमाससत्रमासत ' इत्यादिश्रुतिभिर्देवादीनां कृत्वनुष्ठानदर्शनात् विशेषत इन्द्रादीनां वृत्रवधादिजानितकलुषक्षालनाय कृत्वनुष्ठानस्मरणाच्चेति ब्रूमः ॥

यद्वा ब्राह्मण्यादिकं देवतादीनामप्यस्ति, तत्त्वत्त्वदृष्टविशेषसम्बन्धरूपं न तु जातिरूपं ब्राह्मणादिभिर्ब्राह्मण्यादिषु पत्तिमात्रेण अन्यथा आदिकाले ब्रह्मणो मृत्पत्राहूरुप्रभवानां पश्चाद्विश्वामित्रप्रभृतीनां च ब्राह्मण्याद्यभावप्रसङ्गात् । सन्तानविशेषप्रसूतत्वे च तादृगदृष्टवत्त्वसूचकं सतानाविशेषोपपत्तेः प्रकृष्टादृष्टकार्यत्वात् अलौकिकप्रकर्षविशेषकारणत्वाच्च, ईदृशं ब्राह्मण्यादिकं देवतास्वपि सम्भवति । अवगम्यते च तत् वाजपेय प्रकृत्य ' तंवृहस्पतिरुदजयत्तेनाजयत तेनेन्द्रमयाजयत् ' इति वृहस्पतिनेन्द्रेण च वाजपेयस्यानुष्ठितत्वमुक्त्वा ततएव हेतोः ' सवा एष ब्राह्मणस्यैव राजन्यस्य च यज्ञः ' इति वाजपेयस्य ब्रह्मशत्राधिकारत्वमुच्यमानं वृहस्पतेर्ब्राह्मण्यामिन्द्रस्य क्षत्रत्वमपि ह्यवगमयति ' ब्रह्मावृहस्पतिः क्षत्रमिन्द्रः ' इति च श्रूयते तथा ' मरुतो वै देवानां विशः ' इति मरुतो विशश्श्रूयन्ते अनो देवताविशेषाणां ब्रह्मशत्रुविद्विष्यभागासिद्धेरग्रेसर-धो युक्तः । विद्यानुग्राहकं ब्रह्मचर्यादिकं च देवानां श्रूयते ' एकशतं हवै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवांस ' इत्यादिषु । अतो विद्याङ्गकर्मगुणपौष्कल्यात्सामर्थ्यं सिद्धम् । न च यद्व्यदेवतान्तराभावाद्यजमानानुपपत्तिः अग्नीन्द्रादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां शानशतयैश्वर्याविशेषाणां निरुपाधिविश्रयतया त-छ-दवा-यस्य परमात्मनोऽव्यवधानेन देवताभिराराध्यत्वात्, अग्नीन्द्रादीनां तत्तद्यज्ञभागभागिव स्वाराधनप्रीतेन प्रगवन्ना दत्तं न तु स्वामाधिक्यथाक्त व्यासेन कृष्णद्वैपायनेन मोक्षधर्मे यज्ञप्रहाराध्याये—

- १११ ततस्ते विद्युवारसर्पे ब्रह्मा ते च महर्षयः । वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं प्रतुगाहरन् ॥  
सस्मिन्सत्रे तथा ब्रह्म स्वयम्भागमकल्पयत् । देवा महर्षयश्चैव सर्वे भागानकल्पयन् ॥  
ते कार्त्युगधर्माणो भागाः परमसंयुताः । प्रापुरादित्यर्णव पुरय वमत्त परम् ॥

श्रीभाष्यम्

सू-२६ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् [१.३.२६]

देवादीनां विप्रदादिमत्त्वाभ्युपगमे कर्मणि विरोधः प्रसज्यते, यहुषु यागेषु युगपदे-  
कस्येन्द्रस्य विप्रहवत्त्वे ' अग्निमग्ना आग्रह ' (यजु.अष्ट.प्र.३.५) ' इन्द्रागच्छ हविष्य अगच्छ'  
(यजुराण्यष्ट.प्र.१.अनु.१२) इत्यादिना आहुतस्य तस्य, मन्त्रिधानानुपपत्तेः । दर्शयतिचा-  
ग्रदादीनां तत्रतत्रगमने ' कस्य वा ह देवा यज्ञमागच्छन्ति कस्य वा न वहन्तां यजमानानां  
यो वै देवता. पूर्वं परिगृह्णाति स एना श्वो भूते यजते ' (यजु.काण्ड.१ प्र.६ अनु ७.पं.२१)  
इति । अतो विप्रदादिमत्त्वे कर्मणि विरोधः प्रसज्यत इति चेन्, नन्वनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्  
दृश्यतेहि सोभरिप्रभृतीनां शक्तिमतां युगपदनेः शरीरप्रतिपत्तिः ॥

श्रुतप्रकाशिका

विप्रदादिमत्त्वेन भगवतो यद्व्यवसृज्यते । तत्र भगवद्वचः—

येन य कलितो भागस्तथा समुपागत । प्रतोऽहं प्रदिशाम्यथ फलमावृत्तिलक्षणम् ॥

तत्र यैर्येषां यद्व्यवसृज्यते सर्गलोकेषु वैसुरा । कल्पयिष्यन्ति यो भागान् तेनरा वेदकल्पितान् ॥

योमे यथा कल्पितान् भागमस्मिन्महाश्रुतौ । स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मयाकृतः ॥

इत्यत्र भगवता यज्ञभागमाकर्तुं देवानां दत्तमिति न दृश्यते । अतो दत्तानां कर्मणो विचारोऽपि विद्यामात्राधिकार-  
वादोऽनुपपन्नः । अतस्साङ्गप्रज्ञाविद्यापसहारसामर्थ्ये दत्तार्थानामस्तीति सिद्धम् देवानां ब्रह्मविद्याधिकारित्वम् ॥

सू-२६ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् (१.३.२६)

विप्रदाभ्युपगमे तद्वदार्थमादिक आह्वानागमने चाभ्युपेये, तदा युगपदनेककर्मस्वह्वर्तुं विरोधः शरीराधीनविरोधो  
गमनस्येवार्थः । आगमनमात्रं प्रमाणिकसतिहि तद्योगपक्षे विरोध इत्यागमने प्रमाणमहं दर्शयतिचेति । नेत्यादिक  
व्याचष्टेति चेति । ' दर्शनात् ' इत्येवम्याचष्टे दृश्यतेहीति ।

आत्मनोऽपि शरीराणि यहुनि मनुजेश्वर । योगा कुर्याद्विलं प्राप्य तैश्च सर्वा महीं चरेत् ॥  
इति मास्तत्रचनादिदृष्टव्यम् । याग्यानुपलभ्यस्तु मन्त्रोपवादिभिर्मनुष्याणामिव शक्तिविशेषैर्देवानामपि सम्भर्ताति न  
विरोध इति भावः ॥

ननु यदि देवा इहागत्य हविरदन्ति, तर्ह्यन्यत्र मन्त्रार्थवादप्रतिपक्षमेव हेतुवाहव भवेत् । अवगम्यतेतत् ' हृदयं  
वाडमिरजरं पितान ' इति, ' अवाहव्याणि सुरभीणि कृत्वा । प्रादा.पितृभ्य स्वधयाते अक्षन् ' इति ' अग्नेस्यो  
ऽयायागौसो ' धातिर आसन् ते देवेभ्यो हव्यं वहन्त.प्राप्स्यन्त ' इत्यादिषु इह प्रक्षिप्तस्य हविषो लोकांतरप्राप्तिश्च  
श्रूयमाणानुपपन्नः, अग्निहोत्राहुती प्रकृत्य ' ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामत ते अन्तरिक्षमाधिशतः ' ते अन्तरिक्षं  
तर्पयत ते दिवमाधिशतः, ते दिवं तर्पयत ते तत् आर्यते ते इमामाधिशतः ' इति । सूर्यते, च  
अग्नौ प्रास्ताहुतिस्मर्यागादित्यनुपपत्तिष्ठते । आदित्याज्जायते धृष्टिर्धृष्टेरन्नं तत् प्रजा ॥

## श्रीभाष्यम्

सू—२७ शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (१-३-२७)

## श्रुतप्रकाशिका

इति । 'तत् आवर्तेते' इति इह हविषोरावृत्तिश्चानुपपन्ना, कथं देवैर्मक्षितस्यावृत्तिः प्रत्यक्षेण दग्धस्य हविषः कथं देवैर्मक्ष्यमाणत्वं च युक्तमिति । उच्यते—'अघाङ्गुल्याणि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः' इति श्रवणादग्निना परिणाम्यमाणस्य हविषः सूक्ष्मं रूपं किमप्यलौकिकं विद्यत इत्यभ्युपेत्य श्रेयस्साधनं भवत् । तच्च देवानामिच्छावशादतीव वर्धते, तथाहि ब्राह्मण 'यद्वै देवा हविर्जुषन्ते अल्पमप्येकामाहुतिमपि तद्विरिमात्रं वर्धयन्ते' इति । अतोऽपरिमितत्वेन किञ्चिद्भुज्यते किञ्चिन्नीयते इति सर्ववाक्यानुगुण्येन कल्प्यम् । यद्वा इह सन्निधायाऽपि हविर्गृहीत्वा स्वस्थानं गत्वा तद्भुज्यतां कोत्राघः । हविषोरिहावृत्तिर्नाम तत्फलभूतवृष्ट्यादेरिह संभव उपचारादुक्तः । यद्वा 'इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेः' 'अग्निमम आवह सोममावह' इति येष्विध्यादिकर्मसु देवताह्वानतदागमने श्रुते, तेष्वेव कर्मस्विहागस्य हविरदनं अन्यत्रत्वमिभिर्हविष उन्नयनमिति विभागः 'तेवा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इति वाक्यमपि सन्निहोत्राहुतिविषयः, न तत्र देवताह्वानागमने ॥

ननु तत्रापि साययावप्रातर्यावसंज्ञानां देवानामागमनं भूयते 'सायं यावानश्च वै देवा प्रातर्यावाणश्चामिहो त्रिणो गृहमागच्छन्ति' इति सत्यं तेषु नामिहोत्राहुतिभोक्तारः 'सर्जुर्देवैस्सायं यावभिरिति सायगूस्सम्भृशति । सर्जुर्देवैः प्रातर्यावभिरिति प्रातः । येचैव देवास्सायं यावानो ये च प्रातर्यावाणः, तानेवोभयागूस्तेर्पयति' इति समर्शनमात्राहुतिश्रवणात्तेषाम् । हुतहविर्भोक्तृत्वंतु सूर्यादीनामेव न च तत्र सूर्यादीनामाह्वानम् अतो देवताह्वानवत् सुकर्म स्विहागस्य हविरदनं अन्यत्र हविष उन्नयनमिति विभाग उपपन्नः । अतोऽमेहं व्यववाहवश्रुतिराहुत्योरुक्रमणश्रुतिः अग्नौ प्रास्ताहुतिस्सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' इति स्मृतिश्च चरितार्था । अतोऽनेकशरीरप्रतिपत्त्या देवानां सन्निधानात्तत्कर्मणि विरोधः । इतरेषु 'कतिदेवा' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्रिच शतान्नयश्च त्रिच सहस्रेति' इति निरुध्य 'कतमेत' इत्यस्या पृच्छाया 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्स्त्वेव देवाः' इति निर्द्भवन्ती श्रुतिरेकैकदेवताया अनेकरूपतायां प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता । अत्र त्रयस्त्रिंशता देवानां प्राधान्यमितरेषा तद्गुणभावश्च प्रतीयते । 'महिमान एवैषामेते' इति हि भूयते । महिमशब्दस्य शरीरवाचित्वेन न्युपपत्त्यभावात् एत इति च न शरीरात्मात्रनिर्देशः अपितु सशरीरचेतन-व्यपदेशः 'कतिदेवा' इत्युपक्रमस्य देवशब्दसामानाधिकरण्यादेत इति पदस्य, नहि देवशब्दो देहमात्रपरः । न च देवशब्दनिर्दिष्टा देवा जीवान्तराणां शरीरभूताः शरीरलक्षणस्य सर्वथाऽनुपपत्तेः, 'कतम एको देवः' इति पृष्ट्वा 'प्राणः' इति प्रतिवचनवाक्येऽपि प्राणशब्दो न प्रसिद्धप्राणपरः, अपितु परमात्मपरः । अतोऽस्याऽश्रुतेरेकैकदेवताया अनेकरूपताप्रतिपादकत्वानुपपत्तिरिति मतेत्यत्र अप्र सेषा श्रुतिरनुदाहृता । व्याख्यातृतरैः 'अनेकप्रतिपत्तेः' इत्यस्य शब्दस्य युगपदने-कार्थोपलभ्यसामर्थ्यपरत्वेन व्याख्यातत्वेऽपि 'आगच्छन्ति' इति श्रुत्यशरस्वारस्यानुगुणं अनेकशरीरप्रातिपत्त्या व्याख्यातम् ॥

सू—२७ शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् [१-३-२७]

## श्रीभाष्यम्

विरोध इति घटते । मा भूत्कर्माणि विरोधोऽनेकशरीरप्रतिपत्तेः । शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते, अनित्यार्थसंयोगात् । विग्रहवत्त्वे हि साधयवत्त्वेनेन्द्रादेरर्थस्यानित्यत्वमनिवार्यम् । ततो देवदत्तादिशब्दवदिन्द्राद्यर्थजन्मनः प्राग्विनाशादूर्ध्वचेन्द्रादिशब्दानां वैदिकानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा वेदस्य स्यादिति चेत्—तत्र, अतः प्रभावात् अस्मादिन्द्रादिशब्दादेव पुन पुनरिन्द्राद्यर्थस्य प्रभावात् । एतदुपतंभवति नहि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दा वैदिका व्याप्तिविशेषमात्रे सङ्केतपूर्वकाः प्रवृत्ताः ; अपि तु स्वभावात् एव गवोदिशब्दवदाकृतिविशेषवाचित्वेन । ततश्चैकस्यामिन्द्रव्यक्तौ विनष्टायामत एव वैदिकामिन्द्रशब्दान्मनसि विपरिवर्तमानादयगततद्वाच्यभूतेन्द्राद्यर्थकारोघाता तदाकारमेवापरमिन्द्रे

## श्रुतप्रकाशिका

शब्दशब्द विशिनष्टि वैदिक इति । अभिप्रेत हेतुमाह—अनित्यार्थसंयोगादिति । हेत्वर्थे विवृणोति विग्रहवत्त्वेदीति । अर्थशून्यत्वमनित्यत्वयेति । देवदत्तादिविनाशे देवदत्तादिशब्दस्तेवानर्थकत्वम् । अनित्यत्व अनुधार्यमाणत्वं नित्यत्वेऽर्थशून्यत्व विग्रहादिमदिन्द्राद्यर्थस्य यावच्छब्दमावित्वाभावात् अर्थवत्त्वे अनित्यत्वं वा शब्दस्य यावदर्थमावित्वादर्थानां चानित्यत्वादित्यर्थः ॥

ननु कथमर्थशून्यत्वं शब्दानां अतीतानागतभूतभविष्यदादयश्च शब्दस्य समकालत्वाभावेऽप्यर्थवन्त एव । नहि तेषां कदाचिदप्यर्थसमकालत्वसम्भवः नच तेषामर्थशून्यत्वम् । यथा विन्ध्यस्येनोच्चारितो मेरुशब्दो देशविप्रकर्षेऽप्यर्थवान्भवति । एवामिन्द्रादिशब्दाश्चेन्द्रादिव्यक्तीनां कालविप्रकर्षेऽप्यर्थवन्तः कस्मान्नभवन्ति, क्वचित्कदाचिदर्थस्य प्रामाणिकत्वादि शब्दस्यार्थवत्त्वानिवन्धनमिति । उच्यते अनभिज्ञा भवन्तो माय्यहृदयस्य य एव परिचोदयन्ति । एतदपाकुरणाय हि शब्दे तु वैदिक इति विशेषितम् सौत्र पद इहापीन्द्रादिशब्दानां वैदिकानामित्युक्तम् । अयमभिप्रायः ' इन्द्र आगच्छ हरिश् आगच्छ ' इत्यादिक मन्त्रजात वैदिककर्मसु विनियुज्यते तत्र पूर्वमेवेन्द्रव्यक्तौ विनष्टायामिन्द्रशब्दवाच्यव्यक्तेः पाश्चात्यवृत्तकर्मण्यागमनाभावात्, ' इन्द्र आगच्छ ' इत्यादिशब्दानामुच्चार्यमाणानामर्थशून्यत्वम् अनुधार्यमाणत्वं वा स्यादिति इन्द्रव्यक्त्यन्तरेणार्थवत्त्वमिति चेत् ; तद्व्यक्त्यन्तर पूर्वव्यक्तिसमानाकारायुधपराक्रमविभूतिक्रिया नवा प्रथममनुपपत्तं छद्मस्वातन्त्र्यस्यानिवार्यत्वात् सरूपसृष्टिनियमानुपपत्तेः वैरूप्यसम्भवात् । ततश्चान्याकारवाचिनामिन्द्रादिशब्दानां प्रवृत्तावाकारान्तरस्य निमित्तत्वायोगादर्थशून्यत्वमवर्जनीयम् । द्वितीये तु या व्यक्तिरिन्द्रशब्दविषयत्वेनाभिप्रेता स्यात् तस्यां व्यक्तौ तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कस्यचिदभावोदव तदवाचकतयाऽर्थशून्यत्वम् । तथाऽपि कष्टपुरुषबुद्धयधीनसङ्केतवशात् प्रयोगश्चेत् शब्दसङ्केतगोचरस्यार्थस्य सङ्केतयितृपुरुषबुद्धयगोचरे सङ्केतानुपपत्तेः, देवदत्तादिशब्दानामिवेन्द्रादिशब्दानां पुरुषान्तरबुद्धिसापेक्षप्रवृत्तिवोद्वेदस्यानपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यं न स्यात् । यदि प्रधानकालरमात्मशब्दवदेकैकव्यक्तिवाचित्वमिन्द्रादिशब्दानां स्यात् तदा सङ्केतनैरपेक्ष्येण निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यं स्यात् । अत इन्द्रादीनां प्रधानादीनामिव नित्यत्वाभावात्तद्वाशेऽर्थशून्यत्वानुच्चार्यमाणत्वयोरन्यतरप्रसङ्गो दुर्वार इति । ' नातः प्रभावात् ' इत्येतद्व्याचष्टे तन्नेत्यादिना । शब्दार्थस्योत्पत्तिः कथं ततश्चार्थशून्यत्वानित्यत्वपरिहारः कथमित्यत्राह—एतदुक्तमिति । घाता तदाकारमेवेति पदैः ' सूर्याचन्द्रमसौ घाता यथापूर्वमकल्पत् ' इति श्रुतिः ।

यथर्तुष्वुल्लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानितान्येव तथा भावायुगादिषु ॥



## श्रीभाष

जति ; यथा कुलालो घटशब्दान्मनसि विपरिवर्तमानात्तदाकारमेव घटम्-इति । कथं  
मिदमवगम्यते ? प्रत्यक्षानुमानाभ्या-श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । श्रुतिस्तावत्, वेदेन रूपे  
व्याकरोत्सतासती प्रजापति' (अष्ट २ प्र ६ अनु २ प ७) इति तथा 'स भूरिति व्याहरत्  
स भूमिमज्जत, स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमज्जत' (२ २ २२) इत्यादि । घाच  
कशब्दपूर्वकं तत्तदर्थसंस्थान स्मरन् तत्तत्संस्थानविशिष्टं तत्तदर्थं सृष्टवानित्यर्थः । स्मृति  
रपि 'अनादिनिधना ह्येषा यागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्यायतरसर्वा प्रसू-  
तयः' (मनु अ. १ श्लोक २१) इति ; 'सर्वेषां तु मनामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदश-  
ब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे, ( ) इति । संस्था संस्थानानि रूपाणीति  
यावत् ; तथा 'नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम् । वेदशब्दस्य एवादौ देवादीनां  
चकार स' [वि पु अ १] इति । अतो देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि वेदिकशब्दानामानर्थक्यं,  
वेदस्यादिमत्त्वं च न प्रसज्यते ॥

## श्रुतप्रकीर्णिका

इति स्मृतिश्च स्मर्यते । धीस्थस्य शब्दस्य तत्तदाकृतस्मारकतया हतुवम् । तदत्र दृष्टान्तनिरूपणार्थम् । यथेति ।  
मनसि विपरिवर्तमानं व आलम्ब्यमानं वम् । श्रुतिस्मृतिभ्यामिति । प्रत्यक्षग्राह्यो वद प्रत्यक्षशब्दवाच्य स्वरूपव-  
द्धानुमापिका स्मृतिरनुमानशब्दवाच्येत्यर्थः । सतासती चदाचती रूपे व्याकरात् विनिघमकरादित्यर्थः ॥ ११  
परैस्तु अनित्याच्छब्दजगतः प्रभवानुपपत्तरानत्यवर्णातिरिक्तो नित्यशब्दः स्फोटइत्येकदशमतेनोपन्यस्य तद्व्यु-  
त्पत्तयस्य वर्णानां नित्यं प्रसाध्य वर्णानित्यं वेऽपि तद्वत्तज्जात्या सबन्धग्रहणादिकं जगत्स्तत् प्रभवनादिकं चोपपन्नमित्युत्तमम् ।  
तद्व्युत्पत्तयस्य इहानुपयोगाद्विरोधाच्च, तथाहि नतावच्छब्दो जगदुपादानं ब्रह्मोपादानं वाभ्युपगमात् । निमित्तं च न दण्ड-  
चक्रादेवत् कारकतया किंतु बुद्धिस्थित्याऽर्थस्मारकतया तत्र च धर्माधर्मयोरनित्ययोरपि विषमजगदुपपत्तौ निमित्तं वसम-  
पगतं दण्डचक्रादीनां चानित्यानांमपि निमित्तत्वं दृश्यते, किं कार्यमात्रस्य अनित्यादुपपत्तिरनुपपत्त्या, उत अगदूषकार्यविशेष-  
स्य निमित्तमेव दण्डचक्रादीनां घटादिकारणवददर्शनात् । नद्वितीयं धर्माधर्मयोजगन्निमित्तं वाभ्युपगमात् । एव सत्तदो-  
पकारकाणामप्यनित्यानां कारणत्वं यदा संभवति तदा स्मर्यमाणतयोपकारकाणां शब्दानामनित्यत्वेऽपि कारणवत्त्वमर्थ-  
किंपुन र्थावसिद्धिः । अतो नित्यं वस्त्यानुपयोगात् स्फोटवादो न प्रस्योतव्यः दूरतस्य अनरसनीयता । वर्णानां च नित्य-  
त्वसमर्थनमतएव निष्फलम् । किंच नित्यानामपि वर्णानां न वर्णवाकारेणार्थवाचि व किं वानुपूर्वीविशेषविशिष्टपदवाक्य-  
रूपेण विभुतया नित्यतया च देशतः कालतश्च क्रमराहतानामनुपूर्व्या उच्चारणनिवर्धनं वातः, तस्य च क्षणभङ्गुरत्वादर्थ-  
वबोधप्रयोजनमोक्ष्य वर्णानित्यं वसाधनं तद्वत्तज्जात्यवस्थानवचनं च विफलम् अर्थावगाधकरूपस्यानित्यत्वास्यत । यथो-  
दकाहरणरूपं प्रयाजनमपक्ष्य पृथिवीस्थिरं वसमर्थनं पृथिवी वजात्यवस्थानवचनं च तापयुज्यत, पृथिवी घटरूपेण उद-  
काहरणसाधनं वात् पार्थिववायववरचनावशेषलक्षरूपस्य घटस्य चानित्यं वात् । तद्वत् किंच वर्णानां नित्यं वनाम किंमिप्रल-  
यावस्थापि व उतोमयावधारणमित्यर्थः । प्रथमे पूर्वोक्तं वैयर्थ्यं स्थितं पृथिव्या आप्रलयावस्थायि वसमर्थनस्य घटनं तर्का-  
द्वेऽनुपयोगात् । द्वितीये शब्दगुणकाकाशसृष्टिप्रलयविरोधः । वर्णानित्यं वदभ्युपगम्यमानेऽपि तद्वत्तज्जात्यवस्थान-  
विरोधः कृत्स्नव्यक्त्यनवस्थाने जात्यवस्थानानुपपत्तिः । महाप्रलयोपात्तपक्ष्यवस्थानतु कारणवाक्यविरोधः । तद्वत्  
सोम्येदमप्र 'आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति हि श्रुतिः । अवधारणद्वितीयनिषेधो कथं कतिपयवस्थानं जातं

## धीभाष्यम्

## सू-२८ अत एव च नित्यत्वम् (१.३.२८)

यत एवेन्द्रवसिष्ठादिशब्दानां देवर्षिवाचिना तत्तदाकारवाचित्वं तत्तच्छब्देन तत्तदर्थ-  
स्मृतिपूर्विका च तत्तदर्थं ऋषिः तत एव 'मन्त्रकृतो वृणीते' ( ) 'नमः ऋषिभ्यो  
'मन्त्रकृत्यः' (आरण.प्र.७.अनु.१.प.१) 'अयं गौंसो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति'  
(यजु.का.५.प्र.२.अनु.३ पं.३) इत्यादिभिर्षेतिष्ठादीनां मन्त्रकृतत्वपाण्डुराद्यष्टपि.यादां प्रती-  
यमानेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते । एभिरेव 'मन्त्रकृतो वृणीते'

## श्रुतप्रकाशिका

स्यान्व सहेने, किंच वर्णनित्यवादिकं किं बोधकत्वोपयोगितया समर्थ्यते किं वा जगत् प्रमथोपयोगितया । प्रथमे वर्ण-  
नित्यवादिकं सर्वमपि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्रैव वक्तव्यम् अनवबोधकत्वस्य शास्त्रानारम्भहेतुत्वात् । द्वितीये  
च ज मादिसूत्रे तत्सर्वं समर्थनीयम् लक्षणसिद्धरूपयोगित्वात् । किंच वर्णनित्यवादिकं सर्वाधिकरणेषु यथार्थमिदं दृष्ट-  
यितुं शक्यते । अतएवैतदधिकरणासाधारणार्थानुपयोगादिरोधाद्यात्र वर्णनित्यवादिप्रपञ्चनमयुक्तम् 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'  
इति सै प्रपदमन्यथा व्याख्यानम् घटादिनिर्माणस्य शब्दपूर्वकत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् जगत्सृष्टावप्येतदनुमानादिति तथा-  
सति नतयोः समुच्चय हेतु ब्रमेकसाध सिध्यति, जगत्सृष्टशब्दपूर्वकत्वे अनुमानस्यैवाव्यवधानेन प्रवृत्ते प्रत्यक्षस्य व्याप्ति-  
प्रहणौपयिकत्वेन तच्छेषभूतत्वात् ततश्च 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इति द्विवचनं क्लिष्टं स्यात्, नहि दण्डपशुभ्यां वृक्ष-  
विद्ययन् इति व्यपदिश्यते दण्डस्य परशूपकरणत्वात् । अतः प्रत्यक्षमूलानुमानादिति निर्देष्टव्यं तथा च न निर्दिष्टम् ।  
यदि कचिदेवमपि दृष्टं तद्रूपभावा स्यात् इह च गत्यन्तरसम्भवादयुक्तम् । कल्पादिकालीनसृष्टेः शब्दपूर्वकत्वं वा सृष्टि वा-  
दनुमातुं च न शक्यं मूलकतृकघटादिसृष्टौ हतारैकत्वात्, अतः यथोक्त एवार्थः ॥

एवमर्थद्वारकमनित्यत्वमाशङ्क्य परिहृतम् अथ शब्दद्वारकमनित्यत्व परिहृत्यते ।

## सू-२८ अत एव च नित्यत्वम् (१.३.२८)

उक्तसंज्ञातिर्मेन्त्रकृतो वृणीते इत्यादिना अभिप्रेता यतएवेति । अर्थवादानां प्रतीयमानार्थे तात्पर्यमस्ति चेत् 'मन्त्रकृत'  
इत्यादिवोक्यत्वापि मन्त्रकृतं वा ता पर्यसम्भवात् अनित्यत्वमात्रं शङ्का । इयमर्षिन्द्रादिशब्दानामाहुतिर्वाचि वाच्यत-  
त्तच्छब्देन तत्तदर्थस्मृतिपूर्वकतत्तदर्थसृष्टया परिहृतेत्यर्थः । उक्तशङ्कापरिहारपरं सूत्रं ये न व्याचक्षते तेषामते सूत्रवैयर्थ्यं स्पष्टम् ।  
शङ्कायां परिहृतं वा सृष्टयति एभिरेवेति । मन्त्रकृतं वा नामानधीत्येव मन्त्राणामस्खलितक्रमस्वरवर्णतया दर्शनं तच्च तत्त-  
न्मन्त्रस्मृतिपूर्वकं प्रजापतिना यथापूर्वं सृष्टेस्तत्तन्नामरूपभाभिः प्रवाहपरम्परया आगतैर्वसिष्ठादिभिः क्रियते इति चेदनि-  
त्यत्वमन्त्रकृत्वाविरोध इत्यर्थः । नियुक्ते मन्त्रदर्शनानुगुणं तपश्चरतेति नियुक्त इत्यर्थः, अस्खलितान्पश्यन्ति पूर्वकत्वाधीत-  
वेदमन्त्रप्रत्यभिज्ञापूर्वकं पश्यन्ति न विद प्रथमतस्तत्त्वम् । श्रुतिरपि ऋषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्राणामनुष्ठानं दर्शयति 'यो ह  
वा अविदिनार्षेयच्छन्दो देवतेन मन्त्रेण यजति याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्धति गर्तवा पद्यते प्रवा-  
भीयेत पापीयान्भवति यातयामान्यच्छन्दागौंसि भवन्ति अथयो मन्त्रे मन्त्रे वेद ससर्वमायुरिति श्रेयाश्च भवति

## श्रीभाष्यम्

इत्यादिभिर्वेदशब्दैस्तत्तत्काण् कमन्त्रकृतामृषीणामाकृतिशक्त्यादिकं परामृश्य तत्तदाकारान् तत्तच्छक्तियुक्तांश्च सृष्ट्वो प्रजापतिस्तानेव तत्तन्मन्त्रादिकरणे निरुद्धे । तेऽपि प्रजापतिना आहितशक्तस्तत्तदनुगुणं तपस्तप्या नित्यसिद्धान्पूर्वपूर्ववलिष्टादिदृष्टान् तानेव मन्त्रादीननधीत्यैव स्वरतो वर्णतश्चास्त्रलितान्पश्यन्ति । अतश्च वेदानां नित्यत्वमेपां च मन्त्रकृत्वमुपपद्यते ॥

अथ स्यात् नैमित्तिकप्रलयादिपिन्द्राद्युत्पत्तौ वेदशब्देभ्यः पूर्वपूर्वमन्त्रादिसंरूपेण प्रजापतिना देवादिहिरण्यरूपपद्यतां नाम , प्राकृतप्रलये तु स्रष्टुः प्रजापतेर्भूताद्यहङ्कारपरिणामश-

## श्रुतप्रकाशिका

अयातयामान्यस्यच्छन्दार्गसि भवन्ति तस्मादेतानि मन्त्रेमन्त्रे विद्यात् ' इति । शौनकादिभिश्च स्मर्यते ' दाश-  
प्रय्यो मधुच्छन्दप्रभृतिभिर्दृष्टा. ' इति । उक्तं च भगवता व्वासनैव —

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षय । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञातास्त्वयम्भुवा ॥

इति । एवमादिचात्र प्रमाणं द्रष्टव्यम् ॥

नन्वितिहासानामप्यपौरुषेयत्व वेदस्य वा पौरुषेयत्व प्रसज्यत् अस्मिन्वचने वेदानामितिहासरूपेण दृश्यया-  
क्षेपत्वादिति चेन्न इतिहासत्वेन वेदशब्दन्तर्गतानां पुरावृत्तानां विवक्षितत्वात् । यथा ' धानरशनाहवा ऋषयश्चमणा  
' उर्ध्वमन्तिनोयभूवु. ' ' पृथुर्वै न्योभिपिच्यते ' ' उशन् हवै धाजश्रवसरसर्ववेदस ददौ ' इत्यादीनि पुरावृत्तानि हि  
ह्र्यन्ते, ततश्च सेतिहासान् इत्यनेन वेदानामर्थशानेन रह लब्धत्वमुक्तं भवति, अतो न प्रत्ययविशेषवाचकोऽयमिति-  
हासशब्दः, अङ्गेषु घर्मशास्त्रादिषु च स्वर्गीतिहासमात्रोपादानस्य प्रयोजनाभावात् तथाऽन्यत्र

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वयन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥

इति वेददर्शनप्रदानं च स्मर्यते, काठकादिशब्दश्च कन्यादावृषिभिस्तपसा लब्धवेदभागानां प्रवर्तितत्वमुक्तमिति । न ताव-  
त्कठेनादौ प्रोक्त काठकमिति वेदपौरुषेयत्वादिनोऽप्यभीष्ट, ईश्वरप्रणीत विरोधात् । अथ काठकादिसमाख्याः प्रवच-  
ननिमित्ताः । न इदानींतनप्रवक्तृसंज्ञाभिश्च व्यपदेशप्रसङ्गात् कठादिभ्यः पूर्वपुरुषसंज्ञाभिश्च समाख्यानप्रसङ्गात्, पूर्व-  
त्वनेकशास्त्राध्यायिनः कठादयस्त्वेकशास्त्राध्यायिन इति तस्मात् समाख्यानमिति न वाच्यम् ; सर्वेषां तत्पूर्वपुरुषाणां  
बहुशास्त्राध्यायित्वानियमस्यामानकत्वात्, दृष्टविपर्ययेण कल्पनाऽनुपपत्तेः । अथ कस्यादिषु प्रथमप्रवचननिबन्धना-  
कठादिसमाख्याः । तान्निबन्धनस्य च जगत्त्रितयत्वादेरनुपपत्तम् प्रथमप्रवचनानुभवात् । अतः काठकादिसमाख्या-यथा  
ऽनुपपत्तिश्च महर्षीणां तपसा दृष्टवेदभागत्वे प्रमाणम् । एव ' यो घे वेदांश्च प्रहिणोति ' ' प्रह्य स्वयम्भ्यभ्यानर्पत् '  
इत्याभ्य ' त एतं प्रहयत्तमपश्यन् ' ' याचायिरूपनित्यया ' ' वेदेन रूपे व्याकरोत् ' ' अनादिनिधनाद्येषा '  
' याश्च वेदेषु दृष्टयः ' ' वेदशब्देभ्य एषादौ ' ' युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् ' इत्यादिपचनेः आवे कल्पे प्रथमवेदो-  
त्थारणं यथा पूर्वक्रमविशेषविशिष्ट वेदोत्थारणं यात् ' इदानींतनविदित्वादिभिरनुमानैरप्यसिद्धिश्च वेदानिह दृष्टाप्रकाश-  
नात्तदनुपपत्तय मन्त्रकृत्यादिपदान्यस्त्वारस्येन व्याख्यातानि ॥

उत्तरस्य शास्त्राऽवतारस्य अथ स्यादिति । महाप्रलये तत्तदर्थमृषीपूर्वकसृष्ट्यप्रदायप्रपतकस्य प्रजापतेः  
महर्षेः शास्त्रस्यावतारस्य शास्त्रनित्यमिति प्रत्यक्षं दानादित्यमाभयनीयमिति शोच्यमिहागम्येति सूचयितुं—

श्रीभाष्यम्

यस्य च विनष्टत्वात्कथं प्रजापतेः शब्दपूर्विका ऽपि रूपपद्यते । कथन्तरां विनष्टस्य वेदस्य नित्यत्वम् । अतो वेदनित्यत्वधादिना देवादीनां विग्रहघटत्वाभ्युपगमेऽपि लोकव्यवहारस्य प्रवाहानादितात्पर्यणीयेति । अत्रोत्तरं पठति—

सू-२९ समाननामरूपत्वाद्यावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च (१.३.२९)

कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्पत्त्या वृत्तावपि पूर्वोक्तात्समाननामरूपत्वादेव न कश्चिद्विरोधः । तथाहि स भगवान्मृदुत्तमः प्रलयावसानसमये पूर्वसंस्थानं जगत्स्मरन् 'बहुस्याम् (छां.६.२.३) इति सद्गुण्य भोग्यभोक्तृजातं स्वस्मिन् शक्तिमात्रावशेषं प्रलीनं विभज्य महदादिप्रह्लाण्डं हिरण्यगर्भपर्यन्तं ऽप्युवा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वीविशेषसंस्कृतानाविष्टस्य हिरण्यगर्भायोपदिश्य पूर्ववदेव देवाद्याकारजगत्सर्गे तं नियुज्य स्वयमपि तदन्तरात्मतयाऽवतस्थे अतो यथोक्तं सर्वमुपपन्नम् । एतदेव च वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च.

श्रुतप्रकाशिका

सू-२९ समाननामरूपत्वाद्यावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च [१.३.२९]

पूर्वोक्तात्समाननामरूपत्वादेवेति । पूर्वसूत्रयोक्तया तत्तच्छब्देन तत्तदर्थभूतिपूर्विकया तत्तदोक्तविशिष्टवस्तुसंख्या समाननामरूपत्वमुक्तमिति फलितम्, अतः पूर्वोक्तादिपुनरुक्तम् । प्रवकारेण सूत्रस्य शब्दोऽवधारणार्थ इति गम्यते । समाननामरूपत्वमनुपपन्नं तत्तच्छब्दस्मृतिपूर्वकतत्तदर्थसद्व्यवहारभावदित्यत्राह— तथाहीति । स इति भूतिप्रसिद्धिं योतयति भगवानिति ज्ञानशक्त्यादिवैचित्र्यं भगवत्पुरुषोत्तमशब्दाभ्यां 'सर्वव्यापी च भगवान्' 'महान्प्रभुर्वे पुरुषः' इत्यादिश्वेताश्वतरवाक्यं स्मारितम् । शक्तिमात्रावशेषमिति । विद्यमानस्यैव भोग्यभोक्तृवर्गस्य भोग्यत्वाच्चतुर्गुणशक्तिरस्ति, नतु तत्कार्यं भोक्तृत्वादिकमिति भावः । चतुर्मुखादेरेव स्वतन्त्रसृष्टिभ्रमनिरासार्थ ए— स्वयमर्पति ।

तवान्तरान्मा मम च येचान्ये देहिसंक्षिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ नम्राह्यः केनांचित्केचित् । इति चतुर्मुखचननं 'सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते' इति भगवद्वचनं 'तदनुप्रविश्य' इति श्रीमन्न्यायविषयां श्रुतिच प्रमाणमभिप्रेत्याह—तदन्तरात्मकतयेति । अनेन चतुर्मुखपरमात्मनोः कर्तृत्वव्यवसायैकव्यवसायैकत्वसिद्धिः । सर्वमुपपन्नमिति । समाननामरूपत्वतः कृतवेदनित्यत्वतः सार्थकत्वाभ्युपपन्नानीत्यर्थः । शब्दस्योपत्तिविनाशाभ्युपगमेऽपि कथं वेदनित्यत्वसिद्धिरित्यत्राह—एतदेवचेति । अक्षराणां एदानी वा नित्यत्व, वेदनित्यत्वचेत्,—कालिदासादिवाक्यानामपि नित्यत्वप्रसङ्गः । वर्णानुपूर्वीनित्यत्वचेत्तदप्यनुपपन्नम्, युगपत्सर्गप्रलयमनभ्युपगच्छन्निः वर्णानां विभुत्वाभ्युपगमात् न देशत आनुपूर्वीं संभवति नित्यत्वाभ्युपगमाच्च न कालतः । तस्मादुच्चारणगतः क्रम इति तैरभ्युपेत्य उच्चारणान्तोपत्तिविनाशवदेवेति क्रमनित्यत्वमप्यनुपपन्नं तस्मात्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमविशेषो यादृशः तादृशेनैव क्रमेणोत्तरोत्तरमुच्चार्यत्वं नित्यत्वमित्यसदमिमतमेव तैरपि स्वीकर्तव्यमित्यभिप्रायेणेतदेवेत्युक्तम् ॥

ननु पूर्वान्ताभावः पुरुषकृतत्वाभावो वा स्यादपौरुषेयता उत्तरान्ताभावः उभयान्तविरहो वा नित्यतां क्रमविशेषेणोच्चार्यत्वं वेदस्य स्वरूपं कथमेवमेकत्वं सत्यम् द्विविधावधिबैधुर्यरूपनित्यत्वेन वेदे विवक्षितम् । तत्राह पूर्वोक्तं



## श्रीभाष्यम्

यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषस्या तेनैव प्रज्ञोच्चार्यत्वम्, तदस्मात् सन्धेरेऽपि समानम् । इयांस्तु विशेषः-संस्कारानपेक्षमेव स्वयमेवानुसन्धत्ते पुरुषोत्तमः । कुत इदं यथोक्तमत्र गम्यत इति चेत्-तत्राह-दर्शनात्-स्मृतेश्च । दर्शनं तावत्

## श्रुतप्रकाशिका

विविधनन प्राधान्येन सिषाद्ययित स्वतन्त्रपुरुषविभागे निर्गमनीयत्वात्, तन्निरसने च प्रतिकल्प तथामावेनोत्तरावधि वैधुर्यसिद्धेश्च, अतो वेदस्य नित्यत्वमपौरुषेयत्वचैकमिति फलितम् । तच्चापौरुषेयं नित्यं वा वेदक्रमविशेषविशिष्टोच्चारणमात्रेण पर्यवसित अपूर्वक्रमविशिष्टोच्चारणैतृपुरुषसद्भावातिरेकेणानित्यवपौरुषेयवयारभावात् नित्यत्वापौरुषेयवयोस्तद्विपरीतरूपवाच्च, यद्वा तेनैव क्रमेण सर्वोच्चार्यमाणवमपौरुषेयत्वानित्यवयोरसाधकमिति हेतुहेतुमद्भावादभेदव्यपदेशः । एवमेव भगवतोऽप्युच्चार्यमाणत्वाद्युपपत्तौ सर्वोपपत्तिसहारेऽपि नित्यत्वमुपपन्नमित्यभिप्रायेणाह-तदस्मात्स्त्विति । सर्वेश्वरोऽपि पूर्वक्रमविशेषस्मृत्योच्चारयति चेत् तत्संस्कारोद्घोषात् पूर्वमज्ञत्वमन्याधीनज्ञानत्वं च स्यादित्यत्राह-इयांस्त्विति । अस्माकं स्वीच्चारणजनितसंस्कारानपेक्षोच्चारणमध्यापयितृसापेक्ष अध्यापयितृनिरपेक्षोच्चारण स्वेच्चारणजनितसंस्कारानपेक्ष एतदुभय व्यावर्तयति संस्कारानपेक्ष स्वयमेवेति । स्वयमेवेत्यध्यापकोच्चारणजनितसंस्कारापक्षा व्यावृत्तिः । यद्वा संस्कारानपेक्ष अध्यापकोच्चारणस्वीच्चारणजनितसंस्कारानपेक्षमित्यर्थः । स्वतन्त्रेश्वरस्य क्रमांतरापरिकल्पनेन पूर्वक्रमेणैवाच्चारणे को नियामक इत्यत्राह-स्वयमेवेति । वेदाख्य शब्दराशिं पूर्वपूर्वक्रमविशिष्टमेवोच्चारयन्, ननु क्रमान्तरकल्पयेयमिति । 'यद्वा स्यात्' इति चेत् स्वसङ्ख्यादेव क्रमान्तरपरिकल्पयन् यथा पूर्वमनुसन्धत्ते, नत्वस्य परतन्त्रतयेत्यर्थः, अनुसन्धत्त ज्ञानातीत्यर्थः स्मरणार्थं वेदसंस्कारानपेक्षव्याघातात्,

ननु 'संस्कारास्तेभवन्वेदाः' इति स्मृत्या वेदानामीश्वरस्मृतिविषयवमवगम्यते । नैव, संस्कारशब्दस्य स्मृतिविषयवाचित्वामावात् स्मृतेस्संस्कारकार्यतया ताद्विषयो लक्षितलक्षणाया प्रतिपाद्यत इति चेत्, तर्हि प्रमाणविरुद्धलक्षणाया, प्रमाणानुसारिणी लक्षणा बलीयसी, ईश्वरस्य च स्वतः सर्वदा सम्यक्सर्वार्थसाक्षात्कारिव 'यत्सर्वज्ञस्त्वयित्' ; 'परास्य शक्तिर्विविधैष ध्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलीक्रियाच' इति श्रुतिसिद्धम् । ज्ञानस्य स्वाभाविकं च इन्द्रियादिनिरपेक्ष्यम् विविधैव विषयवैविध्यात् । परत्वं याथार्थ्यपरोक्षवरूपमकर्ष, अतस्तदनुगुणया लक्षणया भवितव्यम् । ततश्च संस्कार इति संस्कारबोध्याः यथापूर्वं बुद्धिस्या इत्यर्थः यद्वा संस्कारवत् स्वस्मिन्नवास्थिता इत्यर्थः ॥

नन्वीश्वरस्य सर्वज्ञतया शब्दानां सर्वा अध्यानुपूर्व्यं सदा बुद्धिस्या इति सर्ववाक्यानाद्यानुपूर्वोविशिष्टतया वेदस्य स्यात् पौरुषेयापौरुषेयविभागश्च न स्यात् नैवम् ईश्वरस्य सार्वज्ञ्यादेव सर्वविभागसिद्धे, सर्वासामानुपूर्व्याणां तद्बुद्धिसत्येऽपि यादृशक्रमविशिष्टशब्दराशेर्याथार्थ्यं स्वरादिनियमवत्त्वं देशकालादिनियमवत्त्वयैवोच्चार्यं वच तमेव शब्दराशिं वेदाख्यमन्वानस्तादृशक्रमविशिष्टं तमेवप्रतिब्रह्माण्डसर्गं प्रमाणतया प्रवर्तयति नत्वन्य-छन्दजात अतो याथार्थ्यसंनियमकोच्चार्यत्वात्मा वेदावेदविभागसिद्धिः । सर्वदा पूर्वपूर्वक्रमपरामर्शसापेक्षोच्चारयितृकं च तन्निरपेक्षवत्कृतं यत्चेति पौरुषेयापौरुषेयैव गम्यमिति नकाचिदनुपपत्तिरिति । 'दर्शनात् स्मृतेश्च' इति सौत्रपदद्वयस्य शङ्कामाह-कुत इति । युगपत्सर्वस्यो भगवतो यथापूर्वं वेदसम्प्रदायप्रवर्तकं च श्रुतिस्मृती दर्शयति दर्शनं तादादित्यादिना । उदाहृतश्रुतिस्मृतिवाक्येषु सर्वेषु च त्रमुपस्य भगवता सुष्ठु दृश्यते वेदोपदेशस्तु केपुचिन्नदृश्यते, तत्र 'अनुक्तमन्यतो ब्राह्मम्' इति व्यायात् वेदोप

### श्रीभाष्यम्

‘ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ’ (श्वे.६.१८) इति । स्मृतिरपि मानवी, आसीद्विदं तमो भूतम् ’ इत्यारभ्य ‘ सोऽभिध्याय शरीरात्स्यात्सिद्धिर्विविधाः-प्रजाः । अप एव ससर्जदौ तासु वीर्यमपाजत् ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु.१.५८,९) इति । तथा पौराणिकी ‘ तत्र सुतस्य देवस्य नामो पद्ममजायत । तस्मिन्पद्मे महाभाग वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ब्रह्मोत्पन्नस्स तेनोक्तः प्रजासृज महामते ’ ( ) तथा ‘ परो नरायणो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः

### श्रुतप्रकाशिका

देशोऽपि सृष्ट्युपयोगित्वात् सिद्धयतीतिभावः । सप्रदायप्रवर्तकस्त्वावमात्रे प्रमाणं वा स्यात्तद्वचनज्ञातम् । उदाहृतवचनज्ञानप्रदर्शनार्थे ईदृशानि वचनान्तराण्यपि अस्मिन्नर्थे द्रष्टव्यानि यथा—‘ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिव पृथिवीचान्तरिक्षमथो सुवः ’

यथर्तुष्टुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानितान्येव तथाभावायुगादिषु ॥

इति श्रुतिस्मृत्योर्वेदान्तसारे दर्शितत्वात्—

हिंसाहिंसे मृदुशूरे धर्माधर्मावृतावृते । तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥

इत्यनेन पूर्वसृष्टिसारूप्यं प्रतीयते ॥

किंच तथाऽभिमानिनो नीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह । देवादेवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥

यस्मिन्यो यः पुराकल्लसो यस्मिन्देवो यथास्थितिः । तस्य तस्यानुरूप्येण प्रजासर्गं प्रवर्तते ॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ इत्यादि ॥

किंच ‘ अग्निर्वा अकामयत । अन्नादो देवानां गृह्णामिति । स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत् । ततो वै सोऽन्नादो देवानामभवत् । अग्निर्वै देवानामन्नाद् ’ तथा ‘ इन्द्रोवा अकामयत, ज्यैष्ठ्यं देवानामभिजयेयमिति, स एतमिन्द्राय ज्येष्ठाय पुरोडाशमेकादशकपालं निरवपन्महाव्रीहीणाम् । ततो वै स ज्यैष्ठ्यं देवानामभ्यजयत् ’ इत्यादिना पूर्वपूर्वाग्नीन्द्रादियजनेन पाश्चात्याग्नीन्द्रादीनामैश्वर्यप्राप्तित्यवगम्यते, प्रश्नान्ताग्रथादिशब्दा यजमानचेतनसिधाघविषितरूपेण निर्दिशन्ति इदानीमिन्द्रः पूर्वस्माद् इन्द्राय निरवपदित्यर्थः । अतः पूर्वपूर्वाग्नीन्द्रादिसरूपतया उत्तरोत्तराग्नीन्द्रादिसृष्टिरिति निश्चीयते ॥

किंच कर्मविधानमिष्टप्राप्तयनिष्ठनिष्ठतिष्ठलपुरुषप्रवृत्तिश्च सुखलिप्सा दुःखजिहासामूला, रागद्वेषौ च दृष्टानुमितिश्रुतसुखदुःखतत्त्वाघनभूतभोग्यतदुपकरणतत्त्वाविषयौ, नत्वप्रतिपन्नविषयौ अतः पूर्वकल्पादिगतेन्द्रादिपदकामनासङ्घितधर्मफलभोगानुगुणोत्तरोत्तरसृष्टिश्च पूर्वसृष्टिसजातीया प्रवितुमर्हति, अतो वेदानित्यवनामप्रयुच्चारणपूर्वपूर्वक्रमसुसहस्रानुपूर्वाविशिष्टतयोच्चार्यमाणत्वम् । अर्थनित्यत्वनामप्रतिसर्गमिन्द्राद्यर्थानां पूर्वपूर्वार्थाकारसुसहस्रस्थानविशिष्टत्वम्, तथा विधार्थप्रतिपादकत्वमेव वेदस्य नित्यार्थसयोगः ॥

ननु प्रलम्बदशायामेकस्यप्रतिभातो वेदः कृतकादविशिष्टस्यात् एकस्य प्रतिभातः कुमारसम्भवाद् कृत्क इति चेत् उच्यते कृतकादविशिष्टत्ववदतः कोऽभिप्रायः ? एकस्य प्रतिभातत्वं कृत्कव्याप्तमिति वा कृत्कत्वशङ्काजनकमिति वा ? मप्रथमः बहुषु सुतेषु जाग्रत एकस्य प्रतिपन्ने स्वात्मनि व्यभिचारात् । न ह्यत्मा कृतकः एकस्य प्रतिभातवानयत्विष-

## श्रीभाष्यम्

इति । तथा ' आदिसर्गमहं वक्ष्ये ' इत्यारभ्योच्यते—' ऋष्या नारं तोयमन्तस्थितोऽहं येन स्यान्मे नाम नारायणेति । कल्पेकल्पे तत्र शयामिभूयस्सुतस्य मे नामिज स्वाद्ययाऽब्जम् । एवंभूतस्य मे देवि नामिपञ्चे चतुर्मुखः । उत्पन्नस्य मया चोक्तः प्रजाः=ज महा-मते ' इति ॥

अतो देवादीनामप्यर्थित्वसामर्थ्ययोगाद्ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥

## इति देवताधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

क्षितिमिति चेत् । किमेकस्य प्रतिभातत्वं नाम एकस्य प्रतिपन्नत्वं उतैकस्य प्रथमप्रतिपन्नत्वम् न प्रथमः दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात् ; नहि कुमारसम्भवोऽस्माकमन्येषा च कदाचिदप्रतिपन्नः । द्वितीये हेत्वसिद्धिः, पक्षीकृतेषु वेदेषु होवस्य प्रथमप्रतिपन्नत्वं नास्ति, सर्गप्रवाहस्यानादित्वात् यस्व कल्पस्यादौ प्रतिभास प्रथममिति विवक्षितं त पूर्वकल्पेऽपि तथामेव वेदानां प्रतिभातत्वात् प्राथम्यासिद्धिः, तेषामेव वेदानां तत्त्वपूर्वकल्पेऽपि प्रतिभातत्वं वेदोच्चारणवेन लिङ्गेन सिद्धम्, विगीत वेदोच्चारण, पूर्वाभ्ययनसिद्धक्रमविशिष्टविषय वेदोच्चारणत्वात्, सप्रतिपन्नवदिति । नच वाच्यं वेदाःकृतकाः कल्पादावेकस्य प्रतिभातत्वात्, चतुर्मुखवक्तृकप्रथमवाक्यवदिति । दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्, चतुर्मुखस्य प्रथमवाक्यं हि स्वतस्सर्वज्ञेन तदन्तरात्मना ज्ञायते । कल्पादौ एकक्षेत्रज्ञस्य प्रतिपन्नत्व हेतुरिति चेन्न, असिद्धेः असिद्धिश्च यौगपद्येन प्रवाहतश्चाण्डवाहुल्येन चतुर्मुखतत्त्वमहर्षिबाहुल्यात् । एतस्मिन्ब्रह्माण्ड इति हेतुर्विशेष्यत इति चेत् तर्ह्येकस्मिन्हे दिवसादावेकस्य प्रतिपन्नत्वादुपाध्यायवक्तृकप्रथमवाक्यवद्वेदस्य तदुक्तत्वं किं नस्मात्, देशकालान्तरवर्तिपुरुषप्रतिपन्नत्वात्, तेनाप्युपाध्यायेन पूर्वसिद्धत्वेन प्रतिपन्नत्वाच्च तद्वक्तृत्वस्य बाधितत्वादिति चेत् तुल्यं तथाहि, एकस्मिन्नण्डे कल्पादावेकक्षेत्रज्ञप्रतिपन्नत्वरूपहेतुसिद्धिः कुतः ? ' योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ' इत्यादिश्रुतेरिति चेत्, तर्हि सैव श्रुतिर्वेदानां पूर्वसिद्धत्वमवगमयतीति हेतुग्राहकप्रमाणेन बाधितविषयता स्यात् । एकस्य प्रतिभातवाक्यत्वं कृतक वदृष्टावहमिति चेत्—न आप्ततया परिहातेन तेनैव पुरुषेणानासिद्धतयोपदिष्टवाक्ये कृतकत्वशङ्काऽनुदयात् । ईश्वरेण प्रथमसृष्ट्या चतुर्मुखादयः प्राचीनमुकृतातिशयादीश्वरास्तथवगमानुगुणज्ञानाविता एव ज्ञायन्ते इति न शङ्कोदयः । नन्वाश्वरसिद्धौ वेदसंप्रदायाविच्छेदासिद्धिः तत्सिद्धौ वेदसत्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ वेदप्रामाण्यसिद्धिः तत्सिद्धावीश्वरसिद्धिरिति च ऋकमिति ॥

एवं तर्हि पूर्वमीमांसायामपि वेदप्रामाण्यसमर्थनपरे प्रथमेऽध्याये प्रथमेपादे बाह्यहेतुप्राप्ताप्यं निराकृत्य त्रिपाद्या अवान्तरहेतुप्राप्ताप्यनिरासे क्रियमाणे त्वदुक्तं चरक प्रसज्यते, तथाहि ' सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ' इत्यादिषु ' अक्तादशर्करा उपजघाति ' इत्यादिवेदवाक्यानामञ्जनसाधनद्रव्यविशेषानुपस्थापनेन सन्देहलक्षणाप्रामाण्ये पूर्वपक्षिणोक्तेः ' तेजोवै घृतम् ' इत्यादिवाक्यशेषावगतद्रव्यविशेषसिद्ध्या तन्निराससिद्धान्तिना क्रियते, तत्र ' तेजोवै घृतम् ' इत्यादिवाक्यशेषप्रामाण्यसिद्धौ अक्तादशर्करा इत्यादिवाक्यशेषस्य सन्देहलक्षणाप्रामाण्यनिराससिद्धिः, तर्हि तौ कृत्स्नवेदप्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ कृत्स्नवेदान्तर्गतवाक्यशेषप्रामाण्यसिद्धिरिति चरक प्रसज्यत एवेति, न प्रसज्यते, प्रथमेपादे शब्दस्य स्वतः प्रामाण्यसमर्थनादपवादहेतोश्चापूर्वक्रमविशेषविशिष्टोच्चारयितृविशेषरूपकतुः स्मृतस्य वेदसत्यसमर्थमाण-। कृच्छ्रयोगानुपलब्धिगिरस्तत्वाद्देवप्रामाण्यसिद्धौ तदन्तर्गतवाक्यविशेषस्याभिधानशुचिः प्राक्सिद्धप्रामाण्यविरोचिनीवि

### मुत्प्रकाशिका

प्रतिभातीति शङ्कामात्रस्य वाक्यशेषादिकृत्स्नपदान्वितवाक्यपर्यालोचनाभिधानवृत्तिस्तथा प्रतिभातीति परिहारमात्रस्य क्रियमाणत्वादिति चेत्, तदस्मत्पक्षेऽपि समानमिति परितुष्यतामाप्नुमता । ये तु 'अक्तादशर्करा' इत्यादिवाक्यस्याप्रामाण्यशङ्का, न तु कृत्स्नवेदस्य तावन्मात्रस्य परिहारमेति वदन्ति, तन्मतेऽपि इयमेव प्रतिचन्दी 'अक्तादशर्करा' इत्यादिकतिपयवाक्याप्रामाण्येन कृत्स्नाप्रामाण्यशङ्काहि दुर्निवारा वेदत्वाविशेषात् 'अक्तादशर्करा' इति वाक्यप्रामाण्यनिरासे कृत्स्नवेदाप्रामाण्यशङ्कानिवृत्तिः तन्निवृत्तौ 'तेजोवै घृतम्' इत्यादिवाक्यशेषाप्रामाण्यशङ्कानिवृत्तिः तन्निवृत्तौ 'अक्तादशर्करा' इत्यादिवाक्यस्य संदेहलक्षणाप्रामाण्यनिवृत्तिरिति परिहारस्तुल्यः । अधिकरणार्थमुपसंहरति—  
अतइति ॥

### इति देयताधिकरणम्

#### अथ एतद्गर्भे देयताधिकरणम्

#### गूढार्थसङ्ग्रहः

'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' इति पूर्वसूत्रे परमात्मनः अङ्गुष्ठप्रमितत्वं अङ्गुष्ठपरिमितहृदयदेशवृत्तिव-  
निरञ्चनम् । मनुष्याणां हृदयस्याङ्गुष्ठप्रमितत्वेन इतरहृदयस्यानङ्गुष्ठप्रमितत्वेऽपि मनुष्याधिकारत्वात् श्रुतिध्वनङ्गुष्ठप्र-  
तिसोक्तिर्युक्ता इत्युक्तम् । प्राप्यस्य परस्य हृदयदेशस्यैव न घटत इत्याक्षेपस्य परिहारः 'निचाय्यत्वात्' इत्यनेनैव पूर्व-  
मुक्तः । दहराधिकरणे स एव 'अल्पश्रुतेरिति' प्रतिबोधितः 'हृद्यपेक्षया' इत्यत्रापि स एवार्थो विवक्षितः, अतो ध्यानार्थं  
मेव हृदयस्थितिरित्यर्थस्य पूर्वबुद्धिस्थनया मनुष्याणामेव ध्यानेऽधिकारस्य पूर्वमुक्तौ देवानामधिकारस्यापनाभावे तेषामधि-  
कारो नास्तीति भ्रमस्यात् मनुष्याधिकारस्य तत्रान्ययोगव्यवच्छेदः न विवक्षित इति बोधनीयम् । अतो देवानामधि-  
कारस्थापनीयः, तच्च न सम्भवति । असम्भवश्च द्वेषा, अर्थित्वसामर्थ्ययोर्विरहात् असम्भवः 'हृद्यपेक्षया' इत्यनेन ध्यानार्थं  
हृदयान्तस्थत्वमुक्तम् देवानां शरीराणामेव तन्न सम्भवति ॥

एवं प्रान्तर्थात्मित्वस्य ज्ञानविकासार्थत्वाभिधानेन शरीरस्याभावं ज्ञानविकासोऽपि न सम्भवति । किंच कर्मभिः  
चित्तशुद्धिसम्पादनमन्तरा उपासनं न सम्भवति, अशरीराणां कर्मानुष्ठानं न सम्भवति । देवानां कर्मविचारमात्रेण ब्रह्मवि-  
चारे प्रवृत्तेरेवामात्रे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यश्चोक्तव्यो मन्तव्यः' इति विचारानन्तरकालिकध्यानस्य सर्वथाऽसम्भव-  
वेति शङ्कायां—'तदुपर्यपि धादरायणस्सम्भवात्' इति सूत्रम् । 'हृद्यपेक्षया' इत्यत्र उपासनस्योपस्थिततया तस्य  
तच्छब्देन परामर्शो युक्त एव । यद्यपि तेभ्य उपरितदुहरि इति विग्रहकरणपूर्वकं 'मनुष्येभ्य उपरि वर्तमानानां देवानां' इति  
प्रथमं दीपे अभिहितम् । तथाऽपि उपर्यादिशब्दसमभिव्याहारे असमासेनैव शब्दस्वरूपीत्यतिः प्रथमतः । सुबन्ताव्ययो-  
रसमासमन्तरा निर्वाहे सम्भवति समासेन निर्वाहस्यास्वरत्वात् गत्यभावे तु समासोक्तीकरणीयः ॥

अत्र तु तदिति व्यासाङ्गीकारेणैवोपपात्तिरसंभवतीति समासो नावश्यकः, किंच समासे विशेष्याभ्याहार आवश्यकः  
व्यासाङ्गीकारे तु उपरिपदस्य ससम्बन्धिकपदत्वेन स्वयमेवावधिर्लभ्येत, अतः देवानामुपस्थितिस्सम्भवत्येव । अत्र तदेवानां  
मित्यनभिधाय उपरीत्युक्त्या हेतुसत्त्वं दृढीकृतम् । उपरीत्यनेन मनुष्येभ्यः अधिकज्ञानं शक्त्यादिः, तेन च विचारम-  
न्तरं ध्याने प्रवृत्तिरसंभवतीति प्रकाशप्रकारोक्षपस्य नावसरः । इत्थं च बहुशरीरसम्बन्धोऽपि सम्भवति अयमेवार्थः अनेक



## गूढार्थसंग्रहः

प्रतिपत्तेरियुच्यते । योगिनामेव युगपदनेकशरीरग्रहणसम्भवेन अनेककर्मसमवधानासम्भवात् । उपरिशब्देन देवानाम-  
तिशयितज्ञानशक्तिमत्त्वसूचनेन 'सम्भवात्' इत्यनेन अर्थत्वसामर्थ्यसंभवः पूर्वपक्षोक्तः निरस्त इति । अथवा तदुपरि  
मनुष्यदेहापेक्षया उक्लृष्टदेहसम्बन्धवत्सु इत्यर्थः । तेन च तदनुगुणज्ञानशक्त्याद्यतिशयोऽपि विवक्षित इति आनन्दतीर्थ-  
मतेऽपि देवत्वप्राप्त्यनन्तरमित्याद्यर्थवर्णनेऽपि साध्यवाचकपदाध्याहाङ्गेशः अवर्जनीयः । अपिर्विरोधसूचक, शरीरसम्ब-  
न्धपरिग्रहे एकदा बहुत्रानुष्ठितयशेषु देवानां गमनासम्भवः । तेनासम्भवः पूर्वपक्षहेतुसूचितः, सिद्धान्ते उपरिशब्देना-  
तिशयितशरीरसम्बन्धमूलकज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वसूचनेन हेतुर्दृढीकृतः ॥

नव्यमतेषु उपरि इत्यस्यान्यार्थकथनेन हेतुदार्ढ्यसूचकत्वं न सम्भवति । बादरायणपद पूर्वकाण्डोक्तकर्माणि पुरुषस्यै-  
वाधिकारः नतु स्त्रिया एकवचननिर्देशादिति शङ्काया 'जातिं तु बादरायणः' इति सूत्रे स्वर्गकामनाया उभयलिङ्गत्वेन  
व्यक्तिगतमैक्यं न विवक्षितम् । अपि तु धर्मैक्यमेवेति यस्मिन्नेन अकथयत् सः मनुष्यमात्राधिकारं नरहते, किंतु देवा-  
नाधिकारमनुमन्यत इति सूचनाय तत्र स्वर्गकामनाया उभयत्र सत्त्वेन उभयोरधिकारवत् अत्र पूर्वोत्तरकाण्डयोः ऐकरस्य  
सूचितमिति । पूर्वपक्ष्यभिप्रेतदोषानुवादपूर्वकं तन्निरासः 'विरोधकर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इति सूत्रे  
क्रियते । कर्मपदं वैदिककर्मपरमिति प्रकरणादेव लभ्यते, एकशरीरेषु बहुषु यशेषु गमनसम्भवेन वैदिककर्मणि विरोध इति  
चेन्न अनेकप्रतिपत्तेः एकशरीरसत्त्वे विरोधः, अनेकशरीरसत्त्वे तु विरोधसुपरिहर इत्याशयः । सौमर्यादिध्वनेकशरीरपरि-  
ग्रहः योगबलेन प्रमाणतस्मिन् दृष्ट्या सकालस्थाना दर्शनेन अनेकशरीरपरिग्रहे हेतुसङ्कल्पशक्यादिसूचनेन कर्मणि विरोधपरि-  
हारसम्यगुपपादितो भवति ॥

'शब्दइति चेन्नात प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' शब्दइति चेत् इत्यत्र शब्दशब्दः विरोधकर्मणि इत्यत्र  
कर्मशब्दश्च प्रयुक्तः, एतदुभयानुस्यूतपर्यालोचने तु कर्मघटितवाक्यबोध इत्यर्थ एव प्रतीयते । तेन च पूर्वसूत्रे अर्थविरोध  
परिहारः बहुमिस्तुते यथादिरूपेऽयं तच्छरीरक इत्यादिसान्निधानरूपार्थविरोधस्य परिहारः । एव च स्वानुष्ठितकर्मणि एक  
शरीरकस्य सान्निध्यस्य विरोधः परिहृतः तेन शरीराणामनित्यत्वं प्रतिपन्नम्, शरीराणामनित्यत्वे तत्तदर्थप्रतिपादकशब्द-  
स्यानित्यार्थबोधकत्वं स्यात्, अतश्च विरोध इत्यस्यानुषङ्गः अतश्च शब्देऽपि विरोध इत्यर्थः । समाधानं तु अत इत्यादि ।  
अत इत्यस्य शब्दादेवेत्यर्थः इन्द्रादिशब्दादेव अर्थस्य प्रभवः प्रकाशनमिति यावत् । एतेन शब्दार्थज्ञानयोरेककालि-  
कत्वं सूचितम् । अर्थधृति काले शब्दज्ञानं वर्तत एव, एवमुक्त्या अर्थस्यासजातीयस्य सच्च सजातीयार्थज्ञानं सजातीय-  
शब्दज्ञानं च सदा वर्तत इत्युक्तेः वाच्यवाचकयोः प्रवाहतः स्थित्यवगत्या आकृतिवचनकेन शब्देन नाविरोधः ॥

प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति । शब्दस्य पूर्वमुपस्थिततया निरपेक्षसादेशाभ्यां तयोः शब्दयोः स्मृतिरभूतिपरं य शब्द-  
रमाध्वेऽप्युक्तम् । अत्र एवमप्यर्थो वक्तुं शक्यते, अतः प्रभवात् इत्यत्रार्थसृष्टिकाले शब्दज्ञानस्योपपादनेन चतुर्मुखसृष्टे-  
रङ्गीकरेऽपि तच्छरीरकपरमात्मनेव सृष्टत्वात् परमात्मप्रत्यक्षविषयीभूतात् शब्दादित्यर्थः । यदा स्मृतिपरत्वं प्रत्यक्षपदस्य  
तदाऽनुमानपदस्य स्मृतिपरत्वं स्वतस्मिन्नयनीति । अतः प्रभवात् इत्यत्र शब्दस्मरणपूर्वकं पूर्वकालिकार्थाकारं स्मृत्या  
अर्थस्योपपादनेन वैदिकशब्देनार्थस्य प्रभव उपपादितः । तेन एकव्यक्तिनाशेऽपि सजातीयसर्वव्यक्त्यन्तरगताकृतेः  
सत्त्वेन अनित्यार्थसंयोगाच्च वेदस्य नास्ति । अतएव एवमुपपादनादेव वेदस्य नित्यत्ववर्णनं । नाशेऽपि द्वाभ्या-  
मर्थस्य नाशेऽपि च तद्गताकृतेः आनुपूर्व्यरूपायाः अनोक्षेन सकलवर्णनित्यत्वं पूर्वपूर्वशतवर्णगतानुपूर्व्यस्मरणेन उत्तरोत्तरं

## गूढार्थसङ्ग्रहः

वेदवाक्योच्चारणेन सज्जानीयानुपूर्वोन्निवन्धनमेव नित्यत्वम् । आनुपूर्वोच न कल्पिता अतएव च नित्यत्वं पूर्वपूर्वानुपूर्वो-  
स्सरणपूर्वकसमानानुपूर्वोच्चारणकर्मत्वमेव । नतु कालिदासादिग्रन्थेष्विवानुपूर्व्याः कल्पितत्वमिति विशेषः ॥

‘समाननामरूपत्वाद्यावृत्तायप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च’ इति । नैमित्तिकप्रलये तथाऽस्त्रोक्तेऽपि प्राकृतप्र-  
लये नाद्येऽपि निरन्तर्यविनाशाभावात् । परिणामेन पूर्वं प्रकृतानां पदार्थानां या आकृतिः तथैवाकृत्या तद्बोधकशब्दश-  
नेन अर्थोत्पत्त्या विरोधो नास्ति । ‘यो ब्रह्माणम्’ इति श्रुतेः प्रत्यक्षपदस्याने दर्शनशब्दः स्मृतिशब्दसहभावेनापि  
दर्शनशब्दः शब्दपरः ॥

## इति देवताधिकरणम्

## अथ वेदान्तसारः

## सू-२५ तदुपर्यपि चादरायणस्सम्भवात् [१-३-२५]

तत् ब्रह्मोपासनम् ; उपरि वेवादिष्वप्यस्ति, अर्थि वसामर्घ्यसमवादिति भगवान्चादरायणः तेने ; समवक्ष्य पूर्वो  
पार्षितशानाविस्सरणात्, मन्त्रार्थवादिषु विग्रहादिमत्तया स्तुतिदर्शनात्, तदुपर्यप्ये तन्भवे तेषामेव प्रामाण्येन विग्रहा  
दिमत्त्वाच्च ॥

## सू-२६ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् (१.३.२६)

विग्रहादिमत्त्वे एकस्यानेत्र युगपत्सन्निध्यायोगात्, कर्मणि विरोधः इति चेन्न, शक्तिमत्सु औभरिप्रभृतिषु युगप-  
दनेकशरीरप्रतिपत्तिदर्शनात् ॥

## सू-२७ शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् [१-३-२७]

वैदिकेऽशब्दे विरोधप्रसक्तिः—देहस्य सावयवेनोपपत्तिमत्त्वादि-द्रादिदेवोपपत्तेः प्राक् विनाशादूर्ध्वं च वैदिके-द्रा  
दिशब्दानामर्थान्तर्यमनित्यत्व, वा स्यादिति चेन्न, अतः—वैदिकादेवे-द्रादिशब्दादि-द्राद्यर्थस्ये । नही-द्रादिशब्दाः  
व्यक्तिवाचकाः ; अपितु गवादिशब्दवदाकृतिवाचिनः ; पूर्वस्मिन्निन्द्रादौ विनष्टे वैदिके-द्रादिशब्दावेव ब्रह्मा पूर्वे-द्राद्या-  
कृतिविशेष स्मृत्वा तदाकारमपरम् इन्द्रादिक कुलालादिरिव घटादिक सृजतीति न कश्चिद्विरोधः । कुतश्चदमवगम्यते ?  
श्रुतिस्मृतिभ्याम् श्रुतिः ‘वेदेन रूपे व्याकरोत् सतासतीप्रजापतिः’ (अष्टक.२.प्रद.अनु.२) ‘स भूरिति व्याहत् स  
भूमिमसृजत’ (२.२) इत्यादिः । स्मृतिरपि ‘सर्वेषां स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्’ । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथ-  
क्कस्याश्च निर्ममे ॥ (मनु.१.२१) इत्यादिः ॥

## सू-२८ अत एव च नित्यत्वम् (१.३.२८)

यतो ब्रह्मा वैदिकाच्छब्दादर्थान् स्मृत्वा सृजति ; अतएव ' मन्त्रकृतो वृणीते ' ' विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति ' (का.५.प्र.२.अनु.४) इति विश्वामित्रादीनां मन्त्रादिकृत्त्वेऽपि मन्त्रादिमयवेदस्य नित्यत्वं तिष्ठति । अनधीतमन्त्रादिदर्शनं शक्तान् पूर्वविश्वामित्रादीन् तत्तद्वैदिकशब्दैः स्मृत्वा तदाकारानपरान् तत्तच्छक्तियुक्तान् सृजति हि ब्रह्मा नैमिकप्रलयानन्तरम् । ते चानधीत्यैव तामेव मन्त्रादीन् अस्खलितान् पठन्ति । अतस्तेषां मन्त्रादिकृत्त्वं वेदानित्यत्वं च स्थितम् ॥

प्राकृतप्रलये तु चतुर्मुखे वेदाख्यशब्दे च विनष्टे वेदस्य नित्यत्वमित्यत आह—

### सू-२९ समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च [१.३.२९]

अतएव सूत्र्यानां समाननामरूपत्वात् प्राकृतप्रलयाच्चावृत्तावपि न विरोधः । आदिकर्ता परमपुरुषो हि पूर्वरूपस्थानं जगत् स्मृत्वा तदाकारमेव जगत् सृजति, वेदाश्च पूर्वानुपूर्वीविशिष्टानाविष्कृत्य चतुर्मुखाय ददातीति, श्रुतिस्मृत्यभ्यामादिकर्ता पूर्ववत्सृजतीत्यवगम्यते । श्रुतिस्तावत् ' सूर्यान् चन्द्रमसौ घाता यथा पूर्वमकल्पयत् ' (तै.नारायण.६.१.३८) इत्यादिका, ' यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च ग्रहिणो तस्यै ' (श्वे.६.१८) इति च । स्मृतिरपि ' यद्यत्र श्रुतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येवेह तथा भावायुगादिषु ॥ ' इति वेदस्य नित्यत्वं च पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमविशिष्टस्यैव सर्वदोषार्यमाणत्वात् ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

### सू-२५ तदुपर्यपि वादरायणस्सम्भवात् (१.३.२५)

मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशस्त्रमित्युक्तम् ; तत्प्रसङ्गेन देवादीनामापि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति चिन्त्यते, न देवानामधिकारोऽस्तीति पूर्वपक्षः, परिनिष्पन्ने ब्रह्मणि शब्दस्य प्रामाण्यसम्भवेऽपि देवादीनां विग्रहादिमत्त्वे प्रमाणाभावात् मन्त्रार्थवादानामपि विधिशेषतया विग्रहादिसद्भावपरत्वाभावात् विग्रहवन्निर्वर्त्याहरहरनुष्ठीयमानविवेकादिसाधनसप्तकसंस्कृतमनोनिष्पाद्योपासननिवृत्तौ तेषां सामर्थ्याभावात् । रादान्तस्तु—जगत्सृष्टिप्रकरणेषु नामरूपव्याकरणं श्रुत्यैव देवादीनां विग्रहादिमत्त्वं सिध्यति । देवादीनां देहेन्द्रियादिकरणमेवाह नामरूपव्याकरणम् ; मन्त्रार्थवादयोश्च तदुपसंगे तयोरेनुष्ठेयप्रकाशनस्तुतिपरत्वेऽपि तदुपपत्तये तत्सद्भावे प्रमाणत्वाद्देवादीनां विग्रहादिमत्त्वसिद्धिः ; न हि विग्रहादिमत्त्वास्तुतिः प्रकाशनं च तदभावे सम्भवति । अतस्सामर्थ्यसंभवादस्त्येवाधिकारः, सूत्रार्थस्तु तदुपर्यपि तेभ्यः मनुष्येभ्यः उपरि वर्तमानानां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति, यद्वा तत् ब्रह्मोपासनम् उपरि देवादिष्वपि सम्भवति ; तेषां हि ब्रह्मरूपतदुपासनप्रकारज्ञानतदर्थित्वतदुपादानसामर्थ्यसंभवात् ; पूर्वोपार्जितशानाविस्मरणात् शानसम्भवः तापत्रयाभिहितपूर्वकब्रह्मगुणशानाचार्यत्वसंभवः, सृष्टिवाक्यमन्त्रार्थवादेषु विग्रहवत्त्वाददर्शनात् सामर्थ्यसंभवेति भगवान् वादरायणमन्यते ॥

### सू-२६ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपक्षेर्दर्शनात् [१.३.२६]

कर्माणि यागादौ विग्रहवत्त्वे सति एकस्य युगपदनेकयोगेषु सन्निधानानुपपत्तेः विरोधः प्रसज्यत इति चेत् — तत्र शक्तिमतां सौमरिप्रभृतीनां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिदर्शनात् ॥

### सू—२७ शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (१.३.२७)

विरोध इति वर्तते ; माभूत्कर्मणि विरोधः, शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते, विग्रहवत्त्वे हि तेषां सावयवेनोप-  
चिन्विनाशयोगादुत्पत्तेः प्राग्विनाशादूर्ध्वं च, वैदिकानामिन्द्रादिशब्दानामर्थशून्यत्वनित्यत्वं वा स्यादिति चेत्—तत्र, अतः  
प्रभवात्—अतः वैदिकादेव शब्दात् इन्द्रादेः प्रभवात् ; पूर्वपूर्वेन्द्रादौ विनष्टे वैदिन्द्राद्याकृतिविशेषवाचिनः शब्दादि-  
न्द्राद्याकृतिशेष स्मृत्वा तदाकारमपरमिन्द्रादिक सृजति प्रजापतिरिति वैदिकस्य शब्दस्य न कश्चिद्विरोधः । नहि देवद-  
त्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दाः व्यक्तिविशेषे सङ्केयपूर्वकाः प्रवृत्ताः, अपितु गवादिशब्दवदाकृतिविशेषवाचिन इति तेषां  
मपि नित्य एव वाच्यवाचकभावः । वैदिकादिन्द्रादिशब्दात्तदर्थविशेष स्मृत्वा कुलादिगिव घटादिक प्रजापतिः सृज-  
तीति कुतो वा गम्यते ? ' प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ' श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । श्रुतिस्तावत् ' वेदेन रूपेव्याकरो सतासती  
प्रजापतिः ' (यजु.अष्टक.२, प्र.६.अनु.२) तथा ' स भूरिति व्याहरत् । स भूमिमसृजत ' (२.२.४) इत्यादिका स्मृ-  
तिरापि—' सर्वेषां च सनामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्याश्च निर्ममे ॥ ' (मनु.१.२१)  
' नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकारसः ॥ ' (वि.पु.१.५.६३) इत्यादिका

### सू—२८ अत एव च नित्यत्वम् (१.३.२८)

यतः प्रजापतिः वैदिकान्छाब्दादर्थकार स्मृत्वा तदाकार सर्वं सृजति, अतश्च वासिष्ठविश्वामित्रादीनां मन्त्रसूक्ता-  
दिकृत्वेऽपि मन्त्रादिमयस्य वेद स्यनित्यत्वं तिष्ठत्येव, प्रजापतिर्हि नैमित्तिकप्रलयानन्तरम् ' गन्धर्वतो वृणीते ' (आप-  
स्तम्बप्रवरण्डे.१.७) ' विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति ' (का.५.प्र.२.अनु.४) इत्यादिवेदशब्देभ्योऽनधीतमन्त्रादिदर्शन-  
सत्त्वसिद्धाद्याकृतिविशेष स्मृत्वा वासिष्ठवादिपदप्राप्तयेऽनुष्ठितकर्मविशेषाश्चानुस्मृत्य, तदाकारविशेषास्तन्वविष्टादीन् स-  
जति ; ते चानधीत्येव वैदैकदेशभूतमन्त्रादीन् स्वरतो वर्णतश्चास्तल्लिखितापठन्ति तदेषां मन्त्रादिकृत्वेऽपि वेदनित्यत्व-  
मुपपद्यते ॥

प्रजापतिप्रभृतिषु सर्वेषु तद्वेष्वव्याकृतपर्यन्तेषु अव्याकृतपरिणामरूपेषु शब्दमयेषु वेदेषु च विनष्टेष्वव्याकृतसु  
ध्यावृत्तौ कथं वेदस्य नित्यत्वमित्यत आह—

### सू—२९ समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च (१.३.२९)

अव्याकृतसुध्यावृत्तावपि सृज्यानां समाननामरूपत्वादेव न कश्चिद्विरोधः । आदिसर्गेऽपि हि परमपुरुषः पूर्वस-  
स्यानं जगत्स्मरन् तथैतत् सृजति, वेदाश्च पूर्वानुपूर्वाविशिष्टानां विष्कृत्य हिरण्यगर्भाय ददाति इति पूर्वसंस्थानमेव अग-  
सृजतीति कथमवगम्यते—दर्शनात् स्मृतेश्च—दर्शनं श्रुतिः, ' अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी । सूर्याचन्द्रसौ-  
धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिव च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो भुवः ' (तै.नारायण.६.१.३८) इति ' यो ब्रह्माणं विदधाति  
पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै ' (श्वे.६.१८) इति च । स्मृतिरापि—' यद्यर्थावृत्तुल्लिखानि नानारूपाणि पर्यये । इत्यस्ते



तानि तान्येव तथा भावायुगादिषु ॥ ' (वि.पु.१.५.६५) इति । एतदेव वेदस्य नित्यत्वम्—यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमविशेष  
स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वम्, परमपुरुषोऽपि स्वस्वरूपस्वाराधनतत्पल्याथात्म्यावबोधिवेद स्वस्वरूपवन्नित्यमेव पूर्वानु-  
पूर्वीविशिष्ट स्मृत्वाऽविष्करोति । अतो देवादीनां ब्रह्माविद्याऽधिकारे न कश्चिद्विरोधः ॥

इति वेदान्तदीपः

अथ अधिकरणसारावली

शब्दात्मा लौकिकार्थाकृतिरियमथवा देवतातो न तस्या  
ब्रह्मोपासेत्यनार्थं श्रुतपरिहरणं कल्पनं चाश्रुतस्य ।  
विश्वस्त्रष्टा च माभूदनुमितिर्विषयस्तत्परैस्त्वेव शास्त्रै-  
र्निर्वाधैस्स्थापितः प्राक्स्वयमपि विभुना नैव शक्यापलापः ॥  
सामर्थ्यं देवतानामुचिततनुभूतामर्थिता तापभाजां  
सम्पद्येतेति तासामपि भवति परोपास्तिधर्माधिकारः ।  
एतान् मन्त्रार्थवादप्रभृतिषु निखिलं दोषवाधाद्यभावे  
'मिथ्येत्युद्घोषयन्तस्त्वत इति कथितां मानतां प्रसरन्ति ॥  
द्वेधा वृत्तिस्तुतौ स्यात् स्वपरगुणमुखी प्राक्तनी तावदर्थ्या  
निर्यार्यः पश्चिमायामपि निपुणधियाम्मुख्यधर्मैकदेशः ।  
रुच्यर्थायां च तस्यामनृतकथनतो रोचना न ह्यमुग्रे  
भूतार्थे का स्तुतिरित्यादिति मुनिगदिता गौणतादेर्निवृत्त्यै ॥  
नानादेहासिद्धताः कथमिह युगपत्कर्मसन्निद्धयनर्हा-  
स्तद्वृत्तान्तसत्त्वे श्रुतिषु भवति नानित्ययोगः प्रवाहात् ।  
काण्डादौ कर्तृवादः प्रयचननियतो वेदनित्यत्वसिद्धे-  
रीश प्राचीनकल्पः क्रमत उपदिशेद्वर्णसर्गेऽपि वेदान् ॥  
वेदानामीशबुद्ध्या क्रमनियमहतिः कल्पभेदे यदीष्टा  
मन्त्रांशानन्तर्या स्यान्न सलु तदुचितं ग्रीहिसोमादिसाम्यात् ।  
इत्थं विद्वद्यर्थवादक्रम इति नियमे पाक्षिके वा तथात्वे  
पक्षोऽसावाक्षपाद परमपरिपत्कोटिमाटीकतां न ॥  
सौहर्म्यान्तल्यामिघारात् सहस्रदपनयाच्छादकादान्यपर्या  
दत्यासत्त्याऽतिदूराद्वलवदभिभवानुद्भवाक्षोपघातः ।  
नेदयन्ते वर्तमानान्यपि हि सुरगणस्तद्वदन्तर्धि शक्तेः  
प्रख्यातास्सिद्धिभेदा अपिजननतपो योगमन्त्रौपधीभ्यः ॥

॥ इ ति दे व ता धि क र णं स मा ष्ट म् ॥

अथ एतद्गर्भे मध्वधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू-३० मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारंजैमिनिः (१-३-३०)

ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तम् ; इदमिदानीं चिन्त्यते येषूपासनेषु या देवता एवोपास्यास्तेषु तासामधिकारोऽस्ति न इति । किं प्राप्तम् ? नास्त्यधिकारस्तेषु मध्वादिष्विति जैमिनि मन्यते ; कुतः ? असम्भवात् न ह्यादित्यवस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वादयोऽन्ये सम्भवन्ति । नच वस्वादीनां सतां वस्मादित्वं प्राप्यं भवति, प्राप्तत्वात्

अथ एतद्गर्भे मध्वधिकरणम्

सू-३० मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारंजैमिनिः (१-३-३०)

श्रुतप्रकाशिका

पूर्वाधिकरणे उपासनसामान्ये देवतासामान्यस्याधिकारोऽस्तीत्युक्तम्, अथोपासनविशेषे देवताविशेषस्याधिकारो निरूप्यत इति सङ्गतिः । इममर्थमाह—ब्रह्मविद्यायामित्यादिना । इदमधिकरणं न मधुविद्यामात्रविषयम् अपि-  
पीडशसर्ववाक्यप्रथमम्, अतएव हि 'मध्वादिषु' इति आदिशब्दप्रयोग इत्यभिप्रेत्योक्तम् । येषूपासनेष्विति । किं मधुविद्यादिषु या देवतापास्या, तासु किं तस्या अधिकारोऽस्ति, नेति विचारः तदर्थं 'य एतदेवममृतं वेद' इति यच्छब्दः किं सङ्कोचेन वस्वादित्यतिरिक्तविषयः, उतासङ्कोचेन वृत्तिरिति, किं स्या देवताय स्तद्विद्योपसंहारसामर्थ्यमस्ति, नेति किं मधुविद्याया वस्वादिदेवतामात्रमुपास्यम्, उत तदर्थं ब्रह्मेति, किं वसुत्वमात्रं मधुविद्याफलं, उत ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्ते वसुत्वमिति । यदा वसुत्वमात्रं फलं तदा वस्वादिदेवतामात्रमुपास्यत्वेन तस्या देवतायास्तद्विद्योपसंहारसामर्थ्याभावात् । यच्छब्दस्य तद्व्यतिरिक्तविषयत्वात्तत्रानधिकार इति यदा ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तं वसुत्वं फलं तदा तदवस्थब्रह्मण उपास्यत्वेन तद्विद्योपसंहारसामर्थ्याच्छब्दस्य तद्व्यतिरिक्तविषयत्वाभावात्तस्या देवतायास्तस्या विद्यायामस्त्यधिकार इति ॥

ननु तदवस्थब्रह्मण उपास्यतया सिद्धान्तश्चेत् प्रतर्दनविद्यान्यायेन गतार्थत्वादारम्भवैयर्थ्यम् । नैवम् तत्र प्रतिपा-  
द्यविशेषस्यैव निरूपितत्वात् । नहीन्द्रस्य तस्यां विद्यायामधिकारोऽस्ति नेति निरूपितम् । अतोऽधिकारनिरूपणार्थमार-  
म्भणीयत्वमिति । किंच ततोपक्रममात्रे जीवलङ्घनं, अवयविनो महावाक्यस्य परमात्मलिङ्गभूयस्त्वादवयवविशिष्टेऽवयवि-  
मात्रस्य दुर्बलत्वाद्वाद्वाग्गतोक्तः । इह तूपसंहारमात्रे परमात्मलिङ्गं, ननु महावाक्यरूपेऽवयविनि अतोऽधिकरणमारम्भणीयम्

नन्वेवं सत्पुनरुपक्रमोपसंहारदौर्बल्यात् । राद्धान्तानुपपत्तेरनारम्भणीयता स्यात् । नैवम् उपक्रमोपसंहारयोर्मध्ये  
विशेषेनोपक्रमार्थपरित्यागे प्राप्ते हि तद्व्यावर्त्येनोपसंहाराच्च, इह तूपक्रमावगतार्थपरित्यागहेतुत्वमावाग्नोपसंहाराच्च । कथं  
सर्हि संशयोत्थानं, अर्थित्वाद्यसम्भवब्रह्मोपनिषत्त्वश्रवणाभ्यां संशयः । असम्भवादिति । अर्थित्वसामर्थ्ययोरिति शेषः ।  
कर्मकर्तृविरोधात् सामर्थ्याभावात् इत्याह—नहीति प्राप्तफलत्वादार्थित्वाभाव इत्याह—नचेति । आदित्यवस्वादय इत्यादिशब्देन

## श्रीभाष्यम्

मधुविद्यायाः ऋग्वेदादिप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारेण प्राप्तस्य रसस्याश्रयतया लब्ध  
मधुव्यपदेशस्यादित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्यत्वं वरवादित्वं प्राप्तश्रूयते  
' असौ वा आदित्यो देवमधु ' (छां.३.१.१) इत्युपक्रम्य ' तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजी-  
वन्ति ' (३.६.१) इत्युक्त्या ' स य एतदमृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवा-  
मृतं दृष्ट्वा तृप्यति ' (३.६.३) इत्यादिना ॥

## सू-३१ ज्योतिषि भावाच्च (१-३-३१)

' तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ' (वृ.६.४.१४) इति ज्योतिषि परस्मि

## श्रुतप्रकाशिका

मधुद्रुद्राभ्यां विवक्षिताः । वस्वादित्यमधुद्रुद्राभ्यामगणा एकैकंप्रतिदिशमुपरि स्थित्वा आदित्यं प्रधानमनुभवन्ति, वस्वा-  
दीनामिवोपास्यत्वं वस्वादित्वस्यैव प्राप्यत्वं च किं श्रूयत इत्यपेक्षायां कर्मकर्तृविरोधं प्राप्तफलत्वं च श्रुत्योपन्यासेन विशद-  
यति मधुविद्यायामित्यादिना । ऋग्वेदादीति । ' अमौ प्रास्ताहुतिस्सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ' इति वचनायोऽभिप्रेतः  
आदित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्यत्वमिति । वस्वादिभिर्मोक्तृभिस्सहस्रतद्मोऽयभूताः आदित्यांशः  
उपास्या इत्यर्थः ॥

ननु कथं कर्मकर्तृविरोधः, स्वात्मविषयमपि ह्यनुसन्धानं सुकरम्, भूमविद्याधीतायां प्राणविद्यायां च कर्मकर्तृविरो-  
धाभावश्च भवदभिमतः, उच्यते, न तावत् स्मृतिसंततिमात्रमुपासनं षटादिरस्मृतिसंततेरप्युपासनशब्दवान्यत्वप्रसङ्गात् ।  
अतः प्रकृष्टवस्तुविषयस्मृतिसंतातिरेवोपासनं, नामाद्याशापर्यन्तोपासनेषु नामादीनामन्तवत्फलप्रदानामपि प्रकर्षवत्त्वं वि-  
वक्षितम् । वस्वादीनां तु स्वात्माप्रकृष्टत्वाभावात् स्वापेक्षया प्रकृष्टविषयमुपासनं स्वात्मिन्कर्तृ न शक्यते । प्राणविद्यायामप्य-  
वस्याभेदेनोपास्यप्रकर्षसम्भवति बद्धावस्थ उपासकः, निरतिशयमोग्य मुक्तावस्थस्वरूपं श्रुपास्यं, तच्च बद्धादतीव प्रकृष्टम् ।  
समयविषयपरविद्यायाऽपि स्वात्मांशे कर्मकर्तृविरोधोऽप्यवस्याभेदेनैव परिहृतः । मधुविद्यायां तु वस्वादीनामेवोपास्यत्वं, न तु  
परिशुद्धावस्थानां अतोऽवस्याभेदेनाप्यविरोधस्य दुर्वचत्वात् कर्मकर्तृविरोध इति । यद्वा स्वयमेव स्वाभीष्टसंप्रदानाय  
क्तेन फलार्थिना पुरुषेणोपास्या देवतास्वोपासनप्रीता फलार्थिने फलं दिशति, वस्वादीनां तु स्वोपासनजनितस्वप्रीत्या स्वस्य  
फलप्रदत्वमयुक्तमिति उपासनप्रीणनीयत्वाकारेण कर्मकर्तृविरोधः, यद्वा एकस्यैव फलप्रदत्वफलार्थित्वरूपविरोधगर्भत्वात्,  
कर्मकर्तृविरोध इति स्थिते सामर्थ्याभावः, अतश्च कृत्वाशक्तत्वविशेषप्रीणनीयत्वप्रीणयितुं वत्फलप्रदत्वार्थित्वरूपविरोधगर्भ-  
त्वात् कर्मकर्तृविरोधः, ईदृशविरोधः प्राणविद्यायामपि स्थित एवात्र वक्ष्यमाणन्यायोपजीवनेन परिहार्य इति । प्राणवि-  
द्यायां ब्रह्मात्मकत्वेनोपासनस्याविवक्षितत्वेऽपि वस्तुतो जीवान्तर्यामिणः परस्य प्रीतिजननद्वारा स्वर्गार्थं यथादेरिष फलप्रद-  
त्वमित्येतावता वैषम्यं प्रकर्षापकर्षगर्भकर्मकर्तृविरोधस्य ब्रह्मात्मकतया परिहारस्तु समानः । अतः प्राणविद्याभ्येतन्याय-  
सपेक्षेति तत्र विरोधस्यापरिहृतत्वात् तान्निष्यनस्य सामर्थ्याभावस्यात्र पूर्वपक्षहेतुतयोपन्यासः । इत्यादिना यथोक्तार्थः  
भूयते इत्यन्वयः ॥

## सू-३१ ज्योतिषि भावाच्च (१,३-३१)

### धीमाप्यम्

ब्रह्मणि उपासनं देवानां ध्येते । देवमनुष्योभयसाधारणे परब्रह्मोपासने देवानामुपासकत्वकथनं देवानामितरोपासननिवृत्तिं द्योतयति । अत एव च स्वादीनामनधिकारः

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

सू-१-१-३२ भावं तु वादरायणोऽस्ति हि (१.३.३२)

आदित्यवस्वादीनामपि तेष्वधिकारभावं भगवान् वादरायणो मन्यते । अस्तिह्यादित्यवस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादित्वप्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्रेप्सासम्भवः । इदानीं विष्वक्स्वादीनामपि सतां कल्पान्तरेऽपि वस्वादित्वप्राप्तिश्चापेक्षिता भवति । अत्र हि कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनं विधीयते, 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छां.३.१.१) इत्यारभ्य 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य' (३.१.१.१) इत्यतः प्रागादित्यवस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते ; 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य' (३.१.१.१) इत्यादिना आदित्यान्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थमेव ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते । तदेव कार्यकारणोभयावस्थं ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वस्वादित्वं प्राप्य तदन्ते कारणं परं ब्रह्मैवाप्नोति । 'न ह वा अस्मा उदेति न निम्रोचति सृष्टिर्वा हेवास्मै भवति यत्तामेवं ब्रह्मोपनिषद् वेद' (छां.३.१.३.३) इति कृत्स्नाया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषत्त्वध्वन्याद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तवस्वादित्वफलस्य वस्वादिभोग्यभूतादित्यादित्यांशस्य विधीयामनमुपासनं तदवस्थस्यैव ब्रह्मण इत्यवगम्यते ।

### श्रुतप्रकाशिका

तत किमित्यत्राह—देवमनुष्येति । देवा एव ज्योतिषासते देवा ज्योतिरेवोपासते इति वाक्यमङ्गी स्यात्, तत्र न प्रथमं कल्पो युज्यते, मनुष्याणामनधिकारप्रसङ्गात् । तस्माज्ज्योतिरेवोपास्यमित्यर्थः, अन्यथा विशेषवचनवैयर्थ्यं स्यादिति प्राप्य ॥

सू-३२ भावं तु वादरायणोऽस्ति हि (१.३.३२)

अङ्गराथमाह—आदित्येत्यादिना । अर्थि वसामर्ध्याभाव परिहरति अस्तिहीति । स्वावस्थब्रह्मोपासनशब्देन कर्म कर्तृविरोधः परिहृतः, वस्वादि वस्य प्राप्तत्वान्नार्थवसम्भव इत्यत्राह—इदानीमिति । उपासनस्य ब्रह्मपर्यन्तवे फलस्य ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तत्वे प्रतिपाद्येति हि कर्मकर्तृविरोधाभावः, प्राप्तफलवामावश्च तत्कथामित्यत्राह—अत्रहीति । आदित्यादिनामतद्रूपविशिष्टजीवशरीरक ब्रह्मकार्यावस्थ तदुपासनं विहितमित्याह—असौ वा आदित्येत्यादिना । इदानीमादित्यादिनामरूपमाजोऽपि सृष्टे पूर्वमादित्यादिनामरूपपरहितजीवमात्रस्यान्तर्यामिब्रह्मकारणावस्थ तदुपासनं विधीयत इत्याह—अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्येत्यादिनेति । ब्रह्मोपासनं विहितचेत् कथं तद्विरुद्धभवनफलमित्यत्राह—तदेवमिति । उदाहृतवाक्ये कारणावस्थादित्यस्यैवोपासनं वस्वादित्वमात्रफलप्राप्तिश्च प्रतीयते, नत्वादित्यादिशरीरकब्रह्मोपासनं, तत्प्राप्तिभेत्यत्र तद्वाह—न इवा । 'ब्रह्मोपनिषद् वेद ब्रह्मविद्या वेद ।' ब्रह्मोपासनं करोतीत्यर्थः । 'ओदनपाकं पचति' इतिवत्



### श्रीभाष्यम्

अत एव विधमुपासनमादिस्ययस्यादीनामपि सम्भवति । एवञ्च ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (वृ.६.४.१६) इत्यप्युपपद्यते । तदाह वृत्तिकारः—'अस्ति हि मध्यादिषु सम्भवो ब्रह्मण एव सर्वत्र निष्ठाप्यत्वात्' इति ॥

### इति मध्यधिकरणम्

#### श्रुतप्रकाशिका

उपसंहरति अतएवमिति । ब्रह्मोपासनपरत्वेन यैव्याख्यातं तन्मतादस्य प्रामाणिकत्वं दर्शयति तदाह वृत्तिकारइति ॥

परेऽन्ये च 'मध्यादिष्वसम्भवात्' इत्यादिसूत्रप्रथमं 'तदुपर्यपि' इत्यादिभिस्सूत्रैर्काधिकरणं मन्वाना एवं व्याचक्षते, ब्रह्मव्यतिरिक्तविषयेषु मध्यादिविद्याविशेषेषु अर्थित्वाद्यसम्भवात् सर्वासु विद्यास्वनधिकारं जैमिनिर्मन्यते । कथं क्वचिदनधिकारादन्यत्राप्यनधिकारः नहि राजसूयानधिकारिणो ब्राह्मणस्य बृहस्पतिसवानधिकार इति शङ्कायामादित्यादिज्योतिषि मण्डलाद्याकारत्वादचेतनेऽपि सवित्रादिशब्दप्रयोगसद्भावात् अग्न्यादीनांचाचेतनत्वान्मन्त्रार्थवादयोरन्यपरत्वेन विग्रहादिमन्त्राभावेन च अर्थित्वसामर्थ्याभावाच्चाधिकारः, इति सूत्रद्वयं व्याख्याय 'भावंतु' इति तृतीयसूत्रेण मन्त्रार्थवादयोरपि प्रतीयमानार्थे प्रामाण्योपपादनमुत्तेन अर्थित्वादिसद्भावाद्विद्याधिकारोऽस्तीत्युच्यते इति । तदनुक्तम् वृत्तिकारानभिमतत्वादध्याहारसापेक्षत्वादपेक्षितार्थपरीक्षणयोगात् कृतकरत्वप्रसङ्गादीधिकरणान्तर्दैरुच्यते । तत्र वृत्तिकारानभिमतिर्भाष्ये कण्ठोक्तया दर्शिता, तत्र हेतुरितरेहेतुजातम् । असम्भवान्मध्यादिष्वनधिकारं मन्यत इति अनध्याहारेण योजनासम्भवेऽपि मध्यादिष्वसम्भवात् कुत्रानधिकार इत्यपेक्षायां सर्वसु विद्यास्वप्यनधिकार इत्यध्याहारेण याजनाऽनुपपन्ना । 'सकृद्विवाहैवास्य भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिदं वेद' इति ब्रह्मविद्यात्वं तदनुगुणफलं चावगम्यते, वस्त्रादीनामुपास्यत्व च प्रतीयते कथमिदं घटत इति व्युत्पन्नशब्दस्य सशयो भवति, तस्मादियमब्रह्मविद्या वा ब्रह्मविद्यावेति निरूपणमपेक्षितम् तस्यानिरूपितत्वात् बुभुक्षिता परीक्षण स्यात् 'तदुपर्यपि' इति सूत्रेणैव मन्त्रार्थवादयोर्विग्रहादवप्रामाण्यस्य परिहृतत्वेन 'ज्योतिषि' इत्यादिसूत्रद्वयस्यान्यपरत्वशङ्कापरिहारपरत्वेन व्याख्यानस्य कृतकरत्वं च स्यात् 'संभवात्' इत्युक्तस्यार्थित्वादिसम्भवरूपस्य हेतोरसम्भवव्युदासाधीना मन्त्रा वाद हसूत्रेण परिहृतत्वमवगम्यते, अनन्तरमेव युगपदनेकत्र सन्निविरोधादिपरिहारश्च विग्रहादिसिद्धनिवन्धनत्वादन्यपरत्वस्य परिहृतत्वमवगम्यति । यथाद्यसूत्रेणासम्भवशङ्कापरिहारो नयिवाक्षितौ तर्हि तच्छङ्कापरिहारपरेण 'ज्योतिषि' इत्यादिसूत्रद्वयेनाद्यसूत्रानन्तरेण भवितव्यम् स्वयंसाधकोपन्यासानन्तरमेव तदौचित्यशङ्कापरिहारस्याधिकरणान्तरेष्वपि दृश्यमानत्वात्, यथा 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' यथा 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' 'छन्दोऽभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्' इति 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' इतिचेन्न शरीररूपकदिन्यस्तर्ह्येतिदर्शयति च 'सूक्ष्मं तु तद्वर्त्तयान्' इति च । ततो मित्राधिकरणत्वं युक्तम् ॥

आधिकरणभेदमभ्युपगम्य वसुसमुदायस्योपास्यत्वं एकैकवसोरुपासकत्वं दद्यादिव्येष्वेवंसमुदायस्यैव मेदादुपासोपासकभावः उपास्यत्वं च वस्त्रादिमोग्यादित्याद्यमात्रस्य, ननु ब्रह्मणः फलं च वस्त्रादिमात्रमिति कैश्चिदुक्तम् तदपवर्गस्वफलब्रह्मोपनिषत्प्रवणविरुद्धात् वृत्तिकारस्यानभिमतमित्यनादरणीयम् ॥

ननु 'तदुपर्यपि' 'मध्यादिष्वसम्भवात्' इत्यधिकरणद्वयं न किंप्रयोजनम् । देवानां देवताविशेषाणां च

### मुत्प्रकाशिका

अर्थत्वसामर्थ्यसम्भवनिर्णयाय मनुष्याणां प्रयोजनं तेन विनाप्यमीयाप्रुपासनोपपत्तेः । नच देवानां किमपि प्रयोजनं, तेषां स्वकीयपदुनरदेहादिमत्त्वेऽर्थित्वसद्भावेचाधिकरणन्यायनिरपेक्षनिर्णयकत्वादिति । उच्यते परंब्रह्म सामान्येन देवाना-  
मभ्युपास्यं फलप्रदं च देवताविशेषाणामभ्युपासनविशेषैरुपास्यं फलविशेषप्रदं चेत्येवंविधैश्वर्यविशिष्टत्वेन मनुष्यैरुपासकै-  
र्ब्रह्मणोऽनुसन्धेयत्वात्तथाऽनुसन्धानमेव प्रयोजनमिति ॥

### इति मध्याधिकरणम्

### अथ एतद्गर्भे मध्याधिकरणम्

### गूढार्थसङ्ग्रहः

देवताधिकरणे भूतार्थवादानां स्वांशे प्रामाण्यमभ्युपेत्य देवताविग्रहः परैरप्यभ्युपगतः तत्र प्रमाणान्तराविरोधमात्र-  
मेव तावन्मात्रेणोपधीणतया तात्पर्यकल्पनमनपेक्षितामिति वाचस्पतिः—अवान्तरतात्पर्यं वर्तत इति विवरणकाराः एवं  
संक्षेपशारीरककारा अपि व्यावहारिकत्वमात्रमेवेति सर्वेषामभिमतम् । ‘ इन्द्रो मायामिः पुरुष इयत ’ इति श्रुत्या बहु-  
रूपाणां मायिकत्वेन व्यावहारिकत्वमेव, नतु पारमार्थिकमिति सर्वाद्वैतिनः ‘ अरूपवदेव हि ’ इति सूत्रमनुकूलमिति च  
प्रमाणान्तराविरोधमभिधाय षड्विधतात्पर्यलिङ्गैः व्यावहारिकत्वकल्पनं वेदाप्रामाण्यं दीर्घभ्रमजनकतया पर्यवस्यति (सूत्र-  
सृष्टिवाक्यवत् जगत्सृष्टिवाक्यमिति ब्रह्मसिद्धिः) अतः देवताविग्रहस्यार्थवादैरङ्गीकारे तस्य पारमार्थिकाङ्गीकार एव वेद-  
प्रामाण्यं निर्वहति ॥

मधुविद्यायां कर्मकर्तृविरोधादनधिकारः जैमिनिसमतः । अयमेवार्थः परैरप्याहृतः ‘ ज्योतिषिभावाच्च ’ इत्यत्र ज्योतिः  
पदं मण्डलपरम् अचेतनस्योपासकत्वं नसंभवति ज्योतिश्शब्दः मण्डलपर इति वदन्ति, ‘ ज्योतिर्दर्शनात् ’ इत्यत्र परमा-  
त्मपरत्वमङ्गीकुर्वन्ति । ज्योतिश्शब्दस्य शास्त्रप्रसिद्धपरमात्मपरत्वमेव युक्तमित्यङ्गीकृत्य ब्रह्मविद्यादिषु कर्मकर्तृविरोधात्  
तत्रानाधिकारः पूर्वपक्षसम्मतः । ‘ भावं तु ’ इति सिद्धान्तसूत्रे पूर्वपक्षिसमतार्थस्यैव निरसनमभिप्रेतमिति मधुविद्याया-  
मेवाधिकार इति बादरायणसिद्धान्तः । ‘ भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ’ इत्यत्र मधुविद्यायाः ब्रह्मविद्यात्वेन तत्राधिकार  
भावोऽपि विवक्षितः । ‘ य एतां ब्रह्मोपनिषदं वेद ’ इति अत्रैव वाक्ये ब्रह्मशब्दस्य वेदार्थकत्वमुक्तं परैः । तथासति  
ब्रह्मशब्दस्य वैयर्थ्यमेव । अतः कार्यकारणोभयावस्यमेव श्रीभाष्यकारांक्तं साधु ॥

अयमेवार्थः सूत्रकृतसम्मतः । मधुविद्यायामनधिकारशङ्काया तत्राधिकारसाधनमेव रुक्म-छते । ब्रह्मसूत्रेषु पूर्वपक्ष-  
मात्रपरसूत्रमेव नास्तीत्यभिनिविष्टा । नन्याः—प्राप्तफले अनधिकारः जैमिनिसमतः । मोक्षार्थं विद्यायामधिकार इति सिद्धान्त  
यन्ति एवमुक्तेः प्राप्तफलमोक्षैतदुभयार्थसूत्रनस्येवाभावात् तथा वर्णनमभिनिवेशमूलमेव । तदेवं ‘ मनुष्याधिकारवत् ’  
इत्यत्रायोगव्यवच्छेदो विवक्षितः । अन्ययोगव्यवच्छेदो नविवक्षित इति सिद्धम् ॥

### इति मध्याधिकरणम्



## अथ वेदान्तसारः

सू=३० मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः [१.३.३०]

मधुविद्यादिषु वस्वादिदेवानामेव उपास्यत्वात् प्राप्यत्वाच्च, तत्र वस्वादीनां कर्मकर्तृभावविरोधेन उपास्यत्वासम्भवात्, वसूनां सतां वसुत्वं प्राप्तमिति प्राप्यत्वासम्भवाच्च, तत्र वस्वादीनामनधिकारं जैमिनिर्मते ॥

सू-३१ ज्योतिषि भावाच्च (१.३.३१)

‘तंदेवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्’ (४.६.४.१६) इति ज्योतिषि परस्मिन्न्रह्मणि देवानां साधारण्येन प्राप्तत्वेऽपि अधिकारमात्रवचनात् अन्यत्र वस्वाद्युपासने अनधिकारो न्यायसिद्धो गम्यते ॥

सू=३१ भावं तु वादरायणोऽस्ति हि (१.३.३२)

मधुविद्यादिष्वपि वस्वादीनामधिकारमात्रं भगवान् वादरायणो मन्यते । अस्ति हि वस्वादीनां सतां स्वावस्यब्रह्मण उपास्यत्वसम्भवः, कल्पान्तरे वसुत्वादेः प्राप्यत्वसम्भवश्च । ‘एकलएव मध्ये स्थाता’ (छां.३.११.१) इत्यादिना आदित्यस्य कारणावस्थां प्रतिपाद्य ‘यएतामेव ब्रह्मोपनिषदं वेद’ (३.११.१) इति मधुविज्ञायाः ब्रह्मविद्यात्वमाह— अतः कार्यकारणोभयावस्थं तत्रोपास्यम् ; कल्पान्तरे वस्वादिष्वमनुभूय अधिकारावसाने ब्रह्मप्राप्तिर्न विरुद्धा ॥

## इति वेदान्तसारः



## अथ वेदान्तदीपः

सू-३० मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः [१.३.३०]

छान्दोग्ये—‘असौ वा आदित्यो देवमधु’ (छां.३.११.१) इत्युपक्रम्य ‘तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्ति’ (३.६.१) इत्युक्त्वा ‘स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति’ (३.६.३) इत्यादिना ऋग्यजुस्सामादिवेदादितकर्मसंपाद्यस्याधारतया मधुमयस्यादित्यस्य पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वोऽशान्वसुरुद्रादित्यमरुताभ्यनाम्नां देवगणानां भोग्यत्वेनाभिषाय, तैर्भुज्यमानाकारणादित्यांशानुपास्यानुपदिश्य तानेवाऽदित्यांशान् तथाभूतान् प्राप्यानुपदिशति । एवमादिषूपपासनेषु वस्वादित्यानामधिकारोऽस्ति, नवेति संशयः । नास्त्यधिकार इति पूर्वपक्षः, वस्वादीनामुपास्यान्तर्गतत्वेन कर्मकर्तृभावविरोधात्, प्राप्यस्य वसुत्वादेः प्राप्तत्वाच्च । राद्धान्तस्तु—ब्रह्मणएव तदवस्यस्योपास्यत्वाद्वस्वादीनां सतां स्वावस्यब्रह्मानुसन्धानाविरोधात्, कल्पान्तरे वसुत्वादेः प्राप्यत्वाविरोधाच्च वस्वादीनामधिकारसम्भवति इति । सूत्रार्थस्तु—मधुविद्यादिषु वस्वादीनामनधिकारं जैमिनिर्मन्यते, असम्भवात् वस्वादीनामेवोपास्यानामुपासकत्वासम्भवात्, वसुत्वादेः प्राप्तत्वादेव प्राप्यत्वासम्भवाच्च ॥

## सू—३१ ज्योतिषि भावाच्च [१.३.३१]

‘ त देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ’ (वृ.६.४, १६) इति ज्योतिषि परस्मिन्ब्रह्मणि देवमनुष्ययोरधि-  
कारसाधारण्ये सत्यपि, ज्योतिषा ज्योतिः परब्रह्म देवा उपासते इति विशेषवचन वस्वादीनां कर्मकर्तृभावविरोधात्तेषु तेषां  
मनधिकार द्योतयति । देवाः इति सामान्यवचन च वस्वादिविशेषविषयमित्यवगम्यते, अन्येषामविरोधात् ॥

## सू—३२ भावं तु वादरायणोऽस्ति हि (१.३.३२)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । वस्वादीनां मधुविद्यादिष्वधिकारसद्भावं मगवान् वादरायणो मन्यते, अस्ति हि  
वस्वादीनामेवोपास्यत्वं प्राप्यत्वं च । इदानीं वसुनामेव सतां कल्पान्तरे वसु वस्य प्राप्यत्वसम्भवात्प्राप्यत्वं सम्भवति ।  
स्वात्मनां ब्रह्मभावानुसन्धानसम्भवादुपास्यत्वं च सम्भवति । ‘ य एतामेव ब्रह्मोपनिषद्वेद ’ (छां.३.११.१) इति कृ-  
त्स्नाया मधुविद्यायाः ब्रह्मविद्यात्वमवगम्यते ॥

इति वेदान्तदीपः

अथ अधिकरणसारावली

स्यादेवं देवमात्रे मनुज इव परोपास्तिमात्रे तथाऽपि  
स्वस्यैवाराध्यभायस्वपदमपि फलं यत्र नात्राधिकारः ।  
मैवं सर्वान्तरात्मा स्वतनुभृदिति चोपासते मुक्तिकामाः  
कामादावर्तते तु स्वपदमपि फलं कल्पमन्वन्तरादौ ॥

॥ इ ति म ध्व धि क र णं स मा स म् ॥





अथ एतद्गर्भे अपशूद्राधिकरणम्

धीभाष्यम्

सू-३३ शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि [१-३-३३]

ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नयेति विचार्यते ; किं युक्तम् ? अस्तीति । कुतः अर्थित्वसामर्थ्यप्रयुक्तत्वादधिकारस्य, शूद्रस्यापि तत्सम्भवात् । यद्यप्यग्निविद्यासाध्येषु कर्मस्वनमिविद्यत्वाच्छूद्रस्यानधिकारः ; तथाऽपि मनोवृत्तिमात्रत्वाद्ब्रह्मोपासनस्य तत्राधिकारोऽस्त्येव । शास्त्रीयक्रियापेक्षत्वेऽप्युपासनस्य तत्तद्वर्णाश्रमोचितक्रियाया एवापेक्षितत्वाच्छूद्रस्यापि स्ववर्णोचितपूर्ववर्णशुश्रूष्य क्रिया भविष्यति । ' तस्माच्छूद्रोयज्ञेऽनव-

अथ एतद्गर्भे अपशूद्राधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

सू-३३ शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि (१.३.३३)

मनुष्यम्यतिरिक्तवस्वादिवेवताविशेषाणामर्थवसामर्थ्यसम्भवादधिकारोऽस्ती युक्तम् । अथार्थवसामर्थ्ययोः प्रयो-  
जकत्वे मनुष्यविशेषाणां शूद्राणामप्यधिकारस्यादिति शङ्कयासङ्गतिरित्याह—ब्रह्मविद्यायामिति । किं ब्रह्मविद्यायां  
शूद्रस्याधिकारोऽस्ति, नेति विचारः । तदर्थं तस्य तदुपसंहारसामर्थ्यमस्ति नेति, किं ब्रह्मविषयमनोवृत्तिरूपा ब्रह्मविद्या-  
ऽनधीतवेदस्यापि संभवति, नेति ? किं वेदादेव ब्रह्मावगतिः उतेतिहासपुराणायामपि ? संभवतीति किं तयोर्वेदोपबृंहणं  
कुर्वतोरेव ब्रह्मावगतिहेतुत्वं उत स्वातन्त्र्येणेति ? किं जानश्रुतेऽशूद्रेत्यामन्त्रणमितिहासपुराणयोर्निरपेक्षब्रह्मावबोधकत्वमुपो-  
द्वलयति, नेति । किं तत्र शूद्रशब्दो रूढ्या जातिपरः, उत यौगिकतया शोकवत्परइति । यदा रूढः तदा शूद्रशब्दस्ये-  
तिहासपुराणयोर्निरपेक्षोत्तम्भकतया तयोस्त्वित्येण ब्रह्मावगतिहेतुत्वात् ब्रह्मविषयस्मृतिसन्ततिरनधीतवेदस्यापि संभवती-  
ति सामर्थ्यलाभात् शूद्रस्याप्यधिकारस्सम्भवतीति पूर्वपक्षः । यदा शूद्रशब्दो यौगिकः तदा शूद्रेत्यामन्त्रणस्य इतिहासपु-  
राणयोर्ब्रह्मावबोधननिरपेक्षयावगमकतया स्वातन्त्र्येण ब्रह्मावबोधकत्वाभावाद्देवादेव ब्रह्मावगतिरित्यनधीतवेदस्य तदसम्भ-  
वेन सामर्थ्याभावाच्च ब्रह्मोपासनाधिकार इति शङ्कान्तः ॥

ननु कर्मकण्डापशूद्राधिकरणे शूद्रस्य वैदिकसर्वकर्मस्वनधिकार उक्तः, तत्कथमत्र तत्सम्भव इत्यत्रोहि—यद्यपीति  
विद्या वेदविद्या अध्ययनम् । अग्निः आहितः परिहरति तथाऽपीति । ननु विद्यायाः कर्माङ्गत्वं वक्ष्यते तत्कथं साङ्ग  
ब्रह्मविद्यायां सामर्थ्यमित्यत्राह—शास्त्रीयेति । ननु ' तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकल्पः ' इत्यत्र यशग्रहणस्योपलक्षणार्थ-  
त्वाद्विद्यायामप्यधिकारोऽस्ति सिद्धयति । नह्यसावर्थः श्रुत्येकसमाधिगम्यः येन यावद्वचनता स्यात् परिसङ्ख्या वा, किंतु न्याय-  
सिद्धः, न्यायश्चाग्निविद्यासाध्येध्वनामिविद्यसाधिकारानुपपत्तिरूपः कर्मोपासनसाधारणः, अतोऽनधिकार इत्यत्राह—  
तस्माच्छूद्रइति । सत्यमसावनुवादः, नैतावता ब्रह्मविद्याऽनधिकारः, अग्निविद्यासाध्यकर्मविषयत्वान्यायस्य, यथादि-

## श्रीभाष्यम्

कल्युत. ' (यजु.का.७.१.१.१) इत्यप्यग्निविद्यासाध्ययज्ञादिकर्मनधिकार एव न्यायसिद्धोऽनूयते । नन्यनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारानभिज्ञस्य कथं ब्रह्मोपासनं सम्भवति ? उच्यते—अनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्यापीतिहासपुराणश्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनज्ञानं सम्भवति । अस्ति च शूद्रस्यापीतिहासपुराणश्रवणानुज्ञा ' आद्ययेद्यतुरो वर्णान्मृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ' (भारते.शान्ति.मोक्ष) इत्यादौ । दृश्यन्तेचेतिहासपुराणेषु विदुरादयो ब्रह्मनिष्ठाः । तथोपनिषत्स्वपि संघर्गविद्यायां शूद्रस्यापि ब्रह्मविद्याधिकारः प्रतीयते शुश्रूषुं हि जानश्रुतिमाचार्यैरेकदशद्वेत्यामन्त्रय तस्मै ब्रह्मविद्यामुपदिशति—' आजहारेमादशूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः ' ((छां.४.२.५) इत्यादिना । अतश्शूद्रस्याप्यधिकारस्सम्भवति ॥

इति प्राप्त उच्यते—न शूद्रस्याधिकारस्सम्भवति, सामर्थ्याभावात् । नहि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारमजानस्तदङ्गभूतवेदानुवचनयज्ञादिष्वनधिष्ठितस्योपासनोपसंहारसामर्थ्यसम्भवः ; असमर्थस्य चार्थित्वसद्भावेऽप्यधिकारो न सम्भवति ; असामर्थ्यं च वेदाध्ययना-

## श्रुतप्रकाशिका

कर्मणामेवामि विद्यासाध्यत्वात् ब्रह्मविद्यायास्तन्निरेषत्वोच्चेत्यर्थः । अत्रार्थादेवन्तरचोक्तं भवति, यशधिकारो नास्तीत्यनेन उपासनाधिकारोऽनुमतो भवतीत्यभिप्रायेण यशदिकर्मनधिकार एवेत्युक्तम् न्यायवाक्यसिद्धोऽनूयते इति । कर्मकाण्डेऽप्युदाधिकरण-न्यायसिद्ध इत्यर्थः । माभूदाससाध्ययज्ञापेक्षा ब्रह्मविद्यायाः, तथाऽप्यध्ययनसाध्यवेदज-यज्ञानपेक्षाऽस्तीति चोदयति—नन्विति । श्रावयेदिति । प्रयोज्याभावे प्रयाजकासिद्धेः प्रयोज्योपादानमर्थसिद्धमिति भावः । नच 'अन्नाद्यकामं याजयेत्' इतिप्रत् प्रयाज्यव्यापारविधिः अधिकारविशेषाश्रवणात्, एतदभिप्रायेणेतिहासपुराणश्रवणानुज्ञेऽनुक्तम् । यदात्रैवसिद्धं श्रवणं तदा सामर्थ्याद्विचारोऽपि सिद्धः, इतिहासपुराणयोस्संशयविपर्ययप्रसङ्गवेति सम्यङ्निश्चयानुपपत्तेः, अतो निरपवादश्शूद्रस्याप्यधिकारो ब्रह्मविद्यायाम् । नचवाच्यं यशदिकर्मणामपीतिहासपुराणेषूपदिश्यमानत्वात्तत्रापि शूद्राधिकारप्रसङ्ग इति । कर्मणामितिहासपुराणेषु सामान्यतः कीर्तनेऽपि विशेषोपदेशामावात्, वैदिकेषु विशेषोपदेशेषु शूद्रस्यानीधिकारस्येतिगतिरिति यदि ब्रूयात्, नेदमितिहासपुराणविषयम् श्रवणानुज्ञानमर्थशानावधिकम् । किन्तु 'इमंशानवच्छूद्रपातितौ' इति प्रतिषिद्धस्य समीपपाठस्य प्रतिप्रसङ्गमात्रमिति, तत्र 'यद्दंशृणुयामित्यम्' इत्युपक्रम्य 'शूद्रस्सुखमवाप्नुयात्' इति श्रवणफलनिर्देशात् श्रवणकीर्तनेहि यथायाग्यमन्वीयेते 'शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे' इति ह्युक्तम् । इत्यन्तरमाह—दृश्यन्तेचेति । कर्मकाण्डेऽप्युदाधिकरणेऽनधिकारो निर्णीतश्चेत् किमत्र चिन्तनीयमिति शङ्काया ब्रह्मोपासनेऽप्युदाधिकरण-न्यायप्रवृत्तौ तत्रापारिहृतामधिकयुक्तिमाह—तथोपनिषत्स्वपि संसर्गेति ॥

रादान्तमारमत—इतिप्राप्तइति । सर्वगविद्यावाक्यगतशूद्रशब्दनिर्वाह एव सौम्यः, अन्यःपूर्वपक्षहेतुजात सूत्रकाराभिप्रेत स्वयमुपन्यस्त प्रथमे युदस्य पश्चात् सूत्रमवतारयिष्यन् प्रथमं पूर्वपक्षहेतुप्रतिक्षिपति न शूद्रस्येत्यादिना । सामर्थ्याभावमुपपादयति नहीति । अर्थित्वं ह्यस्तीत्यत्राह—असमर्थस्यचेति । उपासनोपायश्रवणधारणादिक्षमावलक्षणं सामर्थ्यं तस्यापि लोकसिद्धमित्यत्राह—असामर्थ्यचेति । अलौकिकसामर्थ्याभावादित्यर्थः । ब्रह्मोपासनविधिना शूद्रस्याप्यधिकारः कल्प्यः, यथा रथकारादीनां विधित्रलेम तत्तत्कर्माधिकारस्तदपोक्षितमन्त्राध्ययनाधिकारश्च सिद्धयतीत्यत्र इ-

## श्रीभाष्यम्

भावात् ; तथैव हि त्रैवर्णिकविषयाध्ययनविधिसिद्धस्वाध्यायसम्पाद्यज्ञानलाभेन कर्मविधयो  
ज्ञानतदुपायादीनपराध स्वीकुर्यन्ति । तथा नोपासनविधयोऽपि । अतोऽध्ययनविधिसिद्ध-  
स्वाध्यायाधिगतज्ञानस्यैव, ग्रहोपासनोपायत्वाच्छुद्रस्य ग्रहोपासनसामर्थ्यासम्भवः ;  
इतिहासपुराणे अपि ग्रहोपबृहणं कुर्यतीत्युपायमात्रमनुभवतः, न स्वातन्त्र्येण । शुद्रस्ये-  
तिहासपुराणश्रवणानुष्ठानं, पापक्षयादिकलार्थम् ; नोपासनार्थम् । विदुरादयस्तु भवान्त-  
राधिगतज्ञानप्रमोपात् ज्ञानवन्तः प्राग्बध्यकर्मवशाद्दृष्टजन्मयोगिन इति तेषां ग्रहनिष्ठत्वम् ॥

## श्रुतप्रकाशिका

यथैवहीति । ज्ञानतदुपायादीनित्यादिशब्देनाध्ययनव्रतोपनयनादय उच्यन्ते । अपरान् अत्रैवर्णिकगतान् ज्ञानतदुपायादी-  
नापेक्षन्त इत्यर्थः । विषयस्त्वैवैयर्थपरिहारायानुशातृसोऽप्यसोऽनुष्ठानस्य ज्ञानपूर्वकतया ज्ञानतद्वैभूताध्ययनव्रतोप-  
नयनादीनेपेक्षन्ते तत्रानभ्यासं स्वयं हेतुसाध्यतया प्रयोजनसाक्षात् सन्निहितत्रैवर्णिकगतज्ञान बलत्वात् कर्मविधिसि-  
द्ध्यते तत्र कर्मविधयोऽत्रैवर्णिकगतज्ञानादिनिर्दिष्टायास्तदधिकार न कल्पयन्ति । एव ग्रहोपासनविधयोऽपि त्रैवर्णिक-  
गताध्ययनसिद्धान्त्यासाक्षात्ज्ञानतो लब्धानुष्ठानतयाऽन्यथासिद्धत्वात् नोपासनधिकार कल्पयन्ति । अनन्यथासिद्ध हि  
कल्पकम् । किंच अध्ययनस्यापि प्रयोजकतया कल्पनागौरव स्यात् ' रथकारोऽग्नीनादधीत ' इति विधिरध्ययनसिद्ध-  
ज्ञानत्रैवर्णिकैरनिर्वृत्तानुष्ठानतया अनन्यथासिद्धत्वादधिकार, कल्पयतीति वैयर्थ्यम् । किंच रथकारादीनां ' रथकारोऽ-  
ग्नीनादधीत ' इति विधिवाक्येनैवाधिकारित्वेन विशेषतश्श्रुतत्वात्तदपेक्षितमभ्यासाध्यनाधिकारमात्रं कल्प्यम् इह  
विशेषतश्चन्द्राद्युद्देशेनोपासनविधानाभावादुपासनाधिकारस्तदोपायिकाध्ययनाधिकारश्च कल्प्य इति गौरव स्यात् अतोऽन-  
धिकार इति । सर्वगविद्यायां चन्द्रशब्दश्च नोपासनाधिकारशापक रथकारादिशब्दवद्विधिवाक्यगतवाभावात् तथासिद्धि-  
धिकारकण्ठोक्तस्यात् चन्द्रशब्दोक्तत्वादगतः ॥

नन्वर्थवादस्यापि स्वार्थे प्रामाण्यमुक्तम् सत्यं तत्तु बाधकभावेति भवति वैदिकविधीनामध्ययनसिद्धस्वाध्यायजन्य-  
ज्ञानसाधकत्वं बाधकम् । अध्ययनस्यापि प्रयोजकत्वे गौरव स्यादित्युक्तम् वक्ष्यमाणो रूढिप्रतिकूललिङ्गसद्भावोऽवयव-  
शक्त्यनुकूललिङ्गसद्भावश्च बाधकः । रूढिप्रामाण्यमर्थाविरोधेऽनुकूललिङ्गसद्भावे च भवति नत्वर्थविरोधे, अतएव हि  
' गङ्गायां घोषः ' इत्यत्र गङ्गापदस्य लक्षणा ' रथकारोऽग्नीनादधीत ' इत्यपि ' सौधन्वानश्रुभयशूरधक्षसः ' इति  
शौधन्वानमुनूकूललिङ्गं दृश्यते ब्राह्मणादेश्च शिल्पनिषेधोऽवगम्यते । अतोऽर्थविरोधाच्छुद्रशब्दस्य रूढिर्बलात् । अतोऽन-  
धिकारः अयत्तार्थः ' शुगस्येति ' सूत्राभिप्रेत इह प्रतिपत्तिरुक्त्यायोक्तः ॥

ननुत्तमितिहासपुराणद्वारा चन्द्रस्यापि ब्रह्मज्ञानं सम्भवतीत्यत्राह— इतिहासेति । उपबृहणीयवेदज्ञानाधिकारादुप-  
बृहणमात्रेण उपासनोपयोगिज्ञानपौष्कल्यं न सम्भवति, नहि व्यख्येयानधिकारिणो व्याख्यानमात्रेण पुष्कलज्ञानसम्भवइति  
दृष्टसामर्थ्यवैकल्यम् ' इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ' इति वेदार्थविशदीकारहेतुतयैव तदवगमाविधानादङ्ग-  
तया विहितस्य स्वतन्त्रतयोपादाने तज्जन्यज्ञानस्य पुस्तकपाठादिलब्धवेदार्थज्ञानस्यैव शास्त्रविरोधाददृष्टसामर्थ्यवैकल्यं च,  
अतस्तदविरोधस्य न्याय्यत्वाच्छ्रावणविध्यवैयर्थ्याच्च, चन्द्रस्य श्रवणानुष्ठानं पुण्यकथाऽवगतिद्वारेण पापक्षयफलार्थं ननुपास-  
नार्थमित्यर्थः । यद्येव वेदवाक्यार्थज्ञानमुपासनाङ्गं कथं तर्हि विदुरादीनामुपासनसम्भव इत्यत्राह— विदुरादयस्त्विति ।  
तेषामुपासने प्रथमप्रवृत्तिर्न चन्द्रजन्मनि अपितु पूर्वजन्मसिद्धैव पाश्चात्त्येव जन्मनि प्राप्तज्ञानप्रमोषाभावादवर्जनीय

## श्रीभाष्यम्

यत्तु संवर्गाविद्यायां शुश्रूषोदशद्वेति सम्बोधनं शूद्रस्याधिकारं सूचयति इति । तत्रे-  
त्याह—‘ शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि । शुश्रूषोर्जानश्रुतेः पौत्रायणस्य =  
ज्ञानवैकल्येन हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणात्तदेव = विदोरेष्यस्य सकाशं प्रत्याद्रवणाच्छु-  
गस्य सञ्जातेति हि सूच्यते । अतस्सशूद्रेत्यामन्प्रयते; न चतुर्थवर्णत्वेन । शोचतीति हि  
शूद्रः । ‘ शुचेर्दध् ’ (उणादिषु) इति रप्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य च्दकारे शूद्र इति  
भवति । अतश्शोचित्वमेवास्य शूद्रशब्दप्रयोगेन सूच्यते; न जातियोगः । जानश्रुतिः किल  
पौत्रायणो यद्दृश्यप्रदो यद्दृश्यप्रदश्च बभूव । तस्मां धार्मिकाप्रेसरस्य धर्मेण प्रीतयोः कयोश्चि  
न्महात्मनोरस्य ब्रह्मजिज्ञासामुत्पपादयिषितोऽहंरूपेण । निशायामस्याविदुरे गच्छतोरन्य  
तर इतरमुवाच ‘ भो भोयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समंदिधा ज्योतिरातेतं  
तन्माप्रसांक्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीत् ’ (छां.४.१.२) इति । एवं जानश्रुतिप्रशंसारूपं वाक्यमुप-  
श्रुत्य परो हंसः प्रत्युवाच ‘ कम्बर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिच रैकमात्थ ’ (४.१.३) इति ।  
कं सन्तमेनं जानश्रुतिः सयुग्वानं रैकं ब्रह्मज्ञमिच-गुणश्रेष्ठमेतदात्थ । स ब्रह्मज्ञो रैक एव  
लोके गुणवत्तरः ; महता धर्मेण संयुक्तस्याप्यस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य को गुणः, यद्गुणज-  
नितं तेजोरैकतेजइव मां दहेदित्यर्थः । एवमुक्तेन परेण कोऽसौ रैक इति पृष्टः लोके यत्कि-  
ञ्चिन्साध्वनुष्ठितं कर्म, यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानम्, तदुभयं यदीयज्ञानकर्मन्तिर्भूतम्, स  
रैक इत्याह । तदेतद्वसवाक्यं ब्रह्मज्ञानविधुरतया आत्मनिन्दागर्भं तद्वत्तवाच रैकप्रशंसारूपं  
जानश्रुतिरुपश्रुत्य तत्क्षणादेव क्षत्तारं रैकवन्वेपणाय प्रेष्य तस्मिन्निदित्वा आगते स्वयमपि

श्रुतप्रकाशिका

( १३९ )

तदनुवृत्तिमात्रमेवेत्यर्थः । विदुरादीनामपीतिहासपुराणश्रवणात् ज्ञानसिद्धिरिति यदि तैरेक्यते तदयुक्तम्

धर्मव्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाभ्यासाज्जगुप्सिते । वर्णावरत्ये संप्राप्तास्संसिद्धि श्रमणी यथा ॥

इति शौनकवचनविरोधात् एवमर्थसिद्धस्वरूपकाराभिप्रेतो हेत्वन्तर परिहार उक्तः, अथ प्रथमननुक्तिपरिहारपर सूत्रमवतार  
यितुमाह—यत्त्विति । शोचित्वं = दशब्दार्थः तत्र शोककारणं शोककार्यं च हेतु वेनाह— शुश्रूषोरित्यादीनां । अना-  
दरवाक्यश्रवणं शोककारण आद्रवण तत्कार्यम् । दशब्दस्य शोचित्वं ववाचकत्वं कथमित्यत्र ह—शुचेर्दध् इतीति । रैकप्र-  
त्ययः प्रकरणसिद्धश्रवणकृष्टः । ‘ अमितग्योर्दीर्घश्च ’ इति सूत्रे दीर्घश्चेत्यशोऽनुवर्तते इति भावः ॥ परैर्निरुक्तप्रक्रियया  
आद्रवणमप्यन्तर्भाव्य दशब्दनिर्वाह कृतः । मुख्यानिर्वाहो सम्भवति सोऽनुपपन्न इति भावः । पाणिनिनिर्वाहो मुख्यः  
तदनन्तरमौणादिकः ततो नैरुक्तः तत्रौणादिकनिर्वाहस्य सम्भावितत्वात् स एवात्र कृतः अनादरवाक्यश्रवणं सेवाद्रवण-  
स्यापि दशब्दवाच्यत्वं न सूत्रविवक्षितम् उपपादकतयोपदानस्य द्वये रापि मुख्यं च त । शुच एव ह्युपपद्यते प्रतीयते,  
प्रथमान्तनिर्देशात् । श्रवणद्रवणशब्दोहि पञ्चम्यन्तौ, तस्माच्छोक एव दशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । अनादरवाक्यश्रव-  
णादीनां वैशद्यार्थमुपन्यस्यति जानश्रुति किलेति । भल्लाक्षः हंसः समंदिधा स्वर्गेण सम स्वर्गेऽपि तत्तेजः प्रसूतमित्यर्थः  
यदा दिवसेन सममित्यर्थः, निशायामित्युक्तत्वात् माप्रसाङ्गीः, माप्रसक्तस्याः माप्रसाक्षीत् वा मादहेदित्यर्थः परोहंस  
इति । श्रुतो परशब्दो हसवाचीतिभावः हंसान्तरवाक्यस्यानादरगर्भतां व्यनक्ति कंसन्तमिति । सयुग्वानमित्यस्यार्थ-  
माह—गुणश्रेष्ठमिति । यदा युवा शक्यं तद्वन्तमित्यर्थः, गुणश्रेष्ठमिति प्रकरणसिद्धार्थोक्तिः । ‘ उपास्स ’ इति मध्यम



## श्रीभाष्यम्

रैक्यमुपसद्य गद्यां पदछतं निष्कमश्चतरी रथं च रैक्यायोपहृत्य रैक्यं प्रार्थयामास ' अनुम-  
-पतां भगवो देवतां द्याधि यां देवतामुपास्से ' (छां.४.१.१) इति त्वदुपास्यां परां देवतां  
ममानुशाधीत्यर्थः । सच रैक्यस्त्वयोगमहिमविदितलोकत्रयो जानश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानविधुरंतानि-  
मित्तानाद्वर्गमहंसवाक्यश्रवणेन शोकाविष्टतां तदनन्तरमेव ब्रह्मजिज्ञासयोद्योगं च विदि-  
त्याऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिज्ञाय चिरकालसेवां विना द्रव्यप्रदानेन शुश्रूषमाणस्यास्य  
यावच्छक्तिप्रदानेन ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीति मत्वा तमनुगृह्णन् तस्य शोकाविष्टतामु-  
पदेशयोग्यताख्यापिकां शूद्रशब्देनामन्त्रणेन ज्ञापयतिदमाह—' आजहारे त्वा शूद्र तवैव सह  
गोमिरस्तु ' (छां.४.२.३) इति । सह गोमिरयं रथस्तवैवास्तु । नैतावता मह्यं दत्तेन ब्रह्म  
जिज्ञासया शोकाविष्टस्य तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः । स च जानश्रुतिर्भूयोऽपि  
स्वशक्त्यनुगुणमेव गद्यादिकं धनं कन्यांच प्रदायोपससाद । स रैक्यः पुनपि तस्य योग्यता-  
मेव ख्यापयन् शूद्रशब्देनामन्त्रयाह—' आजहारेमादशूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा ' (छां  
४.२.५) इति । इमानि धनानि शक्त्यगुणान्याजहर्त्य ; अनेनैव द्वारेण चिरमेवया विनाऽपि  
मां त्वदमिलयितं ब्रह्मोपदेशरूपवाक्यमालापयिष्यसीत्युपाधा तस्या उपदिदेश । अतःशूद्र  
शब्देन विद्योपदेशयोग्यताख्यापनार्थं शोक एवास्य सूचितः । न चतुर्थवर्णत्वं ॥

## सू-३४ क्षत्रियत्वगतेश्च (१-३-३४)

' बहुदायी ' (छां.४.१.१) इति दानपतित्वेन ' बहुपाक्यः ' इत्यादिना ' सर्वतपव  
मेतदन्नमत्स्यान्ति ' (छां.४.१.१) इत्यन्तेन बहुतरपक्यान्नप्रदायित्वप्रतीतेः सहस्रजिहानपय

## उत्तरप्रकाशिका

पुरुषनिर्देशाभिप्रायं व्यञ्जयन्नह— त्वदुपास्यामिति । यदुपासनात्तवेदशी प्रशस्तिर्जाता त मे ब्रूहीत्यभिप्राय इत्यर्थः  
चिरकालेति चिरकालसेवा यावच्छक्तिप्रदानं वा ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठा हेतुरित्यर्थः तमनुगृह्णन् नतु रागादित्यर्थः आज  
हर्त्येति । आजहार भवानिति भवच्छब्दाध्याहारेण छान्दसव्यत्यदेन वा श्रुतियोजनेत्यभिप्रायः । यद्यापि दशाश्वमेधाना  
जहारेत्यादिष्वाहू पूर्वस्य हरतेरर्थान्तरदर्शनेन नानार्थवसम्भवाद् तूनां प्रतिगृहीतवान्सीत्युक्तमपुषतया व्याख्यातुं श  
क्यते । तथाऽपि ' अग्नयेसमिधमाहर्षम् ' ' अथामेध्येनोमध्वाजहार ' इति दानार्थतया वैदिकप्रयोगप्राचुर्यदर्श  
नात् ' अनेनैव मुखेनालापयिष्यथा ' इत्यालापनहेतुतया प्रतिसर्वायमानस्याहरणस्य स्वरसत आलापन समानकर्तृव-  
ताप्रतीतेश्च मध्यमपुरुषत्वेन व्याख्यातम् ॥

## सू-३४ क्षत्रियत्वगतेश्च (१,३-३४)

॥ १॥ शूद्रशब्दस्य यौगिकार्थानुकूलहेतुरुक्तः, अथ रुदिसिद्धार्थोऽशूद्रहेतुरुच्यते । सजिहानः आसनमुद्धन उत्तिष्ठ  
मेवेत्यर्थः ॥

उत्तरसूत्रमवतारयति तदेवमिति ।-

## श्रीभाष्यम्

क्षत्तारमुवाच ' (४.१.५) इति क्षत्तुभेषणाद्बहुग्रामप्रदानावगतजनपदाधिपत्याद्यास्य जान-  
श्रुतेः क्षत्रियत्वप्रतीतिश्च न चतुर्थवर्णत्वम् ॥

तदेवमुपक्रमगताख्यायिकायां क्षत्रियत्वप्रतीतिरुक्ता । उपसंहारगताख्यायिकायामपि  
क्षत्रियत्वमस्य प्रतीयत इत्याह—

## सू—३५ उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् [१.३.३५]

अस्य जानश्रुतेरुपदिश्यमानायामस्यामेव संवर्गविद्यायामुत्तरत्र क्षीर्यमानेनाभिप्रतारि-  
नाम्ना चैत्ररथेन क्षत्रियेणास्य क्षत्रियत्वं गम्यते । कथम् ? ' अथ ह शौनकं च कापेयमभि-  
प्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविध्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिदं ' (छां.४.३.५) इत्यादिना ' ब्रह्मचा-  
रिभेदमुपास्महे ' (४.३.७) इत्यन्तेन कापेयाभिप्रतारिणोर्भिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणश्च संवर्ग-  
विद्यामन्वन्धित्वं प्रतीयते । तेषुचाभिप्रतारी क्षत्रियः, इतरौ ब्राह्मणौ । अतोऽस्यां विद्यायां  
ब्राह्मणस्य तदितरेषु च क्षत्रियस्यैवान्वयो दृश्यते ; न शूद्रस्य । अतोऽस्यां विद्यायामन्विता  
द्रैकाद्ब्राह्मणादन्यस्य जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमेव युक्तम् ; न चतुर्थवर्णत्वम् । नन्वस्मिन्प्रक-  
रणेऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च न श्रुतम् ; तत्कथमस्याभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वम् ?  
कथं वा क्षत्रियत्वम् ? तत्राह—लिङ्गात्—इति । ' अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च  
काक्षसेनिम् ' (छां.४.३.५) इत्यभिप्रतारिणः कापेयसाहचर्यालिङ्गादस्याभिप्रतारिणः कापेय  
सम्बन्ध प्रतीयते ; अन्यत्र च ' एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन् ' (ताण्य.२.१२.५) इति  
कापेयसम्बन्धिनश्चैत्ररथत्वं श्रूयते ; तथा चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं ' तस्माच्चैत्ररथो नामैकः  
क्षत्रपतिरजायत ' (शतपथ.११.५.३.१३) इति ; अतोऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च  
गम्यते ॥

श्रुतप्रकाशिका

## सू—३५ उत्तरत्रचैत्ररथेन लिङ्गात् (१.३.३५)

कथमिति । चैत्ररथः क्षत्रियभेदज्ञानश्रुतिरपि क्षत्रियस्यादिति नहि नियम इत्यर्थः । उत्तरमाह—अथहेति ।  
परिविध्यमाणौ सूदेन मोज्जमानौ ब्रह्मचारिणा भिक्षणं कापेयाभिप्रतारिणोर्द्विवर्णिकत्वल्लिङ्गमित्यर्थसिद्धम् । एकत्र ब्राह्मण  
क्षत्रियजातिद्वयसम्बन्धितयाऽगतायामन्यत्रापि ब्राह्मणसम्बन्धितया निर्णीताया त सम्बन्धिपुरुषा तराण्यसन्देहे सत्य  
प्रयथायन्यायात्तस्य पुरुषस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोन्यतरस्य परिशेषेण क्षत्रियत्व च निश्चीयत इत्यर्थः । सौत्रंलिङ्गादिति पद-  
व्याख्यातु चोद्यमुत्तेनाकाङ्क्षा दर्शयति नन्विति । अभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्व तस्य क्षत्रियत्वं च नावगतमित्यर्थः । किमत्र  
लिङ्गं विवक्षितमित्यत्राह—अथहेति । कापेयसाहचर्यात् कापेयरुहपाठादित्यर्थः, कापेयरुहपाठश्लेन कापेयसम्बन्धरिसिद्धः  
तेन तत्पुरोहितकस्य चैत्ररथत्व सिद्ध तेन क्षत्रियत्वमवगतमित्यर्थः ॥

उत्तरसूत्रसङ्गतिमाह—तदेवमिति । शूद्रशब्दस्य रूढिसिद्धार्थवरोधिलिङ्गं यौगिकार्थानुगुणालिङ्गं चेत्पुन्यविध  
लिङ्गमपि शूद्रानाधिकारशापकमित्यर्थः ।

श्रीमाप्यम्

तदेवं न्यायविरोधिनि शूद्रस्याधिकारे लिङ्गं नोपलभ्यत द्युक्तम्, इदानीं न्यायसिद्ध  
शूद्रस्यानधिकारभुतिस्मृतिभिरनुगृह्यत इत्याह-

सू-३६ संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च (१.३.३६)

प्रत्ययिचोपदेशेऽप्यनयनसंस्कारः परामृश्यते- 'उप त्वा नेप्ये' (छां.४.४.५) 'तं होप  
निन्ये' (आपस्तम्बधौत) इत्यादिषु । शूद्रस्य चोपनयनसंस्काराभावोऽभिलप्यते 'न शूद्रे  
पातकं किञ्चित् च संस्कारमर्हति' [म.१०.१.२६] 'चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति'  
(गौत.१०.अ.९.सू) इत्यादिषु ॥

सू-३७ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः (१.३.३७)

'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ममिधं सोम्याह' (छां.४.४.५) इति शुद्धपोर्जावा-  
लस्य शूद्रत्वाभावाभिनिर्धारणे सत्येव विचोपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्याधिकारः ॥

सू-३८ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् (१.३.३८)

शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते 'पद्यु हवा एतच्चमशानं यच्छूद्र  
स्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' ( ) 'तस्माच्छूद्रो बह्वपशुरयक्षीयः'

श्रुतप्रकाशिका

इदानीमिति । अयमनधिकारः भुतिस्मृतिभिरनुगृह्यत इत्याह्वयर्थः ॥

सू-३६ संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च (१.३.३६)

संस्कारपरामृश्यता ततः किमित्यब्राह्म-शूद्रस्येति । 'न शूद्रे पातकं किञ्चित्' सन्ध्यावन्दनाद्यभावाभिनिमित्तपाप  
नास्तीत्यर्थः । चतुर्थो वर्ण एकजातिः ननु द्विजातिरित्यर्थः ॥

सू-३७ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः (१.३.३७)

तच्छब्दस्य पूर्वसूत्रप्रकृतसंस्कारवाचितायां एतत्सूत्रविषयवाक्यानुगुण्याभावात्तच्छब्दः परमप्रकृतपरामर्शात्त्याह-  
शूद्रत्वाभावेति ॥

सू-३८ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् [१.३.३८]

अर्थशब्देन तदनुष्ठानं विवाक्षितम् । पद्यु अङ्गमम् समीपोच्चारणप्रतिषेधादेव श्रवणाध्ययनप्रतिषेधोऽर्थसिद्धः ।  
अर्थानुष्ठानप्रतिषेधं दर्शयति तस्माच्छूद्रइति । ननु तत एवार्थानुष्ठाननिषेधोऽपि सिद्धः, सत्यं साक्षादेवत्वसौ श्रूयते,

## श्रीमाध्यम

इति । बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः । अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्मज्ञानतदर्थानुष्ठानानि न सम्भवन्ति ; अतस्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव ॥

## सू-३९ स्मृतेश्च (१.३.३९)

स्मर्यते च श्रवणादिनिषेधः ' अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजनुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरण-मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ' (गातमध.२.१२.३) इति, ' नचास्योपदिशेद्धर्मं नचास्य व्रतमादिशेत् ' (मनु.४.८०) इति च ; अतश्शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम् ॥

येतु निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः । अन्यत्सर्वं मिथ्याभूतम्, बन्धश्चापरमार्थिकः स च वाक्यजन्यवस्तुयाथात्म्यज्ञानमात्रनिवर्त्यः तन्निवृत्तिरेव मोक्षः-इति वदन्ति ; तैर्ब्रह्मज्ञाने शूद्रादेरनधिकारो वक्तुं न शक्यते ; अनुपनीतस्य अनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्यापि यस्मात्कस्मादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थोऽन्यत्सर्वं तस्मिन्परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति वाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानोत्पत्तेः, तावदेव बन्धनिवृत्तेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्येनैव ज्ञानोत्पत्तिः कार्या, न वाक्यान्तरेणेति नियन्तुं शक्यम् ; ज्ञानस्यापुरुषतन्त्रत्वात् सत्यां सामग्रयामनिच्छतोऽपि ज्ञानोत्पत्तेः । नच वेदवक्यादेव वस्तुयाथात्म्यज्ञानेसति

## श्रुतप्रकाशिका

तत्र किं प्रणाड्युपजीवननेति पृथगुच्यते पशुब्राह्मणवत् यश्चाद्यहं वौपयिकं कथमनेनायशीयत्वासिद्धिरित्याहङ्कयाव्यावृ-च्यर्थं बहुपशुशब्द व्याचष्टे पशुसदृशइत्यर्थ इति । ईषदसमाप्तपशुव इति वक्तव्ये सदृशशब्दग्रहण ईषदसमाप्तेस्सादृश्यपर्यवसानशापनार्थं ' विभाषासुपोबहुचपुरस्तात् ' इति पाणिनीयसूत्रेणैषदसमाप्त्यर्थं बहुचप्रत्ययस्तस्य पुरस्तात् प्रयोगश्च विहितः । अध्ययनादिनिषेधोऽर्थसिद्धोऽपीत्यह-अनुपशृण्वतइति । ' शूद्रो नाधीयीत ' इति वाक्यमध्यनु-सन्धेयम् । अनेन यज्ञे विशेषनिषेधादन्यत्र वैदिक कर्मणि शूद्रस्याधिकारश्च क्वा च निरस्ता भवति ॥

## सू-३९ स्मृतेश्च [१-३-३९]

अथहेत्यादि । अध्ययनादौ प्रायश्चित्तस्मरणमुपदेशनिषेधस्मरणचानधिकारशापकत्वात्तदुभयमपि स्मृतिशब्दवि-वक्षितामिति भावः, ' रथकारोऽग्नीनादधीत ' इत्यादिषु रुद्रियोगप्रहरतीति न्यायेन रुद्रार्थः स्वीकृतः तदपवादोऽ-र्थविरोधः । अनुकूललिङ्गसद्भावं विरोधिलिङ्गसद्भावे च रुद्रः प्राक्तन्य विरोधिलिङ्गसद्भावस्तदपवाद इत्युच्यते भवति, ' रथ-कारोऽग्नीनादधीत ' इत्यत्रापि सौघ-वानकम्भ इत्यनुकूललिङ्गं ह्युपलभ्यत इति । आस्मिन्नधिकरणे परेषामनवकाशदर्शयति येत्यस्यादिना । अनुपनीतस्येति । नहि ' नाय सपो रुजरेषा ' इति वाक्यात् भ्रमनिवृत्तेरुपनयनादिसंस्कारापेक्षेतिभावः ' तत्त्वमस्या ' दिव्यतिरिक्तवाक्येन ज्ञानं नोत्पद्यत इत्यत्राह-नचेति । अपुरुषतन्त्रत्वे हेतुमाह-सत्यामिति । व्यतिरिक्तवाक्येनोत्पन्नमपि ज्ञानं नानिवर्तकं भवतीत्यत्राह-नच वेदवाक्यादिति । येनकेनापीति सा-



## श्रीभाष्यम्

बन्धनिवृत्तिर्भवतीति शक्यं वक्तुम् येन केनापि वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन सति निवृत्तेः ; पौरुषेयादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म परमार्थोऽन्यत्सर्वं मिथ्याभूतमिति वाक्यात् क्षानोत्पत्तेस्तावतैव भ्रमनिवृत्तेश्च । यथा पौरुषेयादप्याप्तवाक्याच्छ्रुतिकारजतादिभ्रान्तिर्ब्राह्मणस्य शूद्रादेरपि निवर्तते, तद्वदेव शूद्रस्यापि वेदवित्सम्प्रदायागतवाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन जगद्भ्रमनिवृत्तिरपि भविष्यति । 'न चस्योपदिशेद्धर्मम्' [मनु.४.८०] इत्यादिना वेदविदश्शूद्रादिभ्यो न वदन्तीति च न शक्यं वक्तुम्, तत्त्वमस्यादिवाक्यावगतब्रह्मात्मभावानां वेदशिरसि वर्तमानतया दग्धाखिलाधिकारत्वेन निषेधशास्त्रकिङ्करत्वाभावात्, अतिक्रान्तनिषेधैर्वा किञ्चिदुक्ताद्याक्याच्छूद्रादेः ज्ञानमुत्पद्यत एव । न चवाच्यं श्रुतिकादौ रजतादिभ्रमनिवृत्तिवत्पौरुषेयवाक्यजन्यतत्त्वज्ञानसमनन्तरं शूद्रस्य जगद्भ्रमो न निवर्तत इति । तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणानन्तरं ब्राह्मणस्यापि जगद्भ्रमनिवृत्तेः । निदिध्यासनेन द्वैतवासनायां निरस्तायामेव तत्त्वमस्यादिवाक्यं निवर्तकज्ञानमुत्पादयतीति चेत् पौरुषेयमपि वाक्यं शूद्रादेस्तथैवेति न किञ्चिद्विशेषः । निदिध्यासनं हि नाम ब्रह्मात्मभावाभिधायिवाक्यं यदर्थप्रतिपादनयोग्यम् तदर्थभावेन ; सैव विपरीतवासनां निवर्तयतीति दृष्टार्थत्वं निदिध्यासनविधेरूपे वेदानुवचनादीन्यपि विविदिषोत्पत्ताद्येवोपयुज्यन्ते इति शूद्रस्यापि विविदिषायां जातायां पौरुषेयवाक्यान्निदिध्यासनादिभिर्विपरीतवासनायां निरस्तायां ज्ञानमुत्पत्स्यते । तेनैवापारमार्थिको बन्धो निवर्तिष्यते । अथवा तर्कानुगृहीतात्प्रत्यक्षादनुमानाच्च निर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रप्रत्यग्बस्तुन्यज्ञानसाक्षित्वं, तत्कृतविविधविचित्रज्ञातृक्षेयविकल्परूपं ह्येव जगच्चाध्यस्तमिति निश्चित्यैवंभूतपरिशुद्धप्रत्यग्बस्तुन्यनवरतभावनया विपरीतवासनां निरस्य तदेव प्रत्यग्बस्तु साक्षात्कृत्य शूद्रादयोऽपि विमोक्षयन्त इति मिथ्याभूतविचित्रैश्वर्यविचित्रसृष्ट्याद्यलौकिकानन्तविशेषावलम्बिना वेदान्तवाक्येन न किञ्चित्प्रयोजनमिह दृश्यत

## श्रुतप्रकाशिका

मान्येनार्थशरीरोक्तिः । पक्षमाह—पौरुषेयादपीति । भ्रमनिवृत्तेः न्याय्यत्वादित्यर्थः । सपक्षमाह—यथेति । ततः किमित्यपेक्षया दृष्टान्तोऽक्तमर्थे पक्षेऽतिदिशति तद्वदिति । शङ्कातरमुत्तवा परिहरति नचेत्यादिना । वेदशिरसि वेदान्तेन निष्ठत्वात् । यद्वा वेदस्यापि शिरसि निहितचरणत्वादिति यावत् निषेधशास्त्रकिङ्करत्वाभावादित्यनेन

दग्धाखिलाधिकारत्वात् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः । वर्तमानश्रुतेर्मूर्ध्नि नैव स्याद्वेद विद्धरः ॥

इति नैष्कर्मसिद्धिग्रन्थस्सार्यते, मुलान्तरेण ज्ञानोदयसम्भवमाह—अतिक्रान्तेति । प्रत्यक्षविरोधमाहङ्कष्य परिहरति नचेत्यादिना । शूद्रस्य निदिध्यासनेऽनाधिकाराद्यवाक्यार्थज्ञानोपपत्त्या बन्धनिवृत्तिरित्यत्राह—निदिध्यासनहीति । नहि निदिध्यासनमदृष्टद्वारा किञ्चिन्न करोति, निवर्तनसत्यत्वप्रसङ्गात् अदृष्टद्वारा किञ्चिन्न करोति हि यथादायिव शूद्रस्यानधिकारः न च तदास्ति । अतो 'नाय सर्प' इति वाक्येन सर्पमिथ्यात्ववासनायामेव शूद्रादेरपि निदिध्यासनेऽधिकारो न निषेद्धुं शक्यत इति भावः । शूद्रस्य यथादिकर्मनधिकारात्सापेक्षं वाक्यार्थज्ञानं न जायत इत्यत्राह—वेदानुवचनादीन्यपीति । शूद्रस्यापि जन्मान्तरानुष्ठानवशादिकर्मणस्सञ्जातीविदिषस्य शूद्रजमनि निदिध्यासनमाप्तवाक्यावगताद्वैतविषयं कर्तुं शक्यमिति भावः । मुलान्तरेण ज्ञानसम्भवमाह—अथवेति । तर्कानुगृहीतादिति । तदुक्तानां प्रमा-

## , श्रीभाष्यम् ।

इति शूद्रादीनामेव ब्रह्मविद्यायामधिकारस्तुशोभनः । अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणादीनामपि ब्रह्मवेदनसिद्धेरुपनिषच्च तपस्विनी दत्तजलाबलिस्स्यात् । नच वाच्यं नैसर्गिकलोकव्यवहारे भ्राम्यतोऽस्य केनचिदयं लौकिकव्यधारो भ्रमः, परमार्थस्त्वेवमिति समर्पिते सत्येव प्रत्यक्षानुमानवृत्तबुभुत्सा जायत इति तत्समर्पिका श्रुतिरप्यास्थेयेति । यतो भ्रममयमी-  
तानां साङ्ख्यादय एव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वस्तुनिरूपणं कुर्वन्तः प्रत्यक्षानुमानवृत्तबुभुत्सा जनयन्ति । बुभुत्सायां च जातायां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव विविक्तस्वभावाभ्यां नित्यशुद्ध-  
स्वप्रकाशाद्वितीयकूटस्थचैतन्यमेव सत् अन्यत्सर्वं तस्मिन्मध्यस्तमिति सुविवेचनम् । एवं भूते स्वप्रकाशे वस्तुनि श्रुतिसमधिगम्यं विशेषान्तरं च नान्युपगम्यते । मध्यस्तातद्रूप-  
नियतिनी हि श्रुतिरपि त्वन्मते । नच सत आत्मन आनन्दरूपताज्ञानायोपनिषदास्थेया-  
चिद्रूपताया एव सकलेतरातद्रूपव्यावृत्ताया आनन्दरूपत्वात् । यस्य तु मोक्षसाधनतया वेदान्तवाक्यैर्विहितं ज्ञानमुपानरूपम् तच्च परब्रह्मभूतपरमपुरुषप्रीणनम् तच्च शास्त्रकसमधि-  
गम्यम् उपासनशास्त्रचोपनयनादिसंस्कृतानीतस्वाध्यायजनितं ज्ञानं विवेकविमोकादिसाध-  
नानुगृहीतमेव स्तोपायतया स्वीकरोति, एवंपोपासनप्रीतः पुरुषोत्तम उपासकं स्वाभावि-  
कात्मयाथात्म्यज्ञानदानेन कर्मजनिताज्ञानं नाशयन्वन्धान्मोचयतीति पक्षः । तस्य यथोक्त्या-  
नीत्या शूद्रादेरनधिकार उपपद्यते ॥

## इति अपशुद्राधिकरणम्

## श्रुतप्रकाशिका

पानुपपत्तिप्रमेयानुपपत्त्यादीनां तर्काणवगमोहि न श्रुत्यपेक्ष इति भावः । सुशोभनइति । इतः पूर्वमविद्यमानमीश्वरोक्ति-  
भ्यादिभेदान् जनयद्देवाक्यं हित्वा केवलाद्वैतज्ञानजनकतर्कावलम्बनामेव ब्रह्मविद्याधिकारस्तुलभ इत्यर्थः । श्रुतिवैयर्थ्य-  
मनुपपत्त्यन्तरमाह—अनेनैवेति । 'अप्राप्तेहि शास्त्रमर्थवत्' अतः प्राप्तार्थत्वात् भेदज्ञानजनकत्वाच्च ब्राह्मणादेरापि  
श्रुतिरनादरणीयेत्यर्थः । तपस्विनी शोचनीया देशकालव्रताद्यनेकनियमवतीति भावः । नचेति । नैसर्गिकशब्दोऽना-  
दित्वपरः प्रसङ्गकत्वेन श्रुतिरपेक्षितेति शङ्काग्रन्थार्थः । दूषयति यतइति । साङ्ख्यहैरण्यगर्भनैयायिकवैशेषिकबौद्धाहंता-  
दिभिरेव प्रत्यक्षानुमानादिमुखेन वस्तुनिरूपणं प्रसक्तम्, अतो न श्रुत्यपेक्ष इत्यर्थः । सुविवेदमिति । त्वयैवाहं युक्तं य-  
त्वन्यस्त इति भावः । तर्कागोचरविशेषान्तरसिद्धयर्थं श्रुत्यपेक्षेत्यत्राह—एवंभूतइति । श्रुते सात्त्विकविशेषानन्दबोधकवस्तुप-  
पादयति अभ्यस्तेति । आनन्दज्ञानाय तदपेक्षेत्यत्राह—नचेति । असुखव्यावृत्तिर्ज्ञानन्दत्वं तत्सकलेतरव्यावृत्तिमात्रम्  
तयैव सिद्धयतीत्यर्थः स्वप्ने सर्वमुपपन्नमित्याह—यस्यन्विति ॥

## इति अपशुद्राधिकरणम्



‘मनुष्याधिकारत्वात्’, इत्यन्ययोगव्यवच्छेदो नास्तीति निरूपितमधिकरणद्वयेन तथा अयोगव्यवच्छेदोऽपि नास्तीति साधनायेदमधिकरणम् ‘आजहारेमाश्शूद्र इत्यत्र शूद्रशब्दस्य जातिविशिष्ट-रूढत्वेन तद्वत्त्वे मानभावात् तस्यापि ब्रह्मविद्यायामधिकारः रथकारशब्दस्य रूढ्या कर्मण्यधिकारवत् । प्रकृतेऽप्यध्ययनाभावेऽपि इतिहासपुराणाभ्यां शानस्योदयादिति पूर्वपक्षः एवमेवोपपन्नः मतत्रयेऽप्यविशिष्टः । शूद्रशब्दस्य यौगिकत्वमेवेत्यपि सर्वसंमतं सूत्रं यागार्थ-निरूपणपरमित्यपि । तत्र ‘शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्’ इत्यत्र शोकः आद्रवणचेत्युभय शूद्रशब्दार्थ इत्युभे घटतः, तत्र शोकएव योगार्थ इति सिद्धान्तः । अनादरश्रवण शोकहेतु आद्रवण शोककार्यमपि शोकशपकं भवति, उभयोः कार्यकारणभावापत्तेर्वेन साम्येन समुच्चयासम्भवात् चशब्दप्रयोगः शुगस्येत्यत्र यस्य शोकः स एव शूद्रः शोकोऽस्यास्तीति व्युत्पत्त्या स एव शूद्रशब्दार्थः तदाद्रवणात् इत्यत्र तदा आद्रवणादीति छेदः अनादरश्रवणानन्तरमेव शोकः ततः अव्यवधानेनाद्रवणोक्त्या शोकातिशयस्सूच्यते—इतरमतद्वये शोकातिशयसूचकं न वर्तते आद्रवणात् इत्यादिउपसर्गेण ‘द्रुगता’ इति धात्वर्थः योगार्थत्वेन विवक्षित इति नैव निश्चेतुं शक्यते, किंच सूच्यतेहि इत्यनन्तरं वर्तते उभयोर्योगार्थत्वाभ्युपगमे अर्थद्वयस्यापि सूचनमावश्यकम् शोकस्यैव सूचनं नत्वाद्रवणस्य आहुपसर्गेण द्विवारे गमनं बोध्यते तेनापि शोकातिशयः प्रतीयते । एव वदता सूत्रकारेण योगार्थस्य पूर्वमुपस्थितिस्थले रूढमङ्ग इति न्यायसूचितः । ‘शुवेर्दम्भ’ इति प्रक्रिययोगादिप्रत्ययान्तशूद्रशब्दः उणादयो बहुळमिति पाणिनिना स्वसम्भवेः प्रदर्शनेन नैरुत्तापेक्षया औणादिकत्वकल्पनमेव युक्तम् । औणादिकत्वेऽपि जातिवाचकत्वव्यवच्छेदो न सम्भवतीति नव्यानामाक्षेपश्चानवकाशः । सूत्रकृतेषु रूढिनिरसनार्थं योगार्थप्रदर्शनेन रूढ्यपेक्षया योगार्थस्य प्राबल्यसूचनेन रूढिमात्रावलम्बनेन पूर्वपक्षस्यानवकाश इति सिद्धान्तितत्वात् । अव्युत्पत्तिपक्षे जातिविशिष्टापरित्यागस्याभिप्रेतत्वात् अव्युत्पत्तिपक्षे रूढिरेव । सूत्रकृता व्युत्पत्तिपक्ष एव स्वीकृतः सूत्रमेव निरुक्तिपरमित्युभयोःसंमतम् सूत्रव्यतिरिक्तनिरुक्तिः उभाभ्यामपि नोदाहृता सूत्रघटकपञ्चमन्तपद द्वयार्थस्य सूत्रघटकप्रथमान्तार्थशोकहेतुत्वमिति पदस्वारस्य सिद्धान्ते । मतद्वये शोकाद्रवणयोरुभयोः शूद्रशब्दार्थं वाभ्युपगमेन उभाभ्यां चतुर्थजातिर्न विवर्धना इत्येव सिद्धान्तस्य करणीयतया एकस्य प्रथमान्तता अन्यस्य पञ्चमन्तता इत्यस्वारस्यम् । उभयसमतार्थः यदि सूत्रकृतो विवक्षितस्यात् ‘तदनादरश्रवणात् शुचा तदाद्रवणात्सूच्यतेहि’ इत्येव सूत्रमवर्तिष्यत ‘राजा पौत्रायणः शोकात् शूद्र इति मुनिनोदितः’ इति छान्दोग्यमाध्योदाहृतपाद्मवचनेन शोकस्य एकस्यैव निमित्तत्वञ्चोक्तम् । सूत्रे एकस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तता ‘शुगस्य’ इत्यत्र ज्ञानभुते शोकः विवक्षित इति कथनेन सूचितम् । ‘तदनादरश्रवणात्—तदाद्रवणात्’ इत्यत्र तच्छब्दयोः न्यायरक्षामणौ अन्यार्थत्वकथनेनापि शोकहेतुपरत्वमेवोभयोः सूच्यते । यद्यपि न्यायरक्षामणौ ‘उणादिषु सिद्धान्ते प्राचीनासमतपाठकल्पनमित्यादयो दोषा उच्यते ॥

तथाऽपि ब्रह्मविद्याऽऽभरणे—‘तथा च शुचा शुच प्रतिवाऽऽद्रवणात् शूद्र इति पदं पृथोदरादिवाद्यौगिकं द्रष्टव्यम् । रुज द्रावयतीति रुद्र इत्यादियत् औणादिकप्रत्ययेन वा यथाकथञ्चित् नैरुत्तप्राप्तयया प्रकृतिप्रत्ययविभागः कल्पनीयः’ इति औणादिकप्रक्रिया अङ्गीकृता । एव ‘मुखेरक्’ (उणादौ. २. पाद. १८९) ‘अमित्तस्योर्दोषं’ (१८६) ‘अर्देर्दोषं’ (१८५) ‘शुवेर्दम्भ’ (१८६) इति पाठः सिद्धान्तकौमुद्यामाहृतः । ‘अर्देर्दोषं’ ‘शुवेर्दम्भ’ इति सूत्रद्वयमनोरमायामभ्युपगम्यम् । ‘आह हरेत्वा शूद्रोति मुतौतु रूढेर्वाचात् योग एव पुरस्कृतः । तथाचोत्तरतन्त्रे मगवताभ्यासेन सूत्रितम् ‘शुगस्य तदनादरश्रवणात् इति’ इत्यनेन ‘शुगस्य’ इति सूत्रे औणादिकः योगएव मङ्गोन्निदीक्षितः मनोरमायां स्वीकृतः । तस्याप्यनेन सपुशब्दराने च ‘शुच रातीति शूद्रः ।’ ‘अतोऽनुपसर्ग’ इति कः पृथोदरादिवाद्यौगिकस्य इति भावः’ इत्युक्तम् । ब्रह्मविद्याऽऽभरणे यथाकथञ्चित् नैरुत्तप्रक्रियया, इत्युक्तया नैरुत्तप्रक्रियायाः नादरस्य दृष्टे ॥

## गूढार्थसङ्ग्रहः

‘यद्यपि परिभाषेन्दुशेखरे—’ नन्वतः कृकमीत्यत्र कमिग्रहणेन सिद्धं कंसग्रहणं व्यर्थमत आह—उणादयोऽव्युपपन्नानि प्रातिपदिकानि इति इदमेवास्या शापकमिति कैयटादयः । कमस्तु न कसोऽनभिधानात् । युवोरनाकायित्यादौ भाष्ये स्पष्टम् । ‘णुतृचौ’ इत्यादौ भाष्ये व्युपपन्नानीत्यपि । इदं शाकटायनरीत्या पाणिनेः स्वव्युत्पत्तिपक्षप्रयेति शब्देन्दुशेखरे निरुक्तम् । आयनेयीति सूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत् ’ इति नागेशेनोक्तम् । अत्र याक्यार्थचन्द्रिकायाख्याया—‘कैचित्तु जातिव्युत्पत्तिपक्षयोरिव उभयोरपि पक्षयोर्द्वयोर्व्यवस्थया प्रकृतशास्त्रे आश्रयणं युक्तम् । ‘उणादयोऽव्युपपन्नानि’ इत्ययमतिदेशः, ननु वस्तुस्थितिकथनम् । आतिदेशिकस्यानित्यत्वाच्च व्युत्पन्नवमप्यत्र शास्त्रे निर्वाचम् । अयामन्तेति सूत्रमत्रैवार्थे प्रमाणमित्युच्यताम् । अतएव ‘प्रत्ययस्य छक्’ इति सूत्रे कैयटेन उणादयोऽव्युपपन्नानि प्रातिपदिकानि’ इति भाष्यमुपादाय ‘कंसग्रहणादुणादिप्रत्ययान्तानि प्रातिपदिकानि छचिदव्युत्पत्तिकार्यं लभन्ते’ इत्यर्थ उक्तः । किंच सर्वार्थं प्रकृतशास्त्रे व्युत्पत्तिपक्षमनङ्गीकुर्वतां ‘णुतृचौ न घातुलोपः, आर्धघातुके, वरपृष्ठस्य’ इत्यादिषु बहुप्रदेशेषु व्युत्पत्तिपक्षाभयणं भगवतः पतञ्जलेरसंभवः स्यात् । रात्री शकटीत्यादौ ‘कृदिकायदात्तिन’ इति द्विप्रत्ययस्य सर्पिषा यजुषेत्यादौ प्रत्ययवनिष्पन्नस्य षत्वस्य प्रतिदीप्त्यादौ घातुत्वनिबन्धनस्य टीर्घस्यच समर्थनं हेतुशोऽपि, तस्मात् आयनेयनयानीन्त्यिः सूत्रस्य प्रोक्तं भाष्यं पक्षान्तरेण परिहारमिष्टायकं नन्वत्र शास्त्रे व्युत्पत्तिपक्षमावपरमिति योजनायम् ॥

अतएव ‘इसुसोस्तामर्ष्ये’ इति सूत्रे श्लोकवार्तिककारैः—‘अथचे कृदन्तमेतत्ततोऽधिकेनैव मे प्राप्तिः । याक्ये च मे विमाषाप्रतिषेधो न प्रकल्प्येत’ अथचेत्सम्बन्धिज्ञानं नित्यं सत्त्वे ततो विमाषेयम् । सिद्धं च मे समसि प्रतिषेधार्थं यत्तोऽयम्’ इत्यनेन षत्वविधाबुभयोरापि पक्षयोः निर्वाह उपपादित इत्याहुः’ इत्युक्तम् । अतएव ‘अखिलमुर्वनक्षत्रमस्येयम्’ इत्युपक्रमे स्येयमशब्दोऽपि साधुः ॥

अत्र ‘उणादयो बहुलम्’ इति सूत्रमेव विवक्षितम् । उणादिषु ‘ह भृ धृ सु स्तृ शृभ्य इमनिच्’ (५९७) इति सूत्रे कतिपयघातुभ्यः इमनिच् विधानेऽपि बहुलग्रहणात् स्थाघातोरापि इमनिचि स्येमिति रूपम् । अत एव न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकाया ‘स्येमाच्च भावानामुपपादयिष्यते’ इत्यादि, तात्पर्यपरिशुद्धौ च संशयपरीक्षाया ‘बौद्धादेः निमित्तक्षणिकत्वादेरापि क्षयित्वे विघटितसाधनस्य प्रतिवादिसाधनात् परितो निरस्तविभ्रमाशङ्कात् संशयविनाऽपि स्येमादिनिर्णयो-त्यत्तेः’ इति, ‘निरस्येमानो दशाननकीर्तयः’ इत्यनर्घराधवे षष्ठाङ्के (३६.श्लो) महाकविप्रयोगा, इत्यादयश्च सङ्गच्छन्ते ॥

उपक्रमोक्तलिङ्गस्य सद्भावेऽपि एकसूत्रं कुत्वोत्तरलिङ्गेन क्षत्रियवनिर्णयश्च न युक्तः, अतः उपक्रमोक्तलिङ्गानुसारेण पृथगेव सूत्रं कृतम् क्षत्रियत्वमेवासिद्धमित्यत्राह—उत्तरत्रेति । अतएव चशब्दोऽपि नावकाशः । ‘क्षत्ता राजान्तः पुररक्षकः’ इति कोशात् क्षत्तृप्रेषणं चात्रानुकूलम् । अन्ययोत्तरत्रेत्यस्य वैयर्थ्यमेव, क्षत्रियत्वगतेत्येति चकारणं प्रथमं सूत्रोक्तहेतुं समुचीयते तृतीयसूत्रे चकाराभावेन तृतीयान्तपञ्चम्यन्ततया पदद्वयनिर्देशेन च पूर्वोक्तहेतुसमुच्चयो न विवक्षितः, किंतु पूर्वोक्तहेतुपष्टम्भकत्वमात्रम् । उपक्रमविरोधो नास्तीति सूचनाय उत्तरत्रेति चैत्ररथा लिङ्गात् इति नवीनार्थं तथैव सूत्रकृतो विवक्षित वे चैत्ररथालिङ्गादित्येवावश्यतः विभक्तिभेदेनार्थभेदः सूच्यते समभिव्याहृतशब्दस्यापि नाप्याहारः उत्तरत्र चैत्ररथेन क्षत्रियं यगारिति सूत्रार्थः । उत्तरत्रेति सप्तम्या वाक्यप्रतिपाद्यत्वं बोध्यते स्वसम्बन्धिवेन वाक्यप्रतिपाद्यचैत्ररथेनेति पर्यवसितं, तेन ज्ञानश्रुतिः क्षत्रियः क्षत्रियत्वेन निर्णोतचैत्ररथसम्बन्धिनेनोत्तरवाक्यप्रतीक्षायां वाते । उपक्रमवाक्ये क्षत्रियवसाधकहेतुवत् अयमापि हेतु पर्यवसन्नः तेनोपक्रमप्रावश्येनोपक्रमाविरोधः, उपसहारस्य नास्तीति सिद्धम् । उत्तरत्र चैत्ररथेनेत्यत्र क्षत्रियत्वसाधकहेतोः कथं क्षत्रियत्वमिति शङ्कानिरासाय लिङ्गादिति—संस्कारः ।





६.४.१७) नैतदमृशणो विवक्ष्यते इति समिधं सोम्याहर २ (छां.४.४.५) इति शूद्राभाष्यनिष्पन्नं पृष्ठं उपदेश इत्युक्तं नाधिकारः ॥

सू-३८ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् (१-३-३८)   
 शूद्रस्य श्रवणाध्ययनादीनि हि निषिध्यन्ते 'तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति अनुपशृण्वतोऽध्ययनादिषु न संभवति ॥

(६६.६.९) शास्त्रिणां स्मृतेश्च [१-३-३९]

श्रीमद्भगवद्गीतायां शूद्रस्य वेदश्रवणं दोषं दण्डः 'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतः, वृषुजतुभ्यः श्रोत्रप्रतिपूरणम्, उद्गाहरणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेदः' (गौ. १२.१) इति ॥

(८६.६.९) अथ वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

सू-३३ शूद्रस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि (१-३-३३)

[६६.६.१] नास्तीति पूर्वपक्षः

ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नेति सशयः । अस्तीति पूर्वपक्षः, अर्थित्वसामर्थ्यसंभवात्, शूद्रस्यानभि विधेत्वेऽपि भगवद्गीतायां तदुपासनस्य संभवति हि सामर्थ्यम् । ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारज्ञानञ्च इतिहासपुराणश्रवणादेव निष्पद्यते । अस्ति हि शूद्रस्यापीतिहासपुराणश्रवणानुशा 'भावयेच्चतुरो वर्णाः कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (महाभारते. शा. मोक्ष) इति । तथा तत्रैव विदुरादीनां ब्रह्मनिष्ठत्वं दृश्यते [उपनिषत्सुपि 'आनहविमाश्शूद्रानेनैव मुलेनालापयिष्यथाः' (छा ६.४.२) इति शूद्रशब्देनामन्य ब्रह्मविद्योपदेशदर्शनाच्छूद्रस्यापि अधिकारसूच्यते । राडाः शूद्राश्च उपारः स्युः । नो ह्ये- मांश्चैवेऽप्येनघैतवेदस्य' शूद्रस्य उपासनीयं पापशून्यज्ञानात् भवति न सामर्थ्यसंभवः । कर्मविधिर्बहुधा न विद्यते हि हि- र्निर्विषयाध्ययनगृहीतस्वाध्यायोत्पन्नज्ञानमेवोपासनोपायतया स्वीयुषते' । इतिहासादयोऽपि स्वार्थार्थसिद्धमेव ज्ञानं सूच्यं ह्यन्तीति ततोऽपि नास्य ज्ञानलाभः । श्रवणानुष्ठानोपापक्षपादिपक्षा । विदुरादीनां भवान्तरवारनया ज्ञानलाभोऽपि निष्ठवम् । शूद्रस्यामन्त्रणमपि न चतुर्थवर्णत्वेन ; अपितु ब्रह्मविद्यावैकल्याच्छूद्रस्य सजातेति । अतो न शूद्रस्याधिकारः, सूत्रार्थस्तु-ब्रह्मविद्यावैकल्येन हसोक्तानादरवैकल्यवर्णनं 'देवाचार्ये' प्रत्याद्रवणाच्चाचार्येण तस्य शुश्रूषोर्विद्यालभकृता श्रवस्यते । हिशब्दो हेतोः । यस्मादस्य श्रवस्यते; अतदशोचनाच्छूद्र इति कृत्वा आचार्यो वैकः ज्ञानश्रुति शूद्रस्याम न्वपते ; न जातियोगेनेत्यर्थः ॥

सू-३४ क्षेत्रियत्वगतेश्च (१-३-३४)

[६६.६.१] नास्तीति पूर्वपक्षः

अस्य शुश्रूषोः क्षत्रियत्वावगतेश्च न जातियोगेनाशूद्रस्यामन्त्रणम् । प्रकरणप्रक्रमे हि 'शूद्रादी' (छां. ४.१.१) इत्यादिना दानपतित्वबहुतरपक्षात्तदायित्वसंश्लेषेण बहुप्राप्तादिप्रधानैरेव ज्ञानश्रुतेः शुश्रूषोः क्षत्रियत्व प्रतीतम् ॥

सू-३५ उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् (१-३-३५)

[६६.६.१] नास्तीति पूर्वपक्षः

‘ उपरिष्ठाद्यास्या विद्यायां ब्राह्मणक्षत्रिययोरेवान्वयो दृश्यते ’ अथह शौनके ‘ च कोपेयमभिप्रतारिणं च ’ (छा.४.१५) इत्यादिना अभिप्रतारीहि चैत्ररथः क्षत्रियः । अभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च कोपेयसाहचर्याच्छिद्वादेवोच्यते प्रकरणान्तरेहि कापेयसहचारिणः चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं भविष्यतीति ‘ एतेनैव चैत्ररथं कोपेयो अयाजयन् ’ (ताण्ड्य.२.१२.५) इति ‘ तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत ’ (शत.११.५.३.१३) इति च । अतोऽस्या विद्यायामन्विता ब्राह्मणादितरो जानन्नुतिरपि क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥

॥ १३३८ ॥

### सू-३६ संस्कारपरामर्शात्तदभावामिलापाच्च (१.३.३६)

विद्योपदेशे ‘ उपत्वा नेष्ये ’ (छा.४.४.५) इत्युपनयनसंस्कारपरामर्शात्, शूद्रस्य तदभाववचनाच्चानिविकारः, ‘ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ’ (मनु.१०.१२.६) इतिहि निविध्यते ॥

### सू-३७ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः (१.३.३७)

‘ नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिध सोम्याहर ’ (छा.४.४.५) इति शुश्रूषोर्जाबालेशूद्रत्वाभावनिरूपण एवोपदेशे प्रवृत्तेः नापि कुर्यात् ॥

### सू-३८ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् (१.३.३८)

‘ शूद्रस्य श्रवणाध्ययनादीनिहि प्रतिषिध्यन्ते ’ तस्मान्शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति अनुपशृण्वतोऽध्येयनादिर्न सम्भवति ॥

### सू-३९ स्मृतेश्च (१.३.३९)

‘ सर्वते ’ च शूद्रस्य वेदश्रवणादौ दण्डः ‘ अथ हास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुञ्जग्न्या ओषप्रतिपूरणमुदाहरणे भिक्षा वृद्धेदो धारणे धारीभेदः ’ (गौतम.१२.३) इति ॥

इति वेदान्तदीपः

अथ अधिकरणसारावली

जैमिन्युक्तापशूद्राधिकरणसरणेर्नास्ति विद्यामिलङ्घिः  
शूद्रादीनां तथाऽपि स्मृतपरमजनाधिक्रिया जायतीति ।  
धोतृत्याङ्गारतादेस्त्वजनि संमुचितैः कर्मभिश्चेत्ययुक्तं  
प्राप्ते ब्रह्मोपदेशे उपनयनपरामर्शनादि प्रसिद्धम् ॥  
शूद्राणां भारतादेश्च श्रवणमनुमतं पापशान्त्यादिसिद्धये-  
वेदार्थापातबुद्धिर्यदनधिकरणा नोपबृहेत तैस्तैः ।  
विद्यास्थानानि शूद्रैर्मुनिरिदं कथयत् पाण्डवाय द्विसृता-  
प्यस्पृष्टव्यानि तस्मान्न हि विकलधियां स्यादुपासाधिकारः ॥

गीतं शूद्रादिकानामपि परमजनं केवलं स्वार्हधर्म-  
धर्मव्याधस्तुलाघृग्विदुर इति च ते प्राग्भवाम्याससिद्धा-  
धर्मा धर्मेति जानश्रुतिममिमुखयन् शोकमस्य व्यनक्ति  
क्षत्रप्रेषादिलिङ्गैस्स्फुटतरविदितं क्षत्रियत्वं हि तस्य ॥  
धृत्वेति प्राच्ययायप्रकृत इह भवेन्मुक्त आकाश नामा  
यन्धेऽसौ नामरूपे यदति तदनु च मह्यभावे जहाति ।  
इत्यन्याय्यं पुरोक्तः पुनरयममिसम्भाव्य एव क्षुपाक्षो  
मह्यत्वं न ह्यवस्था श्रुतिषु च युगपज्ज्ञाहतादिर्विभक्तः ॥  
विश्वात्मानन्तभूमा नियमनधृतिहन्मुक्तमोग्यस्वभावो  
दहस्वाधारसर्पो हृदयपरिमितावस्यया सर्वयन्ता ।  
देवादीनामुपास्यो वसुमुखवियुधैस्स्वात्मभावेन सेव्य-  
शूद्राधोपास्त्यनर्हः प्रभुरिह युयुधे नामरूपैककर्ता ॥

इति अपञ्चरात्राधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ प्रमिताधिकरणशेषः

श्रीभाष्यम्

तदेव प्रसक्तानुप्रसक्त ॥ धिक् ॥ यथा प्रकृतस्याकुष्ठप्रमितस्य भूतभव्येशित्वम्  
ब्रह्मभावोत्तमभनं हेत्यन्तरमाह—

सू-४० कम्पनात् (१.३.४०)

अथ प्रमिताधिकरणशेषः

भूतप्रकाशिका

तदेवमिति । देवादीनामधिकारनिरूपण प्रसक्तम् इतराधिकरणद्वयमनुप्रसक्तम् । परब्रह्मभावोत्तमभनमिति । ईशानो भूतभव्यस्य । इत्यवगतस्य नियमनस्य जगत्सर्वमेकतीति सर्वविषयवत्कार्यकंपनशोपनादुत्तमभनं ईशान इति शब्दस्यास्वरुनिर्वाहे चिकीर्षितेऽपि तस्य विरोधीत्यर्थः । नन्वाधिकारनिरूपक 'तदुपर्यपि' इत्याद्यधिकरणप्रत्ययं तृतीयस्य चतुर्थेऽपि निवेद्यम् । सत्यं तथाऽपि सङ्गत्यतिशयात् समन्वयाध्याये निवेद्यतम् । मनुष्याधिकारप्रकृतज्ञानात् तावत् सङ्गतिः स्यात् । कार्यभूतदेवादीनां प्रामाणिक्यसमर्थनं ब्रह्मणः परमकारणावोपयोगिकार्यकारणादस्यादित्यादिवेत-नाम्तर्पामिण उपस्थित्यमधुविद्यायामुक्तम् अपञ्चरात्राधिकरणे च संवर्गविद्यायाः परमाविषयत्वोक्तमित्यतः कारणानुग-बन्धिनो निरूपणेऽप्यसमन्वयलक्षणसङ्गतत्वात् सन्नाप्यस्मिन्पदे मनुष्याधिकारप्रकृतावाद्याधिकरणप्रयोक्तिर्निमित्तमिति ॥ ३॥ ५



श्रीभाष्यमन्त्राणि निम्नानि दीक्षु मी

‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मानि तिष्ठति’ (कठ. २. ४. १३) ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा’ (२. ६. १७) इत्यनयोर्वाक्ययोर्मध्ये ‘यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् महद्भयं वज्रमुद्यतं यत्तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः’ (२. ६. २) इति कृत्स्नस्य जगतोऽग्निसूर्यादीनां चास्मिन्नङ्गुष्ठमात्रे पुरुषे प्राणशब्दनिर्दिष्टे स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृतानां तस्मात्सञ्जात-महाभयनिमित्तम् एजनं कम्पनं श्रूयते । तच्छासनातिवृत्तौ किं भविष्यतीति महतो भया-  
॥ कम्पनात् इति सूत्रप्रकाशिका

॥ सूत्रप्रकाशिका

सू—४० कम्पनात् (१. ३. ४०)

इदं सूत्र ‘प्राण एजति’ इति वाक्यविषयमधिकरणान्तरं ये वर्णयन्ति तान्प्रतिक्षिपति । अनयोर्वाक्ययोर्मध्य इति । परमात्मपरत्वेनोपपादितप्राणकक्षद्वयमध्यगतत्वादस्य प्राणस्य आसिज्जैवामन्त्रे ‘यत्प्रेताद्विदुरमृतास्ते भवन्ति’ इत्यमृतत्वप्राप्तिहेतुत्वावगमात्, प्राणशब्दस्य परमात्मवाचकत्वस्यानेकाधिकरणन्यायिद्वत्वाच्च पूर्वपक्षानुदय इति भावः । प्राणः कम्पनात् इत्यश्रवणात् सूत्रस्वारस्यं च, ननु प्रकरणात् प्राणशब्दश्च्युतिर्बलीयसी धूमतेजो जलमरुसन्निपातरूपमेघात्मना परिणतस्य वायोरशनिरूपेण विवर्तनाद्भ्रमशब्दश्च्युतिश्च तस्माद्विष्णु वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यत इति सूर्यः । अमृतत्वहेतुताचोपपद्यते ‘वायुरेव व्यष्टिर्धायुस्तमष्टिरपुनर्मृत्युं जयति यएवंवेद’ इति श्रुतेः अतोऽधिकरणान्तरं कार्यमिति । उच्यते पूर्वापरपर्यालोचनेन परमार्थमिति निर्णीतेषु प्रकरणेषु मुख्यप्राणलिङ्गे तदाचकशब्दे सत्यपि परमात्मन एव प्रतिपाद्यत्वं ‘प्राणस्तथाऽनुगमात्’ इत्यत्र निर्णीतम् । अचेतनरूपप्रधानस्यापि मोक्षहेतुत्वानुपपत्तिः ‘तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्’ इत्यत्रोक्ता, तत्कथं तत्कार्यकदेशप्राणशब्दस्य मोक्षहेतुत्वशङ्कोदयः वायोरशनिकारणत्वेऽपि प्राणशब्दस्य वायुमात्रवाचित्वाभावात्तन्मुख्यार्थस्य मुख्यप्राणस्याशनिकारणत्वाभावाच्च वज्रशब्देन न पशुवृत्तिप्राणशङ्का भवति । उद्यतशब्दोऽप्यशनिशङ्काविरोधी; अशनिर्हिनिपतति अद्विषमेव श्रूयतं भवति, यथा ‘तेनेन्द्रो वज्रमुद्यच्छत्’ इति । अतोऽधिकरणान्तरत्वमयुक्तम् ॥

प्रामेताधिकरणे १३३४

नन्वेवं परमात्मपरत्वानिश्चयात् त्वपक्षेऽपि सूत्रवैयर्थ्यमिति चेन्न उक्तहेतुत्वात्तन्मन्यप्रयोजनस्य दर्शितत्वात् । सूत्रे च शब्दामावोऽनन्तरपूर्वाधिकरणशेषवध्रमानुदयार्थः ; नन्वाधिकरणान्तरत्वात् ‘प्राणः’ इति सप्तम्यन्तपदसामर्थ्यात् स्थितानामिव्याख्याहारः । श्रुते निस्सृतमित्यपेक्षायां प्रकृतस्यैवापादानत्वमाह—तस्मादिति । भय आगाध्यानिर्घातशक्तिरूपदुःखम् । एजनं तत्कार्यम् । श्रुतिसूत्रयोरभिज्ञार्थेव श्रूयति एजनं कम्पनमिति । ‘एजकम्पेन’ इति हि घातः । प्रत्यवाय-महात् स्वस्वकार्येषु प्रवृत्तिः कम्पनं तथेहाप्यवगम्यते ‘भयादस्याग्निस्तपति’ इति तपनस्य प्रयादित्ययोः कार्यम् । घावति शब्दः इन्द्रादीनां स्वस्वव्यापारपरः । मयं विपुल्याकार्यं योजयति तच्छासनेति । महतो भयादिति । मयशब्दो न मयानकपरा, लक्षणाप्रसङ्गादिनिर्मावः । वज्रादिविद्यतादिति । वज्रशब्द आधुनपरः नाशशक्तिपरः सर्वतश्च विद्यते । तत्वादिभिर्भाष्यैः वज्रादिष्वेति इवशब्देन श्रुतिवाक्ये वज्रशब्द उपचाराद्वज्रशब्दे वर्तते, अप्याहारादपि गोपदसिद्धिरिति ।

श्रीभाष्यम्

दृजादिवोद्यतान्कृत्स्नं जगत्कम्पत इत्यर्थः । 'भयादस्याग्निस्तपति' 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कट.२.६.३,२) इति पञ्चम्यर्थे प्रथमा । अयञ्च परस्य ग्रहणस्वभावः 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (वृ.५.८.९) 'भीषास्माद्धातः पवने । भीषोवेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । सूर्युर्धावति पञ्चमः' (तै.आ.८.१) इति परस्य ग्रहणः पुरुषोत्तमस्येवंविधैर्भयार्थवगतः ॥ इतश्चाहुष्टप्रमितः पुरुषोत्तमः—

सू-४१ ज्योतिर्दर्शनात् (१.३.४१)

तयोरेवाहुष्टप्रमितविषययोर्वचनयोर्मध्ये परमह्लासाधारणं सर्वतेजसां छादकं सर्व-

सुतप्रकाशिका,

स्यादिति वज्रशब्दस्य तत्तुल्यार्थवत् फलतो दर्शितम् । कथं हेतुवावगम इत्यत्राह—भयादस्येति । कथं प्रथमायाः पञ्चम्यर्थवमित्यत आह—महद्भयं वज्रमुद्यतमिति । न वज्रं भयदृष्टान्तः दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैधत्यत् । भयमव्यवधानेन कम्पने हेतुः वज्रतु भयद्वाग तद्देतुः, अतो वज्रं भयहेतुदृष्टान्तः सद्यतादृजादिव परमपुरुषात् सजातेन भयेन कृत्स्नं जगत्कम्पत इत्यर्थः तस्मात्सज्जात्महाभयनिमित्तमेजनमिति पूर्वग्रन्थैकार्थ्यात् । एवमहिं प्रथमा-तपटसामानाधिकरण्यस्वारस्य भङ्गः इवशब्दाध्याहारश्च स्यात् तदुभयानादरेणार्थवर्णनं किं निबन्धनमित्यत्राह—भयादस्येति । अनन्तरवाक्ये 'भयादस्य' इति भयतद्देतुवाचिपदयोर्वैयधिकरण्यदर्शनात् भयपदस्य पञ्चम्यन्तवदर्शनात् । पूर्वापरवाक्ययोरेकार्थ्यं न्यायनाददृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसामञ्जस्याच्चेत्यर्थः ॥

ननु भयशब्देन भयानकलक्षणा न्याय्या, गङ्गापदादपु प्रकृत्यशेन प्रकृत्यन्तरार्थलक्षणाया दृष्टत्वात् प्रथमाया हेतुर्थलक्षणात्वयुक्ता, विभक्त्या विभक्त्यन्तरार्थे लक्षणाया अदर्शनात् तच्चानुशासनविरोधात् पश्चादधिकरणेऽपि बहुत्वाविवक्षामात्रं नतु विभक्त्यन्तरार्थलक्षणा । अतो भयानकं वज्रमिव ब्रह्मयत्तस्मात् कृत्स्नं जगत्कम्पत इत्येव हि योजना अत आह—महद्भयं वज्रमुद्यतमिति । 'सुपांसु लुक्' इत्यादिसूत्रेण सर्वविभक्तिषु प्रथमायाः विहितत्वात् इयप्रथमा पञ्चम्यर्थवाचिनीत्यर्थः । वचनव्यत्ययोर्वा अयमभिप्रायः योजनाद्वयेऽपि इवशब्दाध्याहारो वज्रशब्दस्यामुख्यत्वं वाऽवश्यं भवेत् । प्रथमान्तयोजनाया प्रथमाविभक्तिस्वारस्य सामानाधिकरण्यस्वारस्यं चाग्र्यं स्यात् भयशब्दस्य तद्देतुलक्षणाश्रयणे यत्तच्छब्दाध्याहारः, पदैकवाक्यतायां सम्भवन्त्या तदग्रहणेन वाक्यैक्यव्यवभाक्तीकार इति त्रयो दोषाः । योजनान्तरे प्रथमायाः पञ्चम्यर्थताश्रयणास्वारस्यं सामानाधिकरण्यमङ्गुलं द्वौ दोषौ, भयपदप्रातिपदिकमुख्यत्वं यत्तच्छब्दानध्याहारः, पदैकवाक्यता 'भयादस्य' इत्यनन्तरवाक्यैकरूप्यचेति चत्वारो गुणाः । अतो दोषभूयस्वगुणलाघवयुक्तनिर्वाहादपि दोषलाघवगुणभूयस्वयुक्तनिर्वाहपरमिति । कृत्स्नजगद्भयावहवत्क्षणस्य प्रशासनस्य परमा मर्घं वं सुत्यन्तरमधिद्वयेषोपपादयति अयंचेति ॥

सू-४१ ज्योतिर्दर्शनात् [१.३.४१]

एतदधिकरणस्य हेतुपरत्वमेव युक्तमिति दर्शयति वाक्ययोर्मध्यस्येति । 'न तत्र सूर्यः' इत्यादिमन्त्रे पूर्वार्थस्यार्थमाह—सर्वतेजसां छादकमिति । उत्तरार्थस्य पूर्वपादार्थमाह—

## श्रीभाष्यम्

तेजसां कारणभूतमनुग्राहकं चाक्षुषप्रमितस्य ज्योतिर्दृश्यते 'नतत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्भूतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कठ.२.५.१५] इति । अयमेव श्लोक आश्रयणे परं ब्रह्माधिकृत्य श्रूयते । परज्योतिष्ट्वं च सर्वत्र परस्य ब्रह्मणश्श्रूयते । यथा 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते' [छां.८.१२.२] 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ.६.४.१४) 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' (छां.३.१३.७) इत्यादिषु । अतोऽक्षुषप्रमितः परं ब्रह्म ॥

इति प्रमिताधिकरणशेषः

## श्रुतप्रकाशिका

सर्वतेजसां कारणभूतमिति । अनुमान पश्चाद्भानम् । तेन कार्यकारणभावस्तिष्ठति, पौर्वापर्यतियमोहि कार्यकारणभाव इति भावः । चतुर्थपादार्थमोह-अनुग्राहकमिति । 'यस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति' इत्यादि भुतिश्चानुग्राहकवे प्रमाणम् ज्योतिर्दृश्यते इति । ज्योतिः दीप्तिः 'ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्' इति प्रयोगात् ॥

ननु कथं कारणत्वानुग्राहकत्वे संभवतः तदिह प्राकृततेजो विसृज्यते । सृज्यते तेजोऽहं तेजसा कारणमनुग्राहकं च दृष्टं, यथा दीपो दीपान्तरस्य, दीपादिप्रभा च चाक्षुषप्रभाया इति । उच्यते निमित्ततया कारणवोपपत्तिः, उपादानस्यैव साजात्यापेक्षा । आहङ्कारिकस्य विजातीयस्यापि चक्षुःस्तेजोद्रव्येणाप्यायनं च दृष्टम् । निमित्तत्वं च तेजःकारणभूतवस्त्वनुग्राहकतया भवति । यथा कालस्य निमित्तत्वं कारणवस्त्वनुग्राहकतया, यथा च सलिलदहनात्तथा दीना घटादप्येतौ निमित्तत्वं मृद्द्रव्यसंयोगेन तत्र किञ्चित्कृतया भवति, एवमप्राकृततेजोऽपि प्राकृततेजस उत्पत्तौ तदुपादानद्रव्यस्यानुग्राहकतया निमित्तं भवतीत्युपगन्तव्यम् । प्रमाणवत्त्वात् उच्यते । अपि तेजस्त्वयं यकरणसामर्थ्यस्य तं सम्बन्धोक्तं वाच्यमनुग्राहकं यथा चाक्षुषश्चेन्द्रातपादिः, यथा शुष्ककण्टस्य वाग्यवहारे पानीयास्वादनं यथा मनसो धारणग्रहणस्मरणादिपाठ्ये सम्यगाहारः उत्तलक्षणकारणत्वानुग्राहकं वाभिप्रायेण भगवता पराशरेण मूर्तेर्ब्रह्मशब्दवाच्यदिध्यक्षि-ग्रहविशिष्टत्वमुक्त्वा 'ततो जगज्जगत्तस्मिन् स जगच्चाखिल मुने' इत्युच्यते । सजगदिति सामानाधिकरण्यात् धारकत्वनिबन्धनम् अस्य वाक्यस्य परोक्षार्थोऽनुपपन्नः ॥

तथाहि सूर्योदीभरप्रकाशश्च न पूर्वार्थस्यार्थः, भातिशब्दस्य शान्तवाचि वाभावात् संह दोषः 'भादीप्तौ' इतिहि घातः । किञ्च यदि भासयित्वं निषिध्यते तदा ब्रह्मविषयज्ञानद्वयवनिर्देश इति च कथं शक्यते इह च मानमेव निषिध्यते न भानयित्वं, यदि निजान्वान्तर्भासमिष्टं तदा तत्रैति सप्तमी न घटते कर्म कस्यैव प्राप्तं वात् । अतोऽर्थो न्नरानुपपत्तेः —

त्रिवि सूर्यसहस्रस्य भवेत्तुगपदुत्थिता । यदि भासस्तदशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः ॥

इति स्मृत्यानुगुण्याच्च, तदीयदीप्तिषाधाकारसम्भवे तेजोऽन्तराणामभिभूतं यमेवात्र प्रतिपाद्यम् । तृतीयपादेनाविधान-स्फुरणाधीनमभ्यस्तस्फुरणमुच्यते इति चायुक्तम् । तमिति पुल्लिङ्गान्तस्य तत्त्वशब्दस्य चिदचिदध्यायवर्तकानुगुणविशिष्टपरमपुरुषपरत्वात्, तस्मात्भासमानोऽप्यास नुपपन्नस्य स्फुरणस्फुरणापागात्, सर्वज्ञादिगुणको निर्दोषः परमपुरुषोऽहं मुने प्रकृतः कटवस्त्वानाकर्मवशादानन्तर्माहमा सर्वानियन्ता सर्वाचारो विष्णुशब्दवाच्यसर्वसात्वरः स एव पुरुषः प्रकृतः ।

शेतावतरे च सहस्रशीर्षसहस्राक्षयादिमान् स्वामौखिकपरंशानद्योत्पत्त्यादिगुणैस्त्वप्रवर्तकः। महापुरयः प्रकृतः। सर्वज्ञावाद्यश्च गुणास्मस्तच्चिदचिद्भ्यावर्तकाः। तैर्विशिष्ट एव तच्छब्देन परामृश्यते न यस्तुमात्रे तच्छब्दस्य प्रकृतपराभावेत्यस्वारस्यमन्नात् पुलिङ्गनिर्देशस्य प्रकृतपुरुषविषयवशापक्त्वाच्च, अतः 'तमेव भान्तम्' इति तर्हीप्तयोगस्य स्वाभाविकत्वं नित्यत्वमप्रतिहतत्वमितरतेजसा तदेतुक्तत्वं चोक्तम् 'तमेव भान्तं-तं भान्तम्' एवेति हन्वयः, तमेव त्वन्वये सति व्यवच्छेद्य तेजोऽन्तरासम्भवात् । तथाऽन्वयेऽपि न विरोधः, यद्यधिष्ठानपुरणाधीनमध्यस्ताः पुरणिभिर्युज्येत तदा 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति पुनरुक्तिश्च स्यात् । तस्य वृत्तिरूपशानेन सर्वं भातीत्यर्थ इति चेन्न, भावशब्दस्य वृत्तिज्ञानवाचित्वामावात् । अतो भगवत्तेजससर्वतेजोऽनुग्राहकत्वमेव संतुल्यपादार्यः । अतः प्रकरणस्य क्वचन वर्गाश्रुतिपुरुषशब्दप्रत्यभिज्ञापितादित्यवर्णश्रुतिप्रसिद्धादिव्यधिग्रहद्वारकनिरवधिकदीप्तिविशिष्टोऽनेन रूढेण प्रतिपादितः । परमाण्वपरतया निर्णीतप्रकरणस्य तया प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्चास्य मन्त्रस्य परमाण्वसाधकत्वमित्याह—अयमेव श्लोकइति एव शब्दतः प्रत्यभिज्ञानं हेतुतयोक्तम् अर्थतः श्रुत्यन्तरप्रत्यभिज्ञानं चास्य मन्त्रस्य परमाण्वत्वसाधकत्वोपपादकमित्यभिप्रायेणाह—परज्योतिष्त्वं चेति । आदिशब्देन 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' 'नारायणपरो ज्योतिः' इत्यादिप्रेतम् । एवं स्वपक्षसाधकतया श्रुत्यन्तरस्य वाक्यप्रयोपादानेन अर्थापरपक्षमुदाहरणं सिद्धः परैः सात्त्विक सूत्रं 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इत्यादिवाक्यविषयमधिकरणान्तरं व्याख्यातम् । तत्र च ज्योतिशब्दस्यादित्यपरत्वं पूर्वपक्षीकृत्य परब्रह्मपरत्वं सिद्धान्तितम् । तदयुक्तम् पूर्वपक्षानुष्ठानात् । ज्योतिशब्दश्रुतिर्हि प्रकरणाद्वलीयसी ; अत उच्यते इति चेन्न किं ज्योतिश्रुतिरादित्यासाधारण्यात्साधिका सत साधारण्येऽपि प्रवृत्तिनिमित्तभूतप्रकाशकत्वपौष्कल्याद्वा, न प्रथमः 'आपो ज्योतिश्च पञ्चमम्' 'अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्रः' 'ज्योतींषि शुक्राणि च यानि लोके' 'ज्योतींषि विष्णुर्मुखानि विष्णुः' इति बह्वर्थसाधारणतया प्रयुज्यमानत्वात् । न द्वितीयः 'नारायणपरो ज्योतिः' 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति नारायण एव प्रवृत्तिनिमित्तपौष्कल्यदर्शनादित्यभिप्रायः 'तंदेवा ज्योतिषाम्' इति वाक्यमुपात्तम् 'ज्योतिषां ज्योतिः' इत्युक्तत्वात् ज्योतिष् तत्प्रकर्षश्च ह्यवगम्यते, अतो ज्योतिशब्दस्य साधारण्यं भगवत्येव प्रवृत्तिनिमित्तपौष्कल्यं च तेन सिद्धम् । अदित्या साधारण्याभ्युपगमेऽपि कृतकरत्वज्ञापनाय 'अथ यदतः परः' इति वाक्यमुदाहृतम् 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्येतद्राक्यविषयेण 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इत्यधिकारेण ज्योतिशब्दश्रुतेः परिहृतत्वात् । तत्र हि 'पादोऽस्य विश्वभूतानि' इति प्रकरणम् स्थितमपि तदनाहत्य ज्योतिशब्दस्य तमः प्रतिद्वन्द्विनि प्रसिद्धतया आदित्यविषयव परैरेवेत्तं परिहृतं च अतः कृतकरत्वम् । परशब्दविशेषितज्योतिशब्दोऽपि नादित्ये रूढः, परवस्य निरतिशयस्य तस्मिन्नुपस्थितत्वादेव गुणयोगादपि नादित्यप्रतीतिः । उच्यते श्रुतिः सत्त्वाश्रुतिश्च पूर्वपक्षहेतुरिति चेन्न परब्रह्मविषयत्व एव तयोरुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । माऽस्तु तयोः परब्रह्मविषयत्वसंभवः तथाऽपि नारम्भणीयता 'उत्तरांश्च दालिभूतस्वरूपस्तु' इति स्वर्णास्य वाक्यस्य परब्रह्मप्राप्तिप्रतिपादकत्वस्य समर्थितत्वात् 'यत्तत्परं ज्योतिरूपसम्पत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म तक्षाप, इतपाष्मत्यादिधर्मकं तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं रूपम्' इति हि तैरुक्तम् । 'श्रुतिकृतं विवेकज्ञानं शरीरात्समुत्थानं विवेकज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः' इति समुत्थानादिश्रुतिनिर्वाहस्तत्रैव कृतः । अतः कृतकरत्व इह परब्रह्मोपसंपत्त्याऽविभूतस्वरूपाविषयवरुद्धयनमुपजीव्य दहराकाशस्य परमाण्वत्वं तत्र समाहितमिति चेत् तर्हि 'उत्तरावेत' इति सूत्रानन्तरं 'ज्योतिर्दर्शनात्' इति सूत्रं निवेशयितव्यम् हेतुप्रयोगानन्तरमेव हेत्वसिद्धेः परिहरणीयत्वात्



### श्रुतप्रकाशिका

अपहृतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनो वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिदर्शनेनहि तदसिद्धिरिति परिह्रियते । इदं च तत्रैवे चम् 'अपहृत पाप्मत्वादिगुणकमात्मानं प्रस्तुत्य एतन्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इति तत्र कृष्यतस्य स्वमस्तुतयाद्युपयासक्रमेण परमार्थस्वरूपावर्भावोपदेशपरमिदं वाक्यमिति तत्र तैरेव प्रतिपादनात् तदप्रतिपादनेचास्य वाक्यस्याविभूतस्वरूपविषय-  
वाशिद्धेः अतः कृतकरत्वमन्यथा तत्रैव त सूत्रनिवेशनं वा प्रसजेत् ॥

अपरेत्वाहुः—शरीरादुत्थानस्य स्वेन रूपेणानिर्पत्तेश्च मध्ये श्रूयमाणा पर्ययोतिःप्रसिन्नामादित्प्रसिः अर्चिगादि-  
मार्गप्रत्यभिज्ञानात् । तत्रह्यादित्यप्रसिर्मध्ये श्रूयते । आदित्यस्य परत्वंचार्चिराद्यपेक्षयति पूर्वपक्षोत्थानांमिति तदप्यत एव  
निरस्तम् 'उत्तराद्येत्' इति सूत्र एवास्य वाक्यस्य परत्वापसपत्त्याऽविभूतस्वरूपामविषयस्य समर्थितत्वादिति ॥

### इति प्रामिताधिकरणशेषः

### अथ प्रामिताधिकरणशेषः

### गूढार्थसङ्ग्रहः

'कम्पनात्' पूर्वाधिकरणत्रयेण हृद्यपेक्षयाविति प्रामिताधिकरणगुणभूतेन 'अन्ययोगःअयोगश्चक्षेदश्च मनु-  
प्याधिकारत्वात्' इत्यत्र न विवक्षित इति निर्णयेन शब्दादेवेति सूत्रार्थनिर्णयः सपक्षः । तस्यैव बुद्धिस्तथा 'कम्प-  
नात्' इत्यनेन तदाधिकरणे यत् साध्यतया विवक्षित तदेव दृढीक्रियते 'अङ्गुष्ठप्रमित' परमात्मा कम्पनात् 'अत्राप्ये-  
वेत्यस्यानुषङ्गः तत्रतु शब्दा हेतुः अत्रवर्थः । अङ्गुष्ठप्रमितविषयवाक्यमध्यपतितं वेनास्यैव विषयवाक्यत्वं विवक्षितम् सूत्रे  
वप्रसङ्गः प्राणशब्दश्च नैव वर्तते, अध्याहारेणैव परैः नव्यैश्चार्थो वर्णनीयः । सिद्धं तर्हि प्रामिताधिकरणशेषतया तत्रत्य  
पदानुषङ्गेनैवार्थवर्णनं युक्तम् । अत्र 'यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्युक्तया भोक्षहतुज्ञानविषयव 'पूर्वपक्षिसंमितायो  
नघटत इत्यवश्यं वक्तव्यार्थं विज्ञाय कम्पनात् इति हतूक्तिः मतद्वयेऽपि न समञ्जसा ॥

'ज्योतिर्दर्शनात्' अङ्गुष्ठप्रमितस्य हृदि स्थितिं प्रतिपाद्यते सैव 'आग्नेयैको भुवने प्रविष्ट रूपरूप प्रतिरूपो-  
बभूव' इत्यादौ सर्वभूतान्तरात्मपदेनोक्ता । सैवोत्तराङ्गुष्ठप्रमित 'इत्यादिनोर्क्ते' 'तदेतादौ' मयुर्न्ते अनिर्देश्य परमं  
सुखम्' इत्यादौ मुक्तप्राप्य सुखं प्रतिपादितम्, तदनन्तरं 'किमुमाति विमाति वा' इति प्रश्नं तदुत्तरं 'नतत्र सूर्यो  
भाती'ति प्रतिवचनम् । अस्यां श्रुतौ पूर्वमग्निर्स्यादीनां य साम्यमस्तत्तुल्यताशेनेनोपपत्त्यां प्रतिवचनं स्यादित्यग्निर्स्यादि-  
प्रकाशविरहस्थलं परममप्रकाशः प्रतिवचने प्रतिपाद्यते । एतन् एत प्रकाशाविशिष्टस्य निरतिशयसुखरूपं 'नित्यो नित्यो  
नाम्' इति श्रुतौ 'तेषां मुखं शाश्वतं नेतरेषाम्' इत्यत्रापिज्ञानेवतां य सुखमुक्तं तदेव प्रतिवचनं निघोति भवति ।  
'यदिदं किंच जग सर्वम्' इति श्रुतौ 'यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्युत्तरवाक्यम् एतद्वयवाधानिर्णयः, 'निरतिशयसु-  
खज्ञानेन निरतिशयमुखस्वरूपनिर्णयश्च भवतीति' निरतिशयदीप्तिविशिष्टा सुखरूपरक्तं न दयम्' इति सिद्धम्  
'ज्योतिर्दर्शनात्' इत्यत्रेदमेव विषयवाक्यम्, ज्योतिश्शब्दः मेदिनीकोशात् प्रकाशपरः नहि तर्ह्येदं दृष्टमेव वाक्यं  
मुदाहार्यमिति नियमः मुष्टकोपनिषदि—'न तत्र सूर्यो भाती'त्येतत्पूर्वं 'सिद्धं ज्योतिर्वा ज्योतिः' इति श्रूयते, अथ  
भासकत्वेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्ठा वाक्यमिति सर्वसमतम् ज्योत्यवभासप्रतिपादनं य 'न तत्र सूर्यो भाती'त्युक्तेन  
कथयत्वाप्यस्यार्थस्य विवक्षितत्वेन एतद्विशेषलाभायैव 'ज्योतिर्दर्शनात्' इति शब्दात् इति नार्थदर्शनात् इति

## गूढार्थसङ्ग्रहः

सम् । अनेनोपनिषदन्तरप्रसिद्धिरपि द्योतिता भवति तेनविनाऽक्षेपस्य नावसरः । सिद्धान्ते प्रमिताधिकरणदेशतया तत्प्रदानमेवानुपगम्यकार्यः । एतेन 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः' इत्यत्र दीप्तिविशिष्ट यज्योतिः निरतिशयमाविशिष्टमेवेति श्रुतिद्वये मुक्तप्राप्य ज्योतिरिति विवक्षितमिति सिद्धयति ॥

एतेन 'एष सप्रसादः—परज्योतिः' इत्यत्र परवमेतादृशमपि विवक्षितमिति सिद्धं तेन 'सत्तमपुरुषः' इति वाक्यधरणेनाभिदो विवक्षित इति नपरया शङ्काऽवकाशः । 'तेषां सुखं शाश्वतं नैतेरधाम्' इति पूर्वमनेकमुक्तप्राप्यरूपनिरतिशयसुखरूपप्रतिपादनानन्तरं तस्य निरतिशयमाविशिष्टव्यतिपादनैव तस्य निरतिशयमाविशिष्टमपि विवक्षितम् । 'त दवा ज्योतिषा ज्योतिः' इत्यत्र ज्योतिषामवधारकानामप्यवयवसत्त्वप्रतिपादनेन ज्योतिश्शब्दोऽभासकपरः । अरभासकत्वं परमा मन्येव पुष्कलम् एतदेव दृढीकृतं 'नतत्र सुखं भाती त्यादिना । 'अथ यदतः परः' इत्यत्र 'ज्योतिश्चरणामिधानात्' इति सूत्रे दीप्तिविशिष्टज्योतिःप्रतिपादनात् दीप्तिरापि विशेषः प्रतिपादितः । दीप्तिविशिष्टस्यास्या श्रुतौ विवरणम् । एतेन 'नतत्र सुखं भाती त्यादौ प्राप्यस्वरूपमेव विवक्षितम् । तेन 'पर ज्योतिः' इत्यनेनाप्येकवृत्ता । कठवल्लीया 'तेषां सुखं शाश्वतं—अनिर्देश्य परम् सुखम्' इति सुखत्वेनैव प्रतिपादितमेवात्र प्रतिपाद्यते श्वेताश्वतरेऽपि—'नित्यो नित्यानाम्' इत्यनन्तरमस्याश्रुतेरभिधानात् ॥

## इति प्रमिताधिकरणशेषः

अथ वेदान्तसारः

प्रासङ्गिक परिसमाप्य प्रकृतमनुसरानि—

सू-४० कम्पनात् (१.३.४०)

अङ्गुष्ठप्रामितप्रकरणमध्ये 'यदिदं विज्ञ जगत्सर्वं प्राण एजति निस्तुतम्' (कठ.२.६.२) इत्यादिना अभिहितं ताङ्गुष्ठप्रामितप्रमाणशब्दनिर्दिष्टजानतभ्यात् वज्रादिवोद्यतात् अग्निवायुसूर्ये द्रव्यभूति क्व सजग कम्पनात् अङ्गुष्ठप्रमितः परमपुरुष इति निश्चीयते ॥

सू-४१ ज्योतिर्दर्शनात् (१.३.४१)

तत्प्रकरणे 'नतत्र सुखं भाति' (कठ.२.६.१५) इत्यारभ्य 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (२.५.१५) इति भादशब्दाभिहितस्य अनवधिर्जातिशयज्योतिर्गो दर्शनाच्च अङ्गुष्ठप्रमितः परमपुरुषः ॥

इति वेदान्तसारः

## अथ वेदान्तदीपः

प्रासाङ्गिकं पारिमाण्यं प्रकृतं परिभाषयति—

### सू—४० कम्पनात् (१-३-४०)

अङ्गुष्ठप्रमितप्रकरणमध्ये 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणएजति निस्तुतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतम्—' (कठ.२.६२) 'भयादस्यामिस्तपति' (२.६.३) इत्यादौ प्राणशब्दानिर्दिष्टाङ्गुष्ठप्रमितजनितभयनिमित्तादग्निवायुसूर्यप्रकृतिकृत्स्नजतकम्पनाच्छूयमाणादङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मैवेति निश्चीयते ॥

### सू—४१ ज्योतिर्दर्शनात् (१.३.४१)

अस्मिन्नेव प्रकरणे तत्संबन्धितया 'न तत्र सूर्यो भाति' (कठ.२.५.१५) इत्यारम्य 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति सर्वेषां छादकरयानवधिकातिशयस्य भादशब्दामिहितस्य ब्रह्मभूतस्य परस्य ज्योतिषो दर्शनाच्च अङ्गुष्ठप्रमित परमात्मा ॥

इति प्रमिताधिकरणशेषः

अथ अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

### सू—४२ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् (१-३-४२)

छान्दोग्ये श्रूयते—'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छां.८.१४.१) इति । तत्र संशयः

अथ अर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

### सू—४२ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् (१.३.४२)

पूर्वं दहराकाशस्य परब्रह्मावे साध्यमाने 'अल्पभुक्ते. इतिचेत्तदुच्यते' इति सूत्रेणाल्पभुक्तिः परिहृता । अल्पभुक्तिः प्रसङ्गेनाङ्गुष्ठप्रमितस्य परत्वं साधितम् तत्प्रसङ्गेनाधिकरणस्यमुत्तमम् । अयं पूर्वप्रकृतदहरविद्यायां बुद्धिस्य चेतनं रदनन्तरभूतस्य आकाशो ह वै नाम' इत्यादिप्रकरणस्य जीवपरवमाशङ्क्य परिहृत्य इति सङ्गतिः । मुक्तस्य प्रकृतत्वान्मुक्ता-

### श्रीभाष्यम्

किमयमाकाशशब्दनिर्दिष्टो मुक्तात्मा ? उत परमात्मा इति । किं युक्तम् ? मुक्तात्मेति । कुतः ? 'अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धृत्या शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकममिसम्भवामि' (छां.८.१३.१) इति मुक्तस्यानन्तरप्रकृतत्वात्, 'ते यदन्तरा' (८.१४.) इति च नामरूपविनिर्मुक्तस्य तस्याभिधानात्, स एव हि देवादिरूपाणि

### श्रुतप्रकाशिका

मपरमाविषयसशयमाह—किमयमिति । परैस्तु भूताकाशः पूर्वपक्षः तथा च सत्त्वनारम्भणीयैव स्यात् 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यनेनैव चरितार्थत्वात् । तत्रहि 'अस्य लोकस्य कागतिरित्याकाश इतिहोवाच' इत्याकाशमुत्था भूताकाशपरत्वमाशङ्क्य सर्वभूतकारणत्वव्यायस्त्व परायणत्वादीनां भूताकाशेऽन्वयानहं वात् बहुश आकाशशब्दाभ्यासे सत्यपि तद्वाच्येन परमात्मपरत्वं निर्णीतम्, इहापि नामरूपयोः निर्वोदृत्वब्रह्मशब्दामृतत्वादिराकाशस्य ब्रह्मत्वं निर्भीयत इति न वैषम्यम् । दहराकाशस्य तदन्तर्वर्त्यत्वेऽप्यन्तरप्रतीतिरवेष्टव्यत्वस्यैव तत्प्रत्यपरमात्मलिङ्गावम् ननु दहराकाशस्येति शङ्काविशेषसम्भवादहराधिकरणोत्थान युक्तम् । इहतु न तथा शङ्का दृश्यते ॥

नन्वकाशप्रदानद्वारा नामरूपनिर्वहणहतुत्वमाकाशस्य युज्यते अतः स्ववाक्ये परमात्मलिङ्गाभावो वैषम्यमिति । उच्यते किमत्र स्ववाक्ये परमात्मलिङ्गाभावः स्वरसार्थस्वीकारेण वर्ण्यते, उत क्लिष्टार्थकल्पनया । नप्रथमः स्वयमध्ययेन निर्वाह्यनामरूपस्याकाशस्य सर्वनामरूपनिर्वोदृत्वानुपपत्तेः, तस्य च परमात्मलिङ्गभूतस्य स्ववाक्यस्य देन 'सर्वाणि ह्यथा इत्यादिवाक्यादविशेषात् । नद्वितीयः अवकाशप्रदानद्वारा सर्वभूतोत्पत्तिकारणत्वस्याप्याकाशे सभाविततया स्ववाक्ये परमात्मासाधारणभावस्य तत्रचात्रचाविशेषात् । अपरैस्तु ब्रह्मशब्दस्य मुक्तात्मपरत्वं वदन्निरेवाकाशशब्दस्य भूताकाशपरत्वं पूर्वपक्षितम् तत्राप्याकाशविषयनिरूपणस्य कृतकत्वमुच्यते । अतः परपक्षे पूर्वपक्षानुदय एव, अतः परमात्मलिङ्गानां भूताकाशेऽन्वयानहंतया आकाशशब्दस्य यौगिकार्थे ग्राह्ये सत्यनन्तरपूर्ववाक्ये मुक्तात्मनः प्रकृतवाङ्मयानामरूपनिर्वोदृत्वादिलिङ्गाच्च मुक्तामपरमाविषयत्वेन सशयोत्थान युक्तमित्यभिप्रायेण मुक्तात्मपरमात्मदेहदेन रुहय दृश्यते— तत्रेति । किमाकाशशब्दनिर्दिष्टो मुक्तः ? उत परमात्मेति सशयः । तदर्थं धूत्वा शरीरमिति मुक्तस्यानन्तरप्रकृतत्वमाकाशशब्दस्य मुक्तपरतामवगमयति नेति किं मुक्तस्य नामरूपनिर्वोदृत्वं सम्भवति नेति किमत्र नामरूपनिर्वोदृत्वं नामरूपभक्त्या उत नामरूपव्याकर्तृत्वेति । किं 'ते यदन्तरा' इति निर्देशः कर्तृतया निर्वोदृत्वमुपपादयति नति, यदानोपपादयति तदा नामरूपमात्मत्वमेव तन्निर्वोदृत्वमिति तस्य जीवेऽपि बन्धदशायां सम्भवेन मुक्तात्मनः प्रकृतत्वमाशब्दस्य मुक्तपरत्वावगमकमित्याकाशो मुक्तात्मेति पूर्वपक्षः । यदा 'ते यदन्तरा' इति निर्देशः कर्तृतया नामरूपनिर्वोदृत्वमुपपादयति, तदा नामरूपनिर्वोदृत्वं नाम तत्कर्तृवरूपमिति तस्य मुक्तात्मन्यसम्भवात्मुक्तात्मनः पूर्वप्रकृतत्वेऽप्यस्मिन्वाक्ये मुक्तात्मनोऽवगत्यनुपपत्तेराकाशशब्दनिर्दिष्टः परमात्मेति राक्षान्तः । ते यदन्तरेति । उभयोर्मध्यस्य वाच्यदृष्टय फलितम् मध्यस्थस्यान्यतरपक्षपाताभावात् । तेन पूर्वोक्तमुक्तप्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । मुक्तस्य नामरूपनिर्वोदृत्वं कथमित्यत्राह—नामरूपेति । नामरूपयोर्निर्वहतेति मुख्यनुवादः नत्वर्थानुवादः, उपरुक्षणतयाऽभिमत निर्वोदृत्वपूर्वावस्थायामपि नास्तीत्यत्राह—सएवहीति । नामरूपनिर्वोदृत्वं ननामरूपकर्तृत्वम् अपितु नामरूपमात्मत्वम् वहनहि धात्वर्थः, उपसर्गाणामानार्थत्वसम्भवात् नितरां वोदृत्व निर्वोदृत्वशब्दसंख्यादिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । तर्हि कथं मृतत्वादिकमित्यत्राह—



## श्रीभाष्यम्

नामानि च पूर्वमविभः शेषतस्यैव नामरूपविनिर्मुक्ता साम्प्रतिक्यवस्था 'तद्वत् तदमृमृत् (८.१४.१) इत्युच्यते । आकाशशब्दश्च तस्मिन्नप्यसङ्गचितप्रकाशयोगादुपपद्यते । ननु दहरवाक्य शेषत्वादस्य स एव दहराकाशोऽयमिति प्रतीयते । तस्य च परमात्मत्वं निर्णीतम् । मैवम् प्रजापतिवाक्यव्ययधानात् । प्रजापतिवाक्ये च प्रत्यगात्मनो मुक्त्यवस्थान्तं रूपमभिहितम् अनन्तरं च 'विधूय पापम्' (८.१३.१) इति स एव मुक्तावस्थः प्रस्तुतः । अतोऽत्राकाशो मुक्तात्मा ॥

इति प्राप्त उच्यते—'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' इति । आकाशः परं ब्रह्म ; कुतः ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । अर्थान्तरत्वव्यपदेशस्तावत् 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' : [८.१४.१] इति नामरूपयोर्निर्वोदृत्वं यद्वा मुक्तोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वमाकाशस्योपपादयति । यद्वावस्थस्वयं कर्मवशाद्ग्रामरूपे भजमानो न नामरूपे निर्वोदृत्वं शक्नुयात् ; मुक्तावस्थस्य जगद्व्यापारासम्भवात् न नितरां नामरूपनिर्वोदृत्वं ईश्वरस्य तु सकलजगन्निर्माणधुरन्धरस्य नामरूपयोर्निर्वोदृत्वं श्रुत्यैव प्रतिपद्यम् 'अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां.६.३.२) 'यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' (मु.१.१.९) 'सर्वाणिरूपाणिविचित्य घीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै.पु) इत्यादिषु । अतो निर्वाह्यनामरूपात्प्रत्यगात्मनो नामरूपयोर्निर्वोदाऽयमाकाशोऽर्थान्तरभूतः परमेव ब्रह्म । तदेवोपपादयति 'ते यदन्तरा' (छां.८.१४.१) इति । यस्मादयमाकाशो नामरूपे अन्तरा ताभ्यामस्पृष्टोऽर्थान्तरभूतः, तस्मात्तयोर्निर्वोदा अपहृतपाप्मत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वाच्च निर्वहितेत्यर्थः । आदिशब्देन ब्रह्मत्वात्प्रत्यगात्मनो चत्त्वानि गृह्यन्ते । निरुपाधिकवृहत्त्वादयोहि परमात्मन एव सम्भवन्ति ; तेनात्राकाशः परमेव ब्रह्म । यत्पुनरुक्तं 'धृत्वा शरीरम्' (छां.८.१४.१) इति मुक्तोऽनन्तरप्रकृतः इति ; तच्च 'ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि' इति परस्यैव ब्रह्मणोऽनन्तरप्रकृतत्वात् ।

## श्रुतप्रकाशिका

तस्यैवेति । साम्प्रतिकीति । 'नामरूपविमोक्षज्ञानान्तरकालभाविन्यवस्था तस्य कालस्य प्रकृतत्वात् साम्प्रतिकी उच्यते ॥

रादान्ते व्यपदेशस्तापदिति । प्रदर्शयत इति शेषः । यद्वा नामरूपयोर्निर्वहितेति व्यपदेश इत्यन्वयः 'अर्थान्तरत्वशब्दस्तदुपपादकं धर्मं लक्षयति अर्थान्तरत्वमाकाशस्योपपादयति' इति श्रुतम् । भेदकधर्मव्यपदेशादित्यर्थं नामरूपयोरित्यादि । नामरूपनिर्वोदृत्वं च सृष्टिभेदकधर्मः अवयवशक्त्या निर्वोदृशब्दस्य वहनमात्रपरत्वादपि रुद्धिगमपहर्तीति न्यायार्थं कर्तृपरत्वं युक्तमिति भावः । नन्वेवमिति 'ते यदन्तरा' इति कथं मुक्तस्यानन्तरमभिधानमिति श्राह—तदेवोपपादयति ते यदन्तरेतीति । कर्मतनामरूपमात्रवाभावात्तयोः स्वेच्छया निर्वोदा परमात्मो नाह क परार्थान्तेति तस्य ब्रह्मस्य अगद्व्यापारानुगुणसङ्कल्पादिरहितस्य मुक्तस्य च नामरूपनिर्वोदृत्वं सम्भवतीत्यर्थः । निर्वोदृतेति श्रुतिस्योपदानुकारः । आदिशब्दार्थमाह—आदिशब्देनेति । निरुपाधिकशब्दोऽनवच्छिन्नः परः उपादिसंश्लेषकः जीवस्य ज्ञानतो बृहत्त्वं तस्य परमात्मप्रसादायत्तम् वृहत्त्वादय इति । धर्मा इति शेषः धृत्वेत्यादि । प्रत्येव लोको मा लोकाः, प्रथमानिर्दिष्टस्याभिधमविशुः प्राधान्येन प्राकराजिकवस्त्वारभ्येऽपि लिङ्गत्वात् प्राकराजिकवस्त्वारभ्येऽपि पु

## श्रीभाष्यम्

यद्यप्यभिसम्भवितुर्मुक्तस्याभिसम्भाव्यतया परं ब्रह्म निर्दिष्टम्, तथाऽप्यभिसम्भवितुर्मुक्तस्य नामरूपनिर्बोद्धव्याद्यसम्भवादभिसम्भाव्यं परमेव ब्रह्म तत्र प्रत्येतद्व्यम् । किञ्च आकाशशब्देन प्रकृतस्य दहराकाशस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात्, प्रजापतिवाक्यस्याप्युपासवस्वरूपकथनार्थत्वादुपास्य एव दहराकाश प्राप्यतयेहोपसंक्षिप्यत इति युक्तम् । आकाशशब्दश्च प्रत्यगात्मनि न कचिद्बृष्टचरः । अतोऽत्राकाश परं ब्रह्म ॥

अथ स्यात्—प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतमात्माऽन्तरमेव नास्ति, ऐक्योपदेशात्, द्वैतप्रतिषेधाच्च ; शुद्धावस्थ एव हि प्रत्यगात्मा परं ब्रह्म परमेश्वर इति च व्यपदिश्यते ; अतः प्रकृतान्मुक्तात्मनोऽभिसम्भवितुर्नार्थान्तरमभिसम्भाव्यो ब्रह्मलोकः, अतो नामरूपयोर्निर्बोद्धिता आकाशोऽपि स एव भवितुमर्हति इति ; अत उत्तर पठति—

सू-४३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन [१.३.४३]

## श्रुतप्रकाशिका

इत्यभिप्रायेणाह—यद्यपीति । अत्रान्तरप्रकरणेन पूर्ववाक्यस्य जीवस्वरूपपरत्वमभ्युपेत्य परिहृतम् वस्तुतस्तु द्रष्टव्यं कथं नुपहीतमहोपकरणबलात् पूर्ववाक्यमपि न जीवपरम् । किंतु तस्य परमप्राप्यभूतपरब्रह्मपरं उच्येत्याह—किंचाकाशेति । प्रजापतिवाक्यस्य व्यवधायकवशङ्काव्यावृत्त्यर्थमह—प्रजापतिवाक्यस्येति । ह व तेषां स्यात्—आकाशशब्दश्चेति ।

उत्तरसूत्रमवतारयितुं गङ्गामाह—अथ स्यादिति ननु कथमात्रान्तरमेव नास्तीत्युच्यते, त्रिपादीहान्ययोगव्यवच्छेदपरा प्रथमपाद एव चिदचिद्विलक्षणवस्तुसद्भावसमाधेयः । उच्यते—सिद्धिस्तादृशमयविधा साधकप्रमाणसमवाचीना साधकप्रमाणव्युदासाधीना च, बाधकप्रमाणव्युदासन साधकसत्तायत्ता सिद्धि रथ्यसी भवति तदभावे साधकमात्राधीना सिद्धिरस्यिरा । अस्थिर चास कल्पम् । अत्र प्रथमे पाद साधकसद्भावाधीनसिद्धौ दर्शितायामप्येक्योपदेशभेदनिषेधरूप-बाधकव्युदासनस्य सूत्रकारैरित. पूर्वमकृतं वात्, साधकाधीनसिद्धेरस्थिरप्राय वाजास्ती दुष्टम् । प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतमात्मनोऽत्र दृढप्रमाणसिद्ध न भवतीत्यर्थः । चतुर्थपादेऽपीदं व्यपदेश उत्तार्थोपप्रायो वेदितव्यः ॥

यदा त्रिपादा अन्ययोगव्यवच्छेदपरं च प्राप्नुयानिबन्धनमिति नानुपपत्तिः । ऐक्योपदेशात् द्वैतप्रतिषेधाच्चेति । मुक्तप्राप्यतयोक्तस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्वाच्यतया बृहदारण्यके प्रत्यभिज्ञ यमानस्य 'एष धैवानुद्रष्टव्यम्' 'सया एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय' 'नेह नानाऽस्त किञ्चन' इति जीवनेक्यप्रतिपादनात् भेदनिषेधाच्चेत्यर्थः । तत्राह 'एष ब्रह्मलोकस्सम्राडितिहोषुच' इति प्रकरणावसानं तस्य परमात्मनो ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशोऽवगम्यते, चशब्दसमुच्चये ऐक्योपदेशभेदनिषेधयोः प्रत्यक भेदविरोधे वात् । इतरेतरबोधो वा चशब्द एव यस्याभ्यर्थः यद्यङ्गानिर्वारकत्वात् भेदनिषेधस्य नामरूपयोर्निर्बोद्धव्येति पूर्ववद्यथाश्रुत्यनुवादः, अतएवोह नामरूपयोर्निर्बोद्धव्यमिति स्वग्रन्थे निर्दिष्टम् । आपाततोऽर्थान्तरं वे प्रतीतेऽपि न तसिद्धान्तीकर्तव्यमिति शङ्काग्रन्थस्यार्थः

सू-४३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन [१.३.४३]

## श्रीभाष्यम्

व्यपदेशादिति वर्तते, सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्माऽस्त्येव । तथा हि वाजसनेयके 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (वृ. ६.३.७) इति प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनस्सुषुप्त्यवस्थायामकिञ्चिज्ज्ञस्य सर्वज्ञेन परमात्मना परिष्वङ्ग आस्नायत 'प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्च न वेद गान्तरम्' (६.३.२१) इति तथोत्क्रान्तावपि 'प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारुढ उत्सर्जन्याति' (६.३.२५) इति 'न च स्वपत उत्क्रामतो वा किञ्चिज्ज्ञस्य' तदानीमेव स्वेनैव सर्वज्ञेन सता परिष्वङ्गान्वारोहो सम्भवति न च क्षेत्रज्ञान्तरेण तस्यापि सर्वज्ञत्वासम्भवात् ।

इति प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मनोऽर्थान्तरभूतः

सू-४४ पत्यादिशब्देभ्यः (१.३.४४)

[१.३.४४] पत्यादिशब्देभ्यः सू-४४

अयं परिष्वङ्गः परमात्मा उत्तरत्र पत्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यते 'सर्वस्याधिपतिस्सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान् । एव सर्वेश्वर एव भूताधिपतिरेव भूतपालः एव सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्मेदाय । तमेतं वेदाः । अनुचनेन । ब्राह्मणा विविदिषन्ति । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रमाजिनो लोकः । मिच्छन्तः प्रवृजन्ति' (वृ. ६.४.३२) 'स वा एव महानज आत्माऽद्यादो वसुदानः' (६.४.३३)

पत्यादिशब्देभ्यः सू-४४

अयं सर्वस्याधिपतिः पूरयति व्यपदेशादिति वर्तत इति । यथा 'अर्थशब्दोऽनुशासनम्' इत्यत्र 'केषां शब्दानाम्' इत्युक्ते 'समस्तस्यानुशासनपदस्य विभगेनानुषङ्गः तथेहापीति भावः' । सूत्रे 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः' इति सप्तमी कस्य कसादिर्निर्देश इत्यत्राह—'प्रत्यगात्मन इति' । 'अर्थान्तरत्वे व्यपदेशरूपहेत्वसिद्धेश्चापरिहारपरत्वादस्य' । सर्वस्याधिपतिर्द्वयं सार्थनिर्देशं दर्शयति अर्थान्तरभूत इति । अर्थान्तरोपपत्तिश्चत्वात् सूत्रे कण्ठोक्त्यर्थावः प्रथमोपपत्तिश्च न स्यात् । प्रायेण कण्ठोक्तिरपलभ्यते । देहस्य प्राणपरिष्वक्तत्वं शङ्कायावृत्त्यर्थं 'विशनिमेषः प्राणेषु' इति प्रकृतस्यैव सुषुप्तेर्भूतसर्जनं—'शरीरम्' इति शङ्का क्षेत्रज्ञान्तरेण परिष्वङ्गान्वारोहावाशे कृताह—'न चेति ॥

मुक्तावस्थेनाऽन्वारोह इत्यत्राह—इति चेति ।

सू-४४ पत्यादिशब्देभ्यः [१.३.४४] पत्यादिशब्देभ्यः

सूत्रे 'पत्यादिशब्देभ्यः' इति निर्दिष्टत्वात्तदनुशेषाय श्रौतपाटश्रमनादरेण 'सर्वस्याधिपतिः' इति वाक्यं प्रथममुदाहृतं सूत्रे च तथा निर्देशः 'किमर्थं इति चेत्' उच्यते कर्मसंबन्धनिर्गमस्येन सर्वेश्वरत्वादिगुणानां निरुपाधिकत्वात् । शेषकस्य 'स न साधुना कर्मणा भूयान्' इत्यादियावयस्य पूर्वं 'सर्वस्याधिपतिः' इत्यादियावय पश्चात् 'एव भूताधिपतिः' इति वाक्यम् । 'सर्वस्येश्वर' इति पर्यायवाक्यस्य 'तत्प्राणपरिष्वक्त्यानां च तन्म्रेण क्रांतीकरणार्थमवधारणरूपतात्पर्यालिङ्गतापनाय च 'पत्यादिशब्देभ्यः' इति निर्देशः । अधिपत्यादीत्यनुचितः 'पतिविश्वस्यारमेभ्यश्च' इत्यादि-

## १. श्रीभाष्यम्

२४) 'अजरोऽमृतोऽमयो ब्रह्म' (६.४.३५) इति । एते च पतित्यजगद्विधरणत्वसर्वेश्वर-  
त्वादयः प्रत्यगात्मानि मुक्तावस्थेऽपि न कथञ्चित्सम्भवन्ति । अतो मुक्तात्मनोऽर्थान्तरभूतो  
नामरूपयोर्निबद्धाऽऽकाशः । एक्योपदेशस्तु सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन  
तदात्मकत्वायुक्त इति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा.३.१४.१) इत्यादिभिर्वाक्यैः प्रति-  
पाद्यत इति पूर्वमेव समर्थितम् । हेतुप्रतिषेधश्च तत् एवेत्यनवयम् ॥

इति शरीरकमीमांसामध्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

श्रुतप्रकाशिका

मिरस्यः प्रकरणस्यैकाध्याये विशेष्यस्य परमात्मनो नारायणत्वद्योतनार्था अतएवस्य परिष्वङ्गः परमात्मिति भाष्ये  
सर्वत्र 'पतित्वेश्वरस्य' इति । प्रकरणस्य 'तस्यादिशब्दाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति परमात्मशब्दः  
स्फोरयति । मुमुक्षुषास्यैव रूपमहागुणर्वाचिशब्दत्वात् पत्यादेशशब्दैरसह 'तमेतम्' इत्यादिवैक्यमुपोत्तम् 'अन्नादिः'  
अन्नदः आर्षेय्योदिशब्दोक्तानां धर्माणां मुक्तव्यावर्तकत्वं दर्शयति । एते चेति । मुक्तस्य जगद्व्यापाररहितत्वात्सम-  
वेतीत्यर्थः किं जीवमात्रादर्थान्तरत्वे विप्रतिपत्तिः । उत मुक्तादर्थान्तरत्व इति विकल्पे प्रथमं शिरःपूर्वसूत्रेण प्रयुक्तम्  
अनेनतु द्वितीये शिर इति विभागः । यद्वा सूत्रद्वयोर्कर्मैर्मुक्तव्यावृत्तिसिद्धिः कथमित्यत्राह—एते चेति । एतच्छब्दः  
सूत्रद्वयोदाहृतगुणपरः अत आदिशब्दे परिष्वङ्गान्वारोहावन्तर्भूतो सुषुप्त्युक्तान्त्योः परिष्वङ्गस्यान्वारोहस्य च जगद्व्यापा-  
रान्तर्भूतत्वान्मुक्तस्य तद्रहितत्वाच्च, तौ च तस्मिन्नसम्भवतः एते अकर्मसंपाद्या इति चाभिप्रायः । 'स न साधुना  
कर्मणा भूयान्' इति श्रुतत्वात् । तेन बद्धा मन्यसम्भवः मुक्तैश्वर्यस्य जगद्व्यापारवैक्यत्वात् मुक्तात्मन्यसम्भव इत्यर्थः  
एवमनेन सूत्रद्वयेन परमात्मने श्रिदचिद्वैलक्षण्ये क्षीमाणदास्यस्योपपादितत्वात् एक्योपदेशभेदानिषेधौ तदनुरोधेन वर्णनी-  
याविति शङ्कावर्जं परिहृतं भवति । एतावदेवैतदधिकरणकृत्यम्, एवं प्रबलतरभेदमुत्पन्नुरोधेन निर्वाह कर्तव्यः सत्य-  
क्योपदेशभेदानिषेधयोरमुख्यतयाऽपि निर्वाहे प्राप्ति सूत्रकारैरेव श्रुतितोऽर्थस्य वक्ष्यमाणं श्रुतिसिद्धे मुख्यनिर्वाहं तत्रैव  
प्रसङ्गे पूर्वमेव निवेदितमिह स्मारयति एक्योपदेशस्त्विति । कार्यकारणैक्यानिबन्धनः नतु जीवेश्वरैक्यानिबन्धन इत्यर्थः ।  
ततएव कार्यकारणैक्यादेव एक्योपदेशशेषत्वात् भेदानिषेधश्रुतिश्च कुतः सिद्धकार्यकारणभेदप्रतिषेधपरः सः । अत्रादि-  
निषेधस्य प्रकायैक्यानिबन्धनत्वमप्यर्थसिद्धम् । प्रकरिप्रकारिभावस्य जाकारणत्वनिर्वाहकत्वात् । तत्रारम्भणीदिकरणे कार्य-  
कारणैक्यसमर्थनं भूतं तनैक्योपदेशस्य मुख्यत्वमर्थम् । सामानाधिकरण्यास्य शरीरशरीरभावनिबन्धनं च अवस्थिते-  
रिति काशकृत्स्नः इति वक्ष्यते तत्राकृतिनयगोचरतया मुख्यत्वसमर्थनं चिद्विषयमचिद्विषयं च । अंशो नानाद्वये-  
वेशात् । उभयव्यपदेशात् इत्यधिकरणद्वयेन कृतम् । एव वक्ष्यमाणो मुख्यनिर्वाह इह स्मारितः । पादद्वयोक्त-  
मर्थमभिप्रेत्याह—इत्यनवयमिति ॥

परस्तु 'सुषुप्त्युक्तान्त्योः' इत्यादिसूत्रद्वये बृहदारण्यके 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमेयः' इत्यादिप्र-  
करणविषयमधिकरणान्तराध्याख्यातम् । तत्रचोपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शरीरलिङ्गदर्शनादुपसंहरिच



## भुतप्रकाशिका

‘ स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणिषु ’ इति शरीरापरित्यागो-मध्यं च सुषुप्त्यादि संसारिक-  
तत्तदुपस्थाप्रतिपादनादत्र संसारिस्वरूपं प्रतिपाद्यमिति पूर्वपक्षं कृत्वा ‘ सुषुप्त्युत्क्रन्त्योः ’ प्राज्ञादेदव्यपेदे न पत्यादि-  
शब्देभ्यः संसारिस्वरूपं प्रतिपाद्यमिति सिद्धान्त उक्तः । उपक्रमेण शरीरलिङ्गकथनं नुव दत्तं तस्य पूर्णं ब्रह्मण्येवोप-  
देशार्थं कथनम् ‘ योऽयं विज्ञानमयः ’ ‘ स वा एष महानज आत्मा ’ इति परमेश्वरेणैकव्यमुपदिश्यते । अत ऊर्ध्वं  
‘ विमोक्षायैव ब्रूहि ’ इति पदेपदे प्रश्नात् ‘ अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोद्भायं पुरुषः ’ इति पदेपदे पुण्येनानन्वागत-  
त्वादिकथनरूपप्रतिपत्तौ च । असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरत्वासादिरिति शरीरालिङ्गदर्शनपरिहारश्चोक्तः । एवमधिकरण-  
भेदवर्णनमयुक्तम् । द्वितीयतृतीयपादान्तर्गत अधिकरणात्सूत्रैकत्वात् निरूपणीयाभावाच्च । नह्यत्र सूत्रद्वये प्रतिशावाक्यं  
भूयते विवक्षिततत्प्रकरणस्य धर्मिवाचिशब्दाभावात् प्रतिक्षेप्य व्युदासकशब्दाभावाच्च, ‘ ईक्षतेर्नाशब्दम् ’ ‘ आनन्द-  
मयोऽभ्यासात् ’ ‘ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ’ इति हि सूत्रशैल्या, अतोऽत्र तयाभावाभावादध्याहरस्यात्, सचानध्या-  
हारेण निर्वाहे समवत्यनुपपन्नः । इह च पूर्वप्रकृतसाध्यहेतुसमर्थकत्वेऽध्याहारोऽनेपक्षितः । चतुर्थेऽपि पाठेऽधिकरणान्त-  
रारम्भेषु धर्मिवाचिपदाश्रयण नदोषः, तस्य प्रधानादेः प्रतिपाद्यव्युदासपरवाद्धर्मिवाचिपदनैरप्युक्तं ‘ आनुमानिक-  
मप्येकेषाम् ’ इति चेत्तेति ‘ न सख्योपसंग्रहादपि ’ इति च व्युदसनप्रतिज्ञा भूयते । नेति पदस्योत्तरत्र अनुपक्षेऽपि  
नदोषः । प्रधानादिपरत्वव्युदासस्य परमात्मपरवोपपादनशेषवात् परमात्मपरवस्य प्राधान्येन प्रतिपिपादाय पिततया  
सर्वत्र ताद्विवक्षाया प्रतिशावाक्यश्रवणात् क्वचिदध्याहारदर्शनेऽपि गत्यन्तररद्भेदसति रत्नमात्र इव निर्वाहेऽनुपपन्नः ।  
अतः परमात्मपरवसमर्थनपराधिकरणवैरूप्यादयुक्तम् । निरूपणीयाभावश्च अधिकरणान्तररूपस्य सदिग्धे हि व्याप-  
कृतिः यत्रैकस्मिन्वाक्ये प्रकरणे वा परस्परविरुद्धार्थद्वयं प्रधानप्रतिपाद्यतया प्रतीयते, तत्र सन्देहे सति न्यायावतापः इह  
च तादृशसंशयविषयो न दृश्यते ॥

तथाहि ज्ञानं स्वप्राप्यस्याप्रतिपादकवाक्यानां जीवाविषयं न न सशयपदं, नच तदपाकृते इवयम् अतस्तन्निरूपण-  
परत्वमधिकरणस्यायुक्तं ‘ असङ्गोद्भायं पुरुषः ’ इत्यादिवाक्यानां शुद्धस्वरूपपरवमपि न सन्देहपदम्, निरवधिक नन्द-  
निरङ्कुशैश्वर्यप्रतिपादकानां ‘ स एको ब्रह्मलोक आनन्दः ’ ‘ सर्वस्य वशी सर्वस्येशान ’ इत्यादिवाक्यानां परमा-  
त्मपरत्वेऽपि न सन्देहः अत एतत्समर्थनमपेक्षितम् । समानाधिकरणवाक्यानां ब्रह्मात्मकत्वोपदेशपरत्वेऽपि न विषय इति  
न तत्समर्थनार्थमधिकरणारम्भो युक्तः । जीवस्वरूपकथनं ब्रह्मात्मकविषयानामनुवाद इत्ययमर्थो निरूप्यते इति चेन्न,  
प्राप्तार्थानां वाक्यानामनुवादकत्वस्य अप्राप्तार्थानां विषादकत्वस्य च स्वत एव स्पष्टं । नह्यह ‘ अग्निर्हिमस्य भेष-  
जम् ’ इत्यस्य वाक्यस्यानुवादकत्वं ‘ स्वर्गकामो यजेत ’ इति वाक्यस्य विषित्वं चात्र निरूपणीयम् अतः जीवरूपक-  
थने प्राप्तविशेषगोचरेनुवादत्वं न समर्थनीयम् अप्राप्तधर्मप्रतिपादनस्य विषित्वं च न साध्यम् । विहितधर्मनिषेधेन स्वरू-  
पैक्यप्रतिपादनं चानुपपन्नम् । सूत्राक्षरप्रातिकूल्याच्च, नह्यसूत्रद्वयं ब्रह्मात्मकवोपदेशसमर्थनपरं देहसमर्थनं च ह्यक्षर-  
स्वारस्यादवगम्यते ॥

नच मृगायाद्यभिमतं ब्रह्मात्मकत्वमस्मिन्प्रकरणे दृश्यते ‘ स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय-  
स एषोऽन्तर्हृदयआकाशस्तास्मिंश्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानस्तस्यैव्याधिपतिः ’ इतीश्वरत एवोपदेशपरवाक्य-  
मात्रं तन्मतेऽधिष्ठानतादात्म्यं व्युपदिश्य नहीश्वरोऽशेषव्यगदध्यासादिष्टं न ईश्वरस्यापि न प्राप्तेः इति चेन्न । नहि  
रसुक्ष्मस्वरूपस्य कस्मिन्मूढलनाभ्युपगमादिष्टानम् । किंच ईश्वराध्यस्तजीवदर्शनं नेश्वरकर्मणम् ईश्वरस्य सर्वज्ञतया स्वार्थो

## भूतप्रकाशिका

पिताकारविषयभ्रमानुपपत्तेः । नचा-यकर्तृक अधिष्ठानभूतेश्वरस्य सद्योपगोचरत्वात् । अधिष्ठानानवभासेऽप्यस्तप्रतीतिरूपपद्यते, घटस्सन् पटस्सन् इति सन्मात्रमेवाधिष्ठानतयाऽनुवृत्तमवभासत इति च तदीयप्रक्रिया नर्विश्वरसोऽधिष्ठानतया प्रतीयत इति, अनसर्वभूदलनयोरन्योऽन्यतादाभ्यापदेशवत् जीवेश्वरतादाभ्यापदेशोऽनुपपद्यतः । ईश्वरधर्माश्च अविधक्षिता इति चेत् पदानां लक्षणा, किंच अप्राप्तानां धर्माणामनुवादासम्भवाद्बिहितस्य निदेशायोक्तं 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल' इति ता पर्यालङ्घनदर्शनाच्च तेषां धर्माणामविधक्षितत्वं दुर्वचम् । सिद्धान्त्यमिमत्तु तादात्म्यतदुपासनचोत्तरत्र निरूपयिष्यते । अतस्सूत्राक्षरप्रातिकूल्यात् सद्योविषयभावात् स्वामितार्थशरीरस्यानुपपन्नत्वात् प्रामाणिकतादात्म्यनिरूपणस्यान्यत्र क्रियमाणवाचकाशब्दनिर्दिष्टस्य परमात्मवोपपत्तकसूत्रद्वयमिति सिद्धम् ॥

यादवप्रकाशपक्षेऽपि निरूपणीयभावादनारम्भणीयत्वदोषः स्थितः । पूर्वपक्षसिद्धा-तदर्शनप्रकारभ्रानुपपन्नः, परिवर्धनान्वारोहाभ्यां प्राज्ञस्यात्मनश्शरीरान्नेदः स्थित इति विषयशोधकमाद्यसूत्रव्याख्याय स प्राज्ञः किं मोक्षं विद्या कर्मातिशयलब्धो जीवः उत पर इति विशयं भोक्तुर्विज्ञानमयस्य प्रकरणस्य तथा वाशिवेश्वरान्वादीनां विद्याकर्मलक्षणा जीवत्वमुक्तत्वा पत्यादिशब्दानां शास्त्रान्तरे परमात्मविषयवददर्शनादन्यत्र सुषुप्तौ परमात्मनि संपत्तिश्रवणाच्च परमात्मवसाधितम् तत्र तावदाद्यसूत्रव्याख्यानमयुक्तम्, विषयशोधकत्वमात्रे सूत्रवैयर्थ्यात् । पूर्वपक्षपरत्वे शाब्दस्य हेतोर्विद्वत्त्वात् भोक्तुः प्रकृततया कर्माधीनैश्वर्यवस्य पूर्वपक्षहेतोरशाब्दत्वाच्च तच्छब्दाव्युदरुनासमर्थभेदानुभाषणे प्रयत्ननाभावात् सूत्रवैयर्थ्यम् । किंच शरीरात् मेदको परिवर्धनान्वारोहो प्राज्ञकर्तृको भूयत । प्राज्ञवच्च स्वाभाविक, पतिघातयश्च स्वामाविका एवात्र प्रतिपाद्यन्ते उपाध्यनुक्ते तथैव 'स न साधुना कर्मणा भूयान्' इत्युपनिषदाच्च । अतस्तदनादस्य पत्यादिशब्दानां शास्त्रान्तरप्रतिद्वया परमात्मसाधकवोचिरुद्धता । रूढिद्वयस्वादरतु यद्यपि प्रकृतस्य जगत्कारणत्वावगमकः तथाऽपि कारणस्य चिदाचिद्वैलक्षण्यतु सवादनिरोपेक्षहेतुः प्राज्ञत्वनिर्वाचकैश्वर्यवत्त्वं च, यद्यपि हेतुकनिरङ्कुशैश्वर्यमपि श्रुत्यन्तरसवादसोपेक्ष, तर्हि श्रुत्यन्तरेषु कथमाश्वासः तत्रापि सवादा-न्तरापेक्षणेऽनवस्था स्यात् । एतच्छ्रुत्यपेक्षणेऽन्योऽन्यथाश्रयस्यात् । अतोऽधिकरणान्तरकल्पनं तन्निर्वहणचानुपपन्नम् । अतस्सूत्रत्रयमेवाधिकरणम् ॥

## इति अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्



## गूढार्थसंग्रह

'ज्योतिर्दर्शनात्' इति सूत्रे सर्वावभासकज्योतिषः विवक्षितत्वेन 'परज्योतिः' इत्यत्र ज्योतिषः तादृशतया मुक्तप्राप्यं ज्योतिरेव 'नतत्र सूर्यो भाति' इत्यत्र विवक्षितम् । मुण्डके च ज्योतिषा ज्योतिष्मन्निरूपणार्थं प्रवृत्तायाः 'नतत्र सूर्यो भाति' इति श्रुतेरनन्तरं मुक्तस्य ज्ञानेन ब्रह्मसाम्यमपि प्रतिपाद्यते । दहरविद्याया अपतपाम्मत्वाद्यष्टकविशिष्टत्वेन परमात्मानमाभिधाय जीवस्यापि तद्वर्तमानत्वेन प्रजापतिविद्याया प्रतिपादितत्वेन मुक्तः समानधर्मा बुद्धिस्थ इति प्रजापतिवाक्यानन्तरवाक्ये 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निवहिता' इति परमात्मन्यप्याकाशशब्दस्य रुद्ध्या प्रवृत्तेरसम्भवेन योगेनैव प्रवृत्तेः आकाशाधिकरणे निर्णीततया 'धूवा शरीरमकृतं कृता मा' इति तदनन्तरपूर्वश्रुतौ 'मुक्तस्य प्रस्तुतत्वेन प्रस्तुते मुक्ते परमात्मत्वेन बुद्धिस्थाकाशशब्दयोगाभ्योऽपि सम्भवति । मुण्डके च 'नाम

## गूढार्थसंग्रहः

रूपादिमुक्तः—दिव्यम्—इत्यभिधानेन 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इत्यत्र नामरूपविमोक्त एव विवक्षित इत्याक्षेपे प्राप्ते अर्थान्तरत्वाधिकरणं प्रारम्भ्यते ॥

अन्यः अर्थः अर्थान्तरम् पूर्वं नामरूपसम्बद्धं यः जीवः सः परमा माधीनरूपनामरूपधानेव, तस्य नामरूप-विनिर्मीकोऽपि सङ्कल्पाधीनः, इति तद्विलक्षण एव नामरूपयोर्निर्वहिता 'ते यदन्तरा' इत्यत्र विवक्षितः । निर्वोदा इत्यर्थः नामरूपसम्बद्धस्य जीवस्य तदभावमात्रेण तद्विवोदित्वं सम्भवति 'ते यदन्तरा' इत्यत्र कर्ममूलकनामरूपसम्बन्धाभाव एव विवक्षितः । ततो जीवद्वैलक्षण्यम् मुक्तस्य पूर्वं नामरूपसम्बन्धत्वेन कालभेदेनैव 'ते यदन्तरा' इत्यस्योपपत्तिर्वाच्या ; नतु सार्वदिकं सम्भवति । अतः 'ते यदन्तरा' इत्यस्य नामरूपस्पर्शसामान्याभावेऽपि विवक्षितत्वेन तेनाप्यर्थान्तरम् 'तद्ब्रह्म' इत्युत्तरत्र वर्तते, ब्रह्मवादेऽसम्भव इत्यर्थः । एतेन आदिपदेन पूर्वमुक्तस्य यस्याश्रुता प्रतिपादनं तस्यामेव मुक्तप्राप्यत्वेनाभिधानेन प्राप्यब्रह्मनिरूपणपरत्वमस्य वाक्यस्येति प्रकरणमपि सङ्गतम् समानधर्मद्वयस्य मुक्तस्य सत्त्वेऽपि नामरूपनिर्वोदित्वकथनेनैव मुक्तगतधर्मसामान्यस्यापि निर्वाहकत्व-परमात्मन एव विवक्षितम् । ब्रह्मशब्दार्थबृहत्त्वे 'मुक्तधर्मभूतज्ञानविकासस्यान्तर्भूततया परमात्मसङ्कल्पाधीन एव प्रकाशः' इत्येति निरुपाधिकप्रकाशवान् परमात्मैव ॥

आकाशशब्देन प्रस्तुतस्य आकाशशब्दार्थस्यैव 'सुषुप्त्युक्क्रान्त्योः' जीवभेदप्रतिपादनात् जीवानां 'पत्यादिशब्देभ्यः' स्वामित्वप्रतिपादनाच्च जीवभिन्नः परमात्मैव विवक्षित इत्यभिप्रायेणैव सूत्रत्रयमेतदधिकरणं रूपं स्यात् । ज्योतिःशब्दार्थस्य पूर्वं बुद्धिस्थितया ब्रह्मसमानधर्मवत्त्वेन प्रतिपन्ने मुक्तेऽपि प्रकाशमानत्वप्रकाशकत्वयोः सम्भवेनैवैक शब्दार्थद्वयनिरासः पूर्वसूत्रेण कृतः । प्रमिताधिकरणेऽपि 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा—ज्योतिरिवाधूमकः ईशानो भूतमध्यस्थः' इत्यत्र जीवानुवादेनैव भूतमभ्येति तृपरमात्माभेदः अभिधीयते ॥

उपसहारे 'अङ्गुष्ठमात्रः—हृदये सन्निविष्ट—तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुक्तादिवेषिका धैर्येण' इत्यत्र पूर्वार्धे जीवपरम् 'तं स्वाच्छरीरात्' इत्यत्र शरीरापृथक्करणं विवक्षितम् 'तं शुक्रममृतम्' इत्यत्र जीवस्य परमात्माभेदः उपसहारे जीवमनूय परमात्मोपसहारेण 'अङ्गुष्ठमात्रः' इति पूर्वमपि जीवमनूय परमात्माभेद एव विधीयते । किंच 'ज्योतिर्दिशं नात्' इति सूत्रे 'परज्योतिः' इति श्रुतेरपि विवक्षितत्वेन 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यत्र मुक्तस्य परमात्माभेदप्रतिपादनेन जीवभिन्नस्य परस्यैवाभावेन जीववैलक्षण्यं न सिद्धयतीति शङ्काया 'सुषुप्त्युक्क्रान्त्योः' इति सूत्रद्वयम् । 'सुषुप्त्युक्क्रान्त्योः' इत्यत्र 'प्राज्ञेनात्मना सपरिवृत्तः, प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारुढः' इति श्रुतिद्वयं परैरप्युदाहृतम् । अजातशत्रुब्राह्मणान्ते सुषुप्तं प्रस्तुत्य 'स एकोऽन्तर्हृदयआकाशस्तस्मिन्नेते' इत्यभिधाय 'हितानामनाढ्यः द्वासप्ततिसहस्राणि इत्यादिमुक्तम् । ज्योतिर्ब्राह्मणे 'हितानामनाढ्यः' इत्यादिकमभिधाय तदत्राविद्यायामन्यते अथ यत्र देवइव राज्ञश्च अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते' इत्याद्यनन्तरं प्राज्ञेनात्मना सपरिवृत्तः, नवाह्यं किंच न वेद नान्तरम्' इति तदुत्तरं तद्ब्राह्मणान्ते 'प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारुढः उ सर्वं याति' इति श्रूयते, अत्रोभयत्राजातशत्रुब्राह्मणान्ते सुषुप्तौ आकाशशब्दार्थपरमात्मसम्बन्धिन एव हितानामनाढ्यसम्बन्धप्रतिपादनेन ज्योतिर्ब्राह्मणे सुषुप्तौ हितानामनाढ्यसम्बन्धस्य पूर्वमभिधानेन आकाशशब्दार्थपरमात्मसम्बन्धी जीव एव विवक्षित इति स्पष्टम् । तदन्ते 'प्राज्ञेनान्वारुढः' इत्यत्रापि स एव विवक्षितः । आकाशशब्दार्थपरमात्मसम्बन्धी जीवः परमात्मनो मिथ एव, सुषुप्तौ परमते अन्तःकरणादित्यस्य प्रतिपादनेन 'सर्ल्लपकोऽदृष्टा भेदेतो मनुति' इत्येकत्वस्य विवक्षणेन 'अपायं तु जैमिनिः' इति सूत्रमाध्वे सुषुप्तौ लयान्तरं प्रवेशे सूत्रे वेदान्तेऽपि

(५.१.३) : गूढार्थसङ्ग्रहः ॥ १३-१० ॥

धानेन सुषुप्तौ जीवभेदस्य परमात्मनि स्पष्टं स्मृतिषु प्रतिपादनेन तत्सिद्धान्तः। 'सुत्याद्यननुगुण इति स्पष्टम् ।' 'कृतम् आत्मा योऽयं विज्ञानमयः' इति पूर्वप्रस्तुतजीवस्य 'सवा एष महानज आ मा योऽयं विज्ञानमयः' इति परमात्माऽभेदस्य बुबोधापिपित इति शङ्कानिरासाय 'पत्यादिशब्देभ्यः' इति ॥

'सवा एष महानजः' इत्यस्यामेव श्रुतौ 'यएयोऽन्तर्हृदय आकाशः, सर्वस्य वशी' इत्याद्यभिधानेन पूर्वजीव भिन्नत्वेन प्रस्तुपरमेव निर्दिश्य 'सर्वस्य वशी, सर्वस्याधिपतिः' इति जीवाधिपतित्वाभिधानेन 'सवा एष महानज आ मा' इत्यत्र जीवस्य परमात्माभेदः सर्वथा न घटत इति सिद्धम् । आकाशशब्दार्थस्यैव सूक्ष्मद्वये जीवभेदस्य प्रतिपादनेनात्र सूक्ष्मद्वये अधिकरणभेदकल्पना अनुचितः । एवं च 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यत्रापि प्राप्य एव पुरुषः प्रतिपिपदा यिषितः । 'अद्भुतमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा' इत्यत्र 'पुरुषान्नपरं किञ्चित्' इत्यादौ पुरुषशब्दस्य परमात्मापरत्वस्य पेरप मापि समततया 'सवा अयं सर्वासु पूर्णं पुरिशयः' इत्यत्रोक्तनिर्वचनसिद्धार्थस्य तत्रैव सम्भवेन 'अर्भकौकस्वात्' इति सूत्रे अद्भुतप्रमितत्वस्य हृदयपरिमाणनिर्वचनत्वोक्त्या परमात्मापरत्वे विरोधाभासेन 'जनामां हृदये सन्निरिष्ट' इत्यत्र सर्वजनहृदयवृत्तिवत्त्वस्य एकस्यैव प्रतिपादनेन 'सर्वस्य चाहम्' इति गीतानुसारेण जीवे सर्वजनहृदयसम्बन्धस्यासम्भवेन पूर्वाधे परमात्मेव विवक्षितः 'तं स्वाच्छरीरात्' इत्यत्र पुरुषशब्दस्य सर्वशरीरबोधकत्वेन स्वशरीरसूता चेतनादिय जीवादिपि पृथक्करणं विवक्षितम् । सविशेषस्यामृतत्व न सम्भवतीत्याक्षेपपरिहाराय 'तं विद्याच्छुक्रममृतमिति' जीवस्यैव जननमरणयोरसम्भवे का कया परमात्मनः ? धर्मधर्मिसम्बन्धानां भिन्नतया सम्बन्धविगमेऽपि धर्मिणः न नित्यत्वहानिः— इत्याशयः । 'प्राप्तेना मना' इति श्रुत्युक्तसपरिध्वक्ताविरोद्धार्थः, 'सलिल एको द्रष्टा' इत्यत्र नैव वर्णयितुं शक्यः— 'ततोऽन्यद्विमत्तं यत्परयेत्' इति सुषुप्तिप्रकरणे वाक्यसत्त्वेनाद्वैतशब्दस्य पृथगवभासानर्हनीर-प्रसङ्गेपरूपीवभागे एवेति सूत्रकाराशयः ॥

इति अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिरणम्

अथ वेदान्तसारः

(५.१.३)

सू-४२ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् (१.३.४२)

'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता वे यदन्तरा तेदृक्' (छां. ८.१४.१) इत्यादिना निर्दिष्ट आकाशः 'धू वा शरीरमकृतं कृतात्मा' (८.१३.१) इति प्रकृतात्प्रत्यगात्मनः परिशुद्धादर्थान्तरभूतः परमपुरुष, नामरूपयोः निर्वोदुक्ततदस्पर्शरूपार्थान्तरत्वामृतत्वादिव्यपदेशात् ॥

'तत्त्वमस्यादिनैक्योपदेशात् प्रत्यगात्मनो नार्थान्तरभूतः परमपुरुष इत्याशङ्क्याह—

सू-९३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन (१.३.४३)

'प्राप्तेना मना सपरिध्वक्तः न बाह्य किञ्चित् वद नान्तरम्' (वृ. ६.३.३९) 'प्राप्तेना मनाऽचारुदः' (६.१.१५) इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः बाह्यान्तरविषयानभिज्ञात्प्रत्यगात्मनः । दानामेव प्राकृत्या भेदेन व्यपदेशादर्थान्तरभूत एषा ॥



### सू-४४ पत्यादिशब्देभ्यः (१.३.४३)

परिष्वङ्गके प्राप्ते श्रूयमाणेभ्यः पत्यादिशब्देभ्यश्चायमर्थान्तरभूतः ' सर्वस्याधिपतिः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः ' (बृ.६.४.२२) इति उत्तरत्र श्रूयते, ऐक्योपदेशेऽपि ' अवस्थितेरिति काशकृ स्नः ' (छा.१.४.२२) इत्यनेन जीवस्य शरीरभूतस्याऽऽत्मतयाऽवस्थितेरिति स्वयमेव परिहरिष्यति ॥

इति वेदान्तसारः

अथ वेदान्तदीपः

### सू-४२ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् (१-३-४२)

छान्दोग्ये—' आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा ' (छा.८.१४.१) इत्यत्र आकाशशब्दानिर्दिष्टः किं मुक्तात्मा उत परमात्मा ? इति सशयः । मुक्त इति पूर्वपक्षः ' धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिषम्भवानि ' (८.१३.१) इति मुक्तस्यानन्तरप्रकृतत्वात् । राद्धान्तस्तु—' नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा ' इति स्वयमस्पृष्टनामरूपतया नामरूपयोर्निर्वोदृत्वेन श्रूयमाणोऽयमाकाशो बद्धमुक्तोभयावस्था प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वात्परमात्मैव । सूत्रार्थस्तु आकाशः परमात्मा, तस्य नामरूपयोर्निर्वोदृत्वं तदस्पर्शलक्षणाद्यन्तरव्यपदेशात् ; प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूत एव नामरूपयोर्निर्वोदृत्वं बद्धावस्थस्तावन्नामरूपाभ्यां स्पृष्टस्तत्परवशमेति नानिर्वोदृत्वा ; मुक्तस्यापि जगद्व्यापाररहितत्वात् निर्वोदृत्वं आदिशब्देन निरुपाधिकब्रह्मत्वामृत्वा मवादीनि गृह्यन्ते ; तानि निरुपाधिकानि मुक्तस्यापि न सम्भवन्ति ॥

ननु तत्त्वमस्यादिनैक्यव्यपदेशात् ' नेह नानाऽस्ति ' इति भेदप्रतिषेधाच्च न प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मा स्यादुच्यते—

### सू-४३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन (१-३-४३)

' व्यपदेशात् ' इति वर्तते ' प्राप्तेनात्मना सपरिष्वक्तः ' (बृ.६.३.२१) ' प्राप्तेनात्मनाऽम्बारुदः ' (६.३.२५) इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः द्रुतसकलविशेषविज्ञानाप्रत्यगात्मनस्तदानीमेव सर्वज्ञतया भेदव्यपदेशात्प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूत एव परमात्मा ॥

### सू-४४ पत्यादिशब्देभ्यः (१.३.४४)

परिष्वङ्गके प्राप्ते श्रूयमाणेभ्यः पत्यादिशब्देभ्यश्चायं प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मा ' सर्वस्याधिपतिः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः ' इत्यादौ ऐक्योपदेशभेदप्रतिषेधोक्तं ब्रह्मकार्यत्वनिबन्धनायिति ' तज्जलानिति—सर्वं जलवद ब्रह्म ' (छा.१.१४.१) इत्यादिश्रुतिभिरेव व्यक्ती ॥

इति वेदान्तदीपः

इति अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्

इति श्री शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादस्तमाप्तः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्याये

चतुर्थःपादः

अथ आनुमानिकाधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

सू-१ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीते  
दर्शयति च (१-४-१)

उक्तं परमार्थलक्षणमोक्षसाधनतया जिज्ञास्यं जगज्जन्मादिकारणब्रह्माचिद्व-  
स्तुनः प्रधानदेशेतनाद्यवद्वमुक्तोभयावस्थाद्विलक्षणं निरस्तसमस्तहेयगन्धं सर्वं  
शक्तिं सत्यसङ्कल्पं समस्तकल्याणगुणात्मकं सर्वान्तरात्मभूतं निरङ्कुशैश्वर्यमिति ।

अथ आनुमानिकाधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

सू-१ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीते  
दर्शयति च (१-४-१)

प्रथमपादाद्विदचिद्विलक्षणकारणवायोगव्यवच्छेदपरः, अन्ययोगव्यवच्छेदपरायां त्रिपाद्यामस्पष्टस्पष्टजीवादिभिरङ्क-  
षाव्यविषयौ द्वितीयतृतीयौ स्पष्टतरजीवादिप्रतिपादकवाक्यविषयश्चतुर्थ इति पादसङ्गतिः द्वितीयपादारम्भे कथिता । सूत्रका-  
रेण अन्ययोगव्यवच्छेदस्य त्रिपादीकृत्याय चतुर्थपादारम्भे कष्टोक्तम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' इति श्रुतम् ।  
अतो भाष्यकारश्चतुर्थपादारम्भे त्रिपाद्यस्य स्पष्टीकरणश्रुतेन सङ्गतिं विवक्षन् प्रथमपादार्थानुभाषणपूर्वकं द्वितीयतृतीययोरर्थ-  
वृत्तं दर्शयति उक्तमिति । प्रधानादेरित्यादिशब्देन प्राणकाशादिग्रहणविलक्षणमित्यन्तेन प्रथमपादार्थं उक्तं, विलक्ष-  
ण्यचोभयलिङ्गतयेति दर्शयन् द्वितीयतृतीययोरप्यर्थं दर्शयति निरस्तेत्यादिपदैः । समस्तशब्देन चिद्वस्तमचिद्वस्तं च हेय-  
विवक्षितम्, गन्धशब्देन मुक्तव्यावृत्तिः, समस्तकल्याणगुणान्तरात्मकमिति पदधर्मिस्वरूपपरम्, सर्वशक्तित्यादिपदैर्द्वितीय-  
पादार्थं सूचितः 'यत्सर्वज्ञः' 'भारूपसत्यसङ्कल्पः' इत्यादिवाक्यजाता हि ताद्विषयः । अन्तर्यामिवैश्वानरशुभ्वाद्य-  
धिकरणभिन्नमर्थमाह--सर्वान्तरात्मभूतमिति । 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति सुबालोपनिषद्व्याख्यातयांमिविषयतया  
भूयमाणत्वात् 'पद्भ्यां पृथिवीहोप सर्वभूतान्तरात्मा' इति मुण्डकोपनिषद्व्याख्याय पक्षत्वेनोपयासात्त समर्थनाच्च ।  
निरङ्कुशैश्वर्यमिति तृतीयपादार्थं सूचनं 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशाशने गार्गि' 'ईशानो भूतभव्यस्य' 'सर्वस्य

### श्रीभाष्यम्

इदानीं कापिलतन्त्रसिद्धाग्रह्यात्मकप्रधानपुरुषादिप्रतिपादनमुखेन प्रधानकारणत्वप्रतिपादनच्छायाऽनुसारीण्यपि कानिचिद्वाक्यानि कासुचिच्छाखासु सन्तीत्याशङ्क्य ब्रह्मैवकारणत्वस्थेने तन्निराक्रियते । कठवल्लीष्वास्त्रायते—' इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिबुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषाक्षपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ' (कठ.१.३.१०.११) इति । तत्र सन्देहः—किं कापिलतन्त्रसिद्धमग्रह्यात्मकं प्रधानमिहाव्यक्तशब्देनोच्यते, उत न इति । किं युक्तम् ? प्रधानमिति कुत ? ' महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ' (१.३.११) इति तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानेन तस्यैव प्रतीतेः, ' पुरुषाक्षपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ' (१.३.११) इति पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वनिषेधाच्च । अतोऽव्यक्तं कारणमिति प्राप्तम् । तदिदमुक्तम्—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेत्—इति । एकेषां शाखिनां शाखास्वानुमानिकं प्रधानमपि कारणमास्त्रायत इति चेत्—

### श्रुतप्रकाशिका

वशी सर्वस्येशानः' इत्यादिवाक्यजातहिर्तद्विषयोः । वर्तिष्यमाणमाह—इदानीमिति । प्रधानकारणत्वप्रतिपादनच्छायानुसारिणीति । न केवलं लिङ्गप्रतिपादनानि, किंतु लिङ्गिनामेव प्रथमं नादीनां उग कारणव्यतिपादनं शङ्काऽऽदानीति अतो जीवादिविषयतायाः स्पष्टतरत्वमिति भावः । प्रधानपुरुषादिप्रतिपादनमुखेन प्रधानकारणत्वप्रतिपादनच्छायाऽनुसारीणीति । प्रधानपुरुषादिस्वरूपप्रतिपादनप्रकारः तन्त्रार्थप्रत्यभिज्ञापकः, तेन प्रधानकारणत्वप्रतिपादनफलितमित्यर्थः ॥

ब्रह्मैवकारणत्वस्थेन इत्यत्र एकशब्देन त्रिधाया अन्ययोगव्यवच्छेदपरत्वं सूचितम् । स्थेन इत्यनेन चतुर्थपादार्थसूचितः, पूर्वपादद्वयप्रतिपत्तस्यान्ययोगव्यवच्छेदस्य स्थैर्यमस्मिन्पादे प्रधानादिकारणव्यतिपादेन व्युत्तरने कृते हि भवति । अत्रानन्तरपूर्वाधिकरणे मुक्तादपि वैलक्षण्यमुच्यते—तदुक्तं प्रत्यगात्मानं परस्य निष्ठादिति शङ्कया अन्तरसङ्गतिरिति चार्थसिद्धम् बद्धमुक्तोभयावस्थाद्विलक्षणमिति ह्युक्तम् । विषयमह—कठवल्लीष्विति । तत्र सिद्धतत्त्वप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञाभावजनकानि वाक्यानि विषयः । तन्त्रसिद्धमतद्विषयप्रतीतिर्यथा शङ्कया, सिद्धा ते अव्यक्तशब्दस्य प्रधानवाचकत्वामावात् उत नेति सशयशिरोऽन्तरं कृतम् अन्यथा उत ब्रह्मात्मक प्रधानमिति हि शिरोऽन्तरं वक्तव्यम् । कठवल्लीषामग्रह्यात्मकप्रधानकारणत्वप्रतिपात्तिरस्ति नवेति प्रथमविचारोऽभिप्रेतः । तदर्थे ' इन्द्रियेभ्य परा ' इत्यत्राव्यक्तशब्दः किमग्रह्यात्मकप्रधानपरः उत नेति विचारः, तदर्थं किमस्मिन्मन्त्रे तन्त्रसिद्धतत्त्वगणनं क्रमप्रत्यभिज्ञानमस्ति नेति तदर्थमव्यक्तात्पूर्वापरनिर्दिष्टमहपुरुषशब्दाभ्यां महजीवत्त्वे निर्दिश्यते उत जीवपराविति । किमिहेन्द्रियादिशब्दैः पूर्ववाक्यस्वरूपकत्वेतिन्द्रियादिप्रतिपत्तिरस्ति नेति । विमत्र परव्यवच्छेदेन उत वशीकार्येत्यति । यदा कारणभावेन तदा रूपितेन्द्रियादिप्रतिपत्त्यभावेन महापुरुषशब्दयोर्महजीवतत्त्वसमर्पकत्वा तात्रिकप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानं त्व अव्यक्तशब्देनाग्रह्यात्मक प्रधानमुख्यत इति तस्यैव कारणत्वप्रतीयत इति पूर्वपक्षः । सिद्धागतेषु यदा वशीकार्येत्यति परव्यवच्छेदः, तदा पूर्वरूपितेन्द्रियादिप्रतिपत्त्या महपुरुषशब्दयोर्महजीवपरमात्मपरत्वेन तन्त्रसिद्धप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानाभावादव्यक्तशब्दो नाग्रह्यात्मकप्रधानपर इति न तस्यात्र कारणव्यतीतिरिति परफलमात्रं । शङ्काया अनुसूत्रमाह—तदिदमुक्तमिति । शङ्काऽनुवादिन सूत्रतण्डव्याचष्टे—एकेषामित्यादिना ॥

### धीभाष्यम्

अत्रोत्तरं नेति । नाव्यक्तशब्देनाग्रहात्मकं प्रधानमिहाभिधीयते । कुतः ? शरीररूपक-  
विन्यस्तगृहीतेः शरीराख्यरूपकविन्यस्तस्य अव्यक्तशब्देन गृहीतेः । आत्मशरीरघुद्धिमन-  
इन्द्रियविषयेषु रथिरथादिभावेन रूपितेषु रथरूपणेन विन्यस्तस्य शरीरस्याव्यक्तश-  
ब्देन ग्रहणादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति-पूर्वत्र हि ' आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च  
घुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि ह्यानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् '  
इत्यादिना ' सोऽध्यनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ' (१.३.९) इत्यन्तेन संसाराध्यनः  
पारं वैष्णवं प्रेप्सन्तमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादीनि च रथरथाङ्गत्वेन रूपयित्वा यस्यैते  
रथादयो वशे तिष्ठन्ति, स एवाध्यनः पारं वैष्णवं पदमाप्नोतीत्युक्तत्वा, तेषु रथादिरूपित-  
शरीरादिषु यानि येभ्यो वशीकार्यतायां प्रधानानि, तान्युच्यन्ते ' इन्द्रियेभ्यः पराः ' (१.

### श्रुतप्रकाशिका

परिहारलण्ड व्याचष्टे-शरीराख्येति । शरीरमेव रूपकविन्यस्त रूप्यतेऽनेनेति रूपकं दृष्टान्तः । रूपकत्वेन वि-  
न्यस्तं रूपितमित्यर्थः शरीराह रथत्वेन रूपितम् ' शरीरं रथमेव च ' इति । ननु रूपकविन्यस्तशरीरगृहीतेः न वक्त-  
व्यम् विशेषणस्य पूर्वनिपातितत्वादिति शङ्कापरिहाराय शरीराख्येयुक्तम् । आसिन्वावये रूपकविन्यस्तं वस्तुप्राधान्येन  
विवक्षित विशेषणापेक्षया विशेष्य प्रधानम् अतो रूपकविन्यस्तपद विशेष्यसमर्पकम् कीदृश तदित्यपेक्षया शरीराख्यं  
रूपकविन्यस्तमिति शरीरशब्देन तद्विशेष्यते यथा लण्डशब्देन गौः अतो रूपकविन्यस्तप्राधान्याभिप्रायः शरीरशब्दपूर्व-  
निपात इत्यभिप्रायः । कानि कथं रूपितानीत्यब्रूह-आत्मेति । रूपकाभिधायिवाक्य किं रथिरथादिभावेन रूपिताना-  
मत्र ग्रहणम् तत्राप्यव्यक्तशब्देन शरीरस्य ग्रहणमिति च कथमवगम्यते रथादिवेन रूपितानामासिन्वावये कीर्तनं किम्  
यमित्यब्रूह-एतदुक्तमिति । आत्मानम् इत्यादिक रूपकाभिधायिवाक्यम् । तेषामत्र ग्रहण वशीकार्यताया प्राधान्य-  
पनार्थं स्वशब्देरेव प्रत्यभिज्ञानादथिरथादिभावेन रूपितानामत्र ग्रहणमिति ज्ञातम् । पारिशेष्यादव्यक्तशब्देन शरीरग्रहणं  
मितीदमर्थजातमुच्यते पूर्वग्रहीत्यादिना । रूपणस्य प्रयोजनमाह-यस्यैतदिति । वशीकार्यत्वप्राधान्याय रथिरथादिभ्यो  
वेन रूपणमित्यर्थः । रूपकरूपितानामिह ग्रहण वशीकार्यतायां प्राधान्याप्राधान्यप्राधान्यमित्याह-यानि येभ्य इत्या-  
दिना ।

ननु वशीकार्यताया प्राधान्यस्य विवक्षितत्वं कथमवगम्यते उच्यते-' इन्द्रियेभ्यः परा ' इत्यादिमन्त्रे परशब्द-  
स्तावन्नान्यवचनः अर्थेभ्य इन्द्रियादीनां भेदस्य लोकासिद्धत्वेन उपदेशव्यर्थ्यात् । अतः परशब्द प्रकर्षपर, प्रकर्षश्च  
न तावकारणत्वनिवन्धनः अर्थानामिन्द्रियकारणवभावात् इन्द्रियाणां विषयवृद्धिर्यतया तच्छेषवात् साध्यात्वलक्षणः  
प्रकर्ष इति च नवाच्यम् ; तथासत्यप्राधान्याय मनसः परवायोगात् । नचान्तरङ्गत्वलक्षणः प्रकर्षः इन्द्रियमनोबुद्धीनां  
तत्त्वमवेऽपि इन्द्रियापेक्षया ब्राह्मणानामर्थानां परवायोगात् । अतः पारिशेष्यादथिरथादिभावरूपेण उपरनो रूपण-  
वगमात् तत्रैव-

यस्तु विज्ञानवान्भवत्युक्तेन मनसा सह । तस्येन्द्रियाण्यवदयानि दुष्टाश्च इव सारथे ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सह । तस्येन्द्रियाणि वदयानि सददवा इव सारथे ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवत्यमनस्कसदा शुचि । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥



## श्रीभाष्यम्

३.१०) इत्यादिना । तत्र ह्यतवेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेनरूपिता विषयाः यज्ञी-  
कार्यत्वे पराः यद्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाविन्द्रियाणां दुर्निग्रहत्वात् । तेभ्योऽपि परं  
प्रग्रहरूपितं मनः, मनसि विषयप्रवणे विषयासन्निधानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्मादपि  
सारथित्वरूपिता बुद्धिः परा, अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्या अपि  
रथित्वरूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परत्वं, सर्वस्य चास्यात्मेच्छायत्तत्वादात्मैव महा-  
निति च विशेष्यते । तस्मादपि रथरूपितं शरीरं परम्, तदायत्तत्वाजीवात्मनस्सकलपुरु-

## श्रुतप्रकाशिका

यत्तु विज्ञानयान्मयति समनस्करसदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति तस्माद्भूयो न जायते ॥  
इतीन्द्रियादिवशीकारावशीकारयोरर्थान्तरदर्शनात्, 'यच्चैद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इतीन्द्रियादीनां वशीकारप्रकाश-  
नाच्च, अस्मिन्मन्त्रे वशीकार्यताया प्राधान्यं परशब्देन विवक्षितमित्यवगम्यते । तत्रायादीनामिन्द्रियादिभ्यः परत्वमुपपाद-  
यति-तत्रेति ॥

ननु 'अष्टौ ग्रहाः अष्टावतिग्रहाः' इति प्राणजिह्वावाक्चक्षुश्श्रोत्रमनोहस्तः शिरादिन्द्रियाणां ग्रहत्वम्, गन्धरस-  
नामरूपशब्दकामकर्मास्पर्शाख्यानां विषयाणामतिग्रहत्वं च श्रुतं, तस्माद्ग्रहेभ्य इन्द्रियेभ्यः अतिग्रहशब्दोक्तनामर्थानां  
परत्वं किं न स्यात् । उच्यते-यदि ग्रहेभ्योऽतिग्रहाणां परत्वमिह विवक्षितम् तदा अर्थेभ्यो मनसः परत्वकथनमनुचितं  
मनसो ग्रहान्तर्गतत्वात् । अर्थानामतिग्रहशब्दोक्तत्वाच्च, अतस्त्वसन्निधाविन्द्रियाणां दुर्निग्रहत्वापादनमेव अर्थानां वशी-  
कार्यत्वे परत्वं तद्वशीकरणं च असन्निधापनं, हेयतया शापनं च तेभ्योऽपीति । स्वावधानाभावे विषयासन्निधेरकिञ्चि-  
त्करत्वेहेतुक मनसः प्राधान्यम् तस्य वशीकरणं नाम तस्य मुहुर्मुहुर्विषयदोषाक्षिप्तनेन तेभ्यो निवर्तकदीप्तम् 'अभ्या-  
सेन च कौन्तेय धैर्याग्रेण च गृह्यते' इति श्रुतम् । तस्यादपीति । बुद्धिशब्दोऽध्यवसायरूपज्ञानविशेषपरः, नव-  
न्तःकरणपरः

यदा कर्मगुणापेना बुद्धिर्मनसि वर्तते । व्यवसायगुणोपेता तदा सम्पद्यते मनः ॥

इत्यादिषु बुद्धिशब्दस्यान्तःकरणपरत्वं तत्कार्यभूतव्यवसायस्य पृथङ्निर्देशादिभिरवधीयते । इहतु बुद्धिशब्दस्य भावार्थ-  
स्वस्वरस्यात्तदपवादाभावाच्च व्यवसायपरत्वमिति अध्यवसायाभावशब्दं प्रयुज्जानस्याभिप्रायः ॥

यद्वा बुद्धिशब्दोऽन्तःकरणपरः इदानीमध्यवसायाभाव इत्यनेन तत्कार्यभूताध्यवसायाभाव इत्युक्तं स्यात् अल्पा-  
स्थिरत्वदुस्साधत्वदुःखमिथत्वादोषदर्शनेन विषयाणां हेयत्वाध्यवसायोऽध्यवसायशब्देन विवक्षितः । तदभावेऽप्यत्र  
व्यासङ्गादिना क्वचिद्विषये प्रावण्यरहितमपि मनः कदाचित्प्रवणमपि स्यात् अतो बुद्धेः परत्वम् । तस्याश्च वशीकरणं,  
नामविषयदोषदर्शनसशीलनेन तददृढीकरणरूप मनोनिवर्तनपाटवापादनम् । आत्मकर्तृत्वेन प्राधान्यात्परइति । कर्तृ-  
त्वेन अध्यवसायस्याश्रयत्वेन बुद्धिशब्दस्यान्तःकरणपरत्वपक्षेत्पकरणेनेत्यर्थः । अणारात्मनः कथं ग्रह-छन्दविशेष-  
त्वमित्यत्राह-सर्वस्यचेति । अस्य सर्वस्य इन्द्रियादेरध्यवसायपर्यन्तस्य इन्द्रियाणि जेतव्यानि, सभ्यगर्थविषयोऽध्यव-  
सायस्सम्पाद्य इत्येवंरूपेच्छायत्तत्वादित्यर्थः । अनेनात्मनो वशीकरणं नामास्वरूपं यथाऽभ्याध्यवसायप्रावण्यरूपेच्छा-  
पादनमेवेति च कलितम् । तस्मादपिरथरूपितं शरीरं परमिति । शरीरस्य परत्वं नाम स्वगतगुणोन्मेषानुगुणमात्मगत-  
ज्ञानापादकत्वम् रजस्तमोऽनुदयसत्त्वप्राचुर्यकरपरिशुद्धाहारेण सर्वोद्दिष्टापादनं शरीरस्य वशीकरणमिति । जीवने

### श्रीभाष्यम्

पार्थसाधनप्रवृत्तीनाम् । तस्मादपि परस्त्वान्तरात्मभूतोऽन्तर्याम्यध्वनः पारभूतः परम-  
पुरुषः यथोक्तस्यात्मपर्यन्तस्य समस्तस्य तत्सङ्कल्पायत्तप्रवृत्तित्वात् । स खल्वन्तर्यामित-  
योपासनस्यापि निर्वर्तकः 'परात्तु तच्छ्रुतेः,' (शारी.३.३.४०) इति हि जीवात्मनः घर्तृत्वं  
परमपुरुषायत्तमिति वक्ष्यते । वशीकार्योपासननिर्वृत्युपायकाष्ठाभूतः परमप्राप्यश्च स एव  
तदिदमुच्यते ' 'पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ.१.३.११) इति ।  
तथाचान्तर्यामिग्राहणे 'य आत्मनि तिष्ठन्' (वृ.५.५.२२) इत्यादिभिस्सर्वे साक्षात्कुर्व-  
न्सर्वे नियमयतीत्युक्त्वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (५.७.२३) इति नियन्त्रन्तरं निषिध्यते,  
भगवद्गीतासु च 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं  
चैवात्र पञ्चमम्' (गी.१८.१४) इति । दैवमत्र पुरुषोत्तम एव 'सर्वचाहं हृदि सन्निविष्टो  
मत्तस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५.१५) इति वचनात् । तस्य च वशीकरणं तच्छरणागतिरेव  
'ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ तमेव

### श्रुतप्रकाशिका

दस्याविद्याकल्पितत्वात् अविद्यासहसमव्यक्त जीवात्पर तत्कार्यत्वाच्छरीरस्य परत्वमुपचर्यत इति कैश्चिदुक्तम् तदयुक्तं,  
कारणगतपरत्वस्य कार्ये उपचरणे स्वास्याभावात् । जीवमेदस्याविद्याकल्पितत्वाभावाच्च आत्मपर्यन्तस्य स्वावधिकस्य ॥  
यदा जीवपर्यन्तस्येत्यर्थः नास्मिन्वाक्ये वशीकार्यतया परत्वे निर्दिष्टक्रमो विवक्षितः, कितूपकरणीयतया प्राधान्यम् अत  
एवीह 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति शरीरापूर्वनिर्देशः । उपासनोपकरणकोटिनिवेशः परस्य कथं अत्यक्तत्वात्  
परस्य पुरुषत्वमात्रं श्रुतं न परमत्वं तत्कथमश्रुतपरमशब्दार्थाङ्गीकार इत्यत्राह—सखल्विति । उपासननिर्वाहकत्वात्  
वशीकार्यत्वमित्यर्थः 'सा काष्ठा' इति श्रुतिवाक्यखण्ड व्याचष्टे वशीकार्योपासनेति । वशीकार्यशब्द उपायविशे-  
ष्यकः रूपितेष्वर्थेषु परत्वेन रूपितस्य पदस्यात्राकथनाद्वक्ष्यमाणपरिशेषासिद्धिरङ्गा परिहर्तुं 'सा परा गतिः' इत्यने-  
नैव पारस्वरूपितपदस्यापि प्रतिपादितत्वमाह—परमेति । 'पुरुषान्नपरं किञ्चित्' इत्युपायकोटिकाष्ठाभूतस्मात्परं न  
विद्यत इति व्यतिरेक उक्तः 'सा काष्ठा' इत्यनेन अयमेवोपायकाष्ठाभूत इत्यन्वय उक्तः, इन्द्रियादीनाम्युपायभूत  
त्वमात्रमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं 'परागतिः' इति प्राप्यत्वमुच्यत इत्यर्थः 'यस्मात्परं नापरमस्ति' इत्यादिश्रुत्यैका-  
र्यावगमात् स्वस्मात् परान्तराहितस्य परमात्मवमर्थसिद्धमिति चाभिप्रायः । सर्वनियामकादस्मात्परत्वादेन उपायका-  
ष्ठात्वोपपादनार्थमन्तर्यामिब्रह्मणमुपादीयते तथेति । दैवमिति कर्मवाऽकर्माभ्यामि द्वादिक वा विवक्षित स्यात् इत्यत्राह  
दैवममेति । 'न दैवंकेशवात्परम्'—

श्रूयतां परमं दैवं दुर्विज्ञेय मयापि च । नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाश्रुतिः ॥

नारायणस्यचाङ्गानि सर्वदैवानि चाभवन् । अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः ॥

इत्यादिप्रयोगादित्यभिप्रायः । परमपुरुषस्याप्युपासननिर्वक्तृत्वमस्तु, कथं सर्वस्मात्परस्य अनीश्वरेण ससारिणा वशीकर्तुं  
शक्यत्वं शक्यश्चेत्तत्प्रकारोऽपि क्वचिच्छ्रूयेत नच श्रूयते 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यादवनुपलब्धोरित्यत्राह—तस्य-  
चेति । 'यच्छेद्वाङ्मनसी' इत्यादौ तस्य वशीकार्यत्वभ्रवणं दर्शयिष्यते । कथमव्यक्तशब्देन शरीराख्यरूपकविन्य  
स्ताभिधानं रूपकविन्यस्ताभिधानान्तरं किं न स्यादिति शङ्कायामव्यक्तशब्देन शरीरस्याभिधानं पारिशेष्येति तत्—

## श्रीभाष्यम्

शरणं गच्छ ' (गी.१८.६१,६२) इति । तदेवम् ' आत्मानं रयिनं विद्धि ' [कठ.१.१.३] इत्यादिना रथ्यादिरूपकविन्यस्ता इन्द्रियादयः ' इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ' (१.३.१७) इत्यत्र स्वशब्दैरेव प्रत्यभिधानन्ते, न रथरूपितं शरीरमिति परिशेषात्तदव्यक्तशब्देनोच्यत इति निश्चीयते । अतः कापिलतन्त्रसिद्धस्य प्रधानस्य प्रसङ्ग एव नास्ति । नचात्र तत्तन्त्रसिद्धप्रक्रियाप्रत्यभिधा ' इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ' (१.३.१७) इतीन्द्रियेभ्योऽर्थानां शब्दादीनां परत्वकीर्तनात् । नहि शब्दादय इन्द्रियाणां कारणभूतास्तद्दर्शने । ' अर्थेभ्यश्च परं मनः ' (कठ १.३.१०) इत्यपि न तत्तन्त्रसिद्धतम्, अकारणत्वादेव ; तथा ' बुद्धेरात्मा महान्परः ' (१.३.१०) इत्यप्यसङ्गतम् ' बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वस्याभिधानाभ्युपगमात् । नहि महतो महान्परस्सम्भवति । महत आत्मशब्देन विशेषणं च न सङ्गच्छते । अतो रूपकविन्यस्तानामेव

## श्रुतप्रकाशिका

तदेवमात्मानमिति । प्रधानप्रतिपादकत्वमङ्गीकृत्य तस्य ब्रह्मात्मकत्वाब्रह्मात्मकत्वविवादोऽपि क्वचिदस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थे प्रसङ्ग एव नास्तीत्युक्तम् । वशीकार्यतया परत्वमुपपादित, कारणेन परत्वस्यानुपपत्तिमाह-नचात्रेति । प्रत्यभिज्ञानाभावमुपपादयति इन्द्रियेभ्य इति । तदेव विवृणोति नहीति । अकारणत्वादेवेति । ' इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था ' इत्यत्र तन्त्रप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानव्युदासहेतौरेवेत्यर्थः । अहङ्कारद्वारा बुद्धेः मनःकारणदसम्भवात् ' मनसस्तु पराबुद्धिः ' इत्येतां क्लृप्तगत्या शक्यमिति तदनादरेण ' बुद्धेरात्मा ' इत्यत्रानुपपत्तिमाह-तथेति । बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वमभिधीयते, ततः किमित्यत्राह-नहीति । समष्टिव्यष्टिविभागेन परत्वोपपत्तिरिति चेन्न तत्कारणेन निर्वहस्यस्वरक्तत्वात्, इन्द्रियादिषु चार्थान्तरेषु समष्टिव्यष्टिविभागदर्शनात् रूपकवाक्ये पृथङ्निर्देशाभावाच्च अनुपपत्त्यन्तरम् ह-महत्तत्त्वमिदमेति आत्मशब्दः स्वतन्त्रेनैकान्तः अगत्या क्वचित्तस्यातःपरत्वाश्रयणम् । अवयवशक्त्या स्वकार्यव्याप्तिपरत्वेऽपि महत्त्वादिपि प्रधान एवावयवार्थप्रकर्षात् महत् आत्मशब्दाविशेष्यत्वमुक्तमित्यर्थः ॥

ननु उद्वयहर्तमनश्चैत मनसदसदात्मकम् । मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥

महान्तमेवचात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।

इति स्मृतिवद्वप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानात्महच्छब्दो महत्तत्त्वपरः नत्वात्मविशेषक इति चेत् न श्रुताविन्द्रियार्थमनोबुद्धिमहतां परत्वस्य चोक्तत्वादहङ्कारस्यानुक्तत्वात् स्मृतौ मनोऽहङ्कारमहतामेवोक्तत्वादिन्द्रियार्थबुद्धीनां परत्वस्य चानुक्तत्वात् श्रुतौ स्मृत्यर्थप्रत्यभिज्ञानाभावात् मनसोऽहङ्कारमुद्वयहेत्यस्य तन्त्रप्रक्रियाविरोधप्रतीतेः, पूर्वपक्षिणैव परिचोदनस्यादुक्तत्वाच्च ॥

ननु महच्छब्दस्याप्यविशेषणत्वेति ' महत्तत्त्वपरम् ' इति निर्देशेन युक्तम् अपित्वात्मन इत्येव निर्देष्टव्यमिति चेन्न, विशेषणवाचिपदेनापि प्रकृतविशेष्याभिधानदर्शनात् देवदत्ताद्यशब्दश्च ' प्रकृतयोऽयम् आरुढः ८ आरुढाद्विष्णुमित्र इति अवृद्धसेवी पुरुषो मूढः मूढादमूढ आदरणीयः इत्यादौ रूपकविन्यस्तानामेव ग्रहणमित्येतद्भाष्यमेतदुक्तं भवतीत्यनना निवृतम् । इति शब्दाप्रयोगोऽतिविप्रकर्षात् दर्शयति चेति सूत्रखण्डोपादानम् । तदेव वशीकार्यत्वं परत्वमेव ' एष ' इत्यादिश्रुतेः ' न प्रकाशत ' इत्युक्ते केषामित्यपेक्षायाः

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्युक्तेन मनसा सह । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्सदा शुचिः । न स तापदमाप्नोति संसारचाधि गच्छति ॥

श्रीभाष्यम्

ग्रहणम् । दर्शयति च तदेव 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रघया युद्धया  
सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिमिः' (१.३.१२) 'यच्छेच्छात्मानसी प्राशस्त्यच्छेच्छान आत्मनि । ज्ञान-  
मात्मनि महति नियच्छेत्तच्छेच्छान्त आत्मनि' (१.३.१३) इति । अजितयाज्ञाभ्यन्तरकर  
णस्यैव परमपुरुषस्य दुर्दर्शत्वमभिधाय ह्यादिरूपितानामिन्द्रियादीनां यशीकारप्रकारोऽय  
मुच्यते । 'यच्छेच्छात्मानसी' (१.३.१३) वाचं मनसि नियच्छेत् वाक्पूर्वकाणि कर्मेन्द्रियाणि  
ज्ञानेन्द्रियाणि मनसि नियच्छेदित्यर्थः । वाक्छन्दे द्वितीयायाः' (फट्.१.३.१३) 'सुपांसुलुक्  
[पाणिनि.२.१.३९] इति लुक् 'मनसी' इति सप्तम्याच्छान्दसो दीर्घः 'तच्छेत् ज्ञानआ-  
त्मनि' [१.३.१३] तन्मनो बुद्धौ नियच्छेत् । ज्ञानशब्देनात्र पूर्वोक्ता बुद्धिरभिधीयते । ज्ञान  
आत्मनि' [१.३.१३] इति व्यधिकरणे सप्तम्या । आत्मानि वर्तमाने ज्ञाने नियच्छेदित्यर्थः ।

श्रुतप्रकाशः ।

इति प्राकरणिकवाक्योपजीवनेन प्रकाशत इत्यस्यार्थमाह-अजितवाद्येति । वाक्छन्दस्योद्भिद्योत्पत्त्यर्थं इति ह-  
वाक्पूर्वकाणीति । नन्विदमयथाशरीरमिव व्याख्यानम् नञ्च वाक्छन्दा द्वितीयान्तो मनश्चन्दश्च सप्तम्यन्तश्चयत इत्य  
ग्राह-वाक्छन्द इति ॥

ननु वाक्छन्दात्परस्याः द्वितीयायाः 'सुपांसुलुक्' इत्यनुशासनेन स्वादेशाश्रयणेन द्वितीयान्तत्वं किं न स्यात्  
न स्वादेशेऽपि 'हल्ङ्याभ्योदीर्घात्सुतिस्यष्टकं हल्' इति सूत्रेण वाक्छन्दस्य हलन्ततया मुलोपस्य प्राप्तत्वात् स्वादे  
शास्त्रीकारेऽपि लुकि पर्यवसानं स्यात्, तत्र द्वितीयायां स्वादेशमाश्रित्य तस्य लोपकल्पनादत्र द्वितीयाया एव लुगाश्रय  
णमिति । सप्तम्येकवचनान्तस्य मनश्चन्दस्य दीर्घान्तत्वं कथमित्यत्राह-मनसी इति सप्तम्याः छान्दसो दीर्घ इति ।  
'ईदूतो च सप्तम्यर्थः' इति प्रकृतिसंज्ञाप्रसरणनिबन्धनो मनसी इति निर्देशः ॥

ननु 'इयादियाजीकारणामुपसङ्ख्यानम्' इत्युपसङ्ख्यानवशादीकारान्तत्वं संभवे कथं छान्दसत्वाश्रयणमिति  
चेत् उपसङ्ख्यानेन निर्वाहासम्भवात्तु व्रमः । नहि 'वाङ्मानसी' इत्यत्र वाक्च मनश्चेत्यर्थसम्भवति 'अचतुर-  
यिचतुर' इत्यादिसरणेनाजन्ततया वाङ्ममे इति प्राप्तत्वात् । अथ तत्रापि छान्दसत्वत्वेन समासान्तो नाद्विधेत्  
तथासति यथोक्तनिर्वाहे क. प्रक्षेपः, नच निर्वाहद्वयवृत्त्यता पूर्वोक्तस्य प्रकरणानुगुण्यादेकवचनोपपत्तेश्च, 'यच्छेत्'  
इत्युक्तस्य नियमनस्य सप्तम्यपेक्षा प्रकरणसिद्धा 'तच्छेत् ज्ञान आत्मनि, ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तच्छ-  
च्छेच्छान्तआत्मनि' इति हि श्रूयते । वाक्च मनश्चेत्यर्थोऽस्मिन्तश्चेत् तदिति पुनः परामर्शश्च न घटते ते इति द्विवच  
नान्ततया हि निर्देष्टव्यम् । अत उक्तनिर्वाह एवोपपन्न 'तच्छेच्छान आत्मनि' इति वाक्य मनसोऽहङ्कारे नियम-  
नपरं केचिद्व्याचक्षते तदनुपपन्न मन्वान आह-तन्मनो बुद्धौ नियच्छेदिति । अहङ्कारपरत्वं स्वरस्य बुद्धिपरत्वं तु स्वर  
समित्यभिप्रायेणाह-ज्ञानशब्देनेति । पूर्वोक्ता बुद्धिः अनात्मा मन्विष्येहोपादेयताभ्यवसायः, ज्ञानसामान्यवार्चशब्दस्य  
ज्ञानविशेषवाचिन्व मुख्यमिति भावः । आत्मशब्दस्मानाधिकरणशब्दस्य बुद्धिपरत्वं युक्तमित्यत्राह-ज्ञान  
आत्मनीति । आत्मशब्दस्य स्वतन्त्रैकान्तत्वादनन्तरवाक्यस्यात्मशब्दप्यास्य चैकरूपार्थत्वे स्वरस्याद्य सामानाधिकर  
ण्यमात्रस्यारस्यमुपेक्ष्यमित्यभिप्रायः । वैयधिकरण्यफलितमाह-आत्मनि वर्तमान इति । सप्तम्यर्थस्य स्पष्टीकरणाय वर्त  
मानपदमध्याहृतम् । ज्ञानशब्दस्याहङ्कारपरत्वाश्रयण किंशब्दस्यारस्यात् उतार्थवशात् । नप्रथमः दत्तोत्तरत्वात्, नापि  
द्वितीयः, अर्थसामर्थ्यादर्शनात् । मनो महतोर्मध्यगतत्वमर्थसामर्थ्यमिति चेत् यदि शब्दतः प्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि ज्ञानश-



## श्रीभाष्यम्

'ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्' बुद्धिं कर्तरि महत्यात्मनि नियच्छेत् । 'तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' [१.३.१३] तं कर्तारं परास्मिन् ब्रह्मणि सर्वान्तर्यामिणि नियच्छेत् । ध्यत्ययेन तदिति नपुंसकलिङ्गता । एवंभूतेन रचिना धैष्णवं पदं गन्तव्यमित्यर्थः ॥

अव्यक्तशब्देन कथं व्यक्तस्य शरीरस्याभिधानम् ? तत्राह—

## सू-२ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् (१.१.१)

## भुतप्रकाशिका

बोमनो महतोर्मध्यगतवरूपार्थसामर्थ्यादहङ्कारपरः । तर्हि त्वय्यन्यायत्वात् 'मनसस्तु परा बुद्धिः' इत्यत्रापि बुद्धि-शब्दस्याहङ्कारपरत्वं । तदप्यस्त्वाति नवान्यम् ; स्वप्न-धिविरोधात् 'अथ बुद्धिशब्देनाहङ्कारं श्रूयुः' तथाऽपि तन्त्र-सिद्धस्याहङ्कारस्य प्रत्यभिज्ञानोपपद्यते बुद्धिशब्देन व्यवहाराभावात् महच्च नतन्त्रसिद्धमिह प्रत्यभिज्ञायते आत्म-शब्देन सामानाधिकरण्यात्' इतिहि अन्तिमसूत्रव्याख्याने तैरुक्तम् । अथोच्येत, तत्र यद्यपि मनो महतोर्मध्यगतो बुद्धिशब्दः तथाऽपि नाहङ्कारपरः महच्छब्दस्यामशब्दोपपदीकितत्वेन महत्तत्त्वामिषायकत्वाभावादिति ॥

तर्ह्यत्रापि सप्तम्यन्तमहच्छब्दस्यापि आमशब्दोपपदीकितत्वेन महत्तत्त्वोपस्थापकत्वाभावाच्च मनो महतोर्मध्यगत-रूपमर्थसामर्थ्यं न विद्यते । यद्यत्रोपपदं नपीडकम्, तर्हि तत्रापि पीडनासामर्थ्यात् 'मनसस्तु परा बुद्धिः' इत्यप्यह-ङ्कार उक्तस्यात्, ततश्चाधिकरणप्रयासवैयर्थ्यमेव स्यात् तन्त्रप्रक्रियास्थिरवसिद्धेरित्यलमनेन । ज्ञानमात्मनीत्यस्यार्थमाह बुद्धिमिति । वाचो मनसि नियमनं, मनोऽननुगुणप्रवृत्तिवैमुख्यापादनम् । मनसो बुद्धौ नियमनं अध्यवसायाननुगु-णप्रवृत्तितापादनं बुद्धिः अर्थेषु हेयताध्यवसायरूपा, तस्याबुद्धेरान्नियमनं नाम स एवोपादेयतया साक्षात्कार्यं इत्येतदर्थं विषयत्वापादनं शान्ते स्वतर्कमिषट्कप्रतिषेधे शान्त आत्मनि महत् आत्मनो जीवस्य नियमनं नाम तच्छेषताप्रतिपत्तिः सैव परस्यापि वशीकरणं भवति । नतदिति निर्देष्टव्यम् आमशब्दस्य पुल्लिङ्गवाच्यशब्दस्य च मपरामर्शं वादित्यत्राह—व्यत्ययेतदिति । नपुंसकलिङ्गतेति । अत्र तदिति व्याख्येयपदं 'सुप्तिदुपग्रहालिङ्गनराणां कालहलच्छक्वर्तयङांच व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेपां सोऽपि नसिद्धयति बाहुल्येन' इति शाब्देरुक्तलिङ्गव्यत्ययेन तदिति नपुंसकलिङ्ग-तेत्यर्थः ॥

नन्वस्मिन्मन्त्रे रूपकरूपितानां वशीकरणप्रकार उच्यते इत्युक्तम् विषयाणां शरीरस्य चात्रनियमनानुत्प्रेरितिवेत्त, तन्नियमनस्यार्थसिद्धत्वात् । विषयाणां नियमनहिनाम तदसाक्षिघापनं, शरीरस्य नियमननाम सात्त्विक होरणं परिशोधनं नहि दूरतोऽनुज्झितविषयस्य दुष्टाहारसेवा मलिनमनस इन्द्रियादिनिमनं संभवति, अतोऽर्थसिद्धस्येह कण्ठोक्तयमावः तन्निमित्तमिदं विषयसन्निधिपरिवर्जनं सात्त्विकाहारसेवनं च योगाद्युपादनकाले सम्पाद्यम् तदानीं व वचक्षुरादिकं शा-नेन्द्रियाणां नात्यन्तव्यापारनिषेधः । अत्यन्तनिषघस्तु योगकाल एव कर्तव्यस्य नियमनस्यास्मिन्मन्त्रे विधानात् 'इन्द्रि-येभ्यः' इत्यस्मिन्मन्त्रेऽपि वशीकार्यत्वे परस्व विवक्षितमिति तन्त्रसिद्धकार्यकारणतत्त्वप्रत्यभिज्ञानाभावात् रूपकरूपितेषु परिशिष्टं शरीरमव्यक्तशब्देनोच्यते इति स्थितम् ॥

उत्तरसूत्रशङ्कामाह—अव्यक्तेति । पारिशेष्याच्छरीराव्यक्तशब्दयोरैकार्थ्येऽवश्यमाभिनिरुति उपक्रमानधिकरणव्या-येन उपक्रमस्य शरीरशब्दानुगुणमव्यक्तशब्दे नेये तत्राव्यक्तशब्दस्य वृत्तिः कथमित्यपेक्षायामाहेत्यभिप्रायः ॥

श्रीभाष्यम्

भूतसूक्ष्मव्यावृत्त एतस्याविशेषमापन्नं शरीरं भवति ; तदव्यावृत्तामेह शरीरावस्थम-  
व्यक्तशब्देनोच्यते । तदहत्त्वात्-तस्याव्यावृत्तस्याच्छिद्वस्तुन एव विकारापन्नस्य रथवत्पुरु-  
षार्थसाधनप्रवृत्त्यहत्त्वात् ॥

यदि भूतसूक्ष्ममन्याकृतमभ्युपगम्यते ; अपिलतन्प्रसिद्धापादाने चः प्रक्षेपः तथापि हि  
भूतकारणमेवान्यक्तमित्युच्यते ; तत्र हि-

सू-३ तदधीनत्वादर्थवत् (१.४.३)

परमकारणभूतपरमरूपाधीनत्वात् योजनप्रवृत्तसूक्ष्मम् । एतदुक्तं भवति न घयमव्यक्तं  
तत्परिणामविशेषांश्च स्वरूपेण नाभ्युपगच्छाम ; अपितु परमरूपशरीरतया तदात्मकत्व-  
भूतप्रकाशिका

सू-२ सूक्ष्मं तु तदहत्त्वात् (१.४.२)

द्रव्यैक्यलक्षणसम्बन्धात् काय कारणशब्दोपचार इत्याह-भूतसूक्ष्ममिति । कारणभूताव्यक्त कार्यवाचि-  
शब्दोपचारः किं न स्यादित्यत्राह-तदहत्त्वादिति व्याख्येयस्त्वोत्र तच्छब्दस्त्यति-यस्य अनटिष्ठ । सूक्ष्मं च स्व-  
बदनोपस्थापितं स्थूलावस्थ शरीरमव्यक्तशब्दावप्रयतया बुद्धिस्थम् अतस्तथापि चिद्व्यपरापन्न इति भावः । अ-  
स्यादयानुगतवस्तुलक्षणानिमित्तमाकारमाह-आच्छिद्वस्तुन इति । शानरुद्धाच्चविकासरूपाकारापत्तिश्चिद्वस्तुनोऽप्यसि-  
तदव्यावृत्त्ययमच्छिद्वस्तुन एव विकारापन्नस्य युक्तम् । अहं च कायापेक्ष तद्विशेष प्रकरणासङ्गमपिप्रेत्याह-पुरुषार्थेति  
ओपचारिक वाविशेषेऽपि पुरुषार्थप्रवृत्त्यनहंरूपायावगोषात् , ततएवाव्यक्तस्य प्रकाशाय वायागाच्च न कारण कार्यो-  
पचाराच्छरीरशब्दो भूतसूक्ष्मपरत्वेन व्याख्यात इत्यर्थः ॥

यादवप्रकाश्यास्तु-सूक्ष्मं शरीरमिह गृह्यते तस्याव्यक्तशब्दाह वात् । पूर्वत्रापि तदव रथ एव रूपत लोकात्  
स्वाप्तेरपि त्रिपक्षितत्वादिति व्याचक्षते । तदुक्तं तत्पक्षे स्थशरीरशब्दस्य स्वरसतस्स्थूलशरीरप्रतिपक्षिहेतुत्वात् 'यच्छे-  
द्वाञ्जनसीप्राज्ञ' इत्यादिना पुरुषार्थसाधनप्रवृत्तिविशेषप्रतिपादनं पुरुषं प्रकाशयन् रथं विवक्षितं मू रथत्वेन रूप-  
णमित्यवगमाच्च । पुरुषार्थसाधनप्रवृत्त्येह गृही स्थूलशरीरस्य लोकान्तरप्राप्तिं पलानुमवाप्येति त साधनस्य सूक्ष्मदेहस्य  
नोपायानुग्रहार्हता । अतोऽव्यक्तशब्दमात्रस्वारस्यादपि उपक्रमस्य शरीरशब्दस्वारस्यादुपायदशायामपयोगप्रतीतिस्वारस्याच्च  
यथोक्त एव सूत्रार्थ इत्येतदभिप्रायेणाह-रथवत्पुरुषार्थसाधनप्रवृत्त्यहत्त्वादिति ॥

उत्तरसूत्रशङ्कामाह-यदीति । भूतकारणमेवेति । त्वयाऽपि यदभ्युपेत भूतकारणत्वेन तदेवेति भव ।

सू-३ तदधीनत्वादर्थवत् [१-४-३]

नहि प्रयोजनवत्त्वाप्रयोजनवत्त्वे चादित प्रधानाङ्गीकार प्रधानवाददूषणं च रथापत्तिरिति च तदर्थं परिहृत-  
नवतीत्यत्राह-एतदुक्तमिति । तदात्मकत्वविरहेणेति । नाभ्युपगच्छाम इत्यवयव तदधीनशब्दस्य प्रवृत्तिमात्रे

## श्रीभाष्यम् -

विरहेण तदात्मकत्वेनैव हि प्रकृत्यादयस्त्वप्रयोजनं साधयन्ति ; अन्यथा स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदास्तेषां न स्युः ; तथाऽनभ्युपगमाय तन्नसिद्धप्रक्रियानिरसनम् इति । श्रुतिस्मृत्योर्हि जगदुत्पत्तिप्रलयवादेषु परमपुरुषमहिमवादेषु प्रवृत्तिविवृतिर्पुरुषास्तदात्मकास्सङ्गीत्यन्ते ; तथा 'पृथिव्यप्सु लीयते' (सुवाल.२.२) इत्यारभ्य 'तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते । भूतादिर्महति लीयते, महानव्यक्ते लीयते, अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते । तमः परे देव एकीभवति' इति तथा 'यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापश्शरीरं यस्य वायुश्शरीरं

## श्रुतप्रकाशिका

तादधीन्यपरत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थं परमपुरुषशरीरतया तदात्मकत्वेनैव युक्तम् । तेन प्रवृत्तौ पराधीन वेऽपि स्त्वास्ति कुलालानपञ्चदण्डवैभ्रान्दिष्यावृत्तिः । स्वातन्त्र्येण किं नाभ्युपगम्यत इत्यपेक्षायामर्थस्थितिमाह-तदात्मकत्वेनैवहीति । हिशब्दप्रमाणप्रसिद्धिद्योतकः । स्वप्रयोजनं, स्वकार्यं प्रकृते कार्योह महानन्द महदादीनामपि तत्तत्कथं च प्रयोजनम् । पुरुषस्य भोगापवर्गरूपं वा उक्तमर्थमुपपादयति अन्यथेति । अन्यथा तदात्मकविरहे स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदास्तेषां न स्युरिति । 'नतदस्ति विना यस्यात्' 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' 'मत्तस्सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिभिः स्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्तादधीन्यसिद्धिः । स्वरूपं व्यवहृत्प्राह्वं मानसं च धाह्वं वा, तस्य कालांतरावच्छिन्नाकारविरहः स्थितिः । प्रवृत्तिकार्योत्तर्यनुमुणव्यापारः । स्वरूपस्थिती न स्याता ततश्च प्रवृत्त्यभावः कैमुत्यन्यायसिद्धयथा शरीरस्यामविरहे इत्यर्थं सूत्रे अर्थवच्छब्दस्तदुपयुक्तार्थतादधीन्यस्यापि प्रदर्शनार्थः, अर्थोपयोगि वात प्रवृत्ते, प्रवृत्त्युपयोगि वाच्य, स्वरूपस्थित्योरित्यभिप्रायः । पूर्वोक्तव्याघातस्य परिहृतं च दर्शयति तथाऽनभ्युपगमादेवेति । अब्रह्माः कवद्रघानवाद एव दूष्यः ब्रह्मात्मक प्रधान स्वीकृतमिति नव्याहतिरित्यभिप्रायेण प्रक्रियानिरसनमिदमुक्तम् । हिशब्दाभिप्रेतं तदात्मकत्वं प्रमाणं दर्शयति श्रुतिस्मृत्योर्हीति । प्रलयश्रुति 'पृथिव्यप्सु लीयते' इत्यादि महिमवादश्रुति 'यस्य पृथिवीशरीरम्' इत्यादि, प्रलयश्रुतेरपि 'तमएकीभवति' इत्येतदन्तत्वात्तदात्मकवसिद्धिः, 'तस्मात्तमस्सजायते' इत्युत्पत्तिवाक्य द्रष्टव्यम् । अव्ययपूर्वकत्वात् सृष्टं प्रलयश्रुतमुपादानं सृष्ट्यावयवप्रदर्शनार्थम् । इदं स्य जीवा मापेक्षया परत्वकथमिति शङ्कायां जीवस्य शरीराधीनप्रवृत्तिर्वाज्जीवापेक्षया शरीरस्य परत्व यथोद्वेग्येभ्योऽर्थानां परत्वमिति परिहारपरमिदं सूत्रमितरेष्वारुण्यात् तदयुक्तम् । अपेक्षितविधेर्नपेक्षितविधान्दौर्गत्यात् नहि वेदान्तिभिः प्रवृत्ति स्वरूपेण नाभ्युपगम्यते अतस्तदभ्युपगमतद्विरासयोर्व्याघातः परिहर्तव्य इति त परिहारोपेक्षया अपेक्षाकरणं स्यात् ॥

ननु शरीरस्य जीवात्परत्वानुपपत्तिशङ्का परिहर्तव्या, अतो नानपेक्षितविधानं स्यादिति चेत् एव तर्होद्वेग्येभ्यः कथमर्थानां परत्वमिति शङ्कायाश्च परिहर्तव्यत्वात् त परिहाराय सूत्रान्तरं प्रेष्यं स्यात् । सा च 'अर्थयत्' इत्यनेन परिजिहीर्षितेति चेत्, तर्हि 'अर्थयत्' इति दृष्टान्ततयोक्तिर्न घटते । अर्थेभ्यो मनसः परत्व कथमिति शङ्कापरिहाराय सूत्रान्तरं प्रेष्यं च स्यात् । अर्थमनोबुद्ध्यादीनां परत्व यथाकथञ्चित् व्यवहरे प्राधायादिवैयर्थ्या निरस्त इति न तत्र परिहर्तव्यमिति चेत् अर्थकस्य परत्वमपि यथाकथञ्चित् विवक्षत इति न सूत्रेष्टा । केन युक्तिवत्त्वेन यथाकथञ्चित् निर्वाह इति चेत् अर्थमनोबुद्ध्यादीनां यथाकथञ्चित् परत्वनिर्वाहं केन युक्तिवत्त्वं प्रकरणपरिहारेणाम्यार्यसूत्रविधित्वाद्या मप्रवृत्तशब्दस्य रूपकविन्यस्तशरीरविषयमनिव्ययवत्त्वेनेति चेत् तेनैवाप्यपि निर्वाह आह सूत्रेण रिट् इत्यनेनोक्तं दृष्टान्तस्य आदेशः । अत्र उक्तार्थपरमेव सूत्रम् ॥

## श्रीभाष्यम्

यस्य तेजदशरीरं यस्य वायुदशरीरं यस्याकाशदशरीरं यस्याहोरात्रदशरीरं यस्य बुद्धिदशरीरं यस्यान्यक्तं दशरीरं यस्याक्षरं दशरीरं यस्य मृत्युदशरीरम् एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः (७.८.८) तथा 'भूमिरापोऽनलो वायुः स मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयमे मिथ्या प्रकृतिरष्टधा । अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इय ' (गी.७.४,५,६,७) इति, व्यक्तं विष्णुस्तथाऽव्यक्तं पुरुषः काल एव च (वि.१.२.३८) 'प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्तान्यक्तस्वरूपिणी ॥ पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परवात्मनि । परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः' (वि.६.४.३९,४०) इति च

## सू-४ ज्ञेयत्वावचनाच्च (१-४-४)

यदि तन्त्रसिद्धमिहान्यक्तमविचक्षिष्यत्, ज्ञेयत्वमवक्ष्यत् ; व्यक्तान्यक्तविज्ञानात् 'मोक्षं वदद्भिस्तान्त्रिकैस्तेषां सर्वेषां ज्ञेयत्वाभ्युपगमात् न चास्य ज्ञेयत्वमुच्यते ; अतो न तन्त्रसिद्धस्येह ग्रहणम् ॥

'अशब्दमरूपशमरूपमव्ययं तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तमहत्परं धूयं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (षट्.१.३.१५) इत्यन्यक्तस्य ज्ञेयत्वमनन्तरमेव वदतीयं श्रुतिरिति चेत्-तन्न प्राज्ञः—परमपुरुष एव ह्यत्र श्लोके निचाय्यत्वेन प्रतिपाद्यते, 'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवाधरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति ब्रह्मिणोः परमं पदम्' (१.३.९) 'एष सर्वेषु भूतेषु गृढोऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रथया बुद्ध्या सूक्ष्मया

## सू-५ वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् (१-४-५)

भुतप्रकाशिता

## सू-४ ज्ञेयत्वावचनाच्च (१.४.४)

व्यक्तान्यक्तज्ञावज्ञानादिति साङ्ख्यग्रन्थ एव स्ववाक्ये निवेशितः ॥

## सू-५ वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् [१.५.५]

अन्यक्तस्य ज्ञेयत्वमिति । व्यक्तधर्मभूतशब्दादिनिषेधानामव्यक्तपर्यवसानस्य 'न्याय्यत्वात्' महतः परत्वोक्तेः सामान्येन यत्तच्छब्दानादिष्वपि कारणमव्यक्तमिति भावः । विज्ञानसारथिरिति । अनेन ज्ञेयस्य प्राज्ञस्य परमपुरुषासाधारणविष्णुशब्देन प्रकृतत्वं दर्शितम् । एष सर्वेष्विति । 'निचाय्य' श्रुतेः शानस्य 'दृश्यते' इति वदेन प्राज्ञविषयतया प्रकृतत्वं दर्शितम् अवान्तरक्षोद्यपरिहारोऽस्मिन्नेव परमप्रकृतपूर्वपक्षयुक्तिनिर्वाहार्थे 'इत्याह' अतः



## श्रीभाष्यम्

‘क्षमदर्शिमिः’ (१.३.१२) इति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वात् । अत एव ‘पुरपात्रपरं किञ्चित्’ (१.३.११) इति न पञ्चविंशकपुरपातिरिक्ततत्त्वनिषेधः । तस्य च परमपुरपस्याशब्दत्वा-  
दयो धर्माः ‘यत्तदद्रेश्यमग्राहम्’ (मु.१.६) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धाः । ‘महत.परम्’ इत्यपि  
‘बृद्धेरात्मा महान्परः’ इति पूर्वप्रकृताजीवात्मनः परत्वमेवोच्यते ॥

## सू-६ त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च (१.४.६)

अस्मिन्प्रकरणे ह्युपायोपेयोपेत्या त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः ज्ञेयत्वेनैवोपन्यासः,  
तद्विषयश्च प्रश्नो दृश्यते, नान्यस्याः कादे । तथाहि नाचिवेता मुमुक्षुस्सन्मृत्युप्रदत्ते वरत्रये  
प्रथमेन वरेणात्मनः पुरुषार्थयोग्यतापादिनीमात्मनि पितुस्समनस्कां प्रतिलभ्य द्वितीयेन  
मोक्षोपायभूतां नाचिकेतामिविद्यां ववे-‘सत्त्वमग्निं स्यर्ग्यमध्येऽपि मृत्योः प्रमूहितं श्रद्धा-  
नाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्वितीयेन वृणे वरेण’ (कठ.१.१.१३) इति ।

## श्रुतप्रकाशिका

एवेति । व्यक्तधर्मनिषेधामव्यक्तपर्यवसानचोद्यस्यादृश्यत्वाद्यधिकरणे परिहृतत्वमाह—तस्यचेति । महत् परवाद्यव्यक्त-  
मिह विवक्षितमित्यत्राह—महत्तइति । इन्द्रियादिपरिकरयत्त्वलक्षणप्राधा यविवक्षाऽतिशयात् महत्त्वत्वेन आमर्नदेशः ॥

प्रकरणस्य प्राश्निकपरत्वं नास्ति प्रधानस्यापि प्रतिपाद्यमानत्वात् । तस्या प्राश्निकपरत्वं न प्रधानपरधविशेषीत्यत्राह—  
वृषकारः

## सू-६ त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च [१.४.६]

प्रथमचशब्दो हेतुसमुच्चये द्वितीयशब्दः प्रश्नापन्यासयोरसमुच्चये कथमत्र उपन्यासः, प्रश्नवाक्यमिह मुक्तमात्र-  
विषयमिति शङ्कायां प्रतिवचनप्रकारेण प्रश्नार्थस्य विषयत्वात् प्रश्नवाक्येऽपि ‘यत्तदद्रेश्यमग्राहम्’ इति पृष्ठ-  
पश्चादुक्तिः अस्मिन्नित्यादि । त्रयाणामिति पदमग्निजीवपरमा मपर परैर्व्याख्यातमिति तस्य वृत्त्यर्थमाह—उपायेति ।  
एवमुपन्यास इति व्याख्येयपदम् । एवपदं व्याचष्टे ज्ञेयत्वेनेति । ‘ज्ञेयत्वावचनाच्च’ इति पूर्वसूत्रस्य ज्ञेयत्वमेव-  
त्वेन परामृश्यते इत्यर्थः, तदुपपादयति तथाहिति । प्रथमवरवरण द्वितीयपाद ‘अन्ता चराचरमहणात्’ इत्य-  
धिकरणे विस्तृतत्वादिह प्रतिलभ्येत्य तेन सक्षिप्तं तत्र सक्षिप्तं वाद्वितीयवरवरण विस्तरेण दर्शयति द्वितीयेनेति मोक्षो-  
पायभूतामेति । नाचितेतामिविद्याया मोक्षोपययमग्निद्वारा भवति, इत्यत्र परमा मन्त्रस्यामनुष्ठानमर्थयति ।  
तथाह तदुभय भ्रूयते ‘लोकादिमग्निं तमुपाच तस्मै’ इत्युक्तं प्रश्नजज्ञ देयमीदृजं विदित्वा निचाप्येमां  
शान्तिमत्यन्तमेव । ‘त्रिणाचिजेतस्यमेताद्विदित्वा य एवविद्वान् चिनुते नाचिकेतम् । समृत्युपाशात्पुरत-  
प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके’ इति वाक्येन परमा मन्त्रादनुष्ठानमनुष्ठानमर्थयति । तत्राग्निसंविदाज्ञानपूर्वकं चिन्वा-  
नस्य शोकातिगत्यमुक्तम् ‘यो या एता मन्त्रजज्ञात्मभूता चितिं विदित्वा चिनुते नाचिकेतम् । सप्य भूत्वा मन्त्र-  
जज्ञात्मभूतः करोति तद्येन पुनर्न जायते’ इति वाक्येन मन्त्रजज्ञात्मभूतत्वात् तदनुष्ठानं या तादृशदयत्तं ऽपि हतं तेन वाऽनुष्ठ-  
ानपूर्वकमग्निचिन्वानस्यापुनर्महदेष्टुभूतमज्ञोपासनद्वारा मोक्षप्राप्तिरुच्यते, तृतीयवरवरणस्याप्यग्निचिन्वात्वात् द्वितीय

श्रीभाष्यम्

स्वर्गशब्देनात्र परमपुरुषार्थलक्षणो मोक्षोऽभिधीयते, 'अमृतत्वं भजन्ते' (कठ.१:१.१३) इति तत्रस्यस्य जननमरणाभावश्च वणादुत्तरत्र क्षयिफलकर्मनिन्दादर्शनाच्च; 'त्रिणाचिकेतस्त्रिमिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु' (१.१.१७) इति च प्रविचयनात् । तृतीयेन वरेण मोक्षस्वरूपप्रश्नद्वारेणोपायस्वरूपमुपेतृस्वरूपमुपायभूतकर्मानुगृहीतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्- 'येयं त्रेने विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति त्रैके । एतादृशमनुशिष्टस्तथाऽहं वराणामेव वरस्तृतीयः' (१.१.२०) इति । पवं मोक्षे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतां परीक्ष्योपदिदेश, 'तं दुर्दर्शं दमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ, १.२.१२) तदेवं

## श्रुतप्रकाशिका

१. खरणश्लोकमुपादाय तत्र व्याख्येयस्य स्वर्गपदस्य प्रकृत्यंशं व्याचष्टे स्वर्गेति । मोक्षशब्दे । मोक्षस्यानपरः, लोकशब्द-  
सामानाधिकरण्यात् माध्ये तत्रस्थस्य इति वक्ष्यमाणत्वाच्च, सर्वशब्दस्य मोक्षवाचित्वोपपादकः परमपुरुषार्थलक्षणशब्दः  
स्वर्गशब्दस्य प्रकृत्युल्लोपलक्षणात् मोक्षस्य निरवधिकानन्दरूपत्वाच्च, स्वर्गशब्दवाच्यत्वमिति भावः । प्रसिद्धस्वर्गपरत्वं  
किं न स्यादित्यत्र आह—अमृतत्वमिति । तत्रस्थस्येति । 'स्वर्गलोका' इति बहुव्रीहिः निरतिशयसुखरूपपरमव्यो-  
मस्या इति भावः मोक्षवाचित्वे हेतुन्तरमाह—उत्तरेति । द्वितीयवरवरणप्रश्ने 'श्रौऽभावामर्त्यस्य यदन्तर्गते तत् सर्वं  
न्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव' इति तथा 'जीविष्यामो यावदीशिक्ष्यासि स्वं वरस्तु  
म वरणीयस्स एव' इति नचिकेतसैव क्षयिफलस्य निर्दिष्टत्वात् क्षयिफलविमूढेन न चिन्तयितुं शक्यं इति परस्पर-  
पक्षेतित्यर्थः ॥

द्वितीयवरवरणप्रतिवचनावगतं हेत्वन्तरमाह-त्रिणाचिवेतइति । त्रिणाचिकेतः 'अयं वाच य.पवते' इत्याद्यनुवाकप्रयाध्यायी, त्रिकर्मकृत् यजनाध्ययनदाकृत् । पाक्यशहवियंशसोमयश्चक्रदा त्रिभिः अग्निभिर्हेतुभिः । सान्धि परमात्मोपासनेन संबन्ध प्राप्य जन्ममृत्यू तरतीत्यर्थः 'करोति तद्येन पुनर्न जायते' इत्यनेनैकार्थ्यात् तर्सादेनेति । 'येयं प्रेते' इति मन्त्रस्य देहातिरिक्तजीवस्वरूपमात्रप्रश्नपरवत्युदासायाह—मोक्षेति । अत्रोपायोपेयप्रश्नो गर्भितइति भावः, प्रतिवचनप्रकारेण प्रश्नार्थस्यावगन्तव्यत्वात् 'प्रेते परित्यक्तचरमशरीरे' इत्यर्थः 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इति प्रयोगात् । अन्यथा पूर्ववरद्वयवरणानुपपत्तिर्हेतुः पूर्वमुक्तत्वादिषु कष्टोक्तः । इदं च विस्तरेणोपपादयिष्यामः । आत्मप्रकरणे नाचिकेतो मरणं मानुप्राप्तिः' इति मरणशब्दश्चरमशरीरवियोगपरः उत्तरेतोरेव

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः परमात्मा भवेत्सृजत । समुक्तस्तन्वसन्तानात् परेण समतां ब्रजेत् ॥

इति परमात्मसाध्यापत्ते मुक्ते मृतशब्दस्य कपिलासुरिसवादे प्रयुक्तत्वात् 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा' इत्याख्य  
'धृत्या धीरो नचिकेतोऽप्यप्राक्षीः' इत्यन्तेनोच्यमान दुरवगमत्वविविधप्रलोभनप्रश्रमप्रतिषेधादिफलमिप्रेत्याह-तदु-  
पदेशयोग्यतां परीक्ष्येति । 'दुर्दर्शं द्रष्टुमशक्यम् । कुत, गूढं गुणत्रयतिरोहितत्वात् अनुप्रविष्ट शरीरानुप्रविष्टं  
तत्रापि गुहादितं हृदयगुहागत गह्वरेष्ठ, गह्वरेष्ठम् तदन्तर्गते वस्तुनि स्थितम् जीवान्तास्थितमित्यर्थः । जहातित्युपदिदे-  
शेत्यन्वयः 'येय प्रेते' इत्यादिवाक्यस्य जीवमात्रप्रश्रमरत्वे परमात्मविषयतया प्रतिवचनवैषम्यं स्यादित्यभिप्रायः ।  
अस्मिन्वाक्ये स्वोक्तमर्थप्रितयमापि विशदयति तदेवमिति । 'अध्यात्मयोगशब्दः प्राशस्यरूपविषययोगात्' ।

## श्रीभाष्यम्

‘सामान्येनोपदिष्टा नाचिकेताः प्रीतस्सन् ‘देवं मत्वा’ (१.२.१२) इत्युपास्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्यभूतस्य देवस्य ‘अध्यात्मयोगाधिगमेन’ इति वेदितव्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्तुः प्रत्यंगात्मनश्च ‘मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ (१.२.१२) इति निर्दिष्टस्य ब्रह्मोपासनस्य च स्वरूपविशोधनाय पुनः पप्रच्छ—‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्माः कृताकृतात् । अन्यत्र भूताद्भूतव्याच्च यत्तत्पद्यासि तद्वद’ (१.२.१४) इति । एवं सकलेतरार्ततानागतवर्तमानसाध्यसाधनसाधकविलक्षणे त्रये पृष्ठे प्रथमं प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यस्वरूपं तदन्तर्गतं च प्राप्तृस्वरूपं वाचकरूपं चोपायं पुनरपि सामान्येन ख्यापयन्प्रणवं तावदुपदिदेश

## श्रुतप्रकाशिका

भिप्रयन्नाह—वेदितव्यतयेति । ‘तं दुर्दर्शम्’ इति मन्त्रेण त्रितयमप्युक्तं चेत् श्रोतव्याभावात् पुनः प्रश्नानुपपत्तिरिति शङ्काऽग्नोदनाय प्रश्नाकांक्षा प्रयोजने दर्शिते सामान्येनेति । स्वरूपविशोधनाय पुनः पप्रच्छेति च । पुनः पप्रच्छ इति पाठः उपायोपेयोपेतृणां प्रयाणामपि सामान्येनोपदिष्टत्वात् स्वरूपशोधनाकांक्षायै सर्वसाधारणी तत्कथं ‘अन्यत्र धर्मात्’ इति मन्त्रेण परमात्ममात्रविषयप्रश्न इति शङ्काया प्रश्नस्य त्रितयविषयत्वमनुमाप्यव्याजेन दर्शयन् तदनन्तरमन्त्रस्यापि त्रितयविषयत्वमाह—एवं सकलेतरेति । कालत्रयसन्धान्धित्वं हि वक्ष्यमाणत्रितयस्याप्यस्ति तत्कथं विलक्षणमिति शङ्काव्युद्देशार्थं इतरशब्दः वर्तमानशब्देन कृताकृतशब्दो व्याख्यातः प्रारब्धसमाप्तिर्हि वर्तमानमुच्यते—‘अन्यत्र’ इति वैलक्षण्यं विधाक्षितम् । धर्मः उपायः, धर्मादन्यत्र प्रसिद्धोपायविलक्षण उपाय इत्यर्थः, अधर्मः धर्मेतरः, उपेयः । अधर्मादन्यत्र प्रसिद्धसाध्याविलक्षण फलमित्यर्थः । अस्मादिति बुद्धेस्तु साधको विवक्षितः । स एवोपेता स हि प्रसिद्धोपेतृसाधकविलक्षणः साधकावस्थायामितरफलविरक्तत्वात्, फलदशायामाविर्भूतगुणाष्टकविशिष्टस्वरूप वाच्यः । कृताकृतादिति धर्माधीनां विशेषणम् । कृताकृताद्धर्मादेर्विलक्षणं यत् भूताद्भूतव्याच्च धर्मादेर्विलक्षणं यदित्यर्थः ॥

यद्वा धर्मादधर्माच्च अन्यत्र यदियुपासनप्रश्नः, पुण्यापुण्यरूपसाधनाविलक्ष बाहुपासनस्य कृताकृताद्भूतात् भूतव्याच्च न्यत्र ददिति कालपरिच्छिन्नमुपेयं पृष्ठम् । उपतुरपि चेतनस्य नित्यत्वात् प्राप्यान्तर्भावाच्च, ततएव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः । तदन्तर्गते च प्राप्तृस्वरूपमिति हि वक्ष्यते त्रयइति । यत्तच्छब्दौ त्रितयपराविति भावः ॥

ननु धर्माधर्मासाध्यात्रिकालवर्तिविलक्षणपरमात्मविषयोऽयं मन्त्रः, किं न स्यात् ? उच्यते—धर्मादन्यत्रेऽमुक्ते तदसाध्यत्वं प्रतीयते, न ददृष्टादन्यद्दृष्टमिऽमुक्ते सत्यदृष्टासाध्यत्वं दृष्टस्य प्रतीयते । धर्माधर्मादेर्विलक्षणसाध्याविषयप्रश्नस्यादिति चेन्न, प्रयोजनभावात् कृताकृताद्भूताद्भूतव्याच्चाऽन्यत्रेत्यनेन कालपरिच्छिन्नार्थविलक्षणं वस्तुदृष्टं स्यात्, ततश्च धर्माधर्मवैलक्षण्यप्रश्नं विफल एव, धर्माधर्मपरापि कालपरिच्छिन्नपरवर्तमानत्वं तत् इतरेषां योऽपि न ददृष्टः । ॥ १.२.१४ ॥ प्रणवं प्रशस्यति । ‘सर्वं वेदा’ इत्यादिशब्दयोजनपरब्रह्मप्रतिपादकतया प्रशस्येत्यर्थः, ‘तत्ते पदं संप्रदेण प्रयी-स्योमिति’ इति प्रणवन ब्रह्मप्रतिपादनं मुच्यते । प्राप्यस्वरूपमिति । पदशब्दः पद्यत इति द्युपगमा प्राप्यवर्धीति भावः । तदन्तर्गते प्रणववाच्यान्तर्गतं प्रणववाच्यैकदेशम् प्रणवैकदेशवाच्योपेता जीवः ॥

यद्वा प्राप्ये प्रणववाच्ये परमात्मनि प्रकारतयाऽन्तर्गतमित्यर्थः । पारंशुदजीवस्य प्राप्यान्तर्भावात् पदशब्दवाच्य-नभूतस्यामेति भावः । वाचकरूपचोपायमिति । उपायोपायया प्रणवस्योपायत्वं, उपायोहि ध्यानं वाचकशब्दश्च

### श्रीभाष्यम्

‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यमित्येत ! (कठ.१.२.१५) इति । एवमुदिश्य पुनरपि प्रणयं प्रशस्य प्रथमं तावत्प्राप्तुः प्रत्यगात्मनस्स्वरूपमाह—‘न जायते म्रियते वा विपश्चित्’ (कठ.१.२.१८) इत्यादिना प्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्त्वरूपम् ‘अणोरणीयान्’ (१.२.२०) इत्यादिना ‘क इत्या वेदयत्र सः’ (१.२.२५) इत्यन्तेनोपदिशन्मध्ये ‘नायमात्मा प्रयत्नेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन’ (१.२.२३) इत्यादिनोपायभूतस्योपासनस्य भक्तिरूपतामप्याह ‘ऋतं पिवन्ती’ (१.३.१) इति चोपास्यस्योपासकेन सहावस्थानात्सुपासतामुक्त्वा ‘आत्मानं रयिनं विद्धि’ (१.३.३) इत्यादिना ‘दुर्गे पथस्तत्कथयो वदन्ति’ (१.३.१४) इत्यन्ते नोपासन-कारमुपासीनस्य च वैष्णवपरमपदप्राप्तिमभिधाय ‘अशब्दमस्पर्शम्’ (१.३.१५) इत्यादिनोपमं हतम् । अतस्त्रयाणामेवात्र धेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्च, तस्माद्देह तान्त्रिकस्यान्यक्तस्य ब्रह्मणम् ॥

### श्रुतप्रकाशिका

वाच्यस्मरणोपायः ‘ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्’ ‘ओमित्यात्मानं ध्यायथ’ ‘ओमित्यनेनैवाऽऽरेण परमपुरुषमभिध्यायीत’ इति ध्यानेोपाय-वाहि प्रणवस्यावगम्यते ‘तपांसि ज्ञानप्रधाना उपरिभागा’,

ननु तत्ते पदं ब्रवीमि इति ताप्यस्वरूपपरत्वाद्वा प्रतीयते, तत्कथं त्रितिरुत्पन्ने ताप्यं कथं ब्रह्मणा जिज्ञेयं प्रतिशते तदनुबन्धिनां जिज्ञास्यत्वसिद्धिः, तदुपश्रुतत्वादुत्तरत्र निरूप्यमाणं वाच्यं अर्थतः प्रतिशतं वसिद्धिरिति चेत् इहापि ब्रह्मवेदनो-योगिवात् उत्तरत्र प्रतिपाद्यमानत्वाच्च, उपायोपेक्षोरपि प्रतिपद्यते । न ब्रह्मलक्ष्ये गादिमात्रात् किन्तु पदशब्दवाच्यान्तर्भावश्च दर्शितः ‘एतद्धेतुवाक्षरं ब्रह्म’ इत्यादि वाक्याभिप्रायेण ह-पुनरपि प्रणयं प्रशस्येति ‘न जायते म्रियते वा विपश्चित्’ इत्यादिमन्त्रद्वयस्य परमात्मपरत्वानुपपत्तिं मनवान् आह-प्राप्तुं प्रत्यगात्मन इति का पुनरनुपपत्तिः ? उच्यते इदं मन्त्रद्वयं तावदेकविध्यम् ‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’ इत्येतद्विवरणरूपं वात् द्विद्वयमन्त्रस्य । ‘हन्ता चेत्’ इति मन्त्रश्च जीवविषय एव लोकस्य परमात्मनि हन्तृहन्तव्यभावप्रतिपत्त्यमात् तत्प्रवेधानुपपत्तेः । परमा माहि प्रत्यक्षागोचरः, कथं तस्मिन्वध्यतादिप्रतिपत्तिः, अहमेन हन्मि अयं मां हन्तुमागच्छति इति वक्ष्यं चातुक्मावाभिमानोहि जीवविषय एव देहिना ॥

ननु ‘नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते’ इति व-परमान्यपि हननप्रतिषेध उपपद्यते इह तु लोकभ्रान्तिरनूय प्रतियज्यते ‘हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ सौ न विजानीतो’ इति परमात्मनि वक्ष्यं चातुक्प्रान्तिर्न कस्याचिदप्यास्ति अतोऽनुवादनिषेधावनुपपत्तौ ‘न जायते’ इति मन्त्रश्च तेनैकार्यः, अतो मन्त्रद्वयमपि जीवविषयम्, ‘अणोरणीयान्’ इत्यादेरर्थमाह-प्राप्यस्येति । ‘न जायते म्रियते’ इत्यादिना ‘अणोरणीयान्’ इत्यादिना च जीवपरयोस्त्वरूपे कथिते ‘ऋतं पिवन्ती इति मन्त्रेण तयोः प्रतिपादनवैयर्थ्यशङ्कापरिहारायाह-सुपासतामुक्त्वेति । एतद्वाक्यस्योपादानं परकृतव्याख्याननिरासफलकतयेति वक्ष्यामः । उपरुद्धतमिति प्रकृतोपरुद्धारस्यापेक्षितत्वादयान्तरपरत्वस्यासङ्गतत्वाच्चेति भावः । सूत्रार्थं निगमयति-अतस्त्रयाणामिति । सूत्रार्थ-परमं ब्रह्म देहं वयं स्मा मेहेति ॥ ।



## श्रुतप्रकाशिका

ननु 'त्रयाणाम्' इति अग्निजीवपरमात्मपरं किं न स्यात् तेषां हि प्रश्नोपन्यासो दृश्येते 'सत्त्वमग्निं स्वर्ग्य-  
मध्येऽपि मृत्योः प्रब्रूहि' 'येऽयं प्रेते' 'अन्यत्र घर्मात्' इति त्रयाणां क्रमेण प्रश्नः 'लोकादिमग्निं तमुवाच  
'तस्मै या इष्टकाः' 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा हि मरणं प्राप्य आत्मा द्रवति गौतम  
न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति प्रतिवचनं च जीवविषयप्रश्नस्य परमात्मविषयप्रतिवचनवैध्व्यं प्रवक्ष्यस्य विव-  
क्षितत्वादुपपत्तेरिति । उच्यते—अत्रासतिविरोधेऽपि भाष्यकारोक्तार्थ एव युक्ततरः । तथा हि जीवस्तादुपेता परमात्मो  
पेयः, अग्निविद्या च ब्रह्मोपासनाङ्गत्वेन उपायान्तर्भूता तदन्तर्भावश्च प्राकरणिकवाक्यैर्दर्शितः । अत्रापि पृथगेव विव-  
तत्वे अग्निजीवपरमात्मतदुपासनायां चतुर्णां प्रतिपाद्यत्वदर्शनात् 'त्रयाणामेव' इत्यवधारणमुत्तमं, अतोऽङ्गोपा-  
यान्तर्भावविवक्षाऽङ्गीकर्तव्या, तथास्युपायोपेयोपेतृणामेव व्याख्यानं युक्ततरं, उपासनोपदेशश्चात्र स्फुटतरमुपलभ्यते,  
'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' 'नाविरतो दुश्चरितात्' इत्यादिना केवलश्रवणादिविलक्षणं परमात्मवर्णीयता  
हेतुभूतः प्रकृष्टज्ञानविशेषो हि उपायतयाऽभिधीयते, अवधारणं प्राधान्यव्यावृत्तिपरम् उपायस्योपेयप्राप्त्यर्थतया परमात्म-  
न्यन्तर्भावात् श्रित्वाविरोध इति चेत् तर्हि त्रयाणामुपन्यासः प्रधानस्याप्रतिपाद्यत्वे हेतुरेव न भवितुमर्हति, अर्थान्तरा-  
न्तर्भावसहत्वात् प्रश्नोपन्याससमुच्चयस्त्रयाणामेव नष्टुपायस्य प्रश्नो दृश्येते, अतोऽवधारणोपपत्तिरिति चेन्न, अस्मिन् प्रकरणे  
प्रश्नोपन्याससमुच्चयस्य प्रतिपाद्यत्वे हेतुत्वाभावाभावात्तदभावेन प्रतिपाद्यत्वाभावस्य दुर्वचत्वात् । उपायोऽप्युपेयोपन्यस्तः  
सोऽप्यर्थतः प्रकृष्ट इति; प्रश्नोपन्याससमुच्चयोऽस्मिन् प्रकरणे प्रतिपाद्यत्वे हेतुरिति चेत्, तर्हि चतुर्णामिति वक्तव्यम् ।  
शब्दतोऽर्थतश्चतुर्णां प्रश्नोपन्याससम्भवात् यदि कण्ठोक्तयैव प्रश्नोपन्याससमुच्चयो विवक्षितः, तस्य प्रतिपाद्यत्वे प्रयोजक-  
त्वाभावस्य प्रतिपाद्यमानोपायस्य एव दृष्टतया समुच्चयमावस्याप्रतिपाद्यत्वे हेतुव्यायोगात् ॥

-किंच 'येऽयं प्रेते' इत्यस्य देहातिरिक्तजीवसद्भावासद्भावप्रश्नविषयं चानुपपन्नं देहातिरिक्तात्मसद्भावनिश्चय-  
रहितस्य पितृसौमनस्याग्निविद्यावकरयोरनुपपत्तेः, अग्निप्रश्नवाक्य एव 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते' इति देहातिरि-  
क्तात्मज्ञानवत्त्वमवगम्यते । तत्प्रतिवचनमेव 'त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू' 'करोति तद्येन पुनर्न जायते' इत्यप-  
वर्गरूपपुरुषार्थोपयोगित्वमग्निविद्याया अवगतं कुतो देहातिरिक्तात्मसद्देहसम्भवः । तस्मादपवर्गप्रकारविशेष एव संदेह-  
सम्भवः अतस्तत्प्रकारविशेषप्रश्नपरं च 'येऽयं प्रेते' इत्यादिवाक्यस्य युक्तम् यदीदं देहातिरिक्तात्मसद्भावासद्भावं  
प्रश्नपरम् 'अस्य' 'तं दुर्दर्शम्' इति परमात्मविषयप्रतिवचनं च न घटते, जीवपरयोरेक्यशापनार्थं तथा प्रतिवचनं  
मितच्चिन्नं परमात्मविषयप्रतिवचनमेव 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इति जीवपरयोर्भेदप्रतिपादनेन तद्विद्वद्भावा-  
भिप्रायकल्पनाऽनुपपत्तेः । नच भेदानुवादः सर्वज्ञतायाकारेण जीववैलक्षण्यस्य लौकिकप्रमाणागोचरत्वात्, विहितस्य  
निर्घेद्यायोगाच्च । नच बुद्धिजीवपरोऽयं मन्त्रः 'गुह्यं प्रविष्टौ' इत्यत्रास्य मन्त्रस्य बुद्धिजीवपरत्वं पूर्वपक्षीकृत्य जीव-  
परमात्मपरत्वस्य भवद्विरेवास्य गौर्द्वितीय इति न्यायनं रिद्वान्तितं वात् 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' इति  
हृदयायतनं उपायतया स्थितस्य परमपुरुषस्यादित्यमण्डला तर्वातिदमुच्यते इति न जीवपरदर्शयतीतिः 'रुत्योऽस-  
मृत्युमामोति' इति वाक्यमुपसहारगतमेतदपेक्षया दुर्बलम्, भेदसामान्यनिर्घेदरूपं वाद्विहितभेदविशेष्ययोतिरिक्तविषयं  
च, अतश्चतुर्भेदविरुद्धाभिप्रायकल्पनाऽयोगात् प्रतिवचनवैध्व्यमेव । किंच 'येऽयं प्रेते' इति प्रथमस्येष्टस्य प्रश्न-  
प्रतिप्रश्नान्तरव्यवहितस्य पञ्चमस्येष्टस्य 'हन्त इदं प्रवक्ष्यामि' इति वाक्यस्य प्रतिवचनचानुपपत्तम् अर्थक्रमः पाठ-  
क्रमात् शलीयानिति तेन तद्वाच्य इति चेन्न, मध्ये जीवविषयवाक्यस्य सद्भावात् । तच्च दर्शितम् ॥

श्रीभाष्यम्

सू-७ महद्वच [१.४.७]

यथा 'बुद्धेरत्मा महान्परः' (कठ.१.३.१०) इत्यत्रात्मशब्दसामानाधिकरण्याच्च तन्त्रसिद्धं महत्तरं गृह्यते ; एवमप्यात्मनः परत्वेनाभिधानाच्च कापिलतन्त्रसिद्धं गृह्यत इति स्थितम् ॥

इति आनुमानिकाधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

किंच 'यन्मयं च जमद्वहन्' इत्यादाविव यदा प्रतिवचनाव्यवहिताः प्रश्नाः प्रश्नाव्यवहितानि च प्रतिवचनानि स्युः, तदा क्रमतो उच्यन्ते, का देवदत्तः दण्डी, को यशदत्तः ! कुण्डली, को विष्णुमित्रः कमण्डलुमान् इति चैकैकप्रश्नानन्तरं तत्प्रतिवचनदर्शनात् यशदत्तप्रश्नोत्तरस्य देवदत्तप्रश्नोत्तरवत्त्वमप्युच्यते अतः 'येऽयं प्रेत' इति सजीवसद्भावास्त्वावगात्रप्रश्न इत्युक्तम्, अतः 'येऽयं प्रेत' इति श्लोकशब्दतोऽर्थतश्च मोक्षानुबन्धितया ज्ञातव्यार्थत्रयविषयः । तथा च सति 'तं दुर्दर्शम्' इत्यादि प्रतिवचनमतीव घटते, 'अन्यत्रधर्मात्' इति पुनःप्रश्नाकाशा तस्यार्थश्च दर्शिता, अर्थत्रयस्यैकश्लोकेन पृष्टवस्य विवाक्षितत्वात् प्रतिवचनाच्च 'त्रयाणामेव' इत्यवधारणं च युक्तम् । अतएव 'न जायत' इति जीवविषयवाक्यस्य 'अणोरणीयान्' इति पराविषयवाक्यस्य 'नायमात्मा' इत्युपायविषयवाक्यस्य च प्रतिवचनं च सुघटितम् । प्रश्नप्रतिवचनान्तराव्यवहितं च सिद्धयति एकप्रश्नेनैवार्थत्रयस्य पृष्टत्वे सूत्रस्यप्रश्नोपन्यासशब्दगतेकप्रचनस्वारस्य च भवति न ह्युपन्यासात् प्रश्नाच्चे युक्तम् । यतः 'येऽयं प्रेत' इति प्रश्नोऽर्थत्रयविषयः, अतएवेह प्रश्नसामानाधिकरण्यादविद्याविभागकथनादिकं श्लोकोपपद्यते, अतो यथोक्त एव सूतार्थः ॥

सू-७ महद्वच [१.४.७]

तन्त्रसिद्धमहत्त्वाग्रहेण सूत्राभिप्रेतं हेतुमाह—आत्मशब्दसामानाधिकरण्यादिति ॥

इति आनुमानिकाधिकरणम्

अथ आनुमानिकाधिकरणम्

गूढार्थसंग्रहः

सू-१ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीते दर्शयति च (१-४-१)

अत्रापिना एकेषामिति अनेन ब्रह्माभ्युपगमस्तूयते । सिद्धान्तेऽप्ययमर्थः समस्तः त्रिपाद्या अन्ययोगव्यवहेद परत्वात् । प्रथमपादेऽपि प्रकृतिजीववैलक्षण्यमभिधीयते । १३ ब्रह्मण्यक्षय्यताऽवच्छेदकनिर्णयार्थं तत्पादऽवृत्तिः ।

## गूढार्थसंग्रहः

चिदचिद्वैलक्षण्यसिद्धौ अचिज्जीवापेक्षया उत्कर्षः सिद्धयति । तत्सिद्धयनन्तरं प्रथमपादे 'उपासार्त्रेविध्यात्' इत्यनेन अचिज्जीवस्वधर्मकोपासनोक्त्या अचिज्जीवापेक्षयोत्कर्षः सम्यगवबोधितो भवति । अनन्तरं पूर्वप्रवृत्ताः जीव्योः लक्षणतिप्रसङ्गनिरसनमुखेनान्ययोगव्यवच्छेदः प्रतिपादनीय इति 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इत्यादित्रिपादी प्रवृत्ता । तत्रैतन्पादे परिस्मृतिस्मृचनार्थापि अपीत्युक्तं सूत्रे, तेनापिशब्देन ब्रह्माभ्युपगमसूचनं सिद्धान्ते सुतरां सगतम् 'ईक्षतेर्नाशच्छब्दम्' इत्यत्राशब्दनिर्देशतात्पर्यं तदधिकरण एव सम्यक् निरूपितम् । पूर्वत्र त्रिपाद्या 'नानुमानम् आनुमानशब्दप्रयोगः नानुमानिकमिति । अयमाशयः अनुमानेन चरतीत्यानुमानिकम् । 'चरति' (पा.सू.४.४.८) इतिटक् 'टस्केः' (पा.सू.७.३.५०) इतीकादेशः । आनुमानमित्यत्राप्रत्ययः तेनानुमानगम्यामित्यर्थः अनुमानेन चरतीत्युक्तौ चरति, गच्छतीति बहुकार्यात्मना गच्छतीत्यर्थसूचनेन तत्रसिद्धप्रक्रिया प्रत्यभिज्ञापनं सूच्यते तेन तत्प्रतिपादनछायानुसारीणि इति भाष्योक्तपादार्थसूचितः ॥

अत्राव्यक्तमहदादिशब्दानां सत्त्वात् कार्यकारणभावेन कापिलसन्त्रे प्रतिपादितानामत्र विन्यासेन तन्त्रसिद्धपदार्थग्रहणशङ्का । शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेरिति प्रकरणेन शरीररूपकविन्यस्तानां प्रकरणात् गृहीतेत्यर्थः ॥

अयमाशयः—प्रकरणचेदं 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यनेन वगादिनियमनपरम् नियमनेसति 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परमनः' इत्यादिकमुपपद्यते । अत उभयोस्सामरस्यमत्र विवक्षितम् । अतः 'इन्द्रियेभ्यः परा' इत्यत्र नियमनेन वशीकार्यत्वे परत्वक्रमप्रतिपादने तात्पर्यम् । 'बुद्धेरात्मा महान्तरः महतः परमव्यक्तम्' इत्यत्राव्यक्तशब्दो वर्तते । अत्र महच्छब्दः न महत्तत्त्वपरः तस्याः मत्वाभावात् । 'महतः परमव्यक्तम्' इत्यत्रापि जीवात्परवमेवाव्यक्तस्य विवक्षितम् । एवं च 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च' इत्यत्र जीवानन्तरं शरीरस्योक्तः अत्र च जीवानन्तरमव्यक्तस्योक्तः । अनन्तरं 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहेमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुः दिव्यास्तेषु गोचरान्' 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परमनः । मनस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्तरः' इति व्युत्क्रमेणाभिधानं विषयनियमनेन वशीकार्यताक्रमप्रदर्शनार्थं नियमनेन वशीकरणक्रमः इन्द्रियार्थादीनां वशीकरणं शरीरवशीकरणमन्तरं न संभवति । अतः शरीरवशीकरणमेव प्रथमं कार्यम् । एवं च न साङ्ख्यमिममप्रधानपरवप्रतिपादनं दुश्चम् ॥

अत्र पुरुषशब्दार्थपर्यालोचनेन पुरुषवशीकरणमपि निर्णयम् । पुरुषशब्दः 'स्य-पूर्वोऽस्मात्' इति(इ)भुत्-भुत्-रेण जगत्कारणं सर्वपापदाहकः सर्वशरीरोति अर्थाप्तिरयमभिधत्त इति पूर्वमेव गृह्यमाणस्य भुत्-भुत्-रेण सप्तपदादितम् । तत्र जगत्कारणं सर्वशरीरीत्यर्थद्वयेन साधिकात्मिकानुप्रवेशनिबन्धनक नप्रदत्तं रिद्धयतीत्यर्थः प्रागेवोपपादितः । 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः प्रसक्तमृत्निर्गन्ममोहर्न च ।' इति गीतायामप्ययमर्थः स्फुटः । एषोपासनस्यापि शान्तियोगतया उपासननिर्द्वन्द्वयुगायकाश्रयस्य भगवत एव सिद्धम् उपासनस्यापि शान्तियोगरूपत्वात् । 'ईश्वरसर्वभूतानां हृद्देशजं तु तेषां तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तन्प्रसादात्परं शान्तिमन्त्रिरेणाधिगच्छते' इत्यत्र शरणागतिः प्रतिपादिता 'सोऽश्चनः पारमार्थोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।' इत्यत्रापि शान्तियोगेऽप्राप्तिरेव विवक्षिता 'तत्त्वोपनिषदं पुरुषम्' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म सातिर्मातृपरायणम् तिष्ठमानस्य तर्हिदः' इति भुक्त्योक्तार्थकं य एवैवम् । पुरुषशब्दस्य पुन्येन ददातीति सर्वफलदातृत्वमपि तस्यार्थः, स्वात्मकफलदातृत्वमपि तस्यैव । 'परायणम्' इत्यत्रापि उपासकं प्राप्य-प्राप्तुमप्येव विवक्षितम् । सर्वपापदाहकत्वेनापीदं सूच्यते, अतः परमप्राप्यत्वमप्यत्र सिद्धयति । 'सा काष्ठा सा परा गतिः इत्यत्र गतिशब्दः प्राप्यपरः । तदिदमभिधापि भगवता भाष्यहृता, वशीकार्योपासननिर्द्वन्द्वयुगायकाश्रयः परमप्राप्यत्वमप्यत्र' इत्यत्रापि इति 'तस्य च वशीकरणं तच्छरणगतिरेव ।' आदितः सूत्रत्रयार्थः परेपां सिद्धान्तिना विवक्ष्य एव ॥

### गूढार्थसंग्रहः

नवीनास्तु आद्यसूत्रे अव्यक्तशब्दार्थः विष्णुः । द्वितीयसूत्रे सूक्ष्मत्वेमपि तस्यैव, 'तदधीनत्वादर्थवत्' इति सूत्रम् 'अव्यक्ताः पुरुषः परः' इत्यत्र प्रधानगताव्यक्तस्य परमात्माधीनत्वात् प्रधानगताव्यक्तस्य नियमकत्वेन अव्यक्तस्य परत्वं विवक्षितम् । तथा च 'अव्यक्तात्' इति पञ्चम्यादि पुरुषगत परत्वं प्रत्यक्षस्य व्याधि-व्यमर्तात्वेतदवदेव लभ्यते । नच तदस्यास्तीत्यनेन समवाय एव प्राप्नोतीति नियमोऽस्ति तस्वामित्वेनाप्युपपत्तेः । तदस्य यद्गत परस्य प्रत्यक्षस्य तस्यावरत्वमर्थादापद्यताम् परमत्तु ये स्वामिक तस्यावरत्वाटिकप्रति स्वाम्यमेवार्थादापद्यत इति न कश्चिद्विरोध इति सुधायामभिहितम् 'इति वदन्ति 'महतः परमव्यक्तम्' इत्यत्राव्यक्तशब्देन यदि परमात्मा बोध्यते तर्हि अव्यक्ताः पुरुषः परः इत्युत्तरत्राव्यक्तात् विष्णोः पुरुषो विष्णु पर इत्यर्थस्य त । तथा च स्वस्मात् परत्वं कथम् ? पूर्वमव्यक्तशब्दस्य विष्णु परत्वं उत्तरत्राव्यक्तशब्दस्य प्रधानपरत्वं कथम् । पूर्वं यद्वर्माविशिष्टस्योपस्थितिस्तत्तद्वर्माविशिष्टस्यैवोत्तरत्रापि प्रतीतिरसर्वसंभवा । तथा च स्वस्य स्वस्मात् परत्वंमैवैतद्वाक्यं प्रतीयत इति सर्वानुभवसिद्धम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' इति सूत्रे अनुमानसिद्धानामव्यक्तमहदादीनां प्रतीतिः श्रुता । 'अव्यक्ताः पुरुषः परः', पुरुषास्त पर किञ्चित्' इत्यत्र पञ्चविंशकनुरूपानियेष इति पूर्वपक्षः । अत्राव्यक्तमहदादीनां न साङ्ख्यमतसिद्धानां विवक्षा श्रुतौ समता । किंतु शरीररूपकविन्यस्तानामेव ग्रहणम् । शरीररूपकविन्यासे बीजतु 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अरेभ्यश्च परमनः । मनस्तु पर बुद्धिः पुंद्रेणामा महानारः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्ताः पुरुषः परः । पुरुषास्त पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ॥' इति, अत्र परत्वं वशीकार्यत्वे । अतएव क्रमव्यत्यासः जनानां बुद्धिसौकर्याय पूर्वं आत्मानम् क्रमव्यत्यासः, अत्रतु वशीकार्यं परं पराक्रमः, वशीकार्यत्वं तस्येन्द्रियाप्यवश्यानि तस्येन्द्रियाणि वश्यानीति पूर्वमेव प्रक्रान्तम् तद्विस्तरः 'इन्द्रियेभ्यः परा' इत्यादिः । 'पुरुषास्त पर किञ्चित्' इत्यस्यानन्तर 'दृश्यते त्वग्रथया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राशः' इत्यादिना यागादिनियमनमुच्यते । इत्थं च नियमननिबन्धनैव वशीकार्यता, तत्र क्रमता पर्यं भाष्यएव व्यक्तं तत्र पुरुषोऽपि वशीकार्येषु प्रधान इति प्रतिपादितः । तद्वशीकरणमेवात्रैकेषा शास्त्रिणा शास्त्राया इत्युक्तम् । अतएवैकेषांमित्यस्य सार्थक्यम् अत्रिणा एकैषामि युक्त्या च ब्रह्मसद्भावः प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । एव च ब्रह्मप्रधानैवेयं शास्त्रा तद्वशीकरणक्रमावगमितया शरीररूपकविन्यस्तानां ग्रहणम् । अत्र तन्त्रसिद्धक्रमो न विवक्षितः । अतश्च 'आनुमानिकमपीत्यविशब्देन सूचितब्रह्मण एव प्राधान्यम् नवानुमानिकमेति सूत्रार्थनिर्धारणः । इदमेव 'दर्शयति च' इति सूत्रखण्डे एव दर्शयति, रूपकविन्यस्तानां ग्रहणं वशीकरणोपयोगितया सूत्रखण्डो दर्शयतीत्यर्थः ॥

'त्रयाणामेवैवमुपन्यास प्रश्नश्च' अत्र अचिज्जीवपरमात्मानो विवक्षिताः, 'सत्यमग्निं स्वर्गमध्यवि मृत्यो' (काठ, १.१.१३) 'येऽयं प्रत विचिन्विता मनुष्ये (१.१.२०) अथत्र घर्मादन्यत्राघर्मात्' (१.२.२४) इति श्रुतिभिः क्रमशः सोऽर्थः प्रतिपाद्यते इति शङ्कराचार्यः । पितृसौमस्याग्निपरमात्मान इत्यानन्दतीर्थाः । पितृसौमस्यविषये अविज्ञातप्रार्थनं च प्रश्नस्यमिधीयते, इति वचनमुपन्यासस्य तस्यापि प्रार्थनरूपवमुपपादितम् । द्वयोः प्रश्नः यथातथा प्रश्नाभावात् पितृसौमनस्य परित्यक्त शङ्कराचार्यैः 'सत्यमग्निं स्वर्गमध्यवि मृत्यो' इत्यत्र यद्यपि स्वर्गाग्निप्रश्नो विद्यते । 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते' इति नार्त्तविद्यायाः फलम् 'त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरीति जन्ममृत्यु' इत्यत्र जन्ममृत्युतरणमुक्तम् । अनन्तर 'अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धनिचाय्यं त मृत्युमुत्ताः प्रमुच्यते' इति 'विद्यमेता योगविधिं च कृत्वा ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमुक्तः' इत्यन्ते वक्ष्यते । ब्रह्मविद्यायाः फलमेव मुक्तिः, अमृतत्वं नार्त्तविद्यायाः फलमभूतं भवति इत्यङ्गिनः फलमेव । 'दर्शयति च' इति सूत्रखण्डे इन्द्रियादिवशीकरणमोक्षोपायोपासननिवृत्त्युपयोगित



## गूढार्थसङ्ग्रहः

वेति पूर्वमेवाभिहितम् । अतस्त्रयाणामित्यत्र जीवपरमात्मनोऽपासनस्य च विवक्षा युक्ता । नाचिकेतामिविद्याया अङ्गत्वेन अङ्गिफल एव पर्यवसानात् अतः उपासनं उपासकः उपास्य उपायः उपेता उपेयं चेति त्रयं विवक्षितम् । एवं च भगवदुक्तार्थ एव सूत्रात्तात्पर्यं स्वरसम् । ' ज्ञेयत्वायचनाच्च ' ' वदतीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रकणात् ' इति सूत्रद्वयमपि अत्रार्थेऽनुकूलम् ॥

परैः (शं.सू.भाष्ये) नहि प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदः जीवब्रह्मणोरभेदात् ' मृत्योस्स मृ युमाप्नोति यदहं नानेव पश्यति ' इत्यत्रैव तदङ्गीकारे दोषाभिधानाच्च । विद्याऽविद्याविभागस्याद्वैततया अविद्यानिवृत्त्यनवयव भेदः ' विद्यामीप्सिनं नाचिकेतामं मन्ये ' इत्यत्रैवाभिधानाच्च इत्याद्यभिहितम् । सूत्रे श्रुतौ वाऽपि रज्जुसर्पदृष्टान्तो नोक्तः । सूत्रे ' त्रयाणाम् ' इति निर्देशं कुर्वतसूत्रकारस्यायमाशयः । पूर्वत्र ' गुहां प्रविष्टावात्मानौहि तदर्थनात् ' इति सूत्रं कठवल्लीपयकमेव, ' दामुपर्णा ' इति, मन्त्रः परैरेवोदाहृतः । तन्मन्त्रविचारस्तु ऋग्वेदस्यैतन्मन्त्रोत्तरवाक्यपर्यालोचनया पितापुत्रश्चेत्युभावपि विवक्षिताविति तत्रैव सूत्रे निर्धारितम् । अत्रापि जीवपरमात्मनोः पितृपुत्रस्थानीयतया राजकुमारनेयेन पुत्रभूतर्ज्वस्य पितृस्थानीयपरमात्मप्राप्तिरित्यर्थः न चालयितुं शक्यते । ' विद्याऽमीप्सिनं नाचिकेतामं मन्ये ' इत्युक्त्या ' नत्वा कामा बहवो लोलुपन्ते ' इत्यत्र अङ्गीभूतविद्यैव विवक्षिता, नाचिकेतामिविद्यातु तदङ्गभूता ' विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नाम् ' इत्युत्तरत्र वक्ष्यते । योगश्च ध्यानानन्तरकालसमाधिः । इत्थं च ' देव मत्वा हर्षशोकौ जहाति ' इत्यत्र ध्यानसामान्यं ध्याचिनः मनघातोर्विशेषे विश्रान्तिः । ध्यानं उपासनं चैकमेव । इत्थं च ब्रह्मप्राप्त इत्युक्त्या ब्रह्मणः प्राप्यत्वेनोपेयत्वं प्राप्ता उपेता अङ्गीभूतध्यानमेवाणयः । इत्थंचेषां त्रयाणामेव विवक्षा परोक्षविद्याऽविद्याविभागेन भेदो न घटते । अन्ते फलस्य तथैवोक्तेः, ' शतं चेका च अमृतत्वमेति ' इत्यत्रैव वक्ष्यते । गतिद्वारकत्वं मोक्षस्यात्र स्फुटम् । अतो ब्रह्मप्राप्तिस्सिद्धा ' मृत्योस्स मृ युमाप्नोति—नेह नानाऽस्ति ' इत्यनयोः परोक्षार्थो न घटत इति प्रथमाधिकरण एव निरूपितम् । उपायोपेयोपेताविषयक प्रश्नत्रयं भाष्य एव स्फुटम् ॥

नवीनास्तु—' श्रीन्वारान् वृणीष्व ' इति श्रुतौ विद्यामानं त्रिशन्दमनुसृत्य सूत्रे त्रयाणामित्युक्तम् । अतः त्रयाणामपि प्रश्नेन प्रतिवचनेन च भिन्नमित्येन श्रुतिवाक्यबोधितेन भाव्यम् । भवसिद्धान्ते ' प्रब्रूहि त्वं श्रद्धां नार्यं ' प्रते ब्रवीमि ' इत्यादिप्रतिवचनप्रश्नप्रतिवचनयोस्तत्त्वात् तस्य च त्रितयव्यतिरिक्तत्वादेवकारसङ्कतिः ' शरीररूपकविस्तृत्यत्र विशेषणवाचित्वेन पूर्वनिर्णयः प्रसाध्यते इत्यादि वदन्ति । अत्र ' वरा-वृणीष्व ' इति गुरुत्तयनन्तरं वराणां वरणं अतो नाम प्रश्नः ' वराणामेव वरस्तृतीयः ' इत्यत्रैव एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहमिति तृतीयवरवरण काल एव प्रश्नो विद्यते । तत्र ' अस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके ' इति प्रश्नबीजभूतः संशयोऽपि प्रदर्शितः, तेनात्रैव प्रश्न इति स्फुटम् । अन्यत्र तु संशयो न प्रदर्शितः, वादिविप्रतिपत्त्या संशयेन प्रश्नः । ततश्चिन्त्यपरीक्षणं ' येऽयं प्रते ' इत्यनन्तरं ' विद्यामीप्सिनं स नाचिकेतामं मन्ये ' ' त्वाहं नो भूयात्तन्नाचिकेतः प्रष्टा इति विवृतगुणज्ञानाचिकेतस मन्ये इत्यनन्तरमेव ' अन्यत्र घर्गादय-त्राचर्मात् ' इति पूर्वोक्तप्रश्नप्रतिवचनः प्रश्नस्यात्रैव स्फुटत्वात् । भिन्नवाक्येन प्रश्नप्रतिवचने करणीये इति सूत्रे नोक्तम् ' विद्यामेतां योगविधिं च ' इत्यादावुपायादित्रितयनिरूपणं स्फुटम् । अतः नवीनोक्तार्थस्य नावकाशः, एवकारस्यापि नवैवार्थस्य त्रयाणामेव प्रश्नात् पूर्वं संशयहेत्वभावेन प्रश्नरूपत्वामावात् श्रीप्रश्नान् इति श्रुतावभावाच्च न तयोः प्रश्नरूपता । ' एवमस्मिन् ' इत्यत्र प्रश्नो दृश्यते । अत्रापि ' विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नाम् ' इत्यत्र योगस्य ध्यानस्यादभूत् । विद्या । त्रिणाचिकेतः इत्यत्राप्यङ्गीकारेण तरणं विवक्षितम् । अङ्गीनो यत्फलं तदङ्गस्य तत्सोपायभूतध्यानं प्रश्नस्यान्तर्भावो म.

## गूढार्थसङ्ग्रहः

वर्त्तति नैवकारविरोधः । रूपकविन्यस्तशब्दः पूर्वनिपातप्रसङ्गापादनमापि नयुज्यते, शरीरस्य रूपकविन्यस्तानाचेत्यर्थः । शरीररूपकविन्यस्तस्य एवमर्थाङ्गीकारे शरीरस्यापि रूपकविन्यस्तत्वेनानौचित्यशङ्का न मनस इन्द्रियत्वेऽपि 'एतस्मात् प्राणो मनसर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादौ यथा मनसः पृथग्विद्योक्तिः प्राधान्यतात्पर्येण तथाऽत्रापि शरीरस्य प्राधान्येन तथोक्तिः, वक्ष्यतया पूर्वोक्तेषु शरीरवशीकरणमेव प्रधानम् । तेन 'इन्द्रियेभ्यः परा' इत्यादौ प्रधानभूतं यच्छरीरत्वेन विवक्षितं तदेवाव्यक्तशब्दार्थः । 'रूपकविन्यस्तशरीरगृहीतेः' इति यदि सूत्रं स्यात् तदा शरीरस्यैकस्यैव ग्रहणं स्यात् 'रूपकविन्यस्तां च' व्यर्थं स्यात् । ततश्च 'इन्द्रियेभ्यः परा' इत्यादिवशीकरणप्रत्यभिज्ञापनं न स्यात् 'विन्यस्ते'त्यत्र विन्यस्तपदसर्गवशीकरणोपयोगितया व्यासतात्पर्येण । यद्यपि 'आत्मानं रयिनं विद्धि' इत्यत्रा मनः प्रथमं निर्देशो यन्ते, अतः आत्मनः वशीकार्यत्वे परत्वमिति प्रतीयते, तथाऽपि 'बुद्धेरात्मा महान्परः महतः परमव्यक्तम्' आत्मनोऽन्यस्यापि तस्मात् परस्योक्ते, आत्मानन्तरपठितशरीरस्यैव परत्वम् । एतस्यैव 'प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपम्, प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः प्रत्युपायं फलमेव तथा प्राप्तिविरोधि च । वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः' इतीममर्थमभिधत्त इति संप्रदायोऽपि सुस्थः । एतेन निर्विशेषं नात्र विवक्षितम् । गतेः प्राप्तेश्च प्रतिपादनादिति सूत्राकाराशयास्मिद्धः ॥

उपक्रमे 'आत्मानं रयिनं विद्धि' इत्यत्रात्मशब्दस्य जीवपरत्वेन 'बुद्धेरात्मा महान्परः' इत्यत्रापि आत्मशब्दो जीवपरः आत्मशब्दस्य चेन्नएव प्रसिद्धेः । एतेनात्मशब्दः स्वरूपपर इति नवीनोक्तिर्निर्वकाशा ॥

इति आनुमानिकाधिकरणम्

अथ वेदान्तसारः

सू-१ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीते दर्शयति च (१-४-१)

एकेषा कठानां श्रुत्याया आनुमानिक प्रधानमपि जगत्कारणत्वेन 'महतः परमव्यक्तम्' (कठ.१.३.११) इत्युच्यते इति चेत्—न पूर्वत्र 'आत्मानं रयिनं विद्धि' (१.३.३) इत्यादिपूपायोपासनेषु वशीकार्यत्वाय रयिरथादिरूपकविन्यस्तेषु शरीराख्यरूपकविन्यस्तस्याप्राप्यत्तशब्देन गृहीत, 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' (१.३.१०) इत्यादिनाहि वशीकार्यत्वेनहि परा उच्यन्ते तथाचोत्तरत्र श्रुतिरेव दर्शयति 'यच्छेद्ब्रह्मणसी प्राश.' (१.३.१३) इत्यादिना ॥

सू-२ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् (१.१.१)

सूक्ष्मं अव्यक्तेन शरीरावस्थं कार्याहमित्यव्यक्तशब्देन शरीरमेव गृह्यते ॥ यदि रूपकविन्यस्तानामेव ग्रहणम् किमर्थम् ? 'अव्यक्तापुरुषपरः' (कठ.१.३.११) इत्यत आह—

सू-३ तदधीनत्वादर्थवत् (१.४.३)

पुरुषाधीनत्वादात्मशरीरादिक अर्थवत्—उपासननिवृत्तये भवति । पुरुषोऽहन्तर्यामी सर्वमात्मादिक प्रेरयन् उपासनोपाय वेन वशीकार्यकाष्ठा प्राप्यश्नति ' सा काष्ठा सा परा गति ' (१.३.११) इत्युच्यते ॥

### सू-४ ज्ञेयत्वावचनाच्च (१.४.४)

अत्राव्यक्तस्य ' ज्ञेय वावचनाच्च ' न कापिलमव्यक्तम् ॥

### सू-५ वदतीतिचेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् (१.४.५)

' अशब्दमस्पर्शम् ' इत्यारभ्य ' निश्चाय्य तम् ' (कठ १.३.१५) इति वदतीतिचेन्न ' तद्विष्णो परम पदम् ' (१.३.९) ' एष सर्वेषु भूनेषु गूढोऽस्मा न प्रकाशते (१.३.१२) इत्यादिना प्रकृत प्राज्ञोहि ' निश्चाय्य तम् ' (१.३.१५) इति ज्ञेय उच्यते ॥

### सू-६ त्रयाणामेवैवमुपन्यासः प्रश्नश्च [१.४.६]

उपास्योपासनोपासकानात्रयाणामेवास्मि प्रकरणे ज्ञेयवेन उप यास प्रश्नश्च, न प्रधानादे । ' अध्या मयोगाधि गमेन देव म वा ' (कठ.१.२.१२) इत्यादिरूप यास ' येऽयं प्रेत विचिकि सा मनुष्ये अस्तीत्येक ' इत्यादिकश्च प्रश्न

### सू-७ महद्ब्रूच्च [१.४.७]

' बुद्धेरात्मा महान्तर ' (१.३.१०) इत्या मशब्दाद्यथा न तान्त्रिको महान्, तथाऽव्यक्तमपीति ॥

इति वेदान्तसार

अथ वेदान्तदीपः

### आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्हिस्तगुहीतेर्दर्शयति च

कठवर्णं पु—' इन्द्रियमय पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च प मन । मनस्य परा बुद्धिर्बुद्धरा मा महान्तर ॥ महत परम इत्यव्यक्तमव्यक्ता पुरुष पर । पुरुषात् पर किञ्चि सा काष्ठा सा परा गति ॥ ' (१.३.१०) इत्यत्र किं साङ्ख्येयैः प्रधानमव्यक्तशब्दाभिधेयम् ? उत नेति सद्यः । प्रधानमिति पूर्व पक्षः । ' महत परम् ' इत्यादितत्तत्रप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानात्, ' पुरुषात्पर किञ्चित् ' (२.३.११) इति पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्तवनिषदाच्च । शब्दा तरु—माव्यक्तदृष्टेन प्रधानमिह गृह्यते । पूर्वत्र ' आत्मान राधिन विद्धि शरीर रथमेव च ' (१.३.३) इत्यादिना उपासनानिवृत्तये यदर्थेन्द्रियवा पादनाय ये आत्मशरीरखुद्दिमन इन्द्रियमिषया राधिरथसारथिप्रग्रहयगोचर एव रूपिता, तेषु वशीकाय य परा ' इन्द्रियेभ्य परा ' (१.३.१०) इत्यादिनोच्यते, तत्रचोन्द्रियादय स्वशब्दनेष गृह्यन्त, रथवत् रूपित शरीरमिहाव्यक्तपरिणामत्वेनाव्यक्तशब्देन गृह्यते इति नेह तत्तन्त्रप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञाया घ । ' अव्यक्ता पुरुष पर ' (१.३.११) इति च न

पञ्चविंशकः ; अपितु प्राप्यः परमात्मैव । अन्तर्यामितयोपासनस्याप्युपायभूत इति सह वशीकार्यकाष्ठेन ' पुरुषात् परं किञ्चित् ' (१.३.११) इत्युक्तः ॥

सुप्रार्थस्तु—एकपां कटानां आस्त्राणां आनुमानिक प्रधानं जगत्कारणत्वेन ' महतः परमव्यक्तम् ' (१.३.१०) इत्याश्रयते इति चेत्—तत्र अव्यक्तशब्देन शरीराख्यरूपकाव्यक्तस्य गृहीतेः—पूर्वत्रात्मादिषु रथिरथादेरूपकाव्यक्तस्य रथत्वेन रूपितस्य शरीरस्याव्यक्तशब्देन गृहीतेरित्यर्थः । अतो वशीकार्यं वे परा इहोच्यन्ते, दर्शयति च एनमर्थ—वाक्यशेषः इन्द्रियादीनां नियमनप्रकारं प्रातपादयन् ' यच्छेद्वाङ्मनसी ' इत्यादिः ॥

कथमव्यक्तशब्दस्य शरीरं वाच्यं भवतीत्याशङ्क्याह—

### सू—२ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् (१.४.२)

तुष्टोऽवधारणे । सूक्ष्मम् अव्यक्तमेवावस्थान्तरापन्नं शरीरं भवति, तदवस्थस्यैव कार्याहत्वात् ॥

यदि रूपकाव्यक्तस्य आत्मादय एव वशीकार्यत्वे पराः ' इन्द्रियेभ्यः पराः ' (कठ.१.३.९०) इत्यादिना गृह्यन्ते; तर्हि ' अव्यक्ताः पुरुष परः पुरुषात् परं किञ्चित् ' (१.३.११) इति पुरुषग्रहणं किमर्थमित्यत आह—

### सू—३ तदधीनत्वादर्थवत् [१-४-३]

अन्तर्यामिरूपेणावस्थितपुरुषाधीनत्वादा मादिक सर्वे रथिरयत्वादिना रूपितम् अर्थवत् प्रयोजनवद्भवति । अत उपासननिवृत्तौ वशीकार्यकाष्ठा परमपुरुष इति तदर्थमिह रूपकाव्यक्तस्य परिग्रहमाणेषु पुरुषस्यापि ग्रहणम् । उपायनिवृत्त्युपायकाष्ठा पुरुषः प्राप्यश्चेति ' पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ' (१.३.११) इत्युक्तम् भाष्यप्रक्रियया वा नेयमिदसूत्रम्—परमपुरुषशरीरतया तदधीनत्वाद्भूतसूक्ष्मव्याकृतमर्थवदिति तादृहाव्यक्तशब्देन गृह्यते ; नात्रात्मकं स्वनिष्ठं तन्त्रसिद्धम्—इति ॥

### सू—४ ज्ञेयत्वावचनाच्च (१-४-४)

यदि तन्त्रसिद्धप्रक्रियेहाभिप्रेता ; तदाऽव्यक्तस्यापि ज्ञेयत्वं वक्तव्यम् । ' व्यक्ताव्यक्तशविशानात् ' (साङ्ख्यकारिका.२.५०) इतिहि तत्प्रक्रिया । नह्यव्यक्तमिह ज्ञेयत्वेनोक्तम् अतश्चात्र न तन्त्रप्रक्रियागन्धः ॥

### सू—५ वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् [१.५.५]

(१.५.५)

' अशब्दमस्पर्शम् ' इत्युपक्रम्य ' महतः परं भुव निचाय्य तं भूमुमुता प्रमुच्यते ' (कठ.१.३.१५) इति प्रधानस्य ज्ञेयत्वमनन्तरमेव वदतीति श्रुतिरिति चेत्—तत्र ' अशब्दमस्पर्शम् ' (१.३.१५) इत्यादिना प्राशः परमपुरुष एव ज्ञेयत्वोच्यते ' सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परम पदम् ' (१.३.९) ' एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोऽस्मा न प्रकाशते ' (१.३.१२) इति प्राशस्यैव प्रकृतत्वात् ॥

### सू—६ त्रयाणामेवैवमुपन्यासः प्रश्नश्च (१.४.६)



अस्मिन्प्रकरणे 'येऽयं प्रेते विचिन्विता मनुष्ये' इत्याख्यासमाप्तेः परमपुरुषतदुपासनोक्तानां प्रमाणामेवैव  
ते । तेन उक्त्याः प्रथमं दृश्यते, न प्रधानादेस्तात्त्विकस्यापि । अतश्च न प्रधानमिदं शेषत्वेनोक्तम् ॥

### सू-७ महद्वच्य (१.४.१)

यथा 'बुद्धेरान्ता महा-परः' (कठ.१.३.१०) इत्याख्या-दशामानाधिकार्याः महद्वच्येन न तात्त्विकं महत्त्वात्  
ग्रहणे, एवमायत्तशब्देनापि न तात्त्विकं प्रधानम् ॥

इति वेदान्तदीपः

अथ अधिकरणसारावली

निर्णीतिं वाक्यजातं परविषयतया स्पष्टजीवादिलिङ्गं  
तत्तच्छायानुसारि प्रथयति तु वचस्तत्परन्तुर्यपादे ।  
पद्मिद्वाभ्यां च तत्र प्रशमयति नयैस्साङ्गयोगोक्तिशङ्कां  
घट्टी जाघट्ट इत्थं कथितनिगमनं त्वष्टमं केचिदूचुः ॥  
द्वाभ्यां धेप्यं प्रधानं कपिलमतमथ त्वेकतोऽन्योक्तसङ्गपा  
तुर्येणाव्याप्तोक्तेरपि विभुरवधिस्स्याप्यते द्वारवृत्त्या ।  
शुद्धाशुद्धौ च जीवावधिकरणयुगेऽनन्तरं वारणीयौ  
शेषं तत्रान्तरोक्तेश्वरनिरसनकृत्युत्तर्यपादाष्टकेऽस्मिन् ॥  
अक्षाद्यव्यक्तनिष्ठं जडमथ पुरुषं तत्त्वकाष्ठां विविच्य  
मृते बली कठानां परमतपठितां प्रक्रियामित्ययुक्तम् ।  
तत्रस्यानेकवाक्योदितविविधवशीकार्यमुख्यक्रमोक्ते-  
इशान्तात्मा विष्णुरुक्तः पर इह पुरुषः प्रत्यमिहाप्यते च ॥  
नह्यर्था इन्द्रियाणां प्रकृतिरथ मनोहेतुरेषाम् चैष्टं  
बुद्धिश्चैतन्न सूते नच महति महाज्ञायते बुद्धिसंज्ञः ।  
भोक्तुर्युक्तम्महत्त्वं महति नहि भवेदात्मता पारिशेष्या  
स्वव्यक्तोक्तिशरीरे तदिह न कपिलप्रक्रिया प्रत्यमिहा ॥

॥ इ ति आ नु मा नि का धि क र णं स मा त्त म् ॥



## अथ चमसाधिकरणम्

श्रीभाष्यम्

### सू=८ चमसवदविशेषात् (१.४.८)

अत्रापि तन्त्रसिद्धप्रक्रिया निरस्यते, न ब्रह्मात्मकानां प्रवृत्तिमहदहङ्कारादीनां स्वरूपम् श्रुतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मकानां तेषां प्रतिपादनात् । यथा आथर्वणिका अधीयते—‘ विकार-जननीमक्षामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः ॥ सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी । सिताऽसिता च रक्ता च सर्वकामदुष्टा विभो । पिवन्त्येनामविषयामविज्ञाताः कुमारकाः । एषस्तु पिवते देव स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगाम् । ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः । सर्वसाधारणीं दोग्ध्रीं पीड्यमानां तु यज्वभिः ’ (मन्त्रिकोपनिषदि) ‘ चतुर्विंशतिसङ्ख्यातमव्यक्तं व्यक्तमुच्यते ’ इति । अत्र प्रकृत्यादीनां स्वरूपमभिहितम् ;

## अथ चमसाधिकरणम्

श्रुतप्रकाशिका

### सू=८ चमसवदविशेषात् [१.४.८]

कार्यशरीरवाचिपदस्य रूपके श्रवणात् तदव्यक्तशब्देनोच्यते इत्युक्तम् । अत्र तु कार्यशरीरवाचिशब्दाश्रवणात्कारण प्रधानमेवोच्यते इति शङ्कया सङ्गतिः, व्याख्यातन्त्रैर्गौणवृत्त्या तजोऽवन्नपरवेन व्याख्यातम् । किमिदं वाक्य प्रधानपर, उत तेजोऽवन्नपरमिति विचारश्च कृतः, तदुच्यते किं श्रुत्यन्तरस्वारस्यमेव व्याख्यातम् ? उत वाक्यस्वास्त्यर्थमिति विकल्पमभिप्रत्य स्ववाक्यस्वारस्यभावमुत्तरत्र वक्ष्यन् प्रथमं प्राधानस्य प्रामाणिकतया तज्जिरासे श्रुत्यन्तरास्यास्यज्ञापनाय प्रधानविषय वाक्यजातमुदाहर्तुमाह—अत्रापीति । विकारजगनीमित्यादि । ईदृरूपं व ‘ भूमिरापोऽनलः ’ इत्याद्युक्तप्रकारेण अजां उत्पत्तिरहिता ध्रुवां नाशरहिता ध्यायते परमात्मना रुद्धस्वरूपशानेन शयते अध्यासिता अधिष्ठिता, तन्यते विस्तार्यते, स्थूलावस्य क्रियते । समष्टिभूतरूपेण क्रियते । प्रेर्यते व्यष्टिसृष्ट्यर्थे प्रेर्यते पुरुषार्थं पुरुषाणामर्थनीय भोग्यभोगोपकरणभोग स्थानरूपं जग सूयते । गौरित्यादि । जनित्री भूतभाविनी इति रमष्टि व्यष्टिसृष्टिरुच्यते सितासिता च रक्ता च गौण्या वृत्त्या सत्त्वरजस्तमोमयी । यद्वा तेजोऽवन्नद्वारा सितासिता रक्ता । विभो. ईश्वरस्य सर्वकामदुष्टा, लीलारसदोग्ध्री । अविषमां भोक्तृकर्मानुगुणपरिणामित्वादपक्षपातिनीम् अविशताः स्वात्मभिर्देहेभ्यो विविच्यापारिशताः एकस्तिवति । कर्मवश्यबहुभोक्तृव्यावृत्त्यर्थे एकः स्वच्छन्द इत्युक्तम् । ध्यानक्रियाभ्यां सङ्कल्पसर्गादिव्यापाराभ्यां ‘ ऐक्षत ’ ‘ असृजत ’ इति द्वयमविहि श्रूयते पीड्यमानांस्तु यज्वभिरिति । व सा हि मातर धीरक्षरणाये पीडयित्वा भुङ्क्ते, तद्वत्कर्मवश्यैरा मभिर्भोक्तृव्यपलानुरूप परिणाम्यमानमित्यर्थः । अत्रेति । प्रकृत्यादीनां प्रकृतिपुरुषमहदादीनां स्वरूपमभिहितम् । एषु वाक्येष्वीश्वरप्रतिपादनं प्रधानादीनां श्रुतं दर्शयति इत्युक्तम् ।

## श्रीभाष्यम्

यदात्मकाश्चेते प्रकृत्यादयः, स परमपुरुषोऽपि 'ते पञ्चविंशकमित्याहुस्सप्तविंशमथापरे । पुरुषं निर्गुणं साहचर्यमथर्गेशिरसो विदुः' (मन्त्रिकोपनिषदि) इति प्रतिपाद्यते ; अपरेचाथ वंणिक्ता- 'अष्टौ प्रकृतयस्पोटश विकारा' ( ) इत्यधीयते ; श्वेताश्वतराश्चैव प्रकृति- पुरुषेश्वरस्वरूपमामनन्ति 'संयुक्तमेतत्क्षमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनी- जाशीशनीशावजा हेका भोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यवर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतम्' (श्वे.१.९) 'क्षरं प्रधानममृताक्षरदरः क्षरात्मानावीक्षते देवपङ्कः । तस्या- मिध्यानाद्योजनात्तत्प्रभावाद्भूयश्चान्ते दिश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे.१.१०) इति ; तथा 'छन्दांसि चान्यो मायया सन्निवृद्धः ॥ मायां तु प्रकृतिं विद्या मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभू- तैस्तु व्याप्त सर्वमिदं जगत्' (४९,१०) इति । नथोत्तरत्रापि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशस्सं- सारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः' (६.१६) इति ; स्मृतिरपि 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वचनादी उभा वपि । विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् । कार्यकारणवर्तुष्वे हेतुः प्रकृतिरच्यते पुरुषस्सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । पुरुषः प्रकृतिस्थोऽपि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गी.१३.१९,२०,२१) 'सत्त्वं रजस्तम इतिगुणा कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादा विस्फुजाम्यहम् । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विस्फुजामि पुन पुनः । भूतग्राममिमं कृन्नमवशं प्रकृतेर्दशात्' [९.७,८] 'मयाऽ ध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते स चराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते ॥' [९.१९] इति । तस्माद्ब्रह्मात्मकत्वेन कापिलतन्त्रसिद्धा प्रकृत्यादयो निरस्यन्ते । श्वेताश्वतरोपनिषदि

## श्रुतप्रकाशिका

अथ तदन्तर्यामिभगवन्प्रतिपादक वाक्य दर्शयितुमाह—यदात्मका इति । पञ्चविंशकत्वं कालस्य विदे ८९ वने प्रकृतितद्विकारेष्वन्तर्भावात् । सप्तविंशत्वं कालस्य तदनन्तर्भावविवक्षया पञ्चविंशकत्वेव लब्धैर्भूयः कश्चिदुक्तः पञ्चविंश- कस्तुल्यार्थमित्यन्यथासीदरीश्वरप्रतिपादनस्य क्वदुमशक्यं । रज्जुघातः पृष्ठान्निर्देशादित्यभिप्रायः । प्रकृतेः प्रामाणिक्य- मात्रप्रदर्शनायमुक्तमष्टौ प्रकृतय इति । अत्रापि वाक्यान्तरेकार्थ्यात् ब्रह्मात्मकत्वं सिद्धमिति भावः । एतन्नयं यदा वि- रूढते तदा ब्रह्मणि मुक्तो भवतीत्यर्थः । अभिध्यान आलम्बनसमीक्षणम् । याजन योग तत्त्वमसि वः तत्त्वाविर्भावः साक्षा- त्कारः । अवयवभूतैः, अश्वभूतैः शरीरभूतैरित्यर्थः । स्मृतिं दर्शयति स्मृतिरपीति । एष प्रधानस्य प्रामाणिक्यं वाद- त्परत्वेन व्याख्यानमनुपपन्नमि युक्तम् । ततः किमिच्छन् ह-रस्मादि त । प्रकृत्यादय इत्यादिशब्देन महदादिभिर्देवैः । विषयादिकं दर्शयति श्वेनेति । प्रकृतेरेव कर्तृव्यप्रतीतिजनकवाक्यजत विषयः अक्षरतन्त्रसूत्रमानपदस्वा-स्याभ्यां दृष्टः ।

श्वेताश्वर—'अजामेकाम्' इति मन्त्रेण अजाशब्दो यौगिकः किमब्रह्मा एव प्रकृतिपरः । उत ब्रह्मात्मकप्रकृति- पर इति विचारः । अजाशब्दसूत्रमानशब्दो किमजायास्वातन्त्र्येण सृष्टवमयगम्यतः नेति तैत्तिरीयके 'अजामेकाम्' इति मन्त्रे प्रतिपत्त्या अजायाः किं चोतिरप्यत्रमायमस्ति नेति, किमजा वन्योतिरप्यत्रमाये विकस्यते नेति, यदा विह

## श्रीभाष्यम्

ध्रुयते 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां दह्नीः प्रजारसृजमानां सरुपीः । अजोद्देको जुषमाणो-  
ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे.४.५) इति । तत्र सन्देहः-- विं म सि मः प्रे  
केवला तन्त्रसिद्धा प्रकृतिरभिधीयते, उत ब्रह्मात्मिका इति । किं युक्तम् ? केवलेति । कुतः  
'अजामेकाम्' (४.५) इत्यस्याः प्रकृतेरकार्यत्वश्रवणात्, 'दह्नीः प्रजारसृजमानां सरुपा'  
(४.५) इति स्वातन्त्र्येण सृष्ट्याणां बह्वीनां प्रजानां सृष्ट्वश्रवणाच्च इति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-- 'चमसवद्विशेषात्--न जायत इत्येतेज्जात्वात्प्रतिपादनात्-  
न्त्रसिद्धाब्रह्मात्मिकाजग्रहणे विशेषाप्रतिपादनेः; चमसवत् यथा 'अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'  
(बृ.४.२.३) इत्यस्मिन्मन्त्रे चमसस्य भक्षणसाधनत्वमात्रं चमसशब्देन प्रतीयत इति न ताव  
न्मात्रेण चमसविशेषप्रतीतिः, यौगिकशब्दानामर्थप्रकरणादिभिर्विनाऽर्थविशेषनिश्चयायो-  
गात्; तत्र 'यथेदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ.४.२.३) इत्यादिना वा-  
क्यशेषेण शिरसश्चमसत्वनिश्चयः;

## श्रुतप्रकाशिका

२११

ध्येने, नेति यदा विरुध्येते तदा तैत्तिरीयकमन्त्रसिद्धाया अजाया ज्योतिरूपप्रमात्वाभावेन तदैकार्थ्यात् अजां सृजमा-  
नामिति पदयोः स्वातन्त्र्येण सृष्ट्वावगमकत्वात् श्वेताश्वतरमन्त्रस्याजाशब्दोऽपि ब्रह्मात्मकत्वस्यैव प्रकृतिपरः । यदा न  
विरुध्येते तदा तैत्तिरीयकमन्त्रप्रासद्धाया अजाया ज्योतिरूपप्रमात्वाभावेन तदैकार्थ्यामजा सृजमानामिति पदयोः स्वतन्त्रस्य  
सृष्ट्वावगमकत्वाभावात् श्वेताश्वतरमन्त्रस्योऽजाशब्दोऽपि ब्रह्मात्मकप्रकृतिपर इति । अजामिति । ब्रह्मात्मकत्वपक्षेऽजा वं  
न सम्भवति तत्कार्यत्वास्तुपगमादित्यर्थः । स्वातन्त्र्येणेति । 'सृजमानाम्' इति कर्तरि शानच्, स्वतन्त्रः कर्ता अतो न  
ब्रह्म परतन्त्रत्वमित्यर्थः ॥

एवंप्राप्तइति । अत्रापि कापिलत्रसिद्धप्रक्रिया निरस्यत इत्युक्तमस्य प्रतिज्ञावाक्यमनुष्यत इति म वा हेतु  
माह--नजायतइतीति । अथवा नजायत इतीत्यादिना हेतुपद विवृणु 'चमसवत्' इति सौत्रपदं प्रतिज्ञापर  
मन्यमानः तेन हेतुपदस्यान्वय दर्शयति चमसवदिति । विशेषाप्रतीतेरित्यन्त हेतुपदव्याख्यानम् । अवयवश्च स्याज्जा  
त्वात्प्रतिपादनेन विशेषाप्रतीतेश्चमसवदिति । वाक्यान्तरमन्त्रेण विशेषतो निष्ठेतुमशक्या भवतीत्यर्थः तदेव विवृणोति  
यथार्वागिति । अस्य यथाशब्दस्य तथात्रापीति भाष्येणान्वयः । चमसशब्दार्थं विशदयति भक्षणसाधनत्वमात्र  
मिति । चम्यतेऽनेनेति चमसशब्दव्युपत्तिरिति भावः ; मात्रशब्देन विशेषव्यावृत्तिः इति शब्दो हेतुपरः, विं म सि मः प्रे  
त्यभावादित्यर्थः, विशेषप्रतीत्यभावे चमसस्तावद्यथेदं तत्तथा व्याख्यातः 'चमसवत्' इत्यनेन अर्थसिद्ध दृष्टान्तदार्ष्टी  
निकसाधारणाकार हेतु दृष्टान्तोपपादकत्वेन दर्शयति यौगिकशब्दानामिति । साधारणमवयवार्थं बोधयता यौगिकश-  
ब्दानामित्यभिप्रायः, तेनासाधारणवयवार्थेऽप्येवमिति दृष्टान्तोपपादकत्वात्, अर्थः वस्तुसाम्यम् आदिशब्दः स्वावय-  
वविशेषशब्दादिपरः विशेषनिश्चयायोगादित्यस्य पूर्ववाक्येनावयवः, अवयवशब्दतः साधनमात्रप्रत्यायकत्वादर्थप्रकरणादि-  
भिर्विना विशेषनिश्चयायोगात् चमसशब्देन यथा न चमसविशेषप्रतीत्यर्थः ॥

तनु यथा चमसविशेषो वाक्यशेषावसेयः, तद्वदजाविशेषोऽपि हेतुन्तरण निष्ठेतुं शक्यत इति शङ्कायां परपक्षे  
उप निश्चयस्याशक्यता दर्शयितुं स्वपक्षे विशेषनिश्चयप्रकारमाह--तत्र यथेदं तच्छिर इति । यथा इति श्रुतिपदम् ।



## श्रीभाष्यम्

तथाऽत्राप्यर्थप्रकरणादिभिरेवाजा निर्णेतव्या ; नचात्र तन्त्रसिद्धाजामग्रहणहेतवोऽर्थप्रकरणादयो दृश्यन्ते ; नचास्यास्स्वातन्त्र्येण स्रष्टृत्वं प्रतीयते, ' बह्वीः प्रजास्सृजम नाम् ' इति स्रष्टृत्वमात्रप्रतीतिः । अतोऽनेन मन्त्रेण नाग्रह्यात्मिकाऽजाऽभिधीयते ॥

ब्रह्मात्मकाजामग्रहण एव विशेषहेतुरस्तीत्याह—

## सू-९ ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ल्यधीयत एके (१.४.९)

तुशब्दोऽवधारणार्थः ; ज्योतिरूपक्रमैवैषाऽजा ; ज्योतिः ब्रह्म ' तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः ' (बृ.६.४.१६) ' अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते ' (छां.३.१३.७) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः । ज्योतिरूपक्रमा ब्रह्मकारणिकेत्यर्थः । तथा ल्यधीयत एके । हीति हेतौ, यस्यादस्या अजाया ब्रह्म कारणिकत्वमेके शाखिनः तैत्तरीया अधीयते ' अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्यजन्तोः '[तै.नारायण.१२] इति हृदयगुहायामुपास्यत्वेन सन्निहितं ब्रह्माभिधाय ' सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् ' इत्यादिना सर्वेषां लोफानां ब्रह्मादीनां च तत् उत्पत्तिमभिधाय सर्वकारणीभूताऽजा तत् उत्पन्नाऽभिधीयते ' अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां यद्हीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः इति । सर्वस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुजातस्य तत् उत्पत्त्या

## सुतप्रकाशिका

दृष्टान्ते दार्शितस्य न्यायस्य दार्ष्टान्तिकेऽप्यवर्जनीयत्वमाह—तथात्रापीति । यथा ' अर्घाग्बिलश्चमसः ' इति मन्त्रे न चमसविशेषप्रतीतिः, तत्र विशेषनिश्चयश्च निश्चायकवाक्यान्तराधीनः तथाऽत्रापि निश्चायकान्तरेण अजाविशेषनिश्चयः कार्य इत्यर्थः । ततः किमित्यत्राह—नचात्रेति । ' सृजमानाम् ' इति स्वातन्त्र्येण स्रष्टृत्वप्रतीतिविशेषनिश्चायकेत्याह—नचास्या इति । स्वातन्त्र्येण ईश्वराधिष्ठितत्वमन्तरेणेत्यर्थः । स्रष्टृत्वमात्रप्रतीतिरिति । स्वव्यापाराभय वलक्षणं स्वातन्त्र्यमेव प्रत्ययवाच्यं, नत्वपरमैर्यत्वरूपमिति मात्रशब्दाभिप्रायः । रथो गच्छतीत्यत्र कर्तृत्वयोर्ह स्वव्यापाराभय रूपस्वातन्त्र्य रथस्यागममयति, नत्वपरमैर्यत्वं अपरमैर्यत्वरूपस्वातन्त्र्यप्रतीत्यभ्युपगमेऽपि तादृशस्वातन्त्र्यलक्षणं कर्तृत्वं किं प्रकृत्याभयम् उताजाशब्दाच्चप्रकृतिशरीरकब्रह्माभयमिति विषये प्रकृतिमात्राभयमिति निश्चायकभावश्च मात्रशब्दाभिप्रेतः । यदि ब्रह्मात्मकत्वं प्रामाणिकस्यात् तदानीमिह प्रतीयमान स्वातन्त्र्यलक्षणकर्तृत्वमिह तद्वत्तया ब्रह्मात्माविरोधित्यात्

उत्तरसूत्रमवतारयति—ब्रह्मात्मिकेति ।

## सू-९ ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ल्यधीयत एके [१-४-९]

तुशब्दस्य पञ्चायायतत्वं ह्युदासाय व्याचष्टे तुशब्दइति । इतरोत्तार्थस्याप्यर्थं श्रुतिप्रतिद्वन्द्वनुरोधेन व्याचष्टे, ज्योतिर्महोति । तदेव दर्शयति तदेवाहति । ब्रह्मकारणत्वपरतां प्रकरणेन दर्शयति । अणोरणीयानिति । मीढ अजामेकाम् ' इत्यादिमन्त्रे उत्पात्तिः प्रतीयत इत्याह—सर्वस्येति । यथा ' इष्टो यजति यद्विद्यं जति दगूनपात्रं जति ' इत्यादिब्रह्मयाभयमेऽपि ' दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत ' इत्यादिप्रकरणस्य तदा तद्वत्त्वं निश्चायते द्वाष्टिप्रकरणस्य तदा तद्वत्त्वं निश्चायते । अस्मिन्मन्त्रे न द्वाष्टिर्विबलिता, द्वाष्टिप्रकरणस्य पूर्वमेव विबलिता, अत्र—

## भीमाज्यम्

तदात्मकवोपदेशे प्रक्रियमाणेऽभिधीयमानत्वात्प्राणसमुद्रपर्वतादिवदेपाऽप्यजा दह्नीनां सरूणां प्रजानां स्रष्टी कर्मवश्येनाऽत्मना भुज्यमाना अन्येन विदुपात्मना त्यज्यमाना च ब्रह्मण उत्पन्ना ब्रह्मात्मिकाऽयगन्तध्येत्यर्थः । अतो वाच्यदशेषाच्च सृष्टिदोषवच्छास्त्रा-  
यादेतत्सरूपात्प्रत्यभिज्ञायमानार्थाद्वोपयान्नियमिताऽजा ब्रह्मात्मिवेति निश्चीयते । इहापि प्रकरणोपक्रमे ' किं कारणं ब्रह्म ' (श्वे.१.१) इत्यारभ्य ' ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवा-  
त्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढम् ' (१.३) ' इति परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतेः, उपरिष्ठाच्च ' अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिन्धान्यो मायया सन्निरुद्धः ' (४.९) ' मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ' ' यो योनियोनिमघितिष्ठत्येकः ' (४.१०, ११) इति च तस्या एव प्रतीतेर्नास्मिन्मन्त्रे तन्प्रसिद्धस्वतन्त्रप्रकृतिप्रतिपत्तिगन्धः ॥

कथं तर्हि ज्योतिरुपक्रमाया लोहितशुक्लकृष्णरूपाया अस्याः प्रकृतेरजात्वम् अजाया कथं ज्योतिरुपक्रमात्वमित्यत्राह—

## सू—१० कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिचदविरोधः (१-४-१०)

प्रसक्ताशङ्का निवृत्त्यर्थश्चशब्दः । अस्याः प्रकृतेरजात्वं ज्योतिरुपक्रमात्वं च न विरु-  
द्धयते ; कुतः ? कल्पनोपदेशात् । कल्पनं कल्पति. सृष्टिः ; जगत्सृष्ट्युपदेशादित्यर्थः ।

श्रुतप्रकाशिनः ।

' जहात्येनां मुक्तमोगामजोऽन्यः ' इत्युक्तस्य ' मुक्तस्योत्पत्त्यनुपपत्तेर्भेत्यत्राह—दह्नीनामिति । न सृष्टिः कणविच्छेद इत्यर्थः, ' यस्माज्जाता नपरा नैव किंच नास ' इत्युत्तरत्रापि सृष्ट्यनुवृत्तेरिति चार्थसिद्धम् । सर्वस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुजातस्य तत् उत्पत्त्या तदा मकवोपदेश प्रक्रियमाण इति ह्युक्तम् । मुक्तात्मकीर्तनमेतद्विच्छेदणं, न ह्यसृष्टावरण विच्छेदात् यया ब्रह्मात्मकीर्तनमित्यभिप्रेत्याह—कर्मवश्येनात्मना भुज्यमानाऽन्येन विदुपात्मना त्यज्यमानाचेति । एवं तन्प्रसिद्धाजात्वविरोधज्योतिरुपक्रमात्वं शास्त्रान्तरे दर्शितम् । अथ ' सृजमानाम् ' इति पदप्रतीत्स्वातन्त्र्याविरोधि ब्रह्मात्मकत्वं स्वप्रकरणे दर्शयति । इहापीति । शक्तिरूपायाः, अपृथग्विरुद्धविशेषणरूपायाः कार्योपयोग्यपृथग्विरुद्धविशेषणहि शक्तिः । योनिं जगद्योनिभूता प्रकृतिमित्यर्थः तस्या एव ब्रह्मात्मिकाया एव स्वतन्त्रप्रकृतिप्रतिपत्तिगन्धइति । न केवलं शास्त्रान्तरेकार्थ्यात् स्वकरणाच्च ब्रह्मात्मकवाचगमादिति भावः ॥

उत्तरसूत्रशङ्कामाह—कथं तर्हीति । लोहितशुक्लकृष्णाकारवहि कार्यावस्थायामुपपद्यते, तदानीं ज्योतिरुपक्रमा-  
त्वाङ्गीकारे अजात्वानुपपत्तिः, अजात्वे ज्योतिरुपक्रमात्वानुपपत्तिरित्यर्थः—

## सू—१० कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिचदविरोधः [१.४.१०]

प्रसक्तेति । चरत्त्वर्थ इत्यर्थः । अविरोधशब्दार्थमाह—अस्याइति । अस्मिन्तद्भावारोपणपरत्वव्युदासाय कल्पन शब्दस्य सृष्टिवाचित्वं घातोऽसृष्टिवाचित्वेन दर्शयति कल्पनं कल्पतिरिति । कल्पतिशब्द विशदयति सृष्टिरिति । कल्प शिव इत्यादिप्रयोगो लोकसिद्ध इति मन्वा भौतप्रयोगं दर्शयति—

## श्रीभाष्यम्

यथा 'सूर्याचन्द्रमसौ धातो यथापूर्वमकल्पयत्' (तै.नारा १.१३) इति कल्पने ऋषिः । अत्रापि 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' [४.९] इति जगत्सृजतीति श्रुतिः । स्वेनाविभक्ता दस्मात्सूक्ष्मावस्थात्कारणान्मायी सर्वेश्वरस्सर्वे जगत्सृजतीत्यर्थः । अनेन कल्पनोपदेशो नास्याः प्रकृतेः कार्यकारणरूपेणावस्थाद्वयान्वयोऽवगम्यते । सा हि प्रलयदेहाया ब्रह्मता-पन्ना अविभक्तनामरूपा सूक्ष्मरूपेणावतिष्ठते, ऋषिरेळायां तद्भूतसत्त्वादिगुणा विभक्त नामरूपाऽव्यक्तादिशब्दवाच्या तेजोवन्नातिरूपेण च परिणता लोहितशुक्लकृष्णकारा चाव तिष्ठते । अतः कारणावस्थाऽजा, कार्यावस्था ज्योतिरूपमेति न विरोधः । मध्यादिवत् यथेश्वरेणादित्यस्य कारणावस्थायामेवस्येवावस्थितस्य कार्यावस्थायामुच्यते सामान्यप्र-तिपाद्यकर्मनिष्पाद्यरसाश्रयतया च स्वादिदेवताभोग्यरथाय मधुत्वकल्पनमुद्ययास्तमयक-ल्पनं च न विरुध्यते । तदुक्तं मधुविद्यायाम् 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा.३.११) इत्यारभ्य 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (३.११.१) इत्य-न्तेन, एकल एकस्वभाव । अतोऽनेन मन्त्रेण ब्रह्मात्मिकाऽजैरामिधीयते, न कापिलतन्त्र-सिद्धेति सिद्धम् ॥

अन्येत्प्रसिन्मन्त्रे तेजोवन्नक्षणाऽजैरामिधीयत इति ब्रूते । ते प्रष्टव्याः—किं तेजो-वन्नान्येव तेजोवन्नात्मिकाऽजैका, उत तेजोवन्नरूप ब्रह्मैव, किं वा तेजोवन्नकारणभूता काचित्-इति । प्रथमे कल्पे तेजोवन्नानामनेकत्वात् 'अजामेकाम्' इति विरुध्यते ।

## श्रुतप्रकाशिका

यथेति । 'प्राकल्पयद्यो भुवनानि सप्त' इत्यादिमृतिप्रयोगश्च प्रसिद्धः । अतो ज्योतिः कल्पनशब्दो वैदिकशब्द-निर्देशानुसारिणी । तथा निर्देशश्च मुनिसमाधि 'सप्रसादादध्युपदेशात् 'समानो ज्योतिषा' इत्यादिपुष्टी-नात् अजा वज्यातिरूपकमावयारविरोधसिद्धिं दहयति । अनेनेति । अवस्थाद्वय विवृणोति साद्वीति । ब्रह्मताऽप्या कारणावस्थब्रह्मताऽप्या ॥

ननु कथं प्रकृतेर्ब्रह्मापत्तिः, न ह्यन्यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरं भवति । सत्यं नीत्र केवलप्रकृतेर्ब्रह्मापत्तिर्विहिता, किंतु प्रकृ-तिशरीरकब्रह्मण कारणावस्था प्राप्तिः । भाष्यं प्रकृत् युपस्थापकं सेति पदहि ब्रह्मण्यं ते कारणावस्थ ब्रह्मैव प्रकृतिशब्देना मिधीयत ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्वन्तराभावादिति प्रकृत्यधिकरणे वक्ष्यमाणं वात् । कार्यावस्था ज्योतिरूपमेति । कार्याऽ-वस्थाऽजाशरीरक ब्रह्म कारणमित्यर्थः । सूत्रेण च व्याचष्टे रुधिरिति । उदयास्तमधुमधु च कल्पनानि तदभावादिह स । वस्थाद्वयं यथोपपन्नं तथाऽजा वज्योतिरूपकमावे अवस्थाभेदेन प्रकृत्याख्यैकमप्यवस्थित्यर्थः । एतस्य ईश्वरेणैकस्य अविभक्तनामरूपस्येत्यर्थः — 'ज्योतिरूपमेत्यादि सूत्रद्वयस्य परासमर्थ निराक्षिप्योक्तं प्रथमस्य सूत्रस्यैव दूषयति, अन्येत्येति । दूषयितुं विकल्पयति किमेति । अगा वनं परिवर्त्यमानं वस्तु किं तर्हि ऽप्येता यदस्य । अजा वैकथं सिद्धयर्थं ब्रह्मकारणवादानुगुण्यार्थं च ब्रह्मानुबन्धि वनं मध्यमं शिरां दर्शितम् । तेजोऽवन्नरूपं तेजोऽवन्नादस्य ब्रह्म किं मकच्छागत्वेन कल्प्य इत्यर्थः । तेजोऽवन्नकारणभूता काचित् इति । तज्जावन्नान्येदन्तु, साक्षितातकारणभूता का-चित्देकात्रार्थेन किं रूपमेत्यर्थः । प्रथमं शिरां दूषयति प्रथमं श्रुति । एकं विरोधपरिहारमाशङ्क्याह—

### धीमाष्यम्

न च वाच्यं तेजोऽन्नागमनेऽपि त्रिवृत्करणनैकतापत्तिरिति । त्रिवृत्करणेऽपि बहुत्या नपगमात्, 'इमास्तिष्ठो देवताः' [छां.६.३.२] 'तासां त्रिवृत् त्रिवृत्तैर्देवां करवाणि' (६.३.३) इति प्रत्येकं त्रिवृत्करणोपदेशात् । द्वितीयः कल्पो द्विकल्पः किं तेजोवन्नरूपेण त्रिवृत्तं ब्रह्मेवाजा एका; किं वा स्वरूपेणावस्थितमविवृतमिति । प्रथमः कल्पो बहुत्वानुपाया देव निरस्तः । द्वितीयेऽपि 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' (ध्व.४.५) इति विरुध्यते । स्वरूपेणावस्थितं ब्रह्म तेजोऽवन्नलक्षणमिति यदनुमपि न शक्यते । तृतीये कल्पेऽप्यजाशब्देन तेजोऽवन्नानि निर्दिश्य तैस्तत्कारणादस्योपस्थापनीयेत्यास्थेयम् । ततो वरमजाशब्देन तेजोवन्न कारणवस्थायाः श्रुतिसिद्धायाऽप्यभिधानम् । यत्पुनरस्या प्रकृतेरजाशब्देन छागत्वपरिकल्पनमुपदिश्यत इति ; तदप्यमद्गतं, निष्प्रयोजनत्वात् । यथा 'आत्मानं यदि न विद्धि' (कठ.१.३.३) इत्यादिषु ब्रह्मप्राप्त्युपायतास्यापनाय शरीरादिषु रथादिरूपणं क्रियते ; यथा चादित्ये वस्वादीनां भोग्यत्वरस्यापनाय मधुत्वकल्पनं क्रियते ; तद्वदस्यां प्रकृतौ छागत्वपरिकल्पनं क्वोपपद्यते ; न केवलमुपयोगाभाव एव, विरोधश्च ; कृत्स्नजगत्कारणभूतायाः स्वसिद्धनादिकालसंयद्धानां सर्वेषामेव चेतनानां निखिलसुख-

### श्रुतप्रकाशिका

न च वाच्यमिति । कुत इत्यत्राह—त्रिवृत्करणे-पीति । बहु वानवगममुपपादयति इमा इति । न समुदायैक व अपि तु समुदायत्रयमेवेत्यर्थः । द्वितीय शिरो द्विकल्पयति विमिति । तत्र द्विकल्पा ब्रह्मण विकारा, किमजाशब्देनोच्यन्ते—उक्तं स्वरूपमिति विकल्पमर्थः । प्रथमे अशरसि अस्थिबहुवादेकवविरोधमह-प्रथम इति । मध्यमे शिरसि द्वितीय कल्पं दूषयति द्वितीयेऽपीति । ब्रह्मस्वरूपे लाहन्शुक्लकृष्णवाभावात् श्रुत्यस्वारस्यमित्यर्थः । तेजोऽवन्नादिसर्वा एवस्य ब्रह्मणः किं नोपपद्यत इत्यत्राह—स्वरूपेणेति ॥

२. यदा सूत्रस्वारस्यमप्याह—स्वरूपेणेति । 'ज्योतिरुपक्रमे' इति हि सौप्तिकपदम् ज्योतिरुपक्रमशब्दस्तेजोऽन्नवाचीति हि तैर्भाष्येण । न हि ब्रह्मस्वरूपं तेजोऽवन्नशब्दवाच्यम् अत्र सूत्रास्वारस्यमित्यर्थः । तेजोऽवन्नादस्याविशिष्टं ब्रह्म अजाशब्दवाच्यमिति पक्षे किमस्याविशिष्टत्वं सद्धारक अद्धारक वा अद्धारक वे लाहितशुक्लकृष्णवादिरेव 'अरस्तु लोहितम्' इति श्रुतेः । सद्धारकत्वे अस्मा पक्ष एव पण्डितैस्त्वात् इति विकल्पपरिहारयोः स्पष्टं वाचकपटोक्तिः । प्रथम विकल्पितशिरस्त्रये तृतीय शिरो दूषयति तृतीय इति । लाहितशुक्लकृष्णवाजा वैकल्पिकद्वयमय पक्षशङ्कितः । तत्र दूषणमुच्यते अजाशब्देनेति । तेजोऽवन्नानामवाचकस्य अजाशब्दस्य तेजोऽवन्नपरमपरोक्ष्य तेन तत्कारणस्य लक्षणयोपस्थापनादपि मुख्यवृत्त्या कारणप्रातपादनपरत्वाश्रयण युक्तमित्यर्थः, 'कल्पनोपदेशात्' इति सूत्रस्य परोक्षमर्थं दूषयति यत्पुनरस्या इति । सर्वत्र रुद्धितोऽवन्नवशक्त्या वा प्रतिपाद्यमानमुख्यार्थपरिग्रहस्वतःप्राप्त, गौणार्थपरिग्रहस्तु मुख्यार्थानुपपत्त्या क्रियते । तत्रौचित्यातिशयलाभोऽनेकपदमुख्यार्थवसिद्धिश्च प्रयोजनम् । तत्र मुख्यार्थानुपपत्त्यभावः प्रदर्शितः, अजावज्योतिरुपक्रमान्वयोरवस्थाभेदेनाविरोधलोच्यते । अतोऽर्थोचित्यलामरूपप्रयोजनभाव दूषणमाह—निष्प्रयोजनत्वादिति । प्रयोजनाभावस्य दूषणं वक्ष्यते कल्पनस्य प्रयोजनसिद्धयर्थतां दर्शयति यथाऽऽत्मानमिति । विरोधं दर्शयति कृत्स्नेति ।





### श्रीभाष्यम्

दुःखोपभोगापवर्गसाधनभूतायाः अचेतनायाः अत्यल्पप्रजासर्गकरागन्तुवसङ्गमचेतनवि-  
शेषकरूपात्यल्पप्रयोजनसाधनस्वपरित्यागाहेतुभूतस्वसंवन्धिपरित्यागसमर्थचेतनविशेषरूप-  
च्छागस्वभावख्यापनाय तद्रूपव्यकल्पनं विरुद्धमेव । ‘अजामेकाम्’ ‘अजोहोक्’ (कठ.१.३  
३) ‘अजोऽन्यः’ इत्यत्राज्ञाशब्दस्य विरुपार्थक्यकल्पनं च न शोभनम् । सर्वत्र छागत्वं परि-  
कल्प्यत इति चेत् ‘जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः [१.३.३] इति विदुष आत्यन्तिकप्र-  
कृतिपरित्यागं कुर्वतोऽनेनचाऽन्येन वा पुनरपि संवन्धयोग्यच्छागत्वपरिकल्पनमत्यन्तवि-  
रुद्धम् ॥

### इति चमसाधिकरणम्

#### श्रुतप्रकाशिका

एकरूपेति । दुःखादिरेव प्रयोजनमित्यर्थं अचेतनाया इत्यनेन स्वसर्वविधपरित्यागासामर्थ्यं सिद्धमिति तद्वत्तन्निर्वाह-  
माह-स्वसम्बन्धीति । परिमितकार्यकरत्वादिरत्र विरोध उक्तः । पृथगान्तरमाह-अजामिति । अर्थैकरूप्यं शङ्कते-  
सर्वत्रेति । तत्र विरोधान्तरमाह-जहातीति । एवमर्थोचित्यलामरूपप्रयोजनाभावो दर्शितः । सर्वत्र छागत्वपरिकल्पन-  
शङ्कोपन्यासेनैवानेकपदान्तरमुख्यार्थत्वसिद्धिरूपप्रयोजनाभावश्च फलितः । एव हेत्वभावात् प्रयोजनाभावाच्च छागत्वपरि-  
कल्पन व्युदस्तम् ॥

ननु नात्र विरोधः कार्यकारित्वप्रयोजनसाधनत्वचेतनसङ्गादिमात्रस्य विवक्षितत्वात् । नहि दृष्टान्तगतसर्व-  
धर्माणां विवक्षानियमोऽस्ति तथासति सर्वत्र दृष्टान्तोपन्यासभङ्गप्रसङ्गात् ‘गौरनाद्यन्तवती’ ‘आत्मानं रथिनं  
विद्धि’ इत्यादिषु च प्रकृत्यादेर्गोत्वादिपरिकल्पनं दृश्यते, तच्च सर्वथा साधर्म्यविवक्षाया न घटत इति । उच्यते—  
‘आत्मानं रथिनं विद्धि’ इत्यत्र पृथगेव रूप्यरूपकवाचिपदभ्रवणात् रूपकानङ्गीकारे रूपकवाचिपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्  
येन कारणेन साधर्म्यं योग्यं प्राप्नुयादित्येव तदाकारमात्रं तत्र विवक्षितमिति निश्चितं प्रयुक्तपदवैयर्थ्यपरिहारार्थं  
‘अजामेकाम्’ इति वाक्ये तु रूप्यरूपकवाचिपदद्वयाभ्रवणात् अर्थोचित्यं नावगम्यते, तेन गौणवृत्त्यनङ्गीकारेऽपि  
नवैयर्थ्यम् ‘गौरनाद्यन्तवती’ इत्यत्र रूप्यवाचिपदाभ्रवणात् अज्ञाशब्दवद्गोशब्दस्यावयवशक्त्या प्रकृत्युपस्थापना-  
सामर्थ्याच्च गत्यभावाद्गौणवृत्तिराश्रिता ‘अनाद्यन्तवती’ ‘सर्वकामदुघे’ इत्याद्युचितविशेषणभ्रवणादर्थोचित्यम-  
वगम्यते । अज्ञाशब्दे तु न तथा गत्यन्तराभावः, उचितावयवार्थसंभवात् । उचितविशेषणं च रुदिरुद्धाऽज्ञान्यावर्तकं  
न भूयते पुल्लिङ्गाजशब्दयोश्चामुख्यत्वं ‘वह्नी प्रजाः’ इत्यादपदानां सङ्कोशश्च विफलः । अतः प्रयुक्तपदवैयर्थ्यपरिहार-  
पदान्तरस्वारथ्यार्थोचित्यसङ्गावाह्यरूपवैयर्थ्यात् ‘आत्मानं रथिनं विद्धि’ इत्यादिवद्रूपणपरत्वमनुक्तम् । कार्य-  
कारित्वार्थमात्रविवक्षायामर्थविरोधाभावो यत्तु, सचेत्मुख्येयं वृत्त्या लभ्यते तदा गौणवृत्तिपरिग्रहो निष्फलः वादनु-  
पपन्नः । एव परोक्तस्य ‘ज्योतिरूपप्रमे’ इत्यादिसूत्रार्थस्य एकशब्दार्थविरोध उक्तः, ‘कल्पनोपदेशात्’ इति  
सूत्रस्याज्ञाशब्दास्वारथ्यं दूषणतयोक्तम् । यद्यपि ज्योतिरूपप्रमाशब्देन तेजः प्रमुखात्, कल्पनशब्देनार्तसिद्धिः सङ्गादोप-  
च परोक्तं सूत्राश्रयानुगुणमिव प्रतीयते, तथाऽप्यनुपपत्तिपराहतम् । अस्मदुक्तार्थस्तु वैदिकनिर्देशसमाधिना स्वरसंवरण-  
शब्दे भिदा ‘चमसाधिविशेषात्’ इति सूत्रं परस्यास्वरसं चमसाधिव्यस्य योगिकत्वात् रुदार्थकदृष्टपरमाभावाच्च ॥

### इति चमसाधिकरणम्